बौद्ध ग्रन्थों में इस तथ्य पर जोर दिया गया है कि धर्म शासकों का भी शासक है और दण्ड का आधार निरीह शक्ति नहीं, वरन धर्म है। बौद्धग्रन्थों में धर्म को वह परम्परा माना गया है जो न्याय, निष्पक्षता और परोपकारिता पर आधारित है। राजधर्म का आधार अर्थ, धर्म, काल, मात्रा और परिषद हैं जिसका तात्पर्य यह है कि राजधर्म का उद्देश्य है अर्थ की साधना धर्मपालन समयानुसार उचित मात्रा में दण्ड का प्रयोग और राजधर्म को लागू करने के लिए परिषद की आवश्यक मंत्रणा का पालन। धर्म को बौद्धों ने सत्य का प्रतीक माना है। राजधर्म की धारणा में, इस प्रकार धर्म और दण्ड के सिद्धान्त एक में मिल गए हैं जिसके कारण राजधर्म में, विशेषतया दण्ड के उपयोग में, नैतिकता का समावेश हुआ है। इस कारण राजधर्म में दण्ड केवल निरीह राजनैतिक शक्ति और राज्य एक निरुद्देश्य प्रशासक संगठन होने से बचे हैं और सम्राट की निरंकुशता पर रोक लगी रही है। यही कारण है कि हिन्दू राजनैतिक विचारधारा में व्यक्ति का वहाँ राज्य तथा सम्राट के प्रति विद्रोह करने का अधिकार मिला हुआ है जहाँ राज्य तथा सम्राट धर्म के पथ से डिग चुके हैं। इसीकारण महाभारत का युद्ध धर्मयुद्ध है और कुरुक्षेत्र धर्मक्षेत्र है। गुरु रामदास ने शिवाजी को अधर्म के प्रति लड़ने की सलाह दी थी न कि औरंगजेब के प्रति। देवासुर संग्राम की कल्पना का सम्बन्ध भी अधर्म के प्रति धर्म संग्राम और धर्म की अन्ततोगत्वा विजय से है। कोई आश्चर्य नहीं यदि वर्तमान भारत में, भारत चीनी युद्ध को देवासुर तथा अधर्म के प्रति धर्म का संग्राम कहा गया है।

राजधर्म और प्रथा

राजतन्त्र को धर्मप्राण मानने के विचार से हिन्दू राजनैतिक संगठन में उन अनेक समाजशास्त्रीय तथ्यों का प्रस्फुटन हुआ है जो भारतीय संस्कृति के अभिन्न अंग बन गये हैं। राजतन्त्र में धर्म के दिव्य तथा सामाजिक पक्षों के समन्वय का प्रयास किया गया है।। राजतन्त्र में धर्म के सामाजिक पक्ष का निर्वचन परिवार, कुल, जाति वर्णाश्रम व्यवस्था, क्षेत्रीय प्रथाओं, युग मर्यादाओं और मानवता के उन नियमों के रूप में किया गया है, जिनका निरूपण श्रुतियों और स्मृतियों में हुआ है। श्रुतियाँ और स्मृतियाँ प्रथाओं पर आधारित रही हैं। अतः राजतन्त्र में धर्म का आधार प्रथा रही है। यही कारण है कि धर्मग्रन्थों में विरोधी प्रथाओं का उल्लेख मिलता है और इस बात का भी उल्लेख मिलता है कि राज्यप्रशासन में प्रथा विधि से भी शक्तिशाली है। भारतीय समाज का सामाजिक सांस्कृतिक विजातिता को ही इसका कारण माना जा सकता है। भारत प्रारम्भ से ही जातियों और गणजातियों का देश रहा है और प्रत्येक जाति तथा गणजाति के अपने सामाजिक सांस्कृतिक नियम रहे हैं। इसके अतिरिक्त क्षेत्रीय संस्कृतियाँ भी रही हैं। धर्मग्रन्थ इस विजातीयता में सजातीयता लाने का प्रयास हैं और यही प्रयास हिन्दू सामाजिक संगठन का आधार रहा है। लेकिन, यह सजातीयता न तो किसी मजहब द्वारा थोपी गई है और न किसी राज्य द्वारा। ऐसी दशा में,

सामाजिक जीवन के आधारभूत नियम के रूप में, प्रथा को ही प्रमाण मानने की परम्परा रही है। इस कारण भारत में उस राजनैतिक विचारधारा का अभ्युदय हुआ है जिसमें यह माना गया है कि प्रजा की प्रथाओं के अनुसार प्रशासन करना ही सम्राट का धर्म है। जातियों और गणजातियों के नियमों के अनुसार प्रशासन करना और विभिन्न जातियों तथा गणजातियों के नियमों को लागू करना राज्य का धर्म माना गया है। मुस्लिम तथा अंग्रेज शासकों ने भी इस नियम की अवहेलना नहीं की है। अंग्रेजी राज्यकाल में जब स्वीय विधि (Personal Law) को संहिताबद्ध करने का प्रश्न उठा तब यही नियम मान्य ठहराया गया कि जहाँ धर्मग्रन्थों में मतभेद हो, वहाँ प्रथा ही निश्चित वैधिक प्रमाण है। भारत में सविधायिनी सत्ता का श्रीगणेश अंग्रेजी राज्यकाल में हुआ है। प्रथा की सर्वोपरिता का ही यह परिणाम है कि भारतीय सामाजिक विधान प्रणाली, एक ओर जटिल है और दूसरी ओर, अधिकतर सामाजिक विधान प्रणाली में प्रथा को सामान्यविधि का अपवाद माना गया है। प्रथायें वैधिक अपवाद को भी उतना ही वैधिक प्रमाण माना गया है जितना कि किसी निरूपित विधि को। हिंदू विवाह अधिनियम (1955) इसका प्रमाण है। इस अधिनियम के अनुसार बहुपतीत्व अमान्य है लेकिन जौनसारबावर में बहुपतीत्व मान्य है क्योंकि वहाँ की प्रथा के अनुसार बहुपतीत्व वहाँ के सामाजिक जीवन का आधार है। इस अधिनियम के अनुसार सगोत्र विवाह वहीं वैधय्य है जहाँ प्रचलित प्रथा में इसका विरोध न हो।

यह एक ऐतिहासिक तथ्य है कि विजयनगर के हिंदू राजाओं ने अपने लिए जातिसंरक्षक' (Maintainer of Castes) की उपाधि ग्रहण की थी[1]। सम्राट के जातिसंरक्षक होने का तात्पर्य है जातिगत प्रथाओं की रक्षा करना तथा उनको लागू करना। ऐसी दशा में जाति तथा गणजाति पंचायतों का महत्त्व स्वतः बढ़ जाता है। जाति तथा गणजाति पंचायत और ग्रामपंचायत, राज्य तथा व्यक्ति के बीच में, मध्यवर्ती सामाजिक क्षेत्र (Buffer Social Zone) के समान रही हैं। विभिन्न जातियों तथा गणजातियों के बीच में व्यवस्था बनाये रखना और आश्रम तथा वर्णों के नियमों को व्यवस्थित रखना राज्य का मुख्य कर्तव्य रहा है। इसका तात्पर्य यह निकलता है कि विभिन्न जातियों गणजातियों तथा वर्णों के स्वधर्म की रक्षा करना और उन्हें व्यवस्थित रखना राज्य का मुख्य कर्तव्य रहा है। प्रथा को प्रमाण मानते हुए, राजधर्म की धारणा के अनुसार राज्य का मुख्य कर्तव्य है जीवन के तीन आदर्शों—धर्म, अर्थ और काम (जिसमें परिवार, जाति आश्रम और वर्ण की व्यवस्था आ जाती है) को व्यवस्थित रखना। हिन्दू सामाजिक संगठन की धारणा में, राज्य का स्थान अराजकता और व्यवस्था के बीच में आता है क्योंकि राज्य का मुख्य कर्तव्य अरा-

---

1 गोखले बी० जी० वही पृष्ठ 172

जकता को रोकना और वर्णाश्रमी व्यवस्था और वयक्तिक, साम्पत्तिक तथा सस्थायी सुरक्षा को बनाये रखना है। मोक्ष का सम्बन्ध व्यक्ति से है। अत, मोक्ष राजधम के क्षेत्र से बाहर है।

हिन्दू राजनतिक व्यवस्था की धारणा म राज्य तथा सम्राट के दो पहलू है—एक, पहलू है धम, अथ तथा काम की व्यवस्था के सरक्षक का, स्वधम के परिपोषक का और परोपकारी कृपालु का और दूसरा, जो केवल व्यवस्था का माध्यम है और अराजकता का अवरोधक है, जिसका कर्तव्य उन प्रथाओ को लागू करना है जिनका व्यक्ति परिवार जाति वण, आश्रम, ग्रामीण सामाजिक सगठन और धनोपाजन म पालन करता है। व्यक्ति का राज्य से वही तक सम्बन्ध है जहाँ तक अथ और काम की व्यवस्थित साधना का सम्बन्ध है। वयक्तिक जीवन के उच्चतम उद्देश्य मोक्ष से राज्य का कोई सम्बन्ध नहीं है। साथ ही साथ, व्यक्ति का राज्य से कोई प्रत्यक्ष सम्बन्ध नही है क्योकि राज्य का मुख्य कर्तव्य है—कुलधम जातिधम, वणधम तथा सक्षेप म स्वधम को व्यवस्थित करना। व्यक्ति का प्रत्यक्ष सम्बन्ध परिवार, जाति तथा ग्राम से है क्योकि वही उसके सामाजिक जीवन तथा अस्तित्व की परिसीमायें है। ऐसी दशा म राज्य व्यवस्था म दो प्रवृत्तियो का प्रस्फुटन होता है—एक राज्य समाज का केन्द्र है और जनकल्याण का मुख्य माध्यम है। उसका अस्तित्व परोपकाराथ है अत, उसके अधिकार असीमित है और दूसर उसके अधिकार वहीं तक सीमित है जहाँ परिवार, जाति, वण आश्रम व्यवस्था और ग्रामसगठन के अधिकारो का अन्त होता है। इसलिए राजतन्त्र म दो परम्परायें मिलती है। एक ओर राज्य का सम्बन्ध सम्पूण मानव जीवन से है—सभी कुछ उसके कतव्य तथा अधिकार क्षेत्र मे आता है। राजधम म परोपकारिता के विचार ने राज्य को व सभी अधिकार तथा कतव्य दिये है जो जनकल्याण के लिए आवश्यक है लेकिन दूसरी ओर सामाजिक व्यवस्था (परिवार, जाति और ग्राम) के कारण उसके अधिकार सीमित है। अत परोपकार और अपरिग्रह राज्यकम के दो मुख्य आधार हो जाते है लेकिन उनका विस्तार वहाँ तक है जहाँ से परिवार, जाति, ग्राम, वण तथा आश्रम की सीमायें प्रारम्भ होती है। इसका एक परिणाम यह हुआ है कि भारत मे जनहिताथ व्यवस्था बनाये रखने के लिए राज्य ने, एक सरक्षक के रूप में वयक्तिक तथा सामाजिक जीवन के सभी अगो को व्यवस्थित किया है और दूसरा इन व्यापक कार्यों के बावजूद भी राज्य कभी भी निरकुश अधिनायकतन्त्र का रूप न ले सका। बहुधा यह प्रश्न उठाया जाता है कि जहाँ राज्य सरक्षक है और इसकारण उसे असीमित अधिकार मिल जाते है क्या वहाँ व्यक्ति स्वतान्त्र्य रह सकता है? अल्तेकर के मत म, प्राचीन भारत म राज्य समाज का केन्द्र और जनकल्याण का मुख्य माध्यम समझा जाता था जिसके कारण राज्य काय क्षेत्र काफी विस्तृत था। लेकिन, इसका व्यक्ति स्वातन्त्र्य पर प्रभाव नही पडा क्योकि राज्य के बहुमुखी काय मुख्यत राज्य की नौकरशाही द्वारा ही नहीं

होते थे[1]।

धर्म के आधार पर प्रथा को राजतन्त्र और सामाजिक-व्यवस्था का आधार मानने का एक और परिणाम निकला। राजधर्म के निरूपण में जहाँ तक दण्ड और न्याय के लागू करने का प्रश्न है, हिन्दू विचारकों ने समता सिद्धान्त (The Principle of Equity) को स्वीकार किया है। जैसाकि पहले कहा जा चुका है कौटिल्य ने इस बात पर जोर दिया है कि दण्ड अपराध के अनुकूल होना चाहिए। दण्ड को अपराध के अनुकूल बनाने के सिद्धान्त में समता सिद्धान्त निहित है। लेकिन, इस सिद्धान्त का व्यावहारिक रूप प्रथा पर आधारित था। इसलिए व्यवहार में समता सिद्धान्त अव्यवहार्य ही रहा। प्रथा के आधार पर वर्ण-व्यवस्था का जो रूप विकसित हुआ वह वर्ण व्यवस्था के सैद्धान्तिक रूप से भिन्न रहा है। जैसा कि वर्णों के विवेचन के सम्बन्ध में स्पष्ट किया गया है सिद्धान्ततः सभी वर्णों को समान माना गया है, यद्यपि व्यवहार में विभिन्न वर्ण असमान रहे हैं। वर्णव्यवस्था का अर्थ है एक उच्चावच परम्परा प्रणाली में रखे विभिन्न समूह जिनका सामाजिक स्तर मूलतः असमान है। राजधर्म का उद्देश्य माना गया है विभिन्न वर्णों और उनकी प्रथायी व्यवस्था को बनाए रखना, जिसका व्यावहारिक निष्कर्ष निकलता है वर्ण संरचना की उच्चावच परम्परा में निहित प्रथायी असमानताओं को व्यवस्थित ही नहीं करना वरन् उन्हें बनाए भी रखना। इसीकारण हिन्दू-दण्ड विधान में विभिन्न वर्णों के समान अपराध के लिए अलग-अलग दण्डों का विधान मिलता है। जिस प्रकार, इस्लामी न्यायिक व्यवस्था में मुसलमान के प्रति काफिर की साक्षी (गवाही) अमान्य है उसी प्रकार प्रथायी हिन्दू-न्याय-व्यवस्था में ब्राह्मण के विरुद्ध शूद्र की साक्षी अमान्य है। इसी परम्परा का यह भी परिणाम है कि परम्परागत हिन्दू राजनैतिक व्यवस्था में शूद्र एक प्रकार का अर्ध पतित नागरिक रहा है और शूद्र को अनेक अधिकारों से वंचित रखा गया है। रामायण में यह कथा आई है कि भगवान रामचन्द्र ने उस शूद्र का वध कर दिया था जो तपस्वी जीवन व्यतीत कर रहा था क्योंकि परम्परानुसार तप उच्चवर्गियों विशेषतः ब्राह्मणों, का अधिकार है न कि शूद्रों का। यहीं से शूद्रों की उन तमाम निर्योग्यताओं का जन्म हुआ है जिन्हें आज सामाजिक विधान और समाज-सेवा कार्य से दूर करने का प्रयत्न किया जा रहा है।

---

1 अल्तेकर ए० एस० स्टेट एण्ड गवर्नमेण्ट इन एन्शियन्ट इण्डिया पृष्ठ 33, राज्य की यह परम्परा आज भी बनी हुई है। भारत के वर्तमान राजनैतिक संगठन में राज्य को जनकल्याण का मुख्य माध्यम माना गया है लेकिन साथ-ही-साथ यह भी स्वीकार किया गया है कि राज्य को निरंकुश अधिनायकतन्त्र नहीं बनाना है और इसके लिए ग्राम पंचायतों और क्षेत्र पंचायतों के विकास का कार्यक्रम अपनाया गया है।

समता का सिद्धान्त नया नहीं, पुराना है, जो हिन्दुत्व मे ही नहीं वरन् अन्य सामाजिक-धार्मिक प्रणालियों म भी पाया गया है। लेकिन, उसे व्यावहारिक जामा पहनाने का आन्दोलन नया है, जिसकी उत्पत्ति योरोप के सुधार आन्दोलन के युग म हुई है। इसी आन्दोलन के प्रभाव के परिणामस्वरूप वर्तमान भारत म समता सिद्धान्त को स्वीकार करके, उसे वैधिक व्यावहारिक आधार प्रदान किया गया है।

राजधर्म की धारणा म, इस प्रकार, राजसत्ता का आधार प्रथा है। प्रथा से ही राजसत्ता की सीमायें और परिसीमायें निर्धारित होती हैं। महाभारत स्मृतियों और नीतिशास्त्रों म प्रथा को ही प्रमाण मानकर राजसत्ता की सीमाओं का निर्धारित किया गया है। लेकिन, हिन्दू विचारधारा म राज्य केवल प्रथा पर ही आधारित नहीं है।

राज्योत्पत्ति के सिद्धान्त

राजसत्ता का एक अन्य आधार भी है और वह है राज्योत्पत्ति का दैवी सिद्धान्त (The Divine Theory of the Origin of State)। यहाँ राज्य एक दैवी सर्जन है एक दिव्य प्रमय है और राज्य का अधिष्ठाता सम्राट एक पुरुष है—वह पुरुष जिसमें दैवी गुणों का समावेश होता है। हिन्दू विचारधारा म राज्योत्पत्ति के तीन सिद्धान्त मिलते हैं—एक सैनिक सिद्धान्त, दूसरा संविदा सिद्धान्त और तीसरा दैवी सिद्धान्त। सैनिक आवश्यकताओं के कारण राज्य की उत्पत्ति के सिद्धान्त के प्रमाण वैदिक साहित्य म मिलते हैं। तैत्तिरीय ब्राह्मण म यह कथा आई है कि असुरों से बार बार हारने पर देवों ने इन्द्र को अपना सैनिक नेता चुना क्योंकि असुरों मे सैनिक नेतृत्व था और देवों मे सैनिक नेतृत्व नहीं था। युद्ध का सैनिक नेता कालान्तर मे सम्राट हो गया। वैदिक साहित्य में राज्याभिषेक का जो वर्णन मिलता है उसमें सम्राट द्वारा रथ की दौड़ के खेल म भाग लेने का उल्लेख मिलता है, जो इस बात का प्रमाण है कि उस काल म सम्राट म सैनिक गुणों की अधिक अपेक्षा की जाती थी। इस आधार पर यह कहा जा सकता है कि सतत युद्ध की आवश्यकताओं के कारण ही आर्ययुग के प्रारम्भिक काल म सम्राट के पद का प्रादुर्भाव हुआ होगा। यह निर्विवाद है कि वैदिक काल म सम्राट मुख्यत सैनिक नेता और सेनाध्यक्ष ही है। उसका मुख्य कार्य सैनिक नेतृत्व है। यह पहले ही कहा जा चुका है कि वैदिककालीन सम्राट पुरोहित नहीं था। सम्राटत्व क्षत्रिय का कर्म और अधिकार था और पौरोहित्य कार्य ब्राह्मण का अधिकार तथा धर्म। सम्राट अपने राज्य तथा प्रजा के लिए यज्ञ अवश्य करता था लेकिन इन यज्ञों म पुरोहित ब्राह्मण हुआ करता था न कि क्षत्रिय। भारत के इतिहास म ब्राह्मण सम्राटों के प्रमाण मिलते हैं लेकिन ये प्रमाण अपवाद को सिद्ध करते हैं न कि सामान्य नियम को। सैनिक नेता होने के कारण सम्राट पुरोहित तथा धन का रक्षक था। सम्राट तथा राज्य प्रजा के संरक्षक हैं यह विचार वैदिक काल में अस्तित्व मे आ गया था क्योंकि उस काल की सैनिक आवश्यकताओं के कारण सम्राट का पद स्थायी हो गया था। वास्तव सम्भव है, यह विचार पुरोहित वर्ग की देन हो सकती

है। इसी विचार के आधार पर आगे चलकर शासक को दैवी पुरुष माना गया। शासक में दैवत्व की स्थापना पुरोहित वर्ग द्वारा हुई है, ऐसा इतिहासकारों का मत है।

संविदा सिद्धान्त (Contract Theory) का निरूपण बौद्धों ने किया है। महाभारत में राज्योत्पत्ति के दैवी सिद्धान्त का निरूपण हो चुका था, लेकिन बौद्धों ने इस सिद्धान्त का अनुसरण नहीं किया क्योंकि बौद्ध विचारधारा दिव्यवादी नहीं है। बौद्ध विचारधारा में राज्य की उत्पत्ति उस समझौते (संविदा Contract) से हुई है जो राजा और प्रजा के बीच में हुआ है। इस समझौते के अनुसार राजा ने जब प्रजा की रक्षा की प्रतिज्ञा की तो प्रजा ने राजा को राजस्व देना स्वीकार किया। राजस्व बौद्ध विचारधारा में रक्षा और प्रशासन सम्बन्धी सेवाओं के उपलक्ष में राजा को दिया हुआ प्रजा का योगदान है। इस सिद्धान्त में यह भी निहित है कि जब कोई भी पक्ष समझौते का उल्लंघन करता है तो समझौता रद्द हो जाता है। इसी आधार पर बौद्धों ने प्रजा की रक्षा और प्रशासन राजा का कर्तव्य माना और राजस्व द्वारा राजा के साथ सहयोग करना प्रजा का कर्तव्य। इस सिद्धान्त के दृष्टिकोण से यह भी स्पष्ट होता है कि राजा का पद न तो एकदम निरपेक्ष है और न निरंकुश। इसीकारण, राजधर्म में, जैसा कि पहले लिखा जा चुका है बौद्धों ने परिषद्, जिसका तात्पर्य प्रजा की मंत्रणा परिषद् से लिया जा सकता है को महत्वपूर्ण स्थान दिया है। बौद्धों की विचारधारा में राजा और राज्य की उत्पत्ति ही तब हुई जब मनुष्य उस स्वर्णिम युग से अधःपतित हो गया जहाँ न राजा की आवश्यकता थी न राज्य की और न प्रजा की रक्षा की। राज्योत्पत्ति का यह सिद्धान्त एक युक्तियुक्त कल्पना मात्र है, जिसे केवल बौद्ध क्षेत्रों में ही मान्यता मिली और बुद्धवाद के साथ-साथ इसका भी लोप हो गया[1]।

हिन्दू विचारधारा में राज्योत्पत्ति के दैवी सिद्धान्त को ही प्रधानता मिली है। वैदिक काल में ही मनिक सिद्धान्त का विचार मन्द पड़ने के प्रमाण मिलते हैं। ऋग्वेद में सम्राट् को इन्द्र का सहचर और अर्धदेव कहा गया है। अथर्ववेद में सम्राट् परीक्षित का एक देवता के रूप में वर्णन किया गया है और शतपथ ब्राह्मण में सम्राट् को प्रजापति का प्रतिनिधि माना गया है[2]। वैदिक युग के बाद इसी परम्परा का विस्तार मिलता है जिसमें दैवी सिद्धान्त के साथ धर्म की धारणा का समन्वय हुआ है। हिन्दू विचारधारा में राज्योत्पत्ति के दैवी सिद्धान्त का सार यह है कि जब धर्म दिव्य है तो उस पर आधारित राज्य तथा उसका रक्षक सम्राट भी दिव्य है। महाभारत में एक कथानक के रूप में, राज्योत्पत्ति के इस दैवी सिद्धान्त के निरूपण

1 घोषाले यो० जो० वही पृष्ठ 149-150
2 वही पृष्ठ 151

के काल म हुई है, शिवाजी को युगावतार कहा गया है—एसा युगावतार जो विष्णु का अश ह, जो आठ लोकपालो के अगो से अवतरित हुआ है और जो वस्तुत विष्णु पुत्र है[1] ।

राजधम म राज्योत्पत्ति का दवी सिद्धात, इस प्रकार, राज्य को अधिक सुदृढ बनाने क लिए अस्तित्व म आया। लेकिन, इस सिद्धा त की विशषता यह है कि इसम राज्य दिव्य है न कि स्वय सम्राट्। सम्राट् की दिव्यता वयक्तिक नही है, वह सस्थागत है। सम्राट दिव्य नही है वरन सम्राटत्व दिव्य है। कोई भी व्यक्ति वही तक दिव्य है जहा तक वह सम्राटत्व के कतव्य का पालन करता है। सम्राटत्व के कतव्य-पालन का आधार धम है। अत सम्राट वही तक दिव्य है जहा तक वह धर्मानुसार राजकाज म राजधम का पालन करता है। दवी सिद्धात से जसा कि स्वाभाविक था राजसत्ता के एकीकरण का प्रोत्साहन मिलता रहा जिसके कारण समय-समय पर, साम्राज्य को सगठित, एकीकृत और कन्द्रीभूत करने म सहायता मिली। दैवी सिद्धात वह माध्यम रहा ह जिससे सम्राट के प्रति प्रजा की निष्ठा प्रोत्साहित होती रही है। लेकिन साथ ही साथ, इस सिद्धात मे यह विचार भी निहित है कि जहा सम्राट् धम स गिर जाता है, वहा उसकी दिव्यता समाप्त हो जाती है। अत सम्राट की आज्ञा का पालन प्रजा का वही तक धम है जहा तक वह धर्मानुसार राजकम को करता है। इसमे कोई सदह नही कि सम्राट को मिला हुआ दण्ड का अधिकार दैवी अधिकार है लेकिन सम्राट उस अधिकार का मनमाना प्रयोग नही कर सकता है। सम्राट के दिव्य अधिकार दड के प्रयाग की कसौटी धम भी दिव्य है। इस प्रकार, राज्योत्पत्ति के दवी सिद्धा त मे जहा राज्य को दिव्य माना गया है वहा धम को भी दिव्य मानकर, दिव्य को दिव्य के आधार पर सस्थागत करने का प्रयास किया गया है। राजसत्ता एक दिव्य सस्था है, जिसमे कार्यात्मक ढग से सम्बद्ध होने के कारण ही सम्राट दिव्य ह। इस सिद्धात क दो परिणाम निकले—एक, राज्य सत्ता का आधार नतिकता है न कि निरीह शक्ति और उसका निरकुश प्रयोग और दूसरा, जहा सम्राट धम स विमुख हो प्रजा को उसकी आज्ञा न मानने का अधिकार है। हिन्दू विचारधारा म विकसित राजधम की धारणा जहा एक ओर, सामाजिक एतिहासिक परिस्थितियो की उत्पत्ति है वहा दूसरी ओर इसने राजतन्त्र म नैतिकता का समावेश हुआ तथा उन अवस्थाओं म राज्य के प्रति विद्रोह करने का वैयक्तिक अधिकार बना रहा जहा राज्य और सम्राट धम से विमुख हो।

सम्राटत्व के सामाजिक परिणाम

सम्राटत्व की धारणा भारत की सामाजिक एतिहासिक परिस्थितियो की

1 सरकार, विनयकुमार दि पाजिटिव बकग्राउण्ड आफ हिन्दू सोसियालोजी भाग 1 पृष्ठ 512

पृष्ठभूमि में विकसित हुई है। यहाँ सम्राट् क्षेत्रीय अधिनायकों को अपने शासन में रखकर साम्राज्य की स्थापना करते रहे हैं। भारत गणजातियों में बँटा था और प्रत्येक गणजाति अपने में एक राष्ट्र थी। जैसा कि गाडा के राजनैतिक प्रसार से स्पष्ट है, कुछ गणजातियों ने क्षेत्रीय राज्यों का रूप ले लिया और इसप्रकार क्षेत्रीय राज्यों का विकास हुआ। भारत में एक ओर, क्षेत्रीय राज्यों की स्थापना की परम्परा मिलती है और दूसरी ओर अखिल भारतीय साम्राज्य संस्थापन की। चन्द्रगुप्त मौर्य, अशोक, चन्द्रगुप्त विक्रमादित्य अलाउद्दीन खिलजी अकबर औरंगजेब और शिवाजी सम्राट् बनने की भावना से प्रेरित रहे हैं। यातायात के साधनों की असुविधा के कारण प्रत्यक्ष शासन की सम्भावना न होने से चक्रवर्ती सम्राटत्व का आदर्श आया। सम्राट् का कार्य दिग्विजय करके अर्थात् क्षेत्रीय शासकों को अपने अधीन करके और उनसे कर लेकर साम्राज्य की स्थापना करना रहा है। क्षेत्रीय शासक सम्राट के नाम पर राज्य करते रहे हैं। ईस्ट इंडिया कम्पनी ने भी अपने लिए कम्पनी बहादुर का खिताब चुना और अठारह सौ सत्तावन तक मुगल सम्राट के नाम पर राज्य किया। अंग्रेजी सरकार ने भी देशी रियासतों को कायम रक्खा। इस विकास के कई परिणाम निकले पहला भारत में जननी जन्मभूमिश्च स्वर्गादपि गरीयसी की भावना तो विकसित हुई किन्तु राष्ट्रीयता की भावना क्षीण रही। दूसरा, सम्राट के स्तर का राजनैतिक संगठन अलग रहा और क्षेत्रीय तथा स्थानीय स्तर अलग। तीसरा, सम्राट की सत्ता के बने रहने तक राजनैतिक शान्ति रही किन्तु उस सत्ता के क्षीण होते ही अराजकता फैली। यही कारण है कि भारत में एक ओर अशोक चन्द्रगुप्त और अकबर के राजनैतिक स्थायित्व के स्वर्णिम युग रहे हैं और दूसरी ओर राजनैतिक अशान्ति के काल। चौथा सम्राटों ने पिता की भावना से शासन किया है और इस कारण उन्होंने प्रजा के लिए सभी कुछ सम्भव करने का प्रयास किया है जिसका परिणाम यह हुआ कि प्रजा में निर्भरता की भावना रही है। पाँचवाँ, सम्राटत्व में दिव्यता को प्रतिपादित करने से उसे इतना वैभवशाली बनाने की प्रेरणा मिली कि सम्राट का वैभव उसकी दिव्यता का प्रतीक बन जाय। वैभव को सम्राट के प्रभाव का माध्यम बनाया गया। बड़ी बड़ी इमारतें सवारी वेशभूषा और परोपकारी काम वैभव प्रदर्शन के माध्यम बने। किन्तु भारतीय इतिहास में सम्राटों के राज दरबारों के वैभव का जो वर्णन मिलता है, उसका भार जनता पर पड़ा। भारत की आर्थिक व्यवस्था का आधार जीवन निर्वाही कृषि रही है जिसका स्तर अधिकांश क्षेत्रों में निम्न ही रहा है। इसके परिणामस्वरूप, जनता को [illegible] भारी कर देना पड़ा है जिसके कारण एक ओर जनदारिद्र्य बना रहा है और दूसरी ओर, आर्थिक प्रगति निष्प्रवाह रही है और इन सबका एक सम्मिलित परिणाम यह रहा है कि भारतीय विचारधारा, इतिहास के सभी युगों में, आध्यात्मिकता तथा पारलौकिकता की ओर उन्मुख रही है। भारतीय चिन्तन की आध्यात्मिकता आज की नहीं युगों की देन है।

अथ और काम की साधना करना। अथ और काम की साधना समाज और सस्कृति से होती है। अत, इहलौकिक पूणत्व का अथ हुआ, समाज और सस्कृति के आदश नियमो के साथ व्यक्ति का पूण तादात्म्य जो तभी होता है जब व्यक्ति का पूण सामाजीकरण हो जाय। उत्तमपुरुष की धारणा उस पूण मनुष्य की धारणा है जो इहलौकिक तथा पारलौकिक जीवन का मध्य बिन्दु है। इसीलिए उत्तमपुरुष का एक पहलू सामाजिक और दूसरा आध्यात्मिक (Metaphysical) है। इहलौकिक जीवन का निष्पादन करते हुए जो पुरुष आत्मपरायण तथा ब्रह्मपरायण है, वही उत्तम पुरुष है।

वैदिक साहित्य मे कई ऐसी धारणायें मिलती हैं जिनसे यह स्पष्ट होता है कि व्यक्ति का पूण सामाजीकरण पूणत्व प्राप्ति का एक मुख्य आधार है। यह पहले ही कहा जा चुका है कि पुरुषाथ मे अथ और काम का समावेश व्यक्ति के सामाजीकरण तथा उसकी सामाजिक वृत्ति की तुष्टि की आवश्यकता की महत्ता को स्पष्ट करता है। वैदिक साहित्य मे पाई जाने वाली 'सभ्य' तथा 'शिष्ट' की धारणायें इस महत्ता को और भी स्पष्ट करती है। ऋग्वेद मे सभ्य से तात्पय उस व्यक्ति से है जो सभा का सदस्य होने के योग्य है। सभा का वही सदस्य होने योग्य है जो वयस्क है, जिसमे सभा के नियमो को समझने तथा उनके अनुसार निणय लेने की क्षमता है। अनुभव वयस्कता, योग्यता और अवधारणा (Comprehension सोचने-समझने की क्षमता) 'सभ्य' की मुख्य विशेषतायें है। अत, सभ्य वह है जो अपने अनुभव वयस्कता योग्यता और अवधारणा के कारण सभासद होकर शासक वग को उचित सलाह दे सके। सभा से तात्पय गणजातीय पचायत (Tribal Panchayat) से है। इस दृष्टिकोण से, 'सभ्य' वही है जिसका पूण और सुचारु सामाजीकरण हो गया हो। अथववेद मे शिष्ट शब्द का प्रयोग शिक्षा दीक्षा अनुशासन और आत्मनियन्त्रण के अथ मे किया गया है। अत, यह कहा जा सकता है कि शिष्ट वह है जिसने सामाजीकरण मे निहित शिक्षा दीक्षा, अनुशासन और आत्मनियन्त्रण के द्वारा सस्कृति के आदर्शों को पूणत आत्मसात कर लिया हो। समाज के आदर्शों (Ideals) और अर्हाओ (Values) के अनुसार व्यवहार ही शिष्टाचार कहलाता है। अत शिष्ट वही है जिसमे समाज का आदश व्यवहार पाया जाता हो। जो सभ्य और शिष्ट है, वही आदश नागरिक है।

लेकिन सभ्य, शिष्ट और नागरक पूण मनुष्य के परिचायक नही है। सभ्य, शिष्ट और 'नागरक' होना समाज और सस्कृति के साथ तादात्म्य स्थापित करना है। सामाजिक-सास्कृतिक तादात्म्य पूणत्व का केवल एक इहलौकिक आधार है। पूणत्व का आधार केवल सामाजिक-सास्कृतिक तादात्म्य नही है। ऋग्वैदिक विचार धारा के अनुसार पूणत्व का प्रतीक 'ऋत' है। 'ऋत', जसा कि पहले कहा जा चुका है,

रहस्यमय शाश्वत नियम है—वह नियम जिस पर सारी व्यवस्था आधारित है। इहलौकिक तथा पारलौकिक दोनों व्यवस्थाओं का आधार 'ऋत' है। ऋत ही सत्य है। अत, जो सत्य है वही नतिक आदश है। सत्य इहलौकिक जीवन भी है और पारलौकिक जीवन भी। लेकिन इससे भी बड़ा एक सत्य है और वह यह है कि इहलौकिक का आधार पारलौकिक है। पूणत्व न केवल इहलौकिकता है और न पारलौकिकता। पूणत्व पारलौकिकता पर आधारित इहलौकिकता है। इसीलिये वेदों म प्रतिपादित इहलौकिक जीवन देवों, उनकी कृपा कल्पों और लोकसंग्रह के प्रति विराग की भावनाओं स बधा है। वदों म आये विचार के अनुसार पूण वह है जो मृत्यु के बाद देवयान या पितृयानम निवास करने का अधिकारी है। यहा देवताओं को प्रसन्न करने के लिये किय गय यज्ञ प्राथनायें और कल्प पूणत्व का आधार माने गए हैं। औपनिषदिक विचारधारा का प्रस्फुटन होते ही पूण मनुष्य और पूणत्व के आधार

उपनिषद् में उत्तमपुरुष

सम्बन्धी विचारों म परिवतन आया। उपनिषदों म आत्मनिग्रह दान और दया न तो एक साथ मिलकर और न अलग-अलग पूण हैं—ये तो केवल साधनमात्र हैं जिनके आधार पर पूणत्व को प्राप्त किया जा सकता है। औपनिषदिक विचारधारा के अनुसार पूण है ज्ञान—वह ज्ञान जो विज्ञान से ऊपर है। यहाँ ज्ञान वह अनुभूति है जिससे पारलौकिक तत्व की वास्तविकता प्रगट होती है। इहलौकिक की भिन्नता म आत्मा व्याप्त है जिसका उद्गम और परिणति ब्रह्म म है। आत्मा और ब्रह्म एक हैं। इहलौकिक की भिन्नता म आत्मा तथा ब्रह्म की आधारभूत एकता समाई हुई है और सम्पूण इहलौकिक पारलौकिक ब्रह्म का रहस्य है—यही ज्ञान वास्तविक ज्ञान है। इस ही आत्मज्ञान तथा ब्रह्मज्ञान की सज्ञा दी गई है। इसी ज्ञान स पारलौकिकता की अनुभूति होती है अत इसी ज्ञान स मुक्ति मिलती है। इसकारण केवल ज्ञान ही पूण है। औपनिषदिक विचारधारा म ज्ञान पूणत्व का प्रतीक है और उत्तमपुरुष अर्थात पूण मनुष्य वही है जो ज्ञानी है।

औपनिषदिक विचारधारा स उत्तमपुरुष के रूप म योगी की धारणा उत्पन्न हुई है। यदि ज्ञान ही पूण है तो उस पूणता के प्राप्त करन का साधन क्या है। योगाचार की विचारधारा के अनुसार योग ज्ञान के साधन का उपकरण है। योग का अथ है जोड़ना मिलाना और सम्पक म लाना इत्यादि। योग वही है जहा आत्मा और ब्रह्म का योग हो जहा इहलौकिक तथा पारलौकिक की द्विविधा समाप्त हो जाय और ससार की विभिन्नता मे एकता (अविभक्त विभक्तेषु) की अनुभूति का अनुभव हो। योगाचार की विचारधारा म योग अभ्यास स आता है। योगाभ्यास के साधन हैं यम नियम आसन प्राणायाम, प्रत्याहार, धारणा, ध्यान और समाधि।

समाधि योग की अवस्था है क्योंकि समाधि की ही अवस्था म व्यक्ति क

ध्यान का धारण की हुई वस्तु से योग हो जाता है। योगाचार की विचारधारा का मूलाधार यह है कि आत्मशक्ति और आत्मज्ञान के उद्बोधन के लिये शरीर को संयम से रखना और अभ्यास द्वारा इन्द्रियनिग्रह आवश्यक है। योगी शरीर से हट कर आत्मा मे रमण करता है। शरीरी एषणाओं तथा वासनाओं का उसमे अन्त हो जाता है। वह सांसारिक शरीरी सुख का नहीं वरन परमानन्द का अनुभव करता है। आत्मसिद्धि के द्वारा उसे जो आध्यात्मिक शक्ति मिलती है, उससे उसे अलौकिक सुख ही नहीं वरन् मनचाहे अलभ्य की भी प्राप्ति हो जाती है[1]। योग रहस्यवादिता से ओतप्रोत है। इस्लाम में सूफी संत भी इसी परम्परा में आते हैं। योग की ही विचारधारा से तप की धारणा उत्पन्न हुई है। तप का अर्थ है अभ्यास द्वारा शरीरी आवश्यकताओं को दबाना और आध्यात्मिक शक्ति को जगाना। शरीर मे भस्म लगाना, जटाजूट रखना, सर्दी तथा गर्मी मे नंगे बदन रहना, गर्मियों मे भी अग्नि तापना, उल्टा लटककर नीचे से धुआं सुलगाना, एक पर से या एक हाथ उठा कर वर्षों खड़े रहना, प्राणवायु रोककर समाधिस्थ होना योग के वे निकृष्ट रूप हैं जो तान्त्रिक विचारधारा के प्रभाव के कारण अस्तित्व में आये हैं। योगी के रूप में पूर्ण मनुष्य वस्तुतः वह है जो योगाभ्यास द्वारा इहलौकिक शरीरी आधार से ऊपर उठ जाता है, जो पारलौकिक के समीप पहुँच जाता है और जिसे ईश्वरीय प्रसाद मिल जाता है जिससे वह शरीरी व्याधियों—जरा, भोगों और वासनाओं से मुक्त हो जाता है। योगी इस संसार में रहते हुए भी परमानन्द में स्थित रहता है।

वैदिक विचारधारा को औपनिषदिक विचारधारा मे जो परिवर्तन मिला उससे वस्तुतः कई विचार प्रशाखायें अस्तित्व मे आई। एक वैचारिक प्रशाखा के अनुसार ज्ञान पूर्णत्व का प्रतीक है, दूसरी के अनुसार योग और तीसरी के अनुसार भक्ति। अतः उपनिषदों की विचारधारा से उत्तमपुरुष के रूप में ज्ञानी, योगी और भक्त की धारणाओं का प्रस्फुटन हुआ। औपनिषदिक विचारधारा निवृत्तिमार्गी है। अतः, ज्ञानी, योगी और भक्त की 'निवृत्त पुरुष' के रूप में कल्पना की गई है। ज्ञानी ज्ञान द्वारा निवृत्त होता है, योगी योग द्वारा और भक्त प्रपत्ति के द्वारा। यहां ज्ञान

---

1 वाममार्ग में जहां तन्त्र का प्रभाव रहा है, इस विचारधारा ने कापालिक, सिद्ध, भैरव और औघड़ इत्यादि की धारणाओं को जन्म दिया है। कापालिक, सिद्ध, भैरव और औघड़ वे पुरुष हैं, जिनके लिये यह समझा जाता है कि उन्होंने शक्ति सिद्ध कर रखी है जिसके द्वारा वे अलौकिक कृत्यों को सम्पादित कर सकते हैं। तन्त्र में योगाचार की विचारधारा सकाम शक्ति की साधना का रूप ले लेती है। किन्तु वाममार्गी सिद्ध हो सकते हैं, उत्तम पुरुष नहीं।

पूर्णत्व का सर्वोत्कृष्ट आधार है। लेकिन उसके लिये अभ्यास की आवश्यकता है। योग और तप उस अभ्यास के आधार हैं। भक्ति उनके लिए है जो ज्ञान और योग के मार्ग को नहीं अपना सकते हैं। लेकिन ज्ञान, योग और भक्ति वस्तुतः एक ही मनोदशा तक पहुँचने के तीन मार्ग हैं। पूर्णत्व वस्तुतः न तो ज्ञान है, न योग और भक्ति। पूर्णत्व तो वह मनोदशा है जहाँ व्यक्ति ब्रह्मपरायण हो जाता है। उस मनोदशा के लिये कुछ साधन आवश्यक हैं। ये साधन हैं नैतिकता, अहिंसा, सत्यप्रियता, न्यायप्रियता करुणा और आत्मनिग्रह, जिन्हें महाभारत में पूर्ण पुरुष के गुण माना गया है। पूजा-पाठ, तीर्थयात्रा और ध्यान में इन गुणों के विकास का प्रोत्साहन मिलता है। सत् विचार, सत्य भाषण और सत्कार्य से वह नैतिक शील विकसित होता है जिससे या तो निष्काम भक्ति द्वारा या आत्मज्ञान द्वारा निर्लिप्ति का अनुभव प्राप्त होता है। अतः पूर्णपुरुष का अन्तिम रूप ज्ञानी का है। उत्तमपुरुष का इहलौकिक जीवन समाप्त नहीं हो जाता है। सबकल्याण के लिए उत्तमपुरुष का अस्तित्व आवश्यक है क्योंकि उत्तमपुरुष का अपने लिये कुछ करना आवश्यक नहीं रह जाता है। वह संसार के सुख दुःख से निवृत्त होकर सबकल्याणकारी आदर्शों की पूर्ति में रत रहता है। उत्तमपुरुष वस्तुतः कल्याणकारी कर्म और ज्ञान का प्रकाशस्तम्भ है[1]।

गीता में उत्तमपुरुष

गीता में, जैसा कि पहले कहा जा चुका है, कर्म के आधार पर ज्ञान, भक्ति और योग का समन्वय हुआ है। गीता के अनुसार, कर्म, ज्ञान और भक्ति योग हैं जिनका आधार निष्कामता और स्थितप्रज्ञता है क्योंकि निष्कामता तथा स्थितप्रज्ञता के द्वारा ही आत्मपरायणता तथा ब्रह्मपरायणता आती है। जो कर्म ज्ञान और भक्ति निष्कामता तथा स्थितप्रज्ञता पर आधारित है उसी के द्वारा आत्मा और ब्रह्म का योग होता है। गीता के अनुसार स्थितप्रज्ञ ही निष्काम कर्मयोगी, ज्ञानयोगी और भक्तयोगी है। वही कर्म, ज्ञान और भक्ति आदर्श है जो निष्काम है और ब्रह्मपरायण है। अतः, गीता के अनुसार, उत्तमपुरुष वही है जो स्थितप्रज्ञ है। गीताकार ने स्थितप्रज्ञ तथा समाधिस्थ में अन्तर नहीं किया है जिससे यह निष्कर्ष निकाला जा सकता है कि समाधि का आधार स्थितप्रज्ञता है। स्थितप्रज्ञता की उत्पत्ति समत्वबुद्धि में होती है। समत्वबुद्धि का एक आधार निष्कामता है और दूसरा समभाव। इसीलिये, गीताकार ने उस स्थितप्रज्ञ कहा है जो मन की उठी हुई समस्त कामनाओं का त्याग करता है, आत्मा द्वारा ही आत्मा में सन्तुष्ट रहता है, राग, भय और क्रोध रहित होता है, न तो दुःख से दुःखी होता है और न सुख की इच्छा रखता है शुभ अशुभ के प्रति समभाव रखता है और सब इन्द्रियों को वश में रखकर ईश्वर में रत रहता

1 गोखले, बी० जी० वही पृष्ठ 202

है। स्थितप्रज्ञ कछुवे की भाति अपने सब अगो को इन्द्रियो के विषयो मे से समेटे रहता है। स्थितप्रज्ञ वह कर्मयोगी है जो केवल कर्म को कर्म समझकर कर्म करता है और कर्मफलासक्ति से सगरहित होने के कारण शुभ अशुभ, दुख सुख और राग भय तथा क्रोध से विचलित नही होता। कर्म करते हुये स्थितप्रज्ञ वैसे ही शान्त रहता है जैसे नदियो के निरन्तर प्रवेश करने पर भी समुद्र। गीता का स्थितप्रज्ञ ससार मे प्रवृत्त होते हुए भी ससार से वैसे ही निवृत्त रहता है जैसे पक से पकज।

गीता मे उत्तमपुरुष की धारणा निवृत्तिवादी प्रवृत्ति के जीवन दर्शन पर आधारित है। लेकिन, बुद्धवाद तथा जैनवाद मे उत्तमपुरुष की धारणा निवृत्तिवादी दर्शन के आधार पर निरूपित की गई है। उत्तमपुरुष की धारणा के रूप मे बुद्धवाद मे 'अर्हत' और बोधिसत्व की धारणाओ का तथा जैनवाद मे 'केवलिन' की धारणा का विकास हुआ है। अर्हत' अलौकिक नही लौकिक पुरुष है। नैतिकता, आध्यात्मिकता और ज्ञानपरायणता अर्हत के मुख्य गुण हैं। अर्हत वह है जो लोगो को धर्म का मार्ग दिखाये, जिसका मस्तिष्क सत्यानुभव मे डूबा हुआ और शान्त है, जो आत्मनिग्रही है, जो सुख-दुख मे पत्थर की चट्टान के समान अविचलित रहता है, जो ज्ञानतृप्त है और इस ससार मे रहते हुए भी ससार से विरक्त है। 'अर्हत अपने दोषो के प्रति सजग है और परछिद्रान्वेषण से दूर, मस्तिष्क विचार, वाणी और कर्म से शान्त तथा सभी दशाओ मे अपने को शान्त रखता हुआ, वह सदैव जागरूक रहता है। शील, समाधि और ज्ञानानुभूति उसके वे उपकरण हैं, जिनसे उसे मुक्ति मिलती है। पृथ्वी के समान सहिष्णु रहते हुए वह सग्रह तथा विषयो के त्याग मे सुख का अनुभव करता है। वह ससार को वैसे ही ग्रहण करता है जैसे मधुमक्खी पुष्प के रग या उसकी गध को अक्षुण्ण रखते हुए उससे मधु ग्रहण करती है। 'अर्हत का मार्ग दुखरहित और मुक्त है जिसके कारण उसमे कामनायें जल जाती हैं और देवता उसकी स्पर्धा करते हैं। अर्हत धर्म का मूर्तिमान रूप है और धर्मपथ प्रदर्शक है। अर्हत सम्यक्मार्गी है—वह न तो अत्यधिक विषयासक्त होता है और न योगियो की भाति अपने शरीर को तप के नाम पर अत्यधिक कष्ट देता है। वह अपने मस्तिष्क को सत्यानुभूति और सत्यबोध मे लगाता है जिसके लिए उसे अपने शरीर और मस्तिष्क का अभ्यास द्वारा प्रशिक्षित करना पडता है।

बुद्धिवादी जन वादी विचार में उत्तमपुरुष

सम्यक दृष्टि सम्यक सकल्प सम्यक वाणी सम्यक कर्म, सम्यक जीविका सम्यक प्रयत्न, सम्यक स्मृति वे सात साधन हैं जिनके द्वारा व्यक्ति ससार मे रहते हुए भी सासारिक बन्धनों से मुक्ति पाकर सम्यक समाधि को प्राप्त होता है[1]। सम्यक दृष्टि और सम्यक सकल्प से ज्ञान आता है सम्यक वाणी, सम्यक कर्म और

1 चित्त की एकाग्रता सम्यक समाधि है जिसके लिये सारी बुराइयों से दूर रहना

सम्यक जीविका से शील और सम्यक प्रयत्न, सम्यक स्मृति और सम्यक समाधि से समाधि। अत, अर्हत वह है जो अष्टांगिक मार्ग का अनुसरण करके, ज्ञानवान, शीलवान तथा समाधिस्थ हो गया है। ज्ञान शील और समाधि अर्हत के तीन स्कंध हैं। अर्हत की धारणा हीनयानी बुद्धवाद की देन है। हीनयानी बुद्धवाद दो सम्प्रदायों में विभाजित है—एक स्थविरवाद और दूसरा वैभाषिक। स्थविर का मतलब है ज्ञानी या तत्वदर्शी। स्थविर विभज्यवादी सम्प्रदाय भी है। विभज्यवाद का अर्थ है विश्लेषण द्वारा प्रत्येक वस्तु के अच्छे बुरे भाग को अलग कर देना। स्थविरवाद और विभज्यवाद का आधार तत्वज्ञान है। इस आधार पर यह कहा जा सकता है कि अर्हत मूलत तत्वज्ञान है और जीवन की वह अवस्था है जिसे प्राप्त कर जीव सांसारिक क्रिया कलापों की ओर नहीं मुड़ता[1]।

अच्छाइयों का अर्जन करना और चित्त को संयम में रखना आवश्यक है। ब्रह्मचर्य, बुद्ध के अनुसार, लाभ सत्कार, प्रशंसा, सदाचार, समाधि और ज्ञान के लिये नहीं है। ब्रह्मचर्य का मुख्य उद्देश्य है चित्त की मुक्ति। चित्त की मुक्ति ही जीवन का सर्वोत्तम उद्देश्य है। इसीलिए, सम्यक समाधि की चार अवस्थायें बताई गई है—पहली, विरक्ति के अनुभव की अवस्था, दूसरी, विचारों और वितर्कों का जंजाल समाप्त होने के साथ साथ शांति के अनुभव की अवस्था, तीसरी समाधि के आनन्द के प्रति उदासीनता की अवस्था, चौथी, 'पूर्ण प्रज्ञा' अथवा निर्वाण की अवस्था जो दुख सुख से परे होती है। सम्यक समाधि की अवस्था तक पहुंचने के लिये सात सम्यक मार्गों का अभ्यास आवश्यक है। शरीर मन और वाणी से भले बुरे कर्मों का यथार्थ ज्ञान प्राप्त करना सम्यक दृष्टि है। दुख, दुख का कारण, दुख का अन्त और दुखों के अन्त का उपाय—ये चार आर्य सत्य है जिनकी अनुभूति रखते हुये जीवन बिताने का संकल्प भी सम्यक संकल्प है। वह वाणी सम्यक है जो मिथ्या भाषण चुगलखोरी, कटुता और बकवास जसे वाचिक दुष्कर्मों से मुक्त है। जो कर्म हिंसा, चोरी और व्यभिचार के कायिक दुष्कर्मों से मुक्त है, वही कर्म सम्यक कर्म है। प्राणिहिंसा, युद्ध और प्राणि मांस मद्य-तथा विष व्यापार पर निर्भर जीविका झूठी जीविका है। अत, शुद्ध, निष्कपट एवं वास्तविक कर्मों द्वारा उपार्जित जीविका ही सम्यक जीविका है। जो प्रयत्न शुभ विचारों से प्रेरित है, वे सम्यक प्रयत्न कहे जाते है। शरीर, चित्त वेदना और मन के विषयों से निरन्तर मुक्ति पाने के उपाय की स्मृति सम्यक स्मृति है क्योंकि शरीर, चित्त, वेदना और मन के विषयों से मुक्त होने के उपायों की ओर से विस्मृत होने पर, व्यक्ति इनमें फंस जाता है और उसे दुख भोगना पड़ता है—गैरोला वाचस्पति भारतीय दर्शन पृष्ठ 180-188

1 वही पष्ठ 147 148

'अर्हत' की धारणा ज्ञानवादी तथा भक्तिवादी है। नितान्त ज्ञानवादी होने के कारण 'अर्हत' की धारणा शुष्क और नीरस भी है। 'अर्हत' जनसाधारण के दैनिक दुख-सुख के जीवन की प्रेरणा न बन सका। उधर बुद्ध के निर्वाण के लगभग चार सौ साल बाद जब बुद्धवाद पर हिन्दुत्व का प्रभाव पड़ा तो महायानी बौद्ध सम्प्रदाय का अभ्युदय हुआ। महायानी सम्प्रदाय ज्ञानमार्गी न होकर भक्तिमार्गी था। इस सम्प्रदाय के अनुयाइयों ने बुद्ध को मनुष्य के भाग्य का शासक और नियन्ता स्वीकार किया जिसके फलस्वरूप बुद्धवाद ईश्वरवादी तथा भक्तिप्रधान हो गया।

माध्यमिक और योगाचार, महायानी बुद्धवाद की दो उपशाखायें हैं। माध्यमिक विचारधारा शून्यवादी थी। योगाचार का अर्थ है वह आचार जिसके द्वारा 'योग' अथवा 'बोधि' प्राप्त हो। 'बोधि' प्रबुद्ध ज्ञान का प्रतीक है। अतः बुद्धवाद की महायानी विचारधारा के अनुसार उत्तमपुरुष वह है जो लौकिक आचारों का पालन करते हुए प्रबुद्धता को प्राप्त हो। प्रबुद्धता ज्ञानानुभूति की अवस्था है। ज्ञान की तीन कोटियाँ हैं—परिकल्पित (कल्पनाश्रित ज्ञान) परतन्त्र (सापेक्ष्य ज्ञान) और परिनिष्पन्न (सत्याश्रित ज्ञान)[1]। सत्याश्रित ज्ञान का अनुभव बोधि प्राप्ति की उच्चतम अवस्था है जिसके लिये निरन्तर प्रयास की आवश्यकता है, वैसे ही जैसे जीवात्मा को परमात्मा में मिलन के लिए निरन्तर प्रयास की आवश्यकता है। अतः, महायानी विचारधारा के अनुसार, उत्तमपुरुष वह है जो 'बोधिसत्त्व' हो। 'बोधिसत्त्व' ज्ञान और करुणा का मूर्तिमान स्वरूप है। 'बोधिसत्त्व' सत्याश्रित ज्ञान की अनुभूति के कारण निर्वाण का अधिकारी हो गया है, लेकिन जनहिताय करुणा के कारण, इस संसार में तब तक बार बार जन्म लेता है या लेता रहेगा, जब तक कि इस संसार के सभी प्राणी मुक्ति न पा जायें। बोधिसत्त्व वस्तुतः बोधि का सत्त्व है जो, संसार के कल्याण के लिये, युगानुसार युग युग में अवतरित होता रहता है। 'बोधिसत्त्व' प्रत्येक युग का पथप्रदर्शक और उद्धारकर्त्ता है। बोधिसत्त्व की धारणा में वही विचार निहित है जो गीता का सम्भवामि युगे युगे की धारणा में निहित है। बोधिसत्त्व केवल ज्ञानी नहीं वरन् कर्मशील ज्ञानी है। निर्वाण प्राप्ति के लिये 'बोधिसत्त्व' का जितना कर्तव्य अपने प्रति है, उतना दूसरों के प्रति भी है क्योंकि 'बोधिसत्त्व' अपने तथा संसार के निर्वाण की प्रेरणा से प्रेरित है। 'बोधिसत्त्व' की धारणा 'अर्हत' की अपेक्षा अधिक सामाजिक है।

जैनवाद में प्रादुर्भूत 'कैवल्नि' की धारणा बौद्धों की अर्हत की धारणा से मिलती जुलती है[2]। जैनवादी विचारधारा, बुद्धवादी विचारधारा की भांति ब्रह्मवादी न होकर पुरुषार्थमूलक और श्रमणप्रधान रही है। अतः, इसमें आचरण को प्रधानता दी गई है और इसीकारण इस विचारधारा को नास्तिक भी कहा गया है।

---

1 गरोला, वाचस्पति वही पृष्ठ 150
2 गोखले बी० जी० वही पृष्ठ 205

जैनवादी विचारधारा में 'सम्यक् ज्ञान, सम्यक् दर्शन और सम्यक् चरित्र ही मोक्षसाधन के तीन रत्न या उद्देश्य बताए गए हैं[1]। जैनियों के मतानुसार बोधि अर्थात ज्ञान की पांच श्रेणियां हैं—एक मतिज्ञान (जो मन, इंद्रिय, स्मृति प्रत्यभिज्ञा तथा तर्क से प्राप्त हो), दूसरा, श्रुतिज्ञान (जो शब्द एवं संकेतों से प्राप्त हो), तीसरा अवधिज्ञान (जो त्रिकालजन्य वस्तुओं के प्रत्यक्षीकरण से प्राप्त हो), चौथा मनःपर्ययज्ञान (जो दूसरों के मन से प्राप्त हो), और पांचवां केवल ज्ञान (जो जीवन्मुक्ति का ज्ञान है)[2]। जब मनुष्य आत्मगत ज्ञानबाधक कर्मों को नष्ट कर डालता है, तब उसको दिव्य दृष्टि प्राप्त होती है जो आन्तरिक होती है और जिससे अनन्त ज्ञान का साक्षात्कार होता है। यही ज्ञान केवल ज्ञान है जो जीवन्मुक्त अर्हतों को प्राप्त होता है[3]। केवल ज्ञान को प्राप्त करने वाला केवलिन है और केवलिन जीवन्मुक्त है। केवलिन के लिए सम्यक् दर्शन और सम्यक् चरित्र आवश्यक है। सम्यक् चरित्र के लिए शरीर, मन तथा वाणी का वह योग आवश्यक है जो ज्ञान और नैतिकता पर आधारित है। योग के लिए तप आवश्यक है। पूर्ण तथा उत्तमपुरुष के रूप में केवलिन का वहीं प्रादुर्भाव होता है, जहां ज्ञान तथा नैतिकता पर आधारित तप के द्वारा आत्मा तथा संसार के वास्तविक स्वरूप का पूर्ण ज्ञान अवतरित होता है।

अद्वैत वेदान्त में उत्तमपुरुष

अद्वैत वेदान्त में उत्तमपुरुष की धारणा जीवन्मुक्त की धारणा के रूप में प्रतिपादित की गई है। अद्वैत वेदान्त की विचारधारा एकेश्वरवादी तथा ब्रह्मवादी है। इस विचारधारा में संसार ब्रह्म और माया के योग से बना है। माया मिथ्या है। अतः मायापरायणता अज्ञान है। आत्मा और ब्रह्म एक हैं। अतः ज्ञान का आधार आत्मपरायणता तथा ब्रह्मपरायणता में है। अविद्या का नाश तत्वज्ञान से होता है और तत्वज्ञान की उत्पत्ति 'मैं ही ब्रह्म हूं' (अहं ब्रह्मास्मि) की अनुभूति से होती है। तत्वज्ञान की प्राप्ति ही मुक्ति है क्योंकि तत्वज्ञान की प्राप्ति के बाद न तो किसी प्रकार के कर्म करने की आवश्यकता है और न शास्त्र तथा उपदेश के आश्रय की। वेदान्त की विचारधारा में तत्वज्ञान तथा आत्मज्ञान को एक माना गया है। तत्वज्ञान की प्राप्ति के लिए अन्तःकरण की शुद्धि आवश्यक है जिसके लिए नैतिक गुणों को बलवान बनाने की आवश्यकता है। अन्तःकरण की शुद्धि के लिए वेदों में प्रतिपादित कर्मों की भी आवश्यकता है। तत्वज्ञान का उदय वर्णविहित धर्मों से परिशुद्ध अन्तःकरण में ही होता है। मोक्ष के लिए कर्म और ज्ञान दोनों आवश्यक हैं। जो पुरुष, कारणरूप ब्रह्म और कार्यरूप जगत दोनों को जानता है, वह असंभूति (मृत्यु) पर विजय प्राप्त करके संभूति (मोक्ष)

1 गरोला, वाचस्पति वही पृष्ठ 92
2 वही पृष्ठ 91
3 वही पृष्ठ 107

। प्राप्त करता है। वेदान्त मे मोक्षप्राप्ति के नतिक साधनो को बहिरग तथा अन्त
। श्रेणिया मे रक्खा गया है। विवेक, वराग्य, शमादि और मुमुक्षत्व बहिरग तथा
वण मनन, निदिध्यासन और समाधि अन्तरग साधन हैं[1]।

जिस प्रकार, गीता मे उत्तमपुरुष की कल्पना निष्काम कर्मसिद्धान्त के सन्दभ
की गई है उसी प्रकार, वेदान्त म उत्तमपुरुष की कल्पना अद्वैतवादी सिद्धान्त के
दभ मे की गई है। वदान्त के अनुसार जीवन्मुक्त वह है जो ब्रह्मनिष्ठ है। जीवन्मुक्त
अवस्था है जहा कतत्व भाक्तत्व तथा भोग (सुख दुख) के बन्धन नष्ट हो जाते
। यह अवस्था तब आती है जब गुरु के उपदेश, श्रुतिवाक्य तथा स्वानुभव से आत्मा
र ब्रह्म की एकता का ज्ञान हो जाता है और उस ज्ञान क द्वारा अज्ञान का नाश
ने से अखण्ड ब्रह्म का साक्षात्कार होता है। ऐसी दशा मे अज्ञान म उत्पन्न संशय
ार विपयय नष्ट हो जाते हैं और आत्मा एकसाथ ब्रह्मज्ञान मे तत्पर हो जाती है।
स आत्मतत्व से साक्षात्कार होने पर जीवन्मुक्त पुरुष की बुद्धिस्थित वासनामय काम
यें (हृदय ग्रन्थि) समाप्त हो जाती हैं और सम्पूर्ण निवृत्त सन्देह विच्छिन्न हो जात
। जिसके संशय नष्ट हो गए हैं जिसकी अविद्या क्षीण हो चुकी है ऐसे मुक्त पुरुष
जन्मान्तर में तथा ज्ञानोत्पत्ति के समय इस जन्म मे किए गए सारे काय भी नष्ट

नित्य वस्तु को नित्य और अनित्य वस्तु को अनित्य समझना विवेक है। इस लोक के भोग विलास और परलोक के कर्मजन्य यज्ञयागादि दोनो प्रकार की वस्तुओ एव फलों से सवथा विमुख हो जाना ही वराग्य है। शम दम तितिक्षा उपरति समाधान और श्रद्धा को शमादि (षटसम्पत्ति) कहा गया है। इन्द्रियों के विषयों को संयमित करके आत्मवस्तु में चित्त लगाने का नाम ही शम है। इन्द्रियों को उनके विषयों से हटाकर ब्रह्मसाक्षात्कार की ओर लगाना दम है। मान-अपमान, सुख दुख और शीत ताप को समभाव से सहन करना तितीक्षा है। समस्त कर्मों में फलेच्छा शून्यता और कर्मों का भगवान के प्रति समपण उपरति है। समाधान में शुद्ध बुद्ध परब्रह्म में तत्पर होना तथा गुरु-सुश्रुषा आती है। गुरुवाक्य तथा शास्त्रवाक्य में विश्वास करना श्रद्धा है। अज्ञान से मुक्त होकर मोक्ष की इच्छा को मुमुक्षत्व कहते है। विवेक वराग्य को जन्म देता है, वराग्य मोक्ष की इच्छा को और मोक्ष की इच्छा ब्रह्मजिज्ञासा को जन्म देती है। सम्पूर्ण वेदान्त वाक्यों का एक ही अद्वितीय ब्रह्म में तात्पय समझना श्रवण, वदान्त के अनुकूल युक्तियों द्वारा अद्वितीय ब्रह्म का चिन्तन मनन, देह से लेकर बुद्धि तक फले हुए जड़ पदार्थों में एक ही ब्रह्म को देखना निदिध्यासन और ज्ञाता, ज्ञय तथा ज्ञान के अन्तर को हटाकर ब्रह्म में चित्तवृत्ति को एकाकार करना समाधि है।

—गरोला, वाचस्पति वही पष्ठ 431 32

हो जाते हैं। 'यह साक्षात मैं ही हूं (अयं साक्षादहमेव) इस प्रकार जीवित रहते हुए भी वह मुक्त हो जाता है[1]"।

गीता के उत्तमपुरुष (स्थितप्रज्ञ) के आध्यात्मिक पक्ष को वेदान्त की जीवन्मुक्त की धारणा में अधिक विस्तार दिया गया है। गीता का उत्तमपुरुष निष्काम कर्मयोगी है, संसार में उसके अस्तित्व का आधार कर्म है। स्थितप्रज्ञ के लिए निष्काम कर्म ही सब कुछ है। स्थितप्रज्ञ की ब्रह्मनिष्ठा का आधार निष्काम कर्म में है। लेकिन, जीवन्मुक्त कर्म से उतना आसक्त नहीं है, जितना कि वह ब्रह्म से है। स्थितप्रज्ञ के लिए पुरुष और प्रकृति के योग से बना संसार मूलतः निष्काम कर्म का क्षेत्र है। जीवन्मुक्त के लिए ब्रह्म और माया के योग से उत्पन्न संसार मूलतः कर्म क्षेत्र नहीं है। संसार वहीं तक ग्रहणीय है जहां तक संसार में ब्रह्म का आभास होता है। इसमें कोई सन्देह नहीं कि जीवन्मुक्त के लिए 'अहं' सबसे बड़ा अनिष्ट है। उसका अस्तित्व प्रेम और करुणा में है वह ईश्वर की इच्छा से प्रेरित है उसके जीवन का उद्देश्य जनकल्याण की भावना को जगाना तथा स्वार्थवृत्तियों का दमन करना है लेकिन, साथ ही साथ, इसमें भी कोई सन्देह नहीं है कि जीवन्मुक्त कर्म की अपेक्षा वैराग्य से अधिक प्रेरित है। स्थितप्रज्ञ की प्रेरणा है निवृत्तिवादी प्रवृत्ति और जीवन्मुक्त की प्रेरणा है निवृत्ति तथा वैराग्य। स्थितप्रज्ञ के लिए कर्त्ताचार सारहीन है और वर्ण तथा जाति के बन्धन केवल त्रिगुणात्मक प्रकृति की लीला है। जीवन्मुक्त के लिए वेदविहित कर्त्ताचार वर्ण और आश्रम निन्दनीय नहीं तथा ग्रहणीय हैं यद्यपि निवृत्ति (वैराग्य) श्रेयस्कर है। अद्वैत वेदान्त के सबसे बड़े प्रतिष्ठापक शंकर ने जीवन्मुक्त के सांसारिक कर्म के दो स्तर माने हैं—एक, अल्पतम कर्म, निवृत्ति तथा वैराग्य का और दूसरा लोकसंग्रह (जनकल्याण) के लिए किए गए कर्म का[2]। लेकिन, दोनों दशाओं में, जीवन्मुक्त मूलतः निवृत्तिवादी है।

हिन्दू सामाजिक जीवन-दर्शन की सरिता निवृत्ति तथा प्रवृत्ति के बीच में प्रवाहित होती हुई कहीं निवृत्ति की ओर और कहीं प्रवृत्ति की ओर तरंगित होती रही है। तटों का अस्तित्व सरिता से है न कि सरिता का तटों से। सरिता बहती हुई जलधारा है जो अपने तटों का स्पर्श करती हुई बहती रहती है। सरिता के तट जलधार में समाहित रहते हैं क्योंकि सरिता की जलधारा ही तटों की सार्थकता प्रदान करती है। जिस प्रकार सरिता के तटों को सरिता से अलग नहीं किया जा सकता और उन्हें सरिता से अलग करके अलग अलग नहीं आंका जा सकता, उसी प्रकार न तो निवृत्ति और प्रवृत्ति के विचारों को हिन्दू सामाजिक जीवनदर्शन की सरिता से अलग ही किया जा सकता है और न अलग-अलग करके उन्हें आंका ही जा

1 गरोला, वाचस्पति वही पृष्ठ 446
2 गोखले वही पृष्ठ 207

सकता है। जिस प्रकार, सरिता के दोनों तट हर दशा में तट हैं और उनमें विभेद नहीं है, उसी प्रकार निवृत्ति और प्रवृत्ति में विभेद नहीं किया जा सकता। प्रवृत्ति निवृत्ति की परिभाषा है और निवृत्ति प्रवृत्ति की। हिंदू विचारधारा में प्रवृत्ति कोरी पार्थिवता नहीं है। प्रवृत्ति धर्म के लिए है, काम के लिए है और अर्थ के लिए है। धर्म, अर्थ और काम में प्रवृत्ति, एक ओर, मोक्ष के लिए है और दूसरी ओर, लोकसंग्रह के लिए। मोक्ष और लोकसंग्रह का विचार ही प्रवृत्ति को निवृत्तिवादी रूप देता है और मोक्ष तथा लोकसंग्रह के विचार के संदर्भ में निवृत्ति प्रवृत्ति का विभेद वैसे ही समाप्त हो जाता है जैसे सरिता के प्रवाह में उसके दोनों तटों का विभेद। मोक्ष और लोकसंग्रह का विचार हिंदू सामाजिक जीवन दर्शन की सरिता का मुख्य प्रवाह है। हाँ, यह अवश्य है कि जहाँ मोक्ष प्रधान है वहाँ जीवन प्रवाह निवृत्ति की ओर अधिक बढ़ गया है और जहाँ लोकसंग्रह प्रधान है वहाँ प्रवृत्ति की ओर—उस प्रवृत्ति की ओर जिसका आधार लोकसंग्रह है न कि वैयक्तिक स्वार्थ। उत्तमपुरुष न केवल निवृत्तिवादी है और न केवल प्रवृत्तिवादी। उत्तमपुरुष वह है जिसके जीवन में मोक्ष और लोकसंग्रह के उद्देश्यों का समन्वय हुआ है। गीता में यह समन्वय निष्काम कर्म योग के द्वारा हुआ है और वेदान्त में वैराग्य के द्वारा। इन दोनों मार्गों का प्रतिपादन अलग अलग युगों में हुआ है लेकिन दोनों लोकसंग्रह से गुजरते हुए मोक्ष की ओर जाते हैं।

मध्ययुग से वर्तमान युग तक

मध्ययुगीन तथा वर्तमान भारत में उत्तमपुरुष की जो धारणाएँ विकसित हुई हैं उनमें एक ओर आध्यात्मिक तथा निवृत्तिवादी प्रवृत्ति के विचारों का समावेश हुआ है और, दूसरी ओर, ज्ञान भक्ति तथा कर्म के समन्वित रूप का समावेश। निर्गुण विचारधारा के ज्ञानाश्रयी कवियों ने बाह्याचार और संसार को मिथ्या कहा और निर्गुण के ज्ञान तथा भक्ति को मुक्ति का साधन माना, लेकिन सांसारिक जीवन तथा लोकसंग्रह के विचार को नहीं छोड़ा। सूरदास तथा तुलसीदास जैसे सगुण विचारधारा के भक्त कवियों ने राम और कृष्ण के रूप में उत्तमपुरुष की धारणा का प्रतिपादित किया। इन्होंने, एक ओर, उत्तम पुरुष को अलौकिक मानवीकरण माना और दूसरी ओर, उसे लोकसंग्रहार्थ कर्मयोगी या लीलाधारी के रूप में प्रस्तुत किया। राम और कृष्ण 'सम्भवामि युगे युगे' की विचारधारा के संदर्भ में मर्यादापुरुषोत्तम के रूप में प्रस्तुत किए गए हैं। राम और कृष्ण पुरुषोत्तम हैं जो युग-युग की आवश्यकताओं के अनुसार, मर्यादाओं की रक्षा तथा लोकसंग्रह के लिए मानवी आकार में, उत्तमपुरुष का रूप धारण करते हैं। उत्तमपुरुष की यह धारणा पुरुषोत्तम की धारणा में लीन हो जाती है, और इसी कारण, उत्तमपुरुष वस्तुतः वह अलौकिक पुरुष हो जाता है जो लोकसंग्रह के लिए और युगधर्म की रक्षा के लिए उत्तमपुरुष के रूप में इस संसार में आता है। इस दृष्टिकोण से, उत्तमपुरुष एक अलौकिक आत्मा नहीं वरन् युग की

भी आत्मा है। श्री अरविन्द ने उत्तमपुरुष का वह अलौकिक आत्मा माना है जो कृष्ण के रूप म प्रत्येक युग क कुरुक्षेत्र रूपी धमक्षेत्र म अधम का नाश करने के लिए तथा धर्म की सस्थापना के लिए अवतरित हुआ करती है। उत्तम दिव्य है अत उत्तमपुरुष भी वह दिव्य पुरुष है जिसम युग के आदर्श सन्निहित रहते हैं।

आठवीं शताब्दी स लेकर वतमान समय तक भारत, एक ओर, राजनतिक दासता का भारत रहा है और दूसरी ओर विजेता सस्कृतियों के सघात तथा उनस उत्पन्न होने वाल सास्कृतिक और बौद्धिक कोलाहल का भारत। इस्लाम और इसाई मजहब सहिष्णुता, स्याद्वाद और अनेकान्तवाद के आधारभूत विचारों पर सीध आघात करते रहे हैं क्योंकि य मजहब मिशनरी मजहब है। इनका उद्देश्य रहा उन आध्यात्मिक तथा सामाजिक विश्वासों, आचारों और परम्पराओं का प्रचार जिन्हें इनमें अन्तिम सत्य क रूप म प्रतिपादित किया गया है। पश्चिमी पूजीवादी व्यवस्था जो अजन भावना (The Idea of Acquisition) पर आधारित है पारलौकिकता, त्याग, दान, अस्तेय आत्मनिग्रह और लोकसग्रहाथ कम के विचारों के विरोध म आती है। यह काल भारत के राजनतिक सास्कृतिक तथा सामाजिक पराजय और पुनरुन्नयन का काल रहा है। पराजय स त्राण पाने की आत्मक चेष्टा ने अलौकिकता और प्रपत्ति क भाव को प्रोत्साहित किया जिस, जसा कि राम और कृष्ण के इस युग में प्रतिपादित स्वरूपों स स्पष्ट है उत्तमपुरुष की धारणा मे आत्मसात किया गया। इस युग का उत्तमपुरुष जहा अलौकिक है वहाँ वह निष्काम कमठ भी है। वह कम में इसलिए लीन होता है कि धम की रक्षा हो सके और सत्य सस्थापित हो सके। वह अधम और असत्य का विरोधी है। वह अधम और असत्य के प्रतीक रावण और कस का वधक है। वह एक दिव्य पथप्रदशक है, जिसका उद्देश्य है निगमागम सम्मत[1] आदर्शों की प्रतिस्थापना करना। यहाँ पूणत्व यह अलौकिक है जो ऐतिहासिक परिस्थितियों की आवश्यकताओं के अनुसार मानव क्रिया कलापों म पूणत्व लाने क लिए हस्तक्षेप किया करता है।

पुनरुन्नयन के इस काल में, बुद्धवादी, जनवादी और गीता तथा वेदान्त मे प्रतिपादित उत्तमपुरुष की धारणाओं न, उत्तमपुरुष के विचार को प्रभावित किया है। राजनैतिक तथा सास्कृतिक स्वातन्त्र्य के लिए अहर्निश सघष और युग की आवश्यकतानुसार समाजसुधार, इस युग की दो आधारभूत आवश्यकतायें रही हैं जिनस इस युग की उत्तमपुरुष की धारणायें प्रभावित हुई हैं। स्वातन्त्र्य-सग्राम न निष्काम कमठता की माग की, जिस जैनवादी, बुद्धवादी और गीता के विचारों स प्रेरणा मिली। आवश्यक समाजसुधार स उत्पन्न परिवतनों को आत्मसात करते हुए, सामाजिक

1 रामायण के विषय में तुलसीदास ने कहा है नाना पुराण निगमागम सम्मत यत रामायणे निगदित क्वचिदन्यतोपि

सगठन में पुनरुन्नयन के विचार तथा आवश्यकता को आर्यसमाज तथा वेदान्त से प्रेरणा मिली। सामाजिक सुधार और स्वातन्त्र्य-सग्राम की आवश्यकता ने पूजीवाद के समक्ष भी लोकसग्रह के विचार को सर्वोपरि रक्खा। साथ ही साथ, पश्चिमी विज्ञान से प्रवीण होती हुई लौकिकता (Secularism) की विचारधारा से अलौकिकता की विचारधारा यदि खण्डित नही हुई तो, कुठित होकर, मन्द अवश्य पडी। इन विभिन्न प्रभावो के परिणामस्वरूप, इस युग मे उत्तमपुरुष की कई धारणायें प्रतिपादित हुई, जो नई परिस्थितियो में, पुरानी धारणाओ का पुनरुन्नयन हैं। तिलक ने गीता के निवचन के आधार पर उस उत्तमपुरुष का रूप जन मानस के सम्मुख प्रस्तुत किया जो निष्काम कर्मयोगी है और स्वतन्त्रता जिसका जन्मसिद्ध अधिकार है। रामकृष्ण परमहस के कार्यों और विचारो से जिस उत्तमपुरुष का रूप उभरता है वह सभी मे एक ही सत्ता देखता है उसमे ऊच-नीच का भेद भाव नही है वह दोनों के प्रति द्रवित है और प्रत्येक व्यक्ति के लिए वही धर्म उचित मानता है जिससे कि प्रत्येक व्यक्ति जन्मत दीक्षित है। स्वामी विवेकानन्द का उत्तमपुरुष स्वतन्त्रता प्राप्ति, सामाजिक दीनता और कुरीतियो को नष्ट करने तथा पश्चिमी विज्ञान और भारतीय आध्यात्मिकता के समन्वय के लिए व्यग्र और कर्मशील है। वह सन्यासी है, जीवन्मुक्त है किन्तु वह राजनैतिक आन्दोलन का प्रणेता तथा समाजसेवी है। लोकसग्रह उसका मुख्य ध्येय है। वह ब्रह्मनिष्ठ है वह आत्मवत् सर्वभूतेषु की भावना से विभोर है। वह अपने प्रति निस्पृह है न कि लोकसग्रह के प्रति। आर्यसमाजी विचारधारा का उत्तमपुरुष वेदो के प्रति फैले हुए अज्ञान को नष्ट करने तथा वेदविहित आदर्शों के आधार पर समाज के पुनर्सगठन के प्रति वैसे ही तत्पर है जैसाकि युद्ध के लिए प्रेरित सेनानी। उसके लिए वही हिन्दू है जो आर्यों की देन है और वेदविहित है।

गाधी की विचारधारा मे उत्तमपुरुष की धारणा सत्याग्रही की धारणा के रूप मे अवतरित हुई है। गाधी की विचारधारा पर पारलौकिकता का प्रभाव है। राम से उन्हे प्रेरणा मिलती है। लेकिन, गाधी की विचारधारा मे प्रतिपादित उत्तमपुरुष अलौकिक नही है वह पूर्णतया लौकिक और इस ससार का पुरुष है। गाधी की विचारधारा अहिंसा, अपरिग्रह और निरन्तर सत्यशील के विचारो से प्रभावित है। लेकिन, गाधी का उत्तमपुरुष अलौकिक से उतना प्रेरित नही है जितना कि लोक-कल्याण की भावना से। (सत्याग्रह का अर्थ है सत्य के लिए अहिंसात्मक आग्रह और असत्य से निरन्तर अहिंसात्मक असहयोग। [illegible] ।, सत्यनिष्ठा, अ[illegible] [illegible]रिग्रह और मन वचन तथा [illegible] मूल आधार वस्तुत जीवनदान [illegible] नि [illegible] है। सत्याग्रह, सत्यनि[illegible] आधारित है। सत्याग्रह [illegible] वही सत्याग्रह का प्रवि[illegible]

कर्म को असंग तथा द्वेषरहित कर लिया है, जिसमें सत्यानुभूति के द्वारा सत्यनिष्ठा आ गई है, जो दृढ़ निश्चय से उत्पन्न होने वाले साहस तथा उत्साह से प्रेरित है और जिसने अपरिग्रह, अस्तेय तथा अहिंसा को हृदयंगम कर लिया है। सत्याग्रही में चार गुण आवश्यक हैं—पहला ब्रह्मचर्य जिसका अर्थ अविवाहित जीवन नहीं वरन मन, वचन तथा कर्म से इन्द्रियों पर पूर्ण नियन्त्रण है, दूसरा सत्यनिष्ठा सर्वात्मप्रेम और अहिंसा, तीसरा 'निडरता' दृढ़ निश्चय और यह भाव की उसके (सत्याग्रही के) सारे कार्य सत्य और ईश्वरेच्छा से प्रेरित हैं और चौथा, अपरिग्रही जीवन जो दरिद्रनारायण का प्रतीक है।

अपरिग्रह का तात्पर्य दीनता या गरीबी से नहीं है। अपरिग्रह का तात्पर्य है कम से कम भौतिक वस्तुओं का प्रयोग क्योंकि स्वच्छिक त्याग से सम्यक दृष्टि का अभ्युदय होता है। सत्याग्रही में लोकसंग्रह की प्रेरणा है। इसीलिए उसमें दया, करुणा और प्रेम के साथ-साथ कर्मठता भी है। सत्याग्रही में लोकसंग्रह की प्रेरणा इतनी प्रबल है कि वह संसार का केवल दर्शक मात्र नहीं है। संसार में सत्य की संस्थापना के लिए, वह निरन्तर क्रियाशील रहता है क्योंकि अहिंसा के द्वारा असत्य का विनाश उसका धर्म है और वह उसके लिए सतत तत्पर रहता है। वह सत्य की संस्थापना के लिए तब तक निरन्तर प्रयत्नशील और कष्ट झेलता रहता है जबतक कि समाज का वांछित रूपान्तरण न हो जाय। सत्याग्रही का आदर्श उस समाज की स्थापना करना है जिसके सदस्य आध्यात्मिकता से प्रबुद्ध हो गये हों और इसकारण, अहिंसक अपरिग्रही सरल शुद्ध और तपस्वी जीवन की ओर स्वतः प्रेरित हों। सत्याग्रही, इसप्रकार, एक आदर्श तथा समाजोन्मुख उत्तमपुरुष है जो एक आदर्श समाज की स्थापना के विचार से प्रेरित होकर लोकसंग्रह के कार्य में लगा हुआ है। गांधी का आदर्श समाज अस्तेय और अपरिग्रह पर आधारित वह समाज है जो मशीन, औद्योगिकता पूंजीवाद और शहरीकरण के दोषों से मुक्त है।

अद्वैत वेदान्त की विचारधारा से प्रभावित होने के कारण राधाकृष्णन के पूर्णत्व सम्बन्धी विचारों पर जीवन्मुक्त की धारणा का प्रभाव स्पष्ट है। राधाकृष्णन ने पूर्णपुरुष को मुक्तात्मा कहा है। वही व्यक्ति मुक्तात्मा है जिसने आत्मसत्व के अनुभव के द्वारा, अपने व्यक्तित्व का पूर्णतया एकीकृत कर लिया है, जिसका तर्क प्रकाश में परिणत हो गया है तथा हृदय प्रेम में और इच्छा सत्ता में जिसके प्रयत्न अनुशासित हैं जिसमें आत्मा के एकत्व की भावना निश्चित रूप ले चुकी है और जिसमें अविद्या एषणा, अहं, द्वेष तथा क्रिया बंधन का नाश हो गया है। मुक्तात्मा शाश्वत के प्रति सदैव जागरूक रहता है और इसी जागरूकता के साथ संसार के कर्मों का सम्पादन करता है। साधुशीलता उसका सहजगुण है, जिसके समक्ष बौद्धिकता की उड़ान फीकी लगती है। मुक्तात्मा विनम्र धैर्यवान तथा कष्टसाध्य होता है। वह दूसरे के दोष को नहीं देखता क्योंकि वह दूसरों का पूर्ण

रूपेण जानने का दावा नही करता है। मुक्तात्मा के एषणारहित प्रेम से दुखी हृदयो को सान्त्वना मिलती है। मुक्तात्मा, वस्तुत, रचनात्मक जीवन का कलाकार है। मुक्तात्मा, इसप्रकार, एक ओर, शाश्वत के प्रति जागरूक है और, दूसरी ओर, अपने सत्व के प्रति असग रहित होकर, लोकसग्रह के लिए कार्यशील है। मुक्तात्मा स्वपरक न होकर, शाश्वतपरक तथा समाजपरक होता है।

हिंदुत्व के वैचारिक आधार तथा आदर्श नियम, जैसाकि पिछले वर्णन से स्पष्ट है, धर्म, पुरुषार्थधर्म, वर्णाश्रमधर्म, कर्मधर्म, राजधर्म, कुलधर्म तथा उत्तमपुरुष की धारणाओ से प्रेरित हैं। हिंदू विचार लौकिकता और अलौकिकता से एक साथ प्रेरित है। हिंदू सामाजिक विचार वस्तुत दार्शनिक विचार है। हिंदुत्व में व्यक्ति तथा समाजसम्बन्धी विचारो को दर्शन के आधार पर प्रतिपादित किया गया है। यहाँ दर्शन का अर्थ केवल तर्काश्रित आदर्श विचार से नही है। यहा दर्शन ज्ञान है और ज्ञान पारलौकिक सत्य की वह अनुभूति है जो विज्ञान से परे है। पारलौकिक सत्य की अनुभूति से मोक्ष प्राप्ति जीवन का उच्चतम उद्देश्य है। जीवन के दो पहलू हैं—वैयक्तिक और सामाजिक। वैयक्तिक और सामाजिक एक दूसरे के विरोधी नही वरन् पूरक है क्योकि पारलौकिक सत्य की अनुभूति और मोक्ष के लिए व्यक्ति का सामाजीकरण आवश्यक है। समाज बन्धन नहीं वरन् सर्वोत्तम उद्देश्य की पूर्ति का साधन है। इसीलिए वैयक्तिक स्वार्थ नही वरन लोकसग्रह महत्वपूर्ण है। पूर्णपुरुष का उद्भव-स्थान और क्रिया क्षेत्र समाज है। लेकिन, समाज लौकिक है, वह पारलौकिक की छाया मात्र है। पूर्णत्व पारलौकिक की प्राप्ति में है। समाज पारलौकिक की प्राप्ति का साधन बना रहे, इसलिए समय समय पर समाज को सुधारने के लिए मानवरूप में स्वयं पारलौकिक अवतरित होता है। इस प्रकार, रहस्यविचार और पारलौकिकता हिंदू सामाजिक तथा वैयक्तिक जीवन के आधार हैं। प्रवृत्ति अवश्यम्भावी है निवृत्ति सर्वोत्तम आवश्यक साधन और दोनो का आधार तथा माध्यम समाज है। हिंदुत्व में समाज को साधन और माध्यम माना गया है—वह साधन जिससे जीवन के सर्वोत्तम उद्देश्य की प्राप्ति होती है। समाज, एक साधन के रूप में, सामाजिक आदर्श नियमो (Social Norms) या लोकाचारो से बधा है। आदर्श नियमो की सामाजिक अभिव्यक्ति सस्थाओ में होती है। सस्थायें व्यक्ति के सामाजीकरण का माध्यम होती हैं और सस्थाओ के द्वारा व्यक्ति अपने समाज के सास्कृतिक आदर्श के समीप पहुचता है। हिंदू सस्थायें और हिंदू सास्कृतिक आदर्श पारलौकिकता के विचार से प्रेरित हैं।

भारतीय संस्कृति में इस्लाम

बारहवाँ अध्याय

भारत मे इस्लाम

हिन्दुत्व और इस्लाम

भारत के सांस्कृतिक उद्विकास में शंकर का अभ्युदय और इस्लामी सांस्कृतिक धारा का प्रवाह साथ साथ प्रारम्भ हुआ है। आठवीं शताब्दी से लेकर अठारहवीं शताब्दी तक का काल एक ओर, हिन्दुओं और मुसलमानों में चलने वाले राजनैतिक संघर्ष का काल है तो दूसरी ओर, दार्शनिक ऊहापोह, सामाजिक सुधारों और विप्लवों का। इसी काल को एक ओर मध्ययुग कहा जाता है तो दूसरी ओर मुस्लिम-काल। सांस्कृतिक उद्विकास के इतिहास के दृष्टिकोण से मुस्लिम काल की संज्ञा निरर्थक है क्योंकि इस काल में मुसलमानों को भारत पर पूर्ण राजनैतिक प्रभुत्व कभी नहीं मिला। सात सौ बारह ईसवी में मुहम्मद बिन कासिम के द्वारा सिंध के कुछ शहर जीत लेने का अर्थ भारत में मुस्लिम काल का प्रारम्भ होना नहीं है और न उस समय से हिन्दू संस्कृति के उत्तरोत्तर उद्विकास की प्रक्रिया में कोई व्यवधान ही आया है। सारे मुस्लिम कहे जाने वाले काल में, भारत के किसी न किसी भाग में हिन्दू राज्य रहे हैं जिनके अधिष्ठाता हिन्दू मान्यता के अनुसार धर्म राज्य स्थापित करने का प्रयत्न करते रहे हैं। काबुल, लाहौर, दिल्ली, अजमेर, कन्नौज, मालवा और गुजरात के राजपूत शासक आक्रमणकारी इस्लाम को रोक कर हिन्दू मान्यता के अनुसार धर्म राज्य की स्थापना करते हुए समाप्त हुए हैं। चौदहवीं शताब्दी में

तुगलकों के पतन के बाद, राजपूतों ने अपने पुनरुत्थान का प्रयत्न किया और अठारहवीं शताब्दी के राजनैतिक भारत पर वस्तुतः हिन्दुओं का प्रभुत्व था[1]। राजनैतिक सर्वोपरिता के दृष्टिकोण से केवल तेरहवीं शताब्दी के अंत या चौदहवीं शताब्दी के प्रारम्भ तक का काल ही मुस्लिम-काल कहा जा सकता है। किंतु, सांस्कृतिक विकास के तारतम्य में जहाँ आधारभूत धारा प्रवाहित होती रहती है इन कालों से अधिक महत्वपूर्ण हैं वे परिवर्तन प्रक्रियायें, जिनमें मुख्य सांस्कृतिक धारा के किनारे कटते छटते तो हैं, उसकी गति भी बदलती है, पर उसकी दिशा में परिवर्तन नहीं आता है।

भारत की हिन्दू-संस्कृति में इस्लामी धारा के मिलन के बाद से ही भारतीय संस्कृति का रूप आता है। इस्लाम की उत्पत्ति ऐतिहासिक प्रक्रिया से हुई है। इस्लाम इतिहास में समाया हुआ है और इस्लाम में इतिहास। इस्लाम, एक ओर, एक मजहबी आस्था है तो दूसरी ओर, एक सामाजिक ऐतिहासिक प्रवाह। हिन्दुत्व और इस्लाम का मिलन वस्तुतः उन दो ऐतिहासिक प्रवाहों का मिलन है जिनमें मानव-जीवन के सभी पक्ष निहित हैं जिनका उद्भव और विकास अलग अलग स्थानों में हुआ और अपनी ऐतिहासिक परिस्थितियों के कारण जो एक दूसरे के विभेदक सिद्ध हुए। मध्ययुगीन भारत के इतिहासकार बहुधा हिन्दुत्व पर इस्लाम के संघात की बात करते हैं क्योंकि उनकी यह मान्यता है कि इस काल में होने वाले सामाजिक सांस्कृतिक परिवर्तन इस्लाम के संघात के प्रत्यक्ष या अप्रत्यक्ष परिणाम हैं[2]। समाज शास्त्रीय सन्दर्भ में यह दृष्टिकोण एकांगी है क्योंकि यहाँ यदि इस्लाम का सम्पर्क हिन्दुत्व से हुआ तो हिन्दुत्व का इस्लाम से। दोनों इतिहास की अलग-अलग प्रक्रियायें थीं और दोनों को राजनैतिक सक्षमता प्राप्त थी। अपनी-अपनी समन्वयकारी क्षमताओं के कारण यदि इस्लाम ने हिन्दुत्व के सम्वरण उपस्थित किए तो हिन्दुत्व ने इस्लाम के, और इन्हीं सम्वरणों के माध्यम से दोनों का भारतीयकरण हुआ। फिर भी, इस्लाम और हिन्दुत्व के भारतीयकरण की प्रक्रियाओं के बीच इस्लाम ने इस्लाम की रक्षा का प्रयत्न किया और हिन्दुत्व ने हिन्दुत्व। इस्लाम ने औरंगजेब को जन्म दिया तो हिन्दुत्व ने शिवाजी और गुरुगोविन्दसिंह को और कालान्तर में, एक ओर, पाकिस्तान बना तो, दूसरी ओर, इंडिया अथवा भारत।

---

1 सरकार विनयकुमार : दि पाजिटिव बैकग्राउंड आफ हिन्दू सोशियालाजी, प्रथम जिल्द, पृष्ठ 90-100

2 उदाहरण के लिए देखिए डा० ताराचन्द : इन्फ्लुएंस आफ इस्लाम आन इंडिया।

२

इस्लाम

भारत में इस्लाम के प्रवेश से उत्पन्न परिवर्तन प्रक्रियाओं को समझने के लिए इस्लाम के स्वरूप और उसकी इतिहास जनित विशिष्टताओं की व्याख्या आवश्यक है। रहस्यवादी अनुभूति में अवगुंठित, इस्लाम इस प्रकार के मजहबी विचारों की अभिव्यक्ति है, जिसका बीजारोपण उस समय हुआ था जब अरब में मक्का निवासी हजरत मुहम्मद (570 630) को इस बात का दिव्य अन्तर्ज्ञान हुआ था कि वे ईश्वर के दूत हैं और उनके माध्यम से मानव मात्र के कल्याण के लिए ईश्वर के आदेश अवतरित हो रहे हैं। इस्लाम उस समय अंकुरित हुआ था जब अपने रहस्यवादी सहज ज्ञान का प्रचार करने के कारण हजरत मुहम्मद का मक्का में विरोध हुआ और उन्हें भागकर मदीना में शरण लेनी पड़ी जहां मुहम्मद के नेतृत्व में, इस्लाम पल्लवित हुआ एक छोटे से मजहबी राष्ट्रवादी समुदाय के रूप में, जो निरंतर बढ़ता ही रहा है। इस्लाम की स्थापना के लिए इसी समुदाय ने जब मक्का विजय की तो इस्लाम का राजनतिक रूप उभरा। हजरत मुहम्मद के जीवन काल ही में पश्चिमी अरब पर इस्लाम का झण्डा गड़ गया था। हजरत मुहम्मद की मत्यु के बाद एक शताब्दी बीतते बीतते सिंधु से लेकर मोरक्को तक इस्लाम का झंडा लहराने लगा था। ईसा की तेरहवीं शताब्दी के आस पास इस्लामी विचारों और अनुभतियों ने एक सभ्यता विशेष का रूप ले लिया था। पिछले तेरह सौ वर्षों के निरन्तर प्रसार का परिणाम है कि आज इस्लाम उस बड़े भभाग का प्रधान मजहब है जो उत्तरी अफ्रीका और पश्चिमी एशिया के आर पार होता हुआ पामीर तक आता है और वहां से, पूर्व में मध्य एशिया तथा चीन और दक्षिण में पाकिस्तान में विलीन हो जाता है[1]। अपने इस व्यापक प्रसार में एक ओर, इस्लाम ने अनेक प्रजातियों (Races) गणजातियों (Tribes) और राष्ट्रों (Nations) को एक सामाजिक धार्मिक सूत्र में बांधने का प्रयास किया तो, दूसरी ओर वह एक प्रबल राष्ट्रनिर्मात्री शक्ति सिद्ध हुआ। इस्लाम के ही संघात से अरबी, बर्बर ईरानी तूरानी, अफगानी और अल्बानिया आदि के निवासियों का अलग अलग राष्ट्रीय पुनर्जन्म हुआ।

---

1 इस्लाम के अनुयाइयों का प्रसार क्षेत्र इतना ही नहीं है, यद्यपि यह एक प्रमुख क्षेत्र है। भारत में इस्लाम प्रमुख मजहब नहीं है। किन्तु, मलाया प्रायद्वीप तथा पूर्वी द्वीप समूह से लेकर फिलिप्पाइंस तक इस्लाम एक प्रमख मजहब है। टंगानिका और जंजीबार वाले अफरीकी क्षेत्र में भी इस्लाम प्रधान मजहब है किन्तु दक्षिणी अफरीका के राज्य संघ में मुसलमानों की संख्या छुटपुट है। उत्तरी तथा दक्षिणी अफरीका में पाए जाने वाले मुसलमान मध्य एशिया से स्थानान्तरित हुए हैं—गिब, मोहम्मडनिज्म पृष्ठ 3

इस्लाम अरबी भाषा का शब्द है जिसका एक अर्थ है ईश्वर के प्रति मनुष्य का आत्मसमर्पण और दूसरा शान्ति में प्रवेश करना। अतः इस्लाम एक आस्था है जिसके द्वारा मनुष्य अपने को ईश्वर के प्रति समर्पित करके शान्तिग्रहण की कामना करता है। यह आस्था निहित है उन वाक्यों (आयतों) में जो हजरत मुहम्मद ने अपनी इल्हामी अवस्थाओं में कहे हैं और जिन्हें, ईश्वर वाक्य मानकर हजरत मुहम्मद की मृत्यु के बाद कुरान[1] नामक धार्मिक पुस्तक में संग्रह कर लिया गया है। हजरत मुहम्मद द्वारा प्रतिपादित इस्लामी आस्था में, ईश्वर एक है और वह सर्वशक्तिमान, निराकार अव्यक्त अजन्मा अजर, अमर और स्वेच्छाचारी पर दयालु है। अव्यक्त और अजन्मा होने के कारण न तो राम और कृष्ण की भांति ईश्वर अवतार ले सकता है और न ईसा[2] की मान्यता की भांति ईश्वर नारी के गर्भ से वह किसी को जन्म ही दे सकता है। मुहम्मद ईश्वर (अल्लाह) के अन्तिम दूत (रसूल, नबी, पैगम्बर) हैं। मुहम्मद के पहले पैगम्बर अवश्य हुए हैं पर उनके बाद नहीं होंगे, ऐसा इस्लामी मान्यता है। इस आस्था से यह ध्वनित होता है कि मुहम्मद द्वारा दिया हुआ ईश्वरीय ज्ञान भी अद्वितीय और अन्तिम है क्योंकि ऐसा ज्ञान न पहले मिला है और न मिलेगा। इस्लामी आस्था में इस्लाम एक अद्वितीय, सर्वश्रेष्ठ, रहस्यात्मक दिव्य ज्ञान (Revelation) है न कि धर्मविद्या (Theology) और हजरत मुम्मद ईश्वर के अन्तिम दूत हैं न कि कोई साधारण धर्मविद् (Theologian)। इतिहास प्रसिद्ध इस्लामी कट्टरता का प्रेरणास्रोत यही आस्था है।

इस्लामी आस्था में ईश्वर मालिक है और मनुष्य गुलाम है। ईश्वर और मनुष्य दो अलग अलग और भिन्न तत्व विरोधी सत्तायें हैं किन्तु ईश्वर के समक्ष, सभी मनुष्य समान हैं। मनुष्य एक अपूर्ण तथा निरीह प्राणी है जिसका न पुनर्जन्म

1 कुरान इस्लाम की मूल धार्मिक पुस्तक है जिसकी आयतों में जहाँ, एक ओर, ईश्वर और मनुष्य के सम्बन्धों को नियमित करने के उसूल निहित हैं वहाँ, दूसरी ओर, दैनिक जीवन को नियमित करने वाले ऐसे नियमों का भी प्रतिपादन किया गया है जैसे मादक वस्तुओं का सेवन न करना सुअर का माँस न खाना और सूद न लेना इत्यादि। कुरान के अलावा सुन्ना, हदीस और शरिअत तीन अन्य पुस्तकें हैं। सुन्ना में हजरत मुहम्मद के कृत्यों का वर्णन है और हदीस में उनके उपदेशों का संकलन। शरिअत इस्लामी विधि संहिता है जिसे कुरान, सुन्ना और हदीस के आधार पर संग्रहीत किया गया है। शरिअत उतनी ही पवित्र और ईश्वरीय है जितनी कि कुरान।

2 इसाई ईसा को ईश्वर का पुत्र मानते हैं जो कुमारी मरियम के गर्भ से ईश्वरीय कृपा के कारण उत्पन्न हुए थे। इस्लाम में ईश्वर अव्यक्त है। अतः वह ऐसा नहीं कर सकता।

७

इस्लाम

भारत में इस्लाम के प्रवेश से उत्पन्न परिवर्तन प्रक्रियाओं को समझने के लिए इस्लाम के स्वरूप और उसकी इतिहास जनित विशेषताओं की व्याख्या आवश्यक है। रहस्यवादी अनुभूति मे अवगुंठित, इस्लाम इस प्रकार के मजहबी विचारों की अभिव्यक्ति है, जिसका बीजारोपण उस समय हुआ था जब अरब में मक्का निवासी हजरत मुहम्मद (570 630) को इस बात का दिव्य अन्तर्ज्ञान हुआ था कि वे ईश्वर के दूत हैं और उनके माध्यम से मानव मात्र के कल्याण के लिए ईश्वर के आदेश अवतरित हो रहे है। इस्लाम उस समय अंकुरित हुआ था जब अपने रहस्यवादी सहज ज्ञान का प्रचार करने के कारण हजरत मुहम्मद का मक्का में विरोध हुआ और उन्हें भागकर मदीना में शरण लेनी पड़ी जहां मुहम्मद के नेतृत्व में, इस्लाम पल्लवित हुआ एक छोटे से मजहबी राष्ट्रवादी समुदाय के रूप में, जो निरन्तर बढ़ता ही रहा है। इस्लाम की स्थापना के लिए इसी समुदाय ने जब मक्का विजय की तो इस्लाम का राजनतिक रूप उभरा। हजरत मुहम्मद के जीवन काल ही में पश्चिमी अरब पर इस्लाम का झंडा गड गया था। हजरत मुहम्मद की मृत्यु के बाद, एक शताब्दी बीतते बीतते, सिंधु से लेकर मारक्को तक इस्लाम का झंडा लहराने लगा था। ईसा की तेरहवीं शताब्दी के आस पास इस्लामी विचारों और अनुभूतियों ने एक सभ्यता विशेष का रूप ले लिया था। पिछले तेरह सौ वर्षों के निरन्तर प्रसार का परिणाम है कि आज इस्लाम उस बड़े भूभाग का प्रधान मजहब है जो उत्तरी अफ्रीका और पश्चिमी एशिया के आर पार होता हुआ पामीर तक आता है और वहां से, पूर्व में मध्य एशिया तथा चीन और दक्षिण में पाकिस्तान में विलीन हो जाता है[1]। अपने इस व्यापक प्रसार में, एक ओर इस्लाम ने अनेक प्रजातियों (Paces) गणजातियों (Tribes) और राष्ट्रों (Nations) को एक सामाजिक धार्मिक सूत्र में बांधने का प्रयास किया तो दूसरी ओर वह एक प्रबल राष्ट्रनिर्मात्री शक्ति सिद्ध हुआ। इस्लाम के ही संघात से अरबी, मिस्र ईरानी तूरानी अफगानी और अल्बानिया आदि के निवासियों का अलग अलग राष्ट्रीय पुनर्जन्म हुआ।

---

1 इस्लाम के अनुयाइयों का प्रसार क्षेत्र इतना ही नहीं है यद्यपि यह एक प्रमुख क्षेत्र है। भारत में इस्लाम प्रमुख मजहब नहीं है। किन्तु मलाया प्रायद्वीप तथा पूर्वी द्वीप समूह से लेकर फिलिप्पाइंस तक इस्लाम एक प्रमुख मजहब है। टगानिका और जंजीबार वाले अफरीकी क्षेत्र में भी इस्लाम प्रधान मजहब है किन्तु दक्षिणी अफरीका के राज्य संघ में मुसलमानों की संख्या छुटपुट है। उत्तरी तथा दक्षिणी अफरीका में पाए जाने वाले मुसलमान मध्य एशिया से स्थानान्तरित हुए हैं—गिब, मोहम्मडनिज्म पृष्ठ 3

इस्लाम अरबी भाषा का शब्द है जिसका एक अर्थ है ईश्वर के प्रति मनुष्य का आत्मसमर्पण और दूसरा शान्ति में प्रवेश करना। अत, इस्लाम एक आस्था है जिसके द्वारा मनुष्य अपने को ईश्वर के प्रति समर्पित करके शान्तिग्रहण की कामना करता है। यह आस्था निहित है उन वाक्यों (आयतों) में जो हजरत मुहम्मद ने अपनी इस्लामी अवस्थाओं में कहे हैं और जिन्हें ईश्वर वाक्य मानकर, हजरत मुहम्मद की मृत्यु के बाद, कुरान[1] नामक धार्मिक पुस्तक में संग्रह कर दिया गया है। हजरत मुहम्मद द्वारा प्रतिपादित इस्लामी आस्था में ईश्वर एक है और वह सर्वशक्तिमान, निराकार अव्यक्त, अजन्मा, अजर अमर और स्वेच्छाचारी पर दयालु है। अव्यक्त और अजन्मा होने के कारण न तो राम और कृष्ण की भांति ईश्वर अवतार ले सकता है और न ईसाइयों की मान्यता की भांति नश्वर नारी के गर्भ से वह किसी का जन्म हो दे सकता है। मुहम्मद ईश्वर (अल्लाह) के अन्तिम दूत (रसूल, नबी, पैगम्बर) हैं। मुहम्मद के पहले पैगम्बर अवश्य हुए हैं पर उनके बाद न होंगे, ऐसी इस्लामी मान्यता है। इस आस्था से यह ध्वनित होता है कि मुहम्मद द्वारा दिया हुआ ईश्वरीय ज्ञान भी अद्वितीय और अन्तिम है, क्योंकि ऐसा ज्ञान न पहले मिला है और न मिलेगा। इस्लामी आस्था में इस्लाम एक अद्वितीय सर्वश्रेष्ठ रहस्यात्मक दिव्य ज्ञान (Revelation) है न कि धर्मविद्या (Theology) और हजरत मुहम्मद ईश्वर के अन्तिम दूत हैं न कि कोई साधारण धर्मविद् (Theologian)। इतिहास प्रसिद्ध इस्लामी कट्टरता का प्रधानाधार यही आस्था है।

इस्लामी आस्था में ईश्वर मालिक है और मनुष्य गुलाम है। ईश्वर और मनुष्य दो अलग अलग और किसी हद तक विरोधी सत्तायें हैं किन्तु ईश्वर के समक्ष, सभी मनुष्य समान हैं। मनुष्य एक अपूर्ण तथा निरीह प्राणी है जिसका न पुनर्जन्म

---

1 कुरान इस्लाम की मूल धार्मिक पुस्तक है जिसकी आयतों में जहाँ, एक ओर, ईश्वर और मनुष्य के सम्बन्धों को नियमित करने के उसूल निहित हैं वहाँ, दूसरी ओर, दैनिक जीवन को नियमित करने वाले ऐसे नियमों का भी प्रतिपादन किया गया है जैसे मादक वस्तुओं का सेवन न करना, सुअर का मांस न खाना और सूद न लेना इत्यादि। कुरान के अलावा सुन्ना, हदीस और शरिअत तीन अन्य पुस्तकें हैं। सुन्ना में हजरत मुहम्मद के कृत्यों का वर्णन है और हदीस में उनके उपदेशों का संकलन। शरिअत इस्लामी विधि संहिता है जिसे कुरान, सुन्ना और हदीस के आधार पर संग्रहीत किया गया है। शरिअत उतनी ही पवित्र और ईश्वरीय है जितना कि कुरान।

2 ईसाई ईसा को ईश्वर का पुत्र मानते हैं जो कुमारी मरियम के गर्भ से ईश्वरीय कृपा के कारण उत्पन्न हुए थे। इस्लाम में ईश्वर अव्यक्त है। अत, वह ऐसा नहीं कर सकता।

होना है और न मोक्ष[1]। प्रलय (कयामत) के द्वारा एक दिन इस संसार का नाश होना है और जब तक प्रलय नहीं आती है, प्रत्येक मृत मनुष्य को कब्र में पड़ा रहना पड़ेगा। कयामत के बाद, हर एक को, ईश्वर के निर्णय के अनुसार स्वर्ग या नर्क में जाना होगा। चूंकि संसार का अन्त है और व्यक्ति का पुनर्जन्म नहीं है मनुष्य का केवल एक ही धर्म है और वह है हजरत मुहम्मद द्वारा बताए हुए ईश्वरीय आदेशों के अनुसार चलकर ईश्वरीय कृपा पाने का निरन्तर प्रयास करना क्योंकि एहिक तथा पारलौकिक सुख के लिए ईश्वरीय कृपा आवश्यक है। नमाज (प्रार्थना) रोजा (व्रत उपवास) जकात (भिक्षा दान) हज[2] (तीर्थ यात्रा) और जिहाद[3] के माध्यम से मनुष्य ईश्वर की कृपा पा सकता है।

इस प्रकार इतिहास के गर्भ से उत्पन्न इस्लाम एक दृढ़ आत्म विश्वासी और विजयाकांक्षी मजहबी आस्था है। यह आस्था केवल मानसिक (Psychical) नहीं है क्योंकि यह व्यक्ति को समष्टि में समेटे हुए है और धर्म का राष्ट्र अनुशासन तथा सभ्यता में। इस्लामी आस्था का प्रथम प्रस्फुटन हुआ था एक समुदाय में जिसने अपने शासक और धर्मगुरु (हजरत मुहम्मद) को स्वयं चुना था। इसीलिये इस्लाम में मिल्लत (समुदाय) अधिक महत्वपूर्ण है न कि मलिक (शासक) या व्यक्ति। इस्लाम का जन्म हुआ था एक धार्मिक राष्ट्रीय चेतना के रूप में। इसीलिये इस्लाम में शासक और धर्म गुरु एक में मिल गये। इस्लाम ने सदैव राष्ट्र और मजहब को

---

1 जीव, आत्मा माया, मोक्ष या निर्वाण जैसी मान्यतायें इस्लाम में नहीं हैं। सूफीवाद में ऐसी मान्यतायें अवश्य मिलती हैं पर, वास्तव में सूफीवाद मुहम्मद द्वारा प्रतिपादित इस्लाम का एक विभेद है। सूफीवाद की आत्मा इस्लाम की अपेक्षा वेदान्त के अधिक समीप है। इस्लाम में जीव अविनाशी और ईश्वर का अंश नहीं है। ईश्वर के समक्ष मनुष्य केवल दया की भीख माग सकता है। हिन्दुत्व में, ईश्वर की दया के बावजूद भी कर्म की छाप अमिट रहती है। सम्भवतः इसी कारण हिन्दुत्व की प्रार्थना (इबादत) में आराध्य में लीन हो जाने की प्रेरणा है और इस्लाम में कृपा भीख मांगने की सीख है (अनलहक) या 'खुदी को कर बुलन्द इतना कि हर तकदीर से पहले, खुदा बन्दे से खुद पूछे कि बता तेरी रजा क्या है' जैसी कल्पनायें इस्लाम की भावना के विरुद्ध हैं।

2 इस्लाम में हज का अर्थ है मक्का मदीना की यात्रा करना।

3 जिहाद का मूल अर्थ है हजरत मुहम्मद द्वारा मिले ईश्वरीय ज्ञान का प्रसार करना। किन्तु इस्लाम के प्रसार के लिए स्वयं हजरत मुहम्मद ने तलवार उठाई थी। बाद में इस्लामी साम्राज्य के फैलने के साथ जिहाद का अर्थ हो गया धर्मयुद्ध और आज जिहाद इसी अर्थ में प्रयुक्त होता है।

एक में मिलाने का प्रयास किया है और, इसीकारण इतिहास में इस्लाम एक प्रबल राष्ट्रनिर्मात्री शक्ति रहा है। भारत में पाकिस्तान का निर्माण इसी ऐतिहासिक प्रक्रिया से सम्बंधित है। इस्लाम व्यक्ति को एक राष्ट्रीय और सामाजिक अनुशासन में बांधने का प्रयास है। मुसलमान[1] बनने का अर्थ है उस धर्म में दीक्षा लेना जो अद्वितीय, अंतिम, रहस्यात्मक और निश्चित है। उस समाज और राष्ट्र का सदस्य बनना जो इसी धर्म पर आधारित है तथा उस निष्ठा और अनुशासन को अपनाना जो पूर्वनिर्धारित है और जो पहले ही से उचित मान लिए गये हैं। विश्वासों के स्थान पर, मुहम्मद द्वारा निर्दिष्ट ईश्वरीय आज्ञा का पालन ही इस्लाम की अपने अनुयायी से मुख्य मांग है और मुसलमान का सबसे बड़ा धर्म है। इस्लाम धर्म का प्रचार (जिहाद) मुसलमान का कर्तव्य है। इसीकारण इस्लाम एक अनुशासित आस्था है और प्रत्येक मुसलमान एक सहज सिद्ध मिशनरी (धर्म प्रचारक)। अपने ऐतिहासिक सन्दर्भ में इस्लाम एक सामाजिक आस्था को स्थापित करने का प्रयास है जिसका एक आधार है इस्लामी निश्चित धर्म और दूसरा इतिहास प्रदत्त सामाजिक विरासत जो संस्कृतिमूलक न होकर सम्प्रदायमूलक है।

इस्लाम का आविर्भाव और अभ्युदय हुआ है एक युक्तिसंगत (Rationalized) सामाजिक राजनैतिक धार्मिक और निश्चित आस्था के रूप में जो समन्वय के धार्मिक ऐतिहासिक विकास की एक पूर्वनिर्धारित व्याख्या करना और इतिश्री मानी गयी है। इस्लाम के प्रतिष्ठापकों ने इस आस्था का निरन्तर युक्तिकरण (Rationalization) किया है[2]। यह युक्तिकृत आस्था निश्चित है कुरान सुन्ना हदीस

1 इस्लाम के अनुयायी को फारसी में मुसलमान और अरबी में मुस्लिम की संज्ञा दी जाती है। फिर भी इस्लाम के लिये मुहम्मदवाद (Mohammadanism) की संज्ञा का प्रयोग किया है जिसके आधार पर मुसलमान को मुहम्मदवादी (Mohammadan) भी कहा जाता है। किन्तु इस पर यह आपत्ति की जा सकती है कि मुहम्मदवाद या मुहम्मदवादी से यह ध्वनित होता है कि जैसे मुहम्मद कोई देवता हों और इस्लाम मुहम्मद का धर्म हो। इस्लाम ईश्वर का धर्म है न कि मुहम्मद का। इस्लाम के विद्यार्थियों की यह आपत्ति है कि मुहम्मदवाद इस्लाम के केवल एक अंग को व्यक्त करता है—यह अंग जो मुहम्मद के प्रतिपादनों से ही सम्बन्धित है। शिया और सूफी सम्प्रदाय भी इस्लाम के अंग हैं यद्यपि वे मुहम्मदवाद के अर्थ में नहीं आते हैं। इस्लाम शब्द, मुहम्मदवाद के स्थान पर, अधिक उपयुक्त और व्यापक है।

2 उदाहरण के लिये देखिये गिब द्वारा रचित 'मोहम्मडनिज्म' और अमीरअली कृत 'दि स्पिरिट आफ इस्लाम'। अमीरअली ने इस्लाम के आविर्भाव की ऐतिहासिक पृष्ठभूमि का जो विवेचन प्रस्तुत किया है उससे यह ध्वनित होता

और शरिअत म, जिनका अक्षरश पालन ही नही वरन जिहाद (प्रसार) भी आवश्यक है। इस्लाम की उत्पत्ति ही उस स्थिति मे हुयी थी जिसम राजा, राज्य, विधिसंहिता, समाज और संस्कृति सभी कुछ मजहब के आधीन हो गये थे। राजा (खलीफा) जो धम गुरु भी है, जिहाद का प्रतिष्ठापोषक बना और इस जानने वाले (उलमा धमविद) मजहब के रक्षक। कुरान, सुन्ना हदीस और शरिअत की आत्मा अरबी है जिसके कारण इस्लाम का मूल आधार अरबीवादी है। इस्लाम को ग्रहण करने वाला स इस्लाम इसी अरबीपन म रगने की माग करता रहा है। इस पथ्वी पर ईश्वर का अन्तिम और सवश्रेष्ठ विश्वास होने के कारण, सिद्धान्तत इस्लाम परिवतन नही स्वीकार करता। ससार के मुस्लिम समाजो को एकसूत्र म बाधने तथा प्रथम महायुद्ध के बाद खिलाफत को बनाये रखने के प्रयास और अठारहवी शताब्दी म लेकर उन्नीसवी शताब्दी के पूर्वाद्ध के बाद तक अखिल मुस्लिम समाज म इस्लाम की शुद्धता बनाये रखने के लिय चलने वाला वहाबी आन्दोलन इसी इतिहासजनित अरबी कट्टरता के प्रतीक हैं। सातवी शताब्दी स लेकर अठारहवी शताब्दी तक, इस्लाम जिन राजनतिक परिस्थितियो म रहा, उनसे अरबीपन को प्रोत्साहन मिला जिसके कारण इस्लाम म अरबीपन की लहर बराबर उद्वेलित होती रही है। इस्लाम का जहा भी प्रसार हुआ वहा वह राज्य धम के रूप म रहा और मसलमान शासक के रूप म, जिसका परिणाम यह हुआ कि जिस समाज म इस्लाम का प्रवेश हुआ इस्लाम उस समाज इस्लाम बनाने के लिय प्रेरित रहा। इस्लाम का उदभव अभ्युदय और प्रसार अरबीवाद (Arabicism) की प्रचण्ड लहर म बन्ता रहा है जिसके लिये न इस्लाम उत्तरदायी है न उसके प्रणता और न मुसलमान। इस्लाम म अरबीवाद के लिये उत्तरदायी ह व ऐतिहासिक परिस्थितिया जिनम इस्लाम का जन्म वद्धि और प्रसार हुआ है।

इस्लाम की अरबीवादी प्रवत्ति का जन्म इतिहास म हुआ और इतिहास ही उसका विरोधी रहा है। इसी अरबीवादी प्रवृत्ति और उसस उत्पन्न सम व्यवहारी सामाजिक शक्ति के कारण अपन वद्धि और विकास के दौरान म इस्लाम नयी शक्तियो को ग्रहण और स्वीकृत करता रहा। यह एकीकरण इस्लाम के बौद्धिक जीवन (दशन और विज्ञान) म प्रस्फुटित हुआ जिसस मानव इतिहास म इस्लाम का अमूल्य योगदान आया है। किन्तु इस्लामी एकीकरण पर अरबीवाद का इतना प्रबल प्रभाव रहा है कि उसका विरोध भी होता रहा है और उसके कारण इस्लाम म विषम

है कि इस्लाम का आविर्भाव मानव इतिहास की उस अवस्था में हुआ है जहां तत्कालीन कोई भी धम मानव की आध्यात्मिक जिज्ञासा शान्त करने में समथ न था। अमारअली जसे समीक्षकों ने इस्लाम के उद्भव और प्रसार को मानव विकास की एतिहासिक आवश्यकता का परिणाम माना है।

और विभेदी परिस्थितियाँ और परिवर्तन भी आते रहे हैं। गिब के अनुसार, स्पेन और उत्तरी अफरीका से लेकर समरकन्द तक फैले प्रदेश में इस्लामी प्रभाव से अस्तित्व में आये धर्मविद्या के केन्द्रों में, इस्लामी साहित्य पर यूनानी, ईरानी और भारतीय ज्ञान का जो प्रभाव पड़ा उससे अनेक नयी मान्यताएँ अस्तित्व में आयीं। जैसा कि सूफीवाद के विकास और प्रसार से स्पष्ट है, इन मान्यताओं में से कुछ इस्लामी परम्परा में स्वतन्त्र थीं और कुछ तत्कालीन दकियानूसी मान्यताओं के प्रति विद्रोह का परिणाम थीं। ईरान में शिया-पन्थ की उत्पत्ति और एक विशिष्ट इस्लामी संस्कृति का विकास इस्लाम के अरबीपन के प्रति विद्रोह का ही प्रमाण है। वास्तव में प्रारम्भ से ही, इस्लाम अपने अनुयायियों से अरबीपन में रंगने की माँग करता रहा है और इस्लाम के अनुयायी, इस्लाम में अरबीपन को देश-काल के अनुसार ढालते रहे। जहाँ ऐतिहासिक सांस्कृतिकता न थी वहाँ अरबीवाद विजयी हुआ किन्तु ईरान और भारत जैसे देशों में जहाँ ऐतिहासिक सांस्कृतिकता पहले ही से विद्यमान थी, अरबीवाद को अपने अस्तित्व के लिये संघर्ष करना पड़ा।

इस्लामी अरबीवाद को भारत में जितना संघर्ष करना पड़ा उतना शायद कहीं और नहीं। भारत में, एक ओर मुहम्मद तुगलक, औरंगजेब, सूफी-मत सरहिन्दी, सैयद अहमद बरेल्वी, मुहम्मद इकबाल तथा जिन्ना का होना और दूसरी ओर, अकबर, दारा शिकोह, खुसरो, [illegible], खानखाना, रसखान और राष्ट्रवादी मुसलमानों का होना इस्लाम में अरबीपन के प्रति लगाव और संघर्ष की ही अभिव्यक्ति है। पाश्चात्य सभ्यता के विकास के साथ-साथ वर्तमान ज्ञान विज्ञान की वृद्धि ने इस्लामी अरबीवाद को एक नयी चुनौती दी। इस्लाम की प्रारम्भिक राजनैतिक राष्ट्र-नीति की सफलता और अरबीवाद की प्रभुता ने इस्लाम में एक ओर कट्टरता उत्पन्न की तो दूसरी ओर एक प्रकार की सर्वोच्चता और जाति-अहमन्यता (Ethnocentrism) की भावना। इस्लाम में अरबीवाद और देशवाद की आवश्यकतानुसार समय-समय पर उत्पन्न होने वाले स्वतन्त्र विद्रोही विचार साथ-साथ पनपते रहे हैं। इन विरोधी प्रतिक्रियाओं के घात प्रतिघात के कारण इस्लाम के नाम से जो कुछ भी उसके विरुद्ध जाता, इस्लाम ने उसके प्रति द्वेष, संशय और ईर्ष्या का भाव ग्रहण किया। धर्मनिरपेक्ष बौद्धिक जिज्ञासाओं के प्रति इस्लाम में उपेक्षा का भाव जगा और सारी बौद्धिकता मजहब के ही दायरे में बन्द हो गयी। इस एकपक्षीय विकास का मूल परिणाम यह हुआ कि इस्लाम की आत्मा अरबी और गैर-अरबी के प्रश्न को लेकर संघर्षमय हो गयी। आज भी इस्लाम की आत्मा इस संघर्ष से अछूती नहीं है।

३

भारत म इस्लाम का प्रवेश

भारतीय संस्कृति म इस्लाम का प्रवेश, पसार वद्धि और अस्तित्व इस्लामी इतिहास के अपवाद रहे हैं क्योंकि लगभग तरह सौ वर्षों के सम्पर्क के बाद भी अन्य स्थानों के विपरीत भारत इस्लामी राष्ट्र न हो सका, भारत म मुसल्मान अल्पसंख्यक ही रहे और यहाँ इस्लाम का अरबी फारसीपन सबसे अधिक बदला ही नहीं वरन उस अपना अस्तित्व क लिय सबसे अधिक संघर्ष भी करना पड़ा। भारत में इस्लाम और हिन्दुत्व का मिलन दो ऐसे ऐतिहासिक प्रवाहों का मिलन था जिनमें विजातीय तत्वों को आत्मसात करने की विलक्षण क्षमता थी। किन्तु इस्लाम और हिन्दुत्व की इन क्षमताओं की प्रकृति में एक आधारभूत अन्तर था जिसके कारण भारत म हिन्दुत्व और इस्लाम के सम्पर्क स जो ऐतिहासिक स्थिति अस्तित्व म आई वह इस्लाम क इतिहास म अपने ढग की अनोखी थी। अपने प्रसार म इस्लाम ज्यों ज्यों अनेक प्रजातियों, गणजातियों और राष्ट्रों को आत्मसात करता रहा त्यों त्यों इस्लाम म सात्मीकरण का प्रवाह बढ़ता रहा क्योंकि स्वभावत इस्लाम एक मिशनरी आस्था है[1]। इस्लामी सात्मीकरण एक प्रवाह है जो अपने संसर्ग म आने वाले को बहा ले जाता है। इस्लामी सात्मीकरण की एक ही दिशा है और वह है उस इस्लामी आस्था म दीक्षित होना जो हजरत मुहम्मद ने प्रतिपादित किया है और उस आस्था पर आधारित समुदाय का सदस्य बनना तथा उसका प्रसार करना। इस्लामी सात्मीकरण म रही है प्रसार की भावना और राजनैतिक प्रभुत्व की महत्वाकांक्षा। यही कारण है कि इस्लामी समाज अनेक प्रजातियों गणजातियों और राष्ट्रों का आत्मसात करते हुए और विजातीयतात्मक तथा मिश्रित होते हुए भी एकीकृत रहा। सात्मीकृत व्यक्ति या समूह म इस्लामी सात्मीकरण की माग है मौलिकता का परित्याग या इस्लाम की आत्मा क अनुरूप अपनी मौलिकता म आमूल चूल परिवर्तन।

इसके विपरीत हिन्दू सात्मीकरण वह प्रक्रिया रही है जो बहुमुखी होकर बहुमुखी है और जिसम बाहर स आया हुआ समूह आवश्यकतानुसार परिवर्तित होकर, अपनी मौलिकता बनाये रखता है तथा एक संस्कृति संघात (Federation of Culture) स उसी प्रकार बधा रहता है जिस प्रकार इस ब्रह्माण्ड मे अनन्त ग्रह

1 इस्लाम में मगोलों का प्रवेश (1220 25) एक विजातीय और विरोधी शक्ति क रूप में हुआ, किन्तु कालान्तर में चौदहवीं पन्द्रहवीं शताब्दी के आस पास भारत म तैमूर जैसे सब मगोल ही इस्लाम क प्रबल प्रतिष्ठा पोषक और प्रसारक सिद्ध हुये। भारत में जिन हिन्दुओं न इस्लाम को स्वीकार किया उन्होंने इस्लाम के प्रसार का भरसक प्रयत्न किया। उदाहरणों क लिये देखिये दिनकर कृत संस्कृति क चार अध्याय पृष्ठ 270

और स्पष्ट हैं। अनुदारतावादी समन्वय की भावना हिन्दू-सात्मीकरण की मूल प्रेरक रही है। इन्हीं विरोधी प्रवृत्तियों का यह परिणाम हुआ कि हिन्दुत्व और इस्लाम परस्पर विरोधी हो गये और उनका सम्पर्क संघर्षमय हो गया। इस प्रकार न तो हिन्दुत्व इस्लाम को आत्मसात कर सका और न इस्लाम हिन्दुत्व को यद्यपि भारत के बाहर इस्लाम ने अनेक समाजों को आत्मसात कर लिया था और इस्लाम से सम्पर्क स्थापित होने के पहले हिन्दुत्व ने अनेक समाजों को अपने सांस्कृतिक विधान में मिला लिया था। हिन्दुत्व और इस्लाम का पिछले साढ़े तेरह सौ वर्षों में, सम्पर्क, सम्मिश्रण, एकीकरण, संघर्ष, विभाजन और पृथक्करण ही वह ऐतिहासिक प्रक्रिया है जिसमें हिन्दू-मुस्लिम सम्बन्धों का वर्तमान रूप में सात्मीकरण हुआ है। इसी भारतीयकरण का प्रतिनिधित्व भारतीय संस्कृति का हिन्दुस्तानी प्रकार (The Hindustani Way) करता है यद्यपि समाजशास्त्रीय दृष्टिकोण से यह कहना कठिन है कि वस्तुतः हिन्दुस्तानी प्रकार क्या है।

भारतीय संस्कृति में इस्लाम का प्रवेश और प्रसार कई मार्गों, रूपों और अवस्थाओं में हुआ है। भारत में हिन्दुत्व और इस्लाम का प्रथम सम्पर्क हुआ था दक्षिण में और उन अरब निवासियों के द्वारा जो अत्यन्त प्राचीनकाल से भारत तथा यूरोप के बीच एक व्यापारिक माध्यम थे। ईसा की सातवीं शताब्दी में जिस समय अरब में इस्लाम का अभ्युदय हो रहा था मालाबार-तट पर अरब निवासियों की बस्तियाँ अस्तित्व में आ चुकी थीं। हिजरी सन् (इस्लामी संवत्) की पहली शताब्दी में अरबी मुसलमानों का एक अभियान (Expedition) भी भारत आया था। दक्षिण के हिन्दू राजे अरबी मुसलमानों को शरण तथा प्रोत्साहन देते थे क्योंकि समुद्र पर अरबों का आधिपत्य था और भारत तथा यूरोप के बीच का व्यापार इनके हाथ में होने के कारण आयात-निर्यात से राजस्व मिलता था। डा० ताराचन्द के अनुसार यदि पहले नहीं तो निश्चय ही आठवीं शताब्दी तक, पश्चिमी समुद्र-तट पर और नवीं शताब्दी तक पूर्वी समुद्र-तट पर अरबों का आगमन हो चुका था। ये अरब व्यापारी एक ओर भारतीय वस्तुएँ, विचार तथा ज्ञान अरब और यूरोप तक पहुँचा रहे थे तो दूसरी ओर भारत में इस्लाम का प्रचार कर रहे थे। स्थानीय राजनीति और समाज पर इन अरब व्यापारियों का काफी प्रभाव था। इन अरब व्यापारियों के तथा स्थानीय शासनों के कई भाग, यथा नावाधिपति (Admirals) राजदूत और राजस्व-संग्रहकर्ता बन गये। इनके द्वारा भारत में इस्लामी मत के सिद्धान्तों का प्रचार किया, अनेक लोगों को इस्लाम में दीक्षित कर मुसलमान बनाया और उन मस्जिदों तथा मजारों का निर्माण किया गया और इस प्रकार इस्लामी साधु-सन्तों और धर्म-प्रचारकों के मार्गों को प्रशस्त कर दिया[1]। इन अरबों ने जिन

1 ताराचन्द : इन्फ्लुएन्स आफ इस्लाम आन इण्डिया, पृष्ठ 43

भारतीयों को इस्लाम में दीक्षित किया उनमें राजा और प्रजा तथा उच्च और निम्न वर्ण के लोग सम्मिलित थे। दक्षिण में इस्लाम की जो पहली सामाजिक धार्मिक लहर फली वह हिन्दुत्व और इस्लाम के शान्तिपूर्ण सम्पर्क का परिणाम थी और उसका उद्गम था इस्लाम की युक्तिपूर्णता (Rationalization) अरबी मुसलमानों की शान्तिप्रिय मिशनरी भावना और उनके उत्साह तथा प्रयत्न में।

आठवीं शताब्दी में उत्तर पश्चिम से इस्लाम का आक्रामक साम्राज्यवादी और विध्वंसकारी रूप प्रकट हुआ और हिन्दुत्व तथा इस्लाम का शान्तिमय सम्पर्क संघर्षमय हो गया। सात सौ बारह में जब खलीफा की अनुमति से, मुहम्मद बिन कासिम ने सिन्ध पर आक्रमण किया था और सिन्ध अरबी खलीफाई साम्राज्य का एक अंग हो गया था तब से लेकर सन् अठारह सौ सत्तावन तक, हिन्दू और हिन्दुत्व इस्लाम के आक्रामक रूप में टकराते रहे। दक्षिण भारत में अरबों के बढ़ते हुए सामाजिक तथा राजनैतिक प्रभाव के कारण ही खलीफा ने भारत पर चढ़ाई करने की अनुमति दी थी और उसी प्रभाव के ही कारण सिन्ध विजय भी सम्भव हुयी। किन्तु उत्तरी भारत में, इस्लामी प्रभाव सिन्ध के आगे तब तक न बढ़ सका जब तक पहले गजनी में तुर्कों का और बाद में दिल्ली में गुलामवंशी नामकों का राजनैतिक प्रभुत्व न स्थापित हुआ। गुलामवंशी राज्य की स्थापना के समय (1210 ई०) से लेकर लोदीवंश के राज्य का अन्त होने तक (1526 ई०) मुसलमानों का एक रूप साम्राज्य संस्थापकों लुटेरों और जबरदस्ती मुसलमान बनाने वालों का है, तो दूसरा रूप अहमदाबाद, माण्डू, जौनपुर और लखनौटी के शासकों का है जिन्होंने इस्लाम को समन्वयकारी तथा रचनात्मक प्रश्रय दी।[1] मुगलकाल में भी यह संघर्षात्मक तथा समन्वयकारी प्रक्रिया चलती रही। मुगलकाल में यदि एक ओर अकबर और दारा शिकोह की परम्परा है तो दूसरी ओर जहांगीर, शाहजहां और औरंगजेब की। यही नहीं, भारतीय इतिहास में, हिन्दुत्व को इस्लाम के उस रूप का भी परिचय मिला जो महमूद गजनी, नरसंहारी तैमूरलंग, नादिरशाह और अहमदशाह अब्दाली की आक्रामक परम्पराओं में विद्यमान है।

आर्यों की भांति, मुसलमानों का भारत में स्थानान्तरण और इस्लाम का प्रसार कई शताब्दियों तक चलता रहा जिसका प्रभाव, एक ओर, भारत के इस्लामी सामाजिक गठन पर पड़ा तो दूसरी ओर, हिन्दुत्व और भारत पर पड़ने वाले इस्लामी संघात की प्रवृत्ति पर। भारतीय इस्लामी समाज में दो स्पष्ट वर्ग रहे हैं—एक बाहर विशेषतया अरब, इरान और मध्यएशिया, से आने वाले अभिजात्यों (Nobles) का और दूसरा उन भारतीयों का जिन्होंने इस्लाम को स्वीकार कर लिया था। पहले वर्ग में विजेता, सैनानी प्रशासक और सामन्त हुआ करते थे और दूसरे में मुगल

---

1 पानिक्कर, के० एम० ए० सर्वे आफ इण्डियन हिस्ट्री पृष्ठ 122 123

कारीगर, कृषक और सर्वहारा वर्ग के लोग। गजनी और दमिश्क के मुस्लिम शासकों ने, भारत के दास नहीं, निपुण प्रशासकों, सेनानियों और ज्ञान विज्ञान के ज्ञाताओं को विश्वासपात्र पद प्रदान किये। किन्तु, भारत में मुसलमानी राज्य की स्थापना के बाद से, राज्य के विश्वासपात्र पद बहुधा विदेश से आये या आमन्त्रित मुसलमानों को ही मिलते थे। जो मुसलमान यहां बस जाते थे उनकी अपेक्षा विदेशी आगन्तुकों को अधिक विश्वसनीय समझा जाता था क्योंकि यहां बसे और पले हुये मुसलमानों की अपेक्षा, विदेश से आये हुये मुसलमानों से षडयन्त्र की कम सम्भावना रहती थी। कुछ अपवादों को छोड़कर, मुसलमानी राज्य काल में दिल्ली की बादशाहत विदेश से आये हुये अमीरों (उमरा) के ही हाथ में रही है। गुलामवंशी बादशाहों का चुनाव दिल्ली के अमीर ही करते थे। औरंगजेब की मृत्यु के बाद मुगल बादशाहत वस्तुतः सैयद भाइयों के हाथ में रही। अकबर के राज्य काल में भी राज्य की नौकरियों में हिन्दुओं की संख्या विदेशी मुसलमानों की अपेक्षा कम थी[1]। प्रत्येक मुसलमान बादशाह पर विदेश से आये हुये उन साधु सन्तों का अप्रत्यक्ष प्रभाव अवश्य रहा है जो इस्लाम के अरबीकृत रूप के हामी थे और जो हिन्दुओं की अपेक्षा मुसलमानों को बढ़ावा देने के पक्ष में थे। इसका परिणाम यह हुआ कि मुस्लिम राज्य काल में राज्य के उच्च पदों पर विदेश से आये हुये मुसलमानों को ही रखने की प्रथा सी चल पड़ी थी जिसके फलस्वरूप भारत के इस्लामी समाज में एक ऐसा वर्ग उत्पन्न हो गया जिसके सदस्य सेनानी तथा राजनैतिक साहसिकों (Military And Political Adventurers) के रूप में भारत में आये और भारत में उनकी वहीं तक दिलचस्पी रही जहां तक कि जीविका कमाने का प्रश्न था। यह वर्ग वस्तुतः उच्च नौकरशाही अभिजात्य का था जिसका राज्य की नौकरियों पर एकाधिकार सा हो गया था। हिन्दू अभिजात और सामन्तशाही वर्ग में इस वर्ग की कभी नहीं बनी क्योंकि दोनों के स्वार्थों में संघर्ष था। इस वर्ग के लोगों ने भारत को विदेश समझा और सदैव ईरान या अरब से प्रेरणा ग्रहण की। ऐसे ही लोगों के लिये मुहम्मद तुगलक ने यह आज्ञा निकाली थी कि वे भारत को अपना देश समझें और विदेश वापस जाने वाले मुसलमानों के लिये दण्ड का विधान किया था। यही वह वर्ग था जिसके भारतीयकरण का अकबर ने प्रयास किया था। भारत में बसने और भारतीयकरण होने के बावजूद भी इस वर्ग का इस्लाम के अरबीपन से रागात्मक लगाव बना ही रहा[2]।

इधर, जैसा कि बंगाल के मुसलमानों, गुजरात के बोहरा, मालाबार के मापलों

---

1 रामगोपाल इण्डियन मुस्लिम्स—ए पोलीटिकल हिस्ट्री पृष्ठ 13-14

2 यासीन, मोहम्मद ए सोशल हिस्ट्री आफ इस्लामिक इण्डिया पृष्ठ 44
राम गोपाल वही अध्याय 2 और 3

और भारत की मुसलमान जातियो मे स्पष्ट है, इस्लाम को स्वीकार करने वाले भारतीय समूहों ने अपनी पुरातन परम्पराओं को न छोड़ा। इसका परिणाम यह हुआ कि भारत के इस्लामी समाज में एक वह वर्ग आया जिस पर अरबीपन की अधिक छाप थी और दूसरा वह जिसके हिन्दू आधार पर अरबीपन की छाप पडी। भारत का इस्लामी समाज, एक ओर एक विशिष्ट सामाजिक इकाई पर एक मिश्रित तथा विजातीय समाज रहा। भारत के मुसलमानों में ही देशी विदेशी की भावना घर कर गयी। नौकरशाही तथा विदेशी सामंती वर्ग ने देशज मुसलमानो के प्रति उपेक्षा और उच्चता का भाव ग्रहण किया। आगे चलकर, जब अंग्रेजों ने राज्य की उच्च नौकरियों को हथिया लिया तो यही नौकरशाही वर्ग विक्षिप्त हो उठा और अपनी जडो को भारतीय भूमि से उखडा हुआ पाकर इस्लाम खतरे में है का नारा बुलन्द किया। बंगाल मे ही सर्वप्रथम अंग्रेजी राज्य का अभ्युदय और विकास हुआ और बंगाल में ही सर्वप्रथम उर्दू और मुस्लिम का नारा उठना एक महत्वपूर्ण तथ्य है। इस्लाम हिन्दुत्व से अलग एक राष्ट्र है और भारत में इस्लाम खतरे में है यह नारा नया नहीं प्राचीन है और इस्लामी समाज के नौकरशाही तथा अभिजात वर्ग के मस्तिष्क की उपज है[1]।

यह कहना कि भारत में इस्लाम का प्रसार मुसलमानों की तलवार और राजनैतिक प्रभुत्व के ही बल पर हुआ है इतिहास के गर्भ में छिपे समाजशास्त्रीय तथ्यों की अवहेलना करना है। इसमें कोई सन्देह नहीं कि मुस्लिम आक्रमणकारी विजयी योद्धा, धन लिप्सा और जिहाद (धर्म प्रचार) की भावना से अधिक प्रेरित थे जिसके कारण उन्होंने तलवार का अधिक आश्रय लिया[2]। रामगोपाल के मत में पंजाब

1 रामगोपाल वही

2 इस्लाम तलवार के बल पर फला है या नहीं इस पर विरोधी मत व्यक्त किए गए हैं। किन्तु इसे सहसा अस्वीकार नहीं किया जा सकता कि इस्लाम के प्रचार और प्रसार में तलवार का प्रयोग नहीं हुआ है। हुमाऊं कबीर ने इस बात पर जोर दिया है कि इस्लाम के नाम पर जिन्होंने तलवार उठाई व सच्चे मुसलमान होने की अपेक्षा राजनैतिक लुटेरे अधिक थे, उन्होंने हाल ही में इस्लाम की टोपी पहनी थी और अपनी बुराइयों को उन्होंने इस्लाम की आड में छिपाने का प्रयत्न किया था। अकबर इलाहाबादी केवल इतना ही कह सके कि लोग यह कहते हैं कि तलवार से फला इस्लाम, लोग यह नहीं कहते कि तोप से क्या फला है'। इस्लाम के प्रसार में तलवार का जो प्रयोग हुआ है इसके लिए ऐतिहासिक परिस्थितियां अधिक उत्तरदायी हैं न कि इस्लाम। फिर भी किसी ने इसे उचित और युक्तियुक्त बताने की कोशिश की है, तो किसी ने अनुचित। गिब के अनुसार, इस्लाम का जो प्रारम्भिक विरोध हुआ उसी कारण इस्लाम में उग्र, आक्रामक प्रसार भावना आयी। इकबाल के

और सिंध में, बल प्रयोग से ही इस्लाम के प्रचार में प्रारम्भिक सफलता मिली।[3] यह मुसलमानों के राजनैतिक प्रभुत्व का ही परिणाम था कि अनेक व्यक्तियों तथा जातियों ने नौकरी, धन, ऐश्वर्य और राज्य-कृपा पाने के लालच में इस्लाम को स्वीकार किया। फिर भी, ये कारण उतने महत्वपूर्ण नहीं हैं जितने कि तत्कालीन हिन्दू सामाजिक व्यवस्था की उसकी कमजोरियां तथा दोष। इस्लाम का सुयुक्तिपूर्ण तार्किक आधार, इस्लाम में निहित समदर्शी की भावना, उसकी सरलता और इहलौकिकता तथा इस्लाम और मुसलमानों का सहजसिद्ध मिलनसारीपन के कारण हैं। जिस समय भारत में इस्लाम का प्रवेश हुआ, उस समय बौद्ध-ब्राह्मण संघर्ष समाप्त नहीं हुआ था यद्यपि वह अपने अन्तिम रूप में था और धीरे-धीरे ब्राह्मण विजयी हो रहे थे। इस पराजय से, बौद्ध विक्षिप्त, हताश और आधारहीन हो रहे थे और जो कोई भी ब्राह्मणों का विरोधी था, उसका स्वागत करने के लिए तत्पर थे। उधर हिन्दू समाज उच्च तथा निम्नवर्णी जनता में विभाजित था। बौद्धों ने इस विभाजन का विरोध किया था। अतः, विजयोन्मत्त ब्राह्मण इसे और भी दृढ़तर बनाने में लगे हुए थे। उच्चवर्णी हिन्दू जनता की धार्मिक चेतना निश्चित थी। वह हिन्दुत्व की गहराई से परिचित थी। उस पर हिन्दू दर्शन का वह रंग चढ़ा था जिस पर न कोई और रंग चढ़ सकता था और न उसके आगे कोई अन्य रंग टिक ही सकता था। इसके विपरीत, निम्नवर्णी जनता में न कोई निश्चित धार्मिक चेतना ही थी और न उन्हें उच्चवर्णी जनता के समान सामाजिक आर्थिक अधिकार ही प्राप्त थे। जिस सामाजिक क्रान्ति की ज्वाला बौद्धों ने भड़काई थी उसकी लपट बिना स्वाहा हुए ही बुझ गयी थी। अतः वह अन्दर ही अन्दर सुलग रही थी और निम्नवर्णी जनता उसकी घुटन में तड़प रही थी। निम्नवर्णी जनता हिन्दुत्व और हिन्दू समाज से उसी प्रमुक्तिकरण की माँग कर रही थी जो इस्लाम के आदर्शों में समाया हुआ था।

आर्य और द्राविड़ संस्कृतियों के सम्मिलन से हिन्दूकरण की जो प्रक्रिया प्रारम्भ हुयी थी वह अभी पूरी न हो पायी थी कि बुद्धवाद ने उसे तितर बितर कर दिया और, इसी कारण जिस स्तर पर हिन्दूकरण पूरा हो चुका था वहां एक निश्चित धार्मिक चेतना प्रस्फुटित हो गयी थी और जहां हिन्दूकरण की प्रक्रिया अधूरी थी वहां एक निश्चित धार्मिक चेतना का अभाव था। उच्चवर्णी हिन्दू विशेषतया ब्राह्मण, और आदिवासी भारतीय सामाजिक धार्मिक संगठन के दो किनारे रहे हैं। हिन्दूकरण की प्रक्रिया के द्वारा धीरे धीरे, आदिवासी गणजातियां हिन्दुत्व के प्रभाव क्षेत्र में आनी

मतानुसार, सभी धर्मावलम्बियों में, ईश्वर के नाम पर तलवार चलाने और इस प्रकार जिन्दगी हुयी बात बनाने का श्रेय इस्लाम के अनुयायी सदा के बन्दे, मुसलमान को ही है।

1 रामगोपाल वही पृष्ठ 4

रही हैं। इसीकारण, हिंदू और आदिवासी के बीच में प्रारम्भ से ही एक संक्रमण सामाजिक क्षेत्र रहा है जहां की जनता न तो पूर्णतया हिंदू होनी है और न आदिवासी। इसी संक्रमण क्षेत्र की जनता पर किसी धर्म विशेष का लेबेल नहीं रहता है। इस्लाम के प्रवेश के समय और उसके बाद भी इसी संक्रमण सामाजिक क्षेत्र में इस्लाम को स्थान मिलता रहा है। कालान्तर में, इसी सामाजिक क्षेत्र में इसाइयत को भी सर्वाधिक स्थान मिला है। इस सामाजिक क्षेत्र में इस्लाम का प्रवेश मिलने के दो कारण है—एक इस सामाजिक क्षेत्र की जनता का निम्न सामाजिक स्तर और दूसरा इसकी धार्मिक अनिश्चितता। इस्लाम के प्रवेश के समय हिंदू समाज में बहुदेववाद का बोझ बाला था, पूजा की भरमार थी जिससे धार्मिक दार्शनिक जिज्ञासायें तो उठती थी और वादविवाद भी होता था पर उससे न तो धार्मिक शंकायें शान्त होती थीं और न धर्मसम्बन्धी मानसिक आवश्यकता ही। शंकर के रूप में हिंदुत्व ने जो उत्तर प्रस्तुत किया उसमें तर्क और दार्शनिकता का इतना ऊंचा पुट था कि वह इस क्षेत्र के जनस्तर तक पहुंचा ही नहीं। इस्लाम एक सुयुक्तिकृत, एकेश्वरवादी सरल पर रहस्यवादी और इहलौकिकता पर जोर देने वाला मिशनरी तथा मजहबी धर्म था। मिशनरी कार्य उसी सामाजिक स्थिति में सफल होता है जहां उसे सुयुक्तिपूर्ण ढंग से पेश किया जा सके। हिंदू समाज के निम्न स्तरों में ही यह सम्भव था और वहीं इस्लाम का प्रसार हुआ।

भारत में एक ओर, इस्लाम का सामना हुआ उच्च तथा मध्यवर्गी हिंदुओं से जो हिंदुत्व की एक निश्चित धार्मिक चेतना में इतना रंगे हुए थे कि उनका यह विश्वास था कि हिंदुत्व से उच्चतर तथा श्रेष्ठतर कोई अन्य धर्म ही नहीं है। हिंदुत्व के समक्ष इस्लाम उन्हें फीका लगा। इस्लाम के आक्रामक रूप से सम्पर्क होने पर उन्होंने हिंदुत्व का पुनर्मूल्यांकन करके उसके उन सामाजिक तथा दार्शनिक पक्षों को उभारा जिनसे इस्लाम की चुनौती निरर्थक हो जाय। दूसरी ओर इस्लाम का सामना हुआ उस निम्नवर्णी जनता से जो न हिंदू थी और न बौद्ध किन्तु जिसकी आत्मा बौद्धों के सम्यक मार्ग के अधिक निकट थी जिसकी धार्मिक चेतना अस्पष्ट थी किंतु जो उस जनप्रिय धर्म की तलाश में थी जो उसे एक आदरपूर्ण सामाजिक स्थिति प्रदान कर सके। संक्षेप में निम्नवर्गी जनता उस सुयुक्तिकरण (Rationalization) के लिए पहले ही से लालायित थी जो इस्लाम में निहित थी। समाज के जिन स्तरों पर हिंदूकरण पूर्ण हो चुका था वहां इस्लाम का विरोध हुआ और जहां हिंदूकरण की प्रक्रिया अपूर्ण थी वहां इस्लाम को निर्विरोध प्रवेश मिला।

भारत में इस्लाम और इसाइयत का सर्वाधिक प्रसार उन्हीं क्षेत्रों में हुआ है जहां आदिवासियों और अछूत कहे जाने वाले लोगों की अधिकतम संख्या रही है जहां बुद्धवाद को सबसे अधिक जनप्रियता मिली है और जहां उच्च तथा निम्नवर्णी जातियों में ऊंच-नीच का भेदभाव रहा है। मुसलमानों का राजनैतिक गढ़ रहा है

दिल्ली किन्तु उनकी जन संख्या बढ़ी है बिहार, बंगाल, पूर्वी तथा पश्चिमी समुद्रतट-वर्ती प्रदेश, सिन्ध, बिलोचिस्तान और पंजाब में। आर्यावर्त कहे जाने वाले प्रदेश में इस्लाम को उतना प्रवेश नहीं मिला जितना कि आर्यावर्त के तटवर्ती प्रदेश में। इस का सबसे बड़ा कारण यही है कि आर्यावर्त के तटवर्ती प्रदेश में हिन्दूकरण की प्रक्रिया अपूर्ण रही है जिसके कारण इस प्रदेश में एक अनाम सचरित जनसमूह (Anonymous Floating Mass) रहा है जिस पर इस्लाम और इसाइयत का लेबल चढ़ाने में कठिनाई नहीं हुयी है। यहां की सामाजिक परिस्थिति में इस्लाम का वस्तुतः स्वागत हुआ है क्योंकि इस प्रदेश का बौद्ध प्रभाव के अन्तर्गत होने के कारण, ब्राह्मण अशुद्ध समझते थे। अंग बंग कलिंग सौराष्ट्र और मगध में जाने की धार्मिकतौर पर मनाही थी[1]। बौद्ध और ब्राह्मण एक दूसरे का नष्ट करने के लिए मुसलमानों की सहायता के पीछे दौड़ते थे। कुछ विद्वानों का मत है कि नालन्दा के कुछ बौद्धों षड्यन्त्र की सहायता से बख्तियार खिलजी ने बिहार पर आक्रमण किया था। नालन्दा बंगाल के सेन राजाओं के अधीन था। बौद्धधर्म का कट्टर विरोधी होने के कारण सेन राजाओं ने नालन्दा के बचाने का कोई भी उपाय नहीं किया। बंगाल में ही रमाई पंडित ने शून्यपुराण की रचना की थी (१४हवीं सदी) जिसमें उन्होंने लिखा था कि ब्राह्मणों के अत्याचारों का अंत करने के लिए देवता, पाजामा पहन कर, मुसलमानों के रूप में, अवतरित हुए हैं। सिंध के हिंदू राजा दाहिर के समय वहां के श्रमणों ने मुहम्मद बिन कासिम का साथ दिया था। इस प्रकार मुसलमानों की सहायता से श्रमण और बौद्ध एक दूसरे का सफाया करना चाहते थे किंतु मुसलमानों की तलवार दोनों की गरदन पर पड़ी। श्रमणों पर तो वह इतने जोर से पड़ी कि उनका सफाया ही हो गया[2]।

इस प्रकार, हिन्दू समाज में इस्लाम का प्रवेश मिला उस सामाजिक स्तर से जहां उच्चवर्णी हिन्दू तथा आदिवासी के मध्य एक अनिश्चित, प्रवाही और अन्तर्वर्ती सामाजिक क्षेत्र अस्तित्व में आ गया था। इस्लाम से सम्पर्क होने के समय, इस स्तर की जनता न तो बौद्ध थी और न हिन्दू यद्यपि यह बौद्धधर्म के अधिक समीप थी। इसी कारण, उसे इस्लाम अधिक प्रगतिशील जान पड़ा। आगे चलकर लगभग ग्यारह सौ वर्षों बाद, उन्नीसवीं शताब्दी में इस स्तर की जनता अपने व्यावहारिक रूप में न तो निश्चित रूप से हिन्दू थी और न मुस्लिम। उसमें हिन्दुत्व और इस्लाम दोनों की मान्यतायें पायी जाती थीं। उन्नीसवीं शताब्दी में, जब वहाबी आन्दोलन चला और अंग्रेजों की छत्रछाया में जाति तथा धर्म के आधार पर जनगणना की जाने लगी

1 अंग बंग कलिंगेषु, सौराष्ट्र मगधेषु च।
तीर्थयात्रा विनागत्वा पुनः संस्कारमर्हति। सिद्धान्त कौमुदी

2 दिनकर रामधारीसिंह संस्कृति के चार अध्याय पृष्ठ 272 317

तो मुसलमानो ने अजुमनो को सगठित करके वतनिक धम प्रचारक रखे, जिन्होने उन्ही प्रदेशो म काम किया जहा निम्नस्तरीय जनसख्या का बाहुल्य था और साधारण जनता हिन्दू समाज के अन्तवर्ती क्षेत्र मे थी, यद्यपि अपने व्यावहारिक स्तर मे वह हिन्दू भी थी और मुसलमान भी क्योंकि उसम हिन्दुत्व और इस्लाम दोनो की मान्यतायें विद्यमान थी। बगाल और पजाब की कृषक जातिया ऐसे ही अन्तवर्ती समूह थे जिन्हे उन्नीसवी शताब्दी के आस पास जनगणनाओ मे मुसलमान घोषित किया गया और इस्लाम के धम प्रचारको ने उन्हे इस्लामी रग मे रगने का प्रयास किया। सन अठारह सौ इक्यानवे की जनगणना विवरण मे लिखा है कि अठारह सौ बहत्तर के बाद से, प्रति एक लाख व्यक्तियो के पीछे उत्तरी बगाल म सौ व्यक्ति मुसलमान हुये हैं पूर्वी बगाल म दो सौ बासठ पश्चिमी बगाल म एक सौ दस और सम्पूण बगाल म एक सौ सतावन। उसी विवरण के अनुसार, उन्नीस साल पहले, बगाल म हिन्दुओ की सख्या मुसलमानो से डेढ लाख अधिक थी किन्तु दो दशको के दौरान म, मुसलमानों ने हिन्दुओ को पीछे ही नही छोडा वरन उनस डेढ लाख अधिक हो गये[1]।

इस्लाम का सर्वाधिक प्रसार उन्ही क्षेत्रो म हुआ जहा उच्च और निम्न वण का अन्तर काफी प्रबल था, जहा उच्चवर्णियो की अपेक्षा निम्नवर्णी और मध्यमण जनसख्या अधिक थी तथा जहा जाति व्यवस्था के प्रति विद्रोह की आग पहले ही से भडक रही थी। ये भारत के व प्रदेश है जहा उस समय क्षत्रिय वर्णी जाति या जातियो का अभ्युदय नही हो पाया था। पजाब सिध केरल तामिलनाद और बगाल एस प्रदेश हैं जहा की सामाजिक सरचना मे ब्राह्मण वर्णी जातिया तो रहीं है किन्तु क्षत्रिय वर्णी जातिया अनुपस्थित रही हैं। महाराष्ट्र म शिवाजी मुस्लिम काल म ही क्षत्रिय बने। क्षत्रिय जातिया हिन्दू सामाजिक सगठन मे एक ओर ब्राह्मणो के आदश को लिए रही हैं तो, दूसरी ओर निम्नवर्णी जातियो के सम्पक मे रही हैं और, इस कारण, क्षत्रिय वर्णी जातिया ब्राह्मणो और गर-ब्राह्मणो के बीच मध्यस्थ के रूप मे रहकर, हिन्दू समाज मे उत्पन्न प्रवाहो का आत्मसात करती रही हैं। क्षत्रिय जातियो की अनुपस्थिति मे इन प्रदेशो म ब्राह्मण और गर-ब्राह्मण का सघष बना रहा जिसम इस्लाम को आसानी से प्रवेश मिला।

इतिहासकारो ने बहुधा इस बात पर जोर दिया है कि हिन्दू सामाजिक व्यवस्था और उसके दाशनिक आधार इतने दोषपूण हो गये थे कि य इस्लाम के आगे न टिक पाय। किसी ने हिन्दुत्व को दोषी ठहराया है तो किसी ने इस्लाम के आक्रामक रूप को। किन्तु ऐसी मान्यतायें न तो ऐतिहासिक हैं और न तकसगत। इन मान्यताओ के पीछे जो तक है उनम आन्तरिक विरोध है। उदाहरण के लिये, यदि इस्लाम अपेक्षाकृत अधिक आक्रामक और प्रगतिवादी होने के कारण भारतीय

1 रामगोपाल इण्डियन मुस्लिम्स ए पोलीटिकल हिस्ट्री पृष्ठ 8-9

संस्कृति में प्रविष्ट होकर फला तो सम्पूर्ण भारत क्यों न इस्लामी राष्ट्र हो गया ? यदि जाति प्रथा ने इस्लाम का मार्ग प्रशस्त किया तो जैसाकि इतिहासकार बहुधा कहा करते हैं, जाति प्रथा इस्लाम के समक्ष हिन्दुत्व के लिये रक्षा-कवच कैसे सिद्ध हुई ? किसी भी प्रसंग के कार्य-कारण परस्पर विरोधी नहीं हुआ करते हैं। किन्तु, यदि जाति प्रथा को ही इस्लाम के प्रसार में सहायक और व्यवधान मान लिया जाय तो यह मान्यता तर्कसंगत नहीं रहती है क्योंकि इसमें कार्य कारण में, विरोध आ जाता है।

भारत में, इस्लाम और हिन्दुत्व साधारणतया परस्पर अलग रहे जिसके लिये न तो हिन्दुत्व ही श्रेय का भागी है और न इस्लाम ही और न उनमें से किसी को श्रेष्ठतर या परस्पर अधिक दोषी कहा जा सकता है। ऐतिहासिक दृष्टिकोण से, हिन्दुत्व और इस्लाम दो प्रक्रियायें हैं जो अलग अलग देश-कालों में उत्पन्न होकर एक देश काल की स्थिति विशेष में परस्पर मिलती हैं—वह स्थिति जो अपने तत्का लीन रूप में न अच्छी है और न बुरी क्योंकि वह स्वयं एक प्रक्रिया है और प्रक्रिया से ही जन्मी है। हिन्दुत्व में बहुदेववाद तथा बहुरूपवाद विषम दार्शनिक आधारों तथा विरोधी आत्म नियमों, जाति प्रथा के उच्च तथा निम्न स्तरों और संक्रमण सामाजिक क्षेत्र (Buffer Zone) का पाया जाना हिन्दुत्व को जन्म देने वाली एक विशेष देश-काल-गत प्रक्रिया की देन है। उसी प्रकार, जिसे इतिहासकार इस्लाम की असहिष्णुता कहते हैं वह भी एक ऐतिहासिक प्रक्रिया की देन है। हाँ, इतिहासकारों ने यह भूल अवश्य की है कि उन्होंने, हिन्दुत्व की अपेक्षा इस्लाम को अधि गत्यात्मक रूप में देखा और उसका विश्लेषण किया है। साधारणतया, इतिहासका यह भूल रहे हैं कि एक संस्कृति के रूप में, हिन्दुत्व भी एक संचयी प्रक्रिया है जिसके आधारभूत तत्व समयानुसार निर्वाचित होकर बार-बार अवतरित होते रहे हैं। एक धर्म के रूप में नहीं वरन् एक संस्कृति के रूप में हिन्दुत्व उतना ही प्रसारवादी रहा है जितने कि इस्लाम और ईसाइयत। संस्कृतिमूलक होने के कारण, हिन्दुत्व का अधिक व्यापक प्रभाव पड़ा है। हिन्दुत्व का संचयीपन (Cumulativeness), धर्मान्तरण (Proselytization) और मिशनरीपन वस्तुतः निहित हैं उसकी इतिहासजनि उस समन्वयकारी प्रक्रिया में जिसकी अभिव्यक्ति है जाति प्रथा उच्च-निम्न तथा संक्रमण सामाजिक स्तर और हिन्दुत्व के विषम आत्म नियम तथा दार्शनिक आधार हिन्दुत्व के संक्रमण सामाजिक क्षेत्र में इस्लाम का प्रवेश एक ओर निर्भर है हिन्दुत्व को जन्म देने वाली ऐतिहासिक प्रक्रिया पर और दूसरी ओर पिछले तेरा सौ वर्षों में उत्पन्न होने वाली ऐतिहासिक परिस्थितियों पर। इन सभी कुछ एव अनन्त ऐतिहासिक प्रवाह के लहरों के थपेड़ों की उथल-पुथल में समाया हुआ प्रवाहि हो रहा है यहाँ यह कहना कठिन ही नहीं वरन् असम्भव है कि कौन किसके लिए दोषी है। यहाँ केवल इतना ही कहना न्यायसंगत होगा कि जिस पथ से प्रक्रिया चली है और जब उसकी दिशा का समाधान पड़ा, वहाँ वैसी प्रतिक्रिया हुयी।

४

भारत के बाहर इस्लाम और हिन्दुत्व का सम्पर्क

केवल यह मानकर चलना कि भारत में ही हिन्दुत्व और इस्लाम का सम्पर्क तथा सम्मिलन हुआ ऐतिहासिक गति विधि की अवहेलना करना है। हिन्दुत्व एक वह धर्मान्तरक (Proselytising) संस्कृति तथा धर्म है जिसमें एतरेय ब्राह्मण की आत्मा चरैवेति (निरन्तर आगे बढ़ो) समाई हुई है। प्रारम्भ से लेकर आज तक हिन्दुत्व नये क्षेत्रों और जातियों को प्रभावित तथा अपने में समन्वित करता हुआ सदैव आगे बढ़ता रहा है। मुसलमानों को हिन्दुत्व में औपचारिक रूप से उस प्रकार नहीं दीक्षित किया गया जिस प्रकार हिन्दुओं को इस्लाम में किया गया। किन्तु हिन्दू संस्कृति के आध्यात्मिक योगदानों का इस्लाम में समावेश हुआ है, यद्यपि इस समावेश पर इस्लाम के अरबीपन की छाप है। विनयकुमार सरकार के अनुसार सातवीं और तेरहवीं शताब्दियों के बीच हिन्दू संस्कृति महाद्वीपीय भारत में ही अहिन्दुओं का हिन्दूकरण नहीं कर रही थी वरन् वृहत्तर भारत के विजातीय जनों (Heterogeneous Peoples) पर भी अपना प्रभाव डाल रही थी[1]। इस्लाम पर हिन्दुत्व का एक प्रभाव पड़ा भारत के बाहर इस्लामी एशिया के माध्यम से और दूसरा भारत में एक ओर मुसलमान बनने वालों के द्वारा और दूसरी ओर अलबरूनी खुसरो अकबर अबुल फजल रहीम खानखाना और मलिक मुहम्मद जायसी जैसे उन मुसलमानों के द्वारा जो हिन्दुत्व की आध्यात्मिक दार्शनिकता से प्रभावित थे। इस्लाम की आध्यात्मिकता सामाजिक संगठन, प्रथाओं आचार विचारों रीति रिवाजों नौरूनरीकी भावनाओं और ज्ञान विज्ञान पर हिन्दुत्व के प्रभाव के चिह्न काफी स्पष्ट हैं।

ऐतिहासिक उद्विकास के सन्दर्भ में इस्लामी एशिया वस्तुतः वृहत्तर भारत का ही एक भाग है। इस्लाम के लगभग सभी समीक्षकों ने यह स्वीकार किया है कि इस्लाम के आधारभूत स्वरूप पर यूनानी दर्शन का प्रभाव पड़ा है। इस्लाम के जन्म के बहुत पहले यूनान में भारतीय दर्शन और ज्ञान विज्ञान का समावेश हो गया था। अतः इस्लाम पर प्रथम हिन्दू प्रभाव अप्रत्यक्ष रूप से पड़ा। इस्लामी एशिया की संस्कृति कुछ कुछ हिन्दूकृत (Hinduised) थी और उसका कारण थी वे संस्कृत पुस्तकें जिनका अरबी फारसी में अनूदित किया गया जिनके द्वारा हिन्दू ज्ञान विज्ञान का प्रसार किया गया। पंचतंत्र और चरक संहिता का अनुवाद पहले फारसी में हुआ और बाद में फारसी के अनुवाद से उनका अनुवाद अरबी में हुआ। अन्य हिन्दू पुस्तकों के अरबी अनुवाद सीधे संस्कृत पाठ से किये गये हैं। खलीफा मंसूर (७५३-७७४) के राज्यकाल में, ब्रह्मगुप्त के ज्योतिष और गणित सम्बन्धी ग्रन्थों ब्रह्म सिद्धान्त और खण्डखाद्यक का अरबी अनुवाद सिंधिन्द और अरकन्द नामक पुस्तकों

1 सरकार, विनयकुमार वही पृष्ठ 151

के रूप में हुआ। खलीफा हारू अल्-रशीद (786 808 ई०) के मन्त्री बरमक परिवार के भारतीय थे। उन्होंने इस्लाम स्वीकार कर लिया था पर, मूलत वे बौद्ध थे। इन्हीं मन्त्रियों की देखरेख में अनेक हिन्दू विद्वान बगदाद बुलाये गये और उनके द्वारा संस्कृत के आयुर्वेद (Medicine), भैषज्यशास्त्र (Pharmacology) विषशास्त्र (Toxicology) दर्शन (Philosophy) और ज्योतिषशास्त्र (Astology) सम्बन्धी ग्रन्थ अरबी में अनुवादित कराये गये। इसी काल में, हिन्दू वैद्य बगदाद बुलाये गये और उनकी देख रेख में वहां औषधालय खोले गये[1]। यही वह काल है जब वेदान्त की दर्शन सम्बन्धी कृति के द्वारा इस्लामी संसार में वेदान्त दर्शन का प्रचार हुआ जो बहुत सम्भव है आगे चलकर सूफीवाद की उत्पत्ति का एक कारण रहा हो। जैसा कि अलबरूनी (979 1048) की कृतियों से स्पष्ट है मुसलमान लेखकों ने संस्कृत के ग्रन्थों का अनुवाद किया उन पर टीकायें और भाष्य लिखे तथा उनके संक्षिप्त और स्वतंत्र अरबी फारसी संस्करण प्रस्तुत किये। जिस समय गजनी का शासक महमूद भारत के मन्दिरों को तोड़कर उनका धन लूटने में व्यस्त था उस समय उसकी छत्र छाया में पलने वाला एक दार्शनिक विचारक एल्बरूनी, जिसे ग्यारहवीं शताब्दी का मुस्लिम इंडोलॉजिस्ट (Indologist) कहा जा सकता है हिन्दू ज्ञान विज्ञान का मनन करके और उसे प्राक् विचारधारा में लपेट कर इस्लामी संसार के सम्मुख रख रहा था। ग्यारहवीं शताब्दी में अलबरूनी ने वही कार्य किया जो आगे चलकर उन्नीसवीं शताब्दी में सर विलियम जोन्स और मैक्समूलर ने किया। इनके अन्तर्निहित उद्देश्य एक ही रहे हैं यद्यपि तरीके अलग अलग[2]।

---

1 किन्तु इस्लामी चिकित्सा-पद्धति पर मूलभूत प्रभाव यूनान का पड़ा और, इसीकारण, मुसलमानों ने जो चिकित्सा पद्धति भारत में चलाई उसका नाम यूनानी हिकमत पड़ा।

2 सरकार, विनयकुमार वही पृष्ठ 409-41[illegible]

तेरहवाँ अध्याय

हिन्दू-सम्पर्क में इस्लामी संस्कृतिकरण

इस्लाम पर हिन्दू वैचारिक प्रभाव

हिन्दू ज्ञान विज्ञान को अरबी फारसी में अनूदित करने की जो परम्परा बगदाद के खलीफाओं और अलबरूनी जैसे विचारकों ने डाली थी वह सारे मध्य युगीन भारत में भी कायम रही और उसके द्वारा हिन्दू विचार और ज्ञान विज्ञान का इस्लाम में प्रवेश हुआ। विनयकुमार सरकार ने इसे इस्लाम का हिन्दूकरण कहा है। किन्तु इस तथ्य को अस्वीकार नहीं किया जा सकता कि भारत में अनेक हिन्दू, बौद्ध तथा आदिवासी विचारों और प्रभावों का समावेश इस्लाम में हुआ है और जिनके द्वारा इस्लाम का भारतीयकरण हुआ है। भारत में इस प्रक्रिया का श्रीगणेश संस्कृत ग्रन्थों के अरबी फारसी अनुवाद से होता है। संस्कृत ग्रन्थों का फारसी में अनुवाद फीरोजशाह तुगलक (13.1-1388) के समय में प्रारम्भ हो गया था। दलायल ए फीरोजशाही नामक कविता में हिन्दू भौतिकशास्त्र का अनुवाद है। अकबर की प्रेरणा से महाभारत, रामायण, गीता, अथर्ववेद, योगवाशिष्ठ, हरिवंश और महेश महानन्द इत्यादि ग्रन्थों का फारसी में अनुवाद हुआ। दारा शिकोह (1614-1659) की प्रेरणा से वेदों के फारसी अनुवाद का प्रयास किया गया। सिर-उल-असरार (16.7) नामक शीर्षक के अन्तर्गत, दारा शिकोह ने उपनिषदों का उल्था किया

और मजीम-उल बहरीन (१६५४) नामक पुस्तक में सूफीवाद और हिंदुत्व के बहुदेववाद को एक में मिलने का प्रयास किया। औरंगजेब (१६५४ १७०७) ने अपने पौत्र जहांदारशाह के लिए हिंदू विद्याओं का एक फारसी संग्रह तुहफातुलहिन्द नामक पुस्तक के अंतर्गत करवाया था।

अबुलफजल (१५५१ १६०२) जिसे जहांगीर ने हिन्दुस्तानी गर्स कहा था, नीतिशास्त्र रचयिताओं की श्रेणी में आता है। उसकी पुस्तक आईन ए अकबरी के लिखने की शैली नीतिशास्त्रों की शैली से इतनी मिलती जुलती है कि उसे सरलता पूर्वक अकबर नीति कहकर नीतिशास्त्र की श्रेणी में रक्खा जा सकता है। आईन-ए अकबरी की परम्परा अंशत हिंदू है और अंशत मुस्लिम किन्तु वस्तुत वह हिंदू परम्परा के अधिक समीप है क्योंकि अबुल्फजल के लिए अकबर, इतिहास, राजनीति और राज्य प्रबन्ध केवल नैतिक और सामाजिक दर्शन के निर्धारण का माध्यम है। आइन ए अकबरी का मुख्य विषय न तो अकबर है न उसका इतिहास और न राज्य। उसका मुख्य विषय है सम्राट के गुणों तथा कार्यों का निरूपण और हिंदू राजनीतिशास्त्र की प्रधान समस्या राजर्षिवत्तम अथवा राजर्षि (ऋषि सम्राट) के व्यवहार के निर्धारण की समस्या। इस रूप में अबुलफजल की रचना कौटिल्य की परम्परा में आती है। जैसा कि वैदिक और उत्तर वैदिक साहित्य के रचयिताओं की परम्परा रही है, अबुल्फजल के लिए, इतिहास अर्थशास्त्र साहित्यिकी, जीवनी लेखन और अकबर (सम्राट) का व्यक्तित्व नैतिक, आर्थिक और आध्यात्मिक प्रचार के सम्बल मात्र हैं। आइन ए अकबरी की परम्परा सुन्ना हदीस और शरिअत की परम्परा नही है। आईन ए अकबरी वस्तुत संस्कृत में लिखे जाने वाले हिंदू नीतिशास्त्रों का फारसी संस्करण है और इस बात का प्रमाण है कि किस प्रकार सोलहवीं शताब्दी के आस पास हिंदू विचारों का इस्लाम में समावेश हो रहा था। अबुलफजल के अनुसार, राजनैतिक संगठन तभी स्थायी रह सकता है जब समाज का ठीक ठीक श्रेणी विभाजन हो। उसके अनुसार भी समाज में चार श्रेणियां है—योद्धा, व्यापारी, विद्वान् और श्रमिक जिन्हें उचित स्थानों में रखकर उनका ठीक ठीक समन्वय करना सम्राट का कर्तव्य है। अबुल्फजल के इस निर्धारण में उसी धारणा और समस्या की झलक है जिसे हिंदू नीति-शास्त्र के रचयिताओं ने सम्राट और समाज के सम्बन्धों की चातुर्वर्ण्य की धारणा के द्वारा हल करने का प्रयास किया है। शैली में यदि आइन ए-अकबरी कौटिल्य के अर्थशास्त्र की परम्परा में है तो दर्शन, सार और उद्देश्य के दृष्टिकोण से उसकी भाषा मनुस्मृति की भाषा के अधिक समीप है[1]।

1 सरकार विनयकुमार वही पृष्ठ ५ ७-५१०

२

इस्लामी समाज और संस्कृति पर हिन्दू प्रभाव

इस प्रकार, एक ओर फारसी तथा अरबी में अनूदित संस्कृत साहित्य के द्वारा तथा दूसरी ओर इस्लाम में दीक्षा लेने वाले हिन्दुओं के द्वारा, भारत में इस्लामी दर्शन समाज और रीति रिवाज पर हिन्दुत्व का प्रभाव पड़ा। भारत में एक बड़ी सीमा तक इस्लाम ने हिन्दू प्रथाओं और मान्यताओं को आत्मसात किया। इस हिन्दूकरण के मुख्य माध्यम रहे हैं—मध्य युग के वे मुसलमान जो भारत में जन्मे थे, जिन्होंने इस्लाम को स्वीकार कर लिया था और जिनके लिए, हिन्दुस्तानी मुसलमान की उपेक्षापूर्ण संज्ञा का प्रयोग किया जाता था। वे भारतीय मुसलमान जो मूलतः हिंदू थे अपना मौलिक दृष्टिकोण, जीवन स्तर और सामाजिक स्तर लेकर इस्लाम में प्रविष्ट हुए। भारत में इस्लामी समाज के हिंदूकरण का सबसे प्रबल प्रमाण है मुसलमानों में पायी जाने वाली जाति व्यवस्था। पेशा, अंतर्वैवाहिकी उच्चाच्च परम्परा (Hierarchy) और कर्म शुद्धता (Ritual Purity) की भावना पर आधारित जाति प्रथा भारत के इस्लामी समाज में भी पायी जाती है। मुसलमानों के त्यौहारों, रीति रिवाजों विचारों, विश्वासों और धार्मिक जादुयी (Magico-Religious) अनुष्ठानों में हिन्दू प्रभाव के अनेक प्रमाण उपस्थित किये गये हैं। पीरों की कल्पना और उनमें विश्वास, दरगाह पर मत्था टेकना जय महावीर या हर हर महादेव की तरह या अली का नारा लगाना, सगुन विचारना, विधवा की अपेक्षा सधवा या सुहागिन को शुभ मानना सुहागिनों द्वारा सिन्दूर का प्रयोग, वैवाहिक अनुष्ठानों में सोहागपूरा का प्रयोग हिंदू श्राद्ध के ही अनुरूप मृत व्यक्तियों के नाम पर तीजा भोज और खैरात का आयोजन करना, छठ का व्रत (सूर्य पूजा) चेचक का प्रकोप शान्त करने के लिए शीतला माता में विश्वास और शीतला माता के सेवक समझे जाने वाले माली जाति के सदस्यों द्वारा शीतला माता की पूजा करवाना, दीवाली और होली जैसे त्यौहारों का मनाना और बंगाल में सत्यनारायण की कथा के अनुकरण के आधार पर सत्यपीर की पूजा हिंदू प्रभाव के ही परिणाम हैं। मुसलमानों में पगड़ी का प्रयोग हिंदुओं से आया है। दिनकर का ऐसा विचार है कि सम्भवतः मुसलमानों का त्यौहार शबेबरात हिंदुओं के त्यौहार शिवरात्रि से प्रभावित है[1]?

मोहम्मद यासीन के अनुसार भारत में ताजियों का गाड़ना और उन पर नाटकीय आक्रमण करना हिन्दुओं की रामलीला का इस्लामी अनुकरण है। ग्रहण (सूर्य या चन्द्र) के अवसर पर उपवास करने तथा प्रार्थना में लीन रहने और ग्रहण के उपरान्त शुद्धि के लिए स्नान करने की प्रथा मुसलमानों में हिन्दुओं से ही आयी है।

---

1 दिनकर रामधारी सिंह संस्कृति के चार अध्याय पृष्ठ 393-94

अभिवादन के लिए हिन्दुओं की भाँति मुसलमान भी 'राम राम' शब्द का उच्चारण करते हुए पाये गये हैं। सुल्तान मोहम्मद तुगलक की बहिन की विवाह का हवाला देते हुए मोहम्मद यासीन ने यह प्रतिपादित करने का प्रयास किया है कि सम्भवतः तत्कालीन समाज में राक्षस विवाह प्रचलित था जो एक गैर इस्लामी प्रथा है[1]। भारत में आज भी ऐसी जातियाँ मिलती हैं जो न तो पूर्णतः हिन्दू हैं और न मुसलमान और, मुसलमान होने पर भी उनके सदस्य हिन्दुओं के समान रहते हैं। बंगाल के बाउल और अजमेर के हुसैनी ब्राह्मण न तो पूर्णतः हिन्दू ही कहे जा सकते हैं और न पूर्णतः मुसलमान। राजपूताने और आगरा जिले के मलकाना राजपूत मुसलमान होते हुए भी 'राम नाम' जपते हैं और दरगाहों पर जाते हैं। गुजरात के खोजा सम्प्रदाय के लोगों पर वैष्णव धर्म की स्पष्ट छाप है[2]।

शिव के अनुसार मुगल काल में मुसलमानों में सती प्रथा के प्रमाण पाये गये हैं। मध्ययुगीन भारत में मुसलमान योद्धाओं ने जौहर प्रथा को उसी प्रकार अपनाया जिस प्रकार हिन्दुओं ने। किसी समीपस्थ सम्बन्धी के मरने पर सिर दाढ़ी और मूछ मुड़ाने की प्रथा अकबर ने चलाई थी और किसी हद तक मुसलमानों ने उसे अपनाया भी था। मरणासन्न व्यक्ति को खाट से उतार कर जमीन पर लिटाने और विधवाओं द्वारा कुछ आभूषण और रंगीन वस्त्रों का त्यागने की प्रथायें भी मुसलमानों में पायी गयी है। बाल विवाह और स्त्री पर पुरुष के स्वामित्व का भाव, यासीन के अनुसार मुसलमानों में हिन्दुओं से आया है। फलित ज्योतिष, साधु-सन्तों की अलौकिक शक्ति, जादू टोना और ताबीज में विश्वास, तीर्थ-यात्रा, मूर्ति-पूजा की भावना और मादक द्रव्यों का सेवन मुसलमानों में हिन्दुओं और आदिवासियों के सम्पर्क से आया है। मध्ययुगीन भारत में मुसलमानों के जीवन के आदर्श रहे हैं रज्म (युद्ध) बज्म (भोज और दरबार) और इबादत (प्रार्थना)। इन आदर्शों पर इस्लाम की अपेक्षा हिन्दुत्व के राजपूतीकरण की अधिक छाप है। सिद्धान्ततः इस्लाम में पुरोहितवाद का कोई स्थान नहीं है। किन्तु भारत में काजियों और मुल्लाओं ने पुरोहित की पदवी धारण की।

२

सूफीवाद में हिन्दू प्रभाव

इस्लामी भाव भूमि में सूफीवाद का स्तर भारत में इस्लाम के हिन्दूकरण का एक अन्य माध्यम बनी। भारत में सूफी-पन्थों की टीका करते हुए शिव ने लिखा है

1 यासीन, मोहम्मद ए सोशल हिस्ट्री आफ इस्लामिक इण्डिया पृष्ठ 40–59
2 दिनकर वही पृष्ठ 397

कि भारत के सूफी पन्थो का इस्लाम से नाममात्र का सम्बन्ध है, क्योंकि इन पन्थों मे हिन्दू और प्राक् हिन्दू प्रथाओ तथा सिद्धान्तो की भरमार है। वास्तव म है भी ऐसा ही क्योंकि इस्लाम का लोकप्रिय और रहस्यवादी रूप होने के कारण, भारत मे, अरबीवादी इस्लाम की अपेक्षा, सूफीवाद ही अधिक जनप्रिय रहा। अरबीवादी इस्लाम की अपेक्षा अधिक सहिष्णु होने के कारण सूफीवाद अपेक्षाकृत अधिक समन्वयकारी भी रहा है। अपनी कट्टरवादिता के कारण, अरबीवादी इस्लाम ने जिन प्रतिक्रियाओं को जन्म दिया उनका निराकरण सूफीवाद के ही द्वारा हुआ। इसीकारण, सूफीवाद और सूफियो के माध्यम से इस्लाम का अधिक प्रभावपूर्ण प्रचार भी हुआ। अपनी सहिष्णुता और समन्वयकारिता के कारण अरबीवादी इस्लाम की अपेक्षा, सूफीवाद हिन्दुत्व की आत्मा के अधिक समीप रहा है और यह उस सामीप्य का ही परिणाम है कि भारत के अशिक्षित और अर्ध मुस्लिम ग्रामीण मुसलमानों के धार्मिक जीवन मे हिन्दू प्रभावो का प्राधान्य है।

गिब के अनुसार, यह मानना कि सूफी शब्द यूनानी भाषा के सोफिया (Sophia) या सोफास (Sophos) शब्द से निकला है एक निराधार अतिरंजित कल्पना के अतिरिक्त और कुछ नहीं है, क्योंकि सूफी शब्द का लाक्षणिक या व्यंजनात्मक अर्थ वह नही है जो 'सोफोस' या सोफिया का है। साधारणत, यह माना जाता है कि सूफी शब्द, 'सूफ' शब्द से निकला है। इस्लाम के अभ्युदय के प्रारम्भ म 'सूफ' शब्द का अर्थ लिया जाता था बिना रंग हुए ऊन के उस लबादे से जो ईराक के वैरागी, साधक या तपस्वी धारण किया करते थे। किन्तु उस समय सूफ वस्तुत प्रतीक था संसार-त्याग और पश्चातापी ग्लानि का जिसके कारण सूफ धारण की भर्त्सना भी की गई है और सूफ धारण को ईसाई धर्म के प्रवर्तक ईसा की नकल कहकर उसकी उपेक्षा भी की गयी है। फिर भी, यह निश्चित है कि इस्लामी सम्वत की दूसरी शताब्दी म कूफा के साधक और तपस्वी सूफ धारण करते थे और उन्हे 'अल-सूफिया' कहा जाता था और चौथी शताब्दी के आस पास ईराक के साधको म सूफ धारण करना एक साधारण प्रथा सी बन गयी थी। सूफी शब्द के इस ऐतिहासिक विवेचन से दो तथ्य स्पष्ट होते हैं। एक, सूफीवाद की जड़ें रहस्यवादी सहजज्ञान (तसव्वुफ) म गड़ी है और दूसरा, सूफीवाद की उत्पत्ति अरब म न होकर ईराक म हुयी है। अरब का सूफीवाद म केवल इतना ही योग है कि हजरत मुहम्मद का ऐतिहासिक अस्तित्व अरब म था और वहीं से वह परवर्तित इस्लामी ज्ञान फला जिसे सूफियो ने एक रहस्यवादी मनुष्टिता के रंग म रंगा।

सूफी शब्द वस्तुत प्रतीक है रहस्यवादी साधक का और सूफीवाद (तसव्वुफ) उस तरीके या जीवन-यापन के ढंग का जिसमे बाह्य कर्मकाण्ड को त्याग कर आंतरिक शुद्धता पर जोर दिया जाता है ताकि स्थायी आध्यात्मिक सुखानन्द प्राप्त हो सके। सूफीवाद के मुख्य आधार हैं—इन्द्रियों को पवित्र करना, इच्छाओं को नियन्त्रण म

रखकर उन्हें ईश्वरेच्छा के अधीन रखना और बाह्य तथा आन्तरिक जीवन का इस प्रकार समन्वय करना कि शाश्वत आनन्द की प्राप्ति हो। सूफीवाद, वैयक्तिक तथा सांसारिक सुखों का परित्याग करके हक (सत्य) में लीन हो जाने का प्रयास है। खल्क (संसार) निस्सार है और हक (सत्य) का ज्ञान ही सूफी को ईश्वर का इस प्रकार आभास देता है कि, अपने स्वत्व के आभास का ज्ञान छोड़कर, सूफी अपने को ईश्वर के स्वत्व में खोया हुआ पाता है। अपने अन्दर भी और बाहर भी, सूफी ईश्वर का अनुभव करता है। सूफी अपने स्वत्व में मृतप्राय सा रहकर, ईश्वर के स्वत्व में जीवित रहता है। इस प्रकार, सूफीवाद ईश्वर का समझने की एक रहस्यात्मक अनुभूति का मार्ग है। मुहम्मद द्वारा प्रवर्तित मत में ईश्वर और व्यक्ति दो अलग अलग विरोधी अस्तित्व है। किन्तु सूफीवाद में दोनों एक दूसरे से भिन्न नहीं है। ईश्वर और जीव मौलिक रूप से एक हैं। अतः जीव ईश्वर से मिलने के लिए बेचैन है। जीव ईश्वर का दास नहीं है वरन उसका सखा है। त्याग तपस्या और ध्यान से जीव ईश्वर में लीन हो सकता है। फना (समाप्त) होकर बका (निर्वाण) प्राप्त करना ही जीव का अन्तिम लक्ष्य है। ईश्वर में लीन होने के लिये डर नहीं, दया की भीख नहीं, प्रेम की आवश्यकता है। प्रेम की ही अभिव्यक्ति के लिए सूफियों ने ईश्वर की सौन्दर्य के रूप में कल्पना की है और जीव की प्रेम के उपासक के रूप में। सूफियों के लिए इहलौकिक प्रेम ही पारलौकिक प्रेम की सीढ़ी है। इसीकारण, सूफियों की साधना में ध्यान, स्मरण (माला फेरना) और रति तथा मादन का भाव आया।

इस प्रकार, सूफीवाद का मुख्य आधार है वैयक्तिक तथा रागात्मक रहस्यवादी अनुभूति और उसके द्वारा ईश्वरत्व (हक) का सहज ज्ञान प्राप्त करना। अरबीकृत इस्लाम की अपेक्षा सूफीवाद अधिक वैयक्तिक और आनुभूतिक है। अरबीकृत इस्लाम इहलौकिकता और सुयुक्तिकरण पर ज्यादा जोर देता है जबकि सूफीवाद त्याग, तपस्या और रहस्यवादिता पर। अरबकृत इस्लाम में खल्क (संसार) त्याज्य नहीं है परन ईश्वरीय भय के साथ ग्राह्य है। जैसा कि पहले कहा जा चुका है अरबीकृत इस्लाम एक इलहामी ज्ञान है जिसे बिना किसी नुक्ता के अपनाना मानव धर्म है। इसीकारण, इस्लाम के समीक्षकों का कहना है कि सूफीवाद इस्लाम की इहलौकिकता तथा कट्टरता के विरुद्ध प्रतिक्रिया के रूप में उठा हुआ एक कदम है। इस्लाम का आधार है मिल्लत, उसका सामाजिक धार्मिक संगठन, पर सूफीवाद का उद्देश्य है व्यक्ति तथा समुदाय का आध्यात्मिक पुनर्जागरण। इस्लाम का जोर है ईश्वरत्व की गुणात्मक अनुभूति पर जब कि सूफीवाद का जोर है प्रत्यक्ष और वैयक्तिक ज्ञान पर। इस्लाम के शुष्क गुणात्मक ज्ञान के प्रति, सूफीवाद एक प्रबल प्रतिक्रिया रहा है। बाह्य कर्माचार और कट्टरवादिता से मुक्त होने के कारण, सूफीवाद अधिक सहिष्णु रहा है।

सूफीवादी ज्ञान प्रत्येक को सुलभ है बशर्ते कि उस उस ज्ञान मार्ग पर चलने

का तरीका आता है। तरीका गुरु से मिल सकता है और इसीकारण, सूफीवाद के अभ्युदय के साथ साथ गुरु शिष्य (पीर मुरीद) परम्परा का भी अभ्युदय होता है। गुरु के बिना सूफीवादी अनुभूति सुलभ नहीं। ज्यों-ज्यों सूफीवाद का प्रचार बढ़ा, त्यों-त्यों अलग अलग गुरु उत्पन्न होते गये और उनके नाम पर अलग-अलग सूफी सम्प्रदाय बने। एक गुरु के चेले अपने गुरु के तरीके का अलग अलग प्रचार करके, उसके नाम पर मठों तथा गद्दियों की स्थापना करने लगे। जहां गुरु अविवाहित होता था वहां उसकी मृत्यु के बाद एक नया मठाधीश चुन लिया जाता था और जब गुरु विवाहित होता था वहां मठ की गद्दी बेटे को उत्तराधिकार में जाती थी। इस्लामी साम्राज्य के साथ साथ सूफीवाद और उसके प्रचारकों की संख्या भी बढ़ी और उसका परिणाम यह हुआ कि बारहवीं और तेरहवीं शताब्दी के समय से सूफीवादी सम्प्रदाय इस्लामी संसार में फैलने लगे और उनके दरवेश सूफीवादी मत का प्रचार करने लगे। सूफियों में एक ओर थे प्रशिक्षित साधक और प्रचारक तथा दूसरी ओर थे जन साधारण के स्तर के जिज्ञासु। अरबीकृत इस्लाम की कट्टरवादिता के समक्ष सूफीवाद अधिक सहज सबुद्धिमय और जनसुलभ था। इस्लाम की अरबी कट्टरता के कारण जो प्रतिक्रिया हुयी सूफीवाद उसके निराकरण का माध्यम और उसका उत्तर था। इसी कारण, यह कहा गया है कि सूफीवाद वस्तुतः एक जन-आन्दोलन के रूप में इस्लामी संसार में फैला।

सूफीवाद के प्रचार का माध्यम थी प्रार्थना-सभायें जो मस्जिदों में होने वाले इमाम के भाषणों की अपेक्षा अधिक प्रभावपूर्ण होती थी। सूफीवादी गुरुओं (पीर, खलीफा या सज्जादानशीन) और दरवेशों के यात्रियों जैसे आत्म-सम्मोहन (Auto hypnotic) तथा विभिन्न तरीके अधिक जनाकर्षक सिद्ध हुए। कट्टरवादिता का विरोधी तथा जन रीतियों और विचारों के प्रति अपेक्षाकृत अधिक सहिष्णु होने के कारण, सूफीवाद इस्लाम की अपेक्षा अधिक प्रभावोत्पादक रहा। इन्हीं कारणों से सूफी इस्लाम के प्रबल और प्रभावपूर्ण प्रचारक बन सके। खलीफाओं ने इस्लाम का राजनैतिक प्रसार किया है तो सूफियों ने सामाजिक प्रसार। इस्लाम में दीक्षा लेने वालों से सूफियों ने कभी भी आमूल परिवर्तन की मांग न की। सूफीवाद ने केवल वहीं तक परिवर्तन की मांग की जहां तक आवश्यक था। इसीकारण, सूफीवाद के प्रसार के साथ-साथ एक ओर इस्लामी समाज में विजातीय विचार और प्रथाओं का समावेश हुआ तो दूसरी ओर दिव्य पुरुषों में विश्वास का[1]। सूफियों के अनुसार समय समय पर इस्लाम के पुन संस्थापन और नवोत्थान के लिए दवी पुरुष इस पृथ्वी

---

1 यहां दिव्य का अर्थ अवतार के अर्थ में नहीं है। अवतार की धारणा इस्लामी परम्परा में नहीं है। यहां दिव्य का अर्थ असाधारण से है। इस्लामी परम्परा में इस सन्दर्भ में दो धारणायें मिलती हैं—एक महदी और दूसरी मुजद्दिद।

पर आयेंगे। सूफीवादी प था के अधिकतर गुरु इन्ही दवी पुरुषा की श्रेणी म गिने जाते हैं।

अरबीकृत इस्लाम की भांति, सूफीवाद की उत्पत्ति एक अंतिम दिव्यज्ञान के रूप में नहीं हुयी। सूफीवाद का विकास धीरे धीरे हुआ है और स्थान स्थान पर देश-काल की परिस्थितियां ने उस पर काफी प्रभाव डाला है। सूफीवाद का विकास, इस्लाम म निहित रहस्यवादी साधना और संन्यासीपन के विकास के साथ-साथ हुआ है। हिजरी सम्वत की दूसरी शताब्दी म कुछ उत्साही वैरागियां न कथाओं को धर्म प्रचार का माध्यम बनाया। उन्होंने कथाओं की विषय वस्तु अरबी, इसाई, जरथुस्त्र और बौद्ध धर्मों म प्रचलित कथाओं, यहूदी धर्म के सिद्धान्तों और प्राचीन सीरिया (ईराक) तथा बेबीलोन की जन-वार्ताओं म लिया और इसप्रकार, विभिन्न उदगमो से ली हुई विषय वस्तु को इस्लामी सांचे म ढालकर सूफीवाद को रूप दिया[1]। सूफीवाद इस्लामी सांचे म ढला हुआ एक ऐसा प्रमय है, जिसके मुख्य आधार कई उदगमों से आये हैं। कुछ लोगों ने इस बात पर जोर दिया है कि रहस्यवादिता सूफीवाद का प्राण है और चूंकि रहस्यवादिता इस्लाम का स्वाभाविक गुण नहीं है इस्लाम मे सूफीवाद एक विदेशी या विजातीय तत्व है। इस्लाम म सूफीवाद का वही अस्तित्व है जो जल म कमल का है। पर ऐसा दृष्टिकोण एकांगी है। मुहम्मद साहब के द्वारा व्यक्त हाल और इस्लाम की धारणाओं म इस्लामी रहस्यवाद की

महदी का अर्थ है पनरुद्धारक और मुजद्दिद का पुनर्जीवक। महदी का अभ्युत्थान तब होगा जब इस्लाम विश्व पतन की अंतिम अवस्था में होगा। मुजद्दिद वह है जो इस्लाम का पुनर्नयन (तजदीद) करे। इस्लाम में पुनर्नयन का अर्थ समन्वय और सुधार नहीं है। इस्लामी उसूलों के अनुसार इस्लाम की पुनःसंस्थापना मुजद्दिद का काम है। महदी उद्धारक है और मुजद्दिद पुनःसंस्थापक। सूफी सन्त शेख अहमद सरहन्दी, जो जहांगीर के समकालीन है और जिन्होंने जहांगीर के द्वारा भारत में इस्लाम के पुनःसंस्थापन का प्रयास किया भारत में इस्लाम के पहले मुजद्दिद है। यमीप्रसाद ने सरहिंदी को महदी कहा है जो यासीन के अनुसार तकसंगत नहीं है। परम्परा के अनुसार यह माना जाता है कि हजरत मुहम्मद ने यह आश्वासन दिया था कि हर शताब्दी के बाद इस्लाम को नया जीवन देने के लिए ईश्वर मुजद्दिद का अवतारणा करेगा। पैगम्बर की मृत्यु के बाद से हर शताब्दी में एक व्यक्ति रहे है, जिन्होंने इस्लाम की पुनःसंस्थापना के लिए प्रयास किया है और मुसलमानों ने उन्हें मुजद्दिद स्वीकार किया है —

इसिये यासीन, वही पृष्ठ 116

1 गिब एच० ए० आर० मोहम्मडनिज्म पृष्ठ 1?0

जड़ें हैं। कुरान में खुदा को वदूद (प्रेमी) कहा गया है। मुहम्मद साहब के मरने के बाद ही गुलूब और तक्सीर की धारणायें अस्तित्व में आ गयी थी। गुलूब की धारणा के अनुसार मनुष्य ईश्वर की कोटि तक पहुंच सकता है और तक्सीर की धारणा के अनुसार यदि ईश्वर चाहे तो वह मनुष्य के रूप में प्रगट हो सकता है। आगे चलकर, जब अल हल्लीज ने अनलहक का नारा लगाया तो उसने गुलूब की धारणा को और भी दृढ़तर कर दिया। मोतजली सम्प्रदाय के लोगों ने इस मत का खण्डन किया कि कुरान अपौरुषेय और अंतिम सत्य का एकमात्र आख्यान है। अलगजाली (1051 1112) ने यह कहकर कि ज्ञानातीत निरपेक्ष सत्य को जानने का एकमात्र साधन सबुद्धि है, रहस्यवादिता की नींव डाली। इसप्रकार सूफीवाद इस्लाम के घेरे में ही पनपता रहा। इस्लामी पृष्ठभूमि से अलग सूफीवाद वस्तुतः एक केन्द्र रहित परिधि है। किन्तु सूफीवाद का उद्गम इस्लाम में ही नहीं है।

कुरान और मुहम्मद साहब के जीवन के अलावा सूफीवाद के निर्माण में जिन कारकों का योग रहा है वे हैं ईसाई धर्म जो सीरिया के तटवर्ती क्षेत्रों में प्रचलित था, अभिनव अफलातूनी (Neo Platonic) विचार धारा हिंदुत्व बुद्धवाद तथा ईरान में प्रचलित जरथुस्त्र धर्म। सूफिया में मिस्कनरीयत की भावना तथा महदी और ईश्वर को प्रेम से पाने की धारणायें, गिब के अनुसार ईसाई धर्म से आई हैं। ईश्वर के प्रति मारिफत और रीति का भाव अभिनव अफलातूनी विचारों की देन है। इस्लाम के उद्भव के पहले ही अभिनव अफलातूनी विचारों पर भारत का प्रत्यक्ष प्रभाव पड़ चुका था। इसीकारण यह कहा जा सकता है कि सूफी मत के विकास में योग देने वाले प्रभावों में हिन्दू-बौद्ध दर्शन का ही अधिक प्रभाव है। जीव और ईश्वर (अथवा ब्रह्म) मौलिक रूप से एक हैं जीव ब्रह्म की कोटि तक (अनलहक की अवस्था तक) पहुंच सकता है और जीव ब्रह्म का मिलन फना बका की अवस्था है सौन्दर्य से प्रेम उत्पन्न होता है और प्रेम से मुक्ति और इन दोनों का समन्वय करने के लिए सतोवृत्ति वैराग्य ज्ञान योग और संयम की आवश्यकता है इन मान्यताओं की जड़ें भारत की वेदान्ती और यौगिक परम्पराओं में हैं। सूफियों में भारत के योगियों जसी निर्भीकता रही है। साधना के लिए संगीत और माला का आश्रय लेना भारतीय संकीर्तन का मार्ग है।

सूफी सम्प्रदायों का संघीय संगठन बौद्ध संघों से प्रेरित है क्योंकि मानव इतिहास में, संघ मठों और भिक्षुओं की परम्परा सर्वप्रथम बौद्धों ने ही डाली थी। गुरु शिष्य परम्परा के पीछे यदि एक ओर हजरत मुहम्मद द्वारा निर्धारित पैगम्बरी परम्परा में उत्पन्न प्रेरणा थी तो दूसरी ओर भारत में पनपने वाली योगी परम्परा। निकल्सन के अनुसार वेदान्तियों के मोक्ष और बौद्धों के निर्वाण के वजन पर ही सूफियों ने 'फना' की कल्पना की और बुद्ध का अष्टांगिक मार्ग ही उनका 'तरीका या सलूक' हुआ। इसीप्रकार सूफियों ने भारतीय योग को 'मराकबा' कह कर अपनाया। भारतीय योगियों के चमत्कार ही सूफियों के यहां करामात या 'मोजजा' कहलाने लगे।

फियों के बीच स्वच्छता, पवित्रता, सत्य, अपरिग्रह पर जो इतना जोर है तथा माला
ने की जो प्रथा है उन सबके पीछे शुद्ध भारतीय संस्कार का ही प्रभाव माना जा
ता है। सर चार्ल्स इलियट का हवाला देकर निकर ने यह प्रतिपादित करने का
त्न किया है कि सूफीवाद में पाये जाने वाले जीव-ब्रह्म सम्बन्धी विचारों और
व्वुफ (रहस्यवाद) का उद्गम मध्यत भारत में ही है। पानिकर ने सूफीवाद को
ांत का इस्लामी संस्करण कहा है। इस्लाम के उद्भव के पहले तथा प्रारम्भिक
काश के आस पास अरब और यूनान तक बौद्ध तथा वेदान्त दर्शन का प्रभाव रहा
। इसी प्रभाव ने, अन्य प्रभावों के साथ इस्लाम में सूफीवाद को जन्म दिया है।

अनुताप इन्द्रिय निग्रह विरक्ति, अपरिग्रह सन्तोष धैर्य ईश्वर और जीव
ी मौलिक समानता, ईश्वर के प्रति जीव के स्वाभाविक प्रेम प्रेम द्वारा ईश्वर-जीव
मिलन (फना) तथा संगीत-संकीर्तन द्वारा ईश्वर के प्रति प्रेम की साधना में
ध्यान और संसार को आध्यात्मिक ज्ञान द्वारा समझने का प्रयास सूफियाना जीवन
मुख्य सैद्धान्तिक आधार रहे हैं। यही सिद्धांत सूफियाना तरीका है, जिन्हें प्रत्येक
फी पीर ने अपने ढंग से अपनाया है। सूफीवाद का उद्भव एक वैयक्तिक-
ाध्यात्मिक तरीके के रूप में हुआ था। कालांतर में इस्लामी ईसाई और
ौद्ध परम्पराओं के प्रभाव ने सूफीवाद में स्थायी परम्परा को जन्म दिया जिसकी
भिव्यक्ति इस्लामी संसार में फैले हुए सूफी सम्प्रदायों (पंथों) के रूप में हुई।
त्येक सम्प्रदाय किसी न किसी सूफी साधक की परम्पराओं पर आधारित है। कई
म्प्रदायों ने विभक्त होकर उपसम्प्रदायों को जन्म दिया। प्रत्येक सम्प्रदाय या उप
म्प्रदाय अपने मूल संस्थापक की परम्परा में, आध्यात्मिक साधना का एक तरीका
विशेष बन गया और प्रत्येक तरीके का प्रसार गुरु शिष्य परम्परा में हुआ। अरबी-इस्
स्लाम की अपेक्षा सूफीवाद देश काल की परिस्थितियों के अनुसार अधिक ढलता
हा जिसका परिणाम यह हुआ कि सूफीवाद अनेक पंथों में फूट निकला। उत्तरी
फ्रीका से लेकर इंडोनेशिया तक पाये जाने वाले सूफी पंथों में केवल आधारभूत
द्धांतिक समानता है क्योंकि उनके सामाजिक संगठन और कर्माचार परस्पर भिन्न
। यह सूफीवादी इस्लामी विचारधारा के लचीलेपन का ही परिणाम है कि कुछ सूफी
पंथ भारत में ही जन्मे और भारत में उन समूहों तक ही सीमित रहे जिनमें उनका
न्म हुआ था। जिसप्रकार, इस काल में भारत के अनेक गणजातीय और उद्गम
ातीय समूह सुधारवादी पंथों के माध्यम से हिन्दुत्व में प्रविष्ट हुए उसी प्रकार, अनेक
हस समूह, सूफीवाद के द्वारा, इस्लाम में प्रविष्ट होकर इस्लाम में जाति प्रथा के समा
श का कारण बने।

४

इस्लामी धार्मिक पन्था म भारतीय करण[1]

इस्लामी दशन और आ यात्मिकता मे अतर्निहित आत्म विच्छेद स उत्पन, सूफीयाना इस्लाम क लिए भारत का सम वयकारी सास्कृतिक वातावरण बडा ही अनुकूल रहा। इन पथा के माध्यम म अनेक देशज समूहा ने, एक ओर, अपनी गर इस्लामी परम्पराओ का इस्लामीकरण किया और दूसरी ओर उस इस्लामीकरण का भारतीयकरण। भारत की सामाजिक पष्ठभूमि इस्लाम म पथ परम्परा की उत्प्रेरक सिद्ध हुई जिसके कारण यहा अनक पथा का आविभाव हुआ जिनम कुछ सूफी थे और कुछ गैर सूफी। इन प था की विशेषता यह है कि इनके द्वारा गर इस्लामी प्रथाओ का इस्लाम म समावेश हुआ।

सुल्तान अलाउद्दीन खिलजी के जमाने म ऐसे पथ थे जो गर इस्लामी पर म्पराओं को मानते थ। अशोर ए इबाहत पथ के लोगा के बारे म अमीर खुसरो ने न लिखा है कि उनमे समीपस्थ सम्बधियो (भाई बहिन पिता पुत्री, माता-पुत्र) म भी यौन सम्बध पाये जाते है। सत्रहवी शता दी के मध्य म दबिस्ता उल मजाहिब के लखक ने एसे ही पथो के बार म लिखा ह कि इनम अनक गर इस्लामी प्रथाये पायी जाती है। परम्परावादी दृष्टिकोण स ये प्रथायें भारत मे इस्लाम क अध पतन का प्रतीक सी लगती है? इस्माइली एक शिया-पथ है जिसके बार म दबिस्ता मे लिखा हुआ है कि इस पथ क लोग शरिअत के अनुसार व्यवहार नही करते हैं और वे इस उहापोह म नही पडते ह कि ईश्वर है या नही ससार वास्तविक है या नही। उनकी यह मा यता है कि ईश्वर सवशक्तिमान है और उन पर यह आरोप लगाया जाता है कि अपनी गुप्त सभाओ म व अगम्यगमन यौन-सम्बध (Incestuous Sex Rela-tions) स्थापित करत ह। भारत मे खोजा और बाहरा, जो काठियावाड और गुजरात म पाय जात ह इस्माइली पथ क दो उपपथ हैं। खोजा हिंदू थे जिनको सैयद इमामुद्दीन नामक एक सूफी मत ने इस्लाम मे परिवर्तित किया था। अहमदाबाद स नौ मील की दूरी पर स्थित इमामुद्दीन की दरगाह खोजा लोगा का एक धार्मिक स्थान है। ऐसा कहा जाता है कि इन खोजा म पायी जान वाली गुरुपूजा मे मूर्ति पूजा का भाव है क्योंकि इनका गुरु एक सम्राट की भांति पर्दे के पीछ बठता है और य लोग उसके पर के अगूठे को चूम कर, उसके चरणों म सोन और चादी की भेंट चढ़ात हैं। खोजाओ की भांति गुजरात क बोहरा न भी शिया पथ को स्वीकार किया और अपने विवाह, उत्तराधिकार तथा तलाक के नियमो म अनक गैर-सुन्नी प्रथाओ को स्थान दिया है।

---

1 यहाँ जिन सूफी पन्था का सन्दभ दिया गया है उनका वणन यासीन के अध्ययन ए सोशल हिस्ट्री आफ इस्लामिक इण्डिया पर आधारित है।

दबिस्ताँ का हवाला देते हुए, यासीन ने लिखा है कि सन् सोलह सौ पाँच और सत्रह सौ अड़तालीस के बीच हिन्दुओं में एक ऐसा वर्ग अस्तित्व में आ गया था, जिसके सदस्य अपने परम्परागत विश्वासों और व्यवहारों के साथ सूफी मुसलमानों की भाँति रहते थे। अपने विचारों और व्यवहारों में, इन्होंने सूफीवादी सिद्धान्तों का आत्मसात् अवश्य कर लिया था, पर मूलतः ये लोग हिन्दू ही थे। इस वर्ग के लोगों का यहाँ तक दावा था कि उनकी मान्यताओं, विचारों और व्यवहारों का पैगम्बर के उपदेशों से कोई सम्बन्ध नहीं था। यह तथ्य इस बात का प्रतीक है कि भारत के समन्वयवादी सांस्कृतिक वातावरण में सूफीवाद को वह नयी दिशा मिली जिसके कारण वह इस्लाम के उत्तरोत्तर भारतीयकरण का माध्यम बना। यह भारत के समन्वयकारी सांस्कृतिक वातावरण का प्रभाव था कि भारत में कुछ ऐसे सूफीपंथ उत्पन्न हुए जो भारत के बाहर अन्यत्र नहीं पाये जाते हैं और अपनी विचारधारा तथा कर्माचार में अन्य स्थानों के सूफी पंथों से भिन्न हैं। भारत के मुख्य सूफी पंथ हैं—रौशनिया, दीन-ए-इलाही या तौहीद-ए-इलाही, महदविया, जलालियान, बेकद या बेनवा, कादकी या कावना और पियारावंशी। ये पंथ शिया भी थे और सुन्नी भी और भारतीय दर्शनशास्त्र की समन्वयकारी परिधि से घिरे रहने के कारण, इस्लामी आत्मविच्छेद के अधिक समीप थे।

रौशनिया पंथ के प्रणेता थे मियाँ बायजीद अंसारी जो सोलहवीं शताब्दी के मध्य में पंजाब में पैदा हुए थे। अर्वाचीन इस्लाम के कर्माचार के स्थान पर, इन्होंने सत्, आचार विचार की शुद्धता और ईश्वरेच्छा में कट्टर विश्वास पर अधिक जोर दिया। इनका मत सत्रहवीं शताब्दी तक चलता रहा। अपने मत का प्रचार करने के लिए इन्होंने अरबी, फारसी और पश्तो के साथ-साथ हिन्दी (मस्तून) का भी आश्रय लिया। दीन-ए-इलाही के प्रणेता थे सम्राट् अकबर जो इस्लाम और भारत के अन्य धर्मों के बीच समन्वय लाने के लिए प्रेरित थे। दीन-ए-इलाही के मुख्य चार आधार हैं—खलीफात उल अल्लाह का प्रकट होना[1] सभी धर्मों पर विचार विमर्श, ग्रह विचार (फलित ज्योतिष में विश्वास) और अन्त में आर्यपानी जलालुद्दीन मुहम्मद अकबर के कथनों पर एक आचार-संहिता का निरूपण। यह पंथ औरंगजेब के समय तक चलता रहा और इसका मुख्य ध्येय था भारतीय सांस्कृतिक वातावरण के अनुसार एक ऐसी संहिता तैयार करना जो सभी धर्मावलम्बियों को मान्य हो। इस पंथ की आत्मा अर्वाचीन इस्लाम के समीप न होकर, भारत की स्मृतियों की परम्परा के ही अधिक समीप है। यह पंथ वास्तव में प्रतीक है हिन्दुत्व की दार्शनिक पृष्ठभूमि और इस्लाम में समन्वय लाने के प्रयास का और, इसी कारण, औरों की अपेक्षा, इसमें स्याद्वाद की

---

1 खलीफात उल अल्लाह का अर्थ है अल्लाह (ईश्वर) के खलीफा की अवतारणा।

भावना अधिक थी यद्यपि, अकबर के बाद, इस भावना का उत्तरोत्तर ह्रास होता गया।

मदारिया पंथ के अनुयायी अपने को सूफी कहते थे और शाह बदीउद्दीन, जो शाहमदार के नाम से प्रसिद्ध है, के अनुयायी थे। आज भी शाहमदार को हिंदू और मुसलमान दोनों पूजते हैं। आज भी मकनपुर (जिला कानपुर) में प्रतिवर्ष इनकी मजार पर मेला लगता है। इन्होंने 'मदार' की दैवी महिमा स्थापित की। इस पंथ के अनुयायियों के अनुसार जब पैगम्बर स्वर्गद्वार पर पहुँचे तो उन्हें वह द्वार सुई के छेद के आकार का मिला। देवदूत जिबरील ने उनसे मदार की सहायता का आवाहन करने के लिए कहा और जैसे ही उन्होंने 'दम मदार' शब्द का उच्चारण किया, स्वर्ग द्वार चौड़ा हो गया और तब पैगम्बर स्वर्ग में प्रवेश पा सके। इस्लाम में जिन उपवासों और प्रार्थनाओं पर जोर दिया गया है उनका मदारिया लोगों ने पालन नहीं किया। ये गले में हमेली और सिर पर काला साफा धारण करते थे और काला झंडा लेकर चलते थे। जटा रखना, नंगे बदन रहना, देह पर भस्म मलना, धूनी रमाना और भांग का अत्यधिक प्रयोग इनकी साधना चर्या में शामिल थे। सूफीवाद के रूप में मदारिया एक प्रकार का वाममार्गी पंथ सा प्रतीत होता है।

जलालियान सैयद जलालुद्दीन बुखारी (1307-1374 ई०) के अनुयायी थे और अपने को शिया मानते थे। जलालुद्दीन मुल्तान के सुहरावर्दी संत बहावल हक के शिष्य थे। जलालियान पंथियों ने न तो उपवास और प्रार्थना की परवाह की और न सूफियों की आधारभूत मान्यताओं की ही। इस पंथ के अनुयायी भांग का अत्यधिक प्रयोग करते थे और ऐसा कहा जाता है कि उन्होंने साँप, बिच्छू और कीड़े मकोड़ों को भोज्य पदार्थों की श्रेणी में रक्खा। मदारियों की भाँति, जलालियान भी नंगे बदन रहते थे और धूनी रमाते थे, लेकिन जटायें नहीं रखते थे। विभिन्न प्रमाणों के आधार पर यासीन ने जलालियान का जो वर्णन किया है वह इस प्रकार है— जलालियान गले में गुलूबंद बाँधते हैं, पशम (ऊन) या बहुरंगी धागे का हार तथा लंगोटी धारण करते हैं और साँग लेकर चलते हैं। पंथ में दीक्षा लेते समय, उनकी दाहिनी बाँह के ऊपरी हिस्से में दाग दिया जाता है। वे बाजारों में भिक्षा माँगते रहते हैं और यदि उन्हें भिक्षा नहीं मिलती है तो वे कपड़ा चढ़ी हुयी लोहे की गरम सलाख से अपने को दाग लेते हैं। पंजाब उनका मुख्य गढ़ है जहाँ वे प्रार्थना पर बहुत ही कम ध्यान देते हैं, गाँजा पीते हैं, बिच्छू और साँप खाते हैं और सिर, मूँछ तथा भौंहों को मुंडाते हैं किन्तु सिर पर दाहिनी ओर चोटी भी रखते हैं। ये सिर पर पगड़ी बाँध रखते हैं, गले में ऊनी धागा पहनते हैं और भुजदंड पर शीशे के ताबीज बाँधे रहते हैं। उनका कोई निश्चित निवास-स्थान नहीं होता है—ये मलंगी होते हैं।

दबिस्ताँ के अनुसार जलालियान का 'गुरु' (पीर) प्रतिदिन एक नयी स्त्री भोग की टोह में रहता है। जब अपने किसी शिष्य के घर में उसे किसी सुंदर तरुणी का

पता चलता है ना वह नरसिंह बजाने की आज्ञा देता है घोड़े पर सवार होकर शिष्य के घर जाता है और नारी से मनमाना व्यवहार करता है। नारी को वह कभी-कभी अपने घर भी ले आता है पर उससे विवाह नहीं करता है। इस प्रथा का स्पष्ट करते हुये दबिस्ताँ के लेखक ने लिखा है कि सम्भवतः इसका सम्बन्ध अली से है, क्योंकि अली प्रतिदिन सन्ध्या को दूल्हा बनते थे। दबिस्ताँ के लेखक द्वारा प्रश्न किये जाने पर एक जलाली ने उसे बताया कि गर्भ का रह कृत्य उनकी प्रभुता का प्रतीक है और पैगम्बर के परिवार का एक विशेषाधिकार है। गुरु अली का प्रतीक है। अतः वह अली द्वारा प्रयुक्त विशेषाधिकारों का प्रयोग कर सकता है।

बेकैद का मन्तव्य है स्वतंत्र और माया का निरीह। पहले ये दोनों पंथ एक थे पर बाद में अलग अलग हुये। उन्होंने शरीअत (कर्माचारी विधि Ritual Law) आम जनता के लिये है न कि उनके लिये जो मारिफत (तत्त्वज्ञान) प्राप्त कर चुके हैं। बेकैदा पंथ इस्लाम में गैर-शरियानुमी (बेशरा) की श्रेणी में आता है। इन दोनों पंथों के अनुयायी भिक्षा मांगते समय जिसमें भिक्षा मांगते थे उसके लिये गाली मिश्रित भाषा और अपशब्दों का प्रयोग करते थे। वे भिक्षा में केवल उतना ही लेते थे जिसमें कि उनके खाने पीने का काम चल जाये। उनका वस्त्र था खिरका अर्थात् गुदड़ी या चोगा जो वे इधर उधर से इकट्ठा किये हुये चीथड़ों से बनाते थे। इस पंथ के अनुयायियों के अनुसार मुहम्मद देह हैं ईश्वर आत्मा और मजार उस आत्मा के प्राण। ये नशीली वस्तुओं का प्रयोग करते थे। एकेश्वरवाद को मानते थे और उनमें से कुछ अपने को धार्मिक तपश्चर्याओं में भी लगाते थे।

मनूची (Manucci) के अनुसार मुगल राज्य में अनेक प्रकार के फकीर कहे जाने वाले गरीब लोग थे, किन्तु उनमें दो प्रकार के फकीर मुख्य थे—एक बेकैद अथवा आजाद और दूसरे बेनम अथवा निडर। पहले प्रकार के फकीर बड़े ही अशिष्ट थे। सबके लिये गालियां, अशिष्ट भाषा का प्रयोग सबके घरों, विशेषतया अमीरों के घरों में, घुसकर पैसा (भिक्षा) मांगना और न मिलने पर गालियां देना, उनके लिये साधारण बात थी। उन्होंने कभी भी ईश्वर के नाम पर भिक्षा नहीं मांगी क्योंकि उससे ईश्वर नाराज होता है। बेनम नंगा छुरा हाथ में लेकर भिक्षा मांगते थे और न मिलने पर अपनी बांह सिर या पेट में छुरा मार लेते थे तथा भिक्षा न देने वाले पर अमीर आप के आगे खून छिड़का करते थे। ये बहुधा बाजारों में, बनियों की दूकानों पर भिक्षा मांगते थे। बेनम अथवा निडर प्रकार के फकीर आज भी बाजारों, नगरों में मिल जाते हैं। पंजाब में विशेषतया स्यालकोट के आस पास, इन्हें मुरचिरों या मुहचिरों (अर्थात् मुंह या सिर चीरने वाला की) संज्ञा दी जाती है।

बेकैद पंथी जहांगीर के समकालीन कहे जाने वाले कश्मीर निवासी इब्राहिम बेकैद के अनुयायी थे। ऐसा कहा जाता है कि इब्राहिम बेकैद और उनके शिष्य वशीकरण में सिद्धहस्त थे और किसी पर नजर डालने मात्र से ही उसको वश में कर

लेते थे। इब्राहीम के शिष्य मुसलमान भी थे और हिन्दू भी। इब्राहीम ने कभी भी अपने शिष्यों से धर्म परिवर्तन की माँग नहीं की। अल्लाह और राम को छोड़कर वे न तो किसी पैगम्बर का नाम लेते थे और न किसी अवतार का। वे और उनके शिष्य रात में कभी नहीं सोते थे बल्कि पीठ से पीठ जोड़े हुये, रात भर बैठे रहते थे। वे सर्वोच्च दैवी सत्ता को एक मानते थे, भांग का अत्यधिक प्रयोग करते थे और ब्रह्मचर्य का नियमित रूप से पालन करते थे। पियारा पन्थी, बाबा पियारा जो बंगाल के निवासी थे और सम्भवतः शेख सलाम चिश्ती के शिष्य थे से सम्बन्धित हैं। भिक्षा माँगते समय ये किसी के घर या दूकान के सामने खड़े हो जाते थे और न तो किसी वस्तु की ओर देखते थे न कुछ कहते थे और न किसी वस्तु की याचना ही करते थे। जो कुछ मिल जाता था, वे स्वीकार कर लेते थे और यदि कुछ नहीं मिलता था तो चुपचाप चले जाते थे। अपने को मुसलमान कहते थे पर मुसलमानों की तरफ ज्यादा ध्यान नहीं देते थे।

भारत में उत्पन्न होने वाले तथा भारत में ही सीमित रहने वाले इन सूफी पन्थों के माध्यम से इस्लाम पर हिन्दू दर्शन हिन्दुत्व की आगम परम्पराओं बौद्ध तान्त्रिकों और आदिवासियों का प्रभाव पड़ा। यह पहले ही कहा जा चुका है कि जहाँ हिन्दूकरण की प्रक्रिया अपूर्ण थी वहीं इस्लाम का प्रवेश हुआ। ऐसा क्षेत्र था भारत का आदिवासी समाज। ऐसा लगता है कि अलग अलग गणजातियाँ अलग-अलग स्थानों में, सूफी पन्थों के रूप में, इस्लाम में प्रवेश कर गयीं और अपनी परम्परागत प्रथाओं को इस्लाम के रंग में रंगा। अकबरनामा के आधार पर, मोहम्मद यासीन ने लिखा है कि याकना पंथ का मस्य-पंथ सम्भवतः कश्मीर की कोई गणजाति का था। वास्तव में भारतीय सामाजिक संरचना के निम्नतर स्तरों पर हिन्दूकरण और इस्लामीकरण का साथ-साथ समावेश हुआ है और चूँकि हिन्दूकरण की प्रक्रिया में हिन्दू और आदिवासी प्रथाओं का पहले ही से समन्वय हो रहा था इस्लाम के प्रभावों का एक ओर हिन्दूकरण हुआ तो दूसरी ओर आदिवासीकरण। पियारा पंथियों का भिक्षाटन का तरीका वास्तव में बौद्ध भिक्षुओं और दण्डियों का तरीका है। मदरिया और जलालियान पंथों के अनुयायियों में यदि एक ओर, भारत के नागा साधुओं और संन्यासियों की सी विचित्रतायें मिलती हैं तो, दूसरी ओर, औघड़ और वाममार्गी बौद्ध तान्त्रिकों की सी परम्परायें। भारत में संन्यासियों की न तो कोई जाति है और न कोई पाँति। सम्भवतः इसी प्रभाव के अन्तर्गत बरकों की स्वतन्त्र (आजाद) शाखा ने यह निर्धारित किया कि मारिफत की अवस्था में पहुँच जाने वालों पर शरा (इस्लामी सदाचारी विधि) नहीं लागू होती है। मदार जैसा दैवी शक्ति की धारणा और मदार का नाम टोटमवादिता (Totemism) से अधिक निकट है न कि हिन्दुत्व या इस्लाम से।

दक्खिन के क्षेत्र में मलंगार जलालियान के गुरु का अपने शिष्यों के घर की

स्त्रियों के साथ स्वतन्त्र, यौन सम्बन्ध स्थापित करते । सम्भवतः उनके आध्यात्मिक नेता 'अली' के जीवन का प्रभाव है। उसी लेखक के अनुसार हिन्दुओं में वल्लभाचार्य सम्प्रदाय के लोगों में भी, विवाहोपरान्त सर्वप्रथम वधू गुरु को अर्पित करके, बाद में पति द्वारा प्रसाद के रूप में ग्रहण की जाती थी। यूरोप में मध्ययुगीन कैथोलिक ईसाइयों में भी ऐसी प्रथाओं का उल्लेख है। वहाँ गुरु का स्थान पादरी के पास था। चमारों में पाये जाने वाले पंथों का वर्णन करते हुए ब्रिग्स (1920) ने सतनामी पंथ में ऐसी ही प्रथा का उल्लेख किया है। भारत के वाममार्गियों में शिव और भैरवी की धारणा तथा उससे सम्बन्धित यौनिक कदाचार मुसलमानों के पहले से ही अस्तित्व में था। ऐसी दशा में यह कहना कठिन है कि जगालियों में यह प्रथा सीधे इस्लाम से आयी है या भारत के आदिवासियों या वाममार्गियों से। भारत में ऐसी प्रथाओं का वास्तविक रूप क्या था या क्या है और उनके वास्तविक उद्गम स्रोत क्या हैं ? ये प्रश्न भारत के सांस्कृतिक इतिहास की जटिल गुत्थियाँ हैं।

अकबर द्वारा स्थापित दीन ए इलाही वस्तुतः वह प्रयास है जिसके द्वारा इस्लाम और हिन्दुत्व के दार्शनिक तथा व्यावहारिक पक्षों का समन्वय करने की कोशिश की गयी थी। स्मृतियों और पुराणों में वर्णित धर्म राज्य की धारणा में सम्राट में देवत्व का प्रतिरोपण करके उसे धर्मरक्षक माना गया है। इसी कारण भारत के सम्राटों ने सभी धर्मों को प्रोत्साहन दिया है और वर्ण तथा जाति-व्यवस्था के लिए नियमों का निर्धारण किया है। सम्राटों ने आचार संहिताओं का संकलन कराया है। अकबर को धार्मिक मामलों में उच्चतम सत्ता मानकर दीन ए इलाही द्वारा जहाँ, एक ओर, इस्लामी कट्टरता पर रोक लगाने का प्रयास किया गया था वहाँ दूसरी ओर उसे हिन्दू परम्पराओं के अधिक समीप लाने का प्रयास भी किया गया था। अकबर के बाद, दीन ए इलाही तो जिन्दा रहा पर उसकी आत्मा बदल गयी क्योंकि जहाँगीर के समय से इस्लामी कट्टरता ने एक नया रूप ले लिया था जो धीरे धीरे बढ़ती रही। इस सन्दर्भ में सबसे बड़ी उल्लेखनीय बात तो यही है कि जहाँ एक ओर सूफी पंथों के द्वारा इस्लाम उदार और समन्वयवादी बना वहाँ दूसरी ओर इन्हीं पंथों के प्रभाव से उसमें कट्टरता को भी सहारा मिला। टाइटस के अनुसार सूफी-पंथ साम्प्रदायिकता से पूर्णतया मुक्त न थे। ख्विस्ता में वर्णित एक घटना के अनुसार एक तीर्थ स्थान पर मर्करियों, जगालियों और संन्यासियों के उत्सव में जब मर्करियों और जगालियों ने दो बार गाय काटना चाहा तो दोनों बार संन्यासियों ने उन्हें रोका, गाय को छीन लिया। इससे अपमानित होकर मर्करियों और जगालियों ने एक तीसरी गाय काट दी जिसका परिणाम यह हुआ कि संन्यासियों ने उन पर आक्रमण कर दिया।

वास्तव में भारत में इस्लाम का इतना भारतीयकरण हुआ है कि प्रारम्भ से ही इस्लाम को सुधारने और उसे बाहरी इस्लाम के अनुरूप लाने का प्रयास भी चलता रहा है। भारत के बाहर से आये हुए सूफियों और उनके प्रणेताओं ने

इस प्रयास मे काफी भाग दिया है। सारे इस्लामी भारत मे मुजद्दिद आन्दोलनों की भरमार रही है। बदायूनी के अनुसार, जब से भारत म इस्लाम का प्रवेश हुआ है ईश्वर ने देश म उस बडे वर्ग को उत्पन्न किया है जो धर्म निरपेक्ष सम्राटों के विरुद्ध रहे हैं। अकबर ने प्रतिक्रिया की इस लहर को दबाये रखा किन्तु उसकी मृत्यु के बाद वह और भी प्रबल हो गयी। मुजद्दिद अल्फ ए सानी शेख अहमद सरहिन्दी जो पद्रहवीं सदी में फैली और चिश्तिया कादरिया और नक्शबन्दिया से प्रभावित थे ने इस्लाम की रक्षा के लिए सम्राट को सुधारने का प्रयत्न किया और दरबार के अमीरो म निष्ठा पैदा की। जहागीर का भारत सम्राट की गद्दी पर बिठाने म इनका बड़ा हाथ था। बहुत सम्भव है कि भारत के सिहासन के बदले म इस्लाम की रक्षा की प्रतिज्ञा जहागीर ने शेख अहमद सरहिन्दी और उनके अनुयायियों को बतौर मूल्य के दी थी[1]।

सरहिन्दी ने सबसे इस बात पर जोर दिया कि शरिअत तलवार की ही छत्र छाया म सुरक्षित है। अकबर की मृत्यु के बाद, उन्होंने इस्लाम खतरे में है का नारा लगाया और कट्टरवादिता को प्रोत्साहित किया जिसका प्रारम्भ जहागीर म होता है। दारा को लिखे गये पत्र म उन्होंने इस बात पर जोर दिया कि बादशाह के सम्मुख अन्य धर्मों को निरस्त करी जाय। सरहिन्दी ने धर्मान्तरण (Proselytization) के कार्य के लिए रास्ता तैयार किया। जहागीर के कार्यों और नीति म हिन्दू विरोधी भावना उत्पन्न जहागीर पर सरहिन्दी के प्रभाव से है। ऐसा कहा जाता है कि यह सब अपनाना जहागीर इस्लाम के लिए लाभ समझता था। यासीन के अनुसार, सरहिन्दी ने मासाहारता निषिद्ध किया और मूर्तियों म और विशेषतया मुसलमानों और गैर मुसलमानों म स्पष्ट अन्तर रखने का प्रचार किया जिसके कारण प्रतिक्रिया अस हिष्णुता और साम्प्रदायिकता उत्पन्न की। साम्राज्य पर बहुतों का प्रभाव था पर उनकी मजहबी कट्टरता के समक्ष सिलसिला का अन्त हो गया। औरंगजेब शाह वलीउल्लाह, जिन इस्लाम के पुनरुत्थान के लिए आन्दोलन चलाया को भारत बुलाया था भारत म वहाबी आन्दोलन के प्रणेता सैयद अहमद बरेलवी (1776 1831) इनका और मुहम्मद इस्माइल आदि गहरा असर आत्मिक धर्म नेता ने जारी एक उपद्रव विरामहीन ऐतिहासिक शृखला की कड़िया हैं। इस बात अनिवार्य रूप से होगी यदि यह कहा जाय कि भारतीय संस्कृति म इस्लाम ऐसा तत्त्व म था हुए एक जहाज के समान रहा है। इस्लाम एक भ्रामविरुद्ध (Schism) इस्लाम के अन्दर का नहर भारतीय संस्कृति का भ्रम विच्छेद (Schism) बन गया।

1 यासीन मोहम्मद वही

५

आर्थिक व्यवस्था

आर्थिक व्यवस्था में इस्लाम का सबसे अधिक भारतीयकरण हुआ, क्योंकि भारत में इस्लामी राज्य अथवा राज्यों और समाज का वही आर्थिक आधार रहा जो परम्परा से चला आया था और मुख्यतः कृषि पर आधारित था। इस काल में, व्यापार के साथ साथ भारत का नगरीकरण भी बढ़ा। इस्लाम वस्तुतः एक नगरीय सभ्यता थी। भारत में इस्लाम का केन्द्र शहरों में ही रहा विशेषतया उन शहरों में जो इस्लामी राज्यों और जागीरदारियों के गढ़ थे। मुसलमानों के साथ कागज बनाने, बर्तनों पर कलई करने और जामदानी कलाबत्तू जरदोजी तथा किमखाब बनाने के उद्योग भारत में आये किन्तु भारत का आर्थिक आधार कृषि ही रहा। मुसलमान बादशाह केवल राजस्व पर ही जोर देते थे। जैसा कि पाणिक्कर ने लिखा है सम्भवतः मुस्लिम राज्य व्यवस्था इस सिद्धान्त पर आधारित थी कि राज्य का खर्च अन्य राज्यों से लूटे हुए धन से चलाया जाय। तेलंगाना पर आक्रमण करने के लिए मलिक काफूर को विदाई देते हुए अलाउद्दीन खिलजी ने कह रखा था कि यदि वहाँ का राजा अपना खजाना, जवाहरात, हाथी और घोड़े समर्पित कर दे या कर देना स्वीकार करे तो उसे छोड़ देना।

भारत में मुसलमान सेनानी-साहसिकों के रूप में आये। उन्होंने अपने राज्य और साम्राज्य कायम किये और धर्म का प्रचार किया। धर्म और राजनीतिक सत्ता ही उनके प्रमुख ध्येय थे। किन्तु देश की आर्थिक संरचना ने उन्हें [illegible] दर्शाया। बादशाहों को अपनी नीति में सहिष्णुता का पुट देने के लिए बाध्य किया। जिन सेनाओं को लेकर मुसलमानों ने भारत में प्रवेश किया था वे किसी भी भूमि पर आधिपत्य जमा सकती थीं, हिन्दू राजाओं को परास्त कर सकती थीं पर यदि बादशाह चाहता भी तो विस्तृत भारत भूमि पर खेती करना उनके लिए सम्भव न था और न इतनी संख्या में धर्म परिवर्तन हो ही सकता था कि सारे हिन्दू जमींदार और कृषक मुसलमान हो जायें। सात सौ वर्षों तक मुस्लिम राज्य का प्रभुत्व रहने पर भी गाँवों की कृषक जनता मुख्यतः हिन्दू ही रही। मुसलमान बादशाह भूमि को बड़े बड़े मुसलमान अमीरों को केवल जागीर में दे देते थे। अतः जमींदार तथा कृषक हिन्दू ही रहे। मुस्लिम शासन-काल में भूमि व्यवस्था ज्यों की त्यों बनी रही, जिसके फलस्वरूप ग्रामीण क्षेत्रों में हिन्दुओं का सामाजिक जीवन वैसा ही रहा जैसा कि पहले था। व्यापार में भी हिन्दुओं का ही अधिक भाग रहा। अपनी सेनानी और राजनीतिक-सामरिक मनोवृत्ति के कारण, न तो मुसलमान व्यापार में दिलचस्पी लेते थे और न उसे आदर की दृष्टि से ही देखते थे। हुण्डी और खाता बही मुसलमानों के लिये एक रहस्य ही रहा। व्यापारी वर्ग को सम्राट तथा स्थानीय अधिकारियों को धन देना ही पड़ता था। सारे मुस्लिम काल में हिन्दू-बनियों का व्यापार पर आधिपत्य रहा।

नौकरशाही के निम्न स्तरों पर हिन्दुओं को रखने के सिवा मुसलमानों के पास और कोई चारा ही नहीं था। मुसलमानों के भारत में आने के पहले ही भारत में सुनिश्चित नौकरशाही की परम्परा अस्तित्व में आ गयी थी। नौकरशाही के उच्च पदों को तो मुसलमानों ने हथिया लिया किन्तु निम्न पदों पर हिन्दुओं को रखना आवश्यक था, क्योंकि पटवारी, मुनीम और खजांची का काम यहाँ की परम्परागत सामाजिक-आर्थिक व्यवस्था के अनुसार हिन्दू ही कर सकते थे। मुसलमान अपने साथ सेना के अतिरिक्त केवल इस्लाम लाये थे। उनके पास न तो कोई व्यापारिक पद्धति थी न कोई *आर्थिक तथा भूमि व्यवस्था। मुसलमानों के पास धर्म अपना था—पर सामाजिक* आर्थिक व्यवस्था तो भारत की थी जिसे चलाने वाले थे हिन्दू। इसी कारण, जिले के स्तर पर प्रशासक हुआ करते थे मुसलमान किन्तु प्रशासन को चलाने वाले होते थे हिन्दू। इसी सुनिश्चित भारतीय नौकरशाही पर मुस्लिम सम्राट अपने साम्राज्यों को खड़ा कर सके और इसी के आधार पर प्रान्तीय राज्यपाल मौका पाते ही राज्यों की नींव डाल देते थे। आगे चल कर इसी नौकरशाही के बल पर अंग्रेजों ने भारतीय साम्राज्य खड़ा किया। हाँ, यह अवश्य है कि न्यायिक प्रशासन को मुसलमानों ने अपने आधिपत्य में रखा।

इस प्रकार भारत में इस्लाम के प्रवेश करने पर भी भारत की आर्थिक संरचना वही रही जिसका निर्माण हिन्दुओं ने किया था। यहाँ की भूमि व्यवस्था का वही रूप रहा जो पहले से चला आया था[1]। हाँ यह अवश्य था कि मुस्लिम सम्राट मनमाने ढंग से लगान की दर में परिवर्तन कर लिया करते थे। भारत की इस परम्परागत आर्थिक संरचना और भूमि-व्यवस्था पर मुसलमानों ने जागीरदारी की सामन्ती व्यवस्था कायम की, क्योंकि स्वयं मुस्लिम सम्राट एक बड़ा सामन्त था जिसकी रक्षा के लिए अनेक सामन्तों की आवश्यकता थी। जागीरदार भूमि का मालिक न था बल्कि सम्राट की दया पर निर्भर भूमि कर वसूल करने वाला एक अधिकारी था। भूमि का वैयक्तिक तथा सामूहिक आधिपत्य वस्तुतः निश्चित था। ग्रामीण समुदाय में जो सामन्तवादी व्यवस्था का गणतन्त्रीय धरातल था। मुस्लिम आक्रमणों के काल में लिखी गयी तुजुकीनिगार से यह पता चलता है कि तत्कालीन भारत की सामाजिक-

---

1 भूमि व्यवस्था को निश्चित आधार पर लाने के लिए अकबर को भी टोडरमल की जरूरत पड़ी। किन्तु जब अकबर ने राजा टोडरमल को नियुक्त किया तो मुल्लाओं ने इसका विरोध किया और अकबर के पास एक प्रतिनिधि मण्डल आया। इस प्रतिनिधि मण्डल से अकबर ने पूछा, 'तुम्हारी भूमि और राजस्व का प्रबन्ध कौन करता है"? उनका उत्तर था हिन्दू पदाधिकारी। इस पर अकबर ने कहा, 'तो मुझे भी अपनी भूमि के प्रबन्ध के लिए हिन्दू को नियुक्त करने की अनुमति दो'—दत्तिय, रामगोपाल वही पृष्ठ ।।

आर्थिक व्यवस्था में ग्राम एक गणतन्त्रीय इकाई था। इसी गणतन्त्रीय धरातल पर मुसलमानों ने मजहब पर आधारित एक सामन्ती व्यवस्था खड़ी की। भू-स्वामी और कृषक थे हिन्दू, भूमि व्यवस्था को चलाने वाले थे हिन्दू पर इन सभी का नियन्त्रण करने वाले थे मुस्लिम सामन्त। जिस व्यवस्था में मुसलमानों ने प्रवेश किया था वह भी सामन्ती व्यवस्था थी। हाँ यह अवश्य है कि इस्लाम के प्रवेश के साथ-साथ हिन्दू सम्राट का स्थान ले लिया मुस्लिम सम्राट ने और हिन्दू सामन्तों का मुस्लिम सामन्तों ने। अतः भारत की सामन्तवादी व्यवस्था में सामन्तवर्ग धर्म के नाम पर दो समूहों में बँट गया। मानव इतिहास में सम्भवतः और कहीं ऐसा नहीं हुआ और इसी कारण भारत के सामन्त वर्ग को एक ओर पूँजीवादी व्यवस्था से लड़ना पड़ा तो, दूसरी ओर स्वयं अपने में हिन्दू और मुसलमान में। मुस्लिम सामन्तों ने हिन्दू सामन्त वर्ग को हटाया था। इस कारण दोनों में पारस्परिक असन्तोष और संघर्ष की आग सुलग उठी और तब तक सुलगती रही जब तक कि अंग्रेजों द्वारा लायी हुयी साम्राज्यवादी पूँजीवादी व्यवस्था में मुसलमान सामन्तों को अंग्रेज प्रशासकों ने नहीं हटाया। इस परिस्थिति में उत्पन्न असुरक्षा की भावना के कारण, मुस्लिम सामन्तों में जो असन्तोष फैला वह पहले ही से सुलगती हुई आग के समान से साम्प्रदायिक ज्वाला के रूप में धधक उठा।

६

अरबी फारसी का भारतीयकरण

अरबी और फारसी यदि एक ओर, मुसलमानों के साहित्य, कला, विचार-विमर्श और ज्ञान विज्ञान की भाषायें रहीं तो दूसरी ओर भारत में इस्लाम के प्रचार तथा प्रसार का मुख्य माध्यम भी बनीं। अरब से आये हुए मुसलमानों द्वारा अरबी का प्रचार हुआ तो ईरान और तुर्किस्तान से आये हुए मुसलमानों के द्वारा फारसी का। इस्लामी कुछ लिए हुए और ईरान की संस्कृति से सिंची हुई, फारसी भाषा भारत में पहुँचने के पहले ही अपनी साहित्यिक मान्यताओं, प्रतीकों और ज्ञान विज्ञान की शब्दावली को जन्म दे चुकी थी। अतः, भारत में फारसी भाषा का प्रवेश हुआ एक सम्पन्न संस्कृति की भाषा के रूप में जिसको तत्कालीन इस्लामी संसार लोहा मानता था। फारसी यदि एक ओर, ईरान की सम्पन्न इस्लामी संस्कृति की प्रतीक थी तो दूसरी ओर, वह इस्लामी आत्मविश्वास को भी अपने में समेटे हुए थी। भारत में अरबी का प्रवेश हुआ इस्लाम धर्म की भाषा के रूप में। नमाज और कुरान पढ़ने के लिए आज भी मुसलमानों को अरबी सीखना पड़ता है और आज भी धार्मिक कृत्यों और अनुष्ठानों के सम्पादन के लिए अरबी भाषा का प्रयोग होता है। अतः,

भारत और उसके बाहर अरबी प्रतीक रही है अरबीकृत इस्लाम की। धार्मिक कर्माचार में, मुसलमानों के लिए अरबी का वही महत्त्व रहा है जो हिंदुओं के लिए संस्कृत का है।

उत्तरी भारत में तुर्कों के प्रवेश के साथ साथ फारसी को राज्य कृपाप्राप्त हो गयी। मुगल काल में जब दरबार में ईरानियों का प्रभाव बढ़ गया तब यह कृपा और भी बलवती हो गयी। अतः, फारसी एक ओर राज्य भाषा रही तो दूसरी ओर, काव्य और साहित्य की भाषा। भारतीय संस्कृति और समाज में ज्यों ज्यों इस्लाम का प्रवेश होता गया त्यों त्यों फारसी को विद्वत्ता और पाण्डित्य की भाषा का स्तर मिलता गया[1]। सम्भवतः, यही कारण है कि अरबी की अपेक्षा हिंदुओं ने फारसी अधिक सीखी और जिस अनुपात में हिंदुओं ने फारसी और अरबी सीखी उस अनुपात में मुसलमानों ने संस्कृत नहीं सीखी। इसका परिणाम यह हुआ कि हिंदू इस्लाम की मान्यताओं से जितना परिचित हुए उतना मुसलमान हिंदुत्व की मान्यताओं से परिचित न हो सके। इसी कारण दर्शन और मान्यताओं के स्तर पर इस्लाम का जितना हिंदूकरण हुआ उतना हिन्दुत्व का इस्लामीकरण नहीं हुआ। भाषा सम्बन्धी इस स्थिति का एक यह भी परिणाम हुआ कि अरबी का अधिकतर पठन पाठन और प्रचार इस्लाम के ... के रूप में और ... अधिकतर मौलवियों और मुल्लाओं तक सीमित रहा। फारसी का प्रचार हुआ राज्य तथा साहित्य की भाषा के रूप में जिसे हिंदुओं और मुसलमानों ने एकसा सीखा। अरबी फारसी के साथ साथ संस्कृत का भी पठन पाठन चालू था पर हिंदुओं की धार्मिक भाषा तथा हिंदू दर्शन और ज्ञान विज्ञान की भाषा के रूप में और इस रूप में संस्कृत केवल धर्माचार्यों और ब्राह्मणों तक ही सीमित था। इस प्रकार इस्लाम के प्रवेश के साथ साथ अरबी, फारसी और संस्कृत भाषाओं के रूप में भारत में तीन सांस्कृतिक धाराएँ बह निकलीं जो यदा कदा मिलीं किन्तु अधिकतर समानान्तर ही बहती रहीं।

अरबी, फारसी और संस्कृत वास्तव में भारत के सामन्ती और अभिजात वर्ग की भाषाएँ थीं क्योंकि जिस काल में इस्लाम का प्रवेश हो रहा था भारत में प्रादेशिक भाषाएँ भी अंकुरित हो रही थीं। ये प्रादेशिक भाषाएँ भारत के जनसाधारण की भाषाएँ थीं और इनका स्रोत थे संस्कृत तथा प्राकृत भाषाओं में। मुसलमानों को, विशेषतया मुस्लिम बादशाहों और प्रशासकों को इन भाषाओं की जानकारी आवश्यक थी। इसी कारण मुसलमान बादशाहों ने प्रादेशिक भाषाओं को संरक्षण और प्रोत्साहन दिया। संस्कृत के ग्रंथों को यदि एक ओर अरबी फारसी में अनुवाद कराया गया तो दूसरी ओर प्रादेशिक भाषाओं में। प्रादेशिक भाषाओं का साहित्य

---

1 पढ़े लिखे व्यक्तियों के बेकार रहने पर आज भी अवध में यह कहावत कही जाती है—पढ़े फारसी बेचे तेल। ई देखो कुदरत के खेल।

के स्तर पर लाने के लिए मुसलमान ही प्रेरित हुए और इसी कारण भारत की प्रादेशिक भाषाओं में इस्लाम और हिंदुत्व का जो समन्वय हुआ वह अरबी, फारसी और संस्कृत के स्तर पर नहीं हुआ[1]। और ऐसा होना स्वाभाविक भी था, क्योंकि हिंदुत्व और इस्लाम का जो समन्वय जनसाधारण के स्तर पर हो रहा था वह अभिजात वर्ग के स्तर पर नहीं था। अभिजात वर्ग के स्तर पर चल रहा था संघर्ष—वह संघर्ष जिसमें हिंदुत्व और इस्लाम की आड़ ली जा रही थी। कोई आश्चर्य नहीं, यदि प्रादेशिक भाषाओं में मानवतावादी विचारों की धाराएँ एक साथ फूट निकलीं।

मुस्लिम शासन को स्थायी बनाने के लिए यह आवश्यक था कि मुसलमान भारत को अपना देश समझें और प्रजाजनों से भाषा के उस स्तर पर मिलें जहाँ वे एक दूसरे को समझ सकें। इसमें कोई शक नहीं कि मुस्लिम बादशाह विदेश से मुसलमानों को आमंत्रित करते रहे, उनको उच्च पद प्रदान करते रहे और भारत के मुसलमानों में इस्लाम के प्रवर्तन के प्रति एक रागात्मक लगाव रहा। फिर भी, मुसलमान बादशाह इस बात का भी प्रयास करते रहे कि भारत के मुसलमान भारत को अपना देश समझें। सुल्तान मुहम्मद तुगलक इस बात के लिए प्रयत्नशील रहा कि मुसलमान भारत को अपना देश समझें। उसने दिल्ली के मुसलमानों को काफी सम्मान प्रदान किया, उन्हें भारत में ही बसने के लिए प्रोत्साहित किया और इस बात पर जोर दिया कि विदेशी मुसलमानों को गरीब (अजनबी) न समझकर, पड़ोसी ([illegible]) समझा जाय[2]। ऐसी आवश्यकता के कारण जनसाधारण की भाषा को समझना उतना ही आवश्यक था जितना कि भारत को अपना वतन या देश समझना। इसका परिणाम यह हुआ कि मुसलमान जनसाधारण की भाषाओं की ओर झुके।

बंगाल में हुसेनशाह (1493-1519) की आज्ञा से मालाधर वसु ने भागवत-पुराण का बँगला में अनुवाद किया और हुसेनशाह के एक सेनानायक परागल खाँ की प्रेरणा से कवीन्द्र परमेश्वर और श्रीकर नंदी ने महाभारत के कुछ पर्वों का बँगला में अनुवाद किया। मुसलमान हिन्दू के धाम पाक और देवालय में आते जाते थे। [illegible] रसखान और रहीम खानखाना ने ब्रज को, मलिक मुहम्मद जायसी ने अवधी को और कबीर ने [illegible] की एक [illegible] को अपनी अभिव्यक्ति का माध्यम बनाया। यह अनुमान किया जा सकता है कि जिस प्रकार अंग्रेजी काल में अंग्रेज प्रशासक और अंग्रेजी जानने वाले लोग अंग्रेजी की सभाओं और दफ्तरों के साथ हिन्दी अथवा प्रादेशिक भाषाओं की क्रियाओं का प्रयोग करते रहे थे और आज भी देहात बोलचाल की भाषा में अंग्रेजी शब्द-

1 दिनकर वही
2 [illegible] वही पृष्ठ ४५

लिखे लोग बसा करते हैं उसी प्रकार मुसलमान प्रशासक और अरबी फारसी भाषा भाषी लोग अरबी फारसी की संज्ञाओं और विशेषणों के साथ साथ स्थानीय भाषाओं की क्रियाओं का प्रयोग करते रहे होंगे। सम्भवतः, ऐसे ही प्रयोगों से प्रभावित होकर अलाउद्दीन खिलजी ने दिन प्रति दिन प्रयोग में आने वाले खड़ी बोली के शब्दों के अरबी फारसी पर्यायों का संग्रह कराया था जिनका प्रयोग दिल्ली के शाही महल के बाहर लगने वाले 'उर्दू ए मुअल्ला' (शाही सैनिक बाजार) में होता था। इसी उर्दू-ए मुअल्ला की भाषा को शाहजहाँ के समय में उर्दू की संज्ञा प्रदान की गयी और मुगल बादशाह जफर के राज्यकाल में इसे, फारसी के साथ राज्य भाषा मान लिया गया। इसकी लिपि अरबी थी संज्ञायें और विशेषण अरबी फारसी के और क्रियायें खड़ी बोली की।

इस प्रकार, भारतीय संस्कृति में इस्लाम के प्रवेश से भाषा सम्बन्धी दो विकास प्रक्रियायें उत्पन्न हुयीं। एक विकास प्रक्रिया में खड़ी बोली के आधार में, ब्रज, अवधी और भोजपुरी के मिश्रण से हिन्दी का विकास हुआ जिसकी लिपि देवनागरी थी और जिसमें संस्कृत के तत्सम शब्दों की अधिकता थी क्योंकि जिन भाषाओं के मिश्रण से उसका जन्म हुआ था उनके उद्गम स्रोत संस्कृत में थे। दूसरी विकास प्रक्रिया में जन्म हुआ उर्दू का जिसमें अरबी फारसी के तत्सम शब्दों की अधिकता से प्रयोग होता था और जिसका झुकाव अरबी फारसीपन की ओर अधिक था। खड़ी बोली के आधार पर एक शाखा ने हिन्दी का रूप लिया और दूसरी ने उर्दू का। हिन्दी की अरबी फारसीकृत शैली होने के कारण उर्दू वस्तुतः प्रतीक है अरबी फारसी के भारतीयकरण का यद्यपि इस भारतीयकरण पर अरबी फारसीपन का एक जबरदस्त आवरण चढ़ा रहा है। कुछ भी हो हिन्दी उर्दू के विकास का श्रीगणेश मुसलमानों के ही हाथों हुआ। उर्दू का जन्म उत्तर में उर्दू ए मुअल्ला की भाषा तथा जुबान ए देहलवी जिसमें खड़ी बोली, पंजाबी मारवाड़ी और फारसी के शब्द थे, के रूप में हुआ, किन्तु उसका पालन पोषण दक्षिण में हुआ। निकर का ऐसा मत है कि उत्तर से गये हुए मुसलमानों के साथ खड़ी बोली दक्षिण गयी और उसने वहाँ उर्दू का रूप लिया। उनकी यह मान्यता है कि उर्दू का जन्म उत्तर में न होकर दक्षिण में हुआ है। दक्षिण में उर्दू को प्रोत्साहन एक उस मुस्लिम भाषा के रूप में मिला जो उत्तर से गयी थी और जिसके माध्यम से उत्तर तथा दक्षिण के मुसलमान विचारों का आदान प्रदान कर सकते थे। दक्षिण में दिल्ली मुसलमान उस संख्या में नहीं आते थे जिस संख्या में वे उत्तर में आते थे। दक्षिण में, उत्तर की अपेक्षा, इस्लामी कट्टरता कम थी। इसकारण दक्षिण में उर्दू में वह अरबी फारसीपन नहीं था जो उत्तर में था। दक्षिण की उर्दू में तत्सम शब्दों की अपेक्षाकृत अधिकता थी। यह बात ही हुआ जब बंगाल में भाषा के माध्यम से मुसलमान संस्कृत भाषा के अधिक समीप रहे।

एक मत यह भी है कि उर्दू का जन्म खड़ी बोली में से संस्कृत और हिन्दी के शब्दों को निकाल कर हुआ है। प्रारम्भिक उर्दू में जब तक संस्कृत शब्दों का प्रयोग होता रहा, तब तक उसका नाम हिन्दवी हिन्दी या रेख़्ता रहा। यह कहना कि उर्दू का जन्म खड़ी बोली में से संस्कृत शब्दों को निकाल कर हुआ या हिन्दी का जन्म उर्दू को देवनागरी लिपि में लिखकर और उसमें ठूंस ठूंस कर संस्कृत के तत्सम शब्दों के भरने से हुआ है भारत की ऐतिहासिक प्रक्रिया की सामाजिक पृष्ठभूमि की अवहेलना करना है। वास्तविकता यह है कि जहां, जैसा कि रसखान और रहीम खानखाना की कविता में मिलता है, भारतीय भावों का आख्यान करना कवियों का ध्येय रहा, वे और उनकी भाषा संस्कृत और हिन्दी के अधिक समीप रहे हैं और जहां ध्येय यह था कि भाषा भारत की हो और भाव अरब या फारस के, वहां, कवि चाहे वह हिन्दू हो या मुसलमान, भाव, भाषा, प्रतीक, लक्षणा और व्यंजना अरबी-फारसी के अधिक निकट रहे हैं। इस परिस्थिति के लिए उत्तरदायी हैं वे परिस्थितियां जिनमें उर्दू हिन्दी का जन्म हुआ।

उर्दू का जन्म देने वाली परिस्थितियां कुछ इस प्रकार थीं : भारत में विशेष तथा उत्तरी भारत में, विदेशी मुसलमानों का आना जारी था। ये मुसलमान अधिकतर फारस से आते थे और इस कारण अरबी लिपि तथा अरबी फारसी भाषाओं से वे अधिक परिचित थे। अरबी इस्लाम की भाषा थी अतः उससे हटने का मतलब था इस्लाम से हटना। फारसी उस समूह की भाषा थी जो अपने को भारतीय नहीं मानता था और अन्य मुस्लिम समूहों की अपेक्षा अपने को अधिक सुसंस्कृत मानता था। अतः, उसका अपनी भाषा फारसी में अधिक लगाव था। दूसरी ओर, राजभाषा होने के कारण फारसी अधिक मान्य थी और सूफीवादी विचारों से ओत-प्रोत होने के कारण इसका साहित्य विशेषतया काव्य साहित्य अपेक्षाकृत अधिक आकर्षक था। अतः अरबी-फारसी भारत में इस्लाम का प्रतीक बन गयी और अरबी तथा फारसीपन इस्लाम की आत्मा। उधर, तत्कालीन ऐतिहासिक परिस्थितियों में, अरबी फारसी विशेषतया फारसी के भारतीयकरण की आवश्यकता थी। अतः भारत में उर्दू का जन्म हुआ अरबी फारसी के भारतीयकरण के प्रयास और भारत के मुसलमानों के लिए भाषा के रूप में, किन्तु उर्दू मुसलमानों की उसी प्रकार भाषा न रहा जिस प्रकार फारसी भारत में मुसलमानों की ही भाषा न थी। उसे हिन्दुओं ने भी उतना सवारा जितना कि मुसलमानों ने। फिर भी उर्दू भावों, भाषा प्रतीकों तथा साहित्यिक रूढ़ियों के प्रयोग में उर्दू अरबी-फारसी, विशेषतया फारसी, के अवगुण्ठन से बाहर न निकल पायी। इसी कारण यह कहा गया है कि उर्दू वस्तुतः भारतीयकृत फारसी या फारसीकृत हिन्दी है।

उर्दू हिन्दी की, एक शैली है जिसमें अरबी-फारसीपन का पुट रहा है और जो समय की सामाजिक-ऐतिहासिक परिस्थितियों में दृढ़तर होता रहा है

पहले ही कहा जा चुका है कि हिंदी उर्दू का जन्म लगभग एक साथ हुआ और उनका प्रारम्भिक पालन पोषण मुसलमानों के ही हाथों हुआ। अरबी फारसी के भारतीयकरण की आवश्यकता के कारण ही उर्दू का जन्म हुआ। इसका सबसे बड़ा प्रमाण है प्रारम्भिक उर्दू में संस्कृत शब्दों का अपेक्षाकृत अधिक होना। अकबर के बाद ज्यों ज्यों इस्लामी कट्टरता बढ़ती गयी उर्दू में अरबी फारसीपन बढ़ता गया। शाहजहां के ही राज्यकाल में अरबी लिपि में लिखी जाने वाली भाषा शैली को उर्दू की संज्ञा प्रदान की गयी। औरंगजेब के राज्यकाल में, इस्लामी कट्टरता के प्रभाव में अरबी-फारसी भाषायें इस्लाम का प्रतीक बन गईं और उर्दू पर उनका प्रभाव पड़ा। सम्भवतः इसी कट्टरता के विरुद्ध होने वाली प्रतिक्रिया के कारण, शिवाजी ने तत्कालीन प्रशासन में प्रयुक्त होने वाले फारसी के शब्दों के संस्कृत पर्यायों का संग्रह करवाया था[1]। एक समय वह था जब अलाउद्दीन खिलजी ने हिंदी बोली के दैनिक प्रयोग में आने वाले शब्दों के अरबी फारसी पर्यायों का संग्रह करवाया था और उसके लगभग पांच सौ वर्षों बाद शिवाजी ने दैनिक प्रशासन में प्रयोग होने वाले फारसी के शब्दों के संस्कृत पर्यायों का संग्रह करवाया था। अलाउद्दीन खिलजी और शिवाजी के कार्य परस्पर विरोधी से जान पड़ते हैं यद्यपि दोनों के प्रयासों का उद्गम है अरबी-फारसी को भारतीयकृत करने की प्रेरणा में। अलाउद्दीन खिलजी और शिवाजी के प्रयास इस बात का भी प्रतीक हैं कि अरबी फारसी और संस्कृत को प्रोत्साहन देने वाले थे अभिजात वर्ग के लोग जो एक ओर हिंदू थे और दूसरी ओर मुसलमान। सारे मध्ययुग में हिंदू और मुस्लिम अभिजात वर्गों में कभी नहीं बनी क्योंकि ये राजनैतिक सत्ता के लिए बराबर संघर्ष करते रहे। इनमें से एक का प्रेरणास्रोत था इस्लाम और उसका प्रतीक अरबी फारसीपन और दूसरे का हिंदुत्व तथा संस्कृत। एक की प्रेरणाओं का उद्गम था अरब और ईरान में और दूसरे का भारत की भूमि से उत्पन्न हिंदू संस्कृति में। ऐसी दशा में उर्दू को मुस्लिम तथा इस्लाम से सम्बन्धित किया गया और हिंदी को हिंदू तथा हिंदुत्व से।

उर्दू को इस्लामी कट्टरता तथा फारसीपन में रंगने का श्रेय मुस्लिम अभिजात वर्ग को ही है। प्रारम्भ से ही मुस्लिम अभिजात वर्ग को अपने अस्तित्व के लिये लड़ना पड़ा है। भारतीय सामाजिक संगठन में मुस्लिम अभिजात वर्ग का विरोध करते हुये हिंदू अभिजात वर्ग को भी अपने अस्तित्व और संरक्षण के लिये संघर्ष करना पड़ा है। मुस्लिम राज्य काल में यह संरक्षण राज्य से प्राप्त था और राज्य संरक्षण प्राप्त करने का मुख्य माध्यम था उनकी साहित्यिकता। किंतु भारत में अंग्रेजी राज्य की स्थापना के साथ-साथ भारत में अंग्रेज अभिजात तथा प्रशासक वर्ग का अभ्युदय

1 सरकार, विनयकुमार दि पाजिटिव बैकग्राउंड आफ हिंदू सोशियालोजी पृष्ठ ७०४-०

हुआ। मुस्लिम अभिजात तथा प्रशासक वर्ग के हाथ में राजनैतिक प्रशासन की जो सत्ता थी उसे अंग्रेज अभिजात तथा प्रशासक वर्ग ने हथिया लिया। शासन के विशेषीकृत कार्य और दफ्तर का व्यापार हिन्दू अभिजात वर्ग के हाथ में रहा। अतएव, अंग्रेजों के राजनैतिक प्रभुत्व की स्थापना होने के साथ साथ, हिन्दू अभिजात वर्ग को आगे बढ़ने का मौका मिला, क्योंकि शासन के जिन पदों पर हिन्दू थे वे हिन्दुओं के ही पास रहे और जिन पदों पर मुसलमान थे वे अंग्रेजों के हाथ में चले गये। इसका परिणाम यह हुआ कि मुस्लिम अभिजात वर्ग को अपना अस्तित्व खतरे में दिखाई पड़ा और इस भय तथा नैराश्य से जो विशिष्टता उभरी वह मजहबी कट्टरता और भाषा के अरबी फारसीकरण पर टिक गयी। सरकारी नौकरियों को पाने के लिए उठी स्पर्धा प्रतिद्वन्द्विता, इस्लाम और हिन्दुत्व तथा हिन्दी और उर्दू के संघर्ष तथा वाद विवाद में प्रस्फुटित हो उठी। अंग्रेजी राज्यकाल का शान्तिमय काल आते आते हिन्दू सरकारी नौकरियों में आगे बढ़ गये, शिक्षा में वे मुसलमानों को पीछे छोड़ गये और व्यापार तो पहले ही उनके हाथ में था। इससे मुसलमानों में अंग्रेजों के प्रति बहिष्कार तथा हिन्दुओं के प्रति विद्वेष का भाव आया जो हिन्दू तथा हिन्दी विरोधी विचारों और आन्दोलन में बदल गया।

इस बात के अनेक प्रमाण मिलते हैं कि किस प्रकार अंग्रेजी शासनकाल में मुस्लिम अभिजात वर्ग ने अपने लिए विशेषाधिकारों की मांग की, अपने को अलग रखने का प्रयत्न किया और इसमें सफलता न मिलने पर हिन्दू तथा हिन्दी विरोधी नारों को बुलन्द किया। अंग्रेजी राज्य की स्थापना के पहले, अरबी फारसी और संस्कृत स्कूल अलग-अलग थे, जिनमें उच्च तथा मध्य वर्ग के लोग ही शिक्षा पाते थे। हिन्दू संस्कृत तथा अरबी फारसी पढ़ते थे और मुसलमान अधिकतर अरबी फारसी। संस्कृत की शिक्षा हिन्दू पण्डितों द्वारा दी जाती थी और अरबी फारसी की शिक्षा मौलवियों या अरबी फारसी जानने वाले हिन्दुओं के द्वारा। जब अंग्रेजों ने जन-साधारण के लिए स्कूल खोले तो उनका अधिक विरोध उच्चवर्गी मुसलमानों ने ही किया। सन अठारह सौ बयासी में शिक्षा कमीशन के समक्ष गवाही देते हुए बंगाल के अब्दुल लतीफ ने इस बात पर जोर दिया कि बंगाल के उच्च तथा मध्य वर्गी मुसल-मानों के लिए एक अलग शिक्षा पद्धति की आवश्यकता है क्योंकि इन वर्गों के मुसल-मान बंगाल के बाहर से आए हुए अभिजात वर्ग के मुसलमान हैं। सन अठारह सौ एक्यानबे में, सर सैयद अहमद ने इस बात पर जोर दिया कि सरकारी नौकरियों में जनसाधारण को, चाहे वे हिन्दू हों या मुसलमान न लिया जाय। सर सैयद ने कांग्रेस का विरोध किया और इस विचार का विरोध किया कि भारत एक राष्ट्र है। बंगाल के मोहम्मडन एसोसिएशन ने मुसलमानों के लिए सरकारी नौकरियों को आरक्षित रखने की मांग की और प्रतियोगिता के आधार पर नौकरियां देने का विरोध किया। मुस्लिम अभिजात वर्ग की इसी मांग के प्रवाह में हिन्दू मुस्लिम तथा हिन्दी-उर्दू को

समस्याओं का जन्म हुआ और इस्लाम तथा उर्दू पर अरबी फारसी की कट्टरता का और भी गहरा रंग चढ़ गया।

जब अंग्रेजी राज्य की स्थापना हुई तो सारे उत्तरी भारत में उर्दू राज्य भाषा थी, जिसे अंग्रेजों ने बनाए रखा। सन अठारह सौ तिहत्तर में, बिहार में हिन्दी को भी राज्य भाषा मान लिया गया किन्तु उसका हिन्दू तथा मुसलमान दोनों ने विरोध किया। सन अठारह सौ अठत्तर में जब यू०पी० में उर्दू को अनिवार्य द्वितीय भाषा का रूप दिया गया तो हिन्दुओं ने इसका विरोध किया। उधर बंगाल में अंग्रेजी राज्य का प्रारम्भ होने के बाद से ही, बंगाल का मुस्लिम अभिजात वर्ग अपने लिए विशेषाधिकारों की माँग कर रहा था जिसके फलस्वरूप यह प्रश्न उठ खड़ा हुआ कि बंगला में संस्कृत के शब्दों का प्रयोग हो या फारसी के शब्दों का। सन अठारह सौ तिरासी में, जब यह राजाज्ञा निकली कि देवनागरी लिपि का ही प्रयोग किया जाय तो मुसलमानों ने इसका विरोध किया और इस प्रकार उन्नीसवीं शताब्दी के उत्तरार्द्ध से हिन्दी उर्दू की समस्या जोर पकड़ गयी। आर्य समाज के अभ्युदय के साथ साथ, हिन्दी उर्दू की समस्या पंजाब में भी उठ खड़ी हुयी। मुसलमान राजनैतिक विशेषाधिकार के इतने पीछे थे कि उन्होंने अपने को धर्म और भाषा के नाम पर एक अलग राष्ट्र समझा। ज्यों ज्यों हिन्दू मुस्लिम समस्या जोर पकड़ती गयी, उर्दू पर इस्लामी कट्टरता का प्रभाव बढ़ता गया और उर्दू को हिन्दी से अलग एक भाषा माना जाने लगा। इस प्रकार तो संघर्ष में एक ओर भारतीय समाज धर्म के नाम पर लम्बवत विभाजित हो गया तो दूसरी ओर हिन्दी के ही एक रूप पर अरबी फारसी का जामा चढ़ता गया[1]।

७

मुस्लिम कला और साहित्य का भारतीयकरण

मध्य युगीन भारत के कला और साहित्य में भी भाषा की भांति, एक ओर, अरबी फारसीपन का प्रभाव रहा तो दूसरी ओर, अरबी फारसीपन के भारतीयकरण की प्रक्रिया भी चलती रही। मुगल राज्य की स्थापना के पहले के मुस्लिम काल में

1 स्वयं मुसलमानों में ही अरबी फारसीकरण तथा भारतीयकरण को लेकर एक नया आत्मविरोध उत्पन्न हो गया। कहाँ रहीम का यह कहना कि 'चित्रकूट में रमि रहे, रहिमन अवधनरेश, जा पर विपदा पड़त है सो आवत यहि देश' या हाफिज जालंधरी का यह कहना कि 'भारत माता है दुखियारी, दुखियारे हैं सब नर नारी तू ही उठाले मुरली सुन्दर, तू ही बन जा श्याम मुरारी' और कहाँ सौदा का यह कहना कि 'गर हो कशिशे शाहे खुरासान तो सौदा सिजदा न करूँ हिन्द की नापाक जमीं पर'।

हिन्दू-वास्तुकला पर इस्लामी प्रभाव के प्रमाण नहीं मिलते हैं। इस काल के हिन्दू-मन्दिर और इमारतें हिन्दू शिल्पशास्त्र की परम्पराओं के ही अनुसार बनते रहे। सन बारह सौ पचासी में बने हुए कोणार्क के सूर्य मन्दिर और उदयपुर के चित्तौरगढ़ पर नाममात्र भी इस्लामी प्रभाव नहीं है। के० एम० पानिक्कर की मान्यता में, इस काल में भारतीय मुस्लिम तथा हिन्दू शैलियाँ अलग-अलग विकसित होती रहीं[1]। आगे चलकर, मुगलकाल में, भारत की वास्तुकला पर मुस्लिम ईरानी प्रभाव बढ़ा। किन्तु इसका यह तात्पर्य नहीं कि भारत में हिन्दू वास्तुविद्या का लोप हो गया। विनयकुमार सरकार के अनुसार अधिकतर शिल्पशास्त्रों की रचना सत्रहवीं और अठारहवीं शताब्दियों में हुयी है। मुसलमानों ने भारत में जिस वास्तुकला का निर्माण किया उसका मुख्य आधार भारतीय था किन्तु उसकी सजावट ईरानी थी।

चित्रकला में भी अधिकतर धारणायें परम्परागत थीं यद्यपि उनके चित्रित करने के तरीके ईरानी थे। भारतीय और ईरानी चित्रकलाओं के समावेश से, अनेक सम्प्रदाय अस्तित्व में आए। संगीत में एक ओर शास्त्रीय संगीत की प्रणाली चलती रही और दूसरी ओर ईरानी तथा भारतीय संगीत के समावेश से कई राग रागनियों का उद्भव हुआ। इस्लाम में संगीत का निषेध है किन्तु सूफियों ने उसे साधना का एक माध्यम माना। संगीत का धार्मिक निषेध होने पर भी इस काल में, मुसलमानों ने संगीत साधना में कुशलता प्राप्त की और उसके कलात्मक कोष को अक्षुण्ण बनाए रखा। मुसलमानों ने भी शास्त्रीय संगीत की शास्त्रीयता और उसके भाव तथा भाषा को वैसे ही अपनाया जैसे वे उन्हें हिन्दुओं में मिले थे। दूसरी ओर, ईरानी और भारतीय संगीत के समन्वय से ख्याल, कौवाली और गजल इत्यादि राग और छन्द निकले। कौवाली और गजल में फारसी भावों को रागबद्ध करने की परम्परा बनी और शास्त्रीय संगीत में परम्परागत हिन्दू भावों की। एक ओर, रबाब, सरोद, दिलरुबा और ताउस जैसे वाद्ययन्त्र मुसलमानों से आए तो दूसरी ओर, वीणा और मृदंग भी चलते रहे। मुसलमानों ने वीणा और मृदंग को भी वैसे ही अपनाया जैसे उन्हें हिन्दुओं ने अपनाया था। वीणा के आधार पर, मुसलमानों ने सितार का आविष्कार किया और मृदंग के आधार पर तबले का। एक ओर शास्त्रीय नृत्य और उसके प्रकारों की परम्परा चलती रही तो दूसरी ओर महफिलों में होने वाले नृत्य की परम्परा अस्तित्व में आई। कलाओं के क्षेत्र में एक ओर, शास्त्रीय परम्परा चल रही थी तो दूसरी ओर शास्त्रीयता पर आधारित भारतीय मुस्लिम परम्परा जिसमें यहाँ हिन्दू प्रभाव अधिक था और कहीं अरबी अथवा ईरानीपन का। जैसा कि विनयकुमार सरकार ने वास्तुकला तथा चित्रकला के बारे में कहा है साधारणतया, सम्पूर्ण कलाओं के विषय में यह कहा जा सकता है कि अरबी और ईरानी प्रभावों का आगमन होने पर भी पहले विशुद्ध हिन्दू विचारधारा, मान्यतायें और परम्परायें यथावत् चली आती हैं[2]।

1 पानिक्कर, के० एम० सर्वे आफ इण्डियन हिस्ट्री पृष्ठ 124
2 सरकार, विनयकुमार वही पृष्ठ 47-77

चौदहवाँ अध्याय

इस्लामी सघात से हिन्दू-सस्कृतिकरण

भारत मे इस्लाम और हिन्दुत्व का सम्पर्क दो प्रबल ऐतिहासिक सभ्यता सम्पन्न सास्कृतिक धाराओ का सम्पर्क है—वे धारायें जिनमे आत्मीकरण की क्षमता रही है। अपने ऐतिहासिक विकास मे, दोनो, अलग अलग सामन्ता सरचनाओ से सन्निहित होने के कारण, एक ओर, समानान्तर रही और, दूसरी ओर, परस्पर सपर्क मे आने पर भी, अपना-अपना सस्कृतिकरण करती रही। जैसा कि पिछले वर्णन और विश्लेषण से स्पष्ट है भारतीय इस्लाम मे हिन्दुत्व के सम्पर्क से सस्कृतिकरण की दो प्रक्रियाओ का साथ साथ जन्म हुआ—एक अरबीवादी तथा पुनरन्वयनवादी साम्स्कृतिक कट्टरता की और दूसरी इस्लाम मे भारतीयकरण का जिस पर हिन्दुत्व (आगम निगम) की छाप है। इस्लाम मे भारतीयता का प्रस्फुटन धरातल से हुआ है। इसी प्रकार हिन्दुत्व मे भी दो प्रक्रियायें चली हैं—एक, साम्स्कृतिक कट्टरता और पुनरन्वयन की और दूसरी इस्लामी प्रभावो का आत्मसात करते हुए हिन्दुत्व मे इस्लामी सस्करणो को जन्म देने की। हिन्दुत्व मे भी इस्लामी सस्करणो का प्रस्फुटन धरातल से ही हुआ है। हिन्दुत्व और इस्लाम के सम्पर्क से भारत मे सस्कृतिकरण की जो प्रक्रिया उत्पन्न हुई उसकी चार धारायें हैं—एक, इस्लामी अरबीवाद, पुनरन्वयन और कट्टरता की

दूसरी, इस्लाम के भारतीयकरण की, तीसरी हिन्दू पुनरुन्नयन और कट्टरता की, और, चौथी, हिन्दुत्व में उत्पन्न होने वाले इस्लामी सांस्कृतिक सम्प्रेरणा की।

दूसरी और चौथी प्रक्रियाओं के स्तर पर, हिन्दुत्व और इस्लाम का समन्वय हुआ है, जिसका एक रूप है इस्लाम में हिन्दुत्व के समन्वय का, और दूसरा, हिन्दुत्व में इस्लाम के समन्वय का। अतः, इस समन्वय से कोई एक भारतीय सांस्कृतिक-संस्करण न निकल सका क्योंकि हिन्दुत्व और इस्लाम साथ ही साथ कट्टर पुनरुन्नयनवादी भी रहे हैं। राजनैतिक प्रभुता से सम्पन्न इस्लाम से त्राण पाने के लिए, हिन्दुत्व ने उद्-विकासी पुनरुन्नयन का आश्रय लिया जिससे हिन्दुत्व के ऐतिहासिक उद्विकास की शृंखला में शास्त्रीय दर्शन, भक्ति-आन्दोलन और पंथ-परम्परा के रूप में अनेक कड़ियाँ जुड़ती चली गई। इस्लाम की उत्प्रेरणा से मध्ययुगीन भारत में हिन्दुत्व का पुनरुन्नयनवादी विकास हुआ। ताराचन्द जैसे इतिहासकार इस पुनरुन्नयन को हिन्दुत्व में इस्लाम की प्रतिकृति मानते हैं और विनयकुमार सरकार जैसे विद्वान हिन्दुत्व का सतत उद्विकास। किन्तु ये दोनों दृष्टिकोण एकांगी हैं। उत्प्रेरक की प्रतिकृति नहीं हो सकती विशेषतया वहाँ जहाँ पराजित संस्कृति अपने में अन्तर्निहित स्रोतों के पुनरुन्नयन का आश्रय लेती है। पुनरुन्नयनवादी उद्विकास बिना पराजित अवस्था और उत्प्रेरणा के नहीं हो सकता। यह भी नहीं कहा जा सकता कि मध्ययुगीन हिन्दुत्व का सारा विकास पुनरुन्नयनवादी ही है क्योंकि ऐसी मान्यता का अर्थ होगा कि इस काल का हिन्दुत्व एक आवृत संस्कृति रहा है। सारी समस्या तब हल होती हुई जान पड़ती है जब सांस्कृतिक सम्पर्क की परिस्थिति, सत्यात्मकता, पुनरुन्नयन और उद्विकास पर एक साथ ध्यान दिया जाय। सारा प्रश्न इस्लाम बनाम हिन्दुत्व का नहीं है। प्रश्न है हिन्दुत्व और इस्लाम के सम्पर्क से उत्पन्न परिस्थिति में, हिन्दुत्व में आविर्भूत संस्कृतिकरण की प्रक्रिया के योगदानों के विश्लेषण का।

२

हिन्दू-संस्कृति में कुछ इस्लामी योगदान

वेशभूषा में अचकन और पाजामा, अंगराग में इत्र और सुरमा, हिन्दू व्यंजनों में मुगलिया के पुलाव और बिरियानी और मसालेदार व्यंजनों के बनाने की कला का हिन्दू-संस्कृति में समावेश हुआ। मुस्लिम बादशाहों की वेशभूषा पर आधारित वेशभूषा को हिन्दुओं में आनुष्ठानिक समादर मिला। अवध में वर की पोशाक (कामदार जूते के साथ जामा और मौर) मुगल बादशाहों की पोशाक की नकल सी लगती है। मध्यकालीन मनोरंजन के साधनों में शतरंज, चौगान और गंजीफा मुगल शासकों के मानशान हैं। हिन्दुओं का चौसर का खेल मुसलमानों में पच्चीसी हो गया।

अक्षांश तथा देशांतर की धारणायें, तमपत्री बनाने की ताजक पद्धति ताजक और रमलशास्त्र भारतीय ज्योतिष में मुसलमानों के योगदान हैं। अरबी-पद्धति के आधार पर, महाराजा जयसिंह ने हिन्दू पंचांग का सुधार करके दिल्ली तथा जयपुर की वेध शालाओं का निर्माण कराया।

हिन्दुओं में परदे की प्रथा का श्रीगणेश पठानों के प्रभाव के कारण हुआ। इस विषय में दो सम्भावनायें हैं। या तो हिन्दुओं ने परदा प्रथा को मुसलमानों से यथावत लिया है या मुसलमानों से हिन्दू नारियों की रक्षा करने के लिए परदा प्रथा को अपनाया। यामीन के अनुसार तत्कालीन मुसलमानों में नारी अपहरण एक उच्च प्रकार का जिहाद माना जाता था और इस अपराध में दण्डित व्यक्ति को प्रेम का शहीद समझा जाता था[1]। हो सकता है कि इस जिहाद से त्राण पाने के लिए ही हिन्दुओं में परदा प्रथा का श्रीगणेश हुआ हो। इस सन्दर्भ में एक विचारणीय तथ्य यह है कि परदा प्रथा उच्चवर्णी हिन्दुओं में ही पायी जाती है और वह भी उत्तर में। परदा प्रथा, इस कारण हिन्दुओं में सामाजिक प्रतिष्ठा की प्रतीक मानी जाती है। जो जातियाँ उच्च सामाजिक स्तर पाने का प्रयास करती हैं वे ब्राह्मणों के कर्मकाण्ड के साथ, परदा प्रथा को भी अपनाती है। अतः, हो सकता है कि उच्चवर्णी हिन्दुओं ने, सामाजिक प्रतिष्ठा के प्रतीक के रूप में परदा प्रथा को अपनाया हो।

३

साहित्य में इस्लामी उत्प्रेरणा

मध्ययुगीन भारत के साहित्य में अनेक विशेषतायें एक साथ उभड़ पड़ी जिन्हें साधारणतया इस्लाम की उत्प्रेरणा का परिणाम माना जाता है यद्यपि इन विशेषताओं में शायद ही कोई ऐसी विशेषता हो जो पहले से विद्यमान न हो या जिसे इस्लाम से हिन्दुओं ने ग्रहण करके न अपनाया गया हो। इस्लामी उत्प्रेरणा के प्रभाव में भारतीय साहित्य की अनेक सुप्त या गौण विशेषतायें पुनः जाग्रत हुयी या प्राधान्य पा गयीं। सूफी विचारधारा की उत्प्रेरणा से विरहानुभूति की अभिव्यक्ति तीव्रतर हो गयी और इहलौकिकता को प्रधानता मिली। यह सूफीवाद का ही प्रभाव है कि हिन्दी साहित्य की एक परम्परा में जिसके प्रणेता सन्त महात्मा हैं, मृत्यु को काम्य और विकास की सीढ़ी माना जाने लगा। सूफीयों की इश्क मजाजी की धारणा ने पार्थिव प्रेम की अभिव्यक्तियों को प्रोत्साहन दिया तो इश्क हकीकी की धारणा ने सगुण के प्रति रहस्यवादी अनुभूति की अभिव्यक्ति की। पार्थिव तथा रहस्यवादी

1 यासीन मोहम्मद वही पृष्ठ 132

प्रेम, जिसका मूल स्रोत योग है, की अभिव्यक्ति की इन्हीं परम्पराओं ने, आगे चलकर, अंग्रेजी काल में पलायनवादी मनोवृत्ति के प्रभाव में छायावादी और रहस्यवादी अभिव्यक्ति की परम्पराओं को जन्म दिया। किन्तु हमारे कि कबीर की अभिव्यक्तियों से स्पष्ट है सूफीवादी अभिव्यक्तियों का दर्शन, योग और अन्य भारतीय अभिव्यक्तियों में स्पष्ट कर प्रस्तुत किया गया। कबीर ने ईश्वर को पति और अपने को बहुरिया माना है यद्यपि भारतीय परम्परा में, प्रेम की प्रतीकात्मक अभिव्यक्ति नारी की माना गया है[1]। कबीर ने सूफियों की 'फना' की अनुभूति को यौगिक की अनुभूति में व्यक्त किया है क्योंकि उनके लिए फना की स्थिति वह स्थिति है जहाँ न व्यक्ति है, न ईश्वर न आत्मा और न परमात्मा—वहाँ केवल आग के अंगारों के समान ज्ञान-पुञ्ज की ज्योति रहती है[2] जिसमें केवल 'सोऽहम्' रह जाता है वैसे ही जैसे तप में स्नान का विकार नष्ट हो जाता है और केवल खरा सोना ही शेष जाता है यह हठयोग का सूफीवाद पर अमिट आवरण है जिसके प्रभाव में सूफीवाद, सूफीवाद न रहकर हठयोग और वेदान्त हो गया है।

मध्ययुगीन भारतीय साहित्य विशेषतया हिन्दी और बंगला साहित्य, में शृंगार की जो अतिशयता बढ़ी उसे किसी भी दशा में इस्लामी प्रभाव का एकमात्र परिणाम नहीं माना जा सकता है। भारत के साहित्य में इस्लाम के प्रभावों के प्रवेश के पहले शृंगारिक अभिव्यक्तियों की परम्परायें थीं जो कालिदास, जयदेव और पण्डितराज जगन्नाथ की रचनाओं में विद्यमान हैं। शृंगारिक अभिव्यक्ति की ये परम्परायें इहलौकिक भी हैं और पारलौकिक भी। वास्तव में, इनकी इहलौकिकता पर पारलौकिकता का आवरण चढ़ा हुआ है। कुछ लोगों की यह भी मान्यता है कि शृंगारिक अभिव्यक्ति की ये परम्परायें संस्कृत-साहित्य में पण्डितराज जगन्नाथ की रचनाओं के माध्यम से, हिन्दी के रीतिकालीन साहित्य में आ गयीं। इस कथन की पुष्टि इस तथ्य से होती है कि हिन्दी के रीतिकालीन साहित्य में शृंगारिक अभिव्यक्ति की जिन रूढ़ियों का प्रयोग किया गया है वे किसी भी दशा में न तो अरबी कही जा सकती हैं और न ईरानी। वे विशुद्ध भारतीय हैं और उनमें काव्य शास्त्र

---

1 यह परम्परा वर्तमान काल तक चलती रही है। पन्त ने अपनी कविताओं में अपने को स्त्री मानकर ही उस विराट की प्रकृति में अनुभूति की है (देखिए पल्लव में मौन निमन्त्रण)। अपनी रहस्यवादी अनुभूतियों की अभिव्यक्ति में प्रसाद ने भी इसी परम्परा को अपनाया है जैसे 'शशि मुख पर घूँघट डाले अंचल में दीप छिपाए, जीवन की गोधूली में कौतूहल से तुम आए,' (आँसू)।

2 आगि लगी आकास में झरि झरि परत अंगार।
कबिरा जरि कंचन भया काँच भया संसार।

में निर्धारित रूढ़ियों के साथ साथ लोक रूढ़ियों का प्रयोग हुआ है[1]। इस काल में हिन्दी और बंगला में प्रस्फुटित होने वाली शृंगारिक अतिशयता के तीन स्रोत हैं—भागवत पुराण सिद्धों का वामाचार तथा वज्रवाद और सूफीवाद। हिन्दी और बंगला साहित्य में अतिशय शृंगारिकता लाने में इस्लाम का वहां तक प्रभाव है जहां तक सूफीवाद के माध्यम से उसने एक उत्प्रेरणा का काम किया और जिसके फलस्वरूप तत्कालीन भारतीय साहित्य में शृंगारिक अभिव्यक्ति की परम्परा सम्पन्न होकर आयी। इहलौकिक और प्रवृत्तिवादी होने के कारण इस्लाम ने मुसलमानों में इहलौकिक और प्रवृत्तिवादी मनोवृत्ति को प्रोत्साहित किया जिसके फलस्वरूप पारलौकिकता में परिवेष्टित भारत की पारलौकिक शृंगारिक अभिव्यक्ति की परम्पराओं को मुसलमानों ने इहलौकिकता की ओर मोड़ दिया और उसे इश्कमजाजी (इहलौकिक प्रेम) के अतिशय पुट से भर दिया। हिन्दी भाषा की भांति हिन्दी-साहित्य की प्रारम्भिक शृंगारिक अभिव्यक्ति का लालन पालन मुसलमानों के ही द्वारा हुआ। नायिका भेद पर प्रथम पुस्तक रहीम ने लिखा और सबसे अधिक नायिका भेद सवैये गुलामनबी रसलीन ने ही बताए हैं।

यह इस्लाम के उत्प्रेरक प्रभाव का ही परिणाम है कि हिन्दी साहित्य में एक साथ अनेक भाव धारायें फूट निकलीं। एक धारा है इहलौकिक आनन्द के अभिव्यक्ति की जिसके प्रतिनिधि खुसरो और रसलीन हैं—दूसरी धारा है रहीम आलम

---

1 उदाहरण के लिए देखिए बिहारी के ये दोहे —

> आजु मिले सो भली करी भले बन हौ लाल।
> पलन पीक अंजन अधर धरे महाउर भाल॥
> और
> नहिं पराग नहिं मधुर रस नहिं विकास यहि काल।
> अली कली ही सों बंध्यो आगे कौन हवाल।

पहले दोहे में लाल सम्बोधन है श्री कृष्ण के लिए और उनके पलकों पर पीक अधरों पर अंजन और भाल पर महाउर होने की अभिव्यक्ति भारतीय शृंगारिक साहित्य की रूढ़ि है। उसी प्रकार दूसरे दोहे में अली और कली का सम्बन्ध भी भारतीय साहित्य की रूढ़ि है। भारतीय साहित्य में पुष्प और भौंरे के प्रेम को एक आलम्बन रूढ़ि के रूप में प्रयोग किया गया है। ईरानी साहित्य में यही अभिव्यक्ति बुलबुल और गुलाब के आलम्बन से व्यक्त की गयी है जिसका हिन्दी की अपेक्षा उर्दू में अधिक प्रयोग किया गया है—दिनकर

2 गोरी सोवे सेज पर, मुख पर डारे केस।
चल खुसरो घर अपनो, रैन भई सब देस। खुसरो
अमी हलाहल मद भरे श्वेत श्याम रतनार।
जियत मरत झुकि झुकि परत जिहि चितवत इकबार। रसलीन

और रसखान के विरहानुभूति की[1], तीसरी है मानवतावादी निर्गुनिया सन्तों की धारा जिसके प्रतिनिधि हैं कबीर, दादू और नानक और चौथी है प्रेमाख्यान पर प्रबन्ध काव्य लिखने वाले जायसी जैसे कवियों की। इन कवियों में अरबी फारसी के भावों की अभिव्यक्ति नहीं हुयी है। इनका कविरूप और कवित्व अरबी फारसी के भावों में नहीं है। इनके द्वारा प्रयोग में लाये जाने वाले छन्द, आलम्बन, उद्दीपन और विषय वस्तु की अभिव्यंजना के स्थान भारतीय परम्पराओं में हैं। जायसी सूफी कवि हैं पर उनका प्रेमाख्यान भारतीय है और उन्होंने चौपाई और दोहे का उसी प्रकार प्रयोग किया है जिस प्रकार तुलसीदास ने किया है। मत प्रचार के लिये प्रेमाख्यानक लिखने की परिपाटी जायसी से पहले जैन कवियों में मिलती है। रसखान का श्रीकृष्ण प्रेम प्रसिद्ध है और श्रीकृष्ण को उन्होंने विरह और शृंगार की अभिव्यक्ति का आलम्बन बनाया है। रहीम ने हिन्दुओं की पौराणिक कथाओं के माध्यम से अपने विचारों की अभिव्यक्ति की है[2]। निर्गुनिया सन्तों पर, सूफीवाद के साथ साथ, भारतीय परम्पराओं की जबरदस्त छाप है। इस दिशा में विशेष विचारणीय तथ्य यह है कि ये सभी कवि प्रेम और विरह की अनुभूति से सराबोर हैं जो सूफीवाद के उत्प्रेरक प्रभाव का परिणाम है। सम्भवतः यह इसी प्रभाव का परिणाम है कि मध्ययुगीन भारत के साहित्य में विशेषतया हिन्दी में एक सतत अभिलाषा के रूप में, अतएव प्रेमानुभूति न रह कर विरहानुभूति का प्राधान्य हो गया। अतएव प्रेमानुभूति से उत्पन्न विरहानुभूति और उससे उत्पन्न एक सतत अभिलाषा की कवित्वमय अभिव्यक्ति ही रोमांटिक काव्य परम्परा है जिसका हिन्दी में श्रीगणेश सूफीवाद के प्रभावों से हुआ और जो, आगे चलकर, वर्तमान काल में, छायावादी रहस्यवादी और प्रयोगवादी अभिव्यक्तियों में प्रस्फुटित हुआ।

हिन्दी तथा बंगला में जहाँ, एक ओर शृंगारिकता घनी बनी, दूसरी ओर, उनमें तथा भारत की अन्य वर्तमान भाषाओं में मानवतावादी अभिव्यक्तियों की बाढ़ सी आ गयी। इन मानवतावादी अभिव्यक्तियों में जाति-पाँति का खंडन किया गया, हिन्दुत्व और इस्लाम की कट्टरवादिता की भर्त्सना की गयी, एकेश्वरवाद की

---

1 मनसिज माली की उपज कहि रहीम नहिं जाय।
फल स्यामा के उर लगे, फूल स्याम उर आय॥ रहीम
जा थल कीन्हें बिहार अनेकन ता थल काँकरी बैठि चुन्यो करें।
जा रसना सों करी बहु बातन ता रसना सों चरित्र गुन्यो करें।
आलम जौन से कुंजन में करि केलि तहाँ अब सीस धुन्यो करें।
नैनन में जे सदा रहते तिनकी अब कान कहानी सुन्यो करें। आलम

2 कमला थिर न रहीम कहि, यह जानत सब कोय।
पुरुष पुरातन की बधू क्यों न चंचला होय॥

विचारधारा का पुनर्सस्थापन किया गया और भक्ति मार्ग से ईश्वर तक पहुँचने पर जोर दिया गया। इन मानवतावादी अभिव्यक्तियों में उसी आदर्श की लहरें उद्वेलित हो उठीं, जिसको श्रीगणेश वैदिककाल में ही हो गया था किन्तु जिसे महात्मा बुद्ध ने प्रखरता प्रदान की थी। इन मानवतावादी अभिव्यक्तियों के प्रणेता थे संत कवि जिनका जन्म जाति संरचना के निम्नतम स्तरों में हुआ था। तमिल में वामन, मराठी में ज्ञानेश्वर, नामदेव और तुकाराम, बंगाल में चैतन्य, पंजाब में नानक और हिन्दी में कबीर, दादू और रैदास इत्यादि संत कवि इन अभिव्यक्तियों के प्रणेता हैं। इन्होंने मानव मात्र की समता पर जोर दिया। ईश्वर को दया का आगार माना और इस बात पर जोर दिया कि ईश्वर तक सभी पहुँच सकते हैं। उपनिषदों में प्रतिपादित ज्ञान-मार्ग के स्थान पर उन्होंने भक्ति मार्ग पर जोर दिया है। मानवतावादी अभिव्यक्तियों के प्रणेता संत कवियों ने जाति तथा वर्ण व्यवस्था के विरुद्ध क्रांतिकारी विचारों पर जोर दिया और हिन्दू समाज का बदला रूप देने की माँग की जो इस्लाम में मिलता था है। इस काल के निर्गुनिया संत-कवियों द्वारा पदों का सग्रह इस तथ्य का प्रमाण है।

ये मानवतावादी कवि वस्तुतः उस सामाजिक क्रांति के प्रणेता थे जिसके तत्व हिंदुत्व में विद्यमान थे किन्तु उन तत्वों को एक साथ उभारने वाली उत्प्रेरणायें इस्लाम में थीं। जैसा कि पहले कहा जा चुका है इस्लाम के सम्पर्क ने हिन्दुत्व में दो प्रकार की प्रतिक्रियाओं को जन्म दिया—एक, समन्वय का और दूसरी समन्वय के साथ साथ पुनर्गठन, पुनर्स्थापन और सुधार की। इस्लाम एक ऐतिहासिक प्रवाह था, किन्तु हिंदुत्व एक समन्वयकारी और बार बार पुनर्गठित और संस्थापित होने वाली ऐतिहासिक सामाजिक-सांस्कृतिक प्रक्रिया। इस्लाम का प्रगतिवादी प्रवाह निहित था उसकी समता की भावना, निराकारी एकेश्वरवादिता और सरलता में। इस्लाम का मानववादिता ही उसकी शक्ति थी। यह भी कहा जा चुका है कि इस्लाम का सबसे अधिक प्रभाव हो रहा था हिन्दू समाज के निम्नस्तरों में। सम्भवतः यही कारण है कि हिन्दू समाज के निम्न स्तरों से ही समता, निराकारी एकेश्वरवादिता, भक्ति मार्ग और मानववादिता की माँग आयी। इसी स्तर पर यह विचार पनपा कि न कोई उच्च है न निम्न, न कोई ब्राह्मण है न शूद्र, न कोई हिन्दू है न मुसलमान (यदि हैं भी तो वे एक हैं) और अल्ला तथा राम एक हैं—वे निराकार में समाये हुये हैं। प्रेम ही ज्ञान का मार्ग है।

४

भक्ति आन्दोलन : सामाजिक-सांस्कृतिक आधार

भक्ति तथा प्रपत्ति की धारणा हिन्दुत्व में पहले से विद्यमान थी। गीताकार ने कर्म, ज्ञान और भक्ति का समाहार समत्व, निष्कामता और अविकल्प निश्चयपूर्ण कर्म, जिस जीवन-दर्शन का प्रतिपादन किया है उसमें भक्ति को प्रपत्ति के सहज मार्ग के रूप में प्रस्तुत किया गया है। किन्तु इस्लाम की उत्प्रेरणा से भक्ति मार्ग का प्रस्फुटन एक सामाजिक आन्दोलन के रूप में हुआ जिसका एक रूप क्रान्तिकारी और सुधारवादी है और दूसरा कट्टर पुनर्जागरणवादी तथा परम्परावादी। पहले के प्रणेता निर्गुणिया सन्त जिन्होंने पंथों के रूप में मजहबी सगठन के सिद्धान्त का हिन्दूकरण किया और दूसरे के सगुण भक्ति के प्रणेता जिन्होंने आगम निगम परम्पराओं को यथावत पुनः संस्थापित करने पर जोर दिया। किन्तु भक्ति आन्दोलन के इन दोनों रूपों का आधार हिन्दू परम्परा है। क्रान्तिकारी सुधारों की मांगों को देश काल के अनुसार कार्यान्वित करने तथा वैदिक परम्पराओं का समयानुसार निर्वचन करके और आगम को उसमें आत्मसात करके, वैदिक परम्पराओं के पुनःसंस्थापन की परम्परायें हिन्दुत्व में पहले ही आ चुकी थीं। बुद्धवाद यदि एक ओर सुधारवादी आन्दोलन है तो, दूसरी ओर, वैदिक परम्पराओं के व्यापक और सुपरिष्कृत नव निर्वचन का प्रयास भी। हिन्दुत्व में लौकिक अलौकिक का विभेद नहीं है। हिन्दू परम्परायें शास्त्रगत हैं और शास्त्र अनिर्वचनीय नहीं हैं। वर्ण और जाति समानान्तर हैं परस्पर विरोधी भी हैं और एक दूसरे के पूरक भी क्योंकि जहां वर्ण कर्म पर आधारित है और जाति जन्म पर, वहां वर्ण जाति की कठोरता का समुन्नयन भी है। स्मृति परम्परा के पीछे समयानुसार हिन्दू परम्पराओं के सुधार और पुनर्संस्थापन की ही परम्परा है। हिन्दुत्व एक साथ कट्टरवादी भी है और सुधारवादी भी[1]। इस्लाम की उत्प्रेरणा से हिन्दुत्व में भक्ति आन्दोलन का जो प्रस्फुटन हुआ, वह कट्टरवादिता, पुनर्जागरण तथा पुनःसंस्थापन की ओर भी उन्मुख है और समाज-सुधार आन्दोलन की ओर भी।

सम्भवतः इसी कारण भक्ति आन्दोलन के माध्यम से यदि एक ओर क्रान्तिकारी सामाजिक विचारों की अभिव्यक्ति का प्रस्फुटन हुआ तो दूसरी ओर, हिन्दू सामाजिक परम्पराओं का पुनर्निर्वचन करके और उन्हें समयानुकूल शास्त्रगत प्रामाणिकता प्रदान करके उनके पुनः संस्थापन का प्रयास हुआ। क्रान्तिकारी सामाजिक सुधारों की मांग के पीछे बौद्ध और सिद्ध-नाथों की परम्परा थी, तो हिन्दू समाज के पुनर्संस्थापन के पीछे 'सम्भवामि युगे युगे' और स्मृतियों तथा पुराणों की परम्परा।

1 विशेष अध्ययन के लिए देखिये प्रोफेसर वी० पतवर द्वारा रचित एन एसे आन हिन्दुइज्म।

देवल स्मृति (ग्यारहवीं सदी) में यह विधान किया गया कि जातिच्युत व्यक्ति पुनः जाति में आ सकता है। वास्तव में इस परम्परा को इस्लाम का प्रत्यक्ष प्रभाव नहीं कहा जा सकता है। हिन्दू-समाज में जाति जन्म से मानी गयी है और जातिच्युत व्यक्ति के लिए शुद्धि का भी विधान रहा है और आज भी है। हाँ, यह अवश्य कहा जा सकता है कि इस्लाम से मिलने वाली उत्प्रेरणा के कारण, इस विधान का नये स्तरों के लिए नवसंशोधन कर लिया गया। किन्तु इस काल में इससे भी महत्त्वपूर्ण विकास हुआ सगुण भक्तिधारा का जिसमें राम तथा कृष्ण के आख्यानकों का इस प्रकार चित्रण और वर्णन किया गया कि उनके माध्यम से मान्यतानुसार प्राचीन हिन्दू परम्पराओं और आदर्शों की शास्त्रगत प्रामाणिकता द्वारा उन्हें पुनः संस्थापित किया जा सके और तत्कालीन हिन्दुत्व का एकीकरण करके उसकी रक्षा की जा सके। राधा, गोपी और कृष्ण के माध्यम से तत्कालीन जनता की आकुलता विरहानुभूति की अभिव्यक्तियों में परिणत हो गयी। राधा, गोपी और कृष्ण तत्कालीन जननैराश्य से उत्पन्न एक प्रकार के सामूहिक उदात्तीकरण के प्रतीक हो गये। यहीं से राधा की महिमा बढ़ी—प्रेम की एक अतृप्त चिर अभिलाषा के प्रतीक के रूप में। यही कारण है कि कृष्ण काव्य में तन्मय कर देने वाली गीता की प्रधानता बढ़ी क्योंकि उनका उद्देश्य मत प्रचार न होकर, सामाजिक आकुलताओं से लौकिक प्रेम के माध्यम से पारलौकिकता की ओर ले जाना है। अतः सामाजिक सांस्कृतिक सन्दर्भ में राधा और गोपियों का विरहानुभूतिमय कृष्ण काव्य केवल 'इश्क मजाजी से इश्क हकीकी की ओर वाली' धारणा की प्रतिकृति नहीं है—वह तत्कालीन हिन्दू समाज के मानसिक जगत में उत्पन्न प्रपत्ति की भावना का एक रहस्य रूप है जिसमें सामूहिक स्थिरता उत्पन्न होती है[1]। निराकार ज्ञानानुभूति की वस्तु है किन्तु साकार जनोल्लास से उत्पन्न हृदयानुभूति की वस्तु है। जन नायक बनने की क्षमता साकार में है न कि निराकार में। इस काल की साकाराभिमुख प्रवृत्ति एक आवश्यक

1 सामाजिक असुरक्षा और व्याकुलता की स्थिति में ऐसी अभिव्यक्तियों को प्रोत्साहन मिलता रहा है। अंग्रेजी साहित्य में रोमांटिक अभिव्यक्तियों को तभी प्रोत्साहन मिला जब औद्योगिक क्रान्ति और तज्जनित आर्थिक प्रतियोगिता और व्यक्तिवादी प्रवाहों के कारण सामाजिक मानसिक असुरक्षा बढ़ी। अंग्रेजी राज्यकाल में जब ऐसी स्थिति आयी तो पुनः इसी प्रकार की अभिव्यक्तियों को प्रोत्साहन मिला। वर्तमान हिन्दी साहित्य की छायावादी तथा रहस्यवादी अभिव्यक्तियाँ भी ऐसे विचारों से ओत प्रोत हैं। निराला ने लिखा है, 'हमें जाना है जग के पार', प्रसाद ने 'ले चल मुझे भुलावा देकर मेरे नाविक धीरे धीरे'। यह पलायनवाद नहीं है बल्कि मानसिक अनिश्चितता और थकान पर विजय पाने का एक जन माध्यम है।

जननायक पर निर्भर रहकर मानसिक सुरक्षा प्राप्त करने का एक माध्यम है।

तुलसीदास ने रामायण के प्रबन्ध काव्य द्वारा राम के जिस रूप का आख्यान किया है वह जनादर्श और जन नायक का ही रूप है। तुलसी के लिये सभी राममय है। चाहे कोई शैव हो या शाक्त अन्ततोगत्वा उसे राम तक ही पहुंचना है। गीताकार ने यह प्रतिपादित किया था कि 'सर्व धर्मान परित्यज मामेकं शरणं व्रज'। गीताकार ने सभी कुछ कृष्णमय मान लिया, जो साकार का एक रूप है। गीता, एक ओर निराकार तथा ज्ञानयोग को देता है तो दूसरी ओर, साकार भक्तियोग तथा कर्म योग को। गीता एक प्रयास है साकार तथा निराकार, ज्ञान तथा भक्ति और कर्म तथा सामाजिक व्यवस्था में समन्वय लाने का और हिन्दू समाज को ज्ञान तथा कर्म के स्तरों पर संगठित करने का। गीताकार ने ज्ञान, भक्ति और कर्म मार्गों का एक समन्वय में लाकर हिन्दू समाज के आधार का विस्तार कर दिया था। समयानुकूल तुलसीदास ने इसी परम्परा का पालन किया। अन्तर केवल इतना है कि उन्होंने गीता के कृष्ण के स्थान पर राम का प्रतिपादन किया और ज्ञानमार्गी होने पर भी उन्होंने भक्तिमार्ग को ही अधिक महत्ता दी, क्योंकि भक्तिमार्ग जन सुलभ है। तुलसीदास ने पाखण्ड विवाद और साम्प्रदायिकता की भर्त्सना की। सभी कुछ राममय मानकर एक ओर हिन्दू समाज के एकीकरण पर जोर दिया तो दूसरी ओर, राम के माध्यम से, उन्होंने आदर्श परिवार, आदर्श पारिवारिक सम्बन्धों, आदर्श राज्य और राजा तथा वर्ण व्यवस्था की मर्यादा के उन रूपों और पक्षों का प्रतिपादन किया जो शाश्वत हैं।

तुलसीदास उस समय हुए थे जब एक ओर अकबर के समन्वयकारी प्रयासों की लहरें उद्वेलित हो रही थीं तो, दूसरी ओर अन्दर ही अन्दर इस्लामी कट्टरवादिता की अग्नि भी सुलग रही थी। किन्तु उन्होंने न तो समन्वय पर ध्यान दिया और न कट्टरवादिता पर। तुलसीदास ने न तो इस्लामी विचारों का खंडन किया है न इस्लाम की प्रशंसा की है और न उसकी भर्त्सना। ऐसा लगता है जैसे वे उस युग में पैदा ही नहीं हुए थे जिसमें भारत में इस्लाम का प्रसार हो रहा था। उन्होंने केवल स्मृतियों की परम्परा पकड़ी और समयानुकूल आदर्शों का प्रतिपादन करके, भक्ति के माध्यम से उन्होंने हिन्दू मान्यताओं के पुनर्स्थापन की आवश्यकता और आन्दोलन को जनता तक पहुंचाया। पग-पग पर उन्होंने शास्त्रों, वेदों, स्मृतियों और पुराणों की दुहाई दी है। रामायण में निहित आदर्श 'नाना पुराणनिगमागम सम्मत' हैं। और, इसी कारण रामायण हिन्दू-समाज की परम्पराओं का देश-काल की आवश्यकतानुसार लागू करने का एक प्रमाण है। तुलसीदास और उनकी रामायण इतिहास में प्रवाहित हिन्दुत्व के उत्तरोत्तर उद्विकास की एक अवान्तर स्थिति की उपज है।

आठवीं शताब्दी के उत्तरार्द्ध में शंकर के अभ्युदय से लेकर उन्नीसवीं शताब्दी

देवल स्मृति (ग्यारहवीं सदी) म यह विधान किया गया कि जातिच्युत व्यक्ति पुन जाति म आ सकता है। वास्तव म, इस परम्परा को इस्लाम का प्रत्यक्ष प्रभाव नहीं कहा जा सकता है। हिन्दू समाज म जाति जन्म स मानी गयी है और जातिच्युत व्यक्ति के लिये शुद्धि का भी विधान रहा है और आज भी है। हाँ, यह अवश्य कहा जा सकता है कि इस्लाम स मिलने वाली उत्प्रेरणा के कारण इस विधान को नयी स्वरो के लिये शास्त्रानुकूल किया गया। किन्तु इस काल म, इसम भी महत्त्वपूर्ण विकास हुआ सगुण भक्तिधारा का जिसम राम तथा कृष्ण के आख्यानक का इस प्रकार निर्वचन और वर्णन किया गया कि उनके माध्यम से आवश्यकतानुसार प्राचीन हिन्दू परम्पराओं और आदर्शों को शास्त्रसम्मत प्रामाणिकता देकर उन्ह पुन सस्थापित किया जा सके और तत्कालीन हिन्दुत्व को नवीकृत करके उसकी रक्षा की जा सके। राधा गोपी और कृष्ण के माध्यम से तत्कालीन जनता की आकुलता विरहानुभूति की अभिव्यक्तिया म परिणत हो गयी। राधा गोपी और कृष्ण तत्कालीन जन नरादय से उत्पन्न एक प्रकार के सामूहिक उन्नतीकरण के प्रतीक हो गय। यहीं से राधा की महिमा बढ़ी—प्रेम की एक अतृप्त चिर अभिलाषा के प्रतीक के रूप म। यही कारण है कि कृष्ण काव्य म तन्मय कर देने वाले गीतो की प्रधानता बढ़ी क्योंकि उनका उद्देश्य मत प्रचार न कर, सामाजिक आकुलताओं को इहलौकिक प्रेम के माध्यम से पारलौकिकता की ओर ले जाना है। अपने सामाजिक सास्कृतिक सन्दर्भ म राधा और गोपियो की विरहानुभूतिमय कृष्ण भक्ति म केवल 'इश्क मजाजी से इश्क हकीकी को जाने वाली' धारणा की प्रतिकृति नहीं है—वह तत्कालीन हिन्दू समाज के मानसिक जगत म उत्पन्न प्रवृत्ति की भावना का एक वह रूप है जिसम सामूहिक निरन्तरता उत्पन्न होना है[1]। निराकार ज्ञानानुभूति की वस्तु है किन्तु साकार जनोल्लास स उत्पन्न ध्यानभूति की वस्तु है। जन नायक बनने की क्षमता साकार म है न कि निराकार म। इस काल की साकारी मुख प्रवृत्ति एव जननायक

---

1 सामाजिक असुरक्षा और व्याकुलता की स्थिति में ऐसी अभिव्यक्तियों को प्रोत्साहन मिलता रहा है। अंग्रेजी साहित्य में रोमांटिक अभिव्यक्तियो को तभी प्रोत्साहन मिला जब औद्योगिक क्रांति और तज्जनित आर्थिक प्रतियोगिता और व्यक्तिवादी प्रवाहों के कारण सामाजिक मानसिक असुरक्षा बढ़ी। अंग्रेजी राज्यकाल में जब ऐसी स्थिति आयी तो पुन इसी प्रकार की अभिव्यक्तियो को प्रोत्साहन मिला। वर्तमान हिन्दी साहित्य की छायावादी तथा रहस्यवादी अभिव्यक्तिया भी ऐसे विचारो से ओत प्रोत ह। निराला ने लिखा है, 'हमें जाना है जग के पार', प्रसाद ने ले चल मुझे भुलावा देकर मेरे नाविक धीरे धीरे'। यह पलायनवाद नहीं है बल्कि मानसिक अनिश्चितता और थकान पर विजय पाने का एक जन माध्यम है।

जननायक पर निर्भर रहकर मानसिक सुरक्षा प्राप्त करने का एक माध्यम है।

तुलसीदास ने रामायण के प्रबन्ध काव्य द्वारा राम के जिस रूप का आख्यान किया है वह जनादर्श और जन नायक का ही रूप है। तुलसी के लिये सभी राममय है। चाहे कोई शैव हो या शाक्त, अन्ततोगत्वा उस राम तक ही पहुँचता है। गीताकार ने यह प्रतिपादित किया था कि 'सर्व धर्मान परित्यज मामेकं शरणं व्रज'। गीताकार ने सभी कुछ कृष्णमय मान लिया, जो साकार का एक रूप है। गीता, एक ओर निराकार तथा ज्ञानयोग का दर्शन है तो दूसरी ओर साकार भक्तियोग तथा कर्म योग का। गीता एक प्रयास है साकार तथा निराकार, ज्ञान तथा भक्ति और कर्म तथा सामाजिक व्यवस्था में समन्वय लाने का और हिन्दू समाज को ज्ञान तथा कर्म के स्तरों पर एकीकृत करने का। गीताकार ने ज्ञान, भक्ति और कर्म मार्गों का एक समन्वय में लाकर हिन्दू समाज के आधार को विस्तृत कर दिया था। समयानुकूल तुलसीदास ने इसी परम्परा का पालन किया। अन्तर केवल इतना है कि उन्होंने गीता के कृष्ण के स्थान पर राम का प्रतिपादन किया और ज्ञानमार्गी होने पर भी उन्होंने भक्तिमार्ग को ही अधिक महत्ता दी, क्योंकि भक्तिमार्ग जन सुलभ है। तुलसीदास ने पाखण्ड विवाद' और साम्प्रदायिकता की भर्त्सना की। सभी कुछ राममय मानकर एक ओर हिन्दू समाज के एकीकरण पर जोर दिया तो दूसरी ओर राम के माध्यम से, उन्होंने आदर्श परिवार, आदर्श पारिवारिक सम्बन्धों, आदर्श राज्य और राजा तथा वर्ण व्यवस्था की मर्यादा के उन रूपों और पक्षों का प्रतिपादन किया जो शाश्वत हैं।

तुलसीदास उस समय हुए थे जब एक ओर अकबर के समन्वयकारी प्रयासों की लहरें उद्वेलित हो रही थीं तो दूसरी ओर, अन्दर ही अन्दर इस्लामी कट्टरवादिता की अग्नि भी सुलग रही थी। किन्तु उन्होंने न तो समन्वय पर ध्यान दिया और न कट्टरवादिता पर। तुलसीदास ने न तो इस्लामी विचारों को ग्रहण किया है न इस्लाम की प्रशंसा की है और न उसकी भर्त्सना। ऐसा लगता है जैसे वे इस युग में पैदा ही नहीं हुए थे जिसमें भारत में इस्लाम का प्रसार हो रहा था। उन्होंने केवल स्मृतियों की परम्परा पकड़ी और समयानुकूल आदर्शों को प्रतिपादित करके, भक्ति के माध्यम से, उन्होंने हिन्दू मान्यताओं के पुनर्संस्थापन की आवश्यकता और आन्दोलन को जनता तक पहुँचाया। पग-पग पर उन्होंने शास्त्रों, वेदों, स्मृतियों और पुराणों की दुहाई दी है। रामायण में निहित आदर्श 'नाना पुराणनिगमागम सम्मत' हैं। और इसी कारण रामायण हिन्दू-समाज की परम्पराओं को देश-काल की आवश्यकतानुसार लागू करने का एक प्रयास है। तुलसीदास और उनकी रामायण इतिहास में प्रवाहित हिन्दुत्व के उत्तरोत्तर उद्विकास की एक अवस्था विशेष की उपलब्धि है।

आठवीं शताब्दी के उत्तरार्द्ध में शंकर के अभ्युदय से लेकर कबीरदास तक

थे उस समय तक, जब तक आर्यसमाज, ब्रह्मसमाज और प्रार्थनासमाज के रूप में हिन्दुत्व की निराकारवादी ज्ञानमार्गी शाखा का पुनः प्रतिरोपण नहीं हुआ, भारत में भक्ति मार्ग की ही प्रधानता रही है। इस काल में भक्ति-मार्ग की तीन परम्परायें रही हैं। एक जायसी की परम्परा जिसमें सूफीवाद का प्रबल किन्तु अप्रत्यक्ष प्रभाव है और जो रहस्यात्मक है। दूसरी निर्गुणिया सन्तों की परम्परा जिसमें, एक ओर निराकार और ज्ञान को भक्ति के रंग में रंग दिया गया और दूसरी ओर सभी कुछ निराकारमय मानकर और हिन्दुत्व तथा इस्लाम के बंधनों की भर्त्सना करके, मानवतावादी विचारों का प्रचार किया गया और मजहबी सिद्धान्तों को हिन्दुत्व में आत्मसात करते हुए दोनों का समन्वय किया गया। तीसरी सगुणोपासकों की परम्परा है जिसके माध्यम से हिन्दू समाज की परम्पराओं का पुनर्निरूपण करके उन्हें पुनःस्थापित किया गया और वर्णाश्रमधर्म के द्वारा मानवतावादी विचारों का प्रतिपादन किया गया। पहली परम्परा सूफीवाद के हिन्दूकरण की प्रक्रिया की उत्पत्ति है और दूसरी तत्कालीन आवश्यकतानुसार हिन्दुत्व में सुधार और परिवर्तन लाने की आवश्यकता की। पहली और दूसरी परम्परायें इस्लाम के हिन्दूकरण तथा हिन्दुत्व के इस्लामीकरण के बीच की उत्पत्ति है और तीसरी हिन्दुत्व के पुनर्संस्थापन की। एक ओर इस बात का प्रयत्न किया जा रहा था कि हिन्दुत्व के प्रतिद्वन्द्वी इस्लाम की विशेषताओं को हिन्दुत्व के अनुसार ढाल लिया जाय और दूसरी ओर हिन्दुत्व के आधारों को आवश्यकतानुसार बदल कर उन्हें दृढ़तर बनाने का प्रयास किया जा रहा था। यही कारण है कि तत्कालीन हिन्दू समाज तथा संस्कृति में विरोधी तत्वों और प्रक्रियाओं का समावेश हुआ। एक ओर निराकार और ज्ञान का मार्ग लिया गया तो, दूसरी ओर साकार और भक्ति का। एक ओर धर्म की निन्दा की गयी तो दूसरी ओर, वर्णाश्रम धर्म को प्रतिरोपित करने का प्रयास किया गया। एक ओर वेदों की निन्दा की गयी तो दूसरी ओर, उन्हें सामाजिक जीवन के आदर्श का प्रमाण माना गया। एक ओर जाति पाँति की भर्त्सना की गयी तो दूसरी ओर जाति प्रथा के नियम और भी कठोर हो गये और इस्लाम के समक्ष, जाति व्यवस्था एक प्रकार का सामाजिक प्रतिरक्षा कवच सिद्ध हुआ।

इस्लाम की उत्प्रेरणा से भक्ति-आन्दोलन की उत्पत्ति हिन्दुत्व की उन परम्पराओं में से हुई है जो वैदिक काल से चली आ रही थीं। हिन्दुत्व में एक ओर ज्ञानमार्ग की परम्परा है और दूसरी ओर, भक्तिमार्ग की। ज्ञानमार्ग का आधार है तर्क और विवेक और भक्तिमार्ग का सद्बुद्धि, रहस्यवादिता कर्मकाण्ड और कल्पाचार। ये परम्परायें समानान्तर चलती रही हैं, यद्यपि किसी काल में ज्ञानमार्ग को प्रधानता दी गई है तो किसी काल में भक्ति मार्ग को। गीता में कर्म के माध्यम से, ज्ञान और भक्ति को एक दूसरे का पूरक माना गया है। वेदों की कर्मकाण्डी परम्परा के समक्ष उपनिषदों में ज्ञानमार्ग को प्रधानता मिली। महात्मा

बुद्ध ने ज्ञानमार्ग में सद्बुद्धि का पुट दिया जो आगे चलकर रहस्यवादी सद्बुद्धि में बदल गया। मीमांसकों ने कर्मकाण्ड, वर्णाचार, बहुदेववाद और साम्प्रदायिक मतमतान्तरों को प्रधानता दी। किन्तु शंकर ने उन्हें निरर्थक बताकर अद्वैतवाद का समर्थन किया—वह अद्वैतवाद जिसमें व्यष्टि और समष्टि, ज्ञान और कर्म, जाति और वर्ण, ऊँच और नीच, शैव, वैष्णव और शाक्त सभी ब्रह्ममय होकर ब्रह्म में एकाकार हो जाते हैं। शंकर के अद्वैतवादी दर्शन की आलोचना करके रामानुज ने भक्तिमार्ग का प्रतिपादन किया। गीता की अनासक्ति, ज्ञान और भक्ति की धारणाओं को भागवत में भक्ति और प्रपत्ति का रूप मिला। भागवत से भक्ति और प्रपत्ति की धारणाओं की अवतारणा रामानुज के दर्शन में होकर सारे भारत में फैली। इस्लाम की उत्प्रेरणा का यह प्रभाव अवश्य हुआ कि ज्ञानमार्ग की निराकारवादी परम्परा में भी भक्ति का पुट निखरा यद्यपि इस विकास का बीजारोपण गीता में हो चुका था। इस्लाम की उत्प्रेरणा से निराकारवादी तथा साकारवादी भक्ति मार्गों का एक साथ प्रस्फुटन और समन्वय हुआ।

शंकर और रामानुज

पद्मपुराण में आए एक श्लोक में भक्ति के मुख से यह कहलाया गया है कि मैं द्राविड देश में जन्मी, कर्णाटक में बड़ी हुई, महाराष्ट्र में कुछ दिन ठहरी और गुजरात में आकर बूढ़ी हो गई।[1] भक्ति के विषय में यह उक्ति प्रचलित है कि "भक्ति द्राविड ऊपजी लाए रामानन्द" जिसका अर्थ यह निकलता है कि भक्ति की उत्पत्ति तो दक्षिण (द्राविड़) में हुई है और उत्तर में उसके प्रवर्तक रामानन्द हैं। रामानन्द रामानुज की शिष्य परम्परा में आते हैं और उनके द्वारा उत्तर में भक्ति का प्रचार एक ऐतिहासिक तथ्य है। कबीर और रैदास रामानन्द के शिष्यों में हैं। रामानुज का जन्म बारहवीं शताब्दी में दक्षिण में हुआ था। रामानुज ने शंकर के अद्वैतवादी दर्शन का खण्डन तथा विशिष्टाद्वैती दर्शन का प्रतिपादन करके भक्तिवाद को दार्शनिक आधार प्रदान किया। मध्यकालीन भारत में शंकर और रामानुज एक दूसरे से चार सौ वर्ष दूर होते हुए भी हिंदू सामाजिक दार्शनिक उद्विकास में दो बड़े युग प्रवर्तक हैं। शंकर ज्ञान अथवा गीता के दार्शनिक और रामानुज भक्तिमार्गी परम्परा के। किन्तु वास्तव में यदि देखा जाय तो रामानुज के प्रतिपादित विशिष्टाद्वैती दर्शन का आधार शंकर का दर्शन है। दोनों का जन्म दक्षिण में हुआ। अपने मत का प्रतिपादन करने के लिए शंकर और रामानुज दोनों ने गीता पर भाष्य लिखे हैं। कुछ इतिहासकारों के मत में, शंकर का अद्वैतवाद और रामानुज का भक्तिवादी विशिष्टाद्वैतवाद रूप से इस्लाम से प्रेरित हैं और शंकर तथा रामानुज के मध्य में पड़ने वाले इस्लामी संघात

---

1 उत्पन्ना द्राविडे चाहं कर्णाटे वृद्धिमागता। स्थिता किंचिन्महाराष्ट्रे गुर्जरे जीर्णता गता।

न भक्ति आन्दोलन को प्रेरित किया है। इसके विपरीत दूसरा मत यह है कि शंकर और रामानुज हिन्दुत्व के उत्विकास के दो विश्रामस्थल हैं और भक्ति आन्दोलन का जन्म इन दोनों विश्राम स्थलों के बीच में चलने वाली दार्शनिक तथा जन परम्पराओं में है। रामानुज ने, गीता के आधार पर, दक्षिण में चलने वाली जन परम्पराओं को समयानुकूल व्यावहारिक दार्शनिक स्तर प्रदान किया है। भक्ति आन्दोलन के सामाजिक सांस्कृतिक आधारों को समझने के लिए इन विकास कड़ियों की व्याख्या अपेक्षित है।

शंकर की दार्शनिक परम्परा भक्तिमार्गी न होकर ज्ञानमार्गी है। किन्तु ज्ञानमार्गी होने पर भी, शंकर ने विष्णु, शिव, शक्ति और सूर्य पर स्तोत्र लिखे हैं और शक्ति के मन्दिरों में बलि प्रथा का अवरोध किया है। शंकर के दर्शन का खंडन करके रामानुज ने भक्तिमार्ग की नींव डाली और इसी कारण, शंकर को मध्ययुगीन भक्ति-आन्दोलन का उत्प्रेरक माना जा सकता है। जिस दर्शन के आधार पर रामानुज ने भक्ति आन्दोलन की नींव डाली उसकी परम्परा निश्चय ही शंकर से भी प्राचीन है यद्यपि उसके प्रेरणा स्रोत शंकर दर्शन में हैं। एक दार्शनिक के रूप में, शंकर वस्तुतः समाज सुधारक हैं। उनका अन्ततोगत्वा उद्देश्य था साम्प्रदायिकता (अर्थात मतमतान्तरों) के भंवर में पड़े हुए हिन्दू समाज को निकाल कर उसे एक एकीकृत दार्शनिक तथा सांस्कृतिक आधार प्रदान करना। शंकर के दर्शन को यदि उनके कार्यों के सन्दर्भ में देखा जाय तो यह तथ्य और भी स्पष्ट हो उठता है। शंकर ने अद्वैतवादी दर्शन का प्रतिपादन किया और सम्बुद्धि, तर्क तथा शास्त्र को ज्ञानार्जन के तीन प्रामाणिक आधार माने। शंकर के लिए संसार निराकारमय है। उन्होंने निराकार की कल्पना 'ब्रह्म' के रूप में की है। शंकर के ब्रह्म में ईश्वरत्व नहीं है। वह शुद्ध, बुद्ध, चैतन्य, निराकार और निर्विकार है। उसे न तो भक्तों की चिन्ता है और न दुष्टों को दंड देने की। संसार मायामय ब्रह्म है। निराकार ब्रह्म और संसार के सम्बन्ध को स्पष्ट करने के लिए शंकर ने मायावाद का मत प्रतिपादित किया। शंकर का मायावाद वस्तुतः नागार्जुन द्वारा प्रतिपादित बौद्धों का शून्यवाद है। इस प्रकार, बुद्धवाद पर ब्रह्मवादी दर्शन की स्थापना करके, शंकर ने बुद्धवाद को हिन्दुत्व में समेट लिया और अद्वैत की धारणा के द्वारा मत मतान्तरों की साम्प्रदायिकता को निर्मूल कर दिया। इसके साथ साथ, भारत के चार कोनों पर चार मठों की स्थापना करके उन्होंने हिन्दू समाज के व्यावहारिक तथा दार्शनिक पक्षों को एकता प्रदान करने का प्रयत्न किया। शंकर के प्रयासों में सुधार का अर्थ था समन्वय और उनके लिये समन्वय का अर्थ था परम्परा का व्यापक निर्वचन और संस्थापन।

शंकर का दक्षिण में आविर्भूत होना एक ऐतिहासिक संयोग है। किन्तु, शंकर-दर्शन का विकास ऐतिहासिक संयोग नहीं है। दिनकर के अनुसार, शंकर दर्शन की विकास रेखा ऋग्वेद के नासदीय सूक्त तक पहुंचती है। नासदीय सूक्त ने जीवन और

सृष्टि के विषय में जो मौलिक प्रश्न उठाए थे उन्हीं प्रश्नों का समाधान खोजते-खोजते पहले उपनिषदों का आविर्भाव हुआ, फिर बौद्ध-दर्शन का और फिर शंकर-दर्शन का। शंकर का तटस्थ ब्रह्म बौद्धों से आगे बढ़ा हुआ एक कदम अवश्य है लेकिन तटस्थ ब्रह्म की धारणा की जड़ें वस्तुतः औपनिषदिक दर्शन में हैं। जहाँ तक शंकर के बौद्धिक पूर्वजों का सम्बन्ध है वे दक्षिण में नहीं उत्पन्न हुए थे। शून्यवादी दर्शन के प्रतिपादक नागार्जुन का जन्म ईसा के जन्म के सौ वर्ष बाद विदर्भ में हुआ था और दार्शनिक वसुबन्धु, जो शंकर के दूसरे बौद्धिक पूर्वज हैं का चौथी शताब्दी में पेशावर में। शंकर के शारीरिक भाष्य पर भामती-व्याख्या लिखकर दशमर में उन प्रसिद्ध करने वाले विद्वान वाचस्पति मिश्र मिथिला में जन्मे थे। शंकर भारतीय संस्कृति की उन समस्याओं का दार्शनिक उत्तर थे जिन्हें लेकर ब्राह्मण और बौद्ध जूझ रहे थे[1]।

शंकर ने वेदान्त की ब्रह्मवादी व्याख्या की थी किन्तु रामानुज ने वेदान्त की ईश्वरवादी व्याख्या करके शंकर के तटस्थ ब्रह्म में ईश्वरत्व का प्रतिपादन किया—उस ईश्वरत्व का जो शुद्ध बुद्ध निराकार और निर्विकार नहीं है जो विष्णु के रूप में साकार है भक्तों पर दयालु है और विश्व प्रपंच का प्रहरी तथा कर्ता है। शंकर ने केवल ब्रह्म को ही सर्वोपरि और अनादि माना किन्तु रामानुज ने ईश्वर के साथ-साथ, जीव और प्रकृति को भी अनादि माना यद्यपि शब्द और अर्थ तथा जल और लहर के समान वे अलग अलग नहीं किए जा सकते। रामानुज ने अद्वैत में द्वैत और द्वैत में विशिष्टाद्वैत का प्रतिपादन किया क्योंकि उनके अनुसार ईश्वर साकार भी है और केवल ईश्वर ही अनादि नहीं है। शंकर की परम्परा में वेदान्त के इस वाक्य 'तत्त्वमसि' की यह व्याख्या हुयी कि जीव भी ब्रह्म है किन्तु रामानुज की व्याख्या में यह प्रतिपादित किया गया कि 'तत्' अर्थात सृष्टि का कारण स्वरूप ईश्वर 'त्वम्' है अर्थात् जीव में छिपी हुयी आत्मा से एकाकार है। इसी कारण रामानुज की दर्शन-पद्धति विशिष्टाद्वैत की पद्धति कही जाती है[2]।

अद्वैत में द्वैत का प्रतिपादन करके रामानुज ने कर्म और ज्ञान के समक्ष भक्ति की महत्ता को श्रेष्ठतर बताया। रामानुज के अनुसार ज्ञानयोग में आत्मा केवल इतना ही जान सकती है कि वह परमात्मा का अंश है। किन्तु भक्ति की अनुभूति में आत्मा-परमात्मा के सम्बन्ध का ज्ञान अधिक प्रखर हो उठता है। जीव भी अनादि है उसकी भी निज सत्ता है, अतः न तो ईश्वर में विलीन होना उसके लिए स्वाभाविक है और न उसकी आवश्यकता ही है। सेवा का नाता रहना चाहिए न सर्प और न भक्ति। उसकी मुक्ति तो जीवन पर्यन्त और जीवनोपरान्त आराध्य

1 दिनकर, रामधारी सिंह वही पृष्ठ 281
2 वही पृष्ठ 300

में व्रत, उपवास, तीर्थ यात्रा और कभी कभी मूर्तिपूजा आदि प्रचलित आदतों को लिया करते हैं। आलवार संतों का दर्शन शंकर से प्रभावित है और कुछ कुछ तंत्र के सिद्धान्तों से भी। शंकर में भारत की बौद्धिकता और तत्कालीन दर्शन का चित्रण हुआ है और आलवार संतों की अभिव्यक्तियों में रहस्यवादिता, नम्रता, बन्धुत्व और प्रतिमय भक्ति की भावना थी। जिस समय, उत्तर में सिद्ध संत, बुद्धवाद के द्वन्द्व में वज्रयान और तान्त्रिक की विचारधारा फैलाकर, उसको विकृत कर रहे थे उस समय आलवार संत प्रेम और भक्ति के माध्यम से जाति की निस्सारता बता रहे थे और भगवान की शरण में सब बराबर थे। संतों के बीच में समता का भाव स्थापन का प्रयत्न कर रहे थे। आलवार संतों ने तो जाति पाँति माने थे और न वे शास्त्रों के विधि निषेध के मानने वाले थे। आलवार संतों की भक्तिमय रचनाओं का स्वर भाव था 'भक्ति न छाड़ो भक्ति न मानो तब उस सुधी सुधारो'। जैसा कि [illegible] का मत है सबसे पहले तमिल देश में प्रपत्ति (शरणागति) आत्म समर्पण और तत्कालीन में विभूषित भक्ति का सम्यक विकास और प्रसार दक्षिण की तामिल भाषा भाषी जनता में हो चुका था।

नवीं शताब्दी के उत्तरार्ध में, जब नाथ मुनि ने आलवार संतों के चार हजार पदों का संग्रह 'प्रबन्धम' नामक चार ग्रन्थों में करवाया तब भक्ति को दर्शन के स्तर पर लाने और भक्ति को दार्शनिक प्रणाली में बाँधने के प्रयास प्रारम्भ हुए। नाथमुनि के बाद वैष्णव विद्वानों ने इन्हीं ग्रन्थों पर भाष्य और टीकायें लिखीं। यही ग्रन्थ 'तामिल प्रबन्धम' के नाम से विख्यात है और गीता के बाद तथा भागवत के समकालीन भक्ति के आदिग्रन्थ हैं। प्रबन्धम और भागवत में अन्तर है तो केवल इतना कि प्रबन्धम् में भक्तिपदों का संग्रह है जबकि भागवत में भक्ति को पाण्डित्य और दर्शन के आवरण में प्रस्तुत किया गया है। चूँकि भागवत में इस बात का संकेत है कि भक्ति द्राविड देश में उत्पन्न हुयी, यह माना जा सकता है कि भागवत के प्रेरणा स्रोत प्रबन्धम में है और गीता तथा रामानुज के बीच की कड़ी प्रबन्धम् और भागवत हैं। रामानुज के विशिष्टाद्वैतवादी दर्शन की जड़ें भी प्रबन्धम में ही हैं क्योंकि विशिष्टाद्वैत का प्रथम विवेचन यामुनाचार्य (९१६ ई० से १०४० ई०) ने किया है जो प्रबन्धम् के सम्पादक श्री नाथमुनि की दूसरी या तीसरी पीढ़ी में हुये हैं। इसके बाद रामानुजाचार्य (१०२७ ११३७ ई०) ने विशिष्टाद्वैत की व्याख्या की और यह मत प्रतिपादित किया कि गीता और पातञ्जल योग के अतिरिक्त भक्ति का मूल स्रोत आलवार संतों की परम्परा में है। रामानुज इन्हीं आचार्यों की बौद्धिक संतान थे।

आलवार संतों की वैष्णवी परम्परा के साथ साथ, दक्षिण में नायनार संतों की शैव परम्परा भी चली। आलवार संतों की परम्परा विष्णु में केन्द्रीभूत थी और नायनार संतों की परम्परा शिव में। आलवार परम्परा के आचार्य वैष्णवाचार्य कहलाये और शैव परम्परा के शैवाचार्य। नायनार संतों

के पदों में शिव के प्रति भक्ति की अभिव्यक्ति थी। जिस प्रकार, प्रबन्धम् के माध्यम से वैष्णवीजन परम्परा दक्षिणोन्मुख हुई उसी प्रकार तिरुमुरई नामक ग्यारह भागों में संग्रहीत ग्रन्थ के माध्यम से, शैव जन-परम्परा भी दक्षिणोन्मुख हुई। जिस समय वैष्णवाचार्य नाथमुनि ने आलवारों के पदों का संग्रह 'प्रबन्धम' में करवाया था, उसी समय शैवाचार्य नाम्बि आण्डार-नम्बी ने तिरुमुरई (पावन पुस्तक) नामक ग्रन्थ में शैव पदों का संग्रह करवाया। दक्षिण की भक्ति धारा में प्रबन्धम का जो महत्व है वही तिरुमुरई का भी है। वैष्णवी परम्परा में सृष्टि के परम अध्यक्ष हैं विष्णु, किन्तु शैव परम्परा में वह स्थान शिव का है। जड़ प्रकृति और चेतन जीव सभी शिवमय हैं और शिव ही चेतना के आगार और ब्रह्माण्ड में व्याप्त अनादि सत्य हैं।

शक्ति शिव के कार्य व्यापार का माध्यम है। अतः शक्ति शिव की पूरक है। सृष्टि शिव की कृति है और उसकी पांच प्रक्रियायें (रचना, पालन, विनाश, जीव की मोहाच्छन्नता और मुक्ति) शिव की कृपा और शक्ति के सहयोग से सम्पन्न होती हैं। फिर भी शिव के साथ साथ, सृष्टि भी अनादि है और इसका विकास जीवों के कल्याण के लिये होता है। शैव पद्धति में, शिव और सृष्टि के साथ साथ, आत्मा भी स्वभावतया अनादि, अनन्त और चेतन है किन्तु बन्ध में पड़ जाने के कारण, आत्मा अपने को सान्त, सीमित और अज्ञानी मानता है। अपने पूर्वकर्मों से मुक्त होकर तथा जड़ की अधीनता से बाहर आकर ही, आत्मा को अपनी अनादिता, अनन्तता और चेतनता का भान हो सकता है। आत्मा की मुक्ति सिद्धान्तविहित साधना पद्धति के पालन तथा निर्धारण और गुरु ज्ञान तथा शिव की कृपा से ही हो सकती है। शैव परम्परा इस प्रकार शंकर के अद्वैत और रामानुज के विशिष्टाद्वैत के बीच की परम्परा है[1]। शैव तथा वैष्णवी परम्परायें जन और दर्शन के स्तरों पर, एक साथ, तथा दो अलग-अलग भक्ति-सम्प्रदायों के रूप में अवतरित हुई। शैव और वैष्णवी परम्पराओं का समन्वय तुलसीदास के हाथों हुआ क्योंकि उन्होंने इन दोनों के माध्यम से तथा इनसे अलग राम परम्परा की स्थापना की। प्रपत्ति, गुरु-महिमा, द्वैत, द्वैताद्वैत और विशिष्टाद्वैत की जो महत्ता इन परम्पराओं में है, उन्हें तुलसीदास ने ज्यों का त्यों अपना लिया।

भारतीय संस्कृति में प्रवाहित इस भक्ति धारा में कितना भाग इस्लामी है और कितना भारतीय यह एक विवाद का विषय है।

समस्या इस विषय पर उपलब्ध ऐतिहासिक साहित्य में जितने मत प्रतिपादित किये गये हैं वे उसी प्रकार स्पष्टतः विभाजित हैं जैसे हिन्दुत्व और इस्लाम। एक ओर हैं ताराचन्द, हुमायूं कबीर और युसुफ हुसैन के मत

1 दिनकर वही पृष्ठ 302

जिनमें यह प्रतिपादित किया गया है कि शंकर की अद्वैतवादी परम्परा और उनके बाद से प्रवाहित होने वाली भक्ति धारा, हिन्दुत्व पर इस्लाम के प्रत्यक्ष प्रभाव का परिणाम है। दूसरी ओर है दिनकर तथा विनयकुमार सरकार के मत जो इस बात पर जोर देते हैं कि आठवीं शताब्दी से लेकर अठारहवीं शताब्दी तक प्रवाहित होने वाली मानवतावादी विचारधारायें, सुधारवादी आन्दोलन तथा भक्तिमार्गी परम्परायें, वास्तव में, हिन्दुत्व के उत्तरोत्तर उद्विकास का परिणाम हैं न कि इस्लाम के संघात का। विनयकुमार सरकार के अनुसार चौदहवीं तथा अठारहवीं शताब्दियों के बीच में, हिन्दुत्व में चलने वाले मानवतावादी तथा एकेश्वरवादी सुधार आन्दोलन को इस्लाम के संघात का परिणाम मानने की एक प्रथा सी रही है। किन्तु समाजशास्त्रीय दृष्टिकोण से यह आवश्यक है कि इस परम्परा के आवरण को उठाकर, इतिहास को और भी गहराई से देखा जाय क्योंकि एकेश्वरवादी तथा मानवतावादी विचारधारायें प्रारम्भ से हिन्दू सामाजिक धार्मिक और सामाजिक धार्मिक परम्पराओं में विद्यमान रही हैं। इन दोनों विभिन्न मतों के बीच में सम्यक्मार्गी तथा सामासिकतावादी इतिहासकार हैं जो मध्ययुगीन भारत की भक्तिमार्गी शाखा को हिन्दुत्व का इस्लामीकरण या इस्लाम का हिन्दूकरण मानकर उसे हिन्दू मुस्लिम समन्वय का प्रतीक मानते हैं।

शंकर और रामानुज पर इस्लाम के प्रभाव की बात सर्वप्रथम सर चार्ल्स इलियट ने अपनी पुस्तक हिन्दुइज्म और बुद्धिज्म (1921) में कही थी और तभी से इतिहासकारों का एक सम्प्रदाय इस बात को सिद्ध करने में लग गया। डा० ताराचन्द इस सम्प्रदाय के प्रमुख इतिहासकार हैं। उनके अनुसार शंकर के अभ्युदय के पहले ही से इस्लाम का प्रभाव मालाबार के तट पर फैल गया था। डा० ताराचन्द ने शंकर को इस्लाम का अनुकर्ता माना है और अपनी इस मान्यता की पुष्टि के लिये उन्होंने दो बातों पर जोर दिया है—एक, शंकर द्वारा अद्वैतवाद के माध्यम से एकेश्वरवाद का प्रतिपादन और दूसरा शंकर का दक्षिण में ही उत्पन्न होना। किन्तु शंकर का अद्वैतवाद और इस्लाम का एकेश्वरवाद मूलतः भिन्न हैं। इस्लामी एकेश्वरवाद में ईश्वरवादिता है। इस्लाम में जिस ईश्वर की कल्पना की गई है वह दया और दण्ड दोनों देता है और व्यक्ति अर्थात् व्यक्ति उसका दास है तथा उसकी दया पर निर्भर है। किन्तु, शंकर का ब्रह्म तटस्थ, निराकार और निर्विकार है। इस्लाम में माया का कहीं स्थान नहीं है। शंकर ने जीव और ब्रह्म को मूलतः एक माना है। उनमें यदि अन्तर है तो माया के कारण। शंकर वैदिक परम्परा में है न कि इस्लामी परम्परा में। शंकर का दक्षिण में उत्पन्न होना इस्लाम का प्रभाव नहीं है वरन् उस ऐतिहासिक परिस्थिति का परिणाम है जिसमें हिन्दुत्व सिमटकर दक्षिण में केन्द्रीभूत हो गया था और वहां उसे त्राण मिल रहा था। शंकर में बुद्धवाद और वेदान्त का समन्वय है न कि इस्लाम और हिन्दुत्व का। यदि शंकर इस्लाम के अर्थ में एकेश्वरवादी होते तो शिव, सूर्य और शक्ति पर स्तोत्र न रचते और न भारत

के चार कोनों पर मठो की ही स्थापना करते। शांकरीय दर्शन में सृष्टि के स्वरूप और उद्गम का जो वर्णन है वह इस्लाम की मान्यताओं के प्रतिकूल ही पड़ता है।

वैष्णव धर्म और भक्ति-आन्दोलन की आत्मा, डा० ताराचन्द और उनके समान मत वाले अन्य इतिहासकारों के अनुसार, इस्लामी है जबकि उसका कलेवर हिन्दू। इस मत के मुख्य आधार हैं—भक्ति का तथा भक्ति के प्रणेता वैष्णवाचार्यों तथा शैवाचार्यों का दक्षिण में ही उत्पन्न होना, भक्तिवादी विचारधारा में प्रपत्ति (शरणागति), एकान्त निष्ठा और व्यक्तिवादी भावना का पाया जाना, जातिप्रथा तथा वर्ण व्यवस्था का विरोध तथा खंडन-मंडन, गुरु शिष्य-परम्परा तथा ज्ञान प्राप्ति के लिए गुरु को ईश्वर से भी बड़ा स्थान देना[1] और भक्ति आन्दोलन के माध्यम से फैलने वाला मानवतावादी दृष्टिकोण। किन्तु यह सिद्ध करना बड़ा कठिन है कि ये विचार और मान्यतायें हिन्दुत्व में इस्लाम से सम्पर्क होने के पहले नहीं थी। भक्ति की परम्परा हिन्दुत्व की आगम परम्परा में एक जन परम्परा के रूप में उतनी ही प्राचीन है जितना की स्वयं हिन्दुत्व और सम्भवतः उससे भी अधिक। प्रपत्ति का भाव भी हिन्दुत्व के लिए नया नहीं है। भक्ति का और भक्ति मार्गी आचार्यों का दक्षिण में उत्पन्न होना उस प्रक्रिया का परिणाम है जिसके कारण हिन्दुत्व दक्षिण में केन्द्रीभूत हो गया था। इस्लाम में गुरु शिष्य परम्परा का मूलस्रोत वह आयत है जिसमें यह कहा गया है कि मुहम्मद मनुष्य तथा ईश्वर के बीच की एक कड़ी है[2]। किन्तु गीता के एक श्लोक में यह कहा गया है कि ओम का जाप और उसके अर्थरूप में भगवान कृष्ण का ध्यान करता हुआ जो व्यक्ति शरीर छोड़ता है, वह परमगति को प्राप्त होता है[3]। यहाँ मनुष्य तथा ईश्वर के बीच में कृष्ण का बहुत कुछ वही स्थान है जो मुहम्मद का है। श्वेताश्वतरोपनिषद के अन्तिम मन्त्र में यह कह कर कि 'यस्य देवे परा भक्तिर्यथा देवे तथा गुरौ' गुरु में देवत्व की भावना का प्रतिपादन कर दिया गया है। कबीर, दादू और नानक के बौद्धिक पूर्वज सिद्ध-कवियों ने गुरु के उपदेश

1 कबीर ने कहा है—गुरु गोविन्द दोनों खड़े काके लागूं पांय
बलिहारी गुरु आपने जिन गोविन्द दिया बताय।
अर्थात गुरु की बलिहारी है जिन्होंने गोविन्द की पहचान करायी। तुलसीदास ने भी मानस का प्रारम्भ गुरु वन्दना से किया है। सिक्ख सम्प्रदाय में नानक के माध्यम से गुरु की महिमा आई और यहाँ तक बढ़ी कि वहाँ 'वाह गुरु का खालसा' धर्म का नारा हो गया। दक्षिण के चार शैवों ने भी गुरु को ज्ञान का माध्यम माना है। सूफियों में बिना पीर के ज्ञान मिल ही नहीं सकता।

2 लाइलाह इल्लिल्लाह मुहम्मदुर्रसूलिल्लाह।

3 ओमित्येकाक्षरं ब्रह्म व्याहरन्मामनुस्मरन्।
यः प्रयाति त्यजन्देहं स याति परमां गतिम्। गीता

जिनमे यह प्रतिपादित किया गया है कि शंकर की अद्वैतवादी परम्परा और उनके बाद से प्रवाहित होने वाली भक्ति धारा, हिन्दुत्व पर इस्लाम के प्रत्यक्ष प्रभाव का परिणाम है। दूसरी ओर हैं दिनकर तथा विनयकुमार सरकार के मत जो इस बात पर जोर देते हैं कि आठवीं शताब्दी से लेकर अठारहवीं शताब्दी तक प्रवाहित होने वाली मानवतावादी विचारधारायें सुधारवादी आन्दोलन तथा भक्तिमार्गी परम्परायें, वास्तव में, हिन्दुत्व के उत्तरोत्तर उदविकास का परिणाम हैं न कि इस्लाम के सपात का। विनयकुमार सरकार के अनुसार चौदहवीं तथा अठारहवीं शताब्दियों के बीच में, हिन्दुत्व में चलने वाले मानवतावादी तथा एकेश्वरवादी सुधार आन्दोलनों को इस्लाम के सपात का परिणाम मानने की एक प्रथा सी रही है। किन्तु, समाजशास्त्रीय दृष्टिकोण से यह आवश्यक है कि इस परम्परा के आवरण को उठाकर, इतिहास को और भी गहराई से देखा जाय क्योंकि एकेश्वरवादी तथा मानवतावादी विचारधारायें प्रारम्भ से हिन्दू सामाजिक धार्मिक और सामाजिक धार्मिक परम्पराओं में विद्यमान रही हैं। इन दोनों विभिन्न मतों के बीच में सम्यक्मार्गी तथा सामासिकतावादी इतिहासकार हैं जो मध्ययुगीन भारत की भक्तिमार्गी शाखा का हिन्दुत्व का इस्लामीकरण या इस्लाम का हिन्दूकरण मानकर उसे हिन्दू मुस्लिम समन्वय का प्रतीक मानते हैं।

शंकर और रामानुज पर इस्लाम के प्रभाव की बात सर्वप्रथम सर चार्ल्स इलियट ने अपनी पुस्तक हिन्दुइज्म और बुद्धिज्म (1921) में कही थी और तभी से इतिहासकारों का एक सम्प्रदाय इस बात को सिद्ध करने में लग गया। डा० ताराचन्द इस सम्प्रदाय के प्रमुख इतिहासकार हैं। उनके अनुसार, शंकर के अभ्युदय के पहले ही से इस्लाम का प्रभाव मालाबार के तट पर फैल गया था। डा० ताराचन्द ने शंकर को इस्लाम का अनुकर्ता माना है और अपना इस मान्यता की पुष्टि के लिये उन्होंने दो बातों पर जोर दिया है—एक, शंकर द्वारा अद्वैतवाद के माध्यम से एकेश्वरवाद का प्रतिपादन और दूसरा शंकर का दक्षिण में ही उत्पन्न होना। किन्तु शंकर का अद्वैतवाद और इस्लाम का एकेश्वरवाद मूलतः भिन्न है। इस्लामी एकेश्वरवाद में ईश्वरवादिता है। इस्लाम में जिस ईश्वर की कल्पना की गई है वह दया और दण्ड दोनों देता है और बन्दा अर्थात व्यक्ति उसका दास है तथा उसकी दया पर निर्भर है। किन्तु, शंकर का ब्रह्म तटस्थ, निराकार और निर्विकार है। इस्लाम में माया का कहीं स्थान नहीं है। शंकर ने जीव और ब्रह्म को मूलतः एक माना है। उनमे यदि अन्तर है तो माया के कारण। शंकर वैदिक परम्परा में है न कि इस्लामी परम्परा में। शंकर का दक्षिण में उत्पन्न होना इस्लाम का प्रभाव नहीं है वरन उस ऐतिहासिक परिस्थिति का परिणाम है जिसमें हिन्दुत्व सिमटकर दक्षिण में केन्द्रीभूत हो गया था और वहां उसे प्राण मिल रहा था। शंकर में बुद्धवाद और वेदान्त का समन्वय है न कि इस्लाम और हिन्दुत्व का। यदि शंकर इस्लाम के अर्थ में एकेश्वरवादी होते तो शिव, सूर्य और शक्ति पर स्तोत्र न रचते और न भारत

के चार कोनों पर मठों की ही स्थापना करते। शांकरीय दर्शन में सृष्टि के स्वरूप और उद्गम का जो वर्णन है वह इस्लाम की मान्यताओं के प्रतिकूल ही पड़ता है।

वैष्णव धर्म और भक्ति-आन्दोलन की आत्मा, डा० ताराचन्द और उनके समान मत वाले अन्य इतिहासकारों के अनुसार, इस्लामी है जबकि उसका कलेवर हिन्दू। इस मत के मुख्य आधार हैं—भक्ति का तथा भक्ति के प्रणेता वैष्णवाचार्यों तथा शैवाचार्यों का दक्षिण में ही उत्पन्न होना, भक्तिवादी विचारधारा में प्रपत्ति (शरणागति), एकान्त निष्ठा और व्यक्तिवादी भावना का पाया जाना, जातिप्रथा तथा वर्ण व्यवस्था का विरोध तथा खंडन-मंडन, *गुरु शिष्य-परम्परा तथा ज्ञान प्राप्ति के लिए गुरु को* ईश्वर से भी बड़ा स्थान देना[1] और भक्ति आन्दोलन के माध्यम से फैलने वाला मानवतावादी दृष्टिकोण। किन्तु, यह सिद्ध करना बड़ा कठिन है कि ये विचार और मान्यतायें हिन्दुत्व में इस्लाम से सम्पर्क होने के पहले नहीं थीं। भक्ति की परम्परा हिन्दुत्व की आगम परम्परा में एक जन परम्परा के रूप में उतना ही प्राचीन है जितना की स्वयं हिन्दुत्व और सम्भवतः उससे भी अधिक। प्रपत्ति का भाव भी हिन्दुत्व के लिए नया नहीं है। भक्ति का और भक्ति मार्गी आचार्यों का दक्षिण में उत्पन्न होना उस प्रक्रिया का परिणाम है, जिसके कारण हिन्दुत्व दक्षिण में केन्द्रीभूत हो गया था। इस्लाम में गुरु शिष्य परम्परा का मूलस्रोत वह आयत है जिसमें यह कहा गया है कि मुहम्मद मनुष्य तथा ईश्वर के बीच की एक कड़ी हैं[2]। किन्तु गीता के एक श्लोक में यह कहा गया है कि ओम का जाप और उसके अर्थरूप से भगवान कृष्ण का ध्यान करता हुआ जो व्यक्ति शरीर छोड़ता है, वह परमगति को प्राप्त होता है[3]। यहाँ मनुष्य तथा ईश्वर के बीच में कृष्ण का बहुत कुछ वही स्थान है जो मुहम्मद का है। श्वेताश्वतरोपनिषद के अंतिम मन्त्र में यह कह कर कि 'यस्य देवे परा भक्तिर्यथा देवे तथा गुरौ' गुरु में देवत्व की भावना का प्रतिपादन कर दिया गया है। कबीर, दादू और नानक के बौद्धिक पूर्वज सिद्ध-कवियों ने गुरु के उपदेश

---

1 कबीर ने कहा है—गुरु गोविन्द दोनों खड़े काके लागूँ पाँय
बलिहारी गुरु आपने जिन गोविन्द दियो बताय।
अर्थात् गुरु की बलिहारी है जिन्होंने गोविन्द की पहचान करायी। तुलसीदास ने भी मानस का प्रारम्भ गुरु-वन्दना से किया है। सिक्ख-सम्प्रदाय में नानक के माध्यम से गुरु की महिमा आई और यहाँ तक बढ़ी कि वहाँ 'वाह गुरु का खालसा' पंथ का नारा हो गया। दक्षिण के वीर शैवों ने भी गुरु को ज्ञान का माध्यम माना है। सूफियों में बिना पीर के ज्ञान मिल ही नहीं सकता।
2 लाईलाह इल्लिल्लाह मुहम्मदुर्रसूलिल्लाह।
3 ओमित्येकाक्षरं ब्रह्म व्याहरन्मामनुस्मरन्।
य प्रयाति त्यजन्देहं स याति परमां गतिम्। गीता

को अमृत रस के समान मानने तथा गुरु वचन में भक्ति रखने पर जोर दिया है क्योंकि शास्त्रार्थ के सम्बन्ध में केवल गुरु के अमृतरूपी उपदेश से ही तृप्ति प्राप्त होती है[4]। उत्तरी भारत में सिद्धों की परम्परा इस्लाम के पहले की है।

वर्णव्यवस्था के विरुद्ध प्रतिक्रिया इस्लाम के पहले ही से भारत में विद्यमान है। 'आत्मवत सर्व भूतेषु (सभी प्राणियों को अपने समान समझो)' 'पंडिता समदर्शिना' (ज्ञानी समदर्शी होते हैं) और 'वसुधैव कुटुम्बकम्' (वसुधा कुटुम्ब के समान है) की भावनाएं वैदिक काल से ही हिन्दू चिंतन का अंग रही है। इन्हीं का प्रस्फुटन बुद्धवाद, मध्ययुगीन भक्त कवियों और स्वामी दयानन्द, राममोहनराय और महात्मा गांधी जैसे समाज सुधारकों के चिन्तनों तथा कार्यों में हुआ है। भारत की सामाजिक परिस्थितियों में, प्रारम्भ से ही मानवतावादी विचार और कार्य यहां के चिन्तन का एक अंग बन गये थे और आज भी हैं। शंकर का अद्वैतवाद और तुलसी के राम सम्भवतः इसी मानवतावाद की दार्शनिक तथा काव्यात्मक अभिव्यक्ति हैं। विनय कुमार सरकार के अनुसार भारत में, विशेषतया हिन्दुत्व में एक ओर, वर्णाश्रम रहा है तो दूसरी ओर वर्णाश्रम के विरुद्ध उठने वाली प्रतिक्रियायें। एक ओर, कानून और व्यवस्था पर जोर दिया गया है तो, दूसरी ओर कानून और व्यवस्था के प्रति विद्रोह किया गया है। एक ओर, जाति शुद्धता की भावना रही है तो, दूसरी ओर, वर्णसंकर की। इस प्रकार हिन्दुत्व में दो विरोधी शक्तियाँ प्रवाहित होती रही हैं और इन्हीं विरोधी शक्तियों के प्रवाह में हिन्दू सांस्कृतिक उद्विकास के आदर्श नियम निहित हैं। इस्लामी वातावरण के हिन्दू भारत में प्रवाहित होने वाली समाजवादी तथा प्रजातन्त्रीय विचारधाराओं में इन्हीं परम्परागत समाज निर्मात्री प्रक्रियाओं का प्रवाह है, जिनके माध्यम से निम्नस्तरीय समूहों का उच्च स्तर की ओर सामाजिक आरोहण होता है। हिन्दू संस्कृति का प्रसार—इन शब्दों से केवल एक ही अर्थ ध्वनित होता है और वह है हिन्दू समाज का उत्तरोत्तर प्रजातन्त्रीकरण या हिन्दू संस्थाओं और प्रथाओं पर जनता का उत्तरोत्तर संघात और उससे उत्पन्न होने वाले परिवर्तनों के मध्य वृद्धि तथा उद्विकास। मुस्लिम वातावरण में इस परम्परागत हिन्दू प्रवृत्ति का किसी भी प्रकार हनन नहीं हुआ। अतः जिसे डा० ताराचन्द इस्लाम के प्रभाव का परिणाम मानते हैं, उसे विनयकुमार सरकार हिन्दुत्व का स्वाभाविक विकास मानते हैं।

ताराचन्द के तर्कों में विरोध है और उनकी अध्ययन रीति दोषपूर्ण। एक ओर वे शंकर को इस्लाम का अनुकर्ता और शंकर द्वारा प्रतिपादित अद्वैतवाद को लाईलाह इल्लिल्लाह की प्रतिकृति मानते हैं तो दूसरी ओर मानते हैं कि इस्लाम ने चौदहवीं तथा पन्द्रहवीं शताब्दियों में बौद्धिक उत्प्रेरक का ही कार्य किया होगा। उत्प्रेरणा और प्रतिकृति के पीछे जो धारणायें हैं वे परस्पर विरोधी हैं क्योंकि जो

4 दिनकर वही पृष्ठ 217

उत्प्रेरक है उसकी प्रतिकृति नहीं आ सकती। ताराचन्द भक्ति और रहस्यवाद को मानव की सार्वभौमिक और सर्वकालीन धार्मिक प्रवृत्ति मानते हैं और यह भी मानते हैं कि भारत में भक्ति और रहस्यवाद के तत्व पहले ही से विद्यमान थे। फिर भी, वे भारत में भक्ति और रहस्यवाद के उद्विकास का विश्लेषण छोड़ देते हैं और भक्ति तथा रहस्यवाद को इस्लाम से आया हुआ मान लेते हैं। जैसा कि डा० ताराचन्द की पुस्तक के शीर्षक 'इन्फ्लुएंस आफ इस्लाम आन इण्डिया' से स्पष्ट है उनकी अध्ययन रीति का सबसे बड़ा दोष यह है कि उनके अध्ययन का विषय है भारत पर इस्लाम का प्रभाव न कि भारतीय संस्कृति में इस्लाम। उनकी दृष्टि केवल इस्लाम पर है और मध्ययुगीन भारतीय संस्कृति के उन्हीं अंशों पर पड़ती है जहाँ उन्हें इस्लाम की प्रतिकृति नजर आती है। यदि ऐसा न होता तो उन्हें विष्णुस्वामी, निम्बार्क और मध्व का चिंतन नज्जाम अशअरी और गजाली[1] की प्रतिकृति क्या लगता? इस्लाम में प्रपत्ति है एक निराकार ईश्वर के प्रति जो दया का आगार है और न्याय का भी किंतु भारतीय भक्ति विचार में प्रपत्ति है साकार के प्रति जिसमें भक्त लीन नहीं होना चाहता। इस्लाम में प्रपत्ति का कुछ और रूप है और हिन्दुत्व में कुछ और। डा० ताराचन्द की दृष्टि केवल प्रपत्ति पर है न कि इस्लाम तथा हिन्दुत्व में पायी जाने वाली प्रपत्ति विषयक मान्यताओं के अन्तर पर। यदि वे इस आधारभूत अन्तर पर ध्यान देते और उसे हिन्दुत्व की स्वाभाविक उद्विकासीय प्रक्रिया के सन्दर्भ में समझने का प्रयत्न करते तो वे वैष्णवी और शैव परम्पराओं को इस्लाम का प्रत्यक्ष प्रभाव न मानते। किन्तु, ताराचन्द की अध्ययन रीति में समानान्तर उद्विकासीय वृद्धि का कोई स्थान ही नहीं है।

ताराचन्द के मत में, मध्ययुगीन रहस्यवादी अभिव्यक्तियों के रूप, प्रतीक, प्रकार और परिवर्तन की दिशायें आन्तरिक वृद्धि का प्रतीक न होकर बाह्य प्रभावों का प्रसार हैं। दक्षिण में इस्लाम से पहले इस्माइलियत का प्रवेश हो चुका था। पर डा० ताराचन्द इस्माइलियत को रहस्यवादी परम्पराओं का कारक नहीं मानते क्योंकि हिन्दुत्व और इस्माइलियत को सम्पर्क में लाने वाली आवश्यक ऐतिहासिक परिस्थितियाँ दक्षिण में नहीं थीं। 'आवश्यक ऐतिहासिक परिस्थितियों' का क्या अर्थ है, इसे ताराचन्द ने स्पष्ट नहीं किया है। ताराचन्द इसे स्वीकार करते हैं कि प्राचीन तथा मध्ययुगीन भारत के रागात्मक धर्म सम्बन्धी विचारों तथा परम्पराओं में जो अन्तर है, उसका बहुत बड़ा अंश तत्कालीन सामाजिक उथल पुथल धार्मिक संघर्षों राजनैतिक आन्दोलनों और हिन्दुत्व के सामाजिक धार्मिक तथा बौद्धिक विकास का स्वाभाविक परिणाम है। फिर भी, ताराचन्द के मत में, इस पर इस्लाम का प्रभाव है क्योंकि धार्मिक आस्था का उत्तरा

---

1 नज्जाम अशअरी और गजाली प्रसिद्ध सूफी चिन्तक हुए हैं और विष्णुस्वामी, निम्बार्क और मध्व वैष्णवी दर्शन के प्रणेता हैं।

सर सरलीकरण और उसमें बढ़ती हुयी भावुकता का पुट इस्लामी प्रभावों का ही परिणाम है। जैसाकि ताराचन्द ने लिखा है, "ऐसा लगता है कि जब उत्तरोत्तर सरली करण और बढ़ती हुयी भावुकता के पीछे एक निश्चित शक्ति और प्रवृत्ति काम कर रही हो। किन्तु, यह निश्चित शक्ति और प्रवृत्ति हिन्दुत्व का आन्तरिक विकास नहीं है—वह इस्लाम से आयी है। महात्मा बुद्ध द्वारा सरलीकरण की मांग और वेदों की रहस्यवादी अभिव्यक्तियां जब अस्तित्व में आकर समाप्त हो गयी हों ? यह मानते हुये भी कि रहस्यवादी धार्मिक अनुभव के रूप में मुसलमानों ने हिन्दुओं को जो कुछ अर्पित किया वह हिन्दुओं के लिए नया नहीं था और हिन्दू मस्तिष्क में सात्मीकरण तथा समन्वय की अपूर्व क्षमता है, वे रहस्यवाद का इस्लाम का ही योगदान मानते हैं क्योंकि उनका तर्क आधारित है परिस्थिति प्रमाण (Circumstantial Evidence) पर—वह प्रमाण जिसमें अनुमान का अधिक पुट रहता है। दक्षिण में, भक्ति तथा रहस्यवाद के अधिकतर तत्व, अपने व्यक्तिगत रूप में हिन्दुत्व के स्वाभाविक विकास का अलग-अलग परिणाम थे। यह स्वीकार करते हुए भी ताराचन्द यह प्रतिपादित करते हैं कि ये सारे तत्व अपने सम्मिलित रूप में और अपने एक विशेष झुकाव के कारण मुस्लिम आस्था (Muslim Faith) का आभास देते हैं और हिन्दुत्व पर मुस्लिम प्रभाव की सम्भावना के तर्क को और भी दृढ़ता प्रदान करते हैं। हिन्दुत्व में इस्लाम की प्रतिकृत और प्रभाव ही ढूढ़ने वाला विद्वान विरोधी तर्कों की इस भ्रांति में पड़ सकता है और एकतरफा मान्यताओं को प्रतिपादित कर सकता है।

यह दोष न तो डा० ताराचन्द का है और न उनके जैसे अन्य इतिहासकारों का। वास्तव में, यह दोष है ऐतिहासिक विवेचन की उस पुरानी परम्परा का जिसमें इतिहासकार किसी प्रमेय विषय पर ही अपना ध्यान केन्द्रित रखता है और उसे ही प्रधान मानकर और सभी कुछ गौण मान लेता है। डा० ताराचन्द के लिए भारत पर इस्लाम का प्रभाव प्रधान प्रमेय है और इस्लाम के पहले तथा बाद का हिन्दुत्व गौण। किन्तु जहां सतत अभ्युदय वृद्धि और उद्विकास है वहाँ इस्लाम वह प्रवाह है जो एक बड़े प्रवाह से मिलता है। हिन्दुत्व पर इस्लाम का क्या प्रभाव पड़ा यह एक विपर्यातिरक प्रश्न है ? इस सन्दर्भ में सही प्रश्न यह है कि भारत में इस्लाम के प्रवेश से हिन्दू संस्कृति की उद्विकासी प्रक्रिया में क्या परिवर्तन लहरें उठी और, उनके मध्य में हिन्दुत्व या व्यापक अर्थ में भारतीय संस्कृति का किस प्रकार उद्विकास हुआ। सांस्कृतिक उद्विकास सदैव समन्वयकारी होता है जिसमें प्रत्येक परिवर्तन एक उद्विकासी परिवर्तन शृंखला से सम्बद्ध रहता है। जहाँ परिवर्तन में स्थायित्व न हो और स्थायित्व में आधारभूत तत्व न बने रहें, वहां केवल परिवर्तन होता है, उद्विकास नहीं। इस्लाम के प्रवेश से हिन्दुत्व का परिवर्तन ही नहीं, उद्विकास भी हुआ।

इस्लाम और हिन्दुत्व की तुलना करते समय अधिकतर लोगों का ध्यान, एक ओर, सरबीकृत इस्लाम पर रहता है तो, दूसरी ओर, हिन्दुत्व के उस रूप पर जो निगम अथवा वैदिक है। किन्तु वास्तव में, आगम (अवैदिक) भी हिन्दुत्व का उतना ही अंग है जितना कि निगम। आगम से निगम और आगम तथा निगम का उत्तरोत्तर समन्वय हिन्दुत्व की उदविकासी प्रक्रिया की मूलप्रवृत्ति रही है। जन-संस्कृति के तत्व तथा परम्परायें, आगम के माध्यम से, समयानुसार निगम में समन्वित होती रही हैं और इसी कारण समय समय पर मिलने वाली उत्प्रेरणाओं के कारण, हिन्दुत्व में आगम का उभार होता रहा है। भारत में इस्लाम तथा पश्चिमी सभ्यता दो प्रबल उत्प्रेरणायें रही हैं जिनके प्रभाव में आगम का उभार मिला तथा निगम से उसका समन्वय हुआ। मध्ययुग में रहस्यवाद भक्ति तथा मानवतावादी विचारों का उभार इसी उदविकासी प्रक्रिया का परिणाम है। भक्ति का एक ओर जन-आन्दोलन के रूप में उभरना तथा दूसरी ओर उसका भारतीय दर्शन की परम्परा में समन्वित होना इसी तथ्य का प्रमाण है।



पन्द्रहवाँ अध्याय

सात्मीकरण, समन्वय, पुनरुन्नयन, सुधार और संघर्ष

पंथ परम्परा

इस्लामी सम्पर्क के वातावरण में, भक्ति-आन्दोलन ने यदि एक ओर हिन्दू ईश्वरवादिता के दार्शनिक निर्वचन तथा पुनःसंस्थापन का रूप लिया था, दूसरी ओर, पंथ परम्परा का, जिसके माध्यम से हिन्दुत्व में निगमागम का व्यापक समन्वय हुआ पुनरुन्नयनवादी सुधारवाद का आन्दोलन बढ़ा। अनेक इस्लामी विशेषताओं का हिन्दुत्व में सात्मीकरण और समन्वय हुआ, औपनिषदिक बौद्धिकता के पुनरुन्नयन के द्वारा एकेश्वरवाद के मत का प्रतिपादन करके धर्म और जाति के अंतर का निस्सार बताया गया, ज्ञानमय भक्ति को सर्वोपरि माना गया तथा इस्लाम के प्रति विद्रोह का बीजारोपण हुआ। ये सारी प्रक्रियायें एक साथ चलीं और उनके माध्यम थे भक्त-सन्तों द्वारा संगठित पंथ, जिनका आविर्भाव इस काल में सारे भारत में हुआ। ये पंथ हिन्दुओं में मजहबी आस्था लेकर प्रस्फुटित हुए। प्रत्येक पंथ के प्रणेता ने भक्तिमार्गी परम्परा में हिन्दुत्व का निर्वचन करके, अपने पंथ का संगठन किया। पंथ निर्गुणवादी, भक्तिमार्गी जाति-पाँति विरोधी और सहजज्ञानमार्गी थे। इनके प्रणेताओं ने मूर्तिपूजा का खण्डन किया, संन्यास को निरर्थक माना, गृहस्थ-साधु के आदर्श को प्रतिपादित किया और भगवत्भजन को मोक्ष प्राप्ति का

साधन माना। जिस प्रकार, इस्लाम में सूफी पंथों का निम्न स्तर की जनता में संगठन हो रहा था, उसी प्रकार निम्नस्तर की हिन्दू जनता में भक्तिवादी पंथों का संगठन हो रहा था। पंथों की भक्तिवादी परम्परा पारलौकिकता की ओर उन्मुख थी यद्यपि इस्लाम का झुकाव इहलौकिकता की ओर था। हिन्दू मुस्लिम संघर्ष बादशाहत के अन्त हुए वैभव और निरंतर होने वाले युद्धों के कारण जनता पर पड़ने वाले भार और उससे उत्पन्न होने वाली गरीबी ने सम्भवतः पारलौकिकता के भाव को सामाजिक-मानसिक जीवन का एक अंग बना दिया। अनेक विदेशी सूफी सम्प्रदायों तथा मुगल-राज की बढ़ती हुई कट्टरता ने अनेक पंथों (सिक्ख, सतनामी, बैरागी) को उतना ही कट्टर बना दिया जितना कि इस्लाम था। इस कट्टरता ने संघर्ष को जन्म दिया।

इस काल में जिन पंथों का अभ्युदय हुआ है उनमें से मुख्य हैं — कबीर, सिक्ख, वैष्णवी, राधास्वामी, वीर शैव तथा लिंगायत इत्यादि। गुरु परम्परा में ये पंथ मठीय संगठनों के रूप में विकसित हुए। प्रत्येक पंथ का एक महन्त हुआ और कई पंथ कालान्तर में कई महन्तों में बंट गए। यह पंथ परम्परा उन्नीसवीं शताब्दी तक चलती हुई वर्तमान तक आती है। राधास्वामी सम्प्रदाय की स्थापना उन्नीसवीं शताब्दी में हुई थी और ब्रह्मकुमारी तथा मेहर बाबा के पंथों के रूप में यह परम्परा आज भी विद्यमान है। एक ओर पुराने पंथ (जैसे कबीर, रैदास और शिवनारायनी) स्थायी रहे हैं और दूसरी ओर नए पंथों की स्थापना हुई। यूरोपीय सभ्यता तथा ईसाइयत के सम्पर्क में, इस परम्परा ने समाजों की परम्परा का रूप लेकर वर्तमान समाज सुधार-आन्दोलन का रूप ले लिया है। इसी परम्परा ने भीलों में भगत आन्दोलन जैसे हिन्दुत्व की ओर उन्मुख सुधारवादी आन्दोलनों का रूप लिया है।

निर्गुण पंथों का आविर्भाव उन आदर्शों व भावनाओं के समावेश से हुआ है जिनके मूल स्रोत बौद्धधर्म, वैष्णव सम्प्रदाय, वेदान्त-दर्शन तथा योगमार्गी गोरखनाथी पंथ जैसे धर्मों, दर्शनों व रहस्यवादी पंथों में हैं। सभी निर्गुण पंथों पर अंशतः उपनिषद तथा वेदान्त का, बौद्ध धर्म का, अंशतः भारत की योग-परम्परा का, और अंशतः इस्लाम के सूफीवाद और भक्तिमार्ग का प्रभाव है। इनके आविर्भाव का कारक हैं वे परिस्थितियाँ जो इस्लाम के संघात के कारण भारत में उत्पन्न हुई थीं। ये पंथ व सुधारवादी आन्दोलन हैं जिनमें बौद्ध तथा इस्लामी मजहबों की परम्परा के आधार पर, अलग अलग सुधारवादी सम्प्रदायों का संगठित करने का प्रयास किया है। अलग-अलग सम्प्रदाय होने पर भी ये पंथ साधारणतया सम्प्रदायवादी नहीं रहे हैं, क्योंकि इनमें से अधिकतर पंथों के प्रणेताओं ने हिन्दुत्व और इस्लाम के बीच में एक अलग सामाजिक धार्मिक दर्शन प्रतिपादित करने का प्रयास किया है। इन सुधारवादी आन्दोलनों के सम्बन्ध में 'पंथ' और 'सम्प्रदाय' का अर्थ है उस आध्यात्मिक मार्ग (अथवा मार्गों) से जिसके आधार पर प्रत्येक पंथ अथवा सम्प्रदाय संगठित हुआ है। निर्गुण पंथों में प्रत्येक पंथ इसलिए सम्प्रदाय कहा जा सकता है कि

पंद्रहवां अध्याय

सात्मीकरण, समन्वय, पुनरुन्नयन, सुधार और संघर्ष

पंथ-परम्परा

इस्लामी सम्पर्क के वातावरण में भक्ति आंदोलन ने यदि एक ओर हिंदू ईश्वरवादिता के दार्शनिक निर्वचन तथा पुनःसंस्थापन का रूप लिया तो, दूसरी ओर पंथ परम्परा का, जिसके माध्यम से हिंदुत्व में निगमागम का व्यापक समन्वय हुआ पुनरुन्नयनवादी सुधारवाद का आंदोलन बना। अनेक इस्लामी विशेषताओं का हिंदुत्व में सात्मीकरण और समन्वय हुआ। औपनिषदिक बौद्धिकता के पुनरुन्नयन के द्वारा एकेश्वरवाद के मत का प्रतिपादन करके धर्म और जाति के अंतर को निस्सार बताया गया, ज्ञानमय भक्ति को सर्वोपरि माना गया तथा इस्लाम के प्रति विद्रोह का बीजारोपण हुआ। ये सारी प्रक्रियायें एक साथ चलीं और उनके माध्यम से भक्त-संतों द्वारा संगठित पंथ, जिनका आविर्भाव इस काल के सारे भारत में हुआ। ये पंथ हिंदुओं में मजहबी आस्था लेकर प्रस्फुटित हुए। प्रत्येक पंथ के प्रणेता ने भक्तिमार्गी परम्परा में हिंदुत्व का निर्वचन करके, अपने पंथ का संगठन किया। पंथ निर्गुनवादी, भक्तिमार्गी, जाति पाति विरोधी और सहजज्ञानवादी थे। इनके प्रणेताओं ने मूर्तिपूजा का खण्डन किया, संन्यास को निरर्थक माना, गृहस्थ साधु के आदर्श का प्रतिपादन किया और भगवत भजन को मोक्ष प्राप्ति का

स्थापन माना। जिस प्रकार, इस्लाम में सूफी-पन्थों का निम्न स्तर की जनता में संगठन हो रहा था, उसी प्रकार निम्नस्तर की हिन्दू जनता में भक्तिवादी पन्थों का संगठन हो रहा था। पन्थों की भक्तिवादी परम्परा पारलौकिकता की ओर उन्मुख थी यद्यपि इस्लाम का झुकाव इहलौकिकता की ओर था। हिन्दू मुस्लिम संघर्ष, बादशाहत के बढ़ते हुए वैभव और निरन्तर होने वाले युद्धों के कारण जनता पर पड़ने वाले भार और उससे उत्पन्न होने वाली गरीबी ने सम्भवतः पारलौकिकता के भाव को सामाजिक मानसिक जीवन का एक अंग बना दिया। अनेक विदेशी सूफी सम्प्रदायों तथा मुगल-राज की बढ़ती हुई कट्टरता ने अनेक पन्थों (सिक्ख, सतनामी, वैरागी) को उतना ही कट्टर बना दिया जितना कि इस्लाम था। इस कट्टरता ने संघर्ष को जन्म दिया।

इस काल में जिन पन्थों का अभ्युदय हुआ है उनमें से मुख्य हैं—कबीर, सिक्ख, वैष्णवी, राधास्वामी, वीर शैव तथा लिंगायत इत्यादि। गुरु परम्परा में ये पन्थ मठों या मसन्दों के रूप में विकसित हुए। प्रत्येक पन्थ का एक महन्त हुआ और कई पन्थ कालान्तर में कई महन्तों में बँट गए। ये पन्थ परम्परा उन्नीसवीं शताब्दी तक चलती हुई वर्तमान तक आती है। राधास्वामी सम्प्रदाय की स्थापना उन्नीसवीं शताब्दी में हुई थी और ब्रह्मकुमारी तथा मेहर बाबा के पन्थों के रूप में यह परम्परा आज भी विद्यमान है। एक ओर, पुराने पन्थ (जैसे कबीर, रैदास और शिवनारायणी) स्थायी रहे हैं और, दूसरी ओर, नए पन्थों की स्थापना हुई। यूरोपीय सभ्यता तथा ईसाइयत के सम्पर्क में, इस परम्परा ने समाजों की परम्परा का रूप लेकर वर्तमान समाज सुधार-आन्दोलन का रूप ले लिया है। इसी परम्परा ने भीलों में भगत आन्दोलन जैसे हिन्दुत्व की ओर उन्मुख सुधारवादी आन्दोलनों का रूप लिया है।

निर्गुण-पन्थों का आविर्भाव उन आदर्शों व भावनाओं के समावेश से हुआ है जिनके मूल स्रोत बौद्धधर्म, वैष्णव सम्प्रदाय, वेदान्त-दर्शन तथा योगमार्गी गोरखनाथी पन्थ जैसे धर्मों, दर्शनों व रहस्यवादी पन्थों में हैं। सभी निर्गुण पन्थों पर अनन्त उपनिषद तथा वेदान्त का, बौद्ध धर्म का अनन्त भारत की योग-परम्परा का, और अनन्त इस्लाम के सूफीवाद और भक्तिमार्ग का प्रभाव है। इनके आविर्भाव का कारक हैं वे परिस्थितियाँ जो इस्लाम के संघात के कारण भारत में उत्पन्न हुई थीं। ये पन्थ व सुधारवादी आन्दोलन हैं जिनमें बौद्ध तथा इस्लामी मजहबों की परम्परा के आधार पर, अलग अलग सुधारवादी सम्प्रदायों का संगठित करने का प्रयास किया है। अलग-अलग सम्प्रदाय होते हुए भी ये पन्थ साधारणतया सम्प्रदायवादी नहीं रहे हैं क्योंकि इनमें से अधिकतर पन्थों के प्रणेताओं ने हिन्दुत्व और इस्लाम के बीच में एक अलग सामाजिक धार्मिक स्थान प्रतिपादित करने का प्रयास किया है। इन सुधारवादी आन्दोलनों के सम्बन्ध में 'पन्थ' और 'सम्प्रदाय' का अर्थ है उस आध्यात्मिक मार्ग (अथवा मार्गों) से जिसके आधार पर प्रत्येक पन्थ अथवा सम्प्रदाय संगठित हुआ है। निर्गुण पन्थों में प्रत्येक पन्थ इसलिए सम्प्रदाय कहा जा सकता है कि



पन्द्रहवाँ अध्याय

सात्मीकरण, समन्वय, पुनरुन्नयन, सुधार और संघर्ष

पंथ परम्परा

इस्लामी सम्पर्क के वातावरण में भक्ति आन्दोलन ने यदि एक ओर हिन्दू ईश्वरवादिता के दार्शनिक निर्वचन तथा पुनःसंस्थापन का रूप लिया तो, दूसरी ओर, पंथ परम्परा का जिसके माध्यम से हिन्दुत्व में निगमागम का व्यापक समन्वय हुआ पुनरुन्नयनवादी सुधारवाद का आन्दोलन बना अनेक इस्लामी विशेषताओं का हिन्दुत्व में सात्मीकरण और समन्वय हुआ, औपनिषदिक बौद्धिकता के पुनरुन्नयन के द्वारा एकेश्वरवाद के मत को प्रतिपादित करके धर्म और जाति के अन्तर को निस्सार बताया गया ज्ञानमय भक्ति को सर्वोपरि माना गया तथा इस्लाम के प्रति विद्रोह का बीजारोपण हुआ। ये सारी प्रक्रियायें एक साथ चलीं और उनके माध्यम थे भक्त संतों द्वारा संगठित पंथ जिनका आविर्भाव इस काल के सारे भारत में हुआ। ये पंथ हिन्दुओं में मजहबी आस्था लेकर प्रस्फुटित हुए। प्रत्येक पंथ के प्रणेता ने भक्तिमार्गी परम्परा में हिन्दुत्व का निर्वचन करके अपने पंथ का संगठन किया। पंथ निर्गुणवादी, भक्तिमार्गी जाति-पाँति विरोधी और सहजज्ञानवादी थे। इनके प्रणेताओं ने मूर्तिपूजा का खण्डन किया संन्यास को निरर्थक माना, गृहस्थ साधु के आदर्श को प्रतिपादित किया और भगवत भजन को मोक्ष प्राप्ति का

बौद्ध ग्रन्थों में इस तथ्य पर जोर दिया गया है कि धर्म शासकों का भी शासक है और दण्ड का आधार निरीह शक्ति नहीं, वरन धर्म है। बौद्धग्रन्थों में धर्म को वह परम्परा माना गया है जो न्याय, निष्पक्षता और परोपकारिता पर आधारित है। राजधर्म का आधार अर्थ, धर्म, काल, मात्रा और परिषद हैं जिसका तात्पर्य यह है कि राजधर्म का उद्देश्य है अर्थ की साधना, धर्मपालन समयानुसार उचित मात्रा में दण्ड का प्रयोग और राजधर्म को लागू करने के लिए परिषद की आवश्यक मंत्रणा का पालन। धर्म को बौद्धों ने सत्य का प्रतीक माना है। राजधर्म की धारणा में, इस प्रकार धर्म और दण्ड के सिद्धान्त एक में मिल गए हैं जिसके कारण राजधर्म में, विशेषतया दण्ड के उपयोग में, नैतिकता का समावेश हुआ है। इस कारण राजधर्म में दण्ड केवल निरीह राजनैतिक शक्ति और राज्य एक निरुद्देश्य प्रशासक संगठन होने से बचे हैं और सम्राट की निरंकुशता पर रोक लगी रही है। यही कारण है कि हिन्दू राजनैतिक विचारधारा में व्यक्ति को वहाँ राज्य तथा सम्राट के प्रति विद्रोह करने का अधिकार मिला हुआ है जहाँ राज्य तथा सम्राट धर्म के पथ से डिग चुके हैं। इसीकारण महाभारत का युद्ध धर्मयुद्ध है और कुरुक्षेत्र धर्मक्षेत्र है। गुरु रामदास ने शिवाजी को अधर्म के प्रति लड़ने की सलाह दी थी न कि औरंगजेब के प्रति। देवासुर संग्राम की कल्पना का सम्बन्ध भी अधर्म के प्रति धर्म संग्राम और धर्म की अन्ततोगत्वा विजय से है। कोई आश्चर्य नहीं यदि वर्तमान भारत में, भारत चीनी युद्ध को देवासुर तथा अधर्म के प्रति धर्म का संग्राम कहा गया है।

राजधर्म और प्रथा

राजतन्त्र को धर्मप्राण मानने के विचार से हिन्दू राजनैतिक संगठन में उन अनेक समाजशास्त्रीय तथ्यों का प्रस्फुटन हुआ है जो भारतीय संस्कृति के अभिन्न अंग बन गये हैं। राजतन्त्र में धर्म के दिव्य तथा सामाजिक पक्षों के समन्वय का प्रयास किया गया है। राजतन्त्र में धर्म के सामाजिक पक्ष का निर्वचन परिवार कुल, जाति वर्णाश्रम व्यवस्था, क्षेत्रीय प्रथाओं युग मर्यादाओं और मानवता के उन नियमों के रूप में किया गया है, जिनका निरूपण श्रुतियों और स्मृतियों में हुआ है। श्रुतियाँ और स्मृतियाँ प्रथाओं पर आधारित रही हैं। अतः राजतन्त्र में धर्म का आधार प्रथा रही है। यही कारण है कि धर्मग्रन्थों में विरोधी प्रथाओं का उल्लेख मिलता है और इस बात का भी उल्लेख मिलता है कि राज्य प्रशासन में प्रथा विधि से भी शक्तिशाली है। भारतीय समाज की सामाजिक सांस्कृतिक विजातिता को ही इसका कारण माना जा सकता है। भारत प्रारम्भ से ही जातियों और गणजातियों का देश रहा है और प्रत्येक जाति तथा गणजाति के अपने सामाजिक सांस्कृतिक नियम रहे हैं। इसके अतिरिक्त क्षेत्रीय संस्कृतियाँ भी रही हैं। धर्मग्रन्थ इस विजातीयता में सजातीयता लाने का प्रयास हैं और यही प्रयास हिन्दू सामाजिक संगठन का आधार रहा है। लेकिन, यह सजातीयता न तो किसी मजहब द्वारा थोपी गई है और न किसी राज्य द्वारा। ऐसी दशा में,

सामाजिक जीवन के आधारभूत नियम के रूप में, प्रथा को ही प्रमाण मानने की परम्परा रही है। इस कारण भारत में उस राजनैतिक विचारधारा का अभ्युदय हुआ है जिसमें यह माना गया है कि प्रजा की प्रथाओं के अनुसार प्रशासन करना ही सम्राट का धर्म है। जातियों और गणजातियों के नियमों के अनुसार प्रशासन करना और विभिन्न जातियों तथा गणजातियों के नियमों को लागू करना राज्य का धर्म माना गया है। मुस्लिम तथा अंग्रेज शासकों ने भी इस नियम की अवहेलना नहीं की है। अंग्रेजी राज्यकाल में जब स्वीय विधि (Personal Law) को संहिताबद्ध करने का प्रश्न उठा तब यही नियम मान्य ठहराया गया कि जहाँ धर्मग्रन्थों में मतभेद हो, वहाँ प्रथा ही निश्चित वैधिक प्रमाण है। भारत में संविधायिनी सत्ता का श्रीगणेश अंग्रेजी राज्यकाल में हुआ है। प्रथा की सर्वोपरिता का ही यह परिणाम है कि भारतीय सामाजिक विधान प्रणाली, एक ओर जटिल है और दूसरी ओर, अधिकतर सामाजिक विधान प्रणाली में प्रथा को सामान्यविधि का अपवाद माना गया है। प्रथायी वैधिक अपवाद को भी उतना ही वैधिक प्रमाण माना गया है जितना कि किसी निरूपित विधि को। हिन्दू विवाह अधिनियम (1955) इसका प्रमाण है। इस अधिनियम के अनुसार बहुपतीत्व अमान्य है लेकिन जौनसारबावर में बहुपतीत्व मान्य है क्योंकि वहाँ की प्रथा के अनुसार बहुपतीत्व वहाँ के सामाजिक जीवन का आधार है। इस अधिनियम के अनुसार सगोत्र विवाह वहीं वैधव्य है जहाँ प्रचलित प्रथा में इसका विरोध न हो।

यह एक ऐतिहासिक तथ्य है कि विजयनगर के हिंदू राजाओं ने अपने लिए जातिसंरक्षक' (Maintainer of Castes) की उपाधि ग्रहण की थी[1]। सम्राट के जातिसंरक्षक होने का तात्पर्य है जातिगत प्रथाओं की रक्षा करना तथा उनको लागू करना। ऐसी दशा में जाति तथा गणजाति पंचायतों का महत्त्व स्वतः बढ़ जाता है। जाति तथा गणजाति पंचायत और ग्रामपंचायत, राज्य तथा व्यक्ति के बीच में, अन्तर्वर्ती सामाजिक क्षेत्र (Buffer Social Zone) के समान रही हैं। विभिन्न जातियों तथा गणजातियों के बीच में व्यवस्था बनाये रखना और आश्रम तथा वर्णों के नियमों को व्यवस्थित रखना राज्य का मुख्य कर्तव्य रहा है। इसका तात्पर्य यह निकलता है कि विभिन्न जातियों, गणजातियों तथा वर्णों के स्वधर्म की रक्षा करना और उन्हें व्यवस्थित रखना राज्य का मुख्य कर्तव्य रहा है। प्रथा को प्रमाण मानते हुए, राजधर्म की धारणा के अनुसार राज्य का मुख्य कर्तव्य है जीवन के तीन आदर्शों—धर्म, अर्थ और काम (जिसमें परिवार, जाति या आश्रम और वर्ण की व्यवस्था आ जाती है) को व्यवस्थित रखना। हिन्दू सामाजिक संगठन की धारणा में, राज्य का स्थान अराजकता और व्यवस्था के बीच में आता है क्योंकि राज्य का मुख्य कर्तव्य अरा-

---

1 गोपाल बी० जी० वही पृष्ठ 172

जकता को रोकना और वर्णाश्रमी व्यवस्था और वयक्तिक, साम्पत्तिक तथा सस्थायी सुरक्षा को बनाये रखना है। मोक्ष का सम्बन्ध व्यक्ति से है। अत, मोक्ष राजधर्म के क्षेत्र से बाहर है।

हिन्दू राजनतिक व्यवस्था की धारणा म राज्य तथा सम्राट के दो पहलू है—एक, पहलू है धर्म, अर्थ तथा काम की व्यवस्था के सरक्षक का, स्वधर्म के परिपोषक का और परोपकारी कृपालु का और दूसरा, जो केवल व्यवस्था का माध्यम है और अराजकता का अवरोधक है, जिसका कर्तव्य उन प्रथाओ को लागू करना है जिनका व्यक्ति परिवार जाति वर्ण, आश्रम, ग्रामीण सामाजिक सगठन और धनोपार्जन म पालन करता है। व्यक्ति का राज्य से वही तक सम्बन्ध है जहाँ तक अर्थ और काम की व्यवस्थित साधना का सम्बन्ध है। वयक्तिक जीवन के उच्चतम उद्देश्य मोक्ष से राज्य का कोई सम्बन्ध नहीं है। साथ ही साथ, व्यक्ति का राज्य से कोई प्रत्यक्ष सम्बन्ध नही है क्योंकि राज्य का मुख्य कर्तव्य है—कुलधर्म जातिधर्म, वर्णधर्म तथा सक्षेप म स्वधर्म को व्यवस्थित करना। व्यक्ति का प्रत्यक्ष सम्बन्ध परिवार, जाति तथा ग्राम से है क्योंकि वही उसके सामाजिक जीवन तथा अस्तित्व की परिसीमायें है। ऐसी दशा म राज्य व्यवस्था म दो प्रवृत्तिया का परस्फुरन होता है—एक राज्य समाज का केन्द्र है और जनकल्याण का मुख्य माध्यम है। उसका अस्तित्व परोपकाराय है अत, उसके अधिकार असीमित है और दूसरे उसके अधिकार वही तक सीमित है जहाँ परिवार, जाति, वर्ण आश्रम व्यवस्था और ग्रामसगठन के अधिकारो का अन्त होता है। इसलिए राजतन्त्र म दो परम्परायें मिलती है। एक ओर राज्य का सम्बन्ध सम्पूर्ण मानव जीवन से है—सभी कुछ उसके कर्तव्य तथा अधिकार क्षेत्र मे आता है। राजधर्म म परोपकारिता के विचार ने राज्य को वे सभी अधिकार तथा कर्तव्य दिये है जो जनकल्याण के लिए आवश्यक है लेकिन दूसरी ओर सामाजिक व्यवस्था (परिवार, जाति और ग्राम) के कारण उसके अधिकार सीमित है। अत परोपकार और अपरिग्रह राज्यधर्म के दो मुख्य आधार हो जाते है लेकिन उनका विस्तार वहा तक है जहाँ से परिवार, जाति, ग्राम, वर्ण तथा आश्रम की सीमायें प्रारम्भ होती है। इसका एक परिणाम यह हुआ है कि भारत मे जनहिताय व्यवस्था बनाये रखने के लिए राज्य ने, एक सरक्षक के रूप में वयक्तिक तथा सामाजिक जीवन के सभी अगो को व्यवस्थित किया है और दूसरा इन व्यापक कार्यों के बावजूद भी राज्य कभी भी निरकुश अधिनायकतन्त्र का रूप न ले सका। बहुधा यह प्रश्न उठाया जाता है कि जहाँ राज्य सरक्षक है और इसकारण उसे असीमित अधिकार मिल जाते है क्या वहाँ व्यक्ति स्वतन्त्र रह सकता है? अल्तेकर के मत म, प्राचीन भारत म राज्य समाज का केन्द्र और जनकल्याण का मुख्य माध्यम समझा जाता था जिसके कारण राज्य कार्य क्षेत्र काफी विस्तृत था। लेकिन, इसका व्यक्ति स्वातन्त्र्य पर प्रभाव नही पडा क्योकि राज्य के बहुमुखी कार्य मुख्यत राज्य की नौकरशाही द्वारा ही नहीं

होते थे[1]।

धर्म के आधार पर प्रथा को राज्यतन्त्र और सामाजिक-व्यवस्था का आधार मानने का एक और परिणाम निकला। राजधर्म के निरूपण में जहाँ तक दण्ड और न्याय के लागू करने का प्रश्न है, हिन्दू विचारकों ने समता सिद्धान्त (The Principle of Equity) को स्वीकार किया है। जैसाकि पहले कहा जा चुका है कौटिल्य ने इस बात पर जोर दिया है कि दण्ड अपराध के अनुकूल होना चाहिए। दण्ड को अपराध के अनुकूल बनाने के सिद्धान्त में समता सिद्धान्त निहित है। लेकिन, दण्ड सिद्धान्त का व्यावहारिक रूप प्रथा पर आधारित था। इसलिए व्यवहार में समता सिद्धान्त अव्यवहार्य ही रहा। प्रथा के आधार पर वर्ण-व्यवस्था का जो रूप विकसित हुआ वह वर्ण व्यवस्था के सैद्धान्तिक रूप से भिन्न रहा है। यथा कि वर्ण के निरूपण के सम्बन्ध में स्पष्ट किया गया है सिद्धान्ततः सभी वर्णों को समान माना गया है, यद्यपि व्यवहार में विभिन्न वर्ण असमान रहे हैं। वर्णव्यवस्था का अर्थ ही एक उच्चावच परम्परा प्रणाली में बँधे विभिन्न समूह जिनका सामाजिक स्तर मूलतः असमान है। राजधर्म का उद्देश्य माना गया है विभिन्न वर्णों और उनकी प्रथायी व्यवस्था को बनाए रखना, जिसका व्यावहारिक निष्कर्ष निकलता है वर्ण संरचना की उच्चावच परम्परा में निहित प्रथायी असमानताओं को व्यवस्थित ही नहीं करना वरन् उन्हें बनाए भी रखना। इसीकारण हिन्दू-दण्ड विधान में विभिन्न वर्णों के समान अपराध के लिए अलग-अलग दण्डों का विधान मिलता है। जिस प्रकार, इस्लामी न्यायिक व्यवस्था में मुसलमान के प्रति काफिर की साक्षी (गवाही) अमान्य है उसी प्रकार प्रथायी हिन्दू-न्याय-व्यवस्था में ब्राह्मण के विरुद्ध शूद्र की साक्षी अमान्य है। इसी परम्परा का यह भी परिणाम है कि परम्परागत हिन्दू राजनैतिक व्यवस्था में शूद्र एक प्रकार का अर्ध पतित नागरिक रहा है और शूद्र को अनेक अधिकारों से वंचित रखा गया है। रामायण में यह कथा आई है कि भगवान रामचन्द्र ने उस शूद्र का वध कर दिया था जो तपस्वी जीवन व्यतीत कर रहा था क्योंकि परम्परानुसार तप उच्चवर्गियों विशेषतः ब्राह्मणों का अधिकार है न कि शूद्रों का। यहीं से शूद्रों की उन तमाम निर्योग्यताओं का जन्म हुआ है जिन्हें आज सामाजिक विधान और समाज-सेवा कार्य से दूर करने का प्रयत्न किया जा रहा है।

---

1 अल्तेकर ए० एस० स्टेट एण्ड गवर्नमेण्ट इन एन्शियण्ट इण्डिया पृष्ठ 37, राज्य की यह परम्परा आज भी बनी हुई है। भारत के वर्तमान राजनैतिक संगठन में राज्य को जनकल्याण का मुख्य माध्यम माना गया है लेकिन साथ-ही-साथ यह भी स्वीकार किया गया है कि राज्य को निरंकुश अधिनायकतन्त्र नहीं बनाना है और इसके लिए ग्राम पंचायतों और क्षेत्र पंचायतों के विकास का कार्यक्रम अपनाया गया है।

समता का सिद्धान्त नया नहीं, पुराना है, जो हिन्दुत्व में ही नहीं वरन् अन्य सामाजिक-धार्मिक प्रणालियों में भी पाया गया है। लेकिन, उसे व्यावहारिक जामा पहनाने का आन्दोलन नया है, जिसकी उत्पत्ति योरोप के सुधार आन्दोलन के युग में हुई है। इसी आन्दोलन के प्रभाव के परिणामस्वरूप वर्तमान भारत में समता सिद्धान्त को स्वीकार करके, उसे वैधिक व्यावहारिक आधार प्रदान किया गया है।

राज्योत्पत्ति के सिद्धान्त

राजधर्म की धारणा में, इस प्रकार, राजसत्ता का आधार प्रथा है। प्रथा से ही राजसत्ता की सीमायें और परिसीमायें निर्धारित होती हैं। महाभारत स्मृतियों और नीतिशास्त्रों में प्रथा को ही प्रमाण मानकर राजसत्ता की सीमाओं को निर्धारित किया गया है। लेकिन, हिन्दू विचारधारा में राज्य केवल प्रथा पर ही आधारित नहीं है। राजसत्ता का एक अन्य आधार भी है और वह है राज्योत्पत्ति का दैवी सिद्धान्त (The Divine Theory of the Origin of State)। यहाँ राज्य एक दैवी सृजन है, एक दिव्य प्रमेय है और राज्य का अधिष्ठाता सम्राट एक पुरुष है—वह पुरुष जिसमें दैवी गुणों का समावेश होता है। हिन्दू विचारधारा में राज्योत्पत्ति के तीन सिद्धान्त मिलते हैं—एक सैनिक सिद्धान्त, दूसरा संविदा सिद्धान्त और तीसरा दैवी सिद्धान्त। सैनिक आवश्यकताओं के कारण राज्य की उत्पत्ति के सिद्धान्त के प्रमाण वैदिक साहित्य में मिलते हैं। तैत्तिरीय ब्राह्मण में यह कथा आई है कि असुरों से बार-बार हारने पर देवों ने इन्द्र को अपना सैनिक नेता चुना क्योंकि असुरों में सैनिक नेतृत्व था और देवों में सैनिक नेतृत्व नहीं था। युद्ध का सैनिक नेता कालान्तर में सम्राट हो गया। वैदिक साहित्य में राज्याभिषेक का जो वर्णन मिलता है उसमें सम्राट द्वारा रथ की दौड़ के खेल में भाग लेने का उल्लेख मिलता है, जो इस बात का प्रमाण है कि उस काल में सम्राट में सैनिक गुणों की अधिक अपेक्षा की जाती थी। इस आधार पर यह कहा जा सकता है कि सतत युद्ध की आवश्यकताओं के कारण ही आर्ययुग के प्रारम्भिक काल में सम्राट के पद का प्रादुर्भाव हुआ होगा। यह निर्विवाद है कि वैदिक काल में सम्राट मुख्यतः सैनिक नेता और सेनाध्यक्ष ही है। उसका मुख्य कार्य सैनिक नेतृत्व है। यह पहले ही कहा जा चुका है कि वैदिककालीन सम्राट पुरोहित नहीं था। सम्राटत्व क्षत्रिय का कर्म और अधिकार था और पौरोहित्य कार्य ब्राह्मण का अधिकार तथा कर्म। सम्राट अपने राज्य तथा प्रजा के लिए यज्ञ अवश्य करता था लेकिन इन यज्ञों में पुरोहित ब्राह्मण हुआ करता था न कि क्षत्रिय। भारत के इतिहास में ब्राह्मण सम्राटों के प्रमाण मिलते हैं लेकिन ये प्रमाण अपवाद को सिद्ध करते हैं न कि सामान्य नियम को। सैनिक नेता होने के कारण सम्राट पुरोहित तथा धर्म का रक्षक था। सम्राट तथा राज्य प्रजा के संरक्षक हैं यह विचार वैदिक काल में अस्तित्व में आ गया था क्योंकि उस काल की सैनिक आवश्यकताओं के कारण सम्राट का पद स्थायी हो गया था। शायद सम्भव है, यह विचार पुरोहित वर्ग की देन हो सकती

है। इसी विचार के आधार पर आगे चलकर शासक को दैवी पुरुष माना गया। शासक में देवत्व की स्थापना पुरोहित वर्ग द्वारा हुई है, ऐसा इतिहासकारों का मत है।

संविदा सिद्धांत (Contract Theory) का निरूपण बौद्धों ने किया है। महाभारत में राज्योत्पत्ति के दैवी सिद्धांत का निरूपण हो चुका था, लेकिन बौद्धों ने इस सिद्धांत का अनुसरण नहीं किया क्योंकि बौद्ध विचारधारा दिव्यवादी नहीं है। बौद्ध विचारधारा में राज्य की उत्पत्ति उस समझौते (संविदा Contract) में हुई है जो राजा और प्रजा के बीच में हुआ है। इस समझौते के अनुसार राजा ने जब प्रजा की रक्षा की प्रतिज्ञा की तो प्रजा ने राजा को राजस्व देना स्वीकार किया। राजस्व बौद्ध विचारधारा में रक्षा और प्रशासन सम्बन्धी सेवाओं के उपलक्ष में राजा को दिया हुआ प्रजा का योगदान है। इस सिद्धांत में यह भी निहित है कि जब कोई भी पक्ष समझौते को तोड़ता है तो समझौता रद्द हो जाता है। इसी आधार पर बौद्धों ने प्रजा की रक्षा और प्रशासन राजा का कर्तव्य माना और राजस्व द्वारा राजा के साथ सहयोग करना प्रजा का कर्तव्य। इस सिद्धांत के दृष्टिकोण से यह भी स्पष्ट होता है कि राजा का पद न तो एकदम निरपेक्ष है और न निरंकुश। इसीकारण, राजधर्म में, जैसा कि पहले लिखा जा चुका है बौद्धों ने परिषद्, जिसका तात्पर्य प्रजा की मंत्रणा परिषद् से लिया जा सकता है, को महत्वपूर्ण स्थान दिया है। बौद्धों की विचारधारा में राजा और राज्य की उत्पत्ति ही तब हुई जब मनुष्य उस स्वर्णिम युग से अधःपतित हो गया जहां न राजा की आवश्यकता थी न राज्य की और न प्रजा की रक्षा की। राज्योत्पत्ति का यह सिद्धांत एक युक्तियुक्त कल्पना मात्र है, जिसे केवल बौद्ध क्षेत्रों में ही मान्यता मिली और बुद्धवाद के साथ-साथ इसका भी लोप हो गया[1]।

हिन्दू विचारधारा में राज्योत्पत्ति के दैवी सिद्धान्त को ही प्रधानता मिली है। वैदिक काल में ही संविदा सिद्धांत का विचार मन्द पड़ने के प्रमाण मिलते हैं। ऋग्वेद में सम्राट् को इन्द्र का सहचर और अथर्ववेद में सम्राट् परीक्षित का एक देवता के रूप में वर्णन किया गया है और शतपथ ब्राह्मण में सम्राट् को प्रजापति का प्रतिनिधि माना गया है[2]। वैदिक युग के बाद इसी परम्परा का विस्तार मिलता है जिसमें दैवी सिद्धान्त के साथ धर्म की धारणा का समन्वय हुआ है। हिन्दू विचारधारा में राज्योत्पत्ति के दैवी सिद्धांत का सार यह है कि जब धर्म स्थिर है तो उस पर आधारित राज्य तथा उसका रक्षक सम्राट भी दिव्य है। महाभारत में एक कथानक के रूप में, राज्योत्पत्ति के इस दैवी सिद्धान्त के निरूपण

---

1 घोषाल यू० जी० वही पृष्ठ 149-150

2 वही पृष्ठ 151

के काल में हुई है, शिवाजी को युगावतार कहा गया है—ऐसा युगावतार जो विष्णु का अंश है, जो आठ लोकपालों के अंगों से अवतरित हुआ है और जो वस्तुतः विष्णु पुत्र है[1]।

राजधर्म में राज्योत्पत्ति का दैवी सिद्धान्त, इस प्रकार, राज्य को अधिक सुदृढ़ बनाने के लिए अस्तित्व में आया। लेकिन, इस सिद्धान्त की विशेषता यह है कि इसमें राज्य दिव्य है न कि स्वयं सम्राट्। सम्राट् की दिव्यता वैयक्तिक नहीं है, वह संस्थागत है। सम्राट दिव्य नहीं है वरन सम्राटत्व दिव्य है। कोई भी व्यक्ति वहीं तक दिव्य है जहाँ तक वह सम्राटत्व के कर्तव्य का पालन करता है। सम्राटत्व के कर्तव्य-पालन का आधार धर्म है। अतः सम्राट वहीं तक दिव्य है जहाँ तक वह धर्मानुसार राजकाज में राजधर्म का पालन करता है। दैवी सिद्धान्त से जैसा कि स्वाभाविक था राजसत्ता के एकीकरण को प्रोत्साहन मिलता रहा जिसके कारण समय-समय पर, साम्राज्य को संगठित, एकीकृत और केन्द्रीभूत करने में सहायता मिली। दैवी सिद्धान्त वह माध्यम रहा है जिससे सम्राट के प्रति प्रजा की निष्ठा प्रोत्साहित होती रही है। लेकिन साथ ही साथ, इस सिद्धान्त में यह विचार भी निहित है कि जहाँ सम्राट् धर्म से गिर जाता है, वहाँ उसकी दिव्यता समाप्त हो जाती है। अतः सम्राट की आज्ञा का पालन प्रजा का वहीं तक धर्म है जहाँ तक वह धर्मानुसार राजकर्म को करता है। इसमें कोई संदेह नहीं कि सम्राट को मिला हुआ दण्ड का अधिकार दैवी अधिकार है लेकिन सम्राट उस अधिकार का मनमाना प्रयोग नहीं कर सकता है। सम्राट के दिव्य अधिकार दंड के प्रयोग की कसौटी धर्म भी दिव्य है। इस प्रकार, राज्योत्पत्ति के दैवी सिद्धान्त में जहाँ राज्य को दिव्य माना गया है वहाँ धर्म को भी दिव्य मानकर, नृप को दिव्य के आधार पर संस्थागत करने का प्रयास किया गया है। राजसत्ता एक दिव्य संस्था है, जिसमें कार्यात्मक ढंग से सम्बन्धित होने के कारण ही सम्राट दिव्य है। इस सिद्धान्त के दो परिणाम निकले—एक, राज्य सत्ता का आधार नैतिकता है न कि निरीह शक्ति और उसका निरंकुश प्रयोग और दूसरा, जहाँ सम्राट धर्म से विमुख हो प्रजा को उसकी आज्ञा न मानने का अधिकार है। हिन्दू विचारधारा में विकसित राजधर्म की धारणा जहाँ एक ओर, सामाजिक एतिहासिक परिस्थितियों की उत्पत्ति है वहाँ दूसरी ओर इसने राजतन्त्र में नैतिकता का समावेश हुआ तथा उन अवस्थाओं में राज्य के प्रति विद्रोह करने का वैयक्तिक अधिकार बना रहा जहाँ राज्य और सम्राट धर्म से विमुख हो।

सम्राटत्व के सामाजिक परिणाम

सम्राटत्व की धारणा भारत की सामाजिक एतिहासिक परिस्थितियों की

---

1 सरकार, विनयकुमार : दि पाजिटिव बैकग्राउण्ड आफ हिन्दू सोशियालोजी भाग 1 पृष्ठ 512

पृष्ठभूमि में विकसित हुई है। यहां सम्राट् क्षेत्रीय अधिनायकों को अपने शासन में रखकर साम्राज्य की स्थापना करते रहे हैं। भारत गणजातियों में बटा था और प्रत्येक गणजाति अपने में एक राष्ट्र थी। जैसा कि गांडा के राजनैतिक प्रसार से स्पष्ट है, कुछ गणजातियों ने क्षेत्रीय राज्यों का रूप ले लिया और इसप्रकार क्षेत्रीय राज्यों का विकास हुआ। भारत में एक ओर, क्षेत्रीय राज्यों की स्थापना की परम्परा मिलती है और दूसरी ओर अखिल भारतीय साम्राज्य संस्थापन की। चन्द्रगुप्त मौर्य, अशोक, चन्द्रगुप्त विक्रमादित्य अलाउद्दीन खिलजी अकबर औरंगजेब और शिवाजी सम्राट बनने की भावना से प्रेरित रहे हैं। यातायात के साधनों की असुविधा के कारण प्रत्यक्ष शासन की सम्भावना न होने से चक्रवर्ती सम्राटत्व का आदर्श आया। सम्राट् का कार्य दिग्विजय करके अर्थात् क्षेत्रीय शासकों को अपने अधीन करके और उनसे कर लेकर साम्राज्य की स्थापना करना रहा है। क्षेत्रीय शासक सम्राट के नाम पर राज्य करते रहे हैं। ईस्ट इंडिया कम्पनी ने भी अपने लिए कम्पनी बहादुर का खिताब चुना और अठारहवीं सदी तक मुगल सम्राट के नाम पर राज्य किया। अंग्रेजी सरकार ने भी देशी रियासतों को कायम रक्खा। इस विकास के कई परिणाम निकले पहला भारत में जननी जन्मभूमिश्च स्वर्गादपि गरीयसी की भावना तो विकसित हुई किन्तु राष्ट्रीयता की भावना क्षीण रही। दूसरा, सम्राट के स्तर का राजनैतिक संगठन अलग रहा और क्षेत्रीय तथा स्थानीय स्तर अलग। तीसरा, सम्राट की सत्ता के बने रहने तक राजनैतिक शान्ति रही किन्तु उस सत्ता के क्षीण होते ही अराजकता फैली। यही कारण है कि भारत में एक ओर अशोक चन्द्रगुप्त और अकबर के राजनैतिक स्थायित्व के स्वर्णिम युग रहे हैं और दूसरी ओर राजनैतिक अशान्ति के काल। चौथा सम्राटों ने पिता की भावना से शासन किया है और इस कारण उन्होंने प्रजा के लिए सभी कुछ सम्भव करने का प्रयास किया है जिसका परिणाम यह हुआ कि प्रजा में निर्भरता की भावना रही है। पांचवां, सम्राटत्व में दिव्यता को प्रतिपादित करने से उसे इतना वैभवशाली बनाने की प्रेरणा मिली कि सम्राट का वैभव उसकी दिव्यता का प्रतीक बन जाय। वैभव को सम्राट के प्रभाव का माध्यम बनाया गया। बड़ी बड़ी इमारतें सवारी वेषभूषा और दरबारदारी वैभव प्रदर्शन के माध्यम बने। किन्तु भारतीय इतिहास में सम्राटों के राज दरबारों के वैभव का जो वर्णन मिलता है, उसका भार जनता पर पड़ा। भारत की आर्थिक व्यवस्था का आधार जीवन निर्वाही कृषि रही है जिसका स्तर अधिकांश क्षेत्रों में निम्न ही रहा है। इसका परिणामस्वरूप, जनता का सम्पूर्ण भार कर देना पड़ा है जिसके कारण एक ओर जनदारिद्र्य बना रहा है और दूसरी ओर, आर्थिक प्रगति निष्प्रवाह रही है और इन सबका एक सम्मिलित परिणाम यह रहा है कि भारतीय विचारधारा, इतिहास के सभी युगों में, भाग्यवादिता तथा पारलौकिकता की ओर उन्मुख रही है। भारतीय चिन्तन की भाग्यवादिता आज की नहीं युगों की देन है।

अथ और काम की साधना करना। अथ और काम की साधना समाज और सस्कृति से होती है। अत, इहलौकिक पूर्णत्व का अथ हुआ, समाज और सस्कृति क आदर्श नियमो के साथ व्यक्ति का पूर्ण तादात्म्य जो तभी होता है जब व्यक्ति का पूर्ण सामाजीकरण हो जाय। उत्तमपुरुष की धारणा उस पूर्ण मनुष्य की धारणा है जो इहलौकिक तथा पारलौकिक जीवन का मध्य बिन्दु है। इसीलिये उत्तमपुरुष का एक पहलू सामाजिक और दूसरा आध्यात्मिक (Metaphysical) है। इहलौकिक जीवन का निष्पादन करते हुए जो पुरुष आत्मपरायण तथा ब्रह्मपरायण है, वही उत्तम पुरुष है।

वेदों में उत्तम पुरुष

वैदिक साहित्य मे कई ऐसी धारणायें मिलती हैं जिनसे यह स्पष्ट होता है कि व्यक्ति का पूर्ण सामाजीकरण पूर्णत्व प्राप्ति का एक मुख्य आधार है। यह पहले ही कहा जा चुका है कि पुरुषार्थ मे अथ और काम का समावेश व्यक्ति के सामाजीकरण तथा उसकी सामाजिक वृत्ति की तुष्टि की आवश्यकता की महत्ता का स्पष्ट करता है। वैदिक साहित्य मे पाई जाने वाली 'सभ्य' तथा 'शिष्ट' की धारणायें इस महत्ता को और भी स्पष्ट करती हैं। ऋग्वेद म सभ्य से तात्पर्य उस व्यक्ति से है जो सभा का सदस्य होने के योग्य है। सभा का वही सदस्य होने योग्य है जो वयस्क है, जिसमे सभा के नियमो का समझने तथा उनके अनुसार निर्णय लेने की क्षमता है। अनुभव वयस्कता, योग्यता और अवधारणा (Comprehension सोचने-समझने की क्षमता) 'सभ्य' की मुख्य विशेषतायें है। अत, सभ्य वह है जो अपने अनुभव वयस्कता योग्यता और अवधारणा के कारण सभासद होकर शासक वर्ग को उचित सलाह दे सके। सभा से तात्पर्य गणजातीय पचायत (Tribal Panchayat) से है। इस दृष्टिकोण से, 'सभ्य' वही है जिसका पूर्ण और सुचारु सामाजीकरण हो गया हो। अथर्ववेद मे शिष्ट शब्द का प्रयोग शिक्षा दीक्षा अनुशासन और आत्मनियन्त्रण के अर्थ मे किया गया है। अत, यह कहा जा सकता है कि शिष्ट वह है जिसने सामाजीकरण मे निहित शिक्षा दीक्षा, अनुशासन और आत्मनियन्त्रण के द्वारा सस्कृति के आदर्शों को पूर्णत आत्मसात कर लिया हो। समाज के आदर्शों (Ideals) और अर्हाओं (Values) के अनुसार व्यवहार ही शिष्टाचार कहलाता है। अत शिष्ट वही है जिसमे समाज का आदर्श व्यवहार पाया जाता हो। जो सभ्य और शिष्ट है, वही आदर्श नागरिक है।

लेकिन सभ्य, शिष्ट और नागरक पूर्ण मनुष्य के परिचायक नही है। सभ्य, शिष्ट और 'नागरक' होना समाज और सस्कृति के साथ तादात्म्य स्थापित करना है। सामाजिक-सास्कृतिक तादात्म्य पूर्णत्व का केवल एक इहलौकिक आधार है। पूर्णत्व का आधार केवल सामाजिक-सास्कृतिक तादात्म्य नहा है। ऋग्वैदिक विचार धारा के अनुसार पूर्णत्व का प्रतीक 'ऋत' है। 'ऋत', जसा कि पहले कहा जा चुका है,

रहस्यमय शाश्वत नियम है—वह नियम जिस पर सारी व्यवस्था आधारित है। इहलौकिक तथा पारलौकिक दोनों व्यवस्थाओं का आधार 'ऋत' है। ऋत ही सत्य है। अत, जो सत्य है वही नैतिक आदर्श है। सत्य इहलौकिक जीवन भी है और पारलौकिक जीवन भी। लेकिन इससे भी बड़ा एक सत्य है और वह यह है कि इहलौकिक का आधार पारलौकिक है। पूर्णत्व न केवल इहलौकिकता है और न पारलौकिकता। पूर्णत्व पारलौकिकता पर आधारित इहलौकिकता है। इसीलिये वेदों में प्रतिपादित इहलौकिक जीवन देवों, उनकी कृपा कल्पों और लोकसंग्रह के प्रति विराग की भावनाओं से बंधा है। वेदों में आये विचार के अनुसार पूर्ण वह है जो मृत्यु के बाद देवयान या पितृयान में निवास करने का अधिकारी है। यहां देवताओं को प्रसन्न करने के लिये किये गये यज्ञ, प्रार्थनायें और कल्प पूर्णत्व का आधार माने गए हैं। औपनिषदिक विचारधारा का प्रस्फुटन होते ही पूर्ण मनुष्य और पूर्णत्व के आधार

उपनिषद् में उत्तमपुरुष

सम्बन्धी विचारों में परिवर्तन आया। उपनिषदों में आत्मनिग्रह दान और दया न तो एक साथ मिलकर और न अलग-अलग पूर्ण हैं—ये तो केवल साधनमात्र हैं जिनके आधार पर पूर्णत्व को प्राप्त किया जा सकता है। औपनिषदिक विचारधारा के अनुसार पूर्ण है ज्ञान—वह ज्ञान जो विज्ञान से ऊपर है। यहां ज्ञान वह अनुभूति है जिससे पारलौकिक तत्व की वास्तविकता प्रगट होती है। इहलौकिक की भिन्नता में आत्मा व्याप्त है जिसका उद्गम और परिणति ब्रह्म में है। आत्मा और ब्रह्म एक हैं। इहलौकिक की भिन्नता में आत्मा तथा ब्रह्म की आधारभूत एकता समाई हुई है और सम्पूर्ण इहलौकिक पारलौकिक ब्रह्म का रहस्य है—यही ज्ञान वास्तविक ज्ञान है। इस ही आत्मज्ञान तथा ब्रह्मज्ञान की संज्ञा दी गई है। इसी ज्ञान से पारलौकिकता की अनुभूति होती है अत इसी ज्ञान से मुक्ति मिलती है। इस कारण केवल ज्ञान ही पूर्ण है। औपनिषदिक विचारधारा में ज्ञान पूर्णत्व का प्रतीक है और उत्तमपुरुष अर्थात पूर्ण मनुष्य वही है जो ज्ञानी है।

औपनिषदिक विचारधारा से उत्तमपुरुष के रूप में योगी की धारणा उत्पन्न हुई है। यदि ज्ञान ही पूर्ण है तो उस पूर्णता को प्राप्त करने का साधन क्या है। योगाचार की विचारधारा के अनुसार योग ज्ञान के साधन का उपकरण है। योग का अर्थ है जोड़ना मिलाना और सम्पर्क में लाना इत्यादि। योग वही है जहां आत्मा और ब्रह्म का योग हो जहां इहलौकिक तथा पारलौकिक की द्विविधा समाप्त हो जाय और संसार की विभिन्नता में एकता (अविभक्त विभक्तषु) की अनुभूति का अनुभव हो। योगाचार की विचारधारा में योग अभ्यास से आता है। योगाभ्यास के साधन हैं यम नियम आसन प्राणायाम, प्रत्याहार, धारणा, ध्यान और समाधि।

समाधि योग की अवस्था है क्योंकि समाधि की ही अवस्था में व्यक्ति के

ध्यान का धारण की हुई वस्तु से योग हो जाता है। योगाचार की विचारधारा का मूलाधार यह है कि आत्मशक्ति और आत्मज्ञान के उद्बोधन के लिये शरीर को संयम से रखना और अभ्यास द्वारा इन्द्रियनिग्रह आवश्यक है। योगी शरीर से हट कर आत्मा में रमण करता है। शरीरी एषणायें तथा वासनाओं का उसमें अन्त हो जाता है। वह सांसारिक शरीरी सुख का नहीं वरन परमानन्द का अनुभव करता है। आत्मसिद्धि के द्वारा उसे जो आध्यात्मिक शक्ति मिलती है, उससे उसे अलौकिक सुख ही नहीं वरन् मनचाहे अलभ्य की भी प्राप्ति हो जाती है[1]। योग रहस्यवादिता से ओतप्रोत है। इस्लाम में सूफी संत भी इसी परम्परा में आते हैं। योग की ही विचारधारा से तप की धारणा उत्पन्न हुई है। तप का अर्थ है अभ्यास द्वारा शरीरी आवश्यकताओं को दबाना और आध्यात्मिक शक्ति को जगाना। शरीर में भस्म लगाना, जटाजूट रखना, सर्दी तथा गर्मी में नंगे बदन रहना, गर्मियों में भी अग्नि तापना, उल्टा लटककर नीचे से धुआं सुलगाना, एक पैर से या एक हाथ उठा कर वर्षों खड़े रहना, प्राणवायु रोककर समाधिस्थ होना योग के वे निकृष्ट रूप हैं जो तान्त्रिक विचारधारा के प्रभाव के कारण अस्तित्व में आये हैं। योगी के रूप में पूर्ण मनुष्य वस्तुतः वह है जो योगाभ्यास द्वारा इहलौकिक शरीरी आधार से ऊपर उठ जाता है, जो पारलौकिक के समीप पहुँच जाता है और जिसे ईश्वरीय प्रसाद मिल जाता है जिससे वह शरीरी व्याधियों—जरा भोगों और वासनाओं से मुक्त हो जाता है। योगी इस संसार में रहते हुए भी परमानन्द में स्थित रहता है।

वन्हि विचारधारा को औपनिषदिक विचारधारा से जो परिवर्तन मिला उससे वस्तुतः कई विचार प्रशाखायें अस्तित्व में आईं। एक वैचारिक प्रशाखा के अनुसार ज्ञान पूर्णत्व का प्रतीक है दूसरी के अनुसार योग और तीसरी के अनुसार भक्ति। अतः उपनिषदों की विचारधारा से उत्तमपुरुष के रूप में ज्ञानी, योगी और भक्त की धारणाओं का प्रस्फुटन हुआ। औपनिषदिक विचारधारा निवृत्तिमार्गी है। अतः, ज्ञानी, योगी और भक्त की 'निवृत्त पुरुष' के रूप में कल्पना की गई है। ज्ञानी ज्ञान द्वारा निवृत्त होता है, योगी योग द्वारा और भक्त प्रपत्ति के द्वारा। यहां ज्ञान

---

1 वाममार्ग में जहां तन्त्र का प्रभाव रहा है, इस विचारधारा ने कापालिक, सिद्ध, भैरव और औघड़ इत्यादि की धारणाओं को जन्म दिया है। कापालिक, सिद्ध भैरव और औघड़ वे पुरुष हैं, जिनके लिये यह समझा जाता है कि उन्होंने शक्ति सिद्ध कर रखी है जिसके द्वारा वे अलौकिक कृत्यों को सम्पादित कर सकते हैं। तन्त्र में योगाचार की विचारधारा सकाम शक्ति की साधना का रूप ले लेती है। किन्तु वाममार्गी सिद्ध हो सकते हैं, उत्तम पुरुष नहीं।

पूर्णत्व का सर्वोत्कृष्ट आधार है। लेकिन उसके लिये अभ्यास की आवश्यकता है। योग और तप उस अभ्यास के आधार हैं। भक्ति उनके लिये है जो ज्ञान और योग के मार्ग को नहीं अपना सकते हैं। लेकिन ज्ञान, योग और भक्ति वस्तुतः एक ही मनोदशा तक पहुँचने के तीन मार्ग हैं। पूर्णत्व वस्तुतः न तो ज्ञान है, न योग और भक्ति। पूर्णत्व तो वह मनोदशा है जहाँ व्यक्ति ब्रह्मपरायण हो जाता है। उस मनोदशा के लिये कुछ साधन आवश्यक हैं। ये साधन हैं नैतिकता, अहिंसा, सत्यप्रियता, न्यायप्रियता करुणा और आत्मनिग्रह, जिन्हें महाभारत में पूर्ण पुरुष के गुण माना गया है। पूजा-पाठ, तीर्थयात्रा और ध्यान से इन गुणों के विकास को प्रोत्साहन मिलता है। सत् विचार, सत्य भाषण और सत्कार्य से वह नैतिक शील विकसित होता है जिससे या तो निष्काम भक्ति द्वारा या आत्मज्ञान द्वारा निर्लिप्ति का अनुभव प्राप्त होता है। अतः पूर्णपुरुष का अन्तिम रूप ज्ञानी का है। उत्तमपुरुष का इहलौकिक जीवन समाप्त नहीं हो जाता है। सर्वकल्याण के लिये उत्तमपुरुष का अस्तित्व आवश्यक है क्योंकि उत्तमपुरुष को अपने लिये कुछ करना आवश्यक नहीं रह जाता है। वह संसार के सुख दुख से निवृत्त होकर सर्वकल्याणकारी आदर्शों की पूर्ति में रत रहता है। उत्तमपुरुष वस्तुतः कल्याणकारी कर्म और ज्ञान का प्रकाशस्तम्भ है[1]।

गीता में उत्तमपुरुष

गीता में, जैसा कि पहले कहा जा चुका है, कर्म के आधार पर ज्ञान, भक्ति और योग का समन्वय हुआ है। गीता के अनुसार, कर्म, ज्ञान और भक्ति योग हैं जिनका आधार निष्कामता और स्थितप्रज्ञता है क्योंकि निष्कामता तथा स्थितप्रज्ञता के द्वारा ही आत्मपरायणता तथा ब्रह्मपरायणता आती है। जो कर्म ज्ञान और भक्ति निष्कामता तथा स्थितप्रज्ञता पर आधारित हैं उन्हीं के द्वारा आत्मा और ब्रह्म का योग होता है। गीता के अनुसार स्थितप्रज्ञ ही निष्काम कर्मयोगी, ज्ञानयोगी और भक्तयोगी है। वही कर्म, ज्ञान और भक्ति आदर्श है जो निष्काम है और ब्रह्मपरायण है। अतः, गीता के अनुसार, उत्तमपुरुष वही है जो स्थितप्रज्ञ है। गीताकार ने स्थितप्रज्ञ तथा समाधिस्थ में अन्तर नहीं किया है जिससे यह निष्कर्ष निकाला जा सकता है कि समाधि का आधार स्थितप्रज्ञता है। स्थितप्रज्ञता की उत्पत्ति समत्वबुद्धि से होती है। समत्वबुद्धि का एक आधार निष्कामता है और दूसरा समभाव। इसीलिये, गीताकार ने उसे स्थितप्रज्ञ कहा है जो मन की उठी हुई समस्त कामनाओं का त्याग करता है, आत्मा द्वारा ही आत्मा में सन्तुष्ट रहता है, राग, भय और क्रोध रहित होता है, न तो दुख से दुखी होता है और न सुख की इच्छा रखता है, शुभ अशुभ के प्रति समभाव रखता है और सब इन्द्रियों को वश में रखकर ईश्वर में रत रहता

1 गोखले, बी० जी० वही पृष्ठ 202

। स्थितप्रज्ञ कछुवे की भांति अपने सब अंगों को इन्द्रियों के विषयों में से समेटे ता है। स्थितप्रज्ञ वह कर्मयोगी है जो केवल कर्म को कर्म समझकर कर्म करता और कर्मफलासक्ति से संगरहित होने के कारण शुभ-अशुभ, दुख-सुख और राग तथा क्रोध से विचलित नहीं होता। कर्म करते हुये स्थितप्रज्ञ वैसे ही शान्त रहता जैसे नदियों के निरन्तर प्रवेश करने पर भी समुद्र। गीता का स्थितप्रज्ञ संसार में त होते हुए भी संसार से वैसे ही निवृत्त रहता है जैसे पंक से पंकज।

ता में उत्तमपुरुष की धारणा निवृत्तिवादी प्रवृत्ति के जीवन दर्शन पर आधारित है। लेकिन, बुद्धवाद तथा जैनवाद में उत्तमपुरुष की धारणा निवृत्तिवादी दर्शन के आधार पर निरूपित की गई है। उत्तमपुरुष की धारणा के रूप में बुद्धवाद में 'अर्हत' और 'बोधिसत्व' की धारणाओं का तथा जैनवाद में 'केवलिन' की धारणा का विकास हुआ है। 'अर्हत' अलौकिक नहीं लौकिक पुरुष है। नैतिकता,

द्धवादी जन दी विचार में मपुरुष

ध्यात्मिकता और ज्ञानपरायणता अर्हत के मुख्य गुण हैं। अर्हत वह है जो लोगों धर्म का मार्ग दिखाये, जिसका मस्तिष्क सत्यानुभव में डूबा हुआ और शान्त है, आत्मनिग्रही है, जो सुख-दुख में पत्थर की चट्टान के समान अविचलित रहता है, ज्ञानतृप्त है और इस संसार में रहते हुए भी संसार से विरक्त है। 'अर्हत' अपने ा के प्रति सजग है और परछिद्रान्वेषण से दूर, मस्तिष्क विचार, वाणी और से शान्त तथा सभी दशाओं में अपने को शान्त रखता हुआ, वह सदैव जागरूक ता है। शील, समाधि और ज्ञानानुभूति उसके वे उपकरण हैं, जिनसे उसे मुक्ति लती है। पृथ्वी के समान सहिष्णु रहते हुए वह संग्रह तथा विषयों के त्याग में का अनुभव करता है। वह संसार को वैसे ही ग्रहण करता है जैसे मधुमक्खी के रंग या उसकी गंध को अक्षुण्य रखते हुए उससे मधु ग्रहण करती है। 'अर्हत मार्ग दुखरहित और मुक्त है जिसके कारण उसमें कामनायें जल जाती हैं और ता उसकी स्पर्धा करते हैं। अर्हत धर्म का मूर्तिमान रूप है और धर्मपथ प्रदर्शक । अर्हत सम्यक्मार्गी है—वह न तो अत्यधिक विषयासक्त होता है और न योगियों भांति अपने शरीर को तप के नाम पर अत्यधिक कष्ट देता है। वह अपने स्तिष्क को सत्यानुभूति और सत्यबोध में लगाता है जिसके लिये उसे अपने रीर और मस्तिष्क का अभ्यास द्वारा प्रशिक्षित करना पड़ता है।

सम्यक् दृष्टि, सम्यक् संकल्प, सम्यक् वाणी, सम्यक् कर्म, सम्यक् जीविका, म्यक् प्रयत्न, सम्यक् स्मृति वे सात साधन हैं जिनके द्वारा व्यक्ति संसार में रहते भी सांसारिक बंधनों से मुक्ति पाकर सम्यक् समाधि को प्राप्त होता है[१]। म्यक् दृष्टि और सम्यक् संकल्प से ज्ञान आता है, सम्यक् वाणी, सम्यक् कर्म और

चित्त की एकाग्रता सम्यक् समाधि है जिसके लिये सारी बुराइयों से दूर रहना

सम्यक जीविका से शील और सम्यक प्रयत्न, सम्यक स्मृति और सम्यक समाधि म समाधि। अत, अर्हत वह है जो अष्टांगिक मार्ग का अनुसरण करके, ज्ञानवान, शीलवान तथा समाधिस्थ हो गया है। ज्ञान शील और समाधि अर्हत के तीन स्कंध हैं। अर्हत की धारणा हीनयानी बुद्धवाद की देन है। हीनयानी बुद्धवाद दो सम्प्रदायों म विभाजित है—एक स्थविरवाद और दूसरा वैभाषिक। स्थविर का मतलब है ज्ञानी या तत्वदर्शी। स्थविर विभज्यवादी सम्प्रदाय भी है। विभज्यवाद का अर्थ है विश्लेषण द्वारा प्रत्येक वस्तु के अच्छे बुरे भाग को अलग कर देना। स्थविरवाद और विभज्यवाद का आधार तत्वज्ञान है। इस आधार पर यह कहा जा सकता है कि अर्हत मूलत तत्वज्ञान है और जीवन की वह अवस्था है जिसे प्राप्त कर जीव सांसारिक क्रिया कलापों की ओर नहीं मुड़ता[1]।

अच्छाइयों का अर्जन करना और चित्त को संयम में रखना आवश्यक है। ब्रह्मचर्य, बुद्ध के अनुसार, लाभ सत्कार, प्रशंसा, सदाचार, समाधि और ज्ञान के लिये नहीं है। ब्रह्मचर्य का मुख्य उद्देश्य है चित्त की मुक्ति। चित्त की मुक्ति ही जीवन का सर्वोत्तम उद्देश्य है। इसीलिए, सम्यक समाधि की चार अवस्थायें बताई गई हैं—पहली, विरक्ति के अनुभव की अवस्था, दूसरी, विचारों और वितर्कों का जंजाल समाप्त होने के साथ साथ शांति के अनुभव की अवस्था, तीसरी समाधि के आनन्द के प्रति उदासीनता की अवस्था, चौथी, 'पूर्ण प्रज्ञा' अथवा निर्वाण की अवस्था जो दुख सुख से परे होती है। सम्यक समाधि की अवस्था तक पहुंचने के लिये सात सम्यक मार्गों का अभ्यास आवश्यक है। शरीर मन और वाणी के भले बुरे कर्मों का यथार्थ ज्ञान प्राप्त करना सम्यक दृष्टि है। दुख, दुख का कारण, दुख का अन्त और दुखों के अन्त का उपाय—ये चार आर्य सत्य हैं जिनकी अनुभूति रखते हुये जीवन बिताने का संकल्प भी सम्यक संकल्प है। वह वाणी सम्यक है जो मिथ्या भाषण चुगलखोरी, कटुता और बकवास जैसे वाचिक दुष्कर्मों से मुक्त है। जो कर्म हिंसा, चोरी और व्यभिचार के कायिक दुष्कर्मों से मुक्त है, वही कर्म सम्यक कर्म है। प्राणिहिंसा, युद्ध और प्राणि मांस मद्य-तथा विष व्यापार पर निर्भर जीविका झूठी जीविका है। अत, शुद्ध, निष्कपट एवं वास्तविक कर्मों द्वारा उपार्जित जीविका ही सम्यक जीविका है। जो प्रयत्न शुभ विचारों से प्रेरित हैं, वे सम्यक प्रयत्न कहे जाते हैं। शरीर, चित्त वेदना और मन के विषयों से निरन्तर मुक्ति पाने के उपाय की स्मृति सम्यक स्मृति है क्योंकि शरीर, चित्त, वेदना और मन के विषयों से मुक्त होने के उपायों की ओर से विस्मृत होने पर, व्यक्ति इनमें फंस जाता है और उसे दुख भोगना पड़ता है—गैरोला वाचस्पति भारतीय दर्शन पृष्ठ 180-188

1 वही पृष्ठ 147 148

'अर्हत' की धारणा ज्ञानवादी तथा भक्तिवादी है। नितान्त ज्ञानवादी होने के कारण 'अर्हत' की धारणा शुष्क और नीरस भी है। 'अर्हत' जनसाधारण के दैनिक दुख-सुख के जीवन की प्रेरणा न बन सका। उधर बुद्ध के निर्वाण के लगभग चार सौ साल बाद जब बुद्धवाद पर हिन्दुत्व का प्रभाव पड़ा तो महायानी बौद्ध सम्प्रदाय का अभ्युदय हुआ। महायानी सम्प्रदाय ज्ञानमार्गी न होकर भक्तिमार्गी था। इस सम्प्रदाय के अनुयाइयों ने बुद्ध को मनुष्य के भाग्य का शासक और नियन्ता स्वीकार किया जिसके फलस्वरूप बुद्धवाद ईश्वरवादी तथा भक्तिप्रधान हो गया।

माध्यमिक और योगाचार, महायानी बुद्धवाद की दो उपशाखायें हैं। माध्यमिक विचारधारा शून्यवादी थी। योगाचार का अर्थ है वह आचार जिसके द्वारा 'योग' अथवा 'बोधि' प्राप्त हो। 'बोधि' प्रबुद्ध ज्ञान का प्रतीक है। अतः बुद्धवाद की महायानी विचारधारा के अनुसार उत्तमपुरुष वह है जो लौकिक आचारों का पालन करते हुए प्रबुद्धता को प्राप्त हो। प्रबुद्धता ज्ञानानुभूति की अवस्था है। ज्ञान की तीन कोटियां हैं—परिकल्पित (कल्पनाश्रित ज्ञान) परतन्त्र (सापेक्ष्य ज्ञान) और परिनिष्पन्न (सत्याश्रित ज्ञान)[1]। सत्याश्रित ज्ञान का अनुभव बोधि प्राप्ति की उच्चतम अवस्था है जिसके लिये निरन्तर प्रयास की आवश्यकता है, वैसे ही जैसे जीवात्मा को परमात्मा में मिलन के लिए निरन्तर प्रयास की आवश्यकता है। अतः, महायानी विचारधारा के अनुसार, उत्तमपुरुष वह है जो 'बोधिसत्त्व' हो। 'बोधिसत्त्व' ज्ञान और करुणा की मूर्तिमान स्वरूप है। 'बोधिसत्त्व' सत्याश्रित ज्ञान की अनुभूति के कारण निर्वाण का अधिकारी हो गया है, लेकिन जनहिताय करुणा के कारण, इस संसार में तब तक बार बार जन्म लेता है या लेता रहेगा, जब तक कि इस संसार के सभी प्राणी मुक्ति न पा जायं। बोधिसत्त्व वस्तुतः बोधि का सत्त्व है जो, संसार के कल्याण के लिये, युगानुसार युग युग में अवतरित होता रहता है। 'बोधिसत्त्व' प्रत्येक युग का पथप्रदर्शक और उद्धारकर्त्ता है। बोधिसत्त्व की धारणा में वही विचार निहित है जो गीता का 'सम्भवामि युगे युगे' की धारणा में निहित है। बोधिसत्त्व केवल ज्ञानी नहीं वरन् कर्मशील ज्ञानी है। निर्वाण प्राप्ति के लिये 'बोधिसत्त्व' का जितना कर्तव्य अपने प्रति है, उतना दूसरों के प्रति भी है क्योंकि 'बोधिसत्त्व' अपने तथा संसार के निर्वाण की प्रेरणा से प्रेरित है। 'बोधिसत्त्व' की धारणा 'अर्हत' की अपेक्षा अधिक सामाजिक है।

जैनवाद में प्रादुर्भूत 'केवलिन' की धारणा बौद्धों की अर्हत की धारणा से मिलती जुलती है[2]। जैनवादी विचारधारा, बुद्धवादी विचारधारा की भांति ब्रह्मवादी न होकर पुरुषार्थमूलक और श्रमणप्रधान रही है। अतः, इसमें आचरण को प्रधानता दी गई है और इसीकारण इस विचारधारा को नास्तिक भी कहा गया है।

1 गरोला, वाचस्पति वही पृष्ठ 150
2 गोखले बी० जी० वही पृष्ठ 205

जैनवादी विचारधारा में 'सम्यक् ज्ञान, सम्यक् दर्शन और सम्यक् चरित्र ही मोक्षसाधन के तीन रत्न या उद्देश्य बताए गए हैं[1]। जैनियों के मतानुसार बोधि अर्थात् ज्ञान की पांच श्रेणियां हैं—एक मतिज्ञान (जो मन, इंद्रिय, स्मृति प्रत्यभिज्ञा तथा तर्क से प्राप्त हो), दूसरा, श्रुतिज्ञान (जो शब्द एवं संकेतों से प्राप्त हो), तीसरा अवधिज्ञान (जो त्रिकालजन्य वस्तुओं के प्रत्यक्षीकरण से प्राप्त हो), चौथा मनःपर्ययज्ञान (जो दूसरा के मन से प्राप्त हो), और पांचवां केवल ज्ञान (जो जीवन्मुक्ति का ज्ञान है)[2]। जब मनुष्य आत्मगत ज्ञानबाधक कर्मों को नष्ट कर डालता है, तब उसको दिव्य दृष्टि प्राप्त होती है जो आन्तरिक होती है और जिससे अनन्त ज्ञान का साक्षात्कार होता है। यही ज्ञान केवल ज्ञान है जो जीवन्मुक्त अर्हतों को प्राप्त होता है[3]। केवल ज्ञान को प्राप्त करने वाला केवलिन है और कवलिन जीवन्मुक्त है। केवलिन के लिए सम्यक् दर्शन और सम्यक् चरित्र आवश्यक है। सम्यक् चरित्र के लिए शरीर, मन तथा वाणी का वह योग आवश्यक है जो ज्ञान और नैतिकता पर आधारित है। योग के लिए तप आवश्यक है। पूर्ण तथा उत्तमपुरुष के रूप में केवलिन का वही प्रादुर्भाव होता है, जहां ज्ञान तथा नैतिकता पर आधारित तप के द्वारा आत्मा तथा संसार के वास्तविक स्वरूप का पूर्ण ज्ञान अवतरित होता है।

अद्वैत वेदान्त में उत्तमपुरुष की धारणा जीवन्मुक्त की धारणा के रूप में प्रतिपादित की गई है। अद्वैत वेदान्त की विचारधारा एकेश्वरवादी तथा ब्रह्मवादी है। इस विचारधारा में संसार ब्रह्म और माया के योग से बना है। माया मिथ्या है। अतः मायापरायणता अज्ञान है। आत्मा और ब्रह्म एक हैं। अतः ज्ञान का आधार आत्मपरायणता तथा ब्रह्मपरायणता में है। अविद्या का नाश तत्वज्ञान से होता है और तत्वज्ञान की उत्पत्ति 'मैं ही ब्रह्म हूं' (अहं ब्रह्मास्मि) की अनुभूति से होती है। तत्वज्ञान की प्राप्ति ही मुक्ति है क्योंकि तत्वज्ञान की प्राप्ति के बाद न तो किसी प्रकार के कर्म करने की आवश्यकता है और न शास्त्र तथा उपदेश के आश्रय की। वेदान्त की विचारधारा में तत्वज्ञान तथा आत्मज्ञान को एक माना गया है। तत्वज्ञान की प्राप्ति के लिए अन्तःकरण की शुद्धि आवश्यक है जिसके लिए नैतिक गुणों को बलवान बनाने की आवश्यकता है। अन्तःकरण की शुद्धि के लिए वेदों में प्रतिपादित कर्मों की भी आवश्यकता है। तत्वज्ञान का उदय वेदविहित कर्मों से परिशुद्ध अन्तःकरण में ही होता है। मोक्ष के लिए कर्म और ज्ञान दोनों आवश्यक हैं। जो पुरुष, कारणरूप ब्रह्म और कार्यरूप जगत दोनों को जानता है, वह असंभूति (मृत्यु) पर विजय प्राप्त करके संभूति (मोक्ष)

अद्वैत वेदान्त में उत्तमपुरुष

---

1 गरोला, वाचस्पति वही पृष्ठ 92
2 वही पृष्ठ 91
3 वही पृष्ठ 107

को प्राप्त करता है। वेदान्त में मोक्षप्राप्ति के नतिक साधनों को बहिरग तथा अन्त रग श्रेणियां में रक्खा गया है। विवेक, वराग्य, शमादि और मुमुक्षत्व बहिरग तथा श्रवण मनन, निदिध्यासन और समाधि अन्तरग साधन हैं[1]।

जिस प्रकार, गीता म उत्तमपुरुष की कल्पना निष्काम कर्मसिद्धान्त के सन्दभ म की गई है उसी प्रकार, वेदान्त म उत्तमपुरुष की कल्पना अद्वैतवादी सिद्धान्त के सन्दभ मे की गई है। वेदान्त के अनुसार जीवन्मुक्त वह है जो ब्रह्मनिष्ठ है। जीवन्मुक्त वह अवस्था है जहा कतत्व भावनत्व तथा भोग (सुख दुख) के बन्धन नष्ट हो जाते है। यह अवस्था तब आती है जब गुरु के उपदेश, श्रुतिवाक्य तथा स्वानुभव से आत्मा और ब्रह्म की एकता का ज्ञान हो जाता है और उस ज्ञान के द्वारा अज्ञान का नाश होने से अखण्ड ब्रह्म का साक्षात्कार होता है। ऐसी दशा मे अज्ञान म उत्पन्न संशय और विपयय नष्ट हो जाते हैं और आत्मा एकसाथ ब्रह्मज्ञान मे तत्पर हो जाती है। 'उस आत्मतत्व से साक्षात्कार होने पर जीवन्मुक्त पुरुष की बुद्धिस्थित वासनामय काम नायें (हृदय ग्रन्थि) समाप्त हो जाती हैं और सम्पूण निवत्त सन्देह विच्छिन्न हो जाते हैं। जिसके संशय नष्ट हो गए हैं जिसकी अविद्या क्षीण हो चुकी है ऐसे मुक्त पुरुष के जन्मान्तर में तथा ज्ञानोत्पत्ति के समय इस जन्म मे किए गए सारे कर्म भी नष्ट

1 नित्य वस्तु को नित्य और अनित्य वस्तु को अनित्य समझना विवेक है। इस लोक के भोग विलास और परलोक के कर्मजन्य यज्ञयागादि दोनो प्रकार की वस्तुओं एव फलों से सवथा विमुख हो जाना ही वराग्य है। शम दम तितिक्षा उपरति समाधान और श्रद्धा को शमादि (षटसम्पत्ति) कहा गया है। इन्द्रियों के विषयों को संयमित करके आत्मवस्तु में चित्त लगाने का नाम ही शम है। इन्द्रियों को उनके विषयों से हटाकर ब्रह्मसाक्षात्कार की ओर लगाना दम है। मान-अपमान, सुख दुख और शीत ताप को समभाव से सहन करना तितीक्षा है। समस्त कर्मों में फलेच्छा शून्यता और कर्मों का भगवान के प्रति समपण उपरति है। समाधान में शुद्ध बुद्ध परब्रह्म में तत्पर होना तथा गुरु-सुश्रूषा आती है। गुरुवाक्य तथा शास्त्रवाक्य में विश्वास करना श्रद्धा है। अज्ञान से मुक्त होकर मोक्ष की इच्छा को मुमुक्षत्व कहते है। विवेक वराग्य को जन्म देता है, वराग्य मोक्ष की इच्छा को और मोक्ष की इच्छा ब्रह्मजिज्ञासा को जन्म देती है। सम्पूण वेदान्त वाक्यों का एक ही अद्वितीय ब्रह्म में तात्पय समझना श्रवण, वेदान्त के अनुकूल युक्तियों द्वारा अद्वितीय ब्रह्म का चिन्तन मनन, देह से लेकर बुद्धि तक फले हुए जड़ पदार्थों में एक ही ब्रह्म को देखना निदिध्यासन और ज्ञाता, ज्ञेय तथा ज्ञान के अन्तर को हटाकर ब्रह्म में चित्तवृत्ति को एकाकार करना समाधि है।

—गरोला, वाचस्पति वही पृष्ठ 431 32

हो जाते हैं। 'यह साक्षात मैं ही हूँ (अयं साक्षादहमेव) इस प्रकार जीवित रहते हुए भी वह मुक्त हो जाता है[1]"।

गीता के उत्तमपुरुष (स्थितप्रज्ञ) के आध्यात्मिक पक्ष को वेदान्त की जीवन्मुक्त की धारणा में अधिक विस्तार दिया गया है। गीता का उत्तमपुरुष निष्काम कर्मयोगी है, संसार में उसके अस्तित्व का आधार कर्म है। स्थितप्रज्ञ के लिए निष्काम कर्म ही सब कुछ है। स्थितप्रज्ञ की ब्रह्मनिष्ठा का आधार निष्काम कर्म में है। लेकिन, जीवन्मुक्त कर्म से उतना आसन्न नहीं है, जितना कि वह ब्रह्म से है। स्थितप्रज्ञ के लिए पुरुष और प्रकृति के योग से बना संसार मूलतः निष्काम कर्म का क्षेत्र है। जीवन्मुक्त के लिए ब्रह्म और माया के योग से उत्पन्न संसार मूलतः कर्म क्षेत्र नहीं है। संसार वहीं तक ग्रहणीय है जहाँ तक संसार में ब्रह्म का आभास होता है। इसमें कोई सन्देह नहीं कि जीवन्मुक्त के लिए 'अहं' सबसे बड़ा अनिष्ट है। उसका अस्तित्व प्रेम और करुणा में है वह ईश्वर की इच्छा से प्रेरित है उसके जीवन का उद्देश्य जनकल्याण की भावना को जगाना तथा स्वार्थवृत्तियों का दमन करना है लेकिन, साथ ही साथ, इसमें भी कोई सन्देह नहीं है कि जीवन्मुक्त कर्म की अपेक्षा वैराग्य से अधिक प्रेरित है। स्थितप्रज्ञ की प्रेरणा है निवृत्तिवादी प्रवृत्ति और जीवन्मुक्त की प्रेरणा है निवृत्ति तथा वैराग्य। स्थितप्रज्ञ के लिए कर्त्ताचार सारहीन है और वर्ण तथा जाति के बन्धन केवल त्रिगुणात्मक प्रकृति की लीला है। जीवन्मुक्त के लिए वेदविहित कर्त्ताचार वर्ण और आश्रम निर्दनीय नहीं तथा ग्रहणीय हैं यद्यपि निवृत्ति (वैराग्य) श्रेयस्कर है। अद्वैत वेदान्त के सबसे बड़े प्रतिष्ठापक शंकर ने जीवन्मुक्त के सांसारिक कर्म के दो स्तर माने हैं—एक, अल्पतम कर्म, निवृत्ति तथा वैराग्य का और दूसरा लोकसंग्रह (जनकल्याण) के लिए किए गए कर्म का[2]। लेकिन, दोनों दशाओं में, जीवन्मुक्त मूलतः निवृत्तिवादी है।

हिन्दू सामाजिक जीवन-दर्शन की सरिता निवृत्ति तथा प्रवृत्ति के बीच में प्रवाहित होती हुई कहीं निवृत्ति की ओर और कहीं प्रवृत्ति की ओर तरंगित होती रही है। तटों का अस्तित्व सरिता से है न कि सरिता का तटों से। सरिता बहती हुई जलधारा है जो अपने तटों का स्पर्श करती हुई बहती रहती है। सरिता के तट जलधार में समाहित रहते हैं क्योंकि सरिता की जलधारा ही तटों को सार्थकता प्रदान करता है। जिस प्रकार सरिता के तटों को सरिता से अलग नहीं किया जा सकता और उन्हें सरिता से अलग करके अलग अलग नहीं आंका जा सकता, उसी प्रकार न तो निवृत्ति और प्रवृत्ति के विचारों को हिन्दू सामाजिक जीवन-दर्शन की सरिता से अलग ही किया जा सकता है और न अलग-अलग करके उन्हें आंका ही जा

1 मरोला, वाचस्पति वही पृष्ठ 446
2 गोखले वही पृष्ठ 207

कता है। जिस प्रकार, सरिता के दोनो तट दूर दशा मे तट हैं और उनम विभेद ही है, उसी प्रकार निवत्ति और प्रवत्ति म विभेद नही किया जा सकता। प्रवति वत्ति की परिभाषा है और निवत्ति प्रवति की। हिंदू विचारधारा मे प्रवत्ति कोरी थिवता नही है। प्रवत्ति धम के लिए है, काम के लिए है और अथ के लिए है। धम, य और काम म प्रवत्ति, एक ओर, मोक्ष के लिए है और दूसरी ओर, लोकसग्रह के ए। मोक्ष और लोकसग्रह का विचार ही प्रवत्ति को निवत्तिवादी रूप देता है और क्ष तथा लोकसग्रह के विचार के सदभ म निवत्ति प्रवत्ति का विभद वसे ही समाप्त जाता है जसे सरिता के प्रवाह म उसके दोनो तटो का विभेद। मोक्ष और लोक ग्रह का विचार हिंदू सामाजिक जीवन दशन की सरिता का मुख्य प्रवाह है। हा ह अवश्य है कि जहा मोक्ष प्रधान है वहा जीवन प्रवाह निवत्ति की ओर अधिक ड गया है और जहा लोकसग्रह प्रधान है वहा प्रवत्ति की ओर—उस प्रवत्ति की र जिसका आधार लोकसग्रह है न कि वयक्तिक स्वाथ। उत्तमपुरुष न कवल वत्तिवादी है और न कवल प्रवत्तिवादी। उत्तमपुरुष वह है जिसके जीवन म मोक्ष र लोकसग्रह के उद्देश्यो का समन्वय हुआ है। गीता म यह समन्वय निष्काम कम ग के द्वारा हुआ है और वदान्त म वराग्य के द्वारा। इन दोनो मार्गों का प्रतिपादन लग अलग युगो म हुआ है लेकिन दोनो लोकसग्रह से गुजरते हुए मोक्ष की ओर ते है।

ध्ययुगीन तथा वतमान भारत म उत्तमपुरुष की जो धारणाए विकसित हुई हैं उनम एक ओर आध्यात्मिक तथा निवत्तिवादी प्रवत्ति के विचारो ध्ययुग से का समावेश हुआ है और, दूसरी ओर, ज्ञान भक्ति तथा कम के तमान युग तक समन्वित रूप का समावेश। निगुण विचारधारा के ज्ञानश्रयी कवियो ने बाह्याचार और ससार को मिथ्या कहा और निगुण के न तथा भक्ति को मुक्ति का साधन माना, लेकिन सासारिक जीवन तथा लोक ग्रह के विचार को नही छोडा। सूरदास तथा तुलसीदास जसे सगुण विचारधारा भक्त कवियो ने राम और कृष्ण के रूप में उत्तमपुरुष की धारणा का प्रतिपादित या। इन्होने, एक ओर, उत्तम पुरुष को अलौकिक मानवीकरण माना और दूसरी र, उसे लोकसग्रहाथ कमयोगी या लीलाधारी के रूप में प्रस्तुत किया। राम और ष्ण 'सम्भवामि युगे युगे' की विचारधारा के सन्दभ म मर्यादापुरुषोत्तम के रूप मे स्तुत किए गए हैं। राम और कृष्ण पुरुषोत्तम हैं जो युग-युग की आवश्यकताओ के नुसार, मर्यादाओ की रक्षा तथा लोकसग्रह के लिए मानवी आकार म, उत्तमपुरुष रूप धारण करते हैं। उत्तमपुरुष की यह धारणा पुरुषोत्तम की धारणा म लीन जाती है, और इसी कारण, उत्तमपुरुष वस्तुत वह अलौकिक पुरुष हो जाता है जो कसग्रह के लिए और युगधम की रक्षा के लिए उत्तमपुरुष के रूप म इस ससार आता है। इस दृष्टिकोण म, उत्तमपुरुष एक अलौकिक आत्मा नहीं वरन युग की

की आत्मा है। श्री अरविन्द ने उत्तमपुरुष को वह अलौकिक आत्मा माना है जो कृष्ण के रूप में प्रत्येक युग के कुरुक्षेत्र रूपी धर्मक्षेत्र में अधर्म का नाश करने के लिए तथा धर्म की संस्थापना के लिए अवतरित हुआ करती है। उत्तम दिव्य है अतः उत्तमपुरुष भी वह दिव्य पुरुष है जिसमें युग के आदर्श सन्निहित रहते हैं।

आठवीं शताब्दी से लेकर वर्तमान समय तक भारत, एक ओर, राजनैतिक दासता का भारत रहा है और दूसरी ओर विजेता संस्कृतियों के संघात तथा उनसे उत्पन्न होने वाले सांस्कृतिक और बौद्धिक कोलाहल का भारत। इस्लाम और इसाई मजहब सहिष्णुता, स्याद्वाद और जनतान्त्रिकता के आधारभूत विचारों पर सीधे आघात करते रहे हैं क्योंकि ये मजहब मिशनरी मजहब हैं। इनका उद्देश्य रहा उन आध्यात्मिक तथा सामाजिक विश्वासों, आचारों और परम्पराओं का प्रसार जिन्हें इनमें अन्तिम सत्य के रूप में प्रतिपादित किया गया है। पश्चिमी पूँजीवादी व्यवस्था जो अर्जन भावना (The Idea of Acquisition) पर आधारित है पारलौकिकता, त्याग, दान, अस्तेय आत्मनिग्रह और लोकसंग्रह कर्म के विचारों के विरोध में आती है। यह काल भारत के राजनैतिक सांस्कृतिक तथा सामाजिक पराजय और पुनरुन्नयन का काल रहा है। पराजय से त्राण पाने की भावात्मक चेष्टा ने अलौकिकता और प्रपत्ति के भाव को प्रोत्साहित किया जिसे, जैसाकि राम और कृष्ण के इस युग में प्रतिपादित स्वरूपों से स्पष्ट है उत्तमपुरुष की धारणा में आत्मसात किया गया। इस युग का उत्तमपुरुष जहाँ अलौकिक है वहाँ वह निष्काम कर्मठ भी है। वह कर्म में इसलिए लीन होता है कि धर्म की रक्षा हो सके और सत्य संस्थापित हो सके। वह अधर्म और असत्य का विरोधी है। वह अधर्म और असत्य के प्रतीक रावण और कंस का वधक है। वह एक दिव्य पथप्रदर्शक है, जिसका उद्देश्य है निगमागम सम्मत[1] आदर्शों की प्रतिस्थापना करना। यहाँ पूर्णत्व वह अलौकिक है जो ऐतिहासिक परिस्थितियों की आवश्यकताओं के अनुसार मानव क्रिया कलापों में पूर्णत्व लाने के लिए हस्तक्षेप किया करता है।

पुनरुन्नयन के इस काल में, बुद्धवादी, जनवादी और गीता तथा वेदान्त में प्रतिपादित उत्तमपुरुष की धारणाओं ने, उत्तमपुरुष के विचार को प्रभावित किया है। राजनैतिक तथा सांस्कृतिक स्वातन्त्र्य के लिए अहर्निश संघर्ष और युग की आवश्यकतानुसार समाजसुधार, इस युग की दो आधारभूत आवश्यकतायें रही हैं जिनसे इस युग की उत्तमपुरुष की धारणायें प्रभावित हुई हैं। स्वातन्त्र्य-संग्राम ने निष्काम कर्मठता की माँग की, जिसे जैनवादी, बुद्धवादी और गीता के विचारों से प्रेरणा मिली। आवश्यक समाजसुधार से उत्पन्न परिवर्तनों को आत्मसात करते हुए, सामाजिक

1 रामायण के विषय में तुलसीदास ने कहा है नाना पुराण निगमागम सम्मत यत् रामायणे निगदितं क्वचिदन्यतोऽपि

सगठन के पुनरुन्नयन के विचार तथा आवश्यकता को आर्यसमाज तथा वेदान्त से प्रेरणा मिली। सामाजिक सुधार और स्वातन्त्र्य-सग्राम की आवश्यकता ने पूजीवाद के समक्ष भी लोकसग्रह के विचार को सर्वोपरि रक्खा। साथ ही साथ, पश्चिमी विज्ञान से प्रवीण होती हुई लौकिकता (Secularism) की विचारधारा से अलौकिकता की विचारधारा यदि खण्डित नही हुई तो, कुठित होकर, मन्द अवश्य पडी। इन विभिन्न प्रभावो के परिणामस्वरूप, इस युग मे उत्तमपुरुष की कई धारणायें प्रतिपादित हुई, जो नई परिस्थितियो में, पुरानी धारणाओ का पुनरुन्नयन हैं। तिलक ने गीता के निर्वचन के आधार पर उस उत्तमपुरुष का रूप जन मानस के सम्मुख प्रस्तुत किया जो निष्काम कर्मयोगी है और स्वतन्त्रता जिसका जन्मसिद्ध अधिकार है। रामकृष्ण परमहस के कार्यों और विचारो से जिस उत्तमपुरुष का रूप उभरता है वह सभी मे एक ही सत्ता देखता है उसमे ऊच-नीच का भेद भाव नही है वह दोनों के प्रति द्रवित है और प्रत्येक व्यक्ति के लिए वही धर्म उचित मानता है जिससे कि प्रत्येक व्यक्ति जन्मत दीक्षित है। स्वामी विवेकानन्द का उत्तमपुरुष स्वतन्त्रता प्राप्ति, सामाजिक दीनता और कुरीतियो को नष्ट करने तथा पश्चिमी विज्ञान और भारतीय आध्यात्मिकता के समन्वय के लिए उग्र और कर्मशील है। वह सन्यासी है, जीवन्मुक्त है किन्तु वह राजनैतिक आन्दोलन का प्रणेता तथा समाजसेवी है। लोकसग्रह उसका मुख्य ध्येय है। वह ब्रह्मनिष्ठ है वह आत्मवत् सर्वभूतेषु की भावना से विभोर है। वह अपने प्रति निस्पृह है न कि लोकसग्रह के प्रति। आर्यसमाजी विचारधारा का उत्तमपुरुष वेदो के प्रति फैले हुए अज्ञान को नष्ट करने तथा वेदविहित आदर्शों के आधार पर समाज के पुनर्सगठन के प्रति वैसे ही तत्पर है जैसाकि युद्ध के लिए प्रेरित सेनानी। उसके लिए वही हिन्दू है जो आर्यों की देन है और वेदविहित है।

गाधी की विचारधारा मे उत्तमपुरुष की धारणा सत्याग्रही की धारणा के रूप मे अवतरित हुई है। गांधी की विचारधारा पर पारलौकिकता का प्रभाव है। राम से उन्हे प्रेरणा मिलती है। लेकिन, गाधी की विचारधारा मे प्रतिपादित उत्तमपुरुष अलौकिक नही है वह पूर्णतया लौकिक और इस ससार का पुरुष है। गाधी की विचारधारा अहिंसा, अपरिग्रह और निरन्तर सत्यशील के विचारो से प्रभावित है। लेकिन, गाधी का उत्तमपुरुष अलौकिक से उतना प्रेरित नही है जितना कि लोक-कल्याण की भावना से। (सत्याग्रह का अर्थ है सत्य के लिए अहिंसात्मक आग्रह और असत्य से निरन्तर अहिंसात्मक असहयोग। [illegible] ।, सत्यनिष्ठा, अ[illegible] [illegible]रिग्रह और मन वचन तथा [illegible] वस्तुत जीवनदान [illegible] है। सत्याग्रह, सत्यनि[illegible] आधारित है। सत्याग्रह [illegible] वही सत्याग्रह का प्रति[illegible]

कर्म को असंग तथा द्वेषरहित कर लिया है, जिसमें सत्यानुभूति के द्वारा सत्यनिष्ठा आ गई है, जो दृढ़ निश्चय से उत्पन्न होने वाले साहस तथा उत्साह से प्रेरित है और जिसने अपरिग्रह, अस्तेय तथा अहिंसा को हृदयंगम कर लिया है। सत्याग्रही में चार गुण आवश्यक हैं—पहला ब्रह्मचर्य जिसका अर्थ अविवाहित जीवन नहीं वरन मन, वचन तथा कर्म से इन्द्रियों पर पूर्ण नियन्त्रण है, दूसरा सत्यनिष्ठा सर्वात्मप्रेम और अहिंसा, तीसरा 'निडरता' दृढ़ निश्चय और यह भाव की उसके (सत्याग्रही के) सारे कार्य सत्य और ईश्वरेच्छा से प्रेरित हैं और चौथा, अपरिग्रही जीवन जो दरिद्रनारायण का प्रतीक है।

अपरिग्रह का तात्पर्य दीनता या गरीबी से नहीं है। अपरिग्रह का तात्पर्य है कम से कम भौतिक वस्तुओं का प्रयोग क्योंकि स्वेच्छित त्याग से सम्यक् दृष्टि का अभ्युदय होता है। सत्याग्रही में लोकसंग्रह की प्रेरणा है। इसीलिए उसमें दया, करुणा और प्रेम के साथ-साथ कर्मठता भी है। सत्याग्रही में लोकसंग्रह की प्रेरणा इतनी प्रबल है कि वह संसार का केवल दर्शक मात्र नहीं है। संसार में सत्य की संस्थापना के लिए, वह निरन्तर क्रियाशील रहता है क्योंकि अहिंसा के द्वारा असत्य का विनाश उसका धर्म है और वह उसके लिए सतत तत्पर रहता है। वह सत्य की संस्थापना के लिए तब तक निरन्तर प्रयत्नशील और कष्ट झेलता रहता है जबतक कि समाज का वांछित रूपान्तरण न हो जाय। सत्याग्रही का आदर्श उस समाज की स्थापना करना है जिसके सदस्य आध्यात्मिकता से प्रबुद्ध हो गये हों और इसकारण, अहिंसक अपरिग्रही सरल शुद्ध और तपस्वी जीवन की ओर स्वतः प्रेरित हों। सत्याग्रही, इसप्रकार, एक आदर्श तथा समाजोन्मुख उत्तमपुरुष है जो एक आदर्श समाज की स्थापना के विचार से प्रेरित होकर लोकसंग्रह के कार्य में लगा हुआ है। गांधी का आदर्श समाज अस्तेय और अपरिग्रह पर आधारित वह समाज है जो मशीन, औद्योगिकता पूँजीवाद और शहरीकरण के दोषों से मुक्त है।

अद्वैत वेदान्त की विचारधारा से प्रभावित होने के कारण राधाकृष्णन के पूर्णत्व सम्बन्धी विचारों पर जीवन्मुक्त की धारणा का प्रभाव स्पष्ट है। राधाकृष्णन ने पूर्णपुरुष को मुक्तात्मा कहा है। वही व्यक्ति मुक्तात्मा है जिसने आत्मसत्व के अनुभव के द्वारा, अपने व्यक्तित्व का पूर्णतया एकीकृत कर लिया है, जिसका तर्क प्रकाश में परिणत हो गया है तथा हृदय प्रेम में और इच्छाशक्ति में जिसके प्रयत्न अनुशासित हैं जिसमें आत्मा के एकत्व की भावना निश्चित रूप ले चुकी है और जिसमें अविद्या एषणा, अहं, द्वेष तथा छिद्रान्वेषण का नाश हो गया है। मुक्तात्मा शाश्वत के प्रति सदैव जागरूक रहता है और इसी जागरूकता के साथ संसार के कर्मों का सम्पादन करता है। साधुशीलता उसका सहजगुण है, जिसके समक्ष बौद्धिकता की उड़ान फीकी लगती है। मुक्तात्मा विनम्र धैर्यवान तथा कष्टसाध्य होता है। वह दूसरे के दोष को नहीं देखता क्योंकि वह दूसरों को पूर्ण

रूपेण जानने का दावा नही करता है । मुक्तात्मा के एषणारहित प्रेम से दुखी हृदयो को सात्वना मिलती है । मुक्तात्मा, वस्तुत, रचनात्मक जीवन का कलाकार है। मुक्तात्मा, इसप्रकार, एक ओर, शाश्वत के प्रति जागरूक है और, दूसरी ओर, अपने सत्व के प्रति असग रहित होकर, लोकसग्रह के लिए कार्यशील है । मुक्तात्मा स्वपरक न होकर, शाश्वतपरक तथा समाजपरक होता है ।

हिदुत्व के वचारिक आधार तथा आदश नियम, जसाकि पिछले वर्णन से स्पष्ट है, धर्म, पुरुषार्थधर्म, वर्णाश्रमधर्म, कर्मधर्म, राजधर्म, कुलधर्म तथा उत्तमपुरुष की धारणाओ से प्रेरित हैं। हिदू विचार लौकिकता और अलौकिकता से एक साथ प्रेरित है। हिदू सामाजिक विचार वस्तुत दार्शनिक विचार है। हिदुत्व म व्यक्ति तथा समाजसम्बधी विचारो को दर्शन के आधार पर प्रतिपादित किया गया है। यहाँ दर्शन का अर्थ केवल तर्काश्रित आदर्श विचार से नही है। यहा दर्शन ज्ञान है और ज्ञान पारलौकिक सत्य की वह अनुभूति है जो विज्ञान स परे है। पारलौकिक सत्य की अनुभूति से मोक्ष प्राप्ति जीवन का उच्चतम उद्देश्य है । जीवन के दो पहलू हैं—वयक्तिक और सामाजिक। वयक्तिक और सामाजिक एक दूसरे के विरोधी नही वरन् पूरक है क्योकि पारलौकिक सत्य की अनुभूति और मोक्ष के लिए व्यक्ति का सामाजीकरण आवश्यक है। समाज बधन नहीं वरन् सर्वोत्तम उद्देश्य की पूर्ति का साधन है। इसीलिए वैयक्तिक स्वार्थ नही वरन लोकसग्रह महत्वपूर्ण है। पूर्णपुरुष का उदभव-स्थान और क्रिया क्षेत्र समाज है। लकिन, समाज लौकिक है, वह पारलौकिक की छाया मात्र है। पूर्णत्व पारलौकिक की प्राप्ति म है। समाज पारलौकिक की प्राप्ति का साधन बना रहे, इसलिए समय समय पर समाज का सुधारने क लिए मानवरूप म स्वय पारलौकिक अवतरित होता है। इस प्रकार, रहस्यविचार और पारलौकिकता हिदू सामाजिक तथा वयक्तिक जीवन के आधार हैं। प्रवत्ति अवश्यम्भावी है निवत्ति सर्वोत्तम आवश्यक साधन और दोनो का आधार तथा माध्यम समाज है। हिदुत्व म समाज को साधन और माध्यम माना गया है—वह साधन जिससे जीवन के सर्वोत्तम उद्देश्य की प्राप्ति होती है। समाज, एक साधन के रूप म, सामाजिक आदर्श नियमो (Social Norms) या लोकाचारो स बधा है। आदर्श नियमो की सामाजिक अभिव्यक्ति सस्थाओ म होती है। सस्थायें व्यक्ति के सामाजीकरण का माध्यम होती हैं और सस्थाओ के द्वारा व्यक्ति अपन समाज के सास्कृतिक आदर्श के समीप पहुचता है। हिदू सस्थायें और हिदू सास्कृतिक आदर्श पारलौकिकता के विचार स प्रेरित हैं।

भारतीय संस्कृति में इस्लाम

बारहवाँ अध्याय

भारत में इस्लाम

हिन्दुत्व और इस्लाम

भारत के सांस्कृतिक उद्विकास में शंकर का अभ्युदय और इस्लामी सांस्कृतिक धारा का प्रवाह साथ साथ प्रारम्भ हुआ है। आठवीं शताब्दी से लेकर अठारहवीं शताब्दी तक का काल एक ओर, हिंदुओं और मुसलमानों में चलने वाले राजनैतिक संघर्ष का काल है तो दूसरी ओर, दार्शनिक ऊहापोह, सामाजिक सुधारों और विप्लवों का। इसी काल को एक ओर मध्ययुग कहा जाता है तो दूसरी ओर मुस्लिम-काल। सांस्कृतिक उद्विकास के इतिहास के दृष्टिकोण से मुस्लिम काल की संज्ञा निरर्थक है क्योंकि इस काल में मुसलमानों को भारत पर पूर्ण राजनैतिक प्रभुत्व कभी नहीं मिला। सात सौ बारह ईसवी में मुहम्मद बिन कासिम के द्वारा सिंध के कुछ शहर जीत लेने का अर्थ भारत में मुस्लिम काल का प्रारम्भ होना नहीं है और न उस समय से हिंदू संस्कृति के उत्तरोत्तर उद्विकास की प्रक्रिया में कोई व्यवधान ही आया है। सारे मुस्लिम कहे जाने वाले काल में, भारत के किसी न किसी भाग में हिंदू राज्य रहे हैं जिनके अधिष्ठाता हिंदू मान्यता के अनुसार धर्म राज्य स्थापित करने का प्रयत्न करते रहे हैं। काबुल, लाहौर, दिल्ली, अजमेर, कन्नौज, मालवा और गुजरात के राजपूत शासक आक्रमणकारी इस्लाम को रोक कर हिंदू मान्यता के अनुसार धर्म राज्य की स्थापना करते हुए समाप्त हुए हैं। चौदहवीं शताब्दी में

तुगलकों के पतन के बाद, राजपूतों ने अपने पुनरुत्थान का प्रयत्न किया और अठारहवीं शताब्दी के राजनैतिक भारत पर वस्तुतः हिन्दुओं का प्रभुत्व था[1]। राजनतिक सर्वोपरिता के दृष्टिकोण से केवल तेरहवीं शताब्दी के अन्त या चौदहवीं शताब्दी के प्रारम्भ तक का काल ही मुस्लिम-काल कहा जा सकता है। किन्तु, सांस्कृतिक विकास के तारतम्य में जहां आधारभूत धारा प्रवाहित होती रहती है इन कालों में अविक महत्वपूर्ण हैं वे परिवर्तन प्रक्रियायें, जिनमें मुख्य साम्कृतिक धारा के किनारे कटते छटते तो हैं, उसकी गति भी बदलती है, पर उसकी दिशा में परिवर्तन नहीं आता है।

भारत की हिन्दू-संस्कृति में इस्लामी धारा के मिलन के बाद से ही भारतीय संस्कृति का रूप आता है। इस्लाम की उत्पत्ति ऐतिहासिक प्रक्रिया से हुई है। इस्लाम इतिहास में समाया हुआ है और इस्लाम में इतिहास। इस्लाम, एक ओर, एक मजहबी आस्था है तो दूसरी ओर, एक सामाजिक ऐतिहासिक प्रवाह। हिन्दुत्व और इस्लाम का मिलन वस्तुतः उन दो ऐतिहासिक प्रवाहों का मिलन है जिनमें मानव-जीवन के सभी पक्ष निहित हैं जिनका उद्भव और विकास अलग-अलग स्थानों में हुआ और अपनी ऐतिहासिक परिस्थितियों के कारण जो एक दूसरे के विभेदक सिद्ध हुए। मध्ययुगीन भारत के इतिहासकार बहुधा हिन्दुत्व पर इस्लाम के सघात की बात करते हैं क्योंकि उनकी यह मान्यता है कि इस काल में होने वाले सामाजिक सांस्कृतिक परिवर्तन इस्लाम के सघात के प्रत्यक्ष या अप्रत्यक्ष परिणाम हैं[2]। समाज शास्त्रीय सन्दर्भ में यह दृष्टिकोण एकांगी है क्योंकि यहां यदि इस्लाम का सम्पर्क हिन्दुत्व से हुआ तो हिन्दुत्व का इस्लाम से। दोनों इतिहास की अलग-अलग प्रक्रियायें थीं और दोनों को राजनतिक सशक्तता प्राप्त थी। अपनी-अपनी समन्वयकारी क्षमताओं के कारण यदि इस्लाम ने हिन्दुत्व के संस्करण उपस्थित किए तो हिन्दुत्व ने इस्लाम के, और इन्हीं संस्करणों के माध्यम से दोनों का भारतीयकरण हुआ। फिर भी, इस्लाम और हिन्दुत्व के भारतीयकरण की प्रक्रियाओं के बीच इस्लाम ने इस्लाम को रखने का प्रयत्न किया और हिन्दुत्व ने हिन्दुत्व। इस्लाम ने औरंगजेब को जन्म दिया तो हिन्दुत्व ने शिवाजी और गुरुगोविन्दसिंह को और कालान्तर में, एक ओर, पाकिस्तान बना तो, दूसरी ओर, इंडिया अथवा भारत।

---

1 सरकार विनयकुमार पाजिटिव बैकग्राउंड आफ हिन्दू सोसियोलाजी प्रथम जिल्द, पृष्ठ 90–100

2 उदाहरण के लिए देखिए डा० ताराचन्द कृत इन्फ्लुएंस आफ इस्लाम आन इंडिया।

२

इस्लाम

भारत में इस्लाम के प्रवेश से उत्पन्न परिवर्तन प्रक्रियाओं को समझने के लिए इस्लाम के स्वरूप और उसकी इतिहास जनित विशेषताओं की व्याख्या आवश्यक है। रहस्यवादी अनुभूति में अवगुंठित, इस्लाम इस प्रकार के मजहबी विचारों की अभिव्यक्ति है, जिसका बीजारोपण उस समय हुआ था जब अरब में मक्का निवासी हजरत मुहम्मद (570 630) को इस बात का दिव्य अन्तर्ज्ञान हुआ था कि वे ईश्वर के दूत हैं और उनके माध्यम से मानव मात्र के कल्याण के लिए ईश्वर के आदेश अवतरित हो रहे हैं। इस्लाम उस समय अंकुरित हुआ था जब अपने रहस्यवादी सहज ज्ञान का प्रचार करने के कारण हजरत मुहम्मद का मक्का में विरोध हुआ और उन्हें भागकर मदीना में शरण लेनी पड़ी जहां मुहम्मद के नेतृत्व में, इस्लाम पल्लवित हुआ एक छोटे से मजहबी राष्ट्रवादी समुदाय के रूप में, जो निरन्तर बढ़ता ही रहा है। *इस्लाम की स्थापना के लिए इसी समुदाय ने जब मक्का विजय की तो इस्लाम* का राजनैतिक रूप उभरा। हजरत मुहम्मद के जीवन काल ही में पश्चिमी अरब पर इस्लाम का झण्डा गड़ गया था। हजरत मुहम्मद की मृत्यु के बाद एक शताब्दी बीतते बीतते सिन्धु से लेकर मोरक्को तक इस्लाम का झंडा लहराने लगा था। ईसा की तेरहवीं शताब्दी के आस पास इस्लामी विचारों और अनुभूतियों ने एक सभ्यता विशेष का रूप ले लिया था। पिछले तेरह सौ वर्षों के निरन्तर प्रसार का परिणाम है कि आज इस्लाम उस बड़े भूभाग का प्रधान मजहब है जो उत्तरी अफ्रीका और पश्चिमी एशिया के आर पार होता हुआ पामीर तक आता है और वहां से, पूर्व में मध्य एशिया तथा चीन और दक्षिण में पाकिस्तान में विलीन हो जाता है[1]। अपने इस व्यापक प्रसार में एक ओर, इस्लाम ने अनेक प्रजातियों (Races) गणजातियों (Tribes) और राष्ट्रों (Nations) को एक सामाजिक धार्मिक सूत्र में बांधने का प्रयास किया तो, दूसरी ओर वह एक प्रबल राष्ट्रनिर्माणी शक्ति सिद्ध हुआ। इस्लाम के ही संघात से अरबी, बर्बर ईरानी तूरानी, अफगानी और अल्बानियाई आदि के निवासियों का अलग अलग राष्ट्रीय पुनर्जन्म हुआ।

---

1 इस्लाम के अनुयाइयों का प्रसार क्षेत्र इतना ही नहीं है, यद्यपि यह एक प्रमुख क्षेत्र है। भारत में इस्लाम प्रमुख मजहब नहीं है। किन्तु, मलाया प्रायद्वीप तथा पूर्वी द्वीप समूह से लेकर फिलिप्पाइंस तक इस्लाम एक प्रमुख मजहब है। टंगानिका और जंजीबार वाले अफरीकी क्षेत्र में भी इस्लाम प्रधान मजहब है किन्तु दक्षिणी अफरीका के राज्य संघ में मुसलमानों की संख्या छुटपुट है। उत्तरी तथा दक्षिणी अफरीका में पाए जाने वाले मुसलमान मध्य एशिया से स्थानान्तरित हुए हैं—गिब, मोहम्मडनिज्म पृष्ठ 3

इस्लाम अरबी भाषा का शब्द है जिसका एक अर्थ है ईश्वर के प्रति मनुष्य का आत्मसमर्पण और दूसरा शान्ति में प्रवेश करना। अतः इस्लाम एक आस्था है जिसके द्वारा मनुष्य अपने को ईश्वर के प्रति समर्पित करके शान्तिग्रहण की कामना करता है। यह आस्था निहित है उन वाक्यों (आयतों) में जो हजरत मुहम्मद ने अपनी इल्हामी अवस्थाओं में कहे हैं और जिन्हें, ईश्वर वाक्य मानकर हजरत मुहम्मद की मृत्यु के बाद कुरान[1] नामक धार्मिक पुस्तक में संग्रह कर लिया गया है। हजरत मुहम्मद द्वारा प्रतिपादित इस्लामी आस्था में, ईश्वर एक है और वह सर्वशक्तिमान, निराकार अव्यक्त अजन्मा अजर, अमर और स्वेच्छाचारी पर दयालु है। अव्यक्त और अजन्मा होने के कारण न तो राम और कृष्ण की भांति ईश्वर अवतार ले सकता है और न ईसाइयों की मान्यता की भांति नश्वर नारी के समान से वह किसी को जन्म ही दे सकता है[2]। मुहम्मद ईश्वर (अल्लाह) के अन्तिम दूत (रसूल, नबी, पैगम्बर) हैं। मुहम्मद के पहले पैगम्बर अवश्य हुए हैं पर उनके बाद नहीं होंगे, ऐसा इस्लामी मान्यता है। इस आस्था से यह ध्वनित होता है कि मुहम्मद द्वारा दिया हुआ ईश्वरीय ज्ञान भी अद्वितीय और अन्तिम है क्योंकि ऐसा ज्ञान न पहले मिला है और न मिलेगा। इस्लामी आस्था में इस्लाम एक अद्वितीय, सर्वश्रेष्ठ, रहस्यात्मक दिव्य ज्ञान (Revelation) है न कि धर्मविद्या (Theology) और हजरत मुहम्मद ईश्वर के अन्तिम दूत हैं न कि कोई साधारण धर्मविद् (Theologian)। इतिहास प्रसिद्ध इस्लामी कट्टरता का प्रश्रयस्रोत यही आस्था है।

इस्लामी आस्था में ईश्वर मालिक है और मनुष्य गुलाम है। ईश्वर और मनुष्य दो अलग अलग और किसी हद तक विरोधी सत्तायें हैं किन्तु ईश्वर के समक्ष, सभी मनुष्य समान हैं। मनुष्य एक अपूर्ण तथा निरीह प्राणी है जिसका न पुनर्जन्म

---

1 कुरान इस्लाम की मूल धार्मिक पुस्तक है जिसकी आयतों में जहाँ, एक ओर, ईश्वर और मनुष्य के सम्बन्धों को नियमित करने के उसूल निहित हैं वहाँ, दूसरी ओर, दैनिक जीवन को नियमित करने वाले ऐसे नियमों का भी प्रतिपादन किया गया है जैसे मादक वस्तुओं का सेवन न करना, सुअर का मांस न खाना और सूद न लेना इत्यादि। कुरान के अलावा सुन्ना हदीस और शरिअत तीन अन्य पुस्तक हैं। सुन्ना में हजरत मुहम्मद के कृत्यों का वर्णन है और हदीस में उनके उपदेशों का संकलन। शरिअत इस्लामी विधि संहिता है जिसे कुरान सुन्ना और हदीस के आधार पर संग्रहीत किया गया है। शरिअत उतनी ही पवित्र और ईश्वरीय है जितनी कि कुरान।

2 ईसाई ईसा को ईश्वर का पुत्र मानते हैं जो कुमारी मरियम के गर्भ से ईश्वरीय कृपा के कारण उत्पन्न हुए थे। इस्लाम में ईश्वर अव्यक्त है। अतः वह ऐसा नहीं कर सकता।

२

इस्लाम

भारत मे इस्लाम के प्रवेश से उत्पन्न परिवर्तन प्रक्रियाओ को समझने के लिए इस्लाम के स्वरूप और उसकी इतिहास जनित विशिष्टताओ की व्याख्या आवश्यक है। रहस्यवादी अनुभूति मे अवगुंठित, इस्लाम इस प्रकार के मजहबी विचारो की अभिव्यक्ति है, जिसका बीजारोपण उस समय हुआ था जब अरब मे मक्का निवासी हजरत मुहम्मद (570 630) को इस बात का दिव्य अन्तर्ज्ञान हुआ था कि वे ईश्वर के दूत हैं और उनके माध्यम से मानव मात्र के कल्याण के लिए ईश्वर के आदेश अवतरित हो रहे है। इस्लाम उस समय अकुरित हुआ था जब अपने रहस्यवादी सहज ज्ञान का प्रचार करने के कारण हजरत मुहम्मद का मक्का मे विरोध हुआ और उन्हे भागकर मदीना मे शरण लेनी पडी जहा मुहम्मद के नेतृत्व मे, इस्लाम पल्लवित हुआ एक छोटे से मजहबी राष्ट्रवादी समुदाय के रूप मे, जो निरन्तर बढता ही रहा है। इस्लाम की स्थापना के लिए इसी समुदाय ने जब मक्का विजय की तो इस्लाम का राजनतिक रूप उभरा। हजरत मुहम्मद के जीवन काल ही मे पश्चिमी अरब पर इस्लाम का झडा गड गया था। हजरत मुहम्मद की मत्यु के बाद, एक शताब्दी बीतते बीतते, सिन्धु से लेकर मारक्को तक इस्लाम का झडा लहराने लगा था। ईसा की तरहवी शताब्दी के आस पास इस्लामी विचारो और अनुभूतियो ने एक सभ्यता विशेष का रूप ले लिया था। पिछले तरह सौ वर्षों के निरन्तर प्रसार का परिणाम है कि आज इस्लाम उस बडे भूभाग का प्रधान मजहब है जो उत्तरी अफ्रीका और पश्चिमी एशिया के आर पार होता हुआ पामीर तक आता है और वहा से, पूर्व मे मध्य एशिया तथा चीन और दक्षिण मे पाकिस्तान मे विलीन हो जाता है[1]। अपने इस व्यापक प्रसार मे, एक ओर इस्लाम ने अनेक प्रजातियो (Races) गणजातियों (Tribes) और राष्ट्रो (Nations) को एक सामाजिक धार्मिक सूत्र मे बाधने का प्रयास किया तो दूसरी ओर वह एक प्रबल राष्ट्रनिर्मात्री शक्ति सिद्ध हुआ। इस्लाम के ही सघात से अरबी, मत्र ईरानी तूरानी अफगानी और अल्बानिया आदि के निवासियो का अलग अलग राष्ट्रीय पुनर्जन्म हुआ।

इस्लाम के अनुयाइयों का प्रसार क्षेत्र इतना ही नहीं है यद्यपि यह एक प्रमुख क्षेत्र है। भारत में इस्लाम प्रमुख मजहब नहीं है। किन्तु मलाया प्रायद्वीप तथा पूर्वी द्वीप समूह से लेकर फिलिप्पाइंस तक इस्लाम एक प्रमुख मजहब है। टगानिका और जंजीबार वाले अफरीकी क्षेत्र में भी इस्लाम प्रधान मजहब है किन्तु दक्षिणी अफरीका के राज्य सघ में मुसलमानों की सख्या छुटपुट है। उत्तरी तथा दक्षिणी अफरीका में पाए जाने वाले मुसलमान मध्य एशिया से स्थानान्तरित हुए है—गिब, मोहम्मडनिज्म पृष्ठ 3

इस्लाम अरबी भाषा का शब्द है जिसका एक अर्थ है ईश्वर के प्रति मनुष्य का आत्मसमर्पण और दूसरा शान्ति में प्रवेश करना। अतः, इस्लाम एक आस्था है जिसके द्वारा मनुष्य अपने को ईश्वर के प्रति समर्पित करके शान्तिग्रहण की कामना करता है। यह आस्था निहित है उन वाक्यों (आयतों) में जो हजरत मुहम्मद ने अपनी इल्हामी अवस्थाओं में कहे हैं और जिन्हें ईश्वर वाक्य मानकर, हजरत मुहम्मद की मृत्यु के बाद, कुरान[1] नामक धार्मिक पुस्तक में संग्रह कर दिया गया है। हजरत मुहम्मद द्वारा प्रतिपादित इस्लामी आस्था में ईश्वर एक है और वह सर्वशक्तिमान, निराकार अव्यक्त, अजन्मा अजर अमर और स्वेच्छाचारी पर दयालु है। अव्यक्त और अजन्मा होने के कारण न तो राम और कृष्ण की भाँति ईश्वर अवतार ले सकता है और न ईसाइयों की मान्यता की भाँति नश्वर नारी के गर्भ से वह किसी का जन्म ही दे सकता है[2]। मुहम्मद ईश्वर (अल्लाह) के अंतिम दूत (रसूल, नबी, पैगम्बर) हैं। मुहम्मद के पहले पैगम्बर अवश्य हुए हैं पर उनके बाद नहीं होंगे, ऐसी इस्लामी मान्यता है। इस आस्था से यह ध्वनित होता है कि मुहम्मद द्वारा दिया हुआ ईश्वरीय ज्ञान भी अद्वितीय और अन्तिम है, क्योंकि ऐसा ज्ञान न पहले मिला है और न मिलेगा। इस्लामी आस्था में इस्लाम एक अद्वितीय सर्वश्रेष्ठ रहस्यात्मक दिव्य ज्ञान (Pevcaliti n) है न कि धर्मविद्या (Theology) और हजरत मुहम्मद ईश्वर के अन्तिम दूत हैं न कि कोई साधारण धर्मविद् (Theologian)। इतिहास प्रसिद्ध इस्लामी कट्टरता का प्रमाणाधार यही आस्था है।

इस्लामी आस्था में ईश्वर मालिक है और मनुष्य गुलाम है। ईश्वर और मनुष्य दो अलग अलग और किसी हद तक विरोधी सत्तायें हैं किन्तु ईश्वर के समक्ष, सभी मनुष्य समान हैं। मनुष्य एक अपूर्ण तथा निरीह प्राणी है जिसका न पुनर्जन्म

---

1 कुरान इस्लाम की मूल धार्मिक पुस्तक है जिसकी आयतों में जहाँ, एक ओर, ईश्वर और मनुष्य के सम्बन्धों को नियमित करने के उसूल निहित हैं वहाँ, दूसरी ओर, दैनिक जीवन को नियमित करने वाले ऐसे नियमों का भी प्रतिपादन किया गया है जैसे मादक वस्तुओं का सेवन न करना, सुअर का मांस न खाना और सूद न लेना इत्यादि। कुरान के अलावा सुन्ना हदीस और शरिअत तीन अन्य पुस्तकें हैं। सुन्ना में हजरत मुहम्मद के कृत्यों का वर्णन है और हदीस में उनके उपदेशों का संकलन। शरिअत इस्लामी विधि संहिता है जिसे कुरान, सुन्ना और हदीस के आधार पर संग्रहीत किया गया है। शरिअत उतनी ही पवित्र और ईश्वरीय है जितना कि कुरान।

2 ईसाई ईसा को ईश्वर का पुत्र मानते हैं जो कुमारी मरियम के गर्भ से ईश्वरीय कृपा के कारण उत्पन्न हुए थे। इस्लाम में ईश्वर अव्यक्त है। अतः, वह ऐसा नहीं कर सकता।

होना है और न मोक्ष[1]। प्रलय (कयामत) के द्वारा एक दिन इस संसार का नाश होना है और जब तक प्रलय नहीं आती है, प्रत्येक मृत मनुष्य को कब्र में पड़ा रहना पड़ेगा। कयामत के बाद, हर एक को, ईश्वर के निर्णय के अनुसार स्वर्ग या नर्क में जाना होगा। चूँकि संसार का अन्त है और व्यक्ति का पुनर्जन्म नहीं है मनुष्य का केवल एक ही धर्म है और वह है हजरत मुहम्मद द्वारा बताए हुए ईश्वरीय आदेशों के अनुसार चलकर ईश्वरीय कृपा पाने का निरन्तर प्रयास करना क्योंकि ऐहिक तथा पारलौकिक सुख के लिए ईश्वरीय कृपा आवश्यक है। नमाज (प्रार्थना) रोजा (व्रत उपवास) जकात (भिक्षा दान) हज[2] (तीर्थ यात्रा) और जिहाद[3] के माध्यम से मनुष्य ईश्वर की कृपा पा सकता है।

इस प्रकार इतिहास के गर्भ से उत्पन्न इस्लाम एक दृढ़ आत्म विश्वासी और विजयाकांक्षी मजहबी आस्था है। यह आस्था केवल मानसिक (Psychical) नहीं है क्योंकि यह व्यक्ति को समष्टि में समेटे हुए है और धर्म को राष्ट्र अनुशासन तथा सभ्यता में। इस्लामी आस्था का प्रथम प्रस्फुटन हुआ था एक समुदाय में जिसने अपने शासक और धर्मगुरु (हजरत मुहम्मद) को स्वयं चुना था। इसीलिए इस्लाम में मिल्लत (समुदाय) अधिक महत्वपूर्ण है न कि मलिक (शासक) या व्यक्ति। इस्लाम का जन्म हुआ था एक धार्मिक राष्ट्रीय चेतना के रूप में। इसीलिये इस्लाम में शासक और धर्म गुरु एक में मिल गये। इस्लाम ने सन्त राष्ट्र और मजहब को

1　जीव, आत्मा, माया, मोक्ष या निर्वाण जैसी मान्यतायें इस्लाम में नहीं हैं। सूफीवाद में ऐसी मान्यतायें अवश्य मिलती हैं पर, वास्तव में सूफीवाद मुहम्मद द्वारा प्रतिपादित इस्लाम का एक विभेद है। सूफीवाद की आत्मा इस्लाम की अपेक्षा वेदान्त के अधिक समीप है। इस्लाम में जीव अविनाशी और ईश्वर का अंश नहीं है। ईश्वर के समक्ष मनुष्य केवल दया की भीख माँग सकता है। हिन्दुत्व में, ईश्वर की दया के बावजूद भी कर्म की छाप अमिट रहती है। सम्भवतः इसी कारण हिन्दुत्व की प्रार्थना (इबादत) में आराध्य में लीन हो जाने की प्रेरणा है और इस्लाम में कृपा भीख माँगने की सोह (अनलहक) या 'खुदी को कर बुलन्द इतना कि हर तकदीर से पहले, खुदा बन्दे से खुद पूछे कि बता तेरी रजा क्या है' जैसी कल्पनायें इस्लाम की मान्यता के विरुद्ध हैं।

2　इस्लाम में हज का अर्थ है मक्का मदीना की यात्रा करना।

3　जिहाद का मूल अर्थ है हजरत मुहम्मद द्वारा मिले ईश्वरीय ज्ञान का प्रसार करना। किन्तु इस्लाम के प्रसार के लिए स्वयं हजरत मुहम्मद ने तलवार उठाई थी। बाद में इस्लामी साम्राज्य के फैलने के साथ जिहाद का अर्थ हो गया धर्मयुद्ध और आज जिहाद इसी अर्थ में प्रयुक्त होता है।

एक में मिलाने का प्रयास किया है और, इसी कारण इतिहास में इस्लाम एक प्रबल राष्ट्रनिर्मात्री शक्ति रहा है। भारत में पाकिस्तान का निर्माण इसी ऐतिहासिक प्रक्रिया से सम्बन्धित है। इस्लाम व्यक्ति को एक राष्ट्रीय और सामाजिक अनुशासन में बाँधने का प्रयास है। मुसलमान[1] बनने का अर्थ है उस धर्म में दीक्षा लेना जो अद्वितीय, अंतिम, सर्वव्यापक और निश्चित है, उस समाज और राष्ट्र का सदस्य बनना जो इसी धर्म पर आधारित है, तथा उस निष्ठा और अनुशासन को अपनाना जो पूर्वनिर्धारित है और जो पहले ही से उचित मान लिये गये हैं। निजी मान्यताओं के स्थान पर, मुहम्मद द्वारा निर्दिष्ट ईश्वरीय आज्ञा का पालन ही इस्लाम की अपने अनुयायी से मुख्य माँग है और मुसलमान का सबसे बड़ा धर्म है। ईश्वरीय ज्ञान का प्रचार (जिहाद) मुसलमान का कर्तव्य है। इसी कारण इस्लाम एक अनुशासक आस्था है और प्रत्येक मुसलमान एक सहज सिद्ध मिशनरी (धर्म प्रचारक)। अपने ऐतिहासिक सन्दर्भ में इस्लाम एक सामाजिक आदर्श को स्थापित करने का प्रयास है जिसका एक आधार है इस्लामी विश्वास और दूसरा ऐतिहासिक प्रदत्त सामाजिक विरासत जो संस्कृतिपरक न होकर सभ्यतामूलक है।

इस्लाम का आविर्भाव और अभ्युदय हुआ है एक युक्तिसिद्ध (Rationalized) सामाजिक, राजनीतिक, धार्मिक और नैतिक आदर्श के रूप में जो मनुष्य के धार्मिक ऐतिहासिक विकास की एक पूर्वनिर्धारित आवश्यकता और इतिश्री मानी गयी है। इस्लाम के प्रतिष्ठापकों ने इस आदर्श का निरन्तर युक्तिकरण (Rationalization) किया है[2]। यह युक्तिसंगत आदर्श निहित है कुरान, सुन्ना, हदीस

1 इस्लाम के अनुयायी को फारसी में मुसलमान और अरबी में मुस्लिम की संज्ञा दी जाती है। गिब ने इस्लाम के लिये मुहम्मदवाद (Mohammadanism) की संज्ञा का प्रयोग किया है जिसके आधार पर मुसलमान को मुहम्मदवादी (Mohammadan) भी कहा जाता है। किन्तु इस पर यह आपत्ति की जा सकती है कि मुहम्मदवाद या मुहम्मदवादी से यह ध्वनित होता है कि जैसे मुहम्मद कोई देवता हों और इस्लाम मुहम्मद का धर्म हो। इस्लाम ईश्वर का धर्म है न कि मुहम्मद का। इस्लाम के विद्यार्थियों की यह आपत्ति है कि मुहम्मदवाद इस्लाम के केवल एक अंग को व्यक्त करता है—वह अंग जो मुहम्मद के प्रतिपादनों से ही सम्बन्धित है। शिया और सूफी सम्प्रदाय भी इस्लाम के अंग हैं यद्यपि वे मुहम्मदवाद के क्षेत्र में नहीं आते हैं। इस्लाम शब्द, मुहम्मदवाद के स्थान पर, अधिक उपयुक्त और व्यापक है।

2 उदाहरण के लिये देखिये गिब द्वारा रचित 'मोहम्मडनिज्म' और अमीरअली कृत 'दि स्पिरिट आफ इस्लाम'। अमीरअली ने इस्लाम के आविर्भाव की ऐतिहासिक पृष्ठभूमि का जो विवेचन प्रस्तुत किया है उससे यह ध्वनित होता

और शरिअत में, जिनका अक्षरशः पालन ही नहीं वरन जिहाद (प्रसार) भी आवश्यक है। इस्लाम की उत्पत्ति ही उस स्थिति में हुयी थी जिसमें राजा, राज्य, विधिसंहिता, समाज और संस्कृति सभी कुछ मजहब के आधीन हो गये थे। राजा (खलीफा) जो धर्म गुरु भी है, जिहाद का प्रतिष्ठापोषक बना और इसे जानने वाले (उलेमा धर्मविद) मजहब के रक्षक। कुरान, सुन्ना हदीस और शरिअत की आत्मा अरबी है जिसके कारण इस्लाम का मूल आधार अरबीवादी है। इस्लाम को ग्रहण करने वाला गैर इस्लाम इसी अरबीपन में रंगने की मांग करता रहा है। इस पृथ्वी पर ईश्वर का अन्तिम और सर्वश्रेष्ठ विधान होने के कारण, सिद्धान्ततः इस्लाम परिवर्तन नहीं स्वीकार करता। संसार के मुस्लिम समाजों को एकसूत्र में बांधने तथा प्रथम महायुद्ध के बाद खिलाफत को बनाये रखने के प्रयास और अठारहवीं शताब्दी से लेकर उन्नीसवीं शताब्दी के पूर्वार्द्ध के बाद तक अखिल मुस्लिम समाज में इस्लाम की शुद्धता बनाये रखने के लिये चलने वाला वहाबी आन्दोलन इसी इतिहासजनित अरबी कट्टरता के प्रतीक हैं। सातवीं शताब्दी से लेकर अठारहवीं शताब्दी तक, इस्लाम जिन राजनैतिक परिस्थितियों में रहा, उनसे अरबीपन को प्रोत्साहन मिला जिसके कारण इस्लाम में अरबीपन की लहर बराबर उद्वेलित होती रही है। इस्लाम का जहां भी प्रसार हुआ वहां वह राज्य धर्म के रूप में रहा और मुसलमान शासक के रूप में, जिसका परिणाम यह हुआ कि जिस समाज में इस्लाम का प्रवेश हुआ इस्लाम उस समाज में इस्लाम बनाने के लिये प्रेरित रहा। इस्लाम का उद्भव अभ्युदय और प्रसार अरबीवाद (Arabicism) की प्रचण्ड लहर में चलता रहा है जिसके लिये न इस्लाम उत्तरदायी है न उसके प्रणेता और न मुसलमान। इस्लाम में अरबीवाद के लिये उत्तरदायी हैं वे ऐतिहासिक परिस्थितियां जिनमें इस्लाम का जन्म, वृद्धि और प्रसार हुआ है।

इस्लाम की अरबीवादी प्रवृत्ति का जन्म इतिहास में हुआ और इतिहास ही उसका विरोधी रहा है। इसी अरबीवादी प्रवृत्ति और उससे उत्पन्न समन्वयकारी सामाजिक शक्ति के कारण अपने वृद्धि और विकास के दौरान में इस्लाम नयी शक्तियों को ग्रहण और एकीकृत करता रहा। यह एकीकरण इस्लाम के बौद्धिक जीवन (धर्म और विज्ञान) में प्रस्फुटित हुआ जिससे मानव इतिहास में इस्लाम का अमूल्य योगदान आया है। किन्तु इस्लामी एकीकरण पर अरबीवाद का इतना प्रबल प्रभाव रहा है कि उसका विरोध भी होता रहा है और उसके कारण इस्लाम में विषम

है कि इस्लाम का आविर्भाव मानव इतिहास की उस अवस्था में हुआ है जहां तत्कालीन कोई भी धर्म मानव की आध्यात्मिक जिज्ञासा शान्त करने में समर्थ न था। अमारअली जैसे समीक्षकों ने इस्लाम के उद्भव और प्रसार को मानव विकास की ऐतिहासिक आवश्यकता का परिणाम माना है।

और विभेदी परिस्थितियाँ और परिवर्तन भी आते रहे हैं। गिब के अनुसार, स्पेन और उत्तरी अफ्रीका से लेकर समरकन्द तक फैले प्रदेश में इस्लामी प्रभाव के अस्तित्व में आने धर्मविद्या के केन्द्रों में, इस्लामी साहित्य पर यूनानी, ईरानी और भारतीय ज्ञान का जो प्रभाव पड़ा उससे अनेक नयी मान्यताएँ अस्तित्व में आयीं। जैसा कि सूफीवाद के विकास और प्रसार से स्पष्ट है, इन मान्यताओं में से कुछ इस्लामी परम्परा में स्वतन्त्र थीं और कुछ तो दकियानूसी मान्यताओं के प्रति विद्रोह का परिणाम थीं। ईरान में शिया-पन्थ की उत्पत्ति और एक विशिष्ट इस्लामी संस्कृति का विकास इस्लाम के अरबीपन के प्रति विद्रोह का ही प्रमाण है। वास्तव में प्रारम्भ से ही, इस्लाम अपने अनुयायियों से अरबीपन में रंगने की माँग करता रहा है और इस्लाम के अनुयायी, इस्लाम में अरबीपन को देश-काल के अनुसार ढालते रहे। जहाँ ऐतिहासिक सांस्कृतिकता न थी वहाँ अरबीवाद विजयी हुआ किन्तु ईरान और भारत जैसे देशों में जहाँ ऐतिहासिक सांस्कृतिकता पहले ही से विद्यमान थी, अरबीवाद को अपने अस्तित्व के लिए संघर्ष करना पड़ा।

इस्लामी अरबीवाद को भारत में जितना संघर्ष करना पड़ा उतना शायद कहीं और नहीं। भारत में, एक ओर सम्राट् मुहम्मद तुगलक, औरंगजेब, सूफी-मत सरहिन्दी मत के अहमद सरहिन्दी, मुहम्मद इकबाल तथा जिन्ना का होना और दूसरी ओर, अकबर, दारा शिकोह, सरमद, राम के माननेवाले रसखान और राष्ट्रवादी मुसलमानों का होना इस्लाम में अरबीपन के प्रति लगाव और संघर्ष की ही अभिव्यक्ति है। पाश्चात्य सभ्यता के विकास के साथ-साथ वर्तमान ज्ञान विज्ञान की वृद्धि ने इस्लामी अरबीवाद को एक नयी चुनौती दी। इस्लाम की प्रारम्भिक राजनीतिक राष्ट्रनीति की सफलता और अरबीवाद की प्रभुता ने इस्लाम में एक ओर कट्टरता उत्पन्न की तो दूसरी ओर एक प्रकार की सर्वोच्चता और जाति-अहमन्यता (Ethnocentrism) की भावना। इस्लाम में अरबीवाद और देशवाद की आवश्यकतानुसार समय-समय पर उत्पन्न होने वाले स्वतन्त्र विद्रोही विचार साथ-साथ पनपते रहे हैं। इन विरोधी प्रवृत्तियों के घात प्रतिघात के कारण इस्लाम के मार्ग में जो कुछ भी उसके विरुद्ध आया इस्लाम ने उसके प्रति द्वेष, संशय और ईर्ष्या का भाव प्रकट किया। धर्म निरपेक्ष बौद्धिक जिज्ञासाओं के प्रति इस्लाम में उपेक्षा का भाव जगा और सारी बौद्धिकता मजहब के ही दायरे में बन्द हो गयी। इस ऐतिहासिक विकास का मूल परिणाम यह हुआ कि इस्लाम की आत्मा अरबी और गैर-अरबी के प्रश्न को लेकर संघर्षमय हो गयी। आज भी इस्लाम की आत्मा इस संघर्ष से अछूती नहीं है।

३

भारत म इस्लाम का प्रवेश

भारतीय संस्कृति म इस्लाम का प्रवश, पसार वद्धि और अस्तित्व इस्लामी इतिहास के अपवाद रह हैं क्योंकि लगभग तरह सौ वर्षों के सम्पक के बाद भी अन्य स्थानो के विपरीत भारत इस्लामी राष्ट्र न हो सका, भारत म मुसल्मान अल्पसंख्यक ही रहे और यहाँ इस्लाम का अरबी फारसीपन सबसे अधिक बदला ही नहीं वरन उसे अपने अस्तित्व के लिये सबसे अधिक संघर्ष भी करना पड़ा। भारत मे इस्लाम और हिन्दुत्व का मिलन दो ऐसे एतिहासिक प्रवाहो का मिलन था जिनमे विजातीय तत्वो का आत्मसात करने की विलक्षण क्षमता थी। किन्तु इस्लाम और हिन्दुत्व की इन क्षमताओं की प्रकृति म एक आधारभूत अंतर था जिसके कारण भारत म हिन्दुत्व और इस्लाम के सम्पर्क से जो एतिहासिक स्थिति अस्तित्व म आई वह इस्लाम के इतिहास म अपने ढग की अनोखी थी। अपने प्रसार म इस्लाम ज्यों ज्यों अनेक प्रजातियों, गणजातियों और राष्ट्रों का आत्मसात करता रहा त्यों त्यों इस्लाम म सात्मीकरण का प्रवाह बढ़ता रहा क्योंकि स्वभावत इस्लाम एक मिशनरी आस्था है[1]। इस्लामी सात्मीकरण एक प्रवाह है जो अपने ससर्ग म आने वाले को बहा ले जाता है। इस्लामी सात्मीकरण की एक ही दिशा है और वह है उस इस्लामी आस्था म दीक्षित होना जो हजरत मुहम्मद ने प्रतिपादित किया है और उस आस्था पर आधारित समुदाय का सदस्य बनना तथा उसका प्रसार करना। इस्लामी सात्मीकरण म रही है प्रसार की भावना और राजनैतिक प्रभुत्व की महत्त्वाकांक्षा। यही कारण है कि इस्लामी समाज अनेक प्रजातियों गणजातियों और राष्ट्रों का आत्मसात करते हुए और विजातीयतात्मक तथा मिश्रित होते हुए भी एकीकृत रहा। सात्मीकृत व्यक्ति या समूह म इस्लामी सात्मीकरण की माग है मौलिकता का परित्याग या इस्लाम की आत्मा के अनुरूप अपनी मौलिकता म आमूल परिवर्तन।

इसके विपरीत हिन्दू सात्मीकरण वह प्रक्रिया रही है जो एकमुखी न होकर बहुमुखी है और जिसमे बाहर से आया हुआ समूह आवश्यकतानुसार परिवर्तित होकर, अपनी मौलिकता बनाये रखता है तथा एक संस्कृति संघात (Federation of Culture) से उसी प्रकार बंधा रहता है जिस प्रकार इस ब्रह्माड मे अनेक ग्रह

1 इस्लाम में मगोलों का प्रवेश (1258) एक विजातीय और विरोधी शक्ति के रूप में हुआ, किन्तु कालान्तर में चौदहवीं पन्द्रहवीं शताब्दी के आस पास भारत म तैमूर अरब सद मगोल ही इस्लाम के प्रबल प्रतिष्ठा पोषक और प्रसारक सिद्ध हुये। भारत में जिन हिन्दुओं ने इस्लाम को स्वीकार किया उन्होंने इस्लाम के प्रसार का भरसक प्रयत्न किया। उदाहरणों के लिये देखिये दिनकर कृत संस्कृति के चार अध्याय पृष्ठ 270

और स्पष्ट है। अनुदारतावादी समन्वय की भावना हिन्दू-आत्मीकरण की मूल प्रेरक रही है। इन्हीं विरोधी प्रवृत्तियों का यह परिणाम हुआ कि हिन्दुत्व और इस्लाम परस्पर विरोधी हो गये और उनका सम्पर्क संघर्षमय हो गया। इस प्रकार न तो हिन्दुत्व इस्लाम को आत्मसात कर सका और न इस्लाम हिन्दुत्व को यद्यपि भारत के बाहर इस्लाम ने अनेक समाजों को आत्मसात कर लिया था और इस्लाम से सम्पर्क स्थापित होने के पहले हिन्दुत्व ने अनेक समाजों को अपने सांस्कृतिक संघटन में मिला लिया था। हिन्दुत्व और इस्लाम का पिछले लगभग तेरह सौ वर्षों में, सम्पर्क, सम्मिश्रण, एकीकरण, संघर्ष, विभाजन और परिवर्तन ही वह ऐतिहासिक प्रक्रिया है जिससे हिन्दू-मुस्लिम सम्बन्धों का वर्तमान रूप में भारतीयकरण हुआ है। इसी भारतीयकरण को कुछ लेखक भारतीय संस्कृति का हिन्दुस्तानी प्रकार (The Hindustani Way) कहते हैं यद्यपि समाजशास्त्रीय दृष्टिकोण से यह कहना कठिन है कि वस्तुतः हिन्दुस्तानी प्रकार क्या है।

भारतीय संस्कृति में इस्लाम का प्रवेश और प्रसार कई मार्गों, रूपों और अवस्थाओं में हुआ है। भारत में हिन्दुत्व और इस्लाम का प्रथम सम्पर्क हुआ था दक्षिण में और उन अरब निवासियों के द्वारा जो अत्यन्त प्राचीनकाल से भारत तथा यूरोप के बीच एक व्यापारिक माध्यम थे। ईसा की सातवीं शताब्दी में जिस समय अरब में इस्लाम का अभ्युदय हो रहा था मालाबार-तट पर अरब निवासियों की बस्तियाँ अस्तित्व में आ चुकी थीं। हिजरी सन (इस्लामी संवत) की पहली शताब्दी में अरब मुसलमानों का एक अभियान (Expedition) भी भारत आया था। दक्षिण के हिन्दू राजा अरबी मुसलमानों का स्वागत तथा प्रोत्साहन देते थे क्योंकि समुद्र पर अरबों का आधिपत्य था और भारत तथा यूरोप के बीच का व्यापार अनेक अंशों में इन्हीं के कारण आयात निर्यात में सहायक सिद्ध था। डा० ताराचन्द के अनुसार यदि पहले नहीं तो निश्चय ही आठवीं शताब्दी तक, पश्चिमी समुद्र तट पर और नवीं शताब्दी तक पूर्वी समुद्र तट पर अरबों का आगमन हो चुका था। ये अरब व्यापारी एक ओर भारतीय वस्तुएँ विचार तथा ज्ञान अरब और पश्चिम तक पहुँचाते थे तो दूसरी ओर भारत में इस्लाम का प्रचार करते थे। स्थानीय राजनीति और समाज पर इन अरब व्यापारियों का काफी प्रभाव था। इन अरब व्यापारियों के तथा स्थानीय शासकों के पद पाकर, जैसे नावाधिपति (Admirals) राजदूत और राजस्व-संग्रहकर्ता आदि के द्वारा भारत में इस्लामी मतों का प्रचार किया अनेक लोगों को इस्लाम में दीक्षित करके मुसलमान बनाया और उन्होंने मस्जिदों तथा मजारों का निर्माण किया और इसी प्रकार इस्लामी मान्यताओं और धर्म प्रचारकों के कार्यों को प्रोत्साहन दिया। इन अरबों ने जिन

भारतीयों को इस्लाम में दीक्षित किया उनमें राजा और प्रजा तथा उच्च और निम्न वर्ण के लोग सम्मिलित थे। दक्षिण में इस्लाम की जो पहली सामाजिक धार्मिक लहर फैली वह हिन्दुत्व और इस्लाम के शान्ति सहृदय सम्पर्क का परिणाम थी और उसका उद्गम था इस्लाम की सुयुक्तिपूर्णता (Pationalization) अरबी मुसलमानों की शान्तिप्रिय मिशनरी भावना और उनके उत्साह तथा प्रयत्न में।

आठवीं शताब्दी में उत्तर पश्चिम से इस्लाम का आक्रामक साम्राज्यवादी और विध्वंसकारी रूप प्रकट हुआ और हिन्दुत्व तथा इस्लाम का शान्तिमय सम्पर्क संघर्षमय हो गया। सात सौ बारह में जब खलीफा की अनुमति से, मुहम्मद बिन कासिम ने सिन्ध पर आक्रमण किया था और सिन्ध अरबी खलीफाई साम्राज्य का एक अंग हो गया था तबसे लेकर सन अठारह सौ सत्तावन तक, हिन्दू और हिन्दुत्व इस्लाम के आक्रामक रूप से जूझते रहे। दक्षिण भारत में अरबों के बढ़ते हुए सामाजिक तथा राजनैतिक प्रभाव के कारण ही खलीफा ने भारत पर चढ़ाई करने की अनुमति दी थी और उसी प्रभाव के ही कारण सिंध विजय भी सम्भव हुयी। किन्तु उत्तरी भारत में, इस्लामी प्रभाव सिन्ध के आगे तब तक न बढ़ सका जब तक पहले गजनी में तुर्कों का और बाद में दिल्ली में गुलामवंशी शासकों का राजनैतिक प्रभुत्व न स्थापित हुआ। गुलामवंशी राज्य की स्थापना के समय (1210 ई०) से लेकर लोदीवंश के राज्य का अन्त होने तक (1526 ई०) मुसलमानों का एक रूप साम्राज्य संस्थापकों लुटेरों और जबरदस्ती मुसलमान बनाने वालों का है, तो दूसरा रूप अहमदाबाद, माण्डू, जौनपुर और लखनौटी के शासकों का है जिन्होंने इस्लाम का समन्वयकारी तथा रचनात्मक प्रयोग की[1]। मुगलकाल में भी यह संघर्षात्मक तथा समन्वयकारी प्रक्रिया चलती रही। मुगलकाल में यदि एक ओर अकबर और दारा शिकोह की परम्परा है तो दूसरी ओर जहांगीर शाहजहां और औरंगजेब की। यही नहीं, भारतीय इतिहास में, हिन्दुत्व का इस्लाम के उग्र रूप का भी परिचय मिला जो महमूद गजनी मुहम्मदगोरी तैमूरलंग नादिरशाह और अहमदशाह अब्दाली की आक्रामक परम्पराओं में विद्यमान है।

आर्यों की भांति, मुसलमानों का भारत में स्थानान्तरण और इस्लाम का प्रसार कई शताब्दियों तक चलता रहा जिसका प्रभाव, एक ओर, भारत के इस्लामी सामाजिक गठन पर पड़ा तो दूसरी ओर, हिन्दुत्व और भारत पर पड़ने वाले इस्लामी संघात की प्रकृति पर। भारतीय इस्लामी समाज में दो स्पष्ट वर्ग रहे हैं—एक बाहर विशेषतया अरब, ईरान और मध्यएशिया, से आने वाले अभिजातों (Nobles) का और दूसरा उन भारतीयों का जिन्होंने इस्लाम को स्वीकार कर लिया था। पहले वर्ग में विजेता, सेनानी, प्रशासक और सामन्त हुआ करते थे और दूसरे में कुशल

1 पानिक्कर, के० एम० ए० सर्वे आफ इण्डियन हिस्ट्री पृष्ठ 122-123

कारीगर, कृषक और सर्वहारा वर्ग के लोग। गजनी और दिल्ली के मुस्लिम शासकों ने, भारत के दास शिविर, निपुण प्रशासकों, सेनानियों और ज्ञान विज्ञान के ज्ञाताओं को विश्वासपात्र पद प्रदान किये। किन्तु, भारत में मुसलमानों राज्य की स्थापना के बाद से, राज्य के विश्वासपात्र पद बहुधा विदेश से आये या आमंत्रित मुसलमानों को ही मिलते थे। जो मुसलमान यहां बस जाते थे उनकी अपेक्षा विदेशी आगन्तुकों को अधिक विश्वसनीय समझा जाता था क्योंकि यहां बस और पले हुये मुसलमानों की अपेक्षा, विदेश से आये हुए मुसलमानों से षडयंत्र की कम सम्भावना रहती थी। कुछ अपवादों को छोड़कर, मुसलमानी राज्य काल में दिल्ली की बादशाहत विदेश से आये हुये अमीरों (उमरा) के ही हाथ में रही है। गुलामवंशी बादशाहों का चुनाव दिल्ली के अमीर ही करते थे। औरंगजेब की मृत्यु के बाद मुगल बादशाहत वस्तुतः सैयद भाइयों के ही हाथ में रही। अकबर के राज्य काल में भी राज्य की नौकरियों में हिन्दुओं की संख्या विदेशी मुसलमानों की अपेक्षा कम थी[1]। प्रत्येक मुसलमान बादशाह पर विदेश से आये हुये उन साधु सन्तों का अप्रत्यक्ष प्रभाव अवश्य रहा है जो इस्लाम के अरबीकृत रूप के हामी थे और जो हिन्दुओं को अपनी मुसलमानों का बनाया दल के पक्ष में थे। इसका परिणाम यह हुआ कि मुस्लिम राज्य काल में राज्य के उच्च पदों पर विदेश से आये हुये मुसलमानों को ही रखने की प्रथा सी चल पड़ी थी जिसके फलस्वरूप भारत के इस्लामी समाज में एक ऐसा वर्ग उत्पन्न हो गया जिसके सदस्य सैनानी तथा राजनैतिक साहसिक (Military And Political Adventurers) के रूप में भारत में आये और भारत में उनकी वहीं तक दिलचस्पी रही जहां तक कि जीविका कमाने का प्रश्न था। यह वर्ग वस्तुतः उच्च नौकरशाही अभिजात्यों का था जिनका राज्य की नौकरियों पर एकाधिकार सा हो गया था। हिन्दू अभिजात और सामन्तशाही वर्ग से इस वर्ग की कभी नहीं बनी क्योंकि दोनों के स्वार्थों में संघर्ष था। इस वर्ग के लोगों ने भारत को विदेश समझा और सदैव ईरान या अरब से प्रेरणा ग्रहण की। ऐसे ही लोगों के लिये मुहम्मद तुगलक ने यह आज्ञा निकाली थी कि वे भारत को अपना देश समझें और विदेश वापस जाने वाले मुसलमानों के लिये दण्ड का विधान किया था। यही वह वर्ग था जिसके भारतीयकरण का अकबर ने प्रयास किया था। भारत में बसने और भारतीयकरण होने के बावजूद भी इस वर्ग का इस्लाम के अरबीपन से रागात्मक लगाव बना ही रहा[2]।

इधर, जैसा कि बड़ा के सम्बन्धों गुजरात के बोहरा, मालाबार के मापलों

---

1 रामगोपाल इण्डियन मुस्लिम्स—ए पोलीटिकल हिस्ट्री पृष्ठ 13-14

2 यासीन, मोहम्मद ए सोशल हिस्ट्री आफ इस्लामिक इण्डिया पृष्ठ 44
राम गोपाल वही अध्याय 2 और 3

और भारत की मुसलमान जातियों में स्पष्ट है, इस्लाम को स्वीकार करने वाले भारतीय समूहों ने अपनी पुरातन परम्पराओं को न छोड़ा। इसका परिणाम यह हुआ कि भारत के इस्लामी समाज में एक वह वर्ग आया जिस पर अरबीपन की अधिक छाप थी और दूसरा वह जिसके हिंदू आधार पर अरबीपन की छाप पड़ी। भारत का इस्लामी समाज, एक ओर एक विशिष्ट सामाजिक इकाई पर एक मिश्रित तथा विजातीय समाज रहा। भारत के मुसलमानों में ही देशी विदेशी की भावना घर कर गयी। नौकरशाही तथा विदेशी सामन्ती वर्ग ने देशज मुसलमानों के प्रति उपेक्षा और उच्चता का भाव ग्रहण किया। आगे चलकर, जब अंग्रेजों ने राज्य की उच्च नौकरियों को हथिया लिया तो यही नौकरशाही वर्ग विक्षिप्त हो उठा और अपनी जड़ों को भारतीय भूमि से उखड़ा हुआ पाकर 'इस्लाम खतरे में है' का नारा बुलन्द किया। बंगाल में ही सर्वप्रथम अंग्रेजी राज्य का अभ्युदय और विकास हुआ और बंगाल में ही सर्वप्रथम उर्दू और मुस्लिम का नारा उठना एक महत्वपूर्ण तथ्य है। इस्लाम हिन्दुत्व से अलग एक राष्ट्र है और भारत में इस्लाम खतरे में है यह नारा नया नहीं प्राचीन है और इस्लामी समाज के नौकरशाही तथा अभिजात वर्ग के मस्तिष्क की उपज है[1]।

यह कहना कि भारत में इस्लाम का प्रसार मुसलमानों की तलवार और राजनैतिक प्रभुत्व के ही बल पर हुआ है इतिहास के गर्भ में छिपे समाजशास्त्रीय तथ्यों की अवहेलना करना है। इसमें कोई सन्देह नहीं कि मुस्लिम आक्रमणकारी विजयी योद्धा, धन लिप्सा और जिहाद (धर्म प्रचार) की भावना से अधिक प्रेरित थे जिसके कारण उन्होंने तलवार का अधिक आश्रय लिया[2]। रामगोपाल के मत में पंजाब

---

1 रामगोपाल वही

2 इस्लाम तलवार के बल पर फैला है या नहीं इस पर विरोधी मत व्यक्त किए गए हैं। किन्तु इसे सहसा अस्वीकार नहीं किया जा सकता कि इस्लाम के प्रचार और प्रसार में तलवार का प्रयोग नहीं हुआ है। हुमाऊं कबीर ने इस बात पर जोर दिया है कि इस्लाम के नाम पर जिन्होंने तलवार उठाई वे सच्चे मुसलमान होने की अपेक्षा राजनैतिक लुटेरे अधिक थे, उन्होंने हाल ही में इस्लाम की टोपी पहनी थी और अपनी बुराइयों को उन्होंने इस्लाम की आड़ में छिपाने का प्रयत्न किया था। अकबर इलाहाबादी केवल इतना ही कह सके कि 'लोग यह कहते हैं कि तलवार से फैला इस्लाम, लोग यह नहीं कहते कि तोप से क्या फैला है'। इस्लाम के प्रसार में तलवार का जो प्रयोग हुआ है इसके लिए ऐतिहासिक परिस्थितियां अधिक उत्तरदायी हैं न कि इस्लाम। फिर भी किसी ने इसे उचित और युक्तियुक्त बताने की कोशिश की है, तो किसी ने अनुचित। गिब के अनुसार, इस्लाम का जो प्रारम्भिक विरोध हुआ उसी कारण इस्लाम में उग्र, आक्रामक प्रसार भावना आयी। इकबाल के

और सिंध में, बल प्रयोग से ही इस्लाम के प्रचार में प्रारम्भिक सफलता मिली।[3] यह मुसलमानों के राजनैतिक प्रभुत्व का ही परिणाम था कि अनेक व्यक्तियों तथा जातियों ने नौकरी, धन, ऐश्वर्य और राज्य-कृपा पाने के लालच में इस्लाम को स्वीकार किया। फिर भी, ये कारण उतने महत्वपूर्ण नहीं हैं जितने कि तत्कालीन हिन्दू सामाजिक व्यवस्था, उसकी कमजोरियाँ तथा दोष। इस्लाम का युक्तियुक्तिपूर्ण तार्किक आधार, इस्लाम में निहित समर्पण की भावना, उसकी सरलता और इहलौकिकता तथा इस्लाम और मुसलमानों का सहजसिद्ध मिशनरीपन के कारण हैं। जिस समय भारत में इस्लाम का प्रवेश हुआ, उस समय बौद्ध-ब्राह्मण संघर्ष समाप्त नहीं हुआ था यद्यपि वह अपने अन्तिम रूप में था और धीरे-धीरे ब्राह्मण विजयी हो रहे थे। इस पराजय से, बौद्ध विक्षिप्त, हताश और आधारहीन हो रहे थे और जो कोई भी ब्राह्मणों का विरोधी था, उसका स्वागत करने के लिए तत्पर थे। उधर हिन्दू समाज उच्च तथा निम्नवर्णी जनता में विभाजित था। बौद्धों ने इस विभाजन का विरोध किया था। अतः, विजयी मत ब्राह्मण इसे और भी दृढ़तर बनाने में लगे हुए थे। उच्चवर्णी हिन्दू जनता की धार्मिक चेतना निश्चित थी। वह हिन्दुत्व की गहराई से परिचित थी। उस पर हिन्दू दर्शन का वह रंग चढ़ा था जिस पर न कोई और रंग चढ़ सकता था और न उसके आगे कोई अन्य रंग टिक ही सकता था। इसके विपरीत, निम्नवर्णी जनता में न कोई निश्चित धार्मिक चेतना ही थी और न उसे उच्चवर्णी जनता के समान सामाजिक आर्थिक अधिकार ही प्राप्त थे। जिस सामाजिक क्रान्ति की ज्वाला बौद्धों ने भड़काई थी उसकी लपटें बिना स्वाहा हुए ही बुझ गयी थीं। अतः वह अन्दर ही अन्दर सुलग रही थी और निम्नवर्णी जनता उसकी घुटन में तड़प रही थी। निम्नवर्णी जनता हिन्दुत्व और हिन्दू समाज में उसके न्यायीकरण की माँग कर रही थी जो इस्लाम के आदर्शों में समाया हुआ था।

आर्य और द्राविड़ संस्कृतियों के सम्मिलन में हिन्दूकरण की जो प्रक्रिया प्रारम्भ हुयी थी वह अभी पूरी न हो पायी थी कि बुद्धवाद ने उसे तितर बितर कर दिया और, इसी कारण जिस स्तर पर हिन्दूकरण पूरा हो चुका था वहाँ एक निश्चित धार्मिक चेतना प्रस्फुटित हो गयी थी और जहाँ हिन्दूकरण की प्रक्रिया अधूरी थी वहाँ एक निश्चित धार्मिक चेतना का अभाव था। उच्चवर्णी हिन्दू विशेषतया ब्राह्मण, और आदिवासी भारतीय सामाजिक धार्मिक संगठन के दो किनारे रहे हैं। हिन्दूकरण की प्रक्रिया के द्वारा धीरे धीरे, आदिवासी जनजातियाँ हिन्दुत्व के प्रभाव क्षेत्र में आती

मतानुसार, सभी धर्मावलम्बियों में, ईश्वर के नाम पर तलवार चलाने और इस प्रकार बिगड़ी हुयी बात बनाने का श्रेय इस्लाम के अनुयायी तुर्कों के बन्दे, मुसलमानों को ही है।

1 रामगोपाल, वही, पृष्ठ 4

रही हैं। इसीकारण, हिंदू और आदिवासी के बीच में प्रारम्भ से ही एक सक्रमण सामाजिक क्षेत्र रहा है जहां की जनता न तो पूर्णतया हिंदू होती है और न आदिवासी। इसी सक्रमण क्षेत्र की जनता पर किसी धर्म विशेष का लेबेल नहीं रहता है। इस्लाम के प्रवेश के समय और उसके बाद भी इसी सक्रमण सामाजिक क्षेत्र में इस्लाम को स्थान मिलता रहा है। कालान्तर में, इसी सामाजिक क्षेत्र में ईसाइयत को भी सर्वाधिक स्थान मिला है। इस सामाजिक क्षेत्र में इस्लाम का प्रवेश मिलने के दो कारण हैं—एक इस सामाजिक क्षेत्र की जनता का निम्न सामाजिक स्तर और दूसरा इसकी धार्मिक अनिश्चितता। इस्लाम के प्रवेश के समय हिंदू समाज में बहुदेववाद का बोल बाला था, पन्थों की भरमार थी जिससे धार्मिक दार्शनिक जिज्ञासायें तो उठती थी और वादविवाद भी होता था पर उससे न तो धार्मिक शंकायें शान्त होती थीं और न धर्मसम्बन्धी मानसिक आवश्यकता ही। शंकर के रूप में हिंदुत्व ने जो उत्तर प्रस्तुत किया उसमें तर्क और दार्शनिकता का इतना ऊंचा पुट था कि वह इस क्षेत्र के जनस्तर तक पहुंचा ही नहीं। इस्लाम एक सुयुक्तिकृत, एकेश्वरवादी सरल पर रहस्यवादी और इहलौकिकता पर जोर देने वाला मिशनरी तथा मजहबी धर्म था। मिशनरी कार्य उसी सामाजिक स्थिति में सफल होता है जहां उसे सुयुक्तिपूर्ण ढंग से पेश किया जा सके। हिंदू समाज के निम्न स्तरों में ही यह सम्भव था और वहीं इस्लाम का प्रसार हुआ।

भारत में एक ओर, इस्लाम का सामना हुआ उच्च तथा मध्यवर्गी हिंदुओं से जो हिंदुत्व की एक निश्चित धार्मिक चेतना में इतना रंगे हुए थे कि उनका यह विश्वास था कि हिंदुत्व से उच्चतर तथा श्रेष्ठतर कोई अन्य धर्म ही नहीं है। हिंदुत्व के समक्ष इस्लाम उन्हें फीका लगा। इस्लाम के आक्रामक रूप से सम्पर्क होने पर उन्होंने हिंदुत्व का पुनर्मूल्यांकन करके उसके उन सामाजिक तथा दार्शनिक पक्षों को उभारा जिनसे इस्लाम की चुनौती निरर्थक हो जाय। दूसरी ओर इस्लाम का सामना हुआ उस निम्नवर्गी जनता से जो न हिंदू थी और न बौद्ध किन्तु जिसकी आत्मा बौद्धों के सम्यक् मार्ग के अधिक निकट थी जिसकी धार्मिक चेतना अस्पष्ट थी किंतु जो उस जनप्रिय धर्म की तलाश में थी जो उसे एक आदरपूर्ण सामाजिक स्थिति प्रदान कर सके। संक्षेप में निम्नवर्गी जनता उस सुयुक्तिकरण (Rationalization) के लिए पहले ही से लालायित थी जो इस्लाम में निहित थी। समाज के जिन स्तरों पर हिंदूकरण पूर्ण हो चुका था वहां इस्लाम का विरोध हुआ और जहां हिंदूकरण की प्रक्रिया अपूर्ण थी वहां इस्लाम को निर्विरोध प्रवेश मिला।

भारत में इस्लाम और ईसाइयत का सर्वाधिक प्रसार उन्हीं क्षेत्रों में हुआ है जहां आदिवासियों और अछूत कहे जाने वाले लोगों की अधिकतम संख्या रही है जहां बुद्धवाद को सबसे अधिक जनप्रियता मिली है और जहां उच्च तथा निम्नवर्गी जातियों में ऊंच-नीच का भेदभाव रहा है। मुसलमानों का राजनैतिक गढ़ रहा है

दिल्ली किन्तु उनकी जन संख्या बढ़ी है बिहार, बंगाल, पूर्वी तथा पश्चिमी समुद्रतटवर्ती प्रदेश, सिंध, बिलोचिस्तान और पंजाब में। आर्यावर्त कहे जाने वाले प्रदेश में इस्लाम को उतना प्रवेश नहीं मिला जितना कि आर्यावर्त के तटवर्ती प्रदेश में। इस का सबसे बड़ा कारण यही है कि आर्यावर्त के तटवर्ती प्रदेश में हिन्दूकरण की प्रक्रिया अपूर्ण रही है जिसके कारण इस प्रदेश में एक अनाम सचरित जनसमूह (Anonymous Floating Mass) रहा है जिस पर इस्लाम और इसाइयत का लेबेल चढ़ाने में कठिनाई नहीं हुयी है। यहां की सामाजिक परिस्थिति में इस्लाम का वस्तुतः स्वागत हुआ है क्योंकि इस प्रदेश का बौद्ध प्रभाव के अंतर्गत होने के कारण, ब्राह्मण अशुद्ध समझते थे। अंग बंग कलिंग सौराष्ट्र और मगध में जाने की धार्मिकतौर पर मनाही थी[1]। बौद्ध और ब्राह्मण एक दूसरे का नष्ट करने के लिए मुसल्मानों की सहायता के पीछे दौड़ते थे। कुछ विद्वानों का मत है कि नालन्दा के कुछ बौद्ध षड्यंत्र की सहायता से बख्तियार खिलजी ने बिहार पर आक्रमण किया था। नालन्दा बंगाल के सेन राजाओं के अधीन था। बौद्धधर्म का कट्टर विरोधी होने के कारण सेन राजाओं ने नालन्दा के बचाने का कोई भी उपाय नहीं किया। बंगाल में ही रमाई पंडित ने शून्यपुराण की रचना की थी (१४हवीं सदी) जिसमें उन्होंने लिखा था कि ब्राह्मणों के अत्याचारों का अंत करने के लिए देवता, पाजामा पहन कर, मुसल्मानों के रूप में, अवतरित हुए हैं। सिंध के हिंदू राजा दाहिर के समस्त वहां के श्रमणों ने मुहम्मद बिन कासिम का साथ दिया था। इस प्रकार मुसल्मानों की सहायता से श्रमण और बौद्ध एक दूसरे का सफाया करना चाहते थे किंतु मुसलमानी तलवार दोनों की गरदन पर पड़ी। श्रमणों पर तो वह इतने जोर से पड़ी कि उनका सफाया ही हो गया[2]।

इस प्रकार, हिन्दू समाज में इस्लाम को प्रवेश मिला उस सामाजिक स्तर से जहां उच्चवर्णी हिन्दू तथा आदिवासी के मध्य एक अनिश्चित, प्रवाही और अंतवर्ती सामाजिक क्षेत्र अस्तित्व में आ गया था। इस्लाम से सम्पर्क होने के समय, इस स्तर की जनता न तो बौद्ध थी और न हिन्दू यद्यपि वह बौद्धधर्म के अधिक समीप थी। इसी कारण, उसे इस्लाम अधिक प्रगतिशील जान पड़ा। आगे चलकर लगभग ग्यारह सौ वर्षों बाद, उन्नीसवीं शताब्दी में इस स्तर की जनता अपने व्यावहारिक रूप में न तो निश्चित रूप से हिन्दू थी और न मुस्लिम। उसमें हिन्दुत्व और इस्लाम दोनों की मान्यतायें पायी जाती थीं। उन्नीसवीं शताब्दी में, जब वहाबी आन्दोलन चला और अंग्रेजों की छत्रछाया में जाति तथा धर्म के आधार पर जनगणना की जाने लगी

1 अंग बंग कलिंगेषु, सौराष्ट्र मगधेषु च।
तीर्थयात्रा विनागत्वा पुनः संस्कारमर्हति। सिद्धान्त कौमुदी

2 दिनकर रामधारीसिंह संस्कृति के चार अध्याय पृष्ठ 272-317

तो मुसलमानों ने अंजुमनों को संगठित करके वैतनिक धर्म प्रचारक रक्खे, जिन्होंने उन्हीं प्रदेशों में काम किया जहां निम्नस्तरीय जनसंख्या का बाहुल्य था और साधारण जनता हिंदू समाज के अन्तवर्ती क्षेत्र में थी, यद्यपि अपने व्यावहारिक स्तर में वह हिंदू भी थी और मुसलमान भी क्योंकि उसमें हिंदुत्व और इस्लाम दोनों की मान्यतायें विद्यमान थीं। बंगाल और पंजाब की कृषक जातियां ऐसे ही अन्तवर्ती समूह थे जिन्हें उन्नीसवीं शताब्दी के आस पास जनगणनाओं में मुसलमान घोषित किया गया और इस्लाम के धर्म प्रचारकों ने उन्हें इस्लामी रंग में रंगने का प्रयास किया। सन अठारह सौ इक्यानवे की जनगणना विवरण में लिखा है कि अठारह सौ बहत्तर के बाद से, प्रति एक लाख व्यक्तियों के पीछे उत्तरी बंगाल में सौ व्यक्ति मुसलमान हुये हैं पूर्वी बंगाल में दो सौ बासठ पश्चिमी बंगाल में एक सौ दस और सम्पूर्ण बंगाल में एक सौ सतावन। उसी विवरण के अनुसार, उन्नीस साल पहले, बंगाल में हिंदुओं की संख्या मुसलमानों से डेढ़ लाख अधिक थी किन्तु दो दशकों के दौरान में, मुसलमानों ने हिंदुओं को पीछे ही नहीं छोड़ा वरन उनसे डेढ़ लाख अधिक हो गये[1]।

इस्लाम का सर्वाधिक प्रसार उन्हीं क्षेत्रों में हुआ जहां उच्च और निम्न वर्ण का अन्तर काफी प्रबल था, जहां उच्चवर्णियों की अपेक्षा निम्नवर्णी और संक्रमण जनसंख्या अधिक थी तथा जहां जाति व्यवस्था के प्रति विद्रोह की आग पहले ही से भड़क रही थी। ये भारत के वे प्रदेश हैं जहां उस समय क्षत्रिय वर्णी जाति या जातियों का अभ्युदय नहीं हो पाया था। पंजाब सिंध केरल तामिलनाद और बंगाल एसे प्रदेश हैं जहां की सामाजिक संरचना में ब्राह्मण वर्णी जातियां तो रहीं हैं किन्तु क्षत्रिय वर्णी जातियां अनुपस्थित रही हैं। महाराष्ट्र में शिवाजी मुस्लिम काल में ही क्षत्रिय बने। क्षत्रिय जातियां हिंदू सामाजिक संगठन में एक ओर ब्राह्मणों के आदर्श को लिए रही हैं तो, दूसरी ओर निम्नवर्णी जातियों के सम्पर्क में रही हैं और, इस कारण, क्षत्रिय वर्णी जातियां ब्राह्मणों और गैर-ब्राह्मणों के बीच मध्यस्थ के रूप में रहकर, हिंदू समाज में उत्पन्न प्रवाहों का आत्मसात करती रही हैं। क्षत्रिय जातियों की अनुपस्थिति में इन प्रदेशों में ब्राह्मण और गैर-ब्राह्मण का संघर्ष बना रहा जिसमें इस्लाम को आसानी से प्रवेश मिला।

इतिहासकारों ने बहुधा इस बात पर जोर दिया है कि हिंदू सामाजिक व्यवस्था और उसके दार्शनिक आधार इतने दोषपूर्ण हो गये थे कि वे इस्लाम के आगे न टिक पाये। किसी ने हिंदुत्व को दोषी ठहराया है तो किसी ने इस्लाम के आक्रामक रूप को। किन्तु ऐसी मान्यतायें न तो इतिहाससंगत हैं और न तर्कसंगत। इन मान्यताओं के पीछे जो तर्क है उनमें आन्तरिक विरोध है। उदाहरण के लिये, यदि इस्लाम अपेक्षाकृत अधिक आक्रामक और प्रगतिवादी होने के कारण भारतीय

---

[1] रामगोपाल इन्डियन मुस्लिम्स ए पोलीटिकल हिस्ट्री पृष्ठ 8-9

संस्कृति में प्रविष्ट होकर फला तो सम्पूर्ण भारत क्यों न इस्लामी राष्ट्र हो गया ? यदि जाति प्रथा ने इस्लाम का मार्ग प्रशस्त किया तो जैसाकि इतिहासकार बहुधा कहा करते हैं, जाति प्रथा इस्लाम के समक्ष हिन्दुत्व के लिये रक्षा-कवच कैसे सिद्ध हुई ? किसी भी प्रसंग के कार्य-कारण परस्पर विरोधी नहीं हुआ करते हैं। किन्तु, यदि जाति प्रथा को ही इस्लाम के प्रसार में सहायक और व्यवधान मान लिया जाय तो यह मान्यता तर्कसंगत नहीं रहती है क्योंकि इसमें कार्य कारण में, विरोध आ जाता है।

भारत में, इस्लाम और हिन्दुत्व साधारणतया परस्पर अलग रहे जिसके लिये न तो हिन्दुत्व ही श्रेय का भागी है और न इस्लाम ही और न उनमें से किसी को श्रेष्ठतर या परस्पर अधिक दोषी कहा जा सकता है। ऐतिहासिक दृष्टिकोण से, हिन्दुत्व और इस्लाम दो प्रक्रियायें हैं जो अलग अलग देश-कालों में उत्पन्न होकर एक देश काल की स्थिति विशेष में परस्पर मिलती हैं—वह स्थिति जो अपने तात्कालीन रूप में न अच्छी है और न बुरी क्योंकि वह स्वयं एक प्रक्रिया है और प्रक्रिया से ही जन्मी है। हिन्दुत्व में बहुदेववाद तथा बहुरूपवाद विषम दार्शनिक आधारों तथा विरोधी आत्म नियमों, जाति प्रथा के उच्च तथा निम्न स्तरों और सक्रमण सामाजिक क्षेत्र (Buffer Zone) का पाया जाना हिन्दुत्व को जन्म देने वाली एक विशेष देश-काल-गत प्रक्रिया की देन है। उसी प्रकार, जिस इतिहासकार इस्लाम की प्रगतिवादिता कहते हैं वह भी एक ऐतिहासिक प्रक्रिया की देन है। हाँ, इतिहासकारों ने यह भूल अवश्य की है कि उन्होंने, हिन्दुत्व की अपेक्षा इस्लाम का अधिक गत्यात्मक रूप में देखा और उसका विश्लेषण किया है। साधारणतया, इतिहासकार यह भूल रहे हैं कि एक संस्कृति के रूप में, हिन्दुत्व भी एक संचयी प्रक्रिया है जिसके आधारभूत तत्व समयानुसार निश्चित होकर बार-बार अवतरित होते रहे हैं। एक धर्म के रूप में नहीं वरन् एक संस्कृति के रूप में हिन्दुत्व उतना ही प्रसारवादी रहा है जितने कि इस्लाम और इसाइयत। संस्कृतिमूलक होने के कारण, हिन्दुत्व का अधिक व्यापक प्रभाव पड़ा है। हिन्दुत्व का संचयीपन (Cumulativeness), धर्मान्तरण (Proselytization) और मिशनरीपन वस्तुतः निहित हैं उसकी इतिहासजनित उस समन्वयकारी प्रक्रिया में जिसकी अभिव्यक्ति है जाति प्रथा उच्च-निम्न तथा सक्रमण सामाजिक स्तर और हिन्दुत्व के विषम आत्म नियम तथा दार्शनिक आधार। हिन्दुत्व के सक्रमण सामाजिक क्षेत्र में इस्लाम का प्रवेश एक ओर निर्भर है हिन्दुत्व को जन्म देने वाली ऐतिहासिक प्रक्रिया पर और दूसरी ओर पिछले तेरह सौ वर्षों में उत्पन्न होने वाली ऐतिहासिक परिस्थितियों पर। इन सभी कुछ एक अनन्त ऐतिहासिक प्रवाह के लहरों के थपेड़ों को उथल-पुथल में समाया हुआ प्रवाहित हो रहा है यहाँ यह कहना कठिन ही नहीं वरन् असम्भव है कि कौन किसके लिए दोषी है। यहाँ केवल इतना ही कहना तर्कसंगत होगा कि किस प्रकार की प्रक्रिया कभी है और जब उसकी क्रिया का संघात पड़ा, वहाँ कैसी प्रतिक्रिया हुयी।

४

भारत के बाहर इस्लाम और हिन्दुत्व का सम्पर्क

केवल यह मानकर चलना कि भारत में ही हिन्दुत्व और इस्लाम का सम्पर्क तथा सम्मिलन हुआ एतिहासिक गति विधि की अवहेलना करना है। हिन्दुत्व एक वह धर्मान्तरक (Proselytising) संस्कृति तथा धर्म है जिसमें एतरेय ब्राह्मण की आत्मा चरैवेति (निरन्तर आगे बढ़ो) समाई हुई है। प्रारम्भ से लेकर आज तक हिन्दुत्व नये क्षेत्रों और जातियों को प्रभावित तथा अपने में समन्वित करता हुआ सदैव आगे बढ़ता रहा है। मुसलमानों को हिन्दुत्व में औपचारिक रूप से उस प्रकार नहीं दीक्षित किया गया जिस प्रकार हिन्दुओं को इस्लाम में किया गया। किन्तु हिन्दू संस्कृति के आध्यात्मिक योगदानों का इस्लाम में समावेश हुआ है, यद्यपि इस समावेश पर इस्लाम के अरबीपन की छाप है। विनयकुमार सरकार के अनुसार सातवीं और तेरहवीं शताब्दियों के बीच हिन्दू संस्कृति महाद्वीपीय भारत में ही अहिन्दुओं का हिन्दूकरण नहीं कर रही थी वरन वृहत्तर भारत के विजातीय जनों (Heterogeneous Peoples) पर भी अपना प्रभाव डाल रही थी[1]। इस्लाम पर हिन्दुत्व का एक प्रभाव पड़ा भारत के बाहर इस्लामी एशिया के माध्यम से और दूसरा भारत में एक ओर मुसलमान बनने वालों के द्वारा और दूसरी ओर अलबरूनी खुसरो अकबर अबुल फजल रहीम खानखाना और मलिक मुहम्मद जायसी जैसे उन मुसलमानों के द्वारा जो हिन्दुत्व की आध्यात्मिक दार्शनिकता से प्रभावित थे। इस्लाम की आध्यात्मिकता सामाजिक संगठन, प्रथाओं आचार विचारों रीति रिवाजों नौरन्नरीको भावनाओं और ज्ञान विज्ञान पर हिन्दुत्व के प्रभाव के चिह्न काफी स्पष्ट हैं।

ऐतिहासिक उद्विकास के सन्दर्भ में इस्लामी एशिया वस्तुतः वृहत्तर भारत का ही एक भाग है। इस्लाम के लगभग सभी समीक्षकों ने यह स्वीकार किया है कि इस्लाम के आधारभूत स्वरूप पर यूनानी दर्शन का प्रभाव पड़ा है। इस्लाम के जन्म के बहुत पहले यूनान में भारतीय दर्शन और ज्ञान विज्ञान का समावेश हो गया था। अतः इस्लाम पर प्रथम हिन्दू प्रभाव अप्रत्यक्ष रूप से पड़ा। इस्लामी दुनिया की संस्कृति बहुत कुछ हिन्दूकृत (Hinduised) थी और उसका कारण थी वे संस्कृत पुस्तकें जिनका अरबी फारसी में अनुवाद किया गया जिनके द्वारा हिन्दू ज्ञान विज्ञान का प्रसार किया गया। पंचतन्त्र और चरक संहिता का अनुवाद पहले फारसी में हुआ और बाद में फारसी के अनुवाद से उनका अनुवाद अरबी में हुआ। अन्य हिन्दू पुस्तकों के अरबी अनुवाद सीधे संस्कृत पाठ से किये गये हैं। खलीफा मंसूर (753-771) के राज्यकाल में, ब्रह्मगुप्त के ज्योतिष और गणित सम्बन्धी ग्रन्थों ब्रह्म सिद्धान्त और खण्डखाद्यक का अरबी अनुवाद सिंधिन्द और अरकन्द नामक पुस्तकों

---

1 सरकार, विनयकुमार वही पृष्ठ 151

के रूप में हुआ। खलीफा हारूं अल-रशीद (786-808 ई०) के मंत्री बरमक परिवार के भारतीय थे। उन्होंने इस्लाम स्वीकार कर लिया था पर, मूलतः वे बौद्ध थे। इन्हीं मंत्रियों की देखरेख में अनेक हिन्दू विद्वान बगदाद बुलाये गये और उनके द्वारा संस्कृत के आयुर्वेद (Medicine), भैषज्यशास्त्र (Pharmacology) विषशास्त्र (Toxicology) दर्शन (Philosophy) और ज्योतिषशास्त्र (Astrology) सम्बन्धी ग्रन्थ अरबी में अनुवादित कराये गये। इसी काल में, हिन्दू वैद्य बगदाद बुलाये गये और उनकी देखरेख में वहां औषधालय खोले गये[1]। यही वह काल है जब वेदान्त की दर्शन सम्बन्धी कृति के द्वारा इस्लामी संसार में वेदान्त दर्शन का प्रचार हुआ जो बहुत सम्भव है आगे चलकर सूफीवाद की उत्पत्ति का एक कारण रहा हो। जैसा कि अलबरूनी (979-1048) की कृतियों से स्पष्ट है मुसलमान लेखकों ने संस्कृत के ग्रन्थों का अनुवाद किया उन पर टीकायें और भाष्य लिखे तथा उनके संक्षिप्त और स्वतंत्र अरबी फारसी संस्करण प्रस्तुत किये। जिस समय गजनी का शासक महमूद भारत के मंदिरों को तोड़कर उनका धन लूटने में व्यस्त था उस समय उसकी छत्र छाया में पलने वाला एक दार्शनिक विचारक एल्बरूनी, जिसे ग्यारहवीं शताब्दी का मुस्लिम इण्डोलाजिस्ट (Indologist) कहा जा सकता है हिन्दू ज्ञान विज्ञान का मनन करके और उस प्राच्य विचारधारा में लपेट कर इस्लामी संसार के सम्मुख रख रहा था। ग्यारहवीं शताब्दी में अलबरूनी ने वही कार्य किया जो आगे चलकर उन्नीसवीं शताब्दी में सर विलियम जोन्स और मैक्समूलर ने किया। इनके अन्तर्निहित उद्देश्य एक ही रहे हैं यद्यपि तरीके अलग अलग[2]।

---

1 किन्तु इस्लामी चिकित्सा-पद्धति पर मूलभूत प्रभाव यूनान का पड़ा और, इसी कारण, मुसलमानों ने जो चिकित्सा पद्धति भारत में चलाई उसका नाम यूनानी हिकमत पड़ा।

2 सरकार, विनयकुमार वही पृष्ठ 409-410

तेरहवाँ अध्याय

हिन्दू-सम्पर्क में इस्लामी संस्कृतिकरण

इस्लाम पर हिन्दू वैचारिक प्रभाव

हिन्दू ज्ञान विज्ञान को अरबी फारसी में अनूदित करने की जो परम्परा बगदाद के खलीफाओं और अल्बरूनी जैसे विचारकों ने डाली थी वह सारे मध्य युगीन भारत में भी कायम रही और उसके द्वारा हिन्दू विचार और ज्ञान विज्ञान का इस्लाम मे प्रवेश हुआ। विनयकुमार सरकार ने इसे इस्लाम का हिन्दूकरण कहा है। किन्तु इस तथ्य को अस्वीकार नहीं किया जा सकता कि भारत में अनेक हिन्दू, बौद्ध तथा आदिवासी विचारों और प्रभावों का समावेश इस्लाम में हुआ है और जिनके द्वारा इस्लाम का भारतीयकरण हुआ है। भारत में इस प्रक्रिया का श्रीगणेश संस्कृत ग्रन्थों के अरबी फारसी अनुवाद से होता है। संस्कृत ग्रन्थों का फारसी में अनुवाद फीरोजशाह तुगलक (13‌51-1388) के समय में प्रारम्भ हो गया था। दलैल ए फीरोजशाही नामक कविता में हिन्दू भौतिकशास्त्र का अनुवाद है। अकबर की प्रेरणा से महाभारत, रामायण, गीता, अथर्ववेद योगवाशिष्ठ हरिवंश और महेश महानन्द इत्यादि ग्रन्थों का फारसी में अनुवाद हुआ। दारा शिकोह (1614-1659) की प्रेरणा से वेदों के फारसी अनुवाद का प्रयास किया गया। सर-उल-असरार (1657) नामक शीर्षक के अन्तर्गत, दारा शिकोह ने उपनिषदों का उल्था किया

और मजीम-उल बहरीन (१६५४) नामक पुस्तक में सूफीवाद और हिन्दुत्व के बहु देववाद को एक में मिलने का प्रयास किया। औरंगजेब (१६५४ १७०७) ने अपने पौत्र जहांदारशाह के लिए हिन्दू विद्याओं का एक फारसी संग्रह तुहफतुलहिन्द नामक पुस्तक के अंतर्गत करवाया था।

अबुलफजल (१५५१ १६०२) जिसे जहांगीर ने हिन्दुस्तानी गर्म कहा था, नीतिशास्त्र रचयिताओं की श्रेणी में आता है। उसकी पुस्तक आईन ए अकबरी के लिखने की शैली नीतिशास्त्रों की शैली से इतनी मिलती जुलती है कि उसे सरलता पूर्वक अकबर नीति कहकर नीतिशास्त्र की श्रेणी में रक्खा जा सकता है। आईन-ए अकबरी की परम्परा अंशत हिन्दू है और अंशत मुस्लिम किन्तु वस्तुत वह हिन्दू परम्परा के अधिक समीप है क्योंकि अबुल्फजल के लिए अकबर, इतिहास, राजनीति और राज्य प्रबन्ध केवल नैतिक और सामाजिक दर्शन के निर्धारण का माध्यम है। आइन ए अकबरी का मुख्य विषय न तो अकबर है न उनका इतिहास और न राज्य। उसका मुख्य विषय है सम्राट के गुणों तथा कार्यों का निरूपण और हिन्दू राजनीतिशास्त्र की प्रधान समस्या राजर्षिवत्तम अथवा राजर्षि (ऋषि सम्राट) के व्यवहार के निर्धारण की समस्या। इस रूप में अबुलफजल की रचना कौटिल्य की परम्परा में आती है। जैसा कि वैदिक और उत्तर वैदिक साहित्य के रचयिताओं की परम्परा रही है, अबुल्फजल के लिए, इतिहास अर्थशास्त्र साहित्यकी, जीवनी लेखन और अकबर(सम्राट) का व्यक्तित्व नैतिक, आर्थिक और आध्यात्मिक प्रचार के सम्बल मात्र हैं। आइन ए अकबरी की परम्परा मुल्ला हकीम और शरिअत की परम्परा नहीं है। आईन ए अकबरी वस्तुत संस्कृत में लिखे जाने वाले हिन्दू नीतिशास्त्रों का फारसी संस्करण है और इस बात का प्रमाण है कि किस प्रकार सोलहवीं शताब्दी के आस पास हिन्दू विचारों का इस्लाम में समावेश हो रहा था। अबुलफजल के अनुसार, राजनैतिक संगठन तभी स्थायी रह सकता है जब समाज का ठीक ठीक श्रेणी विभाजन हो। उसके अनुसार भी समाज में चार श्रेणियां है—योद्धा, व्यापारी, विद्वान् और श्रमिक जिन्हें उचित स्थानों में रखकर उनका ठीक ठीक समन्वय करना सम्राट का कर्तव्य है। अबुल्फजल के इस निर्धारण में उसी धारणा और समस्या की झलक है जिसे हिन्दू नीति-शास्त्र के रचयिताओं ने सम्राट और समाज के सम्बन्धों की चातुर्वर्ण्य की धारणा के द्वारा हल करने का प्रयास किया है। शैली में यदि आइन ए-अकबरी कौटिल्य के अर्थशास्त्र की परम्परा में है तो दर्शन, सार और उद्देश्य के दृष्टिकोण से उसकी भाषा मनुस्मृति की भाषा के अधिक समीप है[1]।

---

1 सरकार विनयकुमार वही पृष्ठ ५०९-५१०

२

इस्लामी समाज और संस्कृति पर हिन्दू प्रभाव

इस प्रकार, एक ओर फारसी तथा अरबी में अनूदित संस्कृत साहित्य के द्वारा तथा दूसरी ओर इस्लाम में दीक्षा लेने वाले हिन्दुओं के द्वारा, भारत में इस्लामी दर्शन समाज और रीति रिवाज पर हिन्दुत्व का प्रभाव पड़ा। भारत में एक बड़ी सीमा तक इस्लाम ने हिन्दू प्रथाओं और मान्यताओं को आत्मसात किया। इस हिन्दूकरण के मुख्य माध्यम रहे हैं—मध्य युग के वे मुसलमान जो भारत में जन्मे थे, जिन्होंने इस्लाम को स्वीकार कर लिया था और जिनके लिए, हिन्दुस्तानी मुसलमान की उपेक्षापूर्ण संज्ञा का प्रयोग किया जाता था। वे भारतीय मुसलमान जो मूलतः हिंदू थे अपना मौलिक दृष्टिकोण, जीवन दर्शन और सामाजिक स्तर लेकर इस्लाम में प्रविष्ट हुए। भारत में इस्लामी समाज के हिंदूकरण का सबसे प्रबल प्रमाण है मुसलमानों में पायी जाने वाली जाति व्यवस्था। पेशा, अन्तर्वैवाहिकी उच्चोच्च परम्परा (Hierarchy) और कर्मकाण्ड शुद्धता (Ritual Purity) की भावना पर आधारित जाति प्रथा भारत के इस्लामी समाज में भी पायी जाती है। मुसलमानों के त्यौहारों, रीति रिवाजों विचारों, विश्वासों और धार्मिक जादुयी (Magico-Religious) अनुष्ठानों में हिन्दू प्रभाव के अनेक प्रमाण उपस्थित किये गये हैं। पीरों की कल्पना और उनमें विश्वास, दरगाह पर मत्था टेकना जय महावीर या हर हर महादेव की तरह या अली का नारा लगाना, सगुन विचारना, विधवा की अपेक्षा सधवा या सुहागिन को शुभ मानना सुहागिनों द्वारा सिन्दूर का प्रयोग वैवाहिक अनुष्ठानों में सोहागपूरा का प्रयोग हिंदू श्राद्ध के ही अनुरूप मृत व्यक्तियों के नाम पर तीजा भोज और सरात का आयोजन करना, छठ का व्रत (सूर्य पूजा) चेचक का प्रकोप शान्त करने के लिए शीतला माता में विश्वास और शीतला माता के सेवक समझे जाने वाले माली जाति के सदस्यों द्वारा शीतला माता की पूजा करवाना, दीवाली और होली जैसे त्यौहारों का मनाना और बंगाल में सत्यनारायण की कथा के अनुकरण के आधार पर सत्यपीर की पूजा हिंदू प्रभाव के ही परिणाम हैं। मुसलमानों में पगड़ी का प्रयोग हिंदुओं से आया है। दिनकर का ऐसा विचार है कि सम्भवतः मुसलमानों का त्यौहार शबेबरात हिंदुओं के त्यौहार शिवरात्रि से प्रभावित है[1]?

मोहम्मद यासीन के अनुसार भारत में ताजियों का गाड़ना और उन पर नाटकीय आक्रमण करना हिन्दुओं की रामलीला का इस्लामी अनुकरण है। ग्रहण (सूर्य या चन्द्र) के अवसर पर उपवास करने तथा प्रार्थना में लीन रहने और ग्रहण के उपरान्त शुद्धि के लिए स्नान करने की प्रथा मुसलमानों में हिन्दुओं से ही आयी है।

1 दिनकर रामधारी सिंह संस्कृति के चार अध्याय पृष्ठ 393–94

अभिवादन के लिए हिन्दुओं की भाँति मुसलमान भी 'राम राम' शब्द का उच्चारण करते हुए पाये गये हैं। सुल्तान मोहम्मद तुगलक की बहिन की विवाह का हवाला देते हुए मोहम्मद यासीन ने यह प्रतिपादित करने का प्रयास किया है कि सम्भवतः तत्कालीन समाज में राक्षस विवाह प्रचलित था जो एक गैर इस्लामी प्रथा है[1]। भारत में आज भी ऐसी जातियाँ मिलती हैं जो न तो पूर्णतः हिन्दू हैं और न मुसलमान और, मुसलमान होने पर भी उनके सदस्य हिन्दुओं के समान रहते हैं। बंगाल के बाउल और अजमेर के हुसनी ब्राह्मण न तो पूर्णतः हिन्दू ही कहे जा सकते हैं और न पूर्णतः मुसलमान। राजपूताने और आगरा जिले के मल्काना राजपूत मुसलमान होते हुए भी 'राम नाम' जपते हैं और दरगाहों पर जाते हैं। गुजरात के खोजा सम्प्रदाय के लोगों पर वैष्णव धर्म की स्पष्ट छाप है[2]।

गिब के अनुसार मुगल काल में मुसलमानों में सती प्रथा के प्रमाण पाये गये हैं। मध्ययुगीन भारत में मुसलमान योद्धाओं ने जौहर प्रथा को उसी प्रकार अपनाया जिस प्रकार हिन्दुओं ने। किसी समीपस्थ सम्बन्धी के मरने पर सिर दाढ़ी और मूँछ मुड़ाने की प्रथा अकबर ने चलाई थी और किसी हद तक मुसलमानों ने उसे अपनाया भी था। मरणासन्न व्यक्ति को खाट से उतार कर जमीन पर लिटाने और विधवाओं द्वारा चूड़ी आभूषण और रंगीन वस्त्रों का त्यागने की प्रथायें भी मुसलमानों में पायी गयी है। बाल विवाह और स्त्री पर पुरुष के स्वामित्व का भाव, यासीन के अनुसार मुसलमानों में हिन्दुओं से आया है। फलित ज्योतिष, साधु-सन्तों की अलौकिक शक्ति जादू टोना और तावीज में विश्वास तीर्थ-यात्रा मूर्ति-पूजा की भावना और मादक द्रव्यों का सेवन मुसलमानों में हिन्दुओं और आदिवासियों के सम्पर्क से आया है। मध्ययुगीन भारत में मुसलमानों के जीवन के आदर्श रहे हैं रज्म (युद्ध) बज्म (भोज और दरबार) और इबादत (प्रार्थना)। इन आदर्शों पर इस्लाम की अपेक्षा हिन्दुत्व के राजपूतीकरण की अधिक छाप है। सिद्धान्ततः इस्लाम में पुरोहितवाद का कोई स्थान नहीं है। किन्तु भारत में काजियों और मुल्लाओं ने पुरोहित की पदवी धारण की।

३

सूफीवाद में हिन्दू प्रभाव

इस्लामी भाव भूमि में सूफीवाद का स्तर भारत में इस्लाम के हिन्दूकरण का एक अन्य माध्यम बनी। भारत के सूफी-पन्थों की टीका करते हुए गिब ने लिखा है

1 यासीन, मोहम्मद ए सोशल हिस्ट्री आफ इस्लामिक इण्डिया पृष्ठ 49–59
2 दिनकर वही पृष्ठ 307

कि भारत के सूफी पन्थों का इस्लाम से नाममात्र का सम्बन्ध है, क्योंकि इन पन्थों मे हिन्दू और प्राक् हिन्दू प्रथाओं तथा सिद्धांतो की भरमार है। वास्तव में है भी ऐसा ही *क्योंकि इस्लाम का लोकप्रिय और रहस्यवादी रूप होने के कारण, भारत में, अरबीवादी* इस्लाम की अपेक्षा, सूफीवाद ही अधिक जनप्रिय रहा। अरबीवादी इस्लाम की अपेक्षा अधिक सहिष्णु होने के कारण सूफीवाद अपेक्षाकृत अधिक समन्वयकारी भी रहा है। अपनी कट्टरवादिता के कारण, अरबीवादी इस्लाम ने जिन प्रतिक्रियाओं को जन्म दिया उनका निराकरण सूफीवाद के ही द्वारा हुआ। इसीकारण, सूफीवाद और *सूफियों के माध्यम से इस्लाम का अधिक प्रभावपूर्ण प्रचार भी हुआ। अपनी सहि*ष्णुता और समन्वयकारिता के कारण अरबीवादी इस्लाम की अपेक्षा, सूफीवाद हिन्दुत्व की आत्मा के अधिक समीप रहा है और यह उस सामीप्य का ही परिणाम है कि भारत के अशिक्षित और अर्ध मुस्लिम ग्रामीण मुसलमानों के धार्मिक जीवन मे हिन्दू प्रभावों का प्राधान्य है।

गिब के अनुसार, यह मानना कि सूफी शब्द यूनानी भाषा के सोफिया (Sophia) या सोफास (Sophos) शब्द से निकला है एक निराधार अतिरंजित कल्पना के अतिरिक्त और कुछ नहीं है, क्योंकि सूफी शब्द का लाक्षणिक या व्यंजनात्मक अर्थ वह नही है जो 'सोफोस या सोफिया का है। साधारणत, यह माना जाता है कि सूफी शब्द, 'सूफ' शब्द से निकला है। इस्लाम के अभ्युदय के प्रारम्भ में 'सूफ शब्द' का अर्थ लिया जाता था बिना रंग हुए ऊन के उस लबादे से जो ईराक के वैरागी, साधक या तपस्वी धारण किया करते थे। किन्तु उस समय सूफ वस्तुत प्रतीक था संसार-त्याग और पश्चातापी ग्लानि का जिसके कारण सूफ धारण की *भर्त्सना भी की गई है और सूफ धारण को ईसाई धर्म के प्रवर्तक ईसा की नकल* कहकर उसकी उपेक्षा भी की गयी है। फिर भी, यह निश्चित है कि इस्लामी सम्वत की दूसरी शताब्दी में कूफा के साधक और तपस्वी सूफ धारण करते थे और उन्हें अहल-सूफिया कहा जाता था और चौथी शताब्दी के आस पास ईराक के साधकों में सूफ धारण करना एक साधारण प्रथा सी बन गयी थी। सूफी शब्द के इस ऐति*हासिक विवेचन से दो तथ्य स्पष्ट होते हैं।* एक, सूफीवाद की जड़ें रहस्यवादी सहजज्ञान (तसव्वुफ) में गड़ी है और दूसरा, सूफीवाद की उत्पत्ति अरब में न होकर ईराक में हुयी है। अरब का सूफीवाद में केवल इतना ही योग है कि हजरत मुहम्मद का ऐतिहासिक अस्तित्व अरब में था और वहीं से वह अरबीकृत इस्लामी ज्ञान फला जिसे सूफियों ने एक रहस्यवादी मनुद्धिता के रंग में रंगा।

सूफी शब्द वस्तुत प्रतीक है रहस्यवादी साधक का और सूफीवाद (तसव्वुफ) उस तरीके या जीवन-यापन के ढंग का जिसमें बाह्य कर्मचारों को त्याग कर आंतरिक शुद्धता पर जोर दिया जाता है ताकि स्थायी आध्यात्मिक सुखानन्द प्राप्त हो सके। *सूफीवाद के मुख्य आधार हैं—इन्द्रियों को पवित्र करना, इच्छाओं को नियन्त्रण में*

रखकर उन्हें ईश्वरेच्छा के अधीन रखना और बाह्य तथा आन्तरिक जीवन का इस प्रकार समन्वय करना कि शाश्वत आनन्द की प्राप्ति हो। सूफीवाद, वैयक्तिक तथा सांसारिक सुखों का परित्याग करके हक (सत्य) में लीन हो जाने का प्रयास है। खल्क (संसार) निस्सार है और हक (सत्य) का ज्ञान ही सूफी को ईश्वर का इस प्रकार आभास देता है कि, अपने स्वत्व के आभास का ज्ञान छोड़कर, सूफी अपने को ईश्वर के स्वत्व में खोया हुआ पाता है। अपने अन्दर भी और बाहर भी, सूफी ईश्वर का अनुभव करता है। सूफी अपने स्वत्व में मृतप्राय सा रहकर, ईश्वर के स्वत्व में जीवित रहता है। इस प्रकार, सूफीवाद ईश्वर को समझने की एक रहस्यात्मक अनुभूति का मार्ग है। मुहम्मद द्वारा प्रवर्तित मत में ईश्वर और व्यक्ति दो अलग अलग विरोधी अस्तित्व है। किन्तु सूफीवाद में दोनों एक दूसरे से भिन्न नहीं हैं। ईश्वर और जीव मौलिक रूप से एक हैं। अतः जीव ईश्वर से मिलने के लिए बेचैन है। जीव ईश्वर का दास नहीं है वरन उसका सखा है। त्याग तपस्या और ध्यान से जीव ईश्वर में लीन हो सकता है। फना (समाप्त) होकर बका (निर्वाण) प्राप्त करना ही जीव का अन्तिम लक्ष्य है। ईश्वर में लीन होने के लिये डर नहीं, दया की भीख नहीं, प्रेम की आवश्यकता है। प्रेम की ही अभिव्यक्ति के लिए सूफियों ने ईश्वर की सौंदर्य के रूप में कल्पना की है और जीव की प्रेम के उपासक के रूप में। सूफियों के लिए इहलौकिक प्रेम ही पारलौकिक प्रेम की सीढ़ी है। इसीकारण, सूफियों की साधना में ध्यान, स्मरण (माला फेरना) और रति तथा मादन का भाव आया।

इस प्रकार, सूफीवाद का मुख्य आधार है वैयक्तिक तथा रागात्मक रहस्यवादी अनुभूति और उसके द्वारा ईश्वरत्व (हक) का सहज ज्ञान प्राप्त करना। अरबीकृत इस्लाम की अपेक्षा सूफीवाद अधिक वैयक्तिक और आनुभूतिक है। अरबीकृत इस्लाम इहलौकिकता और सुयुक्तिकरण पर ज्यादा जोर देता है जबकि सूफीवाद त्याग, तपस्या और रहस्यवादिता पर। अरबकृत इस्लाम में खल्क (संसार) त्याज्य नहीं है वरन ईश्वरीय भय के साथ ग्राह्य है। जैसा कि पहले कहा जा चुका है अरबीकृत इस्लाम एक इलहामी ज्ञान है जिसे बिना किसी शंका के अपनाना मानव धर्म है। इसीकारण, इस्लाम के समीक्षकों का कहना है कि सूफीवाद इस्लाम की इहलौकिकता तथा कट्टरता के विरुद्ध प्रतिक्रिया के रूप में उठा हुआ एक कदम है। इस्लाम का आधार है मिल्लत, उसका सामाजिक धार्मिक संगठन, पर सूफीवाद का उद्देश्य है व्यक्ति तथा समुदाय का आध्यात्मिक पुनर्जागरण। इस्लाम का जोर है ईश्वरत्व की गुणात्मक अनुभूति पर जब कि सूफीवाद का जोर है प्रत्यक्ष और वैयक्तिक ज्ञान पर। इस्लाम के शुष्क गुणात्मक ज्ञान के प्रति, सूफीवाद एक प्रबल प्रतिक्रिया रहा है। बाह्य कर्मकाण्ड और कट्टरवादिता से मुक्त होने के कारण, सूफीवाद अधिक सहिष्णु रहा है।

सूफीवादी ज्ञान प्रत्येक का मूल्य है कि उन उस ज्ञान मार्ग पर चलन

का तरीका आता हो। तरीका गुरु से मिल सकता है और इसीकारण, सूफीवाद के अभ्युदय के साथ साथ गुरु शिष्य (पीर मुरीद) परम्परा का भी अभ्युदय होता है। गुरु के बिना सूफीवादी अनुभूति सुलभ नहीं। ज्यो-ज्यो सूफीवाद का प्रचार बढ़ा, त्यो-त्यो अलग अलग गुरु उत्पन्न होते गये और उनके नाम पर अलग-अलग सूफी सम्प्रदाय बने। एक गुरु के चेले अपने गुरु के तरीके का अलग अलग प्रचार करके, उसके नाम पर मठों तथा गद्दियों की स्थापना करने लगे। जहां गुरु अविवाहित होता था वहां उसकी मृत्यु के बाद एक नया मठाधीश चुन लिया जाता था और जब गुरु विवाहित होता था वहां मठ की गद्दी बेटे को उत्तराधिकार में जाती थी। इस्लामी साम्राज्य के साथ साथ सूफीवाद और उसके प्रचारकों की संख्या भी बढ़ी और उसका परिणाम यह हुआ कि बारहवीं और तेरहवीं शताब्दी के समय से सूफीवादी सम्प्रदाय इस्लामी संसार में फैलने लगे और उनके दरवेश सूफीवादी मत का प्रचार करने लगे। सूफियों में एक ओर थे प्रशिक्षित साधक और प्रचारक तथा दूसरी ओर थे जन साधारण के स्तर के जिज्ञासु। अरबीकृत इस्लाम की कट्टरवादिता के समक्ष सूफीवाद अधिक सहज सबुद्धिमय और जनसुलभ था। इस्लाम की अरबी कट्टरता के कारण जो प्रतिक्रिया हुयी सूफीवाद उसके निराकरण का माध्यम और उसका उत्तर था। इसी कारण, यह कहा गया है कि सूफीवाद वस्तुतः एक जन-आन्दोलन के रूप में इस्लामी संसार में फैला।

सूफीवाद के प्रचार का माध्यम थीं प्रार्थना-सभायें जो मस्जिदों में होने वाले इमाम के भाषणों की अपेक्षा अधिक प्रभावपूर्ण होती थीं। सूफीवादी गुरुओं (पीर, खलीफा या सज्जादानशीन) और दरवेशों के योगियों जैसे आत्म-सम्मोहक (Auto hypnotic) तथा विचित्र तरीके अधिक जनाकर्षक सिद्ध हुए। कट्टरवादिता का विरोधी तथा जन रीतियों और विचारों के प्रति अपेक्षाकृत अधिक सहिष्णु होने के कारण, सूफीवाद इस्लाम की अपेक्षा अधिक प्रभावोत्पादक रहा। इन्हीं कारणों से सूफी इस्लाम के प्रबल और प्रभावपूर्ण प्रचारक बन सके। खलीफाओं ने इस्लाम का राजनैतिक प्रसार किया है तो सूफियों ने सामाजिक प्रसार। इस्लाम में दीक्षा लेने वालों से सूफियों ने कभी भी आमूल परिवर्तन की मांग न की। सूफीवाद ने केवल वहीं तक परिवर्तन की मांग की जहां तक आवश्यक था। इसीकारण, सूफीवाद के प्रसार के साथ-साथ एक ओर इस्लामी समाज में विजातीय विचार और प्रथाओं का समावेश हुआ तो दूसरी ओर दिव्य पुरुषों में विश्वास का[1]। सूफियों के अनुसार समय समय पर इस्लाम के पुनःसंस्थापन और नवोत्थान के लिए दैवी पुरुष इस पृथ्वी

---

1 यहां दिव्य का अर्थ अवतार के अर्थ में नहीं है। अवतार की धारणा इस्लामी परम्परा में नहीं है। यहां दिव्य का अर्थ असाधारण से है। इस्लामी परम्परा में इस सन्दर्भ में दो धारणायें मिलती हैं—एक महदी और दूसरी मुजद्दिद।

पर आयेंगे। सूफीवादी पंथों के अधिकतर गुरु इन्हीं देवी पुरुषों की श्रेणी में गिने जाते हैं।

प्रवर्तित इस्लाम की भांति, सूफीवाद की उत्पत्ति एक अंतिम दिव्यज्ञान के रूप में नहीं हुयी। सूफीवाद का विकास धीरे धीरे हुआ है और स्थान स्थान पर देश-काल की परिस्थितियों ने उस पर काफी प्रभाव डाला है। सूफीवाद का विकास, इस्लाम में निहित रहस्यवादी साधना और सत्यामीपन के विकास के साथ-साथ हुआ है। हिजरी सम्वत की दूसरी शताब्दी में कुछ उत्साही वैरागियों ने कथाओं को धर्म प्रचार का माध्यम बनाया। उन्होंने कथाओं की विषय वस्तु अरबी, ईसाई, जरथुस्त्र और बौद्ध धर्मों में प्रचलित कथाओं, यहूदी धर्म के सिद्धान्तों और प्राचीन सीरिया (ईराक) तथा बेबीलोन की जन-वार्ताओं में लिया और इसप्रकार, विभिन्न उदगमों से ली हुई विषय वस्तु को इस्लामी सांचे में ढालकर सूफीवाद का रूप दिया[1]। सूफीवाद इस्लामी सांचे में ढला हुआ एक ऐसा प्रमय है, जिसके मुख्य आधार कई उदगमों से आये हैं। कुछ लोगों ने इस बात पर जोर दिया है कि रहस्यवादिता सूफीवाद का प्राण है और चूंकि रहस्यवादिता इस्लाम का स्वाभाविक गुण नहीं है इस्लाम में सूफीवाद एक विदेशी या विजातीय तत्व है। इस्लाम में सूफीवाद का वही अस्तित्व है जो जल में कमल का है। पर ऐसा दृष्टिकोण एकांगी है। मुहम्मद साहब के द्वारा व्यक्त ज्ञान और इल्हाम की धारणाओं में इस्लामी रहस्यवाद की

महदी का अर्थ है पुनरुद्धारक और मुजद्दिद का पुनर्जीवक। महदी का अभ्युत्थान तब होगा जब इस्लाम विशृंखलन की अंतिम अवस्था में होगा। मुजद्दिद वह है जो इस्लाम का पुनर्नयन (तजदीद) करे। इस्लाम में पुनर्नयन का अर्थ समन्वय और सुधार नहीं है। इस्लामी उसूलों के अनुसार इस्लाम की पुनःसंस्थापना मुजद्दिद का काम है। महदी उद्धारक है और मुजद्दिद पुनःसंस्थापक। सूफी सन्त शेख अहमद सरहिन्दी, जो जहांगीर के समकालीन हैं और जिन्होंने जहांगीर के द्वारा भारत में इस्लाम के पुनःसंस्थापन का प्रयास किया भारत में इस्लाम के पहले मुजद्दिद हैं। यशोप्रसाद ने सरहिन्दी को महदी कहा है जो यासीन के अनुसार तर्कसंगत नहीं है। परम्परा के अनुसार यह माना जाता है कि हजरत मुहम्मद ने यह आशा व्यक्त की थी कि हर शताब्दी के बाद इस्लाम को नया जीवन देने के लिए ईश्वर मुजद्दिद का अवतारणा करेगा। पैगम्बर की मृत्यु के बाद से हर शताब्दी में एक व्यक्ति रहे हैं, जिन्होंने इस्लाम की पुनःसंस्थापना के लिए प्रयास किया है और मुसलमानों ने उन्हें मुजद्दिद स्वीकार किया है —

दलिये यासीन, वही पृष्ठ 116

1 गिब एच० ए० आर० मोहम्मडनिज्म पृष्ठ 130

जड़ें हैं। कुरान म खुदा को वदूद (प्रेमी) कहा गया है। मुहम्मद साहब के मरने के बाद ही गुलूब और तक्सीर की धारणायें अस्तित्व में आ गयी थी। गुलूब की धारणा के अनुसार मनुष्य ईश्वर की कोटि तक पहुच सकता है और तक्सीर की धारणा के अनुसार यदि ईश्वर चाहे तो वह मनुष्य के रूप म प्रगट हो सकता है। आगे चलकर, जब अल हल्लीज ने अनलहक का नारा लगाया तो उसने गुलूब की धारणा को और भी दृढ़तर कर दिया। मोतजली सम्प्रदाय के लोगो ने इस मत का खण्डन किया कि कुरान अपौरुषेय और अन्तिम सत्य का एकमात्र आख्यान है। अलगजाली (1051 1112) ने यह कहकर कि नामातीत निरपेक्ष सत्य को जानने का एकमात्र साधन सद्बुद्धि है, रहस्यवादिता की नींव डाली। इसप्रकार सूफीवाद इस्लाम के घेरे म ही पनपता रहा। इस्लामी पृष्ठभूमि से अलग सूफीवाद वस्तुत एक केन्द्र रहित परिधि है। किन्तु सूफीवाद का उद्गम इस्लाम म ही नहीं है।

कुरान और मुहम्मद साहब के जीवन के अलावा सूफीवाद के निर्माण म जिन कारकों का योग रहा है व हैं इसाई धर्म जो सीरिया के तटवर्ती क्षेत्रों म प्रचलित था, अभिनव अफलातूनी (Neo Platonic) विचार धारा हिंदुत्व बुद्धवाद तथा ईरान म प्रचलित जरथुस्त्र धर्म। सूफियों म मिस्तरीफा की भावना तथा महदी और ईश्वर को प्रेम स पाने की धारणाय, गिव के अनुसार इसाई धर्म स आई हैं। ईश्वर के प्रति मौन और रीति का भाव अभिनव अफलातूनी विचारों की देन है। इस्लाम के उदभव क पहले ही अभिनव अफलातूनी विचारो पर भारत का प्रत्यक्ष प्रभाव पड चुका था। इसीकारण यह कहा जा सकता है कि सूफी मत के विकास म योग देने वाले प्रभावो म हिन्दू-बौद्ध दर्शन का ही अधिक प्रभाव है। जीव और ईश्वर (अथवा ब्रह्म) मौलिक रूप स एक हैं जीव ब्रह्म की कोटि तक (अनलहक की अवस्था तक) पहुच सकता है और जीव ब्रह्म का मिलन फना बका की अवस्था है मोक्ष स प्रेम उत्पन्न होता है और प्रेम से मुक्ति और इन दोनो का समन्वय करन क लिए मनोवृत्ति वैराग्य साधन योग और संयम की आवश्यकता है इन मान्यताओं की जड़ें भारत की वेदान्ती और यौगिक परम्पराओ म हैं। सूफियों म भारत के योगियो जसी निर्भीकता रही है। साधना के लिए संगीत और माला का आश्रय लेना भारतीय संकीर्तन का भाग है।

सूफी सम्प्रदाय का संगठन संगठन बौद्ध संघो स प्रेरित है क्योंकि मानव स्मृति द्वारा म, संघ मठों और भिक्षुओं की परम्परा सवप्रथम बौद्धो न ही डाली थी। गुरु शिष्य परम्परा के पीछे यदि एक ओर हजरत मुहम्मद द्वारा निर्धारित पैगम्बरी परम्परा म उत्पन्न प्रेरणा थी तो दूसरी ओर भारत म पनपने वाली योगी परम्परा! निकलसन के अनुसार वेदान्तियों के मोक्ष और बौद्धो के निर्वाण क वजन पर ही सूफिया न 'फना' की कल्पना की और बुद्ध का अष्टांगिक मार्ग ही उनका 'तरीका या सलूक' हुआ। इसीप्रकार सूफियो न भारतीय योग का 'मराकबा' कह कर अपनाया। भारतीय योगियो के चमत्कार ही सूफियों क यहाँ करामात या 'मोजजा' कहलाने लगे।

सूफियों के बीच स्वच्छता, पवित्रता, सत्य, अपरिग्रह पर जो इतना जोर है तथा माला जपने की जो प्रथा है, उन सबके पीछे शुद्ध भारतीय संस्कार का ही प्रभाव माना जा सकता है। सर चार्ल्स इलियट का हवाला देकर पानिक्कर ने यह प्रतिपादित करने का प्रयत्न किया है कि सूफीवाद में पाये जाने वाले जीव-ब्रह्म सम्बन्धी विचारों और तसव्वुफ (रहस्यवाद) का उद्गम सम्भवतः भारत में ही है। पानिक्कर ने सूफीवाद को वेदान्त का इस्लामी संस्करण कहा है। इस्लाम के उद्भव के पहले तथा प्रारम्भिक विकास के आस पास अरब और यूनान तक बौद्ध तथा वेदान्त दर्शन का प्रभाव रहा है। इसी प्रभाव ने, अन्य प्रभावों के साथ इस्लाम में सूफीवाद को जन्म दिया है।

अनुताप, इन्द्रिय निग्रह, विरक्ति, अपरिग्रह, सन्तोष, धैर्य, ईश्वर और जीव की मौलिक समानता, ईश्वर के प्रति जीव के स्वाभाविक प्रेम, प्रेम द्वारा ईश्वर-जीव के मिलन (फना) तथा संगीत-संकीर्तन द्वारा ईश्वर के प्रति प्रेम की साधना में विश्वास और संसार को आध्यात्मिक ज्ञान द्वारा समझने का प्रयास सूफियाना जीवन के मुख्य सैद्धान्तिक आधार रहे हैं। यही सिद्धांत सूफियाना तरीका है, जिन्हें प्रत्येक सूफी पीर ने अपने ढंग से अपनाया है। सूफीवाद का उद्भव एक वैयक्तिक-आध्यात्मिक तरीके के रूप में हुआ था। कालान्तर में इस्लामी, ईसाई और बौद्ध परम्पराओं के प्रभाव ने सूफीवाद में मठीय परम्परा को जन्म दिया जिसकी अभिव्यक्ति इस्लामी संसार में फैले हुए सूफी सम्प्रदायों (पन्थों) के रूप में हुई। प्रत्येक सम्प्रदाय किसी न किसी सूफी साधक की परम्पराओं पर आधारित है। कई सम्प्रदायों ने विभक्त होकर उपसम्प्रदायों को जन्म दिया। प्रत्येक सम्प्रदाय या उपसम्प्रदाय अपने मूल संस्थापक की परम्परा में, आध्यात्मिक साधना का एक तरीका विशेष बन गया और प्रत्येक तरीके का प्रसार गुरु शिष्य परम्परा में हुआ। अरबीकृत इस्लाम की अपेक्षा सूफीवाद देश काल की परिस्थितियों के अनुसार अधिक ढलता रहा जिसका परिणाम यह हुआ कि सूफीवाद अनेक पन्थों में फूट निकला। उत्तरी अफ्रीका से लेकर इन्डोनेशिया तक पाये जाने वाले सूफी पन्थों में केवल आधारभूत सैद्धान्तिक समानता है क्योंकि उनके सामाजिक संगठन और कर्माचार परस्पर भिन्न हैं। यह सूफीवादी इस्लामी विचारधारा के लचीलेपन का ही परिणाम है कि कुछ सूफी पन्थ भारत में ही जन्मे और भारत में उन समूहों तक ही सीमित रहे जिनमें उनका जन्म हुआ था। जिस प्रकार, इस काल में भारत के अनेक गणजातीय और जडगण जातीय समूह सुधारवादी पन्थों के माध्यम से हिन्दुत्व में प्रविष्ट हुए उसी प्रकार, अनेक ऐसे समूह, सूफीवाद के द्वारा, इस्लाम में प्रविष्ट होकर इस्लाम में जाति प्रथा के समावेश का कारण बने।

४

इस्लामी धार्मिक पन्थों में भारतीयकरण[1]

इस्लामी दर्शन और आध्यात्मिकता में अन्तर्निहित आत्म विच्छेद से उत्पन्न, सूफीयाना इस्लाम के लिए भारत का समन्वयकारी सांस्कृतिक वातावरण बड़ा ही अनुकूल रहा। इन पन्थों के माध्यम से अनेक देशज समूहों ने, एक ओर, अपनी गैर इस्लामी परम्पराओं का इस्लामीकरण किया और दूसरी ओर उस इस्लामीकरण का भारतीयकरण। भारत की सामाजिक पृष्ठभूमि इस्लाम में पन्थ परम्परा की उत्प्रेरक सिद्ध हुई जिसके कारण यहाँ अनेक पन्थों का आविर्भाव हुआ जिनमें कुछ सूफी थे और कुछ गैर सूफी। इन पन्थों की विशेषता यह है कि इनके द्वारा गैर इस्लामी प्रथाओं का इस्लाम में समावेश हुआ।

सुल्तान अलाउद्दीन खिलजी के जमाने में ऐसे पन्थ थे जो गैर इस्लामी परम्पराओं को मानते थे। अशोक ए इबाहत पन्थ के लोगों के बारे में अमीर खुसरो ने लिखा है कि उनमें समीपस्थ सम्बन्धियों (भाई बहिन, पिता पुत्री, माता-पुत्र) में भी यौन सम्बन्ध पाये जाते हैं। सत्रहवीं शताब्दी के मध्य में दबिस्ता उल मजाहिब के लेखक ने ऐसे ही पन्थों के बारे में लिखा है कि इनमें अनेक गैर इस्लामी प्रथायें पायी जाती हैं। परम्परावादी दृष्टिकोण से ये प्रथायें भारत में इस्लाम के अधःपतन का प्रतीक सी लगती हैं? इस्माइली एक शिया-पन्थ है जिसके बारे में दबिस्ता में लिखा हुआ है कि इस पन्थ के लोग शरिअत के अनुसार व्यवहार नहीं करते हैं और वे इस ऊहापोह में नहीं पड़ते हैं कि ईश्वर है या नहीं संसार वास्तविक है या नहीं। उनकी यह मान्यता है कि ईश्वर सर्वशक्तिमान है और उन पर यह आरोप लगाया जाता है कि अपनी गुप्त सभाओं में वे अगम्यगमन यौन-सम्बन्ध (Incestuous Sex Relations) स्थापित करते हैं। भारत में खोजा और बोहरा, जो काठियावाड़ और गुजरात में पाये जाते हैं इस्माइली पन्थ के दो उपपन्थ हैं। खोजा हिंदू थे जिनको सैयद इमामुद्दीन नामक एक सूफी संत ने इस्लाम में परिवर्तित किया था। अहमदाबाद से नौ मील की दूरी पर स्थित इमामुद्दीन की दरगाह खोजा लोगों का एक धार्मिक स्थान है। ऐसा कहा जाता है कि इन खोजों में पायी जाने वाली गुरुपूजा में मूर्ति पूजा का भाव है क्योंकि इनका गुरु एक सम्राट की भांति पर्दे के पीछे बैठता है और ये लोग उसके पैर के अंगूठे को चूम कर, उसके चरणों में सोने और चांदी की भेंट प्रदान करते हैं। खोजाओं की भांति गुजरात के बोहरों ने भी नियापन्थ को स्वीकार किया और अपने विवाह, उत्तराधिकार तथा तलाक के नियमों में अनेक गैर-सुन्नी प्रथाओं को स्थान दिया है।

---

1 यहाँ जिन सूफी पन्थों का सन्दर्भ दिया गया है उनका वर्णन यासीन के अध्ययन ए सोशल हिस्ट्री आफ इस्लामिक इण्डिया पर आधारित है।

दबिस्तां का हवाला देते हुए, यासीन ने लिखा है कि सन् सोलह सौ पाँच और सत्रह सौ अड़तालीस के बीच हिन्दुओं में एक ऐसा वर्ग अस्तित्व में आ गया था, जिसके सदस्य अपने परम्परागत विश्वासों और व्यवहारों के साथ सूफी मुसलमानों की भाँति रहते थे। अपने विचारों और व्यवहारों में, इन्होंने सूफीवादी सिद्धान्तों का आत्मसात् अवश्य कर लिया था, पर मूलतः ये लोग हिन्दू ही थे। इस वर्ग के लोगों का यहाँ तक दावा था कि उनकी मान्यताओं, विचारों और व्यवहारों का पैगम्बर के उपदेशों से कोई सम्बन्ध नहीं था। यह तथ्य इस बात का प्रतीक है कि भारत के समन्वयकारी सांस्कृतिक वातावरण में सूफीवाद को वह नयी दिशा मिली जिसके कारण वह इस्लाम के उत्तरोत्तर भारतीयकरण का माध्यम बना। यह भारत के समन्वयकारी सांस्कृतिक वातावरण का प्रभाव था कि भारत में कुछ ऐसे सूफीपंथ उत्पन्न हुए जो भारत के बाहर अन्यत्र नहीं पाये जाते हैं और अपनी विचारधारा तथा कर्मकांड में अन्य स्थानों के सूफी पंथों से भिन्न हैं। भारत के मुख्य सूफी पंथ हैं—रौशनिया, दीन-ए-इलाही या तौहीद-ए-इलाही, मदारिया, जलालिया, बेकैद या बेनवा, कादरी या कादिरी और पियारावधी। ये पंथ शिया भी थे और सुन्नी भी और भारतीय दर्शनों की समन्वयकारी परिधि से घिरे रहने के कारण, इस्लामी आत्मविच्छेद के अधिक समीप थे।

रौशनिया पंथ के प्रणेता थे मियाँ बायजीद असारी जो सोलहवीं शताब्दी के मध्य में पंजाब में पैदा हुए थे। अर्वाचीन इस्लाम के कर्मकाण्ड के स्थान पर, इन्होंने सदाचार, विचार की शुद्धता और ईश्वरेच्छा में कट्टर विश्वास पर अधिक जोर दिया। इनका मत सत्रहवीं शताब्दी तक चलता रहा। अपने मत का प्रचार करने के लिए इन्होंने अरबी, फारसी और पश्तो के साथ-साथ हिन्दी (सस्कृत) का भी आश्रय लिया। दीन-ए-इलाही के प्रणेता थे सम्राट अकबर जो इस्लाम और भारत के अन्य धर्मों के बीच, समन्वय लाने के लिए प्रेरित थे। दीन-ए-इलाही के मुख्य चार आधार हैं—खलीफात उल अल्लाह का प्रकट होना[1], सभी धर्मों पर विचार विमर्श, ग्रह विचार (फलित ज्योतिष में विश्वास) और अन्त में आनियानी जलालुद्दीन मुहम्मद अकबर के कथनों पर एक आचार-संहिता का निरूपण। यह पंथ औरंगजेब के समय तक चलता रहा और इसका मुख्य ध्येय था भारतीय सांस्कृतिक वातावरण के अनुसार एक ऐसी संहिता तैयार करना जो सभी धर्मावलम्बियों को मान्य हो। इस पंथ की आत्मा अर्वाचीन इस्लाम के समीप न होकर, भारत की स्मृतियों की परम्परा के ही अधिक समीप है। यह पंथ वास्तव में प्रतीक है हिन्दुत्व की दार्शनिक पृष्ठभूमि और इस्लाम में समन्वय लाने के प्रयास का और, इसी कारण, औरों की अपेक्षा, इसमें स्याद्वाद की

1 खलीफात उल अल्लाह का अर्थ है अल्लाह (ईश्वर) के खलीफा की अवतारणा।

भावना अधिक थी यद्यपि, अकबर के बाद, इस भावना का उत्तरोत्तर ह्रास होता गया।

मदरिया पंथ के अनुयायी अपने को मुनी कहते थे और शाह बदीउद्दीन, जो शाहमदार के नाम से प्रसिद्ध है, के अनुयायी थे। आज भी शाहमदार को हिंदू और मुसलमान दोनों पूजते हैं। आज भी मकनपुर (जिला कानपुर) में प्रतिवर्ष इनकी मजार पर मेला लगता है। इन्होंने 'मदार' की देवी महिमा स्थापित की। इस पंथ के अनुयायियों के अनुसार जब पैगम्बर स्वर्ग-द्वार पर पहुंचे तो उन्हें वह द्वार सुई के छेद के आकार का मिला। देवदूत जिबरील ने उनसे मदार की सहायता का आवाहन करने के लिए कहा और जैसे ही उन्होंने दम मदार शब्द का उच्चारण किया उनका द्वार चौड़ा हो गया और तब पैगम्बर स्वर्ग में प्रवेश पा सके। इस्लाम में जिन उपवासों और प्रार्थनाओं पर जोर दिया गया है उनका मदरिया लोगों ने पालन नहीं किया। ये गले में हमेली और सिर पर काला साफा धारण करते थे और काला झंडा लेकर चलते थे। जटा रखना, नंगे बदन रहना, देह पर भस्म मलना, धूनी रमाना और भांग का अत्यधिक प्रयोग इनकी साधना चर्या में शामिल थे। सूफीवाद के रूप में मदरिया एक प्रकार का वाममार्गी पंथ सा प्रतीत होता है।

जलालियान सैयद जलालुद्दीन बुखारी (1307-1374 ई०) के अनुयायी थे और अपने को शिया मानते थे। जलालुद्दीन मुल्तान के सुहरावर्दी संत बहावल हक के शिष्य थे। जलालियान पंथियों ने न तो उपवास और प्रार्थना की परवाह की और न सूफियों की आधारभूत मान्यताओं की ही। इस पंथ के अनुयायी भांग का अत्यधिक प्रयोग करते थे और ऐसा कहा जाता है कि उन्होंने सांप, बिच्छू और कीड़े मकोड़ों को भोज्य पदार्थों की श्रेणी में रखा। मदरियों की भांति, जलालियान भी नंगे बदन रहते थे और धूनी रमाते थे, लेकिन जटायें नहीं रखते थे। विभिन्न प्रमाणों के आधार पर यासीन ने जलालियान का जो वर्णन किया है वह इस प्रकार है— जलालियान गले में गुलूबन्द बांधते हैं, पशम (ऊन) या बहुरंगी धागों का हार तथा लगोटी धारण करते हैं और सांप लेकर चलते हैं। पंथ में दीक्षा लेते समय, उनकी दाहिनी बांह के ऊपरी हिस्से में दाग दिया जाता है। वे बाजारों में भिक्षा मांगते रहते हैं और यदि उन्हें भिक्षा नहीं मिलती है तो वे कपड़े से ढकी हुयी लोहे की गरम सलाख से अपने को दाग लेते हैं। मजार इनका मुख्य गढ़ है जहां वे प्रार्थना पर बहुत ही कम ध्यान देते हैं। गांजा पीते हैं, बिच्छू और सांप खाते हैं और सिर, मूंछ तथा भौंहें का मुंडन है किन्तु सिर पर दाहिनी ओर चोटी भी रखते हैं। ये सिर पर पगड़ी बांध रहते हैं गले में ऊनी धागा पहनते हैं और भुजदण्ड पर चीन का तावीज बांध रहते हैं। उनका कोई निश्चित निवास-स्थान नहीं होता है—ये मलंगी होते हैं।

दबिस्ता के अनुसार जलालियान का गुरु (पीर) प्रतिदिन एक नये स्त्री प्रेम की टोह में रहता है। जब अपने किसी शिष्य के घर में उसे किसी सुंदर स्त्री का

पता चलता है जो वह नरसिंह वजान की आना देता है, घोड़े पर सवार होकर शिष्य के घर जाता है और नारी से मनमाना व्यवहार करता है। नारी को वह कभी-कभी अपने घर भी ले आता है पर उससे विवाह नहीं करता है। इस प्रथा को स्पष्ट करते हुये दबिस्ता के लेखक ने लिखा है कि सम्भवतः इसका सम्बन्ध अली से है, क्योंकि अली प्रतिदिन सन्ध्या को दूल्हा बनते थे। दबिस्ता के लेखक द्वारा प्रश्न किये जाने पर एक जलाली ने उसे बताया कि शेर का यह कृत्य उनकी प्रभुता का प्रतीक है और पैगम्बर के परिवार का एक विशेषाधिकार है। गुरु अली का प्रतीक है। अतः वह अली द्वारा प्रयुक्त विशेषाधिकारों का प्रयोग कर सकता है।

बकद का मत था कि स्वतंत्र और माया का निरीह। पहले ये दोनों पंथ एक थे पर बाद में अलग अलग हुये। उन्होंने कभी शरियत (कर्मकाण्डी विधि Ritual Law) जैसे जनता के लिये है न कि उनके लिये जो मारिफत (दुर्गतत्व का ज्ञान) प्राप्त कर चुके हैं। बकदा पंथ इस्लाम में गैर-शरिअतनुमी (बेशरा) की श्रेणी में आता है। इन दोनों पंथों के अनुयायी भिक्षा मांगते समय जिसमें भिक्षा मांगते थे उसके लिये गाली मिश्रित भाषा और अपशब्दों का प्रयोग करते थे। वे भिक्षा में केवल उतना ही लेते थे जिससे कि उनके खाने पीने का काम चल जाये। उनका वस्त्र या खिरका अर्थात गुदड़ी या कम्बल जो वे इधर उधर से इकट्ठा किये हुये चीथड़ों से बनाते थे। इस पंथ के अनुयाइयों के अनुसार मुहम्मद देह है, ईश्वर आत्मा और मदार उस आत्मा के प्राण। ये नशीली वस्तुओं का प्रयोग करते थे। एकेश्वरवाद को मानते थे और उनमें से कुछ अपने को धार्मिक तपश्चर्याओं में भी लगाते थे।

मनूची (Manucci) के अनुसार मुगल राज्य में अनेक प्रकार के फकीर कहे जाने वाले गरीब लोग थे, किन्तु उनमें दो प्रकार के फकीर मुख्य थे—एक बेकैद अथवा आजाद और दूसरे बेनम अथवा निडर। पहले प्रकार के फकीर बड़े ही अशिष्ट थे। सबके लिये गालियाँ अशिष्ट भाषा का प्रयोग सबके घरों, विशेषतया अमीरों के घरों में, घुसकर पैसा (भिक्षा) मांगना और न मिलने पर गालियाँ देना, उनके लिये साधारण बात था। उन्होंने कभी भी ईश्वर के नाम पर भिक्षा नहीं मांगी क्योंकि उससे ईश्वर नाराज होता है। बेनम नंगा छुरा हाथ में लेकर भिक्षा मांगते थे और न मिलने पर अपनी बांह, सिर या पेट में छुरा मार लेते थे तथा भिक्षा न देने वाले पर अमीर आप के आगे खून छिड़क देते थे। ये बहुधा बाजारों में, बनियों की दुकानों पर भिक्षा मांगते थे। बेकैद अथवा निडर प्रकार के फकीर आज भी बाजारों तथा मेलों में मिल जाते हैं। पंजाब में विशेषतया स्यालकोट के आस पास, इन्हें मुरचिरों या मुहचिरों (अर्थात मुँह या सिर चीरने वाला भी) कहा दी जाती है।

बकत पंथी जहांगीर के समकालीन कहे जाने वाले कश्मीर निवासी इब्राहिम बकत के अनुयायी थे। ऐसा कहा जाता है कि इब्राहिम बकत और उनके शिष्य वशीकरण में सिद्धहस्त थे और किसी पर नजर डालने मात्र से ही उसको वश में कर

लेते थे। इब्राहीम के शिष्य मुसलमान भी थे और हिन्दू भी। इब्राहीम ने कभी भी अपने शिष्यों में धर्म परिवर्तन की माँग नहीं की। अल्लाह और राम को छोड़कर वे न तो किसी पैगम्बर का नाम लेते थे और न किसी अवतार का। वे और उनके शिष्य रात में कभी नहीं सोते थे बल्कि पीठ से पीठ जोड़े हुये, रात भर बैठे रहते थे। वे सर्वोच्च दैवी सत्ता को एक मानते थे, भाँग का अत्यधिक प्रयोग करते थे और ब्रह्मचर्य का नियमित रूप से पालन करते थे। पियारा पन्थी, बाबा पियारा जो बंगाल के निवासी थे और सम्भवतः शेख सलीम चिश्ती के शिष्य थे से सम्बन्धित हैं। भिक्षा माँगते समय ये किसी के घर या दूकान के सामने खड़े हो जाते थे और न तो किसी वस्तु की ओर देखते थे न कुछ कहते थे और न किसी वस्तु की याचना ही करते थे। जो कुछ मिल जाता था, वे स्वीकार कर लेते थे और यदि कुछ नहीं मिलता था तो चुपचाप चले जाते थे। अपने को मुसलमान कहते थे पर मुसलमानों की तरफ ज्यादा ध्यान नहीं देते थे।

भारत में उत्पन्न होने वाले तथा भारत में ही सीमित रहने वाले इन सूफी पन्थों के माध्यम से इस्लाम पर हिन्दू दर्शन, हिन्दुत्व की आगम परम्पराओं, बौद्ध तान्त्रिकों और आदिवासियों का प्रभाव पड़ा। यह पहले ही कहा जा चुका है कि जहाँ हिन्दूकरण की प्रक्रिया अपूर्ण थी वहीं इस्लाम का प्रवेश हुआ। ऐसा क्षेत्र था भारत का आदिवासी समाज। ऐसा लगता है कि अलग-अलग गणजातियाँ अलग-अलग स्थानों में, सूफी पन्थों के रूप में, इस्लाम में प्रवेश कर गयीं और अपनी परम्परागत प्रथाओं को इस्लाम के रंग में रंगा। अकबरनामा के आधार पर, मोहम्मद यासीन ने लिखा है कि चाकना पन्थ का संस्थापक सम्भवतः कश्मीर की चाक गणजाति का था। वास्तव में भारतीय सामाजिक संरचना के निम्नतर स्तरों पर हिन्दूकरण और इस्लामीकरण का साथ-साथ समावेश हुआ है और चूँकि हिन्दूकरण की प्रक्रिया में हिन्दू और आदिवासी प्रथाओं का पहले ही से समन्वय हो रहा था इस्लाम के प्रभावों का एक ओर हिन्दूकरण हुआ तो दूसरी ओर आदिवासीकरण। पियारा पन्थियों का भिक्षाटन का तरीका वास्तव में बौद्ध भिक्षुओं और दण्डियों का तरीका है। मदरियों और जलालियान पन्थों के अनुयायियों में यदि एक ओर, भारत के नागा साधुओं और सन्यासियों की सी विशेषतायें मिलती हैं तो, दूसरी ओर, औघड़ और वाममार्गी बौद्ध तान्त्रिकों की सी परम्परायें। भारत में सन्यासियों की न तो कोई जाति है और न कोई पाँति। सम्भवतः इसी प्रभाव के अन्तर्गत बरशा की स्वतन्त्र (आजाद) शाखा ने यह निर्धारित किया कि मारिफत की अवस्था में पहुँच जाने वालों पर शरा (इस्लामी सदाचारी विधि) नहीं लागू होती है। मदार जैसा दैवी शक्ति की धारणा और मदार का नाम टोटमवादिता (Totemism) के अधिक निकट है न कि हिन्दुत्व या इस्लाम के।

दबिस्ता के लेखक के अनुसार जलालियान के गुरु का अपने शिष्यों पर की

स्त्रियों के साथ रहकर, यौन सम्बन्ध स्थापित करते। सम्भवतः उनके आध्यात्मिक नेता 'ग्रेगरी' के जीवन का प्रभाव है। उसी लेखक के अनुसार हिंदुओं में वल्लभाचार्य सम्प्रदाय के लोगों में भी, विवाहोपरान्त सर्वप्रथम वधू गुरु को अर्पित करके, बाद में पति द्वारा प्रसाद के रूप में ग्रहण की जाती थी। यूरोप में मध्ययुगीन कैथोलिक ईसाइयों में भी ऐसी प्रथाओं का उल्लेख है। वहाँ गुरु का स्थान पादरी के पास था। चमारों में पाये जाने वाले पंथों का वर्णन करते हुए ब्रिग्स (1920) ने सतनामी पंथ में ऐसी ही प्रथा का उल्लेख किया है। भारत के वाममार्गियों में शिव और भैरवी की धारणा तथा उससे सम्बन्धित यौनिक कदाचार मुसलमानों के पहले से ही अस्तित्व में था। ऐसी दशा में यह कहना कठिन है कि जलालियों में यह प्रथा सीधे इस्लाम से आयी है या भारत के आदिवासियों या वाममार्गियों से। भारत में ऐसी प्रथाओं का वास्तविक रूप क्या था या क्या है और उनका वास्तविक उद्गम स्रोत क्या है? ये प्रश्न भारत के सांस्कृतिक इतिहास की जटिल गुत्थियाँ हैं।

अकबर द्वारा स्थापित दीन ए इलाही वस्तुतः वह प्रयास है जिसके द्वारा इस्लाम और हिन्दुत्व के दार्शनिक तथा व्यावहारिक पक्षों का समन्वय करने की कोशिश की गयी थी। स्मृतियों और पुराणों में वर्णित धर्म राज्य की धारणा में सम्राट में देवत्व का प्रतिरोपण करके उसे धर्मरक्षक माना गया है। इसी कारण भारत के सम्राटों ने सभी धर्मों को प्रोत्साहन दिया है और वर्ण तथा जाति-व्यवस्था के लिए नियमों का निर्धारण किया है। सम्राटों ने आचार संहिताओं का संकलन कराया है। अकबर को धार्मिक मामलों में उच्चतम सत्ता मानकर दीन ए इलाही द्वारा जहाँ, एक ओर, इस्लामी कट्टरता पर रोक लगाने का प्रयास किया गया था वहाँ दूसरी ओर उसे हिन्दू परम्पराओं के अधिक समीप लाने का प्रयास भी किया गया था। अकबर के बाद, दीन ए इलाही तो जिन्दा रहा पर उसकी आत्मा समाप्त हो गयी क्योंकि जहाँगीर के समय से इस्लामी कट्टरता ने एक नया रूप ले लिया था जो धीरे धीरे बढ़ती रही। इस सन्दर्भ में सबसे बड़ी जटिलता तो यही है कि जहाँ एक ओर सूफी पंथों के द्वारा इस्लाम उदार और समन्वयवादी बना वहाँ दूसरी ओर इन्हीं पंथों के प्रभाव से उसमें कट्टरता को भी सहारा मिला। [illegible] के अनुसार सूफी-पन्थ साम्प्रदायिकता से पूर्णतया मुक्त न थे। दबिस्ताँ में वर्णित एक घटना के अनुसार एक तीर्थ स्थान पर मदारियों, जलालियों और सन्यासियों के जमाव में जब मदारियों और जलालियों ने दो बार गाय काटना चाहा तो दोनों बार सन्यासियों ने उनसे बलात गाय को छीन लिया। इससे अपमानित होकर मदारियों और जलालियों ने एक तीसरी गाय काट दी जिसका परिणाम यह हुआ कि सन्यासियों ने उन पर आक्रमण कर दिया।

बाद के समय में भारत में इस्लाम का इतना भारतीयकरण हुआ है कि प्रारम्भ से ही इस्लाम को सुधारने और उसे परम्परागत इस्लाम के अनुरूप लाने का प्रयास भी चलता रहा है। भारत के बाहर से आये हुए सूफियों और उनके प्रणेताओं ने

इस प्रयास में काफी भाग लिया है। सारे इस्लामी भारत में मुजद्दिद आन्दोलनों की भरमार रही है। बदायूनी के अनुसार, जब से भारत में इस्लाम का प्रवेश हुआ है ईश्वर ने देश में उस बड़े वर्ग को उत्पन्न किया है जो धर्म निरपेक्ष सम्राटों के विरुद्ध रहे हैं। अकबर ने प्रतिक्रिया की इस लहर को दबाए रखा किन्तु उसकी मृत्यु के बाद वह और भी प्रबल हो गयी। मुजद्दिद अल्फ ए सानी शेख अहमद सरहिन्दी जो पन्द्रह सौ हिजरी में पैदा हुये थे और चिश्तिया कादरिया और नक्शबन्दिया पंथों से प्रभावित थे, ने इस्लाम की रक्षा के लिए सम्राट को सुधारने का प्रयत्न किया और दरबार के अमीरों में शिक्षा दी। जहांगीर को भारत सम्राट की गद्दी पर बिठाने में इनका बड़ा हाथ था। बहुत सम्भव है कि भारत के सिंहासन के बदले में इस्लाम की रक्षा की प्रतिज्ञा जहांगीर ने शेख अहमद सरहिन्दी और उनके अनुयाइयों को बतौर मान्य की हो।[1]

सरहिन्दी ने सब इस बात पर जोर दिया कि शरियत तलवार की ही छत्र छाया में सुरक्षित है। अकबर की मृत्यु के बाद, उन्होंने इस्लाम खतरे में है का नारा लगाया और कट्टरवादिता को प्रोत्साहित किया जिसका प्रारम्भ जहांगीर से होता है। मकतूबात की लिखी अनेक पत्र में उन्होंने इस बात पर जोर दिया कि बादशाह के सम्मुख अन्य धर्मों को शिकस्त दी जाय। सरहिन्दी ने धर्मान्तरण (Proselytization) के कार्य के लिए जमात को तैयार किया। जहांगीर के कार्यों और नीति में हिन्दू विरोधी तत्व उत्पन्न जहांगीर पर सरहिन्दी के प्रभाव से है। ऐसा कहा जाता है कि पहले वह अपने को जहांगीर इस्लाम के लिए लाभ समझता था। यासीन के अनुसार, सरहिन्दी ने सामान्यतया लिखा और मुजद्दिदिया में और विशेषतया मुसलमानों और गैर मुसलमानों में धर्मान्तर धर्म का प्रचार किया जिसके कारण प्रतिक्रिया असहिष्णुता और साम्प्रदायिकता उत्पन्न हुई। शाहजहां पर बहुत अधिक प्रभाव था पर उसने मजहबी कट्टरता के समक्ष विनाश को अधिक मान्य किया। औरंगजेब शाह वलीउल्लाह, जिन्होंने इस्लाम के पुनर्स्थापन के लिए अहमदशाह अब्दाली को भारत बुलाया था। भारत में वहाबी आन्दोलन के प्रणेता सय्यद अहमद बरेलवी (1776 1831) इस्लाम और मुसलमान किया। इन अलग अलग आन्दोलनों ने मिलकर एक उन्नीसवीं शताब्दी ऐतिहासिक भूमिका का निर्माण किया। इसमें कोई अतिशयोक्ति न होगी यदि यह कहा जाय कि भारतीय संस्कृति में इस्लाम जहाज तरंगों में पानी हुए एक जहाज के समान रहा है। इस्लाम का आत्मविच्छेद (Schism) इस्लाम के प्रवेश का नतीजा भारतीय संस्कृति का आत्मविच्छेद (Schism) बन गया।

---

1 यासीन मोहम्मद वही

५

आर्थिक व्यवस्था

आर्थिक व्यवस्था में इस्लाम का सबसे अधिक भारतीयकरण हुआ, क्योंकि भारत में इस्लामी राज्य अथवा शासकों और समाज का वही आर्थिक आधार रहा जो परम्परा से चला आया था और मुख्यतः कृषि पर आधारित था। इस काल में, व्यापार के साथ साथ भारत का नगरीकरण भी बढ़ा। इस्लाम वस्तुतः एक नगरीय सभ्यता थी। भारत में इस्लाम का केंद्र शहरों में ही रहा विशेषतया उन शहरों में जो इस्लामी राज्यों और जागीरदारियों के गढ़ थे। मुसलमानों साथ कागज बनाने, बर्तनों पर कलई करने और जामदानी कलाबत्तू जरदोजी तथा किमखाब बनाने के उद्योग भारत में आये किन्तु भारत का आर्थिक आधार कृषि ही रहा। मुसलमान बादशाह केवल राजस्व पर ही जोर देते थे। जैसा कि पाणिक्कर ने लिखा है सम्भवतः मुस्लिम राज्य व्यवस्था इस सिद्धांत पर आधारित थी कि राज्य का खर्च अन्य राज्यों से लूटे हुए धन से चलाया जाय। तेलंगाना पर आक्रमण करने के लिए मलिक काफूर को विदाई देते हुए अलाउद्दीन खिलजी ने यह कहा था कि यदि वहाँ का राजा अपना खजाना, जवाहरात, हाथी और घोड़े समर्पित कर दे या कर देना स्वीकार करे तो उसे छोड़ देना।

भारत में मुसलमान सैनानी-साहसिकों के रूप में आये। उन्होंने अपने राज्य और साम्राज्य कायम किये और धर्म का प्रचार किया। धर्म और राजनीतिक सत्ता ही उनके प्रमुख ध्येय थे। किन्तु देश की आर्थिक संरचना में उन्होंने [illegible] दर्शाई। बादशाहों को अपनी नीति में सहिष्णुता का पुट देने के लिए बाध्य किया। जिन सेनाओं को लेकर मुसलमानों ने भारत में प्रवेश किया था वे किसी पर आधिपत्य जमा सकती थीं हिंदू राजाओं का नाश कर सकती थीं पर यदि बादशाह चाहता भी तो विस्तृत भारत भूमि पर खेती करना उनके लिए सम्भव न था और न इतनी संख्या में धर्म परिवर्तन हो ही सकता था कि सारे हिंदू जमींदार और कृषक मुसलमान हो जाय। सात सौ वर्षों तक मुस्लिम राज्य का भय रहने पर भी गाँवों की कृषक जनता मुख्यतः हिंदू ही रही। मुसलमान बादशाह भूमि का कुछ बड़े मुसलमान अमीरों को केवल जागीर में दे देते थे। अन्य जमींदार तथा कृषक हिंदू ही रहे। मुस्लिम राज्य-काल में भूमि व्यवस्था ऐसी ही बनी रही, जिसके फलस्वरूप ग्रामीण क्षेत्रों में हिंदुओं का सामाजिक जीवन वैसा ही रहा जैसा कि पहले था। व्यापार में भी हिंदुओं का ही अधिक भाग रहा। अपनी सनातनी और राजनीतिक-सामरिक मनोवृत्ति के कारण, न तो मुसलमान व्यापार में दिलचस्पी लेते थे और न उसे आदर की दृष्टि से ही देखते थे। हुंडी और खाता बही मुसलमानों के लिये एक रहस्य ही रहा। व्यापारी वर्ग को सम्राट तथा स्थानीय अधिकारियों को धन देना ही पड़ता था। सारे मुस्लिम काल में हिंदू-बनियों का व्यापार पर आधिपत्य रहा।

नौकरशाही के निम्न स्तरों पर हिन्दुओं को रखने के सिवा मुसलमानों के पास और कोई चारा ही नहीं था। मुसलमानों के भारत में आने के पहले ही भारत में सुनिश्चित नौकरशाही की परम्परा अस्तित्व में आ गयी थी। नौकरशाही के उच्च पदों को तो मुसलमानों ने हथिया लिया किन्तु निम्न पदों पर हिन्दुओं को रखना आवश्यक था, क्योंकि पटवारी, मुनीम और खजांची का काम यहाँ की परम्परागत सामाजिक-आर्थिक व्यवस्था के अनुसार हिन्दू ही कर सकते थे। मुसलमान अपने साथ सेना के अतिरिक्त केवल इस्लाम लाये थे। उनके पास न तो कोई व्यापारिक पद्धति थी न कोई आर्थिक तथा भूमि व्यवस्था। मुसलमानों के पास धर्म अपना था—पर सामाजिक आर्थिक व्यवस्था थी भारत की जिसके चलाने वाले थे हिन्दू। इसीकारण, जिले के स्तर पर प्रशासक हुआ करते थे मुसलमान किन्तु प्रशासन को चलाने वाले होते थे हिन्दू। इसी सुनिश्चित भारतीय नौकरशाही पर मुस्लिम सम्राट अपने साम्राज्यों को खड़ा कर सके और इसी के आधार पर प्रान्तीय राज्यपाल मौका पाते ही राज्यों की नींव डाल देते थे। *आगे चल कर इसी नौकरशाही के बल पर अंग्रेजों ने भारतीय* साम्राज्य खड़ा किया। हाँ, यह अवश्य है कि न्यायिक प्रशासन को मुसलमानों ने अपने आधिपत्य में रखा।

इस प्रकार भारत में इस्लाम के प्रवेश करने पर भी भारत की आर्थिक संरचना वही रही जिसका निर्माण हिन्दुओं ने किया था। यहाँ की भूमि व्यवस्था का वही रूप रहा जो पहले से चला आया था[1]। हाँ यह अवश्य था कि मुस्लिम सम्राट समय-समय लगान की दर में परिवर्तन कर दिया करते थे। भारत की इस परम्परागत आर्थिक संरचना और भूमि-व्यवस्था पर मुसलमानों ने जागीरदारी की सामन्ती व्यवस्था कायम की, क्योंकि स्वयं मुस्लिम सम्राट एक बड़ा सामन्त था जिसकी रक्षा के लिए अनेक सामन्तों की आवश्यकता थी। जागीरदार भूमि का मालिक न था बल्कि सम्राट की दया पर निर्भर भूमि कर वसूल करने वाला एक अधिकारी था। भूमि का वैयक्तिक तथा सामूहिक आधिपत्य वस्तुतः निश्चित था ग्रामीण समुदाय में जो सामन्तवादी व्यवस्था का गणतन्त्रीय धरातल था। मुस्लिम आक्रमणों के काल में लिखी गयी स्मृतिनिबन्धों से यह पता चलता है कि तत्कालीन भारत की सामाजिक-

1 भूमि व्यवस्था को निश्चित आधार पर लाने के लिए अकबर को भी टोडरमल की जरूरत पड़ी। किन्तु जब अकबर ने राजा टोडरमल को नियुक्त किया तो मुल्लाओं ने इसका विरोध किया और अकबर के पास एक प्रतिनिधि मण्डल भेजा। इस प्रतिनिधि मण्डल से अकबर ने पूछा, 'तुम्हारी भूमि और राजस्व का प्रबन्ध कौन करता है" ? उनका उत्तर था हिन्दू पदाधिकारी। इस पर अकबर ने कहा, 'तो मुझे भी अपनी भूमि के प्रबन्ध के लिए हिन्दू को नियुक्त करने की अनुमति दो —देखिए, रामगोपाल वही पृष्ठ]।

आर्थिक व्यवस्था में ग्राम एक गणतन्त्रीय इकाई था। इसी गणतन्त्रीय धरातल पर मुसलमानों ने मजदूर पर आधारित एक सामन्ती व्यवस्था खड़ी की। भू-स्वामी और कृषक थे हिन्दू भूमि व्यवस्था को चलाने वाले थे हिन्दू पर इन सभी को नियन्त्रण करने वाले थे मुस्लिम सामन्त। जिस व्यवस्था में मुसलमानों ने प्रवेश किया था वह भी सामन्ती व्यवस्था थी। हाँ यह अवश्य है कि इस्लाम के प्रवेश के साथ-साथ हिन्दू सम्राट का स्थान ले लिया मुस्लिम सम्राट ने और हिन्दू सामन्तों का मुस्लिम सामन्तों ने। अतः भारत की सामन्तवादी व्यवस्था में सामन्तवर्ग धर्म के नाम पर दो समूहों में बँट गया। मानव इतिहास में सम्भवतः और कहीं ऐसा नहीं हुआ और इसी कारण भारत के सामन्त वर्ग को एक ओर पूँजीवादी व्यवस्था में लड़ना पड़ा तो, दूसरी ओर स्वयं अपने में हिन्दू और मुसलमान में। मुस्लिम सामन्तों ने हिन्दू सामन्त वर्ग को हटाया था। इस कारण दोनों में पारस्परिक असन्तोष और संघर्ष की आग सुलग उठी और तब तक सुलगती रही जब तक कि अंग्रेजों द्वारा लायी हुयी साम्राज्यवादी पूँजीवादी व्यवस्था में मुसलमान सामन्तों को अंग्रेज प्रशासकों ने नहीं हटाया। इस परिस्थिति में उत्पन्न असुरक्षा की भावना के कारण, मुस्लिम सामन्तों में जो असन्तोष फैला वह पहले ही से सुलगती हुई आग के समय से साम्प्रदायिक ज्वाला के रूप में धधक उठा।

६

अरबी फारसी का भारतीयकरण

अरबी और फारसी यदि एक ओर, मुसलमानों के साहित्य वाले चार, विचार-विमर्श और ज्ञान विज्ञान की भाषाएं रहीं तो दूसरी ओर भारत में इस्लाम के प्रचार तथा प्रसार का मुख्य माध्यम भी बनीं। अरब से आये हुए मुसलमानों द्वारा अरबी का प्रचार हुआ तो ईरान और तुर्किस्तान से आये हुए मुसलमानों के द्वारा फारसी का। इस्लामी पुरोहित हुए और ईरान की संस्कृति में मिल गई, फारसी भाषा भारत में पहुँचने के पहले ही अपनी साहित्यिक मान्यताओं, प्रथाओं और ज्ञान विज्ञान की शब्दावली को जन्म दे चुकी थी। अतः, भारत में फारसी भाषा का प्रवेश हुआ एक सम्पन्न संस्कृति की भाषा के रूप में जिसको तत्कालीन इस्लामी संसार लोहा मानता था। फारसी यदि एक ओर, फारस की सम्पन्न इस्लामी संस्कृति की प्रतीक थी तो दूसरी ओर, वह इस्लामी आत्मविश्वास को भी अपने में समेटे हुए थी। भारत में अरबी का प्रवेश हुआ इस्लाम धर्म की भाषा के रूप में। नमाज और कुरान पढ़ने के लिए आज भी मुसलमानों को अरबी सीखना पड़ता है और आज भी धार्मिक कृत्यों और अनुष्ठानों के सम्पादन के लिए अरबी भाषा का प्रयोग होता है। अतः,

भारत और उसके बाहर अरबी प्रतीक रही है अरबीकृत इस्लाम की। धार्मिक कल्पाचार में, मुसलमानों के लिए अरबी का वही महत्व रहा है जो हिन्दुओं के लिए संस्कृत का है।

उत्तरी भारत में तुर्कों के प्रवेश के साथ साथ फारसी को राज्य कृपाप्राप्त हो गयी। मुगल काल में जब दरबार में ईरानियों का प्रभाव बढ़ गया तब यह कृपा और भी बलवती हो गयी। अतः, फारसी एक ओर राज्यभाषा रही तो दूसरी ओर, काव्य और साहित्य की भाषा। भारतीय संस्कृति और समाज में ज्यों ज्यों इस्लाम का प्रवेश होता गया त्यों त्यों फारसी को विद्वत्ता और पाण्डित्य की भाषा का स्तर मिलता गया[1]। सम्भवतः, यही कारण है कि अरबी की अपेक्षा हिन्दुओं ने फारसी अधिक सीखी और जिस अनुपात में हिन्दुओं ने फारसी और अरबी सीखी उस अनुपात में मुसलमानों ने संस्कृत नहीं सीखी। इसका परिणाम यह हुआ कि हिन्दू इस्लाम की मान्यताओं से जितना परिचित हुए उतना मुसलमान हिन्दुत्व की मान्यताओं से परिचित न हो सके। इसीकारण दर्शन और मान्यताओं के स्तर पर इस्लाम का जितना हिन्दूकरण हुआ उतना हिन्दुत्व का इस्लामीकरण नहीं हुआ। भाषा सम्बन्धी इस स्थिति का एक यह भी परिणाम हुआ कि अरबी का अधिकतर पठन पाठन और प्रचार इस्लाम की भाषा के रूप में और वह अधिकतर मौलवियों और मुल्लाओं तक सीमित रही। फारसी का प्रचार हुआ राज्य तथा साहित्य की भाषा के रूप में जिसे हिन्दुओं और मुसलमानों ने एकसा सीखा। अरबी फारसी के साथ साथ संस्कृत का भी पठन पाठन चालू था पर हिन्दुओं की धार्मिक भाषा तथा हिन्दू दर्शन और ज्ञान विज्ञान की भाषा के रूप में और इस रूप में संस्कृत केवल धर्माचार्यों और दार्शनिकों तक ही सीमित था। इस प्रकार इस्लाम के प्रवेश के साथ साथ अरबी फारसी और संस्कृत भाषाओं के रूप में भारत में तीन सांस्कृतिक धाराएं बह निकलीं जो यदा कदा मिलीं किन्तु अधिकतर समानान्तर ही चलती रहीं।

किन्तु फारसी और संस्कृत वास्तव में भारत के सामन्ती और अभिजात वर्ग की भाषाएं थीं क्योंकि जिस काल में इस्लाम का प्रवेश हो रहा था भारत में प्रादेशिक भाषाएं भी अंकुरित हो रही थीं। ये प्रादेशिक भाषाएं भारत के जनसाधारण की भाषाएं थीं और इनके स्रोत थे संस्कृत तथा प्राकृत भाषाओं में। मुसलमानों को, विशेषतः मुस्लिम बादशाहों और प्रशासकों को इन भाषाओं की जानकारी आवश्यक थी। इसीकारण मुसलमान बादशाहों ने प्रादेशिक भाषाओं को संरक्षण और प्रोत्साहन दिया। संस्कृत के ग्रन्थों का यदि एक ओर अरबी फारसी में अनुवाद कराया गया तो दूसरी ओर प्रादेशिक भाषाओं में। प्रादेशिक भाषाओं का साहित्य

1 पढ़े लिखे व्यक्तियों के बेकार रहने पर आज भी अवध में यह कहावत कही जाती है—पढ़े फारसी बेचे तेल। ई देखो कुदरत के खेल।

के स्तर पर लाने के लिए मुसलमान ही प्रेरित हुए और इसीकारण भारत की प्रादेशिक भाषाओं में इस्लाम और हिंदुत्व का जो समन्वय हुआ वह अरबी फारसी और संस्कृत के स्तर पर नहीं हुआ[1]। और ऐसा होना स्वाभाविक भी था क्योंकि हिंदुत्व और इस्लाम का जो समन्वय जनसाधारण के स्तर पर हो रहा था वह अभिजात वर्ग के स्तर पर नहीं था। अभिजात वर्ग के स्तर पर चल रहा था संघर्ष—वह संघर्ष जिसमें हिंदुत्व और इस्लाम की आड़ ली जा रही थी। कोई आश्चर्य नहीं, यदि प्रादेशिक भाषाओं में मानवतावादी विचारों की धाराएं एक साथ फूट निकलीं।

मुस्लिम शासन को स्थायी बनाने के लिए यह आवश्यक था कि मुसलमान भारत को अपना देश समझें और प्रशासनिक भाषा के उस स्तर पर मिलें जहां वे एक दूसरे को समझ सकें। इसमें कोई शक नहीं कि मुस्लिम बादशाह विदेश से मुसलमानों को आमंत्रित करते रहे, उनको उच्चपद प्रदान करते रहे और भारत के मुसलमानों में इस्लाम के प्रवर्तक के प्रति एक रागात्मक लगाव रहा। फिर भी, मुसलमान बादशाह इस बात का भी प्रयास करते रहे कि भारत के मुसलमान भारत को अपना देश समझें। सुल्तान मुहम्मद तुगलक इस बात के लिए प्रयत्नशील रहा कि मुसलमान भारत को अपना देश समझें। उसने दिल्ली मुसलमानों को काफी सम्मान प्रदान किया, उन्हें भारत में ही बसने के लिए प्रोत्साहित किया और इस बात पर जोर दिया कि विदेशी मुसलमानों को गरीब (अजनबी) न समझकर, अजीज (प्यारे [illegible]) समझा जाय[2]। इसी आवश्यकता के कारण जनसाधारण की भाषा को समझना उतना ही आवश्यक था जितना कि भारत को अपना वतन या देश समझना। इसका परिणाम यह हुआ कि मुसलमान जनसाधारण की भाषाओं की ओर झुके।

बंगाल में हुसैनशाह (1493-1519) की आज्ञा से मालाधार वसु ने भागवत-पुराण का बंगला में अनुवाद किया और हुसैनशाह के एक सेनानायक परागल खां की प्रेरणा से कवीन्द्र परमेश्वर और श्रीकर नन्दी ने महाभारत के कुछ पर्वों का बंगला में अनुवाद किया। खुसरो ने दिल्ली के आस पास और दोआब में बोली जाने [illegible] रसखान और रहीम खानखाना ने ब्रज को, मलिक मुहम्मद जायसी ने अवधी को और कबीर ने सधुक्कड़ी को [illegible] अपनी भावाभिव्यक्ति का माध्यम बनाया। यह अनुमान किया जा सकता है कि जिस प्रकार अंग्रेजी काल में अंग्रेज प्रशासक और अंग्रेजी जानने वाले लोग अंग्रेजी की शब्दावली और विचारों के साथ हिन्दी अथवा प्रान्तिक भाषाओं या बोलियों का प्रयोग करते रहे थे और आज भी दक्षिण भारत की भाषा में अंग्रेजी शब्द-

1 दिनकर वही
2 यासीन वही पृष्ठ ८५

लिखे लोग बसा करते हैं उसी प्रकार मुसलमान प्रशासक और अरबी फारसी भाषा भाषी लोग अरबी फारसी की संज्ञाओं और विशेषणों के साथ साथ स्थानीय भाषाओं के क्रियाओं का प्रयोग करते रहे होंगे। सम्भवतः, ऐसे ही प्रयोगों से प्रभावित होकर अलाउद्दीन खिल्जी ने दिन प्रति दिन प्रयोग में आने वाले खड़ी बोली के शब्दों के अरबी फारसी पर्यायों का संग्रह कराया था जिनका प्रयोग दिल्ली के शाही महल के बाहर लगने वाले 'उर्दू ए मुअल्ला' (शाही सैनिक बाजार) में होता था। इसी उर्दू ए मुअल्ला की भाषा को शाहजहाँ के समय में उर्दू की संज्ञा प्रदान की गयी और मुगल बादशाह जफर के राज्यकाल में इसे, फारसी के साथ राज्य भाषा मान लिया गया। इसकी लिपि अरबी थी संज्ञायें और विशेषण अरबी फारसी के और क्रियायें खड़ी बोली की।

इस प्रकार, भारतीय संस्कृति में इस्लाम के प्रवेश से भाषा सम्बन्धी दो विकास प्रक्रियायें उत्पन्न हुयीं। एक विकास प्रक्रिया में खड़ी बोली के आधार में ब्रज, अवधी और भोजपुरी के मिश्रण से हिन्दी का विकास हुआ जिसकी लिपि देवनागरी थी और जिसमें संस्कृत के तत्सम शब्दों की अधिकता थी क्योंकि जिन भाषाओं के मिश्रण से उसका जन्म हुआ था उनके उद्गम स्रोत संस्कृत में थे। दूसरी विकास प्रक्रिया में जन्म हुआ उर्दू का जिसमें अरबी फारसी के तत्सम शब्दों का अधिकता से प्रयोग होता था और जिसका झुकाव अरबी फारसीपन की ओर अधिक था। खड़ी बोली के आधार पर एक शैली ने हिन्दी का रूप लिया और दूसरी ने उर्दू का। हिन्दी की अरबी फारसीकृत शैली होने के कारण उर्दू वस्तुतः प्रतीक है अरबी फारसी के भारतीयकरण का यद्यपि इस भारतीयकरण पर अरबी फारसीपन का एक जबरदस्त आवरण चढ़ा रहा है। कुछ भी हो हिन्दी उर्दू के विकास का श्रीगणेश मुसलमानों के ही हाथों हुआ। उर्दू का जन्म उत्तर में उर्दू ए मुअल्ला की भाषा तथा जुबाने देहल्वी जिसमें खड़ी बोली, पंजाबी मारवाड़ी और फारसी के शब्द थे, के रूप में हुआ, किन्तु उसका पालन पोषण दक्षिण में हुआ। निकर का ऐसा मत है कि उत्तर से गये हुये मुसलमानों के साथ खड़ी बोली दक्षिण गयी और उसने वहाँ उर्दू का रूप लिया। उनकी यह मान्यता है कि उर्दू का जन्म उत्तर में न होकर दक्षिण में हुआ है। दक्षिण में उर्दू को प्रोत्साहन एक उस मुस्लिम भाषा के रूप में मिला जो उत्तर से गयी थी और जिसके माध्यम से उत्तर तथा दक्षिण के मुसलमान विचारों का आदान प्रदान कर सकते थे। दक्षिण में विदेशी मुसलमान उस संख्या में नहीं आते थे जिस संख्या में वे उत्तर में आते थे। दक्षिण में, उत्तर की अपेक्षा, कट्टरता कम थी। इस कारण दक्षिण में उर्दू में वह अरबी फारसीपन नहीं था जो उत्तर में था। दक्षिण की उर्दू में संस्कृत शब्दों की अपेक्षाकृत अधिकता थी। यह बात ही हुआ जब बंगाल में भाषा के माध्यम से मुसलमान संस्कृत भाषा के अधिक समीप रहे।

एक मत यह भी है कि उर्दू का जन्म खड़ी बोली में से संस्कृत और हिन्दी के शब्दों को निकाल कर हुआ है। प्रारम्भिक उर्दू में जब तक संस्कृत शब्दों का प्रयोग होता रहा, तब तक उसका नाम हिन्दवी हिन्दी या रेखता रहा। यह कहना कि उर्दू का जन्म खड़ी बोली में से संस्कृत शब्दों को निकाल कर हुआ या हिन्दी का जन्म उर्दू को देवनागरी लिपि में लिखकर और उसमें ठूँस ठूँस कर संस्कृत के तत्सम शब्दों के भरने से हुआ है भारत की ऐतिहासिक प्रक्रिया की सामाजिक पृष्ठभूमि की अवहेलना करना है। वास्तविकता यह है कि जहाँ, जैसा कि रसखान और रहीम खानखाना की कविता में मिलता है, भारतीय भावों का आख्यान करना कवियों का ध्येय रहा, वे और उनकी भाषा संस्कृत और हिन्दी के अधिक समीप रहे हैं और जहाँ ध्येय यह था कि भाषा भारत की हो और भाव अरब या फारस के, वहाँ, कवि चाहे वह हिन्दू हो या मुसलमान, भाव, भाषा, प्रतीक, लक्षणा और व्यंजना अरबी-फारसी के अधिक निकट रहे हैं। इस परिस्थिति के लिए उत्तरदायी हैं वे परिस्थितियाँ जिनमें उर्दू हिन्दी का जन्म हुआ।

उर्दू का जन्म देने वाली परिस्थितियाँ कुछ इस प्रकार थीं: भारत में विशेष तथा उत्तरी भारत में, विदेशी मुसलमानों का आना जारी था। ये मुसलमान अधिकतर फारस से आते थे और इस कारण अरबी लिपि तथा अरबी फारसी भाषाओं से वे अधिक परिचित थे। अरबी इस्लाम की भाषा थी, अतः उससे हटने का मतलब था इस्लाम से हटना। फारसी उस समूह की भाषा थी जो अपने को भारतीय नहीं मानता था और अन्य मुस्लिम समूहों की अपेक्षा अपने को अधिक सुसंस्कृत मानता था। अतः, उनका अपनी भाषा फारसी से अधिक लगाव था। दूसरी ओर, राजभाषा होने के कारण फारसी अधिक मान्य थी और सूफीवादी विचारों से ओतप्रोत होने के कारण इसका साहित्य विशेषतया काव्य साहित्य अपेक्षाकृत अधिक आकर्षक था। अतः अरबी-फारसी भारत में इस्लाम का प्रतीक बन गयी और अरबी तथा फारसीपन इस्लाम की आत्मा। उधर, तत्कालीन ऐतिहासिक परिस्थितियों में, अरबी फारसी विशेषतया फारसी के भारतीयकरण की आवश्यकता थी। जब भारत में उर्दू का जन्म हुआ अरबी फारसी के भारतीयकरण के प्रयास और भारत के मुसलमानों की एक भाषा के रूप में, किन्तु उर्दू मुसलमानों की उस प्रकार भाषा न रहा जिस प्रकार फारसी भारत में मुसलमानों की ही भाषा रही थी। उसे हिन्दुओं ने भी उतना सँवारा जितना कि मुसलमानों ने। फिर भी अपने भावों, भाषा, प्रतीकों तथा साहित्यिक रूढ़ियों के प्रयोग में उर्दू अरबी-फारसी, विशेषतया फारसी, के अनुगमन से बाहर न निकल पायी। इसी कारण यह कहा गया है कि उर्दू वस्तुतः भारतीयकृत फारसी या फारसीकृत हिन्दी है।

उर्दू हिन्दी की, एक शैली है जिसमें अरबी-फारसीपन का पुट रहा है और जो यहाँ की सामाजिक-ऐतिहासिक परिस्थितियों में दृढ़तर होता रहा है।५४

पहले ही कहा जा चुका है कि हिन्दी उर्दू का जन्म लगभग एक साथ हुआ और उनका प्रारम्भिक पालन पोषण मुसलमानों के ही हाथों हुआ। अरबी फारसी के भारतीयकरण की आवश्यकता के कारण ही उर्दू का जन्म हुआ। इसका सबसे बड़ा प्रमाण है प्रारम्भिक उर्दू में संस्कृत शब्दों का अपभ्रंशकृत अधिक होना। अकबर के बाद ज्यों ज्यों इस्लामी कट्टरता बढ़ती गयी उर्दू में अरबी फारसीपन बढ़ता गया। शाहजहाँ के ही राज्यकाल में अरबी लिपि में लिखी जाने वाली भाषा शैली को उर्दू का नाम प्रदान की गयी। औरंगजेब के राज्यकाल में, इस्लामी कट्टरता के प्रभाव में अरबी-फारसी भाषायें इस्लाम का प्रतीक बन गई और उर्दू पर उनका प्रभाव पड़ा। सम्भवतः इसी कट्टरता के विरुद्ध होने वाली प्रतिक्रिया के कारण, शिवाजी ने तत्कालीन प्रशासन में प्रयुक्त होने वाले फारसी के शब्दों के संस्कृत पर्यायों का संग्रह करवाया था[1]। एक समय वह था जब अलाउद्दीन खिलजी ने खड़ी बोली के दैनिक प्रयोग में आने वाले शब्दों के अरबी फारसी पर्यायों का संग्रह करवाया था और उसके लगभग पांच सौ वर्षों बाद शिवाजी ने दैनिक प्रशासन में प्रयोग होने वाले फारसी के शब्दों के संस्कृत पर्यायों का संग्रह करवाया था। अलाउद्दीन खिलजी और शिवाजी के काम परस्पर विरोधी से जान पड़ते हैं यद्यपि दोनों के प्रयासों का उद्गम है अरबी-फारसी का भारतीयकृत करने की प्रेरणा में। अलाउद्दीन खिलजी और शिवाजी के प्रयास इस बात का भी प्रतीक हैं कि अरबी फारसी और संस्कृत को प्रोत्साहन देने वाले थे अभिजात वर्ग के लोग जो एक ओर हिन्दू थे और दूसरी ओर मुसलमान। सारे मध्ययुग में हिन्दू और मुस्लिम अभिजात वर्गों में कभी नहीं बनी क्योंकि ये राजनैतिक सत्ता के लिए बराबर संघर्ष करते रहे। इनमें से एक का प्रेरणास्रोत था इस्लाम और उसका प्रतीक अरबी फारसीपन और दूसरे का हिन्दुत्व तथा संस्कृत। एक की प्रेरणाओं का उद्गम था अरब और ईरान में और दूसरे का भारत की भूमि से उत्पन्न हिन्दू संस्कृति में। ऐसी दशा में उर्दू को मुस्लिम तथा इस्लाम से सम्बन्धित किया गया और हिन्दी को हिन्दू तथा हिन्दुत्व से।

उर्दू की इस्लामी कट्टरता तथा फारसीपन में रंगने का श्रेय मुस्लिम अभिजात वर्ग का ही है। प्रारम्भ से ही मुस्लिम अभिजात वर्ग को अपने अस्तित्व के लिये लड़ना पड़ा है। भारतीय सामाजिक संगठन में मुस्लिम अभिजात वर्ग का विरोध करते हुये हिन्दू अभिजात वर्ग को भी अपने अस्तित्व और संरक्षण के लिये संघर्ष करना पड़ा है। मुस्लिम राज्य काल में यह संरक्षण राज्य से प्राप्त था और राज्य संरक्षण प्राप्त करने का मुख्य माध्यम था सनातनी साहित्यिकता। किन्तु भारत में अंग्रेजी राज्य की स्थापना के साथ-साथ भारत में अंग्रेज अभिजात तथा प्रशासक वर्ग का अभ्युदय

---

1 सरकार, विनयकुमार दि पाजिटिव बैकग्राउण्ड आफ हिन्दू सोशियालोजी
पृष्ठ ४०८-०

हुआ। मुस्लिम अभिजात तथा प्रशासक वर्ग के हाथ में राजनीतिक प्रशासन की जो सत्ता थी उसे अंग्रेज अभिजात तथा प्रशासक वर्ग ने हथिया लिया। शासन के विशेषीकृत कार्य और दफ्तरों का व्यापार हिन्दू अभिजात वर्ग के हाथ में रहा। अतएव, अंग्रेजों के राजनीतिक प्रभुत्व की स्थापना होने के साथ साथ, हिन्दू अभिजात वर्ग को आगे बढ़ने का मौका मिला, क्योंकि शासन के जिन पदों पर हिन्दू थे वे हिन्दुओं के ही पास रहे और जिन पदों पर मुसलमान थे वे अंग्रेजों के हाथ में चले गये। इसका परिणाम यह हुआ कि मुस्लिम अभिजात वर्ग को अपना अस्तित्व खतरे में दिखाई पड़ा और इस भय तथा नैराश्य से जो विच्छिन्नता उपजी वह मजहबी कट्टरता और भाषा के अरबी फारसीकरण पर टिक गई। सरकारी नौकरियों को पाने के लिए उठी हुई प्रतिद्वंद्विता, इस्लाम और हिन्दुत्व तथा हिन्दी और उर्दू के संघर्ष तथा वाद विवाद में प्रस्फुटित हो उठी। अंग्रेजी राज्य-काल का शान्तिमय काल आते आते हिन्दू सरकारी नौकरियों में आगे बढ़ गये, शिक्षा में वे मुसलमानों को पीछे छोड़ गये और व्यापार तो पहले ही उनके हाथ में था। इससे मुसलमानों में अंग्रेजों के प्रति बहिष्कार तथा हिन्दुओं के प्रति विद्वेष का भाव आया जो हिन्दू तथा हिन्दी विरोधी विचारों और आन्दोलन में बदल गया।

इस बात के अनेक प्रमाण मिलते हैं कि किस प्रकार अंग्रेजी शासन काल में मुस्लिम अभिजात वर्ग ने अपने लिए विशेषाधिकारों की मांग की, अपने को अलग रखने का प्रयत्न किया और इसमें सफलता न मिलने पर हिन्दू तथा हिन्दी विरोधी नारों को बुलन्द किया। अंग्रेजी राज्य की स्थापना के पहले, अरबी फारसी और संस्कृत स्कूल अलग-अलग थे, जिनमें उच्च तथा मध्य वर्ग के लोग ही शिक्षा पाते थे। हिन्दू संस्कृत तथा अरबी फारसी पढ़ते थे और मुसलमान अधिकतर अरबी फारसी। संस्कृत की शिक्षा हिन्दू पण्डितों द्वारा दी जाती थी और अरबी फारसी की शिक्षा मौलवियों या अरबी फारसी जानने वाले हिन्दुओं के द्वारा। जब अंग्रेजों ने जन-साधारण के लिए स्कूल खोले तो उनका अधिक विरोध उच्चवर्गी मुसलमानों ने ही किया। सन अठारह सौ बयासी में शिक्षा कमीशन के समक्ष गवाही देते हुए बंगाल के अब्दुल लतीफ ने इस बात पर जोर दिया कि बंगाल के उच्च तथा मध्य वर्गी मुसलमानों के लिए एक अलग शिक्षा पद्धति की आवश्यकता है क्योंकि इन वर्गों के मुसलमान बंगाल के बाहर से आए हुए अभिजात वर्ग के मुसलमान हैं। सन अठारह सौ एकयानवे में, सर सैयद अहमद ने इस बात पर जोर दिया कि सरकारी नौकरियों में जनसाधारण को, चाहे वे हिन्दू हों या मुसलमान न लिया जाय। सर सैयद ने कांग्रेस का विरोध किया और इस विचार का विरोध किया कि भारत एक राष्ट्र है। बंगाल के मोहम्मडन ऐसोसियेशन ने मुसलमानों के लिए सरकारी नौकरियों को आरक्षित करने की मांग की और प्रतियोगिता के आधार पर नौकरियां देने का विरोध किया। मुस्लिम अभिजात वर्ग की इसी मांग के संदर्भ में हिन्दू मुस्लिम तथा हिन्दी-उर्दू की

समस्याओं का जन्म हुआ और इस्लाम तथा उर्दू पर अरबी फारसी की कट्टरता का और भी गहरा रंग चढ़ गया।

जब अंग्रेजी राज्य की स्थापना हुई तो सारे उत्तरी भारत में उर्दू राज्य भाषा थी, जिसे अंग्रेजों ने बनाए रखा। सन अठारह सौ तिहत्तर में, बिहार में हिन्दी को भी राज्य भाषा मान लिया गया किन्तु उसका हिन्दू तथा मुसलमान दोनों ने विरोध किया। सन अठारह सौ अठत्तर में जब यू०पी० में उर्दू को अनिवार्य द्वितीय भाषा का रूप दिया गया तो हिन्दुओं ने इसका विरोध किया। उधर बंगाल में अंग्रेजी राज्य का प्रारम्भ होने के बाद से ही, बंगाल का मुस्लिम अभिजात वर्ग अपने लिए विशेषाधिकारों की माँग कर रहा था जिसके फलस्वरूप यह प्रश्न उठ खड़ा हुआ कि बंगला में संस्कृत के शब्दों का प्रयोग हो या फारसी के शब्दों का। सन अठारह सौ तिरासी में, जब यह राजाज्ञा निकली कि देवनागरी लिपि का ही प्रयोग किया जाय तो मुसलमानों ने उसका विरोध किया और इस प्रकार उन्नीसवीं शताब्दी के उत्तरार्द्ध से हिन्दी उर्दू की समस्या जोर पकड़ गयी। आर्य समाज के अभ्युदय के साथ साथ, हिन्दी उर्दू की समस्या पंजाब में भी उठ खड़ी हुयी। मुसलमान राजनैतिक विशेषाधिकार के इतने पीछे थे कि उन्होंने अपने को धर्म और भाषा के नाम पर एक अलग राष्ट्र समझा। ज्यों ज्यों हिन्दू मुस्लिम समस्या जोर पकड़ती गयी, उर्दू पर इस्लामी कट्टरता का प्रभाव बढ़ता गया और उर्दू को हिन्दी से अलग एक भाषा माना जाने लगा। इस संघर्ष में तो एक ओर भारतीय समाज धर्म के नाम पर लम्बवत विभाजित हो गया तो दूसरी ओर हिन्दी के ही एक रूप पर अरबी फारसी का जामा पहना गया[1]।

७

मुस्लिम कला और साहित्य का भारतीयकरण

मध्य युगीन भारत के कला और साहित्य में भी भाषा की भाँति, एक ओर, अरबी फारसीपन का प्रभाव रहा तो दूसरी ओर, अरबी फारसीपन के भारतीयकरण की प्रक्रिया भी चलती रही। मुगल राज्य की स्थापना के पहले के मुस्लिम काल में

1 स्वयं मुसलमानों में ही अरबी फारसीकरण तथा भारतीयकरण को लेकर एक नया आत्मविरोध उत्पन्न हो गया। कहाँ रहीम का यह कहना कि 'चित्रकूट में रमि रहे, रहिमन अवधनरेश, जा पर विपदा पड़त है सो आवत यहि देश' या हाफ़िज जालंधरी का यह कहना कि 'भारत माता है दुखियारी, दुखियारे हैं सब नर नारी तू ही उठा ले मुरली सुन्दर, तू ही बन जा श्याम मुरारी' और कहाँ सौदा का यह कहना कि 'गर हो कशिशे शाहे खुरासान तो सौदा सिजदा न करूं हिन्द की नापाक जमीं पर'।

हिन्दू-वास्तुकला पर इस्लामी प्रभाव के प्रमाण नहीं मिलते हैं। इस काल के हिन्दू-मन्दिर और इमारतें हिंदू शिल्पशास्त्र की परम्पराओं के ही अनुसार बनते रहे। सन बारह सौ पचासी में बने हुए कोणार्क के सूर्य मन्दिर और उदयपुर के चित्तौरगढ़ पर नाममात्र भी इस्लामी प्रभाव नहीं है। के० एम० पानिक्कर की मान्यता में, इस काल में भारतीय मुस्लिम तथा हिन्दू शैलियां अलग-अलग विकसित होती रहीं[1]। आगे चलकर, मुगलकाल में, भारत की वास्तुकला पर मुस्लिम ईरानी प्रभाव बढ़ा। किन्तु इसका यह तात्पर्य नहीं कि भारत में हिन्दू वास्तुविद्या का लोप हो गया। विनयकुमार सरकार के अनुसार अधिकतर शिल्पशास्त्रों की रचना सत्रहवीं और अठारहवीं शताब्दियों में हुयी है। मुसलमानों ने भारत में जिस वास्तुकला का निर्माण किया उसका मुख्य आधार भारतीय था किन्तु उसकी सजावट ईरानी थी।

चित्रकला में भी अधिकतर धारणाएं परम्परागत थीं यद्यपि उनके चित्रित करने के तरीके ईरानी थे। भारतीय और ईरानी चित्र कलाओं के समावेश से, अनेक सम्प्रदाय अस्तित्व में आए। संगीत में एक ओर शास्त्रीय संगीत की प्रणाली चलती रही और दूसरी ओर ईरानी तथा भारतीय संगीत के समावेश से कई राग रागनियों का उद्भव हुआ। इस्लाम में संगीत का निषेध है किन्तु सूफियों ने उसे साधना का एक माध्यम माना। संगीत का धार्मिक निषेध होने पर भी इस काल में, मुसलमानों ने संगीत साधना में कुशलता प्राप्त की और उसके कलात्मक कोष को अक्षुण्ण बनाए रखा। मुसलमानों ने भी शास्त्रीय संगीत की शास्त्रीयता और उसके भाव तथा भाषा को वैसे ही अपनाया जैसे वे उन्हें हिन्दुओं में मिले थे। दूसरी ओर, ईरानी और भारतीय संगीत के समन्वय से ख्याल, कौव्वाली और गजल इत्यादि राग और छन्द निकले। कौव्वाली और गजल में फारसी भावों को रागबद्ध करने की परम्परा बनी और शास्त्रीय संगीत में परम्परागत हिन्दू भावों की। एक ओर, रबाब सरोद, दिलरुबा और ताउस जैसे वाद्ययन्त्र मुसलमानों से आए तो दूसरी ओर, वीणा और मृदंग भी चलते रहे। मुसलमानों ने वीणा और मृदंग को भी वैसे ही अपनाया जैसे उन्हें हिन्दुओं ने अपनाया था। वीणा के आधार पर, मुसलमानों ने सितार का आविष्कार किया और मृदंग के आधार पर तबले का। एक ओर शास्त्रीय नृत्य और उसके प्रकारों की परम्परा चलती रही तो दूसरी ओर महफिलों में होने वाले नृत्य की परम्परा अस्तित्व में आई। कथाओं के क्षेत्र में एक ओर, शास्त्रीय परम्परा चल रही थी तो दूसरी ओर शास्त्रीयता पर आधारित भारतीय मुस्लिम परम्परा जिसमें कहीं हिन्दू प्रभाव अधिक था और कहीं अरबी अथवा ईरानीपन का। जैसा कि विनय कुमार सरकार ने वास्तुकला तथा हस्तकला के बारे में कहा है साधारणतया, सम्पूर्ण कलाओं के विषय में यह कहा जा सकता है कि अरबी और ईरानी प्रभावों का आत्मसात करती हुयी फूलती फलती हिन्दू विचारधारा, मान्यतायें और परम्परायें यत्र-तत्र चली आती हैं[2]।

---

1 पानिक्कर, के० एम० सर्वे आफ इण्डिया हिस्ट्री पृष्ठ 124

2 सरकार, विनयकुमार वही पृष्ठ 47-77

चौदहवां अध्याय

इस्लामी सघात से हिन्दू-सस्कृतिकरण

भारत मे इस्लाम और हिन्दुत्व का सम्पर्क दो प्रबल ऐतिहासिक सभ्यता सम्पन्न सास्कृतिक धाराओ का सम्पर्क है—वे धारायें जिनमे सात्मीकरण की क्षमता रही है। अपने ऐतिहासिक विकास मे, दोनो, अलग अलग सामन्ता सरचनाओ से सन्निहित होने के कारण, एक ओर, समानान्तर रही और, दूसरी ओर, परस्पर सपर्क मे आने पर भी, अपना-अपना सस्कृतिकरण करती रही। जैसा कि पिछले वर्णन और विश्लेषण से स्पष्ट है भारतीय इस्लाम मे हिन्दुत्व के सम्पर्क से सस्कृतिकरण की दो प्रक्रियाओ का साथ साथ जन्म हुआ—एक अरबीवादी तथा पुनरन्वयनवादी साम्प्रदायिक कट्टरता की ओर दूसरी इस्लाम के भारतीयकरण की जिस पर हिन्दुत्व (आगम निगम) की छाप है। इस्लाम मे भारतीयता का प्रस्फुटन धरातल मे हुआ है। इसी प्रकार हिन्दुत्व मे भी दो प्रक्रियायें चली हैं—एक, साम्प्रदायिक कट्टरता और पुनरन्वयन की और दूसरी इस्लामी प्रभावो को आत्मसात करते हुए हिन्दुत्व मे इस्लामी सस्करणो को जन्म देने की। हिन्दुत्व मे भी इस्लामी सस्करणो का प्रस्फुटन धरातल से हो हुआ है। हिन्दुत्व और इस्लाम के सम्पर्क मे भारत मे सस्कृतिकरण की जो प्रक्रिया उत्पन्न हुई उसकी चार धारायें हैं—एक, इस्लामी अरबवाद, पुनरन्वयन और कट्टरता की

दूसरी, इस्लाम के भारतीयकरण की, तीसरी हिन्दू पुनरुन्नयन और कट्टरता की, और, चौथी, हिन्दुत्व में उत्पन्न होने वाले इस्लामी सांस्कृतिक सम्वरणों की।

दूसरी और चौथी प्रक्रियाओं के स्तर पर, हिन्दुत्व और इस्लाम का समन्वय हुआ है, जिसका एक रूप है इस्लाम में हिन्दुत्व के समन्वय का, और दूसरा, हिन्दुत्व में इस्लाम के समन्वय का। अतः, इस समन्वय से कोई एक भारतीय सांस्कृतिक-संस्करण न निकल सका क्योंकि हिन्दुत्व और इस्लाम साथ ही साथ कट्टर पुनरुन्नयनवादी भी रहे हैं। राजनैतिक प्रभुता से सम्पन्न इस्लाम से त्राण पाने के लिए, हिन्दुत्व ने उद्-विकासी पुनरुन्नयन का आश्रय लिया जिससे हिन्दुत्व के ऐतिहासिक उद्विकास की शृंखला में नवरीय दर्शन, भक्ति आन्दोलन और पंथ-परम्परा के रूप में अनेक कड़ियाँ जुड़ती चली गईं। इस्लाम की उत्प्रेरणा से मध्ययुगीन भारत में हिन्दुत्व का पुनरुन्नयनवादी विकास हुआ। ताराचन्द जैसे इतिहासकार इस पुनरुन्नयन को हिन्दुत्व में इस्लाम की प्रतिकृति मानते हैं और विनयकुमार सरकार जैसे विद्वान हिन्दुत्व का सतत उद्विकास। किन्तु ये दोनों दृष्टिकोण एकांगी हैं। उत्प्रेरक की प्रतिकृति नहीं हो सकती विशेषतया वहाँ जहाँ पराजित संस्कृति अपने में अन्तर्निहित स्रोतों के पुनरुन्नयन का आश्रय लेती है। पुनरुन्नयनवादी उद्विकास बिना पराजित अवस्था और उत्प्रेरणा के नहीं हो सकता। यह भी नहीं कहा जा सकता कि मध्ययुगीन हिन्दुत्व का सारा विकास पुनरुन्नयनवादी ही है क्योंकि ऐसी मान्यता का अर्थ होगा कि इस काल का हिन्दुत्व एक आवृत संस्कृति रहा है। सारी समस्या तब हल होती हुई जान पड़ती है जब सांस्कृतिक सम्पर्क की परिस्थिति में सृजनात्मकता पुनरुन्नयन और उद्विकास पर एक साथ ध्यान दिया जाय। सारा प्रश्न इस्लाम बनाम हिन्दुत्व का नहीं है। प्रश्न है हिन्दुत्व और इस्लाम के सम्पर्क से उत्पन्न परिस्थिति में, हिन्दुत्व में आविर्भूत संस्कृतिकरण की प्रक्रिया के योगदानों के विश्लेषण का।

२

हिन्दू-संस्कृति में कुछ इस्लामी योगदान

वेशभूषा में अचकन और पाजामा, अंगरखा में इत्र और सुरमा, हिन्दू स्त्रियों में मध्य एशिया के पुलाव और बिरियानी और मसालेदार व्यंजनों का बनाने की कला का हिन्दू-संस्कृति में समावेश हुआ। मुस्लिम बादशाहों की वेशभूषा पर आधारित वेशभूषा को हिन्दुओं में आनुष्ठानिक समादर मिला। अवध में वर की पोशाक (कामदार जूते के साथ जामा और मौर) मुगल बादशाहों की पोशाक की नकल सी लगती है। तत्कालीन मनोरंजन के साधनों में शतरंज, चौगान और पचीसी मुगलों के योगदान हैं। हिन्दुओं का चौपड़ का खेल मुसलमानों में पच्चीसी हो गया।

अक्षांश तथा देशान्तर की धारणायें, कागज़ बनाने की ताज़ा पद्धति ताजक और रमलशास्त्र भारतीय ज्योतिष में मुसलमानों के योगदान हैं। अरबी-पद्धति के आधार पर, महाराजा जयसिंह ने हिन्दू पंचांग का सुधार करके दिल्ली तथा जयपुर की वेधशालाओं का निर्माण कराया।

हिन्दुओं में परदे की प्रथा का श्रीगणेश पठानों के प्रभाव के कारण हुआ। इस विषय में दो सम्भावनायें हैं। या तो हिन्दुओं ने परदा प्रथा को मुसलमानों से यथावत लिया है या मुसलमानों से हिन्दू नारियों की रक्षा करने के लिए परदा प्रथा को अपनाया। यासीन के अनुसार तत्कालीन मुसलमानों में नारी अपहरण एक उच्च प्रकार का जिहाद माना जाता था और इस अपराध में दण्डित व्यक्ति को प्रेम का शहीद समझा जाता था[1]। हो सकता है कि इस जिहाद से त्राण पाने के लिए ही हिन्दुओं में परदा प्रथा का श्रीगणेश हुआ हो। इस संदर्भ में एक विचारणीय तथ्य यह है कि परदा प्रथा उच्चवर्णी हिन्दुओं में ही पायी जाती है और वह भी उत्तर में। परदा प्रथा, इस कारण हिन्दुओं में सामाजिक प्रतिष्ठा की प्रतीक मानी जाती है। जो जातियां उच्च सामाजिक स्तर पाने का प्रयास करती हैं वे ब्राह्मणों के कर्मकाण्ड के साथ, परदा प्रथा को भी अपनाती है। अतः, हो सकता है कि उच्चवर्णी हिन्दुओं ने, सामाजिक प्रतिष्ठा के प्रतीक के रूप में परदा प्रथा को अपनाया हो।

३

साहित्य में इस्लामी उत्प्रेरणा

मध्ययुगीन भारत के साहित्य में अनेक विशेषतायें एक साथ उभड़ पड़ी जिन्हें साधारणतया इस्लाम की उत्प्रेरणा का परिणाम माना जाता है यद्यपि इन विशेषताओं में शायद ही कोई ऐसी विशेषता हो जो पहले से विद्यमान न हो या जिसे इस्लाम से हिन्दुओं ने ग्रहण करके न अपनाया गया हो। इस्लामी उत्प्रेरणा के प्रभाव में भारतीय साहित्य की अनेक सुप्त या गौण विशेषताएं पुनः जाग्रत हुयी या प्राधान्य पा गयीं। सूफी विचारधारा की उत्प्रेरणा से विरहानुभूति की अभिव्यक्ति तीव्रतर हो गयी और इहलौकिकता को प्रधानता मिली। यह सूफीवाद का ही प्रभाव है कि हिन्दी साहित्य की एक परम्परा में जिसके प्रणेता सन्त महात्मा हैं, मृत्यु को काम्य और विकास की सीढ़ी माना जाने लगा। सूफीयों की इश्क मजाज़ी की धारणा ने पार्थिव प्रेम की अभिव्यक्तियों को प्रोत्साहन दिया तो इश्क हकीकी की धारणा ने सगुण के प्रति रहस्यवादी अनुभूति की अभिव्यक्ति को। पार्थिव तथा रहस्यवादी

---

1 यासीन मोहम्मद वही पृष्ठ 132

प्रेम, जिसका मूल स्थान योग है, की अभिव्यक्ति की इन्हीं परम्पराओं ने, आगे चलकर, अंग्रेजी काल में पलायनवादी मनोवृत्ति के प्रभाव में छायावादी और रहस्यवादी अभिव्यक्ति की परम्पराओं को जन्म दिया। किन्तु जैसा कि कबीर की अभिव्यक्तियों से स्पष्ट है, सूफीवादी अभिव्यक्तियों को दाम्पत्य, योग और अन्य भारतीय अभिव्यक्तियों में स्पष्ट कर प्रस्तुत किया गया। कबीर ने ईश्वर को पति और अपने को बहुरिया माना है क्योंकि भारतीय परम्परा में, प्रेम की प्रतीकात्मक अभिव्यक्ति नारी को माना गया है[1]। कबीर ने सूफियों की 'फना' की अनुभूति की व्याख्या को अनुभूति में व्यक्त किया है क्योंकि उनके लिए फना की स्थिति वह स्थिति है जहाँ न व्यक्ति है, न ईश्वर, न आत्मा और न परमात्मा—यहाँ केवल ज्ञान के अंगारों के समान ज्ञान पुंज की शून्यता है[2] जिसमें केवल 'सोऽहम्' रह जाता है वैसे ही जैसे तपन में स्थान का विकार नष्ट हो जाता है और केवल तारा सत्ता ही शेष जाती है। यह हठयोग का सूफीवाद पर अमिट आवरण है जिसके प्रभाव में सूफीवाद, सूफीवाद न रहकर हठयोग और वेदान्त हो गया है।

मध्ययुगीन भारतीय साहित्य, विशेषतया हिन्दी और बंगला साहित्य, में शृंगार की जो तल्लीनता बढ़ी उसे किसी भी दशा में इस्लामी प्रभाव का एकमात्र परिणाम नहीं माना जा सकता है। भारत के साहित्य में इस्लाम के प्रभावों के प्रवेश के पहले शृंगारिक अभिव्यक्तियों की परम्परायें थीं जो कालिदास, जयदेव और पण्डितराज जगन्नाथ की रचनाओं में विद्यमान हैं। शृंगारिक अभिव्यक्ति की ये परम्परायें इहलौकिक भी हैं और पारलौकिक भी। वास्तव में, इनकी इहलौकिकता पर पारलौकिकता का आवरण चढ़ा हुआ है। कुछ लोगों की यह भी मान्यता है कि शृंगारिक अभिव्यक्ति की ये परम्परायें संस्कृत-साहित्य में पण्डितराज जगन्नाथ की रचनाओं के माध्यम से, हिन्दी के रीतिकालीन साहित्य में आ गयीं। इस कथन की पुष्टि इस तथ्य से होती है कि हिन्दी के रीतिकालीन साहित्य में शृंगारिक अभिव्यक्ति की जिन रूढ़ियों का प्रयोग किया गया है वे किसी भी दशा में न तो अरबी कही जा सकती हैं और न ईरानी। वे विशुद्ध भारतीय हैं और उनमें काव्य शास्त्र

---

1 यह परम्परा वर्तमान काल तक चलती रही है। पंत ने अपनी कविताओं में अपने को स्त्री मानकर ही उस विराट की प्रकृति में अनुभूति की है (देखिए पल्लव में मौन निमंत्रण)। अपनी रहस्यवादी अनुभूतियों की अभिव्यक्ति में प्रसाद ने भी इसी परम्परा को अपनाया है जैसे "शशि मुख पर घूँघट डाले अंचल में दीप छिपाए, जीवन की गोधूली में कौतूहल से तुम आए," (आँसू)।

2 आगि लगी आकाश में झरि झरि परत अंगार।
कबिरा जरि कंचन भया काँच भया संसार।

म निर्धारित स्त्रियों के साथ साथ लोक रूढ़ियों का प्रयोग हुआ है[1]। इस काल म हिन्दी और बगला म प्रस्फुटित होने वाली शृंगारिक अतिशयता के तीन स्रोत हैं— भागवत पुराण सिद्धों का वामाचार तथा वज्रवाद और सूफीवाद। हिन्दी और बगला साहित्य म अतिशय शृंगारिकता लाने म इस्लाम का वहा तक प्रभाव है जहा तक सूफीवाद के माध्यम स उसने एक उत्प्रेरणा का काय किया और जिसके फलस्वरूप तत्कालीन भारतीय साहित्य म शृंगारिक अभिव्यक्ति की परम्परा सम्पन्न निखर आयी। इहलौकिक और प्रवृत्तिवादी होने के कारण इस्लाम ने मुसलमानो म इहलौकिक और प्रवृत्तिवादी मनोवृत्ति का प्रोत्साहित किया जिसके फलस्वरूप पारलौकिकता म परिवेष्टित भारत की पारलौकिक शृंगारिक अभिव्यक्ति की परम्पराओं को मुसलमानो ने इहलौकिकता की ओर मोड़ दिया और उसे स्वच्छन्दता (इहलौकिक प्रेम) के अतिशय पुट म भर दिया। हिन्दी भाषा की उन्नति हिन्दी-साहित्य की प्रारम्भिक शृंगारिक अभिव्यक्ति का लालन पालन मुसलमानो के हाथ द्वारा हुआ। नायिका भेद पर प्रथम पुस्तक रहीम ने लिखा और सबसे अधिक नायिका भेद सबद गुलामनबी रसलीन ने ही बताए हैं।

यह इस्लाम के उत्प्रेरक प्रभाव का ही परिणाम है कि हिन्दी साहित्य म एक साथ अनेक भाव धारायें फूट निकली। एक धारा है इहलौकिक आनन्द के अभिव्यक्ति की जिसके प्रतिनिधि सुसरो और रसलीन हैं- दूसरी धारा है रहीम आलम

---

1 उदाहरण के लिए देखिए बिहारी के य दोहे —

आजु मिले सो भली करी भले बन हो लाल।
पलन पीक अजन अधर धरे महाउर भाल।।
और
नहिं पराग नहिं मधुर रस नहिं विकास यहि काल।
अली कली ही सो बध्यो आगे कौन हवाल।

पहले दोहे में लाल सम्बोधन है श्री कृष्ण के लिए और उनके पलको पर पीक अधरों पर अजन और भाल पर महाउर होने की अभिव्यक्ति भारतीय शृंगारिक साहित्य की रूढि है। उसी प्रकार दूसरे दोहे में अली और कली का सम्बन्ध भी भारतीय साहित्य की रूढि है। भारतीय साहित्य में पुष्प और भौरे के प्रेम को एक आलम्बन रूढि के रूप में प्रयोग किया गया है। ईरानी साहित्य में यही अभिव्यक्ति बुलबुल और गुलाब के आलम्बन से व्यक्त की गयी है जिसका हिन्दी की अपेक्षा उर्दू में अधिक प्रयोग किया गया है—दिनकर

2 गोरी सोवे सेज पर, मुख पर डारे केस।
चल खुसरो घर अपनो, रैन भई सब देस। खुसरो
अमी हलाहल मद भरे श्वेत श्याम रतनार।
जियत मरत झुकि झुकि परत जिहि चितवत इकबार। रसलीन

और रसखान के विरहानुभूति की[1], तीसरी है मानवतावादी निर्गुनिया संतों की धारा जिसके प्रतिनिधि हैं कबीर, दादू और नानक और चौथी है प्रमाख्यान पर प्रबन्ध काव्य लिखने वाले जायसी जैसे कवियों की। इन कवियों में अरबी फारसी के भावों की अभिव्यक्ति नहीं हुयी है। इनका कवित्व और कवित्व अरबी फारसी के भावों में नहीं है। इनके द्वारा प्रयोग में लाये जाने वाले छन्द, आलम्बन, उद्दीपन और विषय वस्तु की अभिव्यंजना के स्थान भारतीय परम्पराओं में हैं। जायसी सूफी कवि हैं पर उनका प्रमाख्यान भारतीय है और उन्होंने चौपाई और दोहे का उसी प्रकार प्रयोग किया है जिस प्रकार तुलसीदास ने किया है। मत प्रचार के लिये प्रमाख्यानक लिखने की परिपाटी जायसी से पहले जैन कवियों में मिलता है। रसखान का श्रीकृष्ण प्रेम प्रसिद्ध है और श्रीकृष्ण को उन्होंने विरह और शृंगार की अभिव्यक्ति का आलम्बन बनाया है। रहीम ने हिन्दुओं की पौराणिक कथाओं के माध्यम से अपने विचारों की अभिव्यक्ति की है[2]। निर्गुनिया संतों पर, सूफीवाद के साथ साथ, भारतीय परम्पराओं की जबरदस्त छाप है। इस दिशा में विशेष विचारणीय तथ्य यह है कि ये सभी कवि प्रेम और विरह की अनुभूति से सराबोर हैं जो सूफीवाद के उत्प्रेरक प्रभाव का परिणाम है। सम्भवतः यह इसी प्रभाव का परिणाम है कि मध्ययुगीन भारत के साहित्य में [...]विशेषतया हिन्दी में एक गहन अभिलाषा के रूप में, अतृप्त प्रेमानुभूति से उत्पन्न विरहानुभूति को प्रधान माना गया। अतृप्त प्रेमानुभूति से उत्पन्न विरहानुभूति और उससे उत्पन्न एक गहन अभिलाषा की कवित्वमय अभिव्यक्ति ही रागात्मिक काव्य परम्परा है जिसका हिन्दी में श्रीगणेश सूफीवाद के प्रभावों से हुआ और जो, आगे चलकर, वर्तमान काल में, छायावादी रहस्यवादी और प्रयोगवादी अभिव्यक्तियों में प्रस्फुटित हुआ।

हिन्दी तथा बंगला में जहाँ, एक ओर शृंगारिकता बनी रही, दूसरी ओर, उनमें तथा भारत की अन्य वर्तमान भाषाओं में मानवतावादी अभिव्यक्तियों की बाढ़ सी आ गयी। इन मानवतावादी अभिव्यक्तियों ने जाति-पाँति का खंडन किया गया, हिन्दुत्व और इस्लाम की कट्टरवादिता की भर्त्सना की गयी, एकेश्वरवाद की

1 मनसिज माली की उपज कहि रहीम नहिं जाय।
फल स्यामा के उर लगे, फूल स्याम उर आय ॥ रहीम
जा थल कीन्हे बिहार अनेकन ता थल काँकरी बैठि चुन्यो कर।
जा रसना सों करी बहु बातन ता रसना सों चरित्र गुन्यो कर।
आलम जौन सो कुंजन में करि केलि तहाँ अब सीस धुन्यो करें।
नैनन में जे सदा बसते तिनकी अब कान कहानी सुन्यो कर। आलम
2 कमला थिर न रहीम कहि, यह जानत सब कोय।
पुरुष पुरातन की बधू क्यों न चंचला होय ॥

विचारधारा का पुनसस्थापन किया गया और भक्ति माग से ईश्वर तक पहुचने पर जोर दिया गया। इन मानवतावादी अभिव्यक्तियो म उसी आ शास्त्र की लहरें उद्वेलित हो उठी, जिनका श्रीगणेश वदिककाल म ही हो गया था किन्तु जिसे महात्मा बुद्ध ने प्रखरता प्रदान की थी। इन मानवतावादी अभिव्यक्तियो के प्रणेता थे सन्त कवि जिनका जन्म जाति सरचना के निम्नतम स्तरो म हुआ था। तमिल म वामन, मराठी म ज्ञानेश्वर, नामदेव और तुकाराम बगाल म चतन्य पजाब म नानक और हिन्दी म कबीर, दादू और रदास इत्यादि सन्त कवि इन अभिव्यक्तियो के प्रणेता हैं। इन्होने मानव मात्र की समता पर जोर दिया। ईश्वर की दया को आगार माना और इस बात पर जोर दिया कि ईश्वर तक सभी पहुच सकते है। उपनिषदो म प्रतिपादित ज्ञान-माग के स्थान पर उन्होने भक्ति माग पर जोर दिया है। मानवतावादी अभिव्यक्तियो के प्रणेता सन्त कवियो ने जाति तथा वर्ण व्यवस्था के विरुद्ध क्रान्तिकारी विचारो पर जोर दिया और हिन्दू समाज को वह रूप देने की माग की जो इस्लाम म मिलता का है। इस काल के निगुनिया सन्त-कवियो द्वारा प्र यो का सग्रह इस तथ्य का प्रमाण है।

ये मानवतावादी कवि वस्तुत उस सामाजिक क्रान्ति के प्रणेता थे जिसके तत्व हिन्दुत्व म विद्यमान थे किन्तु उन तत्वो को एक साथ उभारने वाली उत्प्रेरणायें इस्लाम म थीं। जसा कि पहले कहा जा चुका है इस्लाम के सम्पर्क ने हिन्दुत्व म दो प्रकार की प्रतिक्रियाओ को जन्म दिया—एक, समन्वय का और दूसरी समन्वय के साथ साथ पुन सगठन, पुन सस्थापन और सुधार का। इस्लाम एक ऐतिहासिक प्रवाह था, किन्तु हिन्दुत्व एक समन्वयवादी और बार बार पुन सगठित और सस्थापित होने वाली ऐतिहासिक सामाजिक-सांस्कृतिक प्रक्रिया। इस्लाम का प्रगतिवादी प्रवाह निहित था उसकी समता की भावना, निराकारी एकेश्वरवादिता और सरलता म। इस्लाम का मानववादिता ही उसकी शक्ति थी। यह भी कहा जा चुका है कि इस्लाम का सबसे अधिक प्रसार हो रहा था हिन्दू समाज के निम्नस्तरो म। सम्भवत यही कारण है कि हिन्दू समाज के निम्न स्तरो से ही समता, निराकारी एकेश्वरवादिता, भक्ति माग और मानववादिता की माग आयी। इसी स्तर पर यह विचार पनपा कि न कोई उच्च है न निम्न, न कोई ब्राह्मण है न शूद्र, न कोइ हिन्दू ह न मुसलमान (यदि हैं भी तो व एक ह) और अल्ला तथा राम एक हैं—व निराकार म समाय हुये है। प्रेम ही ज्ञान का माग है।

४

भक्ति आन्दोलन : सामाजिक सांस्कृतिक आधार

भक्ति तथा प्रपत्ति की धारणा हिन्दुत्व में पहले से विद्यमान थी। गीताकार ने कर्म, ज्ञान और भक्ति का समाहार समत्व, निष्कामता और अकिंचन भिक्षवृत्ति में करके, जिस जीवन दर्शन का प्रतिपादन किया है उसमें भक्ति को प्रपत्ति के सहज मार्ग के रूप में प्रस्तुत किया गया है। किन्तु इस्लाम की उत्प्रेरणा से भक्ति मार्ग का प्रस्फुटन एक सामाजिक आन्दोलन के रूप में हुआ जिसका एक रूप क्रान्तिकारी और सुधारवादी है और दूसरा कट्टर पुनरुन्नयनवादी तथा परम्परावादी। पहले के प्रणेता थे निर्गुनिया सन्त जिन्होंने पंथों के रूप में मजहबी संगठन के सिद्धान्त का हिन्दूकरण किया और दूसरे के सगुण भक्ति के प्रणेता जिन्होंने आगम निगम परम्पराओं को यथावत् पुनः संस्थापित करने पर जोर दिया। किन्तु भक्ति आन्दोलन के इन दोनों रूपों का आधार हिन्दू परम्परा है। क्रान्तिकारी सुधारों की मांगों को देश काल के अनुसार कार्यान्वित करने तथा वैदिक परम्पराओं का समयानुसार निर्वचन करके और आगम को उसमें आत्मसात् करके, वैदिक परम्पराओं के पुनः संस्थापन की परम्परायें हिन्दुत्व में पहले ही आ चुकी थीं। बुद्धवाद यदि एक ओर सुधारवादी आन्दोलन है तो, दूसरी ओर, वैदिक परम्पराओं के व्यापक और सुव्यवस्थित नव निर्वचन का प्रयास भी। हिन्दुत्व में लौकिक अलौकिक का विभेद नहीं है। हिन्दू परम्परायें शाश्वत हैं और शास्त्र अनिर्वचनीय नहीं हैं। वर्ण और जाति समानान्तर हैं परस्पर विरोधी भी हैं और एक दूसरे के पूरक भी क्योंकि जहाँ वर्ण कर्म पर आधारित है और जाति जन्म पर, वहाँ वर्ण जाति की कठोरता का समुन्नयन भी है। स्मृति परम्परा के पीछे समयानुसार हिन्दू परम्पराओं के सुधार और पुनःसंस्थापन की ही परम्परा है। हिन्दुत्व एक साथ कट्टरवादी भी है और सुधारवादी भी[1]। इस्लाम की उत्प्रेरणा से हिन्दुत्व में भक्ति आन्दोलन का जो प्रस्फुटन हुआ, वह कट्टरवादिता, पुनरुन्नयन तथा पुनःसंस्थापन की ओर भी उन्मुख है और समाज-सुधार आन्दोलन की ओर भी।

सम्भवतः इसी कारण भक्ति आन्दोलन के माध्यम से यदि एक ओर क्रान्तिकारी सामाजिक विचारों की अभिव्यक्ति का प्रस्फुटन हुआ तो दूसरी ओर, हिन्दू सामाजिक परम्पराओं का पुनर्निर्वचन करके और उन्हें समयानुकूल शास्त्रगत प्रामाणिकता प्रदान करके उनके पुनःसंस्थापन का प्रयास हुआ। क्रान्तिकारी सामाजिक सुधारों की मांग के पीछे बौद्धों और सिद्धनाथों की परम्परा थी, तो हिन्दू समाज के पुनःसंस्थापन के पीछे 'सम्भवामि युगे युगे' और स्मृतियों तथा पुराणों की परम्परा।

---

1 विशेष अध्ययन के लिए देखिये प्रोफेसर वी० सतकर द्वारा रचित एन एसे आन हिन्दुइज्म।

देवल स्मृति (ग्यारहवीं सदी) में यह विधान किया गया कि जातिच्युत व्यक्ति पुनः जाति में आ सकता है। वास्तव में इस परम्परा को इस्लाम का प्रत्यक्ष प्रभाव नहीं कहा जा सकता है। हिन्दू-समाज में जाति जन्म से मानी गयी है और जातिच्युत व्यक्ति के लिए शुद्धि का भी विधान रहा है और आज भी है। हाँ, यह अवश्य कहा जा सकता है कि इस्लाम से मिलने वाली उत्प्रेरणा के कारण, इस विधान को सभी स्तरों के लिए पुनर्जीवित कर लिया गया। किन्तु इस काल में इसमें भी महत्वपूर्ण विकास हुआ सगुण भक्तिधारा का जिसमें राम तथा कृष्ण के आख्यानकों का इस प्रकार चित्रण और वर्णन किया गया कि उनके माध्यम से मान्यतानुसार प्राचीन हिन्दू परम्पराओं और आदर्शों की शास्त्रगत प्रामाणिकता देकर उन्हें पुनः संस्थापित किया जा सके और तत्कालीन हिन्दुत्व का एकीकृत करके उसकी रक्षा की जा सके। राधा, गोपी और कृष्ण के माध्यम से तत्कालीन जनता की आकुलता विरहानुभूति की अभिव्यक्तियों में परिणत हो गयी। राधा, गोपी और कृष्ण तत्कालीन जननैराश्य से उत्पन्न एक प्रकार के सामूहिक उन्नयीकरण के प्रतीक हो गये। यहीं से राधा की महिमा बढ़ी—प्रेम की एक अतृप्त चिर अभिलाषा के प्रतीक के रूप में। यही कारण है कि कृष्ण काव्य में तन्मय कर देने वाले गीतों की प्रधानता बढ़ी क्योंकि उनका उद्देश्य मत प्रचार न होकर, सामाजिक आकुलताओं का अलौकिक प्रेम के माध्यम से पारलौकिकता की ओर ले जाना है। अतः सामाजिक सांस्कृतिक सन्दर्भ में राधा और गोपियों का विरहानुभूतिमय कृष्ण काव्य केवल 'इश्क मजाजी से इश्क हकीकी की ओर वाली' धारणा की प्रतिकृति नहीं है—यह तत्कालीन हिन्दू समाज के मानसिक जगत में उत्पन्न प्रपत्ति की भावना का एक रहस्य रूप है जिसमें सामूहिक स्थिरता उत्पन्न होती है[1]। निराकार ज्ञानानुभूति की वस्तु है किन्तु साकार जनोल्लास से उत्पन्न हृदयानुभूति की वस्तु है। जन नायक बनने की क्षमता साकार में है न कि निराकार में। इस काल की साकारी युग प्रवृत्ति एक मार्गनायक

1 सामाजिक असुरक्षा और व्याकुलता की स्थिति में ऐसी अभिव्यक्तियों को प्रोत्साहन मिलता रहा है। अंग्रेजी साहित्य में रोमांटिक अभिव्यक्तियों को तभी प्रोत्साहन मिला जब औद्योगिक क्रांति और तज्जनित आर्थिक प्रतियोगिता और व्यक्तिवादी प्रवाहों के कारण सामाजिक मानसिक असुरक्षा बढ़ी। अंग्रेजी राज्यकाल में जब ऐसी स्थिति आयी तो पुनः इसी प्रकार की अभिव्यक्तियों को प्रोत्साहन मिला। वर्तमान हिन्दी साहित्य की छायावादी तथा रहस्यवादी अभिव्यक्तियाँ भी ऐसे विचारों से ओत प्रोत हैं। निराला ने लिखा है, 'हमें जाना है जग के पार', प्रसाद ने 'ले चल मुझे भुलावा देकर मेरे नाविक धीरे धीरे'। यह पलायनवाद नहीं है बल्कि मानसिक अनिश्चितता और थकान पर विजय पाने का एक जन माध्यम है।

जननायक पर निर्भर रहकर मानसिक सुरक्षा प्राप्त करने का एक माध्यम है।

तुलसीदास ने रामायण के प्रबंध काव्य द्वारा राम के जिस रूप का आख्यान किया है वह जनादर्श और जन नायक का ही रूप है। तुलसी के लिये सभी राममय है। चाहे कोई शैव हो या शाक्त अन्ततोगत्वा उसे राम तक ही पहुँचना है। गीताकार ने यह प्रतिपादित किया था कि 'सर्व धर्मान् परित्यज्य मामेकं शरणं व्रज'। गीताकार ने सभी कुछ कृष्णमय मान लिया, जो साकार का एक रूप है। गीता, एक ओर निराकार तथा ज्ञानयोग को देखता है तो दूसरी ओर, साकार भक्तियोग तथा कर्म योग को। गीता एक प्रयास है साकार तथा निराकार, ज्ञान तथा भक्ति और कर्म तथा सामाजिक व्यवस्था में समन्वय लाने का और हिन्दू समाज को ज्ञान तथा कर्म के स्तरों पर एकीकृत करने का। गीताकार ने ज्ञान, भक्ति और कर्म मार्गों का एक समन्वय में लाकर हिन्दू समाज के आधार को विस्तृत कर दिया था। समयानुकूल तुलसीदास ने इसी परम्परा का पालन किया। अन्तर केवल इतना है कि उन्होंने गीता के कृष्ण के स्थान पर राम का प्रतिपादन किया और ज्ञानमार्गी होने पर भी उन्होंने भक्तिमार्ग को ही अधिक महत्ता दी, क्योंकि भक्तिमार्ग जन सुलभ है। तुलसीदास ने पाखण्ड विवाद और साम्प्रदायिकता की भर्त्सना की। सभी कुछ राममय मानकर एक ओर हिन्दू समाज के एकीकरण पर जोर दिया तो दूसरी ओर, राम के माध्यम से, उन्होंने आदर्श परिवार, आदर्श पारिवारिक सम्बन्धों, आदर्श राज्य और राजा तथा वर्ण व्यवस्था की मर्यादा के उन रूपों और पक्षों का प्रतिपादन किया जो शाश्वत हैं।

तुलसीदास उस समय हुए थे जब एक ओर अकबर के समन्वयकारी प्रयासों की लहरें उद्वेलित हो रही थीं तो, दूसरी ओर अन्दर ही अन्दर इस्लामी कट्टरवादिता की अग्नि भी सुलग रही थी। किन्तु उन्होंने न तो समन्वय पर ध्यान दिया और न कट्टरवादिता पर। तुलसीदास ने न तो इस्लामी विचारों का खण्डन किया है न इस्लाम की प्रशंसा की है और न उसकी भर्त्सना। ऐसा लगता है जैसे वे उस युग में पैदा ही नहीं हुए थे जिसमें भारत में इस्लाम का प्रसार हो रहा था। उन्होंने केवल स्मृतियों की परम्परा पकड़ी और समयानुकूल आदर्शों का प्रतिपादन करके, भक्ति के माध्यम से उन्होंने हिन्दू मान्यताओं के पुनर्स्थापन की आवश्यकता और आन्दोलन को जनता तक पहुँचाया। पग-पग पर उन्होंने शास्त्रों, वेदों, स्मृतियों और पुराणों की दुहाई दी है। रामायण में निहित आदर्श 'नाना पुराणनिगमागम सम्मत' हैं। और, इसी कारण रामायण हिन्दू-समाज की परम्पराओं का देश-काल की आवश्यकतानुसार लागू करने का एक प्रयास है। तुलसीदास और उनकी रामायण इस्लाम से प्रभावित हिन्दुत्व के उत्तरोत्तर उद्विकास की एक अवस्था विशेष की उपज है।

आठवीं शताब्दी के उत्तरार्द्ध में शंकर के अभ्युदय से लेकर उन्नीसवीं शताब्दी

देवल स्मृति (ग्यारहवीं सदी) में यह विधान किया गया कि जातिच्युत व्यक्ति पुनः जाति में आ सकता है। वास्तव में, इस परम्परा को इस्लाम का प्रत्यक्ष प्रभाव नहीं कहा जा सकता है। हिन्दू समाज में जाति जन्म से मानी गयी है और जातिच्युत व्यक्ति के लिये शुद्धि का भी विधान रहा है और आज भी है। हाँ, यह अवश्य कहा जा सकता है कि इस्लाम से मिलने वाली उत्प्रेरणा के कारण इस विधान को सभी स्तरों के लिये सम्भावित कर दिया गया। किन्तु इस काल में, इसमें भी महत्वपूर्ण विकास हुआ सगुण भक्तिधारा का जिसमें राम तथा कृष्ण के आख्यानकों का इस प्रकार निर्वचन और वर्णन किया गया कि उनके माध्यम से आवश्यकतानुसार प्राचीन हिन्दू परम्पराओं और आदर्शों को शास्त्रसम्मत प्रामाणिकता देकर उन्हें पुनः संस्थापित किया जा सके और तत्कालीन हिन्दुत्व को नवीकृत करके उसकी रक्षा की जा सके। राधा, गोपी और कृष्ण के माध्यम से तत्कालीन जनता की आकुलता विरहानुभूति की अभिव्यक्तियों में परिणत हो गयी। राधा, गोपी और कृष्ण तत्कालीन जन नैराश्य से उत्पन्न एक प्रकार के सामूहिक उदात्तीकरण के प्रतीक हो गये। यहीं से राधा की महिमा बढ़ी—प्रेम की एक अतृप्त चिर अभिलाषा के प्रतीक के रूप में। यही कारण है कि कृष्ण काव्य में तन्मय कर देने वाले गीतों की प्रधानता बढ़ी क्योंकि उनका उद्देश्य मत प्रचार न होकर, सामाजिक आकुलताओं को इहलौकिक प्रेम के माध्यम से पारलौकिकता की ओर ले जाना है। अपने सामाजिक सांस्कृतिक सन्दर्भ में राधा और गोपियों की विरहानुभूतिमय कृष्ण गाथायें केवल 'इश्क मजाजी से इश्क हकीकी की ओर वाली' धारणा की प्रतिकृति नहीं है—वह तत्कालीन हिन्दू समाज के मानसिक जगत में उत्पन्न प्रवृत्ति की भावना का एक वह रूप है जिसमें सामूहिक निरन्तरता उत्पन्न होता है[1]। निराकार ज्ञानानुभूति की वस्तु है किन्तु साकार जनोल्लास से उत्पन्न हृदयानुभूति की वस्तु है। जन नायक बनने की क्षमता साकार में है न कि निराकार में। इस काल की साकारी सगुण प्रवृत्ति एवं जननायक

---

1 सामाजिक असुरक्षा और व्याकुलता की स्थिति में ऐसी अभिव्यक्तियों को प्रोत्साहन मिलता रहा है। अंग्रेजी साहित्य में रोमांटिक अभिव्यक्तियों को तभी प्रोत्साहन मिला जब औद्योगिक क्रान्ति और तज्जनित आर्थिक प्रतियोगिता और व्यक्तिवादी प्रवाहों के कारण सामाजिक मानसिक असुरक्षा बढ़ी। अंग्रेजी राज्यकाल में जब ऐसी स्थिति आयी तो पुनः इसी प्रकार की अभिव्यक्तियों को प्रोत्साहन मिला। वर्तमान हिन्दी साहित्य की छायावादी तथा रहस्यवादी अभिव्यक्तियाँ भी ऐसे विचारों से ओत प्रोत हैं। निराला ने लिखा है, 'हमें जाना है जग के पार', प्रसाद ने 'ले चल मुझे भुलावा देकर मेरे नाविक धीरे धीरे'। यह पलायनवाद नहीं है बल्कि मानसिक अनिश्चितता और थकान पर विजय पाने का एक जन माध्यम है।

जननायक पर निर्भर रहकर मानसिक सुरक्षा प्राप्त करने का एक माध्यम है।

तुलसीदास ने रामायण के प्रबन्ध काव्य द्वारा राम के जिस रूप का आख्यान किया है वह जनादर्श और जन नायक का ही रूप है। तुलसी के लिये सभी राममय है। चाहे कोई शैव हो या शाक्त, अन्ततोगत्वा उसे राम तक ही पहुँचना है। गीताकार ने यह प्रतिपादित किया था कि 'सर्व धर्मान् परित्यज्य मामेकं शरणं व्रज'। गीताकार ने सभी कुछ कृष्णमय मान लिया, जो साकार का एक रूप है। गीता, एक ओर निराकार तथा ज्ञानयोग का दर्शन है तो दूसरी ओर साकार भक्तियोग तथा कर्मयोग का। गीता एक प्रयास है साकार तथा निराकार, ज्ञान तथा भक्ति और कर्म तथा सामाजिक व्यवस्था में समन्वय लाने का और हिन्दू समाज को ज्ञान तथा कर्म के स्तरों पर एकीकृत करने का। गीताकार ने ज्ञान, भक्ति और कर्म मार्गों का एक समन्वय में लाकर हिन्दू समाज के आधार को विस्तृत कर दिया था। समयानुकूल तुलसीदास ने इसी परम्परा का पालन किया। अन्तर केवल इतना है कि उन्होंने गीता के कृष्ण के स्थान पर राम का प्रतिपादन किया और ज्ञानमार्गी होने पर भी उन्होंने भक्तिमार्ग को ही अधिक महत्ता दी, क्योंकि भक्तिमार्ग जन सुलभ है। तुलसीदास ने पाखण्ड विवाद' और साम्प्रदायिकता की भर्त्सना की। सभी कुछ राममय मानकर एक ओर हिन्दू समाज के एकीकरण पर जोर दिया तो दूसरी ओर राम के माध्यम से, उन्होंने आदर्श परिवार आदर्श पारिवारिक सम्बन्धों आदर्श राज्य और राजा तथा वर्ण व्यवस्था की मर्यादा के उन रूपों और पक्षों का प्रतिपादन किया जो शास्त्रोक्त हैं।

तुलसीदास उस समय हुए थे जब एक ओर अकबर के समन्वयकारी प्रयासों की लहरें उद्वेलित हो रही थीं तो दूसरी ओर, अन्दर ही अन्दर इस्लामी कट्टरवादिता की अग्नि भी सुलग रही थी। किन्तु उन्होंने न तो समन्वय पर ध्यान दिया और न कट्टरवादिता पर। तुलसीदास ने न तो इस्लामी विचारों को ग्रहण किया है न इस्लाम की प्रशंसा की है और न उसकी भर्त्सना। ऐसा लगता है जैसे वे उस युग में पैदा ही नहीं हुए थे जिसमें भारत में इस्लाम का प्रसार हो रहा था। उन्होंने केवल स्मृतियों की परम्परा पकड़ी और समयानुकूल आदर्शों का प्रतिपादित करके, भक्ति के माध्यम से, उन्होंने हिन्दू मान्यताओं के पुनर्स्थापन की आवश्यकता और आन्दोलन को जनता तक पहुँचाया। पग-पग पर उन्होंने शास्त्रों वेदों, स्मृतियों और पुराणों की दुहाई दी है। रामायण में निहित आदर्श नाना पुराणनिगमागम सम्मत' हैं। और इसी कारण रामायण हिन्दू समाज की परम्पराओं का देश-काल की आवश्यकतानुसार लागू करने का एक प्रयास है। तुलसीदास और उनका रामायण इतिहास में प्रवाहित हिन्दुत्व के उत्तरोत्तर उद्विकास की एक अवस्था विशेष की उपज है।

आठवीं शताब्दी के उत्तरार्द्ध में शंकर के अभ्युदय से लेकर उन्नीसवीं शताब्दी

के उस समय तक, जब तक आर्यसमाज, ब्रह्मसमाज और प्रार्थनासमाज के रूप में हिन्दुत्व की निराकारवादी ज्ञानमार्गी शाखा का पुनः प्रतिरोपण नहीं हुआ, भारत में भक्ति मार्ग की ही प्रधानता रही है। इस काल में भक्ति-मार्ग की तीन परम्परायें रही हैं। एक जायसी की परम्परा जिसमें सूफीवाद का प्रबल किन्तु अप्रत्यक्ष प्रभाव है और जो रहस्यवादी है। दूसरी निर्गुणिया सन्तों की परम्परा जिसमें, एक ओर निराकार और ज्ञान को भक्ति के रंग में रंग दिया गया और दूसरी ओर सभी कुछ निराकारमय मानकर और हिन्दुत्व तथा इस्लाम के बन्धनों की भर्त्सना करके, मानवतावादी विचारों का प्रचार किया गया और मजहबी सिद्धान्तों को हिन्दुत्व में आत्मसात करते हुए दोनों का समन्वय किया गया। तीसरी सगुणोपासकों की परम्परा है जिसके माध्यम से हिन्दू समाज की परम्पराओं का पुनर्निरीक्षण करके उन्हें पुनःसंस्थापित किया गया और वर्णाश्रमधर्म के द्वारा मानवतावादी विचारों का प्रतिपादन किया गया। पहली परम्परा सूफीवाद के हिन्दूकरण की प्रक्रिया की उपज है और दूसरी तत्कालीन आवश्यकतानुसार हिन्दुत्व में सुधार और परिवर्तन लाने की आवश्यकता की। पहली और दूसरी परम्परायें इस्लाम के हिन्दूकरण तथा हिन्दुत्व के इस्लामीकरण के बीच की उत्पत्ति हैं और तीसरी हिन्दुत्व के पुनर्संस्थापन की। एक ओर इस बात का प्रयत्न किया जा रहा था कि हिन्दुत्व के प्रतिद्वन्द्वी इस्लाम की विशेषताओं को हिन्दुत्व के अनुसार ढाल लिया जाय और दूसरी ओर हिन्दुत्व के आधारों को आवश्यकतानुसार बदल कर उन्हें दृढ़तर बनाने का प्रयास किया जा रहा था। यही कारण है कि तत्कालीन हिन्दू समाज तथा संस्कृति में विरोधी तत्वों और प्रक्रियाओं का समावेश हुआ। एक ओर निराकार और ज्ञान का मार्ग लिया गया तो, दूसरी ओर साकार और भक्ति का। एक ओर धर्म की निन्दा की गयी तो दूसरी ओर, वर्णाश्रम धर्म को प्रतिरोपित करने का प्रयास किया गया। एक ओर वेदों की निन्दा की गयी तो दूसरी ओर, उन्हें सामाजिक जीवन के आदर्श का प्रमाण माना गया। एक ओर जाति पाँति की भर्त्सना की गयी तो दूसरी ओर जाति प्रथा के नियम और भी कठोर हो गये और इस्लाम के समक्ष, जाति व्यवस्था एक प्रकार का सामाजिक प्रतिरक्षा कवच सिद्ध हुआ।

इस्लाम की उत्प्रेरणा से भक्ति-आन्दोलन की उत्पत्ति हिन्दुत्व की उन परम्पराओं में से हुई है जो वैदिक काल से चली आ रही थी। हिन्दुत्व में एक ओर ज्ञानमार्ग की परम्परा है और दूसरी ओर, भक्तिमार्ग की। ज्ञानमार्ग का आधार है तर्क और विवेक और भक्तिमार्ग का सद्बुद्धि, रहस्यवादिता कर्मकाण्ड और कल्पाचार। ये परम्परायें समानान्तर चलती रही हैं, यद्यपि किसी काल में ज्ञानमार्ग को प्रधानता दी गई है तो किसी काल में भक्ति मार्ग को। गीता में कर्म के माध्यम से, ज्ञान और भक्ति को एक दूसरे का पूरक माना गया है। वेदों की कर्मकाण्डी परम्परा के समक्ष उपनिषदों में ज्ञानमार्ग को प्रधानता मिली। महात्मा

बुद्ध ने ज्ञानमार्ग में सद्बुद्धि का पुट दिया जो आगे चलकर रहस्यवादी सद्बुद्धि में बदल गया। मीमांसकों ने कर्मकाण्ड, कुलाचार, बहुदेववाद और साम्प्रदायिक मतमतान्तरों को प्रधानता दी। किन्तु शंकर ने उसे निरर्थक बताकर अद्वैतवाद का समर्थन किया—वह अद्वैतवाद जिसमें व्यष्टि और समष्टि, ज्ञान और कर्म, जाति और वर्ण, ऊँच और नीच, शैव, वैष्णव और शाक्त सभी ब्रह्ममय होकर ब्रह्म में एकाकार हो जाते हैं। शंकर के अद्वैतवादी दर्शन की आलोचना करके रामानुज ने भक्तिमार्ग का प्रतिपादन किया। गीता की अनासक्ति, ज्ञान और भक्ति की धारणाओं को भागवत में भक्ति और प्रपत्ति का रूप मिला। भागवत से भक्ति और प्रपत्ति की धारणाओं की अवतारणा रामानुज के दर्शन में होकर सारे भारत में फैली। इस्लाम की उत्प्रेरणा का यह प्रभाव अवश्य हुआ कि ज्ञानमार्ग की निराकारवादी परम्परा में भी भक्ति का पुट निखरा, यद्यपि इस विकास का बीजारोपण गीता में हो चुका था। इस्लाम की उत्प्रेरणा से निराकारवादी तथा साकारवादी भक्ति मार्गों का एक साथ प्रस्फुटन और समन्वय हुआ।

शंकर और रामानुज

पद्मपुराण में आए एक श्लोक में भक्ति के मुख से यह कहलाया गया है कि मैं द्राविड देश में जन्मी, कर्णाटक में बड़ी हुई, महाराष्ट्र में कुछ दिन ठहरी और गुजरात में आकर बूढ़ी हो गई।[1] भक्ति के विषय में यह उक्ति प्रचलित है कि भक्ति द्राविड उपजी लाए रामानन्द जिसका अर्थ यह निकलता है कि भक्ति की उत्पत्ति तो दक्षिण (द्राविड) में हुई है और उत्तर में उसके प्रवर्तक रामानन्द हैं। रामानन्द रामानुज की शिष्य परम्परा में आते हैं और उनके द्वारा उत्तर में भक्ति का प्रचार एक ऐतिहासिक तथ्य है। कबीर और रैदास रामानन्द के शिष्यों में हैं। रामानुज का जन्म बारहवीं शताब्दी में दक्षिण में हुआ था। रामानुज ने शंकर के अद्वैतवादी दर्शन का खण्डन तथा विशिष्टाद्वैती दर्शन का प्रतिपादन करके भक्तिवाद को दार्शनिक आधार प्रदान किया। मध्यकालीन भारत में शंकर और रामानुज एक दूसरे से चार सौ वर्ष दूर होते हुए भी हिन्दू सामाजिक दार्शनिक उद्विकास में दो बड़े युग-प्रवर्तक हैं। शंकर ज्ञान अथवा गीता के दार्शनिक पक्ष और रामानुज भक्तिमार्गी परम्परा के। किन्तु व्यावहारिक रूप में यदि देखा जाय तो रामानुज के द्वारा विशिष्टाद्वैत शंकर का खण्डन है। दोनों का जन्म दक्षिण में हुआ। अपने मत का प्रतिपादन करने के लिए शंकर और रामानुज दोनों ने गीता पर भाष्य लिखे हैं। कुछ इतिहासकारों के मत में, शंकर का अद्वैतवाद और रामानुज का द्वैतवादी विशिष्टाद्वैतवाद प्रत्यक्ष रूप से इस्लाम से प्रेरित हैं और शंकर तथा रामानुज के मध्य में पड़ने वाले इस्लामी संघात

[1] उत्पन्ना द्राविडे चाहं कर्णाटे वृद्धिमागता। स्थिता किंचिन्महाराष्ट्रे गुर्जरे जीर्णता गता।

न भक्ति आन्दोलन को प्रेरित किया है। इसके विपरीत दूसरा मत यह है कि शंकर और रामानुज हिन्दुत्व के उद्विकास के दो विश्रामस्थल हैं और भक्ति आन्दोलन का जन्म इन दोनों विश्राम स्थलों के बीच में चलने वाली दार्शनिक तथा जन परम्पराओं में है। रामानुज ने, गीता के आधार पर, दक्षिण में चलने वाली जन परम्पराओं को समयानुकूल व्यावहारिक दार्शनिक स्तर प्रदान किया है। भक्ति आन्दोलन के सामाजिक सांस्कृतिक आधारों को समझने के लिए इन विकास कड़ियों की व्याख्या अपेक्षित है।

शंकर की दार्शनिक परम्परा भक्तिमार्गी न होकर ज्ञानमार्गी है। किन्तु ज्ञानमार्गी होने पर भी, शंकर ने विष्णु, शिव, शक्ति और सूर्य पर स्तोत्र लिखे हैं और शक्ति के मन्दिरों में बलि प्रथा का अवरोध किया है। शंकर के दर्शन का खंडन करके रामानुज ने भक्तिमार्ग की नींव डाली और इसी कारण, शंकर को मध्ययुगीन भक्ति-आन्दोलन का उत्प्रेरक माना जा सकता है। जिस दर्शन के आधार पर रामानुज ने भक्ति आन्दोलन की नींव डाली उसकी परम्परा निश्चय ही शंकर से भी प्राचीन है यद्यपि उसके प्रेरणा स्रोत शंकर दर्शन में हैं। एक दार्शनिक के रूप में, शंकर वस्तुतः समाज सुधारक हैं। उनका अन्ततोगत्वा उद्देश्य था साम्प्रदायिकता (अर्थात मतमतान्तरों) के भंवर में पड़े हुए हिन्दू समाज को निकाल कर उसे एक एकीकृत दार्शनिक तथा सांस्कृतिक आधार प्रदान करना। शंकर के दर्शन को यदि उनके कार्यों के सन्दर्भ में देखा जाय तो यह तथ्य और भी स्पष्ट हो उठता है। शंकर ने अद्वैतवादी दर्शन का प्रतिपादन किया और सम्बुद्धि, तर्क तथा शास्त्र को ज्ञानार्जन के तीन प्रामाणिक आधार माने। शंकर के लिए संसार निराकारमय है। उन्होंने निराकार की कल्पना 'ब्रह्म' के रूप में की है। शंकर के ब्रह्म में ईश्वरत्व नहीं है। वह शुद्ध, बुद्ध, चैतन्य निराकार और निर्विकार है। उसे न तो भक्तों की चिन्ता है और न दुष्टों को दंड देने की। संसार मायामय ब्रह्म है। निराकार ब्रह्म और संसार के सम्बन्ध को स्पष्ट करने के लिए शंकर ने मायावाद का मत प्रतिपादित किया। शंकर का मायावाद वस्तुतः नागार्जुन द्वारा प्रतिपादित बौद्धों का शून्यवाद है। इस प्रकार, बुद्धवाद पर ब्रह्मवादी दर्शन की स्थापना करके, शंकर ने बुद्धवाद को हिन्दुत्व में समेट लिया और अद्वैत की धारणा के द्वारा मत मतान्तरों की साम्प्रदायिकता को निर्मूल कर दिया। इसके साथ साथ, भारत के चार कोनों पर चार मठों की स्थापना करके उन्होंने हिन्दू समाज के व्यावहारिक तथा दार्शनिक पक्षों की एकता प्रदान करने का प्रयत्न किया। शंकर के प्रयासों में सुधार का अर्थ था समन्वय और उनके लिये समन्वय का अर्थ था परम्परा का व्यापक निर्वचन और संस्थापन।

शंकर का दक्षिण में आविर्भूत होना एक ऐतिहासिक संयोग है। किन्तु, शंकर-दर्शन का विकास ऐतिहासिक संयोग नहीं है। दिनकर के अनुसार, शंकर दर्शन की विकास रेखा ऋग्वेद के नासदीय सूक्त तक पहुँचती है। नासदीय सूक्त ने जीवन और

सृष्टि के विषय में जो मौलिक प्रश्न उठाए थे उन्हीं प्रश्नों का समाधान खोजते-खोजते पहले उपनिषदों का आविर्भाव हुआ, फिर बौद्ध-दर्शन का और फिर शंकर दर्शन का। शंकर का तटस्थ ब्रह्म बौद्धों से आगे बढ़ा हुआ एक कदम अवश्य है लेकिन तटस्थ ब्रह्म की धारणा की जड़ें वस्तुतः औपनिषदिक दर्शन में हैं। जहाँ तक शंकर के बौद्धिक पूर्वजों का सम्बन्ध है वे दक्षिण में नहीं उत्पन्न हुए थे। शून्यवादी दर्शन के प्रतिपादक नागार्जुन का जन्म ईसा के जन्म के सौ वर्ष बाद विदर्भ में हुआ था और दार्शनिक वसुबन्धु, जो शंकर के दूसरे बौद्धिक पूर्वज हैं, का चौथी शताब्दी में पेशावर में। शंकर के शारीरिक भाष्य पर भामती-व्याख्या लिखकर दर्शन में उनके प्रसिद्ध करने वाले विद्वान वाचस्पति मिश्र मिथिला में जन्मे थे। शंकर भारतीय संस्कृति की उन समस्याओं का दार्शनिक उत्तर थे जिन्हें लेकर ब्राह्मण और बौद्ध जूझ रहे थे[1]।

शंकर ने वेदान्त की ब्रह्मवादी व्याख्या की थी किन्तु रामानुज ने वेदान्त की ईश्वरवादी व्याख्या करके शंकर के तटस्थ ब्रह्म में ईश्वरत्व का प्रतिपादन किया—उस ईश्वरत्व का जो शुद्ध बुद्ध निराकार और निर्विकार नहीं है जो विष्णु के रूप में साकार है भक्तों पर दयालु है और विश्व प्रपंच का प्रहरी तथा कर्ता है। शंकर ने केवल ब्रह्म को ही सर्वोपरि और अनादि माना किन्तु रामानुज ने ईश्वर के साथ, जीव और प्रकृति को भी अनादि माना यद्यपि शब्द और अर्थ तथा जल और लहर के समान वे एक दूसरे से अलग नहीं किए जा सकते। रामानुज ने अद्वैत में द्वैत और द्वैत में विशिष्टाद्वैत का प्रतिपादन किया क्योंकि उनके अनुसार ईश्वर साकार भी है और केवल ईश्वर ही अनादि नहीं है। शंकर की परम्परा में वेदान्त के इस वाक्य 'तत्वमसि' की यह व्याख्या हुयी कि जीव भी ब्रह्म है किन्तु रामानुज की व्याख्या में यह प्रतिपादित किया गया कि 'तत्' अर्थात् सृष्टि का कारण स्वरूप ईश्वर 'त्वम्' है अर्थात् जीव में छिपी हुयी आत्मा से एकाकार है। इसी कारण रामानुज की दर्शन-पद्धति विशिष्टाद्वैत की पद्धति कही जाती है[2]।

अद्वैत में द्वैत का प्रतिपादन करके रामानुज ने कर्म और ज्ञान के समक्ष भक्ति की महत्ता को श्रेष्ठतर बताया। रामानुज के अनुसार ज्ञानयोग में आत्मा केवल इतना ही जान सकती है कि वह परमात्मा का अंश है। किन्तु भक्ति की अनुभूति में आत्मा-परमात्मा के सम्बन्ध का ज्ञान अधिक प्रखर हो उठता है। जीव भी अनादि है उसकी भी एक सत्ता है, अतः न तो ईश्वर में विलीन होना उसके लिए स्वाभाविक है और न उसकी आवश्यकता ही है। जीव को न तो स्वर्ग चाहिए न सत्य और न भक्ति। उसकी मुक्ति तो जीवन पर्यन्त और जीवनोपरान्त आराध्य

---

[1] दिनकर, रामधारी सिंह वही पृष्ठ 281

[2] वही पृष्ठ 300

व्रत, उपवास, तीर्थ यात्रा और कभी कभी मूर्ति-पूजा आदि प्रचलित आदतों की निन्दा करते हैं। आलवार संतों की परम्परा शंकर से प्राचीन है और कुछ कुछ शंकर के समकालीन भी। शंकर में भारत की बौद्धिकता और शास्त्रीय दर्शन का मिलन हुआ है और आलवार संतों की अभिव्यक्तियों में रहस्यवादिता, ममता, करुणा और प्रगाढ़ भक्ति की भावना थी। जिस समय, उत्तर में सिद्ध संत, बुद्धवाद के द्वार से ब्रह्मचर्य और नारी की निन्दा करते हुए, उनको निन्दनीय कह रहे थे उस समय आलवार संत प्रेम और भक्ति के माध्यम से जाति की निस्सारता बता रहे थे और भगवान की शरण में जाकर दलितों के बीच में समता का भाव लाने का प्रयत्न कर रहे थे। आलवार संत न तो जाति पाँति मानते थे और न वे शास्त्र के विधि निषेध के कायल थे। आलवार संतों की भक्तिमय रचनाओं का ध्यान भाव था 'भक्ति न छोड़ो भक्ति न मांगो तब उस गुरू गुसाई'। जैसा कि दिनकर का मत है तब शांडिल्य का प्रपत्ति (शरणागति) आत्म समर्पण और स्वार्थ-रहित से विभूषित भक्ति का सम्यक विकास और प्रचार दक्षिण की सामान्य भाषा भाषी जनता में हो चुका था।

नवीं शताब्दी के उत्तरार्ध में, जब नाथ मुनि ने आलवार संतों के चार हजार पदों का संग्रह 'प्रबन्धम्' नामक चार ग्रन्थों में करवाया तब भक्ति का दर्शन के स्तर पर लाने और भक्ति को दार्शनिक प्रणाली में बांधने के प्रयास प्रारम्भ हुए। नाथमुनि के बाद वैष्णव विद्वानों ने इन्हीं ग्रन्थों पर भाष्य और टीकायें लिखीं। यही ग्रन्थ 'तामिल प्रबन्धम्' के नाम से विख्यात है और गीता के बाद तथा भागवत के तत्कालीन भक्ति के आदि ग्रन्थ हैं। प्रबन्धम् और भागवत में अन्तर है तो केवल इतना कि प्रबन्धम् में भक्तिपदों का संग्रह है जबकि भागवत में भक्ति को पाण्डित्य और दर्शन के आवरण में प्रस्तुत किया गया है। चूंकि भागवत में इस बात का संकेत है कि भक्ति द्राविड देश में उत्पन्न हुयी यह माना जा सकता है कि भागवत के प्रेरणा स्रोत प्रबन्धम् में हैं और गीता तथा रामानुज के बीच की कड़ी प्रबन्धम् और भागवत हैं। रामानुज के विशिष्टाद्वैतवादी दर्शन की जड़ें भी प्रबन्धम् में ही हैं क्योंकि विशिष्टाद्वैत का प्रथम विवेचन यामुनाचार्य (९१६ ई० से १०४० ई०) ने किया है जो प्रबन्धम् के सम्पादक श्री नाथमुनि की दूसरी या तीसरी पीढ़ी में हुये हैं। इसके बाद रामानुजाचार्य (१०२७ ११३७ ई०) ने विशिष्टाद्वैत की व्याख्या की और यह मत प्रतिपादित किया कि गीता और पातंजल योग के अतिरिक्त भक्ति का मूल स्रोत आलवार संतों की परम्परा में है। रामानुज इन्हीं आचार्यों की बौद्धिक संतान थे।

आलवार संतों की वैष्णवी परम्परा के साथ साथ, दक्षिण में नायनार संतों की शैव परम्परा भी चली। आलवार संतों की परम्परा विष्णु में केन्द्रीभूत थी और नायनार संतों की परम्परा शिव में। आलवार परम्परा के आचार्य वैष्णवाचार्य कहलाये और शैव परम्परा के शैवाचार्य। नायनार संतों

के पदों में शिव के प्रति प्रपत्ति की अभिव्यक्ति थी। जिस प्रकार, प्रबन्धम् के माध्यम से वैष्णवीजन परम्परा शास्त्रोन्मुख हुई, उसी प्रकार तिरुमुरई नामक ग्यारह भागों में संगृहीत ग्रंथ के माध्यम से, शैव जन-परम्परा भी शास्त्रोन्मुख हुई। जिस समय वैष्णवाचार्य नाथमुनि ने आलवारों के पदों का संग्रह 'प्रबन्धम' में करवाया था, उसी समय शैवाचार्य नाम्बि आण्डार-नम्बी ने तिरुमुरई (पावन पुस्तक) नामक ग्रंथ में शैव पदों का संग्रह करवाया। दक्षिण की भक्ति धारा में प्रबन्धम का जो महत्व है वही तिरुमुरई का भी है। वैष्णवी परम्परा में सृष्टि के परम अध्यक्ष हैं विष्णु, किन्तु शैव परम्परा में वह स्थान शिव का है। जड़ प्रकृति और चेतन जीव सभी शिवमय हैं और शिव ही चेतना के आगार और ब्रह्माण्ड में व्याप्त अनादि सत्य हैं।

शक्ति शिव के कार्य व्यापार का माध्यम है। अतः शक्ति शिव की पूरक है। सृष्टि शिव की कृति है और उसकी पांच प्रक्रियायें (रचना, पालन, विनाश, जीव की मोहाच्छन्नता और मुक्ति) शिव की कृपा और शक्ति के सहयोग से सम्पन्न होती हैं। फिर भी शिव के साथ साथ, सृष्टि भी अनादि है और उसका विकास आत्मा के कल्याण के लिये होता है। शैव पद्धति में, शिव और सृष्टि के साथ साथ, आत्मा भी स्वभावतया अनादि, अनन्त और चेतन है किन्तु बंध में पड़ जाने के कारण, आत्मा अपने को सान्त, सीमित और अज्ञानी मानता है। अपने पूर्वकर्मों से मुक्त होकर तथा जड़ की अधीनता से बाहर आकर ही, आत्मा को अपनी अनादिता, अनन्तता और चेतनता का भान हो सकता है। आत्मा की मुक्ति सिद्धान्तविहित साधना पद्धति के पालन तथा निधारण और गुरु ज्ञान तथा शिव की कृपा से ही हो सकती है। शैव परम्परा इस प्रकार शंकर के अद्वैत और रामानुज के विशिष्टाद्वैत के बीच की परम्परा है[1]। शैव तथा वैष्णवी परम्परायें जन और दर्शन के स्तरों पर, एक साथ, तथा दो अलग-अलग भक्ति-सम्प्रदायों के रूप में अवतरित हुईं। शैव और वैष्णवी परम्पराओं का समन्वय तुलसीदास के हाथों हुआ क्योंकि उन्होंने इन दोनों के माध्यम से तथा इनसे अलग राम परम्परा की स्थापना की। प्रपत्ति, गुरु-महिमा, द्वैत, द्वैताद्वैत और विशिष्टाद्वैत की जो महत्ता इन परम्पराओं में है, उन्हें तुलसीदास ने ज्यों का त्यों अपना लिया।

समस्या

भारतीय संस्कृति में प्रवाहित इस भक्ति धारा में कितना भाग इस्लामी है और कितना भारतीय यह एक विवाद का विषय है। इस विषय पर उपलब्ध ऐतिहासिक साहित्य में जितने मत प्रतिपादित किए गये हैं वे उसी प्रकार स्पष्टतः विभाजित हैं जैसे हिन्दुत्व और इस्लाम। एक ओर हैं ताराचन्द, हुमायूँ कबीर और युसुफ हुसैन जो मत

---

1 दिनकर वही पृष्ठ 302

जिनमे यह प्रतिपादित किया गया है कि शंकर की अद्वैतवादी परम्परा और उनके बाद से प्रवाहित होने वाली भक्ति धारा, हिन्दुत्व पर इस्लाम के प्रत्यक्ष प्रभाव का परिणाम है। दूसरी ओर है दिनकर तथा विनयकुमार सरकार के मत जो इस बात पर जोर देते हैं कि आठवीं शताब्दी से लेकर अठारहवीं शताब्दी तक प्रवाहित होने वाली मानवतावादी विचारधारायें, सुधारवादी आन्दोलन तथा भक्तिमार्गी परम्परायें, वास्तव में, हिन्दुत्व के उत्तरोत्तर उद्विकास का परिणाम हैं न कि इस्लाम के संघात का। विनयकुमार सरकार के अनुसार चौदहवीं तथा अठारहवीं शताब्दियों के बीच में, हिन्दुत्व में चलने वाले मानवतावादी तथा एकेश्वरवादी सुधार आन्दोलनों को इस्लाम के संघात का परिणाम मानने की एक प्रथा सी रही है। किन्तु समाजशास्त्रीय दृष्टिकोण से यह आवश्यक है कि इस परम्परा के आवरण को उठाकर, इतिहास का और भी गहराई से देखा जाय क्योंकि एकेश्वरवादी तथा मानवतावादी विचारधारायें प्रारम्भ से हिन्दू सामाजिक धार्मिक और सामाजिक आर्थिक परम्पराओं में विद्यमान रही हैं। इन दोनों विभिन्न मतों के बीच में सम्यक्मार्गी तथा सामासिकतावादी इतिहासकार हैं जो मध्ययुगीन भारत की भक्तिमार्गी शाखा को हिन्दुत्व का इस्लामीकरण या इस्लाम का हिन्दूकरण मानकर उसे हिन्दू मुस्लिम समन्वय का प्रतीक मानते हैं।

शंकर और रामानुज पर इस्लाम के प्रभाव की बात सर्वप्रथम सर चार्ल्स इलियट ने अपनी पुस्तक हिन्दुइज्म और बुद्धिज्म (1921) में कही थी और तभी से इतिहासकारों का एक सम्प्रदाय इस बात को सिद्ध करने में लग गया। डा० ताराचन्द इस सम्प्रदाय के प्रमुख इतिहासकार हैं। उनके अनुसार शंकर के अभ्युदय के पहले ही से इस्लाम का प्रभाव मालाबार के तट पर फैल गया था। डा० ताराचन्द ने शंकर को इस्लाम का अनुकर्ता माना है और अपनी इस मान्यता की पुष्टि के लिये उन्होंने दो बातों पर जोर दिया है—एक, शंकर द्वारा अद्वैतवाद के माध्यम से एकेश्वरवाद का प्रतिपादन और दूसरा शंकर का दक्षिण में ही उत्पन्न होना। किन्तु शंकर का अद्वैतवाद और इस्लाम का एकेश्वरवाद मूलतः भिन्न हैं। इस्लामी एकेश्वरवाद में ईश्वरवादिता है। इस्लाम में जिस ईश्वर की कल्पना की गई है वह दया और दण्ड दोनों देता है और बन्दा अर्थात् व्यक्ति उसका दास है तथा उसकी दया पर निर्भर है। किन्तु, शंकर का ब्रह्म तटस्थ, निराकार और निर्विकार है। इस्लाम में माया का कहीं स्थान नहीं है। शंकर ने जीव और ब्रह्म को मूलतः एक माना है। उनमें यदि अन्तर है तो माया के कारण। शंकर वैदिक परम्परा में है न कि इस्लामी परम्परा में। शंकर का दक्षिण में उत्पन्न होना इस्लाम का प्रभाव नहीं है वरन् उस ऐतिहासिक परिस्थिति का परिणाम है जिसमें हिन्दुत्व सिमटकर दक्षिण में केन्द्रीभूत हो गया था और वहां उसे त्राण मिल रहा था। शंकर में बुद्धवाद और वेदान्त का समन्वय है न कि इस्लाम और हिन्दुत्व का। यदि शंकर इस्लाम के अर्थ में एकेश्वरवादी होते तो शिव, सूर्य और शक्ति पर स्तोत्र न रचते और न भारत

के चार कोनों पर मठों की ही स्थापना करते। शांकरीय दर्शन में सृष्टि के स्वरूप और उद्गम का जो वर्णन है वह इस्लाम की मान्यताओं के प्रतिकूल ही पड़ता है।

वैष्णव धर्म और भक्ति-आन्दोलन की आत्मा, डा० ताराचन्द और उनके समान मत वाले अन्य इतिहासकारों के अनुसार, इस्लामी है जबकि उसका कलेवर हिन्दू। इस मत के मुख्य आधार हैं—भक्ति का तथा भक्ति के प्रणेता वैष्णवाचार्यों तथा शैवाचार्यों का दक्षिण में ही उत्पन्न होना, भक्तिवादी विचारधारा में प्रपत्ति (शरणागति), एकान्त निष्ठा और व्यक्तिवादी भावना का पाया जाना, जातिप्रथा तथा वर्ण व्यवस्था का विरोध तथा खंडन-मंडन, गुरु शिष्य-परम्परा तथा ज्ञान प्राप्ति के लिए गुरु को ईश्वर से भी बड़ा स्थान देना[1] और भक्ति आन्दोलन के माध्यम से फैलने वाला मानवतावादी दृष्टिकोण। किन्तु यह सिद्ध करना बड़ा कठिन है कि ये विचार और मान्यतायें हिन्दुत्व में इस्लाम से सम्पर्क होने के पहले नहीं थीं। भक्ति की परम्परा हिन्दुत्व की आगम परम्परा में एवं जन परम्परा के रूप में उतनी ही प्राचीन है जितना की स्वयं हिन्दुत्व और सम्भवतः उससे भी अधिक। प्रपत्ति का भाव भी हिन्दुत्व के लिए नया नहीं है। भक्ति का और भक्ति मार्गी आचार्यों का दक्षिण में उत्पन्न होना उस प्रक्रिया का परिणाम है जिसके कारण हिन्दुत्व दक्षिण में केन्द्रीभूत हो गया था। इस्लाम में गुरु शिष्य परम्परा का मूलस्रोत वह आयत है जिसमें यह कहा गया है कि मुहम्मद मनुष्य तथा ईश्वर के बीच की एक कड़ी है[2]। किन्तु गीता के एक श्लोक में यह कहा गया है कि ओम का जाप और उसके अर्थरूप में भगवान कृष्ण का ध्यान करता हुआ जो व्यक्ति शरीर छोड़ता है, वह परमगति को प्राप्त होता है[3]। यहाँ मनुष्य तथा ईश्वर के बीच में कृष्ण का बहुत कुछ वही स्थान है जो मुहम्मद का है। श्वेताश्वतरोपनिषद के अन्तिम मन्त्र में यह कह कर कि 'यस्य देवे परा भक्तिर्यथा देवे तथा गुरौ' गुरु में ईश्वरत्व की भावना का प्रतिपादन कर दिया गया है। कबीर, दादू और नानक के बौद्धिक पूर्वज सिद्ध-कवियों ने गुरु के उपदेश

1 कबीर ने कहा है—गुरु गोविन्द दोनों खड़े काके लागूँ पाँय
बलिहारी गुरु आपने जिन गोविन्द दिया बताय।
अर्थात गुरु की बलिहारी है जिन्होंने गोविन्द की पहचान करायी। तुलसीदास ने भी मानस का प्रारम्भ गुरु वन्दना से किया है। सिक्ख सम्प्रदाय में नानक के माध्यम से गुरु की महिमा आई और यहाँ तक बढ़ी कि वहाँ 'वाह गुरु का खालसा' धर्म का नारा हो गया। इसलिए के चार धर्मों ने भी गुरु को ज्ञान का माध्यम माना है। सूफियों में बिना पीर के ज्ञान मिल ही नहीं सकता।

2 लाईलाह इल्लिल्लाह मुहम्मदुर्रसूलिल्लाह।

3 ओमित्येकाक्षरं ब्रह्म व्याहरन्मामनुस्मरन्।
यः प्रयाति त्यजन्देहं स याति परमां गतिम्। गीता

जिनमे यह प्रतिपादित किया गया है कि शंकर की अद्वैतवादी परम्परा और उनके बाद से प्रवाहित होने वाली भक्ति धारा, हिन्दुत्व पर इस्लाम के प्रत्यक्ष प्रभाव का परिणाम है। दूसरी ओर हैं दिनकर तथा विनयकुमार सरकार के मत जो इस बात पर जोर देते हैं कि आठवी शताब्दी से लेकर अठारहवी शताब्दी तक प्रवाहित होने वाली मानवतावादी विचारधारायें सुधारवादी आन्दोलन तथा भक्तिमार्गी परम्परायें, वास्तव म, हिन्दुत्व के उत्तरोत्तर उदविकास का परिणाम हैं न कि इस्लाम के सघात का। विनयकुमार सरकार के अनुसार चौदहवीं तथा अठारही शताब्दियो के बीच मे, हिन्दुत्व में चलने वाले मानवतावादी तथा एकेश्वरवादी सुधार आन्दोलनो को इस्लाम के सघात का परिणाम मानने की एक प्रथा सी रही है। किन्तु, समाजशास्त्रीय दृष्टिकोण से यह आवश्यक है कि इस परम्परा के आवरण को उठाकर, इतिहास को और भी गहराई से देखा जाय क्योकि एकेश्वरवादी तथा मानवतावादी विचारधारायें प्रारम्भ से हिन्दू सामाजिक धार्मिक और सामाजिक धार्मिक परम्पराओ मे विद्यमान रही हैं। इन दोनो विभिन्न मतो के बीच म मध्यममार्गी तथा सामासिकतावादी इतिहासकार हैं जो मध्ययुगीन भारत की भक्तिमार्गी शाखा का हिन्दुत्व का इस्लामीकरण या इस्लाम का हिन्दूकरण मानकर उस हिन्दू मुस्लिम समन्वय का प्रतीक मानते हैं।

शंकर और रामानुज पर इस्लाम के प्रभाव की बात सवप्रथम सर चार्ल्स इलियट ने अपनी पुस्तक हिन्दुइज्म ऐंड बुद्धिज्म (1921) म कही थी और तभी से इतिहासकारो का एक सम्प्रदाय इस बात को सिद्ध करने म लग गया। डा० ताराचन्द इस सम्प्रदाय के प्रमुख इतिहासकार हैं। उनके अनुसार, शंकर के अभ्युदय के पहले ही से इस्लाम का प्रभाव मालाबार के तट पर फल गया था। डा० ताराचन्द ने शंकर को इस्लाम का अनुकर्ता माना है और अपना इस मान्यता की पुष्टि के लिये उन्होने दो बातो पर जोर दिया है—एक, शंकर द्वारा अद्वैतवाद के माध्यम से एकेश्वरवाद का प्रतिपादन और दूसरा शंकर का दक्षिण म ही उत्पन्न होना। किन्तु शंकर का अद्वैतवाद और इस्लाम का एकेश्वरवाद मूलत भिन्न है। इस्लामी एकेश्वरवाद म ईश्वरवादिता है। इस्लाम म जिस ईश्वर की कल्पना की गई है वह दया और दण्ड दोनो देता है और बन्दा अर्थात व्यक्ति उसका दास है तथा उसकी दया पर निभर है। किंतु, शंकर का ब्रह्म तटस्थ, निराकार और निर्विकार है। इस्लाम म माया का कही स्थान नही है। शंकर ने जीव और ब्रह्म को मूलत एक माना है। उनमे यदि अन्तर है तो माया के कारण। शंकर वदिक परम्परा मे है न कि इस्लामी परम्परा म। शंकर का दक्षिण मे उत्पन्न होना इस्लाम का प्रभाव नही है वरन उस एतिहासिक परिस्थिति का परिणाम है जिसमे हिन्दुत्व सिमटकर दक्षिण म केन्द्रीभूत हो गया था और वहा उसे त्राण मिल रहा था। शंकर मे बुद्धवाद और वेदान्त का समन्वय है न कि इस्लाम और हिन्दुत्व का। यदि शंकर इस्लाम के अथ म एकेश्वरवादी होते तो शिव, सूय और शक्ति पर स्तोत्र न रचते और न भारत

के चार कोनों पर मठों की ही स्थापना करते। शांकरीय दर्शन में सृष्टि के स्वरूप और उद्गम का जो वर्णन है वह इस्लाम की मान्यताओं के प्रतिकूल ही पड़ता है।

वैष्णव धर्म और भक्ति-आन्दोलन की आत्मा, डा० ताराचन्द और उनके समान मत वाले अन्य इतिहासकारों के अनुसार, इस्लामी है जबकि उसका कलेवर हिन्दू। इस मत के मुख्य आधार हैं—भक्ति का तथा भक्ति के प्रणेता वैष्णवाचार्यों तथा शैवाचार्यों का दक्षिण में ही उत्पन्न होना, भक्तिवादी विचारधारा में प्रपत्ति (शरणागति), एकान्त निष्ठा और व्यक्तिवादी भावना का पाया जाना, जातिप्रथा तथा वर्ण व्यवस्था का विरोध तथा खंडन-मंडन, गुरु शिष्य-परम्परा तथा ज्ञान प्राप्ति के लिए गुरु को ईश्वर से भी बड़ा स्थान देना[1] और भक्ति आन्दोलन के माध्यम से फैलने वाला मानवतावादी दृष्टिकोण। किन्तु, यह सिद्ध करना बड़ा कठिन है कि ये विचार और मान्यतायें हिन्दुत्व में इस्लाम से सम्पर्क होने के पहले नहीं थीं। भक्ति की परम्परा हिन्दुत्व की आगम परम्परा में एवं जन परम्परा के रूप में उतनी ही प्राचीन है जितना की स्वयं हिन्दुत्व और सम्भवतः उससे भी अधिक। प्रपत्ति का भाव भी हिन्दुत्व के लिए नया नहीं है। भक्ति का और भक्ति मार्गी आचार्यों का दक्षिण में उत्पन्न होना उस प्रक्रिया का परिणाम है, जिसके कारण हिन्दुत्व दक्षिण में केन्द्रीभूत हो गया था। इस्लाम में गुरु शिष्य परम्परा का मूलस्रोत वह आयत है जिसमें यह कहा गया है कि मुहम्मद मनुष्य तथा ईश्वर के बीच की एक कड़ी है[2]। किन्तु गीता के एक श्लोक में यह कहा गया है कि ओम का जाप और उसके अर्थरूप में भगवान कृष्ण का ध्यान करता हुआ जो व्यक्ति शरीर छोड़ता है, वह परमगति को प्राप्त होता है[3]। यहाँ मनुष्य तथा ईश्वर के बीच में कृष्ण का बहुत कुछ वही स्थान है जो मुहम्मद का है। श्वेताश्वतरोपनिषद के अन्तिम मन्त्र में यह कह कर कि 'यस्य देवे परा भक्तिर्यथा देवे तथा गुरौ' गुरु में देवत्व की भावना का प्रतिपादन कर दिया गया है। कबीर, दादू और नानक के कोटि के पूर्वज सिद्ध-कवियों ने गुरु के उपदेश

---

1 कबीर ने कहा है—गुरु गोविन्द दोनों खड़े काके लागूँ पाँय
बलिहारी गुरु आपने जिन गोविन्द दियो बताय।
अर्थात् गुरु की बलिहारी है जिन्होंने गोविन्द की पहचान करायी। तुलसीदास ने भी मानस का प्रारम्भ गुरु-वन्दना से किया है। सिक्ख-सम्प्रदाय में नानक के माध्यम से गुरु की महिमा आई और यहाँ तक बढ़ी कि वहाँ 'वाह गुरु का खालसा' पंथ का नारा हो गया। दक्षिण के वीर शैवों ने भी गुरु को ज्ञान का माध्यम माना है। सूफियों में बिना पीर के ज्ञान मिल ही नहीं सकता।

2 लाईलाह इल्लिल्लाह मुहम्मदुरसूलिल्लाह।

3 ओमित्येकाक्षरं ब्रह्म व्याहरन्मामनुस्मरन्।
यः प्रयाति त्यजन्देहं स याति परमां गतिम्। गीता

को अमृत रस के समान मानने तथा गुरु वचन में ** भक्ति रखने पर जोर दिया है क्योंकि शास्त्रार्थ के मरुस्थल में केवल गुरु के अमृतमयी उपदेश से ही तृप्ति प्राप्त होती है[4]। उत्तरी भारत में सिद्धों की परम्परा इस्लाम के पहले की है।

वर्ण-व्यवस्था के विरुद्ध प्रतिक्रिया इस्लाम के पहले ही से भारत में विद्यमान है। 'आत्मवत सर्व भूतेषु (सभी प्राणियों को अपने समान समझो) 'पंडिता सम दर्शिना' (ज्ञानी समदर्शी होते हैं) और 'वसुधैव कुटुम्बकम्' (वसुधा कुटुम्ब के समान है) की भावनाएं वैदिक काल से ही हिन्दू चिंतन का अंग रही है। इन्हीं का प्रस्फुटन बुद्धवाद, मध्ययुगीन भक्त कवियों और स्वामी दयानन्द, राममोहनराय और महात्मा गांधी जैसे समाज सुधारकों के चिंतन तथा कार्यों में हुआ है। भारत की सामाजिक परिस्थितियों में, प्रारम्भ से ही मानवतावादी विचार और कार्य यहां के चिंतन का एक अंग बन गये थे और आज भी हैं। शंकर का अद्वैतवाद और तुलसी के राम सम्भवतः इसी मानवतावाद की दार्शनिक तथा काव्यात्मक अभिव्यक्ति हैं। विनय कुमार सरकार के अनुसार भारत में, विशेषतया हिन्दुत्व में एक ओर, वर्णाश्रम रहा है तो दूसरी ओर वर्णाश्रम के विरुद्ध उठने वाली प्रतिक्रियायें। एक ओर, कानून और व्यवस्था पर जोर दिया गया है तो, दूसरी ओर कानून और व्यवस्था के प्रति विद्रोह किया गया है। एक ओर, जाति शुद्धता की भावना रही है तो, दूसरी ओर, वर्णसंकर की। इस प्रकार हिन्दुत्व में दो विरोधी शक्तियाँ प्रवाहित होती रही हैं और इन्हीं विरोधी शक्तियों के प्रवाह में हिन्दू सांस्कृतिक उन्विकास के आदर्श नियम निहित हैं। इस्लामी वातावरण के हिन्दू भारत में प्रवाहित होने वाली समाजवादी तथा प्रजातन्त्रीय विचारधाराओं में इन्हीं परम्परागत समाज निर्मात्री प्रक्रियाओं का प्रवाह है, जिनके माध्यम से निम्नस्तरीय समूहों का उच्च स्तर की ओर सामाजिक आरोहण होता है। हिन्दू संस्कृति का प्रसार—इन शब्दों से केवल एक ही अर्थ ध्वनित होता है और वह है हिन्दू समाज का उत्तरोत्तर प्रजातन्त्रीकरण या हिन्दू संस्थाओं और प्रथाओं पर जनता का उत्तरोत्तर प्रभाव और उससे उत्पन्न होने वाले परिवर्तनों के मध्य वृद्धि तथा उन्विकास। मुस्लिम वातावरण में इस परम्परागत हिन्दू प्रवृत्ति का किसी भी प्रकार हनन नहीं हुआ। अतः जिसे डा० ताराचन्द इस्लाम के प्रभाव का परिणाम मानते हैं, उसे विनयकुमार सरकार हिन्दुत्व का स्वाभाविक विकास मानते हैं।

ताराचन्द के तर्कों में विरोध है और उनकी अध्ययन रीति दोषपूर्ण। एक ओर वे शंकर को इस्लाम का अनुकर्ता और शंकर द्वारा प्रतिपादित अद्वैतवाद को लाईलाह इल्लिल्लाह की प्रतिकृति मानते हैं तो दूसरी ओर मानते है कि इस्लाम ने चौदहवीं तथा पन्द्रहवीं शताब्दियों में बौद्धिक उत्प्रेरक का ही कार्य किया होगा। उत्प्रेरणा और प्रतिकृति के पीछे जो धारणायें है वे परस्पर विरोधी हैं क्योंकि जो

4 दिनकर वही पृष्ठ 217

उत्प्रेरक है उसकी प्रतिकृति नहीं आ सकती। ताराचन्द भक्ति और रहस्यवाद को मानव की सार्वभौमिक और सर्वकालीन धार्मिक प्रवृत्ति मानते हैं और यह भी मानते हैं कि भारत में भक्ति और रहस्यवाद के तत्त्व पहले ही से विद्यमान थे। फिर भी, वे भारत में भक्ति और रहस्यवाद के उद्विकास का विश्लेषण छोड़ देते हैं और भक्ति तथा रहस्यवाद को इस्लाम से आया हुआ मान लेते हैं। जैसा कि डा० ताराचन्द की पुस्तक के शीर्षक 'इन्फ्लुएंस आफ इस्लाम आन इण्डिया' से स्पष्ट है उनकी अध्ययन रीति का सबसे बड़ा दोष यह है कि उनके अध्ययन का विषय है भारत पर इस्लाम का प्रभाव न कि भारतीय संस्कृति में इस्लाम। उनकी दृष्टि केवल इस्लाम पर है और मध्ययुगीन भारतीय संस्कृति के उन्हीं अंशों पर पड़ती है जहाँ उन्हें इस्लाम की प्रतिकृति नजर आती है। यदि ऐसा न होता तो उन्हें विष्णुस्वामी, निम्बार्क और मध्व का चिन्तन नज्जाम, अशअरी और गजाली[1] की प्रतिकृति क्यों लगता? इस्लाम में प्रपत्ति है एक निराकार ईश्वर के प्रति जो दया का आगार है और न्याय का भी किन्तु भारतीय भक्ति विचार में प्रपत्ति है साकार के प्रति जिसमें भक्त लीन नहीं होना चाहता। इस्लाम में प्रपत्ति का कुछ और रूप है और हिन्दुत्व में कुछ और। डा० ताराचन्द की दृष्टि केवल प्रपत्ति पर है न कि इस्लाम तथा हिन्दुत्व में पायी जाने वाली प्रपत्ति विषयक मान्यताओं के अन्तर पर। यदि वे इस आधारभूत अन्तर पर ध्यान देते और उसे हिन्दुत्व की स्वाभाविक उद्विकास प्रक्रिया के सन्दर्भ में समझने का प्रयत्न करते तो वे वैष्णवों और शैव परम्पराओं को इस्लाम का प्रत्यक्ष प्रभाव न मानते। किन्तु, ताराचन्द की अध्ययन रीति में समानान्तर उद्विकास वृद्धि का कोई स्थान ही नहीं है।

ताराचन्द के मत में, मध्ययुगीन रहस्यवादी अभिव्यक्तियों के रूप, प्रतीक, प्रकार और परिवर्तनों की दिशायें आन्तरिक वृद्धि का प्रतीक न होकर बाह्य प्रभावों का प्रताप हैं। दक्षिण में इस्लाम से पहले इस्माइलियत का प्रवेश हो चुका था। पर डा० ताराचन्द इस्माइलियत को रहस्यवादी परम्पराओं का कारक नहीं मानते क्योंकि हिन्दुत्व और इस्माइलियत का सम्पर्क लाने वाली आवश्यक ऐतिहासिक परिस्थितियाँ दक्षिण में नहीं थीं। 'आवश्यक ऐतिहासिक परिस्थितियों' का क्या अर्थ है, इसे ताराचन्द ने स्पष्ट नहीं किया है। ताराचन्द इसे स्वीकार करते हैं कि प्राचीन तथा मध्ययुगीन भारत के रागात्मक प्रेम सम्बन्धी विचारों तथा परम्पराओं में जो अन्तर है, उसका बहुत बड़ा अंश तत्कालीन सामाजिक उथल पुथल, धार्मिक झगड़ों, राजनैतिक आन्दोलनों और हिन्दुत्व के सामाजिक धार्मिक तथा बौद्धिक विकास का स्वाभाविक परिणाम है। फिर भी, ताराचन्द के मत में, इस पर इस्लाम का प्रभाव है क्योंकि धार्मिक आस्था का उत्तरा

1 नज्जाम, अशअरी और गजाली प्रसिद्ध सूफी चिन्तक हुए हैं और विष्णुस्वामी, निम्बार्क और मध्व वैष्णव दर्शन के प्रणेता हैं।

त्तर सरलीकरण और उसमे बढ़ती हुयी भावुकता का पुट इस्लामी प्रभावों का ही परिणाम है। जैसा कि ताराचन्द ने लिखा है, "ऐसा लगता है कि जैसे उत्तरोत्तर सरली करण और बढ़ती हुयी भावुकता के पीछे एक निश्चित शक्ति और प्रवृत्ति काम कर रही हो। किन्तु, यह निश्चित शक्ति और प्रवृत्ति हिन्दुत्व का आन्तरिक विकास नहीं है—वह इस्लाम से आयी है। महात्मा बुद्ध द्वारा सरलीकरण की मांग और वेदों की रहस्यवादी अभिव्यक्तियां जैसे अस्तित्व में आकर समाप्त हो गयी हों ? यह मानते हुये भी कि रहस्यवादी धार्मिक अनुभव के रूप में मुसलमानों ने हिन्दुओं को जो कुछ अर्पित किया वह हिन्दुओं के लिए नया नहीं था और हिन्दू मस्तिष्क में सात्मीकरण तथा समन्वय की अपूर्व क्षमता है, वे रहस्यवाद को इस्लाम का ही योगदान मानते हैं क्योंकि उनका तर्क आधारित है परिस्थिति प्रमाण (Circumstantial Evidence) पर—वह प्रमाण जिसमे अनुमान का अधिक पुट रहता है। दक्षिण में, भक्ति तथा रहस्यवाद के अधिकतर तत्व, अपने व्यक्तिगत रूप में हिन्दुत्व के स्वाभाविक विकास का अलग-अलग परिणाम थे। यह स्वीकार करते हुए भी ताराचन्द यह प्रतिपादित करते हैं कि ये सारे तत्व अपने सम्मिलित रूप में और अपने एक विशेष झुकाव के कारण मुस्लिम आस्था (Muslim Faith) का आभास देते हैं और हिन्दुत्व पर मुस्लिम प्रभाव की सम्भावना के तर्क को और भी दृढ़ता प्रदान करते हैं। हिन्दुत्व में इस्लाम की प्रतिकृति और प्रभाव ही ढूंढने वाला विद्वान विरोधी तर्कों की इस भ्रांति में पड़ सकता है और एकतरफा मान्यताओं को प्रतिपादित कर सकता है।

यह दोष न तो डा० ताराचन्द का है और न उनके जैसे अन्य इतिहासकारों का। वास्तव में, यह दोष है ऐतिहासिक विवेचन की उस पुरानी परम्परा का जिसमे इतिहासकार किसी प्रमुख विषय पर ही अपना ध्यान केन्द्रित रखता है और उसे ही प्रधान मानकर और सभी कुछ गौण मान लेता है। डा० ताराचन्द के लिए भारत पर इस्लाम का प्रभाव प्रधान प्रमेय है और इस्लाम के पहले तथा बाद का हिन्दुत्व गौण। किन्तु जहां सतत अभ्युदय वृद्धि और उद्विकास है वहाँ इस्लाम वह प्रवाह है जो एक बड़े प्रवाह से मिलता है। हिन्दुत्व पर इस्लाम का क्या प्रभाव पड़ा यह एक विपर्यातिरिक प्रश्न है ? इस सन्दर्भ में सही प्रश्न यह है कि भारत में इस्लाम के प्रवेश से हिन्दू संस्कृति की उद्विकासी प्रक्रिया में क्या परिवर्तन लहरें उठीं और, उनके मध्य में हिन्दुत्व या व्यापक अर्थ में भारतीय संस्कृति का किस प्रकार उद्विकास हुआ। सांस्कृतिक उद्विकास सदैव समन्वयकारी होता है जिसमे प्रत्येक परिवर्तन एक उद्विकासी परिवर्तन शृंखला से सम्बद्ध रहता है। जहाँ परिवर्तन में स्थायित्व न हो और स्थायित्व में आधारभूत तत्व न बने रहें, वहां केवल परिवर्तन होता है, उद्विकास नहीं। इस्लाम के प्रवेश से हिन्दुत्व का परिवर्तन ही नहीं, उद्विकास भी हुआ।

इस्लाम और हिन्दुत्व की तुलना करते समय अधिकतर लोगों का ध्यान, एक ओर, अरबीकृत इस्लाम पर रहता है तो, दूसरी ओर, हिन्दुत्व के उस रूप पर जो निगम अथवा वैदिक है। किन्तु वास्तव में, आगम (अवैदिक) भी हिन्दुत्व का उतना ही अंग है जितना कि निगम। आगम से निगम और आगम तथा निगम का उत्तरोत्तर समन्वय हिन्दुत्व की उद्विकासी प्रक्रिया की मूल प्रवृत्ति रही है। जन-संस्कृति के तत्व तथा परम्परायें, आगम के माध्यम से, समयानुसार निगम में समन्वित होती रही हैं और इसी कारण समय समय पर मिलने वाली उत्प्रेरणाओं के कारण, हिन्दुत्व में आगम का उभार होता रहा है। भारत में इस्लाम तथा पश्चिमी सभ्यता दो प्रबल उत्प्रेरणायें रही हैं जिनके प्रभाव में आगम का उभार मिला तथा निगम में उसका समन्वय हुआ। मध्ययुग में रहस्यवाद, भक्ति तथा मानवतावादी विचारों का उभार इसी उद्विकासी प्रक्रिया का परिणाम है। भक्ति का एक ओर जन-आन्दोलन के रूप में उभरना तथा दूसरी ओर उसका भारतीय दर्शन की परम्परा में समन्वित होना इसी तथ्य का प्रमाण है।

पन्द्रहवाँ अध्याय

सात्मीकरण, समन्वय, पुनरुन्नयन, सुधार और संघर्ष

पंथ परम्परा

इस्लामी सम्पर्क के वातावरण में, भक्ति-आन्दोलन ने यदि एक ओर हिन्दू ईश्वरवादिता के दार्शनिक निर्वचन तथा पुनःसंस्थापन का रूप लिया था, दूसरी ओर, पंथ परम्परा को, जिसके माध्यम से हिन्दुत्व में निगमागम का व्यापक समन्वय हुआ पुनरुन्नयनवादी सुधारवाद का आन्दोलन बना। अनेक इस्लामी विशेषताओं का हिन्दुत्व में सात्मीकरण और समन्वय हुआ। औपनिषदिक बौद्धिकता के पुनरुन्नयन के द्वारा एकेश्वरवाद के मत का प्रतिपादन करके धर्म और जाति के अन्तर को निस्सार बनाया गया, ज्ञानमय भक्ति को सर्वोपरि माना गया तथा इस्लाम के प्रति विद्रोह का बीजारोपण हुआ। ये सारी प्रक्रियायें एक साथ चलीं और उनके माध्यम थे भक्त-सन्तों द्वारा संगठित पंथ, जिनका आविर्भाव इस काल के सारे भारत में हुआ। ये पंथ हिन्दुओं में मजहबी आस्था लेकर प्रस्फुटित हुए। प्रत्येक पंथ के प्रणेता ने भक्तिमार्गी परम्परा में हिन्दुत्व का निर्वचन करके, अपने पंथ का संगठन किया। पंथ निर्गुणवादी, भक्तिमार्गी जाति-पाँति विरोधी और सहजज्ञानमार्गी थे। इनके प्रणेताओं ने मूर्तिपूजा का खण्डन किया, संन्यास को निरर्थक माना, गृहस्थ-साधु के आदर्श को प्रतिपादित किया और भगवत्भजन को मोक्ष प्राप्ति का

साधन माना। जिस प्रकार, इस्लाम में सूफी पंथों का निम्न स्तर की जनता में संगठन हो रहा था, उसी प्रकार निम्नस्तर की हिंदू जनता में भक्तिवादी पंथों का संगठन हो रहा था। पंथों की भक्तिवादी परम्परा पारलौकिकता की ओर उन्मुख थी यद्यपि इस्लाम का झुकाव इहलौकिकता की ओर था। हिंदू मुस्लिम संघर्ष बादशाहत के अन्त हुए अभाव और निरंतर होने वाले युद्धों के कारण जनता पर पड़ने वाले भार और उससे उत्पन्न होने वाली गरीबी ने सम्भवतः पारलौकिकता के भाव को सामाजिक-मानसिक जीवन का एक अंग बना दिया। अनेक विदेशी सूफी सम्प्रदायों तथा मुगल-राज की बढ़ती हुई कट्टरता ने अनेक पंथों (सिक्ख, सतनामी, बैरागी) को उतना ही कट्टर बना दिया जितना कि इस्लाम था। इस कट्टरता ने संघर्ष को जन्म दिया।

इस काल में जिन पंथों का अभ्युदय हुआ है उनमें से मुख्य हैं — कबीर, सिक्ख, वैष्णवी, राधास्वामी, वीर शैव तथा लिंगायत इत्यादि। गुरु परम्परा में ये पंथ मठीय संगठनों के रूप में विकसित हुए। प्रत्येक पंथ का एक महन्त हुआ और कई पंथ कालान्तर में कई महन्तों में बंट गए। यह पंथ परम्परा उन्नीसवीं शताब्दी तक चलती हुई वर्तमान तक आती है। राधास्वामी सम्प्रदाय की स्थापना उन्नीसवीं शताब्दी में हुई थी और ब्रह्मकुमारी तथा महर बाबा के पंथों के रूप में यह परम्परा आज भी विद्यमान है। एक ओर पुराने पंथ (जैसे कबीर, रैदास और शिवनरायनी) स्थायी रहे हैं और दूसरी ओर नए पंथों की स्थापना हुई। यूरोपीय सभ्यता तथा इसाइयत के सम्पर्क में, इस परम्परा ने समाजों की परम्परा का रूप लेकर वर्तमान समाज सुधार-आन्दोलन का रूप ले लिया है। इसी परम्परा ने भीलों में भगत आन्दोलन जैसे हिन्दुत्व की ओर उन्मुख सुधारवादी आन्दोलनों का रूप लिया है।

निर्गुण पंथों का आविर्भाव उन आदर्शों व भावनाओं के समावेश से हुआ है जिनके मूल स्रोत बौद्धधर्म, वैष्णव सम्प्रदाय, वेदान्त-दर्शन तथा योगमार्गी गोरखनाथी पंथ जैसे धर्मों, दर्शनों व रहस्यवादी पंथों में हैं। सभी निर्गुण पंथों पर अज्ञात उपनिषद तथा वेदान्त का, बौद्ध धर्म का, अज्ञात भारत की योग-परम्परा का, और अज्ञात इस्लाम के सूफीवाद और भक्तिमार्ग का प्रभाव है। इनके आविर्भाव का कारक हैं वे परिस्थितियाँ जो इस्लाम के संघात के कारण भारत में उत्पन्न हुई थीं। ये पंथ व सुधारवादी आन्दोलन हैं जिनमें बौद्ध तथा इस्लामी मजहबों की परम्परा के आधार पर, अलग अलग सुधारवादी सम्प्रदायों को संगठित करने का प्रयास किया है। अलग-अलग सम्प्रदाय होने पर भी ये पंथ साधारणतया सम्प्रदायवादी नहीं रहे हैं, क्योंकि इनमें से अधिकतर पंथों के प्रणेताओं ने हिन्दुत्व और इस्लाम के बीच में एक अलग सामाजिक-धार्मिक दर्शन प्रतिपादित करने का प्रयास किया है। इन सुधारवादी आन्दोलनों के सम्बन्ध में 'पंथ' और 'सम्प्रदाय' का अर्थ है उस आध्यात्मिक मार्ग (अथवा मार्गों) से जिसके आधार पर प्रत्येक पंथ अथवा सम्प्रदाय संगठित हुआ है। निर्गुण पंथों में प्रत्येक पंथ इसलिए सम्प्रदाय कहा जा सकता है कि

पन्द्रहवां अध्याय

सात्मीकरण, समन्वय, पुनरुन्नयन, सुधार और संघर्ष

पंथ-परम्परा

इस्लामी सम्पर्क के वातावरण में भक्ति आंदोलन ने यदि एक ओर हिंदू ईश्वरवादिता के दार्शनिक निर्वचन तथा पुनःसंस्थापन का रूप लिया तो, दूसरी ओर पंथ परम्परा का, जिसके माध्यम से हिंदुत्व में निगमागम का व्यापक समन्वय हुआ पुनरुन्नयनवादी सुधारवाद का आंदोलन बना अनेक इस्लामी विशेषताओं का हिंदुत्व में सात्मीकरण और समन्वय हुआ औपनिषदिक बौद्धिकता के पुनरुन्नयन के द्वारा एकेश्वरवाद के मत का प्रतिपादित करके धर्म और जाति के अंतर को निस्सार बताया गया ज्ञानमय भक्ति को सर्वोपरि माना गया तथा इस्लाम के प्रति विद्रोह का बीजारोपण हुआ। ये सारी प्रक्रियायें एक साथ चलीं और उनके माध्यम से भक्त-संतो द्वारा संगठित पंथ, जिनका आविर्भाव इस काल के सारे भारत में हुआ। ये पंथ हिंदुओं में मजहबी आस्था लेकर प्रस्फुटित हुए। प्रत्येक पंथ के प्रणेता ने भक्तिमार्गी परम्परा में हिंदुत्व का निर्वचन करके, अपने पंथ का संगठन किया। पंथ निर्गुनवादी, भक्तिमार्गी, जाति पाति विरोधी और सहजज्ञानवादी थे। इनके प्रणेताओं ने मूर्तिपूजा का खण्डन किया, संन्यास को निरर्थक माना, गृहस्थ साधु के आदर्श का प्रतिपादित किया और भगवत भजन को मोक्ष प्राप्ति का

साधन माना। जिस प्रकार, इस्लाम में सूफी-पंथों का निम्न स्तर की जनता में संगठन हो रहा था, उसी प्रकार निम्नस्तर की हिन्दू जनता में भक्तिवादी पंथों का संगठन हो रहा था। पंथों की भक्तिवादी परम्परा पारलौकिकता की ओर उन्मुख थी यद्यपि इस्लाम का झुकाव इहलौकिकता की ओर था। हिन्दू मुस्लिम संघर्ष, बादशाहत के बढ़ते हुए वैभव और निरंतर होने वाले युद्धों के कारण जनता पर पड़ने वाले भार और उससे उत्पन्न होने वाली गरीबी ने सम्भवतः पारलौकिकता के भाव को सामाजिक मानसिक जीवन का एक अंग बना दिया। अनेक विदेशी सूफी सम्प्रदायों तथा मुगल-राज की बढ़ती हुई कट्टरता ने अनेक पंथों (सिक्ख सतनामी वैरागी) को उतना ही कट्टर बना दिया जितना कि इस्लाम था। इस कट्टरता ने संघर्ष को जन्म दिया।

इस काल में जिन पंथों का अभ्युदय हुआ है उनमें से मुख्य हैं — कबीर, सिक्ख वैष्णवी, राधास्वामी, वीर शैव तथा लिंगायत इत्यादि। गुरु परम्परा में ये पंथ मठों या संगतों के रूप में विकसित हुए। प्रत्येक पंथ का एक महंत हुआ और कई पंथ कालान्तर में कई महंतों में बंट गए। ये पंथ परम्परा उन्नीसवीं शताब्दी तक चलती हुई वर्तमान तक आती है। राधास्वामी सम्प्रदाय की स्थापना उन्नीसवीं शताब्दी में हुई थी और ब्रह्मकुमारी तथा मेहर बाबा के पंथों के रूप में यह परम्परा आज भी विद्यमान है। एक ओर, पुराने पंथ (जैसे कबीर, रैदास और शिवनारायनी) स्थायी रहे हैं और, दूसरी ओर, नए पंथों की स्थापना हुई। योरोपीय सभ्यता तथा ईसाइयत के सम्पर्क में, इस परम्परा ने समाजों की परम्परा का रूप लेकर वर्तमान समाज सुधार-आन्दोलन का रूप ले लिया है। इसी परम्परा ने भीलों में भगत आन्दोलन जैसे हिन्दुत्व की ओर उन्मुख सुधारवादी आन्दोलनों का रूप लिया है।

निर्गुण-पंथों का आविर्भाव उन आदर्शों व भावनाओं के समावेश से हुआ है जिनके मूल स्रोत बौद्धधर्म, वैष्णव सम्प्रदाय, वेदान्त-दर्शन तथा योगमार्गी गोरखनाथी पंथ जैसे धर्मों, दर्शनों व रहस्यवादी पंथों में हैं। सभी निर्गुण पंथों पर अनंत उपनिषद तथा वेदान्त का, बौद्ध धर्म का अनंत भारत की योग-परम्परा का, और अनंत इस्लाम के सूफीवाद और भक्तिमार्ग का प्रभाव है। इनके आविर्भाव का कारक हैं वे परिस्थितियां जो इस्लाम के संघात के कारण भारत में उत्पन्न हुई थीं। ये पंथ व सुधारवादी आन्दोलन हैं जिनमें बौद्ध तथा इस्लामी मजहबों की परम्परा के आधार पर, अलग अलग सुधारवादी सम्प्रदायों को संगठित करने का प्रयास किया है। अलग-अलग सम्प्रदाय होने पर भी ये पंथ साधारणतया सम्प्रदायवादी नहीं रहे हैं क्योंकि इनमें से अधिकतर पंथों के प्रणेताओं ने हिन्दुत्व और इस्लाम के बीच में एक अलग सामाजिक धार्मिक स्थान प्रतिपादित करने का प्रयास किया है। इन सुधारवादी आन्दोलनों के सम्बन्ध में 'पंथ' और 'सम्प्रदाय' का अर्थ है उस आध्यात्मिक मार्ग (अथवा मार्गों) में जिसके आधार पर प्रत्येक पंथ अथवा सम्प्रदाय संगठित हुआ है। निर्गुण पंथों में प्रत्येक पंथ इसलिए सम्प्रदाय कहा जा सकता है कि

पन्द्रहवां अध्याय

सात्मीकरण, समन्वय, पुनरुन्नयन, सुधार और संघर्ष

पन्थ परम्परा

इस्लामी सम्पर्क के वातावरण में भक्ति आन्दोलन ने यदि एक ओर हिन्दू ईश्वरवादिता के दार्शनिक निर्वचन तथा पुनःसंस्थापन का रूप लिया तो, दूसरी ओर, पन्थ परम्परा का, जिसके माध्यम से हिन्दुत्व में निगमागम का व्यापक समन्वय हुआ, पुनरुन्नयनवादी सुधारवाद का आन्दोलन बना। अनेक इस्लामी विशेषताओं का हिन्दुत्व में सात्मीकरण और समन्वय हुआ, औपनिषदिक बौद्धिकता के पुनरुन्नयन के द्वारा एकेश्वरवाद के मत को प्रतिपादित करके धर्म और जाति के अन्तर को निस्सार बताया गया, ज्ञानमय भक्ति को सर्वोपरि माना गया तथा इस्लाम के प्रति विद्रोह का बीजारोपण हुआ। ये सारी प्रक्रियायें एक साथ चलीं और उनके माध्यम थे भक्त सन्तों द्वारा संगठित पन्थ, जिनका आविर्भाव इस काल में सारे भारत में हुआ। ये पन्थ हिन्दुओं में मजहबी आस्था लेकर प्रस्फुटित हुए। प्रत्येक पन्थ के प्रणेता ने भक्तिमार्गी परम्परा में हिन्दुत्व का निर्वचन करके अपने पन्थ का संगठन किया। पन्थ निर्गुनवादी, भक्तिमार्गी, जाति-पाँति विरोधी और सहजज्ञानवादी थे। इनके प्रणेताओं ने मूर्त्तिपूजा का खण्डन किया, संन्यास को निरर्थक माना, गृहस्थ साधु के आदर्श को प्रतिपादित किया और भगवत भजन को मोक्ष प्राप्ति का

साधन माना। जिस प्रकार, इस्लाम म सूफी पन्था का निम्न स्तर की जनता मे सगठन हो रहा था, उसी प्रकार, निम्नस्तर की हिन्दू जनता म भक्तिवादी पन्थो का सगठन हो रहा था। पन्था की भक्तिवादी परम्परा पारलौकिकता की ओर उन्मुख थी यद्यपि इस्लाम का भुकाव इहलौकिकता की ओर था। हिन्दू मुस्लिम सघर्ष, बादशाहत के बदल हुए वभव और निरन्तर होने वाले युद्धो के कारण जनता पर पडन वाले भार और उसस उत्पन्न होने वाली गरीबी ने सम्भवत पारलौकिकता के भाव को सामाजिक-मानसिक जीवन का एक अग बना दिया। अनेक विदेशी सूफी सम्प्रदायो तथा मुगल राज की बढती हुई कट्टरता ने अनेक प था (सिक्ख सतनामी वैरागी) को उतना ही कट्टर बना दिया जितना कि इस्लाम था। इस कट्टरता ने सघर्ष को जन्म दिया।

इस काल म जिन पन्थो का अभ्युदय हुआ है उनम से मुख्य हैं — कबीर सिक्ख वष्णवा, राधास्वामी, वीर शव तथा लिंगायत इत्यादि। गुरु परम्परा म य पन्थ मठामा सगठनो के रूप म विकसित हुए। प्रत्येक प थ का एक महन्त हुआ और कई पन्थ कालान्तर म कई महन्तो म बट गए। य प थ परम्परा उन्नीसवी शताब्दी तक चलती हुई वतमान तक आती है। राधास्वामी सम्प्रदाय की स्थापना उन्नीसवी शताब्दी म हुई थी और ब्रह्मकुमारी तथा मेहर बाबा के प थो के रूप मे यह परम्परा आज भी विद्यमान है। एक ओर, पुराने पन्थ (जसे कबीर रदास और शिवनरायनी) स्थायी रह हैं और, दूसरी ओर नए प था की स्थापना हुई। यारोपीय सभ्यता तथा इसाइयत के सम्पर्क मे, इस परम्परा ने समाजो की परम्परा का रूप लेकर वतमान समाज सुधार-आन्दोलन का रूप ले लिया है। इसी परम्परा न भीलो म भगत आन्दोलन जसे हिन्दुत्व का और उन्मुख सुधारवादी आन्दोलना का रूप लिया है।

निर्गुण प थो का आविर्भाव उन आदर्शों व भावनाओं के समावेश से हुआ है जिनके मूल स्रोत बौद्धधम, वष्णव सम्प्रदाय वेदान्त दशन तथा योगमार्गी गोरखनाथी पन्थ जस धर्मो, दशनो व रहस्यवादी प था म है। सभी निर्गुण पन्थो पर अशत उपनिषद् तथा वेदान्त का बौद्ध धम का, अशत भारत की योग परम्परा का, और अशत इस्लाम के सूफीवाद और भक्तिमाग का प्रभाव है। इनके आविर्भाव का कारक हैं वे परिस्थितिया जो इस्लाम के सघात के कारण भारत म उत्पन्न हुई थी। ये पन्थ वे सुधारवादी आन्दोलन है जिनम बौद्ध तथा इस्लामी मजहबो की परम्परा के आधार पर, अलग अलग सुधारवादी सम्प्रदायो को सगठित करन का प्रयास किया है। अलग-अलग सम्प्रदाय होने पर भी य पन्थ साधारणतया सम्प्रदायवादी नहीं रहे है क्योकि इनम स अधिकतर पन्था के प्रणताओ ने हिन्दुत्व और इस्लाम के बीच म एक अलग सामाजिक धार्मिक स्थान प्रतिपादित करने का प्रयास किया है। इन सुधारवादी आन्दोलनो के सम्बन्ध म 'पन्थ' और 'सम्प्रदाय' का अथ है उस आध्यात्मिक माग (अथवा मार्गो) से जिसके आधार पर प्रत्येक प थ अथवा सम्प्रदाय सगठित हुआ है। निर्गुण पन्था म प्रत्येक पन्थ इसलिए सम्प्रदाय कहा जा सकता है कि

पन्द्रहवां अध्याय

सात्मीकरण, समन्वय, पुनरुन्नयन, सुधार और संघर्ष

पंथ-परम्परा

इस्लामी सम्पर्क के वातावरण में, भक्ति-आंदोलन ने यदि एक ओर हिंदू ईश्वरवादिता के दार्शनिक निर्वचन तथा पुनः संस्थापन का रूप लिया तो, दूसरी ओर, पंथ परम्परा का जिसके माध्यम से हिंदुत्व में निगमागम का व्यापक समन्वय हुआ पुनरुन्नयनवादी सुधारवाद का आंदोलन बना अनेक इस्लामी विशेषताओं का हिंदुत्व में सात्मीकरण और समन्वय हुआ औपनिषदिक बौद्धिकता के पुनरुन्नयन के द्वारा एकेश्वरवाद के मत का प्रतिपादित करके धर्म और जाति के अंतर को निस्सार बताया गया, ज्ञानमय भक्ति को सर्वोपरि माना गया तथा इस्लाम के प्रति विद्रोह का बीजारोपण हुआ। ये सारी प्रक्रियायें एक साथ चली और उनके माध्यम थे भक्त संतों द्वारा संगठित पंथ जिनका आविर्भाव इस काल के सारे भारत में हुआ। ये पंथ हिंदुओं में मजहबी आस्था लेकर प्रस्फुटित हुए। प्रत्येक पंथ के प्रणेता ने भक्तिमार्गी परम्परा में हिंदुत्व का निर्वचन करके, अपने पंथ का संगठन किया। पंथ निर्गुणवादी भक्तिमार्गी जाति-पाति विरोधी और सहजज्ञानवादी थे। इनके प्रणेताओं ने मूर्तिपूजा का खण्डन किया, संन्यास को निरर्थक माना, गृहस्थ साधु के आदर्श को प्रतिपादित किया और भगवत भजन को मोक्ष प्राप्ति का

पूर्व इस्लामी भारत में हैं और इस्लामी ऐतिहासिक वातावरण ने इसे एक नई अभिव्यक्ति दी जिसमें आगम निगम और इस्लामी वैचारिक प्रभावों का समन्वय हुआ है। इस समन्वय से हिन्दुत्व का उन्विकास पुनरुन्नयन और रूपान्तरण हुआ है तथा उसमें विभेद भी आए हैं। इस्लामी सम्पर्क से उत्पन्न हिन्दू संस्कृतिकरण की इस प्रक्रिया को स्पष्ट करने के लिए कुछ पन्थों का वर्णन यहाँ प्रस्तुत किया गया है।

पन्थ-परम्परा के बीच से संस्कृतिकरण की पुनरुन्नयनवादी प्रक्रिया के रूप में, हिन्दू राष्ट्रवादिता का विकास भी इसीकाल में हुआ है। महाराष्ट्र धर्म और शिवाजी के प्रणेता गुरु रामदास पन्थ परम्परा के ही सन्त थे यद्यपि उन्होंने किसी पन्थ विशेष की स्थापना नहीं की। सम्भवतः, महाराष्ट्र धर्म के रूप में, उनकी पन्थ की धारणा धर्म राष्ट्र राज्य में बदल गई थी। धर्मराज्य के स्थान पर धर्म राष्ट्र की धारणा का विकास हिन्दुत्व में एक महत्वपूर्ण विकास है जिसका प्रतिष्ठापापन हिन्दू तथा मुस्लिम अभिजात वर्गों के आर्थिक राजनैतिक संघर्ष में हुआ है और भारत में अंग्रेजी राज की स्थापना से इसे प्रोत्साहन मिला है। इस्लाम धर्म राष्ट्र राज्य का प्रतिष्ठापोषक रहा है और इसी की प्रतिक्रिया के फलस्वरूप सम्भवतः यह विकास हुआ होगा। एक ओर, औरंगजेब के साथ मुगल साम्राज्य का अपने वैभव की पराकाष्ठा पर पहुँचना और, दूसरी ओर, पन्थ परम्परा का पारलौकिकता को छोड़कर, हिन्दू पुनरुन्नयनवादी राष्ट्रवादिता में बदलना एक ऐसा विकास है जिसे हिन्दू मुस्लिम कट्टरता का प्रतिफल ही कहकर नहीं टाला जा सकता है। बढ़ती हुई जनसंख्या के कारण कृषि व्यवस्था पर पड़ता हुआ दबाव, उत्पादन का निम्न स्तर, विदेशी व्यापार पर बढ़ता हुआ विदेशी अधिकार और विदेशी व्यापार के माध्यम से बढ़ता हुआ पूंजीवादी प्रभाव सम्भवतः उस सामाजिक क्रान्ति के कारण हैं जो पन्थ परम्परा के माध्यम से तत्कालीन सामन्ती सम्राटवादी व्यवस्था में प्रस्फुटित हुई थी, किन्तु जिसे, यहाँ की सामाजिक संरचना में, हिन्दू मुस्लिम संघर्ष का तथा हिन्दू राष्ट्रवादिता बनाम इस्लामी राष्ट्रवादिता का रूप मिला। ज्यों-ज्यों भारत में अंग्रेजी राज का संगठन बढ़ा यह प्रक्रिया और भी प्रखर होती गई और उसके परिणाम स्वरूप, एक ओर, हिन्दूवादिता बढ़ी और दूसरी ओर, इस्लाम की अरबीवादिता। हिन्दू राष्ट्रवादिता, मुस्लिम राष्ट्रवादिता और समन्वयकारी धर्म निरपेक्षिता हिन्दू मुस्लिम सम्पर्क से उत्पन्न संस्कृतिकरण के तीन समानान्तर विकास हैं, जिनका यहाँ वर्णन किया गया है।

प्रत्येक पंथ के प्रणेता ने एक विशिष्ट आध्यात्मिक विचारधारा का प्रतिपादन किया है जिसके आधार पर उसके अनुयाइयों ने अपने सामाजिक-आध्यात्मिक जीवन को संगठित किया। प्रत्येक पंथ इस दृष्टिकोण से वस्तुतः एक विशिष्ट सामाजिक आध्यात्मिक संघ है।

इन पंथों का प्रसार और प्रभाव निम्नवर्णी जातियों और उन गणजातीय समूहों में हुआ है जो आदिवासी स्तर से उठकर हिन्दुत्व के सीमान्त क्षेत्र में आ गए थे। बुद्धवाद के द्वारा आदिवासी समूहों का जो मन्द हिन्दूकरण हुआ था उसी ने इस प्रक्रिया को प्रोत्साहन दिया क्योंकि भक्ति-आन्दोलन ने इसके लिए एक नया अवसर प्रदान किया और एक नई प्रेरणा दी। इस विषय में ध्यान देने योग्य तथ्य यह है कि इस आन्दोलन को धार्मिक वैधता ब्राह्मणों ने प्रदान की क्योंकि भक्ति-आन्दोलन के दार्शनिक प्रणेता ब्राह्मण ही थे यद्यपि बाद में यह आन्दोलन गैर-ब्राह्मणों के हाथ में रहा। आगम के साथ निगम के समन्वय को धार्मिक वैधता ब्राह्मणों से ही मिलती रही है। अपनी कल्पाचारी सामाजिक प्रतिष्ठा को व्यापक सामाजिक वैधता प्रदान करने के लिए और उसके आधार पर शासक वर्ग की नजरों में अपनी प्रतिष्ठा बनाए रखने के लिए ही सम्भवतः ब्राह्मण इन सुधारवादी आन्दोलनों और समयानुसार हिन्दुत्व के नवनिर्वचन की ओर प्रेरित रहे हैं। कुछ भी हो इस प्रक्रिया ने हिन्दुत्व के उद्विकासी नैरन्तर्य को बनाए रखा है, जिसका वर्णन इस पुस्तक के अन्तिम अध्याय में किया गया है। वर्ग संरचना के दृष्टिकोण से यदि इस प्रक्रिया पर विचार किया जाय तो यह स्पष्ट होता है कि भक्ति का सामाजिक आन्दोलन निम्न तथा मध्यवर्गीय जनता का आन्दोलन था। इस स्तर की जनता, एक ओर इस्लामी साम्राज्य के भार से दबी थी तो दूसरी ओर हिन्दू तथा मुस्लिम अभिजात वर्ग के बोझ से। ऐसी दशा में, भक्ति आन्दोलन पारलौकिकता तथा प्रगति का सन्देश लेकर एक नई आशा के रूप में अवतरित हुआ। इस दृष्टिकोण से, मध्यकालीन पंथ परम्परा का सामाजिक ऐतिहासिक अध्ययन अभी भी होना है।

इन पंथों के अलग अलग वर्णनात्मक अध्ययन तो मिलते हैं किन्तु इनके तुलनात्मक अध्ययनों की कमी है। स्वर्गीय पीताम्बरदत्त बड़थ्वाल ने इन पंथों का एक अध्ययन प्रस्तुत किया है[1]। किन्तु यह अध्ययन साहित्यिक है और निर्गुण पंथों की दार्शनिक पृष्ठभूमि के तुलनात्मक विश्लेषण तक ही सीमित है। मध्यकालीन पंथ परम्परा निर्गुण भी है और सगुण भी यद्यपि इसमें निर्गुण परम्परा का प्राधान्य है। हां, बड़थ्वाल के अध्ययन से यह अवश्य स्पष्ट होता है कि पंथ परम्परा की जड़ें

1　देखिए पीताम्बरदत्त बड़थ्वाल द्वारा रचित 'निरगुन स्कूल आफ हिन्दी पोयट्री' जिसका हिन्दी अनुवाद 'हिन्दी काव्य में निर्गुण सम्प्रदाय' के नाम से प्रकाशित हुआ है।

पूर्व इस्लामी भारत में हैं और इस्लामी ऐतिहासिक वातावरण ने इन्हें एक नई अभिव्यक्ति दी जिसमें आगम, निगम और इस्लामी वैचारिक प्रभावों का समन्वय हुआ है। इस समन्वय से हिन्दुत्व का उदविकास, पुनरुन्नयन और रूपान्तरण हुआ है तथा उसमें विभेद भी आए हैं। इस्लामी सम्पर्क से उत्पन्न हिन्दू संस्कृतिकरण की इस प्रक्रिया को स्पष्ट करने के लिए कुछ पंथों का वर्णन यहाँ प्रस्तुत किया गया है।

पंथ-परम्परा के बीच से संस्कृतिकरण की पुनरुन्नयनवादी प्रक्रिया के रूप में, हिन्दू राष्ट्रवादिता का विकास भी इसीकाल में हुआ है। महाराष्ट्र धर्म और शिवाजी के प्रणेता गुरु रामदास पंथ परम्परा के ही सन्त थे यद्यपि उन्होंने किसी पंथ विशेष की स्थापना नहीं की। सम्भवत, महाराष्ट्र धर्म के रूप में, उनकी पंथ की धारणा धर्म राष्ट्र राज्य में बदल गई थी। धर्मराज्य के स्थान पर, धर्म राष्ट्र की धारणा का विकास हिन्दुत्व में एक महत्वपूर्ण विकास है जिसका प्रतिष्ठापापण हिन्दू तथा मुस्लिम अभिजात वर्गों के धार्मिक राजनैतिक संघर्ष में हुआ है और भारत में अंग्रेजी राज की स्थापना से इसे प्रोत्साहन मिला है। इस्लाम धर्म राष्ट्र राज्य का प्रतिष्ठापोषक रहा है और इसी की प्रतिक्रिया के फलस्वरूप सम्भवत यह विकास हुआ होगा। एक ओर, औरंगजेब के साथ मुगल साम्राज्य का उत्पन्न वैभव की पराकाष्ठा पर पहुँचना और, दूसरी ओर, पंथ परम्परा का पारलौकिकता को छोड़कर, हिन्दू पुनरुन्नयनवादी राष्ट्रवादिता में बदलना एक ऐसा विकास है जिसे हिन्दू मुस्लिम कट्टरता का प्रतिफल ही कहकर नहीं टाला जा सकता है। बढ़ती हुई जनसंख्या के कारण कृषि व्यवस्था पर पड़ता हुआ दबाव, उत्पादन का निम्न स्तर विदेशी व्यापार पर बढ़ता हुआ विदेशी अधिकार और विदेशी व्यापार के माध्यम से बढ़ता हुआ पूँजीवादी प्रभाव सम्भवत उस सामाजिक शान्ति के कारण हैं जो पंथ परम्परा के माध्यम से तत्कालीन सामन्ती-सम्राटवादी व्यवस्था में प्रस्फुटित हुई थी, किन्तु जिसे, यहाँ की सामाजिक संरचना में, हिन्दू मुस्लिम संघर्ष का नया हिन्दू राष्ट्रवादिता बनाम इस्लामी राष्ट्रवादिता का रूप मिला। ज्यों-ज्यों भारत में अंग्रेजी राज का संगठन बढ़ा यह प्रक्रिया और भी प्रखर होती गई और उसके परिणाम स्वरूप, एक ओर, हिन्दूवादिता बढ़ी और, दूसरी ओर, इस्लाम की अरबीवादिता। हिन्दू राष्ट्रवादिता, मुस्लिम राष्ट्रवादिता और समन्वयकारी धर्म निरपेक्षिता हिन्दू-मुस्लिम सम्पर्क से उत्पन्न संस्कृतिकरण के तीन समानान्तर विकास हैं, जिनका यहाँ वर्णन किया गया है।

२

पन्थ परम्परा के कुछ उदाहरण

इस्लाम की उत्प्रेरणा से आगम का उभार और निगम से उसका समन्वय न तो रहस्यवाद में उतना स्पष्ट है और न मानवतावादी वीर शैव समाज भक्तिवादी आन्दोलन में जितना कि वह वीरशैव समाज, सिक्ख सम्प्रदाय, राधास्वामी सम्प्रदाय और महाराष्ट्र धर्म की धारणा में निहित हिन्दू राष्ट्रवादिता के अभ्युदय में स्पष्ट है। इनमें यदि, एक ओर, जनवादी परम्पराओं को उभारने का प्रयास है तो दूसरी ओर, इस्लाम से लिये तत्वों को जनवादी परम्पराओं के साथ मिलाकर, उनका निगमसम्मत निर्वचन करके, हिन्दुत्व के पुनः संस्थापन का प्रयास है। वीरशैव समाज, नव भक्तिधारा का सामाजिक संस्करण है। इसकी स्थापना कालाचरि वंश के राजा विज्जल (1156-67) के मन्त्री वासव ने की थी। वीरशैवों की प्रधानता बेलगाँव, बीजापुर, धारवाड़ जिलों तथा मैसूर और कोल्हापुर राज्यों में है। वासव के समकालीन अल्लम प्रभु इस सम्प्रदाय के सबसे बड़े सन्त थे और वे ही वास्तव में इस सम्प्रदाय के प्रणेता थे। कन्नड़ भाषा में वीरशैव साहित्य की परम्परा ग्यारहवीं सदी तक पहुँचती है। शैव होने के नाते इस सम्प्रदाय के लोग परशिव को ईश्वर मानते हैं और अल्लम प्रभु को उनका अवतार। कन्नड़ भाषा में अल्लम का अर्थ अल्ला का अनुचर नहीं है। उसका अर्थ है लिंगायत भक्त। वीरशैव लिंगायत सम्प्रदाय के हैं और लघुलिंग की मूर्ति अपने साथ यज्ञोपवीत की भाँति रखते हैं। ये लोग मन्दिरों में भी पूजा करते हैं। इनका अन्तिम उद्देश्य है परशिव के साथ आनन्द मिलन। इस मिलन के लिये दीक्षा लेने वाले का पुनर्जन्म नहीं होता है। वीरशैव-सम्प्रदाय के अनुसार, पुनर्जन्म उन्हीं का होता है जो भावी हैं अर्थात जो भाव अथवा संसार में फँसे हुये हैं। दिनकर के अनुसार वीरशैव सम्प्रदाय शक्ति विशिष्ट अद्वैतवादी सम्प्रदाय है[1]। डा० ताराचन्द के अनुसार, वीरशैव अपने को वेदों का खंडन करने वाला [illegible] मानते हैं। श्राद्ध में उनका विश्वास नहीं है। वीरशैव भक्त संन्यासी तथा युद्धप्रिय होते हैं। इनमें बाल विवाह का निषेध है और तलाक तथा विधवा विवाह जायज है। इनमें जाति का महत्व नहीं है क्योंकि इनके यहाँ अन्त्यज भी दीक्षित होकर ब्राह्मण के समान हो जाता है। इनमें यज्ञ, उपवास और तीर्थयात्रा का महत्व नहीं है। वीरशैवों में मदिरा और आमिष का निषेध है। वीरशैव समाज इस्लाम का अनुकरणमात्र नहीं है। वीरशैव एक उग्र शैव सम्प्रदाय है जिसमें संन्यास और गृहस्थ धर्म की परम्पराओं का समन्वय किया गया है।

---

1 दिनकर वही पृष्ठ 290

सिक्ख पन्थ के प्रणेता थे नानक जिन्होंने जैसा कि 'रहतनामा' से स्पष्ट है, खालसा धर्म (शुद्ध धर्म) की, इस्लाम और हिन्दुत्व से अलग स्थापना की। कबीर की तरह वह एक ओर, हिन्दुत्व से असन्तुष्ट थे और दूसरी ओर, इस्लाम से। जिस प्रकार, आल्वार सन्तों के पदों के संग्रह से वैष्णवी पद्धति का निखार हुआ और नायनार सन्तों के पदों से शैव पद्धति का, वैसे ही, नानक के पदों के संग्रह से सिक्ख सम्प्रदाय की नींव पड़ी। यह संग्रह सिक्ख सम्प्रदाय के पाँचवें गुरु अर्जुनदेव ने सन सोलह सौ चार ईस्वी में ग्रन्थ साहिब के नाम से करवाया[1]। गुरु नानक वेदान्त की निराकारी परम्परा के मानने वाले थे। नानक का सूफी सन्तों से सम्पर्क था। शेख फरीद और गुरु नानक की गाढ़ी मैत्री के भी प्रमाण मिलते हैं। गुरु नानक बगदाद गये थे और वहां उनकी यादगार में जो मन्दिर बनाया गया था, वह आज भी उनके मैत्रीपूर्ण चेलों की सरगता में है[2]। विद्वानों का ऐसा मत है कि उन पर सूफीवाद का विशेषतया ईरानी तसव्वुफ का प्रभाव है। किन्तु इतना होने पर भी उन्होंने जिस पन्थ की स्थापना की वह निराकारवादी है और उसमें ईश्वर की कल्पना इस्लाम की ईश्वर की कल्पना से भिन्न है। गुरु नानक का ईश्वर निराकार पुरुष है, परमात्मा है और विश्व के कण कण में व्याप्त है। सृष्टि ईश्वर का प्रतीक है वह ब्रह्ममय है। वे ब्रह्मा विष्णु, महेश, शिव को मानते हैं। कर्म, पुनर्जन्म, निर्वाण और माया में उनका विश्वास है। वैराग्य साधना में उनकी आस्था थी जिसे पौराणिक प्रभाव कहा जा सकता है और सूफी प्रभाव भी। नानक गुरु शिष्य परम्परा के मानने वाले थे। अतः, वे सिक्ख पन्थ के आदि गुरु हुये हैं[3]। यह नानक के द्वारा चलाई हुई परम्परा का परिणाम है कि

---

1 यह संग्रह गुरमुखी लिपि में किया गया था और तभी से गुरमुखी और सिक्ख सम्प्रदाय का गठबन्धन हो गया। वैसे नानक और अन्य गुरुओं ने अधिकतर हिन्दी के ही शब्दों का प्रयोग किया है। उदाहरण के लिये सिक्ख धर्म ग्रन्थ में लिखा हुआ दोहा देखिये

> राम कथा जुग जुग अटल, जो कोई गावे नेत।
> स्वर्गवास रघुबर कियो सगली पुरी समेत।

2 सेन, क्षितिमोहन दि मेडिवल मिस्टिसिज्म आफ इण्डिया (दिनकर से उद्धृत पृष्ठ 319)

3 सिक्ख पंथ में कुल मिलाकर दस गुरु हुए हैं जिनके नाम इस प्रकार हैं — नानक, अंगद अमरदास, रामदास, अर्जुनदेव, हरगोविन्द, हरराय, हरकृष्णराय तेगबहादुर और गोविन्दसिंह। प्रत्येक गुरु अपने जीवनकाल में ही अपने शिष्य को चुनकर मनोनीत करता था। किन्तु, गोविन्दसिंह को जब सोते समय

सामरिकता का हिंदूकृत रूप है। सिक्ख पंथ हिंदू संस्कृतिकरण की प्रक्रिया का एक वह रूप है जिसमें सात्मीकरण, पुनर्नयन, प्रतिक्रिया और संघर्ष एक साथ समा गये।

उन्नीसवीं शताब्दी के उत्तरार्द्ध में, जब भारत में अंग्रेजी राज्य की स्थापना हो चुकी थी, भारत पर योरोपीय प्रौद्योगिकी तथा पूंजीवा

राधास्वामी पंथ का संघात दृढ़तर होता जा रहा था, बंगाल में ब्रह्मसमाज आंदोलन के रूप में आधुनिक भारत का प्रस्फुटन हो रहा था, एक अभिनव मार्ग की तलाश में स्वामी दयानन्द अपने गुरु विरजानन्द के पास निगम परम्पराओं का नव निर्वचन सीख रहे थे, ईसाइयत का हिंदुत्व पर आक्रमण हो रहा था और शिक्षित वर्ग में योरोपवादिता बढ़ रही थी, उस समय, आगरे में, राधास्वामी सम्प्रदाय के रूप में मध्यकालीन भारत की निर्गुण पंथ परम्परा का अभ्युत्थान, पंथ परम्परा के विकास की एक चरम परिणति है। राधास्वामी पंथ के बाद भी पंथों का संगठन हुआ है किन्तु उनमें पंथ परम्परा के उत्विकास का वह रूप नहीं है जो राधास्वामी सम्प्रदाय में है। जिस सामाजिक आध्यात्मिक दर्शन को लेकर पंथों के प्रणेता चले थे उसका गहनतम रहस्यवादी विकास राधास्वामी सम्प्रदाय में हुआ। कबीर की आनुभूतिक सरलता यहां जटिल हो गई है। राधास्वामी सम्प्रदाय पंथ-परम्परा में विकसित सम्प्रदायों से दो रूपों में भिन्न है—एक, मध्ययुगीन आध्यात्मिक दर्शन की पृष्ठभूमि में यह सम्प्रदाय आधुनिकता की ओर उन्मुख हुआ है और, दूसरा राधास्वामी सम्प्रदाय का अधिकतम प्रभाव मध्यवर्गी जनता पर हुआ है—वह जनता जो मध्यवर्गी है और जिसने अंग्रेजी राज्यकाल में, सामाजिक सांस्कृतिक आन्दोलन को आगे बढ़ाया है। अंग्रेजी राज के माध्यम से पूंजीवादी प्रभावों ने यदि एक ओर मध्यवर्ग को सामाजिक निखार दिया तो दूसरी ओर, मध्यवर्ग के लिये सामाजिक आर्थिक विपन्नता की स्थिति भी उत्पन्न की। राधास्वामी सम्प्रदाय भी उतना ही परलोकवादी है जितना कि अन्य निर्गुण पंथ। किन्तु यहां परलोकवादिता का अर्थ संसार-त्याग और विज्ञान की अवहेलना नहीं है। जहांगीर के समय से ही आगरे में ईसाइयत का प्रभाव पड़ने लगा था। समाजों (ब्रह्मसमाज, आर्यसमाज इत्यादि) की परम्परा ईसाइयत तथा योरोपवादिता से हिंदुत्व की रक्षा करने के प्रयास में विकसित हुई जिसके प्रणेता मध्यवर्ग से प्राय: हैं। ऐसी परिस्थिति में, राधास्वामी सम्प्रदाय मध्यवर्गी जनता में मध्ययुगीन पंथ परम्परा के पुनर्नयन के रूप में आया। राधास्वामी सम्प्रदाय का शहरों में ही केंद्रित रहना इस तथ्य की ओर भी पुष्टि करता है। अन्य पंथों के धर्मगुरु अधिकतर अशिक्षित वर्ग से आये हैं जबकि इस पंथ के गुरु शिक्षित वर्ग से।

राधास्वामी सम्प्रदाय के आदि प्रवर्तक हुजूर राधास्वामी दयालु उर्फ स्वामीजी महाराज, जिनका जन्म का नाम शिवदयालसिंह था, आगरे के एक खत्री परिवार

म सन अठारह सौ अठारह म जन्म थे। श्री शिवदयालसिंह लगभग पन्द्रह साल तक 'सुरत शब्द योग' की साधना करते रहे और सन् अठारह सौ साठ, विक्रमी सम्वत उन्नीस सौ सत्रह म, वसन्त पचमी के दिन उन्होने एक सावजनिक सभा म भाषण करके अपने सम्प्रदाय का प्रतिपादन किया। सन अठारह सौ अठत्तर म, श्री शिवदयालसिंह की मृत्यु के बाद से, इस सम्प्रदाय की उत्तरी भारत म अलग अलग गद्दिया स्थापित होती रहा। सन अठारह सौ अठा नवे म, जब इस सम्प्रदाय के दूसरे गुरु राय शालिग्राम बहादुर की मृत्यु हुई, तब इस सम्प्रदाय की ब्यास, तरनतारन और दिल्ली म तीन अलग-अलग गद्दियाँ स्थापित हो चुकी थी। सन उन्नीस सौ सात म, आगरे म ही दयालबाग की एक अलग गद्दी स्थापित हुई। उसी साल बगाल के पबना जिले म ठाकुर अनुकूलचन्द्र चक्रवर्ती न एक अलग गद्दी की स्थापना की और सन उन्नीस सौ तेरह म भैयाजी पडित योगेशचन्द्र मिश्र तिवारी ने बनारस म एक अलग राधास्वामी सम्प्रदाय की गद्दी की स्थापना की। इस समय इस सम्प्रदाय की, असली गद्दी के सिवा, सात अलग अलग गद्दियाँ हैं।[1]

राधास्वामी सम्प्रदाय एक सामाजिक आध्यात्मिक सघ है, जिसका विकास मध्यकालीन भारत की निगुण भक्ति परम्परा की विचारधारा की पृष्ठभूमि म हुआ है। राधास्वामी सम्प्रदाय का एक आधार मध्यकालीन भारत के सामाजिक सुधार आन्दोलन की विचार प्रक्रिया है, और दूसरा वह आध्यात्मिक दर्शन प्रणाली, जिसका प्रणयन इस सम्प्रदाय के प्रणेता श्री शिवदयालसिंह ने किया है। जसाकि सभी निगुण सम्प्रदायो मे पाया गया है राधास्वामी सम्प्रदाय म भी जाति पाति के सामाजिक बन्धना का निस्सार बताया गया है और तीर्थाटन, व्रत मन्दिर मूर्ति पूजा और जप का निषेध किया गया है। राधास्वामी सम्प्रदाय के सामाजिक सगठन का मूलाधार गुरु परम्परा है। आध्यात्मिक ज्ञान गुरु के द्वारा ही प्राप्त होता है[2]। इसीलिय

1 गौड, रामदास हिन्दुत्व
बड़थ्वाल, पीताम्बर दत्त हिन्दी काव्य में निगुण सम्प्रदाय पृष्ठ 302

2 राधास्वामी मत के प्रणेता शिवदयाल का कहना है कि 'शिष्य को चाहिये कि गुरु के चरणों को दबावे, उसे पखा करे, उसका आटा पीसे, पानी भरे, नाबदान साफ करे, चौके के लिये मिटटी लाये, उसे दातून करावे, हाथ धुलावे, उसके पेशाब के पात्र को धोवे, नहलावे, शरीर पोंछे, धोती पहनावे, धोती-अगोछा साफ करे, बाल झाड दे, कपडे पिन्हा दे, ललाट पर टीका कर दे, रसोई बनाकर परस दे, हुक्का भर दे, सेज लगा दे, पीकदान लेकर उसे पीक करावे, उसका किया हुआ पीक स्वय पी जाय, सक्षेप में, उसे चाहिये कि अपने गुरु की सेवा सभी प्रकार से करे। अपने गुरु के लिये नीच से नीच काम भी बिना विलम्ब करे और उसकी आज्ञाओ का पालन करे। तन, मन और धन से गुरु की सेवा, शिष्य का परम कर्तव्य है'—बड़थ्वाल वही पृष्ठ 210

इसमे सत्संग पर जोर दिया गया है। सत्संग दो प्रकार का माना गया है—एक, बाह्य और दूसरा अन्तर्मुखी। बाह्य सत्संग मे गुरु के साथ संसर्ग और निर्गुण के नाम सकीर्तन पर जोर दिया गया है और अन्तर्मुखी सत्संग मे अभ्यास (योगाभ्यास) तथा ध्यान द्वारा परमात्मा मे समाविष्ट होने पर।

निर्गुण पंथियो ने निर्गुण परमात्मा की कल्पना पुरुष के रूप मे की है और उसी के प्रति भक्ति की प्रेरणा दी है। निर्गुण पंथ सहज ज्ञान की परम्परा के आधार पर विकसित हुए हैं। सहज ज्ञान की परम्परा दर्शन से परे अनुभव और साधना द्वारा ब्रह्म तक पहुचने की परम्परा है। अनुभव के द्वारा ब्रह्म अथवा पुरुष तक पहुचने के विचार ने भक्ति ध्यान और नाम सकीर्तन की परम्पराओ को जन्म दिया और साधना के विचार ने यौगिक विचारो तथा अभ्यासो को। सहज ज्ञान की परम्परा पर आधारित राधास्वामी सम्प्रदाय एक ओर शुद्ध भक्ति मार्ग है और, दूसरी ओर एक प्रकार का सुधारवादी पंथ जिसमे मध्यकालीन भारत की समाज सुधार परम्परा के साथ-साथ, प्राचीन योगमत का सुधार तथा सरलीकरण हुआ है। परमात्मा (पुरुष) की भक्ति और उसमे लय होने की लालसा राधास्वामी मत के आध्यात्मिक दर्शन का निचोड है।

बडथ्वाल के अनुसार, निर्गुण पथ मे पहले परमात्मा की कल्पना पुरुष के रूप मे की गई और उसे निरजन की धारणा प्रदान की गई किन्तु कालान्तर मे, परमात्मा को निरजन से ऊपर समझा जाने लगा और परमात्मा को काल पुरुष की सज्ञा दी गई। शिवनारायणी सम्प्रदाय (जिसका प्रभाव पूर्वी उत्तर प्रदेश के गाजीपुर जिले के आस पास अधिक है) के प्रणेता शिवनारायण के अनुसार 'शब्द' से निरकार का जन्म हुआ जिसने ब्रह्माड और जीवो की रचना की और उन्हे मोह की पाश से बाधा[1]। राधास्वामी सम्प्रदाय मे भी 'निरजन' को सृष्टि का कर्ता माना गया है लेकिन स्वय निरजन ही सृष्टि का कारक नही है। यहाँ सर्वोत्तम सत्ता राधास्वामी दयालु की है जिनकी मौज के कारण और माया के ससर्ग से सृष्टि का निर्माण 'निरजन' करता है। बडथ्वाल के मत मे, निर्गुण सम्प्रदायो मे परमात्मा को परे से परे ले जाकर रखने की प्रवृत्ति रही है। राधास्वामी सम्प्रदाय के प्रणेता शिवदयाल ने परमात्मा को 'राधास्वामी' के नाम से अभिहित किया किन्तु उनके अनुयाइयो ने उसे काफी ऊपर पहुचा दिया और उसके नीचे अनेक पुरुषो की कल्पना की। निरजन और राधास्वामी के बीच क्रमश ब्रह्म परब्रह्म सोहग (सोहम), पुरुष सत्य पुरुष, अलख पुरुष और अगम पुरुष (अनामी पुरुष) है। निरजन इस लोक का सृष्टिकर्ता और मालिक है तथा उसके ऊपर के अन्य पुरुष क्रमश अलग

1 बडथ्वाल वही पृष्ठ 162
2 वही पृष्ठ 143

अगम लोकों के मालिक हैं। राधास्वामी का लोक परमधाम है और राधास्वामी सबका मालिक है। शिवदयाल ने एक स्थान पर राधास्वामी दयाल से कहलाया भी है कि 'अगम, अलख और सत्य पुरुष मेरा ही पूर्ण रूप है'। यह विचारधारा परमतत्व की कल्पना का प्रयास है जो निर्गुण पंथियों की एक विशेषता रही है और जिसका राधास्वामी सम्प्रदाय में चरम विकास हुआ है।

राधास्वामी सम्प्रदाय में, 'राधास्वामी' शब्द निर्गुण परमात्मा का प्रतीक है और परमात्मा के नामस्मरण का माध्यम है। इस मत में नामस्मरण को जीवन में प्राणों के समान महत्ता है। अधिकतर निर्गुनियों ने स्मरण के लिये 'राम' शब्द को पसन्द किया किन्तु शिवदयाल ने राधास्वामी शब्द को पसन्द किया। राधास्वामियों के अनुसार, राधास्वामी शब्द कबीर से ग्रहण किया गया है। इसके प्रमाण में कबीर की वह साखी[1] उद्धृत की जाती है जिसका अर्थ यह किया जाता है कि 'सद्गुरु ने अगम से आती हुई धारा को प्रत्यक्ष कर दिया उसे उलटकर स्वामी के साथ मिला दो और उसी का सुमिरन करो।' जैसाकि राधास्वामियों का मत है, 'धारा' को उलट देने से 'राधा' शब्द बना उसको स्वामी के साथ जोड़ देने से 'राधास्वामी' शब्द बना जिसके सुमिरन की प्रेरणा कबीर की साखी में की गई है।

राधास्वामी सम्प्रदाय की आध्यात्मिक दर्शन परम्परा में, जिसमें सहज योग को भी पुट है, राधास्वामी शब्द और उससे सम्बन्धित धारणा का और भी महत्व है। इस सम्प्रदाय के प्रणेता शिवदयाल के मत में शब्द ही सबका आदि और अंत है। जहां परमात्मा सगुण नहीं निर्गुण है, वहां 'शब्द' से ही परमात्मा का आभास होता है और इसीकारण सभी निर्गुण पंथियों ने शब्द की महिमा पर जोर दिया है। राधास्वामी सम्प्रदाय में 'राधास्वामी' शब्द ही परमात्मा और उसके विभिन्न रूपों का प्रतीक है। राधास्वामी का निवास 'अगमपुरुष' से भी ऊपर है। अतः, राधास्वामी कुल का मालिक तो है किन्तु वहां शब्द निहायत गुप्त है। इसी आदि शब्द से सत्य-पुरुष तथा 'सोहम' के शब्द प्रगट हुये। इसीमें त्रिलोकिय सृष्टि के आधार परब्रह्म शब्द की उत्पत्ति हुई। उसी से उत्पन्न होने वाला चौथा शब्द ब्रह्म शब्द है जिसमें सूक्ष्म ब्रह्माण्ड और ईश्वरी माया प्रगट हुई। उसी आदि ब्रह्म शब्द से क्रमशः माया, विराट पुरुष जीव और मन के शब्द प्रगट हुये। इसप्रकार, राधास्वामी विचारधारा में आदिसत्ता अगम से भी परे है और शब्द ही उसका प्रतीक है। आदिसत्ता और आदि शब्द 'राधास्वामी' है। सृष्टि की रचना में प्रवाह स्थूल से सूक्ष्म की ओर हुआ है। इसी धारा को उलटकर जब साधक स्वामी तक पहुंच जाता है तब वह राधास्वामी को प्राप्त होता है।

---

1 कबीर धारा अगम की, सतगुरु दई लखाय।
उलटि ताहि सुमिरन करो स्वामी संग लगाय॥

रामदास गौड[1] ने राधास्वामी सम्प्रदाय की आध्यात्मिक दार्शनिक विचार धारा का जो निवचन प्रस्तुत किया है, उसमें राधास्वामी शब्द का एक और अर्थ स्पष्ट होता है। राधास्वामी सम्प्रदाय में, 'राधास्वामी' परमात्मा का प्रतीक है और शब्द राधास्वामी का प्रतीक। जीवात्मा के लिये राधास्वामी साहित्य में 'सुरत' शब्द का प्रयोग हुआ है। सुरत (जीवात्मा) और राधास्वामी (परमात्मा) मूलरूप में अवश्य एक हैं किन्तु विस्तार अथवा महत्ता में नहीं। 'सुरत' प्रेमस्वरूप है किन्तु 'राधास्वामी' प्रेम का भण्डार है। 'राधास्वामी' (परमात्मा) सुरत (जीवात्मा) को अपने से वियुक्त कर 'कालपुरुष' (यम) को सौंप देता है ताकि राधास्वामी दयाल की दयालुता का उसे पता चल जाय। प्रेमस्वरूप होने के कारण सुरत (जीवात्मा), प्रेम तथा दयालुता के भंडार राधास्वामी जिनका प्रतीक केवल शब्द है की ओर उन्मुख है। 'सुरत' को 'शब्द' की ओर प्रवृत्त करने में साधक का कल्याण है। रामदास गौड के अनुसार, आदि शब्द कुल का कर्ता और स्वामी है और आदि सुरत या जीव का नाम राधा है। इन्हीं का नाम सुरत और शब्द है और जब इनकी धारा नीचे आई तब इसी आदि 'शब्द' से और शब्द, तथा आदि सुरत से और 'सुरत' और 'शब्द' से 'सुरत' तथा 'सुरत' से शब्द बराबर प्रगट होते आये और अपनी अपनी जगह पर स्थिर हुए। इस दृष्टिकोण से राधास्वामी उस अवस्था का प्रतीक है जिसमें राधा (आदि सुरत) और स्वामी (परमात्मा, आदि शब्द) एक में मिल जाते हैं।

'राधास्वामी' शब्द का कुछ भी प्रतीकात्मक अर्थ किया जाय, यह निर्विवाद है कि राधास्वामी सम्प्रदाय की आध्यात्मिक दार्शनिक विचारधारा में एक ओर सुरत-शब्द योग का पुट है और दूसरी ओर, विशिष्टाद्वैत का। वह योग जिसके द्वारा सुरत एवं शब्द का संयोग सिद्ध होता है और उक्त सीमायें शब्द में फिर लीन हो जाती हैं शब्द योग अथवा सुरत शब्द योग कहलाता है और वह शब्द सर्वप्रथम भगवन्नाम के रूप में मुँह से निकलता है और अन्त में स्वयं शब्दरूप ब्रह्म हो जाता है[2]। इसे सहजयोग भी कहा जाता है क्योंकि इसकी सहायता से भी प्रत्यभिज्ञान का उदय होता है। राधास्वामियों की साधना में हठयोगियों की सी आध्यात्मिक आरोहण की प्रवृत्ति पाई जाती है। राधास्वामी साहित्य में 'शून्य' और 'महाशून्य' शब्दों के प्रयोग प्रायः हैं। बड़थ्वाल के अनुसार इन शब्दों का प्रयोग उन स्थानों के लिये किया गया है जहाँ किसी का निवास-स्थान नहीं है और जिनसे प्रत्येक साधक को अपनी यात्रा में अग्रसर होना पड़ता है। ये विचार, जैसी कि सम्भावना है एकान्तिक धर्म और बौद्ध धर्म से आये हैं।

1　गौड, रामदास　हिन्दुत्व　पृष्ठ 747

2　बड़थ्वाल　वही　पृष्ठ 229

राधास्वामी सम्प्रदाय का दार्शनिक आधार विशिष्टाद्वैती है[1]। इस दर्शन में, जगत के उपादान में परमात्मा (राधास्वामी) को अलग रखा गया है और 'राधास्वामी', 'सुरत' और सृष्टि की मूल आगार 'माया', तीनों को अनादि माना गया है। राधास्वामी की मौज से उत्पन्न तथा काल के वशीभूत होकर, 'सुरत' (जीवात्मा) राधास्वामी से भिन्न होता है और राधास्वामी की दयालुता का भान होते ही, 'सुरत' परमात्मा के सानिध्य में पहुंच जाता है। शिवदयाल इस बात को मानते हैं कि जीवात्मा का अन्तिम परमात्मा में निवास है लेकिन वह यह नहीं मानते कि जीवात्मा पूर्ण ब्रह्म है। उनके अनुसार, जीवात्मा भी परमात्मा है अवश्य किन्तु पूर्ण नहीं। जीवात्मा अंशी है और परमात्मा अंश, वैसे ही जैसे बूंद और समुद्र। शिवदयाल के अनुसार, बूंद (आत्मा सूरत), समुद्र (परमात्मा, राधास्वामी) में समाकर एक नहीं हो जाती। सागर में जलराशि का वह परिमाण, जो भाप होकर कभी नहीं उड़ता, राधास्वामी है और जो बूंद प्रतिपल उसमें उड़ती तथा उसमें मिलती रहती हैं, वे 'सुरत' है। सुरत रूपी बूंदें देखने में तो अवश्य सागर की जल राशि (राधास्वामी) से मिल जाती है किन्तु वे रहती वहां ही हैं चाहे हम उन्हें देख पावें या न देख पावें। मुक्त सुरत (जीवात्मा) की अलग सत्ता बिल्कुल नष्ट नहीं होती। शिवदयाल के अनुसार, सुरत भी अनादि है और इसीकारण मुक्त सुरत राधास्वामी के साथ सायुज्य सुख भोगा करते है और अनन्तकाल तक उनकी शरण में विश्राम पाते हैं[2]। इसीप्रकार, राधास्वामी विचार में माया भी अनादि है। राधास्वामी लोक से लेकर अलख लोक तक माया का निवास नहीं है। माया के दो रूप हैं—एक शुद्ध अथवा सूक्ष्म और दूसरा, प्रबल अथवा स्थूल। माया के शुद्ध रूप को मालिक की शक्ति उसे इतना सूक्ष्म तथा शुद्ध बना देती है कि वह भी सत्य लोक में निवास करती है वहां प्रलय[3] की पहुंच नहीं है। सत्य लोक से क्रमशः नीचे आते-आते, निरंजन लोक में पहुंच कर माया अत्यन्त स्थूल हो जाता है और नीचे के लोकों में उसकी स्थूलता बढ़ती जाती है। नीचे के लोक क्रमशः ऊपर के लोकों के घेरे में हैं क्योंकि बिना सूक्ष्म चेतन-तत्व के माया भी नहीं रह सकती[4]।

---

1 जीव और परमात्मा की अलग-अलग सत्ता का प्रतिपादन और मोक्ष को सायुज्य न मान करके सानिध्य की अवस्था मानना विशिष्टाद्वैती दर्शन का मूलाधार है। विशिष्टाद्वैत के आधार हिन्दुत्व में हैं किन्तु उसका उद्भव इस्लामी उत्प्रेरणा में है।

2 बड़थ्वाल, पीताम्बरदत्त वही पृष्ठ 123

3 राधास्वामी सम्प्रदाय के विचार में प्रलय स्थूल का सूक्ष्म में प्रविष्ट होना है।

4 वही पृष्ठ 149

राधास्वामियों का आध्यात्मिक उद्देश्य है परमपद की प्राप्ति। वहां केवल सत्यनाम है, वहां विचार का कोई काम नहीं। शिवदयाल के अनुसार जिन लोगों ने विचार किया उन्होंने धोखा खाया और सागर को छोड़कर बूंद में गमा गये[1]। यहां विचार और तर्क नहीं वरन प्रपत्तिमयी आस्था की आवश्यकता है जिसकी लौ को निरंतर प्रज्वलित रखने के लिये सत्यनाम के निरंतर स्मरण की आवश्यकता है। यहां स्मरण जप नहीं वरन सुरत द्वारा राधास्वामी की ओर प्रवृत्त होने का निरंतर ध्यान है जिसके लिए सुरत शब्दयोग सर्वसुलभ सहज मार्ग है। यहीं से राधास्वामियों में कीर्तन की महत्ता का अभ्युदय होता है। निर्गुण एकेश्वरवादी होने के कारण, राधास्वामी सम्प्रदाय अवतार विरोधी है और जैसाकि सभी निर्गुण सम्प्रदायवादियों ने माना है, शिवदयाल भी मनुष्य को परमात्मा मानने के पक्ष में नहीं है। बड़थ्वाल के अनुसार, राधास्वामी सम्प्रदाय मध्यममार्गी सम्प्रदाय है। यहां जगत का अस्तित्व केवल सापेक्षिक दृष्टि से है और यह सापेक्षिक अस्तित्व तब नष्ट हो जाता है, जब अन्तिम सत्य का आभास हो जाता है। सभी निर्गुण सम्प्रदायों की भांति, राधास्वामी सम्प्रदाय की आध्यात्मिक दार्शनिक विचारधारा में संसार से ऊपर उठने की भावना की अभिव्यक्ति मिलती है और सामाजिक एकता एवं वर्ग तथा जातिगत समानता का विचार पाया जाता है। कबीर की भांति शिवदयाल भी संन्यास तथा संसार त्याग के विरोधी हैं। जैसाकि बड़थ्वाल ने लिखा है शिवदयाल आधुनिक साधुओं की उनके परिवार, उद्योग धंधादि त्याग करने तथा व्यर्थ घुमक्कड़ जीवन व्यतीत करने के कारण भर्त्सना किया करते थे। शिवदयाल के अनुसार श्रम के साथ नीचता का कोई सम्बन्ध नहीं और उद्योग में कोई दोष नहीं यदि उसे कोई करना जाने जाय। उस श्रम में उल्लास भरा रहता है जो ईश्वर के लिए किया जाता है[2]। वैयक्तिक तथा सामाजिक नैतिक नियमों के प्रतिपादन तथा उनके आधार पर संघ संगठन की प्रवृत्ति राधास्वामी सम्प्रदाय में ही नहीं वरन् सभी निर्गुण सम्प्रदायों में पाई जाती है जिसके प्रेरणास्रोत सम्भवतः बुद्धवाद तथा इस्लाम में है।

---

1 बड़थ्वाल वही पृष्ठ 1›4

2 वही पृष्ठ 297

२

महाराष्ट्र धर्म

महाराष्ट्र धर्म के प्रणेता थे गुरु रामदास और उसका व्यावहारिक रूप देने वाले थे शिवाजी जिन्होंने शास्त्रों की मान्यताओं के अनुसार, हिन्दवी स्वराज्य स्थापित करने का प्रयास किया। महाराष्ट्र में गुरु रामदास और शिवाजी का अभ्युदय उस सामाजिक सांस्कृतिक प्रक्रिया की

पृष्ठभूमि

परिणति है जो भारत में मुसलमानों के राजनैतिक उत्थान और प्रसार के साथ साथ चलती रही। भारत में ज्यों ज्यों मुसलमानों का राजनैतिक प्रसार हुआ त्यों-त्यों मुसलमानों का विरोध और हिंदुत्व के पुनरुत्थान का प्रयास करते हुए हिंदुत्व के प्रतिष्ठापक पूर्व और दक्षिण की ओर सिमटते गए। पृथ्वीराज चौहान की हार के बाद देवगिरि के यादवों और बंगाल के सेन राजाओं ने इस्लाम के प्रसार को रोकने का प्रयास किया। उसके बाद विजयनगर के राया (1336-1646) ने इस्लाम के प्रसार को रोकते हुए हिन्दू राज्य के पुनरुद्धार का प्रयास किया। माता की ओर से देवगिरि के यादवों और पिता की ओर से विजयनगर के हिंदू शासकों की परम्परायें शिवाजी में सन्निहित हो गई थीं। ज्यों ज्यों इस्लामी कट्टरता बढ़ी त्यों त्यों हिंदुत्व के भी आक्रामक संस्करण प्रादुर्भूत होते गए। पंजाब में सिक्ख-पंथ का अभ्युदय हुआ जिसमें इस्लामी कट्टरता के प्रति प्रतिक्रिया थी। इसी प्रतिक्रिया ने, आगे चलकर, पंजाब में आर्य समाज को जनप्रियता दी। बंगाल में भक्ति-आंदोलन शक्ति की उपासना में लीन हो गया, जिसकी पृष्ठभूमि ने आगे चलकर बंकिम के 'वंदे मातरम' का रूप लिया तथा रामकृष्ण परमहंस और रवीन्द्र में मानवतावादी हिंदू पुनरुत्थान का। ज्यों ज्यों भारत में इस्लाम का प्रसार बढ़ा मुसलमानों की राजनैतिक प्रभुता और कट्टरता बढ़ी, भारत में विशेषतया हिंदुओं में गीता के संदेश 'संभवामि युगे युगे' और 'अभ्युत्थानम् अधर्मस्य तदात्मानं सृजाम्यहम्' में विश्वास बढ़ा। तुलसीदास ने इस विश्वास को काव्य प्रबन्ध के रूप में व्यक्त किया। रामायण से यह आस्था बनी कि जब जब धर्म का ह्रास होता है, धर्म की संस्थापना के लिए अवतार होता है और अवतार के द्वारा निगमागम सम्मत हिंदू धर्म की पुनः स्थापना होती है। राम तथा कृष्ण की भक्ति से ओत प्रोत इस काल की कविता युगावतार के माध्यम से उद्धार पाने की जन आशा का प्रतिबिम्ब है। निर्गुण भक्ति धारा की कविता में ईश्वर की कृपा से कष्ट से त्राण पाने का विश्वास है। इस्लाम से लोहा लेने वाले राजाओं में, इस काल की हिंदू जनता ने देवत्व और युगावतार का आभास देखा। विजयनगर राज्य के संस्थापक बुक्का प्रथम का वर्णन एक उस दिव्य पुरुष के रूप में किया गया है जिसमें संसार को 'म्लेच्छों से उद्धार करने के लिए' ईश्वर अवतरित हुआ है। विजयनगर राज्य का तत्कालीन जनकाव्य युगावतार की कल्पनाओं और अभिव्यक्तियों से ओतप्रोत है। गुरु रामदास ने भी युगावतार की कल्पना की और

उसे शिवाजी में मर्यादित किया[1]। अन्ततोगत्वा युगावतार के द्वारा धर्म (हिन्दू धर्म) की विजय होती है, हिन्दू जनता इस विश्वास से चिपटी रही।

चाणक्य तथा मौर्यों के समय से चली आने वाली धर्म विजय की यह भावना जिससे हिन्दुत्व सराबोर है और जो हिन्दुत्व में निहित समाज तथा संस्कृति को अपने में समेटे हुए है इस्लाम के विरुद्ध उठने वाली प्रतिक्रिया के कारण, शिवाजी के माध्यम से, महाराष्ट्र में हिन्दू राष्ट्रवादिता के रूप में प्रस्फुटित हुई। जिस ऐतिहासिक प्रक्रिया ने सिक्ख सम्प्रदाय को जन्म दिया उसी ने महाराष्ट्र धर्म को भी जन्म दिया। सिक्ख धर्म के प्रणेता थे गुरु नानक और महाराष्ट्र धर्म के प्रणेता थे गुरु रामदास। सिक्ख धर्म के क्रियात्मक रूप थे गुरु गोविन्दसिंह और महाराष्ट्रधर्म के छत्रपति शिवाजी। दोनों हिन्दुत्व की प्रेरक 'चरवैति' की धारणा से प्रेरित थे। सिक्ख सम्प्रदाय का आधार था हिन्दुत्व में इस्लाम का समन्वय और लोहे से लोहा काटने तथा विष से विष दूर करने का प्रयत्न। किन्तु महाराष्ट्र धर्म हिन्दुत्व के सनातन पराक्रमी और दिग्विजयी रूप का एक विकास था। शिवाजी इस्लाम की कट्टरता के विरुद्ध उठने वाली किसी प्रतिक्रियात्मक प्रक्रिया की उत्पत्ति ही नहीं हैं। शिवाजी का उद्देश्य था 'धर्म राज्य तथा हिन्दवी स्वराज्य की स्थापना—वह धर्म तथा स्वराज्य जो वेदों स्मृतियों और नीति शास्त्रों में प्रतिपादित है जिससे ब्राह्मण वेदों तथा गऊ की रक्षा हो जो पराक्रम और दिग्विजय की भावना पर आधारित है, जिसके लिए चन्द्रगुप्त तथा स्कन्दगुप्त ने प्रयत्न किया तथा जो सनातन हिन्दुत्व की आत्मा है। शिवाजी उस परम्परागत सनातन धर्म के पुनसंस्थापक थे जो बाह्य प्रभावों से पराजित नहीं होता है वरन उन्हें आत्मसात करता है या उनके समक्ष अपने 'बढ़े चलो बढ़े चलो' के रूप को लेकर समयानुकूल पुनः अवतरित होता है।

मुगल कालीन भारत की परिस्थितियों में शिवाजी हिन्दुत्व के सनातन विकास का एक माध्यम थे। इस्लाम के प्रवेश के समय से हिन्दुत्व के प्रत्यक्ष विकास की जो प्रक्रियायें प्रारम्भ हुई थी वे शंकर रामानुज और तुलसी में होती हुई गुरु रामदास में केन्द्रित होकर शिवाजी के कार्यों में प्रस्फुटित हुईं। शिवाजी ने जो लड़ाइयां लड़ी उनका उद्देश्य था धर्म विजय। वे इस्लाम और मुसलमानों के वहीं तक विरोधी थे जहाँ तक वे धर्म विजय और धर्म राज्य की स्थापना में बाधक थे। शिवाजी की धर्म विजय वही धर्म विजय है जिसका वर्णन नीतिशास्त्रों में है। शिवाजी मानवतावादी तथा हिन्दूराष्ट्रवादी थे। उनकी भाषा मनुस्मृति और नीतिशास्त्र की भाषा थी। वे हिन्दूकरण के हामी थे पर साम्प्रदायिक नहीं थे जाति तथा वर्णाश्रम धर्मों के प्रतिष्ठापक थे समदर्शी की भावना से प्रेरित थे तथा सामाजिक चलिष्णुता (Social Mobility) के हामी थे। शिवाजी ने गोवध का विरोध किया, राजव्यवहारकोश—

---

1 सरकार विनयकुमार वही

जिसमें प्रशासन में काम आने वाले फारसी के शब्दों के संस्कृत पर्याय हैं—का संग्रह करवाया, पुराने किलों के संस्कृत नाम रखे[1], मराठी में फारसी के प्रभाव को दूर करने का प्रयत्न किया, प्राचीन हिंदू-परम्पराओं को प्रोत्साहित किया और वर्ण व्यवस्था के सिद्धान्तों के आधार पर सामाजिक चलिष्णुता को प्रोत्साहित किया। महात्मा बुद्ध ने जिस परम्परा को चलाया था, वह शिवाजी के समय में भी चलती रही। सेना के माध्यम से अनेक निम्नस्तरीय जातियों को उच्चतर सामाजिक स्तर प्राप्त हो गया। राज्याभिषेक के समय स्वयं शिवाजी को क्षत्रिय घोषित किया गया यद्यपि वे क्षत्रिय नहीं थे।

जिस सामाजिक पृष्ठभूमि में शिवाजी जन्मे थे उसके प्रणेता थे गुरु रामदास और महाराष्ट्र के अन्य संत कवि जिन्होंने जनभाषा में धर्मोत्थान के लिए जन आवाहन किया। उन्होंने पहले जनता का मन इस विश्वास से भर दिया कि तत्कालीन समाज धर्म से दूर था, उसे धर्मोन्मुख बनाने के लिए युगावतार होने वाला था और बाद में शिवाजी में तत्कालीन युगावतार का प्रतिरोपण किया। इस दिशा में गुरु रामदास अग्रणी हैं। उन्हें शिवाजी का प्रेरक माना जाता है। गुरु रामदास ने, एक ओर, दासबोध (1608 1681) की रचना की तो दूसरी ओर अपनी रचनाओं में आनन्द-वन-भुवन की कल्पना के द्वारा एक भावी आदर्श-समाज की धारणा रखी। आनन्द-वन भुवन रामदास का एक स्वप्निल संसार है, जहाँ जनता म्लेच्छ दैत्य से पीड़ित है। इस दैत्य का संहार करने के लिए सुरों का अवतार होता है। म्लेच्छ दैत्य के नष्ट हो जाने पर, आनन्द-वन भुवन में पापियों और नास्तिकों का भी नाश हो जाता है और स्नान संध्या, जप-तप स्वधर्म प्रेम और आनन्द की गौरवमयी प्रधानता स्थापित होती है। आनन्द वन भुवन हिन्दुत्व के पुनर्निर्माण के आवाहन में रचा गया एक ऐसा रूपक है जिसके द्वारा शिवाजी के कृत्यों के लिए एक सामाजिक मानसिक पृष्ठभूमि तैयार की गई थी। आनन्द वन भुवन भविष्यत पुराण का तत्कालीन संस्करण है और शिवाजी को युगावतार मनवाने का एक प्रयास।

गुरु रामदास ने बार-बार इस बात पर जोर दिया है कि म्लेच्छ राज्य की प्रबलता के कारण द्विजकुल को पीड़ा हो रही है[2]। अतः, उसका अन्त होना चाहिए। अधर्म के प्रतीक म्लेच्छ राज्य के विनाश और धर्म के उत्थान पर उन्होंने जोर दिया है। उनके अनुसार, शिवाजी अधर्म का विनाश तथा धर्म का उत्थान करने के लिए उत्पन्न एक अवतार हैं[3]। गुरु रामदास और महाराष्ट्र के अन्य सन्तों ने तत्कालीन

---

1 सरकार, विनयकुमार वही पृष्ठ 508–509

2 म्लेच्छ राज्य हू लों प्रबल, पीडा पावेलो द्विजकुल।

3 यह गुरु रामदास का ही प्रभाव था कि शिवाजी को बार बार अवतार कहा गया है। कवीन्द्र प्रेमानन्द ने अपने 'शिव भारत' नामक महाकाव्य में शिवाजी

समाज को कलियुग कहा है और औरंगजेब के राज्य को पाप तथा अधम का प्रतीक माना है। सम्भवत, यही कारण है कि अपनी का वाभिव्यक्तियों में गुरु रामदास ने औरंगजेब को 'औरंग्यापापी' कहकर सम्बोधित किया है। यहां पर यह ध्यान देने योग्य है कि उनका विद्वेष औरंगजेब, उसके राज्य और उसके द्वारा चलाए हुए अरबी फारसीकृत इस्लाम के प्रति है न कि इस्लाम के आधारभूत सिद्धान्तों के प्रति। गोवध, वर्ण व्यवस्था तथा जाति व्यवस्था के परित्याग को उन्होंने कलियुगी प्रभाव माना और उनके पुन सस्थापन की आवश्यकता की ओर लोगों का ध्यान आकर्षित किया। गुरु रामदास ने एक ओर, हिन्दू राज्य के शत्रुओं को नष्ट करने का आवाहन किया तो, दूसरी ओर हिन्दू संस्कृति की दिग्विजय पर जोर दिया। किन्तु तत्कालीन परिस्थितियों में, इन दो उद्देश्यों की पूर्ति का अर्थ था हिन्दू राज्य का प्रसार क्योंकि उस काल की विचारधारा में, धर्म संस्कृति और राज्य एक ही में समाए हुए थे। आनंद वन भुवन और सुरेगावतार की कथा इसी उद्देश्य की पूर्ति की काव्यात्मक तथा प्रतीकात्मक अभिव्यक्ति थी। शिवाजी में युगावतार की धारणा के प्रतिरोपण के पीछे इसी उद्देश्य की पूर्ति का प्रयास है। गुरु रामदास ने जिस पुनर्जागरण का नाद फूंका उसका एक रूप है आनन्द वन भुवन में और दूसरा गुरु रामदास के दूसरे ग्रन्थ 'दास बोध' में जिसमें भक्ति राजयोग तमोगुण दुख मृत्यु, ब्रह्म, मोक्ष, आत्मा अनात्मा और युगधर्म का वर्णन है। दास बोध वस्तुत ज्ञान भक्ति कर्मयोग का उपदेश है। यदि आनन्द वन भुवन भविष्यत पुराण का एक सस्करण है तो दास बोध गीता का एक मराठी सस्करण। ऐसा कहा जाता है कि दास बोध उस उग्र हिन्दू राष्ट्रवादिता का दर्शन है जिसका उपदेश गुरु रामदास ने दिया है और शिवाजी के कृत्य जिसके व्यवहारिक रूप हैं। गुरु रामदास और शिवाजी ने हिन्दुत्व की पुन शास्त्रोक्त पुन सगठन की ओर मोड़ा।

को विष्णुपुत्र कहकर, उनको देव, ब्राह्मण तथा गोरक्षक और यवनों का अन्त करने वाले (देवद्विजगवामगोप्ता, दुरदा (यवना तक) के रूप में उनका वर्णन किया है। शिवाजी को क्षत्रिय वर्ण में लाने वाले और उनका राज्याभिषेक कराने वाले गगा भट्ट के अनुसार, शिवाजी यवनाधिपति औरंगजेब से त्रस्त विप्रों का उपकार करने वाले, एक नए अवतार हैं (औरंगजब यवनाधिपतिभीता विप्रताराण्य य परिग्रहीत नवावतार)। उन्होंने शिवाजी को विष्णु का अवतार कहा और यह प्रतिपादित किया कि जिस प्रकार विष्णु ने कूर्मावतार में वेदों की रक्षा की थी उसी प्रकार शिवाजी के रूप में विष्णु ने ब्राह्मणों और वेदों की रक्षा की। यह निश्चित है कि ये मत शिवाजी की छत्रछाया में पलने वाले विद्वानों के हैं। पर, साथ ही साथ, यह भी निश्चित है कि इनके द्वारा रचित साहित्य तत्कालीन समाज का प्रतिबिम्ब है—विनयकुमार सरकार के आधार पर।

गुरु रामदास का आह्वान था, 'मराठा! संगठित हो और महाराष्ट्र धर्म का प्रसार करो!" महाराष्ट्र धर्म की व्याख्या अनेक प्रकार से की गई है। एक ओर, महाराष्ट्र धर्म से अर्थ लगाया जाता है मराठी भाषा भाषी प्रदेश के धर्म से और, दूसरी ओर उसका अर्थ लिया जाता है मराठी भाषा भाषी प्रदेश में गुरु रामदास और उनके द्वारा प्रसारित तथा पुनर्जागरित हिन्दू धर्म से। किन्तु, महाराष्ट्र धर्म का अर्थ मराठी भाषा भाषी प्रदेश के धर्म से ही नहीं है और न गुरु रामदास ने इस रूप में उसकी कल्पना ही की है। उसमें उग्र राष्ट्रवादिता अवश्य थी किन्तु वह धर्म एक महाराष्ट्र (शक्तिशाली राष्ट्र) के लिए था। यह पहले ही कहा जा चुका है कि हिन्दुत्व का केन्द्र, उत्तर में मुस्लिम राज्य के प्रसार के साथ साथ, दक्षिण की ओर बढ़ता गया था और इस कारण दक्षिण में ही हिन्दुत्व के सामाजिक, सांस्कृतिक और राजनैतिक पुनरुत्थान की प्रक्रियाएं उत्पन्न हुईं। गुरु रामदास और शिवाजी ने इन प्रक्रियाओं का एक साथ शक्तिशाली प्रस्फुटन हुआ। इस सन्दर्भ में, महाराष्ट्र धर्म को एक क्षेत्र विशेष (मराठी भाषा भाषी प्रान्त) का या उस क्षेत्र में रहने वाली मराठा जातियों का धर्म कहना अनुपयुक्त है। विनयकुमार सरकार द्वारा उद्धृत सारदेसाई के मतानुसार महाराष्ट्र धर्म के चार स्तम्भ है—देव शास्त्राचार, देशाचार (स्थानीय प्रथाएं) कुलाचार और जात्याचार। इस प्रकार महाराष्ट्र धर्म का मुख्य आधार है देव शास्त्र सम्मत तथा कुल जाति और देश द्वारा निर्धारित आचार। इसी आधार पर विनयकुमार सरकार ने महाराष्ट्र धर्म को हिन्दुत्व और राष्ट्र धर्म का योग कहा है। इसमें कोई सन्देह नहीं कि महाराष्ट्र धर्म हिन्दुत्व पर आधारित राष्ट्रवादिता है। यह राष्ट्रवादिता तत्कालीन परिस्थितियों में पुनर्जागरण और हिन्दुत्व के पुनसंस्थापन का एक राजनैतिक जन आन्दोलन बन गयी। यह ठीक उसी प्रकार हुआ जिस प्रकार अस्वीकृत इस्लाम का पुनसंस्थापन औरंगजेब के हाथों राजनैतिक आन्दोलन बन गया। उसी राष्ट्रवादिता का प्रभाव है कि मराठों ने, एक ओर, हिन्दू राज्य का प्रसार किया हिन्दुत्व के शाश्वत अंगों की पुनर्स्थापना की और दूसरी ओर ईसाई धर्म से प्रेरित विदेशी जातियों से लोहा लिया। इस राष्ट्रवादिता की लहर अंग्रेजी राज्य में भी उद्वेलित होती रही और आज भी हो रही है। यह इसी विकास प्रक्रिया का परिणाम है कि मराठी भाषा भाषी प्रदेश में लोकमान्य तिलक के हाथों गीता का पुनर्निवचन हुआ और स्वतन्त्रता को जन्मसिद्ध अधिकार घोषित किया गया। महाराष्ट्र में ही सर्व प्रथम स्वतन्त्रता संग्राम हिन्दू राष्ट्रवादिता के पुनर्जागरण के पुट से एक जन आन्दोलन बना और यहीं राष्ट्रीय स्वयं सेवक संघ का जन्म हुआ।

४

अठारहवीं शताब्दी के बाद

अठारहवीं शताब्दी में हिन्दुत्व का उग्र राष्ट्रवादी विकास हो रहा था, मुस्लिम साम्राज्य बिखर रहे थे और भारत में योरोपीय राजनीतिक सत्ताओं का धीरे धीरे प्रसार हो रहा था। एक ओर हिन्दुत्व में इस्लाम के प्रति प्रतिक्रिया वादी विकास हो रहे थे और हिन्दुत्व में इस्लाम के कुछ संस्करण उत्पन्न हो रहे थे तो, दूसरी ओर शुद्ध हिन्दुत्व के पुनर्स्थापन पर जोर दिया जा रहा था। उसी प्रकार, इस्लाम में, एक ओर, अरबीपन की विचारधारा चल रही थी और दूसरी ओर, हिन्दुत्व के समीप जाकर उसमें मिलने की विचारधारा। भारत की सामाजिक संरचना के उच्च स्तरों पर इस्लाम और हिन्दुत्व लम्बवत (Vertical) विभाजित थे किन्तु निम्न स्तरों पर जहाँ इस्लाम में हिन्दुत्व के संस्करण विद्यमान थे तो वहीं हिन्दुत्व में इस्लाम के संस्करण। तत्कालीन परिस्थितियों में धर्म, समाज, संस्कृति और राज्य एक में मिले हुए थे और इसी कारण हिन्दुत्व और इस्लाम का सम्पर्क मुख्यतया राजनैतिक सम्पर्क था। तत्कालीन राजनैतिक परम्परा सामन्तवादी थी जिसमें हिन्दुत्व और इस्लाम, राजनैतिक प्रभुता के लिए लड़ने वाले सामन्तों के लिए अलग अलग सामाजिक दृष्टियाँ थीं जिनकी आड़ से हिन्दू मुसलमान सामन्त एक दूसरे पर प्रहार कर रहे थे। यह अवश्य है कि कुछ पूर्वनिर्धारित नियमों पर आधारित होने के कारण इस्लाम में कट्टरवादिता अपेक्षाकृत अधिक थी। फ्रांसीसी दार्शनिक रेनान का कहना है कि इस्लाम में सुधार का स्थान नहीं है क्योंकि सुधरा हुआ इस्लाम वस्तुतः इस्लाम नहीं रह जाता है। वह कुछ और हो जाता है। अठारहवीं शताब्दी के हिन्दुत्व में पायी जाने वाली कट्टरवादिता इस्लाम की इसी कट्टरवादी विशेषता के प्रति प्रतिक्रिया है।

अठारहवीं शताब्दी में, भारत और उसके बाहर योरोपीय शक्तियों का अभ्युदय हुआ। अठारहवीं शताब्दी के योरोप का राजनैतिक प्रसार वहाँ विकसित होने वाली पूँजीवादी तथा औद्योगिक व्यवस्था पर आधारित है। विज्ञान के विकास ने योरोप में धर्मनिरपेक्षिता को जन्म दिया और पूँजीवादी व्यवस्था ने व्यक्तिवाद को। पूर्वी द्वीप समूह से लेकर योरोप तक मुसलमानों का प्रभुत्व छाया हुआ था। योरोप और अन्य देशों के बीच मुसलमान ही सामुद्रिक व्यापार का मुख्य माध्यम थे। योरोप के औद्योगिक अभ्युदय के साथ साथ, योरोप की राज्य शक्तियों और मुस्लिम राज्यों का संघर्ष बढ़ा। पूँजीवादी व्यवस्था का आधार है बाजार। योरोप निवासियों ने मुसलमानों को हटाकर संसार के बाजारों पर अधिकार करने का प्रयत्न प्रारम्भ किया। भारत में पुर्तगाल का सेनानायक अल्बुकर्क मुसलमानों के हाथ से मसालों का व्यापार छीनने के लिए ही ज्यादा उत्सुक था और इसीकारण मुसलमान ही उसके कोप के शिकार

हुए[1]। अंग्रेजों ने भी भारत में मुसलमानों के हाथ से राजनैतिक प्रभुत्व छीनने के लिए हिंदुओं से साजिश की। उधर मध्य एशिया में टर्की साम्राज्य का योरप के राज्यों से संघर्ष चलना शुरू हुआ। उत्तरी अफरीका, भारत और पूर्वी द्वीप समूह में योरोपीय शक्तियों ने धीरे धीरे मुसलमानों के राजनैतिक प्रभुत्व को समाप्त कर दिया। प्रथम महायुद्ध के बाद टर्की का राजनैतिक अस्तित्व ही समाप्त हो गया और मध्य एशिया का शायद ही कोई देश हो जो योरप की किसी न किसी राजनैतिक शक्ति के प्रभाव में न आया हो। उधर, विज्ञान के बढ़ते हुए प्रभाव ने मुहम्मद द्वारा प्रतिपादित अरबीकृत इस्लाम में परिवर्तन की माँग की जिसके प्रति इस्लाम में परम्परावादी प्रतिक्रिया हुई। जब टर्की के मुस्तफा कमालपाशा ने खिलाफत समाप्त कर दी और योरपीय जीवन-यापन के तरीकों को अपनाने पर जोर दिया तो यह प्रतिक्रिया और घनी बनी। भारत से लेकर टर्की तक का मुस्लिम प्रदेश अठारहवीं शताब्दी से लेकर आज तक इस प्रतिक्रिया का शिकार रहा है। एक ओर अरबीकृत इस्लाम को ज्यों का त्यों बनाए रखने की माँग रही है और दूसरी ओर समयानुसार उसमें परिवर्तन करने की माँग। इसी परिस्थिति में सन सत्रह सौ ईसवी के लगभग अरब में (नज्द में) वहाबी आन्दोलन प्रारम्भ हुआ। यह आन्दोलन अरबीकृत इस्लाम के पुनर्स्थापन का आन्दोलन था। यह आन्दोलन वस्तुतः पुनरुत्थानवादी था क्योंकि इस आन्दोलन के प्रणेताओं ने इस्लाम की अरबी परम्पराओं के पुनरुत्थान पर जोर दिया, सुन्नती परम्परा में कुरान का अर्थ लगाने का प्रयास किया, संगीत का बहिष्कार किया, रेशम, सोना, चाँदी और हीरे के प्रयोग पर रोक लगायी और सूद लेने का निषेध किया। वहाबी इतने उग्र थे कि उन्होंने मुहम्मद साहब की कब्र तोड़ डाली क्योंकि लोगों में कब्र की पूजा की भावना आ गयी थी, काबे के जरी कामदान को लूट लिया और हज के लिए जाने वाले यात्रियों को रास्ते के लिए उन्हें भी लूट लिया। जब नज्द के शासक, सऊद खानदान के सरदार मोहम्मद ने वहाबी पंथ में दीक्षा ले ली तो वहाबी आन्दोलन एक राजनैतिक आन्दोलन बन गया। सरदार मोहम्मद को खलीफा बनाकर सारे मुस्लिम संसार पर पुनः खिलाफत के पुनरुत्थान का प्रयास किया गया। उस समय खिलाफत का ओहदा टर्की के सुल्तान के पास था। अतः उसने वहाबियों का विरोध किया जिसका परिणाम यह हुआ कि वहाबी आन्दोलन और भी उग्र अरबीवादी हो गया। इसी उग्रता के परिणामस्वरूप सारे मुस्लिम संसार में वहाबी आन्दोलन की लहरें प्रवाहित हुईं। वहाबी आन्दोलन के कारण, इस्लाम में निहित आत्मविच्छेद और भी प्रखर हुआ।

भारत में मुसलमानों का राजनैतिक पतन, अंग्रेजी राज्य का प्रसार और वहाबी आन्दोलन का प्रचार एक साथ हुआ। मक्का संसार के मुसलमानों का तीर्थ-

---

1 ओ मैले, इंडिया एंड दि वेस्ट, पृष्ठ ४५

जाता है, जहाँ मजार के ऊपर जाकर न प्रतिदिन उनके द्वारा धोंद-धागे एकत्र होते हैं। का इस्लाम में ईश्वर का मुख्य स्थान है। इसी से वहाबी-आन्दोलन चारों ओर फैला। भारत में भी वहाबी आन्दोलन अरब के यात्रियों के ही माध्यम से आया। भारत में वहाबी आन्दोलन के प्रथम प्रणेता थे बंगाल के हाजी शरीअत उल्लाह जिन्होंने सन् अठारह सौ चार में बंगाल के हिन्दू जमींदारों के विरुद्ध किसान-आन्दोलन का जन्म दिया। यही पहले व्यक्ति थे जिन्होंने मुस्लिम जनता में पायी जाने वाली हिन्दू मान्यताओं का विरोध किया और भारत को दारुल हरब (शत्रु का देश) कहकर यहाँ जुम्मा (शुक्रवार) की नमाज पढ़ने का भी विरोध किया। किन्तु, भारत में वहाबी आन्दोलन के उग्र प्रणेता थे रायबरेली के सैयद अहमद जिन्होंने सन् अठारह सौ बाईस में हज की यात्रा की थी। वहाँ से आकर उन्होंने मौलवियों को इस्लाम का शुद्ध प्रचार किया और मुसलमानों को कुरान सुनाया, और हदीस के अनुसार अपने सामाजिक सांस्कृतिक जीवन को ढालने की सलाह दी। इस प्रकार भारत में वहाबी आन्दोलन अरबीपन का हामी हुआ और हिन्दुत्व मुख्यतया अंग्रेजों का विरोधी हुआ। पश्चिमी विचारधारा का विरोध भारत में मुसलमानों की शुद्ध गरिमा स्थापित करना और भारतीय मुसलमानों के जीवन को अरबीपन के समीप ले जाना ही वहाबी आन्दोलन के मुख्य आधार बन गये। अठारह सौ सत्तावन की क्रांति के बाद अंग्रेज मुसलमानों के विरुद्ध हो गये और वहाबियों ने अंग्रेजी राज्य विरोधी प्रचार को और भी तेज किया। यही वह समय था जब मुसलमान सेना से निकाले गये, सरकारी नौकरियों से उन्हें अलग किया गया और उन्हें शंका की दृष्टि से देखा गया। बंगाल और पंजाब के जमींदार हिन्दू थे, किन्तु कृषक मुसलमान। उधर मुस्लिम सामन्त वर्ग का राजनैतिक तथा आर्थिक स्वत्व समाप्त हो गया। इसका परिणाम यह हुआ कि मुसलमान, एक ओर अंग्रेजों के विरोधी हुये तो दूसरी ओर हिन्दुओं के। उनमें मानसिक असुरक्षा का भाव जगा। पंजाब तथा बंगाल में जहाँ उनको अधिक असुरक्षा मालूम हुयी वहीं वहाबी आन्दोलन का भी अधिक प्रचार हुआ। वहाबी आन्दोलन ने भारत में इस्लाम की कट्टरता को और भी बढ़ा दिया। इसी कट्टरता का परिणाम है कि भारत के मुसलमानों ने योरपीय मान्यताओं का विरोध किया और अरबीपन की ओर बढ़ गये। वहाबी आन्दोलन के प्रभाव से इस्लाम में जो सुधार किये गये उनके कारण इस्लाम निश्चय ही, परदीगत इस्लाम से अधिक समीप पहुँचा जिससे अप्रत्यक्षत इस्लामी कट्टरवादिता को प्रोत्साहन मिला[1]।

अठारह सौ सत्तावन के बाद से भारतीय इस्लाम में कई प्रक्रियायें देखने को मिलती हैं। सर सैयद अहमद खाँ के अभ्युदय तक इस्लाम अरबीवादी, योरोपीय

1 स्मिथ, विल्फ्रेड कण्टवेल : इस्लाम इन माडर्न हिस्ट्री पृष्ठ 48–51

सभ्यता का विरोधी और पान इस्लामिज्म (Pan Islamism) का हामी था। सर सयद अहमद खाँ ने इस्लाम को योरोपीय सभ्यता के सम्पर्क में लाने का प्रयास किया, योरोपीय मान्यताओं से इस्लाम का सामंजस्य किया और ब्रिटिश भारत को दारुल इस्लाम (इस्लाम का देश) मानने पर जोर दिया। सर सयद के पहले, सरकारी नौकरियों में हिंदुओं को अधिक मान्यता मिली हुयी थी। किन्तु, जब भारतीय राष्ट्र क्रान्ति का अभ्युदय हुआ और उसके मुख्य प्रणेता हिन्दू हुये, तो सरकारी नौकरियों के लिए मुसलमानों को अधिक पसन्द किया जाने लगा। सर सयद के प्रभाव में, इस्लामी समाज को, भारत में, एक अलग इकाई बनाने का प्रयत्न किया गया—वह इकाई जिसका सम्बन्ध न अरबीवाद से है और न पान इस्लामिज्म से। जैसाकि सर सयद के लेखों और अमीरअली की पुस्तक 'दि स्पिरिट आफ इस्लाम' से स्पष्ट है, इस काल में, इस्लाम की युक्तिपूर्ण (Rationalized) बुद्धिवादी व्याख्यायें की गईं जिसमें इस्लाम का हिन्दुत्व और इसाइयत से श्रेष्ठ बताया गया। एक ओर, उसका पश्चिम की बौद्धिक परम्परा में विवेचन किया गया तो दूसरी ओर, पश्चिम की मान्यताओं के अनुसार उसमें सुधार की आवश्यकताओं को अस्वीकार किया गया[1]। इस्लाम को युक्तिपूर्ण (Rationalized) और रक्षाकारी (Defensive) तर्कों से भर दिया गया।

जैसा कि पहले लिखा जा चुका है इस्लाम और राष्ट्र प्रारम्भ से ही एक में समाये हुए हैं। इस्लामी राष्ट्रीयता धर्म में समायी रही है। मुस्लिम बादशाहों के राज्यकाल में ही इस्लाम के प्रेरणा स्रोत भारत में न होकर अरब और ईरान में थे। सिक्ख-सम्प्रदाय और महाराष्ट्र धर्म के विकास के कारण, इस्लाम 'मलेच्छ' और 'यवन' धर्मों का प्रतीक बन गया। उधर इस्लाम में हिंदू 'काफिर और भारत हिंदुस्तान' बना रहा। वहाबियों ने भारत को दारुल हरब कहा था। सर सयद के प्रभाव में भारत को दारुल इस्लाम तो मान लिया गया किंतु भारत को मुसलमानों ने राष्ट्र नहीं माना। प्रथम महायुद्ध में, जब यूनान और टर्की में युद्ध हुआ और अंग्रेजों ने यूनान का साथ दिया तो, भारत में, मुसलमान अंग्रेजों के खिलाफ हो गए। तभी महात्मा गांधी के नेतृत्व में स्वराज्य और खिलाफत आन्दोलन[2] साथ-साथ चले। इस आन्दोलन में मुसलमानों ने भारत के स्वदेशी आन्दोलन का साथ तो दिया पर वे

---

1 अमीरअली ने इस्लाम को प्रजातन्त्रवादी बताया, इस्लाम में स्त्रियों की स्थिति को उच्चतम प्रतिपादित किया और यह विचार रखा कि इस्लाम में आध्यात्मिक बुद्धिकरण की क्षमता अन्य धर्मों की अपेक्षा अधिक है। सर सयद ने इस्लाम में स्वीकृत बहुविवाह को उचित ठहराया।

2 टर्की में खलीफा को पुनः स्थापित करने के आन्दोलन को खिलाफत आन्दोलन कहते हैं।

खिलाफत आन्दोलन से जितना प्रभावित थे उतना भारतीय राष्ट्रवादिता से नहीं। सर सयद के समकालीन थे स्वामी दयानन्द सरस्वती जिन्होंने आर्य समाज की स्थापना करके वैदिक धर्म को सर्वश्रेष्ठ बताया और हिंदुत्व में उसके पुनरुत्थान का प्रयत्न किया। जिस प्रकार वहाबी-आन्दोलन अरबीवाद की ओर उन्मुख था उसी प्रकार आर्य समाज वेदों की ओर उन्मुख था। वहाबी आन्दोलन में अरबी कट्टरता थी और आर्य समाज आन्दोलन में विशुद्ध वैदिक हिंदुत्व के पुनरुत्थान की कट्टरता थी। जिस प्रकार अमीर अली जैसे लेखक पश्चिमी विचारधारा के सन्दर्भ में, इस्लाम को सुयुक्तिपूर्ण और सर्वश्रेष्ठ बता रहे थे उसी प्रकार आर्य समाज के प्रणेता पश्चिम की विचारधारा के सन्दर्भ में वैदिक हिंदुत्व (निगम) को सर्वश्रेष्ठ बता कर, उसके पुनरुत्थान का प्रयत्न कर रहे थे। पंजाब में वहाबी-आन्दोलन और आर्य समाज को सर्वाधिक जनप्रियता मिली, क्योंकि वहां संघर्ष भी सबसे अधिक था। यही वह काल है जब भारत का पुनः आविष्कार (Rediscovery) हुआ। विलियम जोन्स और मैक्समूलर ने जिस भारत को ढूंढ निकाला था और जिसके वे गुण गा रहे थे, वह वैदिक तथा उत्तर वैदिक काल का हिंदू भारत था। उसमें मुसलमानों का नामोनिशान तक न था। दूसरी ओर, भारत में पूंजीवाद का प्रचार हुआ। धीरे धीरे सामन्तवादी व्यवस्था ढहने लगी। मुस्लिम सामन्त वर्ग का आर्थिक ह्रास होने लगा जिससे वह विक्षिप्त हुआ। भारत में पूंजीवादी प्रभावों के कारण, जिस आधुनिक राष्ट्रीयता और स्वदेशी की मांग का श्रीगणेश हुआ उसके प्रणेता हिंदू थे क्योंकि व्यापार में तथा तत्कालीन अंग्रेजी शिक्षा में आगे होने के कारण, उसका अधिकतर लाभ भी हिंदुओं को ही मिलने वाला था। अतः मुसलमानों में मानसिक-असुरक्षा की भावना का उदय हुआ और उन्हें भारत में इस्लाम खतरे में दिखा। इसका परिणाम यह हुआ कि एक ओर, भारत में राष्ट्रीयता का विकास हुआ तो, दूसरी ओर इस्लामी राष्ट्रवादिता का। दोनों के विकास के पीछे नवोदित पूंजीवादी सामन्तवर्ग था जो धर्म के नाम पर विभाजित था। हिंदू पूंजीवादी वर्ग ने स्वराज्य तथा राष्ट्रवादिता का नारा लगाया तो मुस्लिम सामन्तवादी वर्ग ने इस्लामी राष्ट्रवादिता तथा धर्मसापेक्ष राष्ट्र का। यही प्रक्रिया, आगे चल कर एक ओर हिंदी, हिंदू और हिंदुस्तान के नारे में प्रस्फुटित हुई तो, दूसरी ओर, उर्दू, मुस्लिम और पाकिस्तान के नारे में।

हिंदुत्व और इस्लाम का अलग-अलग समानान्तर विकास सारे मुस्लिम काल में चलता रहा। किंतु, भारत में अंग्रेजी सत्ता के प्रवेश से इस विकास को और भी प्रोत्साहन मिला। अठारह सौ सत्तावन के आस पास ही वहाबी-आन्दोलन की प्रखरता फैली और उस आन्दोलन के पीछे राष्ट्रीय भावना कम थी। हिंदुओं के लिए अठारह सौ सत्तावन की क्रान्ति हिंदुत्व के पुनर्स्थापन का माध्यम थी और मुसलमानों के लिए इस्लाम की लुप्त गरिमा स्थापित करने का माध्यम। इसके बाद से ही, एक ओर सर सयद अहमद खां की परम्परा आई तो दूसरी ओर उसी से मिलती जुलती

मौलाना शिबली, हाली और इकबाल की परम्परा। सर सैयद के लिए दारुल इस्लाम अंग्रेजी राज्य था न कि स्वतन्त्र भारत। शिबली सर सैयद के विरोधी थे। हाली भारत मे इस्लाम के हिंदूकरण से उतना ही विक्षिप्त थे जितना कि वहाबी आन्दोलन के प्रणेता थे। हाली के अनुसार, 'जिस इस्लाम का बेड़ा सातों समुद्र पारकर गया, वह गंगा के दहाने में आकर डूब गया और जिस मजहब का रूप सारे संसार में एक है, वह भारत में आकर बदल गया[1]।' इकबाल का अभ्युदय भारतीय राष्ट्रवादिता में हुआ। किन्तु बाद में उन्होंने हाली और शिबली की परम्परा पकड़ी और, भारतीय राष्ट्रवादिता के कवि होने के स्थान पर इस्लामी राष्ट्रवादिता के प्रबल कवि-समर्थक हो गये। हाली की तरह उन्होंने भी इस्लाम के भारतीयकरण पर क्षोभ प्रगट किया[2] और उग्र अरबीवादी इस्लाम के कवि हो गये। जिस इस्लाम को सर सैयद और अमीरअली ने बौद्धिकता का जामा पहनाने का प्रयत्न किया था उसे इकबाल ने सुयुक्तिपूर्ण पर उग्र तर्कों से भरना प्रारम्भ किया। अपनी कवित्वमय अभिव्यक्तियों में इकबाल ने इस्लाम को वह शाहीं (बाज) माना, जिसका काम उड़ाना (परवाज) है जिसके सामने अनेक जहां (संसार) हैं, इश्क की कई परीक्षायें (इम्तिहान) हैं और जिसके सामने एक आसमान नहीं बल्कि कई आसमां हैं[3]। इकबाल के मत में, इस्लाम एक प्रचण्ड लहर है, जिसको सम्बोधित करके वे कहते हैं कि तू समुद्र में खोकर भी तड़प कर बदल जा और संभल जा। तेरी किस्मत में किनारा नहीं है तू जिस तरफ चाहे निकल जा। इकबाल ने इस्लाम को इहलौकिकता की ओर मोड़ा और उसे दर्प उग्रता और कर्मठता के आवरण से लपेट दिया। एक ओर उन्होंने पश्चिमी सभ्यता का विरोध किया तो, दूसरी ओर, सूफीवाद को अकर्मण्य बताया। इस्लाम को उन्होंने आग्रहों से भर दिया क्योंकि उनके अनुसार खतर पसन्द तबीअत को सोजगार नहीं, वो गुलिस्तां कि जहां घात में न हो सैयाद। इकबाल के लिए तलवार तौहीद का प्रतीक है। उनके लिए

---

1 उदाहरण के लिए देखिये हाली की ये पंक्तियाँ
वो दीने हजाजी का बेबाक बेड़ा, निशां जिसका अक्साये आलम में पहुंचा
मजाहिम हुआ कोई खतरा न जिसका, न अम्मां में ठिठका, न कुलजम में झिझका।
किये पै सिपर जिसने सातों समन्दर, वो डूबा दहाने में गंगा के आकर।
वो दीं जिससे तौहीद फैला जहां में हुआ जलवागर हक जमीं-आसमां में,
रहा शिर्क बाकी न वहमो-गुमां में, वो बदला गया आके हिन्दोस्तां में—मुकद्दस

2 ये मुसल्मां है, जिन्हें देख के शरमायें यहूद।
बुते हिन्दी की मुहब्बत में बिरहमन भी हुये। (जवाबे शिकवा)

3 सितारों के आगे जहां और भी हैं, अभी इश्क के इम्तिहां और भी हैं।
कनाअत न कर आलमे रंगो बू पर, चमन और भी, आशियां और भी हैं।
तू शाहीं है, परवाज है काम तेरा, तेरे सामने आसमां और भी हैं।

खिलाफत आन्दोलन से जितना प्रभावित थे उतना भारतीय राष्ट्रवादिता से नहीं। सर सैयद के समकालीन थे स्वामी दयानन्द सरस्वती जिन्होंने आर्य समाज की स्थापना करके वैदिक धर्म को सर्वश्रेष्ठ बताया और हिंदुत्व में उसके पुनरुत्थान का प्रयत्न किया। जिस प्रकार वहाबी-आन्दोलन अरबीवाद की ओर उन्मुख था उसी प्रकार आर्य समाज वेदों की ओर उन्मुख था। वहाबी आन्दोलन में अरबी कट्टरता थी और आर्य समाज आन्दोलन में विशुद्ध वैदिक हिंदुत्व के पुनरुत्थान की कट्टरता थी। जिस प्रकार, अमीर अली जैसे लेखक पश्चिमी विचारधारा के सन्दर्भ में, इस्लाम को सुयुक्तिपूर्ण और सर्वश्रेष्ठ बता रहे थे उसी प्रकार, आर्य समाज के प्रणेता पश्चिम की विचारधारा के सन्दर्भ में, वैदिक हिंदुत्व (निगम) को सर्वश्रेष्ठ बता कर, उसके पुनरुत्थान का प्रयत्न कर रहे थे। पंजाब में वहाबी-आन्दोलन और आर्य समाज को सर्वाधिक जनप्रियता मिली, क्योंकि वहां संघर्ष भी सबसे अधिक था। यही वह काल है जब भारत का पुनः आविष्कार (Rediscovery) हुआ। विलियम जोन्स और मैक्समूलर ने जिस भारत को ढूंढ निकाला था और जिसके वे गुण गा रहे थे, वह वैदिक तथा उत्तर वैदिक काल का हिंदू भारत था। उसमें मुसलमानों का नामोनिशान तक न था। दूसरी ओर, भारत में पूंजीवाद का प्रचार हुआ। धीरे धीरे सामन्तवादी व्यवस्था ढहने लगी। मुस्लिम सामन्त-वर्ग का आर्थिक ह्रास होने लगा जिससे वह विक्षिप्त हुआ। भारत में, पूंजीवादी प्रभावों के कारण जिस आधुनिक राष्ट्रीयता और स्वदेशी की मांग का आगमन हुआ उसके प्रणेता हिंदू थे क्योंकि व्यापार में तथा तत्कालीन अंग्रेजी शिक्षा में आगे होने के कारण, उसका अधिकतर लाभ भी हिंदुओं को ही मिलने वाला था। अतः मुसलमानों में मानसिक-असुरक्षा की भावना का उदय हुआ और उन्हें भारत में इस्लाम खतरे में दिखा। इसका परिणाम यह हुआ कि एक ओर, भारत में राष्ट्रीयता का विकास हुआ तो, दूसरी ओर इस्लामी राष्ट्रवादिता का। दोनों के विकास के पीछे नवोन्नित पूंजीवादी सामन्तवर्ग था जो धर्म के नाम पर विभाजित था। हिंदू पूंजीवादी वर्ग ने स्वराज्य तथा राष्ट्रवादिता का नारा लगाया तो मुस्लिम सामन्तवादी वर्ग ने इस्लामी राष्ट्रवादिता तथा धर्मसापेक्ष राष्ट्र का। यही प्रक्रिया, आगे चल कर, एक ओर हिंदी, हिंदू और हिंदुस्तान के नारे में प्रस्फुटित हुई तो, दूसरी ओर, उर्दू, मुस्लिम और पाकिस्तान के नारे में।

हिन्दुत्व और इस्लाम का अलग-अलग समानान्तर विकास सारे मुस्लिम काल में चलता रहा। किंतु, भारत में अंग्रेजी सत्ता के प्रवेश से इस विकास को और भी प्रोत्साहन मिला। अठारह सौ सत्तावन के आस पास ही वहाबी आन्दोलन की प्रखरता फली और उस आन्दोलन के पीछे राष्ट्रीय भावना कम थी। हिंदुओं के लिए अठारह सौ सत्तावन की क्रान्ति हिंदुत्व के पुनर्संस्थापन का माध्यम थी और मुसलमानों के लिए इस्लाम की लुप्त गरिमा स्थापित करने का माध्यम। इसके बाद से ही, एक ओर सर सैयद अहमद खां की परम्परा आई तो दूसरी ओर उसी से मिलती जुलती

मौलाना शिबली, हाली और इकबाल की परम्परा। सर सैयद के लिए दारुल इस्लाम अंग्रेजी राज्य था न कि स्वतन्त्र भारत। शिबली सर सैयद के विरोधी थे। हाली भारत मे इस्लाम के हिंदूकरण से उतना ही विक्षिप्त थे जितना कि वहाबी आन्दोलन के प्रणेता थे। हाली के अनुसार, 'जिस इस्लाम का बेडा सातो समुद्र पार कर गया, वह गगा के दहाने म आकर डूब गया और जिस मजहब का रूप सारे ससार मे एक है, वह भारत म आकर बदल गया[1]।' इकबाल का अभ्युदय भारतीय राष्ट्रवादिता मे हुआ। किन्तु बाद म उन्होने हाली और शिबली की परम्परा पकडी और, भारतीय राष्ट्रवादिता के कवि होने के स्थान पर, इस्लामी राष्ट्रवादिता के प्रबल कवि-समर्थक हो गये। हाली तरह उन्होने भी इस्लाम के भारतीयकरण पर क्षोभ प्रगट किया[2] और उग्र अरबी वादी इस्लाम के कवि हो गये। जिस इस्लाम को सर सैयद और अमीरअली ने बौद्धिकता का जामा पहनाने का प्रयत्न किया था उसे इकबाल ने सुयुक्तिपूर्ण पर उग्र तर्कों से भरना प्रारम्भ किया। अपनी कवित्वमय अभिव्यक्तियो म इकबाल ने इस्लाम को वह शाही (बाज) माना, जिसका काम उडाना (परवाज) है जिसके सामने अनेक जहाँ (ससार) हैं, इश्क की कई परीक्षायें (इम्तिहान) हैं और जिसके सामने एक आसमान नही बल्कि कई आसमा है[3]। इकबाल के मत मे, इस्लाम एक प्रचण्ड लहर है, जिसको सम्बोधित करके वे कहते है कि 'तू समुद्र खोकर भी, तडप कर बदल जा और सभल जा। तेरी किस्मत म किनारा नही है तू जिस तरफ चाहे निकल जा'। इकबाल ने इस्लाम को इहलौकिकता की ओर मोडा और उसे दर्प, उग्रता और कर्मठता के आवरण से लपेट दिया। एक ओर, उन्होने पश्चिमी सभ्यता का विरोध किया तो, दूसरी ओर, सूफीवाद को अकर्मण्य बताया। इस्लाम को उन्होने आशका से भर दिया क्योकि उसके अनुसार खतर पसन्द तबीअत को सौजगार नही, वो गुलिस्ता कि जहा घात म न हो सयाद। इकबाल के लिए तलवार तौहीद का प्रतीक है। उनके लिए

---

1 उदाहरण के लिए देखिये हाली की ये पक्तियाँ
वो दीने हेजाजी का बेबाक बेडा, निशा जिसका अक्साये आलम में पहुचा
मजाहिम हुआ कोई खतरा न जिसका, न अम्मा में ठिठका, न कुलजम में झिझका।
किये प सिपर जिसने सातो समन्दर, वो डूबा दहाने में गगा के आकर।
वो दीं जिससे तौहीद फैला जहा में, हुआ जलवागर हक जमीं-आसमा में,
रहा शिक बाकी न वहमो-ज्मा में, वो बदला गया आके हिन्दोस्ता में—मुकद्दस

2 ये मुसल्मा ह, जिन्हें देख के शरमायें यहूद।
बुते हिन्दी की मुहब्बत में बिरहमन भी हुये। (जवाबे शिकवा)

3 सितारों के आगे जहाँ और भी ह, अभी इश्क के इम्तिहा और भी ह।
कनाअत न कर आलमे रगों बू पर, चमन और भी, आशिया और भी ह।
तू शाहीं है, परवाज है काम तेरा, तेरे सामने आसमा और भी ह।

खिलाफत आन्दोलन से जितना प्रभावित थे उतना भारतीय राष्ट्रवादिता से नहीं। सर सयद के समकालीन थे स्वामी दयानन्द सरस्वती जिन्होंने आर्य समाज की स्थापना करके वदिक धर्म को सर्वश्रेष्ठ बताया और हिंदुत्व में उसके पुनरुत्थान का प्रयत्न किया। जिस प्रकार वहाबी आन्दोलन अरबीवाद की ओर उन्मुख था उसी प्रकार आर्य समाज वेदों की ओर उन्मुख था। वहाबी आन्दोलन में अरबी कट्टरता थी और आर्य समाज आन्दोलन में विशुद्ध वदिक हिंदुत्व के पुनरुत्थान की कट्टरता थी। जिस प्रकार, अमीर अली जैसे लेखक पश्चिमी विचारधारा के सन्दर्भ में, इस्लाम को सुयुक्तिपूर्ण और सर्वश्रेष्ठ बता रहे थे उसी प्रकार आर्य समाज के प्रणेता पश्चिम की विचारधारा के सन्दर्भ में, वदिक हिंदुत्व (निगम) को सर्वश्रेष्ठ बता कर, उसके पुनरुत्थान का प्रयत्न कर रहे थे। पंजाब में वहाबी-आन्दोलन और आर्य समाज को सर्वाधिक जनप्रियता मिली, क्योंकि वहां संघर्ष भी सबसे अधिक था। यही वह काल है जब भारत का पुनः आविष्कार (Rediscovery) हुआ। विलियम जोन्स और मक्समूलर ने जिस भारत को ढूंढ निकाला था और जिसके वे गुण गा रहे थे, वह वदिक तथा उत्तर वैदिक काल का हिंदू भारत था। उसमें मुसलमानों का नामोनिशान तक न था। दूसरी ओर, भारत में पूंजीवाद का प्रचार हुआ। धीरे धीरे सामन्तवादी व्यवस्था ढहने लगी। मुस्लिम सामन्त-वर्ग का आर्थिक ह्रास होने लगा जिसमें वह विक्षिप्त हुआ। भारत में पूंजीवादी प्रभावों के कारण, जिस आधुनिक राष्ट्रीयता और स्वदेशी की मांग का श्रीगणेश हुआ उसके प्रणेता हिंदू थे क्योंकि व्यापार में तथा तत्कालीन अंग्रेजी शिक्षा में आगे होने के कारण, उसका अधिकतर लाभ भी हिंदुओं को ही मिलने वाला था। अतः मुसलमानों में मानसिक-असुरक्षा की भावना का उदय हुआ और उन्हें भारत में इस्लाम खतरे में दिखा। इसका परिणाम यह हुआ कि एक ओर भारत में राष्ट्रीयता का विकास हुआ तो, दूसरी ओर इस्लामी राष्ट्रवादिता का। दोनों के विकास के पीछे नवोदित पूंजीवादी सामन्तवर्ग था जो धर्म के नाम पर विभाजित था। हिंदू पूंजीवादी वर्ग ने स्वराज्य तथा राष्ट्रवादिता का नारा लगाया तो मुस्लिम सामन्तवादी वर्ग ने इस्लामी राष्ट्रवादिता तथा धर्मसापेक्ष राष्ट्र का। यही प्रक्रिया, आगे चल कर एक ओर हिंदी, हिंदू और हिंदुस्तान के नारे में प्रस्फुटित हुई तो, दूसरी ओर, उर्दू, मुस्लिम और पाकिस्तान के नारे में।

हिंदुत्व और इस्लाम का अलग-अलग समानान्तर विकास सारे मुस्लिम काल में चलता रहा। किंतु भारत में अंग्रेजी सत्ता के प्रवेश से इस विकास को और भी प्रोत्साहन मिला। अठारह सौ सत्तावन के आस पास ही वहाबी आन्दोलन की प्रखरता फली और उस आन्दोलन के पीछे राष्ट्रीय भावना कम थी। हिंदुओं के लिए अठारह सौ सत्तावन की क्रांति हिंदुत्व के पुनर्स्थापन का माध्यम थी और मुसलमानों के लिए इस्लाम की लुप्त गरिमा स्थापित करने का माध्यम। इसके बाद से ही, एक ओर सर सैयद अहमद खां की परम्परा आई तो, दूसरी ओर, उसी से मिलती जुलती

मौलाना शिबली, हाली और इकबाल की परम्परा। सर सैयद के लिए दारुल इस्लाम अंग्रेजी राज्य था न कि स्वतन्त्र भारत। शिबली सर सैयद के विरोधी थे। हाली भारत में इस्लाम के हिंदूकरण से उतना ही विक्षिप्त थे जितना कि वहाबी आन्दोलन के प्रणेता थे। हाली के अनुसार, 'जिस इस्लाम का बेड़ा सातों समुद्र पार कर गया, वह गंगा के दहाने में आकर डूब गया और जिस मजहब का रूप सारे संसार में एक है वह भारत में आकर बदल गया[1]।' इकबाल का अभ्युदय भारतीय राष्ट्रवादिता में हुआ। किन्तु बाद में उन्होंने हाली और शिबली की परम्परा पकड़ी और, भारतीय राष्ट्रवादिता के कवि होने के स्थान पर, इस्लामी राष्ट्रवादिता के प्रबल कवि-समर्थक हो गये। हाली की तरह उन्होंने भी इस्लाम के भारतीयकरण पर क्षोभ प्रगट किया[2] और उग्र अरबीवादी इस्लाम के कवि हो गये। जिस इस्लाम को सर सैयद और अमीरअली ने बौद्धिकता का जामा पहनाने का प्रयत्न किया था, उसे इकबाल ने सुयुक्तिपूर्ण पर उग्र तर्कों से भरना प्रारम्भ किया। अपनी कवित्वमय अभिव्यक्तियों में इकबाल ने इस्लाम को वह शाही (बाज) माना, जिसका काम उड़ाना (परवाज) है जिसके सामने अनेक जहां (संसार) हैं इश्क की कई परीक्षायें (इम्तिहान) हैं और जिसके सामने एक आसमान नहीं बल्कि कई आसमां है[3]। इकबाल के मत में, इस्लाम एक प्रचण्ड लहर है, जिसको सम्बोधित करके वे कहते हैं कि 'तू समुद्र खाकर भी तड़प कर बन्दर जा और सम्हल जा। तेरी किस्मत में किनारा नहीं है तू जिस तरफ चाहे निकल जा'। इकबाल ने इस्लाम को इहलौकिकता की ओर मोड़ा और उसे रूप उग्रता और कमठता के आवरण से लपेट दिया। एक ओर उन्होंने पश्चिमी सभ्यता का विरोध किया था, दूसरी ओर सूफीवाद को अकर्मण्य बताया। इस्लाम को उन्होंने आशाओं से भर दिया क्योंकि उनके अनुसार 'खतर पसन्द तबीअत को सोजगार नहीं, वो गुलिस्तां कि जहां घात में न हो सयाद।' इकबाल के लिए तलवार तौहीद का प्रतीक है। उनके लिए

---

1 उदाहरण के लिए देखिये, हाली की ये पंक्तियां
वो दीने हेजाजी का बेबाक बेड़ा निशां जिसका अक्साये आलम में पहुंचा
मजाहिम हुआ कोई खतरा न जिसका न अम्मा में ठिठका, न कुलजम में झिझका।
किये पै सिपर जिसने सातों समन्दर, वो डूबा दहाने में गंगा के आकर।
वो दीं जिससे तौहीद फैली जहां में, हुआ जलवागर हक जमीं-आसमां में,
रहा शिर्क बाकी न वहमो-गुमां में, वो बदला गया आके हिन्दोस्तां में—मुसद्दस
2 ये मुसल्मां ह, जिन्हें देख के शरमायें यहूद ।
बुत हिन्दी की मुहब्बत में बिरहमन भी हुये। (जवाबे शिकवा)
3 सितारों के आगे जहां और भी ह, अभी इश्क के इम्तिहां और भी ह।
कनाअत न कर आलमे रंगों बू पर, चमन और भी आशियां और भी ह।
तू शाहीं है, परवाज है काम तेरा, तेरे सामने आसमां और भी ह।

खिलाफत आन्दोलन से जितना प्रभावित थे उतना भारतीय राष्ट्रवादिता से नहीं। सर सैयद के समकालीन थे स्वामी दयानन्द सरस्वती जिन्होंने आर्य समाज की स्थापना करके वैदिक धर्म को सर्वश्रेष्ठ बताया और हिंदुत्व में उसके पुनरुत्थान का प्रयत्न किया। जिस प्रकार वहाबी आन्दोलन अरबीवाद की ओर उन्मुख था उसी प्रकार आर्य समाज वेदों की ओर उन्मुख था। वहाबी आन्दोलन में अरबी कट्टरता थी और आर्य समाज आंदोलन में विशुद्ध वैदिक हिंदुत्व के पुनरुत्थान की कट्टरता थी। जिस प्रकार, अमीर अली जैसे लेखक पश्चिमी विचारधारा के सन्दर्भ में, इस्लाम को सुयुक्तिपूर्ण और सर्वश्रेष्ठ बता रहे थे उसी प्रकार, आर्य समाज के प्रणेता पश्चिम की विचारधारा के सन्दर्भ में वैदिक हिंदुत्व (निगम) को सर्वश्रेष्ठ बता कर उसके पुनरुत्थान का प्रयत्न कर रहे थे। पंजाब में वहाबी-आंदोलन और आर्य समाज को सर्वाधिक जनप्रियता मिली, क्योंकि वहां संघर्ष भी सबसे अधिक था। यही वह काल है जब भारत का पुनः आविष्कार (Rediscovery) हुआ। विलियम जोन्स और मैक्समूलर ने जिस भारत को ढूंढ निकाला था और जिसके वे गुण गा रहे थे, वह वैदिक तथा उत्तर वैदिक काल का हिंदू भारत था। उसमें मुसलमानों का नामोनिशान तक न था। दूसरी ओर, भारत में पूंजीवाद का प्रचार हुआ। धीरे धीरे सामन्तवादी व्यवस्था ढहने लगी। मुस्लिम सामन्त वर्ग का आर्थिक ह्रास होने लगा जिससे वह विक्षिप्त हुआ। भारत में, पूंजीवादी प्रभावों के कारण जिस आधुनिक राष्ट्रीयता और स्वदेशी की मांग का श्रीगणेश हुआ उसके प्रणेता हिंदू थे क्योंकि व्यापार में तथा तत्कालीन अंग्रेजी शिक्षा में आगे होने के कारण, उसका अधिकतर लाभ भी हिंदुओं को ही मिलने वाला था। अतः मुसलमानों में मानसिक-असुरक्षा की भावना का उदय हुआ और उन्हें भारत में इस्लाम खतरे में दिखा। इसका परिणाम यह हुआ कि एक ओर भारत में राष्ट्रीयता का विकास हुआ तो दूसरी ओर इस्लामी राष्ट्रवादिता का। दोनों के विकास के पीछे नवोदित पूंजीवादी सामन्तवर्ग था जो धर्म के नाम पर विभाजित था। हिंदू पूंजीवादी वर्ग ने स्वराज्य तथा राष्ट्रवादिता का नारा लगाया तो मुस्लिम सामन्तवादी वर्ग ने इस्लामी राष्ट्रवादिता तथा धर्मसापेक्ष राष्ट्र का। यही प्रक्रिया, आगे चल कर, एक ओर हिंदी, हिंदू और हिंदुस्तान के नारे में प्रस्फुटित हुई तो, दूसरी ओर, उर्दू, मुस्लिम और पाकिस्तान के नारे में।

हिन्दुत्व और इस्लाम का अलग-अलग समानान्तर विकास सारे मुस्लिम काल में चलता रहा। किंतु, भारत में अंग्रेजी सत्ता के प्रवेश से इस विकास को और भी प्रोत्साहन मिला। अठारह सौ सत्तावन के आस पास ही वहाबी आन्दोलन की प्रखरता फैली और उस आन्दोलन के पीछे राष्ट्रीय भावना कम थी। हिंदुओं के लिए अठारह सौ सत्तावन की क्रांति हिंदुत्व के पुनर्स्थापन का माध्यम थी और मुसलमानों के लिए इस्लाम की लुप्त गरिमा स्थापित करने का माध्यम। इसके बाद से ही एक ओर सर सैयद अहमद खां की परम्परा आई तो दूसरी ओर, उसी से मिलती जुलती

मौलाना शिबली, हाली और इकबाल की परम्परा। सर सैयद के लिए दारुल इस्लाम अंग्रेजी राज्य था न कि स्वतन्त्र भारत। शिबली सर सैयद के विरोधी थे। हाली भारत में इस्लाम के हिंदूकरण से उतना ही विक्षिप्त थे जितना कि वहाबी आन्दोलन के प्रणेता थे। हाली के अनुसार, जिस इस्लाम का बेड़ा सातों समुद्र पारकर गया, वह गंगा के दहान में आकर डूब गया और जिस मजहब का रूप सारे संसार में एक है, वह भारत में आकर बदल गया[1]।' इकबाल का अभ्युदय भारतीय राष्ट्रवादिता में हुआ। किन्तु बाद में उन्होंने हाली और शिबली की परम्परा पकड़ी और, भारतीय राष्ट्रवादिता के कवि होने के स्थान पर, इस्लामी राष्ट्रवादिता के प्रबल कवि-समर्थक हो गये। हाली सदृश उन्होंने भी इस्लाम के भारतीयकरण पर क्षोभ प्रगट किया[2] और उग्र अरबी-वादी इस्लाम के कवि हो गये। जिस इस्लाम को सर सैयद और अमीरअली ने बौद्धिकता का जामा पहनाने का प्रयत्न किया था उसे इकबाल ने सुयुक्तिपूर्ण पर उग्र तर्कों से भरना प्रारम्भ किया। अपनी कवित्वमय अभिव्यक्तियों में इकबाल ने इस्लाम को वह शाही (बाज) माना, जिसका काम उड़ना (परवाज) है जिसके सामने अनेक जहाँ (संसार) हैं इश्क की कई परीक्षायें (इम्तिहान) हैं और जिसके सामने एक आसमान नहीं बल्कि कई आस्मां हैं[3]। इकबाल के मत में, इस्लाम एक प्रचण्ड लहर है, जिसको सम्बोधित करके वे कहते हैं कि तू समुद्र खोकर भी तड़प कर बदल जा और समन्द जा। तेरी किस्मत में किनारा नहीं है तू जिस तरफ चाहे निकल जा। इकबाल ने इस्लाम को इहलौकिकता की ओर मोड़ा और उसे दर्प, उग्रता और कर्मठता के आवरण से लपेट दिया। एक ओर, उन्होंने पश्चिमी सभ्यता का विरोध किया तो दूसरी ओर, सूफीवाद को अकर्मण्य बताया। इस्लाम को उन्होंने आशंका से भर दिया क्योंकि उसके अनुसार 'खतर पसन्द तबीअत को मोजगार नहीं, वो गुलिस्तां कि जहाँ घात में न हो सयाद। इकबाल के लिए तलवार तौहीद का प्रतीक है। उनके लिए

1 उदाहरण के लिए देखिये, हाली की ये पंक्तियाँ
वो दीने हेजाजी का बेबाक बेड़ा, निशां जिसका अक्साये आलम में पहुंचा
मजाहिम हुआ कोई खतरा न जिसका, न अम्मां में ठिठका, न कुलजम में झिझका।
किये पै सिपर जिसने सातों समन्दर, वो डूबा दहाने में गंगा के आकर।
वो गंगे जिससे तौहीद फैला जहां में, हुआ जलवागर हक जमीं-आसमां में,
रहा शिर्क बाकी न बहमो जमां में, वो बदला गया आके हिन्दोस्तां में—मुसद्दस
2 ये मुसल्मां है, जिन्हें देख के शरमायें यहूद।
बुते हिन्दी की मुहब्बत में बिरहमन भी हुए। (जवाबे शिक्वा)
3 सितारों के आगे जहाँ और भी हैं, अभी इश्क के इम्तिहां और भी हैं।
कनाअत न कर आलमे रंगो बू पर, चमन और भी, आशियाँ और भी हैं।
तू शाहीं है, परवाज है काम तेरा, तेरे सामने आसमां और भी हैं।

खिलाफत आन्दोलन से जितना प्रभावित थे उतना भारतीय राष्ट्रवादिता से नहीं। सर सैयद के समकालीन थे स्वामी दयानन्द सरस्वती जिन्होंने आर्य समाज की स्थापना करके वैदिक धर्म को सर्वश्रेष्ठ बताया और हिंदुत्व में उसके पुनरुत्थान का प्रयत्न किया। जिस प्रकार वहाबी-आन्दोलन अरबीवाद की ओर उन्मुख था उसी प्रकार आर्य समाज वेदों की ओर उन्मुख था। वहाबी आन्दोलन में अरबी कट्टरता थी और आर्य समाज आन्दोलन में विशुद्ध वैदिक हिंदुत्व के पुनरुत्थान की कट्टरता थी। जिस प्रकार, अमीर अली जैसे लेखक पश्चिमी विचारधारा के सन्दर्भ में, इस्लाम को सुयुक्तिपूर्ण और सर्वश्रेष्ठ बता रहे थे, उसी प्रकार, आर्य समाज के प्रणेता पश्चिम की विचारधारा के सन्दर्भ में, वैदिक हिंदुत्व (निगम) को सर्वश्रेष्ठ बता कर, उसके पुनरुत्थान का प्रयत्न कर रहे थे। पंजाब में वहाबी-आन्दोलन और आर्य समाज को सर्वाधिक जनप्रियता मिली, क्योंकि वहां संघर्ष भी सबसे अधिक था। यही वह काल है जब भारत का पुनः आविष्कार (Rediscovery) हुआ। विलियम जोन्स और मैक्समूलर ने जिस भारत को ढूंढ निकाला था और जिसके वे गुण गा रहे थे, वह वैदिक तथा उत्तर वैदिक काल का हिंदू भारत था। उसमें मुसल्मानों का नामोनिशान तक न था। दूसरी ओर, भारत में पूंजीवाद का प्रचार हुआ। धीरे धीरे सामन्तवादी व्यवस्था ढहने लगी। मुस्लिम सामन्त-वर्ग का आर्थिक ह्रास होने लगा जिससे वह विक्षिप्त हुआ। भारत में पूंजीवादी प्रभावों के कारण जिस आधुनिक राष्ट्रीयता और स्वदेशी की मांग का श्रीगणेश हुआ उसके प्रणेता हिंदू थे क्योंकि व्यापार में तथा तत्कालीन अंग्रेजी शिक्षा में आगे होने के कारण, उसका अधिकतर लाभ भी हिंदुओं को ही मिलने वाला था। अतः, मुसल्मानों में मानसिक-असुरक्षा की भावना का उदय हुआ और उन्हें भारत में इस्लाम खतरे में दिखा। इसका परिणाम यह हुआ कि एक ओर, भारत में राष्ट्रीयता का विकास हुआ तो, दूसरी ओर इस्लामी राष्ट्रवादिता का। दोनों के विकास के पीछे नवोदित पूंजीवादी सामन्तवर्ग था जो धर्म के नाम पर विभाजित था। हिंदू पूंजीवादी वर्ग ने स्वराज्य तथा राष्ट्रवादिता का नारा लगाया तो मुस्लिम सामन्तवादी वर्ग ने इस्लामी राष्ट्रवादिता तथा धर्मसापेक्ष राष्ट्र का। यही प्रक्रिया, आगे चल कर, एक ओर हिंदी हिंदू और हिंदुस्तान के नारे में प्रस्फुटित हुई तो दूसरी ओर, उर्दू, मुस्लिम और पाकिस्तान के नारे में।

हिंदुत्व और इस्लाम का अलग-अलग समानान्तर विकास सारे मुस्लिम काल में चलता रहा। किंतु भारत में अंग्रेजी सत्ता के प्रवेश से इस विकास को और भी प्रोत्साहन मिला। अठारह सौ सत्तावन के आस पास ही वहाबी-आन्दोलन की प्रखरता फली और उस आन्दोलन के पीछे राष्ट्रीय भावना कम थी। हिंदुओं के लिए अठारह सौ सत्तावन की क्रान्ति हिंदुत्व के पुनर्संस्थापन का माध्यम थी और मुसल्मानों के लिए इस्लाम की लुप्त गरिमा स्थापित करने का माध्यम। इसके बाद से ही, एक ओर सर सैयद अहमद खां की परम्परा आई तो दूसरी ओर, उसी से मिलती जुलती

मौलाना शिबली, हाली और इकबाल की परम्परा। सर सैयद के लिए दारुल इस्लाम अंग्रेजी राज्य था न कि स्वतन्त्र भारत। शिबली सर सैयद के विरोधी थे। हाली भारत में इस्लाम के हिंदूकरण से उतना ही विक्षिप्त थे जितना कि वहाबी आन्दोलन के प्रणेता थे। हाली के अनुसार, 'जिस इस्लाम का बेड़ा सातों समुद्र पारकर गया, वह गंगा के दहाने में आकर डूब गया और जिस मजहब का रूप सारे संसार में एक है, वह भारत में आकर बदल गया[1]।' इकबाल का अभ्युदय भारतीय राष्ट्रवादिता में हुआ। किन्तु बाद में उन्होंने हाली और शिबली की परम्परा पकड़ी और, भारतीय राष्ट्रवादिता के कवि होने के स्थान पर, इस्लामी राष्ट्रवादिता के प्रबल कवि-समर्थक हो गये। हाली तरह उन्होंने भी इस्लाम के भारतीयकरण पर क्षोभ प्रगट किया[2] और उग्र अरबी-वादी इस्लाम के कवि हो गये। जिस इस्लाम को सर सैयद और अमीरअली ने बौद्धिकता का जामा पहनाने का प्रयत्न किया था उसे इकबाल ने सुमुक्तिपूर्ण पर उग्र तर्कों से भरना प्रारम्भ किया। अपनी कवित्वमय अभिव्यक्तियों में इकबाल ने इस्लाम को वह शाही (बाज) माना, जिसका काम उड़ाना (परवाज) है जिसके सामने अनेक जहाँ (संसार) हैं, इश्क की कई परीक्षायें (इम्तिहान) हैं और जिसके सामने एक आसमान नहीं बल्कि कई आसमां हैं[3]। इकबाल के मत में, इस्लाम एक प्रचण्ड लहर है, जिसको सम्बोधित करके वे कहते हैं कि 'तू समुद्र खोकर भी, तड़प कर बदल जा और सभल जा। तेरी किस्मत में किनारा नहीं है तू जिस तरफ चाहे निकल जा। इकबाल ने इस्लाम को इहलौकिकता की ओर मोड़ा और उसे दर्प उग्रता और कमठता के आवरण से लपेट दिया। एक ओर, उन्होंने पश्चिमी सभ्यता का विरोध किया तो, दूसरी ओर, सूफीवाद को अकर्मण्य बताया। इस्लाम को उन्होंने आशंका से भर दिया क्योंकि उसके अनुसार खतर पसन्द तबीअत को मौजगार नहीं, वो गुलिस्तां कि जहां घात में न हो सैयाद। इकबाल के लिए तलवार तौहीद का प्रतीक है। उनके लिए

---

1 उदाहरण के लिए देखिये हाली की ये पंक्तियाँ
वो दीने हेजाजी का बेबाक बेड़ा, निशां जिसका अक्सायें आलम में पहुंचा
मजाहिम हुआ कोई खतरा न जिसका, न अम्मा में ठिठका, न कुलजम में झिझका।
किये पै सिपर जिसने सातों समन्दर, वो डूबा दहाने में गंगा के आकर।
धो दा जिससे तौहीद फला जहां में, हुआ जलवागर हक जमीं-आसमां में,
रहा शिर्क बाकी न वहमो जमां में, वो बदला गया आके हिन्दोस्तां में—मुकद्दस
2 ये मुसलमां है, जिन्हें देख के शरमायें यहूद।
बुते हिन्दी की मुहब्बत में बिरहमन भी हुये। (जवाबे शिकवा)
3 सितारों के आगे जहाँ और भी है, अभी इश्क के इम्तिहाँ और भी है।
कनाअत न कर आलमे रंगों बू पर, चमन और भी, आशियाँ और भी है।
तू शाहीं है, परवाज है काम तेरा तेरे सामने आसमां और भी है।

कबूतर पर झपटने में जो मजा है वह शायद कबूतर के खून में नहीं है और झपटना पलटना और पलट कर झपटना लहू गर्म रखने का एक बहाना है। इकबाल को तमन्ना इस्लाम में एक आतंकित, आक्रामक भावना को जगाना था और सम्भवत इसीकारण उन्होंने इस्लाम का सम्बोधित करके लिखा है, कि 'खुदा तुझे किसी तूफा से आशना कर दे क्योंकि 'तेरे बहर की मौजो में इज्तराब नहीं।

इकबाल ने इस्लाम के प्रति अंधी भक्ति की माग की। उनका आवाहन था 'जो अक्ल का गुलाम हो वो दिल न कर कबूल। प्रजातन्त्र के वे विरोधी थे[1]। इसी कारण विद्वानों का मत है कि इकबाल ने जर्मन दार्शनिक नीत्से के तानाशाहवाद (फासिज्म) का प्रचार किया है। किन्तु, जब हम उनके मत को उनके कथन में कहते हुये खुदी का बुलन्द करने के विचारो के सन्दर्भ में देखते हैं तो यह स्पष्ट हो जाता है कि वे इस्लाम में राष्ट्र और धर्म को एकाकार करने के पक्ष में थे और यह चाहते थे कि इस्लामी समाज की सामूहिक खुदी का विकास हो क्योंकि, उनके अनुसार, 'मुसलमान सबसे विरत होकर ईश्वर में अनुरक्त रहता है और एलान करता है कि मनुष्य जाति मे हमसे आगे और कोई नहीं है। वे भारत के इस्लामी समाज को ही नहीं वरन ससारव्यापी इस्लामी समाज को एकाकार देखना चाहते हैं। उन्होंने लिखा है 'हमारा अस्तित्व किसी एक स्थान के घेरे में नहीं है। हमारी शराब की तेजी किसी एक प्याले में महदूद नहीं है। हमारी सुराही की मिटटी चीनी भी है और हिन्दुस्तानी भी। हमारे शरीर की धूल टर्की की भी है और सीरिया की भी। मगर हमारा दिल न तो हिन्दुस्तान में है, न सीरिया और न रूम में। इस्लाम को छोडकर हम किसी भी पितदेश मे विश्वास नहीं करते[2] जैसाकि उनका मत है 'हिजरत[3] मुसलमान का ईमान है। हिजरत उसके जीवन में स्थायित्व भरती है। इसका अर्थ है सकीर्णता को छोड़ कर विशालता में पहुँचना। शबनम को छोडकर समुद्र पर विजय पाना। अत, इकबाल ने भारतीय मुसलमानों को हिजरत का आवाहन किया जिससे उन्हें भारत से बाहर अलग जाने की प्रेरणा मिली। इस्लाम का भारतीयकरण उन्हें वह घातक प्रक्रिया लगी जिसके माध्यम से पराजित राष्ट्र विजिता से बदला लेता है। उन्होंने इस बात पर जोर दिया कि भारतीय इस्लाम में एकता (Organic Unity) की कमी है क्योंकि इस्लाम जातियों और सम्प्रदायों में बटा हुआ है। जाति प्रथा मे, उनके अनुसार, भारत मे इस्लाम हिन्दुओं से भी आगे बढ़ा हुआ है और उसका एक ही इलाज है और वह है इस्लाम का भारत से बाहर ले जाना और वहा इस्लामी मान्यताओं के अनुसार

---

1 जमहूरियत इक तर्ज़े हुकूमत है कि जिसमें,
बन्दों को गिना करते हैं तोला नहीं करते।

2 दिनकर, रामधारीसिंह सस्कृति के चार अध्याय पृष्ठ 621 622

3 हजरत मुहम्मद का मक्का से भागकर मदीने जाने को हिजरत कहते हैं।

इस्लामी समाज की स्थापना करना। इकबाल पाकिस्तान बनाने की भावना के मुख्य प्रणेता बने[1]।

जैसा कि अकबर इलाहाबादी, जोश मलीहाबादी, जमील मजहरी, सागर निजामी और सीमाब अकबराबादी की कविताओं में स्पष्ट है, इस काल में इकबाल के विरुद्ध, इस्लाम को भारतीयता के रंग में रंगने का भी प्रयत्न किया गया। इकबाल मुसलमानों का ध्यान मक्के की ओर ले गये तो जोश ने भारत को ही मुसलमानों का आराध्य बताया और इस बात पर जोर दिया कि अगर धर्म राष्ट्रीयता के मार्ग में बाधक है तो धर्म को छोड़ दो[2]। उन्होंने इस्लाम को मार्क्सवाद की ओर ले जाने का प्रयत्न किया। अन्य कवियों ने भारतीय राष्ट्रवाद से प्रेरणा ली और इस्लाम को राष्ट्रवाद की ओर उन्मुख करने का प्रयत्न किया[3]। बंगाल के कवि श्री नजरुल इस्लाम ने भी इस्लाम को राष्ट्रीयता की ओर उन्मुख करने का प्रयत्न किया। वास्तव में, इस्लाम के नवोत्थान में इस्लाम के दो रूप विकसित हुये—एक इस्लामी राष्ट्रवादिता का, और दूसरा भारतीय राष्ट्रवादिता का। भारतीय राष्ट्रवादिता का रूप कुछ कमजोर ही रहा क्योंकि इस्लाम की आत्मा वस्तुतः मजहबी राष्ट्रवादिता की आत्मा थी। इसका परिणाम यह हुआ कि इस्लाम मजहबी राष्ट्रवादिता की ओर उन्मुख हुआ और उसमें एक प्रकार का द्वन्द्व भी आ गया। ठीक यही दशा हिन्दुत्व की हुई। इस्लाम की भांति हिन्दुत्व में भी राष्ट्र और धर्म स्पष्टतः अलग न थे। यदि ऐसा न होता तो शिवाजी को महाराष्ट्र धर्म के लिये संघबल का आश्रय न लेना पड़ता। राष्ट्रवादिता का असली रूप क्या होगा इसका निर्णय हिन्दुत्व भी न कर सका। राष्ट्रवादी मुसलमान या तो सारा राष्ट्रवादी हुआ या उसने अपने राष्ट्रवाद

---

1 गिब, एच० ए० आर० मोहम्मडनिज्म पृष्ठ 161

2 तेरे झूठे कुफ्रो ईमां को मिटा डालूंगा मैं,
हड्डियां इस कुफ्र ईमां की चबा डालूंगा मैं।
डाल दूंगा तेरा गुलो अजमेर और प्रयाग में,
झोंक दूंगा कुफ्रो ईमां को दहकती आग में।

3 उदाहरण के लिये देखिये जमील मजहरी का यह गीत
बिरादराने नौजवां बढ़े चलो बढ़े चलो।
झुके न हिन्द का निशां, बढ़े चलो बढ़े चलो।
जो अक्ल राह रोक दे तो दामन उसका छोड़ दो,
जो मजहब आके टोक दे तो उसको बन्द तोड़ दो।
जवां हो दर से जंग लो सलामे मौजें जंग लो,
नजर फिरा लो तूर से, बुला रही है दूर से
हिमालया की चोटियां, बढ़े चलो, बढ़े चलो।

कबूतर पर झपटने म जो मजा है वह शायद कबूतर के खून मे नही है और झपटना, पलटना और पलट कर झपटना लहू गम रखने का एक बहाना है। इकबाल की तमन्ना इस्लाम म एक आतकित, आक्रामक भावना को जगाना था और सम्भवत इसीकारण उन्होंने इस्लाम को सम्बोधित करके लिखा है, कि 'खुदा तुझे किसी तूफा से आशना कर दे क्योंकि तेरे बहर की मौजो म इज्तराब नही।

इकबाल ने इस्लाम के प्रति अधी भक्ति की माग की। उनका आवाहन था 'जो अक्ल का गुलाम हो वो दिल न कर कबूल। प्रजातन्त्र के वे विरोधी थे[1]। इसी कारण विद्वानो का मत है कि इकबाल ने जर्मन दार्शनिक नीत्से से तानाशाहवाद (फासिज्म) का प्रचार किया है। किन्तु जब हम उनके मत को उनके कथ्य मे बदले हुये खुदी को बुलन्द करने के विचारो के सन्दर्भ म देखते हैं तो यह स्पष्ट हो जाता है कि वे इस्लाम मे राष्ट्र और धर्म को एकाकार करने के पक्ष मे और यह चाहते थे कि इस्लामी समाज की सामूहिक खुदी का विकास हो क्योंकि, उनके अनुसार, मुसलमान सबसे विरत होकर ईश्वर मे अनुरक्त रहता है और एलान करता है कि मनुष्य जाति मे हमसे आगे और कोई नही है। ये भारत के इस्लामी समाज को ही नही वरन ससारव्यापी इस्लामी समाज को एकाकार देखना चाहते हैं। उन्होंने लिखा है हमारा अस्तित्व किसी एक स्थान के घेरे म नही है। हमारी शराब की तेजी किसी एक प्याले मे महदूद नहीं है। हमारी सुराही की मिट्टी चीनी भी है और हिन्दुस्तानी भी। हमारे शरीर की धूल टर्की की भी है और सीरिया की भी। मगर हमारा दिल न तो हिन्दुस्तान मे है न सीरिया और न रूम मे। इस्लाम को छोडकर हम किसी भी पितृदेश मे विश्वास नही करते[2] जसाकि उनका मत है 'हिजरत[3] मुसलमान का ईमान है। हिजरत उसके जीवन म स्थायित्व भरती है। इसका अर्थ है सकीर्णता को छोड कर विशालता म पहुचना। शबनम को छोडकर समुद्र पर विजय पाना। अत, इकबाल ने भारतीय मुसलमानो को हिजरत का आवाहन दिया जिससे उन्हें भारत से बाहर अलग जाने की प्रेरणा मिली। इस्लाम का भारतीयकरण उन्हें वह शान्त प्रक्रिया लगी जिसके माध्यम से पराजित राष्ट्र विजितो से बदला लेता है। उन्होंने इस बात पर जोर दिया कि भारतीय इस्लाम म एकता (Organic Unity) की कमी है क्योंकि इस्लाम जातियो और सम्प्रदायो मे बटा हुआ है। जाति प्रथा मे, उनके अनुसार, भारत मे इस्लाम हिन्दुओ से भी आगे बढ़ा हुआ है और उसका एक ही इलाज है और वह है इस्लाम को भारत से बाहर ले जाना और वहा इस्लामी मान्यताओ के अनुसार

---

1 जमहूरियत इक तर्जे हुकूमत है कि जिसमें,
बन्दो को गिना करते ह तोला नहीं करते।

2 दिनकर, रामधारीसिंह सस्कृति के चार अध्याय पृष्ठ 621 622

3 हजरत मुहम्मद का मक्का से भागकर मदीने जाने को हिजरत कहते ह।

इस्लामी समाज की स्थापना करना। इकबाल पाकिस्तान बनाने की भावना के मुख्य प्रणेता थे[1]।

जैसा कि अकबर इलाहाबादी, जोश मलिहाबादी, जमील मजहरी, सागर निजामी और सीमाब अकबराबादी की कविताओं में स्पष्ट है, इस काल में, इकबाल के विरुद्ध, इस्लाम को भारतीयता के रंग में रंगने का भी प्रयत्न किया गया। इकबाल मुसलमानों का ध्यान मक्का की ओर ले गये तो जोश ने भारत को ही मुसलमानों का आराध्य बनाया और इस बात पर जोर दिया कि अगर धर्म राष्ट्रीयता के मार्ग में बाधक है तो धर्म को छोड़ दो[2]। उन्होंने इस्लाम को मार्क्सवाद की ओर ले जाने का प्रयत्न किया। अन्य कवियों ने भारतीय राष्ट्रवाद से प्रेरणा ली और इस्लाम को राष्ट्रवाद की ओर उन्मुख करने का प्रयत्न किया[3]। बंगाल के कवि श्री नजरुल इस्लाम ने भी इस्लाम को राष्ट्रीयता की ओर उन्मुख करने का प्रयत्न किया। वास्तव में, इस्लाम के नवोत्थान में इस्लाम के दो रूप विकसित हुये—एक इस्लामी राष्ट्रवादिता का, और दूसरा, भारतीय राष्ट्रवादिता का। भारतीय राष्ट्रवादिता का रूप कुछ कमजोर ही रहा क्योंकि इस्लाम की आत्मा वस्तुतः मजहबी राष्ट्रवादिता की आत्मा थी। इसका परिणाम यह हुआ कि इस्लाम मजहबी राष्ट्रवादिता की ओर उन्मुख हुआ और उसमें एक प्रकार का द्वन्द्व भी आ गया। ठीक यही दशा हिन्दुत्व की हुई। इस्लाम की भांति हिन्दुत्व में भी राष्ट्र और धर्म स्पष्टतः अलग न थे। यदि ऐसा न होता तो शिवाजी को महाराष्ट्र धर्म के लिये संन्यासी का आश्रय न लेना पड़ता। राष्ट्रवादिता का असली रूप क्या होगा इसका निर्णय हिन्दुत्व भी न कर सका। राष्ट्रवादी मुसलमान या तो कोरा राष्ट्रवादी हुआ या उसने अपने राष्ट्रवाद

---

1 गिब, एच० ए० आर० मोहम्मडनिज्म पृष्ठ 161

2 तेरे झूठे कुफ्र ईमा को मिटा डालूंगा मैं,
हड्डियां इस कुफ्र ईमा की चबा डालूंगा मैं।
डाल दूंगा तोड़ कर अजमेर और प्रयाग में,
झोंक दूंगा कुफ्रो इमा को दहकती आग में।

3 उदाहरण के लिये देखिये जमील मजहरी का यह गीत
बिरादराने नौजवां बढ़े चलो, बढ़े चलो।
झुके न हिन्द का निशां बढ़े चलो, बढ़े चलो।
जो अबल राह रोक दे तो दामन उसका छोड़ दो,
जो मजहब आके टोक दे तो उसकी रूद तोड़ दो।
सवार हो दर से जंग लो सलामे मौजे जंग लो,
नजर फिरा लो दूर से, बुला रही है दूर से,
हिमालया की चोटियां, बढ़े चलो, बढ़े चलो।

को मार्क्सवाद में मिला दिया। राष्ट्रवादी हिन्दू राष्ट्रवादी भी हुआ और साथ ही साथ सनातनी या आर्यसमाजी भी। संक्षेप में यह कहा जा सकता है कि बीसवीं शताब्दी में राष्ट्रवादिता की जो लहर दौड़ी उसने, एक ओर हिन्दुत्व तथा इस्लाम में प्रतिद्वन्द्व उत्पन्न किया तो दूसरी ओर हिन्दुत्व और इस्लाम का समानान्तर विकसित होने के लिए प्रेरित किया। इसका सबसे बड़ा प्रमाण है कविवर रवीन्द्र जो, इकबाल के विपरीत, *नवोदित हिन्दुत्व के कवि हैं यद्यपि उनकी चेतना की अभिव्यक्ति पर मानवतावादी* विचारों का आवरण चढ़ा हुआ है। इकबाल और रवीन्द्र भारतीय संस्कृति के अर्द्धनारीश्वर हैं। भारत और पाकिस्तान का अलग अलग होना भी इसी समानान्तर विकास का परिचायक है। खिलाफत आन्दोलन के साथ स्वदेशी आन्दोलन का जोड़ना ही इस बात का प्रतीक है कि भारतीय राष्ट्रवादिता का इस्लामी राष्ट्रवादिता से जोड़ने का प्रयत्न किया गया था। उन दोनों का समन्वय न हो सका। हिन्दुत्व और इस्लाम के समानान्तर विकास को गांधी भी न रोक सके। वे केवल इतना ही कह सके 'ईश्वर अल्ला तेरे नाम सबको सन्मति दे भगवान्'।

भारत में पाकिस्तान का निर्माण भारत में इस्लाम के समानान्तर विकास, उसके अरबीपन और उसकी कट्टरता का प्रतीक है। पाकिस्तान के बनने से इस्लाम और राष्ट्र एक में समा गये। किन्तु भारत में अब भी दस करोड़ मुसलमान हैं जिनके सामने इस्लाम है और पीछे पिछले तेरह सौ वर्षों का इस्लामी इतिहास। उनकी धार्मिक संस्कृति उन्हें भारत के आर पार की संस्कृतियों के पास ला बिठाती है और भारतीय राष्ट्रवादिता की मांग उन्हें भारत में ही सीमित करती है। उधर, भारत में अठारहवीं शताब्दी में जो प्रश्न उठे थे उनका अभी तक सन्तोषजनक उत्तर नहीं मिला है क्योंकि हिन्दुत्व भी एक ओर नवोन्नति राष्ट्रवादिता से सम्बन्धित है तो दूसरी ओर *अपनी ऐतिहासिकता से। अन्तर है तो केवल इतना कि हिन्दुत्व में उन्विकासी समन्वय* की प्रक्रिया है जबकि इस्लाम में पुनरुत्थान की प्रेरणा। आज भारतीय संस्कृति में इस्लाम तथा हिन्दुत्व का लेकर जो द्वन्द्व चल रहा है, क्या कोरा राष्ट्रवाद उसका निराकरण कर सकेगा? जीवन दर्शन से परे राष्ट्रवाद निरर्थक है क्योंकि शायद ही कहीं कोरा राष्ट्रवाद सामाजिक और राष्ट्रीय एकीकरण का कारक बना हो। योरोप में विकसित होने वाला राष्ट्रवाद पूंजीवादी साम्राज्यवाद से उत्पन्न एक शक्ति थी। ऐसी शक्ति भारत में नहीं है और न उसके पुनः उत्पन्न होने के लिये अब अवसर ही है। और फिर, आज का भारत उतना प्रबल राष्ट्रवादी हो भी नहीं सकता है जितना कि योरोप के देश थे या रहे हैं। आज मानवतावाद का युग है जो राष्ट्रवाद का स्वतः निषेध है। सारा इतिहास इस बात का साक्षी है कि हिन्दुत्व और इस्लाम का सम्पर्क दो संस्कृतियों के रूप में कम, दो राजनैतिक शक्तियों के रूप में ही अधिक हुआ है और इसी कारण, उनमें परस्पर द्वन्द्व और टकराव रहा है। जब तक उन पर राजनीति का दबाव रहेगा, तब तक उनका द्वन्द्व बना रहेगा।

भारतीय संस्कृति में योरोपीय सभ्यता

सोलहवा अध्याय

भारत और योरोपीय सभ्यता

योरोपीय सभ्यता कुछ पहलू

भारत के सास्कृतिक उत्विकास म, एक ओर, मुगलो और मराठो का उत्थान और पतन भारत भूमि पर ग्रेट ब्रिटेन, फ्रान्स, हालण्ड और पुर्तगाल इत्यादि योरोपीय देशो के बीच भारत की राजनतिक सत्ता हथियाने के लिये चलने वाला सघष और उसमे ग्रेट ब्रिटन की विजय, भारत म अंग्रेजी राज की स्थापना भारत का स्वातन्त्र्य सग्राम छडना और धीर धीरे उसमे विजयी होकर स्वतन्त्र होना तथा दूसरी ओर भारतीय सस्कृति म पश्चिमी सभ्यता का धीरे धीरे समावेश भारतीय सस्कृति म सभ्यता सस्कृति-सघात की अवस्था का उत्पन्न होना और उसस सस्कृतिकरण की बहुमुखी प्रक्रियाओ का प्रादुभूत होना एक साथ हुआ है। वतमान भारतीय सस्कृति निश्चय ही वेदो तथा उपनिषदो मे निरूपित हिन्दुत्व बुद्धवाद इस्लाम और पश्चिमी सभ्यता के समन्वय से उत्पन्न एक प्रक्रिया है यद्यपि उस प्रक्रिया का वतमान स्वरूप योरोपीय सभ्यता से अधिक प्रभावित है। भारत मे परम्परा तथा आधुनिकता साम्यवाद तथा ससदीय प्रजातन्त्रवाद, नियोजित और नियन्त्रित तथा स्वतन्त्र प्रतियोगी सामाजिक आर्थिक व्यवस्था सम्बन्धी वाद विवाद तथा मत मतान्तरो का सघष, पश्चिमी सभ्यता क ही योगदान हैं। भारतीय सस्कृति म, पश्चिमी सभ्यता के

प्रवेश ने, जहां संस्थाओं में परिवर्तन उत्पन्न किया, भारत के राजनैतिक एकीकरण और राष्ट्रीयता को जन्म दिया, सुधारवादी तथा पुनरुत्थानवादी आन्दोलनों को उभारा, वहां उन परस्पर विरोधी विचारधाराओं को भी जन्म दिया जिनका कि वह स्वयं शिकार रही है और आज भी है। भारत में, समय-समय पर उठने वाला धर्मसापेक्षिता तथा धर्मनिर्पेक्षिता का प्रश्न पश्चिमी संघात से उत्पन्न परिस्थितियों की ही उपज है।

भारत में ही नहीं किन्तु सम्पूर्ण संसार में पश्चिमी संस्कृति के प्रभुत्वमय प्रसार ने ऐसी विरोधात्मक सांस्कृतिक परिस्थितियां उत्पन्न कर दी हैं। पिछले चार सौ वर्षों में मानव संस्कृति के ऐतिहासिक उद्विकासी प्रवाह ने, योरोप में जिन सभ्यताओं तत्वों और तत्व समूहों को जन्म दिया, उन्हें योरोप निवासी संसार के कोने कोने में ले गये हैं। आज शायद ही कोई ऐसा महाद्वीप या सांस्कृतिक समूह हो जो पश्चिमी सभ्यता के प्रभुत्वमय संघात से अछूता हो। प्रौद्योगिक विकास के जिस स्तर ने वर्तमान योरोप को जन्म दिया है और जो योरोप तथा संसार का परिवर्तन कर रहा है, उसका केन्द्रीकरण योरोप में ही है। औद्योगिक क्रांति (Industrial Revolution) से उत्पन्न, संसारव्यापी सामाजिक-आर्थिक व्यवस्था का गढ़ योरोप ही है। वर्तमान संसार की अर्थव्यवस्था पर योरोप का ही प्रभुत्व है और अन्तर्राष्ट्रीय यातायात के अधिकतर भाग और साधन योरोपीय राष्ट्रों के नियंत्रण में हैं। पश्चिमी देशों के जहाज अधिकतम माल ढोते हैं और अधिकतम अन्तर्राष्ट्रीय यात्रियों को ले जाते हैं। योरोप के हवाई जहाज समुद्रों और महाद्वीपों को लांघते हुए संसार के आर पार उड़ते हैं और योरोप का अन्य देशों से सम्पर्क स्थापित करते हैं। रेल, तार, टेलीफोन, बिजली मशीन द्वारा खेती, रेडियो सिनेमा, मोटर, टाइप करने तथा सीने की मशीन कमरा, फाउंटेनपेन और अंग्रेजी चिकित्सा-पद्धति योरोप के ही योगदान हैं और संसार के सभी देशों में इनका प्रयोग होता है।

योरोप का यह संसारव्यापी प्रभुत्वमय प्रसार वस्तुतः उन ऐतिहासिक परिस्थितियों की देन है जो पिछले चार सौ सालों में उत्पन्न हुयी हैं। योरोप का यह प्रसार वस्तुतः निर्भर रहा है उस प्रौद्योगिकी (Technology) पर जो पिछले चार सौ सालों में योरोप में विकसित हुयी है। इसी प्रौद्योगिकी की देन, यातायात के साधन, योरोपियनों को अन्य महाद्वीपों के निवासियों के सम्पर्क में लाए। औद्योगिक क्रान्ति से उत्पन्न पूंजीवादी व्यवस्था ने विश्वव्यापी व्यापार के लिए प्रेरित किया। योरोपीय सभ्यता से पहले पहल वहां के व्यापारी और जहां-जहां ये व्यापारी गए वहां वहां उन्होंने पहले कारखाने किले और तो सेना की चौकियों को कायम किया और, इसप्रकार, बाद में आर्थिक प्रभुत्व के साथ-साथ राजनैतिक प्रभुत्व को कायम किया। कहीं उन्होंने अपना राज्य स्थापित किया और कहीं उपनिवेश। अपना प्रभुत्व स्थापित करने के साथ-साथ, एक ओर उन्होंने योरोपीय सामाजिक संस्थाओं

सोलहवां अध्याय

भारत और योरोपीय सभ्यता

योरोपीय सभ्यता : कुछ पहलू

भारत के सांस्कृतिक उद्विकास में एक ओर मुगलों और मराठों का उत्थान और पतन, भारत भूमि पर ग्रेट ब्रिटेन, फ्रान्स, हालैण्ड और पुर्तगाल इत्यादि योरोपीय देशों के बीच भारत की राजनैतिक सत्ता हथियाने के लिये चलने वाला संघर्ष और उसमें ग्रेट ब्रिटेन की विजय, भारत में अंग्रेजी राज की स्थापना, भारत का स्वातन्त्र्य संग्राम छेड़ना और धीरे धीरे उसमें विजयी होकर स्वतन्त्र होना तथा, दूसरी ओर भारतीय संस्कृति में पश्चिमी सभ्यता का धीरे धीरे समावेश, भारतीय संस्कृति में सभ्यता संस्कृति-संघात की अवस्था का उत्पन्न होना और उससे संस्कृतिकरण की बहुमुखी प्रक्रियाओं का प्रादुर्भूत होना एक साथ हुआ है। वर्तमान भारतीय संस्कृति निश्चय ही वेदों तथा उपनिषदों में निरूपित हिन्दुत्व, बुद्धवाद, इस्लाम और पश्चिमी सभ्यता के समन्वय से उत्पन्न एक प्रक्रिया है यद्यपि इस प्रक्रिया का वर्तमान स्वरूप योरोपीय सभ्यता से अधिक प्रभावित है। भारत में परम्परा तथा आधुनिकता, साम्यवाद तथा संसदीय प्रजातन्त्रवाद, नियोजित और नियन्त्रित तथा स्वतन्त्र प्रतियोगी सामाजिक आर्थिक व्यवस्था सम्बन्धी वाद विवाद तथा मत मतान्तरों का संघर्ष, पश्चिमी सभ्यता के ही योगदान है। भारतीय संस्कृति में, पश्चिमी सभ्यता के

प्रदेश ने, जहा सस्थाओ मे परिवर्तन उत्पन्न किया, भारत के राजनैतिक एकीकरण और राष्ट्रीयता को जन्म दिया, सुधारवादी तथा पुनर्जागरणवादी आन्दोलनों को उभारा, वहा उन परस्पर विरोधी विचारधाराओ को भी जन्म दिया जिनका कि वह स्वय शिकार रही है और आज भी है। भारत मे समय-समय पर उठने वाला धर्मसापेक्षिता तथा धर्मनिरपेक्षिता का प्रश्न पश्चिमी सघात से उत्पन्न परिस्थितिया की ही उपज है।

भारत मे ही नहीं किन्तु सम्पूर्ण ससार मे पश्चिमी संस्कृति के प्रभुत्वमय प्रसार ने ऐसा विरोधात्मक सास्कृतिक परिस्थितिया उत्पन्न कर दी हैं। पिछले चार सौ वर्षो मे, मानव सस्कृति के ऐतिहासिक उदविकासी प्रवाह ने, योरोप मे जिन सभ्यतायी तत्वो और तत्व सकुलो को जन्म दिया उन्हे योरोप निवासी ससार के कोने कोने मे ले गये हैं। आज शायद ही कोई ऐसा महाद्वीप या सास्कृतिक समूह हो जो पश्चिमी सभ्यता के प्रभुत्वमय सघात से अछूता हो। प्रौद्योगिक विकास के जिस स्तर ने वर्तमान योरोप को जन्म दिया है और जो योरोप तथा ससार का परिवर्तन कर रहा है, उसका केन्द्रीकरण योरोप मे ही है। औद्योगिक क्रान्ति (Industrial Revolution) से उत्पन्न, ससारव्यापी सामाजिक आर्थिक व्यवस्था का गढ योरोप ही है। वर्तमान ससार की अर्थव्यवस्था पर योरोप का ही प्रभुत्व है और अन्तर्राष्ट्रीय यातायात के अधिकतर मार्ग और साधन योरोपीय राष्ट्रो के नियत्रण में हैं। पश्चिमी देशो के जहाज अधिकतम माल ढोते हैं और अधिकतम अन्तर्राष्ट्रीय यात्रियों को ले जाते हैं। योरोप के हवाई जहाज समुद्रो और महाद्वीपो को लाघते हुए, ससार के आर पार उडते हैं और योरोप को अन्य देशो से सम्पर्क स्थापित करते हैं। रेल, तार टेलीफोन बिजली मशीन द्वारा खेती, रेडियो, सिनेमा, मोटर टाइप करने तथा सीने की मशीन कैमरा, फाउन्टेनपेन और अग्रेजी चिकित्सा-पद्धति योरोप की ही योगदान हैं और ससार के सभी देशो मे इनका प्रयोग होना है।

योरोप का यह ससारव्यापी, प्रभुत्वमय प्रसार वस्तुत उन ऐतिहासिक परिस्थितियो की देन है जो पिछले चार सौ सालो मे उत्पन्न हुयी है। योरोप का यह प्रसार वस्तुत निर्भर रहा है उस प्रौद्योगिकी (Technology) पर जो पिछले चार सौ सालो मे योरोप मे विकसित हुयी है। इसी प्रौद्योगिकी की देन, यातायात के साधन, योरोपियनो को अन्य महाद्वीपो के निवासियो से सम्पर्क मे लाए। औद्योगिक क्रान्ति मे उत्पन्न पूजीवादी व्यवस्था ने विश्वव्यापी व्यापार के लिए प्रेरित किया। योरोपीय सभ्यता से पहले पहल वहा के व्यापारी और जहा-जहां ये व्यापारी गए वहां वहां उन्होंने पहले कारखाने किले और नौ सेना की चौकियो को कायम किया और, इसप्रकार बाद मे आर्थिक प्रभुत्व के साथ-साथ राजनैतिक प्रभुत्व को कायम किया। कही उन्होने अपना राज्य स्थापित किया और कही उपनिवेश। अपना प्रभुत्व स्थापित करने के साथ-साथ, एक ओर उन्होने योरोपीय सामाजिक सस्थाओं

की स्थापना की तो, दूसरी ओर, ईसाई धर्म का प्रचार किया। जब से योरोपियनों ने अमरीकी महाद्वीप और गुडहोप अन्तरीप के मार्ग से भारत के सामुद्रिक मार्ग का आविष्कार किया है, वे संसार पर राजनैतिक-आर्थिक प्रभुत्व कायम करने के लिये परस्पर लड़ते रहे हैं। उन्नीस सौ चौदह में योरोप ने जो विश्वव्यापी महायुद्ध शुरू किया था वह सम्भवतः आज भी समाप्त नहीं नहीं हुआ है। एक ज्वालामुखी की भांति वह रह रह कर भड़क उठता है।

पिछले चार सौ वर्षों के संसारव्यापी योरोप के राजनैतिक-आर्थिक प्रभुत्व ने संसार की अन्य प्राचीन संस्कृतियों में उनकी सोयी हुयी आत्मनिष्ठा को जाग्रत किया है जिनके माध्यम से उनमें राष्ट्रीयता जगी है और उनमें उन कौशलों तथा संस्थाओं का प्रादुर्भाव हुआ है जिन्होंने उनमें, एक ओर आत्मसजगता की भावना जगायी है तो दूसरी ओर, उन्हें पश्चिमी सभ्यता के विरोध में ला खड़ा किया है। इंगलैण्ड में मैग्ना कार्टा की घटना अमरीका का स्वातंत्र्य संग्राम और वहां की स्वातंत्र्य घोषणा (Declaration of Independence) फ्रांस तथा रूस की राज्य क्रांतियाँ और उनके पीछे पनपने वाली अर्हाय (Values), अटलांटिक चार्टर (The Atlantic Charter) और संयुक्त राष्ट्रसंघ के चार्टर की प्रस्तावना ने करोड़ों व्यक्तियों को सामाजिक आर्थिक और राजनैतिक स्वतंत्रता प्राप्त करने के लिये प्रेरित किया है और आज भी कर रहे हैं। अमेरिका मिश्र पाकिस्तान भारत, लंका बर्मा और जापान का राष्ट्रीय शक्तियों के रूप में निखरना बहुत कुछ पश्चिमी सभ्यता के प्रभाव का ही परिणाम है।

इस्लाम की भाँति पश्चिमी सभ्यता भी एक प्रबल राष्ट्रनिर्मात्री शक्ति रही है। आधुनिक जापान का अभ्युदय और विकास, वस्तुतः, पश्चिमीकरण (Westernization) का एक एशियायी राष्ट्रीय रूप है। किन्तु, साथ ही साथ पश्चिमी सभ्यता के संसर्ग से प्राचीन संस्कृतियों में उसका विरोध करने वाली शक्तियों का भी प्रस्फुटन हुआ। साम्यवादी और उदार तथा संसदीय प्रजातन्त्रवादी विचारधाराओं के कारण दो गुटों में बंटा हुआ वर्तमान संसार, योरोपीय सभ्यता के संसारव्यापी प्रभुत्व का ही परिणाम है क्योंकि साम्यवाद तथा उदार संसदीय प्रजातन्त्रवाद और राष्ट्रवादिता तथा अन्तर्राष्ट्रीयता योरोप की ही देन हैं। राधाकृष्णन ने ठीक ही कहा है कि योरोपीय प्रभुत्व से ही योरोपीय सभ्यता के विश्रृंखलन की शक्तियां उत्पन्न हुयी हैं[1]। साधारणतया, अंग्रेजी भाषा भाषी संसार में, पश्चिम (The West) और पश्चिमी (Western) अथवा योरोपीय सभ्यता (European Civilization) एक दूसरे के पर्याय के रूप में प्रयुक्त किये जाते हैं। आमतौर पर, पश्चिमी सभ्यता योरोप और योरोपीय संस्कृतियाँ एक दूसरे के प्रतीक माने जाते हैं और एशिया तथा

---

1 राधाकृष्णन, सर्वपल्ली ईस्ट एण्ड वेस्ट सम रेफलक्शन्स

एशियायी संस्कृतियां का पूर्व का प्रतीक माना जाता है। इसकारण पूर्व (Thd East) और पश्चिम (The West) में जो अन्तर किया जाता है वह योरोप तथा एशिया में पाये जाने वाले विभेदों के आधार पर किया जाता है। किन्तु, योरोप और एशिया राजनैतिक इकाइयां हैं और न तो योरोप में कोई प्रधान सजातीय संस्कृति है और न एशिया में। और फिर, भौगोलिक क्षेत्र और सांस्कृतिक इकाइ परस्पर समानान्तर नहीं होते हैं। योरोप और एशिया वस्तुतः एक ही भूभाग के अंग हैं। दुनिया के नक्शे में, योरोप एशिया कहे जाने वाले भूभाग का एक अनुबद्ध अंश सा लगता है जिसका उत्तरी समुद्रतट एशिया में समाया हुआ है। गंगा के तट से लेकर स्काटलैण्ड (Scotland) तथा आयरलैण्ड तक फैली हुयी भारोपीय (Indo-European) परिवार की भाषाएं, एक ओर योरोप और एशिया की समान ऐतिहासिक पृष्ठभूमि की प्रतीक हैं और, दूसरी ओर पूर्व और 'पश्चिम' में किये जाने वाले अन्तर की नगण्यता की द्योतक है। इतिहास के दीर्घकालीन सन्दर्भ में 'पूर्व' और पश्चिम' का भेद स्वतः समाप्त हो जाता है क्योंकि मानव संस्कृति के उपाकाल में दोनों एक समान हैं और वस्तुतः समान आधारों पर विकसित हुये हैं। मानव संस्कृति की ऐतिहासिक प्रक्रिया में, एशिया ने योरोप को प्रभावित किया है और योरोप ने एशिया को। ईसाइयत जो योरोप का प्रधान मजहब है एशिया की योरोप को एक भेंट है यद्यपि आज वही भेंट योरोप एशिया को दे रहा है।

जिसे पश्चिमी सभ्यता कहा जाता है उसका केन्द्रीकरण आज योरोप में ही नहीं है यद्यपि उसका उद्भव और विकास योरोप में ही हुआ है। आज अमरीका में पश्चिमी संस्कृति उतनी ही केन्द्रित है, जितनी कि योरोप में। इसीकारण, अमरीकी मानवशास्त्री 'पश्चिम' या 'पश्चिमी' के स्थान पर, अधिकतर योरोप-अमरीकी (Furo American) शब्द का प्रयोग करते हैं। और वास्तव में यह है भी सही क्योंकि वर्तमान संसार में जिसे हम पश्चिमी सभ्यता कहते हैं, उसका विकास और प्रसरण योरोप तथा अमरीका दोनों से हो रहा है। लेकिन, अगर ऐतिहासिक प्रक्रिया के सन्दर्भ में देखा जाय तो अमरीका योरोप का एक विस्तार और प्रतिरूप मात्र लगता है यद्यपि, उस प्रतिरूप में, यहाँ वहाँ कुछ बदला अवश्य नजर आता है। अमरीका का सांस्कृतिक तथा बौद्धिक गठन वस्तुतः योरोपीय है।

जिस प्रमेय को 'पश्चिम' (The West) अथवा 'पश्चिमी सभ्यता' कहा जाता है वह मानव-संस्कृति की उद्विकासी प्रक्रिया का वह रूप और स्तर है जो योरोप की ऐतिहासिक प्रक्रिया में विकसित हुआ है यद्यपि न तो वह एकमात्र योरोप की ही उपज है और न वह योरोप तक ही सीमित है। उसका इतिहास समाया है यूनान और रोम की विचारधाराओं में। ईसाइयत, योरोप में इस्लाम के प्रवेश और प्रसार के बाद चलने वाले धर्मयुद्ध (Crusades), योरोप का पुनर्जागरण योरोप के ज्ञान विज्ञान तथा वैज्ञानिक प्रौद्योगिकी का विकास, औद्योगिक क्रान्ति (Industrial Revolutoin),

फ्रांस और रूस की राज्य क्रान्तियाँ और इन सबके सम्मिलित प्रभाव से अवतरित होने वाले सामाजिक सांस्कृतिक रूपान्तरण पश्चिमी सभ्यता के अन्य आधार हैं। पश्चिमी सभ्यता वस्तुतः योरोप में होने वाले सांस्कृतिक सामाजिक रूपान्तरण की विभिन्नताओं के उस संकुल में समायी है जो योरोपीय संस्कृतियों में समाया होने पर भी उनसे भिन्न है और जो आज विश्वव्यापी हो रहा है। यह संकुल केवल पार्थिव नहीं है। एक सामाजिक-आर्थिक प्रौद्योगिक संकुल के रूप में पश्चिमी सभ्यता पार्थिव भी है और अपार्थिव भी क्योंकि उसे उन आदर्शों और आस्थाओं से अलग नहीं किया जा सकता जो उसको अर्थ प्रदान करती हैं। अतः पश्चिमी सभ्यता के संकुल की विवेचना के पहले उन पार्थिव तथा अपार्थिव ऐतिहासिक प्रवाहों का विश्लेषण आवश्यक है जिन्होंने पश्चिमी सभ्यता को जन्म दिया है।

२

योरोपीय सभ्यता के आधार : ऐतिहासिक विवेचन

राधाकृष्णन के अनुसार मानव संस्कृति के प्रारम्भिक विकास काल में पश्चिम तथा पूर्व के विकास स्तरों में काफी समानता है। वास्तव में वर्तमान योरोप का आधार है यूनान, फिलस्तीन और रोम की बौद्धिक तथा सामाजिक सांस्कृतिक परम्परायें। वर्तमान योरोप का आधारभूत 'मूल्यों' (Values) और संस्थायें यूनान फिलस्तीन और रोम की देन हैं। यूनान ने योरोप को आलोचनात्मक दृष्टिकोण निरीक्षण रीतियाँ और राजनैतिक धारणायें प्रदान कीं, रोम ने धर्मनिरपेक्ष विधि प्रणाली और सामाजिक संगठन के सिद्धान्त और फिलस्तीन ने एकेश्वरवाद तथा मनुष्य के नैतिक अस्तित्व की वह धारणा प्रदान की जिसमें व्यक्ति का अस्तित्व केवल एक नैतिक अस्तित्व (Moral Being) है वह अस्तित्व जो ईश्वर के आदेशों के अधीन है। ईश्वर और व्यक्ति एक दूसरे से पर हैं। ईश्वर अवतार नहीं लेता है वरन इच्छा होने पर, किसी चुने हुए व्यक्ति के समक्ष प्रगट होकर उसके द्वारा नैतिकता के आदेशों को मनुष्य तक पहुँचाता है जिसका उदाहरण ईसा द्वारा दिया हुआ सन्देश है। इसी कारण मनन (Thought), कर्म (Action) और निष्ठा (Faith) पश्चिमी परम्परा के तीन तत्व हैं। किन्तु योरोपीय ऐतिहासिक विकास में ये तत्व कभी भी एक सामञ्जस्य में नहीं आये हैं—वे सदैव परस्पर अलग ही रहे हैं। सम्भवतः इसी कारण योरोपीय विचारधारा में विरोधी तथा विजातीय तत्वों का समावेश हुआ है।

योरोपीय बौद्धिकता मूलत यूनानी बौद्धिक परम्पराओं से प्रभावित है। यूनानी बौद्धिकता की एक धारा थेल्स से प्रवाहित हुई है और दूसरी यूनान तथा रोम पैथागोरस से। युक्तियुक्त जिज्ञासा पर आधारित और थेल्स द्वारा के योगदान प्रतिपादित बौद्धिक परम्परा, प्रकृतिवादिता (Naturalism) में विकसित होती हुई एक ओर, डमाक्रिटस की परमाणुवादी (Atomism) बौद्धिक परम्परा में विकसित हुई और, दूसरी ओर इपीक्यूरस की, सुखदुखवादी विचारधारा में जा, आगे चलकर, मनोविज्ञान में सुखदुखवादी सम्प्रदाय (Hedonistic School) के सिद्धान्तों में प्रस्फुटित हुई। पैथागोरस की बौद्धिक परम्परा, सुकरात, अरस्तू और प्लेटो की बौद्धिक परम्पराओं में विकसित होती हुई एक ओर ईसाइयत की विचारधारा में लीन हो जाती है और, दूसरी ओर, योरोपीय सामाजिक दर्शन और विज्ञानवादिता में—वह विज्ञानवादिता जिसने योरोप के वर्तमान भौतिक तथा सामाजिक शास्त्रों को जन्म दिया है। इन्हीं बौद्धिक परम्पराओं के फल-स्वरूप, योरोप की वह बौद्धिक परम्परा विकसित हुई है जो एक ओर, विज्ञानवादी है और, दूसरी ओर युक्तियुक्तवादी जो, एक ओर, मानव विवेक में आस्था के विचार पर आधारित है और, दूसरी ओर, वास्तविकता को युक्तियुक्त मानने पर जो एक ओर प्रत्यक्षवादी तथा वैज्ञानिक है और, दूसरी ओर, दार्शनिक आध्यात्मिक। सुकरात ने युक्तियुक्तवादी बौद्धिक परम्परा में 'आत्मा' की धारणा प्रतिपादित की। प्लेटो ने आदर्शवादी प्रत्यक्षवादी विश्लेषण पद्धति को और अरस्तू ने प्रकृतिवादी प्रत्यक्षवाद की बौद्धिक परम्पराओं को जन्म दिया। योरोप में अरस्तू को सभी विज्ञानों का जनक माना जाता है। किन्तु यूनानी बौद्धिक परम्परा की एक और विशेषता है जो योरोप की बौद्धिक परम्परा में लीन हो गई है और वह है, विज्ञान तथा दर्शन को एकाकार करने की जिसकी आधारशिला प्लेटो ने रक्खी थी। प्लेटो की प्रत्यक्षवादी विज्ञानवादिता आदर्शवादिता तथा आध्यात्मिकता की ओर उन्मुख है और सुकरात की प्रत्यक्षवादी प्रकृतिवादिता आनुभूतिकता की ओर। ज्ञान को विज्ञान में सीमित रखने की योरोपीय परम्परा का आधार यूनानी है, जिसके कारण योरोपीय बौद्धिक परम्परा, एक ओर, युक्तियुक्त की ओर उन्मुख है और दूसरी ओर, द्वन्द्वात्मकता की ओर। द्वन्द्वात्मकता ही आगे चलकर ऐतिहासिक कारणवादिता तथा ऐतिहासिक दर्शन की बौद्धिक परम्पराओं में प्रस्फुटित हुई।

विवेक को सर्वोपरि मानकर, युक्तियुक्त विचार तथा विज्ञानवादी दर्शन के समन्वय से मानव मस्तिष्क का विश्लेषण करते हुए, यूनानी इस निष्कर्ष पर पहुंचे कि मानव मस्तिष्क की शक्ति वस्तुतः निहित है व्यक्ति में—वह व्यक्ति जो समष्टि का अंगमात्र नहीं है वरन जो युक्तियुक्त है। इसके फलस्वरूप, पहले यूनान में और बाद में योरोप में व्यक्तिवादिता को प्रोत्साहन मिला। यूनानी अपनी ही विचारधारा से इतने प्रभावित थे कि उन्होंने केवल यूनानियों को ही सभ्य माना और शेष संसार

को असभ्य। यही वह विचारधारा है जो आगे चलकर, आधुनिक योरोप के उन्नयकाल में, इस विचार में परिवर्तित हुयी कि योरोप ही विश्व में सभ्यता और प्रगति का प्रतीक है। आगे चलकर, जब योरोप का संसार के अन्य क्षेत्रों से सम्पर्क हुआ तो यही विचारधारा मानवशास्त्र तथा समाजशास्त्र के उद्विकासी सिद्धान्तों में प्रस्फुटित हुई। इन सिद्धान्तों के अनुसार, योरोप विकास की चरम सीमा और इतिहास का गन्तव्य है। उन्नीसवीं शताब्दी में योरोपियनों में जो वर्ण भेद और उच्चता का भाव आया और जिसके रूप आज अफ्रीका और अमरीका में दमन का मिलता है उनका एक स्रोत यूनान की सभ्य असभ्य सम्बन्धी वह विचारधारा भी है जो योरोपीय विचार में व्याप्त है। यूनानियों ने संसार को सभ्य असभ्य में बांटा तो इसाइयों ने धार्मिक-अधार्मिक तथा इसाई और गैर इसाई में। योरोपीय विचारधारा, इसकारण द्वन्द्वात्मक भी है और विभक्तात्मक भी।

यूनानी विचारधारा और यूनानी समाज संगठन परस्पर विरोधी से रहे। मानवतावादी और व्यक्तिवादी होने पर भी यूनानियों ने अपने आर्थिक संगठन का आधार गुलामी प्रथा को ही रखा। व्यक्तिवाद को वे इतनी पराकाष्ठा तक ले गये कि उन्होंने उन सभी संस्थाओं का विरोध किया जो व्यक्तिवाद के विरोध में आती हैं और। राजनैतिक संगठन में उस सहवासी समुदाय (Community) को ही वाञ्छित ठहराया गया जो अपनी विधि प्रणाली का निर्माण करने में स्वतंत्र हो। इसका परिणाम यह हुआ कि यूनानी समाज का आर्थिक और राजनैतिक संगठन पॉलिस (polis, नगर अथवा शहर) में ही केंद्रित रहा। यूनान सदैव शहर राज्यों (City States) में बँटा रहा और ये शहर राज्य तब तक परस्पर युद्धरत रहे जब तक कि यूनान रोम साम्राज्य का एक भाग नहीं हो गया। इन्हीं राज्यों के परस्पर संघर्ष से उग्र तथा आक्रामक राष्ट्रवादिता का जन्म हुआ जो, आगे चलकर योरोप के राजनैतिक जीवन का अंग बन गई। योरोप में छिड़ने वाले दो विश्वव्यापी महायुद्धों का एक महत्वपूर्ण कारण उग्र राष्ट्रवादिता भी है, यद्यपि यहां वह पूंजीवादी साम्राज्यवादिता में अवगुंठित है।

यूनान की धार्मिक परम्पराओं में इहलौकिकता और पारलौकिकता का वह मिश्रण मिलता है जिसमें एक ओर, भारतीय परम्पराओं का आभास मिलता है और, दूसरी ओर, इसाइयत की पूर्ववर्ती परम्पराओं का। राधाकृष्णन के अनुसार, यूनान के प्रारम्भिक धार्मिक विचारों में वेदों की सी परम्परायें मिलती हैं। प्लेटो ने पुनर्जन्म को स्वीकार किया है और तपस्वी जीवन को मान्यता दी है। प्लेटो में अदृश्य सत्ता में लीन होने तथा उसकी उपासना का रहस्यवादी विचार मिलता है जो औपनिषदिक विचारधारा के समान है। साथ ही साथ, यूनान में कई पूजा पद्धतियां (Cults) भी मिलती हैं जिनमें कुछ यूनानी हैं और कुछ यूनान के बाहर की क्योंकि यूनान पर भारत, मिश्र और फिलस्तीन की परम्पराओं का प्रभाव पड़ा है। मशाल, मदिरा,

नत्य और सगीत के वातावरण मे, अपने म दिव्य की अनुभूति करने की परम्परा डायनिसिक पद्धति (Dionystic Cult) मे मिलती है, ज्ञान और वाक मे ही ईश्वरत्व क दर्शन करने की लागास पद्धति (The Cult of the Logos) म और पगम्बरी परम्परा ऑर्फिक पद्धति (Orphic Cult) म। आरफिक पद्धति की परम्परा म आरफ्यूज को पैगम्बर माना गया है और तापस क्रियाओ निरामिषता तथा दीक्षा (Initiation) द्वारा मुक्ति प्राप्त करने पर जोर देकर इस तथ्य पर जार दिया गया है कि न्यायी तथा नतिक का ही आनन्द का दान मिलता है और अन्यायिया तथा अनतिको का दण्ड। इसाइयत म निहित ईश्वरी न्याय का विचार रहस्यवादिता आध्यात्मिकता और पैगम्बरी धारणा, इस प्रकार, इसाइयत के पहले यूनान म विकसित हा चुके थ।

रोम केवल एक साम्राज्य रहा। राम न न तो किसी विशिष्ट सस्कृति का रूप धारण किया, न किसी समाज का और न राष्ट्र का। यूनान की विशिष्टता थी वहा की दार्शनिक परम्परा और रोम की धर्मनिरपेक्ष विधि प्रणाली, शासन प्रणाली तथा सामाजिक राजनैतिक सगठन क सिद्धान्त और विधि (Law) की सर्वोपरिता के विचार। रोम की परम्परा म इस बात पर जोर दिया गया कि विधि निर्माण म समुदाय के सभी सदस्या का बराबर सहयोग हाना चाहिये और एक बार जब विधि का निर्माण हो गया तो विधि ही सर्वोच्च है। विधि के समक्ष समुदाय के सभी सदस्य समान हैं किन्तु व्यक्ति की तुलना म विधि ही प्रधान और सर्वोपरि है। यूनानियो ने जार दिया विचार की स्वतत्रता पर जब कि रोम म जोर दिया गया कर्मेच्छा (Will to Action) के सम्वधन पर। रोम म प्रचलित नतिकता की माग थी सामाजिक क्रिया (Social Action) का सचेष्ट नियत्रण और व्यक्ति द्वारा समुदाय की आवश्यकताओं के प्रति एच्छिक नमन। रोम वस्तुत, वकीलों का साम्राज्य था जबकि यूनान दार्शनिको का देश। रूमी समार म यूनानी, रूमी और इसाई परम्पराय एक साथ प्रवाहित हो रही थी। रोम और यूनान न योरोप का विज्ञानवादी दार्शनिकता, मानवतावाद, व्यक्तिवाद, युक्तियुक्तवाद (Rationalism) नगरीय जीवन के सद्गुण (Virtues of Civic Life), उग्र राष्ट्रवादिता, रहस्यवादी तथा पगम्बरी मजहब, धर्मनिरपेक्ष विधि प्रणाली, सामाजिक राजनैतिक सगठन के सिद्धान्त, साम्राज्यवादिता, विधि की सर्वोपरिता और विधि के समक्ष व्यक्ति-व्यक्ति की समानता सम्बन्धी विचार और सिद्धान्त प्रदान किये हैं। मध्यकालीन योरोप म यूनान को वैसे ही पुन खोज निकाला गया था जिस प्रकार उन्नीसवी शताब्दी म प्राचीन भारत को। वतमान योरोप के निर्माण मे इसाइयत का लगभग उतना ही हाथ है जितना कि यूनान और रोम का। इसाइयत का जन्म हुआ था फिलिस्तीन म। अत इसाइयत एशिया का योरोप की एक भेंट है। अपने आधारभूत रूप म, इसाइयत, वस्तुत, एक ऐसा यहूदी मजहब है जिसकी आत्मा योरोपीय न होकर एशियाई है। इसाइयत इस्लाम से प्राचीन है।

इसाइयत

दीक्षा लिए रहस्यवादी आस्था से मिलने वाली ईश्वरेच्छा का ज्ञान नहीं हो सकता। यहीं से इसाइयत में बपतिस्मा (Baptism) की प्रथा प्रारम्भ होती है और यहीं से इसाइयत का प्रसार और प्रचार करने का आन्दोलन (Proselytization)। स्वयं ईसा ने ईश्वरीय ज्ञान के प्रचार के लिए अपने शिष्यों को आदेश दिया। कोई आश्चर्य नहीं यदि इसाइयत में ईसा द्वारा दिए गए दिव्य ज्ञान को निश्चित, विशुद्ध और अन्तिम (Infallible) माना जाता है। इसी का परिणाम है कि इसाइयत एक जबरदस्त सिद्धान्त (Dogma) बन गयी जबकि स्वयं ईसा सिद्धान्त विरोधी थे।

इसाइयत इस्लाम और बुद्धवाद की भाँति एक अधिराष्ट्रीय (Supernational) मजहब है जिसका उद्गम और विकास अनेक प्रभावों के अन्तर्गत हुआ है। यह पहले ही कहा जा चुका है कि इसाइयत का आधारभूत रूप यहूदी है और इस कारण, इसका आधार ईसा के पहले प्रचलित यहूदी धर्म में है। व्यक्ति से परे दयावान, न्यायी, साधु और विधानकर्त्ता ईश्वर की कल्पना संसार में नैतिक अहाओं (Values) और नियमों की सर्वोच्चता तथा एकेश्वरवाद, इसाइयत में यहूदी धर्म से आये हैं। ईसा से दो हजार वर्ष से लेकर पाँच सौ वर्ष तक बबीलोन (Babylon) और एशिया माइनर (Asia Minor) के माध्यम से भारतीय प्रभाव यहूदियों पर पड़ चुका था। मिस्र भी इस प्रभाव का माध्यम था। राधाकृष्णन के अनुसार ईसा के पूर्व फिलिस्तीन पर बुद्धवाद का प्रभाव पड़ चुका था और यही कारण है कि इसाइयत की आत्मा बुद्धवाद के अधिक समीप है। बौद्धों का संघ सगठन ही रोम के प्रभाव में चर्च-सगठन के प्रभाव में अवतरित हुआ। इसाइयत में शैतान की कल्पना इसाइयत को जरथुस्त्र धर्म की देन है। यहूदियों ने यूनानी विचारधारा को प्रभावित किया और बाद में यूनानी विचार और दर्शन ने इसाइयत को। यहूदियों के एकेश्वरवाद को यूनानियों ने अंशतः दार्शनिक और अंशतः रहस्यवादी जामा पहनाया और बाद में यहूदी प्रदेश में उत्पन्न होने वाले ईसाई मजहब को अर्पित कर दिया। इसाइयत को उसके बौद्धिक आधार यूनान में ही मिले—वे बौद्धिक आधार जिनकी सहायता से इसाइयत योरोपीय सामाजिक विरासत का एक अंग बन गयी। व्यक्ति की गरिमा, युक्तियुक्त विचारधारा पर जोर, मानवतावाद और स्वतन्त्रता, समता तथा बन्धुता के विचार इसाइयत को यूनान के ही योगदान हैं। इन्हीं योगदानों ने, कालान्तर में, फ्रांस की राज्यक्रान्ति को प्रेरणा देकर व्यक्ति स्वातन्त्र्य के लिए एक अभिनव मार्ग खोल दिया। राधाकृष्णन के शब्दों में 'इसायत का हृदय एशियाई है, उसका मस्तिष्क (धर्म विद्या) यूनानी और उसकी देह (चर्च सगठन) रोमन है'।

ईसा की प्रथम सात शताब्दियों में योरोप में इसाइयत का प्रचार हुआ जिससे योरोप के विकास में एक निश्चित परिवर्तन हुआ। इसाइयत में निहित रहस्यवाद तथा अन्तिम आशा के सिद्धान्त (Eschatology) और सौहार्द समता और मानवता की भावनायें, इसाइयत के प्रचार में सहायक बने। यूनान से मिले हुए बौद्धिक आधार

ने विचारकों को आकर्षित किया तो उसमें निहित चमत्कारी तत्वों ने अंधविश्वासियों को। यूनानियों के सभ्य असभ्य विषयक विचारों के प्रभाव में और बपतिस्मा की प्रथा के कारण, इसाइयत ने संसार को ईसाई (Christian) और गैर इसाई (Heathen) में बांट दिया और गैरइसाई के प्रति वही रुख अख्त्यार किया जो यूनानियों ने गैरयूनानियों के प्रति अख्त्यार किया था। इस्लाम के उदभव का इसाइयत एक मुख्य प्रेरणास्रोत था किन्तु, बाद में, जब इस्लाम का प्रचार योरोप में हुआ तो दोनों परस्पर प्रतिद्वन्दी हो गए। इसाइयों के तीर्थस्थान यरूसलम पर मुसलमानों का अधिकार होते ही योरोप का इसाई समाज रोष से उबल पड़ा। ग्यारह सौ सत्तावे से लेकर बारह सौ सत्तर तक योरोप में धर्म युद्धों की आग सुलगती रही। इसके परिणामस्वरूप, इस्लाम और इसाइयत, दोनों में धर्मांधता असहिष्णुता और आक्रामकता की भावना बढ़ी। आगे चलकर, औद्योगिक क्रांति के बाद, जब योरोप का संसार में राजनैतिक आर्थिक प्रभुत्व बढ़ा और यूनान की सभ्य-असभ्य विषयक भावना के फलस्वरूप योरोप के लोग योरोप को ही मानव सभ्यता तथा प्रगति का चरमतम प्रतीक मानने लगे तो इसाइयत संसार को सभ्य बनाने का एक मिशनरी माध्यम बनी। इसाइयत को लोग पहले ही से अमोघ (Infallible) मानते आए थे किन्तु अब और भी मानने लगे। इसाइयत के समक्ष अन्य धर्मों को तुच्छ समझा जाने लगा। और, इन सबका परिणाम यह हुआ कि योरोप ने इसाइयत को साम्राज्यवाद का एक साधन बनाया। योरोपीय साम्राज्यवाद व्यापारियों और धर्म प्रचारकों के ही माध्यम से पनपा और प्रसारित हुआ।

योरोप में इस्लाम के प्रवेश से एक ओर धर्मान्धता और धर्मयुद्धों का जन्म हुआ तो, दूसरी ओर अरब की कला और विज्ञान का योरोप में प्रचार हुआ। अरबों ने गणित (Mathmatics), ज्योतिष (Astronomy) औषधिशास्त्र (medicine), रसायनशास्त्र (Chemistry), प्राणिशास्त्र (Zoolgy) और बही खाता पद्धति सम्बंधी अपना ज्ञान योरोप को अर्पित किया। अपने ज्ञान विज्ञान का एक बड़ा अंश अरबों ने भारत से लिया था। सिकन्दर के बाद और अरबों के उत्थान के पहले भारतीय ज्ञान विज्ञान की छाप यूनान पर पड़ चुकी थी। अतः, योरोप में अरबों और यूनानियों के माध्यम से आनेवाली ज्ञान विज्ञान की धाराओं का मिलन वस्तुतः उन दो धाराओं का मिलन था जो एक ही उद्गम से निकलकर और अलग अलग मार्गों से बहकर पुनः एक स्थान पर आकर मिलती हैं। किन्तु, दसवीं और बारहवीं शताब्दियों के बीच योरोप में अरबों से मिले ज्ञान विज्ञान को, अरस्तू की परम्परा और इसाइयत के सिद्धान्तों के साथ मिलाने का प्रयत्न किया गया जिसके कारण इस काल में ज्ञान विज्ञान के प्रवाह में धर्मविद्या (Theology) का स्थान प्रधान हो गया। इन्हीं परिस्थितियों में चर्च अधिराष्ट्रीय (Supernational) हो गया और विगत योरोप का मुख्य प्रेरणास्रोत हो

वैज्ञानिकता

गया। इसी काल मे, योरोप म वह विचारधारा चली जिसके कारण सदियो तक लोगा का यह विश्वास रहा की ज्ञान की खान वस्तुत विगत म है। इसी युग मे योरोप के बौद्धिक जीवन म एक ओर, पाण्डित्यपन (Scholasticism) की परम्परा उत्पन्न होती है तो, दूसरी ओर उसम इतिहासोन्मुखता (Historicity) का समावेश होता है। आगे चलकर, यही इतिहासो मुखता सेंट आगस्टाइन (St Agustine) कोम्ट (Comte), हरबट स्पेंसर (Herbert Spencer) हीगल (Hegel) और मावस (Marks) म एक ऐतिहासिक नियतिवादी विचारधारा (Historical Deterministic Thought) मे अवतरित हाती है। सम्भवत यही कारण है कि योरोप म जन्मने वाले सभी सामाजिक शास्त्रों का उदगम दार्शनिक धर्मविद्या (Philosophical Theology) में होकर, इतिहासोन्मुख हो गया है। ऐतिहासिक नियतिवाद (Historical Determinism) की विचारधारा, आज भी योरोप के बौद्धिक जीवन मे विद्यमान है और उसके प्रमाण हैं, एक ओर टवायन बी (Toynbe) और सारोकिन (Sirokin) की कृतियां म तो दूसरी ओर रूस म चलने वाली साम्यवादी विचार धारा म। इस ऐतिहासिक नियतिवादी विचारधारा की सबसे बडा विशेषता यह रही है कि इसम ससार की भूत और वतमान गतिविधियो का निर्वाचन योरोपीय इतिहास की गतिविधियो के आधार पर दिया गया है। मावस (Marks) म यह एक एकांगी दष्टिकोण अपनी परीकाष्ठा पर पहुचा हुआ है।

बारहवी शताब्दी के बाद, योरोप म उस नवजागरण की लहर दौडी जिसने वतमान वैज्ञानिक युग के लिए माग प्रशस्त किया। पुनजागरण म, एक ओर, बौद्धिकता बढी तो दूसरी ओर, यूनानी रोमन (Graeco Roman) ज्ञान को प्रत्यक्ष प्राप्त करने की प्रबल लालसा। इस लालसा का प्रज्ज्वलित करने का श्रय अरबो और बजण्टाइम (Byzantime) साम्राज्य क विद्वानो का है। इसका परिणाम यह हुआ कि योरोप म यूनानियो की बौद्धिक साहसिकता और समन्वेषण (Exploration) की भावना का प्रभाव बढा। चच इस नवजागरण का प्रणता था। अतएव इसके प्रारम्भिक रूप पर चच और धार्मिकता की छाप है। किन्तु, जब योरोप के धर्मविदो ने इल्हामी मजहब (Revealed Religion) और प्रकृति (Nature) का अलग अलग प्रमय मानकर, प्रकृति के अध्ययन मे युक्तियुक्त काय कारण विचार को स्थान द दिया तो अप्रत्यक्ष रूप स उन्होंने वतमान वैज्ञानिक विचारधारा के विकास क लिए माग उन्मुक्त कर दिया। इसका परिणाम यह हुआ कि योरोपीय विचार ने एक ओर रूढ़ोक्तो (Dogmas) के प्रति सशय और विरोध का दष्टिकोण अपना कर उनका विरोध और उनकी अवहेलना करनी प्रारम्भ कर दी तो दूसरी ओर प्रकृति को स्वचलित मान कर उसम पाई जाने वाली अनुभवगम्य व्यवस्था म निहित काय कारणो के सम्बद्ध आधार पर उन शाश्वत नियमों की खोज करनी प्रारम्भ की जो सभी स्थान और कालो मे एक जैसे हो। न्यूटन (Newton) के सिद्धात इसका

प्रमाण हैं। न्यूटन (Newton) ने अपने गुरुत्वाकर्षण के सिद्धान्त का प्रतिपादन पेड़ से गिरते हुए फल को देखकर किया था। यहीं से योरोप में मजहबी राद्धान्तों (Religious Dogmas) और कल्पवादिता (Ritualism) के विरुद्ध प्रतिक्रिया प्रारम्भ होती है और आगे चलकर जिसका परिणाम हुआ इसाइयत का कैथोलिक (Catholic) तथा प्रोटेस्टैंट (Protestant) सम्प्रदायों में विभाजन। चौदहवीं शताब्दी के सातवें दशक में, इसी प्रक्रिया के फलस्वरूप सुधारवादी आन्दोलन की लहर दौड़ी। सुधारवादी आन्दोलन के प्रभाव में प्राचीन चर्च संगठन की तीव्र आलोचना तथा राष्ट्रीय चर्चों (National Churches) की स्थापना की गयी और मानव के सम्पूर्ण विकास के लिए युक्तियुक्त आदर्शों की तलाश की गयी। योरोप में विश्वविद्यालयों की स्थापना इसी काल में हुयी। विश्वविद्यालयों के माध्यम से उस ज्ञान विज्ञान का प्रसार किया गया जो पुनर्जागरण का प्रेरणास्रोत था।

वैज्ञानिक दृष्टिकोण के प्रादुर्भाव के साथ-साथ, योरोप में वैज्ञानिक युग का प्रारम्भ हुआ। योरोप की वैज्ञानिक विचारधारा जैसा कि पहले कहा जा चुका है, उस दृष्टिकोण और मान्यता से उत्पन्न हुयी जिसमें इल्हामी ज्ञान और प्रकृति को अलग अलग मान लिया था। प्रकृति को स्वाभाविक मानकर, उसके अनुभवगम्य प्रमेयों का निर्माण करने वाले नियमों के कार्य कारण निर्धारित करने के प्रयास में ही उस परम्परा का प्रारम्भ हुआ जिसे अनुभूतिवाद (Empiricism) की संज्ञा दी गयी है और जिसका स्रोत अरस्तू (Aristotle) की परम्पराओं में है। यहीं से विज्ञान की वह परिभाषा प्रारम्भ हुयी जिसमें निरीक्षण और वर्गीकरण तथा आगमन और निगमन की अध्ययन रीतियों द्वारा शाश्वत नियमों को ढूंढ निकालने का भाव निहित है। योरोप में जन्मे और विकसित सारे भौतिक विज्ञान (Physical Sciences) इसी प्रयास में जन्मे हैं और लगभग सभी का इतिहास अरस्तू (Arestotle) तक जोड़ा जाता है। इस दृष्टिकोण से विज्ञान के क्षेत्र में वही विषय आ सकता है जो अनुभवगम्य है और जिन पर उपरोक्त अध्ययन रीतियों का प्रयोग करके कार्य कारण संबंधी सार्वकालिक तथा सार्वभौमिक नियमों का निर्धारण किया जा सकता है। यही परंपरा वह परम्परा है जिसे विज्ञान की प्रकृतिवादी परम्परा (Naturalism) कहते हैं। भौतिक-संसार में इस परम्परा की सफलता देखकर, इसका प्रयोग समाज और उसके विभिन्न पहलुओं के अध्ययन पर किया गया और जिस दिन से यह मान्यता घर कर गयी कि सामाजिक प्रमेयों का उसीप्रकार से अध्ययन किया जा सकता है जिस प्रकार भौतिक प्रमेयों का उसी दिन से योरोप के सामाजिक शास्त्र, धर्मविद्या दर्शन और ऐतिहासिक नियतिवाद के प्रभाव से निकल कर अनुभूतिवाद के प्रभाव में आ गए। योरोप के विद्वानों ने सामाजिक प्रमेयों को भी उसी प्रकार से सार्वकालिक तथा सार्वभौमिक नियमों के आधार पर स्वचालित माना है जिस प्रकार से प्राकृतिक प्रमेय हैं। भौतिक और सामाजिक प्रमेय को समान मानते हुए सावयवी (Organismic) और

मशीनवादी (Mechanistic) सिद्धान्तों के लिए मार्ग प्रशस्त हो गया और इन सिद्धान्तों के आधार पर यह प्रतिपादित किया गया कि सामाजिक वास्तविकता वस्तुतः समष्टि में समायी है न कि व्यक्ति में और व्यक्ति समष्टि में उसी प्रकार रहते हैं जिस प्रकार प्राणियों में कोष्ठ या मशीन में पुर्जे। व्यक्ति और समष्टि की एकता योरोप में जो समस्या है उसका स्रोत इसी परम्परा में है।

इस विकास का परिणाम यह हुआ कि योरोप एक ऐसे न्यूटन (Newton) के लिए लालायित हो उठा जो समाज विषयक सार्वकालिक तथा सार्वभौमिक नियमों को ढूंढ निकाले। किन्तु यह लालसा केवल लालसामात्र रही क्योंकि सामाजिक और भौतिक प्रमेय उतने ही भिन्न हैं जैसे चीनी और गन्ना। योरोप में इस विकास के दो परिणाम हुए—एक ओर इससे वैज्ञानिक और युक्तियुक्त (Rational) बौद्धिकता का जन्म हुआ जिससे योरोपीय विचार सिद्धान्तों (Dogmas) के प्रभाव से मुक्त हो गया और दूसरी ओर, इससे आध्यात्मिकता का प्रभाव कम हुआ, विज्ञान और धर्म में विरोधाभास उत्पन्न हुआ। दर्शन का स्थान गौण हो गया और मानव जीवन की आशाओं के प्रति एक अधिक गत्यात्मक दृष्टिकोण का अभ्युदय हुआ। सामाजिक नियोजन और नियन्त्रण का विचार और भी प्रबल हो गया। ईसाइयत द्वारा जिस स्वर्ग साम्राज्य की कल्पना की गयी थी वह समाज-कल्याण, समाज सेवा और कल्याणकारी राज्य में बदल गया। सामाजिक और भौतिक विज्ञानों को एक स्तर पर लाने के प्रयास तथा उनमें निहित विरोधाभास ने योरोप के मानव विषयक चिन्तन में विरोध उत्पन्न किया। इससे योरोपीय चिन्तन में उस नैराश्य का समावेश हुआ जिसे योरोपीय सभ्यता की 'शिज्म' (Schism) कहा जाता है। सामाजिक विज्ञानों में तरंगित भौतिक विज्ञानों की परम्परा में मनुष्य केवल भौतिक या प्राकृतिक माना गया जिसका परिणाम यह हुआ कि वैज्ञानिक स्पष्टीकरण में मानव की भौतिक प्रवृत्तियों पर ही जोर दिया गया। ईसाई योरोप यह भूल गया कि मानव में भौतिक तथा आध्यात्मिक और पार्थिव तथा अपार्थिव का संगम है।

सुधारवादी आन्दोलन, विज्ञानवादिता और संसार पर योरोप का आर्थिक राजनैतिक प्रभुत्व वैज्ञानिक प्रौद्योगिकी के योगदान हैं। वैज्ञानिक प्रौद्योगिकी का प्रारम्भ उस समय से होता है जब से योरोप में बिजली, भाप और तेल जैसी प्राकृतिक वस्तुओं से शक्ति उत्पन्न करके मनुष्य ने उसका प्रयोग प्रौद्योगिकी के रूप में करना प्रारम्भ किया। वैज्ञानिक युग के पहले की प्रौद्योगिकी श्रम सापेक्ष थी और उसके विकास की गति धीमी थी। चौदहवीं शताब्दी के पहले मनुष्य प्रौद्योगिकी में या तो अपने शरीर की शक्ति का प्रयोग करता था या पालतू जानवरों की शारीरिक शक्ति का। हवा का प्रयोग वह करता था किन्तु केवल जहाज चलाने में या हवा चक्की चलाने में। चौदहवीं शताब्दी के बाद से भाप, बिजली, आयल इंजिन और परमाणु शक्ति के आविष्कार

वैज्ञानिक प्रौद्योगिकी

के साथ साथ योरोप मे होने वाले प्रौद्योगिक विकास के द्वारा धीरे धीरे, योरोप का रूपान्तरण होता रहा है। छापेखाने का आविष्कार और प्रयोग इसका उदाहरण है। छापेखाने से जनसाधारण मे ज्ञान का प्रसार और संदेशवाहकता बढी। योरोप मे बाइबिल का अनुवाद कई भाषाओ के माध्यम से जनसुलभ हुआ। मुद्रित पुस्तको से ही योरोप मे उस जिज्ञासावादी तथा विवेकी भावना का प्रसार हुआ जो सोलहवी शताब्दी मे प्रोटस्टेंट सुधार के लिए उत्तरदायी हुई। समाचार पत्र आधुनिक प्रौद्योगिकी का दिया हुआ एक सबल संदेशवादक उपकरण, छापेखाने पर ही निर्भर है।

भौतिक प्रमेया के कार्य कारण का पता लगाने के प्रयास मे, भाप, बिजली और परमाणु जसी भौतिक शक्तियो को सन्नद्ध करने से प्रौद्योगिकी के प्रयोग के वे साधन निकले जिनसे योरोप मे प्रौद्योगिकी और उसके प्रयोग मे आमूल चूल परिवतन ही नही हुए वरन् योरोप मे प्रौद्योगिकी का प्रभाव सर्वोपरि हो गया। भाप और बिजली के प्रयोग से, यातायात और उत्पादन के साधनो का मशीनीकरण हुआ जिससे उनकी गति और भी बढ गयी। यातायात के द्रुतगामी साधनो के कारण, योरोप का ससार के अन्य भागो से सम्बन्ध स्थापित हुआ। उत्पादन के साधनो की गति बढ़ने से उत्पादन बढा जिसके लिए बाजार और खरीदारो की आवश्यकता हुयी। मशीनो से बने माल के अपेक्षाकृत अधिक सस्ता होने के कारण बाजार और खरीदार मिलने मे सुविधा हुयी। उत्पादन, उपभोग के लिए न होकर लाभ के लिए होने लगा। बाजार, खरीदार और कच्चे माल की तलाश मे योरोपियनो ने अपने उपनिवेश और साम्राज्य स्थापित किए। इस विकास का परिणाम यह हुआ कि योरोप एक कारखाना बन गया और ससार के अन्य देश एक बडे बाजार का अग। कारखानो मे मजदूरो की आवश्यकता हुयी जिसके परिणामस्वरूप प्रजातन्त्र और व्यक्ति-स्वातन्त्र्य के नाम पर सामन्तवाद के विरुद्ध आन्दोलन चला। जहा कारखाने थे, वहा की सख्या बढने लगी और वतमान शहर का जन्म हुआ। इसप्रकार, प्रौद्योगिकी के विकास के साथ साथ योरोप मे औद्योगीकरण, शहरीकरण और पूजीवाद का विकास हुआ।

पूजीवाद विकास की वह अवस्था है जिसमे उत्पादन लाभ और विक्रय के लिए किया जाता है और जिसमे श्रम का क्रय विक्रय पार्थिव वस्तु के समान होता है। प्रौद्योगिकी के प्रभाव के कारण स्त्री स्वातन्त्र्य का आन्दोलन छिडा क्योकि एक ओर, गर्भ निरोधक तरीको ने स्त्री को प्रजनन के भार से मुक्ति दी तो दूसरी ओर प्रौद्योगिकी के प्रयोग के कारण ऐसे पेशे अस्तित्व मे आए जिन्हे करके स्त्रिया आर्थिक स्वातन्त्र्य भी पा सकती थी। योरोप की वतमान वग प्रथा प्रौद्योगिकी और पूजीवाद की ही देन है। प्रौद्योगिकी ने एक ओर विशेषीकरण तथा धर्मनिरपेक्षिता को प्रोत्साहित किया तो, दूसरी ओर सामाजिक-सास्कृतिक जीवन पर व्यापारीकरण के प्रभाव को।

सिनेमा, टेलीविजन, रेडियो, टेलीफून और तार बिजली की देन हैं। प्रौद्योगिकी के ये उपकरण वे संदेशवाहक साधन हैं जिनसे, एक ओर योरोपीय साम्राज्य

वाद को प्रोत्साहन और बल मिला। राष्ट्र राज्य (Nation State) की सर्वोच्च प्रभुता का उदय हुआ तथा उग्र राष्ट्रवादिता को प्रेरणा मिली और दूसरी ओर, ज्ञान विज्ञान के विकास और प्रसार में सहायता मिली। दूरबीन, खुर्दबीन एक्सरे और सिनेमा के प्रयोग से औषधिशास्त्र (Science of Medicine), जीव विज्ञान (Biology) और ज्योतिषशास्त्र (Astronomy) का आशातीत विकास हुआ। शहरीकरण और पूँजीवाद के प्रभाव के अन्तर्गत सिनेमा, रेडियो और टेलीविजन के माध्यम से परम्परागत मनोरंजन का व्यापारीकरण हुआ। शहरीकरण, व्यापारीकरण, औद्योगीकरण तथा यातायात के साधनों ने जहाँ एक ओर व्यक्तिवाद को प्रोत्साहित करके सामाजिक आर्थिक संगठन में प्रतियोगिता का समावेश किया वहीं, दूसरी ओर, सामाजिक संगठन में द्वितीयक समूहों को प्रधानता देकर तथा राष्ट्र राज्य (Nation State) को सर्वोच्च प्रधानता प्रदान करके उस समष्टिवादी समाज को जन्म दिया जिसे काल मानहीम ने पुंज समाज (Mass Society) कहा है—वह समाज जो सेना की भाँति सत्ताग्रस्त वर्गीकृत समाज है जिसमें व्यक्ति की भूमिका सक्रिय न होकर निष्क्रिय रहती है।

इस विकास प्रक्रिया ने संस्थाओं का भी रूपान्तरण कर दिया। परिवार को उपभोग की इकाई बनाकर तथा उसके अनेक कार्यों को राज्य समाज के कार्य क्षेत्र में लाकर एक ओर उसके आकार को स्त्री, पुरुष और बच्चों में निहित कर दिया तो, दूसरी ओर परिवार में व्यक्तिवादिता का समावेश किया। विवाह को धार्मिक प्रभाव से निकाल कर उसे एक संविदा (Contract) का रूप प्रदान किया गया। आर्थिक संस्थाओं में औद्योगीकरण तथा व्यापारीकरण का समावेश हुआ। आर्थिक संस्थाएं पूँजीवादी तथा साम्यवादी प्रकारों में बँट गयीं। धर्म आस्थामात्र रह गया—वह आस्था जो केवल व्यक्तिगत मान्यता की वस्तु है। अलौकिक में विश्वास का अधिक युक्तियुक्त स्थान का परिणाम यह हुआ कि धर्म केवल धर्मविद्या (Theology) मात्र रह गया। सम्बन्धियों (Kins) के स्थान में व्यक्ति पर औपचारिक (Formal) तथा अनौपचारिक (Informal) समूहों का नियन्त्रण अधिक व्यापक हो गया। कला धर्म के प्रभाव से निकल कर, व्यापारिकता के प्रभाव में आ गयी। प्रकृतिवादिता के प्रभाव में कला केवल कला के लिए रह गयी जबकि युक्तियुक्त विचारधारा के प्रभाव ने कला में उपादेयता के विचार को प्रोत्साहित किया।

प्रौद्योगिकी के उत्तरोत्तर विकास से योरोप का सामाजिक आर्थिक रूपान्तरण हुआ, उसके वर्तमान आदर्शों का अभ्युदय हुआ और उसके संसारव्यापी विकास के साथ साथ उसमें सभ्यतायी तत्वों का विकास हुआ। पूँजीवादी तथा साम्यवादी आदर्श और इंगलैण्ड, फ्रांस तथा रूस की जन क्रान्तियाँ प्रौद्योगिकी के सतत विकास की पृष्ठभूमि में सम्भव हुई हैं। फ्रांस की राज्यक्रान्ति (1789) का समता (Equality), स्वतन्त्रता (Liberty) और बंधुता (Fraternity) का नारा यदि, एक

ओर, इंगलैण्ड की मैगना कार्टा तथा रक्तहीन राज्यक्रान्ति वाली घटनाओं में तो दूसरी ओर ईसाइयत के सुधारवादी आन्दोलन और पूँजीवादी सामाजिक आदर्शों से। योरोप में तथा योरोप के बाहर निरन्तर बढ़ती हुई जनतन्त्र की माँग और उसकी पूर्ति में प्रौद्योगिकी एक बड़ा हाथ है। समता, स्वतन्त्रता और बन्धुता के आदर्श ईसाइयत के योगदान हैं किन्तु उनकी प्राप्ति धीरे धीरे प्रौद्योगिकी की सहायता से सम्भव हुई है। व्यक्तिवाद पर आधारित जनसत्तात्मक जनतन्त्र पूँजीवादी विचार धारा की देन है। किन्तु पूँजीवाद से ही एक ओर योरोपीय साम्राज्यवादिता का विकास हुआ और, दूसरी ओर राष्ट्रीय राष्ट्रवादिता का। योरोपीय साम्राज्य वादिता ने योरोपीय साम्राज्यवाद को जन्म दिया और राष्ट्रीय राष्ट्रवादिता ने योरोप के देशों तथा योरोपीय साम्राज्यवाद के प्रभाव में आये देशों में राष्ट्रवादिता को जन्म दिया। जिसके परिणामस्वरूप योरोप में ही योरोप का विभेद उत्पन्न हुआ और योरोपीय सभ्यता का प्रसार संघर्षमय हो गया। जनतन्त्र के आदर्श और पूँजीवादी साम्राज्यवाद स्वतः विरोधी हो गए जिसके परिणामस्वरूप योरोपीय सभ्यता वर्तमान संसार में वर्ग ही संघर्ष का कारण बनी जैसे कि मध्ययुग में इस्लाम का प्रचार। इसी विकास की पृष्ठभूमि में साम्यवाद का जन्म हुआ जो योरोपीय सभ्यता की एक वर्म ही विशेषता है जैसे पूँजीवाद।

साम्यवाद (Communism) योरोपीय सभ्यता की देन है। साम्यवाद अठारहवीं और

साम्यवाद उन्नीसवीं शताब्दी के प्रारम्भ में योरोप में चलने वाली विचार धाराओं की एक उत्पत्ति है। साम्यवाद योरोप के बौद्धिक विकास की एक स्वाभाविक उपज है। साम्यवाद के प्रणेता हैं कार्ल मार्क्स (Karl Marks 1818 1883) जिनका जन्म जर्मनी में हुआ था। साम्यवाद वस्तुतः एक दर्शन है और इस कारण साम्यवाद को मार्क्सवाद (Marxism) भी कहा जाता है। मार्क्सवादी दर्शन के आधार हैं समाज और मानव-व्यवहार का ऐतिहासिक आर्थिक विवेचन मानवतावाद और समाजवाद। मार्क्स के अनुसार, मानव व्यवहार और समाज के कारक तत्व अपार्थिव न होकर पार्थिव और भौतिक है। जागतिक उद्विकास की प्रक्रिया में, जब मानव नाम के जीवधारी ने पार्थिव पदार्थों से जीवन निर्वाह की वस्तुओं का उत्पादन करना प्रारम्भ किया तभी से वह अन्य प्राणियों से भिन्न होकर मनुष्य कहलाया। अतः मानव में जो चेतन है वह आध्यात्मिक (Spritual) न होकर पार्थिव (Material) है क्योंकि मानव चेतन पार्थिव परिस्थितियों से ही उत्पन्न होता है। प्रत्येक परिस्थिति (Thesis) अपनी विरोधी परिस्थिति (Anti Thesis) को जन्म देती है और दोनों के संघर्ष से एक नयी संतुलित और समन्वित परिस्थिति उत्पन्न होती है जो कालान्तर में एक नयी परिस्थिति बनकर और पुनः विरोधी परिस्थिति को जन्म देकर, एक नई परिस्थिति को जन्म देती है। इस प्रकार, संसार की विकास प्रक्रिया चला करती है। मानव व्यवहार और समाज इसी

द्वन्द्वात्मक विकास प्रक्रिया की उत्पत्ति हैं। इस विकास प्रक्रिया का कारण प्रौद्योगिकी है क्योंकि प्रौद्योगिकी के परिवर्तित होने से एक परिस्थिति की विरोधी परिस्थिति उत्पन्न होती है। अत, मार्क्स ने अपने ऐतिहासिक निर्वचन को द्वद्वात्मक भौतिकवाद (Dialectical Matrialism) की सज्ञा देकर, वैज्ञानिक होने का दावा किया है। मार्क्स की इस वैज्ञानिकता के दावे का तात्पर्य यह निर्धारित करना है कि उसका ऐतिहासिक निर्वचन एक शाश्वत सिद्धान्त पर आधारित है। वह सिद्धान्त है द्वद्वात्मक भौतिकवाद जो सभी स्थान और काल में वैसे ही लागू होता है जैसे भौतिक विज्ञान के नियम।

मार्क्स का ऐतिहासिक निर्वचन उद्विकासी (Evolutionary) है क्योंकि मार्क्स की अध्ययन रीति में यह मान्यता स्वयंसिद्ध मान ली गयी है कि मानव इतिहास आदि से अन्त की ओर उद्विकसित (Evolved) हो रहा है। मानव इतिहास का आदि समाया है उस अवस्था में जब मानव ने पार्थिव उपकरणों के द्वारा जीवन निर्वाह की वस्तुओं का उत्पादन करना सीखा। उस अवस्था से सामन्तवादी और पूंजीवादी अवस्थायें विकसित हुयी हैं। पूंजीवाद केवल एक सक्रमण-काल है क्योंकि इतिहास की निर्दिष्ट अवस्था है समाजवादी सम्यवाद। समाजवाद मानव इतिहास के विकास की वह सामाजिक स्थिति है जिसमें व्यक्ति का विकास पूर्णत्व या पहुच जायगा क्योंकि उस समाज में सभी व्यक्ति और सभी पेशे समान होंगे, विभिन्न सामाजिक कार्य (Social Functions) सामाजिक क्रिया के विभिन्न वकल्पिक रूप (Alternative Forms) होंगे जिनमें से व्यक्ति अपनी योग्यता और आवश्यकतानुसार अपने कार्य का चुनाव करेगा। उत्पादन के सभी साधन समाज के नियन्त्रण में होंगे। व्यक्ति के पूर्ण विकास और योग्यता तथा आवश्यकतानुसार जीवन यापन करने का स्वाभाविक परिणाम होगा राज्य (State) की अनावश्यकता। अत धीरे धीरे राज्य (State) लुप्त हो जायगा। दूसरे शब्दों में तथा योरोप की मार्क्स की पूर्ववर्ती विचार के सन्दर्भ में कहा जाय तो इसका निचोड यह होगा कि मार्क्स द्वारा प्रतिपादित काल्पनिक समाजवादी अवस्था इस पृथ्वी पर स्वर्ग साम्राज्य (Kingdom of Heaven) की स्वत अवतारण होगी। उसके बाद इतिहास की गतिविधि क्या होगी ? मार्क्स ने इस प्रश्न को उठाया ही नहीं। यहीं उसकी वैज्ञानिकता का दावा समाप्त हो जाता है। यहीं उसका दर्शन कोरा आदर्श (Utopia) मात्र रह जाता है—वैसा ही आदर्श जैसा कि इसाई मत में प्रतिपादित किया गया था। इसी कारण, मारटिंडेल ने मार्क्स की विचारधारा को रहस्यवादी कहा है और राधाकृष्णन ने मार्क्स द्वारा प्रतिष्ठित साम्यवाद को एक प्रकार की धर्मनिरपेक्ष इसाइयत कहा है।

द्वद्वात्मक भौतिकवाद (Dialectical Materialism) की अध्ययन रीति द्वारा मार्क्स ने यह दिखाने का प्रयास किया कि प्रत्येक उद्विकासी अवस्था में उसके प्रति द्वन्द्वी कारकों की उत्पत्ति होती है जिनसे उस अवस्था में वे उद्विकासी परिवर्तन होते

हैं जो इतिहास को उसकी पूर्वनिर्धारित दिशा की ओर ले जाते हैं। चूंकि जीवन निर्वाह की आवश्यकताओं की पूर्ति के लिये मनुष्य ही पार्थिव उपकरणों का प्रयोग करता है, अतः उत्पादन के पार्थिव उपकरण ही संस्थाओं के कारक हैं। उत्पादन के पार्थिव उपकरणों में परिवर्तन आते ही सामाजिक सम्बन्धों और संस्थाओं में परिवर्तन आता है। जिस जीवन निर्वाह की अवस्था में मनुष्य आखेट और कन्द मूल पर ही निर्भर था, उस अवस्था में सभी मनुष्य समान थे और समाज तथा संस्थाओं का संगठन व्यक्तिवादी न होकर समष्टिवादी था। कृषि के अनुसंधान ने सामंतवाद को जन्म दिया और वर्तमान प्रौद्योगिकी ने पूंजीवाद को। इस परिवर्तन का परिणाम यह हुआ कि मानव-समाज निरन्तर वर्गों में बटता गया और पूंजीवादी अवस्था में आकर तीन वर्ग हो गये--पूंजीपति, मध्यमवर्ग और सर्वहारा वर्ग। प्रत्येक अवस्था के पार्थिव उपकरणों और उनके परस्पर सम्बन्ध से उस अवस्था की आर्थिक व्यवस्था उत्पन्न होती है जो अपने से सम्बन्धित सामाजिक व्यवस्था तथा सामाजिक चेतना को जन्म देती है। सामाजिक व्यवस्था का उद्विकास वर्ग-व्यवस्था के उत्तरोत्तर विकास और समाप्ति की ओर रहा है। सामन्तवादी व्यवस्था में दो वर्ग थे--मालिक और गुलाम। किन्तु, जब वर्तमान प्रौद्योगिकी का विकास हुआ तो उत्पादन के पार्थिव उपकरणों पर पूंजीपतियों का आधिपत्य हुआ और ऐसे वर्ग अस्तित्व में आये जिनके कारण मध्य-वर्ग का विकास हुआ। समाज का वर्गव्यवस्था के विभिन्न वर्ग कभी परस्पर सहयोगी नहीं रहे। उनमें निरन्तर संघर्ष चलता रहता है और जब एक अवस्था विशेष की प्रतिद्वन्द्वी अवस्था आती है तो यह वर्गसंघर्ष तीव्रतम हो जाता है। वर्तमान प्रौद्योगिकी के विकास के साथ साथ पूंजीवादी प्रजातन्त्रीय आन्दोलन का बढ़ना तथा सफल होना इसका उदाहरण है।

मार्क्स के अनुसार पूंजीवादी व्यवस्था में ही उसके प्रतिद्वन्द्वी तत्व निहित हैं। इसको प्रतिपादित करने के लिये मार्क्स ने राजनतिक अर्थव्यवस्था (Political Economy) के प्रतिष्ठित सिद्धान्तों (Classical Theories) का आश्रय लेकर, अतिरिक्त मूल्य (Surplus Value) का सिद्धान्त प्रतिपादित किया। इस आर्थिक सिद्धान्त के अनुसार, श्रमिक को जो धन मजदूरी के रूप में मिलता है वह उस धन से कम होता है जो वह अपने श्रम के द्वारा उत्पादित करता है। यही अतिरिक्त मूल्य पूंजीपति का मुनाफा है और वह उतना ही बढ़ता जाता है जितना कि उत्पादन बढ़ता जाता है। इसका एक परिणाम यह होता है कि श्रमिक वर्ग दिन पर दिन निर्धन होता जाता है और पूंजीपति वर्ग धनवान। निदान पूंजीपति और श्रमिक के बीच संघर्ष बढ़ता जाता है। इस संघर्ष में मध्यम वर्ग के लोग पूंजीपति के साथ रहने का प्रयास करते हैं किन्तु जैसा कि इतिहास का पूर्वनिर्धारित विधान है, वे रह नहीं सकते हैं क्योंकि एक ओर, वे स्वयं निर्धन होकर सर्वहारा वर्ग में मिलते जाते हैं और दूसरी ओर, उनका वर्ग इतना विजातीय होता है कि उसका उत्तरोत्तर विशृंखलन अवश्यंभावी हो जाता है। अन्ततोगत्वा

उच्च मध्य-वर्ग के लोग पूंजीपतियों में मिल जायेंगे और निम्न मध्यमवर्ग के लोग सर्वहारा वर्ग में। और इसका परिणाम यह होगा कि पूंजीवादी व्यवस्था के अन्त में केवल दो ही वर्ग रह जायेंगे और उनमें संघर्ष इतना तीव्र होगा कि पूंजीवादी व्यवस्था समाप्त हो जायगी और समाज पर सर्वहारा वर्ग की तानाशाही स्थापित होगी। इस तानाशाही की स्थापना ही समाजवादी व्यवस्था का प्रारम्भ है। इसीलिए, मार्क्सवाद का नारा है 'संसार के श्रमिकों संगठित हो'। इस प्रकार मार्क्सवाद एक ओर एक पैगम्बरी भविष्यवाणी और ग्रावाहन है तो, दूसरी ओर, ऐतिहासिक प्रक्रिया में संघर्ष को अवश्यंभावी मानने वाला एक आन्दोलन। मार्क्सवादी विचारधारा के अनुसार इतिहास समाजवाद की ओर जायगा ही किन्तु यदि उस अवस्था को जल्दी लाना है तो ऐतिहासिक प्रक्रिया को द्रुतगामी बनाना होगा और उसका सबसे सरल उपाय है पूंजीपति और सर्वहारा वर्ग के संघर्ष को प्रोत्साहित करना। क्रान्ति, समाजवाद का प्रवेशद्वार है। समाजवाद से पहले अभीप्सित है क्रान्ति। युद्ध संघर्ष और विनाश पुनर्निर्माण के प्रथम चरण है।

मार्क्सवाद का जन्म हुआ था जर्मनी में किन्तु उसको कार्यान्वित किया गया उन्नीस सौ सत्रह के जारशाही रूस में। लेनिन के नेतृत्व में अक्टूबर सन् उन्नीस सौ सत्रह में रूस में राज्यक्रान्ति हुयी जिसमें जारशाही को हटाकर साम्यवादी समाज की स्थापना की गयी और मार्क्सवाद के सिद्धान्तों को क्रियात्मक रूप देने का प्रयास किया गया है। इस क्रान्ति की सफलता के बाद से मास्को (Moscow) मार्क्सवाद और साम्यवाद का उसी प्रकार से गढ़ हो गया है जिस प्रकार से रोम पोप की छत्रछाया में, ईसाइयत का गढ़ रहा है। रूस में कहाँ तक मार्क्सवादी सिद्धान्तों को व्यावहारिक रूप दिया गया है यह एक विवादग्रस्त विषय है। किन्तु, यह अवश्य है कि इस राज्यक्रान्ति की सफलता ने अनेक देशों के मार्क्सवादियों को यह प्रेरणा अवश्य दी है कि संसार में एकछत्र साम्यवादी राज्य की स्थापना हो सकती है और वे इसी दिशा में प्रयत्नशील भी हैं। उनकी यह भी मान्यता है कि क्रान्ति ही इसका एकमात्र आधार है। रूस में साम्यवादी सरकार की स्थापना के बाद से साम्यवादी आन्दोलन दो सम्प्रदायों में बंट गया – एक सम्प्रदाय के लोगों का यह विचार था कि संसार में क्रान्ति को प्रोत्साहन दिया जाय और दूसरे सम्प्रदाय के लोगों का यह विचार था कि पहले साम्यवाद को संगठित किया जाय और बाद में क्रान्ति के लिये प्रयत्न। साम्यवाद को संगठित और मजबूत करके, उसको सर्वहारा वर्ग की तानाशाही का रूप देने के प्रयास में ही साम्यवाद में अधिकारग्रस्त समाज और तानाशाही का समावेश हुआ। साम्यवादी संसार में साम्यवाद के प्रसार में वैसे ही लगे हुए हैं जैसे ईसाई ईसाइयत के प्रचार में। तृतीय महायुद्ध के बाद तुर्की और यूगोस्लाविया को छोड़कर, आज पूर्वी जर्मनी कहे जाने वाले प्रदेश तक रूसी साम्यवाद का आधिपत्य है। रूस की ही सहायता से चीन में साम्यवादी सरकार की स्थापना हुई। इस सरकार ने उत्तरी

कम्बोडिया, वियतनाम, लाओस और तिब्बत तक अपने अधिकारक्षेत्र को बढ़ाया है। भारत पर चीन का आक्रमण भी इसी आदर्शवादी प्रसार का परिणाम है। मार्क्सवादी आदर्श में दूसरे देशों पर साम्यवादी देश का आक्रमण और प्रसार पूँजीवाद के विरुद्ध युद्ध है, एक प्रकार का जिहाद है और ससार के पुनर्निर्माण का यह आधार प्रयास है।

इसमें कोई सदेह नहीं कि सर्वहारा वर्ग के लिये मार्क्सवाद एक उत्तेजक आवाहन है, किन्तु साथ ही साथ, सर्वहारा वर्ग का एक अधिकारग्रस्त तत्र में बाँधने का यह एक माध्यम भी है। प्रोफेसर हेलेकी (Prof Halecki) ने अपनी पुस्तक, दि लिमिटस एण्ड डिवीजन्स आफ योरोपियन हिस्ट्री में रूस को पश्चिम का अग न मानकर, पूर्व का अग माना है। अत, उनकी मान्यता में साम्यवाद पूर्व की देन है न कि पश्चिम की[1]। किन्तु राधाकृष्णन के अनुसार, साम्यवाद का वशानुक्रम वस्तुत प्लेटो, ईसाइयत के न्यू टेस्टामेंट सत्रह सौ सैतालीस के इंगलैण्ड की ससदीय सेना के लेवलर (Leveller) कहे जाने वाले लोगों के कार्यों और विचार धारा, रिकार्डों और आडम स्मिथ जैसे प्रतिष्ठित (Classical) अर्थशास्त्रियों डार्विन द्वारा प्रतिपादित सामाजिक डार्विनवाद, हीगल, मार्क्स, एंजेल्स और लेनिन के विचारों में हैं और उसकी बहुत सी विशेषतायें निश्चय ही योरोप की हैं। अधिकारतन्त्री आदर्श समाज की धारणा प्लेटो की देन है और द्वन्द्वात्मक विचार यूनान के माध्यम से हीगल (Hegel) की। जिस प्रकार यूनानियों ने ससार को सभ्य तथा असभ्य में बाँटा था और बाद में ईसाइयों ने ईसाइयों तथा गैर ईसाइयों (Heathens) में उसी प्रकार साम्यवादियों ने ससार को ससदीय प्रजातन्त्र (Parliamentary Democracy) तथा लोकतन्त्रीय प्रजातन्त्र (People's Democracy) में बाँट दिया है। ससार का दो गुटों में बाटन वाले इन आदर्शों का वर्तमान सघर्ष वैसे ही है जैसे एथेंस और स्पार्टा, रोम और कारथेज, यहूदी और गैर यहूदी यूनानी और बर्बर ईसाई और गैर ईसाई प्रोटेस्टेंट और कैथोलिक के सघर्ष। द्विभाजन (Dichotomy) पश्चिमी मस्तिष्क की एक विशेषता रही है और वर्तमान समाज के साम्यवादी तथा पूँजीवादी आदर्श उसी विशेषता का एक स्वाभाविक उत्पत्ति है।

साम्यवाद का विकास ईसाइयत की पृष्ठभूमि में हुआ है और इस कारण साम्यवाद में ईसाइयत की कई विशेषताओं का समावेश हो गया है। जिस प्रकार, ईसाइयत में ईसा द्वारा प्रतिपादित धर्म सिद्धान्तों को अन्तिम और अमोघ माना गया है, उसी प्रकार साम्यवाद में मार्क्स के सिद्धान्तों को वैज्ञानिक समाजवाद की परा काष्ठा माना जाता है। मार्क्स द्वारा प्रस्तुत इतिहास का निर्वचन, क्रान्ति की अनिवार्यता और अन्ततोगत्वा समाजवाद की स्थापना उसी प्रकार की भविष्यवाणी है जैसे ईसाइयत में कयामत और निर्णय दिवस (Day of Judgement) के अवश्यम्भव आने

1 राधाकृष्णन, सर्वपल्ली ईस्ट एण्ड वेस्ट पृष्ठ 111

की कल्पना है। इसाइयत के विकास ने पाप संगठन को जन्म दिया और साम्यवाद ने कम्युनिस्ट इंटरनेशनल को। जिस प्रकार, इसाइयत के सिद्धान्तों के अंतिम निवचन का अधिकार पोप और उनकी परिषद को रहा है उसी प्रकार मार्क्सवादी सिद्धान्तों के अंतिम निवचन का विशेषाधिकार कम्युनिस्ट इंटरनेशनल के अधिनायकों का रहा है। साम्यवाद का समारव्यापी प्रसार करने के पीछे वही भावना है जो मिशनरियों के द्वारा संसार में इसाई धर्म का प्रसार करने के पीछे रही है। जिस प्रकार, अठारहवीं और उन्नीसवीं शताब्दी में इसाइयत के प्रचार और प्रसार ने साम्राज्यवाद को प्रोत्साहन दिया, उसी प्रकार आज साम्यवाद साम्राज्यवाद का आधार बन रहा है। साम्यवाद वस्तुत इसाइयत का वह रूप लगता है जिसमें ईसा का स्थान मार्क्स ने लिया है, पादरियों का साम्यवादी देशों के तानाशाही अधिनायकों ने, मिशनरियों का साम्यवाद का दम भरने वाले आन्दोलनकारी कम्युनिस्ट राजनीतिज्ञों ने आध्यात्मिकता (Spiritualism) का पार्थिवता (Materialism) ने और स्वर्ग साम्राज्य (Kingdom of Heaven) का आदर्श समाजवाद ने।

यह समझना भूल होगी कि केवल इसाइयत ने ही साम्यवाद को जन्म दिया है। साम्यवाद योरोप के बौद्धिक चिंतन और अठारहवीं शताब्दी तथा उन्नीसवीं शताब्दी के प्रारम्भ चलने वाली विचारधाराओं का एक सहज परिणाम है। मार्क्सवाद को सक्रियता और व्यावहारिकता का जामा पहनाने वाले लेनिन (Lenin) के मत में मार्क्स की प्रतिभा में उन्नीसवीं शताब्दी की विचार पद्धति की तीन मुख्य धाराओं का प्रसार और पूर्ण सम्मिलन है। ये धारायें हैं—प्रतिष्ठित जर्मन दर्शन (Classical German Philosophy) प्रतिष्ठित अंग्रेजी राज्यार्थव्यवस्था (Classical English Political Economy) और फ्रांसीसी क्रान्ति के सिद्धान्तों से मिश्रित फ्रांसीसी समाजवाद। अठारहवीं शताब्दी के उदारवादी और क्रान्तिकारी आन्दोलनों ने एक ओर सामाजिक सुधारवाद का रूप लिया तो दूसरी ओर उन्नीसवीं शताब्दी के प्रारम्भ में काल्पनिक, अव्यवहार्य, आदर्श निर्माण (Utopia Building) का रूप लिया। मार्क्सवाद एक काल्पनिक, अव्यवहार्य आदर्श है। अठारहवीं शताब्दी में, भौतिक विचारों के विकास द्वारा, विज्ञानवादिता (Positivism) और वैज्ञानिक अध्ययन रीति (Scientific Method) का विकास हो चुका था। अठारहवीं शताब्दी के समाजवाद में विज्ञानवादिता वैज्ञानिक अध्ययन रीति और समाज सुधारवाद का एक विचित्र मिश्रण हो चुका था जिसे आगे चलकर मार्क्स ने अपनाया। मार्क्स का विवेचन इतिहास का एकतत्वीय (Monistic) निवचन है। एकतत्वीय निवचन अर्थात एक ही कारक के आधार पर किसी प्रमेय का निवचन तत्कालीन तर्कशास्त्र और विज्ञानवादी दृष्टिकोण की देन है। एकतत्वीयता के कारण ही मार्क्सवाद पर नियतिवाद (Determinism) की जबरदस्त छाप है।

मार्क्सवाद के अभ्युदय के पहले योरोप में तीन मुख्य विचारधारायें चल रही

थी। वे है विज्ञानवाद (Positivism), युक्तियुक्तवाद (Rationalism) और रोमांसवाद (Romanticism)। मार्क्सवाद का उद्भव निश्चय ही जर्मन रोमांसवाद (German Romanticism) की पृष्ठभूमि में हुआ है। रोमांसवाद युक्तियुक्तवाद का विभेद है क्योंकि युक्तियुक्तवादियों ने जो कुछ भी कहा रोमांसवादियों ने उसके विभेद ढूढ निकाले। उदाहरणार्थ, युक्तियुक्तवादियों का मानव प्रकृति (Human Nature) का आधार मिला मीमांसा (Reason) में तो रोमांसवादियों को आत्मा (Spirit) में। युक्तियुक्तवादियों के लिये इतिहास भूलों और गलतियों का एक लेखा है जब कि रोमांसवादियों के लिये इतिहास की गहराई में शाश्वत सिद्धान्त और तत्व छिपे हैं। यही रोमांसवाद मार्क्सवाद की आत्मा है। किन्तु मार्क्सवाद के वास्तविक बौद्धिक आधार निहित हैं डारविन द्वारा प्रतिपादित सामाजिक डारविनवाद और हीगल द्वारा प्रतिपादित द्वंद्वात्मक (Dialectical) निर्वचन पद्धति में। हीगल की द्वंद्वात्मकता पर रूमानी आदर्शवादिता की छाप है जबकि मार्क्सवाद में अपनायी गयी द्वंद्वात्मकता पर पार्थिवता (Materialism) की। आंगिक उद्विकास (Organic Evolution) के सिद्धान्त के माध्यम से डारविन ने यह प्रतिपादित किया है कि संसार के सभी प्राणियों का उद्विकास आधारभूत आंगिक तत्व (Organic Matter) से हुआ है। इस उद्विकास में विचरणशीलता (Variation) और प्राकृतिक प्रवरण (Natural Selection) का मुख्य हाथ है। डार्विन के अनुसार इस संसार में वही जीवित रहने में सफल होता है जो जीवित रहने के लिये सबसे अधिक फिट है। अतः सारी प्रकृति एक निरीह संघर्ष में रत है और इसी संघर्ष में प्रकृति सर्वोत्तम का चुनाव करती है। मानव-समाज आंगिक तत्व की भाँति उद्विकासोन्मुख है और उसका भी उद्विकास संघर्ष और प्रतियोगिता के माध्यम से हो रहा है। मार्क्स का वर्ग संघर्ष का सिद्धान्त इसी विचारधारा की देन है। मार्क्सवाद वस्तुतः एक वैज्ञानिक सिद्धान्त न होकर एक समाजवादी संघर्ष विचार पद्धति (Conflict Ideology) है[1]।

२

योरोपीय सभ्यता के तत्व

इस प्रकार, योरोप का ऐतिहासिक विवेचन करने पर योरोपीय सभ्यता-संकुल के विभिन्न पहलू स्पष्ट हो जाते हैं। योरोपीय सभ्यता-संकुल के मुख्य आधार हैं वैज्ञानिक प्रौद्योगिकी (Scientific Technology) औद्योगीकरण (Industrializa

1 मार्टिंडेल, डॉन दि नेचर एण्ड टाइप्स आफ सोसियालाजिकल थ्योरी

tion) और शहरीकरण (Organization)। ये योरोपीय सभ्यता के पार्थिव पहलू हैं। केवल इन्हीं तक योरोपीय सभ्यता को सीमित रखना योरोपीय सभ्यता की धारणा को संकीर्ण करना है यद्यपि जहाँ जहाँ ये तत्व गये हैं वहाँ वहाँ वे विचार पद्धतियाँ भी गयी हैं जिन्होंने इस सभ्यता को जन्म दिया है या जो इसकी उत्पत्ति हैं। योरोपीय सभ्यता, वस्तुतः, जैसा कि पहले कहा जा चुका है मानव संस्कृति की एक विशेष विकास अवस्था है। अतः, उस विकास अवस्था के सामाजिक मानसिक पहलुओं के सन्दर्भ में ही उसके पार्थिव तत्व अधिक सार्थक लगते हैं। इस दृष्टिकोण से योरोपीय सभ्यता की अन्य विशेषतायें हैं वैज्ञानिक विचार पद्धति, धर्मनिरपेक्षिता, इसाइयत, पूँजीवाद, राष्ट्रवादिता, संसदीय प्रजातन्त्र तथा साम्यवादी प्रजातन्त्र और शहरी सामाजिक-संगठन जिसके आधार उद्योग, पूँजी, प्रतियोगिता और व्यक्ति हैं। यह अवश्य है कि इन सभी विशेषताओं में मिलकर जो स्वरूप बनता है उसके मूल में पार्थिवता की मात्रा ही अधिक है। यह विकास अवस्था वस्तुतः शहरी संस्कृति है। इसकी विकास प्रक्रिया के आधार द्वितीयक (Secondary) हैं न कि प्राथमिक।

४

भारत और योरोप

ऐतिहासिकता में भारतीय संस्कृति योरोप से प्राचीन है। जब वर्तमान राजनैतिक योरोप का जन्म भी नहीं हुआ था, भारत एक सांस्कृतिक राजनैतिक इकाई का रूप ले चुका था और भारतीय संस्कृति उन संस्कृतियों को प्रभावित कर रही थी जिन्होंने वर्तमान योरोपीय सभ्यता के निर्माण में सहयोग दिया है। मिस्र, यूनान, फिलिस्तीन और इसाइयत पर पड़ने वाले भारतीय प्रभावों का पहले ही वर्णन किया जा चुका है। सिकन्दर की विजय के पश्चात्, भारत और यूनान का प्रत्यक्ष राजनैतिक सांस्कृतिक तथा बौद्धिक सम्बन्ध स्थापित हुआ और यह सम्बन्ध तब तक बना रहा जब तक एक ओर, यूनान रोम साम्राज्य का अंग नहीं हो गया और दूसरी ओर यूनान तथा भारत के बीच में अरबी इस्लामी साम्राज्य का अभ्युदय नहीं हुआ। सिकन्दर द्वारा स्थापित किये हुए बैक्ट्रिया साम्राज्य के शासकों और भारत के मौर्य सम्राटों के माध्यम से भारत और यूनान में सांस्कृतिक आदान प्रदान लगभग तीन सौ साल तक चलते रहे। मेगास्थनीज जैसे राजदूतों ने भारतीय सामाजिक जीवन और ज्ञान विज्ञान को यूनानियों के समक्ष रखा। तक्षशिला के विश्वविद्यालय में, एक ओर यूनानी पठन पाठन करते थे तो, दूसरी ओर, वहाँ ऐसे भारतीय भी थे जो यूनानी भाषा बोलते थे और यूनानी साहित्य का अध्ययन करते थे[1]।

---

1 राधाकृष्णन, एस० ईस्ट एण्ड वेस्ट पृष्ठ 60

केरल और नासिक की बौद्ध गुफाओं में मिलने वाले यूनानी नामों से पता चलता है कि अनेक यवनों (यूनानियों) ने बौद्धधर्म स्वीकार कर लिया था। संस्कृत और हिन्दी में प्रयुक्त होने वाला यवन शब्द ही यूनानी भाषा में आया है। विद्वानों का ऐसा मत है कि भारतीय रंगमंच में यवनिका (Drop Curtion) का प्रयोग भारत को यूनानी नाट्यशास्त्र की भेंट है ? सिकन्दर के आक्रमण के लगभग एक सौ साठ साल बाद, जब सम्राट मिनान्डर (Menander) गंगा की घाटी वाले प्रदेश में आया तो उसने बौद्ध दार्शनिकों के साथ द्वंद्वात्मक (Dialectical) शास्त्रार्थ में भाग लिया। इस शास्त्रार्थ पर आधारित मिलिन्द पंथ नामक ग्रन्थ बौद्धशास्त्रों में एक महत्वपूर्ण ग्रन्थ है। ओ मले (O Malley) के अनुसार, प्राचीन भारत के ज्योतिष और औषधि-शास्त्रों पर यूनानी प्रभाव पाया गया है। भारत की गांधार मूर्तिकला यूनानी और भारतीय कला परम्पराओं का एक समन्वित संगम है। गांधार शैली की मूर्तिकला में, एक ओर, यूनानी परम्परा के अनुसार बाह्याकार को विराट स्पंदन की प्रवृत्ति है तो, दूसरी ओर उसमें भारतीय परम्परा के अनुसार विराट में एक आंतरिक आध्यात्मिक शक्ति को अभिव्यक्ति लाने की परम्परा भी विद्यमान है। गांधार मूर्तिकला वस्तुतः बाह्य और आध्यात्मिकता का मिलन है। महात्मा बुद्ध की प्रतिष्ठित प्रतिमा इसी समन्वित कला का एक पुष्प है[1]।

दक्षिणी भारत में पश्चिमी घाट में स्थित आदित्तनल्लूर नामक स्थान की खुदाई में से प्राप्त रोमन सिक्कों से यह पता चलता है ईसा की पहली शताब्दी के आस पास दक्षिणी भारत और रोम साम्राज्य का व्यापारिक सम्बन्ध स्थापित हो चुका था। ईसा की दूसरी या तीसरी शताब्दी में, दक्षिणी भारत में इसाइयत का प्रवेश हो चुका था। किन्तु योरोप और भारत के ये सम्पर्क उतने क्रांतिकारी नहीं थे जितने कि बाद के सम्पर्क क्योंकि ये सम्पर्क उस उदविकासी पृष्ठभूमि में स्थापित हुए थे जिनमें भारत तथा योरोप के प्रौद्योगिक विकास स्तर लगभग समान थे। इस्लाम का अभ्युदय और प्रसार होने के समय तक, यूनान, रोम और इसाइयत तथा भारत और हिन्दुत्व एक दूसरे को वैसे ही प्रभावित करते रहे जैसे साधारणतया सम्पर्क में आने वाली संस्कृतियाँ आदान प्रदान के माध्यम से, एक दूसरे को प्रभावित करती हैं।

योरोपीय सभ्यता के संघात से भारतीय संस्कृति में होने वाले क्रांतिकारी परिवर्तनों का सिलसिला उस समय से प्रारम्भ होता है जब सन चौदह सौ अठानवे के मई महीने की छब्बीस या सत्ताइस तारीख को, किसी अरब नाविक के पथ प्रदर्शन में, एक साहसिक पुर्तगाली नाविक वास्कोडिगामा, का जहाजी बेड़ा, पश्चिमी घाट में स्थित, कालीकट नामक स्थान पर आ लगा था और वहाँ के राजा जमोरिन ने

1 ओ मेले इण्डिया एण्ड दि वेस्ट पृष्ठ 1

उसे भारत के साथ व्यापार करने की अनुमति दे दी थी। सन चौदह सौ अठानवे का योरोप वह योरोप था जिसमे धर्म-युद्धों की ज्वाला शान्त होकर सुलग रही थी, इसाइयत और इस्लाम का द्वेष योरोपियनो के मस्तिष्क से निकला नही था, विज्ञान की फूटती हुयी किरण के साथ, धूप के समान, औद्योगिक क्रान्ति (Industrial Revolution) का प्रसार बढ रहा था तथा उससे उत्पन्न पूँजीवादी समाज के प्रभाव मे आक्रामक राष्ट्रवादिता बढ़ रही थी और जिसके दार्शनिक तथा विचारक योरोप को ही, प्राचीनतम तथा मानव की आधुनिकतम प्रगति का प्रतीक मानते थे। यह इन्ही परिस्थितियो का प्रभाव था कि तत्कालीन पुर्तगाली सम्राट ने भारत को अपना उपनिवेश मान लिया और व्यापार के साथ साथ वहा इसाइयत के प्रचार की आज्ञा दी।

तत्कालीन भारत मे, एक ओर, इस्लाम का प्रसार बढ रहा था दिल्ली मे मुसलमान शासको के वंशो का उत्थान और पतन हो रहा था और, दूसरी ओर, भारत मे सामन्तवादी समाज का एक नये सिरे से निर्माण हो रहा था और हिन्दुत्व इस्लाम के प्रसार के कारण, सिमट सिमट कर दक्षिण मे केन्द्रीभूत हो रहा था। यह वह भारत था जिसका सामन्त वर्ग धर्म के आधार पर विभाजित था और, इस कारण, धर्म की आड लेकर अपने स्वत्व के लिये आपस मे लड रहा था। पुर्तगाली भारत मे आये थे मसालो का व्यापार करने के लिये और मोहम्मद के अनुयाइयो अर्थात मुसलमानों के हाथ से मसाले का व्यापार और सामुद्रिक सैनिक शक्ति छीन लेने के लिये। इस्लाम विरोधी होने के कारण, दक्षिण के हिन्दू सम्राटो ने उनका स्वागत किया। किन्तु, वास्तव मे, इस स्वागत के पीछे वही भावना थी जो इस्लाम के अभ्युदय और प्रसार के पहले अरबो का स्वागत करने के पीछे थी। यह भावना थी विदेशी व्यापार को बढाकर राजस्व बढ़ाने की।

भारत मे पुर्तगालियो का प्रभाव समुद्र तट पर ही सीमित रहा, यद्यपि लगभग डेढ सौ साल तक, अतलान्तिक तथा हिन्द महासागर पर पुर्तगालियों का एकछत्र राजनैतिक प्रभाव रहा। पुर्तगाली सदैव बन्दरगाहो मे ही रहे और उन्होने हमेशा समुद्र तथा समुद्रतट पर अपना प्रभाव जमाये रखने का प्रयत्न किया। सन पन्द्रह सौ दस मे, गुजरात के सुल्तान महमूद बेगड़ा को हराकर पुर्तगालियो ने गोवा का किला कायम किया और कालान्तर मे बम्बई और हुगली मे भी अपने किले बनाये। भारत तथा दक्षिणी पूर्वी एशिया मे पुर्तगालियो की नीति थी गोवा मे पुर्तगाल का प्रत्यक्ष शासन स्थापित करना, गोवा को वर्णसंकरो का उपनिवेश बनाना, समुद्रतट पर युद्धावश्यक (Strategic) स्थानो मे सैनिक अड्डे कायम करना और जहाँ सैनिक अड्डे न कायम हो सकें वहा पुर्तगाल का राजनैतिक प्रभाव बढाना। भारत के राजाओं पर राजनैतिक प्रभाव बढाकर व्यापार सुरक्षित करने की नीति की नीव पुर्तगालियो ने डाली थी, जिसका आगे चलकर, अन्य योरोपीय राष्ट्रो ने भी अनुसरण

किया। अपनी इस नीति से पुर्तगाली भारत के समुद्र तट पर व्यापारिक साम्राज्य कायम कर सके। उस समय इससे अधिक सम्भव भी न था क्योंकि तत्कालीन भारत में केन्द्रीय शक्ति सगठित थी।

वास्को-डि-गामा द्वारा भारत और योरोप के बीच समुद्री मार्ग को ढूँढ निकालने के बाद, योरोप के राजनैतिक जीवन में जो परिस्थितियाँ उत्पन्न होती रही हैं उनका प्रसार और प्रभाव हिन्द महासागर, भारत और दक्षिणी पूर्वी एशिया पर पड़ता रहा है। योरोप में औद्योगिक क्रान्ति के प्रस्फुटन के बाद अतलान्तिक महासागर पर जब जिस राष्ट्र अथवा सैनिकशक्ति का अधिकार रहा है तब उस राष्ट्र का अधिकार हिन्द महासागर पर भी रहा है। जब तक अतलान्तिक महासागर पर पुर्तगालियों का एकछत्र राज्य रहा हिन्द महासागर पर भी उनकी प्रभुता कायम रही और भारत से लेकर दक्षिणी-पूर्वी एशिया तक उनका एकमात्र व्यापारी साम्राज्य कायम रहा। किन्तु योरोप में स्पेन और इंगलैण्ड के युद्ध में, स्पेनिश आरमडा (Spanish Armada) की पराजय (1588) के पश्चात, अन्य देशों ने भी पुर्तगाल की प्रतियोगिता में अपने-अपने व्यापारिक क्षेत्र बढ़ाने का प्रयास किया। इसके परिणामस्वरूप, सोलहवीं शताब्दी के अन्त में (सन पन्द्रह सौ पञ्चानवे के बाद से) हालैण्ड निवासियों, डचों, ने हिन्दमहासागर में पदार्पण किया और धीरे धीरे पुर्तगालियों से नाविक सत्ता छीन ली। सन सोलह सौ चौवन में कोलम्बो पर अधिकार करके, सन सोलह सौ तिरसठ के आस-पास उन्होंने मलाबार के तट पर अपने अड्डे कायम किये। डचों और पुर्तगालियों के बीच हुयी एक संधि (1648) के अनुसार पुर्तगालियों का सैनिक तथा राजनैतिक प्रभाव गोआ के आस पास एक हजार तीन सौ वर्गमील के क्षेत्र में ही सीमित हो गया और दिसम्बर सन उन्नीस सौ एकसठ तक वहाँ उनका राज्य रहा। डच भारत में कोई साम्राज्य स्थापित न कर सके जिसके सम्भवतः दो कारण हैं—पहला व्यापार में अधिक दिलचस्पी रखने के कारण उनका ध्यान इण्डोनेशिया की ओर अधिक था और वहीं उन्होंने अपना साम्राज्य भी कायम किया और दूसरे अतलान्तिक महासागर पर बढ़ती हुयी अंग्रेजों की सैनिकशक्ति के कारण उन्हें हिन्दमहासागर से हटना पड़ा।

सत्रहवीं शताब्दी में, अंग्रेजों ने हिन्दमहासागर में पदार्पण किया और फ्रांसीसियों ने अठारहवीं शताब्दी में। अंग्रेजों की सबसे पहली व्यापारी कोठी सूरत में खुली और इसी कोठी के आधार पर भारत में तम्बाकू का एक नाम सूरती भी पड़ा। फ्रांसीसियों ने अपना सबसे पहला अड्डा पाण्डचेरी में कायम किया। भारत को एक राजनैतिक इकाई का रूप देने के प्रयास में निरन्तर लड़ते लड़ते सन सत्रह सौ सात में जब औरंगजेब की मृत्यु हुयी तो उस समय, एक ओर, भारत को एक राजनैतिक इकाई का रूप देने की अकबर की कल्पना समाप्त हुयी तो, दूसरी ओर, मराठा, सिक्खों और सैनिक शक्ति से सशक्त संन्यासियों के रूप में हिन्दू राष्ट्रवादिता

प्रबल वग से फूट निकली और भारत के समुद्रतटो पर योरोपीय राष्ट्रो के सनिक अड्डे मजबूत होने लगे। सन सत्रह सौ पच्चीस म, औरगजेब के मरने के अठारह साल बाद, सूरत, बम्बई मद्रास, मछलीपटटम और कलकत्ते फोर्टविलियम म अंग्रेजो के सनिक व्यापारी अड्डे थे, पाण्डचरी और चन्द्रनगर म फ्रासीसियो के और कोचीन, ट्रेवुवार और मछलीपट्टम म डचो के। य व्यापारी अड्डे वस्तुत सनिक किलो के समान थे और उनम रहने वाले विदेशी व्यापारी केवल अपन व्यापार स ही सरोकार रखते थे। भारत के राजनतिक जीवन से उनका वहीं तक सम्बन्ध था जहाँ तक उनके व्यापार की सुरक्षा का प्रश्न था। उनका प्रत्यक्ष सम्बन्ध भारत के उस धनी, व्यापारी मध्यम वग से था जिसके माध्यम स वे भारत म व्यापार करते थे। यह मध्यम वग भारत मे योरोप के बढत हुये व्यापार की उपज था। यह वग भारत के वतमान पूजीवादी वग का अग्रिम रूप था। यह वग भी योरोपीय व्यापार की सुरक्षा का उतना ही हामी था जितने कि योरोपीय व्यापारी। तत्कालीन भारत का छिन्न होती हुयी केन्द्रीय राजनतिक सत्ता म प्रादेशिक सत्तायें उभर रही थी और समुद्र तटवर्ती प्रदेशो म उभरने वाली स्थानीय सत्ताओ पर इस धनी वग का प्रभाव बढ रहा था। यह वग अधिकतर हिन्दू वग था। कलकत्त का यह वग मारवाडी था सूरत का गुजराती और मद्रास का चेट्टी। अत, तत्कालीन परिस्थितियो म हिन्दूवादिता और योरोपीय प्रभावो स उत्पन्न होनी हुयी पूजीवादिता का गठब धन हो गया। इसी हिन्दू राष्ट्रवादी तथा पूजीवादी वग से इग्लण्ड के पूजीवादी वग ने क धे स क धा मिला कर भारत म अपने व्यापार को सुरक्षित रखने के लिये, धीरे धीरे अपना राजनतिक प्रभुत्व कायम किया[1]।

भारत मे अंग्रेजी राज की स्थापना का ऐतिहासिक वणन विषयान्तर होगा। हा, उसकी मुख्य मुख्य ऐतिहासिक अवस्थाओ का वणन एसा सन्दभ ह जिससे प्रस्तुत विषय अधिक स्पष्ट हो उठता है। सन सोल्ह सौ उन्हत्तर मे मुगल बादशाह से कलकत्त की किलेबदी करने की अनुमति तथा एक छोटी सी जमीदारी लेकर अंग्रेजो की व्यापारिक सस्था, ईस्ट इण्डिया कम्पनी, एक साथ शासक व्यापारी और जमीन्दार हो गयी। योरोप म चलने वाले अग्रेज और फ्रासीसी सघष के कारण जब अग्रेजो और फ्रासीसियो ने करनाट के युद्ध मे अप्रत्यक्ष भाग लिया और उसम अग्रेज विजयी हुए तो यह स्पष्ट हो गया कि व्यापार की सुरक्षा के लिये भारत के राज

1 प्लासी के युद्ध में जगत सेठ और अमीचन्द ने अंग्रेजों की जो सहायता की थी, वह इतिहास प्रसिद्ध है। अफगान युद्ध में विजयी होने पर जब अंग्रेजी सेना गजनी से सोमनाथ के मंदिर का द्वार वापस लाई तो तत्कालीन गवर्नर जनरल ने यह गर्वोक्ति की थी कि अंग्रेजों ने मुसलमानों से सोमनाथ की चढाई का बदला लिया है—पनिक्कर

नतिक जीवन मे दखल देकर राजनैतिक प्रभुत्व बढ़ाना आवश्यक है। प्लासी (1757) और बक्सर (1764) के युद्धो के द्वारा बगाल बिहार और उड़ीसा की दीवानी प्राप्त करना इसी प्रयास की ओर उठा हुआ कदम है। भारत मे अँग्रेजी राज का प्रारम्भिक रूप बनिया राज था और यह इसी का परिणाम है कि भारत म अँग्रेजों ने धीरे धीरे परिवर्तन किये और वही परिवर्तन किये जो आवश्यक थे। कार्नवालिस के समय स बनिया राज समाप्त होने लगा। सन अठारह सौ बारह म, ईस्ट इण्डिया कम्पनी भारत और इगलण्ड के बीच प्रशासन का एक माध्यम थी। यही वह समय है जब इगलण्ड की पार्लियामेट ने भारत म एक सभ्य सरकार (Civilized Govt) स्थापित करने का भार अपने ऊपर लिया और इगलण्ड को भारत का ट्रस्टी (Trustee प्रन्यासी) करार दिया। सम्भवत इसी मान्यता का यह परिणाम है कि अग्रेजो न भारत को एक राजनैतिक सत्ता म बाँधने का प्रयास किया। अठारह सौ सत्तावन की राज्यक्रान्ति के पहले जब तक भारत अग्रेजी साम्राज्य का एक अग नही हो गया था और पार्लियामेट म उसका प्रत्यक्ष सम्बन्ध नही था ईस्ट इण्डिया कम्पनी की राजनैतिक शक्ति मुगल बादशाह के फरमान पर आधारित थी और कम्पनी कम्पनी न रहकर कम्पनी बहादुर कहलाती थी। मुगल बादशाह स राजनैतिक शक्ति ग्रहण करने के कारण मुगलो म भिन्न हुये देश के ट्रस्टी के लिय यह आवश्यक था कि वह उस राजनीतिक इकाई को बनाये रखे जिसकी कल्पना हिन्दू शास्त्रो मे की गयी थी, जिसे सम्राट अशोक और अकबर ने कायम करने का प्रयास किया था जिसके लिये औरगजेब बराबर लड़ता रहा और जो अप्रत्यक्ष रूप से मराठा उत्थान की प्रेरक थी[1]।

कुछ भी हो अठारह सौ सत्तावन की राज्य क्रान्ति के समय ब्रह्मपुत्र स लेकर सिन्ध तक और हिमालय स लेकर कन्याकुमारी तक अग्रेजो का झडा लहरा रहा था। जिस काय को अशोक और अकबर न कर पाये थ वह अग्रेजो के शस्त्रो की सहायता से उन्नीसवी शताब्दी म पूरा हुआ। भारत के इतिहास म प्रवाहित उद्‌विकासी सास्कृतिक एकता ने प्रथम बार राजनैतिक एकता का रूप ग्रहण किया और भारत ने एक राष्ट्र राज्य (Nation State) का रूप ग्रहण किया। देशी राज्यो को रख कर, अँग्रेज भी उस राष्ट्र राज्य का जन्म न दे सके जो भारत के सास्कृतिक इतिहास का भाग थी। देशी राज्यो म अँग्रेजो का प्रभाव अप्रत्यक्ष था और, इस कारण, भारत के सभी भागो म योरोपीय प्रभाव समान मात्रा म नहीं पड़ा। कहीं वह पहुँचे आया और कहीं बाद म, कहीं वह कम हुआ, कहीं ज्यादा। इसीकारण, भारत के विभिन्न सास्कृतिक स्तरों म विभिन्न प्रक्रियायें उत्पन्न हुयीं। फिर भी सारे प्रभाव राष्ट्र

1 पनिक्कर के० एम० ए सर्वे आफ इण्डियन हिस्ट्री

राज्य की ओर ही प्रवाहित होते रहे। सन् उन्नीस सौ सतालीस में भारत की स्वतन्त्रता उन्हीं प्रवाहों के सम्मिलित प्रभावों का परिणाम है। स्वतन्त्रता के बाद से, योरोप और भारत प्रत्यक्ष सम्बन्ध में आये हैं और इन सभी संचयी प्रक्रियाओं का एक परिणाम है भारत का उत्तरोत्तर पश्चिमीकरण और दूसरा राष्ट्र राज्य का उत्तरोत्तर एकीकरण।

५

पुर्तगाली प्रभाव

भारतीय संस्कृति में योरोप के सभ्यतायी प्रभावों का प्रवेश पुर्तगालियों, फ्रांसीसियों और अंग्रेजों के माध्यम से हुआ है। इनमें अंग्रेजों का प्रभाव सर्वाधिक है किन्तु पुर्तगालियों और फ्रांसीसियों के प्रभाव को उतना नगण्य नहीं कहा जा सकता है जितना कि अंग्रेजीकार के इतिहासकारों ने उसे दिखाने का प्रयास किया है। यह अवश्य है कि अंग्रेजों के माध्यम से ही भारत का अधिकतम पश्चिमीकरण हुआ है किन्तु, साथ ही साथ यह भी सही है कि इस पश्चिमीकरण का प्रारम्भ पुर्तगालियों से हुआ था। साढ़े चार सौ साल से अधिक समय तक पुर्तगालियों के प्रभाव में रहने वाला गोवा वस्तुतः पुर्तगाली भारत का एक रूप है। पुर्तगाल के माध्यम से गोवा में क्या सामाजिक-सांस्कृतिक परिवर्तन हुये हैं, उनकी समाजशास्त्रीय विवेचना होना अभी बाकी है।

पुर्तगाली, पन्द्रहवीं शताब्दी के बाद से भारत और योरोप के बीच बढ़ते हुये सम्बन्ध की पहली कड़ी थे। पुर्तगालियों ने ही भारत और योरोप के बीच बढ़ने वाले सम्बन्धों का मार्ग प्रशस्त किया। अपने व्यापार की सुरक्षा के लिये पुर्तगालियों ने जिन सैनिक तथा राजनैतिक उपायों को काम में लिया, आगे चलकर, योरोप के अन्य राष्ट्रों ने उन्हीं का अनुसरण किया। भारत में पुर्तगाली प्रभाव ने यह सिद्ध कर दिया था कि भारत के व्यापार पर उसी योरोपीय राष्ट्र का अधिकार रहेगा जिसके हाथ में हिन्दमहासागर की राजनैतिक प्रभुता होगी। पुर्तगालियों ने समुद्र के मार्ग से भारत के वैदेशिक व्यापार को बढ़ावा दिया और इस बढ़ावे का परिणाम यह हुआ कि योरोप में भारत की वस्तुओं का, विशेषतया मसालों और मलमल का उतना प्रचार हुआ जितना पहले कभी भी नहीं हुआ था। दूसरी ओर पुर्तगालियों ने भारत में योरोप तथा चीन की बनी वस्तुओं का व्यापारिक प्रचार किया। वर्तमान भारत को वर्तमान योरोप ही नहीं वरन वर्तमान संसार के सम्पर्क में लाने वाले पुर्तगाली ही थे।

पुर्तगाली संस्कृति तत्कालीन योरोपीय सभ्यता के उपकरणों से मिश्रित एक

जटिल सकुल थी जिसम पूजीवाद, साम्राज्यवाद, प्रजातिवाद, जाति अहमन्यता (Ethnocentrism) और इसाई धर्मोमत्तता का प्रचुर समावेश था। पूजीवाद तथा साम्राज्यवाद ने उन्ह व्यापारी साम्राज्य स्थापित करने के लिये प्रेरित किया यद्यपि उनका साम्राज्य गोवा के आगे न बढ सका। यह पुर्तगालियो की जाति-अहमन्यता और प्रजातिवादी मनोवृत्ति का प्रतीक है कि, एक ओर, उन्होने गोआ का पुर्तगाली वणसकरो का उपनिवेश बनाने का प्रयत्न किया, भारत की जनसख्या म यूरेशियन (Euresian) कहे जाने वालो का योगदान दिया और, दूसरी ओर, भारतीयो को गुलाम बनाकर बेचा और भारत मे जबरदस्ती इसाइयत का प्रचार किया। पुर्तगालियो ने इसाइ धम के प्रसार का जितना प्रयास किया, सम्भवत, अन्य किसी योरोपीय राष्ट्र न उतना नहीं किया। पुर्तगाली मिशनरियों म फ्रासिस जेवियर (Francis Xavier) और अलेक्सिस डी मजीज (Alexis de Menzes) के प्रयत्न इस दिशा मे उल्लेखनीय हैं। जवियर ने भारतीयो को इसाई धम म दीक्षित करने का अकथनीय प्रयास किया और इसम उसे सफलता भी मिली। मजीज ने दक्षिण भारत के सीरियाई (Syrian) इसाइयो के सामाजिक सास्कृतिक व्यवहार म से हिन्दू परम्पराओं को निकालने का प्रयास किया। यह बहुत कुछ पुर्तगाली मिशनरियो के प्रयत्नों का परिणाम है कि वतमान भारत की इसाइ जनसख्या म कथालिक सम्प्रदाय के अनुयायियो का सख्या सबम अधिक है। भारत म, अग्रेजी राज की स्थापना के बाद से, लगभग पिछले सौ वर्षों म प्रोटस्टट (Protestant) सम्प्रदायो का इसाइयत के प्रचार की खुली छूट रही ह और उन्ह अपन प्रचार क लिय राज्य कृपा भी प्राप्त रही फिर भी, भारत म कथालिक सम्प्रदायो की ही प्रधानता बनी रही। हो सकता ह कि यह भारतीयो की परम्परावादी प्रवृत्ति का परिणाम हो। पुर्तगाली साम्राज्य क प्रारम्भिक काल म पुर्तगालियो न इसाई धम का प्रचार एक हाथ म क्रास (Cross, इसाई धमचिह्न) और दूसरे हाथ म तलवार लेकर किया। इस बबर धम प्रसार म न उन्होने हिन्दुओ को छोडा और न मुसलमानो को। इसी का परिणाम है कि वतमान युग के प्रारम्भ स ही इस्लाम और हिन्दुत्व इसाइयत के प्रति सशकित रहे हैं और उसके आक्रमण से बचन के लिए उन्होने भी धर्मान्ध कट्टरवादिता का आश्रय लिया ह। भारत म आधुनिक पत्र क सस्थापक पुर्तगाली ही थे। किन्तु इसके साथ ही साथ पुर्तगालियों ने भारतीय पादरियो की प्रशिक्षा के लिये धमविद्या-केन्द्र खोले जिनसे भारत में उसी युक्तियुक्त विचारधारा का प्रसार होना प्रारम्भ हुआ जिसका प्रसार योरोप मे पहले हो चुका था।

भारत के अन्तर्राष्ट्रीय व्यापार पर पुर्तगालियो के सौ साल से भी अधिक एकछत्र अधिकार के कारण तत्कालीन भारत की समुद्रतटवर्ती मण्डियों म, अन्तर्राष्ट्रीय भाषा के रूप मे पुर्तगाली भाषा का प्रचार हुआ और यह प्रचार यहा तक बढा कि

प्रारम्भ अंग्रेजों को भी पुर्तगाली का ही आश्रय लेना पड़ता था[1]। इसका परिणाम यह हुआ कि हिंदी और भारत की अन्य प्रान्तीय भाषाओं में कमरा, नीलाम, पादरी, मारतौल, मेज, कुजी, कमीज और तम्बाकू जैसे पुर्तगाली भाषा के शब्दों का प्रवेश हुआ। भारत की पार्थिव संस्कृति में पुर्तगालियों के अनेक योगदान हैं। भारत में हुक्के और तम्बाकू का प्रचार पुर्तगालियों से ही हुआ है और यह प्रचार भारतीय सांस्कृतिक जीवन में इतना प्रविष्ट हो गया कि, एक ओर, हुक्का पिलाना आतिथ्य सत्कार का प्रतीक हो गया तो, दूसरी ओर, जाति एकीकरण का माध्यम। जिन जातियों में हुक्का पीने की प्रथा है उनमें एक जाति के सभी सदस्य एक ही हुक्के से धूम्रपान करते हैं और जिस व्यक्ति को जाति से निकाल दिया जाता है उसको सम्मिलित हुक्का पान की मनाही रहती है। पंचायती हुक्का पिलाकर ही जाति च्युत सदस्य को पुनः जाति में दाखिल किया जाता है। आज हिन्दी भाषा भाषी प्रदेश में हुक्का पानी बन्द करना एक मुहाविरे के रूप में प्रयुक्त होता है जिसका व्यजनात्मक अर्थ है बिरादरी से निकालना।

अनन्नास, पपीता, अमरूद, कल्मी आम, गाभी और आलू भी पुर्तगालियों के लाये हुए हैं। कहा जाता है कि बम्बई का प्रसिद्ध आम अल्फांजो पुर्तगालियों का ही विकसित किया हुआ है। योरोपीय सभ्यता के उपकरणों में से पुर्तगालियों ने भारत को मुद्रण-यन्त्र और छापाखाना प्रदान किया है। भारत के पश्चिमी समुद्रतट पर पायी जाने वाली गाथिक (Gothic) शैली की इमारतें और बंगला शैली के भवन पुर्तगाली प्रभाव के प्रतीक हैं। पानिकर के अनुसार दक्षिणी भारत के गिरजाघरों का निर्माण निश्चय ही पुर्तगाली शिल्पशैली पर आधारित है और मइलापुर का चर्च इसका प्रमाण है[2]। गोवा के गवर्नर अल्बुकर्क ने जब से सती प्रथा का निरोध किया तब से यह विचार पनपा कि सामाजिक कानून द्वारा सामाजिक सुधार हो सकता है।

यह पहले ही कहा जा चुका है कि पुर्तगालियों के माध्यम से भारत का सम्पर्क संसार के अन्य देशों से बना। वास्तव में, योरोप को भारत का प्रथम प्रत्यक्ष परिचय पुर्तगालियों के ही माध्यम से मिला। आधुनिक योरोपीय भाषाओं में भारतीय फल फूलों का सबसे पहला वर्णन पुर्तगाली भाषा में ही मिलता है। जेवियर ने गोवा की भाषाओं और वहां के निवासियों का वर्णन पुर्तगाली भाषा में प्रकाशित किया। गारसिया डा ओरटा (Garcia da Orta) ने भारत की जड़ी-बूटियों का एक ब्योरेवार अध्ययन प्रस्तुत किया। किन्तु, इतना सब कुछ होने पर भी, पुर्तगालियों का प्रभाव सीमित रहा। हाँ, यह अवश्य है कि वर्तमान भारत के अभ्युदय का प्रारम्भ भारत और पुर्तगाल के सम्बन्ध के साथ साथ प्रारम्भ होता है।

---

1 दिनकर, रामधारीसिंह संस्कृति के चार अध्याय।
2 पानिकर, के० एम० ए सर्वे आफ इण्डियन हिस्ट्री।

६

फ्रांसीसी प्रभाव

पुर्तगालियों ने योरोप को भारत से परिचित कराया।[1] फ्रांसीसियों ने उस परिचय को प्रगाढ़ बनाया और अंग्रेजों ने भारत में योरोपीय सभ्यता का प्रवेश करके, सभ्यता संस्कृति में घात की वह स्थिति उत्पन्न की जिससे भारत की संस्कृति में सर्वांगीण क्रान्तिकारी परिवर्तन हुए। भारत में फ्रांसीसियों का योगदान सांस्कृतिक न होकर राजनैतिक अधिक था जिसका लाभ आगे चलकर, अंग्रेजों ने उठाया। पुर्तगालियों की नीति का अनुसरण करते हुये फ्रांसीसी पहले योरोपीय थे जिन्होंने भारत के तत्कालीन राजनैतिक जीवन में हस्तक्षेप करके, भारत में राजनैतिक प्रभाव जमाने की नीति का श्रीगणेश किया। फ्रांसीसी गवर्नर डूप्ले ने ही सर्वप्रथम पाण्डिचेरी में जागीर कायम की थी। डूप्ले ने ही सर्वप्रथम भारतीयों को योरोपीय ढंग की सैनिक शिक्षा देकर भारत में, योरोपीय ढंग से सेना संगठन प्रारम्भ किया। भारत में काफी दिनों तक फ्रांसीसी सैन्य विशेषज्ञों को नियुक्त करने की प्रथा रही। अरकाट के युद्ध के बाद, फ्रांसीसियों का प्रभाव बहुत कुछ कम हो गया था किन्तु, फिर भी देशी राज्यों में सैन्य विशेषज्ञ के रूप में फ्रांसीसियों को नियुक्त किया जाता रहा। अंग्रेजों के बढ़ते हुये प्रभाव ने फ्रांसीसियों के राजनैतिक महत्त्व को भी घटवा दिया क्योंकि योरोप तथा भारत में फ्रांसीसी ही अंग्रेजों के राजनैतिक प्रतिद्वंद्वी थे। फ्रांसीसी राज्यक्रान्ति और अंग्रेजों के विरुद्ध नेपोलियन के अभ्युदय ने फ्रांसीसियों को राजनैतिक स्वतन्त्रता का प्रेरक बना दिया। टीपू सुल्तान ने इसी प्रेरणा से फ्रांसीसियों से अंग्रेजों के विरुद्ध सहायता मांगी थी। फ्रांसीसी राज्यक्रान्ति के आदर्श स्वतन्त्रता (Liberty), समता (Equality) और बन्धुता (Fraternity) प्रारम्भ से ही भारतीय स्वतन्त्रता संग्राम को प्रभावित करते रहे हैं।

भारतीय विचारधारा से योरोप को परिचित कराने में फ्रांसीसियों का योगदान काफी महत्त्वपूर्ण है। मैक्समूलर (Max Muller) के बहुत पहले फ्रांसीसियों ने भारत के दार्शनिक विचारों का प्रचार योरोप में कर दिया था। योरोप के नव-जागरण काल के जर्मन दार्शनिकों में भारतीय दार्शनिक विचारधारा की जो झलक मिलती है वह फ्रांस के ही माध्यम से जर्मनी पहुँची। पाण्डेचरी के मिशनरियों ने ला यजुर्वेदम (L Ezurvedam) के नाम से फ्रांसीसी भाषा में यजुर्वेद पर जो

1 भारत में आने वाला पहला अंग्रेज जेसुवाइट मिशनरी थामस स्टीवेंस सन पन्द्रह सौ उन्यासी में गोवा में ही आकर ठहरा था। उसने अपने पिता को जो पत्र लिखा था उसके प्रकाशन से ही ईस्ट इण्डिया कम्पनी के स्थापित करने की प्रेरणा मिली ओ' मेले

पुस्तक प्रकाशित की थी उसका फ्रांसीसी विचारक वाल्तेयर (Voltaire) पर काफी प्रभाव पड़ा। सन् अठारह सौ सत्रह में फ्रांसीसी मिशनरी एबे डुबाय (Abbe Duboio) की हिन्दू मैनर्स, कस्टम्स और सेरीमनीज नामक पुस्तक प्रकाशित हुयी जिसमें तत्कालीन भारत के रीति रिवाजों का विशद वर्णन है। किन्तु इन सभी प्रकाशनों में, सबसे अधिक महत्वपूर्ण प्रकाशन है डुप्रो (Duperron) नामक फ्रांसीसी द्वारा एक साथ फ्रांसीसी तथा लेटिन भाषाओं में प्रकाशित ओपनिखत (Oupnekhat) नामक ग्रन्थ। यह ग्रन्थ सन् अठारह सौ एक और दो में प्रकाशित हुआ था। डुप्रो (Duperron) पारसियों के जरथुस्त्र धर्म का प्रत्यक्ष ज्ञान प्राप्त करने की प्रेरणा से फारसी सीखने तथा पारसियों के मूल ग्रन्थों का अध्ययन करने के लिए भारत आया था। उसे यहीं वह हस्तलिखित फारसी ग्रन्थ मिला जिसे दारा शिकोह ने ओपनिखत के नाम से लिखवाया था और जिसमें उपनिषदों का निचोड़ था। डुप्रो (Duperron) द्वारा प्रकाशित ग्रन्थ ओपनिखत के ही माध्यम से जर्मनी के दार्शनिक शोपेनहार (Schopenhaur) को भारतीय दर्शन का परिचय हुआ। इस प्रचार का परिणाम यह हुआ कि जर्मनी में भारतीय दर्शन के प्रति जिज्ञासा उत्पन्न हुयी जिसकी अभिव्यक्ति का चरमोत्कर्ष मक्समूलर द्वारा वेदों के अध्ययन और नव सङ्कलन में हुआ। मक्समूलर की पुस्तक सेक्रेड बुक्स आफ दि ईस्ट, के द्वारा योरोप में भारतीय दर्शन का प्रचार हुआ।

७

अंग्रेजी राज का प्रभाव

यह निर्विवाद है कि भारतीय संस्कृति में योरोपीय सभ्यता का व्यापक प्रभाव अंशतः अंग्रेजी राज की आवश्यकताओं की पूर्ति के प्रयास में हुआ है और अंशतः भारतीयों के उस प्रयास से हुआ है जिसके द्वारा उन्होंने, योरोपीय सभ्यता के उपकरणों को आवश्यकतानुसार अपना कर, अंग्रेजी राज ईसाइयत तथा योरोपीय प्रौद्योगिकी द्वारा प्रस्तुत चुनौती में लोहा लेने का प्रयास किया है[1]। भारत में अंग्रेजी राज के

1 भारत में अंग्रेजी राज की स्थापना के पहले ही भारत का पश्चिमीकरण होना प्रारम्भ हो चुका था। योरोपीय सैनिक सगठन और शस्त्रों का प्रयोग कलकत्ते में योरोपीय ढग के भवनों का निर्माण, यहां के नवाबों और राजाओं द्वारा योरोपीय ढग की घोड़ा गाड़ियों सजावट के उपकरणों और फरनीचर (Furniture) का प्रयोग इसके प्रमाण है। लखनऊ के आसफुद्दौला ने गोथिक

प्रशासकों को तीन श्रेणियों में रखा जा सकता है—पहली श्रेणी में आते हैं क्लाइव (Clive) जैसे प्रशासक जिन्होंने धोखाधड़ी का आश्रय लिया भारत में लूट-पाट का राज्य स्थापित किया और भारत में धोखाधड़ी से कमाए हुए धन को इंगलैण्ड में नवाबों की भाँति खर्च करके तथा भारतीय नवाबों का सा विलासी जीवन बिताकर इंगलैंड के नागरिक जीवन को दूषित किया, दूसरी श्रेणी में आते हैं कार्नवालिस, वारेन हेस्टिंग्ज, विलियम बेंटिंक वलेजली डलहौजी और कर्जन जैसे प्रशासक जिन्होंने भारत में अंग्रेजी साम्राज्य को बढ़ाने के साथ साथ भारत को रेल-तार और डाक जैसे सभ्यतायी उपकरण प्रदान किए, भारत में धर्मनिरपेक्ष ठोस प्रशासन की नींव डाली और विधिवत शासन (Rule of Law) की स्थापना की और तीसरी श्रेणी में आते हैं एडमण्ड बर्क, विलियम जोन्स मेकाले काल्ब्रुक और चार्ल्स विल्किन्स जैसे लोग जिनके सहानुभूतिक प्रयत्नों से भारत में एक ओर उदारवादी परम्पराओं का श्रीगणेश हुआ तो दूसरी ओर भारत की पुनर्खोज (Rediscovery) प्रारम्भ हुई और भारत ने अपने खोए हुए स्वत्व को पुनः प्राप्त करके अपने को पुनः जाग्रत और संस्थापित किया।

इन प्रशासकों के प्रयत्नों का थोड़ा ब्यौरेवार वर्णन वर्तमान भारत की सांस्कृतिक प्रक्रियाओं को समझने में काफी सहायता प्रदान करता है। कार्नवालिस ने ही भारत में उस जमींदार वर्ग को जन्म दिया जिसने पहले अंग्रेजी राज की जड़ें मजबूत बनायीं किन्तु बाद में पूँजीवादिता की ओर मुड़कर अंग्रेजी राज का विरोध किया। वारेन हेस्टिंग्स ने ही यह नीति निर्धारित की थी कि भारत का शासन भारत के धर्मशास्त्रों के अनुसार होगा और इसी उद्देश्य की पूर्ति के लिए उसने पहले धर्मशास्त्रों का अनुवाद फारसी में करवाया और बाद में अंग्रेजी में। इसी नीति का परिणाम था कि पहले भारत के जजों को संस्कृत और फारसी सीखनी पड़ती थी और इसके लिए कलकत्ते में मदरसा और बनारस में संस्कृत कालेज की स्थापना की गयी थी। किन्तु विलियम बेंटिंक के समय में यह पता चला कि धर्मशास्त्रों में किसी भी विषय को लेकर एकमतता नहीं है। अतः मेकाले के प्रयत्नों से भारतीय दण्ड संहिता (Indian Penal Code) का संग्रह करवाया गया। इसी समय से, भारत में, अंग्रेजी को उच्च शिक्षा का माध्यम बनाया गया। विलियम बेंटिंक के समय से सामाजिक

शैली में इमारतें बनवाईं, योरोपीय झाड़ फानूस और खिड़की तथा दरवाजों में लगने वाले शीशों और फर्नीचर (Furniture) को एकत्र किया। पंजाब के राजा रणजीतसिंह ने स्टीमर बनवाने का असफल प्रयत्न किया। भारत में, अंग्रेजी राज की स्थापना के बाद से विशेषतया सन् अठारह सौ अठारह के बाद से, भारतीयों ने योरोपीय विज्ञान, प्रौद्योगिकी और शिक्षा की उत्तरोत्तर माँग की है और वह माँग आज भी जारी है—ओमैले।

विधान (Social Legislation) के द्वारा सामाजिक समस्याओं के निराकरण का सिलसिला प्रारम्भ हुआ। वेल्जली ने बनिया राज के स्थान पर, अंग्रेजी ढंग के प्रशासन को लाने का प्रयास किया। डलहौजी के समय में रेल, तार और डाक का संगठन किया गया। कर्जन पहले प्रशासक थे जिन्होंने भारत के पुरावशेषों की सुरक्षा का प्रबन्ध करके भारतीय इतिहास के सुनियोजित अध्ययन की ओर विद्वानों का ध्यान आकर्षित किया।

यह भारत नहीं आये थे और न वे भारत के प्रशासक ही रहे थे। वे इंगलैंड में उदारवादी राजनैतिक विचारों के प्रणेता थे। इंगलैण्ड की पार्लियामेंट में भारत के अंग्रेज प्रशासकों के भ्रष्टाचार के तीव्र आलोचक थे। यह उन्हीं के विचारों के प्रभावों का परिणाम है कि इंगलैण्ड की पार्लियामेंट ने भारत में, धीरे धीरे, सभ्य सरकार स्थापित करने के प्रयास को अपने अधिकार में लिया। इसी प्रयास का परिणाम है कि धीरे धीरे, भारत में एक संविधान का विकास हुआ। वह भारत के राजनैतिक जीवन में उदार परम्पराओं के जनक हैं। धर्मशास्त्रों में निरूपित विधि प्रणाली के अनुसार शासन कायम करने की जिस नीति का निर्धारण वारेन हेस्टिंग्स ने किया था उसका रचनात्मक प्रतिफलन हुआ विलियम जोन्स, कोल्बुक और चार्ल्स विलियम के कार्यों और कृतियों तथा उनसे उत्पन्न प्रभावशाली परिणामों में। जोन्स कलकत्ता हाईकोर्ट के जज होकर आए थे किन्तु वे वस्तुतः भारत के पुरातत्त्वज्ञ/पुराखोजी सिद्ध हुए। उन्हीं के प्रयत्नों से, सन् सत्रह सौ चौरासी में बंगाल एशियाटिक सोसायटी की स्थापना हुयी जिसमें भारतीय संस्कृति की नृकुलशास्त्रीय (Ethnological) विवेचना प्रारम्भ हुयी। यहीं से इण्डालॉजी (Indology) का विधिवत अध्ययन प्रारम्भ होता है। जोन्स ही पहले व्यक्ति थे जिन्होंने उत्तरी भारत से लेकर आयरलैंड तक फैली हुयी भाषाओं की समान ग्रानुवंशिकता की ओर विद्वत समाज का ध्यान आकर्षित करके, एक ओर, भारतीय संस्कृति की प्राचीनता की ओर ध्यान दिलाया तो, दूसरी ओर, तुलनात्मक भाषा विज्ञान के लिए मार्ग प्रशस्त किया। जोन्स द्वारा किए हुए शकुन्तला के अंग्रेजी अनुवाद का अध्ययन करके ही गेटे ने शकुन्तला पर अपनी प्रसिद्ध कविता लिखी थी। यह जोन्स के ही प्रयत्नों का परिणाम था कि चार्ल्स विल्किन्स ने गीता का अंग्रेजी में अनुवाद किया, सत्रह सौ चौरानवे में मनुस्मृति का अंग्रेजी अनुवाद प्रकाशित हुआ और सन् अठारह सौ पाँच में कोलब्रुक ने वेदों का अंग्रेजी में प्रामाणिक विवरण प्रकाशित किया। मैक्समूलर इन सारे अंग्रेज विद्वानों की बौद्धिक परम्परा के चर्मोत्कर्ष के रूप में आये।

भारत में अंग्रेजों का राज लगभग डेढ़ सौ वर्षों तक रहा। इस राज्य-काल में अंग्रेजों और भारतीयों का पारस्परिक सम्बन्ध, वस्तुतः, नहीं के बराबर रहा। भारत में अंग्रेज शासक, जज, मिशनरी, शिक्षक और व्यापारी के रूप में रहे और जहाँ भी वे रहे उन्होंने अपने सामाजिक जीवन को बनाये रक्खा। मुसलमानों की भाँति वे

भारतीय सामाजिक जीवन के पारस्परिक स्तर पर कभी भी नहीं आये। जिन भारतीयों ने ईसाई धर्म को स्वीकार भी किया वे भी अंग्रेजी मिशनरियों से चर्चों और सभाओं में ही मिलते थे। एंग्लो इंडियनों को अंग्रेजों ने कभी भी अपने सामाजिक जीवन का अंग नहीं माना। इंगलैंड का बौद्धिक प्रभाव भी प्रत्यक्ष न पड़ कर अप्रत्यक्ष रूप में पड़ा। इसीकारण, अंग्रेजों और भारतीयों में पारस्परिक सांस्कृतिक आदान प्रदान बहुत ही कम हुआ। भारत में जो कुछ भी योरोपीय प्रभाव अंग्रेजों के माध्यम से आया वह, भारत में, अंग्रेजी राज को बनाए रखने की आवश्यकताओं की पूर्ति के प्रयास में आया। यही कारण है कि अंग्रेजों के राज्यकाल में भारत का पश्चिमीकरण धीरे-धीरे हुआ। फिर भी अंग्रेजी राज्यकाल में भारत के सामाजिक-सांस्कृतिक जीवन में आधारभूत परिवर्तन हुए। इस्लाम के संघात से भारत के सामाजिक आर्थिक ढांचे में कोई परिवर्तन नहीं आया था और, इसकारण, मुसलमानों के प्रभाव में भारत के धार्मिक तथा दार्शनिक विचारों में अधिकतर परिवर्तन हुए। किन्तु अंग्रेजी राज के माध्यम से भारतीय समाज और संस्कृति पर जो सभ्यताओं का संघात पड़ा उसमें भारत के सामाजिक आर्थिक जीवन में आधारभूत परिवर्तन हुए और उन परिवर्तनों ने समाज और संस्कृति के अन्य अंगों को परिवर्तित किया।

अंग्रेजी राज के माध्यम से भारतीय समाज और संस्कृति पर योरोपीय सभ्यता का जो संघात पड़ा उसके स्वरूप का मूल्यांकन करते हुए गोपालकृष्ण गोखले ने कहा था कि भारत के बाहर के देशों और पश्चिम से जो सम्पर्क स्थापित हुआ है वह केवल ऊपरी सम्पर्क है किन्तु भारत में पश्चिम (The West) का प्रभाव भारत की हड्डियों की मज्जा तक में धस गया है[1]। इसमें कोई सन्देह नहीं कि अंग्रेजी राज के माध्यम से भारत की दशा तथा स्थिर संस्कृति, एक बाह्य तथा प्रगतिशील सभ्यता के संपर्क में आयी। अंग्रेजी राज के ही माध्यम से भारत में पश्चिमी प्रणाली पर विधि और राज्य का संगठन किया गया, अंग्रेजी भाषा के माध्यम से उस शिक्षा प्रणाली का संगठन किया गया जिसके आदर्श और अहार्य (Values) एकदम भिन्न थे। राजनैतिक जीवन की योरोपीय धारणाओं का भारतीय जीवन में प्रवेश हुआ। योरोपीय दर्शन तथा ज्ञान विज्ञान का प्रचार हुआ, यातायात और उत्पादन के नये साधनों से आर्थिक जीवन का एक नया रूपान्तरण हुआ और नये तथा द्रुतगामी संदेशवहन के साधनों से नये विचारों का संचार हुआ और इन सबका सम्मिलित प्रभाव हुआ सामाजिक परिवर्तन की उस गति और दिशा का जन्म जो भारत के लिए एकदम नई थी।

प्रारम्भ से ही अंग्रेज प्रशासक दो मतों के रहे हैं। एक श्रेणी में वे लोग आते हैं जो भारतीय ज्ञान विज्ञान और दर्शन से इतने प्रभावित थे कि वे भारत के

1 ओ मेले इण्डिया एंड दि वेस्ट पृष्ठ 783

की भाषाओं दर्शन, गणित मजहब और प्रजातन्त्र की वास्तविक जननी भारत ही है[1]।

इसप्रकार योरोप की द्विभाजित विचारधारा मे भारत का वास्तविक मूल्यांकन न हो सका। इसकारण भारत के अंग्रेज प्रशासक भी यह निर्णय न कर पाये कि भारत और योरोप का कैसा समन्वय हो। दूसरी ओर, इसका परिणाम यह हुआ कि स्वयं भारत की विचारधारा में योरोप को लेकर द्विभाजिता का समावेश हुआ और परम्परा बनाम आधुनिकता का विवाद चल पड़ा। इसमें कोई शक नहीं कि योरोप का प्रभाव एक झंझावात के समान आया जिसके झकोरों में भारतीय बौद्धिकता वैसे सचेष्ट हुयी जैसे गम्भीर निद्रा में सोया हुआ व्यक्ति सहसा उठ कर और खतरे का अनुभव कर सचेष्ट हो उठता है। भारत ने, अपनी बौद्धिक परम्पराओं में योरोपीय सभ्यता का मूल्यांकन करके, उसे अपने समन्वय मे लाने का प्रयास किया। इसके दो परिणाम हुए—एक ओर भारत ने अपने को ढूँढ निकाला[2] और, दूसरी ओर, योरोप के प्रभाव से उत्पन्न पुनर्जागरण की रोशनी में अपनी संस्कृति को पुनः संस्थापित करने का प्रयास किया। योरोप से आने वाले ईसाइयत के आक्रामक प्रहारों योरोप की निरीश्वरवादिता और उससे उत्पन्न समस्याओं तथा योरोप में छिड़ने वाले दो महायुद्धों की भीषणता को देख कर, भारतीय विचार योरोपीय सभ्यता के प्रति सशंकित हो उठा। पर, साथ ही साथ, योरोपीय सभ्यता के लाभदायक और मानवीय उपादयों का हृदयगम करने का लोभ भी भारत न त्याग सका। जिस प्रकार, भारत को लेकर योरोपीय विचारधारा में द्विभाजिता का समावेश हुआ उसी प्रकार योरोपीय संस्कृति को लेकर भारत में द्विभाजित विचारधारा का जन्म हुआ। इसका परिणाम यह हुआ कि, एक ओर, भारतीय संस्कृति का पुनर्मूल्यांकन शुरू हुआ तो दूसरी ओर, भारतीय संस्कृति में योरोपीय सभ्यता का समावेश करके, उसके पुनर्संस्थापन का प्रयास शुरू हुआ। इसी द्विभाजिता का एक अन्य परिणाम हुआ भारत में कट्टर पुरातन पंथी विचारधारा का अभ्युदय। पश्चिमी सभ्यता के संघात ने, भारतीय संस्कृति को झकझोर दिया, भारत में एक नए बौद्धिक कोलाहल को जन्म दिया और भारतीय समाज तथा संस्कृति सम्बन्धी अनेक बेकरार प्रश्नों को जन्म दिया किन्तु, फिर भी यह संघात भारतीय संस्कृति की परम्परात्मक अभिरुचि को न बदल सका। यह संघात, वस्तुतः, समुद्र की उत्ताल तरंगों के समान रहा है जिसमें भारतीय संस्कृति उस चट्टान के समान सिद्ध हुयी जिससे समुद्र की लहरें टकराती ही रहीं और उसे हिला न सकीं[3]।

---

1 राधाकृष्णन, एस० ईस्ट एण्ड वेस्ट सम रेफलेक्शन्स पृष्ठ 79
2 पाणिक्कर, के० एम० ए सर्वे आफ इण्डियन हिस्ट्री अध्याय 20 और 21
3 व्यास, के० सी० दि सोशल रिनासां इन इण्डिया पृष्ठ 9

ए० आर० देसाई[1] के अनुसार, जिस समय भारत म अंग्रेजी राज की जडें जमनी प्रारम्भ हुयी थी उस समय इङ्गलंड की सामन्तवादी व्यवस्था पजीवादी व्यवस्था मे बदल चुकी थी। वहाँ, एक ओर, मुद्रा, बाजार और मशीनीकृत औद्योगीकरण पर आधारित आर्थिक व्यवस्था तथा दूसरी ओर, इस अर्थव्यवस्था पर आधारित प्रतियोगी (Competitive), व्यक्तिवादी, चलिष्णु (Mobile) और वग बद्ध सामाजिक व्यवस्थायें अस्तित्व मे आ चुकी थी। इङ्गलंड की सामाजिक आर्थिक व्यवस्था के आधार थे धर्मनिरपेक्षिता, प्रतियोगिता (Competition) और उपार्जित सामाजिक प्रतिष्ठा (Achieved Social Status)। इन विशेषताओं के कारण अंग्रेजी सामाजिक आर्थिक व्यवस्था भारत की अपेक्षा कहीं अधिक गत्यात्मक थी। इस गत्यात्मकता का एक अन्य कारण था अंग्रेजी व्यवस्था पर वैज्ञानिक प्रौद्योगिकी का प्रभुत्वमय प्रभाव। भारत की अपेक्षा, इङ्गलंड का प्रौद्योगिक स्तर अधिक विकसित था और पूँजीवादी प्रवाह म पूर्णतया निमज्जित होने के कारण इङ्गलंड की राष्ट्रवादी भावना अधिक स्पष्ट गत्यात्मक और पुष्ट थी।

इसके विपरीत भारत एक खेतिहर देश था। यहा की आर्थिक व्यवस्था उस कृषि पर आधारित थी जिसम उत्पादन का प्रत्यक्ष सम्बन्ध था जीवन निर्वाह से न कि मुनाफा और बाजार से। प्रौद्योगिकी का स्तर इङ्गलंड की अपेक्षा निम्न था। कृषि पर आधारित भारतीय आर्थिक व्यवस्था का सामाजिक पहलू, एक ओर, भारतीय सामन्तवाद म निहित था तो, दूसरी ओर, संयुक्त परिवार, जाति ग्राम सगठन और उन धार्मिक धारणाओं म जो अपरिवर्तनशीलता तथा समष्टिवादिता की प्रेरक थी। भारतीय सामाजिक आर्थिक व्यवस्था समष्टिवादी थी और अभिरोपित सामाजिक प्रतिष्ठा (Ascribed Social Status) पर आधारित थी। भारत का औद्योगीकरण उस प्रौद्योगिकी पर आधारित था जिसम प्राणिक शक्ति (Organic Power) का प्रयोग होता था। औद्योगीकरण सीधे निर्भर था कृषि पर न कि लाभ और बाजार पर। विभिन्न उद्योगो म लगे हुए कारीगर उत्पादन करते थे केवल स्थानीय उपभोग के लिए और यही कारण है कि जाति-व्यवस्था के रूप मे श्रमिकों और कारीगरों को पारिश्रमिक मुद्रा मे न मिल कर धान्य (Kind) के रूप म मिलता था। मुद्रा के स्थान पर बदलौअल का प्राधान्य था। सारी सामाजिक, आर्थिक और राजनैतिक व्यवस्था की धुरी था पृथक्कृत ग्राम (Isolated Village) और, इसकारण, भारत की राष्ट्रवादी भावना इङ्गलंड की अपेक्षा अत्यधिक शिथिल थी। भारत उस समय एक संस्कृति राष्ट्र था न कि राज्य राष्ट्र (Nation State) जो पूँजीवादी व्यवस्था की उत्पत्ति है और संस्कृति निरपेक्ष तथा धर्म निरपेक्ष राष्ट्रवादिता की जननी है। संक्षेप म, भारतीय सामाजिक आर्थिक व्यवस्था अनम्य (Rigid) अगत्यात्मक और मर्यादात्मक थी।

1 देसाई, ए० आर० सोशल बैकग्राउण्ड आफ इण्डियन नेशनलिज्म।

इस प्रकार, भारत मे, अंग्रेजी राज की स्थापना से सभ्यता-संस्कृति संघात की जो गत्यात्मक परिस्थिति उत्पन्न हुई उसमे, वस्तुत, इङ्गलैंड की पूंजीवादी व्यवस्था का भारत की सामंतवादी-व्यवस्था पर संघात पड़ा। इस संघात मे एक ओर थी अपेक्षाकृत कम परिवर्तनशील और स्थायी सामाजिक सांस्कृतिक व्यवस्था और, दूसरी ओर, थी एक व्यापारी, साम्राज्यवादी, गत्यात्मक, चलिष्णु और सैनिक व्यवस्था, एक ओर थी अविकसित तथा मन्द प्रौद्योगिकी और, दूसरी ओर थी एक उत्तरोत्तर विकसित प्रौद्योगिकी। भारतीय व्यवस्था समष्टिवादी, अभिरक्षित, अनाम्य, अप्रतियोगी और धर्मोन्मुख थी जबकि अंग्रेजी व्यवस्था व्यक्तिवादी, प्रतियोगी और धर्मनिरपेक्ष थी। भारतीय व्यवस्था संस्कृतिमूलक, रहस्यवादी और आध्यात्मिक थी जबकि अंग्रेजी व्यवस्था सभ्यतामूलक, पार्थिव इहलौकिक और नितान्त प्रौद्योगिक थी। दोनों व्यवस्थायें अलग अलग ऐतिहासिक परिस्थितियों की उपज थी। अंग्रेजी व्यवस्था उपज थी वैज्ञानिक प्रौद्योगिकी और पूंजीवाद की—वह पूंजीवाद जो वैज्ञानिक प्रौद्योगिकी के प्रभावों के कारण, इङ्गलैंड के सामंतवाद का एक सामाजिक आर्थिक रूपान्तरण था और जिसकी आधारभूत आवश्यकतायें थी व्यक्तिवाद, राष्ट्रवादिता और साम्राज्यवाद। भारत मे, अंग्रेजी राज की स्थापना इसी पूंजीवाद की एक आवश्यकता मात्र थी और इसीकारण, अंग्रेजी राज के माध्यम से, भारत मे वही परिवर्तन हुए जो अंग्रेजी पूंजीवाद के अस्तित्व के लिए आवश्यक थे।

अंग्रेजी राज की स्थापना के बाद भारत मे, सभ्यता संस्कृति संघात की परिस्थिति से उत्पन्न परिवर्तनो का निर्वचन मुख्यतया तीन दृष्टिकोणो से किया गया है। एक वह दृष्टिकोण है जो मार्क्सवाद पर नही बल्कि मार्क्सवादी अध्ययन रीति पर आधारित है। इस दृष्टिकोण से, आधुनिक भारत के सामाजिक सांस्कृतिक परिवर्तनो को आर्थिक सामाजिक-परिवर्तन श्रृंखला के एक सिलसिले मे आंकने का प्रयत्न किया गया है। इस दृष्टिकोण को मानने वाले यह मान्यता लेकर चले हैं कि भारत के सांस्कृतिक इतिहास मे अंग्रेजी राज का काल वह काल है जब भारत की आर्थिक व्यवस्था मे आधारभूत परिवर्तन हुए और आर्थिक परिवर्तनो ने सामाजिक सांस्कृतिक परिवर्तनो का जन्म दिया। इस मान्यता के मानने वालो के मत मे अंग्रेजो के अधीन भारत का इतिहास वस्तुतः, एक सामंतवादी व्यवस्था का धीरे धीरे एक अपूर्ण पूंजीवादी व्यवस्था मे परिणत होने का इतिहास है[1]।

दूसरा दृष्टिकोण उन अध्ययन-कर्ताओं का है जिनके अध्ययन भारत के आविष्कार (Discovery of India) या भारतीय संस्कृति की एक महान समुत्थान

1 विशेष अध्ययन के लिए देखिये सबधी ए० आर० देसाई कृत सोशल बैकग्राउण्ड आफ इण्डियन नेशनलिज्म, नज्मुल करीम कृत चेंजिंग सोसायटी आफ इण्डिया एण्ड पाकिस्तान, डी०पी० मुकर्जी कृत, माडर्न इण्डियन कल्चर, और एच०डी० मालविया कृत, विलेज पचायत।

(A Great Recovery) की भावना से ओत प्रोत है। यह दृष्टिकोण इस मान्यता पर आधारित है कि अंग्रेजी राज के माध्यम से पड़ने वाले संघात के प्रभाव से, भारत तथा भारतीय संस्कृति ने, वस्तुत, अपने को पुन ढूंढ निकाला है। इसी को नेहरू ने 'भारत का आविष्कार' कहा है और पानिक्कर ने एक महान समुत्थान। पानिक्कर के अनुसार, अंग्रेजी राज का काल ही वह काल है जब भारत की प्राचीन नौकरशाही की परम्पराओं के आधार पर, एक नयी प्रशासन-व्यवस्था कायम की गयी, जब यातायात के साधनों के विकास के कारण भारत का सर्वांगीण एकीकरण हुआ, जब भारत में राष्ट्रीयता का विकास हुआ तथा हिंदुत्व संस्कृत भाषा के अध्ययन और भारतीय कला का पुनरुन्नयन हुआ, जब भारत के प्राचीन इतिहास के नवनिर्वचन के प्रयत्न प्रारम्भ हुए और इतिहास के गर्त में से अशोक तथा बुद्धवाद को निकाल कर संसार के समक्ष रक्खा गया और जब इन सभी विकासों के सम्मिलित प्रभाव के कारण, धीरे धीरे भारत में एक सामूहिक गर्व की चेतना जगी[1]। यही विकास पानिक्कर के अनुसार, वह महान समुत्थान है जिससे आधुनिक भारत का सांस्कृतिक इतिहास ओत प्रोत है।

जिस प्रकार इस्लामी सभ्यता के संघात से भारत के सामाजिक विचार में कोलाहल हुआ था और उससे सामाजिक नवजागृति (Social Renaissance) का सिलसिला प्रारम्भ हुआ था—वह सिलसिला जिसने शंकर रामानुज, रामानंद, कबीर तुलसी और रामदास को उत्पन्न किया था और भारत में उन सुधारवादी पंथों को जन्म दिया था जिनकी परम्परा वर्तमान समय तक आता है—उसी प्रकार पश्चिमी सभ्यता के संघात ने भी एक बार फिर एक नए बौद्धिक कोलाहल को जन्म दिया। इसी बौद्धिक कोलाहल से एक नयी सामाजिक नवजागृति उत्पन्न हुयी जिसने अनेक सुधारवादी आन्दोलनों को जन्म दिया। यह समाजसुधारवादी सामाजिक नवजागृति वस्तुत, भारतीय सामाजिक विचार का गत्यात्मक विकास है। अत, अध्ययन का एक तीसरा दृष्टिकोण है आधुनिक भारत के सामाजिक विचार का गत्यात्मक निर्वचन। यह अध्ययन रीति दर्शन की परम्परा में है और इसके अग्रणी हैं राधाकृष्णन।

इसप्रकार जैसा कि पिछले संक्षिप्त, परिचयात्मक सर्वेक्षण से स्पष्ट है भारतीय संस्कृति पर पश्चिमी सभ्यता के संघात को विद्वानों ने कई पहलुओं से देखा है। एक सर्वांगीण विवेचन के लिए दो बातों की आवश्यकता है। एक ओर, इस बात की आवश्यकता है कि पहले पश्चिमी सभ्यता के संघात के विभिन्न पहलुओं और उनसे उत्पन्न होने वाले संस्थायिक रूपान्तरणों का और, फिर, इस संघात से उत्पन्न होने वाली सामाजिक नव जागृति तथा सामाजिक विचार का विवेचन किया जाय। संस्थाओं में परिवर्तन, सुधार की आवश्यकता और सुधारवादी आन्दोलन एक दूसरे से सम्बन्धित हैं। अत, अगला वर्णन दो भागों में विभाजित है—एक संस्थाओं में परिवर्तन और दूसरा सामाजिक नवजागृति का आन्दोलन।

1 देखिये जवाहरलाल नेहरू द्वारा रचित डिस्कवरी आफ इण्डिया और के० एम० पानिक्कर कृत ए० सर्वे आफ इण्डियन हिस्ट्री।

सत्रहवां अध्याय

सामाजिक-सांस्कृतिक रूपान्तरण

आर्थिक व्यवस्था

जसा कि पहले कहा जा चुका है योरोपीय सभ्यता का सबसे बडा और आधारभूत परिवर्तनकारी प्रभाव पडा भारत की परम्परागत आर्थिक व्यवस्था पर। इस्लाम के संघात से भारत की आर्थिक व्यवस्था में कोई आधारभूत परिवर्तन नही आया था। मुस्लिम विजेता भारत के सामाजिक आर्थिक जीवन का एक अंग बन कर रह और उन्होने यहाँ की परम्परागत आर्थिक-व्यवस्था को ही अपना लिया था। लेकिन भारत में अंग्रेजी राज की स्थापना ने एक नयी परिस्थिति को जन्म दिया। यह वह परिस्थिति थी जिसमें भारत में स्थापित अंग्रेजी राज्य इंगलैण्ड की बढती हुयी पूंजीवादी व्यवस्था का एक आधारमात्र था। यही कारण है कि अंग्रेजी राज के संघात से एक ओर, पूंजीवादी व्यवस्था का भारत में श्रीगणेश और शनैः शनैः विकास हुआ तो दूसरी ओर पूंजीवाद की आवश्यकताओं को पूरा करने के लिये इंगलैण्ड के पूंजीवादी वर्ग ने भारत के प्राचीन सामन्तवादी वर्ग को नष्ट करके, एक नये सामन्तवादी वर्ग को जन्म दिया। ए० आर० देसाई के अनुसार, अंग्रेजो के राज्य काल में भारत का इतिहास वस्तुतः, यहां की सामन्तवादी व्यवस्था के एक अपूर्ण पूंजीवादी व्यवस्था

म बदलने का इतिहास है। किन्तु वास्तविकता कुछ और है। अंग्रेजी राज्य-काल म भारत म अंग्रेजी पूंजीवाद सदैव यहा क सामन्तवादी वग का ही स्थायी रखने की ओर उन्मुख रहा जबकि भारत का पूंजीवादी वग जो स्वय योरोपीय सघात की उपज था एक ओर भारतीय सामन्तवग का मिटाने की ओर उन्मुख हुआ ता, दूसरी ओर अंग्रेजी पूंजीवाद क विरुद्ध सघषरत रहा। काग्रेस क नतत्व म चलने वाला स्वतन्त्रता सग्राम इसका मिलन वाली आर्थिक सहायता क स्रोत और स्वदेशी आन्दोलन इस तथ्य क प्रमाण है। आज भारतीय पूंजीवादी अपने पुराने प्रतिद्वन्द्वी अंग्रेजी अमरीकी पूंजीवाद स पुन आश्रय पाने क लिय उत्सुक है क्योंकि आज उसका ही स्वत्व खतरे म है।

भारत की इस सामाजिक आर्थिक गत्यात्मकता का समझने क लिय भारत की परम्परागत आर्थिक व्यवस्था म होने वाले उन परिवतनो क समझने की आवश्यकता है जो अंग्रेजी राज क माध्यम स प्रत्यक्ष या अप्रत्यक्ष रूप से घटित हुये। भारत की परम्परागत आर्थिक व्यवस्था क मख्य आधार थ कृषि की प्रधानता, तत्कालीन कृषि प्रौद्योगिकी कृषि पर आधारित औद्योगीकरण और इन सबम सम्बन्धित तथा इनको स्थायित्व प्रदान करने वाली सामाजिक व्यवस्था। योरोप स सम्पर्क स्थापित होने पर पहले भारत क उद्योगो को प्रोत्साहन मिला क्योंकि योरोपीय सम्पर्क की प्रथम अवस्था म भारत विदेशी व्यापारियो का एक बड़ा बाजार हो गया। विदेशी व्यापारी भारत की बनी वस्तुओं को खरीदते थे और विदेशो स लायी हुयी वस्तुओ का यहा बेचते थे। इसी बाजार न भारत क उस मध्यम वग का जन्म दिया जिसके अस्तित्व का मख्य आधार था विदेशी व्यापार और योरोप म पनपने वाला पूंजीवाद।

भारत म अंग्रेजी राज की स्थापना होने क साथ साथ एक ओर भारत क बाजार म भारतीय माल की बिक्री कम होनी प्रारम्भ हुयी क्योंकि मशीनो का बना माल भारत क बने माल की अपेक्षा सस्ता पड़ता था और दूसरी ओर विदेशी माल की खपत बढ़ने लगी। यही वह स्थिति थी जिसको अंग्रेजी पूंजीवाद न बनाय रखने का प्रयत्न किया। इसके लिये अंग्रेजी राज को माध्यम बनाया गया और उसके द्वारा भारत की परम्परागत आर्थिक व्यवस्था म केवल वही परिवतन किये गये जो आवश्यक थ। अंग्रेजी राज म भारत की सामन्तवादी व्यवस्था भाई पूणतया पूंजीवादी व्यवस्था म नही बदली। भारत म पूंजीवाद की वह अवस्था ही नही आ सकी जो अठारहवी और उन्नीसवी शताब्दी क इंग्लैण्ड और योरोप म थी। वतमान भारत की आर्थिक व्यवस्था की गत्यात्मकता पूंजीवाद को छोड़कर समाजवाद की ओर प्रवाहित हो रही है? यह योरोप क सघात का ही प्रभाव है कि वतमान भारत पूंजीवाद तथा समाजवाद के झगड़ा म है। इन झगड़ो में उलझा हुआ भारत पूंजीवाद तथा समाजवाद का वसा ही समन्वय करने म प्रयत्नशील है जैसा कि उसने

इस्लाम और हिन्दुत्व का तथा आर्य और द्राविड़ का समन्वय किया है[1]।

इंगलैण्ड की आर्थिक व्यवस्था औद्योगीकृत पूंजीवादी व्यवस्था थी और इस कारण उसका प्रत्यक्ष प्रभाव भारत की कृषि व्यवस्था पर पड़ा। योरोप से सम्पर्क स्थापित होते ही, भारतीय कृषि व्यवस्था का आर्थिक सम्बन्ध आधुनिक मशीनीकृत और पूंजीवादी औद्योगीकरण से हो गया था क्योंकि योरोप के लोगों ने भारत में उन्हीं वस्तुओं को अधिकतर खरीदा या प्राप्त करने पर जोर दिया जिनका उपयोग कच्चे माल की तरह विभिन्न उद्योगों में हो सकता था। पहले योरोप के लोगों की दिलचस्पी भारत में बनी उपभोग की वस्तुओं में थी किन्तु जब योरोप में मशीनीकरण बढ़ा तो उनकी दिलचस्पी उपभोग की वस्तुओं में न रह कर कच्चे माल में अधिक हो गयी। अंग्रेजी राज के स्थापित होते ही, यह दिलचस्पी और भी बढ़ गयी। अतः भारत के किसानों ने उन्हीं वस्तुओं का उत्पादन करना प्रारम्भ किया जिनकी विभिन्न उद्योगों में आवश्यकता थी और जिनसे फौरन ही नकद रुपया मिल सकता था। पहले किसान अपनी भूमि से अपने लिए आवश्यक वस्तुओं का पैदा करता था और कृषि उसके लिये जीवन निर्वाह का एक साधनमात्र थी। किन्तु योरोप से सम्पर्क स्थापित होने पर भारतीय किसानों ने कपास, गन्ना, तिलहन, जूट और तम्बाकू इसलिये बोना शुरू किया कि उनकी बाजार में मांग थी और उनसे ज्यादा लाभ होता था। फलतः भारतीय कृषि में नकद फसलों (Cash Crops) का समावेश हुआ। भारत के जिन क्षेत्रों में जिस वस्तु के उत्पादन के अनुकूल साधन थे उन भागों में उसी वस्तु का उत्पादन बढ़ा और उसी उद्योग को प्रोत्साहन मिला। बंगाल में जूट की खेती बढ़ी, उत्तर प्रदेश और बिहार में गन्ने की, पंजाब और सिन्ध प्रान्त व दक्षिण में कपास की और आन्ध्र प्रदेश तथा मद्रास में तम्बाकू की। यही नहीं भारत के विभिन्न भौगोलिक क्षेत्रों में अलग अलग अनाजों की किस्मों का उत्पादन होने लगा। इसप्रकार, कृषि में एक ओर, विशेषीकरण (Specialization) बढ़ा तो दूसरी ओर कृषि का

---

1 योरोप के प्रभाव से भारत में जो सामाजिक नवजागृति फैली उसकी विचारधारा समाजवादी रही है। स्वतन्त्र भारत का आदर्श समाजवादी समाज की स्थापना है—वह समाज जिसमें राज्य जनकल्याण का मुख्य माध्यम है किन्तु उसे अधिनायकतन्त्र नहीं बनाना है। उत्पादन के साधनों पर समाज का अधिकार होगा किन्तु वहां तक जहां तक ऐतिहासिक परिस्थिति की आवश्यकता है। समाजवादी समाज वैयक्तिक सम्पत्तिक अधिकारों तथा मिल्कियत और सामूहिक मिल्कियत का समन्वय है जो न योरोप के पूंजीवादी आदर्शों से ही प्रभावित है और न साम्यवादी आदर्शों से ही। समाजवादी समाज पूंजीवाद और साम्यवाद का समन्वय है—देखिये पंचवर्षीय योजनाओं की भूमिकाएं।

व्यापारीकरण (Commercialization)

भारतीय कृषि का उत्तरोत्तर विशेषीकरण और व्यापारीकरण उस सम्पर्क की परिस्थिति का परिणाम है जिसमें धीरे धीरे, उसका सम्बन्ध अन्तर्राष्ट्रीय बाजार और औद्योगीकरण से स्थापित हुआ। यह इसी प्रक्रिया का परिणाम है कि भारत में, अंग्रेजी राज की स्थापना होते होते भारतीय किसान का अन्तर्राष्ट्रीय आर्थिक-सम्बन्ध स्थापित हुआ। इसी प्रक्रिया का एक अन्य परिणाम यह हुआ कि अन्तर्राष्ट्रीय बाजार के उतार चढ़ावों का प्रत्यक्ष प्रभाव भारतीय किसान की आर्थिक परिस्थिति पर पड़ने लगा। अंग्रेजों के पहले की आर्थिक व्यवस्था में भारतीय किसान का सम्बन्ध केवल अपने गांव और उस क्षेत्र तक सीमित था जहां से उसके जीवन की आवश्यकताओं की पूर्ति होती थी। किन्तु, अंग्रेजी राज में भारतीय कृषि और किसान को राष्ट्र और संसार के संघात में ला दिया। यह इसी प्रभाव का परिणाम है कि वर्तमान भारत में कृषि और किसान की समस्यायें राष्ट्रीय महत्त्व की हैं।

भारत की भूमि व्यवस्था में परिवर्तन एक अन्य महत्वपूर्ण परिवर्तन है। अंग्रेजों के पहले की भूमि-व्यवस्था में भू-स्वामित्व व्यक्तिगत भी था और सामूहिक भी। प्रत्येक परिवार की अपनी भूमि होती थी और परिवार के विभाजित होने पर, परम्परागत उत्तराधिकार के नियमों के अनुसार भूमि का बटवारा भी होता था। किन्तु चूंकि उस काल में भूमि ही जीवन निर्वाह का प्रधान साधन थी, भूमि विभाजन की प्रवृत्ति भी अपेक्षाकृत कम था। गांव के जंगलों और चरागाहों पर गांव का सम्मिलित अधिकार रहता था और वह अधिकार गांव पंचायत में निहित रहता था। राजस्व नकद धन में न लेकर धान्य के रूप में पैदावार के उस अंश में लिया जाता था जो राज्य समय समय पर निर्धारित करता था। राजस्व पैदावार के अनुपात में लिया जाता था। पैदावार के घटने बढ़ने के साथ साथ किसान का राजस्व भी घटता-बढ़ता रहता था। राज्य को राजस्व देने का प्रत्यक्ष उत्तरदायित्व गांव-पंचायत पर था न कि किसान पर। किसान राज्य के प्रति उत्तरदायी था पर केवल अप्रत्यक्ष रूप में।

अंग्रेजी राज में यह स्थिति बदल गयी। पैदावार पर निर्भर राजस्व परिवर्तनशील है क्योंकि वह पैदावार की मात्रा के साथ घटता बढ़ता रहता है। भारत में एक व्यापारी कम्पनी द्वारा स्थापित राज्य के संचालकों के लिये राजस्व की अनिश्चितता को दूर करने का प्रयत्न स्वाभाविक ही था। कम्पनी राज का प्रथम आर्थिक काम लगान वसूल करने के प्रशासन को आसान बनाना और भी स्वाभाविक था। दूसरी ओर जिस सामन्त तथा नव विकसित मध्यम वर्ग के आधार पर कम्पनी ने राज्य कायम किया था, उसको भी प्रोत्साहन देने की आवश्यकता थी ताकि अंग्रेजी राज के समर्थकों का एक वर्ग कायम किया जा सके। इसके अलावा अंग्रेजों की आर्थिक तथा न्यायिक पद्धति की धारणायें भारत की परम्परागत धारणाओं से भिन्न

थी। इन सबका सम्मिलित परिणाम हुआ भूमि व्यवस्था सम्बन्धी वे सुधार जिनका प्रारम्भ सन सत्रह सौ तिरानवे में लार्ड कार्नवालिस के द्वारा सम्पन्न हुआ। *लार्ड कार्नवालिस ने ही सबसे पहले स्थायी बन्दोबस्त करके, एक ओर, सम्मिलित भू-स्वामित्व के स्थान पर व्यक्तिगत भू स्वामित्व स्थापित किया* लगान की दर नक्द रुपया में निश्चित की और जमींदारों को लगान वसूल करने का ठेका दिया। जहां जहां रयतवारी प्रथा लागू की गयी वहां वहां भी लगान की दर निश्चित की गयी। समय समय पर भूमि का बन्दोबस्त करके लगान की दर को घटाने बढ़ाने का अधिकार सरकार ने अपने हाथ में रखा।

इस व्यवस्था के कई सामाजिक आर्थिक परिणाम हुए। व्यक्तिगत भूस्वामित्व *के कानूनी सिद्धान्त को मान लेने से परिवार तथा भूमि विभाजन अधिक बढ़ गया।* बढ़ते हुये औद्योगीकरण, नयी औद्योगिक पेशा संरचना (New Industrial Occupational Structure), नगरीकरण और यातायात के साधनों ने व्यक्तिवाद को प्रोत्साहित किया और उसने वैयक्तिक भू स्वामित्व की प्रवृत्ति को। इसका परिणाम हुआ भूमि का छोटे छोटे, अलाभ टुकड़ों में बटना। दूसरा परिणाम यह हुआ कि भू स्वामित्व और कृषि-कार्य अलग अलग हो गये और कृषक तथा भू स्वामी अलग अलग व्यक्ति हो गये। इसी विभाजन से भारतीय समाज में जमींदार और *ताल्लुकेदार नामक एक विशिष्ट सामन्तवर्ग की उत्पत्ति हुयी—यह वर्ग था, वास्तव में* भू स्वामी नहीं था किन्तु जिसे लगान वसूल करने का अधिकार प्राप्त था। भारतीय विद्वानों के दृष्टिकोण से यह वर्ग अंग्रेजों की कृति था किन्तु अंग्रेज विद्वानों के मत में यह वर्ग अंग्रेजों के पहले से चला आ रहा था और भारतीय सामाजिक आर्थिक व्यवस्था का पहले ही से एक अंग था[1]। किन्तु वास्तविकता यह है कि यह वर्ग *अंग्रेजों की ही कृति था यद्यपि यह भारतीय परम्परा पर आधारित था।* मुगलों के समय में जागीरदारी प्रथा थी और जागीरदारों को बादशाह की ओर से लगान वसूल करने का उत्तरदायित्व मिला रहता था। इसी परम्परा का अनुसरण करते हुये अंग्रेजों ने भी जमींदारों को लगान वसूल करने का ठेका सौंपा था। किन्तु, यदि अन्तर था तो केवल एक। जागीरदारी प्रथा में भूमि पर गांव का सम्मिलित स्वामित्व रहता था जबकि जमींदारी प्रथा में भूमि पर न तो गांव का सम्मिलित स्वामित्व रहा और न कृषक का। जिस प्रकार सरकार जमींदार को एक निश्चित *रकम के आधार पर लगान वसूल करने का ठेका देती थी उसी प्रकार जमींदार* किसान को भूमि का एक निश्चित रकबा एक निश्चित लगान की दर पर एक निश्चित अवधि के लिये देता था। परती भूमि, चरागाह, बागों, तालाबों और जगलों पर जमींदार का अधिकार रहता था न कि गाँव का। इसप्रकार, जमींदारों का

1 *ओ मेले इण्डिया एण्ड दि वेस्ट*

वर्ग वस्तुतः उन ठेकेदारों का वर्ग था जो सरकार को एक निश्चित वार्षिक रकम लगान के रूप में देने के उत्तरदायी थे। उनके जीवन निर्वाह का आधार था वह जमीन जो वह कृषक से लेते थे और जिसके लिये सरकार की ओर से उन्हें कानूनी अधिकार मिला हुआ था। इस प्रथा में कृषक और भूमि का सम्बन्ध विच्छिन्न हो गया क्योंकि कोई भी कृषक किसी समय अपनी भूमि से वंचित किया जा सकता था। साथ ही साथ इस प्रथा से गांव का सामूहिक जीवन भी समाप्त हो गया क्योंकि भूमि और लगान के लिये, गांव पंचायत के स्थान पर किसान उत्तरदायी हो गया जमींदार और सरकारी अफसरों के प्रति।

इसमें कोई शक नहीं कि अंग्रेजी राज में सिंचाई के साधनों तथा कृषि के प्राचीन तरीकों का सुधार करके, कृषि को अधिक लाभकारी बनाने का प्रयास किया गया। किन्तु साथ ही साथ यह भी सही है कि जितनी सुविधायें सरकार ने अर्पित कीं उनके लिये सरकार ने किसान से एक निश्चित रकम भी ली। इसका परिणाम यह हुआ कि कृषि पर नकद खर्च बढ़ता गया। लगान और सिंचाई की वार्षिक रकम किसान को देना आवश्यक हो गया और इन रकमों का पैदावार की मात्रा से कोई सम्बन्ध न था। उदाहरण के लिये यदि एक खेत में दस मन पैदा हो या एक मन लगान और सिंचाई की रकम उतनी ही लगेगी जितनी कि वे पहले से निश्चित हैं। इसका परिणाम यह हुआ कि फसल तैयार होते ही उसे बेचना किसान के लिये आवश्यक हो गया क्योंकि बिना फसल बेचे किसान के लिये लगान चुकाना सम्भव न था। इस कारण, भारत की सामाजिक आर्थिक व्यवस्था में मध्यजनों (Middlemen) के रूप में उस वर्ग का अभ्युदय हुआ जो तैयार होते ही फसल खरीद लें। किसान के लिये इसका मतलब हुआ फसल को सस्ती बेचना क्योंकि फसल तैयार होते ही बाजार में माल की अधिकता से भाव गिर जाता है।

दूसरी ओर बढ़ते हुये औद्योगीकरण के प्रभाव के कारण किसान अन्न के अलावा दूसरी दैनिक जीवन की अन्य वस्तुओं के लिये बाजार और उन उद्योगों पर निर्भर होता गया जिनकी गति विधि पर उसका नियन्त्रण न था। जमींदारी प्रथा के कारण किसान की आर्थिक स्थिति अनिश्चित हुयी क्योंकि भूमि उसके हाथ से कभी ली जा सकती थी। उद्योग धंधों के ह्रास के कारण भूमि पर जनसंख्या का दबाव भी साथ ही साथ बढ़ा। इन सभी कारणों का सम्मिलित प्रभाव हुआ किसान की बढ़ती हुयी गरीबी और भूमि के लिये एक तीव्रतम प्रतियोगिता। किसान की बढ़ती हुयी गरीबी के ही कारण भारत की सामाजिक आर्थिक व्यवस्था में अत्यधिक बदनाम महाजन वर्ग का अभ्युदय हुआ। बढ़ती हुयी गरीबी के कारण किसान को उधार लेने की आवश्यकता हुयी और उसे उधार मिला महाजनों से। यूरोप से सम्पर्क स्थापित होने पर अंग्रेजी राज के माध्यम से जिस सामाजिक-आर्थिक व्यवस्था का अभ्युदय हुआ उसमें महाजन और मध्यजन, वस्तुतः एक दूसरे के पूरक होकर, एक

ऐसा मध्यम वर्ग बन गये जिनका सामाजिक आर्थिक अस्तित्व ब्याज मुनाफा और कमीशन पर निर्भर है। योरोप के सम्पर्क से कृषि का ही नहीं वरन् सामाजिक व्यवस्था का ही व्यापारीकरण हो गया।

योरोप के सम्पर्क से, भारत की परम्परागत औद्योगिक व्यवस्था का, एक ओर, ह्रास हुआ और दूसरी ओर, एक नयी औद्योगिक व्यवस्था का अभ्युदय हुआ। योरोपीय पूँजीवादी व्यवस्था के पहले की भारतीय औद्योगिक व्यवस्था एक ओर, भारत की कृषि व्यवस्था पर आधारित थी और, दूसरी ओर भारत की सामाजिक संरचना पर। कृषक का पेशा प्रधान पेशा था और सभी जातियों के सदस्य खेती को बतौर पेशे के अपना सकते थे। फिर भी, भारत की संरचना में शिल्पी जातियों (Artisan Castes) के रूप में विशेषीकृत अन्तर्विवाही समूह (Specialized Endogamous Groups) भी थे जो भारत के विभिन्न उद्योग धन्धों में लगे हुये थे और खेती जिनके लिये प्रधान नहीं बल्कि गौण पेशा था। इस प्रकार, भारत की संरचना यद्यपि कृषि व्यवस्था पर आधारित थी, फिर भी, उच्च जातियों के लोग कृषक नहीं थे। ये वस्तुतः सामन्त वर्ग के थे और खेती नहीं करते थे वरन् खेती से मिलने वाली आय पर निर्भर थे। जाति संरचना की मध्यम श्रेणी में कुछ जातियाँ उस श्रेणी की थीं जिन्हें शुद्ध जातियाँ (Clean Castes) कहा गया है और जिनके सदस्य कृषक का ही काम करते थे। इसी श्रेणी में, लोहार, सोनार, कुम्हार, बढ़ई, नाई इत्यादि ऐसी जातियाँ भी थीं जिनके सदस्य कारीगर भी थे और कृषक भी। किन्तु वे कारीगर पहले थे और कृषक बाद में। निम्न स्तर की जातियों में वे जातियाँ थीं जिनके सदस्य अपवित्र कहे जाने वाले पेशों को करते थे और साथ ही साथ खेतिहर मजदूर का काम भी करते थे। इसप्रकार भारत के उद्योग धन्धे कृषि व्यवस्था से सम्बन्धित थे और उत्पादन की सीमा कृषि और कृषक की सामाजिक आर्थिक आवश्यकताओं तक ही सीमित थी। ये कारीगर उन्हीं वस्तुओं का उत्पादन करते थे जिनकी खपत उस क्षेत्र में हो जाती थी जिसके कि वे निवासी थे।

इस संरचनात्मक सामाजिक आर्थिक व्यवस्था का आधार थी यजमानी प्रथा जो परम्परागत विधि प्रणाली द्वारा मान्य थी। प्रत्येक गाँव में या कई गाँवों को मिलाकर, एक कारीगर परिवार को कुछ परिवारों की सेवा करने का अधिकार प्राप्त था। दूसरे शब्दों में प्रत्येक कारीगर को कुछ यजमान परम्परा से मिलते रहते थे और कारीगर का महत्व, आर्थिक होने के साथ साथ सामाजिक भी था। जैसा कि वर्तमान गाँव व्यवस्था में आज भी होता है जन्म विवाह और मृत्यु तथा धार्मिक उत्सवों के अवसरों पर, इन कारीगर जातियों का कर्मकाण्डी (Ritualistic) महत्व भी था। ऐसी दशा में उद्योगों का उत्पादन वहीं तक सीमित था जहाँ तक उनकी स्थानीय खपत थी। इन कारीगर जातियों के सदस्यों द्वारा अधिकतर उत्पादन स्थानीय खपत के ही लिये होता था। पारिश्रमिक वर्ष में दो बार फसल के

रूप में ही दिया जाता था और वह भी परम्परा से निर्धारित था। इस प्रथा के अवशेष आज भी ग्रामीण समाज में पाये जाते हैं।

मुसलमानों के राज्यकाल में भारत का व्यापार बढ़ने के साथ साथ, भारत का औद्योगीकरण भी बढ़ा और उसके फलस्वरूप व्यापारी शहरों में वे व्यापारी मण्डियां भी अस्तित्व में आई जिनमें उस अतिरिक्त माल की खपत होती थी जो कारीगर जातियां के सदस्य अपने अतिरिक्त समय में स्थानीय खपत के अतिरिक्त बनाते थे। भारत के आर्थिक संगठन में धार्मिक मेले साप्ताहिक पैंठ और व्यापारी मण्डियां ऐसे ही अतिरिक्त माल के आदान प्रदान के साधन रहे हैं और आज भी है। हर धार्मिक मेले का एक व्यापारी पक्ष भी है जो यातायात के साधनों के विकास के साथ साथ और भी विस्तृत हुआ है। मुसलमानों के राज्यकाल में बढ़ते हुये औद्योगीकरण के कारण, भारत के विभिन्न भागों में औद्योगिक क्षेत्र भी अस्तित्व में आ गये थे जहां निश्चय ही उत्पादन बाजार के लिये होता था। मलमल के लिये प्रसिद्ध ढाका एक ऐसा ही केन्द्र था। किन्तु इस औद्योगिक व्यवस्था में कारीगर का घर ही कारखाना था और कारीगर स्वयं अपना मालिक भी था। वह पूंजीपति भी था और मजदूर भी।

योरोप के सम्पर्क से यह व्यवस्था उस समय में बदलनी प्रारम्भ हुयी जबकि योरोप में प्राकृतिक शक्तियों से चलने वाली मशीनों का आविष्कार हुआ और मुनाफे के लिये बड़े पैमाने पर कारखानों का संगठन हुआ जिसका परिणाम हुआ अपेक्षाकृत अधिक सस्ता उपभोक्ता वस्तुओं का उत्पादन। बड़े पैमाने पर उत्पादन का परिणाम हुआ योरोप के विश्व बाजार का प्रसरण जो अंग्रेजी राज के माध्यम से भारत तक आ पहुंचा। सस्ती उपभोक्ता वस्तुओं की मांग बढ़ी जिसके परिणाम स्वरूप भारत के परम्परागत औद्योगीकरण का ह्रास होना प्रारम्भ हुआ। कृषि तथा उपभोक्ता वस्तुओं के व्यापारीकरण का स्वाभाविक परिणाम हुआ परम्परागत यजमानी प्रथा के आधार का हिलना। योरोप के सम्पर्क में और अंग्रेजी राज के माध्यम से फैलने वाला व्यापारीकरण मुद्रायी अर्थव्यवस्था (Monetary Economy) पर आधारित था। अतः आर्थिक आदान प्रदान (Exchange) में मुद्रा का महत्व पहले का अपेक्षा और भी बढ़ गया। किसान की भांति, कारीगर भी जीवन निर्वाह की वस्तुओं के लिये मुद्रा और बाजार पर निर्भर हो गये। इस परिस्थिति का परिणाम यह हुआ कि एक ओर कारीगरों के उद्योग धन्धों का उत्तरोत्तर ह्रास हुआ उनकी गरीबी बढ़ी व कृषि पर ही निर्भर होने गये, जिससे कृषि पर जनसंख्या का दबाव बढ़ा और, दूसरी ओर, धान्य के स्थान पर, वे मुद्रा के रूप में पारिश्रमिक लेने के लिए बाध्य हुये। वर्तमान भारत की ग्रामीण सामाजिक आर्थिक व्यवस्था में धान्य के स्थान पर मुद्रा के रूप में पारिश्रमिक लेने की प्रवृत्ति बढ़ रही है। भारत की परम्परागत सामाजिक आर्थिक व्यवस्था का कारीगरवर्ग यातो भृत्ति कमाने वाला (Wage Earner) कुशल कारीगर हो गया या छोटे पैमाने का मध्यमवर्गीय व्यापारी।

ऐसा मध्यम वग बन गये जिसका सामाजिक आर्थिक अस्तित्व ब्याज मुनाफा और जमीन पर निर्भर है। योरोप के सम्पात से कृषि का ही नहीं बल्कि सामाजिक व्यवस्था का ही व्यापारीकरण हो गया।

योरोप के सम्पात से भारत की परम्परागत औद्योगिक व्यवस्था का, एक ओर, ह्रास हुआ और दूसरी ओर, एक नयी औद्योगिक व्यवस्था का अभ्युदय हुआ। योरोपीय पूंजीवादी व्यवस्था के पहले की भारतीय औद्योगिक व्यवस्था, एक ओर, भारत की कृषि व्यवस्था पर आधारित थी और दूसरी ओर भारत की सामाजिक सरचना पर। कृषक का पेशा प्रधान पेशा था और सभी जातियों के सदस्य खेती को बतौर पेशे के अपना सकते थे। फिर भी भारत की सरचना में शिल्पी जातियो (Artisan Caste) के रूप में विशेषीकृत अन्तर्विवाही समूह (Specialized Endogamous Groups) भी थे जो भारत के विभिन्न उद्योग धंधों में लगे हुए थे और खेती जिनके लिये प्रधान नहीं बल्कि गौण पेशा था। इस प्रकार, भारत की सरचना यद्यपि कृषि-व्यवस्था पर आधारित थी फिर भी उच्च जातियों के लोग कृषक नहीं थे। वे वस्तुत सामन्त वर्ग के थे और खेती नहीं करते थे बल्कि खेती से मिलने वाली आय निर्भर थे। जाति सरचना की मध्यम श्रेणी में कुछ जातियां उस श्रेणी की थी जिन्हें शुद्ध जातियाँ (Clean Castes) कहा गया है और जिनके सदस्य कृषक का ही काम करते थे। इसी श्रेणी में लोहार, सोनार, कुम्हार बढ़ई नाई इत्यादि ऐसी जातियां भी थीं जिनके सदस्य कारीगर भी थे और कृषक भी। किन्तु, वे कारीगर पहले थे और कृषक बाद में। निम्न स्तर की जातियों में वे जातियां थीं जिनके सदस्य अपवित्र कहे जाने वाले पेशे को करने थे और साथ ही साथ खेतिहर मजदूर का काम भी करते थे। इसप्रकार, भारत के उद्योग धंधे कृषि व्यवस्था से सबधित थे और उत्पादन की सीमा कृषि और कृषक की सामाजिक आर्थिक आवश्यकताओं तक ही सीमित थी। ये कारीगर उन्हीं वस्तुओं का उत्पादन करते थे जिनकी खपत उस क्षेत्र में हो जाती थी जिसके कि वे निवासी थे।

इस सरचनात्मक सामाजिक आर्थिक व्यवस्था का आधार थी यजमानी प्रथा जो परम्परागत विधि प्रणाली द्वारा मान्य थी। प्रत्येक गांव में या कई गावों को मिलाकर, एक कारीगर परिवार को कुछ परिवारों की सेवा करने का अधिकार प्राप्त था। दूसरे शब्दों में प्रत्येक कारीगर को कुछ यजमान परम्परा मिलते रहते थे और कारीगर का महत्व, आर्थिक होने के साथ साथ सामाजिक भी था। जैसा कि वनमाली गांव व्यवस्था में आज भी होता है जन्म विवाह और मृत्यु तथा धार्मिक उत्सवों के अवसरों पर, इन कारीगर जातियों का कर्मकाण्डी (Ritualistic) महत्व भी था। ऐसी दशा में उद्योगों का उत्थान वहीं तक सीमित था जहां तक उनकी स्थानीय खपत थी। इन कारीगर जातियों के सदस्यों द्वारा अधिकतर उत्पादन स्थानीय खपत के ही लिये होता था। पारिश्रमिक वर्ष में दो बार धान्य के

रूप में ही दिया जाता था और वह भी परम्परा से निर्धारित था। इस प्रथा के अवशेष आज भी ग्रामीण समाज में पाये जाते हैं।

मुसलमानों के राज्यकाल में, भारत का व्यापार बढ़ने के साथ साथ, भारत का औद्योगीकरण भी बढ़ा और उसके फलस्वरूप व्यापारी शहरों में वे व्यापारी मण्डियाँ भी अस्तित्व में आइं जिनमें उस अतिरिक्त माल की खपत होती थी जो कारीगर जातियों के सदस्य अपने अतिरिक्त समय में स्थानीय खपत के अतिरिक्त बनाते थे। भारत के आर्थिक संगठन में धार्मिक मेले साप्ताहिक पैंठें और व्यापारी मण्डियाँ ऐसे ही अतिरिक्त माल के आदान प्रदान के साधन रहे हैं और आज भी है। हर धार्मिक मेले का एक व्यापारी पक्ष भी है जो यातायात के साधनों के विकास के साथ साथ और भी विस्तृत हुआ है। मुसलमानों के राज्यकाल में बढ़ते हुये औद्योगीकरण के कारण भारत के विभिन्न भागों में औद्योगिक क्षेत्र भी अस्तित्व में आ गये थे जहाँ निश्चय ही उत्पादन बाजार के लिये होता था। मलमल के लिये प्रसिद्ध ढाका एक ऐसा ही केन्द्र था। किन्तु इस औद्योगिक व्यवस्था में कारीगर का घर ही कारखाना था और कारीगर स्वयं अपना मालिक भी था। वह पूँजीपति भी था और मजदूर भी।

योरोप के सम्पर्क में यह व्यवस्था उस समय से बदलनी प्रारम्भ हुयी जबसे योरोप में प्राकृतिक शक्तियों से चलने वाली मशीनों का आविष्कार हुआ और मुनाफे के लिए बड़े पैमाने पर कारखानों का संगठन हुआ जिसका परिणाम हुआ अपेक्षाकृत अधिक सस्ता उपभोग्य वस्तुओं का उत्पादन। बड़े पैमाने पर उत्पादन का परिणाम हुआ योरोप के विश्व बाजार का प्रसरण जो अंग्रेजी राज के माध्यम से भारत तक भी पहुँचा। सस्ती उपभोग्य वस्तुओं की माँग बढ़ी जिसके परिणामस्वरूप भारत के परम्परागत औद्योगीकरण का ह्रास होना प्रारम्भ हुआ। कृषि तथा उपभोग्य वस्तुओं के व्यापारीकरण का स्वाभाविक परिणाम हुआ परम्परागत यजमानी प्रथा के आधार का हिलना। योरोप के सम्पर्क से और अंग्रेजी राज के माध्यम से फैलने वाला व्यापारीकरण मुद्रावी अर्थ व्यवस्था (Monetary Economy) पर आधारित था। अतः आर्थिक आदान प्रदान (Exchange) में मुद्रा का महत्व पहले से अपेक्षा और भी बढ़ गया। किसान की भाँति, कारीगर भी जीवन निर्वाह की वस्तुओं के लिये मुद्रा और बाजार पर निर्भर हो गये। इस परिस्थिति का परिणाम यह हुआ कि एक ओर कारीगरों के उद्योग धंधों का उत्तरोत्तर ह्रास हुआ, उनकी मारी बनी वे कृषि पर ही निर्भर होने लगे, जिससे कृषि पर जनसंख्या का दबाव बढ़ा और, दूसरी ओर धान्य के स्थान पर वे मुद्रा के रूप में पारिश्रमिक लेने के लिए बाध्य हुये। वर्तमान भारत की ग्रामीण सामाजिक आर्थिक व्यवस्था में धान्य के स्थान पर मुद्रा के रूप में पारिश्रमिक लेने की प्रवृत्ति बढ़ रही है। भारत की परम्परागत सामाजिक आर्थिक व्यवस्था का कारीगरवर्ग यातो भृति कमाने वाला (Wage Earner) कुशल कारीगर हो गया या छोटे पैमाने का मध्यमवर्गीय व्यापारी।

भारत मे योरोपीय ढग के आधुनिक औद्योगीकरण का श्रीगणेश मुख्यतया अँग्रेजी पूँजी से हुआ। इस औद्योगीकरण की प्रथम अवस्था थी भारत के कच्चे माल को उत्पादन के योग्य बना कर योरोप विशेषतया इगलण्ड भेजना। किन्तु धीरे धीरे विदेशी पूँजी के ही द्वारा उपभोक्ता वस्तुओं के बनाने के कारखाने खुलने लगे। कपड़ा, शक्कर और जूट उद्योग इसके प्रमाण हैं। विदेशी पूँजीपतियो के सम्पर्क से धीरे धीरे भारत के पूँजीपतियो ने इस ओर कदम उठाया। अंग्रेजी साम्राज्य में उन्मुक्त व्यापार की नीति अपना कर अंग्रेजों ने भारतीय औद्योगीकरण को रोकने का प्रयास किया क्योंकि इगलैण्ड की प्रतियोगिता में भारतीय औद्योगीकरण को प्रशुल्की सरक्षण (Tarriff Protection) की आवश्यकता थी। प्रथम महायुद्ध ने भारत की इस आवश्यकता को पूरा किया क्योंकि इस महायुद्ध में अंग्रेजों को यह महसूस हुआ कि आधुनिक ढग से औद्योगीकृत भारत अंग्रेजी साम्राज्य के लिये लाभदायक ही होगा। प्रथम महायुद्ध में जिस भारतीय पूँजीवाद की जड़ पड़ी थी उसने, युद्ध समाप्ति के बाद स्वदेशी आन्दोलन का आश्रय लेकर अपने को और आगे बढ़ाया। प्रथम और द्वितीय महायुद्धों के बीच का ही समय वह समय था जब भारत का औद्योगीकरण आगे बढ़ा। द्वितीय महायुद्ध की आवश्यकताओं ने भारतीय औद्योगीकरण को और भी आगे बढ़ाया और मज़बूत किया। स्वतन्त्रता के बाद में योरोपीय ढग के औद्योगीकरण की महत्ता और भी बढ़ गयी है। वर्तमान भारत पूँजीवादी तथा समाजवादी ढगों से अपना औद्योगीकरण कर रहा है।

भारत में बढ़ते हुए औद्योगीकरण के कई सामाजिक आर्थिक परिणाम निकले। पहला, गाँव का परम्परागत सामाजिक-आर्थिक महत्व समाप्त हो गया और कृषि के स्थान पर औद्योगीकरण सामाजिक आर्थिक व्यवस्था का मुख्य आधार बन गया। कृषि का सम्बन्ध जीवन निर्वाह की आवश्यकताओं से न रहकर उत्तरोत्तर विकसित औद्योगीकरण से हो गया। औद्योगीकरण तथा यातायात के साधनों ने भारत में शहरीकरण को जन्म दिया और प्राचीन धनिको, राजनैतिक, व्यापारी और धार्मिक शहरों के स्थान पर बड़े बड़े औद्योगिक शहरों का विकास हुआ। बम्बई, कलकत्ता मद्रास, दिल्ली, कानपुर, अहमदाबाद, और जमशेदपुर जैसे शहरों का विकास पिछले दो सौ वर्षों में ही हुआ है। भारत की नयी औद्योगिक-आर्थिक व्यवस्था के आधारों का केन्द्रीकरण इन्हीं शहरों में हुआ। भारत की अर्थ व्यवस्था को चलाने वाली संस्थायें (बैंक, पूँजीपतियो, व्यापारियों और मजदूरों के संगठन, स्टाक एक्सचेंज और मण्डियाँ) इन्हीं शहरों में केन्द्रित हैं। भारत की राजनैतिक शक्ति के केन्द्र भी यही शहर हैं। आज योरोपीय विचारों का वह स्फुरण जो भारत के सामाजिक सांस्कृतिक जीवन में परिवर्तन ला रहा है इन्हीं शहरों से हो रहा है। भारत के नये सामाजिक-सांस्कृतिक मापदण्डों का निर्धारण भी इन्हीं शहरों में होता है। शहरों के द्रुतगामी जीवन में और शहरी सामाजिक व्यवस्था में व्याप्त अनामकता (Anonymity)

और द्वितीयक समूह सगठन (Secondary Group Organization) से किसी सीमा तक सयुक्त परिवार तथा जाति जसी समष्टिवादी सस्थाओ म लचीलापन आ रहा है और व्यक्तिवाद का प्रोत्साहन मिल रहा है।

योरोपीय पूजीवादी औद्योगीकरण को भारत म लाने के लिये योरोपीय प्रौद्योगिकी, योरोपीय औद्योगिक सगठन और आर्थिक सस्थाओ का अनुकरण किया गया। योरोप की ही भाति भारत म भी उत्पादन का उत्तरोत्तर व्यापारीकरण किया गया और योरोप की ही भाति भारत म प्रौद्योगिक विशषीकरण (Technological Specialization) को प्रोत्साहन दिया गया। भारत की परम्परागत आर्थिक व्यवस्था म पेशागत विशेषीकरण (Occupational Specialization) जाति प्रथा के रूप म सामाजिक विरासत पर आधारित था। किन्तु इस नयी व्यवस्था म पेशागत विशषीकरण का आधार बना व्यक्ति और उसके द्वारा प्राप्त किया जाने वाला विशेष ज्ञान। औद्योगीकरण के केन्द्र थे औद्योगिक नगर इसकारण गाव म बढती हुई आर्थिक बकारी ने कृषको और कारीगरो को शहर म आकर जीविका कमाने के लिये प्रेरित किया। इसका परिणाम हुआ भारत की सामाजिक आर्थिक व्यवस्था म औद्योगिक सर्वहारा वर्ग का अभ्युदय और उसकी उत्तरोत्तर वद्धि। किसान की भाति मजदूर भी राष्ट्र की आर्थिक समस्या का एक अग बन गया। योरोप की भाँति भारत मे भी श्रमिको तथा वेतनभोगी वर्गों ने ट्रेड यूनियन आन्दोलन को अपनाना प्रारम्भ किया। जिस प्रकार योरोप मे औद्योगीकरण तथा उसस उत्पन्न वर्ग व्यवस्था ने राजनतिक गति विधि और विचारधारा को प्रभावित किया, वसे ही भारत म भी औद्योगीकरण के प्रभावो स उत्पन्न होने वाली वर्ग व्यवस्था ने राजनीति को प्रभावित करना प्रारम्भ किया। भारत की राजनतिक पार्टियो पर योरोप के ही राजनैतिक आर्थिक आदर्शों की छाप है यद्यपि उन आदर्शों को भारतीय सास्कृतिक इतिहास क सन्दर्भ म लाने का प्रयास भी सभी दलो म विद्यमान है।

इस प्रकार अंग्रेजी राज म भारत की अप्रगतिशील, परम्परावादी और स्थतिक आर्थिक व्यवस्था पर योरोप की प्रगतिशील और गत्यात्मक व्यवस्था का प्रभाव पडा और उसका परिणाम हुआ भारत की परम्परागत आर्थिक व्यवस्था का अधिक आधुनिक आर्थिक व्यवस्था म धीरे धीरे रूपान्तरण, जिसकी विशषताय हैं पूजीवादी उत्पादन और सगठन मुद्रा अर्थ व्यवस्था की प्रमुखता भारत का आर्थिक एकीकरण और आर्थिक जीवन का उत्तरोत्तर व्यापारीकरण। यह रूपान्तरण वस्तुत एक शान्त क्रान्ति है जिसम सामाजिक प्रतिष्ठा और प्रथा पर आधारित आर्थिक व्यवस्था धीरे धीरे सविदा (Contract), उत्तरोत्तर विशेषीकरण और बडे पमाने क उत्पादन पर आधारित एक गतिशील और गत्यात्मक आर्थिक व्यवस्था म बदल गयी[1]। वेरा

1 लतीफ सैय्यद अब्दुल एन आउटलाइन आफ दि कल्चरल हिन्दी आफ इण्डिया पृष्ठ 25

आस्टे (Vera Anstey) के मत मे भारत की आर्थिक व्यवस्था का यह रूपान्तरण एक आर्थिक व्यवस्था का दूसरी आर्थिक अवस्था म वह रूपान्तरण नही है जिसका वर्णन योरोप के आर्थिक विकास के इतिहासकार पूंजीवादी व्यवस्था के विकास के वर्णन मे करते हैं क्योकि अंग्रेजो के आने के पहले ही भारत मे आधुनिक आर्थिक व्यवस्था की विशेषतायें आ चुकी थी। यह रूपान्तरण वस्तुत वह रूपान्तर है जिसमे प्रथक्कृत और आत्मनिर्भर गाँव पर आधारित आर्थिक व्यवस्था (जिसमे उन्नतर उत्पादन और सगठन केवल कुछ विशेष वर्गो और क्षेत्रो म निहित था) धीरे धीरे उस आर्थिक व्यवस्था मे परिणत होती है जिसम अधिकतर उत्पादन का व्यापारीकरण हुआ है मुद्रा की प्रधानता बढी है और जिसमे आर्थिक व्यवस्था का लगभग एकीकरण हो गया है[1]। यह रूपान्तरण अब भी जारी है और ज्यो ज्यो यह रूपान्तरण बढ़ता जाता है परम्परा का स्थान विधि (Law) लेती जाती है। जसा कि अंग्रेजी राज म था वस ही आज भी इस रूपान्तरण का ध्येय है पार्थिक विकास (Material Development), आर्थिक एकीकरण (Economic Unification) को बढाना तथा आवश्यक व्यापारीकरण और देश के आधुनिकीकरण की अवधि को जहा तक हो सके कम करना। इसका परिणाम हुआ है नयी और पुरानी व्यवस्थाओ म विरोधात्मक संघर्ष और वह मानसिक असुरक्षा जो आर्थिक व्यवस्था के सहसा परिवर्तनो से होती है। महात्मा गाधी के नेतृत्व म चलने वाला स्वदेशी आन्दोलन और परम्परागत कुटीर उद्योगो पर जोर इसका प्रमाण है। वर्तमान भारत म एक ओर, योरोपीय ढग के औद्योगीकरण पर और, दूसरी ओर, प्राचीन ढग के कुटीर उद्योगो पर जोर सम्भवत इसी परिस्थिति की देन है।

योरोपीय तथा अंग्रेजी राज के सघात से उत्पन्न होने वाला सामाजिक आर्थिक रूपान्तरण धीरे धीरे हुआ है। अत, वह भारत की परम्परागत सामाजिक आर्थिक व्यवस्था का वह रूपान्तरित उद्विकास है जिसम योरोप, विशेषतया इंगलड, और भारत का समन्वय इस प्रकार हुआ है कि आधारभूत देशज तत्व एक नयी व्यवस्था मे सन्निहित हो गये है। भारत की भूमि व्यवस्था में परिवर्तन आवश्य किया गया किन्तु उसका आधार वही व्यवस्था रही जा मुगलो के पहले से चली आ रही थी। भूमि की पैमाइश के वही तरीके काम म लाये गये और स्वीकार किए गए जिनका प्रयोग टोडरमल ने किया था। भूमि अभिलेखो की पुस्तकें (Books of Land Records), खसरा और खतौनी वस ही अपना लिए गए जसे कि पहले से चल आ रहे थे। अंग्रेजी शासन ने पटवारियो की काम विधि लगभग वसी ही रक्खी जसी कि वह पहले से चली आ रही थी और पटवारियो को बहुधा उसी जाति व संस्था मे से भरती किया गया जिसम से वे मुगलकाल मे भरती किए जाते थे। जाति प्रथा के साथ

---

1 ओ मेले इण्डिया एण्ड दि वेस्ट पृष्ठ 259

साथ, जैसा कि पिछले वर्णन से स्पष्ट है, एक नयी वर्ग-व्यवस्था का अभ्युदय हुआ किन्तु नयी आर्थिक व्यवस्था से उत्पन्न वर्ग व्यवस्था का आधार भारत की परम्परागत जाति-व्यवस्था ही बना। भारत का बढ़ता हुआ व्यापारीकरण एक ओर, योरोपीय आधार पर विकसित हुआ तो दूसरी ओर परम्परागत आधारों पर। अंग्रेजों ने नाप-तौल के पुराने तरीकों को जैसे का तैसा चलने दिया और उसके साथ साथ योरोपीय तरीकों भी लागू किया। अंग्रेजी शासन ने अपनी मुद्रा चलाई अवश्य किन्तु पहले से चले आते हुए रुपिया आना पाई को जैसे का तैसा अपना लिया। हां यह अवश्य है कि सोने के सिक्के के रूप में यदि एक ओर गिन्नी चली तो दूसरी ओर अशरफी भी चलती रही। इसी प्रकार आधुनिक भारत में शहरीकरण को प्रोत्साहन उन्हीं कारकों से मिला जिन्होंने आधुनिक योरोप के शहरीकरण को जन्म दिया। किन्तु भारत का शहरीकरण भारत की सामाजिक व्यवस्था में उतने क्रान्तिकारी परिवर्तन न कर सका जितने कि योरोपीय सामाजिक व्यवस्था में वहां के शहरीकरण ने किया है। भारत के शहरों में योरोपीय प्रौद्योगिकी और गांव व्यवस्था का एक ऐसा समन्वय हुआ है जो भारत की ही विशेषता है। भारत के अधिकतर शहर प्रौद्योगिकी के दृष्टिकोण से तो शहर लगते हैं किन्तु सामाजिक व्यवस्था के दृष्टिकोण से गांव। भारत में स्थायी शहरी जनसंख्या का अनुपात योरोपीय देशों की अपेक्षा नगण्य सा है और गांव तथा शहर की जनसंख्याओं में निरन्तर चलने वाला दुतरफा स्थानान्तरण शहर में ग्रामीण प्रभावों को संस्थापित किया करता है। शहर में संयुक्त परिवार और जाति के बन्धन ढीले अवश्य हुए हैं पर वे टूटे नहीं हैं। शहर के अनामक और गत्यात्मक वातावरण में आज भी व्यक्ति को सर्वाधिक सुरक्षा परिवार और जाति से ही मिलती है और इसीलिए शहर के अनामक वातावरण में जो गत्यात्मक और द्वितीयक समूहों की प्रधानता से उत्पन्न होता है, जाति, एक विशेष प्रकार के प्राथमिक समूह के रूप में रूपान्तरित होकर और भी मजबूत हो गयी है[1]।

प्रौद्योगिकी और विज्ञान, २

योरोपीय प्रौद्योगिकी और विज्ञान एक दूसरे से चोली दामन की तरह सम्बंधित हैं क्योंकि वर्तमान योरोप को जन्म देने वाली प्रौद्योगिकी का विकास, विज्ञानों के सिद्धान्तों को मानव-जीवन के लिए उपयोगी बनाने के प्रयास में हुआ है। योरोप में

---

1 भट्ट गौरीशंकर ट्रेण्ड्स एण्ड मेजर्स आफ स्टेटस मोबिलिटी एमांग दि चमार्स आफ देहरादून ईस्टर्न एन्थ्रोपालोजिस्ट वाल्यूम 14 न० 3

भौतिक विज्ञानवादी विचारधारा का प्रसार पहले हुआ और प्रौद्योगिकी का विकास और प्रसार उसके बाद। भारत में अंग्रेजी राज की स्थापना होते होते, योरोप में प्रौद्योगिकी का विकास काफी आगे बढ़ चुका था और भारत को, अंग्रेजों के माध्यम से प्रौद्योगिकी के प्रयोग का वह अनुभव मिला जो योरोप तथा इंगलैंड में प्रौद्योगिकी के सफल प्रयोग पर आधारित था। भारत में योरोप की सैनिक प्रौद्योगिकी का प्रसार अंग्रेजों के पहले ही से प्रारम्भ हो गया था। अंग्रेजी राज के फलते फूलते उसका प्रयोग सम्पूर्ण भारत में फैल गया। दो विश्वव्यापी महायुद्धों ने भारत में योरोप की समुन्नत सैनिक प्रौद्योगिकी की महत्ता को और भी बढ़ा दिया क्योंकि, अंग्रेजी साम्राज्य का एक प्रधान अंग होने के कारण भारत पर उन युद्धों का प्रभाव पड़ा और भारत की सेनाओं को इनमें युद्धरत होना पड़ा। भारत की योरोपीय ढंग की सैनिक व्यवस्था अंग्रेजों की ही देन है। भारत पर चीन के आक्रमण ने योरोपीय सैनिक प्रौद्योगिकी की महत्ता की आवश्यकता और भी बढ़ा दिया है और आज का भारत उसे अपनाने के लिए आगे बढ़ रहा है। भारत ही नहीं सारा एशिया इस ओर बढ़ रहा है। भारत तथा एशिया में इसके क्या परिणाम होंगे यह अभी कहना कठिन है।

सेना की भांति, कृषि, चिकित्सा उद्योग, उत्पादन और यातायात के साधनों में योरोपीय प्रौद्योगिकी का प्रयोग निरन्तर बढ़ता ही रहा है। किन्तु इन सभी में सबसे महत्वपूर्ण रहे हैं यातायात के साधन, मुद्रण-यन्त्र और भाप तथा बिजली से चलने वाली मशीनें। भारत में यातायात के आधुनिक साधनों का प्रयोग सर्वप्रथम उन्नीसवीं शताब्दी के मध्य में किया गया और इनके प्रयोग का प्राथमिक प्रयोजन था भारत में बढ़ते हुए अंग्रेजी साम्राज्य का संगठन और सुरक्षा। डल्हौजी के समय में, एक साथ डाक, तार और रेल का प्रयोग भारतीय इतिहास की कोई अनहोनी घटना नहीं है—यह उस ऐतिहासिक आवश्यकता का परिणाम है जो उन्नीसवीं शताब्दी के भारत पर एक तत्कालीन योरोपीय साम्राज्य के स्थापित होने के साथ साथ अस्तित्व में आयी थी। मुद्रणयन्त्र का सर्वप्रथम प्रयोग गोवा में सोलहवीं शताब्दी के मध्य में हुआ था और भारत की सर्वप्रथम मुद्रित पुस्तक गोवा में ही प्रकाशित हुई थी। भारत में मुद्रण यन्त्र का सर्वप्रथम प्रयोग मिशनरियों ने किया था क्योंकि ईसाई धर्म के प्रसार के लिए प्रचार साहित्य का एक बड़े पैमाने पर उत्पादन उनकी मुख्य आवश्यकता थी। भारत का समाचार-पत्र और उद्योग योरोपीय परम्परा तथा मुद्रणयन्त्र का ही योगदान है। उन्नीसवीं शताब्दी के मध्य में रेल के साथ साथ, भारत में भाप से चलने वाली मशीनों का प्रयोग प्रारम्भ हुआ और कालान्तर में भाप बिजली और तेल से चलने वाली मशीनों का, उत्पादन के लिए, उत्तरोत्तर प्रयोग बढ़ा जिससे भारतीय औद्योगीकरण को प्रोत्साहन मिला।

भारत की परम्परागत आर्थिक व्यवस्था के जिस रूपान्तरण का वर्णन किया जा चुका है उसका प्रधान कारक प्रौद्योगिकी ही रही है। इस रूपान्तरण में प्रौद्योगिकी

दो प्रकार से सहायक हुयी है—एक, भाप बिजली तथा तेल द्वारा चलने वाली मशीनों के रूप में और दूसरे, यातायात के मशीनीकृत साधनों के रूप में जिसमें रेल, मोटर और हवाई जहाज का प्रभाव मुख्य है। भाप, बिजली और तेल द्वारा चलने वाली मशीनों की सहायता से बड़े-बड़े कारखाने खुले और बड़े पैमाने पर मशीनीकृत उत्पादन का प्रचार बढ़ा। यातायात के साधनों में जिसमें सड़क मोटर, रेल और हवाई जहाज मुख्य हैं, गाँव का आर्थिक-सामाजिक पृथक्करण समाप्त हुआ, आधुनिक बाजार का क्षेत्र अधिक व्यापक होकर और सारे देश में फैलकर अन्तर्राष्ट्रीय बाजार से मिल गया, कच्चे माल और उत्पादित उपभोग की वस्तुओं को जल्दी-जल्दी ढोने की सुविधा से औद्योगीकरण तथा नगरीकरण को प्रोत्साहन मिला और सारे भारत का आर्थिक, राजनैतिक और सामाजिक सांस्कृतिक एकीकरण बढ़ा। यातायात के साधनों की सुविधा के ही कारण अंग्रेज सत्ता का व्यापक प्रभाव स्थापित करके, भारत को एक राष्ट्र राज्य (Nation State) के रूप देने में सफल हुए। डाक तार, बेतार का तार समाचार पत्र और सिनेमा जैसे सन्देशवाहक साधनों ने यातायात के प्रभावों को और भी प्रभावपूर्ण बना दिया क्योंकि यातायात के साधनों के परिणामों का वास्तविक, स्थायी रूप सन्देशवाहक साधनों से ही मिला है। डाक और तार ने, एक ओर, व्यापारीकरण को प्रोत्साहित किया, बाजार को व्यापक बनाया, पत्र-पत्रिकाओं को राष्ट्रीय विचार विमर्श का माध्यम बनाया, स्थानीय तरंगों को प्रोत्साहित करके औद्योगीकरण तथा नगरीकरण को प्रोत्साहित किया और, दूसरी ओर यातायात के साधनों के सम्पर्क से भारत के राष्ट्रीय आर्थिक और सामाजिक एकीकरण में योगदान किया। भारत को एक एकीकृत राजनैतिक इकाई बनाये रखने के लिए ही अंग्रेजों ने डाक तार रेल और रेडियो की सेवाओं का केन्द्रीकरण किया।

यातायात तथा सन्देशवाहक साधनों के संघात के अनेक सामाजिक-आर्थिक परिणाम निकले। इंगलैण्ड में बढ़ते हुये औद्योगीकरण के कारण, यातायात के साधनों का विकास हुआ किन्तु भारत में बढ़ते हुए यातायात के साधनों के कारण औद्योगीकरण का विकास हुआ। यह मुख्यतया रेल रोड के प्रसार का ही परिणाम है कि भारत कृषि पर आधारित एक सरल आर्थिक-व्यवस्था के स्तर से उठकर, आज आर्थिक विकास की उस अवस्था में पहुँच गया है जिसमें भारत का आर्थिक जीवन संगठित उद्योगों पर निर्भर है न कि कृषि पर। भारत में खेती का प्रसार, विविध फसलों का बोया जाना, कृषि में नकद-फसल (Cash Crops) का समावेश, कृषि का उत्तरोत्तर व्यापारीकरण तथा उत्पादन के क्षेत्र का प्रसार और कृषि से उत्पन्न माल के भावों में शीघ्र-शीघ्र होने वाली घटी-बढ़ी के स्थान पर अपेक्षाकृत अधिक स्थायित्व का आना रेल के उत्तरोत्तर प्रभाव के ही कारण सम्भव हुआ है। भारत के सामाजिक आर्थिक संगठन में, गाँव के परम्परागत सन्तुलन का असन्तुलित होना गाँव का बाह्य संसार से सम्पर्क बढ़ना शहरों की वृद्धि और गाँव के सामाजिक-आर्थिक

जीवन पर बढता हुआ शहरी प्रभाव भी रेल और राड के कारण हुआ है। रेल रोड के सम्मिलित प्रभाव के ही कारण सयुक्त परिवार के आकार और सरचना म परिवतन आये तथा जाति के परम्परागत बन्धना मे शिथिलता आयी। भारत के राजनतिक आर्थिक एकीकरण मे रल का योगदान प्रमुख है। रल के कारण भारत म तीथ यात्रा पहले की अपेक्षा अधिक सरल और सुविधाजनक हा गयी जिससे हिन्दुत्व के पुनरुत्थान को एक नयी प्रेरणा मिली[1]।

रेडियो और सिनेमा, यारोपीय प्रौद्योगिकी मे उत्पन्न, दो प्रभावपूण सादेश वाहक साधन हैं। भारत मे रडियो का प्रवश अंग्रेज सरकार क प्रयत्नो द्वारा हुआ और उसका उद्दश्य या मनोरजन के साथ साथ जनसम्पक बढाकर, अग्रेज सरकार के पक्ष म व्यापक प्रचार करना। किन्तु रडियो जन शिक्षा का एक महत्वपूण साधन सिद्ध हुआ। स्वतन्त्र भारत मे रेडियो का प्रयोग मनोरजन और जन शिक्षा के ही लिये हो रहा है। किन्तु रडियो के सामाजिक सास्कृतिक परिणाम इससे कही अधिक व्यापक रहे हैं। रेडियो के मा यम स भारत अन्तर्राष्ट्रीय सम्पक म आया। इसके अतिरिक्त, रेडियो के माध्यम मे भारत के विभिन्न प्रदेशा म सम्पक स्थापित हुआ जिसस भारत के एकीकरण को प्रोत्साहन मिला। वतमान भारत म, रेडियो भारत के एकीकरण को प्रोत्साहित करने का एक मुख्य माध्यम बन गया है। भारत की प्रादेशिक भाषाओ की प्रगति तथा भारत मे अंग्रेजी भाषा के प्रसार मे रेडिया भी एक मुख्य माध्यम रहा है। अंग्रेजी राज काल म और आज भी अंग्रेजी रेडियो की मुख्य भाषा रही है। किन्तु, साथ ही साथ, भारत की जनता से सम्पक बढाने क लिय तथा अधिकाधिक जनता के लिये रेडियो को उपयोगी बनाने के लिये प्रादेशिक भाषाओ तथा क्षेत्रीय बोलियो का भी रेडियो की भाषा बनाने की आवश्यकता रही है। यह इसी आवश्यकता का परिणाम है कि भारत के प्रादेशिक भाषा क्षेत्रा मे रेडियो स्टेशन खोले गये और प्रत्येक भाषा क्षेत्र मे बोली जाने वाली बोलियो म भी कायक्रम प्रसारित होना प्रारम्भ हुय। इसके दो परिणाम निकले। एक आर, प्रादेशिक भाषाओ को उत्तरोत्तर साहित्यिक रूप मिला और, दूसरी ओर स्थानीय बालिया प्रादेशिक भाषाओ के साहित्यिक प्रवाह मे आयी और उनका शब्द भण्डार बढा। अंग्रजी के मुख्य भाषा होने के कारण और अंग्रेजी से ही अखिल भारतीय कायक्रमा का अनुवाद हाने के कारण प्रादेशिक भाषाओ और बोलिया पर अंग्रेजी भाषा के व्याकरण प्रवाह और अभिव्यक्ति का प्रभाव बढा। इससे भारत की विभिन्न प्रादेशिक भाषाओ और बोलियो म आदान प्रदान भी बढा। आज रडियो म प्रयुक्त हाने वाली पजाबी अधिक सस्कृत गर्भित है, अत, वह हिन्दी के अधिक समीप है। लखनऊ स प्रसारित होने वाला अवधी और भोजपुरी का मिश्रित कायक्रम और दिल्ली से प्रसारित हाने वाला

1 ओमेले इण्डिया एण्ड दि वेस्ट

व्रजभाषा खडी बोली और हरियाणी का मिश्रित कायक्रम इन बोलियो को अधिक समीप ला रहा है। अँग्रेजी और हिंदी के माध्यम से भारत के भाषावार एकीकरण मे रेडिया का योगदान रहा है।

रेडियो के माध्यम से पडने वाले सघात के और दो परिणाम निकले है। आज रडियो के माध्यम स भारतीय सस्कृति के प्रतिष्ठित (Classical) और लाक तत्वो का एक ओर एकीकरण हो रहा है और दूसरी ओर इस एकीकरण का योरोप से प्रसारित होने वाल विचारो के साथ समन्वय हा रहा है। रेडियो स प्रसारित होन वाले सगीत और नाटको पर इस द्वद्वात्मक एतिहासिक परिस्थिति का प्रभाव स्पष्ट है। बढते हुये पूजीवादी औद्योगीकरण जिसका मुख्य आधार है उत्तरोत्तर व्यापक व्यापारीकरण तथा शहरीकरण के प्रभावो के अतगत रेडियो भारतीय सगीत नाटक, कविता और कहानी साहित्य के व्यापारीकरण का माध्यम रहा है। कवि सम्मेलन और मुशायरा की साहित्यिक परम्पराओ को रेडियो ने आज एक नया रूप दे दिया है। इसम काई सन्देह नही कि भारतीय कला औ साहित्य के इन पक्षा को रेडियो ने जन सुलभ बना दिया है किन्तु साथ ही-साथ प्रचार का माध्यम होने के कारण रेडियो ने कला और साहित्य मे प्रयोजनवादिता को भी ज म दिया है। भारत म रूपक तथा श्रव्य नाटको की परम्परा रेडियो की ही देन है। रेडियो कलाकार तथा साहित्यकार की आज एक अलग श्रणी ही बन गयी है।

भारत म ही नही वरन सारे ससार मे रेडियो जनमत के निर्माण का एक प्रभावपूण साधन है। भारत मे भी रेडियो का प्रयोग जनमत के निर्माण के लिए किया गया है। इसकारण यदि एक ओर रेडियो प्रचार का माध्यम रहा है तो, दूसरी ओर, सामाजिक राजनतिक जागृति के प्रसार का माध्यम भी। पत्र पत्रिकाओ की भाँति रेडियो भी सामाजिक सास्कृतिक विचार विमश का एक आधुनिक मच रहा है यद्यपि उसका प्रभाव उतना व्यापक नही रहा है जितना कि पत्र पत्रिकाओ का। यह पहले ही कहा जा चुका है कि भारत मे अग्रजी राज की स्थापना के साथ, कृषि एक राष्टीय समस्या बन गयी और जब से भारत मे रेडियो का प्रवेश हुआ है रेडियो को कृषि पुनर्निर्माण के लिये जनमत तयार करने का एक माध्यम बनाया गया है। आज रडियो वह मच बन गया है जहाँ सामाजिक सास्कृतिक और राजनतिक समस्याओ का एक नया मूल्याकन हो रहा है और भारतीय जन इस मूल्याकन के पक्ष विपक्ष स अवगत हो रहे है।

रडियो की भाँति, सिनमा भी एक सन्देशवाहक साधन है जिसका प्रयोग मनोरजन क लिय हाता है और जनशिक्षा तथा जनमत के निमाण के लिये भी। वास्तव म रडियो की भाँति, सिनमा भी प्रचार का एक सबल प्रौद्यागिक साधन है। पश्चिम म औद्योगीकरण तथा शहरीकरण के प्रभाव म सिनेमा प्रचार और व्यापारी कृत मनोरजन का एक प्रधान आधुनिक साधन है। भारत म सिनेमा का प्रवेश

व्यापारीकृत मनोरंजन के लिये ही हुआ था और आज भी उसका प्रयोग उसी के लिये हो रहा है। रेडियो की भाँति सिनेमा से भी नृत्य, संगीत और नाटक जनसुलभ हो गये हैं किन्तु व्यापारीकरण के माध्यम से। रेडियो, सिनेमा और प्रेस के प्रभाव के कारण कला की 'स्वान्त सुखाय' सेवा करने की भारतीय परम्परा आज व्यापारिक प्रयोजनवादिता में बदल रही है। पारलौकिकता के स्थान पर, आज उसमें पार्थिव इहलौकिकता का प्राधान्य बढ़ रहा है। रेडियो की भाँति, सिनेमा से भी, भारतीय कला के सिनेमा से सम्बन्धित पक्षों के प्रतिष्ठित (Classical) तथा लोकतत्व साथ साथ निखरकर एकीकृत हुये हैं और पश्चिमी विचारधारा से समन्वित हुये हैं। सामाजिक विदग्धीकरण (Social Sophistication) का प्रसार रेडियो की अपेक्षा, सिनेमा से अधिक हुआ है। योरोप के संघात से भारतीय समाज तथा संस्कृति में जिन समस्यात्मक परिस्थितियों का जन्म हुआ उनको सिनेमा ने अधिक उभार कर भारतीयों के समक्ष रखा और भारत की विचारधारा उस ओर आकर्षित की। अस्पृश्यता, विवाह, दहेज जाति और अपराध से सम्बन्धित सामाजिक समस्याओं पर बनने वाले चित्रों की अधिकता इसका प्रमाण है। जैसा कि पश्चिम में हुआ है एक ओर सिनेमा जनता के अनन्त मन की भावनाओं और प्रतिक्रियाओं की प्रतिच्छाया रहा है और, दूसरी ओर, सामाजिक मूल्यांकन का एक व्यापारीकृत साधन जिसका मुख्य उद्देश्य है मनोरंजन। इसीकारण, सिनेमा का सामाजिक प्रभाव सीमित ही रहा है यद्यपि उसका मानसिक प्रभाव काफी प्रबल रहा है। दूसरी ओर, योरोप की भाँति, भारत में भी सिनेमा को व्यापारिक प्रचार का साधन बनाया गया है और सरकार ने सिनेमा को राजनैतिक तथा सामाजिक शिक्षा का साधन बनाया है। सिनेमा का सबसे अधिक महत्वपूर्ण परिणाम है भारत की अपने प्रति जागरूकता।

डाक तार व्यवस्था भी सन्देशवाहक साधनों की श्रेणी में आती है और भारत में उसका प्रवेश योरोपीय प्रौद्योगिकी के प्रवेश के साथ साथ हुआ है। रोड, मोटर रेल और हवाई जहाज ने डाक व्यवस्था को उत्तरोत्तर व्यापक तथा द्रुतगामी बनाया है। डाक तार व्यवस्था ने अन्य यातायात तथा सन्देशवहन के साधनों के साथ साथ, एक ओर भारत के एकीकरण में सहायता दी है तो दूसरी ओर भारत को अन्तर्राष्ट्रीय सम्पर्क में आने में सहायता दी है। अन्तर्राष्ट्रीय तथा राष्ट्रीय डाक व्यवस्थाओं के ही माध्यम से आज अनेक भारतीय विदेशियों के सम्पर्क में हैं और भारत के बाहर बसने वाले भारतीयों का भारत से सम्पर्क बना हुआ है। लेखकों, विचारकों अध्यापकों तथा वैज्ञानिकों का यह सम्पर्क विचार आदान प्रदान का एक माध्यम होने के साथ साथ, भारत में आधुनिक विचारधारा फैलने का भी माध्यम है। डाक तार व्यवस्था के माध्यम से भारत में अन्तर्राष्ट्रीय व्यापार बढ़ा है और इसी माध्यम से योरोप तथा अमरीका की अनेक पत्र पत्रिकायें और पुस्तकें भारत में योरोपीय विचार और मान्यताओं के प्रचार और प्रसार का माध्यम बन रही है।

भारत के राष्ट्रीय जीवन में डाक-तार व्यवस्था के अनेक व्यापक योगदान हैं। भारत में सुदृढ़ अंग्रेजी राज की स्थापना और उसके माध्यम से भारत के राजनैतिक सामाजिक तथा आर्थिक एकीकरण में डाक तार का भी महत्वपूर्ण हाथ है। रेल रोड के अलावा डाक-तार एक अन्य महत्वपूर्ण साधन है जिसने अंग्रेजी राज में, भारत की आर्थिक व्यवस्था के उत्तरोत्तर व्यापारीकरण तथा औद्योगीकरण में सहायता मिली है। डाक तार के साथ साथ यातायात के अन्य साधनों के सम्मिलित प्रभाव ने भारत की सामाजिक व्यवस्था के दो महत्वपूर्ण आधारों संयुक्त परिवार तथा जाति को प्रभावित किया है। यातायात के साधनों तथा बदलती हुयी आर्थिक व्यवस्था से स्थानान्तरण को प्रोत्साहन मिला। किन्तु साथ ही साथ डाक-तार के माध्यम से परम्परागत सामाजिक सम्बन्ध भी बने रहे। परिवार से अलग रहकर भी व्यक्ति परम्परागत संयुक्त परिवार का अंग बना रहा। प्रोफेसर श्रीनिवास के शब्दों में सड़क और रेल के निर्माण डाक तार, प्रादेशिक भाषाओं में छापेखान की सुविधाओं और सस्ते कागज की उपलब्धि ने जातियों को उस स्तर पर संगठित होने के लिये प्रेरित किया जिस स्तर पर वे कभी भी संगठित नहीं हुयी थी। डाक की सुविधा के कारण, जाति सभा की बैठक की सूचना पोस्टकार्ड द्वारा जाने लगी और रेल दूर दूर तक फैले हुये जाति सदस्यों को एक निश्चित स्थान में कम समय में पहुँचने में सहायता करने लगी[1]। डाक की सुविधा ने कुछ जातियों के परम्परागत कार्यों को निष्फल कर दिया। गाँव तथा जाति के सूचनावाहक का स्थान पोस्टकार्ड ने ले लिया और विवाह की सूचना ले जाने वाले नाई का स्थान डाक द्वारा भेजे जाने वाले निमन्त्रण पत्र ने।

अन्य सन्देशवाहक साधनों की भांति छापखाने का प्रभाव भी काफी व्यापक हुआ है। यह पहले ही कहा जा चुका है कि सर्वप्रथम छापखाने का प्रयोग गोवा में ईसाई धर्म का प्रचार करने के लिए किया गया था क्योंकि, ईसाई धर्म के प्रचार के लिए ईसाई धर्म प्रचार साहित्य का प्रादेशिक भाषाओं में एक बड़े पैमाने पर उत्पादन, ईसाई मिशनरियों की एक आधारभूत आवश्यकता थी। किन्तु कालान्तर में, छापखाने का प्रयोग इससे भी अधिक लाभदायक सिद्ध हुआ। यूरोप की भांति, भारत में भी छापाखाना सामाजिक नवजागृति का एक माध्यम बन गया। छापेखान के माध्यम से भारत की धार्मिक पुस्तकों का एक बड़े पैमाने पर उत्पादन आरम्भ हुआ और वे जन साधारण को वैसे ही सुलभ हुयी जैसे सोलहवीं शताब्दी के यूरोप में अंग्रेजी में अनूदित बाइबिल। इससे धार्मिक पुस्तकों के पठन पाठन तथा उनके निर्वचन पर से ब्राह्मणों का एकाधिकार समाप्त हो गया जिसके कारण यदि उत्तर में नहीं, तो कम

1 श्रीनिवास एम०एन० इण्डियन साइंस कांग्रेस (कलकत्ता 1957) के चवालिसवें सम्मेलन में एन्थ्रापालाजी तथा आरक्यालोजी विभाग के अध्यक्ष पद से दिया गया भाषण।

से कम दक्षिण म, परम्परागत ब्राह्मणविरोधी सामाजिक आन्दोलन को, बौद्धिक प्रखरता मिली और, बदलती हुई आर्थिक राजनतिक व्यवस्था मे, उस राजनतिक आर्थिक आधार प्राप्त हुय[1]। भारत के परम्परागत साहित्य की एक बडे पमाने पर उपलब्धि न, जसा कि गीता प्रेस, गोरखपुर, के प्रयत्नो से स्पष्ट है, एक ओर, परम्परावादी साहित्य के प्रचार म सहायता देकर, परम्परावादी (सनातन) हिन्दुत्व का प्रोत्साहन दिया ग्रौर, दूसरी ओर धार्मिक पुस्तको की जन सुलभता ने हिंदुत्व के पुनमूल्याकन की प्ररणा दी। इस पुनमूल्याकन का एक मुख्य कारण रही है निम्न स्तर की जातियो के सदस्यो म आर्थिक सामजिक चलिष्णुता क लिए उत्पन्न होने वाली प्रेरणा जिसके लिए अग्रेजी राज म उत्पन्न परिवतनो ने अवसर प्रदान किये। अग्रेजी राज ही वह काल है जब निम्नस्तर की जातियों ने धम ग्रथो के आधार पर अपने सामाजिक स्तर के उच्च होने का दावा किया, ग्रौर पौराणिक कथाओ का आश्रय लेकर अपने तर्कों को पुस्तक के रूप म प्रकाशित करवाया। प्रोफसर घुरे के आधार पर, प्रोफेसर श्रीनिवास ने यह प्रतिपादित किया है कि छापेखान ने भी जातियो को सगठित होने म सहायता दी। सस्ते कागज की उपलब्धि स जाति क नियमो को लेखबद्ध करके प्रकाशित करवाया गया और जातीय सगठनो के सविधान प्रकाशित करवाये गय। जाति सगठनो न अपने अलग अलग पत्र पत्रिकाये निकाली जिनसे, एक ओर सुधारवादी विचारो का प्रचार हुआ तो, दूसरी ओर, जाति के सामाजिक आधारो को और भी दढता मिली क्योकि शायद ही कोई ऐसी जातीय पत्रिका अथवा पुस्तक हो जिसम उस जाति क जिसम कि वह सम्बन्धित है, एतिहासिक गौरव का वणन न हो।

---

1 भारत में ब्राह्मण विरोधी आन्दोलन वस्तुत उस समय से चला आ रहा है जब से हिन्दू समाज में जाति प्रथा का सगठन हुआ। बुद्धवाद इसकी प्रथम, सगठित, सामाजिक अभिव्यक्ति थी। इस्लाम के सघात न, जाति प्रथा विरोधी आन्दोलनो को निसार कर ब्राह्मण विशषाधिकारो के प्रति एक प्रकार के बौद्धिक विरोध को जन्म दिया। भारत में अग्रेजी राज की स्थापना के पहले यह विरोध केवल मौखिक तथा बौद्धिक था। केवल निम्न स्तर की जातिया ही, निगण प थी के माध्यम से जाति प्रथा का मौखिक विरोध करती थीं। किन्तु अग्रेजी राज की स्थापना से एक ओर, नये आर्थिक अवसर आय तो दूसरी ओर, मतदान के अधिकार कमाध्यम से नय राजनतिक अवसर मिले। इसके परिणाम स्वरूप, ब्राह्मण विरोधी आन्दोलन में एक नयी सामाजिक राजनतिक सक्रियता का जन्म हुआ। इस नये आन्दोलन का श्रीगणश उस समय हुआ जब 1873 में पूना के ज्योतिराव फुले ने सत्य शोधक समाज की स्थापना की थी और इस बात पर जोर दिया था कि सभी जातियों क सदस्य परस्पर समान ह। फुले

छापेखाने के ही माध्यम से भारत म सस्ती पुस्तको का उत्पादन सम्भव हुआ जिससे शिक्षा को प्रोत्साहन मिला और अंग्रेजी राज के माध्यम से स्थापित नयी सामाजिक राजनतिक व्यवस्था म शिक्षा को जन-सुलभ बनाने का आन्दोलन चला। छापेखान के ही माध्यम से भारत म पत्र पत्रिकाओ का प्रकाशन प्रारम्भ हुआ जिससे भारत म नय विचार फल और सामाजिक नव जागति को प्रोत्साहन मिला। चित्र-कला और साहित्य के उत्तरोत्तर व्यापारीकरण का एक महत्त्वपूण कारण छापाखाना भी है। आधुनिक पत्र-पत्रिकाओ के साथ साथ आधुनिक भारतीय समाचार पत्र भी छापेखान की ही देन है। भारत म आधुनिक पत्रकारिता के जन्मदाता अंग्रेज और योरोपियन ही थे[1]। भारत मे आधुनिक समाचार पत्र का जन्म ग्रटब्रिटेन तथा भारत और पूव (The Fast) तथा पश्चिम (The West) को सम्पक म लाने वाली श्रृंखला की एक कडी के रूप म हुआ। कम्पनी के राज्यकाल म सम्पादक को सन्देह और अनुत्रास की दृष्टि स देखा जाता था। भारतीय पत्रकारिता का जन्म ही स्वातन्त्र्य (Freedom) और नियन्त्रण (Control) के सिद्धान्तो के झाबावात म हुआ, जिसका प्रभाव आज भी बना हुआ है किन्तु प्रस (Press) की स्वतन्त्रता और उस पर नियन्त्रण की समस्या भारत की ही समस्या नही है।

भारत के सामाजिक सगठन मे सम्पादकीय नेतत्व का अभ्युदय पत्रकारिता की मुख्य देन है। सम्पादकीय नेतत्व राजनतिक नेतत्व तथा परम्परागत जाति नतत्व दोनो से भिन्न रहा है। सम्पादकीय नेतत्व जाति पर निभर न होकर योग्यता पर

न अब्राह्मणो की शिक्षा पर जोर दिया और अब्राह्मणो से इस बात का अनुरोध किया कि वे ब्राह्मण पुरोहितो की सेवाओ को स्वीकार न करें। फुले ने सरकारी नौकरियों तथा स्वायत्त शासन क सगठनों में सभी जातियो के समान प्रतिनिधित्व की माग की। महाराष्ट्र में श्री अम्बेदकर फुले की ही परम्परा में आय। मद्रास का ब्राह्मण विरोधी आन्दोलन तथा आन्ध्र में दो पुरानी प्रतिद्वन्दी जातियो, खम्मा और रेड्डी, का ब्राह्मणो क विरुद्ध सगठित होना, पूना में फुले द्वारा चलाय हुए आन्दोलन के प्रसार मात्र ह श्रीनिवास एम० एन० वही।

1 अंग्रेजी राज की स्थापना पहले भारत में सन्देशवहन के मुख्य साधन थे शिलालेख, चित्र और घटनाओ को लेख बद्ध करन की मुगलकालीन परम्परा। औरगजेब के राज्यकाल में प्रादेशिक राजधानियों में वाक्या नवीस रखे जाते थे कहीं-कहीं व्यापारी समाचार पत्रों (News Letters) के लिखने के लिए समाचार-लेखको को नौकर रखते थे—ओ मेले इण्डिया एण्ड दि वेस्ट पष्ठ 188।

निभर रहा है। यही कारण है कि सम्पादकीय नेतत्व, एक ओर, भारत की सामाजिक नवजागति की द्वन्द्वात्मकता की उत्पत्ति रहा है तो, दूसरी ओर उसकी द्वन्द्वात्मक गत्यात्मकता को प्रभावित करने वाला महत्वपूर्ण कारक भी है। सम्भवत यह इसी परिस्थिति का प्रभाव है कि भारतीय सम्पादक, जहां शिक्षक और सुधारक रहा है वहां वह राजनैतिक आन्दोलक, (Political Agitator) भी रहा है। भारतीय पत्रकारिता के अग्रदूत व आधुनिक सामाजिक नवजागति के प्रणेता राजा राम मोहनराय जिन्होने पत्रकारिता को धार्मिक सामाजिक नवजागति का माध्यम बनाया। किन्तु बाद मे, कांग्रेस आन्दोलन के साथ साथ भारतीय पत्रकारिता राजनैतिक आन्दोलन का माध्यम बन गई। इसीलिए एक ओर यह कहा जाता है कि आन्दोलकता (Agitation) भारतीय पत्रकारिता की विशेषता रही है और, दूसरी ओर यह कहा जाता है कि भारतीय पत्रकार, एक ही साथ, भाषाविद, दार्शनिक धर्म सुधारक सामाजिक बुराइयों को दूर करने के लिए आन्दोलनकर्ता, लेखक और शिक्षक भी रहा है। भारत के मुख्य मुख्य आधुनिक आन्दोलनो की आधारशिलायें भारतीय पत्रकारिता ने ही रक्खी है[1]।

भारत के सामाजिक सांस्कृतिक जीवन म पत्रकारिता के इस व्यापक प्रभाव के कई परिणाम निकले। पत्रकारिता, अंग्रेजी भाषा के प्रचार और प्रसार का प्रादेशिक भाषाओं के विकास का माध्यम बनी। बंगला, हिन्दी और मराठी के आधुनिक विकास का सूत्रपात पत्रकारिता के माध्यम से हुआ। आधुनिक हिन्दी के जनक, भारतेन्दु हरिश्चन्द्र एक ओर, कवि और नाटककार थे तो, दूसरी ओर पत्रकार भी। जैसे रेडियो के माध्यम से अंग्रेजी का प्रभाव प्रादेशिक भाषाओं पर पड़ा, वैसे ही पत्रकारिता के माध्यम से प्रादेशिक भाषाओं पर अंग्रेजी का और भी व्यापक प्रभाव पड़ा। भारतीय पत्रकारिता की आन्दोलकता ने अंग्रेजी और प्रादेशिक भाषाओं म आन्दोलक शैली को जन्म दिया। भारत म प्रकाशित होने वाले तथा भारत म बाहर से आने वाले पत्र पत्रिकायें, भारतीय तथा योरोपीय ज्ञान विज्ञान के प्रसार का माध्यम बनी। अन्य सन्देशवाहक साधनो की भांति, समाचार पत्र भी भारत के एकीकरण और व्यापारीकरण म सहायक हुआ। समाचार पत्र वह मंच बन गया है जहां सामाजिक सांस्कृतिक समस्याओं का मूल्यांकन चलता रहता है—वह मूल्यांकन जो समालोचनात्मक दृष्टिकोण के विकास म सहायक है। प्रारम्भ से ही भारतीय पत्रकारिता का दृष्टिकोण राष्ट्रीय होने के साथ साथ, अन्तर्राष्ट्रीय रहा है। पत्रकारिता के माध्यम से, आधुनिक भारत का सामाजिक दृष्टिकोण विस्तृत और व्यापक हुआ है जिसकी झलक सामाजिक नवजागति के आधुनिक आन्दोलन म मिलती है।

योरोपीय प्रौद्योगिकी के प्रयोग के साथ साथ, भारत की परम्परागत प्रौद्योगिकी

1 जी मेले इण्डिया एण्ड दि वेस्ट पष्ठ 189 213

का भी प्रयोग चलता रहा। एक ओर रेल, मोटर और वायुयान का प्रयोग बढ़ा तो, दूसरी ओर, बैलगाड़ी का भी प्रयोग चलता रहा। बड़े-बड़े शहर यारोपीय प्रौद्योगिकी के आधार पर बने किन्तु उनमें भी वर्तमान यारोपीय प्रौद्योगिकी के साथ-साथ, परम्परागत जीवन चलता रहा। एक ओर उत्पादन में मशीनों का प्रयोग बढ़ा तो दूसरी ओर, परम्परागत कुटीर उद्योग भी चलते रहे। वास्तव में, स्वदेशी-आन्दोलन के माध्यम से, भारत ने योरोपीय प्रौद्योगिकी और भारत की परम्परागत प्रौद्योगिकी के समन्वय का प्रयास किया। एक ओर योरोपीय प्रौद्योगिकी के प्रभाव के कारण मशीनीकरण बढ़ा तो दूसरी ओर जैसा कि बुनियादी शिक्षा खादी-उद्योग और अन्य कुटीर उद्योगों के विकास के कार्यक्रमों से स्पष्ट है भारत की परम्परागत प्रौद्योगिकी को भी बनाये रखने का प्रयास किया गया है। यह प्रयास आज भी चल रहा है और भारतीय नियोजन के आधारभूत सिद्धान्तों में यह प्रयास शामिल है। योरोपीय औद्योगीकरण में भारत के परम्परागत कुटीर उद्योगों का क्या स्थान हो सकता है और किस प्रकार उनका समन्वय हो सकता है, इसका स्थायी सैद्धान्तिक उत्तर भारत के वर्तमान नियोजन कार्यक्रम की सफलता और असफलता पर निर्भर है।

प्रौद्योगिकी के साथ-साथ, भारत में वह योरोपीय ज्ञान विज्ञान भी फैला जिसने योरोपीय प्रौद्योगिकी को जन्म दिया था। भारत में अंग्रेजी शिक्षा के साथ-साथ एक ओर, भौतिक विज्ञानों के पठन पाठन का प्रसार हुआ तो, दूसरी ओर सामाजिक शास्त्रों का। योरोप के भौतिक तथा सामाजिक विज्ञान, विज्ञानवादी और प्रकृतिवादी विचारधारा पर आधारित थे। अतः भारत में प्रकृतिवादी और विज्ञानवादी विचारधारा का समावेश हुआ। इसके विपरीत भारत की विचारधारा रहस्यवादी और आध्यात्मिक थी। भारत के भौतिक विज्ञान भी इस विचारधारा से ओतप्रोत थे। भारतीय सामाजिक शास्त्रों का प्राण था भारत का रहस्यवादी दर्शन। योरोपीय भौतिक विज्ञान के परिणाम प्रत्यक्षतः उपयोगी थे। अतः, भारत में, उनकी ओर झुकाव बढ़ा। योरोपीय सामाजिक शास्त्रों और मार्क्सवादी विचारों के प्रसार के कारण, प्रकृतिवादी विज्ञानवादिता का प्रभाव बढ़ा जिसका परिणाम हुआ नूतन और प्राचीन का संघर्ष। योरोपीय प्रौद्योगिकी और ज्ञान विज्ञान के संपर्क से भारतीय समाज तथा संस्कृति में भारतीय तथा योरोपीय की प्रवरणात्मक समन्वय प्रक्रिया चल रही है और नूतन तथा प्राचीन के संघर्ष के रूप में योरोपीय बनाम भारत का संघर्ष भी चल रहा है।

३

प्रशासन तथा विधि-प्रणाली

भारत मे अंग्रेजी राज की मुख्य धुरी थी वह प्रशासन जिसका निर्माण अंग्रेजो न किया था और जो अग्रजी राज के साथ साथ बढता और विकसित होता रहा था। वतमान भारत की राज्य व्यवस्था भी उसी प्रशासकीय आधार पर खडी हुयी है। भारत मे अग्रजी राज और उसके प्रशासन के दो मुख्य ऐतिहासिक काल हैं—एक, अठारह सौ सत्तावन की राज्यक्रान्ति के पहल का काल और दूसरा उसके बाद स अब तक का काल। अठारह सौ सत्तावन क पहले का काल कम्पनी का राज्यकाल था जिसम प्रारम्भ म, प्रशासक व्यापारी भी हुआ करते थ। भारत म स्थायी प्रशासन की समस्या वस्तुत लाड कानवालिस क समय स प्रारम्भ हुयी और तभी स ही वतमान प्रशासन का प्रारम्भ भी होता है। भारत मे अंग्रजी प्रशासन का जनक कानवालिस को ही कहा जाता है। यह पहल ही कहा जा चुका है कि भारत म उच्च अग्रेज प्रशासक दो विचारो के रह हैं—एक श्रेणी म वे लोग हैं जिन्होने भारत को भारतीय परम्पराओं के अनुसार प्रशासित करने का प्रयास किया और दूसरी श्रणी मे वे आते हैं जिन्होने भारत म योरोपीय, विशेषतया इगलैण्ड की परम्पराओ का प्रवश किया। कानवालिस दूसरी श्रणी के प्रशासक थे और उन्होने भारत की नौकरशाही को इगलण्ड की नौकरशाही के आधार पर सगठित करने क प्रयास का जन्म दिया। राजकीय प्रशासन के साथ साथ सेना का प्रशासन भी इगलण्ड की परम्पराओ और नियमो के आधार पर सगठित किया गया।

कानवालिस न जिस प्रशासन की आधारशिला रखी थी उसका मुख्य आधार था तत्कालीन व्यापार की आवश्यकताय क्योकि उस काल क अग्रेज प्रशासको के सामने केवल दो आदश थे—एक भारत म अग्रेजी राज को बढाना और दूसरे अंग्रेजी व्यापार को सुरक्षित रखकर उस अधिकाधिक लाभदायक बनाना। उस समय का अंग्रेजी राज एक कल्याणकारी राज्य न था। यही कारण है कि अंग्रेजी प्रशासन का जन्म एक व्यापारी प्रशासन की परम्पराओ म हुआ। जसा कि वल्जली की उक्ति[1] से स्पष्ट है भारत का अग्रेजी प्रशासन बनिया राज की दन है। कम्पनी का प्रधान अधिकारी प्रेसीडेंट (President) कहलाता था और इसीकारण बगाल मद्रास और बम्बई के प्रान्त प्रान्त न कहला कर प्रसीडेंसी (Presidency) कहलाय। व्यापारी

---

1 लार्ड वेलेजली (1798 1805) ने इस बात की शिकायत की थी कि 'भारत पर राज्य राजधानी से नहीं बल्कि, पसा गिनने वाले दफ्तर से चलाया जा रहा है। यहां राज्य राजे नहीं, बल्कि, वे लोग चला रहे ह जो मलमल और नील की खुदरा बिक्री का काम करते ह'—दिनकर वही पृष्ठ 412

संगठन में किरानी (Writer) का प्रधान स्थान होता है। इसी आधार पर बंगाल के सचिवालय का नाम राइटर बिल्डिंग (Writer Building) पड़ा। इंडियन सिविल सर्विस का विकास ईस्ट इंडिया कम्पनी की नौकरशाही से हुआ है। अंग्रेजों के व्यापारिक संगठन में उच्च अधिकारी व्यापारी भी होता था और साथ ही साथ राजनैतिक प्रशासक भी। इसी परम्परा का परिणाम है कि इंडियन सिविल सर्विस के अधिकारी सभी विषयों और मामलों के विशेषज्ञ माने जाने लगे और आज भी माने जाते हैं[1]। इसीकारण इंडियन सिविल सर्विस के अधिकारी उस साधारण ज्ञान के आधार पर कार्य करते हैं जो उन्हें प्रशिक्षण और अनुभव से मिलता है। किसी भी विभाग के विशेष ज्ञान से उनका कोई सरोकार नहीं है क्योंकि किसी विभाग में उनको स्थाई रूप से नहीं रक्खा जाता है।

कम्पनी के प्रधान कार्यालय में और भारतीय कार्यालय में काफी दूरी थी। अतः सारा प्रशासन विवरण (Report) वृत्त (Minutes) और टिप्पणियों (Notes) के आधार पर चलता था। इसका परिणाम यह हुआ कि विवरण वृत्त और टिप्पणी ही प्रशासन की मुख्य धुरी बन गये। इससे एक ओर कलम को प्रशासन में महत्त्व मिला और दूसरी ओर सबसे योग्य अफसर वह समझा जाने लगा जो विवरण, वृत्त और टिप्पणी लिखने में कुशल हो। प्रशासन की सारी कुशलता, सिमट कर कलम में समा गयी। कोई आश्चर्य नहीं यदि इंडियन सिविल सर्विस के सदस्यों के चुनाव का आधार बनी वह परीक्षा पद्धति जिसका प्रयोग स्कूल और कालेजों में किया जाता है और जिसमें उम्मीदवार की लेखन-कुशलता का ही अधिक पता चलता है। साहित्यिक कुशलता ही इंडियन सिविल सर्विस में स्थान पाने का मुख्य आधार बन गया। भारत में नौकरशाही की परम्परा मौर्यकाल से चली आ रही थी और अशोक तथा अकबर ने जिस प्रशासन के आधार पर अपने साम्राज्यों को खड़ा किया था उसका आधार जातिगत नौकरशाही थी। किन्तु जाति पर आधारित होने के कारण वह नौकरशाही कार्यात्मक विशेषीकरण (Functional Specialization) पर आधारित थी। प्रशासन के एक विभाग विशेष का कार्य करने वाले व्यक्ति उस विभाग विशेष चलाने के लिये आवश्यक विशेष ज्ञान, अपनी जाति परम्परा के अनुसार, प्राप्त करते थे। अंग्रेजों ने भी इस परम्परा का उपयोग किया। अंग्रेजों ने भारत में

---

1 प्रान्तीय सेवाओं और अखिल भारतीय सेवाओं में यह परम्परा आज भी विद्यमान है। कुछ विभागों को छोड़कर अन्य विभागों में विशेषीकरण की आवश्यकता को महत्व नहीं दिया जाता है। इसीकारण यह देखनेमें आता है कि जो अधिकारी आज डिप्टी मजिस्ट्रेट है, वह कल को नियोजन-अधिकारी हो जाता है। जो अधिकारी आज जिलाधीश है वह कल को उद्योग विभाग का संचालक हो जाता है।

सिद्धान्त निर्धारित किया था कि उन मुकदमों में जिनमें पारिवारिक सम्बन्धों और धार्मिक संस्थाओं का मामला है, न्यायालय आवश्यकतानुसार हिन्दू और इस्लामी स्वीय विधि को लागू करेंगे। वारेन हेस्टिंग्ज द्वारा प्रतिपादित सिद्धान्त के दो आधार थे—पहला, हिन्दू और मुसलमानों में स्वीय विधि पहले ही से विद्यमान थी और दूसरा, वारेन हेस्टिंग्ज का यह मत था कि भारत में अंग्रेजी सत्ता निश्चय ही एक भारतीय सत्ता होगी—वह सत्ता जो भारत की प्रचलित प्रथाओं में उतना ही फेर बदल करेगी जितना नितान्त आवश्यक होगा और जिसका आधार देश की प्राचीन विधि प्रणाली होगा।

भारतीय विधि प्रणाली के विद्यार्थियों के मत में वस्तुस्थिति इतनी सरल न थी जितनी कि हेस्टिंग्ज ने कल्पना की थी। इसमें कोई सन्देह नहीं कि भारत में स्वीय विधि पहले ही से विद्यमान थी किन्तु उसके वैधानिक तथा व्यावहारिक स्तरों में इतना असामञ्जस्य था कि दोनों परस्पर निर्मूल लगते थे। हिन्दू स्वीय विधि के स्वरूप और उसके निर्वचनों पर मतैक्य न था जिसके परिणामस्वरूप हिन्दू धर्मशास्त्रों से स्वीय विधि का जो रूप निखरता था वह नितान्त अनिश्चित था। दूसरी ओर हिन्दू सामाजिक तथा वैयक्तिक व्यवहार में प्रथाओं का प्राधान्य था—उन प्रथाओं का जो स्थान-स्थान पर भिन्न थीं और जो बहुधा शास्त्रप्रणीत सिद्धान्तों के प्रतिकूल पड़ती थीं। हिन्दू दण्ड तथा न्यायिक विधान भी एक ओर, अनिश्चित था और, दूसरी ओर, उस प्रकार के व्यक्तिवादी समता सिद्धान्त पर आधारित नहीं था जो नयी व्यवस्था की आवश्यकता थी। परम्परागत दण्ड विधान में जहाँ, एक ओर, यह विधान था कि शूद्र के साक्ष्य के आधार पर ब्राह्मण को दण्ड नहीं दिया जाना चाहिये वहाँ, दूसरी ओर, अलग अलग अपराधों के लिये अलग अलग जातियों को अलग अलग दण्ड देने का विधान था। नयी पूँजीवादी सामाजिक आर्थिक व्यवस्था के लिये आवश्यक संविदा विधि का हिन्दू विधि प्रणाली में पूर्णतया अभाव था[1]। जिनका पालन उचित माना गया है किन्तु जिनका वास्तविक विधिवत् प्रशासन कभी नहीं किया गया है।

इसी प्रकार मुस्लिम विधि प्रणाली में भी संविदा विधि का अभाव था। इस्लामी स्वीय विधि (Personal Law) हिन्दू स्वीय विधि की अपेक्षा अधिक निश्चित थी किन्तु योरोपीय मापदण्डों के अनुसार वह आधुनिक न थी। दूसरी ओर, हिन्दुओं की भाँति मुसलमानों पर प्रथाओं का अधिक प्रभाव था और उनकी प्रथायें

---

1 सर बेंजमिन लिंडसे के अनुसार, हिन्दू विधि प्रणाली का ज्ञान कुछ उन धार्मिक पुस्तकों से होता है जिनको ईश्वरीय मान कर उन पर लम्बे-लम्बे काल्पनिक भाष्य लिख गये हैं। हिन्दू विधि प्रणाली वस्तुतः धार्मिक नगरीय और औपचारिक आदेशों का संग्रह है जो मेले।

हिन्दुओं के ही अधिक समीप थी। मुसलमानों से भिन्न वाली व्यवस्था में इस्लामी दण्ड विधान का प्रचलन था किन्तु वह दण्ड विधान बर्बर और पक्षपात पूर्ण था, क्योंकि जिस प्रकार हिन्दू विधान में शूद्र के साक्ष्य पर ब्राह्मण के दण्ड न देने का विधान था, उसी प्रकार इस्लामी दण्ड विधान में मुसलमानों के विरुद्ध गैर मुसलमान का अभिसाक्ष्य (Testimony) न स्वीकार करने का विधान था। इन परिस्थितियों में जैसा कि पनिक्कर का मत है यह सिद्धान्त लागू करना कि विधि के समक्ष सभी समान हैं, वास्तव में एक वैधानिक क्रान्ति (Legal Revolution) से कम नहीं है।

अंग्रेजों के पहले की न्यायिक व्यवस्था में न्याय प्रशासन के तीन स्तर थे—एक, बादशाह या उसके प्रतिनिधि और काजी का दूसरा गांव पंचायत का और तीसरा जाति पंचायत का। इन तीनों स्तरों में दूसरे और तीसरे ही प्रधान थे और इन स्तरों पर पाए जाने वाले संगठनों, (गांव-पंचायत तथा जाति पंचायत) में कार्यपालक (Executive), न्यायिक (Judicial) और वैधायी (Legislative) कार्य तथा अधिकार निहित थे। किन्तु इन संगठनों में, भी जाति पंचायत का स्थान मुख्य था क्योंकि व्यक्ति पर, परिवार के बाद प्रत्यक्ष नियंत्रण जाति पंचायत का ही था। इन संगठनों द्वारा लागू की जाने वाली सारी विधि प्रणाली प्रथाओं पर आधारित थी और वह बाइबिल वाले उस सिद्धान्त पर आधारित थी जिसमें यह कहा गया है कि दांत के लिए दांत और आंख के लिए आंख। सारा दण्ड विधान निदर्शनात्मक और प्रतिरोधक (Exemplary & Deterent) था[1]। इसमें कोई सन्देह नहीं कि राज्य और उसके प्रतिनिधि, सम्राट अथवा बादशाह को, धर्मनिरपेक्ष अधिकार प्राप्त थे और वह जाति पंचायत अथवा ग्राम पंचायत के विधि विधान को आवश्यकतानुसार बदल सकता था क्योंकि वही राज्य का सर्वोच्च पुनर्विचार-न्यायालय हुआ करता था। किन्तु भारतीय न्यायिक प्रशासन की परम्परा का आधारभूत सिद्धान्त यह था कि प्रजा पर उसकी प्रथाओं के अनुसार शासन करना राजा का कर्तव्य है और सम्भवतः इसी कारण जहां, एक ओर, स्मृतिकारों ने समय-समय पर विधि विधान का निरूपण किया और पहले से निरूपित विधि विधान पर भाष्य लिख कर उन्हें स्पष्ट करने का प्रयास किया वहां, दूसरी ओर राज्य ने स्मृतिकारों की वैधिक मन्त्रणाओं को तो माना किन्तु, वैधिक तथा न्यायिक प्रशासन में, जहां तक हो सका प्रथाओं को ही सर्वोपरि रक्खा। इसी परम्परा का परिणाम यह हुआ कि एक ओर, धर्मशास्त्रीय विधि प्रणाली चलती रही तो दूसरी ओर, प्रथा पर आधारित व्यावहारिक विधि-प्रणाली। जहां शास्त्रीय विधि तथा प्रथायी विधि में असामंजस्य हो वहां स्मृतिकारों ने भी प्रथा को ही महत्व देने की सलाह दी है।

---

1 हटन, जे० एच० कास्ट इन इण्डिया

अंग्रेजी राज की स्थापना के पहले, अखिल भारतीय विधि प्रणाली के निरूपण की आवश्यकता नहीं पड़ी थी क्योंकि उसके पहले ग्राम पंचायत तथा जाति पंचायत को ही राजनैतिक तथा न्यायिक प्रशासन का आधार माना जाता था। किन्तु जैसा कि पहले कहा जा चुका है, अंग्रेजी राज के संघात से जो व्यवस्था उत्पन्न हो रही थी उसमें गाँव तथा जाति का परम्परागत महत्व समाप्त हो रहा था। दूसरी ओर, अंग्रेजों की 'सभ्य सरकार' की कल्पना भिन्न थी। अंग्रेजी राज केन्द्रीय सत्तावादी राजतंत्रिक विधान था और जिस समय भारत में अंग्रेजी राज की स्थापना हुयी थी उस समय तक इंगलैंड में पार्लियामेंट इतनी सबल हो चुकी थी कि उसकी अनुमति से सरकार सामाजिक सुधारों के लिए भी विधि का निर्माण कर सकती थी। भारत में विधि को ईश्वरीय समझा जाता था जबकि इंगलैंड में विधि को मनुष्य की अच्छाई के लिए मनुष्य द्वारा बनाया हुआ एक ऐसा साधन माना जाता था जो आवश्यकतानुसार बदला जा सकता था। योरोप से सम्पर्क स्थापित होने पर सती, बाल विवाह और बहुविवाह जैसी प्रथायें असामाजिक प्रतीत होने लगीं और उनको विधि द्वारा दूर करने की माँग भारतवासियों ने की। इस माँग पर दो प्रकार की विचारधारायें चलीं— एक नवजागतिवादी और दूसरी परम्परावादी। जिसे नवजागतिवादियों ने असामाजिक कट्टर दूर करने की माँग की उसे परम्परावादियों ने शास्त्रप्रणीत सिद्ध किया। वास्तव में दोनों मतों के मानने वालों ने अपने अपने तर्कों को शास्त्र प्रणीत सिद्ध करने का प्रयास किया और ऐसी ही दशा में यह स्पष्ट होने लगा कि परम्परागत विधि प्रणाली विरोधात्मक तथा अनिश्चित है। साथ ही साथ, अंग्रेजी राज के माध्यम से जिस सामाजिक आर्थिक व्यवस्था का जन्म हो रहा था उसमें संविदात्मक सम्बन्धों (Contractual Relations) को नियमित करने का कोई भी वैध विधान न था। अतः सन अठारह सौ तैंतीस के आस पास की परिस्थितियों में भारत के अंग्रेज प्रशासकों को भारत की परम्परागत विधि प्रणाली, असमान, अस्पष्ट और अनिश्चित लगी[1]।

भारत की आधुनिक विधि प्रणाली के इतिहास के दृष्टिकोण से सन अठारह सौ तैंतीस का साल एक महत्वपूर्ण साल है क्योंकि इसी साल में गवर्नर जनरल की परिषद में विधि-सदस्य (Law Member) को नियुक्त किया गया विनियमन (Regulation) द्वारा विधि निर्माण रचना की रीति को समाप्त कर दिया गया और उस साल के गवर्नमेन्ट आफ इण्डिया एक्ट (Govt of India Act of 1833) के द्वारा यह निर्धारित किया गया कि जो विधियाँ भारत के सभी वर्गों पर लागू हों वे अधिनियमित की जायें। इसी साल से अखिल भारतीय विधि को अधिनियमित करने

1 यूनुस एम० सलाहुद्दीन सय्यद अब्दुल लतीफ द्वारा सम्पादित पुस्तक एन० आउटलाइन आफ दि कल्चरल हिस्ट्री आफ इण्डिया पृष्ठ 258 259

का प्रयास प्रारम्भ होता है और वर्तमान भारत की विधि प्रणाली इसी प्रयास का परिणाम है। गवर्नर जनरल की परिषद के प्रथम विधि-सदस्य ने विधि निरूपण के लिए यह सिद्धान्त प्रतिपादित किया कि जहाँ हो सके समानता लाई जाय, जहाँ अत्यन्त आवश्यक हो और कोई चारा न हो वहाँ विभिन्नता बनी रहने दी जाय किन्तु प्रत्येक दशा में निश्चितता अवश्य लायी जाय। निश्चितता लाने के लिए विधि के संहितीकरण (Codification of Law) की आवश्यकता पड़ी जिसके लिए समय-समय पर विधि आयोगों (Law Commissions) के संगठन का विधान किया गया। सन अठारह सौ चालीस में प्रथम विधि-आयोग ने यह सिफारिश की कि हिन्दू और मुसलमानों की स्वीय विधि (Personal Law) को ज्यों का त्यों रहने दिया जाय और अन्य अखिल भारतीय विधि की रचना अंग्रेजी विधि के आधार पर हो। दूसरे विधि आयोग ने भी उसी प्रकार, हिन्दू तथा मुस्लिम विधियों को छोड़ कर, सम्पूर्ण भारत के लिए मौलिक विधि (Substantive Law) की रचना करने की सिफारिश की। तीसरे विधि आयोग (1861) ने इसी दिशा में प्रयास प्रारम्भ किया। इन्हीं प्रयत्नों के परिणाम हैं दि कोड आफ सिविल प्रासीजर (The Code of Civil Procedure 1859), दि पिनल कोड (The Penal Code 1860), दि क्रिमिनल प्रासीजर कोड (The Criminal Procedure Code 1861), दि इण्डियन सक्सेशन एक्ट (The Indian Succession Act 1865), दि एवीडेन्स एक्ट (The Evidence Act of 1872) और दि इण्डियन कन्ट्रैक्ट एक्ट (The Indian Contract Act 1872)।

जिन सिद्धान्तों पर भारतीय विधि प्रणाली की रचना की गयी है उनके कारण वर्तमान भारत की विधि प्रणाली न तो अंग्रेजी ही है और न भारतीय ही। मैकाले के सिद्धान्त में सबसे ज्यादा जोर निश्चितता पर था। निश्चितता के आगे मैकाले ने समानता (Uniformity) को उतना महत्व नहीं दिया था। यह कह कर कि जहाँ विभिन्नता टाली न जा सके, वहाँ उसका रहना अनिवार्य है, मैकाले ने वस्तुतः प्रथायी विधि और प्रथायी वैधिक विभिन्नता को अप्रत्यक्ष मान्यता दे दी थी। जब, सन् अठारह सौ अड़सठ में इंगलैंड की प्रिवी कौंसिल (The Privy Council) ने यह निर्धारित कर दिया कि हिन्दू विधि में शास्त्र की अपेक्षा प्रथा का प्रमाण (Proof of Usage) अधिक माननीय है तो अप्रत्यक्ष रूप से, एक ओर प्रथा को वैधिक (Legal) मान्यता प्राप्त हुयी और, दूसरी ओर, भारत की विधि प्रणाली में पायी जाने वाली भिन्नता को भी मान्यता मिली। सामान्य मौलिक विधि जो अंग्रेजी विधि पर आधारित है सम्पूर्ण भारतवर्ष में अवश्य समान है किन्तु अन्य विधि असमान है। इसका सबसे बड़ा उदाहरण है भूमि विधि (Land Law) जो आज भी सम्पूर्ण भारत में समान नहीं है।

भारत में विधि के संहितीकरण की आवश्यकता पर जोर देते हुए मैकाले ने

कहा था, "मेरे विचार में भारत के अलावा शायद ही कोई ऐसा देश हो जिसे विधि संहिता (Code of Laws) की इतनी आवश्यकता हो जितनी कि भारत को है और भारत के अलावा शायद ही कोई ऐसा देश हो जहाँ यह आवश्यकता इतनी आसानी से पूर्ण हो सकती हो जितनी आसानी से यह भारत में पूर्ण हो सकती है'। किन्तु साथ ही साथ, उसने यह भी कहा था "भारत में समान विधि प्रणाली का उद्देश्य वाछनीय अवश्य है किन्तु वह अप्राप्य है।' अठारह सौ पचपन के पहले के विधि आयोगों ने भी इसी बात पर जोर दिया था कि हिन्दू और मुस्लिम स्वीय विधियों के अधिनियमन (Enactment) की आवश्यकता नहीं है क्योंकि एक ओर ये समाज ही विषम और विजातीय है और दूसरी ओर हिन्दू और मुस्लिम स्वीय विधियों का आधार धर्म है और चूँकि अंग्रेजी विधान सभा हिन्दू और मुस्लिम धर्मों का निर्माण नहीं कर सकती है, वह हिन्दू और मुस्लिम विधियों का अधिनियमन नहीं कर सकती है[1]। इसका परिणाम यह हुआ कि सन् अठारह सौ अट्ठावन के घोषणापत्र में क्वीन विक्टोरिया ने यह नीति निर्धारित की कि विधियों के अधिनियमन और प्रशासन में हिन्दुओं की प्राचीन रूढियों, रीति रिवाजों और प्रथाओं का ध्यान रक्खा जायगा। इसका परिणाम यह हुआ कि स्वीय विधि का अधिनियमन तो किया गया किन्तु उसमें स्थानीय प्रथाओं को अपवाद माना गया। उन्नीस सौ पचपन का हिन्दू विवाह अधिनियम (The Hindu Marriage Act) ऐसे उदाहरणों से भरा पड़ा है। हिन्दू विवाह के आधारों को निर्धारित करते हुए, सपिण्ड विवाह का निषेध किया गया है किन्तु जहाँ प्रथा से सपिण्ड विवाह जायज है वहाँ उसकी अनुमति दे दी गयी है। सपिण्ड की परिभाषा भी हिन्दू प्रथा पर आधारित है न कि शास्त्रों पर। इसीप्रकार विवाह कर्मकाण्ड के विषय में यह निर्धारित किया गया है कि वर या वधू में से किसी के यहाँ प्रचलित कर्मकाण्ड के आधार पर विवाह सम्पन्न हो सकता है और यदि अपनाये जाने वाले कर्मकाण्ड में सप्तपदी का विधान है तो वैधिक रूप से विवाह तभी सम्पन्न माना जायगा जब सप्तपदी का कर्मकाण्ड पूर्ण हो जायगा[2]।

अंग्रेजों द्वारा अपनायी जाने वाली इस विधि प्रणाली के दो परिणाम निकले। एक, भारत में अंग्रेजी विधि प्रणाली के लागू करने पर भी भारतीय संस्कृति का ऊर्ध्वगामी विकास होता रहा। सर बेंजमिन लिंडस ने यह स्वीकार किया है कि भारत में हिन्दू और मुस्लिम विधियों का संहिताकरण एक दुष्कर कार्य रहा है और इस कारण भारत में अंग्रेजी विधि प्रणाली को उस रूप में स्वीकार किया गया है जिस रूप में वह भारत में लागू की जा सके। किन्तु वास्तविकता यह है कि भारत की स्वीय विधियों

---

1 भारत सरकार द्वारा प्रकाशित सोशल लेजिस्लेशन पृष्ठ 18

2 सक्सेना काशी प्रसाद दि कमेंटरीज आन हिन्दू मैरिज एक्ट 1955 पृष्ठ 6 7

के संहिताकरण (Codification) में प्रथाओं का, अंग्रेजी विधि प्रणाली के अनुसार, अधिनियमन किया गया है। इसका परिणाम हुआ है भारतीय विधि का ऊर्ध्वगमन और भारतीय संस्कृति म अंग्रेजी विधि प्रणाली का समन्वय। इसका दूसरा परिणाम हुआ है भारतीय विधि प्रणाली की विषमता। अपने वर्तमान रूप और आकार में भारतीय विधि प्रणाली उस मकान की तरह है जिसकी यहां-वहां मरम्मत कर दी गयी है और, यहा वहा इतनी मरम्मत के बाद भी, जिसमे सूराख बाकी है[1]। वर्तमान भारत की स्वीय विधि प्रणाली पूर्वोदाहरण (Precedent) रूढ़ि (Custom) और परम्परा (Tradition) का एक वह विचित्र जमघट है जो पिछले सौ वर्षों से अनियमित रूप मे एकत्र होता रहा है, जो हमारी वर्तमान प्रथाओं के अनुरूप भी नहीं पड़ता है और समता (Equality), सामाजिक न्याय (Social Justice) या समानता (Uniformity) के सिद्धान्त पर खरा ही उतरता है[2]। इसी विकास परम्परा का परिणाम है कि विरोधी प्रथायें भी चलती रहती हैं क्योंकि जिस प्रथा पर विधि आधारित है उसका अपवाद भी उतना ही वैध है जितनी कि प्रथायी विधि। जौनसार के निवासी अपनी परम्पराओं और प्रथाओं से हिन्दू हैं किन्तु उनमे बहुपतित्व वैध है जबकि हिन्दू मैरिज एक्ट (1955) के अनुसार हिन्दुओं म बहुपतित्व अवैध है।

अंग्रेजी राज के माध्यम से, योरोप के सम्पर्क मे आने पर भारत म भी योरोप की सी राजनतिक जागृति फली। योरोप की भाति भारत म भी कल्याणकारी राज्य की स्थापना की भावना का प्रचार हुआ। इसके परिणामस्वरूप भारत म भी सामाजिक विधान द्वारा सामाजिक सुधार की माग बढ़ी। उधर, *अंग्रेजी सरकार ने अनेक सुधारों के लिए सामाजिक विधान का आश्रय* लिया। इसका परिणाम हुआ भारत म सामाजिक विधान की उत्तरोत्तर रचना। स्वीय विधि के समान सामाजिक विधान का निर्माण भी धीरे धीरे और अलग अलग हुआ है और, इसीकारण, भारत का सामाजिक विधान भी समय-समय पर पास किए गए अधिनियमों का एक जमघट है। सामाजिक विधान भी सामाजिक समस्याओं को दूर करने के लिए बनाया गया है न कि भारतीयों की उस सामूहिक चेतना की माग के रूप म जिसका उद्देश्य है सामाजिक समस्याओं के शिकार व्यक्तियों को उचित और वांछित जीवन के योग्य बनाना। अंग्रेजी राज म सामाजिक विधान का उद्देश्य रहा है सामाजिक समस्याओं से पीड़ित व्यक्तियों से समाज की रक्षा करना न कि सामाजिक समस्याओं का निराकरण। इसीकारण, अंग्रेजी विधि-प्रणाली पर आधारित सामाजिक विधान और प्रथाओं म कहीं-कहीं विरोध भी पैदा हुआ और उसके कारण परम्परागत प्रथायें सामाजिक अपराध का कारण

---

1 यूनुस, एम० सलाहुद्दीन वही

2 विश्वास, सी०सी० भारत सरकार द्वारा प्रकाशित सोशल लेजिस्लेशन में पृष्ठ V

चेनी[1]। भारत का अधिकतर सामाजिक विधान मुख्यतया दण्डिक (Punitive) रहा है और, इसकारण, पुलीस व्यवस्था ही समाज सुधार का मुख्य माध्यम रही है क्योंकि दण्डिक विधान के अनुसार काम न करने वाले को पुलीस ही दण्ड दिलवाती है फिर भी अंग्रेजो राज-काल म जो भी सामाजिक विधान बना उसस उन समस्याओं के प्रति जागरूकता फली जिनके लिए सामाजिक विधान का निर्माण किया गया। नारियो के सम्पत्ति अधिकार, बाल विवाह, अन्तर्जातीय विवाह विधवा विवाह, अस्पश्यता और व्यवसायिक तथा प्रथायी धार्मिक वश्यावत्ति ऐसी समस्यायें है जिनका सामाजिक विधान स निराकरण तो नही हो सका किन्तु उनके प्रति, सामाजिक विधान के कारण सामाजिक चेतना अवश्य फैली। सामाजिक विधान रचन के सरकारी तथा गर सरकारी प्रयत्नो के कारण भारत म कल्याणकारी राज्य और सामाजिक कल्याण सम्बन्धी आधुनिक विचारो का प्रसार हुआ और उनका परिणाम हुआ स्वतन्त्र भारत के सविधान म बुनियादी अधिकारो और कल्याणकारी राज्य की स्थापना के लिए राज्य नीति के नदेशिक सिद्धान्तो का निरूपण।

भारत म सावधानिक विधि (Constitutional Law) का विकास, इगलड तथा योरोप की सावधानिक विधियो और प्रथाओ स प्ररित रहा है। भारत की सावधानिक विधि पर इगलैण्ड का प्रत्यक्षतम प्रभाव है क्योंकि भारत म सावधानिक विधि की रचना का श्रीगणेश ही अग्रेजो के हाथो हुआ है। भारत म सावधानिक विधि का प्रवश उन्नीस सौ उन्नीस के मिंटो मार्लो के सावधानिक सुधारो क साथ-साथ प्रारम्भ होता है और उसकी पराकाष्ठा उन्नीस सौ पतीस के गवनमेन्ट आफ इण्डिया एक्ट म होती है। अंग्रेजी राज मे चलने वाला स्वतन्त्रता-सग्राम वस्तुत सावधानिक सुधारो और मागो का इतिहास है और वह इगलड के राजनतिक दाशनिको और वहा की सावधानिक प्रथाओ से प्ररित रहा है। भारत की आधुनिक सामाजिक नवजागति क प्रणेता राजा राममोहन राय न यही माग की थी कि जैसा राजनतिक विधान इगलड म है वसा ही भारत म हो।

वतमान भारत का सविधान अंग्रेजो द्वारा निर्मित उन्नीस सौ पतीस के

---

1 (अ) हैकरवाल, विजय शकर सोशियो-इकनामिक आस्पेक्टस आफ क्राइम इन इण्डिया

(ब) इसका सबसे ज्वलत उदाहरण है सन उन्नीस सौ उन्तीस का चाइल्ड मरिज रेस्ट्रेंट एक्ट जो जनसाधारण में शारदा एक्ट के नाम से प्रसिद्ध है। यह एक्ट केवल दण्डिक (Punitive) है। अत, इसमें बाल विवाह करन वालो क लिए दण्ड का तो विधान है पर बाल विवाह की प्रथा को रोकने का कोई विधान नहीं है। ऐसी ही वधिक परिस्थितियों में प्रथा अपराध का कारण बन जाती है।

गवर्नमेंट आफ इण्डिया एक्ट की वस्तुत एक प्रतिकृति है। इङ्गलैंड का संविधान अलिखित है किन्तु अंग्रेजों ने भारत में लिखित संविधान बनाने की प्रथा डाली। वर्तमान भारत के संविधान को लिखित बनाने की प्रेरणा अंशत भारत में अंग्रेजी सांवैधानिक प्रथाओं की देन है और अंशत अमरीकी संविधान से मिलने वाली प्रेरणा की। भारतीय संविधान में निहित बुनियादी अधिकार और संधानीयता (Federalism) अमरीकी संविधान से लिये गये हैं और राज्य नीति के निदेशात्मक नियम (Directive Principles of State Policy) आयरलैंड के संविधान से। भारतीय संविधान एक ओर व्यक्तिवादी है और दूसरी ओर समष्टिवादी। यह पश्चिम के ही प्रभाव का परिणाम है कि भारत के संविधान में पारस्परिक विरोधी व्यक्तिवादी तथा समष्टिवादी धारणाओं का समावेश हुआ है। व्यक्तिवाद और समष्टिवाद दोनों योरोप की देन हैं। सर आइवर जेनिंग्स का उद्धरण देते हुए सलाहुद्दीन युनुस ने लिखा है कि भारतीय संविधान वस्तुत, एक व्यक्तिवादी प्रलेख (Individualistic Document) है जिसके प्रेरक हैं बर्क (Burke) मिल (Mill) और डाइस (Dicey) जैसे अंग्रेज विचारक। किन्तु साथ ही साथ जहां उसमें एक ओर उन्नीसवीं शताब्दी की व्यक्तिवादी धारणा के प्रभाव में और स्वतन्त्रता (Liberty) के स्वत्व के हित में राज्य के अधिकारों का सीमित करने का विधान किया गया है वहां दूसरी ओर, बीसवीं सदी की समष्टिवादी विचारधारा के प्रभाव में राज्य के अधिकारों को यथा-शक्ति विस्तृत करने का प्रयास किया गया है ताकि राज्य आर्थिक जीवन का नियमन कर सके। भारतीय संविधान जिस स्वतन्त्रता का प्रतिपादन करता है उस सीमित भी करता है। भारतीय संविधान में झलकती हुयी यह द्विभाजिता वस्तुत, वर्तमान योरोपीय जीवन की द्विभाजिता (Dichotomy) है[1]।

यह पहले ही कहा जा चुका है कि अंग्रेजी राज की स्थापना के पूर्व भारत की विधि प्रणाली का वास्तविक रूप प्रथायी था और उसका एक बहुत बड़ा अंश गांव और जाति में निहित था। भारत के परम्परागत सामाजिक आर्थिक संगठन में गांव (ग्राम) और जाति दो ऐसी इकाइयां रही हैं जिनमें सामाजिक सांस्कृतिक, आर्थिक राजनैतिक तथा वैधिक (Legal) तत्वों का समावेश हुआ है। ग्राम का आधार सहवासी समुदायिक होने के साथ-साथ राजनैतिक भी था क्योंकि ग्राम संगठन, ग्राम-पंचायत, में निष्पादक (Executive) न्यायिक (Judicial) और विधायी (Legislative) अधिकार और कार्य निहित थे। इसीप्रकार जाति भी अंशत आर्थिक, अंशत सामाजिक अंशत सांस्कृतिक अंशत आर्थिक अंशत राजनैतिक और वैधिक आधारों में निहित थी और ग्राम पंचायत की भांति जाति पंचायत में भी न्यायिक (Judicial) निष्पादक (Executive) और विधायी (Legislative) अधिकार और

1 यूनुस एम० सलाहुद्दीन वही

काय निहित थे। ग्राम और जाति दोनों परम्परागत राजनतिक सगठन के दो मुख्य अग थे और प्रशासन के मुख्य माध्यम भी।

अग्रेजी राज म, भारत मे, जिस विधि प्रणाली का रचना की गयी उससे ग्राम तथा जाति से उनके विधायी तथा यायिक अधिकार और काय ले लिए गये जिसस उनके सामाजिक आधार हिले और, उनका व्यक्ति पर से प्रभाव कम होने लगा। अग्रेजी राज्य म विधि रचना का अधिकार और काय राज्य के हाथ मे चला गया, निष्पादक काय सरकार के हाथ म और न्याय प्रशासन का काय न्यायालयों क हाथ म। इण्डियन पेनल कोड (Indian Penal Code), कोड्स आफ सिविल एण्ड क्रिमिनल प्रासीजर (Codes of Civil and Criminal Procedure) और अठारह सौ बहत्तर के इवीडस एक्ट (Evidence Act 1872) क द्वारा ग्राम पचायत तथा जाति पचायत के न्यायिक और विधायी काय ग्राम तथा जाति पचायतो स लेकर राज्य क विभिन्न विभागो को सौंप दिय गये। नयी आर्थिक व्यवस्था न ग्राम के आर्थिक महत्व को पहले ही समाप्त कर दिया था। नयी विधि प्रणाली न ग्राम क राजनतिक, न्यायिक तथा विधायी महत्व को समाप्त कर दिया। इसका परिणाम हुआ ग्राम पचायत का स्वत विशृखलन। जाति पचायत का महत्व कम अवश्य हुआ किन्तु उसका विशृखलन न हो सका और उसका सबस महत्वपूर्ण कारण है कि जाति के मुख्य आधार अन्तर्विवाह का बना रहना। हा यह अवश्य हुआ कि नयी वधिक और न्यायिक व्यवस्था म जाति पचायत का ही निर्णय अन्तिम न रहा। जाति क व सभी वधिक और दण्डिक नियम समाप्त हो गये जो राज्य द्वारा निर्मित विधि प्रणाली क विरोध म जाते हैं[1]।

1 दण्ड के रूप में अपराधी का सिर मुडा देना उसे जूतो से पिटवाना या सारे पचो के जूतो को कपडो में बाध कर अपराधी के सिर पर रखवा कर उसे अपमानित करना एक साधारण बात थी। किन्तु आज ये दण्ड कम हो गये ह और अधिकतर दण्ड जर्माने के रूप में दिया जाता है। पहले अपनी सत्यता सिद्ध करने के लिए तथाकथित अपराधी को उबलते हुए तल या घी में हाथ डालने की बात भी सुनी जाती ह। यह भी सुना जाता है कि अपने को निर्दोष सिद्ध करने के लिए अपराधी हाथ में जलता हुआ अगारा रख लेता था। इसके पीछे यह भावना थी कि निर्दोष न तो अगारा लेकर जलेगा और न उबलते हुए तेल या घी में हाथ डाल कर। अठारह सौ बहत्तर के इवीडेंस एक्ट में ऐसे साक्ष्यो का कोई महत्व न ीं है। और फिर, आज जाति पचायतके निर्णय के विरुद्ध न्यायालय में अपील हो सकती है। नयी विधि प्रणाली पर आधारित दण्ड विधान के समक्ष परम्परागत दण्ड विधान किन्हीं किन्हीं अवस्थाओ में अपराध हो गया है। मध्यप्रदेश की कलबलिया नामक गणजाति में बलात्कार के अपराध के लिए डाम लगाने की प्रथा सुनी जाती है। डाम लगाने का अर्थ है लाल गर्म लोहे से अपराधी पुरुष के मस्तक या गुप्ताग पर निशान लगाना। किन्तु वर्तमान इण्डियन पेनल कोड के अनुसार, एस दण्ड का देने वाला ही दण्ड का भागी होगा।

४

शिक्षा

अंग्रेजी राज काल में भारत की परम्परागत शिक्षा पद्धति का भी योरोपीय रूपान्तरण हुआ। भारत की वर्तमान शिक्षा-पद्धति इसी रूपान्तरण की देन है। भारतीय शिक्षा पद्धति का योरोपीय रूपान्तरण, भारतीय विधि प्रणाली और आर्थिक व्यवस्था के रूपान्तरण की भांति, एक मुख्य समाजशास्त्रीय तथ्य माना जाता है क्योंकि इस रूपान्तरण ने अनेक क्रांतिकारी सामाजिक परिवर्तनों और प्रक्रियाओं को जन्म दिया। अंग्रेजी राज काल में ही सर्वप्रथम यह सिद्धान्त निश्चित किया गया कि शिक्षा के संगठन का उत्तरदायित्व राज्य पर है और शिक्षा जन-साधारण के लिये सुलभ होनी चाहिए। स्वतन्त्र भारत के संविधान में, राज्य को शिक्षा का जो उत्तरदायित्व सौंपा गया है उसका सैद्धांतिक बीज-वपन अंग्रेजी राज्य-काल में हुआ था। अंग्रेजों ने, भारत में जो शिक्षा प्रणाली संगठित की उसके द्वारा भारत में योरोपीय दर्शन, विज्ञान, साहित्य और प्रौद्योगिकी का प्रसार हुआ। वास्तव में, अंग्रेजी राज्य काल में शिक्षा योरोपीय सभ्यता के संघात का एक मुख्य माध्यम रही है और आज भी है। इसी शिक्षा के माध्यम से एक ओर भारत में अंग्रेजी भाषा का प्रचार हुआ, उसकी गरिमा बढ़ी तथा अंग्रेजी भाषा का भारतीय भाषाओं पर प्रभाव पड़ा और, दूसरी ओर योरोपीय ज्ञान विज्ञान के प्रसार के साथ-साथ, भारत की परम्परावादिता धीरे धीरे कम हुई।

अंग्रेजी शिक्षा के माध्यम से भारत में योरोप के व्यक्ति स्वातन्त्र्य, प्रजातन्त्र, समता और साम्यवाद सम्बन्धी राजनैतिक-सामाजिक विचारों का समावेश हुआ और उसके फलस्वरूप भारत की परम्परागत सामाजिक व्यवस्था के मुख्य आधारों संयुक्त परिवार और जाति, में परिवर्तन आया। भारत में अंग्रेजी शिक्षा को वह माध्यम समझ कर लागू किया गया था जिसके द्वारा भारतीयों को योरोपीय विचारों के एक नये संसार में प्रवेश करने का अवसर मिलेगा और भारतीयों का सांस्कृतिक जीवन उच्चतर बनेगा। इसमें कोई सन्देह नहीं कि अंग्रेजों द्वारा लागू की हुयी शिक्षा से भारत योरोपीय ज्ञान विज्ञान के संघात में आया और उससे, कुछ समय के लिए, भारत के बौद्धिक चिंतन में एक कोलाहल और झंझावात का प्रवेश हुआ। किन्तु, इस झंझावात के समाप्त होने पर, एक ओर सांस्कृतिक राष्ट्रवादिता और भारतवाद की विचारधारा पनपी और दूसरी ओर योरोपवाद की। भारत में अंग्रेजी शिक्षा का जन्म और संगठन ही भारतवाद बनाम योरोपवाद की संघर्षात्मक विचारधाराओं में हुआ है। भारतीय शिक्षा में व्याप्त यह द्विभाजिता अन्ततः योरोपीय विचारधारा की देन है और अन्ततः योरोप के संघात से भारतीय संस्कृति में उत्पन्न होने वाली द्विभाजिता और आत्मविच्छेद की। यह अंग्रेजी शिक्षा का प्रभाव है कि एक ओर भारत योरोप में परिचित हुआ और, दूसरी ओर अपने से, एक ओर, भारत ने योरोप को

अपनाने की कोशिश की तो, दूसरी ओर, अपने पुनरुत्थान की। इन्ही द्विभाजक प्रवृत्तियों ने उन्नीसवी शताब्दी म उस सामाजिक नवजागति की गत्यात्मकता को जन्म दिया, जो एक ओर योरोपवादी रही है और दूसरी ओर भारतवादी, तथा जिसके संघात से भारत म उन अभिनवमार्गी महापुरुषो की अवतारणा हुयी है जिन्होने योरोपीय सामाजिक संगठन और भारतीय आध्यात्मिकता के समन्वय का प्रयास किया है।

अंग्रेजी शिक्षा पद्धति का संगठन उतना महत्वकारी नही रहा है जितना कि उसका संघात और उससे उत्पन्न होने वाले प्रभाव। भारत म अंग्रेजी शिक्षा का विकास एक ऐसा उपरोपित (Grafted) विकास है जिसमे योरोपीय अंग्रेजी शिक्षा-पद्धति का भारत की परम्परागत शिक्षा पद्धति पर उपरोपण किया गया है। जिस आधार पर उपरोपण किया जाता है उसके तत्व उपरोपित विकास मे आ जाते हैं। यही कारण है कि भारत की शिक्षा पद्धति के योरोपीय रूपान्तरण मे उसके मुख्य परम्परागत आधार बने रहे और अंग्रेजी प्रशासन के कारण बदली हुई परिस्थितियो म उन्हें नये ढंग से लागू किया गया। भारत मे जिसे हम अंग्रेजी या योरोपीय शिक्षा-पद्धति कहते हैं उसके तत्व और उपकरण तो योरोपीय-अंग्रेजी रहे हैं किन्तु उसका संगठन और कलेवर परम्परागत भारतीय। शिक्षा की आत्मा न तो भारतीय रही है और न योरोपीय—वह भारतवाद और योरोपवाद के संघर्ष से उत्पन्न आत्मविच्छेद स ओत प्रोत रही है। प्रारम्भ से ही, भारत म, एक ओर, शिक्षा के योरोपीयकरण की माग रही है और, दूसरी ओर उत्तरोत्तर योरोपीयकरण के भारतीयकरण की। भारत म योरोपीय शिक्षा का श्रीगणेश अंशत मिशनरियो अंशत भारतीयो और अंशत भारत मे योरोपीयकरण को प्रोत्साहित करके अंग्रेजी राज को मजबूत करने वाले अंग्रेज प्रशासको की माग के कारण हुआ। इसीकारण, भारतीय शिक्षा न तो योरोपीय हो सकी और न भारतीय और न वह कोई सुसंगठित रूप ही ले सकी। शिक्षा के विकास मे परम्परागत शिक्षा पद्धति के संगठन के आधारो का नये ढंग से समावेश हुआ।

भारतीयो ने, एक ओर अंग्रेजी शिक्षा को आभार और अनुग्रह के साथ ग्रहण किया तो, दूसरी ओर, वे उसके तीव्र आलोचक भी रहे हैं। हिन्दुओ और मुसलमानो ने अलग अलग इस शिक्षा की आलोचना की किन्तु वे उसे त्याग न सके। भारतीय सामाजिक नवजागति के नेताओ ने इस शिक्षा की तीव्र आलोचना की है। आर्य समाज के संस्थापक स्वामी दयानन्द ने इसे अभारतीय कहा और वेद तथा संस्कृत भाषा के अध्ययन और गुरुकुल पद्धति के पुनरुत्थान पर जोर दिया। किन्तु आर्यसमाज के तत्वावधान म भी यदि एक ओर, गुरुकुल की परम्परा चलायी गयी तो दूसरी ओर एंग्लो-वैदिक कालेजो की परम्परा जहा 'वैदिक' की अपेक्षा 'एंग्लो' प्रभाव ही अधिक रहा है। राष्ट्रवादिता के प्रचार क साथ-साथ, इस शिक्षा का विरोध बढा और इस क्लर्को तथा गुलाम मनोवृत्ति को जन्म देने वाली शिक्षा कहा गया। इसका परिणाम यह

हुआ कि, एक ओर, हिन्दू विश्वविद्यालय की स्थापना हुयी और दूसरी ओर मुस्लिम विश्वविद्यालय की। एक ओर काशी विद्यापीठ जैसी संस्थायें संगठित की गयीं तो, दूसरी ओर जामिया मिलिया जैसी संस्थायें। इन संस्थाओं में एक ओर, यारोपीय शिक्षा पद्धति का धर्म में गठबन्धन किया गया तो दूसरी ओर राष्ट्रवादिता से। जिसे भारतीय शिक्षा का शक्तिवादी रूपान्तरण कहा जाता है वह वस्तुतः भारत की परम्परागत शिक्षा पद्धति का अपना यारोपीय रूपान्तरण है। अंग्रेजी राज्य-काल में, शिक्षा पद्धति का रूपान्तरण भारतीय संस्कृति की शिक्षा-सम्बन्धी परम्पराओं के ऊर्ध्वगामी रूपान्तरण से प्रभावित हुआ है।

भारत में अंग्रेजी शासन की स्थापना के पहले जो शिक्षा-पद्धति चलती थी उसमें राज्य शिक्षा के प्रोत्साहन के लिए उत्तरदायी अवश्य समझा जाता था किन्तु, राज्य ने कभी भी जनसाधारण की शिक्षा का उत्तरदायित्व नहीं लिया था। शिक्षाप्राप्त करना उत्तम अवश्य समझा जाता था किन्तु जनसाधारण के लिए शिक्षा का कोई प्रबन्ध न था। शिक्षा हिन्दू और मुसलमान दोनों समाजों में केवल एक वर्ग विशेष के लिए ही थी। इस वर्ग में परम्परा से पठन पाठन के कार्य में लगे तथा समाज के धनीमानी वर्ग के लोग आते थे। शिक्षा कोई सामाजिक-आर्थिक आवश्यकता न थी—वह एक वर्ग विशेष का विलासमात्र समझी जाती थी। नारियों के लिए शिक्षा अना-वश्यक समझी जाती थी। हिन्दुओं में केवल ब्राह्मण, क्षत्रिय और वैश्य वर्ण के लोग शिक्षा के अधिकारी समझे जाते थे। शूद्र अपनी परम्परागत आर्थिक स्थिति के कारण, न तो कभी शिक्षा पाने का प्रयास ही करते थे और न वे शिक्षा के अधिकारी ही समझे जाते थे।

अंग्रेजी शासन के पूर्व चलने वाली शिक्षा प्रणाली में, जैसा कि पहले कहा गया है, राज्य शिक्षा संरक्षक की भूमिका अदा करती थी और इसीकारण राज्य की ओर से यहाँ वहाँ और वह भी उच्च शिक्षा के लिए, आदर्श विद्यालय खोल दिये जाते थे। भारतीय इतिहास में हिन्दू तथा मुस्लिम दोनों कालों में न्याय, व्याकरण, दर्शन साहित्य और आयुर्वेद की उच्च शिक्षा देने के लिए विद्यापीठों के स्थापित किये जाने की परम्परा मिलती है[1]। किन्तु मुसलमानों के राज्य काल में इस परम्परा के दो रूप मिलते हैं—एक, हिन्दू परम्परा और दूसरी इस्लामी परम्परा। हिन्दू परम्परा में पठन पाठन की भाषा थी संस्कृत और शिक्षा के विषयवस्तु थे वेद पुराण, व्याकरण, न्याय, दर्शन और साहित्य। इस्लामी परम्परा में शिक्षा का माध्यम अरबी या फारसी था और पठन-पाठन के मुख्य विषय थे इस्लामी धर्म विद्या (Islamic Theology) और अरबी-फारसी साहित्य। दोनों परम्पराओं में शिक्षा-वृत्ति में न तो नौकरशाही संगठन का समावेश था और न व्यावसायिकता का। शिक्षण-कार्य का आधार वैयक्तिक स्वार्थ-

1 दिनकर रामधारी सिंह वही पृष्ठ 414

साधना न थी। शिक्षण कार्य के पीछे विद्या दान की भावना थी और विद्यार्थी द्वारा विद्यार्जन के पीछे शिक्षक द्वारा मिले हुए दान को ग्रहण करने की भावना। इस कारण, शिक्षण कार्य एक सामाजिक उत्तरदायित्व था और राज्य की अपेक्षा, समाज उस उत्तरदायित्व का निभाने वालों की अधिक चिन्ता करता था। चूंकि, शिक्षण कार्य विद्यादान था, शिक्षण संस्थायें भी दान की आय से चलती थी। किन्तु उस व्यवस्था में, संगठित शिक्षण संस्थाओं की अधिकता न थी। सारा पठन पाठन गुरु शिष्य की परम्परा में चलता था — उस परम्परा में जिसमे केवल जीवन यापन और वैयक्तिक सफलता के लिए अध्यापन करने का बन्धन न था जिसमे शिक्षण-कार्य और विद्यार्थी जीवन स्वान्तःसुखाय ग्रहण किये जाते थे और शिक्षक का यह विशेषाधिकार मिला हुआ था कि वह चाहे तो केवल उसे ही विद्यालाभ दे जिसे वह योग्य पात्र समझता हो।

अन्य सामाजिक आर्थिक पहलुओं की भांति शिक्षा संगठन भी विकेन्द्रीकृत था और शिक्षा का आधार थे साहित्य, भाषा और धर्म। इसकारण, विद्यालयों का संगठन और नियन्त्रण जनता के हाथ में था और जहा की जैसी जनता होती थी, वहाँ का विद्यालय भी उसी ढंग से संगठित किया जाता था। ऐसी दशा में शिक्षा का विषयवस्तु अध्यापक के दृष्टिकोण, धर्म और सम्प्रदाय पर अधिक निर्भर था। पठन पाठन की भाषा बोल चाल की भाषा न थी। अरबी फारसी और संस्कृत भाषायें बोल चाल की भाषायें न थी। अतः उनके माध्यम से दिया जाने वाला ज्ञान, संकुचित होने के साथ साथ परम्परावादी और अंधविश्वासी भी था। जनसाधारण की बोलचाल की भाषा में शिक्षा न मिलने के कारण और पुस्तकों का अभाव होने के कारण, शिक्षा वस्तुतः एक रहस्य थी जिसका ज्ञान गुरु की कृपा ही से मिल सकता था। बोल चाल की भाषा में शिक्षा न होने के कारण शिक्षा के द्वारा पूर्ण मानसिक विकास न हो पाता था और शिक्षा व्यावहारिक जीवन में उपयोगी न होकर, केवल दार्शनिक तथा वैयाकरणिक विद्वत्ता का एक माध्यममात्र थी। कण्ठस्थता (Cramming) शिक्षा पद्धति का मुख्य आधार थी। प्रौद्योगिक शिक्षा का कोई संगठन न था। वह अलग अलग पेशों को करने वाली जातियों के सदस्यों में अपने अपने धन्धा सम्बन्धी ज्ञान के रूप में विकेंद्रीकृत थी और व्यक्ति को एक सामाजिक विरासत के रूप में मिलती थी। प्रौद्योगिक शिक्षा अभ्यास और अनुभव से मिलती थी न कि पठन पाठन के माध्यम से।

अंग्रेजी प्रशासन में जो शिक्षा पद्धति विकसित हुयी उसकी दो अवस्थायें हैं— एक सात मार्च सन अठारह सौ पतीस के पहले की और दूसरी, उसके बाद की क्योंकि सात मार्च सन् अठारह सौ पतीस ही वह तिथि है जिस दिन अंग्रेजी शासन ने भारत में योरोपीय ढंग की शिक्षण संस्थाओं और अंग्रेजी भाषा के माध्यम से योरोपीय विज्ञान और साहित्य के शिक्षण को संगठित करने का निश्चय किया था।

पहली अवस्था अंग्रेजी राज के प्रशासकों की शिक्षा सम्बन्धी ढुलमुल और अनिश्चित नीति का काल है जिसमें परम्परागत शिक्षा-पद्धति को एक राजकीय प्रशासकीय स्तर में लाने का अनोखा विभ्रम प्रयास (Trial and Error Attempt) है। इस प्रयास का प्रारम्भ वारेन हेस्टिंग्ज के शासन काल में उस समय से होता है जब सन सत्रह सौ इक्यासी में मुसलमानों को धार्मिक शिक्षा देने के लिये एक मदरसा खोला गया था और इसी प्रशासकीय परम्परा में सन सत्रह सौ इक्यानबे में, कार्नवालिस के शासनकाल में बनारस में हिन्दुओं के लिये संस्कृत कालेज की स्थापना की गई थी। भारतीय शिक्षा को राजकीय स्तर पर संगठित करने के प्रयास में पहले अंग्रेजों ने अरबी, फारसी और संस्कृत के पठन पाठन के साथ साथ, धार्मिक शिक्षा को उसी प्रकार संगठित करने का प्रयास किया जैसी भारतीय शिक्षा-पद्धति की प्राचीन परम्परा थी। किन्तु अरबी, फारसी और संस्कृत जन भाषायें न थी—व केवल विद्वता ग्रहण करने की भाषायें थीं। मुसलमानों के राज्य-काल में प्रादेशिक भाषाओं में साहित्यिक अभिव्यक्ति की क्षमता विकसित हो चुकी थी और जन-साधारण में प्रादेशिक भाषाओं का प्रसार भी हो रहा था। जिस प्रकार जन सम्पर्क बनाये रखने के लिये, मुसलमान शासक प्रादेशिक भाषाओं की अवहेलना न कर पाये थे उसी प्रकार अंग्रेजों के लिये भी प्रादेशिक भाषाओं की अवहेलना करना कठिन हो गया। अतः सन अठारह सौ एक में, फोर्ट विलियम में अंग्रेज अफसरों को देशी भाषाओं की शिक्षा देने के लिये एक कालेज की स्थापना की गयी। इस कालेज की स्थापना से भारत में देश भाषा शिक्षा-पद्धति की परम्परा (The System of Vernacular Education) का जन्म हुआ।

सन अठारह सौ तेरह से लेकर सन् अठारह सौ पतीस तक एक ओर, भारत की प्राचीन शिक्षा प्रणाली को राजकीय प्रशासकीय आधार पर संगठित करने का प्रयास किया गया तो दूसरी ओर इस समस्या पर विवाद चलता रहा कि भारत में योरोपीय शिक्षा को संगठित किया जाय या नहीं। भारतीय साहित्य के सुधार और पुनरुन्नयन, भारतीयों में शिक्षा को प्रोत्साहन देने तथा भारत में योरोपीय विज्ञान के प्रसार और प्रचलन के लिये, सन अठारह सौ तेरह में अंग्रेजी सरकार ने पहली बार एक लाख रुपये का अनुदान निर्धारित किया। सन् अठारह सौ तेरह और पतीस के बीच में सरकार ने, एक ओर प्रादेशिक भाषाओं के माध्यम से शिक्षा देने के लिये ग्राम पाठशालाओं और दूसरी ओर, कलकत्ता तथा दिल्ली में, उच्च शिक्षा के लिये अरबी फारसी और संस्कृत के कालेजों की स्थापना की। अंग्रेजी सरकार का, इसप्रकार पहला प्रयास पंडितों और मौलवियों द्वारा दी जाने वाली परम्परागत शिक्षा प्रणाली को संगठित करना था। भारत में योरोपीय शिक्षा के संगठन के प्रश्न को लेकर, अंग्रेज प्रशासकों में दो प्रकार के मत थे। जैसा कि जे० आर० कनिंघम ने लिखा है, उस काल के अंग्रेज

प्रशासक भारत की परम्परागत शिक्षा पद्धति को संगठित करके, उस पर योरोपीय विज्ञानी ज्ञान के उपरोपण के हामी थे। लेकिन, इसके बावजूद, सन अठारह सौ तेइस में नियुक्त शिक्षा समिति ने, लगातार दस वर्षों तक भारत में योरोपीय शिक्षा को लागू करने का विरोध किया। योरोपीय शिक्षा को लागू करने का विरोधी मत लार्ड म्वरो के निरीक्षणों से स्पष्ट है। लार्ड म्वँरो ने लिखा था 'भारत में योरोपीय विज्ञानों की शिक्षा देना बुद्धिमत्ता नहीं है क्योंकि भारतीयों को उसकी चाह नहीं है। दूसरी ओर प्राचीन शिक्षा प्रणाली को संगठित करने के लिये पुस्तकों अध्यापकों और धन की कमी है'।

इसी बीच में कई और विकास हुए जिनके कारण सन अठारह सौ पैंतीस में, भारत में योरोपीय शिक्षा के संगठन का निर्णय किया गया। लार्ड मकाले को भारत में योरोपीय शिक्षा का जनक माना जाता है किन्तु वास्तविकता यह है कि मेकाले उन नई सामाजिक सांस्कृतिक शक्तियों के अधिवक्ता थे जो भारत और इंगलैण्ड में उत्पन्न हो रही थी। भारत में अंग्रेजी शिक्षा लाने में मेकाले के दो उद्देश्य थे—एक, मकाले के ही शब्दों में, 'यह सम्भव है कि एक उत्तम सरकार द्वारा हम अपने शासितों को उत्तमतर सरकार के लिये प्रशिक्षित कर सकें। यह भी सम्भव है कि योरोपीय ज्ञान में दीक्षित होने पर, भविष्य में हमारे शासित योरोपीय संस्थाओं की माँग करें जब कभी ऐसा दिन आयगा, वह इंगलैण्ड के इतिहास में सर्वोत्तम दिन होगा और उस दिन की सम्भावना को रोकने का प्रयास मैं नहीं करूंगा[1] और दूसरे थोड़ी सी पाश्चात्य शिक्षा से बंगाल में मूर्ति पूजन वाला नहीं रह जायगा[2]'। इसप्रकार मेकाले का उद्देश्य था योरोपीय शिक्षा के द्वारा भारत का उत्तरोत्तर योरोपीयकरण, जिसके पीछे भारतीयों को योरोपीय ढंग से सभ्य बनाने की प्रेरणा थी। इस विचार के पीछे जहाँ इंगलैण्ड की उदारवादी विचारधारा है वहाँ इसमें तत्कालीन साम्राज्यवादी मनोवृत्ति का भी पुट है। उधर विलियम बेंटिंक तत्कालीन गवर्नर जनरल ने शिक्षा समिति से यह सिफारिश की कि राज्य-भाषा अंग्रेजी को सब प्रकार से प्रोत्साहन देना आवश्यक था। अंग्रेजी भाषा के द्वारा राज काज चलाने की आवश्यकता के कारण, अंग्रेज प्रशासक वर्ग में यह विचार पनपने लगा था कि जिस वर्ग का प्रशासन से प्रत्यक्ष सम्बन्ध था, उसको अरबी फारसी और संस्कृत की अपेक्षा, अंग्रेजी के माध्यम से योरोपीय ज्ञान की शिक्षा देना अधिक श्रेयस्कर होगा[3]।

---

1 मेकाले द्वारा इंगलैण्ड की पार्लियामेंट के समक्ष दिए गए भाषण का एक अंश—देखिये ओ मेले इण्डिया एण्ड दि वेस्ट

2 दिनकर वही पृष्ठ 434

3 कनिंघम, जे० आर०, ओ मेले की पुस्तक इण्डिया एण्ड दि वेस्ट में

भारत म ऐसा वग उत्पन्न भी हो रहा था—वह वर्ग जो सामान्यत हिन्दू था और सरकारी नौकरियो तथा योरोपीय व्यापार से लाभ उठा रहा था। यह वग, एक ओर, योरोपीय शिक्षा तथा योरोपीयकरण की ओर उन्मुख था तो दूसरी ओर, भारत क नवपुनरुन्नयन की प्ररणा से भी प्ररित था। यह वग योरोप और भारत के सम वय से नये भारत के नव निर्माण का हामी था। सास्कृतिक पुनरुत्थान क लिये विजिता को उन्ही क तक स काटना तव तक भारत की विशेपता बन चुकी थी। जिस वग न मुसल्मानो क राज्यकाल म अरबी फारसी सीख कर इस्लाम का सैद्धान्तिक विरोध किया था वही वग अग्रजी के माध्यम स इसाइयत और अग्रजी सामाजिक-सास्कृतिक जीवन का प्रणयन करक और इसाइयत तथा योरोपीयता के तत्वो को आत्मसात करके राजनतिक तथा सास्कृतिक पुनरुन्नयन की ओर प्रेरित हुआ। राजा राममोहनराय इस वग के अगुवा थ। उन्होने अरबी फारसी सस्कृत हिब्रू और अग्रजी सीखी ईसा के उपदेशो की सराहना की किन्तु इसाई मिशनरियो और ईसा के जीवन से सम्बन्धित चमत्कारो की आलोचना की अग्रेजो की उदारवादिता तथा न्यायप्रियता की दुहाई देकर भारतीयो क लिये अधिकाधिक अधिकारो की माग की और सामाजिक विधान द्वारा समाज-सुधार के लिये आन्दोलन किया। राजा राममोहनराय योरोपीयकरण नही नवजागति और पुनरुन्नयन चाहते थ जिसके लिये उन्होने अग्रजी भापा के माध्यम से योरोपीय शिक्षा की माग की। राजा राममोहनराय क साथ साथ इसाई मिशनरी जिनम डफ और केरी मुख्य है, भी अग्रेजी भापा क माध्यम से योरोपीय शिक्षा की माग कर रहे थ। किन्तु उनके उद्देश्य भिन्न थे। डफ के शब्दो म जिस जिस दशा म पाश्चात्य शिक्षा प्रगति करगी, उस-उस दशा म हिन्दुत्व के अग टूटते जायगे। और अन्त म जाकर ऐसा होगा कि हिन्दुत्व का कोई भी अग साबित नही रहेगा[1]। मिशनरियो के दृष्टिकोण मे, इस प्रकार अग्रजी भापा के माध्यम स योरोपीय शिक्षा इसाइयत क लिये माग प्रशस्त करने का एक माध्यम थी।

सरकार द्वारा अग्रेजी शिक्षा को सगठित करने की नीति अपनाने के बहुत पहल स ही अग्रजी भापा के माध्यम से योरोपीय शिक्षा दने के प्रयोग चलने लगे थे। इन प्रयोगा के पीछे भारत म योरोपीय शिक्षा के समथक अग्रज प्रशासको मध्यवर्गी हिन्दुओ और इसाई मिशनरियो के प्रयास थ। इसाई मिशनरी इसाई विद्यालयो म इसाई धमविद्या की शिक्षा मे अग्रजी भापा और योरोपीय शिक्षा पद्धति का प्रयोग करते थ। बम्बई के तत्कालीन गवनर माउण्ट स्टुवर्ट एल्फिस्टोन ने भी अग्रेजी भापा के माध्यम स योरोपीय शिक्षा दने के प्रयोग को प्रोत्साहित किया और इस निष्कर्ष पर पहुचे कि भारत मे जिस वग के पास पठन पाठन का समय है

1 दिनकर से उद्धृत पृष्ठ 435

उसका यदि अंग्रेजी के माध्यम से योरोपीय शिक्षा दी जाय तो भारत में ज्ञान का प्रसार दस गुना बढ़ सकता है। राजा राममोहनराय ने डफ और अन्य लोगों की सहायता से कलकत्ता में हिन्दू कालेज (1816) की स्थापना की जो आगे चलकर प्रेसीडेंसी कालेज कहलाया।

इस विकास क्रम का परिणाम हुआ सन अठारह सौ पतीस का वह ऐतिहासिक निर्णय जिसके आधार पर अंग्रेजी सरकार ने यह तय किया कि भारत के सभी वर्गों में योरोपीय ज्ञान का प्रसार करना भारतीय शिक्षा का उद्देश्य होगा और इस उद्देश्य को पूरा करने के लिये उच्चस्तरीय शिक्षा का पाठ्यक्रम योरोपीय और माध्यम अंग्रेजी भाषा होगी और जन साधारण की शिक्षा का माध्यम होंगी स्थानीय भाषायें। इसप्रकार, अंग्रेजी शिक्षा प्रणाली के दो स्तर विकसित हुए—एक उच्चस्तरीय (विश्वविद्यालयी) जो पूर्णतया अंग्रेजी-योरोपीय था और दूसरा, प्राथमिक-माध्यमिक जो अंशतः अंग्रेजी योरोपीय और अंशतः योरोपीय भारतीय था। केम्ब्रिज स्कूल पद्धति के माध्यम से प्राथमिक तथा माध्यमिक शिक्षा को अंग्रेजी-योरोपीय ढंग पर संगठित किया गया और ग्राम पाठशालाओं तथा वर्नाक्यूलर माध्यमिक पाठशालाओं द्वारा योरोपीय और भारतीय विषय वस्तु के पठन पाठन में स्थानीय भाषाओं का प्रयोग शुरू किया गया। हाई स्कूलों और इंटरमिडियेट कालेजों में स्थानीय भाषाओं को भी स्थान दिया गया और अंग्रेजी को भी यद्यपि यहाँ अंग्रेजी भाषा और योरोपीय पाठ्यक्रम की ही प्रधानता रही। उच्चस्तरीय शिक्षा उस वर्ग विशेष के लिए थी जिसके पास उस शिक्षा को प्राप्त करने के साधन थे। यह योजना इस मान्यता पर आधारित थी कि उच्च वर्ग को मिला हुआ योरोपीय ज्ञान, क्षेत्रीय भाषाओं के माध्यम से, जनता में प्रसारित होगा।

अंग्रेजी शिक्षा प्रणाली के विकास में, इसप्रकार, भारतीय शिक्षा प्रणाली की अनेक परम्परायें सन्निहित हो गई। भारत में उच्च शिक्षा को बोलचाल की भाषा में न देने की परम्परा बन गई थी। संस्कृत, अरबी और फारसी कभी भी बोलचाल की जन भाषाएं नहीं रही हैं। उन्हें राज्य भाषा और पाण्डित्य की भाषा के रूप में अपनाने की परम्परा थी। इसी परम्परा में अंग्रेजी राज्य भाषा और पाण्डित्य की भाषा के रूप में आई। इसका परिणाम यह हुआ है कि भारतीय विद्वान और प्रशासक जन साधारण से अलग एक विशेष वर्ग रहे हैं। अंग्रेजी भाषा और योरोपीय शिक्षा ने इसी वर्ग को एक नये विशेषाधिकारी वर्ग के रूप में जन्म दिया क्योंकि अंग्रेजी काल में भी उच्च ज्ञान केवल एक वर्ग विशेष तक ही सीमित रहा। मुसलमान शासक भी प्रादेशिक भाषाओं की अवहेलना नहीं कर पाये थे और अंग्रेज भी ऐसा न कर सके। फलतः एक ओर, अंग्रेजों ने भी अपनी भाषा और योरोपीय पाठ्यक्रम पर जोर दिया और दूसरी ओर प्रादेशिक भाषाओं के माध्यम से शिक्षा देने पर। परम्परानुसार अंग्रेजी शिक्षा प्रणाली में जहाँ

राष्ट्रीय उद्देश्य का अभाव था, वहाँ उच्चस्तरीय शिक्षा और प्राथमिक तथा माध्यमिक शिक्षा में असामञ्जस्य था। राष्ट्रीय आन्दोलन और सांस्कृतिक पुनर्नयन की प्रक्रिया में, जब सम्प्रदायों (जैसे आर्यसमाज) और जातियों के अलग अलग स्कूल खुले तो यह असामञ्जस्य और राष्ट्रीय निरुद्देश्यता और बढ़े। भारतीय शिक्षा प्रणाली में न तो पहले से एकरूपता थी और न वह अंग्रेजी शिक्षा प्रणाली में ही आई। लार्ड म्वरा ने इस बात पर जोर दिया था कि भारत में शिक्षा के लिये धन की कमी है। यह कमी पहले भी महसूस की जाती थी। अंग्रेजों के पहले के शासकों ने शिक्षा को प्रोत्साहन अवश्य दिया था किन्तु एक जन-आवश्यकता के रूप में नहीं। अधिकतर शिक्षा दान से चलती थी। शिक्षा राज्य का उत्तरदायित्व न थी। अंग्रेजों ने भी इसी परम्परा का अनुसरण किया। अंग्रेजी राज ने शिक्षा के उत्तरदायित्व को अंशत ग्रहण किया जिसका परिणाम निकला सहायक अनुदान-पद्धति (Grants in aid System) की नीति जो अंग्रेजी शिक्षा प्रणाली का सबसे बड़ा दोष है।

कनिंघम के अनुसार, भारतीय आर्थिक साधनों के आधार पर शिक्षा सम्बन्धी योरोपीय स्वप्नों को साकार करने का प्रयत्न अंग्रेजी शिक्षा प्रणाली की एक आधारभूत कमजोरी रही है[1]। किन्तु वास्तविकता कुछ और है। पूंजीवादी साम्राज्यवादिता से प्रेरित अंग्रेजी सरकार ने शिक्षा पर किये जाने वाले व्यय को वहां तक लाभप्रद समझा जहाँ तक प्रशासन चलाने की समस्या का हल निकालना था। मुगलों की परम्परा का अनुसरण करते हुए अंग्रेजी सरकार ने शिक्षा का उत्तरदायित्व वहीं तक लिया जहाँ तक आवश्यक था। भारत में जैसा कि भारतीय शासन की परम्परा थी राज्य ने व्यापक जन शिक्षा के उत्तरदायित्व को लिया ही कब था। परम्परानुसार राज्य तो केवल शिक्षा का संरक्षक था और, मांग निर्देशन के लिये यहाँ वहाँ आदर्श विद्यालयों की स्थापना करता था। अपनी शिक्षा का प्रबन्ध जनता अपने आप करती आई थी। जैसा कि राजा राममोहनराय के प्रयत्नों से स्पष्ट है अंग्रेजी शासनकाल में भी भारतीय जनता ने अपने प्रयत्नों से नई शिक्षा-प्रणाली का संगठन प्रारम्भ कर दिया था जिसे, आगे चलकर अंग्रेजी सरकार ने अपनाया। भारतीय परम्परा का अनुसरण करते हुए अंग्रेजी सरकार ने भी यहाँ-वहाँ आदर्श विद्यालयों की स्थापना करना शुरू किया—वह आदर्श विद्यालय जो जनता के लिये नमूने बन सकें। उधर सरकारी नौकरियों में प्रवेश पाने के लिये जनता में शिक्षा की मांग बढ़ रही थी। इस परिस्थिति के दो परिणाम निकले—एक ओर अंग्रेजी सरकार ने सहायक अनुदान प्रणाली का आश्रय लेकर शिक्षण संस्थाओं का आंशिक भार उठाना शुरू किया और इसप्रकार सरकारी शिक्षण संस्थाओं के

1 कनिंघम जे० आर० ओ मेले द्वारा सम्पादित इंडिया एण्ड दि वेस्ट में

अलावा प्राइवेट विद्यालयों के संगठन को प्रोत्साहित किया और, दूसरी ओर, शिक्षा के संरक्षक तथा अभिभावक के रूप में शिक्षा संगठन को नियमित करने के लिये शिक्षा विभाग और उसकी नौकरशाही को संगठित किया जिसके फलस्वरूप शिक्षा पर अप्रत्यक्ष प्रशासन की जो परम्परा विकसित हुई, वही वर्तमान शिक्षा पद्धति का सबसे बड़ा अभिशाप बन गई।

अंग्रेजी राज्य काल में, एक ओर यारोपीय आदर्श के अनुसार शिक्षा को अधिकाधिक राज्य के नियन्त्रण और नियमन में लाने का प्रयास किया गया और, दूसरी ओर, भारत में अपनाये गये अप्रत्यक्ष प्रशासन की परम्परा में उसे सरकार के प्रत्यक्ष नियन्त्रण से दूर भी रखा गया। यह इसी परम्परा का परिणाम है कि सन् उन्नीस सौ इक्कीस से, शिक्षा को प्रादेशिक सरकारों के उत्तरदायित्व में रखा गया किन्तु यहाँ वहाँ, जैसा कि दिल्ली अलीगढ़ और बनारस के विश्वविद्यालयों के संगठन में हुआ, केन्द्रीय सरकार ने उच्च शिक्षा के संगठन का सहायता भी दी। आज भारतीय शिक्षा इसी अप्रत्यक्ष प्रशासन चक्र में है। प्राथमिक शिक्षा संस्थाओं को स्थापित और संगठित करने का उत्तरदायित्व अंतरिम जिला परिषदों और म्यूनिसिपलिटियों पर है किन्तु उस स्तर के पाठ्य क्रम का उत्तरदायित्व सरकार के शिक्षा विभाग पर है। प्राइमरी पाठशालाओं के आर्थिक पक्ष और अध्यापकों की नौकरी का नियन्त्रण होता है जिला अन्तरिम परिषदों और म्यूनिसिपलिटियों द्वारा और उनकी योग्यता तथा अध्यापन कार्य की देखभाल की जाती है शिक्षा विभाग द्वारा। प्रादेशिक भाषाओं में चलने वाले अर्ध सरकारी प्राइमरी पाठशालाओं के साथ साथ, कान्वेंट्स के रूप में इंगलैण्ड की कैम्ब्रिज पद्धति की प्राइमरी शिक्षा को भी रक्खा गया और साथ ही साथ, मौलवियों के इस्लामिया प्राइमरी स्कूल और पण्डितों की संस्कृत पाठशालायें भी चलती रहीं जिनको सरकार का उतना ही संरक्षण प्राप्त था जितना कि अन्य पाठशालाओं को।

यही हाल माध्यमिक स्तर के विद्यालयों का हुआ। एक ओर सरकार ने अपने विद्यालय खोले किन्तु उनकी संख्या पर्याप्त न थी। अतः जनता को अपने विद्यालय संगठित करने की अनुमति दे दी गयी। सामाजिक नवजागृति के साथ साथ, ज्यों-ज्यों राष्ट्रीय आन्दोलन से जन चेतना बढ़ी त्यों त्यों अंग्रेजी शिक्षा की तीव्र आलोचना की गयी और गैर सरकारी विद्यालयों का संगठित करने का प्रयास किया गया। भारत की सामाजिक नवजागृति में एक साथ कई धारायें प्रवाहित हो रही थीं—एक ओर, *आर्यसमाजी धारा थी दूसरी ओर सनातनी हिन्दू धारा, तीसरी* ओर इस्लामी धारा और चौथी ओर धर्म निरपेक्ष धारा। उधर, जैसा कि पहले कहा जा चुका है अंग्रेजी राज्य के संघात से अखिल भारतीय जाति संगठनों को प्रेरणा मिली और जाति चेतना जाग्रत हुई। इसका परिणाम यह हुआ कि शासनेतर विद्यालयों की भरमार हो गयी। अंग्रेजी सरकार, पहले ही से, ईसाइयों को

शासनेतर विद्यालय संगठित करने की अनुमति दे चुकी थी। अतः, जनता की इस माँग का रास्ता कठिन था। शासनेतर विद्यालयों में एकरूपता लाने के लिये, सरकार ने विश्वविद्यालयों और माध्यमिक शिक्षा-परिषदों द्वारा पाठ्यक्रम में तथा परीक्षा प्रणाली में एकरूपता लाने का तथा सरकारी और गैर-सरकारी विद्यालयों के लिये समान न्यूनतम पाठ्यक्रम रखने का अंग्रेजी सरकार ने प्रयास किया। किन्तु, विभिन्न जातियों, सम्प्रदायों और धर्म-संगठनों के तत्वावधान में चलने वाले विद्यालयों में यह न्यूनतम पाठ्यक्रम धर्मसापेक्षी और सम्प्रदायवादी विचारधाराओं के साथ मिला दिया गया। अतः, एक ओर सरकारी शिक्षा धर्मनिरपेक्ष हुयी तो गैर-सरकारी शिक्षा सम्प्रदायवादी। अठारह सौ पचीस के निर्णयानुसार यह निर्धारित किया गया था कि प्रादेशिक भाषाओं में, जनशिक्षा दी जायगी और वह राष्ट्रीय शिक्षा होगी। किन्तु वास्तव में राष्ट्रीय शिक्षा का कोई रूप न निकल सका और अंग्रेजी सरकार की शिक्षा प्रणाली में उसी प्रकार जातीय और धार्मिक साम्प्रदायिकता घुस गयी जैसा कि वह पहले से चली आ रही थी।

विश्वविद्यालयी शिक्षा का भी यही हाल हुआ। कलकत्ता, मद्रास और बम्बई के जिन विश्वविद्यालयों की सरकार ने सन अठारह सौ चौवन में स्थापना की थी वे संघानीय (Federal) विश्वविद्यालय थे और लन्दन विश्वविद्यालय के प्रतिरूप (Pattern) पर आधारित थे। बाद में अधिकतर विश्वविद्यालय भी इसी प्रतिरूप पर संगठित हुये। ये विश्वविद्यालय केवल परीक्षण-संस्थायें थीं जिनका उच्च शिक्षा से वहीं तक सम्बन्ध था और रहा है जहाँ तक पाठ्यक्रम के निर्धारण और परीक्षा लेकर डिग्री देने का सम्बन्ध है। इन विश्वविद्यालयों के अन्तर्गत जिन कालेजों में उच्च शिक्षा दी जाती रही है उनके प्रबन्ध तथा उनमें कार्य करने वाले अध्यापकों की सेवा परिस्थिति पर इन विश्वविद्यालयों का अल्पतम नियन्त्रण रहा है। उच्च शिक्षा देने वाले कालेज सरकारी अनुदान पर निर्भर रहे हैं किन्तु उनके प्रबन्ध पर सरकार का अप्रत्यक्ष नियन्त्रण रहा है। ये कालेज भी उसी प्रकार जातीय और साम्प्रदायिक रहे हैं जिस प्रकार माध्यमिक शिक्षा देने वाले कालेज। इन कालेजों में दी जाने वाली शिक्षा के मापदण्ड पर विश्वविद्यालयों का नियन्त्रण केवल पाठ्यक्रम और परीक्षा प्रणाली के ही माध्यम से रहा है। इसके साथ-साथ, कुछ निवास विश्वविद्यालय (Residential Universities) भी खोले गये जिनका शिक्षा-स्तर निश्चय ही अपेक्षाकृत अच्छा रहा है। ऐसी परिस्थिति में संघानीय विश्वविद्यालयों के अन्तर्गत उच्च शिक्षा देने वाले कालेजों का स्तर निम्न समझा जाने लगा और वे उच्च स्तरीय शिक्षा के पश्चजल (Back Waters) मात्र रह गये और आज भी हैं। उधर, बनारस और अलीगढ़ के विश्वविद्यालयों से उच्च शिक्षा के यूरोपीय स्वरूप में वैसे ही साम्प्रदायिकता का समावेश हुआ जैसे उसका प्रवेश माध्यमिक शिक्षा में हुआ था।

अंग्रेजी राज्यकाल की क्रान्तिकारी कही जाने वाली शिक्षा का

अलावा प्राइवेट विद्यालयो के सगठन को प्रोत्साहित किया और, दूसरी ओर शिक्षा के सरक्षक तथा अविभावक के रूप मे शिक्षा सगठन को नियमित करने के लिय शिक्षा विभाग और उसकी नौकरशाही को सगठित किया जिसके फलस्वरूप शिक्षा पर अप्रत्यक्ष प्रशासन की जो परम्परा विकसित हुई, वही वतमान शिक्षा पद्धति का सबस बडा अभिशाप बन गई।

अ ग्रजी राज्य काल म, एक ओर, योरोपीय आदश के अनुसार शिक्षा को अधिकाधिक राज्य के नियन्त्रण और नियमन म लाने का प्रयास किया गया और, दूसरी ओर, भारत म अपनाये गये अप्रत्यक्ष प्रशासन की परम्परा म उसे सरकार के *प्रत्यक्ष नियन्त्रण स दूर भी रखा गया। यह इसी परम्परा का परिणाम है कि,* सन् उन्नीस सौ इक्कीस से शिक्षा को प्रादेशिक सरकारो के उत्तरदायित्व म रखा गया कि तु यहाँ वहाँ, जसा कि दिल्ली, अलीगढ और बनारस के विश्वविद्यालयो के सगठन म हुआ, केन्द्रीय सरकार ने उच्च शिक्षा के सगठन को सहायता भी दी। आज भारतीय शिक्षा इसी अप्रत्यक्ष प्रशासन चक्र म है। प्राथमिक शिक्षा सस्थाओ को स्थापित और सगठित करने का उत्तरदायित्व अतरिम जिला परिषदो और म्यूनिसिपलिटिया पर है कि तु उस स्तर क पाठ्य क्रम का उत्तरदायित्व सरकार के शिक्षा विभाग पर है। प्राइमरी पाठशालाओ के आर्थिक पक्ष और अध्यापक की नौकरी का नियन्त्रण होता है जिला अन्तरिम परिषदा और म्यूनिसिपलटियो द्वारा और उनकी योग्यता तथा अध्यापन काय की देखभाल की जाती है शिक्षा विभाग द्वारा। प्रादेशिक *भाषाओ म चलने वाले अध सरकारी प्राइमरी पाठशालाओ के साथ साथ, का वे टस* के रूप म इगलैण्ड की कम्ब्रिज पद्धति की प्राइमरी शिक्षा को भी रखा गया और साथ ही साथ, मौलवियो के इस्लामिया प्राइमरी स्कूल और पण्डितो की सस्कृत पाठशालायें भी चलती रही जिनको सरकार का उतना ही सरक्षण प्राप्त था जितना कि अन्य पाठशालाओ को।

यही हाल माध्यमिक स्तर के विद्यालयो का हुआ। एक ओर, सरकार ने अपने विद्यालय खाले कि तु उनकी सख्या पर्याप्त न थी। अत, जनता को अपने विद्यालय सगठित करने की अनमति दे दी गयी। सामाजिक नवजागति के साथ साथ, ज्यो-ज्यो राष्टीय आन्दोलन से जन चेतना बढी त्यो त्या अ ग्रजी शिक्षा की तीव्र आलोचना की गयी और गर सरकारी विद्यालया का सगठित करने का प्रयास किया *गया। भारत की सामाजिक नवजागति म* एक साथ कई धारायें प्रवाहित हो रही थी—एक ओर आर्यसमाजी धारा थी, दूसरी ओर सनातनी हिन्दू धारा, तीसरी ओर इस्लामी धारा और चौथी ओर धर्म निरपेक्ष धारा। उधर, जसा कि पहले कहा जा चुका है अ ग्रजी राज्य के सघात से अखिल भारतीय जाति सगठनो को प्ररणा मिली और जाति चेतना जाग्रत हुई। इसका परिणाम यह हुआ कि शासनेतर विद्यालयो की भरमार हो गयी। अ ग्रेजी सरकार पहले ही स, इसाइयो को

शासनेतर विद्यालय संगठित करने की अनुमति दे चुकी थी। अत, जनता की इस माग को रोकना कठिन था। शासनेतर विद्यालयो म एकरूपता लाने के लिये, सरकार ने विश्वविद्यालयो और माध्यमिक शिक्षा परिषदो द्वारा पाठ्यक्रम म तथा परीक्षा प्रणाली म एकरूपता लाने का तथा सरकारी और गैर सरकारी विद्यालयों के लिये समान न्यूनतम पाठ्यक्रम रखने का अंग्रेजी सरकार ने प्रयास किया। किन्तु, विभिन्न जातियो सम्प्रदायो और धर्म-संगठनो के तत्वावधान म चलने वाले विद्यालयो म यह न्यूनतम पाठ्यक्रम धर्मसापेक्षी और सम्प्रदायवादी विचारधाराओ के साथ मिला दिया गया। अत एक ओर सरकारी शिक्षा धर्मनिरपेक्ष हुआ तो गैर-सरकारी शिक्षा सम्प्रदायवादी। अठारह सौ पैंतीस के निर्णयानुसार यह निर्धारित किया गया था कि प्रादेशिक भाषाओ म जनशिक्षा दी जायगी और वह राष्ट्रीय शिक्षा होगी। किन्तु, वास्तव म, राष्ट्रीय शिक्षा का कोई रूप न निकल सका और अंग्रेजी सरकार की शिक्षा प्रणाली म उसी प्रकार जातीय और धार्मिक साम्प्रदायिकता घुस गयी जैसी कि वह पहले से चली आ रही थी।

विश्वविद्यालयी शिक्षा का भी यही हाल हुआ। कलकत्ता मद्रास और बम्बई के जिन विश्वविद्यालयो को सरकार ने सन अठारह सौ चौवन म स्थापना की थी व संघानीय (Federal) विश्वविद्यालय थे और लन्दन विश्वविद्यालय के प्रतिरूप (Pattern) पर आधारित थे। बाद म अधिकतर विश्वविद्यालय भी इसी प्रतिरूप पर संगठित हुये। ये विश्वविद्यालय केवल परीक्षण संस्थाएं थीं जिनका उच्च शिक्षा से वहा तक सम्बन्ध था और रहा है जहा तक पाठ्यक्रम के निर्धारण और परीक्षा लेकर डिग्री देने का सम्बन्ध है। इन विश्वविद्यालयो के अन्तर्गत जिन कालेजो म उच्च शिक्षा दी जाती रही है उनके प्रबन्ध तथा उनम कार्य करने वाले अध्यापको की सेवा परिस्थिति पर इन विश्वविद्यालयो का अल्पतम नियन्त्रण रहा है। उच्च शिक्षा देने वाले कालेज सरकारी अनुदान पर निर्भर रहे है किन्तु उनके प्रबन्ध पर सरकार का अप्रत्यक्ष नियन्त्रण रहा है। ये कालेज भी उसी प्रकार जातीय और साम्प्रदायिक रहे हैं जिस प्रकार माध्यमिक शिक्षा देने वाले कालेज। इन कालेजो म दी जाने वाली शिक्षा के मापदण्ड पर विश्वविद्यालयो का नियन्त्रण केवल पाठ्यक्रम और परीक्षा प्रणाली के ही माध्यम से रहा है। इसके साथ-साथ कुछ निवास विश्वविद्यालय (Residential Universities) भी खोले गये जिनका शिक्षा-स्तर निश्चय ही अपेक्षाकृत अच्छा रहा है। ऐसी परिस्थिति म संघानीय विश्वविद्यालयो के अन्तर्गत उच्च शिक्षा देने वाले कालेजो का स्तर निम्न समझा जाने लगा और वे उच्च स्तरीय शिक्षा के पश्चजल (Back Waters) मात्र रह गये और आज भी हैं। उधर बनारस और अलीगढ के विश्वविद्यालयो से उच्च शिक्षा के योरोपीय स्वरूप म वैसे ही साम्प्रदायिकता का समावेश हुआ जैसे उसका प्रवेश माध्यमिक शिक्षा म हुआ था।

अंग्रेजी राज्यकाल की धर्मनिरपेक्ष कही जाने वाली शिक्षा का

संगठन वहीं तक क्रांतिकारी था जहाँ तक योरोपीय पाठ्यक्रम के उपरोपण का सम्बन्ध है। अंग्रेजी राज में विकसित होने वाले शिक्षा प्रबन्ध का संगठन वहीं तक क्रांतिकारी था जहाँ तक उसको पहले से अधिक मिलने वाले सरकारी संरक्षण और आर्थिक सहायता का सबन्ध है। अन्य मामलों में, अंग्रेजों द्वारा लागू की हुयी शिक्षा पद्धति वस्तुतः भारत की परम्परागत शिक्षा पद्धति की मुख्य मुख्य विशेषताओं का एक बड़े पैमाने पर रूपान्तरणमात्र थी। अंग्रेज राज के पहले की शिक्षा, एक ओर, धर्मसापेक्ष थी और, दूसरी ओर, साम्प्रदायिक। अंग्रेजी शिक्षा भी धर्मसापेक्ष और साम्प्रदायिक रही। वास्तव में, अंग्रेजों द्वारा लागू की हुई शिक्षा पद्धति में साम्प्रदायिकता का संगठित सामाजीकरण हो गया। अंग्रेजों के पहले की शिक्षा जनता के प्रयत्नों से पहले चलती थी। अंग्रेजी शिक्षा प्रणाली भी अधिकतर शासनेतर संस्थाओं द्वारा चलती रही। अंग्रेजों के पहले की सामाजिक व्यवस्था में, राज्य और शिक्षक का प्रत्यक्ष सम्बन्ध न था। अंग्रेजी शिक्षा प्रणाली में राज्य और आध्यापक का कभी भी प्रत्यक्ष सम्बन्ध स्थापित नहीं हुआ और न आज है। अंग्रेजी राज्यकाल में, राष्ट्रीयता के प्रभाव में, अध्यापक राज्य तथा समाज का प्रबल आलोचक बना।

जब से संस्कृत भाषा बोलचाल की भाषा न रह कर केवल विद्वत्ता और पाण्डित्य की भाषा रह गयी थी तब से संस्कृत द्वारा मिलने वाली शिक्षा का आधार था कंठस्थ करने की परम्परा। इस परम्परा के कारण, भारत में जनव्यापी मौलिकता और रचनात्मकता का अभाव रहा है। इस्लामी परम्परा में शिक्षा का माध्यम बोलचाल की भाषा न थी। अतः उसमें भी वही दोष था जो संस्कृत द्वारा दी जाने वाली हिन्दू शिक्षा में था। भारत में अंग्रेजी भाषा के द्वारा योरोपीय शिक्षा की जनप्रियता का एक यह भी कारण हो सकता है कि भारत में बोलचाल की भाषा में शिक्षा न देने की परम्परा सी बन गयी थी और आज भी अंग्रेजी से चिपटे रहने के पीछे संभवतः उसी परम्परा का प्रभाव है। कुछ भी हो, विदेशी भाषा और विषयवस्तु में शिक्षा न होने के कारण, रटना ही पठन पाठन का मूलमन्त्र रहा। जिस प्रकार संस्कृत, फारसी और अरबी के माध्यम से मिलने वाली शिक्षा अमौलिकता को जन्म देती रही थी उसी प्रकार अंग्रेजी भाषा के माध्यम से मिलने वाली शिक्षा ने भी अमौलिकता को ही प्रेरित किया। भारत की सारी शिक्षा योरोपीय विद्वानों की जूठन मात्र रहा है। जिस प्रकार, अंग्रेजों के पहले शिक्षा के मुख्य विषय वस्तु थे, साहित्य और दर्शन। उसी प्रकार, अंग्रेजी शिक्षा के मुख्य विषय वस्तु बने अंग्रेजी साहित्य, योरोपीय दर्शन और वे विषय जिन्हें कला के विषय कहा जाता है। अंग्रेजी शिक्षा उतनी ही अव्यावहारिक रही जितनी कि पहले की शिक्षा थी। विद्वत्ता प्राप्ति और अंग्रेजी भाषा के पठन पाठन का ज्ञान अंग्रेजी शिक्षा के मुख्य उद्देश्य थे।

सारी शिक्षा पद्धति पर सरकार के अप्रत्यक्ष नियंत्रण ने शिक्षा और शिक्षक का सामाजीकरण तो किया किन्तु सारी व्यवस्था को उस सामाजिक परिस्थिति में

ढाल दिया जहाँ शिक्षा की सांस्कृतिक प्रभाव प्रवणता समाप्त हो गयी। अंग्रेजों द्वारा लागू की हुयी शिक्षा पद्धति में शिक्षा और शिक्षक पर एक प्रकार का तिपहला नियन्त्रण प्रारम्भ हुआ—एक ओर सरकार का नियन्त्रण दूसरी ओर विद्यालय के संस्थापक अथवा संस्थापक संघ का नियन्त्रण और तीसरी ओर पाठ्यक्रम और परीक्षा का नियमित करने वाले संगठन का नियन्त्रण। सम्बन्धीय विश्वविद्यालयों के तत्वावधान में चलने वाले सम्बन्ध-महाविद्यालय (Affiliated Colleges) इसका प्रमाण है। इन महाविद्यालयों पर सरकार का वहीं तक नियन्त्रण है जहाँ तक सम्बन्धित अधिनियम सरकार को नियन्त्रण का अधिकार देता है। किन्तु, जैसी परम्परा रही है यह नियन्त्रण केवल नियमन का नियन्त्रण है। सरकार के नियमन नियन्त्रण को अन्ततः विश्वविद्यालय लागू करता है और अन्ततः महाविद्यालय का प्रबन्धक। इस परिस्थिति में प्रबन्धक की ही प्रभुता बढ़ जाती है। सरकार द्वारा लागू किए जाने वाले नियमन नियन्त्रण की विधियाँ जितनी अस्पष्ट और अप्रत्यक्ष होंगी उतना ही प्रबन्धक की सर्वोपरिता बढ़ जाती है और ऐसी दशा में कालेज सरकार के नियन्त्रण में, एक प्रकार की जमींदारी मात्र रह जाता है। अतः शासनेतर विद्यालय न तो सरकारी रहे और न सार्वजनिक। उनमें दी जाने वाली योरोपीय शिक्षा ने एक ओर, अमौलिकता और सामान्य बौद्धिक विकास को प्रोत्साहित किया तो दूसरी ओर जातीय, धार्मिक तथा राजनैतिक साम्प्रदायिकता को। इसका परिणाम यह हुआ कि शिक्षा में न तो कोई धार्मिक उद्देश्य विकसित हुआ और न राष्ट्रीय। शिक्षा केवल परीक्षा की तैयारी का माध्यम मात्र रह गयी और अध्यापक एक उद्देश्य विहीन मध्यजन—वह मध्यजन जिसका एक मात्र उद्देश्य था योरोपीय विद्वता का प्रचार।

सहायक अनुदान पद्धति के बड़े ही दिलचस्प परिणाम निकले। सहायक अनुदान पद्धति (Grants in aid System) स्व-सेवा (Self Help) के सिद्धान्त पर आधारित है। शासनेतर विद्यालयों को संगठित करने वालों को तभी सरकारी अनुदान मिलता है जब वे कुछ धन अपनी ओर से खर्च करके विद्यालय का संगठन करें। विद्यालय के चलने के बाद, एक ओर, आमदनी होनी है विद्यार्थियों से मिलने वाले शिक्षा शुल्क से और दूसरी ओर विद्यार्थियों की संख्या के अनुपात से मिलने वाले सरकारी अनुदान से। इस परिस्थिति में शिक्षा में व्यापारीकरण का अभ्युदय हुआ क्योंकि जिस विद्यालय में जितने विद्यार्थी होंगे उसकी आय उतनी ही बढ़ेगी और जिस कालेज में जितने अधिक विद्यार्थी होंगे सरकार से उतना ही अधिक अनुदान मिलेगा। केवल परीक्षा के लिए ही संगठित विश्वविद्यालयों की आय की इसी समस्या ने शिक्षा को यह पैमाने पर प्रसारित करने के लिए प्रेरित किया। शासनेतर महाविद्यालयों (Degree Colleges) और माध्यमिक कालेजों में उसका यह परिणाम हुआ कि विद्यार्थियों की संख्या के बढ़ाने पर ही जोर दिया जाने लगा। इससे एक ओर, शिक्षा का स्तर गिरा तो दूसरी ओर, शिक्षा में, शिक्षा के अतिरिक्त अन्य

स्वार्थों का अभ्युदय हुआ। अंग्रेजो द्वारा लागू की हुयी शिक्षा पद्धति व्यापारीकरण के दुष्परिणामों से पीड़ित रही है। शिक्षा विद्यादान न होकर लाभ का माध्यम हो गया। कोई आश्चर्य नहीं यदि शासनेतर संस्थाओं के प्रबन्धकों को उसी प्रकार से शिक्षा संस्थाओं को खोलने की प्रेरणा मिली जिस प्रकार व्यापारी को दुकानें या मिल खोल कर अपना व्यापार बढ़ाने की प्रेरणा मिली है।

अंग्रेजो द्वारा लागू की हुयी शिक्षा पद्धति के आघात से शिक्षण कर्म और शिक्षक तथा विद्यार्थी के सम्बन्धों में क्रान्तिकारी परिवर्तन हुए है। शिक्षण-कार्य स्वान्तः सुखाय न होकर एक वेतनभुक्त नौकरशाही सेवावृत्ति हो गयी। शिक्षण का मुख्य ध्येय हो गया शिक्षार्थी को परीक्षार्थी बनाना क्योंकि शिक्षार्थी की सफलता का मापदण्ड परीक्षा में मिलने वाली सफलता हो गयी। शिक्षा को उसी प्रकार ढाला गया जैसी सरकारी नौकरियों की आवश्यकता थी। सरकारी नौकरियों के चुनाव के लिए लिखित परीक्षाओं का संगठन किया गया। अतः, शिक्षा में भाषा (वह भी अंग्रेजी भाषा) और साहित्यिकता में प्रवीणता पाने पर अत्यन्त जोर दिया जाने लगा। शिक्षा की विषय वस्तु योरोपीय हो गयी जिसका भारतीय जीवन से सम्बन्ध न था। दूसरी ओर, शिक्षा का माध्यम विदेशी भाषा थी। इन दोनों विकासों का परिणाम यह हुआ कि शिक्षालयों का वातावरण एक शुष्क एवं नीरस विदेशी वातावरण से भर गया। ऐसी दशा में शिक्षार्थी न शिक्षार्थी रहा और न विद्यार्थी—वह एक दम परीक्षार्थी हो गया। विषय-वस्तु और शिक्षा माध्यम के विदेशी होने के कारण शिक्षा ग्रहण करने में कठस्थता ही प्रधान हो गयी। शिक्षार्थियों की शिक्षा में वहां तक दिलचस्पी बढ़ी जहां तक परीक्षा पास करने का सम्बन्ध था। इसी परिस्थिति के दो परिणाम निकले—एक, शिक्षा के माध्यम से विद्यार्थी को कुछ नीरस तथ्यों के अलावा और कुछ नहीं मिला और, इसकारण, उसमें रचनात्मक विचारों का प्रवाह न फल सका। रचनात्मक विचारों की कमी के कारण, मस्तिष्क की उच्छृंखलता का आना स्वाभाविक ही था। दूसरे, शिक्षा साधनों तथा प्रयासों में क्षय (Wastage) की मात्रा बढ़ी। शिक्षा में दिलचस्पी न लेना या कुछ दिन तक शिक्षा ग्रहण करके उसे छोड़ देना या जिस विषय की शिक्षा ग्रहण की जाय, बाद में उस विषय को छोड़ कोई अन्य कार्य करना ये शिक्षा और शिक्षा साधना के क्षय और अपव्यय के ही परिचायक हैं। शिक्षार्थी ने शिक्षक से केवल उतने ही की मांग की जो परीक्षा और पाठ्यक्रम की पूर्ति के लिए आवश्यक था और शिक्षक भी शिक्षार्थी को केवल उतना ही देने के लिए विवश हो गया। इस परिस्थिति में, एक ओर, शिक्षक की बौद्धिक रचनात्मकता क्षीण हुयी तो, दूसरी ओर, शिक्षार्थियों के लिए शिक्षक बौद्धिक प्रेरणा का प्रतीक न होकर केवल एक वेतनभोगी सेवक हो गया।

ऐसी दशा में, शिक्षा के स्तर का गिरना स्वाभाविक ही था। शिक्षालयों को चलाने के लिए आर्थिक दृष्टिकोण से, शिक्षार्थियों की बढ़ती हुयी संख्या आवश्यक

हो गयी और सभी स्तरों पर उस बढ़ती हुयी संख्या का प्रात्सान्ति करने के लिए विद्यार्थियों के अधिकाधिक पास होने की आवश्यकता बढ़ी । शिक्षक की सफलता का भी यही मापदण्ड हो गया कि उसके द्वारा निर्दिष्ट विद्यार्थी परीक्षा में सफलता प्राप्त करें। परीक्षण संस्थाओं के द्वारा परीक्षा का नियमित तथा संचालित करने के कारण, शिक्षक का न तो शिक्षार्थियों पर नियन्त्रण रहा और न उसके पास अपने शिक्षार्थियों की योग्यता मापने का कोई साधन । शिक्षा और शिक्षा-पद्धति एक प्रकार के अव्यवस्थित वातावरण से भर गए जिसमें इस बात पर जोर दिया गया कि परीक्षा का मापदण्ड औसत विद्यार्थी की योग्यता पर निर्धारित होना चाहिए और जहाँ तक हो सके अधिकाधिक विद्यार्थी पास हों । ऐसी दशा में शिक्षक भी अधिकाधिक विद्यार्थियों को पास करने के लिए प्रेरित हुआ । औसत पर आधारित परीक्षा माप दण्डों में पास होने वाले विद्यार्थियों में अधिक की योग्यता औसत थी और जब उन्होंने शिक्षण कार्य संभाला तो जिस औसत के आधार पर उन्होंने पास किया था उसका औसत और भी गिरा । इस प्रकार एक ओर शिक्षा की सफलता का मापदण्ड संख्यात्मक हो गया और दूसरी ओर औसत मापदण्ड गिरता ही रहा और आज भी गिर रहा है । इसका प्रमाण है व प्रशिक्षण संस्थायें जो अध्यापकों को प्रशिक्षण देने के लिए खोली गयी। इन प्रशिक्षण-संस्थाओं में अध्यापन कार्य के ढंग और अध्यापन कार्य के अभ्यास पर उतना जोर नहीं दिया जाता है जितना कि उस विषय वस्तु को पढ़ाने पर जो प्रशिक्षण लेने वाले पढ़ कर आए हैं। सारा ध्यान प्रशिक्षण लेने वालों के सामान्य ज्ञान को बढ़ाने की ओर रहता है । यह इस बात का प्रतीक है कि हम यह मानते हैं कि शिक्षा का स्तर गिर रहा है हम उसे रोक नहीं सकते हैं यहाँ वहाँ उसका सुधार अवश्य कर सकते है।

अंग्रेजी राज काल में विभिन्न पेशों और सेवावृत्तियों की जो उच्चावच परम्परा विकसित हुयी उसमें शिक्षण कार्य को एक निम्न अप्रतिष्ठित स्तर मिला क्योंकि, सरकारी नौकरों और व्यापारियों की अपेक्षा, शिक्षक का आर्थिक स्तर निम्न रहा है। जिसप्रकार प्राइमरी माध्यमिक और उच्च शिक्षा में अन्तर रहा है इसीप्रकार, इन स्तरों में कार्य करने वाले अध्यापकों की योग्यता और वेतन में भी जमीन आसमान का अन्तर रहा है। इसके दो परिणाम निकले हैं—एक, सरकारी नौकरियों व्यापार और वकालत जैसे उन पेशों की ओर, जहाँ धनोपार्जन की अधिक गुंजायश थी, लोगों का ध्यान आकृष्ट हुआ । अध्यापन कार्य की ओर वही प्रवृत्त हुआ जो धनोपार्जन के अन्य साधनों को अपनाने में असफल हुआ । दूसरे अध्यापन कार्य के लिए आने वाले लोगों की प्रवृत्ति उन स्तरों में पहुँचने की रही है जहाँ अधिक धन प्राप्त हो सके। ऐसी दशा में यह स्वाभाविक ही था कि प्राइमरी तथा माध्यमिक शिक्षण के लिए योग्य व्यक्ति न मिल सकें। अंग्रेजों द्वारा लागू की हुयी शिक्षा पद्धति में प्राइमरी तथा माध्यमिक शिक्षा स्वतः उपेक्षित हो गयी।

अंग्रेजी राज के माध्यम से पड़ने वाले योरोपीय संघात के कारण भारतीय जीवन में सांस्कृतिक पुनरुन्नयन की जो प्रक्रिया आई उसका भारतीय संस्कृति पर व्यापक प्रभाव पड़ा और शिक्षा भी उससे मुक्त न रह सकी। शिक्षा को, एक ओर पुनरुन्नयन का माध्यम बनाया गया और दूसरी ओर भारतीय शिक्षा के पुनरुन्नयन का प्रयास किया गया। भारत में अंग्रेजी राज की स्थापना के बाद से भारतीय शिक्षा के विकास में दो विचार प्रवाह अस्तित्व में आए—एक भारतीय शिक्षा को योरोपीय बनाया जाए और दूसरा भारतीय शिक्षा को भारतीय पद्धति के अनुसार ढालकर, उसमें भारतीय तथा योरोपीय विषय वस्तु का समन्वय किया जाए। दूसरे विचार प्रवाह को ही प्रधानता मिली और वर्तमान भारत के शिक्षा प्रयास इसी दिशा में प्रवाहित हो रहे हैं यद्यपि इस समन्वय के स्थायी आधार नहीं तैयार हो पाये हैं और सम्भवतः वे तब तक नहीं तैयार हो पायेंगे जब तक भारत में शिक्षा का माध्यम भाषा अंग्रेजी है और भारतीय ज्ञान विज्ञान के प्रेरणास्रोत अंग्रेजी भाषा भाषी संसार में है। किन्तु साथ ही साथ, भारत की प्राचीन शिक्षा-पद्धति के पुनरुन्नयन का प्रयास भी चलता रहा है। शिक्षा पुनरुन्नयन का यह प्रयास स्वामी दयानन्द के समय से प्रारम्भ होता है। आर्यसमाज के तत्वावधान में गुरुकुलों की स्थापना इसी दिशा में एक प्रयास है। मुसलमानों में इस प्रयास ने अरबी-इस्लाम से दी जाने वाली धार्मिक शिक्षा का रूप लिया। जिस प्रकार आर्य समाज के तत्वावधान में चलने वाले एंग्लो-वैदिक कालेजों में योरोपीय शिक्षा को वैदिक हिन्दुत्व के साथ मिलाया गया उसी प्रकार इस्लामिया कालेजों और अलीगढ़ मुस्लिम यूनीवर्सिटी में योरोपीय शिक्षा को इस्लाम के साथ मिलाया गया।

महात्मा गांधी की प्रेरणा से चलने वाले स्वदेशी आन्दोलन से इस पुनरुन्नयन ने एक नयी दिशा ग्रहण की। भारत में विदेशी का बहिष्कार, कारखानों के स्थान पर कुटीर उद्योगों को प्रोत्साहन और हिन्दी उर्दू को मिलाकर हिन्दुस्तानी को राष्ट्रीय भाषा बनाने के प्रयास इस नए पुनरुन्नयन के ही परिचायक है। शिक्षा के क्षेत्र में इस पुनरुन्नयन ने बुनियादी शिक्षा का रूप ग्रहण किया। बुनियादी शिक्षा का उद्देश्य भारत में उस शिक्षा को स्थापित करना था जिसमें साहित्यिकता के स्थान पर कला कौशल का भी प्रवेश हो ताकि शिक्षा आर्थिक दृष्टिकोण से भी उपयोगी हो सके। किन्तु इस प्रयास ने एक विचित्र द्विभाजिता को जन्म दिया। प्रौद्योगिकी के बढ़ते हुए प्रयासों ने मशीनीकरण, औद्योगीकरण और आर्थिक केन्द्रीकरण को प्रोत्साहित किया। कुटीर उद्योगों पर आधारित उस विकेन्द्रीकृत आर्थिक समाज का अभ्युदय न हो पाया जिसकी कल्पना की गयी थी। अतः बुनियादी शिक्षा भी अव्यावहारिक हो गयी। बुनियादी शिक्षा के अध्यापक को वह कार्य करना पड़ा जिसमें उसका आदर्श विश्वास न विकसित हो सका। इसका परिणाम यह हुआ कि कला कौशल की शिक्षा केवल एक मनोरंजनमात्र रह गयी।

यह निर्विवाद है कि भारत में अंग्रेजी शिक्षा का आधार मुख्यतः साहित्यिक रहा है न कि वैज्ञानिक। प्रौद्योगिकी के बढ़ते हुए प्रयोग और योरोप से मिलने वाली प्रेरणा से भारत में विज्ञान तथा प्रौद्योगिकी की शिक्षा की माग बढ़ती रही है। धनाभाव और योग्य शिक्षकों की कमी के कारण उसका आवश्यक संगठन न हो सका। सरकार ने उत्पादक तथा प्रशिक्षण केन्द्रों के रूप में प्रौद्योगिक शिक्षा को संगठित करने का प्रयास किया। किन्तु, ऐसी शिक्षा भी व्यावहारिक न हो पायी क्योंकि प्रशिक्षण पाए हुये लोगों को न तो वे साधन उपलब्ध हो सके जिसके माध्यम से उन्होंने शिक्षा पायी थी, न उनको लाभप्रद कार्य ही मिल सका और यदि किसी ने प्रयास भी किया तो उसके उत्पादन की बिक्री का प्रबन्ध न हो सका। प्रौद्योगिक शिक्षा का सीधा सम्बन्ध समाज के आर्थिक औद्योगिक संगठन से है। ज्यों ज्यों हम इस विषय में स्पष्ट होते जायेंगे कि भारत का आर्थिक औद्योगिक संगठन क्या हो प्रौद्योगिक शिक्षा की रूपरेखा भी स्पष्ट होती जायगी। कुछ भी हो, अंग्रेजी राज के समाप्त से यह विचार घर करता गया है कि यदि भारतीय समाज को योरोपीय औद्योगिक ढांचे में लाना है तो प्रौद्योगिक शिक्षा के एक व्यापक संगठन की आवश्यकता है। साथ ही साथ यह भी स्पष्ट होता जा रहा है कि शिक्षा के गिरते हुए स्तर का प्रधान कारण यह है कि समयानुसार शिक्षा का बहुमुखीकरण (Diversification) न होने के कारण, शिक्षालयों में उन लोगों की भीड़ बढ़ती जाती है जो उच्च शिक्षा के योग्य नहीं है किन्तु उच्चशिक्षा के लिए इसलिए जाते हैं कि वह सरकारी नौकरी में जाने का एक साधन है और उच्चशिक्षा में जाने के अलावा उनके पास कोई चारा नहीं है।

भारत में योरोपीय शिक्षा का स्वागत भी हुआ और विरोध भी। स्वागत के दो प्रेरणा स्रोत थे—एक, भारत के पश्चिमीकरण की भावना और दूसरे सरकारी नौकरियों में प्रवेश पाने की प्रेरणा। यही कारण है कि अंग्रेजी शिक्षा का प्रसार शहरों में और उन जातियों में अधिक हुआ जो परम्परा से बुद्धिजीवी थी और जिनके सदस्य भारत की नौकरशाही परम्परा की रीढ़ थे। जिन जातियों अथवा वर्णों के सदस्यों के पास साम्पत्तिक आर्थिक साधन थे वे इस शिक्षा की ओर कम आकृष्ट हुए। सम्भवतः यही कारण है कि अंग्रेजी शिक्षा का प्रसार नारियों में कम हुआ क्योंकि भारतीय परम्परा में नारियों द्वारा नौकरी करने की परम्परा नहीं रही है। नारी आर्थिक स्वातन्त्र्य की धारणा योरोप की देन है और आधुनिक प्रौद्योगिकी तथा औद्योगीकरण की उत्पत्ति है[1]। कारीगर-जातियों के सदस्यों में भी इस शिक्षा का अपेक्षाकृत कम प्रसार हुआ क्योंकि पढ़ा लिखा व्यक्ति जातिगत पेशों को अपनाने में असमर्थ रहा है। सम्भवतः यही कारण है कि गांवों में आज भी ऐसे उदाहरण मिल

1 पानिक्कर, के० एम० वही

जाते हैं जहाँ परिवार के एक ही व्यक्ति को शिक्षा प्राप्त करने की अनुमति मिली है। इस कथन में कोई अतिशयोक्ति नहीं होगी कि भारत के परम्परागत सामाजिक-आर्थिक संगठन ने अंग्रेजी शिक्षा पद्धति को प्रोत्साहित भी किया है और उसके व्यापक प्रसार का विरोध भी। इसका सर्वोत्कृष्ट उदाहरण प्राइमरी शिक्षा की व्यवस्था है। जहाँ अनिवार्य शिक्षा है वहाँ भी फसल की कटाई और बुवाई के दिनों में पाठशालाओं में बालकों की उपस्थिति कम हो जाती है क्योंकि उन दिनों खेतों में बालकों की उपस्थिति अधिक लाभदायक होती है और जब जून के महीने में ग्रीष्म अवकाश रहता है तब बालकों को न तो खेती का काम करना पड़ता है और न पढ़ने का ही। निम्न स्तर की जातियों के बालक इसीलिए स्कूल नहीं गये कि वे उच्चस्तर की जाति के बालकों के साथ बैठने के अयोग्य थे और उनके अभिभावकों का यही विचार रहा है कि यदि खेती मजदूरी और घर का ही काम करना है तो शिक्षा की क्या आवश्यकता ?

योरोपीय संघात के भारतीय सामाजिक सांस्कृतिक संदर्भ में अंग्रेजी शिक्षा पद्धति वरदान भी सिद्ध हुयी। अंग्रेजी भाषा और योरोपीय शिक्षा के कारण उच्चशिक्षा प्राप्त लोगों में यदि पश्चिमीकरण बढ़ा तो उनमें भारत के प्रति जागरूकता भी विकसित हुयी। अंग्रेजी शिक्षा के ही माध्यम से भारत में योरोपीय विचार का संघात बढ़ा जिससे भारतीय सामाजिक विचार में एक तीव्र गत्यात्मकता आयी जिसने भारत की आधुनिक सामाजिक नवजागृति को जन्म दिया। भारत की आधुनिक सामाजिक नवजागृति के नेता अंग्रेजी शिक्षा पद्धति की उपज थे। इसी शिक्षा के माध्यम से भारत में उस ज्ञान विज्ञान का विकास हुआ है जिसकी उत्पत्ति आज का भारत है। इसी शिक्षा के माध्यम से, भारत में प्रजातन्त्र समाजवाद, पूंजीवाद साम्यवाद सम्बन्धी विचारों का समावेश हुआ और भारत में एक साथ राष्ट्रीयता और अन्तर्राष्ट्रीयता की लहर दौड़ी। इसी शिक्षा के माध्यम से व्यक्तिवादी विचारों का प्रसार हुआ और सामाजिक संगठन के अप्रजातांत्रिक आधारों के प्रति विद्रोही विचार फले। इसी शिक्षा के माध्यम से प्रादेशिक भाषाओं के विकास के अवसर अस्तित्व में आए और उनके साहित्य पर योरोप तथा अंग्रेजी साहित्य का प्रभाव पड़ा। इसी शिक्षा के माध्यम से भारत के पुनरुन्नयन का और भारत तथा योरोप के समन्वय का विचार पनपा। किन्तु यह समन्वय किस प्रकार हो, यही वर्तमान भारत और शिक्षा की समस्या है।

कला साहित्य और भाषा ५

संस्कृति के अन्य पक्षों की भांति भारतीय संस्कृति के कला पक्ष पर भी योरोप का मघात पड़ा। इस मघात से किन्हीं किन्हीं क्षेत्रों में कला का पुनरनयन हुआ और किन्हीं किन्हीं में भारतीय कला का यारोपीयकरण और किन्हीं में यारोपीय टक्नीक प्रतीक और प्रवाहों का भारतीयकरण हुआ। संगीत में एक ओर शास्त्रीय संगीत का पुनरनयन हुआ और दूसरी ओर यारोपीय प्रभावों तथा सांस्कृतिक पुनरनयन के प्रवाह में सुगम संगीत की उत्पत्ति हुयी और उसमें लोकतत्वों का समावेश हुआ। बगाल में टैगोर संगीत एक ऐसा ही विकास है। योरोपीय संगीत के प्रभाव में संगीत के छंद बंध और काव्य तत्व भी बदल और सिनेमा के माध्यम से एक ऐसे संगीत का अभ्युदय हुआ जिसकी आत्मा और कलेवर दोनों ही यारोपीय है। ईसाई मिशनरियों ने चर्चों में योरोपीय आधार पर भारतीय भाषाओं में वृन्दगान (Chorus) का समावेश किया। वास्तव में वृन्दगान और वृन्दवाद्य-संगीत (Archestra) योरोप की ही देन हैं और आज इन दोनों का भारतीय संगीत और वाद्य में समावेश हो रहा है। एक ओर शास्त्रीय संगीत के वे घराने और शैलियाँ चलती रहीं जो मुस्लिम काल में अस्तित्व में आयी थीं और दूसरी ओर योरोपीय, शास्त्रीय और लोक-संगीत के समावेश से एक नयी सवसुलभ संगीत परम्परा का प्रारम्भ हुआ। योरोपीय प्रभाव ने शास्त्रीय और लोक तत्वों का परस्पर समीप कर दिया है। नृत्य कला का भी यही हाल हुआ है। एक ओर, प्रतिष्ठित शास्त्रीय शैलियाँ (कत्थक कथकली भरत-नाट्यम और मणिपुरी) चलती रही हैं तो दूसरी ओर इन शैलियों का लोक शैलियों से समावेश किया गया है और उसमें योरोपीय शैली का पुट दिया गया है। सिनेमा में बैले शैली के नृत्य इसी नवीन परम्परा के प्रतीक है।

चित्रकला पर योरोपीय प्रभाव का विश्लेषण करते हुए बालकृष्ण राव ने लिखा है अंग्रेजी शिक्षा के फलस्वरूप चित्रकला की राजपूत और मुगल शैलियाँ समाप्त हो गयी। भारतीय चित्रकला के आधुनिक युग का प्रारम्भ उस समय होता है जब भारतीय चित्रकारों ने (जैसा कि राजा रवि वर्मा ने किया) योरोपीय शैली का अंधा अनुकरण करना प्रारम्भ किया और (जैसा कि आगे चल अवनीन्द्रनाथ टैगोर नन्दलाल बोस सुरेन्द्रनाथ गांगुली असितकुमार हल्धर के मसूर के वेंकटप्पियों ने किया) योरोपीय प्रभावों का अजन्ता मुगल और राज शैलियों के साथ समन्वय करना प्रारम्भ किया। कलकत्ता बम्बई और आ प्र आधुनिक शैली के सम्प्रदाय इसी समन्वय प्रवाह की उत्पत्ति हैं। चित्रकारों द्वारा प्रयुक्त किये जाने वाले रंगों और अन्य उपकरणों का निर्माण आज योरोपीय प्रौद्योगिकी की ही सहायता से होता है जिसके कारण चित्रकला की विषय वस्तु की अपेक्षा

उपकरणो का अधिक योरोपीयकरण हुआ है। एक समय था जब चित्रकार स्वय अपने रगो का उत्पादन करता था किन्तु आज उनका उत्पादन कारखाना म होता है। यह योरोपीय प्रभाव का ही परिणाम है कि चित्रकला म अमूर्त और अपरम्परावादी प्रतीकात्मकता का अभ्युदय हुआ। चित्रकला के विषय वस्तु म दिव्य उच्च और असाधारण के स्थान पर, साधारण, सामान्य, इहलौकिक और वास्तविक का समावश हुआ। योरोप की सामाजिक नवजागति (Social Renaissance) और प्रकृतिवादी तथा विज्ञानवादी दशन के प्रभाव स उत्पन्न यथार्थवादिता का सबस अधिक प्रभाव, साहित्य के अलावा चित्रकला पर ही पडा। यह यथार्थवादिता का ही प्रभाव है कि चित्रकार, एक ओर नग्न शरीरी चित्रण की ओर उन्मुख हुआ और, दूसरी ओर, इहलौकिक मानवी जीवन और उसके प्रकारो के चित्रण की ओर। आधुनिक भारतीय चित्रकला म एक ओर उद्देश्यरहित यथार्थवादिता का प्रभाव है और दूसरी ओर यथार्थ मानवतावाद के अवगुठन म लिपटा हुआ है। ये दोनो प्रभाव योरोपीय हैं—प्रथम उस वाद का उत्पत्ति है जिसम कला को कला के लिये ही माना जाता है, और दूसरा, उस वाद की जिसमे कला को वह उपादेय माध्यम माना जाता है जिसका प्रयोग जीवन के अभिनव मार्गों का सजन करने के लिये किया जाता है।

नाटयकला जिसम अभिनय और रगमच दोनो शामिल हैं भी उसी प्रकार योरोपीय प्रभाव म आय। नाटयकला के दो पक्ष हैं—एक अभिनय और रगमच का और दूसरा साहित्य का। नाटयकला के साहित्यिक पक्ष का वणन आग किया जायेगा। यहा इतना जान लेना आवश्यक है कि सगीत की भाति भारतीय नाटयकला के भी दो स्तर रहे हैं—एक, शास्त्रीय और दूसरा लोकतत्वीय। रामलीला, रासलीला स्वाग और नौटकी लोक नाटय परम्परा की श्रेणी मे आते हैं। शास्त्रीय नाटयकला और रगमच, प्राचीन तथा मध्यकालीन योरोपीय नाटक की भाति, भारत म भी राजमहलो के मनोरजन का साधन रहे है। सम्भवत यही कारण है कि सस्कृत के नाटक सुखान्त हैं और उनके कथानक या तो राजपुरुषो से सम्बन्धित है या दिव्य पुरुषो स और पर्दों के माध्यम स भारतीय नाटको म भय तथा पारलौकिक दृश्यो की प्रधानता रही है तथा हास्य दरबारी होने के कारण बनावटी है। ऐसी परिस्थिति म अभिनय म नाटकीयता का अधिक होना स्वाभाविक है और अभिनय म जितनी ही नाटकीयता होगी यथार्थ से वह उतना ही दूर होगा। मुस्लिम काल म भारतीय रगमच म कोई खास परिवतन नही आया क्योकि इस काल म जसा कि लखनऊ के नवाब वाजिदअली शाह के समय म रचित इन्दर सभा स स्पष्ट है नाट्यकला का प्रवाह सगीत नाटिका (Opera) की ओर रहा है।

नौटकी सगीत नाटिका की एक निम्न लोकप्रिय परम्परा है। योरोप के प्रभाव से नाटय कला और रगमच का पुनरुन्नयन हुआ। भारत का व्यापारीकृत पारसी रगमच इसी पुनरुन्नयन की प्रथम अभिव्यक्ति था। पारसी रगमच मे भारतीय और

योरोपीय प्रभावों का सम्मिलन है यद्यपि इस सम्मिलन में भारतीय प्रभाव और परम्परायें ही प्रधान हैं। भारत की अभिनय और नाट्य-कलाओं पर योरोपीय प्रभाव सिनेमा और कला सम्बन्धी वादों (Isms) की विचारधाराओं के प्रभाव के माध्यम से आया है। जैसा कि कला के अन्य क्षेत्रों में हुआ है, अभिनय और नाट्यकला के क्षेत्र में भी यथार्थ की मांग बढ़ी और व्यस्त जीवन के कारण सरल और छोटे छोटे कथानकों की माँग बढ़ी। एकांकी नाटक इसी माँग की उत्पत्ति है। यथार्थवादी प्रभावों की माँग के कारण, इस बात की आवश्यकता बनी कि कथानक में जितने ही कम दृश्य हों उतना ही अच्छा। नाटकों में गानें निकालने की माँग योरोपीय प्रभाव की ही देन है। पात्रों द्वारा गाये जाने वाले संगीत की अपेक्षा, पार्श्व वाद्य-संगीत को सन्देशवाहक और भाव संचारी माध्यम के रूप में अधिक प्रधानता मिली। बिजली तथा माइक्रोफोन के प्रयोग से रंगमंच तथा अभिनय में अपेक्षाकृत अधिक यथार्थता आई। श्रव्य नाटक, जो दृश्य प्रधान न होकर ध्वनि प्रधान हैं योरोप से आई हुयी रेडियो प्रौद्योगिकी की देन हैं।

कला की भाँति साहित्य भी योरोपीय परम्पराओं से प्रभावित हुआ है। अंग्रेजी भाषा और अंग्रेजी शिक्षा इस प्रभाव का मुख्य माध्यम हैं। काव्य में दो परम्पराओं का अभ्युदय हुआ—एक प्रपत्तिमय निराकारी और रहस्यवादी परम्परा का जो मध्यकालीन सूफीवादी पुट के साथ, एक ओर राधास्वामी पन्थों जैसे निर्गुनिया पन्थों में अपने प्राचीन रूप में चलती रही और दूसरी ओर टगौर, पंत पनाद, निराला और महादेवी की कविताओं के रूप में, वह एक नवीन रूप लेकर अवतरित हुआ जो समयानुसार प्राचीन की अपेक्षा अधिक सोफिस्टीकेटेड था। हिन्दी और बंगला की आधुनिक रहस्यवादी काव्य शैली को अंग्रेजी साहित्य का प्रत्यक्ष प्रभाव मानना वस्तुतः इतिहास की अवहेलना करना है। जिस प्रकार इस्लाम के प्रभाव ने रहस्यवादी काव्याभिव्यक्तियों में भावुकता का पुट दिया था[1] उसी प्रकार योरोपीय प्रभाव ने उसमें सोफिस्टीकेशन का एक गहरा पुट दिया। जिसकी अभिव्यक्ति हुयी टगौर की गीतांजली में। हिन्दी में एक अन्य शैली उत्पन्न हुयी जिसे छायावाद की संज्ञा दी गई है जो अपनी भावानुभूति में रहस्यवाद का एक निम्नस्तरीय इहलौकिक ऐन्द्रिक बिन्दु थोड़ा उथली रूप है और अपनी अभिव्यक्ति शैली में अपरम्परागत छन्दों और प्रतीकों स्थानी विचार और प्रकृति के आलम्बन उद्दीपन प्रयोग से बंधी हुयी है। छायावाद का वास्तविक आधार रूमानीपन (Romanticis) है जिसे पश्चिम के समाजशास्त्री सामाजिक व्यवस्था के औद्योगीकरण और शहरीकरण की उत्पत्ति मानते हैं[2]।

1 ज्ञानी शिवलाल रीतिकालीन साहित्य की ऐतिहासिक पृष्ठभूमि
2 राइमर माइन सिटी

यदि फ्रायड के मनोविश्लेषण के सिद्धान्तों के सन्दर्भ से विचार किया जाय तो यह स्पष्ट हो जाता है कि एक अतृप्त, सतत अभिलाषा के रूप में रूमानी विचार सभी समाजों में स्वाभाविक रूप से व्याप्त है और उसकी अभिव्यक्ति विभिन्न समाजों की सांस्कृतिक मान्यताओं और अर्हताओं के अनुसार होती है[1]। भारत की लोक काव्य परम्परा में रूमानी विचार थे और यहाँ की रीतिकालीन शैली में प्रकृति का आलम्बन उद्दीपन के रूप में प्रयोग करने की परम्परा भी थी। वास्तव में रहस्यवाद और छायावाद के विकास के दो मुख्य आधार रहे हैं एक भारत की मध्यकालीन रहस्यवादी परम्परा और दूसरा वह हतोत्साह मनोवृत्ति जो योरोप के प्रभुत्वपूर्ण सघात के कारण भारतीय समाज में उत्पन्न हुयी थी। छायावाद का मानसिक प्रेरणा स्रोत पलायनवाद है न कि अंग्रेजी साहित्य की रूमानी परम्परा। हाँ *यह अवश्य है कि योरोप के प्रभाव ने उसे निखरने का परिस्थिति प्रदान की।* साम्यवादी विचारधारा के प्रभाव में जिस प्रयोजनवादी साहित्य का सृजन हुआ उसे प्रगतिवाद की संज्ञा दी जाती है। प्रगतिवादी रचना को माध्यम बनाया जाता है उस बौद्धिक उदबोधन का जिसके माध्यम से वर्तमान की मान्यताएं नष्ट होकर, एक नव समाज की मान्यताओं में विकसित होगी। वर्तमान भारतीय काव्य साहित्य के मुख्य आधार रहे हैं राष्ट्रवाद सांस्कृतिक पुनरुत्थान, पलायनवाद फ्रायडवाद और साम्यवाद। ये आधार योरोप की देन है और योरोप के सघात से उत्पन्न हुए है।

गद्य और गद्य साहित्य का विकास निश्चय ही अंग्रेजी भाषा का प्रत्यक्ष प्रभाव है। *भारत में गद्य की परम्परा काव्य शैली में निहित थी। अंग्रेजी राज की स्थापना* के समय, जैसा कि दिनकर का मत है हिन्दी गद्य अस्तित्व में आ चुका था किन्तु वह इतना सुगठित और विकसित नहीं था जितना कि वर्तमान गद्य है। गद्य साहित्य मे, कहानी, उपन्यास और नाटक का विकास मुख्य है। कहानी और उपन्यास की परम्परा भारत में थी। बाणभट्ट का कादम्बरी भारत का पहला उपन्यास है। सिंहासन बत्तीसी और बैताल पच्चीसी जैसी कहानियाँ भी भारत में थी। किन्तु यहाँ के उपन्यास और कहानी मे यथार्थ जीवन का चित्रण और भाव प्रवणता उस योरोपीय परम्परा से आय है जो यथार्थवादी परम्परा के रूप मे सामाजिक नव जागृति के प्रभाव से योरोप में जन्म ले चुकी थी। *यह योरोपीय प्रभाव का परिणाम* कहा जा सकता है कि वर्तमान भारत के उपन्यास और कहानी वास्तविक जीवन के अधिक समीप आ गये। नायक सम्राटों और देवताओं के संसार से निकल कर इहलौकिक सामान्य जीवन के अधिक समीप आ गया। राष्ट्रीयता, पुनरुत्थान और सामाजिक समस्याओं का निराकरण और नव निर्माण कहानी और उपन्यास के मुख्य प्रेरक हो

भट्ट गौरीशंकर जौनसारी लोकगीतों में रोमांस प्राच्य मानव वैज्ञानिक वाल्यूम III

गये। प्रेमचन्द के उपन्यास राष्ट्रीयता, पुनरुत्थान, और सामाजिक नवनिर्माण की भावनाओं से प्रेरित हैं जबकि द्विजेन्द्रलाल राय और प्रसाद के नाटक राष्ट्रीयता की भावना को उद्बोधित करने की प्रेरणा से। इनके नाटकों के कथानक, भारतीय इतिहास की उन्हीं परिस्थितियों और घटनाओं से सम्बन्धित हैं जिनमें राष्ट्र संकट में था और राष्ट्रीय भावना तथा गर्व को जगाने की आवश्यकता थी। द्विजेन्द्रलाल राय तथा प्रसाद के नाटकों में योरोपीय रंगमंच की परम्पराओं के प्रभाव का भारतीय रंगमंच की परम्पराओं से समन्वित भारतीय रूप दर्शन को मिलता है। जिस प्रकार, योरोप में फ्रायड के सिद्धान्तों की बढ़ती हुई लोकप्रियता के प्रभाव के कारण, उपन्यासकारों तथा नाटककारों को अपने पात्रों के मानसतल में बैठकर उनमें अन्तर्निहित मानसिक द्वन्द्व तथा संघर्ष को चित्रित करने की प्रेरणा मिली, उसी प्रकार भारत में भी ऐसे चित्रण की प्रेरणा मिली। किन्तु, जिस प्रकार, लेखकों के फ्रायड के सिद्धान्तों और उनकी कमियों से परिचित न होने के कारण योरोप के साहित्य सृजन में यथार्थता के नाम पर ऐन्द्रियता का समावेश हुआ, वैसा ही भारत में भी हुआ। जिस प्रकार, चित्रकला के क्षेत्र में कला के लिये कला वाले योरोपीय सम्प्रदाय का प्रभाव पड़ा, वैसे ही नाटक, उपन्यास और कहानी पर इस सम्प्रदाय का प्रभाव पड़ा किन्तु जैसा कि योरोप से आयी हुयी मानवतावादी विचारधारा की माँग थी, नाटक उपन्यास और कहानी प्रयोजनवादिता से अछूते न रह सके। योरोप की भाँति, भारत में भी कला और साहित्य का सृजन वादों (Isms) के चक्रव्यूह में समा गया।

काव्य के क्षेत्र में सबसे क्रान्तिकारी प्रभाव पड़ा छन्दों, उपमा-उपमेय के प्रतीकों और अभिव्यक्ति की शैली पर। हिन्दी काव्य के इतिहास में आधुनिक काल के विकास के पहले की अवस्था को रीतिकाल की संज्ञा दी जाती है और उसे रीतिकाल इसलिए कहा जाता है कि उस काल में काव्याभिव्यक्ति के माध्यम, प्रतीक उपमा-उपमेय और विषय वस्तु परम्परागत थे और जहाँ वे नहीं थे वहाँ उनको किसी-न-किसी रीति में बाँधने का प्रयास किया जाता था। उदाहरणार्थ, उस काल का सारा भक्ति और शृंगारिक काव्य राधा और कृष्ण के माध्यम से वर्णित होता था। नायिका-भेद और नायिका के नख-शिख का वर्णन भी इसी माध्यम से होता था। कमल, चन्द्र, पुष्प और भ्रमर ही सौन्दर्य के मुख्य उपमान थे। सारी काव्याभिव्यक्ति रूढ़िगत होने के कारण, पहेली-सी थी और इसकारण, उसमें प्रसाद गुण और स्वाभाविकता (Spontaneity) और जन-सुलभता का अभाव था। योरोपीय संघात का मुख्य प्रभाव यह हुआ कि साहित्यिक रूढ़ियों के प्रति एक प्रकार का विद्रोह सा उठ खड़ा हुआ। जिस प्रकार, तत्कालीन समाज में रूढ़ि के प्रति विद्रोह की भावना पनपी उसी प्रकार काव्य में भी हुआ। छायावादी कविता का जन्म इसी विद्रोह में हुआ था और छायावादी कवि ने प्रतीक, छन्द, उपमाओं और उपमान को नये सिरे से

गढा[1]। किंतु छायावादी कविता स्वयं अपने द्वारा निर्मित रूढियो म ग्रसित हो गयी। दूसरी ओर, यदि परम्परागत काव्य आलम्बनों का प्रयोग भी किया गया तो उन्हे नये सामाजिक सन्दर्भों मे ढाला गया। उदाहरणार्थ, मथिलीशरण गुप्त ने, साकेत प्रबन्ध-काव्य मे, परम्परागत रामकथा के आधार पर नयी मानवतावादी सामयिक अर्हाओ का प्रतिपादित करने का प्रयास किया। भाव प्रवण छोटे छोटे गीत और अतुकान्त छन्द लिखने की परम्परा इसी काल म विकसित हुयी है और वह अग्रेजी भाषा की रूमानी परम्परा की लिरिकल प्वटरी (Lyrical Poetry) और लक वस (Blank Verse) से प्रेरित है। काव्याभिव्यक्ति मे व्यक्तिवादिता और परम्परा के अतिक्रमण की भावना का चरम विकास उस शली म हुआ है जिसे प्रयोगवाद कहा जाता है।

यह पहले ही लिखा जा चुका है कि अग्रेजी राजकाल म शिक्षा का माध्यम अग्रेजी भाषा हो गयी थी। अग्रेजी भाषा के माध्यम से, योरोपीय ज्ञान विज्ञान का भारत म प्रसार करने का प्रयास किया गया। किंतु साथ ही साथ, ज्ञान विज्ञान को जन-सुलभ बनाने की समस्या बनी रही। यह अवश्य है कि संस्कृत ग्रन्था का अग्रेजी म अनुवाद होने के कारण अग्रेजी भाषा भाषी लोगो का भारत का प्राचीन ज्ञान विज्ञान सुलभ हो गया। किंतु फिर भी समस्या बनी ही रही। उधर, इसाई मिशनरियो के सामने बोल चाल की भाषा मे इसाई धर्म का प्रसार करने की समस्या थी। अत, जिस प्रकार मुसलमानो ने (बोलचाल की भाषा को साहित्यिक अभिव्यक्ति के स्तर पर लाने का प्रयास किया था, उसी प्रकार इसाई मिशनरियो ने बोल चाल की प्रादेशिक भाषाओ को साहित्यिक अभिव्यक्ति का माध्यम बनाने के लिये प्रयत्न प्रारम्भ किये। सन पन्द्रह सौ उन्सठ म टामस स्टीफेंस नामक मिशनरी ने काकणी मे ईसा-पुराण लिखा। मदूरा मिशन का बेस्ची नामक मिशनरी तामिल का पण्डित था। बिशप काडवेल को द्राविड भाषाओं का उद्धारक माना जाता है। सिरामपुर (बगाल) के मिशनरी हिन्दी, उर्दू और बगला म इसाई धर्म का प्रचार करते थ। मिशनरियो न प्रादेशिक भाषाओ के व्याकरण लिख उनकी लिपियो को निर्धारित किया, टाइप बनाकर प्रस खोले और अखबार निकाल कर गद्य का विकसित किया[2]। इसका परिणाम यह हुआ कि प्रादेशिक भाषाओं का गद्य और व्याकरण अग्रेजी के गद्य और व्याकरण से प्रभावित हुआ। भारत मे योरापीय ज्ञान-विज्ञान अग्रेजी भाषा के माध्यम स आया और जब उस ज्ञान विज्ञान का प्रादेशिक भाषाओ म लाने का प्रयास किया गया तो अग्रेजी भाषा के शब्द और वाक्य विन्यास का प्रभाव और भी बढा। दूसरी ओर अग्रेजी भाषा के मुहावरो का प्रादेशिक

1 देखिये सुमित्रानन्दन पत द्वारा रचित पल्लव की भूमिका और प्रसाद की कविता, विशेषत उनका आसू नामक खण्ड काव्य।

2 दिनकर रामधारीसिह संस्कृति के चार अध्याय पृष्ठ 410

भाषाओं में भारतीयकरण हुआ है। भारत में अंग्रेजी, विद्वता और पाण्डित्य की भाषा रही है जिसके कारण भारत में अंग्रेजी की अलंकारिक और बोझिल शैली का विकास हुआ। अंग्रेजी की इस शैली के प्रवाह ने भारतीय भाषाओं, विशेषतया हिन्दी में अलंकारिक और बोझिल शैली को जन्म दिया। अंग्रेजी में बोझिल शैली के विकास का एक अन्य कारण भी है। आज हिन्दी का प्रयोग योरोपीय विषय-वस्तु को अभिव्यक्त करने के लिये किया जा रहा है—वह विषय वस्तु जो अंग्रेजी में है और जिसके लिये हिन्दी में शब्द नहीं है। ऐसी दशा में सारा अभिव्यक्ति विधान, अंग्रेजी के प्रतिरूप के अनुसार हल्कर शैली को बोझिल बना देता है। योरोपीय विषय-वस्तु को अंग्रेजी से हिन्दी और प्रादेशिक भाषाओं में रूपान्तर जन सुलभ बनाने की समस्या योरोपीय संघात से जन्मी है और इसी संघात ने अंग्रेजी बनाम हिन्दी के प्रश्न को जन्म दिया है। योरोपीय संघात के कारण आज यह समस्या उठ खड़ी हुई है कि हिन्दी का कितना अंग्रेजीकरण हो और कितना उसे स्थानीय बोली या बोलियों के समीप लाया जाय तथा कितना संस्कृत के समीप।

६

धर्म हिन्दुत्व और इसाइयत

जिस प्रकार भारत में मुसलमानों के प्रवेश और उनकी राजनतिक सत्ता स्थापित होने के साथ-साथ हिन्दुत्व पर इस्लाम का संघात पड़ा उसी प्रकार, ज्यों-ज्यों भारत का योरोप से सम्पर्क बढ़ा और ज्यों-ज्यों भारत पर योरोप का राजनैतिक-आर्थिक प्रभुत्व बढ़ता गया त्यों-त्यों भारत में इसाइयत का प्रचार किया गया और उसके फलस्वरूप, भारत इसाइयत के संघात में आया। इस्लाम की भाँति, इसाइयत भी मिशनरी मजहब था और उन लोगों का मजहब था जिनका भारत पर राजनतिक प्रभुत्व था। जिस प्रकार, मुसलमानों के राज्य-काल में इस्लाम को राजनैतिक संरक्षण मिला हुआ था, उसी प्रकार, पुर्तगालियों और अंग्रेजों के शासन में इसाइयत को भी राजनैतिक संरक्षण मिला हुआ था। जिस प्रकार मुसलमानों का राजनतिक प्रभुत्व स्थापित होने के पहले भारत का इस्लाम से सम्पर्क स्थापित हो हो चुका था, उसी प्रकार भारत पर योरोपीय राष्ट्रों का राजनतिक प्रभुत्व स्थापित होने के पहले, भारत में इसाइयत का आगमन हो चुका था। जिस प्रकार, मुसलमानों की राजनतिक सत्ता स्थापित होने के पहले इस्लाम एक शान्तिप्रिय रहस्यवादी, मजहबी आस्था के रूप में भारत आया था, उसी प्रकार, इसाइयत भी एक संघायुक्त रहस्यवादी, अहिंसक किन्तु मजहबी तथा मठीयो आस्था के रूप में भारत आया था। जिस प्रकार मुसलमानों की राजनतिक सत्ता स्थापित होने के बाद, इस्लाम ने एक आक्रामक धर्म-

परिवतन क आ दोलन का रूप ग्रहण किया, उसी प्रकार, ज्यो ज्यो भारत म योरोपीय सत्ताओ का राजनतिक प्रभुत्व बढा, इसाइयत ने भी एक आक्रामक धम परिवतक आन्दोलन का रूप ग्रहण किया। शासक का धम होन के कारण, इसाइयत न भारतीय धर्मों, जिनम हिन्दुत्व इस्लाम और आदिवासी धम मुख्य है के प्रति अनादर और तिरस्कार का रुख अख्तयार किया जिसका परिणाम हुआ वह बौद्धिक कोलाहल जिसने हिन्दुत्व म स्व आलोचना, पुर्नानिवचन, पुनरू नयन और सुधार की उस प्रक्रिया को जन्म दिया जिसे आधुनिक भारत की सामाजिक नवजागति की प्रक्रिया की सज्ञा दी जाती है।

यह कहना कि आधुनिक भारत की सामाजिक नवजागति का एकमात्र कारण इसाइयत ही है वस्तुत, एक जटिल बहुकारकी प्रमय के प्रति एकागी दष्टिकोण अपनाना है। वास्तविकता यह है कि जसाकि इस अध्याय क प्रारम्भ म कहा जा चुका है योरोपीय सभ्यता का बौद्धिक पक्ष इसाइयत के ही पल्ले म पला है और इसकारण जहा जहा योरोपीय सभ्यता का सघातकारी प्रभाव पडा है इसाइयत का भी प्रभाव पडा है। इसाइयत योरोपीय सभ्यता के प्रसार का एक मुख्य माध्यम और अग्रदूत रही है। इसीकारण, ज्यो ज्यो भारत म योरोपीय सभ्यता का सघातकारी प्रभाव बढा इसाइयत का भी सघात बढता गया। भारत के वतमान सुधारवादी आन्दोलन एकमात्र इसाइयत के प्रभाव की ही उत्पत्ति नही है। इसाइयत ने अपने युक्तियुक्त और मानवतावादी विचारो के कारण, सुधार क लिए बौद्धिक प्रेरणा दी और पूजीवाद तथा प्रौद्योगिकी के प्रभाव ने इसाइयत द्वारा प्रेरित सुधारो के लिए माग प्रशस्त किये। भारतीय समाज और सस्कृति के जिन रूपान्तरणो का वणन किया जा चुका है, वे भी उतने सशक्त परिवतनकारी कारक थ जितना कि इसाइयत थी।

इसाइयत के सघात से धम म उत्पन्न होन वाले परिवतनो की व्याख्या के लिए भारत म इसाइयत के सक्षिप्त इतिहास और सघात का विश्लेषण आवश्यक है। भारत म इसाइयत के दो रूप रहे है—एक ईसा मसीह द्वारा प्रतिपादित और उनके जीवन म निहित अहिंसावादी, सन्यासयुक्त पारलौकिक मनुष्य मे देवत्व का दशन करने वाला, भक्ति मार्गी रूप जिस एशियायी इसाइयत कहा जाता है। यह रूप भारत मे ईसा की पहली शताब्दी म आ गया था और इसके लाने वाले थे सीरिया के इसाई जो केरल मे आ बस थे[1]। भारत के लिए वह एक शान्तिप्रिय मजहबी माग था उसी

1 ईसा की पहली शताब्दी में इसाइयत का जो रूप भारत में आया था, उसके प्रणेता सेंट टामस थे और वह सेंट पीटर तथा सेंट पाल द्वारा प्रतिपादित रूपों से भिन्न था। योरोप वालो को भारत में प्रतिपादित इसाई धम का पता था। कहते ह इङ्गलैड वालों को मद्रास के मलयापुर के सेंट टामस के गिरजाघर का पता था और वहा के राजा अल्फ्रेड ने इस गिरजाघर में उपहार चढाने के लिए अपना दूत भी भेजा था—दिनकर

प्रकार से जस हिंदुत्व के अन्य भाग थे। यही कारण है भारत म उसे स्वीकार किया गया और उसक प्रति आदरपूर्ण सहनशील दृष्टिकोण अपनाया गया। जैसा कि केरल के सीरियाई इसाई (Syrian Christian) कहे जाने वाले इसाईयो के सामाजिक सांस्कृतिक संगठन से स्पष्ट है, उनम इसाइयत का काफी भारतीयकरण हुआ है। इन इसाइयो मे पाच सम्प्रदाय हैं जो उसी प्रकार के अन्तर्विवाही समूह हैं जमे हिंदू जातियां[1]।

इसाइयत का दूसरा वह रूप है जो आचार धर्मविद्यायुक्त (Ethical Theological), इहलौकिक और मिशनरी है और जो यूनानी और रोमन प्रभावो के अन्तर्गत पश्चिम म विकसित हुआ है। यही वह रूप है जिस पर रोमन सामाजिक सगठन और साम्राज्यवादिता का प्रभाव रहा है जिसका प्रतीक है पाप अथवा महान धर्माधिकारी। इसी रूप पर उस यूनानी विचारधारा का प्रभाव पड़ा है जो ससार को सभ्य असभ्य (इसाइयत के सन्दर्भ म इसाई और गर इसाई) की द्विभाजिता मे बाटती रही है। पूजीवादी, योरोपीय सभ्यता सम्बद्ध इसाइयत का यह रूप उसी प्रकार से आक्रामक रहा है जिस प्रकार से योरोपीय सभ्यता। इसाइयत का यही वह रूप है जिसे इसके प्रतिष्ठा-पोषको न ससार मे फलाने का प्रयास किया है। जिस मध्यकालीन तथा अर्वाचीन योरोप म इसका जन्म हुआ है, वह अपने को ससार मे सर्वश्रेष्ठ मानता रहा है क्योंकि ससार पर उसका राजनैतिक-आर्थिक प्रभुत्व रहा है और आज भी है। इसाइयत का यह रूप मुख्यत योरोपवादी रहा है और इस कारण सभ्यता सस्कृति के सघर्ष का कारण भी। भारत मे इसाइयत के इस रूप का प्रवेश पुर्तगालियो के साथ साथ होता है। भारत म सोलहवी सदी म पुर्तगाली मिशन आया। मदूरा मे स्थापित और मदूरा मिशन के नाम स विख्यात इटली का मिशन सत्रहवी शताब्दी म और डेनमार्क का मिशन अठारवी शताब्दी म।

पुर्तगाली मिशनरियों ने कार्यों और प्रभावो का वर्णन पहले ही किया जा चुका है। यहा पर यही कहना यथेष्ट होगा कि पुर्तगाली मिशनरियो ने एक ओर, केरल के इसाइयों म स भारतीय विश्वास और प्रभावो को हटाने तथा, दूसरी ओर, जबरदस्ती धर्म परिवर्तन करके धर्म प्रचार का प्रयास किया। इसम उनको सफलता मिली किन्तु भारत मे इसाई धर्म तथा मिशनरी बदनाम भी हुए[2]। जेसुवान्ट

1 क्रोबर, ए० एल० एन्थ्रापालोजी पृष्ठ 433

2 ओ मेले के अनुसार, सन सोलह सौ सोलह में एक अंग्रेज पादरी श्री टेरी को यह बताया गया था कि इसाई धर्म शतान का धर्म है, इसाई अत्यधिक शराब पीते ह, बुरे काय करते ह, दूसरों को सताते ह और बुरा भला कहते ह। उसी पादरी के अनुसार, भाव-ताव करते समय दुकानदार अपने ग्राहक से अक्सर यह कह देता था कि 'म इसाई नहीं हूं जो तुम्हें धोखा दूगा'।

पादरियों को अकबर और जहाँगीर से संरक्षण मिला और इस कारण उनका प्रचार अधिक प्रभावपूर्ण रहा। जहाँगीर के राज्य काल में जेसुवाइट पादरियों ने आगरे में एक कालेज और गिरजाघर की स्थापना की थी। जेसुवाइट मिशनरियों के प्रभाव का एक कारण यह भी है कि उन्होंने, धर्म को छोड़ कर, अन्य बातों में भारतीय बाने को अपना लिया था। यह जेसुवाइट पादरियों की ही धारणा थी कि जब तक किसी देश में वहीं के पादरी इसाइयत का प्रचार नहीं करेंगे तब तक वहाँ इसाइयत का प्रचार नहीं होगा। मदूरा मिशन के लोगों ने, भारतीय जाति प्रथा के आधार पर, अलग अलग जातियों के लिए अलग अलग चर्चों को संगठित करने का प्रयास किया। इन लोगों ने इसाई धर्म में दीक्षा लेने वालों को अपनी अपनी जाति की प्रथाओं को बनाये रखने के लिए प्रोत्साहित किया। इस मिशन के मिशनरियों ने अपने को दो श्रेणियों में बाँटा—एक ओर, वे मिशनरी थे जो ब्राह्मणों में इसाइयत का प्रचार करते थे ब्राह्मणों की भाँति जनऊ धारण करते थे ब्राह्मणों के अलावा किसी अन्य का अभिवादन नहीं करते थे और न तो किसी को छूते थे और न किसी का छुआ हुआ भोजन करते थे। दूसरी ओर, वे मिशनरी थे जो निम्न जातियों में धर्म प्रचार करते थे उन्हीं की भाँति फटे कपड़े पहनते थे और उन्हीं जैसा सादा भोजन करते थे। ब्राह्मणों में धर्म प्रचार करने वाला मिशनरी निम्न जातियों में काम करने वाले मिशनरी से वैसे ही दूर रहता था जैसे ब्राह्मण निम्न जाति के लोगों से दूर रहता था। डेनमार्क के मिशन के मिशनरियों ने भी मदूरा मिशन के मिशनरियों की भाँति इसाइयत को परम्परावादी हिन्दू सामाजिक संरचना के माध्यम से प्रस्तुत करने का प्रयास किया किन्तु उसमें उन्हें सफलता न मिली। इसाई सिद्धान्तों के विरुद्ध होने के कारण, आगे चलकर पोप ने ऐसी क्रियाओं को रोक दिया।

ज्यों ज्यों योरोप का संसार पर प्रभुत्व बढ़ा और योरोप में मिशनरीवादी युक्तियुक्त और प्रसारवादी इसाइयत के रूप में, विभिन्न राष्ट्रवादी प्राटेस्टैंट सम्प्रदायों का अभ्युदय हुआ, इसाइयत का मिशनरीवादी रूप भी फैलता रहा। लार्ड विलियम बैंटिक के समय के भारत में अनेक कैथोलिक (Catholic) और प्राटेस्टेंट चर्च संगठित होकर इसाई धर्म का प्रचार कर रहे थे। यह इसाइयत का आक्रामक रूप था और भारत में उसके प्रचारात्मक और मिशनरी आक्रमण का मुख्य निशाना था हिन्दुत्व। यह प्रचारात्मक आक्रमण इतना उग्र हो रहा था कि लार्ड मिन्टो को विवश होकर, हिन्दुत्व के विरुद्ध मिशनरी प्रचार पर रोक लगानी पड़ी। किन्तु सन् अठारह सौ तेरह में इसाइयों को धर्म प्रचार की पुनः छूट मिल गयी क्योंकि इस काल के अंग्रेज शासकों और मिशनरियों का यह विश्वास था कि अंग्रेजी शिक्षा और इसाइयत के माध्यम से भारत का सांस्कृतिक योरोपीयकरण होगा और उससे योरोप का राजनैतिक, सांस्कृतिक और आर्थिक प्रभाव भी स्थायी रहेगा।

भारत दो प्रकार से इसाइयत के सम्पर्क म आया—एक इसाई मिशनों (Christian Missions) के सम्पर्क से और दूसरे अग्रेजी शासन, अग्रेजी शिक्षा, योरोपीय साहित्य और योरोपीय जीवन यापन के तरीकों के बढते हुए प्रभाव से। योरोपीय सभ्यता का एक बडा अश इसाई विचार और सिद्धान्तो से प्रेरित रहा है और उन्ही के आधार पर निर्मित भी हुआ है। पहले प्रकार का सम्पर्क प्रत्यक्ष रहा है जबकि दूसरे प्रकार का अप्रत्यक्ष। भारत मे इसाई मजहबी आस्था के दो पहलू रह हैं—एक गतानुगतिक और मिशनरी और दूसरा विवेकी, उदारवादी और मानवतावादी[1]। इसाइयत के गतानुगतिक और मिशनरी रूप ने कभी भी हिन्दुत्व का उस उदार दृष्टि स नही देखा जिस रूप से हिन्दुत्व ने अन्य धर्मों को देखा। यह इसाइयत के गतानुगतिक और मिशनरी रूप का परिणाम था कि सन अठारह सौ तेरह के बाद से, इसाई मिशनरियो न गली गली म हिन्दू समाज और सस्कृति के व्यावहारिक पक्ष की एक तीव्र, अनुदार आलोचना प्रारम्भ कर दी[2]। बहुदेववाद, अवतारवाद, कर्मवाद और अनेक रीति रिवाजो की इसाईयो ने निरीह आलोचना प्रारम्भ की और यह दिखाने का प्रयत्न किया कि इसाइयत हिन्दुत्व से श्रेष्ठ है और हिन्दुत्व की अपेक्षा अधिक सुनिश्चित है। योरोप के सुधारवादी आन्दोलन के प्रभाव म, इसाइयत मे उदार मानवतावादी दृष्टिकोण का भी समावेश हुआ था। इस दृष्टिकोण के आधार पर, इसाइयो ने, एक ओर, समतावादी विचारा का प्रचार किया और दूसरी ओर उन

---

1 महेउ, ए० आई० ओमेले द्वारा सम्पादित माडन इण्डिया एण्ड दि वेस्ट में पृष्ठ 305

2 श्री लक्ष्मी सागर वार्ष्णेय ने अपनी पुस्तक आधुनिक साहित्य में इसाई मिशनरियों द्वारा की जाने वाली ऐसी आलोचना के कुछ उदाहरण दिये ह जो इस प्रकार ह —

'वह (ईसा मसीह) तुम्हारे देवताओं के समान नहीं ह जो मरमिटे ह। रामचन्द्र लक्ष्मण के शोक में सरयू नदी में डूब मरा। कृष्ण प्रभासतीर्थ के वन में भील के शर से मारा गया। ब्रह्मा का सिर शिव ने काटा। विष्णु को शिव, जो उसके काले बाल का अवतार था, निगल गया। शिव ने भीमसेन के डर के मारे हिमालय में प्राण तजा। इस रीति से सब देवता जिन पर तुम मुक्ति की आशा रखते हो मरमिटे म बुरा तो हूँ, परन्तु, देवताओं से बुरा नहीं हूँ। वरन उनसे कहीं भला हूँ। शिव के समान जाति से अनादरित और अप्रतिष्ठित नहीं हुआ और ब्रह्मा की नाई कामातुर होके अपनी कन्या से कुकर्म नहीं किया और विष्णु की नाई पराई स्त्री को नहीं ठगा और उनके अवतारों की भाति रीति प्रतिज्ञा भजक और निर्दोषियों का घातक और नास्तिक मत और अधम का उपजायक नहीं हुआ और इन्द्र के समान गुरु की पत्नी को भ्रष्ट नहीं किया"— दिनकर से उद्धृत पृष्ठ 436

धार्मिक मान्यताओं की आलोचना करना प्रारम्भ कर दी जो बाल विवाह, विधवा विवाह निषेध, स्त्री अधिकार निषेध और जाति प्रथा की समर्थक समझी जाती थी। यह आलोचना वैसी ही थी जैसी कि बुद्ध और मध्यकालीन भारत के सुधारक सन्त कर चुके थे और जो हिन्दुत्व की उस गत्यात्मकता मे निहित थी जिसका जन्म वैदिक काल में हो चुका था और जिसके आधार पर हिन्दुत्व में पुनर्परीक्षण, पुनर्निर्वचन, सुधार और गत्यात्मक समन्वय की प्रक्रिया का अभ्युदय हुआ था। राजाराम मोहन राय से प्रारम्भ होने वाली सामाजिक नवजागृति की प्रक्रिया हिन्दुत्व में निहित इसी प्रक्रिया का आधुनिक ऊर्ध्वगामी विकास है। किन्तु, इस प्रकार की आलोचना ने पहले प्रतिक्रिया, विक्षुब्धता, कट्टरवादिता और गतानुगतिकता को उसी प्रकार जन्म दिया जैसा कि इस्लाम के संघात से हुआ था। हिन्दुत्व ईसाइयत की ओर आकर्षित हुआ और उसके प्रति क्षुब्ध भी। राधाकृष्णन ने ठीक ही कहा है कि हिन्दुत्व में धार्मिक राष्ट्रीयता के प्रति जितना असन्तोष और विद्रोह है, उतना किसी अन्य वस्तु के प्रति नहीं। धर्म के रूप में, हिन्दुत्व जीवन को एक स्वस्थ सामञ्जस्य में लाने का प्रयास है जबकि ईसाइयत और इस्लाम जीवन को अलग अलग पूर्वनिर्धारित, अटल और शाश्वत समझे जाने वाले सत्य में डालने के प्रयास। एक स्वस्थ सामञ्जस्य के लिए हिन्दुत्व ने ईसाइयत को अपनाया किन्तु वहीं तक जहां तक सामञ्जस्य सम्भव था[1]।

ईसाइयत का जितना प्रभाव हिन्दुत्व पर पड़ा, उतना किसी अन्य धर्म पर नहीं पड़ा। हिन्दुत्व में ईसाइयत की जितनी उदार समालोचना हुई तथा हिन्दुत्व में

1 एक बार कलकत्ते के एक मिशनरी सम्मेलन में जब महात्मा गांधी से कहा गया कि ईसा की शिक्षाओं का कोई कितनी ही तत्परता से पालन क्यों न करे किन्तु वह तब तक ईसाई नहीं है जब तक वह ईसा के अमरत्व का अनुभव न करे, तो, महात्मा गांधी का उत्तर था, "मैं नहीं कह सकता कि ईसा से आपका क्या तात्पर्य है। यदि आपका तात्पर्य ऐतिहासिक पुरुष ईसा से है, तो मुझे उसके अस्तित्व का अनुभव नहीं होता है। यदि आपका तात्पर्य एक ऐसी सत्ता से है जो मुक्ति मार्ग दर्शन कराती है, जिसका अस्तित्व मेरे हाथ, पैर और श्वास की अपेक्षा मेरे अधिक समीप है तो, मैं उसके अस्तित्व का अवश्य अनुभव करता हूं। अगर उसके अस्तित्व का मुझे अभास न होता तो सम्भवतः बहुत पहले ही मेरा इष्टस्थान गंगाजल में होता। आप चाहे उसे ईसा कहें या कृष्ण मुझे कोई सरोकार नहीं"। राधाकृष्णन के अनुसार, महात्मा गांधी का उत्तर वही उत्तर है जिसकी एक हिन्दू से आशा की जा सकती है (राधाकृष्णन ओर मेले द्वारा सम्पादित माडर्न इण्डिया एण्ड दि वेस्ट में पृष्ठ 348।

इसाइयत के सिद्धान्तों का प्रत्यक्ष अथवा अप्रत्यक्ष रूप से जितना समावेश किया गया, उतना किसी अन्य धर्म में नहीं हुआ। मेहता के अनुसार ईसा की शिक्षाओं का जितना हिन्दुओं ने सराहा उतना मुसलमानों ने नहीं सराहा[1]। किन्तु, हिन्दुत्व में इसाई राद्धान्त (Christian Dogmas) का निर्वाचित करके अपनाया गया। हिन्दुत्व एक सतत रूपान्तरण प्रक्रिया रहा है। इसाइयत के प्रभाव ने इसी रूपान्तरण प्रक्रिया को प्रोत्साहित किया। पश्चिम के साथ साथ इसाइयत के सघात के फलस्वरूप, हिन्दुत्व में नारी शिक्षा पर जोर दिया गया जाति प्रथा के विरुद्ध आन्दोलन चला, युक्तियुक्त विचारधारा फली अस्पृश्यों और आदिवासियों को आदरपूर्ण सामाजिक प्रतिष्ठा प्रदान करने के आन्दोलन और प्रयास हुए तथा हिन्दुत्व का उसी प्रकार के सामाजिक मजहबी सम्प्रदायों में बाधने का प्रयास किया गया जैसा कि इसाइयत में है। इसाइयत के सघात से निराकारी एकेश्वरवाद को एक बार फिर प्रोत्साहन मिला। ब्रह्मसमाज प्रार्थना समाज और आर्यसमाज उसी प्रकार से निराकार एकेश्वरवादी सम्प्रदायों के रूप में आये जिस प्रकार इसाइयत के सम्प्रदाय हैं। इन सम्प्रदायों को, मध्यकालीन भारत की परम्परा में, पथ न कह कर समाज की सज्ञा दी गई जो इसाइयत के मजहबी सगठन का प्रभाव है। आर्यसमाज मन्दिर और ब्रह्मसमाज के प्रार्थना मन्दिर हिन्दुत्व के आवरण में प्रोटेस्टेंट चर्च की प्रतिकृति सी लगते हैं। इसाइयत में धर्मनिरपेक्ष और धर्मसापेक्ष में अन्तर किया जाता है। इसकारण इसाइयत के प्रभाव से हिन्दुत्व में भी धर्मनिरपेक्षिता तथा धर्मसापेक्षिता की समस्या उत्पन्न हुयी। इस्लाम और इसाइयत के सम्मिलित सघात ने हिन्दू राष्ट्रवादिता को जन्म दिया। इसका परिणाम यह हुआ कि हिन्दू समाज धर्मनिरपेक्ष तथा धर्मसापेक्ष राष्ट्रवादिता के प्रवाहों में बट गया। इसाई मिशनरियों ने हिन्दुत्व के दार्शनिक आधारों की विरली ही आलोचना की है। उनकी आलोचना के मुख्य विषय रहे हैं हिन्दू कर्मकाण्ड ब्राह्मणवाद अवतारवाद और हिन्दुत्व की बहुमुखापेक्षिता। इस आलोचना के फलस्वरूप हिन्दुत्व में कर्मकाण्ड को सरल बनाने पर जोर दिया गया, ब्राह्मण विरोधी आन्दोलन चला और पुरोहितवाद की आलोचना की जाने लगी। ब्रह्मसमाज और आर्यसमाज में कर्मकाण्ड (Rituals) को सरल और मन्दिर-हीन बनाने पर जोर दिया गया और एक सीमा तक उसमें सफलता भी मिली। आर्यसमाज के द्वारा पहली बार यह स्वीकार किया गया कि पौरोहित्य कार्य किसी भी जाति के सम्पन्न द्वारा सम्पन्न किया जा सकता है बशर्ते कि उसे पौरोहित्य-कार्य की विधि आती हो।

राधाकृष्णन ने लिखा है कि पश्चिम के प्रभाव से हिन्दुत्व में अभिनव विचार धाराओं के मार्ग प्रशस्त हुए, उसके मानसिक क्षितिज का क्षेत्र और भी बढ़ा और हिन्दुत्व में सार्वभौमिक विचारोन्मुखता बढ़ी। राज्य-सरक्षण से विहीन होने से, हिन्दुत्व

---

1 ओ मेले वही

धार्मिक मान्यताओं की आलोचना करना प्रारम्भ कर दी जा बाल विवाह विधवा विवाह निषेध, स्त्री अधिकार निषध और जाति प्रथा की समयक समभी जाती थी। यह आलोचना वैसी ही थी जैसी कि बुद्ध और मध्यकालीन भारत के सुधारक सन्त कर चुके थे और जो हिन्दुत्व की उस गत्यात्मकता में निहित थी जिसका जन्म वदिक काल म हो चुका था और जिसके आधार पर हिन्दुत्व म पुनपरीक्षण, पुर्निवचन, सुधार और गत्यात्मक समन्वय की प्रक्रिया का अभ्युदय हुआ था। राजाराम मोहन राय से प्रारम्भ होने वाली सामाजिक नवजागति की प्रक्रया हिन्दुत्व म निहित इसी प्रक्रिया का आधुनिक ऊध्वगामी विकास है। किन्तु, इस प्रकार की आलोचना ने पहले प्रतिक्रिया, विक्षुब्धता, कट्टरवादिता और गतानुगतिकता को उसी प्रकार जन्म दिया जैसा कि इस्लाम के सघात से हुआ था। हिन्दुत्व इसाइयत की ओर आकर्षित हुआ और उसके प्रति क्षुब्ध भी। राधाकृष्णन ने ठीक ही कहा है कि हिन्दुत्व म धार्मिक राष्ट्रीयता के प्रति जितना असन्तोष और विद्रोह है उतना किसी अन्य वस्तु के प्रति नही। धम के रूप मे, हिन्दुत्व जीवन को एक स्वस्थ सामञ्जस्य मे लाने का प्रयास है जबकि इसाइयत और इस्लाम जीवन को अलग अलग पूर्वनिधारित, अटल और शाश्वत समझे जाने वाले सत्य मे डालने के प्रयास। एक स्वस्थ सामञ्जस्य के लिए हिन्दुत्व ने इसाइयत को अपनाया किन्तु वहीं तक जहा तक सामञ्जस्य सम्भव था[1]।

इसाइयत का जितना प्रभाव हिन्दुत्व पर पडा, उतना किसी अन्य धम पर नही पडा। हिन्दुत्व मे इसाइयत की जितनी उदार समालोचना हुई तथा हिन्दुत्व मे

---

1 एक बार कलकत्ते के एक मिशनरी सम्मेलन में जब महात्मा गाधी से कहा गया कि ईसा की शिक्षाओं का कोई कितनी ही तत्परता से पालन क्यो न करे किन्तु वह तब तक इसाई नहीं है जब तक वह ईसा के अमरत्व का अनुभव न करे, तो, महात्मा गाधी का उत्तर था, "म नहीं कह सकता कि ईसा से आपका क्या तात्पय है। यदि आपका तात्पय ऐतिहासिक पुरुष ईसा से है, तो मुझे उसके अस्तित्व का अनुभव नहीं होता है। यदि आपका तात्पय एक ऐसी सत्ता से है जो मुक्त माग दशन कराती है, जिसका अस्तित्व मेरे हाथ, पर और श्वास की अपेक्षा मेरे अधिक समीप है तो, म उसके अस्तित्व का अवश्य अनुभव करता हूँ। अगर उसके अस्तित्व का मुझे अभास न होता तो सम्भवत बहुत पहले ही मेरा इष्टस्थान गगाजल में होता। आप चाहे उसे ईसा कहें या कृष्ण मुझे कोई सरोकार नहीं"। राधाकृष्णन के अनुसार महात्मा गाधी का उत्तर वही उत्तर है जिसकी एक हिन्दू से आशा की जा सकती है (राधाकृष्णन ओ मेले द्वारा सम्पादित माडन इण्डिया एण्ड दि वेस्ट में पष्ठ 348।

ईसाइयत के सिद्धान्तों का प्रत्यक्ष अथवा अप्रत्यक्ष रूप में जितना समावेश किया गया, उतना किसी अन्य धर्म में नहीं हुआ। मेहेड के अनुसार ईसा की शिक्षाओं को जितना हिन्दुओं ने सराहा उतना मुसलमानों ने नहीं सराहा[1]। किन्तु, हिन्दुत्व में ईसाई राद्धान्ता (Christian Dogmas) को निर्वाचित करके अपनाया गया। हिन्दुत्व एक सतत रूपान्तरण प्रक्रिया रहा है। ईसाइयत के प्रभाव ने इसी रूपान्तरण प्रक्रिया को प्रोत्साहित किया। पश्चिम के साथ साथ, ईसाइयत के सघात के फलस्वरूप, हिन्दुत्व में नारी शिक्षा पर जोर दिया गया जाति प्रथा के विरुद्ध आन्दोलन चला युक्तियुक्त विचारधारा फैली अस्पृश्यों और आदिवासियों को आदरपूर्ण सामाजिक प्रतिष्ठा प्रदान करने के आन्दोलन और प्रयास हुए तथा हिन्दुत्व को उसी प्रकार के सामाजिक मजहबी सम्प्रदायों में बाँधने का प्रयास किया गया जैसा कि ईसाइयत में है। ईसाइयत के सघात से निराकारी एकेश्वरवाद को एक बार फिर प्रोत्साहन मिला। ब्रह्मसमाज प्रार्थना समाज और आर्यसमाज उसी प्रकार से निराकार एकेश्वरवादी सम्प्रदायों के रूप में आये जिस प्रकार ईसाइयत के सम्प्रदाय हैं। इन सम्प्रदायों को, मध्यकालीन भारत की परम्परा में, 'पंथ' न कह कर समाज की संज्ञा दी गई जो ईसाइयत के मजहबी सगठन का प्रभाव है। आर्यसमाज मन्दिर और ब्रह्मसमाज के प्रार्थना मन्दिर हिन्दुत्व के आंगन में प्रोटेस्टेन्ट चर्च की प्रतिकृति सी लगते हैं। ईसाइयत में धर्मनिरपेक्ष और धर्मसापेक्ष में अन्तर किया जाता है। इसकारण, ईसाइयत के प्रभाव से हिन्दुत्व में भी धर्मनिरपेक्षिता तथा धर्मसापेक्षिता की समस्या उत्पन्न हुयी। इस्लाम और ईसाइयत के सम्मिलित सघात ने हिन्दू राष्ट्रवादिता को जन्म दिया। इसका परिणाम यह हुआ कि हिन्दू समाज धर्मनिरपेक्ष तथा धर्मसापेक्ष राष्ट्रवादिता के प्रवाहों में बट गया। ईसाई मिशनरियों ने हिन्दुत्व के दार्शनिक आधारों की विरला ही आलोचना की है। उनकी आलोचना के मुख्य विषय रहे हैं हिन्दू कर्मकाण्ड ब्राह्मणवाद अवतारवाद और हिन्दुत्व की बहुमुखापेक्षिता। इस आलोचना के फलस्वरूप हिन्दुत्व में कर्मकाण्ड को सरल बनाने पर जोर दिया गया, ब्राह्मण विरोधी आन्दोलन चला और पुरोहितवाद की आलोचना की जाने लगी। ब्रह्मसमाज और आर्यसमाज में कर्मकाण्ड (Rituals) को सरल और संक्षिप्त बनाने पर जोर दिया गया और एक सीमा तक उसमें सफलता भी मिली। आर्यसमाज के द्वारा पहली बार यह कार्यान्वित किया गया कि पौरोहित्य कार्य किसी भी जाति के सदस्य द्वारा सम्पन्न किया जा सकता है बशर्ते कि उसे पौरोहित्य-कार्य की विधि आती हो।

राधाकृष्णन ने लिखा है कि पश्चिम के प्रभाव से हिन्दुत्व में अभिनव विचार धाराओं के मार्ग प्रशस्त हुए, उसके मानसिक क्षितिज का क्षेत्र और भी बढ़ा और हिन्दुत्व में सार्वभौमिक विचारोन्मुखता बढ़ी। राज्य-सरक्षण से विहीन होने से, हिन्दुत्व

1 ओ मेले वही

धार्मिक मान्यताओं की आलोचना करना प्रारम्भ कर दी जो बाल विवाह, विधवा-विवाह निषेध, स्त्री अधिकार निषेध और जाति प्रथा की समर्थक समझी जाती थी। यह आलोचना वैसी ही थी जैसी कि बुद्ध और मध्यकालीन भारत के सुधारक सन्त कर चुके थे और जो हिन्दुत्व की उस गत्यात्मकता में निहित थी जिसका जन्म वैदिक काल मे हो चुका था और जिसके आधार पर हिन्दुत्व में पुनर्परीक्षण, पुनर्निर्माण, सुधार और गत्यात्मक समन्वय की प्रक्रिया का अभ्युदय हुआ था। राजाराम मोहन राय से प्रारम्भ होने वाली सामाजिक नवजागृति की प्रक्रिया हिन्दुत्व में निहित इसी प्रक्रिया का आधुनिक ऊर्ध्वगामी विकास है। किन्तु, इस प्रकार की आलोचना ने पहले प्रतिक्रिया, विक्षुब्धता, कट्टरवादिता और गतानुगतिकता को उसी प्रकार जन्म दिया जैसा कि इस्लाम के संघात से हुआ था। हिन्दुत्व इसाइयत की ओर आकर्षित हुआ और उसके प्रति क्षुब्ध भी। राधाकृष्णन ने ठीक ही कहा है कि हिन्दुत्व में धार्मिक राष्ट्रीयता के प्रति जितना असन्तोष और विद्रोह है उतना किसी अन्य वस्तु के प्रति नहीं। धर्म के रूप में, हिन्दुत्व जीवन को एक स्वस्थ सामञ्जस्य में लाने का प्रयास है जबकि इसाइयत और इस्लाम जीवन को अलग अलग पूर्वनिर्धारित, अटल और शाश्वत समझे जाने वाले सत्य में डालने के प्रयास। एक स्वस्थ सामञ्जस्य के लिए हिन्दुत्व ने इसाइयत को अपनाया किन्तु वहीं तक जहां तक सामञ्जस्य सम्भव था[1]।

इसाइयत का जितना प्रभाव हिन्दुत्व पर पड़ा, उतना किसी अन्य धर्म पर नहीं पड़ा। हिन्दुत्व में इसाइयत की जितनी उदार समालोचना हुई तथा हिन्दुत्व में

1 एक बार कलकत्ते के एक मिशनरी सम्मेलन में जब महात्मा गांधी से कहा गया कि ईसा की शिक्षाओं का कोई कितनी ही तत्परता से पालन क्यों न करे किन्तु वह तब तक इसाई नहीं है जब तक वह ईसा के अमरत्व का अनुभव न करे, तो, महात्मा गांधी का उत्तर था "मैं नहीं कह सकता कि ईसा से आपका क्या तात्पर्य है। यदि आपका तात्पर्य ऐतिहासिक पुरुष ईसा से है, तो मुझे उसके अस्तित्व का अनुभव नहीं होता है। यदि आपका तात्पर्य एक ऐसी सत्ता से है जो मुक्त मार्ग दर्शन कराती है, जिसका अस्तित्व मेरे हाथ, पैर और श्वास की अपेक्षा मेरे अधिक समीप है तो, मैं उसके अस्तित्व का अवश्य अनुभव करता हूँ। अगर उसके अस्तित्व का मुझे अभास न होता तो सम्भवतः बहुत पहले ही मेरा इष्टस्थान गंगाजल में होता। आप चाहे उसे ईसा कहें या कृष्ण मुझे कोई सरोकार नहीं"। राधाकृष्णन के अनुसार महात्मा गांधी का उत्तर वही उत्तर है जिसकी एक हिन्दू से आशा की जा सकती है (राधाकृष्णन ओ मेले द्वारा सम्पादित माडर्न इण्डिया एण्ड दि वेस्ट में पृष्ठ 348।

इसाइयत के सिद्धान्तों का प्रत्यक्ष अथवा अप्रत्यक्ष रूप से जितना समावेश किया गया, उतना किसी अन्य धर्म में नहीं हुआ। महेंद्र के अनुसार ईसा की शिक्षाओं को जितना हिन्दुओं ने सराहा उतना मुसलमानों ने नहीं सराहा[1]। किन्तु, हिन्दुत्व में इसाई राद्धान्त (Christian Dogmas) का निर्वाचन करके अपनाया गया। हिन्दुत्व एक सतत रूपान्तरण प्रक्रिया रहा है। इसाइयत के प्रभाव ने इसी रूपान्तरण प्रक्रिया को प्रोत्साहित किया। पश्चिम के साथ-साथ, इसाइयत के संघात के फलस्वरूप, हिन्दुत्व में नारी शिक्षा पर जोर दिया गया, जाति प्रथा के विरुद्ध आन्दोलन चला, युक्तियुक्त विचारधारा फैली, अस्पृश्यों और आदिवासियों को आदरपूर्ण सामाजिक प्रतिष्ठा प्रदान करने के आन्दोलन और प्रयास हुए तथा हिन्दुत्व का उसी प्रकार के सामाजिक मजहबी सम्प्रदायों में बाँधने का प्रयास किया गया जैसा कि इसाइयत में है। इस्लाम के संघात से निराकारी एकेश्वरवाद को एक बार फिर प्रोत्साहन मिला। ब्रह्मसमाज, प्रार्थना समाज और आर्यसमाज उसी प्रकार से निराकार एकेश्वरवादी सम्प्रदायों के रूप में आये जिस प्रकार इसाइयत के सम्प्रदाय हैं। इन सम्प्रदायों को, मध्यकालीन भारत की परम्परा में, पंथ न कह कर समाज की संज्ञा दी गई जो इसाइयत के मजहबी संगठन का प्रभाव है। आर्यसमाज मन्दिर और ब्रह्मसमाज के प्रार्थना मन्दिर हिन्दुत्व के आवरण में प्रोटेस्टेंट चर्च की प्रतिकृति सी लगते हैं। इसाइयत में धर्मनिरपेक्ष और धर्मसापेक्ष में अन्तर किया जाता है। इस कारण, इसाइयत के प्रभाव से हिन्दुत्व में भी धर्मनिरपेक्षिता तथा धर्मसापेक्षिता की समस्या उत्पन्न हुयी। इस्लाम और इसाइयत के सम्मिलित संघात ने हिन्दू राष्ट्रवादिता को जन्म दिया। इसका परिणाम यह हुआ कि हिन्दू समाज धर्मनिरपेक्ष तथा धर्मसापेक्ष राष्ट्रवादिता के प्रवाहों में बंट गया। इसाई मिशनरियों ने हिन्दुत्व के दार्शनिक आधारों की विरली ही आलोचना की है। उनकी आलोचना के मुख्य विषय रहे हैं हिन्दू कर्मकाण्ड, ब्राह्मणवाद, अवतारवाद और हिन्दुओं की बहुमुखापेक्षिता। इस आलोचना के फलस्वरूप हिन्दुत्व में कर्मकाण्ड को सरल बनाने पर जोर दिया गया, ब्राह्मण विरोधी आन्दोलन चला और पुरोहितवाद की आलोचना की जाने लगी। ब्रह्मसमाज और आर्यसमाज में कर्मकाण्डों (Rituals) को सरल और सुनिश्चित बनाने पर जोर दिया गया और एक सीमा तक उसमें सफलता भी मिली। आर्यसमाज के द्वारा पहली बार यह कार्यान्वित किया गया कि पौरोहित्य कार्य किसी भी जाति के सदस्य द्वारा सम्पन्न किया जा सकता है बशर्ते कि उसे पौरोहित्य-कार्य की विधि आती हो।

राधाकृष्णन ने लिखा है कि पश्चिम के प्रभाव से हिन्दुत्व में अभिनव विचार धाराओं के मार्ग प्रशस्त हुए, उसके मानसिक क्षितिज का क्षेत्र और भी बढ़ा और हिन्दुत्व में सार्वभौमिक विचारोन्मुखता बढ़ी। राज्य-संरक्षण से विहीन होने से हिन्दुत्व

---

1 ओ'मले, वही

अपनी शक्ति सम्पन्नता और सुरक्षा के लिए अपने में निहित सत्य तथा सनातन सामाजिक संरचना पर आधारित होना पड़ा। जैसाकि इस्लाम के संघात से हुआ था, पश्चिम के संघात से भी, हिन्दुत्व में जाति प्रथा को सुरक्षावादी कवच के रूप में अपनाया गया। हिन्दुत्व में, प्राचीन के प्रति श्रद्धालु दृष्टिकोण विकसित हुआ तो अर्वाचीन के प्रति निषेधनात्मक और रागात्मक दृष्टिकोण। इसीकारण, पश्चिम के संघात में, हिन्दुत्व की गत्यात्मकता, प्राचीन और अर्वाचीन के समन्वय की गत्यात्मकता है। पश्चिम के संघात के प्रभाव में हिन्दुत्व के आधारभूत तत्वों को सार्वभौमिक विचार के रूप में प्रस्तुत करने का प्रयास किया गया जिसका प्रमाण है गुण कर्म के आधार पर वर्ण व्यवस्था के रूप में, जाति व्यवस्था को सुयुक्तियुक्त सिद्ध करके, उसे संसारव्यापी स्वाभाविक व्यवस्था के रूप में प्रतिपादित करना।

जैसाकि ब्रह्मसमाज, आर्यसमाज और प्रार्थनासमाज के विकास से स्पष्ट है पश्चिम के संघात के प्रभाव में, हिन्दुत्व को एक ऐसे मजहब का रूप देने का प्रयास किया गया, जिसका आधार, ईसाइयत की भाँति, कुछ आचार नियमों के साथ, एक सामाजिक धार्मिक सिद्धान्त हो। किन्तु ये प्रयास सफल न सके। हिन्दुत्व का सामाजिक-धार्मिक सिद्धान्त में लाने के साथ-साथ एक आचारी मजहब (Ethical Religion) बनाने की माँग और प्रयास अब भी जारी है। हिन्दुत्व किसी एक ऐसे मजहब का रूप ले सकेगा या नहीं, यह कहना कठिन है। हाँ, इतना अवश्य है कि किसी एक शाश्वत समझे जाने वाले सत्य के आधार पर, एक आचारी मजहब का रूप लेना हिन्दुत्व के स्वभाव के प्रतिकूल है। पर साथ ही साथ, हिन्दुत्व के आदर्श और व्यवहार में अन्तर रहा है। हिन्दुत्व में, एक ओर समदर्शी का आदर्श रहा है तो, दूसरी ओर, जातिगत ऊँच-नीच के भेदभाव पर आधारित व्यवहार। जैसाकि राधाकृष्णन ने लिखा है हिन्दुत्व, राष्ट्र राज्य पर आधारित एक स्वस्थ नागरिक जीवन यापन को ढालने में असफल रहा है। हिन्दुत्व की यही कमजोरियाँ इस्लाम, ईसाइयत और पश्चिमी सभ्यता से मिलने वाली चुनौतियों का आधार रही हैं। हिन्दुत्व की ये कमजोरियाँ अप्राचीन नहीं प्राचीन हैं। हिन्दुत्व की वृद्धि और विकास में इन्हीं कमजोरियों को समयानुसार दूर करने का प्रयास हैं। यही कारण है कि ईसाइयत और पश्चिम के संघात से, हिन्दुत्व में नवनिर्माण की जिन समस्याओं और प्रक्रियाओं का जन्म हुआ है, हिन्दुत्व उनके प्रति सजग हुआ, जिसके फलस्वरूप हिन्दुत्व में परिवर्तन के स्थान पर पुनरुत्थान ही अधिक हुआ है।

ईसाइयत के संघात से हिन्दुत्व को इस प्रश्न का सामना करना पड़ा कि आखिर हिन्दू धर्म और हिन्दुत्व है क्या? न तो हिन्दुत्व के दार्शनिक स्तर समान रहे हैं और न व्यावहारिक स्तर। हिन्दुत्व के सामाजिक वैधिक आधारों को निरूपित करने वाले धर्मशास्त्र भी एकमत नहीं हैं। दार्शनिक हिन्दुत्व पर आधारित व्यवहार तथा प्रथायें और आदिवासी प्रथायें भारतीय समाज की दो सीमायें रही हैं और उनके

बीच म चलने वाली उत्तरोत्तर हिन्दूकरण की प्रक्रिया के कारण जातिया और गण-जातिया के रूप म अनेक समूह है जिनमे हिन्दू विश्वास और प्रथाग्रो का समन्वय हुआ है और हो रहा है जिसके कारण ये सभी एक ऊर्ध्वगामी सामाजिक सांस्कृतिक विकास प्रक्रिया म रह हैं। हिन्दूकरण की यह प्रक्रिया अभी सुगठित न हो पायी थी कि बुद्धवादी सुधार आन्दोलन ने उस पर द्विभाजक विचार म बाध दिया। इस द्विभाजक विचार का जो समन्वय हो रहा था कि उसे इस्लाम ने झकझोर दिया और इस्लाम क धक्के से हिन्दुत्व अभी सभल न पाया था कि इसाइयत के झभावात ने उस जकड लिया। इन सभी मघाता का परिणाम यह हुआ कि यह प्रश्न किया जाने लगा कि हिन्दुत्व है क्या ? इसाई मिशनरिया ने सदव हिन्दू समाज को निम्नवर्णी तथा उच्चवर्णी हिन्दुओ म विभाजित किया और निम्नवर्णी हिन्दुओ को एक अलग सामाजिक समूह माना। उसी प्रकार हिन्दू-समाज के सीमावर्ती समाज, आदिवासी समाज को भी उन्होने हिन्दू समाज से अलग करने की कोशिश की। अत इसाइयत के सघात से हिन्दुत्व के सामने एकीकरण की समस्या आयी। बौद्धिक स्तर पर इसी समस्या न हिन्दुत्व को पुन परिभाषित करने की समस्या का रूप दिया। यह इसी प्रभाव का परिणाम है कि आयसमाज क रूप म, हिन्दुत्व ने इस्लाम और इसाइयत के मिशनरीपन का अपनाने की कोशिश की। दूसरी ओर हिन्दुत्व क्या है यह एक समाजशास्त्रीय प्रश्न बन गया। इस प्रश्न के उत्तर दो रूपो मे दिए जा रहे है—एक, धमशास्त्रो म निरूपित हिन्दुत्व का निवचन करके और दूसरा सामाजिक मानवशास्त्र की परम्परा म हिन्दू प्रथाओ का निरीक्षणात्मक विश्लेषण करके[1]।

इस्लाम की भाति, भारत म इसाइयत का प्रवेश भी उन्ही सामाजिक स्तरो और प्रदेशो म हुआ जहा हिन्दूकरण की प्रक्रिया अपूण रही है। उच्चवर्णी जातिया के सामाजिक स्तर की अपेक्षा निम्नवर्णी जातियो के सामाजिक स्तर म ही इसाइयत का अधिक प्रसार हुआ है। जिन प्रदेशो और स्थानो म निम्नवर्णा जातिया और आदिवासियो की सख्या अधिक रही है उन्ही प्रदेशो और स्थानो म इसाइयत का अधिकतम प्रवेश हुआ है। आसाम, बिहार उडीसा मध्यप्रदेश आध्र, मद्रास और केरल म

1 पहली अध्ययन प्रणाली में किए गए अध्ययनो में प्रमुख ह के० एम० कपाडिया द्वारा रचित हिन्दू किनशिप स्टक्चर, मरिज एण्ड फमिली इन इण्डिया पी० एच० प्रभु द्वारा रचित हिन्दू सोशल आरगनाईजेशन और हरीदत्त वेदालकार द्वारा रचित हिन्दू परिवार मीमासा। दूसरी परम्परा के प्रमुख अध्ययन ह एम० एन० श्रीनिवास द्वारा रचित रिलीजन एण्ड सोसाइटी इन इण्डिया, ललिता प्रसाद विद्यार्थी द्वारा रचित सकरेड कम्पलेक्स आफ हिन्दू गया। इरावती कर्वे में इन दोना प्रणालियो का समन्वय हुआ है जो उनकी पुस्तक हिन्दू सोसाइटी से स्पष्ट है।

इसाइयों का अधिक पाया जाना इसका प्रमाण है। जहा और जिस स्तर पर हिन्दुत्व का दार्शनिक-सामाजिक आधार सगठित था वहा इसाइयत को प्रवेश न मिल सका। इस्लाम की भाति, इसाइयत को भी वही प्रवेश मिला जहा हिन्दुत्व की धार्मिक चेतना अस्पष्ट थी और जहा हिन्दूकरण की प्रक्रिया या तो प्रारम्भ ही नही हुयी थी या यदि प्रारम्भ भी हुई थी तो वह कमजोर थी।

भारत म इसाइयत की अनेक कमजोरिया और कठिनाइया रही है जिनके कारण, भारत म, इसाइयत का उतना प्रभावपूर्ण और व्यापक प्रभाव नही पडा जितना कि भारत के बाहर अन्य देशो मे पडा है। इसाई मिशनरी योरोपीय साम्राज्यवाद की धार्मिक सेना के रूप म आए और, इसकारण न तो उन्ह हिन्दुओ म जनप्रियता मिली और न मुसलमानो म। इसाई मिशनरियो ने अन्य धर्मों की कटु आलोचना करके यह दिखाने का प्रयास किया कि इसाई धर्म अन्य धर्मों की अपेक्षा श्रेष्ठ है। इसाइयत की पृष्ठभूमि और उससे प्रादुर्भूत असन्तोष से उत्पन्न इस्लाम जैसे राष्ट्रवादी मजहब के लिए यह असहनीय था। अन्य धर्मों की अपेक्षा केवल एक ही धर्म की सर्वश्रेष्ठता निर्धारित करना हिन्दुत्व की आधारभूत मान्यता के विरुद्ध था क्योकि हिन्दुत्व के लिए धर्म के मार्ग एक नही अनेक हैं। यही कारण है कि इस्लाम मे इसाइयत को दूर रक्खा गया और हिन्दुत्व मे उसे वहा तक अपनाया गया जहा तक जीवन के स्वस्थ समन्वय की माग थी। इसाइयत का केवल एक शाश्वत सत्य पर जोर देना, ईसा को अमर स्वपुत्र मानना इसाई मिशनरियो का एक नौकरशाही परम्परा मे सगठित होना मिशनरियो द्वारा अन्य धर्मों की निन्दा और इसाई मिशनरियो की सासारिकता व्यक्तिवादी धर्मप्राण हिन्दुओ को कभी नही भाये[1]।

हिन्दू के लिए धर्म और दर्शन का उद्देश्य है आत्मदर्शन किन्तु इसाइयत एक धर्मविद्या के रूप म, सासारिक भावो और अनुभूतियो पर आधारित है। अत हिन्दू की उन शाश्वत जिज्ञासाओ की पूर्ति इसाइयत से नहा हो पाई। इसाइयत व्यक्ति विशेष तथा उसके द्वारा निर्देशित आचारी नियमो पर आधारित है न कि जीवन की शाश्वत समस्याओ पर प्रतिपादित दार्शनिक सिद्धान्तो पर। अनेक विश्वासो पर आधारित मतमतान्तरो के असामञ्जस्य म सामञ्जस्य ढूढना और यदि सामञ्जस्य न मिले तो असामञ्जस्य को सहन करना इस परम्परागत हिन्दू आदर्श के सम्मुख, यह इसाइ आदर्श कि ससार म अलौकिक सत्यानुभव

---

1 यह सम्भव है कि आज सारा भारत नहीं तो कम से कम उसका एक बडा अश इसाइयत का वरण कर चुकता यदि भारत में आने वाले इसाई अपने प्रभु ईसा मसीह की भांति अपना जीवन ढाल सकते। यह निश्चित है कि पिछले पचास वर्षों में पश्चिमी ससार की जो दशा रही है उसके कारण अनेक भारतीयो ने ईसा के नाम में इसाइयत को ठुकराया है—मेहेत्व

का एक ही मार्ग है कहां तक ठहर सकता है ? सम्भवतः इसी परम्परा से प्रेरित होकर स्वामी विवेकानन्द ने कहा था कि संसार की धार्मिक एकता धार्मिक सिद्धान्तों के आधार पर हो सकती है न कि किसी व्यक्ति विशेष द्वारा किसी विशेष स्थान और काल में निर्देशित जीवन-यापन के नियमों से। हिन्दुत्व में अलौकिक सत्ता के अनुभव का माध्यम है विचार और दर्शन। अतः, जहां मानव मस्तिष्क ने दर्शन के आधार पर अलौकिक सत्य के अनुभव का प्रयास किया है वहां उस धर्म प्रणाली का महत्व स्वतः समाप्त हो जाता है जिसमें किसी व्यक्ति विशेष के अलौकिक सत्यानुभव को ही अंतिम मान कर दूसरों को उसका अनुभव कराने का प्रयास निहित है।

मेहुउ (Mayhew) के अनुसार हिन्दू मस्तिष्क की परम्परानिष्ठा सहिष्णु दृष्टिकोण जिसमें राद्धान्तों (Dogmas) के विरुद्ध स्वाभाविक असन्ताष निहित है, हिन्दू सिद्धान्तों की अस्पष्टता और हिन्दू संस्थाओं की स्पष्ट सुनिश्चितता के कारण, हिन्दू विचार आक्रमण के परे हैं। समयानुसार जो आवश्यक हो उसे आत्मसात कर लेने की हिन्दू मस्तिष्क की क्षमता के कारण वह किसी भी विरोधी अथवा अत्यधिक सुनिश्चित विचार अथवा सिद्धान्त से अपनी रक्षा करने में सफल होता है। हिन्दुत्व की शक्ति किसी एक विचार में केंद्रित नहीं है और न उसमें कोई विचारों की पूर्व-निर्धारित उच्चावच्च परम्परा है—हिन्दू विचार गत्यात्मक और लचीला है और इस कारण आघात प्रतिघात को सहते हुए हिन्दू विचार संरचना अक्षुण्ण बनी रहती है। अपनी इसी विशेषता के कारण हिन्दुत्व ने तो अपने ढंग से इसाइयत का वरण किया किन्तु इसाइयत भारतीयता का वरण न कर सकी। मेहुउ (Mayhew) के ही अनुसार अभी तक भारत में चर्च इसाइयत का कोई ऐसा भारतीय निर्वचन उस प्रकार नहीं कर सका है जिस प्रकार यूनानी, लटिन फ्रांसीसी और अंग्रेजी चर्चों ने इसाइयत का अलग-अलग निर्वचन करके इसाइयत को प्रभावित किया है। हिन्दू और मुस्लिम विचार पर भारतीय इसाइयत का प्रभाव बहुत ही कम पड़ा है।

मेहुउ (Mayhew) के विश्लेषण से यह स्पष्ट होता है कि हिन्दुत्व की कमजोरियां ही इसाइयत के मार्ग में उसकी सहजोरियां सिद्ध हुयीं। हिन्दू विचार का बहुमुखीपन यदि एक ओर उसकी आलोचना का आधार बना तो, दूसरी ओर उसकी सफलता का कारण भी। जिस जाति प्रथा के आधार पर इसाइयों ने हिन्दुत्व की आलोचना की उसी जाति प्रथा ने इसाइयत को भी अपने पंजे में जकड़ लिया। चूंकि निम्न जातियां इसाइयत की ओर उन्मुख हुयीं उच्च जाति के लोग इसाइयत से विमुख ही नहीं हो गए वरन निम्नजातियों का हिन्दूकरण करके उनमें जाति-संगठन को इतना मजबूत बना दिया कि इसाइयत उनमें भी प्रवेश न कर पाई[1]। इस्लाम की भांति इसाइयत को भी

1 आर्यसमाज आन्दोलन के द्वारा उच्चवर्णी हिन्दुओं ने निम्नवर्णी हिन्दुओं में धार्मिक चेतना जगाई और उन्हें हिन्दुत्व के समीप लाए तथा उनमें यह

इसाइयो का अधिक पाया जाना इसका प्रमाण है। जहा और जिस स्तर पर हिन्दुत्व का दार्शनिक-सामाजिक आधार सगठित था वहा इसाइयत का प्रवेश न मिल सका। इस्लाम की भाँति, इसाइयत का भी वही प्रवेश मिला जहा हिन्दुत्व की धार्मिक चेतना अस्पष्ट थी और जहा हिन्दूकरण की प्रक्रिया या तो प्रारम्भ ही नही हुयी थी या यदि प्रारम्भ भी हुई थी तो वह कमजोर थी।

भारत मे इसाइयत की अनेक कमजोरियाँ और कठिनाइया रही हैं जिनके कारण भारत मे इसाइयत का उतना प्रभावपूर्ण और व्यापक प्रभाव नही पडा जितना कि भारत के बाहर अन्य देशो मे पडा है। इसाई मिशनरी योरोपीय साम्राज्यवाद की धार्मिक सेना के रूप मे आए और, इसकारण न तो उन्हे हिन्दुओ मे जनप्रियता मिली और न मुसलमानो मे। इसाई मिशनरियो ने अन्य धर्मों की कटु आलोचना करके यह दिखाने का प्रयास किया कि इसाई धर्म अन्य धर्मों की अपेक्षा श्रेष्ठ है। इसाइयत की पृष्ठभूमि और उससे प्रादुर्भूत असन्ताष से उत्पन्न इस्लाम जैसे राष्ट्रवादी मजहब के लिए यह असहनीय था। अन्य धर्मों की अपेक्षा केवल एक ही धर्म की सर्वश्रेष्ठता निर्धारित करना हिन्दुत्व की आधारभूत मान्यता के विरुद्ध था क्योंकि हिन्दुत्व के लिए धर्म के मार्ग एक नही अनेक हैं। यही कारण है कि इस्लाम से इसाइयत को दूर रक्खा गया और हिन्दुत्व मे उसे वहा तक अपनाया गया जहा तक जीवन के स्वस्थ समन्वय की माग थी। इसाइयत का केवल एक शाश्वत सत्य पर जोर देना इसा को अमर पैगम्बर मानना इसाई मिशनरियो का एक नौकरशाही परम्परा मे सगठित होना मिशनरियो द्वारा अन्य धर्मों की निन्दा और इसाई मिशनरियो की सासारिकता व्यक्तिवादी धर्मप्राण हिन्दुओ को कभी नही भायी[1]।

हिन्दू के लिए धर्म और दर्शन का उद्देश्य है आत्मज्ञान किन्तु इसाइयत, एक धर्मविधान के रूप मे सासारिक भावो और अनुभूतियो पर आधारित है। अनन्त हिन्दू की उन सान्द्र जिज्ञासाओ की पूर्ति इसाइयत से नही हो पाई। इसाइयत व्यक्ति विशेष तथा उसके द्वारा निर्देशित आचारी नियमो पर आधारित है न कि जीवन की शाश्वत समस्याओ पर प्रतिपादित दार्शनिक सिद्धान्तो पर। अनेक विश्वासो पर आधारित मतमतान्तरो के असामञ्जस्य मे सामञ्जस्य ढूढना और, यदि सामञ्जस्य न मिले तो असामञ्जस्य को सहन करना इस परम्परागत हिन्दू आदर्श के सम्मुख यह इसाई आदर्श कि ससार मे अलौकिक सत्यानुभव

1　यह सम्भव है कि आज सारा भारत नहीं तो कम से कम उसका एक बडा अंश इसाइयत का वरण कर चुकता यदि भारत में आने वाले इसाई अपने प्रभु ईसा मसीह की भाति अपना जीवन ढाल सकते। यह निश्चित है कि पिछले पचास वर्षों में पश्चिमी ससार की जो दशा रही है उसके कारण अनेक भारतीयो ने ईसा के नाम में इसाइयत को ठुकराया है—मैहेउ

का एक ही मार्ग है, कहा तक ठहर सकता है ? सम्भवत इसी परम्परा से प्रेरित होकर स्वामी विवेकानन्द ने कहा था कि संसार की धार्मिक एकता धार्मिक सिद्धान्तों के आधार पर हो सकती है न कि किसी व्यक्ति विशेष द्वारा किसी विशेष स्थान और काल में निर्देशित जीवन-यापन के नियमों से। हिन्दुत्व में अलौकिक सत्ता के अनुभव का माध्यम है विचार और दर्शन। अत जहां मानव मस्तिष्क ने दर्शन के आधार पर अलौकिक सत्य के अनुभव का प्रयास किया है वहां उस धर्म प्रणाली का महत्व स्वत समाप्त हो जाता है जिसमें किसी व्यक्ति विशेष के अलौकिक सत्यानुभव को ही अन्तिम मान कर, दूसरों को उसका अनुभव कराने का प्रयास निहित है।

मेहेउ (Mayhew) के अनुसार हिन्दू मस्तिष्क की परम्परानिष्ठा सहिष्णु दृष्टिकोण जिसमें राद्धान्तों (Dogmas) के विरुद्ध स्वाभाविक असन्तोष निहित है हिन्दू सिद्धान्तों की अस्पष्टता और हिन्दू संस्थाओं की स्पष्ट सुनिश्चितता के कारण, हिन्दू विचार आक्रमण के परे हैं। समयानुसार जो आवश्यक हो उसे आत्मसात कर लेने की हिन्दू मस्तिष्क की क्षमता के कारण वह किसी भी विरोधी अथवा अत्यधिक सुनिश्चित विचार अथवा सिद्धान्त से अपनी रक्षा करने में सफल होता है। हिन्दुत्व की शक्ति किसी एक विचार में केन्द्रित नहीं है और न उसमें कोई विचारों की पूर्व-निर्धारित उच्चावच परम्परा है—हिन्दू विचार गत्यात्मक और लचीला है और इस कारण आघात प्रतिघात को सहते हुए हिन्दू विचार संरचना अक्षुण्ण बनी रहती है। अपनी इसी विशेषता के कारण हिन्दुत्व ने तो अपने ढंग से इसाइयत का वरण किया किन्तु इसाइयत भारतीयता का वरण न कर सकी। मेहेउ (Mayhew) के ही अनुसार, अभी तक भारत में चर्च इसाइयत का कोई ऐसा भारतीय निर्वचन उस प्रकार नहीं कर सका है जिस प्रकार यूनानी, लैटिन फ्रांसीसी और अंग्रेजी चर्चों ने इसाइयत का अलग अलग निर्वचन करके, इसाइयत को प्रभावित किया है। हिन्दू और मुस्लिम विचार पर भारतीय इसाइयत का प्रभाव बहुत ही कम पड़ा है।

मेहेउ (Mayhew) के विश्लेषण से यह स्पष्ट होता है कि हिन्दुत्व की कमजोरियां ही इसाइयत के संघात में उसकी सहजोरियां सिद्ध हुयी। हिन्दू विचार का बहुमुखीपन यदि, एक ओर, उसकी आलोचना का आधार बना तो दूसरी ओर, उसकी सबलता का कारक भी। जिस जाति प्रथा के आधार पर इसाइयों ने हिन्दुत्व की आलोचना की उसी जाति प्रथा ने इसाइयत को भी अपने पंजे में जकड़ लिया। चूंकि निम्न जातियां इसाइयत की ओर उन्मुख हुयीं उच्च जाति के लोग इसाइयत से विमुख ही नहीं हो गए वरन निम्नजातियों का हिन्दूकरण करके उन्होंने जाति संगठन को इतना मजबूत बना लिया कि इसाइयत उनमें भी प्रवेश न कर पाई[1]। इस्लाम की भांति इसाइयत का भी

1 आर्यसमाज आन्दोलन के द्वारा उच्चवर्णी हिन्दुओं ने निम्नवर्णी हिन्दुओं में धार्मिक चेतना जगाई और उन्हें हिन्दुत्व के समीप लाए तथा उनमें यह

इसाइयो का अधिक पाया जाना इसका प्रमाण है । जहा और जिस स्तर पर हिन्दुत्व का दार्शनिक सामाजिक आधार सगठित था वहा इसाइयत का प्रवेश न मिल सका । इस्लाम की भाँति, इसाइयत का भी वही प्रवश मिला जहा हिन्दुत्व की धार्मिक चतना अस्पष्ट थी और जहा हिन्दूकरण की प्रक्रिया या तो प्रारम्भ ही नही हुयी थी या यदि प्रारम्भ भी हुई थी तो वह कमजोर थी ।

भारत म इसाइयत की अनेक कमजोरियाँ और कठिनाइया रही है जिनके कारण, भारत म इसाइयत का उतना प्राभवपूर्ण और व्यापक प्रभाव नही पडा जितना कि भारत के बाहर अन्य देशो मे पडा है । इसाई मिशनरी यारोपीय साम्राज्यवाद की धार्मिक सेना के रूप म आए और, इसकारण न तो उन्ह हिन्दुओ म जनप्रियता मिली और न मुसलमानो म । इसाई मिशनरियो ने अन्य धर्मों की कटु आलोचना करके यह दिखान का प्रयास किया कि इसाई धम अन्य धर्मों की अपेक्षा श्रेष्ठ है । इसाइयत की पृष्ठभूमि और उसस प्रादुभूत असन्तोष स उत्पन्न इस्लाम जसे राष्ट्रवादी मजहब के लिए यह असहनीय था । अन्य धर्मों की अपक्षा कवल एक ही धम की सवश्रेष्ठता निर्धारित करना हिन्दुत्व की आधारभूत मान्यता के विरुद्ध था क्योकि हिन्दुत्व के लिए धम के माग एक नही अनक है । यही कारण है कि इस्लाम मे इसाइयत को दूर रक्खा गया और हिन्दुत्व म उस वहा तक अपनाया गया जहा तक जीवन के स्वस्थ समन्वय की माग थी । इसाइयत का केवल एक शाश्वत सत्य पर जोर देना इसा को अमर ईश्वपुत्र मानना इसाई मिशनरिया का एक नौकरशाही परम्परा म सगठित होना मिशनरियो द्वारा अन्य धर्मों की निन्दा और इसाई मिशन रिया की सासारिकता व्यक्तिवादी धमप्राण हिन्दुओ को कभी नही भाये[1] ।

हिन्दू के लिए धम और दर्शन का उद्देश्य है आत्मदर्शन किन्तु इसाइयत एक धमविद्या क रूप म सासारिक भावो और अनुभूतिया पर आधारित है । अन्य हिन्दू की उन शाश्वत जिज्ञासाओ की पूर्ति इसाइयत स नही हो पाई । इसाइयत यदि विशेष तथा उसके द्वारा निर्देशित आचारी नियमो पर आधारित है न कि जीवन की शाश्वत समस्याओ पर प्रतिपादित दार्शनिक सिद्धान्तो पर । अनेक विश्वासो पर आधारित मतमतान्तरो के असामञ्जस्य म सामञ्जस्य ढूढना और यदि सामञ्जस्य न मिले तो असामञ्जस्य को सहन करना इस परम्परागत हिन्दू आदर्श के सम्मुख यह इसाई आदर्श कि ससार म अलौकिक सत्यानुभव

---

1 यह सम्भव है कि आज सारा भारत नहीं तो कम से कम उसका एक बड़ा अश इसाइयत का वरण कर चुकता यदि भारत में आने वाले इसाई अपने प्रभू ईसा मसीह की भाति अपना जीवन ढाल सकते । यह निश्चित है कि पिछले पचास वर्षों में पश्चिमी ससार की जो दशा रही है उसके कारण अनेक भारतीयो ने ईसा के नाम में इसाइयत को ठुकराया है–मेहेउ

का एक ही मार्ग है, कहा तक ठहर सकता है ? सम्भवत इसी परम्परा से प्रेरित होकर स्वामी विवेकानन्द ने कहा था कि ससार की धार्मिक एकता धार्मिक सिद्धान्तों के आधार पर हो सकती है न कि किसी व्यक्ति विशेष द्वारा किसी विशेष स्थान और काल में निर्देशित जीवन-यापन के नियमों स। हिन्दुत्व म अलौकिक सत्य के अनुभव का माध्यम है विचार और दर्शन। अत जहा मानव मस्तिष्क न दर्शन के आधार पर अलौकिक सत्य के अनुभव का प्रयास किया है वहा उस धर्म प्रणाली का महत्त्व स्वत समाप्त हो जाता है जिसम किसी व्यक्ति विशेष के अलौकिक सत्यानुभव को ही अतिम मान कर दूसरो को उसका अनुभव कराने का प्रयास निहित है

मेहउ (Mayhew) के अनुसार हिन्दू मस्तिष्क की परम्परानिष्ठा सहिष्णु दृष्टिकोण जिसम सिद्धान्तों (Dogmas) के विरुद्ध स्वाभाविक असन्तोष निहित है हिन्दू सिद्धान्तों की अस्पष्टता और हिन्दू सस्थाओं की स्पष्ट सुनिश्चितता के कारण हिन्दू विचार आक्रमण के परे हैं। समयानुसार जो आवश्यक हो उसे आत्मसात कर लेने की हिन्दू मस्तिष्क की क्षमता के कारण वह किसी भी विरोधी अथवा अत्यधिक सुनिश्चित विचार अथवा सिद्धान्त से अपनी रक्षा करने म सफल होता है। हिन्दुत्व की शक्ति किसी एक विचार मे केन्द्रित नही है और न उसम कोई विचारों की पूर्व निर्धारित उच्चावच परम्परा है—हिन्दू विचार गत्यात्मक और लचीला हैं और इस कारण आघात प्रतिघात को सहते हुए हिन्दू विचार सरचना अक्षुण्ण बनी रहती है। अपनी इसी विशेषता के कारण, हिन्दुत्व न तो अपने ढग के इसाइयत का वरण किया किन्तु इसाइयत भारतीयता का वरण न कर सकी। मेहउ (Mayhew) के ही अनुसार, अभी तक भारत म चर्च इसाइयत का कोई ऐसा भारतीय निर्वचन उस प्रकार नही कर सका है जिस प्रकार यूनानी, लटिन फ्रासीसी और अग्रेजी चर्चों ने इसाइयत का अलग-अलग निर्वचन करके इसाइयत को प्रभावित किया है। हिन्दू और मुस्लिम विचार पर भारतीय इसाइयत का प्रभाव बहुत ही कम पड़ा है।

मेहउ (Mayhew) के विश्लेषण से यह स्पष्ट होता है कि हिन्दुत्व की कमजोरिया ही इसाइयत के सघात म उसकी सहजोरिया सिद्ध हुयी। हिन्दू विचार का बहुमुखीपन यदि, एक ओर, उसकी आलोचना का आधार बना तो, दूसरी ओर, उसकी सबलता का कारण भी। जिस जाति प्रथा के आधार पर इसाइयो ने हिन्दुत्व की आलोचना की उसी जाति प्रथा ने इसाइयत को भी अपने पजे म जकड लिया। चूकि निम्न जातिया इसाइयत की ओर उन्मुख हुयी उच्च जाति के लोग इसाइयत स विमुख ही नही हो गए वरन निम्नजातियो का हिन्दूकरण करके उनमें जाति-सगठन को इतना मजबूत बना दिया कि इसाइयत उनमे भी प्रवेश न कर पाई[1]। इस्लाम की भांति, इसाइयत को भी

---

1 आर्यसमाज आन्दोलन के द्वारा उच्चवर्णी हिन्दुओं ने निम्नवर्णी हिन्दुओं मे धार्मिक चेतना जगाई और उन्हें हिन्दुत्व के समीप लाए तथा उनमें यह

भारत म बदलना पडा और किसी सीमा तक उसके मिशनरीपन को चुनौती भी मिली। पुर्तगाली मिशन के प्रसिद्ध मिशनरी फ्रांसिस जेवियर न, जिसन पुर्तगाल के राजा को यह सलाह दी थी कि वह भारत म पुर्तगाल के शासको की योग्यता इस आधार पर निर्धारित कर कि किस शासक ने कितने ईसाइ बनाए हैं, अत म यह कहा कि इस देश म तो ईसा की शरण म जाने के उपदेश को लोग मत्यु की शरण मे जाने का उपदेश मानते हैं। प्रसिद्ध फ्रांसीसी मिशनरी एबे डुबाय ने लिखा है, मन आसू तो बहुत बहाए, किन्तु व नग पत्थरो पर गिरे हैं। जो लोग ईसाई हुए थ, उनम से दो तिहाइ धम को छोड कर अपने मूलवत्त म वापस चले गये ह उच्चवर्णी हिंदुओ पर हमारा कोई प्रभाव नही पडा है हिंदुओ का धम बदलना आसान नही है। इनके बीच मे प्रचलित किसी भी रिवाज को छूते ही, सारी जनता विरोध म खडी हो जाती है[1]।

इसाइयत के प्रभाव से हिंदू धम बदला तो नही, हा उसम परिवतन अवश्य हुए। पश्चिम और इसाइयत के सम्मिलित सघात से ही हिंदुत्व म पहले धार्मिक-सामाजिक और, बाद मे, सामाजिक धार्मिक नवजागति की वह प्रक्रिया प्रारम्भ हुई है जो आज भी चल रही है इस्लाम ईसाइयत के प्रभाव और पष्ठभूमि म उत्पन्न हुआ था और योरोपीय परिस्थितियो म दोनो परस्पर विरोधी भी हो गए थे। अत, इस्लाम भी इसाइयत स दूर ही रहा। हा पश्चिम के प्रभाव को इस्लाम न रोक सका। जिस प्रकार हिंदुत्व म पश्चिम के प्रभाव ने परम्परा और पश्चिम के समन्वय के प्रश्न को जन्म दिया, उसी प्रकार इस्लाम म भी हुआ। इस्लाम म, विशेषत भारतीय इस्लाम मे, अरबीवाद और धम निरपेक्ष भारतीय राष्ट्रवाद की द्विभाजिता पश्चिम के सघात स ही निखरी थी आदिवासी संस्कृति मे इसाइयत का प्रवेश सबस अधिक हुआ है। इसस आदिवासी संस्कृति मे परिवतन भी आए हैं और समस्याये भी उठ खडी हुयी हैं। इन परिवतनो और समस्याओ का वणन यथास्थान आग दिया जायगा।

भारत म इसाइयत केवल धमपरिवतन का ही माध्यम नही रही है। एक ओर इसाइयत भारत के योरोपीयकरण का माध्यम रही है तो, दूसरी ओर भारत के पुनर्नयन, पुन आविष्कार (Re Discovery) और ऊर्ध्वगामी सांस्कृतिक विकास मे भी सहायक रही ह। ईसाई मिशनरियो ने धम प्रचार के साथ साथ, समाज सेवा काय को भी अपनाया। शिक्षा का प्रसार, शिक्षा के माध्यम से योरोपीय ज्ञान विज्ञान का प्रसार अस्पतालो के माध्यम स योरोपीय चिकित्सापद्धति का विकास और ग्राम-

---

भावना भर दी कि यदि वे साफ रहें, मास मदिरा का सेवन त्याग दें और शिक्षा ग्रहण करें तो ये भी उतने उच्च और मान्य हो सकते ह, जितने कि उच्चवर्णी हिंदू ह।

1 दिनकर से उद्धृत पष्ठ 434

समाज सेवा इनके मुख्य सेवा कार्य रहे हैं। आदिमजाति सेवक संघ और हरीजन-सेवक-संघ की स्थापना मिशनरी कार्य के ही आधार पर की गयी थी। इन समाज-सेवा कार्यों के साथ साथ मिशनरियों ने भारत की प्रादेशिक भाषाओं के व्याकरण तैयार किए, उनकी लिपियों को निर्धारित करके छापखाने में योग्य बनाया और भारत के धर्मग्रन्थों का अनुवाद अंग्रेजी तथा अन्य योरोपीय भाषाओं में किया। यह इसाइयत के ही चुनौतीमय संघात का प्रभाव था कि हिन्दुत्व की सामाजिक कमियां और शक्तियां निखर कर सतह पर आ गई और हिन्दुत्व में उनका पुनर्परीक्षण किया गया। यह पहले ही कहा जा चुका है कि इसाई मिशनरी अंग्रेजी प्रशासकों की अपेक्षा योरोपीय शिक्षा और अंग्रेजी भाषा के अधिक पक्ष में थे और उनके लाने में सहायक भी हुए। इस्लाम की अपेक्षा भारतीय इसाइयत अधिक राष्ट्रवादी रही है क्योंकि भारतीय राष्ट्रीयता को लेकर इस्लाम में जो द्विभाजिता उठ खड़ी हुयी थी वह भारतीय इसाइयत में नहीं आयी किन्तु, फिर भी इसाइयत को लेकर भारत के सामने एक आधारभूत प्रश्न है और वह यह है कि एक धर्मनिरपेक्ष राज्य में जहां का मुख्य धर्म मिशनरी धर्म नहीं है, उस मिशनरी धर्म को क्या और कहां तक अनुमति दी जाए जो विदेशी पैसे से और मुख्यतः विदेशियों द्वारा संचालित होता है? केवल धर्म प्रचार के लिए धर्म-प्रचार कहां तक जायज है?

७

राष्ट्रवादिता

राष्ट्रवादिता केवल राष्ट्रनिष्ठा या देशभक्ति नहीं है। राष्ट्रवादिता वह राष्ट्रनिष्ठा या देशप्रेम है जिसकी अभिव्यक्ति उग्र अन्तर्राष्ट्रीय प्रतिद्वंदिता में होती है। राष्ट्रवादिता एक सामूहिक आक्रामक सामाजिक मानसिक प्रमेय है जिसका आधार राष्ट्र और राष्ट्र राज्य में है। ज्यों ज्यों राष्ट्र का एकीकृत तथा राष्ट्र राज्य को मजबूत बनाने के उपकरण तथा शक्तियाँ अस्तित्व में आती रही हैं, राष्ट्रवादिता को प्रोत्साहन मिलता रहा है। मजहबी सभ्यतायें (जैसे बुद्धवाद और इस्लाम) मानव इतिहास में राष्ट्र-निर्मायी ऐतिहासिक शक्तियां रही हैं। अरब, इराक, ईरान और पाकिस्तान के राष्ट्र हैं जिनका निर्माण इस्लामी सभ्यता के प्रभाव के कारण हुआ है। योरोप की वर्तमान प्रौद्योगिकीय सभ्यता, जिसका विकास और प्रसार पन्द्रहवीं शताब्दी के बाद होना प्रारम्भ हुआ, इस्लाम से अधिक शक्तिशाली राष्ट्र निर्मायी शक्ति रही है। राष्ट्रवादिता को इस्लाम ने उतना प्रोत्साहित नहीं किया जितना कि योरोपीय सभ्यता ने। रेल, तार डाक रेडियो सिनेमा टेलीविजन और छापाखाना जैसे यातायात और संदेशवहन के प्रौद्योगिक उपकरणों से, एक ओर, राष्ट्र का गठन निखरा और,,

दूसरी ओर, राष्ट्र राज्य अधिक संगठित और शक्तिशाली हुआ। योरोपीय सभ्यता में जिस आर्थिक व्यवस्था का विकास हुआ उसने राष्ट्रवादिता को प्रोत्साहित किया। योरोपीय आर्थिक व्यवस्था बड़े पैमाने के उत्पादन, लाभ और बिक्री पर आधारित है। यही कारण है कि योरोप में, जब वर्तमान सभ्यता के प्रभाव के कारण, राष्ट्र-राज्य सबल होने लगे तब आर्थिक प्रतिद्वन्दिता ने राजनैतिक प्रतिद्वन्दिता का रूप ले लिया। राजनैतिक आर्थिक प्रतिद्वन्दिता ने एक ओर, योरोपीय साम्राज्यवादिता को जन्म दिया और दूसरी ओर, राष्ट्रवादिता को प्रोत्साहित किया। योरोपीय सभ्यता के गर्भ से उत्पन्न, पूँजीवाद तथा साम्यवाद ने, एक साथ, साम्राज्यवादिता तथा राष्ट्रवादिता को प्रोत्साहित किया। योरोपीय साम्राज्यवादिता चाहे वह पूँजीवादी हो या साम्यवादी एक ओर, शोषणकारी तथा परजीवी रही है और, दूसरी ओर अनेक राष्ट्रों को संगठित करने वाली तथा राष्ट्रवादिता को जन्म देने वाली। वर्तमान अफ्रीका में जन्म लेने वाले राष्ट्र इन्हीं परिस्थितियों की उत्पत्ति हैं। पाकिस्तान लंका भारत, चीन, जापान मलेशिया इण्डोनेशिया, बर्मा और मिस्र जैसे अनेक राष्ट्र योरोपीय सभ्यता के संघात के प्रभाव से ही जन्मे हैं।

इसका यह तात्पर्य नहीं कि भारत पहले राष्ट्र नहीं था और न यहाँ राष्ट्रीय भावना पाई जाती थी। भारत तो उस समय एक स्वाभाविक भौगोलिक इकाई का रूप ले चुका था जब आज से लगभग सात करोड़ वर्ष पूर्व, टथीज नामक समुद्र के स्थान पर हिमालय अस्तित्व में आया था और दक्षिणी भारत अफ्रीका तथा आस्ट्रेलिया के महाद्वीपों से अलग हो गया था। आर्य द्राविड संस्कृतियों के संगम के समय भारत विभिन्न जनपदों में बटा हुआ था। लेकिन ज्यों ज्यों आर्यों का भारत में प्रसार हुआ, यहाँ का आदिवासी समाज विशृंखलित होता गया और 'आसिन्धु सिन्धुपर्यन्ता' का विचार भी दृढ़तर होता गया। आर्य द्राविड संस्कृतियों के सम्मिश्रण से उत्पन्न संस्कृति (हिन्दुत्व) ने भारत की भौगोलिक एकता में सांस्कृतिक एकता का पुट दिया। एक ओर, हिन्दूकरण की प्रक्रिया के द्वारा आधारभूत सांस्कृतिक एकता को प्रोत्साहन मिलता रहा और दूसरी ओर उत्तरोत्तर बढ़ती हुयी सांस्कृतिक एकता को एक राष्ट्र राज्य में संगठित करने के प्रयास भी चलते रहे। आर्यों के उत्तरोत्तर प्रसार और प्रभाव से विशृंखलित आदिवासी संस्कृति की पृष्ठभूमि से बुद्धवाद का विकास हुआ। बुद्धवाद यदि एक ओर महान पुनर्जागरणवादी आन्दोलन था तो दूसरी ओर वह हिन्दुत्व की भाँति, भारत के विजातीय समाज में एकता लाने का प्रयास भी था। बुद्धवाद और चक्रवर्ती सम्राट की धारणा का अभ्युदय भारत में लगभग साथ साथ होता है। प्रत्येक सम्राट ने दिग्विजय और अश्वमेध यज्ञ द्वारा सम्पूर्ण भारत पर एक राष्ट्र राज्य को स्थापित करने का प्रयास किया है। चन्द्रगुप्त मौर्य, अशोक, चन्द्रगुप्त विक्रमादित्य, अलाउद्दीन खिलजी अकबर और औरंगजेब जैसे सम्राटों ने सम्पूर्ण भारत को एक राष्ट्र राज्य में बाँधने

का प्रयास किया है। यद्यपि वे अपने प्रयासों में सफल न रह सके क्योंकि उस काल की परिस्थितियां ऐसी नहीं थीं कि सम्पूर्ण भारत पर एक दीर्घकालिक, सबल केन्द्रीय सत्ता स्थापित की जा सकती।

अशोक ने बुद्धवाद को राज्य धर्म घोषित करके अपने साम्राज्य को भावनात्मक एकता प्रदान करने की कोशिश अवश्य की लेकिन बौद्ध ब्राह्मण संघर्ष में यह प्रयास सफल न हो सका। अकबर ने दीन ए इलाही के द्वारा भारत के राज्य-राष्ट्र का सुदृढ़ आधार प्रदान करने की कल्पना की। औरंगजेब के राज्यकाल में, मराठा अभ्युत्थान के साथ-साथ, राष्ट्रीय भावना से ओतप्रोत महाराष्ट्र धर्म की धारणा अस्तित्व में आई। सारे मुस्लिम काल में, एक ओर, इस्लाम की अरबीवादी विचारधारा प्रवाहित होती रही और, दूसरी ओर हिन्दू पुनर्जागरण से ओतप्रोत राष्ट्रीय विचारधारा। भारत में एक राष्ट्र राज्य का संगठन न तो हिन्दू-काल में हुआ और न मुस्लिम काल में क्योंकि कोई भी हिन्दू सम्राट या मुस्लिम शहंशाह कभी भी सम्पूर्ण भारत पर अधिकार न कर पाया। भारत में जो भी केन्द्रीय सत्ता विकसित हुई वह विभिन्न क्षेत्रीय राज्यों को मिटाकर नहीं वरन उनको अपने अधीन करके विकसित हुई जिसका परिणाम यह हुआ कि सभी कालों में केन्द्रीय सत्ता के होते हुए भी क्षेत्रीय शासक बने रहते थे जो मौका पाते ही स्वतन्त्र हो जाते थे। यही कारण है कि भारत के विभिन्न सांस्कृतिक समूहों में भाषा धर्म विचार, आदर्श, अहाओं तथा सामाजिक संगठन के आधार पर ही आदान प्रदान और समन्वय अधिक हुआ है। राष्ट्रीय भावना के आधार पर, विभिन्न सांस्कृतिक समूहों का आदान प्रदान तब तक नहीं के बराबर हुआ जब तक कि अंग्रेजी राज और योरोपीय सभ्यता के संघात के फलस्वरूप भारत में राष्ट्र निर्माणकारी तथा राष्ट्रवादिता को जन्म देने वाली ऐतिहासिक परिस्थितियाँ उत्पन्न नहीं हुई। अंग्रेजी राज की स्थापना के बाद ही, हिन्दुओं और मुसल्मानों को राष्ट्रीयता के आधार पर संगठित होने की आवश्यकता का अनुभव हुआ जो भारत की सामाजिक ऐतिहासिक परिस्थितियों में केवल अंशतः ही पूर्ण हो पाई।

उपरोक्त विश्लेषण से यह निष्कर्ष नहीं निकाला जा सकता कि भारत को एक राष्ट्र राज्य का रूप देने तथा भारत में राष्ट्रवादिता के प्रादुर्भाव का एकमात्र श्रेय अंग्रेजों तथा अंग्रेजी राज्य का है। वास्तविकता यह है कि भारत में अंग्रेजी राज की स्थापना के साथ-साथ उन अनेक ऐतिहासिक परिस्थितियों तथा शक्तियों का प्रस्फुटन हुआ जिनसे, एक ऐतिहासिक प्रक्रिया के रूप में, भारत एक राष्ट्र राज्य में ढला और यहाँ एक जनान्दोलन तथा जन विचार के रूप में राष्ट्रवादिता का विकास हुआ। यह प्रक्रिया अभी भी समाप्त नहीं हुई है और न पूर्ण ही हुई है। भारत में राष्ट्रवादिता का अभ्युदय और विकास तो युग-युग से चलने वाली एक ऐतिहासिक प्रक्रिया है जिसका पूर्ण समाहार होना अभी भी बाकी है। सन उन्नीस सौ सैंतालीस से, जब से भारत स्वतन्त्र हुआ है, इस प्रक्रिया ने एक नयी महत्ता तथा

गत्यात्मकता धारण कर ली है। भारत पर चीन के आक्रमण तथा भारत के प्रति पाकिस्तान की स्पर्धा ने इस प्रक्रिया की महत्ता और गत्यात्मकता को और भी तीव्रतर कर दिया है। भावनात्मक एकीकरण भारत का आदर्श रहा है और आज भी उसी पर जोर दिया जाता है। अंग्रेजी राज की स्थापना के माध्यम से, भारत तथा योरोपीय सभ्यता में जो सघातिक सम्पर्क स्थापित हुआ और उससे जो ऐतिहासिक परिस्थितियाँ तथा शक्तियाँ अस्तित्व में आई, उनसे भारत के भावनात्मक एकीकरण के विचार की सम्भावना और भी बलवती होकर एक सामाजिक शक्ति के रूप में प्रस्फुटित हुई।

एक मानसिक प्रमेय के रूप में, राष्ट्रवादिता एक ओर, राष्ट्र चेतना में निहित है और दूसरी ओर राष्ट्रीय गर्व (National Pride) में जिसका एक स्रोत स्वयं राष्ट्र चेतना है और दूसरा अन्तर्राष्ट्रीय स्पर्धा। राष्ट्र एक वह स्वाभाविक, सिलसिलेवार तथा ससपर्शी भौगोलिक क्षेत्र माना गया है, जिसके निवासियों में अपने प्रकार के प्रति चेतना (Consciousness of Kind) की भावना पाई जाती है जिनका एक समान सांस्कृतिक जीवन यापन होता है और जो एक राष्ट्र राज्य में सगठित रहते हैं। नये राष्ट्रों में पाकिस्तान और मलेशिया स्वाभाविक ससपर्शी भौगोलिक क्षेत्र नहीं है जो इस बात का प्रमाण है कि राष्ट्र के निर्माण में ससपर्शी भौगोलिक क्षेत्र उतना महत्वपूर्ण नहीं है जितना कि राष्ट्र राज्य, राष्ट्र चेतना और समान सांस्कृतिक जीवन यापन। अमरीका जैसा राष्ट्र जहाँ सांस्कृतिक विजातीयता (Cultural Heterogeneity) पाई जाती है इस तथ्य का प्रमाण है कि राष्ट्र के निर्माण में राष्ट्र राज्य तथा राष्ट्र चेतना का अस्तित्व ही सबसे अधिक महत्वपूर्ण है। वर्तमान परिस्थितियों में राष्ट्र राज्य ही सबसे अधिक महत्वपूर्ण कारक माना जा सकता है क्योंकि राष्ट्र चेतना को विकसित करने में राष्ट्र राज्य एक महत्वपूर्ण कारक रहा है। जैसा कि पहले कहा जा चुका है, वर्तमान परिस्थितियों में, राष्ट्र राज्य का सबल तथा स्थायी अस्तित्व उन अनेक सन्देशवाहक तथा यातायात के उपकरणों पर निर्भर है जो योरोपीय सभ्यता की देन है। अन्तर्राष्ट्रीय स्पर्धा योरोपीय सभ्यता की आर्थिक-व्यवस्था की देन है। अन्तर्राष्ट्रीय स्पर्धा की परिस्थितियों में, राष्ट्र चेतना राष्ट्रीय गर्व का रूप ले लेती है जिसे, एक ओर, विभिन्न राष्ट्रों की सांस्कृतिक ऐतिहासिकता से प्रेरणा मिलती रही है और, दूसरी ओर साम्राज्यवादी परिस्थितियों में साम्राज्यवादिता के प्रति होने वाली प्रतिक्रिया और उनसे उत्पन्न होने वाली सामाजिक सांस्कृतिक पुनरुन्नयन की प्रक्रिया से। भारत के एक राष्ट्र में ढलने तथा भारत में राष्ट्र चेतना और राष्ट्रीय गर्व के विकास में इन्हीं ऐतिहासिक तथ्यों तथा प्रक्रियाओं का समावेश हुआ है। भारत में राष्ट्रीयता का विकास पूँजीवादी साम्राज्यवादिता की परिस्थितियों में हुआ है, जिसके फलस्वरूप भारत की राष्ट्रवादिता में, अन्तर्राष्ट्रीय पूँजीवादी आर्थिक शोषण, साम्राज्य

वादिता और यूरोप की मशीनीकृत सामाजिक आर्थिक व्यवस्था के विरुद्ध प्रतिक्रिया और भारतीय सांस्कृतिक पुनरुन्नयन की भावना का समावेश हुआ है।

जिस ऐतिहासिक प्रक्रिया से भारतीय राष्ट्रवादिता का उद्भव हुआ है, उसे पाणिक्कर[1] ने महान पुनरुन्नयन (The Great Pecovery) की प्रक्रिया कहा है। राष्ट्रीय गर्व को जन्म देने वाली पुनरुन्नयन की यह महान प्रक्रिया धीरे-धीरे चलती रही है। सन् अठारह सौ अड़तीस में सी० ई० ट्रिवेलियन ने यह लिखा था—"हमारे साहित्य से परिचित होने के कारण, भारतीय नौजवान हमको विदेशी नहीं समझते। वे हमारे महान पुरुषों की उतने ही उत्साह से चर्चा करते हैं, जितने उत्साह से हम लोग करते हैं। हमारे ही ढंग की शिक्षा पाये हुए, उन्हीं विषयों में रुचि रखते हुए जिनमें कि हम रखते हैं और उन्हीं उद्योगों का अनुसरण करते हुए जिनका कि हम करते हैं, हिन्दू नौजवान हिन्दू होने की अपेक्षा उसी प्रकार अधिक अंग्रेज हो गए हैं जिस प्रकार रोम साम्राज्य के प्रभाव से, इटली के निवासी इटलियन कम किन्तु रोमन अधिक हो गए थे। किन्तु, सन अठारह सौ बयासी में जैसा कि सर रिचर्ड टेम्पिल के एक उद्धरण में स्पष्ट है स्थिति कुछ और ही हो गई थी। टेम्पिल के अनुसार वे (भारतीय) किसी मजहबी या धर्म-निरपेक्ष सिद्धान्त को केवल इसीलिये नहीं स्वीकार करते कि वह योरोपीय सभ्यता की देन है। वे योरोपीय तरीकों और योरोप से अलग, जीवन के नये मापदण्डों की तलाश में लगे हुए हैं पश्चिम से प्रभावित होने पर भी उनकी दृष्टि उनकी देशज परम्पराओं की ओर है। शेक्सपियर मिल्टन बेकन और लाक के अध्ययनों के बावजूद भी एशियाई नायकों, कवियों, महात्माओं और प्राचीन धर्मग्रन्थों के रचयिताओं के प्रति उनके आदरपूर्ण लगाव में कमी नहीं आती।

ज्यों ज्यों भारत पर अंग्रेजी राज और योरोप का सघात बढ़ा, त्यों-त्यों यह विचार जोर पकड़ता गया कि भारत को योरोप की प्रतिकृति नहीं होना है बल्कि उसे अपनी आध्यात्मिक तथा सांस्कृतिक विरासत से प्रेरणा लेते हुए आगे बढ़ना है। इसी विचारधारा का परिणाम यह हुआ कि भारतीय राष्ट्रवादिता एक ओर राष्ट्रीय गर्व में तथा सांस्कृतिक पुनरुन्नयन में परिणत हुई तो, दूसरी ओर, जो कुछ योरोपीय था उसके विरुद्ध प्रतिक्रिया में। योरोप के प्रजातन्त्रवादी विचारों के आधार पर, भारत ने योरोप की साम्राज्यवादी लिप्सा को चुनौती दी और अपने राष्ट्रीय गर्व तथा राष्ट्रवादिता में मानवतावादी विचारों तथा अन्तर्राष्ट्रीयता का समावेश किया। ईसाई तथा इस्लामी मजहबों के मिशनरीपन से आक्रान्त होने पर, भारत ने सभी धर्मों की समानता तथा अनेकान्तवादी विचारधारा को अपनाया जिसका प्रमाण भारत में ब्रह्मसमाजी विचारधारा का अभ्युदय है। लेकिन साथ ही साथ, जैसा

1 पाणिक्कर के० एम० ए सर्वे आफ इण्डियन हिस्ट्री अध्याय 21

कि आर्यसमाज के अभ्युदय, विकास और प्रसार से स्पष्ट है, भारत ने इसाई और इस्लामी मजहबों के मिशनरीपन तथा उनकी प्रसारवादी कट्टरता को अपनाकर अपने उस रूप का पुनरुन्नयन किया जो इन मजहबों से टक्कर ले सकता था। सत्यार्थप्रकाश सम्भवत पहला ग्रन्थ है जिसमे अन्य मजहबों का खण्डन मण्डन करके वैदिक धर्म की सर्वोपरिता को स्थापित करने का प्रयास किया गया है। आर्यसमाज का शुद्धि-आन्दोलन उसी राष्ट्रीय गर्व से प्रेरित रहा है जो इसाई और इस्लामी मजहबों के आन्तरिक मिशनरीपन के कारण अस्तित्व मे आया। योरोपीय व्यवस्था पूंजीवादी, शोषक और साम्यवादी थी। भारत ने स्वदेशी आन्दोलन को अपनाया और योरोपीय वस्तुओं का बहिष्कार किया तथा पूंजीवाद और साम्यवाद का एक साथ विरोध किया[1]। गांधीवादी विचारधारा मे उस आर्थिक व्यवस्था का निरूपण किया गया जो एक ओर, भारत की प्राचीन ग्रामीण आर्थिक व्यवस्था का पुनरुन्नयन थी और दूसरी ओर पूंजीवादी व्यवस्था का एक उत्तर थी। योरोपीय सभ्यता भौतिकतावादी थी। भारत ने आध्यात्मिकतावादी विचारों को बुलन्द किया। योरोप की संसार-विजय भौतिकतावादी थी। भारत ने अपनी राष्ट्रवादिता में आध्यात्मिक संसार-विजय का नारा लगाया[2]। आध्यात्मिकता से संसार विजय के विचार का उद्भव राजा राममोहन के काल में ही हो चुका था लेकिन उसका चर्मोत्कर्ष स्वामी विवेकानन्द मे हुआ। भारतीय विचार से संसार विजय की कल्पना को स्वामी विवेकानन्द ने भारतीय राष्ट्रीय जीवन का एक आधार बनाने का प्रयास किया। इसप्रकार भारतीय राष्ट्रवादिता यदि, एक ओर, पुनरुन्नयनवादी रही तो दूसरी ओर, उसमें निहित राष्ट्रीय गर्व इस भावना से ओतप्रोत रहा है कि भारत को योरोप से नहीं वरन् योरोप को भारत से बहुत कुछ सीखना है।

राजनैतिक एकीकरण अंग्रेजी राज्यकाल में भारत का धीरे धीरे राजनैतिक आर्थिक तथा सांस्कृतिक एकीकरण और पुनरुन्नयन दो ऐसी ऐतिहासिक प्रक्रियायें हैं जिनसे भारतीय राष्ट्रवादिता की भावना निर्मित हुई है। भारत को एक राजनैतिक संगठन में लाने का विचार मुगलों के पहले से ही चला आ रहा था और मुगल काल मे, जैसा कि पहले लिखा जा चुका है, इस विचार को वास्तविक रूप देने का भरसक प्रयास होता रहा। लेकिन भारत को राजनैतिक एकता में बांधने का श्रेय अंग्रेजों को ही है। यह श्रेय वस्तुत अंग्रेजों

---

1 सम्भवत, भारत ही एक ऐसा देश है जो साम्यवाद तथा पूंजीवाद से एक साथ संघर्ष और सहयोग कर रहा है। भारत में समाजवादी समाज की स्थापना का आदर्श इसी प्रक्रिया की उत्पत्ति है। भारत की योजनायें न तो साम्यवादी हैं और न पूंजीवादी यद्यपि उनमें पूंजीवादी तथा साम्यवादी विचारों और सिद्धान्तों का समावेश और समन्वय अवश्य है।

2 देखिये विवेकानन्द के भाषण

की नहीं वरन यूरोपीय प्रौद्योगिकी की है जिसकी सहायता से अंग्रेज भारत को एक राजनीतिक सूत्र में बांधने में सफल हुए। सन अठारह सौ सत्तावन के बाद, जब इंगलैण्ड की सम्राज्ञी ने भारत के सम्राटत्व का ग्रहण किया तो यह सत्ता और भी दृढ़तर हुई और उसके बाद में दिल्ली में होने वाले तीन दरबारों से भारत की राजनैतिक एकता को एक दृढ़तर अभिव्यक्ति और प्रोत्साहन मिले। इंगलैण्ड के एकछत्र सम्राट की प्रजा होने की भावना ने, भारतवासियों में एक राष्ट्र और एक राज्य के विचार को और भी दृढ़तर किया जो, आगे चलकर, राजनैतिक स्वतन्त्रता-संग्राम के जनआन्दोलन के रूप में फूट निकला।

अपनी राजसत्ता को दृढ़तर बनाने के लिये अंग्रेजों ने जिन प्रौद्योगिक उपकरणों का प्रयोग किया उनसे भारत में अंग्रेजों की राजनीतिक सत्ता दृढ़तर अवश्य हुई लेकिन साथ ही साथ उनसे भारत की राष्ट्रीय एकता भी बढ़ी। अंग्रेजों द्वारा लागू की हुई प्रशासन प्रणाली, रेल, तार, सड़क डाक-व्यवस्था और रेडियो से यदि, एक ओर अंग्रेजों की केन्द्रीय राजनीतिक सत्ता को दृढ़तर होने में सहायता मिली तो, दूसरी ओर, उनसे भारत की एकता को प्रोत्साहन मिला। यातायात के साधनों से भारतीयों में सम्पर्क बढ़ा और सन्देशवहन के साधनों से विचार विमर्श के लिये अवसर। छापाखाना और अखबार से भारतीयों में वैचारिक सम्पर्क बना जिससे एकता की भावना को बराबर बल मिलता रहा। अंग्रेजों ने भारत को एक राज्य-सूत्र में बांधने के लिये मुगलों की ही परम्परा का अनुसरण किया जिसका प्रमाण हैं देशी रियासतें जिनको अंग्रेजों ने मुगलों की भांति कायम रखा। अंग्रेजी राज्य-काल में, भारत का लगभग एक तिहाई भाग देशी रियासतों और नरेशों के अधिकार में रहा है। जिस प्रकार, मुगलों के अधीनस्थ राजे मुगल सम्राट की अधीनता में राज्य करते थे, उसी प्रकार अंग्रेजी राज्यकाल में देशी नरेश अंग्रेजों की अधीनता में राज्य करते रहे और अंग्रेज सम्राट उनको उसी प्रकार पदों से सुशोभित करता तथा छत्रछाया प्रदान करता रहा जिस प्रकार मुगल सम्राट करता था। लेकिन, मुगलों और अंग्रेजों की राजनैतिक परम्पराओं में एक अन्तर था। अंग्रेजी राज्य में यातायात रेल, तार, और मुद्रा प्रणाली की व्यवस्था केन्द्रीय सत्ता के हाथ में थी जिससे देशी नरेशों की स्वतन्त्रता केवल आंतरिक प्रशासन की ही स्वतन्त्रता रही। भारत को एक राजनीतिक शक्ति में बांध रखने की अंग्रेजों की भावना और अंग्रेजों की सबल सैनिक शक्ति के कारण देशी नरेशों पर अंग्रेजों का अधिक व्यापक प्रभाव था। देशी नरेशों के द्वारा देशी रियासतों में अच्छा प्रशासन लाने का उत्तरदायित्व अंग्रेजी सम्राट तथा उसकी सरकार का था। अंग्रेजी सरकार द्वारा कई देशी नरेशों को गद्दी से उतार देने के कारण जनता पर देशी नरेशों की अपेक्षा, अंग्रेजी सरकार की प्रभुता के विचार का प्रभाव रहा।

प्रथम महायुद्ध के बाद, जब राजनीतिक स्वतन्त्रता का आन्दोलन अंग्रेजों

भारत और देशी रियासतो मे एक साथ फलने लगा तब अग्रेज प्रशासको को अनुभव हुआ कि भारत का एक दृढ राजनैनिक एकता म बाधना मूल थी। भारत की बढती हुई राजनतिक एकता का रोकने के लिए यह सिद्धात प्रतिपादित किया गया कि देशी नरेशो का प्रत्यक्ष सम्बन्ध अग्रजी सम्राट से है न कि भारत की अग्रेजी सरकार से। इसी अवस्था मे अग्रज मानवशास्त्री, एक ओर, अछूतो को हिंदू समाज स अलग एव सामाजिक इकाई सिद्ध करने की ओर प्रयत्नशील हुए और, दूसरी ओर यह सिद्ध करने म कि भारत के आदिवासी हिंदुओ से भिन्न है उनकी एक अलग सत्ता है और उनकी समस्यायें सारे भारत से अलग विशिष्ट समस्यायें हैं जिसके लिये आदिवासी पृथक्करण (Tribal Isolation) की नीति को शास्त्रीय तथा सद्धान्तिक जामा पहनाने का प्रयास किया गया। भारत के बढत हुए एकीकरण को रोकने के लिय ही सन उन्नीस सौ पतीस के सविधान म आदिवासियो तथा अछूतो के कल्याण का उत्तरदायित्व सीधे गवनर और गवनर जनरल के अधिकार मे रक्खा गया। लेकिन यह वधिक (Legal) तथा मानवशास्त्रीय सिद्धात भारत के उस एकीकरण को न रोक सके जो अग्रेजी राज की केन्द्रीय सत्ता की स्थापना के बाद से, भारत मे उत्पन्न हो चुका था। अग्रजो द्वारा स्थापित केन्द्रीय सत्ता का प्रशासकीय, आर्थिक और मुद्राई (Fiscal) जाल इतना विस्तत हो चुका था, और यातायात तथा सन्देशवहन के साधनो से भारतीय एकता इतनी बढ गई थी कि प्रयत्न करने पर भी अग्रज भारत को एक राष्ट्र म ढलने और उसकी स्वदेशी स्वतन्त्र राष्ट्र राज्य की स्थापना को न राक सके।

अग्रजो द्वारा स्थापित राजनतिक एकता से ही भारत के राजनतिक पुनरुन्नयन के आन्दोलन को प्ररणा मिली। भारत एक राष्ट्र राज्य है इस विचार की व्यावहारिक अभिव्यक्ति सबसे पहले अग्रजो द्वारा स्थापित सबल केन्द्रीय राजसत्ता तथा राजनतिक एकता के रूप मे ही प्रत्यक्ष हुई। इसी राजसत्ता तथा राजनतिक एकता का एक स्वदेशी प्रजातन्त्रीय व्यवस्था मे धीरे धीरे बदल कर भारत म भारतीय राष्ट्र राज्य की स्थापना की माग और उसकी पूर्ति के लिए आन्दोलन ही भारत के राजनतिक पुनरुन्नयन की कहानी है। अग्रेजो के आगमन के बाद राष्ट्रवादिता की भावना से प्ररित जिस स्वतन्त्रता आन्दोलन का भारत मे जन्म हुआ है उसके दो पहलू हैं—एक अठारह सौ सत्तावन के पहले का और दूसरा उसके बाद का। अठारह सौ सत्तावन के पहले का आन्दोलन सनिक आन्दोलन था और अठारह सौ सत्तावन के बाद का सवधानिक सुधारो की माग का आदोलन। भारत के स्वतन्त्रता-आदोलन मे सन्व इस बात का ध्यान रक्खा गया है कि भारत की केन्द्रीय राजनतिक सत्ता छिन्न भिन्न न होने पाय। भारत क राजनतिक पुनरुन्नयन के पीछ जो राष्ट्रवादिता की भावना थी वह एक ओर, योरोप के राजनतिक तथा राष्ट्रवादी [illegible] प्ररित थी और, दूसरी ओर अग्रेजो की दासता से मुक्ति पाने की प्ररणा से।

इस काल के योरोप के राजनैतिक विचार प्रजातन्त्रवादी तथा राष्ट्रवादी रहे हैं। भारत में भी उन्हीं विचारों को अपनाया गया और उन्हीं योरोपीय संस्थाओं की मांग की गई जिनसे भारत में प्रजातन्त्र की स्थापना हो सके। भारत में योरोपीय, विशेषतया अंग्रेजी ढंग की राजनैतिक संस्थायें विधि प्रणाली, राजनैतिक दलों का संगठन और संविधान, भारत के राजनैतिक एकीकरण से उत्पन्न राष्ट्रवादिता से प्रेरित राजनैतिक पुनरुन्नयन की प्रक्रिया के परिणाम हैं।

आर्थिक एकीकरण

राजनैतिक एकीकरण तथा पुनरुन्नयन की भांति अंग्रेजी राज्यकाल में भारत के आर्थिक एकीकरण तथा पुनरुन्नयन से भी राष्ट्रवादिता को प्रोत्साहन मिला है। भारत में ज्यों-ज्यों अंग्रेजी राज और उसकी केन्द्रीय सत्ता का विकास हुआ भारत इंग्लैंड के पूंजीवादी उद्योग तथा व्यापार का एक बड़ा बाजार बनता गया। सत्रह सौ सत्तर से लेकर सन अठारह सौ आठ के बीच में भारत की प्रौद्योगिकी तथा यहां के उद्योग-धंधों का ह्रास हुआ। भारत में अंग्रेजी राज की स्थापना होने के साथ-साथ, भारत योरोप की पूंजीवादी-औद्योगिक व्यवस्था का एक अंग हो गया जिसमें भारत की औद्योगिक तथा आर्थिक व्यवस्था की आधार ग्राम प्रणाली का आर्थिक महत्व समाप्त हो गया। भारत की परम्परागत आर्थिक व्यवस्था के दो आधार थे—एक ग्राम और दूसरा, जाति। ग्राम की आर्थिक महत्ता समाप्त होने के बाद, जाति-व्यवस्था में निहित अचरिष्णुता के कारण भारत की औद्योगिक व्यवस्था का नई परिस्थितियों से संतुलन न स्थापित हो पाया जिससे एक ओर भारत के उद्योग धंधों का ह्रास हुआ और दूसरी ओर भारत की निर्धनता बढ़ी। उधर, यातायात तथा संदेशवहन के साधनों से भारत के विभिन्न भागों में व्यापारिक सम्पर्क बढ़ा जिससे, भारत की आर्थिक समस्याओं के प्रति भारत के व्यापारी वर्ग में चेतना तथा विचार विमर्श बढ़ा। इसका परिणाम यह हुआ कि भारत की बढ़ती हुई निर्धनता के प्रति ध्यान आकर्षित हुआ उसके कारणों का विश्लेषण किया जाने लगा। दादा भाई नौरोजी पहले व्यक्ति थे जिन्होंने भारत की निर्धनता के लिए अंग्रेजों की पूंजीवादी आर्थिक व्यवस्था को दोषी ठहराया।

आधुनिक भारत के अर्थ-शास्त्रियों की पहली पीढ़ी के लोगों ने इसी बात पर जोर दिया कि भारत की गरीबी का प्रधान कारण रहे हैं भारत में औद्योगीकरण का ह्रास तथा भारत से सस्ता कच्चा माल लेकर और उससे बनी हुई उपभोग की वस्तुओं को भारत ही में बेच कर मुनाफा कमाने की अंग्रेजों की नीति। भारत का औद्योगीकरण इन दशाओं में एक राष्ट्रीय समस्या बन गई। भारत के अर्थशास्त्रियों ने इस बात पर जोर दिया कि भारत के पास योरोपीय ढंग के औद्योगीकरण के आधार उपलब्ध हैं जिनका उपयोग करके भारत के औद्योगिक स्तर को बढ़ाया जा सकता है और निर्धनता दूर की जा सकती है। लेकिन, यह तब तक

पूँजीवादी वर्ग के स्वार्थों की रक्षा के लिये भारतीय कृषि तथा उद्योग का पुनरुन्नयन राष्ट्रवादी आन्दोलन के दो मुख्य आधार बन गये। भारत के आर्थिक पुनरुन्नयन की समस्या जो योरोप, विशेषतया इंग्लैंड की औद्योगिक पूँजीवादी व्यवस्था के सघात और भारत के नये आर्थिक एकीकरण से उत्पन्न हुई थी राष्ट्रीय पुनरुन्नयन का आधार बन गई। राष्ट्रवादी आर्थिक पुनरुन्नयन की प्रक्रिया जो अंग्रेजी राज्यकाल में प्रारम्भ हुई थी, आज भी चल रही है। यह इसी प्रक्रिया का प्रभाव है कि भारत का औद्योगीकरण और कृषि का नई व्यवस्था के अनुसार आर्थिक उद्धार राष्ट्रीय समस्यायें मानी जाती है और आज भी राष्ट्रीय स्तर पर उनके समाधान का प्रयत्न किया जा रहा है। भारत में नियोजन का प्रयोग इन्ही समस्याओं के समाधान के लिए किया जा रहा है।

भारत के राष्ट्रवादी आर्थिक पुनरुन्नयन के दो मुख्य प्रेरणा स्रोत रहे है—एक, योरोप की औद्योगिक तथा पूँजीवादी या साम्यवादी आर्थिक प्रणाली और दूसरी, भारत में योरोप के प्रति होने वाली प्रतिक्रिया से उत्पन्न पुनरुन्नयनवादी विचार-धारा। भारत के पूँजीवादी वर्ग के प्रभाव के अन्तर्गत राष्ट्रवादी आन्दोलन में जहाँ, एक ओर स्वदेशी आन्दोलन का समावेश हुआ वहाँ दूसरी ओर भारत में योरोपीय ढंग के उद्योगो के लिए आर्थिक संरक्षण (Economic Protection) की भी माग हुई। दो महायुद्धो के बीच में, विदेशी सरकार को भी औद्योगीकृत भारत की सैनिक महत्ता का अनुभव हुआ जिससे भारत का औद्योगीकरण बढा और भारत के आर्थिक पुनरुन्नयन का समुत्थान हुआ। सन उन्नीस सौ सत्रह की साम्यवादी राज्य क्रान्ति की सफलता और उससे प्रतिफलित होने वाले रूस के आर्थिक तथा राजनैतिक समुत्थान से, जहाँ भारत के राष्ट्रीय आन्दोलन को किसानो और मजदूरों का आंदोलन बनाने की प्रेरणा मिली वहाँ भारत के राष्ट्रवादी आन्दोलन में साम्यवादी विचारों का समावेश भी हुआ। लेकिन, अंग्रेजी राज्यकाल में भारत का राष्ट्रवादी आंदोलन पूँजीवाद तथा साम्यवाद के उग्र पारस्परिक विरोध से बचा रहा क्योंकि भारत की ऐतिहासिक परिस्थिति उस ऐतिहासिक परिस्थिति से भिन्न थी जिसमे साम्यवाद को रूसी राष्ट्रीय आन्दोलन का रूप मिला था। भारत में स्वदेशी आन्दोलन के प्रसार के साथ साथ इंग्लैंड के अर्थशास्त्रियों ने इस बात पर जोर देना प्रारम्भ किया कि भारत एक खेतिहर ग्रामीण देश है। अतः भारत का कल्याण सदा और ग्राम व्यवस्था के पुनर्निर्माण में है। उधर, ईसाई धर्म तथा पूँजीवादी आर्थिक व्यवस्था के आक्रामक प्रभावो तथा इंग्लैंड की राजनैतिक दासता के कारण भारत में योरोपीय सामाजिक-आर्थिक व्यवस्था के प्रति प्रतिक्रिया प्रारम्भ हुई जिसे दो महायुद्धो की विभीषिका ने और भी तीव्र कर दिया।

अतः, भारत में यह विचार पनपा कि योरोपीय व्यवस्था मानव के लिए कल्याणकारी नही है जिसके फलस्वरूप भारत में, सांस्कृतिक-आर्थिक पुनरुन्नयन की वह

प्रक्रिया प्रारम्भ हुई जिसका चर्मोत्कर्ष महात्मा गांधी के विचारों और कार्यों में हुआ। गांधी ने योरोपीय व्यवस्था का विरोध किया और भारत की परम्परागत सामाजिक-आर्थिक व्यवस्था के पुनरुन्नयन को राष्ट्रीय आंदोलन तथा भारत के आर्थिक पुनरुन्नयन का आधार बनाया। गांधी के आंदोलनकारी कार्यक्रम से, ग्राम तथा कृषक की समस्याओं की ओर राष्ट्र का ध्यान आकर्षित हुआ, राष्ट्रीय आंदोलन को दस व्यापी जनांदोलन का रूप मिला और राष्ट्रीय-गर्व की भावना को प्रोत्साहन मिला लेकिन उससे भारत के आर्थिक पुनरुन्नयन की वह ऐतिहासिक प्रक्रिया न रुक सकी जिसका श्रीगणेश अंग्रेजी राज और योरोपीय संघात से हो चुका था। यही कारण है कि भारत के स्वतन्त्र होते ही गांधीवादी आर्थिक कार्यक्रम में शिथिलता आ गई। योरोप में जन्मी वैज्ञानिक प्रौद्योगिकी से उत्पन्न औद्योगीकरण की आवश्यकतायें ही कुछ और और हैं। लेकिन, अंग्रेजी राज्यकाल में समन्वयकारी पुनरुन्नयन की जो प्रक्रिया प्रारम्भ हो गयी थी, उसका प्रभाव भारत की राष्ट्रवादिता पर बना रहा। घरेलू उद्योग धंधों और योरोपीय ढंग के औद्योगीकरण तथा पूंजीवादी और साम्यवादी सामाजिक आर्थिक व्यवस्थाओं के आधारभूत सिद्धान्तों का समाजवादी समाज की धारणा के द्वारा समन्वय करने की प्रवृत्ति और प्रेरणा स्वतन्त्र भारत की आर्थिक राष्ट्रवादिता का आधारभूत लक्षण हैं जिनका उद्गम उसी समन्वयकारी पुनरुन्नयन की राष्ट्रवादी प्रक्रिया में है जो अंग्रेजी राज्यकाल में अस्तित्व में आ गई थी। योरोप के बढ़ते हुए संघात के कारण जहां, एक ओर, समन्वयवादी विचार पनप रहा है वहां दूसरी ओर, आर्थिक पुनरुन्नयन की राष्ट्रवादी विचारधारा में पूंजीवादी तथा साम्यवादी विभेद का वह वैचारिक संघर्ष भी पनप रहा है जिसका प्रसरण योरोप से हुआ है।

सांस्कृतिक एकीकरण

अंग्रेजी राज्यकाल में भारत का सांस्कृतिक एकीकरण तथा पुनरुन्नयन भारतीय राष्ट्रवादिता का तीसरा आधार रहा है। हिन्दुत्व के आधारभूत वैचारिक आधार जिनका कि पहले वर्णन किया जा चुका है हिन्दुत्व के प्रसार के साथ साथ, भारत के विजातीय समाज को सांस्कृतिक एकीकरण प्रदान करते रहे हैं। हिन्दू संस्कृति में बनारस और गया जैसे तीर्थस्थान व शहरी केन्द्र रहे हैं जहां से हिन्दुत्व की आधारभूत सांस्कृतिक अर्हताओं का प्रसरण होता रहा है। लेकिन हिन्दुत्व में इतने विजातीय तत्वों का समन्वय होता रहा है कि, भारत में हिन्दुत्व के बहुमुखी प्रसार के बावजूद भी क्षेत्रीय जातीय तथा गणजातीय भिन्नतायें बनी ही रहीं। अंग्रेजी राज की स्थापना के पहले, प्रत्येक काल में विभिन्न राज्यों में बंटे रहने के कारण भारत की सांस्कृतिक भिन्नता बनी रही। जैन तथा बौद्धधर्म हिन्दुत्व से प्रेरणा ग्रहण करते हुए भी एकीकरण के स्थान पर, सांस्कृतिक भिन्नता के ही कारण बने। इस्लाम और हिन्दुत्व के बीच में चलने वाली समन्वयकारी प्रक्रिया के बावजूद भी इस्लाम और उसके प्रभाव से उत्पन्न होने वाले पंथों के कारण भी सांस्कृतिक भिन्नता को प्रोत्साहन

मिला। जैसा कि पहले लिखा जा चुका है, इसाई मिशनरियों ने सांस्कृतिक भिन्नता को ही अधिक प्रश्रय दिया। फ्रांसिस जेवियर ने दक्षिण के इसाइयों की प्रथाओं में से हिन्दू प्रभाव को हटाने का काम अंग्रेजी राज की स्थापना के बहुत पहले प्रारम्भ कर दिया था। इस प्रकार भारत में अंग्रेजों के राज्य की स्थापना के पहले, यहाँ की एतिहासिक परिस्थितियाँ ही कुछ ऐसी रहीं थीं कि जनवाद, बुद्धवाद, इस्लाम और इसाई धर्मों द्वारा उस सांस्कृतिक एकीकरण को बराबर धक्का पहुँचता रहा जिसका श्रीगणेश आर्य द्राविड संस्कृतियों के समन्वय से उत्पन्न, उत्तरोत्तर विकसित हिन्दूकरण की प्रक्रिया में हुआ था।

अंग्रेजी राज की स्थापना के समय भारत की सांस्कृतिक भिन्नता में आधारभूत एकता अवश्य थी, लेकिन उस एकता की चेतना अस्पष्ट तथा विकीर्ण थी। मुस्लिम राज्यकाल में हिन्दूकरण की प्रक्रिया लुप्त नहीं हुई थी हाँ, मंद अवश्य पड़ी थी। इस्लामी राज्यकाल में, इस्लाम के साथ समन्वय होने तथा इस्लाम के आक्रामक संघात के कारण सांस्कृतिक एकीकरण की प्रक्रिया एक ओर कई धाराओं में प्रवाहित हो उठी और दूसरी ओर सांस्कृतिक एकता की चेतना निश्चेष्ट होने के साथ साथ क्षीण हो गई। आठवीं शताब्दी में भारत के चार कोनों में चार मठों की स्थापना तथा अद्वैतवादी दर्शन का प्रतिपादन करके शंकर ने सांस्कृतिक एकता को सचेष्ट करने का प्रयास किया। यह प्रयास सफल भी हुआ किन्तु इस्लामी संघात के सामने टिक न सका। मराठा अभ्युत्थान के साथ साथ महाराष्ट्र धर्म की धारणा के रूप में एक राष्ट्र, एक राज्य और एक संस्कृति की धारणा का अभ्युदय अवश्य हुआ लेकिन यारोप के राजनैतिक तथा आर्थिक संघात के कारण यह धारणा वास्तविक रूप न ले सकी। जिस समय भारत में अंग्रेजों का राजनैतिक प्रभुत्व बढ़ रहा था, उस समय, एक ओर हिन्दुत्व की 'अविभक्त विभक्तेषु', एको अहं बहुस्याम्', 'आत्मवत् सर्वभूतेषु' और 'परिता समदर्शिना' जैसी धारणायें थीं जो अप्रत्यक्ष रूप से भावनात्मक एकता की प्रतीक थी तथा उस पर जोर भी देती थी और, दूसरी ओर भारतीय समाज हिन्दू मुसलमान और आदिवासी समाजों में बटा हुआ था। स्वयं हिन्दू-समाज भाषावार प्रान्तों की उपसंस्कृतियों और उपसंस्कृतियाँ विभिन्न जातियों में बटी हुई थी। हिन्दुत्व के वैचारिक आधार ही सांस्कृतिक एकता के एकमात्र आधार थे किन्तु उनके प्रति जनसाधारण की चेतना अस्पष्ट, विकीर्ण और निश्चेष्ट थी।

अंग्रेजी राज की स्थापना से एक नई एतिहासिक परिस्थिति अस्तित्व में आई। भारत के राजनैतिक तथा आर्थिक एकीकरण से, सामाजिक सांस्कृतिक एकीकरण व विचार को बल मिलना प्रारम्भ हुआ। यातायात के साधनों के विकास तथा शान्ति और सुरक्षा की स्थापना से हिन्दुओं का उन स्मरणीय तीर्थस्थानों से सम्पर्क बढ़ा जहाँ से, अत्यन्त प्राचीन काल से हिन्दू सांस्कृतिक आदर्शों का प्रसरण होता आया

था। छापाखाना तथा प्रादेशिक भाषाओं के विकास के कारण, जनसाधारण उन धर्म ग्रंथों से परिचित होने लग जो एक वर्ग विशेष तक ही सीमित थे। अंग्रेजी भाषा के अध्ययन से यदि एक ओर, योरोपीय विचारों का प्रसार हुआ तो, दूसरी ओर, अंग्रेजी में अनुवादित प्राचीन ग्रन्थों से अंग्रेजी पढ़े लिखे लोगों को भारत, विशेषतया हिन्दुत्व की प्राचीनता उसके ज्ञान भण्डार और उसकी गरिमा का परिचय मिला। सर विलियम जोन्स मोनियर विलियम्स और मैक्समूलर जैसे विद्वानों के प्रयत्नों से संस्कृत भाषा प्राचीन साहित्य और संस्कृति का पुनरुद्धार हुआ। इसी काल में अंग्रेज, योरोपीय तथा भारतीय विद्वानों के प्रयत्नों से भारत के इतिहास का अध्ययन प्रारम्भ हुआ जिससे एक ओर भारत की एतिहासिकता प्रकाश में आई और, दूसरी ओर, भारत ने अपने को पुनः ढूंढ निकाला। ऐसी परिस्थिति में निष्प्राण हिन्दुत्व में एक नयी चेतना और आशा की किरण फूटी। धर्मग्रन्थों में निहित ज्ञान के प्रसार भारत की एतिहासिक प्राचीनता और यहां के प्राचीन साहित्य तथा कला की गरिमा के प्रकाश में आने के कारण हिन्दुओं में राष्ट्रीय गर्व तथा सांस्कृतिक चेतना की भावना फूट निकली। अंग्रेजी राज्य की स्थापना के कारण एक अन्य परिस्थिति अस्तित्व में आई जिसने हिन्दुओं के राष्ट्रीय गर्व और सांस्कृतिक चेतना की भावना को प्रोत्साहन मिला। अंग्रेजी राज की स्थापना से मुसलमान अपने राजनैतिक प्रभुत्व से अपदस्थ हुए जिसके कारण इस्लाम का प्रभुता का विचार भी अपदस्थ हुआ। अंग्रेज केवल राजनैतिक प्रभुता और आर्थिक शोषण के इच्छुक थे। उनका कोई राजधर्म न था। इतर, प्रारम्भ में वे मुसलमानों को अपना शत्रु समझते थे, जिसके दो कारण थे—एक, योरोप में इसाइयत तथा इस्लाम का स्पर्धापूर्ण सम्पर्क और संघर्ष तथा दूसरा यह विचार कि मुसलमान अंग्रेजों के स्वाभाविक दुश्मन थे क्योंकि अंग्रेजों ने मुसलमानों को अपदस्थ करके, उनसे भारत का राज छीना था। ऐसी दशा में लगभग पांच सौ वर्षों के बाद अंग्रेजी राज में, हिन्दुत्व को पुनः वह स्वतन्त्रता प्राप्त हुई जिसके फलस्वरूप हिन्दुत्व को अन्य धर्मों के समक्ष समानता का अनुभव हुआ।

अंग्रेजी राज्यकाल में, एक ओर हिन्दुत्व को स्वतन्त्रता मिली तो, दूसरी ओर उस पर, इसाइयत तथा अंग्रेजी शिक्षा के माध्यम से योरोपीय संघात के प्रहार भी होने लगे। एक ओर विलियम जोन्स और मैक्समूलर जैसे विद्वान थे जो हिन्दू साहित्य और दर्शन की गरिमा का गुणगान कर रहे थे तो दूसरी ओर, इसाई मिशनरी हिन्दुत्व की खिल्ली उड़ा रहे थे। अवतारवाद, पूजा पाठ मूर्ति पूजा कर्मकाण्ड, छुआछूत और जातिभेद उनके आक्रमण के मुख्य केन्द्र थे। योरोप की व्यक्तिवादी, प्रजातन्त्रीय तथा धर्मनिरपेक्ष व्यवस्था के समक्ष, संयुक्त परिवार तथा जाति जैसी समष्टिवादी संस्थायें आद्यता (Primitiveness) का प्रतीक कही जाती थीं। इसाई

मिशनरियों तथा राज्यसेवा में लगे अंग्रेज मानवशास्त्रियों[1] ने प्रत्यक्ष या अप्रत्यक्ष रूप से इस बात पर जोर देना प्रारम्भ किया कि भारत न तो एक संस्कृति है, न एक राष्ट्र और न एक समाज। आदिवासियों को एक अलग विजातीय सांस्कृतिक समूह माना गया, मुसलमानों को एक अलग सांस्कृतिक राष्ट्र-समूह और हिन्दुओं को एक ऐसा समूह जिसमें न तो सांस्कृतिक एकीकरण था, न सामाजिक। भारत के आदिवासी अलग अलग विशिष्ट सांस्कृतिक समूहों में बटे हुए हैं इस सैद्धान्तिक मान्यता के आधार पर, आदिवासियों के लिए पृथक्करण की नीति अपनाई गई। ईसाई मिशनरियों तथा अंग्रेज प्रशासकों ने अछूत जातियों को एक अलग सामाजिक इकाई माना। मुसलमानों को विशिष्ट राजनैतिक अधिकार प्रदान किए गए।

सांस्कृतिक राष्ट्रवादिता

अंग्रेजी राज के माध्यम से, योरोपीय सभ्यता तथा हिन्दुत्व में सम्पर्क की जो स्थिति आई वह इस प्रकार थी। एक ओर हिन्दुत्व की सांस्कृतिक पराधीनता से मुक्ति हुई थी और दूसरी ओर उस पर मजहबी (ईसाइयों के) सांस्कृतिक तथा राजनैतिक प्रहार हो रहे थे। जैसा कि कलकत्ता के हिन्दू-कालेज के प्रारम्भिक इतिहास से स्पष्ट है, अंग्रेजी शिक्षा के द्वारा जहां, एक ओर योरोपीय विचार फल रहे थे वहां, दूसरी ओर, नवशिक्षित लोगों की हिन्दुत्व पर से आस्था भी उठती जा रही थी। ईसाई मिशनरी खुले आम हिन्दू देवताओं, प्रथाओं विश्वासों और पूजा पद्धतियों की आलोचना किया करते थे। भारत राजनैतिक तथा आर्थिक एकता का रूप तो ले चुका था किन्तु उसकी सामाजिक विजातीयता की तह में छिपी सांस्कृतिक एकता अब भी प्रच्छन्न थी। ऐसी दशा में, भारत में संस्कृतिकरण की अनेक प्रक्रियायें फूट निकलीं। इनमें सबसे प्रधान है हिन्दुत्व के पुनरुन्नयन की प्रक्रिया। यह पहले ही कहा जा चुका है कि अंग्रेजी राज्य की स्थापना से हिन्दुओं को धार्मिक स्वतन्त्रता मिली और इतिहास की खोजों से उनमें राष्ट्रीय गर्व का अभ्युदय हुआ। सरकारी नौकरियों, व्यापार तथा राजनीति के क्षेत्र में हिन्दुओं को आगे बढ़ने का मौका मिला जिससे उनकी राष्ट्रीय चेतना को और भी प्रोत्साहन मिला। भारत के राजनैतिक एकीकरण से हिन्दुओं में राष्ट्रराज्य की भावना का अभ्युदय हुआ। किन्तु योरोपीय सभ्यता तथा ईसाइयत का प्रत्यक्ष प्रहार परम्परागत हिन्दू समाज धर्म और संस्कृति पर था। इस प्रकार की स्थिति में, जाति प्रथा में निहित ऊंच नीच की भावना, मूर्ति-पूजा, गरीबी, अशिक्षा और कर्मकाण्ड की रक्षा कठिन हो रही थी। ऐसी दशा में राष्ट्रवादिता समन्वय, सुधार और पुनरुन्नयन के रूप में प्रस्फुटित हुई।

सांस्कृतिक पुनरुन्नयन की एक प्रक्रिया सुधारवादी तथा समन्वयकारी रही

---

1 देखिए जे० एच० हटन द्वारा रचित कास्ट इन इण्डिया में परिशिष्ट बी, हिंदुइज्म इन इट्स रिलेशन टु प्रिमिटिव रिलीजन्स इन इंडिया।

है और दूसरी आक्रामक तथा प्राचीनतावादी। मिशनरी मजहबों में समष्टिवादिता और सामाजिक नैतिकता प्रधान रही है। इस्लाम के मिशनरी तथा मजहबी संघात के उत्तर में हिन्दुत्व में पंथ-संगठन की परम्पराओं का विकास हुआ और ईसाइयत के संघात से समाज संगठनों की प्रक्रिया का। समाज संगठनों की प्रक्रिया पर, एक ओर सुधारवादी तथा समन्वयकारी प्रक्रिया का प्रभाव रहा है और, दूसरी ओर, आक्रामक तथा प्राचीनतावादी सांस्कृतिक पुनरुन्नयन की प्रक्रिया का। ब्रह्मसमाज, प्रार्थना समाज और गांधीवाद सुधारवादी तथा समन्वयकारी सांस्कृतिक पुनरुन्नयन की प्रक्रिया की उत्पत्ति हैं और रामकृष्ण मिशन आर्यसमाज, हिन्दू महासभा, राष्ट्रीय स्वयं सेवक संघ तथा जनसंघ आक्रामक तथा प्राचीनतावादी सांस्कृतिक पुनरुन्नयन की प्रक्रिया के। लेकिन इन दोनों प्रक्रियाओं का प्रेरणास्रोत भारतीय सामाजिक विचार तथा संस्कृति ही रहे हैं। ब्रह्मसमाज तथा रामकृष्ण मिशन का प्रेरणास्रोत वेदान्त है, गांधीवाद का गीता जैनवाद तथा बुद्धवाद और आर्यसमाज का वेद। इन दोनों प्रक्रियाओं से जो आन्दोलन उत्पन्न हुए, उनमें उस सांस्कृतिक पुनरुन्नयन पर जोर दिया गया है जिसमें योरोपीय विज्ञानवाद, नैतिकता प्रजातन्त्र और सामाजिक संगठन के जीवन सौष्ठव के सिद्धान्तों के भारतीय संस्करणों का समावेश हो। सांस्कृतिक पुनरुन्नयन की इन प्रक्रियाओं का एक अन्य पहलू भी है। यह इन्हीं प्रक्रियाओं के प्रभाव का परिणाम है कि भारत के इतिहासकारों तथा समाजशास्त्रियों का ध्यान भारतीय संस्कृति की आधारभूत एकता को स्पष्ट करने की ओर गया। हिन्दुत्व तथा इस्लाम के सम्पर्क से बनी सामाजिक संस्कृति को इतिहासकारों ने पुनः खोज निकाला। भारत के मानवशास्त्रियों तथा समाजशास्त्रियों ने, हिन्दू समाज के बहुमुखी सांस्कृतिक आधारों को स्पष्ट करने के लिए भारतीय समाज को बहुमुखी समाज (Plural Society) की और सांस्कृतिक विजातीयता को, संस्कृति-संघान (Federation of Cultures) की धारणाओं में बांधा। अस्पृश्य जातियों तथा आदिवासियों का हिन्दू समाज तथा संस्कृति का अभिन्न अंग माना।

इन्हीं प्रक्रियाओं के फलस्वरूप, इतिहास में, एक ओर, हिन्दुत्व के सतत विकास की शृंखला कड़ियों को जोड़ने का प्रयास किया गया और, दूसरी ओर यह दिखाने का कि किस प्रकार, विभिन्न ऐतिहासिक युगों में भारतीय, विशेषतया हिन्दू संस्कृति का, भारत में तथा भारत के बाहर की अन्य संस्कृतियों तथा सभ्यताओं पर प्रभाव पड़ा है। इन्हीं प्रक्रियाओं के फलस्वरूप वेद, उपनिषद वेदान्त और गीता के माध्यम से हिन्दू आध्यात्मिक तथा सामाजिक विचार को इस ढंग से प्रस्तुत किया गया कि हिन्दुत्व इसाइयत तथा योरोप के संघातिक प्रहारों से लोहा ले सके। दूसरी ओर इसी प्रभाव के अन्तर्गत हिन्दू विश्वासों प्रथाओं और संस्थाओं को युक्तियुक्त आधार प्रदान करने का प्रयास किया गया। इसका प्रारम्भ रामकृष्ण परमहंस के द्वारा हुआ था। स्वामी विवेकानन्द, दयानन्द गांधी, अरविन्द और राधाकृष्णन ने

अलग अलग ढंग से इसी आन्दोलन में योगदान दिया है। जहाँ संस्कृति-सम्पर्क में विजय और पराजय का सम्पर्क होता है वहाँ पराजित में विजयी के प्रति प्रतिक्रिया, पराजित में पुनरुन्नयन तथा अन्ततोगत्वा उद्धार के लिए मसीहा के अवतार की कल्पना का अभ्युदय होता है। हिन्दू पुनरुन्नयन की प्रक्रिया में, एक ओर, पाश्चात्य के प्रति प्रतिक्रिया रही है और दूसरी ओर अवतारी पुरुष के द्वारा अन्ततोगत्वा उद्धार पाने की कल्पना। अंग्रेजी राज्य काल की परिस्थितियों में कल्कि अवतार के विचार का प्रसार हुआ। गांधी का वस्तुतः युगावतार माना गया जैसे शिवाजी को माना गया था।

भारत के राष्ट्रवादी सांस्कृतिक पुनरुन्नयन में दो विरोधी प्रक्रियाओं का अभ्युदय और समावेश हुआ। इस काल में एक ओर, भारत की सामाजिक संस्कृति और उनमें निहित राष्ट्रीय एकीकरण के पुनरुन्नयन का प्रयत्न किया गया है तो, दूसरी ओर, हिन्दू, मुस्लिम तथा आदिवासी संस्कृतियों को अलग अलग एकीकृत तथा संगठित होने का अवसर भी मिला है। प्रादेशिक भाषाओं के विकास के कारण, भाषावार क्षेत्रों की संस्कृतियों का भी एकीकरण हुआ और प्रत्येक भाषावार प्रान्त एक अन्य विशिष्ट सांस्कृतिक क्षेत्र बन गया। अंग्रेजी भाषा तथा शिक्षा ने भारत को एकता प्रदान की तो प्रान्तीय भाषाओं ने विभिन्नता तथा क्षेत्रीय पृथक्करण की भावना को प्रोत्साहित किया। अंग्रेजी राज्य की स्थापना से इस्लाम को उसी प्रकार पुनरुन्नयन की प्रेरणा मिली, जिस प्रकार हिन्दुत्व को। इसका परिणाम यह हुआ कि यदि, एक ओर, राजनैतिक तथा सांस्कृतिक एकीकरण की प्रक्रिया उत्पन्न हुई तो दूसरी ओर, पृथक्करण की प्रक्रिया भी अस्तित्व में आई। इस्लाम का द्विराष्ट्रीय सिद्धान्त और पाकिस्तान का निर्माण, बिहार के आदिवासियों द्वारा झारखण्ड प्रान्त, नागाओं द्वारा नागालैण्ड और बस्तर के आदिवासियों द्वारा एक अलग राज्य की माँग तथा तामिलनाद का डी० एम० के० आन्दोलन इस तथ्य की पुष्टि करते हैं।

भारत की राष्ट्रवादिता में सन्निहित इन दो प्रक्रियाओं के अंकुर भारत की सामाजिक ऐतिहासिक परिस्थितियों में ही पनपे हैं। भारतीय समाज में दो प्रकार की परम्परायें पाई जाती हैं—एक, महान परम्परा (Great Tradition) और दूसरी लघु परम्परा (Little Tradition)। महान परम्परायें अखिल भारतीय परम्परायें हैं। उनमें सार्वभौमिकता (Universalization) की प्रक्रियात्मक प्रवृत्ति पाई जाती है। सार्वभौमिकता का सम्बन्ध अखिल भारतीय प्रसरण की प्रवृत्ति से है। लघु परम्परा प्रादेशिक तथा स्थानीय स्तरों पर पाई जाती है और उसका सम्बन्ध उस प्रक्रिया से है जिसे मेरियट (Marriot) ने पादरीकरण (Parochialization) की परम्परा कहा है। महान परम्परा का उद्गम हिन्दू-परम्पराओं के वैचारिक निरूपण की परम्परा में रहा है। धर्म, पुरुषार्थ, वर्णाश्रम, संस्कार, बड़े बड़े हिन्दू देवी-देवताओं की पूजा महान् परम्पराओं के कुछ रूप हैं। इनका प्रसरण, एक ओर, भारत

की साहित्य परम्पराओ के माध्यम से होता रहा है और, दूसरी ओर, भारत के पवित्र तीर्थों से। लघु परम्परायें महान के स्तर पर जाती रही हैं और महान लघु के स्तर पर। इस्लाम और इसाइयत तथा योरोपीय सभ्यता के सघात से लघु और महान परम्पराओं का सामञ्जस्य और आदान प्रदान असंतुलित हो गया। अंग्रेजी राज्य काल में, हिन्दुत्व और इस्लाम का तथा हिन्दुत्व और आदिवासी संस्कृतियों का सम्पर्क बढ़ा लेकिन साथ ही साथ, स्थानीय बोलियों और प्रादेशिक भाषाओं के विकास के कारण प्रादेशीकरण की प्रक्रिया को भी प्रोत्साहन मिला। इसाइयत तथा अंग्रेजी काल की राजनैतिक परिस्थितियों के प्रभाव से भारत के आदिवासियों में उसी प्रकार से आदिवासीकरण की प्रतिक्रियात्मक प्रवृत्ति का जन्म हुआ जिस प्रकार हिन्दुत्व में हिन्दूकरण का और इस्लाम में इस्लामीकरण का। भारत में अंग्रेजी राज की स्थापना के बाद से, एक ओर, राष्ट्रीयकरण की राजनैतिक, आर्थिक तथा सामाजिक सांस्कृतिक शक्तियों का प्रभाव बढ़ा और दूसरी ओर भाषा, संस्कृति तथा मजहब के आधार पर प्रादेशीकरण की शक्तियों का। एक ओर, राष्ट्रवादिता में समन्वयकारी दृष्टिकोण का समावेश हुआ तो, दूसरी ओर, प्रादेशिक तथा साम्प्रदायिक दृष्टिकोणों का। भारतीय राष्ट्रवादिता, एक ओर प्रादेशिक तथा साम्प्रदायिक सांस्कृतिक पुनरुत्थान और सुधार में सम्मिलित रही है तो, दूसरी ओर धर्म निरपेक्ष राष्ट्रवादी राजनैतिक आन्दोलन में—वह आन्दोलन जिसका उद्देश्य रहा है भारत का राजनैतिक तथा भावात्मक एकीकरण।

जैसाकि राजा राम मोहनराय, स्वामी विवेकानन्द स्वामी दयानन्द सरस्वती और गोपालकृष्ण गोखले के कार्यों तथा उनके द्वारा चलाए हुए आन्दोलनों से स्पष्ट है भारतीय राष्ट्रवादिता का उद्गम हिन्दुत्व के पुनरुत्थान तथा सुधार आन्दोलन में हुआ था। इसाइयत के विरुद्ध हिन्दुत्व की प्रतिक्रिया से ही भारतीय राष्ट्रीवादिता की प्रथम किरण फूटी थी। ब्रह्मसमाजियों ने हिन्दू समाज, संस्कृति तथा धर्म में उन सुधारों की मांग की जिससे हिन्दुत्व इसाइयत के सघात को आत्मसात करके अपने अस्तित्व को बनाये रख सके और हिन्दू समाज एकीकृत हो सके। ब्रह्मसमाज तथा प्रार्थनासमाज सुधारवादी हिन्दू पुनरुत्थान के राष्ट्रवादी आन्दोलन थे। स्वामी विवेकानन्द ने वेदान्त का सार्वभौमिक धर्म और स्वामी दयानन्द ने वैदिक धर्म को ही सर्वश्रेष्ठ आर्य धर्म प्रतिपादित करके पुनरुत्थानवादी हिन्दू राष्ट्रवादिता को प्रोत्साहित किया। सन अठारह सौ अठारह से लेकर अठारह सौ पचासी तक भारतीय राष्ट्रवादिता हिन्दू सांस्कृतिक पुनरुत्थान तथा सुधार का आन्दोलन मात्र रही है। सन अठारह सौ पचहत्तर के आस पास जब कलकत्ता की इण्डियन एसोसियेसन तथा पूना की सार्वजनिक सभा जैसी संस्थाओं का संगठन हुआ तो हिन्दू-पुनरुत्थान का प्रवाह भारत की सुषुप्त राजनैतिक राष्ट्रवादिता में प्रतिबिम्बित होने लगा[1]।

1 पनिकर, के० एम० ए सर्वे आफ इण्डियन हिस्ट्री पृष्ठ 217

राष्ट्रवादिता के अन्य स्रोत

हिंदू-पुनर्नयन के अतिरिक्त, भारतीय राष्ट्रवादिता के अन्य प्रेरणास्रोत भी हैं। इनमें सबसे प्रमुख है अंग्रेजी शिक्षा। अंग्रेजी भाषा के द्वारा अखिल भारतीय संदेशवहन तथा विचार विमर्श का एक प्रभावपूर्ण साधन अस्तित्व में आया। अंग्रेजी शिक्षा से योरोप के राष्ट्रवादी तथा उदार प्रजातंत्रवादी विचारों का भारत के शिक्षित वर्ग में प्रसार हुआ। अंग्रेजी शिक्षा तथा अंग्रेजी भाषा के प्रभाव के फलस्वरूप भारतीय समाज में समान भाषा तथा विचारों वाले एक वर्ग का अभ्युदय हुआ। योरोपीय सभ्यता के संघात में भारत का जो आर्थिक रूपान्तरण हुआ उसमें वह मध्य वर्गीय व्यापारी वर्ग अस्तित्व में आया जो आधुनिक भारत के पूंजीपति वर्ग का अग्रज था और जिसने भारत के आर्थिक स्वातंत्र्य, औद्योगीकरण तथा आर्थिक पुनर्नयन के आंदोलन को जन्म दिया। शिक्षा के माध्यम से जिस वर्ग का अभ्युदय हुआ वह भी एक मध्य वर्ग ही था जिसकी उत्पत्ति ब्राह्मण, कायस्थ और खत्री इत्यादि उन जातियों में से हुई थी जो, परम्परानुसार, भारत के नौकरशाही वर्ग में आती थीं। प्राचीन तथा मध्यकालीन भारत में यह वर्ग सामन्त-सनानी वर्ग के अधीन रहता था। अंग्रेजी राज की स्थापना से, सत्ता के उच्चपद अंग्रेजों के हाथ में चले गए जिससे सामंत-सनानी वर्ग की सामाजिक राजनैतिक प्रभुता का ह्रास हुआ। अंग्रेजी राज में भी नौकरशाही के सदस्य उन्हीं जातियों से लिए गए जो परम्परानुसार राज्य-नौकरशाही के पेशों में लगी हुई थीं। ऐसी दशा में, अंग्रेजों के अधीन भारतीय समाज की राजनैतिक सत्ता वस्तुतः उन जातियों के हाथ में चली गई जिनके सदस्यों में से नौकरशाही के अफसरों का चुनाव होता था। अंग्रेजी भाषा और अंग्रेजी शिक्षा की ओर भी इन्हीं जातियों के सदस्य सबसे अधिक झुके क्योंकि बुद्धिजीवी जातियों के सदस्यों के लिए सरकारी नौकरी ही एकमात्र अवसर रह गया था। अंग्रेजी राज की स्थापना के साथ-साथ, भारत में वकालत, डाक्टरी, शिक्षण और पत्रकारिता जैसे बुद्धिजीवी पेशे भी अस्तित्व में आये जिनकी ओर अंग्रेजी शिक्षा प्राप्त बुद्धिजीवी वर्ग के लोग अग्रसर हुये। ज्यों ज्यों अंग्रेजी शिक्षा का प्रसार हुआ, प्रशासकों, वकीलों, डाक्टरों, शिक्षकों और पत्रकारों से बना बुद्धिजीवी मध्य वर्ग भी बढ़ता गया।

अंग्रेजी शिक्षा तथा अंग्रेजी राज के द्वारा पड़ने वाले योरोपीय संघात से प्रादुर्भूत सामाजिक-आर्थिक रूपान्तरण की प्रक्रिया से उत्पन्न यह मध्य वर्ग उस नई रोशनी, नयी चेतना तथा नवजागृति का प्रतीक था जो योरोपीय संघात से भारत में उत्पन्न हुई थी। अन्य वर्गों की अपेक्षा अधिक शिक्षित और अधिक जाग्रत, इस वर्ग के लोगों को देश की तत्कालीन आवश्यकताओं की अधिक अनुभूति थी। इस वर्ग के लोगों में देश की एकता के प्रति अधिक चेतना थी। ये एक ओर, योरोपीय आधुनिकता विज्ञानवाद तथा उदारवादी सामाजिक दृष्टिकोण से प्रभावित थे तो, दूसरी ओर, देश की राजनैतिक पराधीनता की कठिनाइयों और सर्वांगीण सामाजिक सुधार

की आवश्यकताओं के प्रति सजग थे। यही वह वर्ग है जिसके लोग आधुनिकता के अग्रज थे और जिन्होंने राजनैतिक राष्ट्रवादिता तथा सुधार आन्दोलन को जन्म दिया। राजा राममोहन राय केशव चन्द्रसेन, विवेकानन्द, दयानन्द ईश्वरचन्द्र विद्यासागर, गोपालकृष्ण गोखले, बाल गंगाधर तिलक, लाला लाजपत राय, मदन मोहन मालवीय, मोहनदास कर्मचन्द गांधी और जवाहरलाल नेहरू इसी मध्य वर्ग से उत्पन्न हुए हैं। इस युग के लगभग सभी लेखक, पत्रकार, सुधारक और राजनैतिक राष्ट्रीय आन्दोलन के कार्यकर्ता इसी मध्य वर्ग से आये हैं। यह मध्यवर्ग ज्यों ज्यों स्वतन्त्रता का हामी होता गया त्यों त्यों अंग्रेजी सरकार ने निरन्तर विशृंखलित होते हुए सामन्त वर्ग को आगे बढ़ाने का प्रयास किया। यही प्रयास आगे चल कर, भारत में अंग्रेजी राज के पतन का एक मुख्य कारण बना। प्राचीन अभिजात तथा सामन्तवर्ग के लोग अंग्रेजी साम्राज्यवादिता तथा प्राचीनता के हामी हुए और नव विकसित मध्य वर्ग के लोग राष्ट्रवादिता तथा स्वतन्त्रता के हामी। नव विकसित मध्य वर्ग में भी दो प्रकार के लोग थे—एक श्रेणी में वे लोग थे जो उदारवाद तथा धर्मनिरपेक्षिता से प्रेरित थे और दूसरी श्रेणी में वे लोग जिनका प्रेरणास्रोत हिन्दू पुनरुत्थान में था। इस्लाम भी, इसीप्रकार, प्राचीन सामन्त वर्ग और, नव विकसित मध्यवर्ग में विभाजित था। सरकारी नौकरियों के लिए चलने वाली होड़ के कारण मुस्लिम समाज का एक वर्ग जिसमें प्राचीन सामन्त तथा नव मध्य वर्ग के लोग थे, साम्प्रदायिकता की ओर उन्मुख हुआ और दूसरा वर्ग धर्मनिरपेक्ष राष्ट्रवादिता तथा साम्राज्य विरोध की ओर। इन परिस्थितियों में, भारत के पुनरुन्नयन में, हिन्दू राष्ट्रवादिता तथा मुस्लिम राष्ट्रवादिता का समावेश हुआ।

आधुनिक भारत की राष्ट्रवादिता का अभ्युदय, इसप्रकार, एक साथ कई प्रेरणास्रोतों से हुआ। राष्ट्रवादिता का एक प्रेरणास्रोत था हिन्दू पुनरुन्नयन तथा हिन्दू राष्ट्रवादिता का विचार जिसका प्रभाव सन अठारह सौ पचहत्तर के आस पास भारत की राजनैतिक गतिविधियों पर पड़ने लगा था। दूसरा प्रेरणास्रोत था योरोप का उदारवादी तथा राष्ट्रवादी-पूंजीवादी दृष्टिकोण जिसकी अभिव्यक्ति सन अठारह सौ पचासी में इंडियन नेशनल कांग्रेस की स्थापना के द्वारा हुई। इस्लाम के पुनरुन्नयन और इस्लामी राष्ट्रवादिता के अग्रदूत सर सय्यद अहमद खां थे। पहली पीढ़ी के कांग्रेसी अंग्रेजी सरकार के प्रशंसक और उत्तरोत्तर संवैधानिक सुधारों के पक्षपाती थे। पहली पीढ़ी के कांग्रेसी उदारवादी विचारों के पक्षपाती थे और वे इस तथ्य के प्रति सजग न थे कि वे हिन्दू विचार के प्रतिनिधि थे। किन्तु, कांग्रेस के तीसरे अधिवेशन के बाद से, जब से मदनमोहन मालवीय का प्रभाव बढ़ा और बंगाल तथा महाराष्ट्र में हिन्दू पुनरुत्थान का आंदोलन बढ़ा, कांग्रेस द्वारा प्रेरित राष्ट्रवादी आंदोलन हिन्दू राष्ट्रवादिता और हिन्दू पुनरुन्नयन से प्रेरित होने लगा और बराबर उससे प्रेरित होता रहा। महाराष्ट्र का हिन्दू पुनरुन्नयनवादी तथा

राष्ट्रवादी आंदोलन एक ओर, शिवाजी के आन्दोलन से प्रेरित था और दूसरी ओर, सुधारवाद से। पहले प्रकार के प्रणेता थे लोकमान्य बालगंगाधर तिलक और दूसरे के गोपालकृष्ण गोखले तथा महादेव गोविन्द रानाडे। तिलक ने एक ओर जन्मसिद्ध स्वराज्य अधिकार की धारणा रखी और दूसरी ओर गीता रहस्य नामक गीता पर भाष्य लिख कर उस कर्मयोगी की धारणा भारतीयों विशेषतया हिन्दुओं के सम्मुख रखी जिसका कर्तव्य था निस्पृह कर्म करना। तिलक के लिए निस्पृह कर्म का अर्थ था स्वतन्त्रता के लिए निरन्तर निस्पृह युद्ध। राष्ट्रवादी स्वातन्त्र्य आन्दोलन को व्यापक जनान्दोलन बनाने के लिए तिलक ने एक ओर, शिवाजी के आन्दोलन का आदर्श सामने रखा और दूसरी ओर गणेश पूजा का प्रचार किया। जब महाराष्ट्र में गणेश पूजा का प्रचार बढ़ रहा था तब बंगाल में दुर्गा (शक्ति)-पूजा का राष्ट्रवादी प्रचार बढ़ रहा था। महाराष्ट्र में शिवाजी राष्ट्रीय उद्बोधन के प्रेरक बने और बंगाल में असुर संहारिणी दुर्गा राष्ट्रीय उद्बोधन की प्रेरक। राष्ट्रीय उद्बोधन का बंकिम चन्द्र चटर्जी का प्रसिद्ध गीत वन्दे मातरम् इसी आन्दोलन से प्रेरित है। लाल (लाला लाजपत राय) बाल (बाल गंगाधर तिलक) और पाल (विनोद चन्द्र पाल) के प्रभाव में कांग्रेस का राष्ट्रवादी आंदोलन, अप्रत्यक्ष रूप से हिन्दू पुनरुन्नयन तथा हिन्दू राष्ट्रवादिता से प्रेरित था[1]।

बीसवीं शताब्दी की अनेक राष्ट्रीय तथा अन्तर्राष्ट्रीय घटनाओं ने भारतीय राष्ट्रवादिता के विचार तथा आंदोलन को सबल बनाया। बीसवीं शताब्दी के प्रारम्भ में, एक ओर पुनरुन्नयनवादिता का जोर था और, दूसरी ओर उग्र हिंसावादी क्रांतिकारी आन्दोलन का। उस समय कांग्रेस का राष्ट्रवादी आंदोलन छिन्न भिन्न और निष्प्राण था। सन उन्नीस सौ में लार्ड कर्जन ने इंग्लैंड को भेजी गई अपनी रिपोर्ट में यह लिखा था कि उनकी सबसे बड़ी महत्वाकांक्षा कांग्रेस और उसके आंदोलन का शांतिपूर्ण दाह संस्कार करने की थी। किन्तु जब लार्ड कर्जन ने बंगाल के दो हिस्से

---

1 के० एम० पानिकर के मत में, कांग्रेस के तत्वाधान में चलने वाले, राष्ट्रीय आन्दोलन का दूसरा दौर निश्चय ही हिन्दू राष्ट्रवादिता तथा पुनरुन्नयन से प्रेरित था। तिलक कट्टर परम्परावादी थे और उन्होंने राजनैतिक आन्दोलन को गीता के दर्शन की पृष्ठभूमि प्रदान की थी। लाला लाजपत राय, एक ओर, कट्टर आर्यसमाजी थे और दूसरी ओर, राष्ट्रवादी कांग्रेसी नेता। लाजपतराय, तिलक और मोतीलाल घोष को अपनी रूढ़िवादिता पर गर्व था। नयी पीढ़ी के उग्र विचार वाले लोगों ने, जिनमें अरविन्द का स्थान मुख्य है राष्ट्रवादिता को धार्मिक तथा रहस्यवादी रंग में रंग दिया और इस विकास का परिणाम यह हुआ कि, बीसवीं शताब्दी के प्रारम्भ में, भारतीय राष्ट्रवादिता विशिष्ट रूप से हिन्दूवादी हो गई—पान्निकर वही पृष्ठ 218

कर दिये तो राष्टवादिता की आग प्रज्वलित हो उठी। बगाल के विभिन्न वर्गों तथा धर्मों के लाग राष्टवादी विचारो से प्रेरित हो उठ और उसके फलस्वरूप विदेशी वस्तुओ के बहिष्कार, स्वदेशी तथा स्वराज्य आदोलन का जन्म हुग्रा। सन उन्नीस सौ पाच म, जब जापान ने रूस को तुशीमा (Tushima) के युद्ध म पराजित किया तो भारतीय राष्टवादिता के आदोलन को एक नई पेरणा मिली। जापान की विजय से यह विचार जार पकडने लगा कि कोई भी एशियाई देश अपनी प्राचीन सस्कृति को अक्षुण्य बनाये रख कर भी, राजनैतिक तथा सामरिक दष्टि से किसी भी योरोपीय राष्ट से अधिक सशक्त हा सकता है बशर्ते कि वह योरोपीय तौर तरीका को अपनाये। इससे यह भी निष्कष निकाला गया कि स्वतन्त्रता के लिए भारत को योरोपीय राजनैतिक, व्यापारिक तथा शिक्षण पद्धतियो को अपनाने की आवश्यकता है न कि अपनी प्राचीन सस्कृति ग्रौर सामाजिक तथा धार्मिक आदर्शों को छोडने की।

बीसवी शताब्दी के द्वितीय दशक के मध्य में जब प्रथम महायुद्ध छिडा तो भारत के सिपाहियो का अन्य देशो से सम्पक बढा और भारत की ओर अन्य देशो का ध्यान आकृष्ट हुआ, क्योकि इस युद्ध में सबसे बडा योगदान भारतीयो का था। इस युद्ध के पश्चात, कांग्रेस का नेतत्व महात्मा गाधी के हाथ मे ग्राया। महात्मागाधी ने नमक सत्याग्रह, दाडी यात्रा चम्पारन के किसान तथा अहमदाबाद क मजदूर आदोलनो, विदेशी वस्तुओ के बहिष्कार तथा खादी चरखा और ग्रामोद्योग के विकास के आदोलना के द्वारा राष्टीय ग्रादोलन को, एक मध्यवर्गी ग्रादोलन के स्थान पर एक जन ग्रादोलन बना दिया।

महात्मा गाधी के नेतत्व-काल मे भारतीय राष्ट्रवादिता मे जनवादी तथा समन्वयकारी प्रवाह चले तो साथ ही साथ हिन्दू तथा मुस्लिम राष्टवादी विचारों का समानान्तर विकास भी हुआ। प्रथम तथा द्वितीय महायुद्धो के बीच मे भारतीय राष्ट्रवादिता का चरम विकास हुआ और अन्तर्राष्ट्रीय जनमत उसके पक्ष मे आया। इसकाल म भारत ने, एक ओर राष्ट्रवादिता के नारे को बुलन्द किया तो, दूसरी ओर, साम्राज्यवाद और उपनिवेशवाद के विरुद्ध आवाज उठाकर, अन्तर्राष्ट्रीय भाईचारे के विचार को प्रोत्साहित किया। इसकाल मे, वसुधैव कुटुम्बकम 'आत्मवत सवभूतेषु, 'अविभक्त विभक्तेषु पडिता समदर्शिना, अनेकान्तवाद तथा 'स्याद्वाद जसी भारतीय धारणाओ ने भारत के राष्ट्रवादी विचारो का इतना प्रभावित किया कि भारतीय राष्टवादिता म ग्रन्तर्राष्ट्रीयता का वह पुट आया जो आज भी विद्यमान है। उग्र मुस्लिम राष्ट्रवादिता से निरन्तर समझौता करने की एतिहासिक प्रक्रिया इसी ऐतिहासिक पष्ठभूमि की उत्पत्ति है। इस्लाम का जन्म और प्रसार ही उग्र राष्ट्रेतर (Supernational) मजहबी राष्ट्रवादिता मे हुआ था। इस्लाम के ग्रन्तर्राष्ट्रीय सगठन मे खिलाफत का महत्वपूण स्थान, इसका एक ऐतिहासिक प्रमाण रहा है। खिलाफत के ही प्रश्न को लेकर, कुछ काल के लिए, हिदुओ तथा मुसल-

मानों का राष्ट्रीय आन्दोलन में सहयोग भी हुआ। लेकिन यह सहयोग स्थायी न रह सका। हिन्दुत्व और इस्लाम ने राष्ट्रवादिता को अलग अलग प्रेरित किया जिसका परिणाम हुआ भारत का हिन्दुस्तान तथा पाकिस्तान नामक दो राष्ट्रों में विभाजन।

भारतीय राष्ट्रवादिता के कुछ सांस्कृतिक ऐतिहासिक सन्दर्भ रहे हैं जिन पर यहां विचार करना आवश्यक है क्योंकि बिना उनके विश्लेषण के भारतीय राष्ट्रवादिता के सामाजिक स्वरूप को नहीं समझा जा सकता है। अंग्रेजी राज में भारत के राजनैतिक एकीकरण तथा औद्योगिक पूंजीवादी सामाजिक रूपान्तरण से जो एकीकरण तथा मध्यवर्गीय आन्दोलन उत्पन्न हुआ था उससे राष्ट्रवादिता के उन्नयन को प्रेरणा मिली। लेकिन यह सामाजिक ऐतिहासिक प्रक्रिया वस्तुतः उस प्रक्रिया से उत्पन्न हुई थी जो अंग्रेजी राज के पहले ही भारत में उत्पन्न हो चुकी थी। हिन्दुत्व की उत्पत्ति ही इस राष्ट्रवादी ऐतिहासिक प्रक्रिया में हुई थी जिसका अन्ततोगत्वा उद्देश्य था भारत का एक राजनैतिक संगठन एक संस्कृति और एक समाज। यह पहले ही कहा जा चुका है कि, अपने सांस्कृतिक ऐतिहासिक सन्दर्भ में हिन्दुत्व वस्तुतः वह सामाजिक सांस्कृतिक आन्दोलन रहा है जिसका उद्देश्य रहा है भारत के विजातीय समाज को सामाजिक सांस्कृतिक एकता प्रदान करना। अशोक द्वारा बुद्धवाद को राजधर्म के रूप में अपनाए जाने पर जो हिन्दू-बौद्ध संघर्ष उठ खड़ा हुआ वह वस्तुतः दो विभिन्न राष्ट्रवादी तरीकों का संघर्ष था। बौद्धों ने, पराजित होने पर, इस्लाम का स्वागत किया जिसके फलस्वरूप हिन्दुत्व, एक ओर प्रबल बौद्ध-विरोधी हुआ और, दूसरी ओर, इस्लाम विरोधी। इस्लाम के कट्टर अरबीपन में हिन्दुत्व में कट्टर राष्ट्रवादिता आई जिसकी परिणति, शिवाजी के तथा गुरु गोविन्दसिंह के आन्दोलनों में हुई।

अंग्रेजी राज की स्थापना से हिन्दू-राष्ट्रवादिता को पनपने का अवसर मिला और वह पनपी भी। अंग्रेजी राज की स्थापना के बाद, राष्ट्रवादिता की पहली लहर हिन्दुओं में ही आई और हिन्दू ही राष्ट्रवादिता के अग्रदूत हुए। खिलाफत आन्दोलन के कुछ वर्षों को छोड़ कर काग्रेस के तत्वावधान में चलने वाले राष्ट्रीय आन्दोलन की संजीवनी शक्ति मुख्यतः हिन्दू जनता तथा हिन्दू पुनरुत्थान के आन्दोलन में रही है और भारतीय राष्ट्रवादिता को हिन्दू-संस्कृति से प्रेरणा मिलती रही है। शिवाजी और गुरु गोविन्द सिंह दोनों ने शक्ति (दुर्गा) से प्रेरणा ली थी। भारत के इतिहास में जब-जब राष्ट्रीय संकट का काल आया है, तब-तब रणचण्डी, भवानी और दुर्गा से प्रेरणा ली गई है। चीन के आक्रमण से जो राष्ट्रीय संकट की स्थिति आई है, वह भी इसका अपवाद नहीं है। अरविन्द ने इसी शक्ति परम्परा को क्रान्तिकारी राष्ट्रवादी आन्दोलन में समावेश किया। क्रान्तिकारी दल के लोग देवी भगवती की प्रतिमा के सामने देश को आजाद करने का व्रत लिया करते थे[1]। क्रान्तिकारी आन्दोलन का प्रचार बंगाल, महाराष्ट्र

1 पणिक्कर वही पृष्ठ 218

और पंजाब में ही अधिक हुआ क्योंकि वहां हिन्दू राष्ट्रवादी आन्दोलन पहले ही से विद्यमान था। तिलक और गांधी दोनों ने गीता की कर्मयोगी की धारणा से प्रेरणा ली है। गांधी की स्वराज्य की कल्पना रामराज्य से प्रेरित थी और मुस्लिम राष्ट्रवादिता के प्रति उनका दृष्टिकोण अनेकान्तवादी भावना से प्रेरित था। महात्मा गांधी के राष्ट्रवाद का एक प्रेरणास्रोत हिन्दू आध्यात्मिकता थी और दूसरा, वर्णाश्रम व्यवस्था जो गांधी के आदर्श समाज का आधार है। यदि तिलक ने गणेशपूजा को अपने राजनैतिक आन्दोलन का आधार बनाया तो महात्मा गांधी ने कीर्तन, भजन और प्रार्थनासभा को अपने राष्ट्रवादी विचारों को व्यक्त करने का माध्यम बनाया।

अंग्रेजी राज्यकाल में प्रादेशिक भाषाओं का विकास हुआ और प्रादेशिक भाषाओं में प्रकाशित साहित्य तथा समाचार पत्रों से राष्ट्रवादी विचारों का काफी प्रचार हुआ। प्रादेशिक भाषाओं के साहित्य पर भी भारतीय राष्ट्रवादिता के विभिन्न प्रवाहों का प्रभाव पड़ा। इसकाल में ऐसे कवि और लेखक उत्पन्न हुए जिन्होंने राष्ट्रवादी विचारों को व्यक्त करने के लिए हिन्दू जीवन तथा हिन्दू काल की ऐतिहासिक घटनाओं से प्रेरणा ली। बंगाल में द्विजेन्द्रलाल राय और हिन्दी में जयशंकर प्रसाद जैसे नाटककारों ने मुख्यतः हिन्दूकाल के राष्ट्रीय संकट की उन्हीं विपन्न परिस्थितियों को अपने कथानक का विषय चुना जिनमें, भारतीयों ने अपनी राष्ट्रीय एकता को प्रोत्साहित करके, किसी बाह्य शत्रु का सामना किया है। जयशंकर प्रसाद के चन्द्रगुप्त और स्कन्दगुप्त नामक नाटकों में ऐसी ही संकटकालीन परिस्थितियों का चित्रण किया गया है। चन्द्रगुप्त का काल यूनानियों के साथ संघर्ष का काल है और स्कन्दगुप्त का काल हूणों से संघर्ष का। यह सतत विकसित हिन्दू राष्ट्रवादिता का ही प्रभाव कहा जा सकता है कि जयशंकर प्रसाद तथा द्विजेन्द्रलाल राय ने अलग अलग चन्द्रगुप्त मौर्य पर नाटक लिखे और उनके द्वारा राष्ट्रवादिता के विचार के प्रवाह को आगे बढ़ाया। द्विजेन्द्रलाल राय में एक और विकास मिलता है। एक ओर उन्होंने चन्द्रगुप्त पर नाटक लिखा तो, दूसरी ओर, मेवाड़ पतन पर। सम्राट चन्द्रगुप्त जो चन्द्रगुप्त नाटक का नायक है सम्पूर्ण देश को एक साम्राज्य में बांधने का इच्छुक और यूनानियों की पराजय का प्रतीक है। चन्द्रगुप्त प्रेरणा है उस राष्ट्रवादिता की जो यूनानियों की भांति अंग्रेजों को हरा कर, भारत को एकसूत्र में बांधने की प्रेरणा देती है। किन्तु मेवाड़ पतन का नायक राणा अमरसिंह मुगलों से युद्ध करने में रत है और मुगल मेवाड़ को तहस नहस करने के लिए तत्पर हैं। मेवाड़ पतन हिन्दू मुस्लिम संघर्ष का प्रतीक है। इसकाल में अकबर को हिन्दू मुस्लिम एकता का राष्ट्रीय आदर्श माना गया तो अकबर के विरोधी महाराणा प्रताप को देश के लिए मर मिटने वालों का आदर्श माना गया। एक ओर, हिन्दू मुस्लिम एकता का प्रयास किया गया और, दूसरी ओर मुगल साम्राज्य के विरुद्ध लड़ने वाले शिवाजी को राष्ट्रनायक के रूप में प्रस्तुत किया गया। जय सोमनाथ में कन्हैयालाल

माणिकलाल मुशी ने एक ओर यह चित्रित किया कि हिन्दुओ म एकता की कमी के कारण महमूद के आक्रमणो के समक्ष उनकी हार होती रही और, दूसरी ओर, उन्होने मुस्लिम आक्रमणकारियो की नशसता तथा हिन्दू शौय को चित्रित किया। उर्दू साहित्य भी हिन्दू राष्ट्रवादी तथा मुस्लिम राष्टवादी अभिव्यक्तिया स भर गया। हिन्दू राष्ट्र-वादिता ने टगौर को जन्म दिया और मुस्लिम राष्टवादिता ने इकबाल को। इकबाल का, एक ओर यह लिखना कि मजहब नही सिखाता आपस म वैर रखना, हिन्दी है हम वतन है हिन्दोस्ता हमारा और, दूसरी ओर भारतीयतावादी मुसलमानो को यह कह कर लताडना कि बुते हिन्दी कि मुहब्बत म बिरहमन भी हुए तुम उस सघर्षात्मक राष्टवादी विभद का परिचायक है जो भारतीय समाज म समा चुका था।

प्रादशिक भाषाओ म लिखा जाने वाला साहित्य, एक ओर, भारतीय राष्टवादिता का प्रतिबिम्ब और प्रेरक बना तथा दूसरी ओर हिन्दू राष्टवादिता तथा मुस्लिम राष्टवादिता का प्ररक। इसीके फलस्वरूप एक ओर सरकार द्वारा स्थापित धर्मनिरपेक्ष स्कूल तथा कालेजो का सगठन हुआ और, दूसरी ओर, आर्यसमाजी सनातनधर्मी तथा इस्लामिया स्कूलो और कालेजो के सगठन को प्रोत्साहन मिला। साम्प्रदायिक शिक्षा-सस्थाओ ने साम्प्रदायिक राष्ट्रवादिता को ही बढावा दिया। साम्प्रदायिक राष्टवादिता ने एक ओर, हिन्दू कट्टरता तथा पुनरुन्नयन को जन्म दिया तथा दूसरी ओर, इस्लामी कटटरता तथा पुनरुन्नयन को। राजनैतिक राष्टवादी आन्दोलन म एक ओर इण्डियन नेशनल काग्रेस का अशत उदारवादी और अशत हिन्दूवादी आन्दोलन उत्पन्न हुआ तो, दूसरी ओर हिन्दू महासभा राष्ट्रीय स्वयसेवक सघ जनसघ तथा मुस्लिम लीग जसी राष्टवादी ाम्प्रदायिक सस्थायें अस्तित्व मे आई। अग्रेजो राज्यकाल मे ये सस्थायें कभी भी वल राजनतिक सस्थायें नही रही हैं। राजनतिक तथा सास्कृतिक साम्प्रदायिक ष्टवादिता ने उन्हे एक साथ प्ररणा दी है। इसीकारण भारतीय राष्ट्रवादिता तिवादी रही है और, साम्प्रदायिक प्रतिक्रियावादी भी।

अठारहवा अध्याय

विवाह, परिवार और जाति

योरोपीय सभ्यता आर अग्रेजी राज के सघात स जो परिस्थितिया उत्पन्न हुइ उनका परिवतनकारी प्रभाव विवाह, परिवार और जाति पर पडा और उसके फलस्वरूप उनम परिवतन आए। आर्थिक रूपान्तरण ने उन नई परिस्थितियो को जन्म दिया, जिनम पहले विवाह परिवार और जाति के परम्परागत आर्थिक आधार बदले और फिर उन आधारा के बदलने से, विवाह परिवार और जाति म परिवतन आए। शहरीकरण और औद्योगीकरण न नए व्यक्तिवादी सामाजिक आदर्शों को जन्म दिया। अग्र जी शिक्षा तथा इसाइया के प्रचार के द्वारा, नई योरोपीय मान्यताओ का प्रचार हुआ जिनके प्रभाव म विवाह, परिवार और जाति से सम्बन्धित आधारभूत मान्यताओ और आदर्शों की समालोचना और पुनपरीक्षण किया गया। रूमानी प्रम विवाह म वयक्तिक स्वच्छन्दता यौन-सन्तुष्टि के प्रति प्रकृतिवादी दष्टिकोण, नारी अधिकार, पारिवारिक सम्बन्धो म प्रजातन्त्रवादी विचारो की माग के विचार इसी काल म फले। इन विचारो का प्रसरण योरोप से हुआ है—उस योरोप से जिसम वैज्ञानिक प्रौद्योगिकी, शहरीकरण औद्योगीकरण, पूजीवाद उदारवाद, साम्यवाद, इसाइयत और रोमन विधिप्रणाली ने, इन विचारो को जन्म दिया था। यह पहले

कहा जा चुका है कि अंग्रेजी राज में, रोमन विधि प्रणाली के मूल सिद्धान्तो का अनुसरण करते हुए, इस काल के भारत में, हिंदू और मुस्लिम स्वीय विधि प्रणालियों का संहितावद्ध करने तथा उन्हे निश्चित ढग से निर्वचित करने का प्रयास किया गया। अदालतों के स्थापित होते ही यह प्रश्न उठा कि वैधिक दृष्टिकोण से हिंदू कौन है मुसलमान कौन है और विभिन्न हिन्दू मुस्लिम-परम्पराओं के वैधिक आधार क्या हैं ?

शरिअत के कारण इस्लामी परम्पराओं में हिंदू परम्पराओं की अपेक्षा, अधिक निश्चितता थी। उधर, नई मान्यताओं के कारण, अनेक सुधारो को कार्यान्वित करने तथा उनको वैध आधार प्रदान करने की समस्या उठ खडी हुई, जिसके कारण नए अधिनियमो को पास करने की आवश्यकता पड़ी। उदाहरणार्थ, जब ब्रह्मसमाजियो ने वैवाहिक कर्मकाण्ड को सम्पन्न करने के लिए, एक अलग अनुष्ठान पद्धति की रचना की तब यह प्रश्न उठा कि अनुष्ठान पद्धति के आधार पर सम्पन्न विवाह वैध है या नहीं। सरकार की ओर से यह कहे जाने पर कि हिंदू विधि प्रणाली के अनुसार ब्रह्मसमाजी अनुष्ठान-पद्धति के आधार पर किया हुआ विवाह वैध नहीं है, ब्रह्मविवाह को वैधता प्रदान करने के लिए एक नए कानून की आवश्यकता पड़ी। किंतु, जब सरकार ने ब्रह्म विवाह अधिनियम पारित किया, तो उसका विरोध किया गया और उसके फलस्वरूप स्पेशल मैरिज एक्ट (1872) का जन्म हुआ, जिसमें अन्तर्जातीय तथा अन्तर्साम्प्रदायिक विवाहो को मान्यता देकर, बालिग नवयुवक और नवयुवतियों को अपना जीवन साथी स्वयं चुनने का अधिकार देकर और तलाक के लिए विधान बनाकर, विवाह को जाति, परिवार, सम्प्रदाय और सम्बंधियों के अधिकार से मुक्त करके संस्कार के स्थान पर समझौता बना दिया गया। यही कदम आर्यसमाजी तथा सिक्खसमाजी विवाहों को वैधता प्रदान करने के लिए उठाया गया।

परम्परागत हिंदू विधि प्रणाली में, नारी को सम्पत्ति, तलाक और विधवा होने पर पुनर्विवाह करने का अधिकार न था। विधवा-पुनर्विवाह और तलाक के स्थान पर हिंदू शास्त्रकारों ने नियोग का विधान रखा था जो वास्तविक काम पर आदर्श अधिक था। उसी प्रकार निम्नस्तर की जाति के सदस्य अनेक सामाजिक आर्थिक निर्योग्यताओं के शिकार थे। अंग्रेजी राज के संघात से जो नई सामाजिक-आर्थिक परिस्थितियां अस्तित्व में आईं और समतावादी बन्धुतावादी स्वतन्त्रतावादी और राष्ट्रवादी जो आदर्श भारत में फले, उनके संदर्भ में ये व्यावहारिक मान्यतायें सामाजिक समस्यायें बन गईं। ईसाई मिशनरियों ने ऐसी ही समस्याओं को लेकर हिंदुत्व की आलोचना करनी शुरू की। फलतः, हिंदुओं ने अपना पुनर्परीक्षण प्रारम्भ किया। धर्मशास्त्रों का मंथन और निर्वचन शुरू किया गया और इस निर्वचन के द्वारा यह सिद्ध किया जाने लगा कि शास्त्रों में सती, विधवा-पुनर्विवाह न करने,

नारी को सम्पत्ति और तलाक का अधिकार न देने, बाल विवाह, स्त्री शिक्षा को न अपनाने तथा अस्पश्यता और ऊंच नीच के भेदभाव का अनुमोदन नही है। एक नये प्रगतिशील तथा नई परिस्थितियों के अनुसार सुयुक्तिपूर्ण समाज की स्थापना के लिये, स्वय हिन्दुओं ने सुधारों की माग की और सामाजिक विधान द्वारा, समाज और संस्थाओं के सुधार के लिए आन्दोलन किया। इसका परिणाम यह हुआ कि धीरे धीरे उन अनेक अधिनियमों[1] को पास किया गया, जिनसे विवाह परिवार और जाति में परिवर्तन आए।

विवाह, परिवार और जाति में परिवर्तन लाने वाले कारकों को तीन श्रेणियों में रखा जा सकता है—पहली श्रेणी में आर्थिक सामाजिक कारक आते हैं दूसरी में धार्मिक कारक और तीसरी में नई सामाजिक सांस्कृतिक मर्यादायें आदर्श, आहयें और उत्प्रेरणायें जिनका अभ्युदय पश्चिम के संघात से हुआ। किन्तु इन सभी कारकों का अभ्युदय धीरे धीरे हुआ है, जिसके कारण विवाह, परिवार और जाति में होने वाले परिवर्तन विशृंखलक न होकर उदविकासी रहे है। योरोप के संघात से भारतीय सामाजिक सांस्कृतिक परिवर्तन पुनरुन्नयनवादी रहा है। विवाह, परिवार और जाति में होने वाले परिवर्तन भी पुनरुन्नयनवादी विचारधारा से प्रभावित रहे है और, इसकारण, अंग्रेजी राजकाल में विवाह, परिवार और जाति में सम्बन्धित अनेक परम्पराओं और परम्परागत विचारों को, अस्पष्ट धार्मिक बधता के स्थान पर निश्चित सामाजिक बधता मिली है।

विवाह का मूल अर्थ, कपाडिया के अनुसार वर द्वारा वधू का अपने घर ले जाने से है किन्तु अपने रूढिगत अर्थ में विवाह प्रतीक है उन सभी समारोहों और कर्मकाण्डों का जो वरीच्छा से लेकर सोहागरात और गौने तक किए जाते है और जिनके द्वारा नर नारी समाज द्वारा मान्य पति पत्नी के सम्बन्धों में बधकर माता पिता की भूमिका ग्रहण करते हैं और परस्पर सामाजिक आभारों तथा अधिकारों को निभाते हैं। विवाह का यह मूलरूप भारत की विभिन्न जातियों गणजातियों सामाजिक सांस्कृतिक समूहों (हिन्दू मुस्लिम आदिवासी) और क्षेत्रों (जैसे जौनसार बावर, नीलगिरि केरल और खासी प्रदेश) में विभिन्न रूपों में पाया जाता है।

---

1 हिन्दू संस्थाओं में परिवर्तन और स्थायित्व लाने वाले मुख्य अधिनियम ये है — दि कास्ट डिजेबिलिटीज रिमूवल एक्ट (1850), हिन्दू विडोज रिमैरिज एक्ट (1856), हिन्दू डिस्पोजीशन आफ प्रापर्टी एक्ट (1916), हिन्दू गेंस आफ लर्निंग एक्ट (1930), दि हिन्दू ला आफ इनहरिटेंस एक्ट (1929), हिन्दू वमन्स राइटस टू प्रापर्टी एक्ट (1937), दि स्पेशल मैरिज एक्ट (1954), दि हिन्दू मैरिज एक्ट (1955), दि हिन्दू सक्सेशन एक्ट (1956), दि हिन्दू माईनारिटी एण्ड गार्जियनशिप एक्ट (1956) दि हिन्दू एडाप्शन्स एण्ड मेन्टेनेंस एक्ट (1956)—देखिए श्रावयाना एन० एच० कृत प्रिंसिपल्स आफ हिन्दू लॉं।

सामाजिक-सांस्कृतिक समूहो के सन्दर्भ म विवाह के तीन मुख्य प्रकार—हिन्दू, मुस्लिम और आदिवासी—पाए जाते हैं। पश्चिमी सभ्यता के संघात से इन तीनो प्रकारो म परिवर्तन आया है। आदिवासी विवाह का वर्णन आदिवासी संस्कृति के सन्दर्भ म किया जायगा। यहा हिन्दू और मुस्लिम विवाहो पर योरोपीय सभ्यता का संघात और उससे उत्पन्न परिवर्तनो का वर्णन किया जाता है।

हिन्दू विवाह

२

हिन्दू विवाह के दो रूप रहे हैं—एक शास्त्रीय जिसका प्रतिपादन शास्त्रो मे किया गया है और दूसरा व्यावहारिक अर्थात जो विभिन्न जातियो और क्षेत्रो म मिलता है। हिन्दू विवाह का व्यावहारिक रूप विचरणशील रहा है और विवाह के शास्त्रीय प्रतिपादन म एकमतता नही रही है। उदाहरणार्थ शास्त्रो म विधवा विवाह का अनुमोदन नही है किन्तु हिन्दू सामाजिक संरचना के मध्य तथा निम्नस्तरो म पाई जाने वाली अनेक जातियो म विधवा विवाह होता रहा है। शास्त्रो म सामान्यत विवाह-विच्छेद का अनुमोदन नही है किन्तु मध्य तथा निम्नस्तर की जातियो म विवाह विच्छेद का विधान रहा है। जिन कर्मकाण्डो का शास्त्रो म वर्णन है उनका प्रयोग उन्ही जातियो म होता रहा है जिनमे ब्राह्मण-पुरोहित विवाह सम्पन्न करवाता रहा है। कन्यादान की धारणा ने विवाह म कन्यादान लेने वाले को दक्षिणा देने की आवश्यकता को जन्म दिया जिसने मुद्रायी आर्थिक व्यवस्था म दहेज का रूप लिया। किन्तु दहेज केवल उच्चवर्णी जातियो मे ही सीमित रहा। मध्य तथा निम्नवर्णी जातियो म वधू धन की प्रथा चलती रही। अवध की उच्च जातियो म वर की बारात जाती है किन्तु निम्न स्तर की जातियो मे वधू की बारात (पयपुज्जी) जाती है। योरोपीय सभ्यता के संघात से बदलती हुई आर्थिक परिस्थितियो म जब निम्नस्तरीय जातियो की आर्थिक स्थिति सभली और नये आदर्शों के कारण जब निम्नस्तर की जातियो ने अपनी सामाजिक प्रतिष्ठा को उठाने का प्रयास किया तो उन्होने शास्त्रीय विधि विधान ब्राह्मण द्वारा सम्पन्न कर्मकाण्ड कन्यादान बारात दहेज विधवा पुनर्विवाह—तथा तलाक निषेध अपनाना प्रारम्भ किया। पश्चिमी सभ्यता के संघात से उत्पन्न परिस्थितियो म उच्चवर्गीय जातियो विवाह-संस्कार के कर्मकाण्डो के सरलीकरण तथा पश्चिमीकरण की ओर अग्रसर हुई और निम्नवर्णी जातिया शास्त्रीय कर्मकाण्ड की जटिलता की ओर।

पश्चिमी सभ्यता के संघात म इस प्रकार हिन्दू समाज के एक स्तर पर विवाह सम्बन्धी शास्त्रीय विधि विधान और कर्मकाण्ड को अपनाने पर जोर दिया

गया तो दूसरे स्तर पर शास्त्रीय विधि विधान के पुनर्परीक्षण, पुनर्निर्वचन, सरलीकरण सुधार और उसे वैधिक बनाने पर जोर दिया गया। इसके फलस्वरूप परम्परा के पुनरुन्नयन और सुधार पर एक साथ जोर दिया गया। योरोपीय मापदण्डों और नई परिस्थितियों की आवश्यकतानुसार ज्यों ज्यों प्रचलित विवाह परम्पराओं की आलोचना की गई त्यों त्यों शास्त्रों द्वारा प्रतिपादित वैवाहिक मर्यादाओं और परम्पराओं के सुधार और पुनरुन्नयन पर जोर दिया गया और शास्त्रों के ही प्रमाणों पर नये सुधारों और पुनरुन्नयन की मांग की गई। सुधारवादी पुनरुन्नयन प्रगतिवादी विचार बना और यथावत पुनरुन्नयन सनातनी विचार। इसीकारण एक ओर ब्रह्मसमाजी तथा आर्यसमाजी विवाह पद्धतियों का अभ्युदय हुआ और दूसरी ओर, परम्परागत सनातनी पद्धति का। किन्तु साथ ही साथ विवाह को वैधिक आधार प्रदान करने का विचार भी चलता रहा जिसके परिणामस्वरूप सिविल मैरिज (अदालती विवाह) के रूप में एक तीसरी पद्धति अस्तित्व में आई। यह पद्धति अशास्त्रीय है और अंशतः अदालती। हिन्दू मैरिज एक्ट (1955) उन विवाहों पर लागू होता है जो सजातीय हैं और परम्परानुसार सगोत्र सप्रवर और सपिण्ड नहीं हैं। यदि परम्परा सगोत्र सप्रवर और सपिण्ड विवाह की अनुमति देती है तो हिन्दू मैरिज एक्ट के अनुसार ऐसा विवाह वैध है। विवाह संस्कार और कर्मकाण्ड वर या वधू या दोनों पक्षों की सम्मिलित प्रथाओं के अनुसार सम्पन्न किए जा सकते हैं किन्तु जहां परम्परानुसार सप्तपदी वैवाहिक कर्मकाण्ड का एक भाग है वहां बिना सप्तपदी के, विवाह वैध नहीं समझा जायगा। साधारणतः हिन्दू मैरिज एक्ट के अनुसार, विवाह होम और सप्तपदी हिन्दू विवाह की वैधता के दो कर्मकाण्डी आधार हैं। किन्तु स्पेशल मैरिज एक्ट (1954) में जिसका उद्देश्य अन्तर्जातीय और अन्तसम्प्रदाय विवाहों को वैधता प्रदान करना है विवाह होम सप्तपदी और ब्राह्मण पुरोहित के स्थान पर तीन गवाहों और विवाह-अफसर की उपस्थिति में वर वधू से एक दूसरे को पति पत्नी बनने की प्रतिज्ञा करवाने तथा विवाह के निबंधन (Registration) का विधान है। पति पत्नी विवाह अफसर से अपने विवाह का सर्टीफिकेट ले सकते हैं। यह विवाह-पद्धति उस विवाह पद्धति की प्रतिकृति है जो इसाइयत के प्रभाव से योरोप में विकसित हुई है।

हिन्दू विवाह का विधिकरण और उससे उत्पन्न होने वाले परिवर्तन, योरोपीय सभ्यता के संघात के मुख्य योगदान हैं। किन्तु इन योगदानों को समझने

परम्परागत आधार

के लिए हिन्दू विवाह की शास्त्र प्रतिपादित सामाजिक सांस्कृतिक विशेषताओं का समझना आवश्यक है। हिन्दू विवाह नर नारी के लिए गृहस्थाश्रम में प्रवेश करके अर्थ और काम की साधना का मुख्य माध्यम है। विवाह के बिना पुरुषार्थ की साधना सम्भव नहीं है। अतः, विवाह धर्म साधना आत्मोन्नति और देव, पितृ ऋषि तथा समाज के ऋणों को चुकाने का

एक आवश्यक माध्यम है, जिसकी अवहेलना व्यक्ति नही कर सकता है। विवाह एक संस्कार है जिससे धर्म प्रजा (सन्तान) और रति (आनन्द) की साधना होती है। विवाह के उद्देश्यो मे रति का स्थान निम्नतम है। हिन्दू के लिए पत्नी पुरुषार्थ और गृहस्थाश्रम का मूलाधार है। विवाह से पितृऋण मे उऋणता मिलती है, नर नारी के सम्बन्ध नियमित होते हैं अन्त्येष्टि क्रिया सम्पन्न करने के लिए पुत्र की प्राप्ति होती है, समाज मे व्यवस्था आती है और व्यक्ति को धर्म तथा मोक्ष की साधना मे सहायता मिलती है। पुत्र प्राप्ति और प्रजनन क्रिया हिन्दू के लिए धार्मिक क्रियायें हैं। विवाह शरीर संस्कार भी है और धार्मिक संस्कार भी। केवल शूद्र विवाह मे ही इन्द्रिय सुख को प्रधानता दी जाती है। नर-नारी का पति पत्नी के रूप मे मिलन आदि पुरुष और आदि प्रकृति के दो इहलौकिक प्रतीको का मिलन है और इसलिए यह मिलन शरीरी भी है और रहस्यात्मक भी। यह मिलन, इसकारण, अविच्छेद्य है, शाश्वत है जिसे कर्मकाडो द्वारा सम्पन्न करके, पति-पत्नी के रूप मे मिलने वाले नर-नारी को उस अविच्छेद्य और शाश्वत मिलन की गरिमा का अनुभव कराया जाता है। विवाह अलौकिक बन्धन है जिसे कर्मकाण्ड के द्वारा और भी अलौकिक रूप देने का प्रयास किया गया है। वैवाहिक कर्मकाडो मे देव पितरो का आवाहन कन्यादान विवाह होम के द्वारा अग्नि को साक्षी बनाना और सप्तपदी, विवाह मे अलौकिक पट देते हैं। विवाह पति-पत्नी के बीच एक अलौकिक, अविच्छेद्य और शाश्वत गठबन्धन है। पत्नी सहधर्मिणी है क्योकि बिना पत्नी के गृहस्थ का कोई भी धार्मिक कृत्य सम्पन्न नही हो सकता है। धर्म अर्थ, काम और गृहस्थाश्रम के आधारो को निभाने के लिए पत्नी आवश्यक है। पुरुष गृहपति है तो नारी गृहलक्ष्मी और गृहपत्नी।

संस्कार के रूप मे विवाह एक सामाजिक धार्मिक कृत्य है। इसकारण, विवाह सूत्र मे बधने वाले नर-नारी नही वरन विवाह के सामाजिक पहलू महत्वपूर्ण हैं। व्यक्ति पितरो का ऋणी है, इसलिए विवाह मे पितरो का और पितरो के माध्यम से परिवार का महत्व बढ जाता है। विवाह, पति-पत्नी के सम्बन्ध मे बधने वाले नर-नारी मे समझौतामात्र नही है वरन उनकी आत्मोन्नति अभ्युदय और निश्रेयस् के लिए एक विधान है। अत, विवाह मे नर नारी के अभिभावको का महत्व बढ जाता है। ऐसी दशा मे व्यक्ति के स्थान पर कुल और परिवार की महत्ता बढ जाती है। विवाह केवल सरदान नही वरन सामाजीकृत सवरण है। व्यक्ति से अधिक महत्वपूर्ण है सवरण की सामाजिक वर्जना जो सवेरान नियमो के द्वारा प्रतिपादित होती है। हिन्दू अगम्यागमन की धारणा मे सपिण्ड, सप्रवर और सगोत्र विवाह अवैध हैं। याज्ञवल्क्य के अनुसार वधू न तो वर की सपिण्ड होनी चाहिए और न वर के गोत्र और प्रवर की होनी चाहिए। वधू को वर की माता की पाच पीढियो और पिता की सात

पीढियो के उस पार की होना चाहिए[1]। मिताक्षरा के अनुसार, जिन व्यक्तियो म एक ही पूवज का रक्त है, वे सपिण्ड हैं। दायभाग के अनुसार, जो पिण्डदान की अन्त्येष्टि क्रिया से बधे है, वे सपिण्ड हैं। एक ही पूवज की सतान पिण्डदान की अन्त्येष्टि क्रिया से बधत हैं। मिताक्षरा विधान के अनुसार, वे सपिण्ड जो एक ही पूवज की सन्तान है और माता की ओर स पाच पीढी तथा पिता की ओर स सात पीढी म आते है विवाह के अधिकारी नही हैं। साधारण नियम यह है कि वर और वधू एक ही कुल के न हो, क्योंकि कुल एक विस्तत परिवार है जिसकी एकता बनाए रखने के लिए सपिण्ड, सगोत्र और सप्रवर विवाह का निषेध वाछनीय है।

सपिण्ड सप्रवर और सगोत्र विवाह निषध एक एसा आदश शास्त्र नियम है जो ब्राह्मण क्षत्रिय और वश्य जातिया म सामायत पाया जाता रहा है यद्यपि इन जातियो में भी इसके अपवाद मिल जाते हैं। हटन के अनुसार बिहार के शाकद्वीपी ब्राह्मणों में सगोत्र विवाह का नही बल्कि पुपुर विवाह का निषेध है। पूर्ववर्णी जातिया मे साधारणत सपिण्ड सवेशन और मा की पाच पीढियो और पिता की सात पीढियो म सवेशन निषेध का व्यावहारिक विधान मिलता है। सपिण्ड, सप्रवर और सगोत्र तथा मा की ओर पाच पीढिया तथा पिता की ओर सात पीढिया म विवाह निषेध करन के कारण, भाई बहिन और पिता के भाई-बहिन, मा क भाई बहिन और सौतेली माताओ क लडके लडकियो म विवाह स्वत अगम्यगमन की श्रेणी मे आ जाता है यद्यपि भाई बहिन के विवाह निषेध को छोडकर, सवत्र इस आदश विधान को नही अपनाया गया है। मा क भाई और पिता की बहिन के लडके या लडकी से विवाह दक्षिण के हिदुओ म उत्तम माना जाता है। शास्त्र की मायताओ के अनुसार विवाह सपिण्ड क सबधन तथा एकीकरण का आधार है। अत तलाक नहा नियोग

---

1 गोत्र का तात्पय उस समूह से है जिसके व्यक्ति अठारह गोत्रकार ऋषियों में से किसी एक को अपना पूवज मानकर, आपस में विवाह नहीं करते ह। वदिक परम्परा के अनुसार गोत्र अठारह ह किन्तु, वास्तविक व्यवहार में गोत्रो की सख्या अठारह से अधिक है। सभी गोत्र वदिक ऋषियों पर ही आधारित नहा ह—कुछ स्थानवाची ह और कुछ टोटमवादी। वदिक गोत्र बहुधा उच्चवर्णी जातियों में पाय जाते ह और स्थानवाची तथा टोटमवादी गोत्र निम्नवर्णी जातियों में। सगोत्र विवाह का आदश कवल उच्चवर्णी जातिया ही मानती ह क्योंकि निम्नवर्णी जातियों में इसके अपवाद भो पाये जाते ह। बगाल के राजवशी सगोत्र विवाह करते ह। एक गोत्र कई जातियों में पाया जाता है। प्रवर का तात्पय उन ऋषियों से है जो विभिन्न गोत्रों में उत्पन्न हुए ह और जिनसे प्रत्येक गोत्र की गरिमा बढ़ी है। हर गोत्र के अलग-अलग प्रवर ह।

महत्त्वपूर्ण है क्योंकि तलाक से सपिण्ड खण्डित होता है जबकि नियोग से बढ़ता है। इसी दृष्टिकोण से देवर और साली के साथ विवाह वांछनीय माना गया है।

सपिण्ड, सगोत्र और सप्रवर विवाह अवांछनीय है किन्तु सवर्ण विवाह वांछनीय और उत्तम। अन्तर्वर्ण का भी विधान है पर एक शर्त के साथ। पुरुष अपने से निम्न वर्ण की नारी से विवाह कर सकता है किन्तु नारी अपने से निम्न वर्ण के पुरुष के साथ विवाह नहीं कर सकती है। इसी आधार पर अनुलोम और प्रतिलोम विवाहों में अन्तर करके, अनुलोम को वांछनीय और प्रतिलोम को अवांछनीय माना गया है। किसी भी पुरुष का अपने या अपने से निम्नवर्ण की नारी या नारियों से विवाह करना अनुलोम विवाह है और किसी नारी का अपने से निम्नवर्ण के पुरुष के साथ विवाह करना प्रतिलोम विवाह। अनुलोम विवाह के नियमानुसार, ब्राह्मण, अपने वर्ण के अलावा क्षत्रिय वैश्य और शूद्र वर्णों क्षत्रिय अपने वर्ण के अलावा वैश्य तथा शूद्र वर्णों वैश्य अपने वर्ण के अलावा शूद्र वर्ण और शूद्र केवल शूद्र वर्ण में ही विवाह कर सकता है। इस नियम के अनुसार, जिस वर्ण का सामाजिक स्तर जितना ऊँचा है उसके पुरुषों के विवाह का क्षेत्र उतना ही बड़ा है और जिसका स्तर जितना कम, उसके पुरुषों के विवाह का सामाजिक क्षेत्र उतना ही कम। इसके प्रतिकूल उच्चतम वर्ण की नारियों के विवाह का सामाजिक क्षेत्र, सबसे कम और निम्नतम वर्ण की नारियों का सबसे अधिक है। निम्नतम वर्ण में नारियों की अधिक माँग के कारण और अधिकतम पुरुषों के अविवाहित रहने की सम्भावना के डर से वधूमूल्य का प्रवेश होता है तो उच्चतम वर्ण में विवाह योग्य लड़कियों की माँग के बढ़ रहने से दहेज का प्रवेश होता है। उच्चतम वर्ण की नारियों के लिये विवाह की सीमा केवल अपने ही वर्ण तक सीमित रह जाती है यद्यपि उच्च वर्ण के पुरुष अपने ही वर्ण तक सीमित नहीं है। फलतः उच्चतम वर्ण में दहेज के साथ साथ सती, सतीत्व, पतिव्रत, विधवा विवाह निषेध तथा बहुपत्नीत्व का समावेश होता है। धर्मशास्त्रों में बहुपत्नीत्व मान्य है उस दशा में जब पहली स्त्री बाँझ हो या उससे पुत्र न होकर पुत्रियाँ ही हों। किन्तु, साथ ही साथ, बहुपत्नीत्व सामाजिक-आर्थिक प्रतिष्ठा में भी सम्बन्धित रहा है। ब्राह्मण और क्षत्रियों ने ही अधिकतर बहुपत्नीत्व को अपनाया है। वास्तव में जिस व्यक्ति या समूह का वर्ण जितना उच्च रहा है वह उतना ही बहुपत्नीत्व की ओर प्रवृत्त रहा है। बंगाल के कुलीन ब्राह्मणों की लुप्त बहुपत्नीवाली प्रथा इसका प्रमाण है। बहुपतित्व को हिन्दू शास्त्रकारों ने मान्यता नहीं दी है यद्यपि कपाड़िया का मत है कि सम्भवतः आर्यों के कुछ समूहों में यह प्रथा थी। फिर भी, अपवाद के रूप में, जौनसार बावर के हिन्दू समाज में बहुपतित्व की प्रथा आज भी विद्यमान है। यह शास्त्रीय मर्यादा के विरुद्ध है किन्तु स्थानीय प्रथाओं की मर्यादा के अनुकूल।

वास्तविक सामाजिक व्यवहार में, वर्ण एक आदर्श सिद्धान्त रहा है। हिन्दू-

समाज वर्ण संगठन के आदर्श सिद्धान्त पर संगठित जातियों में विभक्त रहा है। हिन्दू समाज ब्राह्मण जातियां, क्षत्रिय जातियां, वैश्य जातियां तथा शूद्र जातियों में संगठित रहा है। एक वर्ण में कई अन्तर्विवाही समूह रहे हैं और प्रत्येक अन्तर्विवाही समूह बहिर्विवाही गोत्रों और कुलों में बंटा रहा है। कुलों में सामाजिक प्रतिष्ठा की उच्चाच्च परम्परा पाई गई है। उदाहरणार्थ, ब्राह्मणों में सारस्वत, कान्यकुब्ज, गौड़, उत्कल, मैथिल (पंचगौड़) तथा कर्णाटक, महाराष्ट्र, तैलंग, द्रविड़ और गुजर (पंच द्राविड़) समूह हैं, जिनमें से अधिकतर अन्तर्विवाही हैं। कान्यकुब्ज गोत्रों में बंटे हैं और प्रत्येक गोत्र कर्मकाण्ड पर आधारित समूहों (मिश्र, शुक्ल, बाजपेई, उपाध्याय इत्यादि) और प्रत्येक समूह अलग अलग सामाजिक प्रतिष्ठा वाले कुलों में[1]। प्रत्येक कान्यकुब्ज अपने समान या उच्च कुल में लड़का देता है और अपने से नीचे कुल की लड़की ले लेता है। इसप्रकार वास्तविक व्यवहार में सवर्ण विवाह सजाति विवाह के रूप में रहा है और अनुलोम प्रतिलोम विवाह जाति अन्तर्ववाहिकी के अन्दर अन्तकुल विवाहों के रूप में। शास्त्रीय प्रतिपादन कुछ और रहा है और वास्तविकता कुछ और।

वरण की भिन्नता के आधार पर हिन्दू शास्त्रकारों ने आठ प्रकार के विवाह माने हैं—ब्राह्म, दैव, आर्ष, प्राजापत्य, असुर, गान्धर्व, राक्षस और पैशाच। इनमें पहले चार प्रकार वांछनीय हैं और दूसरे चार प्रकार अवांछनीय। इन प्रकारों की वांछनीयता और अवांछनीयता का आधार वैधिक भी है। शास्त्रकारों के अनुसार पहले चार प्रकारों में नारी को पति का गोत्र मिलता है, अतः नारी के स्त्रीधन का अधिकारी पति होता है। किन्तु दूसरे चार प्रकारों में चूंकि नारी को पति का गोत्र नहीं मिलता है, अतः उसका स्त्रीधन उसके माता पिता के परिवार को जाता है। इस परम्परागत वैधिक अन्तर को न्यायालयों ने नहीं स्वीकार किया है। किन्तु फिर भी, यह अन्तर चल रहा है। वास्तविक व्यवहार में हिन्दुओं में ब्राह्म और आसुर प्रकार ही प्रचलित है। ब्राह्म का मुख्य आधार वर का चुनाव करके कन्यादान करना है और आसुर का वधू धन। वधूधन प्रथा पर आधारित है न कि किसी करार संविदा पर। इन आठ प्रकार के विवाहों का शास्त्रीय मान्यता देने का उद्देश्य सभी प्रकार के विवाहों से उत्पन्न सन्तान को सामाजिक वैधता प्रदान करना है।

वर और कन्या को शास्त्रों द्वारा निर्धारित मर्यादाओं के अनुसार ब्रह्मचारी होना अपेक्षित है। वर को अविलुप्त ब्रह्मचारी, श्रुतवान (वेदों का ज्ञाता) वयस्क और पुंसक होना चाहिये। कन्या रोगी न हो, उसके बाल और आंखों का रंग रक्ताभ न हो, उसके शरीर पर बालों की अधिकता न हो और उसकी चाल-ढाल

1 विशेष विवरण के लिये देखिये मिश्र मनोलाल की पुस्तक कान्यकुब्ज वंशावली।

तथा रूप रंग पुरुषों का सा न हो। जिस प्रकार वर के लिये अविलुप्त ब्रह्मचारी होना आवश्यक है उसी प्रकार कन्या के लिये यह आवश्यक है कि वह परपरिगृहीता न हो। जिस परिवार में शास्त्र और वेदों का निरादर हो, जिसमें कन्यायें ही हों, जिसके सदस्यों के शरीर पर अत्यधिक बाल हों तथा जिसके सदस्य रक्तस्राव, तपेदिक, अपाचन, मिरगी और सफेद या काला कोढ़ इत्यादि बीमारियों के शिकार हों, वहाँ विवाह नहीं करना चाहिये[1]।

संस्कार गणपति के अनुसार ब्राह्मविवाह पंचांग होता है। वाग्दान, वरण, प्रदान (कन्यादान) पाणिग्रहण और सप्तपदी उसके पांच अंग हैं। वाग्दान और वरण अभिभावकों और गुरुजनों द्वारा सम्पन्न होता है। कन्यादान भी अभिभावक द्वारा सम्पन्न किया जाता है। कन्यादान का अर्थ यह नहीं है कि कन्या पर उसके पिता माता या किसी अभिभावक का वैसा ही अधिकार है जैसे कि किसी चल या अचल सम्पत्ति पर। कन्यादान से न किसी स्वत्व का सर्जन होता है न विसर्जन और न हस्तान्तरण का। यह अवश्य है कि कन्यादान में कन्या वर को सौंपी जाती है। कन्या का पिता दाता होता है और उसके न होने पर जैसा कि याज्ञवल्क्य ने विधान किया है, क्रमशः पितामह, बड़ा भाई, माता या कोई बड़ा सम्बन्धी कन्या वर को सौंपने का कार्य सम्पन्न कर सकता है। दाता कई हो सकते हैं पर आदाता हर दशा में वर ही होता है। गीता में निष्काम दान को सात्विक माना गया है। इस दृष्टिकोण से कन्यादान शब्द का प्रयोग उचित ठहराया जा सकता है। किन्तु दान की यह परिभाषा वैधानिक नहीं है। दानक्रिया कौमुदी में गोविन्दानन्द ने यह कहा है कि दान वह त्याग है जो युगपत उद्दिष्ट (नामाङ्कित) व्यक्ति में स्वामित्व उत्पन्न करता है, जिसका तात्पर्य यह हुआ कि स्वामित्व दाता से आदाता में चला जाता है। तो फिर क्या जामाता दान में ली हुई पत्नी का दान कर सकता है? स्मृतिकारों का उत्तर है नहीं। तब कन्या में पिता का स्वामित्व नहीं ठहरता है। वसिष्ठ स्मृति में माता पिता को सन्तान बेचने, दान करने और त्यागने का अधिकार है किन्तु मनु के अनुसार विद्वान पिता कन्या के लिये थोड़ा-सा भी शुल्क न लें। लोभवश शुल्क लेने से मनुष्य अपत्य विक्रयी—सन्तान बेचने वाला—हो जाता है। कन्यादान विवाह का एक अंग है अवश्य पर कन्यादान उतना वैधानिक नहीं है जितना सप्तपदी है। कन्यादान के द्वारा पति स्वत्व नहीं कर्तव्य प्राप्त करता है। फिर कन्या को वर को सौंपने की क्रिया के लिये दान शब्द क्या प्रयुक्त हुआ? यह सम्भवतः भाषा की वैसी ही गलती है जैसी 'सूरज उगता है या डूबता है' की अभिव्यक्ति में व्याप्त है[2]।

---

1 विशेष वर्णन के लिये देखिये—पी० एच० प्रभु कृत हिन्दू सोशल आर्गनाइजेशन

2 श्री सम्पूर्णानन्द हिन्दू विवाह में कन्यादान का स्थान।

तब प्रश्न उठता है कि क्या परम्परा के रूप में कन्यादान एक वैधानिक अलीक (Legal Fiction) मात्र है ? इस प्रश्न पर दो मत हो सकते है। किन्तु, यह एक प्रकार से निश्चित है कि वाग्दान, वरण और प्रदान (कन्यादान) से सम्बन्धित कर्मकाण्ड और मर्यादाएं विवाह में कन्या के अभिभावक की अनुमति को वैधानिकता प्रदान करती है और पाणिग्रहण तथा सप्तपदी से सम्बन्धित कर्मकाण्ड कन्या की अनुमति को। किन्तु, किस आयु में कन्या को यह अधिकार मिलता है और कन्या विवाह के योग्य होती है, इस पर शास्त्रकारों में मत विपर्यय है। इसकारण, जब भारत पर योरोप का संघात हुआ और भारत में व्यक्तिवादी तथा समतावादी आधुनिक विचारधारा का प्रसार हुआ तो इस प्रश्न को लेकर दो मत अस्तित्व में आए— एक, उन परम्परावादियों का जिन्होंने दशवर्षा भवेत भार्या वाले स्मृति के वचन को लेकर दस वर्ष की आयु को विवाह की आयु मानकर, बाल विवाह का पक्ष लिया और दूसरा उन लोगों का जिन्होंने शास्त्रों के आधार पर यह सिद्ध करने का प्रयास किया कि शास्त्रों में बाल विवाह का अनुमोदन नहीं है और इस बात पर जोर दिया कि आक्रमणकारियों से लड़कियों की रक्षा करने के लिये ईसवी सन् की पहली पांच या छः शताब्दियों में स्मृतिकारों में कन्या की विवाह आयु को कम से कम करने की प्रवृत्ति रही है। स्मृतिकारों का यह मत है कि रजोदर्शन के बाद यदि कन्या पिता के घर रहती है तो वह त्रिश्ला व शूद्रा हो जाती है और एसी कन्या का विवाह न करने वाले पिता को भ्रूण हत्या का पाप लगता है। मनु ने यह विधान किया है कि ऋतुमती होने के बाद, कन्या के अभिभावक यदि उसका तीन साल तक विवाह नहीं करते हैं तो उसे स्वयं अपना पति चुनने का अधिकार है। मनु ने वर की आयु तीस वर्ष और कन्या की आयु बारह वर्ष रक्खी है। विवाह योग्य कन्या के लिये 'नग्निक' और प्राप्तयौवना विशेषणों का भी प्रयोग किया गया है जिनका अर्थ षाडशी लगाया गया है अर्थात वह आयु जब कन्या शरीर से पत्नीत्व और मातत्व का भार उठाने योग्य हो। वर की आयु के विषय में शास्त्रकार चुप हैं। हां, एक यह साधारण नियम अवश्य पाया जाता है कि पुरुष का विवाह समावर्तन संस्कार के बाद होना चाहिये जो पचीस वर्ष के करीब आता है। हर दशा में इस बात का विधान अवश्य है कि वर की आयु कन्या से अधिक होनी चाहिये।

योरोप के सम्पर्क में आने के बाद जब बाल विवाह और बाल विधवाओं को लेकर हिन्दुओं की योरोपियनों ने आलोचना शुरू की तब, एक ओर, इस बात पर जोर दिया गया कि सामाजिक विधान द्वारा विवाह की आयु निर्धारित कर दी जाय और, दूसरी ओर, यह सिद्ध करने पर कि शास्त्रों में वयस्क विवाह का पहले ही से विधान है। डाक्टरों की राय के आधार पर केशव चन्द्र सेन ने कन्या की विवाह आयु चौदह साल और वर की आयु अठारह साल निर्धारित की जिसे सन् अठारह सौ बहत्तर में स्पेशल मैरिज एक्ट द्वारा, वैधता प्रदान की गई। दयानन्द ने सुश्रुत के

आधार पर यह निर्धारित किया कि कन्या की आयु कम-से कम सोलह और अधिक-से-अधिक चौबीस वर्ष और वर की कम से-कम पचीस और अधिक से अधिक इकतालीस वर्ष होनी चाहिये। स्पेशल मैरिज एक्ट (1872) का सम्बन्ध हिन्दू विवाह से न था—उसका उद्देश्य ब्रह्म समाजी विवाह को वैधता प्रदान करना था। अतः इस काल में, हिन्दू विवाह में आयु का कानूनी निर्धारित करके बाल विवाह को रोकने का प्रयास किया गया। यह प्रयास ईश्वरचन्द विद्यासागर के प्रयत्नों से शुरू हुआ। अठारह सौ साठ मे विवाह की आयु दस साल रखी गई, अठारह सौ इक्यानवे मे कन्या की तरह साल और वर की चौदह साल और अठारह सौ उन्तीस मे शारदा एक्ट द्वारा कन्या की चौदह साल और वर की अठारह साल। इस एक्ट में बाल-विवाह को रोकने का कोई विधान न था। अत, यह एक्ट पुलिस एक्ट ही रहा। ग्रामो म बाल विवाह चलते रह और शहरो म जहा जहा शिक्षा का प्रसार हुआ विवाह की आयु बढ़ती रही। अन्तर्जातीय विवाहो मे कन्या को अठारह और वर को इक्कीस साल का होना आवश्यक है क्योंकि इस आयु म अभिभावक की अनुमति की आवश्यकता नही है। कृषि पर आधारित ग्रामीण व्यवस्था से बाल विवाहो को प्रोत्साहन मिला है तो शहरी, औद्योगिक व्यवस्था से वयस्क विवाह को, जो धीरे-धीरे लेट विवाह का रूप ले रहा है। आज एक ओर यदि बाल विवाह की समस्या है तो, दूसरी ओर, लेट विवाह और चिरकुमारित्व की।

पुनर्विवाह सम्बन्धी मान्यताओ मे भी एकमतता नही है जिसके कारण अंग्रेजी राजकाल मे, एक ओर यह निश्चित करने का प्रयास किया गया कि शास्त्रो में पुनर्विवाह का विधान है और, दूसरी ओर, पुनर्विवाह सम्बन्धी शास्त्रीय और प्रथायी मान्यताओ को वैधता प्रदान की गई। पुनर्विवाह के कई रूप हैं—एक, जब एक पत्नी के रहते हुए पुरुष दूसरा विवाह करता है। ऐसा विवाह बहुपत्नीत्व को जन्म देता है जिसे शास्त्रकारो ने मान्यता प्रदान दी है[1]। दूसरा, विधुर पुनर्विवाह जो शास्त्रों द्वारा मान्य है। तीसरा, पति को तलाक देकर पुनर्विवाह और चौथा विधवा पुनर्विवाह। इन दोनो विवाहों को लेकर शास्त्रकारो मे मतभेद है। शास्त्रकार

1 उदाहरणार्थ, कौटिल्य के अनुसार पुत्र की कामना करने वाला एक पुरुष दूसरा विवाह कर सकता है यदि पहले विवाह के आठ से लेकर बारह सालों के बीच में उसको पत्नी से पुत्र न हुआ है। मनु ने यह विधान किया है कि यदि किसी की पत्नी रोगी है तो वह उसका त्याग न करे वरन उसकी इच्छा से दूसरा विवाह कर ले—कपाडिया मैरिज एण्ड फेमिली इन इण्डिया, पृष्ठ 172 और मनुस्मृति (9/82)। स्त्री के शराबी, बदचलन, रोगी, झगडालू, खर्चीली और बाझ होने पर भी पुरुष दूसरा विवाह कर सकता है (मनु० 9/80, 81)।

यदि एक मत हैं तो इस बात पर कि एक पति के रहते हुए, कोई भी स्त्री किसी भी दशा मे दूसरा विवाह नही कर सकती है। साधारणत, यह माना जाता है कि शास्त्रो म तलाक का विधान नही है। किन्तु, यह मान्यता निमूल है। वास्तव में शास्त्रो मे तलाक पर कम, उन परिस्थितियो पर अधिक ध्यान दिया गया है जिनमे स्त्री को दूसरा विवाह करने की आवश्यकता उत्पन्न हो सकती है और इसकारण पुनर्विवाह की वधता का प्रश्न उठ सकता है। अपहरण की हुई ऐसी स्त्री जिसका विवाह वदिक मन्त्रो द्वारा न सम्पन्न हुआ हो पुन विवाह कर सकती है। कौटिल्य ने ऐसी स्त्रियो का पुनर्विवाह का अधिकार दिया है, जिनका पति काफी अर्से से बाहर चला गया हो या ससार त्यागकर सन्यासी हो गया हो। धमसूत्रो म भी दीघकाल से बाहर गए हुए पुरुष की पत्नी को दूसरा विवाह करने का अधिकार है। नारद और पाराशर ने खोये हुए (नास्त) प्रव्रजित, क्लीव (नपुसक) और पतित (जातिच्युत) पुरुष की पत्नी को पुनर्विवाह का अधिकार दिया है। नारद के अनुसार, इन अवस्थाओ म, नारी के सम्बधी उससे पुनर्विवाह के लिये जोर दें चाहे नारी इसके लिये अनिच्छुक ही क्यो न हो। पाराशर स्मति पर किये भाष्य मे, मनु का हवाला देते हुए, माध्वाचाय ने यह विधान किया है कि पति के नास्त (खो जाने) होने पर, निस्सन्तान ब्राह्मण-स्त्री को पति के वापस आने का चार साल, क्षत्रिय-स्त्री को तीन साल और वश्य स्त्री को दो साल तक इन्तजार करके पुनर्विवाह करना चाहिये। सन्तानवती नारी को इन्तजार की अवधि दोहरी कर देनी चाहिये। गौतम ने इन्तजार अवधि छ साल रक्खी है[1]। इस प्रकार, जिन अवस्थाओ म पुनर्विवाह का विधान किया गया है, उनम इन्तजार अवधि (Waiting Period) भी रक्खी गई है, जिसे अग्रेजी राज मे वधता मिली।

किन्ही किन्ही अवस्थाओ मे विवाह विच्छेद का भी विधान मिलता है। यदि विवाह के समय पुरुष अपने शारीरिक तथा नतिक दोषो को छिपाता है और यदि पुरुष क्लीव है, तो स्त्री को विवाह विच्छेद का अधिकार है (नारद, पराशर)। कौटिल्य के अनुसार, अपने शारीरिक तथा नैतिक दोषों को छिपा कर विवाह करने वाला पुरुष दण्ड का भागी है—वह शुल्क और स्त्रीधन का अधिकारी नही रहता है और उसी अपराध के लिए नारी और उसके अभिभावक पर जो जुर्माना लगता, उससे दुगने जुर्माने का भागी हो जाता है। इसीप्रकार, यदि स्त्री म कामुकता और लम्पटता है और उसम ऐसे नतिक या शारीरिक दोष है जो विवाह के पहले छिपाये गये थे तो पुरुष का विवाह विच्छेद करने का अधिकार है। कन्या के शारीरिक तथा नतिक दूषणो को छिपाने वाले अभिभावक दण्ड के भागी हो जाते हैं। लेकिन यदि अभिभावक, विवाह से पहले, कन्या के दूषणो को स्पष्ट कर देते हैं तो कोढ़ जैसी

---

1 प्रभू, पी० एच० हिन्दू सोशल आरगनाइजेशन पृष्ठ 194

बीमारियों और कौमार्यभग जैसे गम्भीर दोषों के लिए भी न तो वे उत्तरदायी हैं और न दण्ड के भागी हो हैं। स्पेशल मैरिज एक्ट और हिन्दू मैरिज एक्ट में, थोड़े परिवर्तन के साथ आज इन मान्यताओं को वैधता मिल गई है।

मनु के अनुसार धर्मग्रन्थों में जहाँ कहीं भी विवाह का प्रसंग आया है वहाँ, न तो विधवा पुनर्विवाह के नियमों का निरूपण हुआ है और न विधवा को नियोग के लिए नियुक्त करने का उल्लेख है (मनु० 9 64 65)। किन्तु मनु के द्वारा प्रतिपादित मत में विरोध है। एक ओर वे विधवा नियोग की अनुमति देते हैं (9/60) और, दूसरी ओर यह प्रतिपादित करते हैं कि द्विजों में विधवा से नियोग नहीं करवाना चाहिए (9/64)। सधवा को सन्तानोत्पत्ति के लिए मनु नियोग की अनुमति देते हैं (9/59) किन्तु विधवा के प्रश्न पर वे अपने ही मत का खण्डन करते हैं। याज्ञवल्क्य भी विधवा पुनर्विवाह के पक्ष में नहीं हैं। कौटिल्य पाराशर और नारद विधवा-पुनर्विवाह का अनुमोदन करते हैं[1]। दयानन्द ने भी क्षतयोनि तथा अक्षतयोनि द्विज स्त्री पुरुषों का पुनर्विवाह की अनुमति नहीं दी है और नियोग को मान्यता प्रदान की है।

इसप्रकार विधवा पुनर्विवाह को लेकर दो प्रकार के मत मिलते हैं। प्रभु के अनुसार, साधारणतः विधवा पुनर्विवाह का पक्ष नहीं लिया गया है। विवाहित विधवा के लिए 'पुनर्भू' की संज्ञा का प्रयोग किया गया है। किन्तु विधवा-पुनर्विवाह को संस्कार नहीं माना गया है। सच्ची स्त्री को पति की मृत्यु के बाद वैसे ही अपने सतीत्व को सजोये रखना चाहिए जैसे कि वह पति के जीवनकाल में करती है। मनु और याज्ञवल्क्य के अनुसार, विधवा को दूसरे पति का नाम तक नहीं लेना चाहिए। वात्स्यायन पुनर्विवाहित विधवा को कामासक्त कहते हैं और यह मानते हैं कि 'पुनर्भू' और वेश्या से स्थापित किए गए यौन सम्बन्धों में कोई अन्तर नहीं है क्योंकि दोनों का उद्देश्य केवल विषय-वासना की तुष्टि है। ब्रह्मचारिणी विधवा को निस्सन्तान होने पर भी स्वर्ग मिलता है। जो विधवा अपने पति के प्रति वफादार नहीं रहती है वह पति की सम्पत्ति की अधिकारिणी नहीं है और न वह अपने पति के परिवार से भरण पोषण की ही अधिकारिणी है। जिस स्त्री का पति बिना यौन सम्बन्ध स्थापित किए ही मर जाता है वह विवाह संस्कार की अधिकारिणी है। ऐसे विचार 'सती' और 'पतिव्रता' की धारणाओं के स्वाभाविक परिणाम हैं। सती की धारणा दूसरी तीसरी शताब्दी से मिलती है। पुराणों के काल में पतिव्रता की धारणा का प्रतिपादन जोरों से मिलता है—यह धारणा, जो अनुसूया के माध्यम से तुलसीदास ने रखी है। पाराशर स्मृति (छठी-सातवीं शताब्दी) में विधवा पुनर्विवाह का विधान है। परवर्ती पठानों के आक्रमण के काल की स्मृतियों में नारी पुनर्विवाह का निषेध मिलता है और साथ ही-साथ बाल विवाह का प्रतिपादन। कपाडिया के मत में, सातवीं शताब्दी

1 प्रभु और कपाडिया के आधार पर।

के आस पास विधवा पुनर्विवाह के पक्ष का सामा यत लोप सा हो गया क्योंकि उस काल में वैधव्य को अपनाने तथा सती होने पर जोर है न कि विधवा पुनर्विवाह पर। कपाडिया के अनुसार, यह अवस्था, एक ओर, पतिव्रता की धारणा के प्रति और दूसरी ओर तान्त्रिक प्रथाओ में पाई जाने वाली यौन उच्छृखलता के प्रति होने वाली प्रतिक्रियाओ का स्वाभाविक परिणाम सा लगती है[1]।

विधवा को पुनर्विवाह की यदि अनुमति मिली भी है तो सीमित अर्थ मे। जैसा कि कौटिल्य, पाराशर और नारद की मान्यताओ म मिलता है यदि विधवा-पुनर्विवाह की अनुमति दी भी गई है तो साथ ही साथ इस बात का भी विधान किया गया है कि विधवा का मत पति के छोटे भाई (देवर) या किसी सपिण्ड के साथ पुनर्भू बनना वाछनीय है। वास्तव म जिस अवस्था म भी स्मृतिकारो ने नारी को पुनर्विवाह की अनुमति दी है उसमे उन्होने देवर या पति के किसी सपिण्ड के साथ पुनर्विवाह करने पर जोर दिया है। पुनर्विवाह और तलाक के स्थान पर अधिकतर *नियोग का ही पक्ष लिया गया है। नियोग का उद्देश्य काम सुख नही है। नियोग का* उद्देश्य है प्रजा अथवा सन्तान की प्राप्ति। मनु ने नियोग के द्वारा दो से अधिक सन्तान उत्पन्न करने की आज्ञा नही दी है। नियोग या पुनर्विवाह उसी के साथ हो सकता है जो सपिण्ड है और जिसका पद देवर का है। तलाक और पुनर्विवाह यदि स्त्री को सपिण्ड के बाहर ले जाते है तो स्त्री को अपने पति के कुल से विच्छेद करना पडता है जो स्मृतिकारो को मान्य नही है क्योंकि इससे जहा पति के परिवार म स्त्री के अधिकार समाप्त होते है वहा कुल के नैरतर्य म बाधा पडती है। कृषि पर आधारित सामाजिक आर्थिक व्यवस्था म परिवार से बाहर न तो पुरुष का आर्थिक स्वत्व रहता है और न नारी का और, इसी कारण सम्भवत पुनर्विवाह की समस्या पर कुल की समष्टिवादिता के दृष्टिकोण से विचार करने पर जोर दिया गया है। योरोपीय सामाजिक आर्थिक व्यवस्था के सघात ने इस स्थिति को बदल दिया जिसके कारण विवाह, तलाक और पुनर्विवाह पर वैयक्तिक दृष्टिकोण से विचार करने पर जोर दिया जाने लगा, जिसका परिणाम हुआ बहुपत्नीत्व का अवैध करार देना और तलाक तथा विधवा पुनर्विवाह को वैधता प्रदान करना।

प्रथाओं का विधिकरण

हिन्दू वैवाहिक प्रथाओ और उनमे समयानुसार आवश्यक सुधारो को वैध बनाने के प्रयास म, अंग्रेजी राज के तत्वावधान मे विधि निर्माण की जो प्रक्रिया प्रारम्भ हुई थी उसका वतमान समाहार एक ओर स्पेशल मैरिज एक्ट (1954) और दूसरी ओर हिन्दू मैरिज एक्ट (1955) म हुआ है। यह पहले ही कहा जा चुका है कि उन्नीसवी शताब्दी के उत्तरार्ध म जब ब्रह्मसमाज म वैवाहिक कर्मकाण्ड के लिए एक ऐसी

1 कपाडिया वही पृष्ठ 172

अनुष्ठान पद्धति रची गई जिसमे उन सनातनी वैवाहिक कर्मकाण्डो को निकाल दिया गया जिनसे मनुष्य का मूर्तिपूजा का आभास मिलता था और अन्तर्जातीय विवाहों को प्रोत्साहन दिया गया तो ब्रह्मसमाजी अनुष्ठानपद्धति के आधार पर सम्पन्न और ब्रह्मसमाज के तत्वावधान म होने वाले अन्तर्जातीय विवाहो को वधता प्रदान करने के लिए सन् अठारह सौ बहत्तर मे स्पेशल मैरिज एक्ट पास किया गया था। यह एक्ट उन्ही पर लागू होता था जो ब्रह्मसमाजी थे या जो हिन्दू नही थे। ऐसी दशा मे, इस एक्ट के तत्वावधान मे विवाह करने वालों का हिन्दुत्व से बाहर जाना आवश्यक था। किन्तु, वतमान एक्ट मे ऐसा नही है। इसीप्रकार, आर्य समाज के तत्वावधान म होने वाले अन्तर्जातीय विवाहो का वधता प्रदान करने के लिए आर्य मरिज वैलिडेशन एक्ट (1937) पास किया गया था जिसके अनुसार दो भिन्न जातियो के स्त्री पुरुषो का विवाह तभी वैध होता था जब पहले व आर्य समाजी हो। इसप्रकार अग्रेजी राज म, एक ओर यूरोपीय विचारधारा और दूसरी ओर हिन्दू-समाज म चलन वाली सुधारवादी विचारधारा के फलस्वरूप अन्तर्जातीय विवाहो को वैधता प्रदान करने का प्रश्न उठ खड़ा हुआ। यह नही माना जा सकता कि अग्रेजी राज की स्थापना के पहले अन्तर्जातीय विवाह होते ही नही थे। हा यह अवश्य है कि पहले स्त्री पुरुषो को इतनी वयक्तिक स्वतन्त्रता नही थी जितनी की अग्रेजी राज्य-काल म मिली और, इसकारण, यदि अन्तर्जातीय विवाह होते भी थे तो उनकी सख्या कम होती थी। यदि ऐसे विवाह होते भी थे तो उनका निणय जाति-पचायतो द्वारा होता था। जाति अन्तर्विवाहिकी के नियमो की अवहेलना करने वाले जाति पचायतो द्वारा लगाया हुआ दण्ड देकर पुन अपनी जाति मे शामिल हो जाते थे। जाति के नियमों को भग करने वालो को जाति से हमेशा के लिए निकाल देने की प्रथा नही रही है। एक ही जाति के दो अन्तर्विवाही समूहो (उपजाति) के स्त्री पुरुष के विवाहो को भी अधिकतर अन्तर्जातीय विवाह मान कर जाति पचायतें उनके लिए भी वसा निणय करती थी जैसा कि अन्तर्जातीय विवाहो के लिए। यह प्रथा आज भी विद्यमान है यद्यपि धीरे धीरे यह टूट रही है। उदाहरणार्थ लखनऊ के चमारो मे यदि कुरील चमार जसवारा चमारो मे विवाह करता है तो वह अपनी पचायत के समक्ष दड का भागी होता है। पचायत का नियम दोनों ओर लागू होता रहा है। यदि कोई व्यक्ति अपने अन्तर्विवाही समूह के बाहर की औरत से विवाह करता है तो वह पचायत के समक्ष दड का भागी है और यदि कोई व्यक्ति अपनी लडकी को अपने अन्तर्विवाही समूह के बाहर के व्यक्ति को देता है या उसकी लडकी किसी अपने ही जाति के सदस्य या दूसरी जाति के सदस्य के साथ भाग जाती है, तो भी वह पचायत के समक्ष दण्ड का भागी है। किन्तु, अग्रेजी राज्य-काल के न्यायालयो म एक ही जाति के अन्तर्विवाही समूहो को, एक ही जाति या उपजातिया मानकर उनके स्त्री पुरुषो के विवाह को वध माना जाने लगा और अन्तर्जातीय विवाहो म अनुलोम तथा प्रतिलोम विवाह सिद्धान्तो के

आधार पर, उन विवाहों को वध माना जाने लगा जिनमे वर उच्च जाति का और कन्या निम्न जाति की थी और उन विवाहों को अवैध माना जाने लगा जिनमे वर निम्न जाति का और कन्या उच्च जाति की थी।

इसमे कोई शक नहीं कि हिन्दू विधान मे अन्तउपजातीय विवाहों का निषेध नहीं है किन्तु हिन्दू सामाजिक व्यवस्था मे उपजाति के नाम की कोई चीज भी तो नहीं है। हिन्दू सामाजिक व्यवस्था मे प्रत्येक अन्तर्विवाही समूह जाति है। उपजाति की अवधारणा विदेशियो का प्रतिरोपण है। अनुलोम प्रतिलोम का सम्बन्ध वर्ण व्यवस्था से रहा है न कि जाति व्यवस्था से। हिन्दू शास्त्रकारो ने प्रतिलोम को दोषी माना है न कि अवैध। अनुलोम भी हिन्दू शास्त्रकारो के अनुसार मातदोष का जन्मदाता है। हिन्दू शास्त्रकारो की मान्यता म प्रतिलोम अवांछनीय रहा है न कि अवैध। किन्तु, अंग्रेजी विधिप्रणाली के आधार पर सगठित न्यायालयो ने इस नियम को दूसरे ढग से लागू किया। न्यायालयो ने एक ओर यह नियम प्रतिपादित किया कि ब्राह्मण कन्या और राजपूत (क्षत्रिय) वर का विवाह अवैध है (देखिये लक्ष्मी बनाम कल्याणसिंह 2 बम्बई एल० आर० 128) और, दूसरी ओर यह कि एक ब्राह्मण-स्त्री शूद्र-पुरुष से वैध विवाह नहीं कर सकती है (देखिए बाई काशी बनाम जमनादास 14 बम्बई एल० आर० 547)। इसप्रकार अन्तर्जातीय विवाहो की वैधता के प्रश्न को लेकर विवाह सम्बन्धी हिन्दू विधि का जो निर्वचन न्यायालयो म प्रस्तुत किया गया उसमे विरोध आ गया जिसके फलस्वरूप अन्तर्जातीय तथा अन्तसम्प्रदाय विवाहो को वैधता प्रदान करने के लिए एक अखिल भारतीय अधिनियम की आवश्यकता उत्पन्न हुई। उधर योरोपीय शिक्षा, नई व्यक्तिवादी आर्थिक व्यवस्था और शहरी म बढती हुई व्यक्तिवादिता ने अन्तर्जातीय विवाहो को प्रोत्साहित किया जिससे अन्तर्जातीय विवाहो को वैधता प्रदान करने की आवश्यकता और भी बढी। स्पेशल मैरिज एक्ट (1954) इसी सामाजिक आवश्यकता का प्रतिफल है। स्पेशल मैरिज एक्ट की प्रस्तावना म यह कहा गया है कि इस एक्ट का उद्देश्य विशेष अवस्थाओ म, विशेष विवाह प्रकार उसके निबन्धन और तलाक को वैधिक मान्यता प्रदान करना है। ये विशेष अवस्थाये उस समय उत्पन्न होती हैं जब दो जातियां सम्प्रदायो और धर्मों के व्यक्ति विवाह बन्धन म बधते है। इस एक्ट द्वारा मान्य विवाह प्रकार संस्कार नहीं समझौता है। उसम कर्मकाण्ड का कोई स्थान नहीं है। यह योरोपीय संघात से उत्पन्न सामाजिक आवश्यकता का प्रतिफल है।

हिन्दू मैरिज एक्ट (1955) इसके विपरीत हिन्दू विवाह परम्पराओ का सामाजिक परिवर्तन म उत्पन्न मर्यादाओ के अनुसार विधिकृत करने की आवश्यकता का प्रतिफल है। इससे जहां इस बात के हिन्दू सास्कृतिक पुनरुत्थान तथा सामाजिक नवजागृति की आकांक्षाओ की तुष्टि होती है वहा इससे शास्त्रीय तथा लोक परम्पराओ को वैधता मिलती है। यह एक्ट शास्त्रीय तथा लोक परम्पराओ के

वधिक सम वय का प्रयास सा लगता है। ऐसा लगता है कि मानो यह ब्रह्मसमाज तथा आर्यसमाज द्वारा चलाये गए उस आंदोलन का भाग का प्रतिफल हो जिसका उद्देश्य रहा है हिंदू समाज का उत्तरोत्तर निश्चित नवीकरण। यह एक्ट भी एक वैधानिक विकास प्रक्रिया का परिणाम है जिसका प्रारम्भ उस समय हुआ था जब अंग्रेजी प्रशासकों ने हिन्दू स्वीय विधि प्रणाली को एकबद्ध करने के लिए यह सिद्धांत निर्धारित किया था कि जहां शास्त्रीय मान्यताओं में विरोध हो वहां प्रथा को विधि माना जाय और हर दशा में वैधानिक निश्चितता लाने का प्रयास किया जाय किन्तु उस शास्त्रीय मान्यता या प्रथा को वैध न माना जाय जो राज्य-नीति (Public Policy) के विरुद्ध हो। यह पहला अखिल भारतीय एक्ट है जिसके पीछे एक वैधानिक विकास क्रम है। इसके पहले बम्बई में दो अधिनियम पास किए गए थे—एक, दि हिन्दू मैरिज डिसेबिलिटीज रिमूवल एक्ट (1946) जिसमें सगोत्र, सप्रवर और अंत उपजातीय विवाहों को वैधता प्रदान की गई थी और दूसरा, दि हिन्दू मैरिजेज वैलिडिटी एक्ट (1949) जिसमें हिंदुओं, जैनों और सिक्खों तथा उनकी उपजातियों में होने वाले विवाहों को वैध मान लिया गया था। पहला एक्ट शास्त्रीय मान्यताओं के विरोध में पड़ता था और दूसरा नई सामाजिक मान्यताओं के अनुकूल था। वास्तव में आवश्यकता ऐसे विधान की थी जो शास्त्रीय मान्यताओं को भी वैधता प्रदान करे और उन परम्पराओं को भी जो हिंदू तो हैं किन्तु शास्त्रीय नहीं है। हिन्दू मैरिज एक्ट इसी दिशा में उठा हुआ एक कदम है।

हिंदू मैरिज एक्ट (1955) और स्पेशल मैरिज एक्ट (1954) की उत्पत्ति भारतीय समाज की गत्यात्मकता में हुई है। हिन्दू मैरिज एक्ट का उद्देश्य परम्परागत हिंदू विवाह प्रथाओं को तथा हिंदू-नारी को नई परिस्थितियों में उच्चतर वैध सामाजिक स्तर प्रदान करना है जबकि स्पेशल मैरिज एक्ट का उद्देश्य उन विवाहों को वैधता प्रदान करना है जो दो विपरीतलिंगी व्यक्ति धर्म और जाति से परे, स्वतन्त्र रूप से स्थापित करते हैं। स्पेशल मैरिज एक्ट के रूप में, भारत के नर-नारियों को विवाह में पहले की अपेक्षा अधिक वैयक्तिक स्वतन्त्रता मिल गई है जो लाभप्रद भी हो सकती है और हानिकारक भी। स्पेशल मैरिज एक्ट उन नई सामाजिक परिस्थितियों से उत्पन्न हुआ है जो पाश्चात्य सभ्यता के संघात से उत्पन्न हुई हैं और जिनके कारण व्यक्ति को धार्मिक, जातीय और साम्प्रदायिक परम्परावादिता से स्वतन्त्रता देने का विचार अस्तित्व में आया है। स्पेशल मैरिज एक्ट उन सभी भारतीय नर नारियों पर लागू होता है जो इस एक्ट के तत्वावधान में विवाह करते हैं। हिंदू मैरिज एक्ट हिंदू विवाह पर लागू होता है। इसकारण, हिंदू मैरिज एक्ट में सबसे पहले हिंदू की परिभाषा की गई है। यह परिभाषा एक दृष्टिकोण से व्यापक है और दूसरे दृष्टिकोण से सीमित। उदाहरणार्थ, इस एक्ट के अनुसार हिंदू वह है जो धर्म में हिंदू हो या किसी भी हिंदू-सम्प्रदाय (जैसे वीरशैव

लिंगायत, ब्रह्मसमाज, प्रार्थनासमाज, आर्यसमाज, बौद्ध, जैन और सिक्ख) का मानने वाला हो। दूसरे शब्दों में, जो भी अपने को हिन्दू कहता है या हिन्दुत्व में विकसित किसी भी सम्प्रदाय का अनुयायी है, वह हिन्दू है। इस एक्ट के अनुसार वह सन्तान हिन्दू है जिसके माता पिता हिन्दू, बौद्ध, जैन या सिक्ख हैं चाहे वह सन्तान वैध हो या अवैध। यदि माता पिता में से कोई भी हिन्दू हो तो उनकी वैध या अवैध सन्तान हिन्दू है बशर्ते कि सन्तान का पालन पोषण उस गणजाति (Tribe) समुदाय (Community), समूह (Group) या परिवार में हुआ हो जिसके कि हिन्दू माता या पिता सदस्य है। हिन्दू धर्म में दीक्षित होने वाले और हिन्दू धर्म को त्यागकर पुनः उसमें दीक्षा लेने वाले भी हिन्दू हैं। किन्तु साथ ही साथ यह एक्ट उन पर लागू नहीं होता है जो धर्म से मुसलमान, ईसाई, पारसी और यहूदी हैं या जो यह सिद्ध कर दें कि हिन्दू विधि या परम्परा या इस एक्ट की कोई भी धारा उन पर लागू नहीं होती है। यह एक्ट अनुसूचित गणजातियों पर भी लागू होता है। इस प्रकार, इस एक्ट में हिन्दू और आदिवासी में अन्तर किया गया है। यह अन्तर वर्तमान युग की उपज है। शास्त्रकारों ने ऐसा अन्तर नहीं किया है। शास्त्रकारों ने, समय समय पर, हिन्दू प्रथाओं का इस ढंग से निर्वचन किया है कि स्थानीय प्रथाओं का शास्त्रीय प्रथाओं के साथ समन्वय हो सके। यही कारण है कि शास्त्रकारों ने प्रथाओं को महत्व दिया है। इन मान्यताओं के बावजूद भी इस एक्ट में यह कहा गया है कि इसके क्षेत्र में वे व्यक्ति या समूह भी आते हैं जो चाहे धर्म से हिन्दू न हों, किन्तु जिनपर इस एक्ट की धारायें स्वतः लागू होती हैं। यहाँ विचारणीय यह है कि जहाँ एक ओर यह निश्चित करने का प्रयास किया गया है कि हिन्दू कौन है वहाँ दूसरी ओर इस बात पर भी जोर दिया गया है कि हिन्दू समाज के सीमावर्ती क्षेत्र के लोग भी हिन्दू हैं। अनेक ऐसे समूह जो अनुसूचित गणजाति नहीं है और न पूर्णतया हिन्दू ही है भी इस एक्ट के अन्तर्गत आते हैं। यह वैधानिक व्यवस्था हिन्दू समाज के विकास का स्वाभाविक परिणाम सा लगती है।

हिन्दू मैरिज एक्ट का अभिभूतक वैधानिक प्रभाव पड़ा है क्योंकि इस एक्ट में कहा गया है कि इस एक्ट में जिन नियमों का विधान किया गया है उनसे सम्बन्धित हिन्दू विधि के मूलपाठ नियम और निर्वचन जो इस एक्ट के पहले लागू थे की वैधता समाप्त हो जायगी और जो विधि इस एक्ट के पहले लागू थी और जो इस एक्ट में प्रतिपादित मान्यताओं के विरोध में है वैध नहीं रहेगी। इसप्रकार, हिन्दू मैरिज एक्ट में जिन नियमों को प्रतिपादित किया गया है उनके विरोध में आने वाली पूर्व विधियों को समाप्त कर दिया गया है। किन्तु साथ ही साथ इसमें यह भी निष्कर्ष निकलता है कि इस एक्ट में हिन्दू विवाह सम्बन्धी जिन परम्पराओं का समावेश नहीं है और जो इस एक्ट की धाराओं के विरोध में नहीं है वे परम्परागत हिन्दू विधि के अनुसार चलती रहेंगी, बशर्ते कि वे राज्यनीति के विरोध

में न हो। इसप्रकार इस एक्ट के द्वारा हिंदू विवाह सम्बन्धी उन अनेक परम्पराओं का वध मान लिया गया है जो अनेक जातियों के स्तर पर पाई जाती हैं और जो इस एक्ट की धाराओं के विरोध में नहीं हैं। यह पहले ही कहा गया है कि हिंदू मैरिज एक्ट एक लिखित अधिनियम होने के बावजूद भी, अनेक शास्त्रीय तथा जन परम्पराओं को एक साथ मान्यता देता है। उदाहरणार्थ इस एक्ट के अनुसार, जैसा कि शास्त्रकारों की मान्यता है, सगोत्र सप्रवर और माता की ओर से पांच पीढ़ियों तथा पिता की सात पीढ़ियों के व्यक्तियों में होने वाले विवाह अवैध हैं किन्तु जहां परम्परानुसार ऐसे विवाह मान्य हैं वे अवैध नहीं हैं। इस एक्ट में केवल विवाह होम और सप्तपदी को वध कर्मकाण्ड माना गया है किन्तु साथ ही साथ परम्परागत कर्मकाण्डों की भी अनुमति दी गई है। सप्तपदी वहीं वध है जहां परम्परानुसार उसका होना आवश्यक है। इसप्रकार कन्यादान परम्परानुसार किया जा सकता है किन्तु, उसकी वैधानिक महत्ता कुछ भी नहीं है। इस एक्ट के उन्तीसवें सेक्शन की दूसरी धारा में यह विधान किया गया है कि हिंदू समाज में जहां प्रथा के द्वारा या किसी विशेष अधिनियम द्वारा तलाक का अधिकार मिला हुआ है वह इस एक्ट द्वारा प्रभावित नहीं होगा। इसका तात्पर्य यह हुआ कि जहां जातीय प्रथाओं में पारस्परिक अनुमति द्वारा पति पत्नी को एक दूसरे को तलाक देने का अधिकार है वहां यह अधिकार वैसा ही बना रहेगा यद्यपि इस एक्ट में पारस्परिक अनुमति (Mutual Consent) द्वारा पति पत्नी का तलाक देने का अधिकार नहीं है।

हिंदू विवाह सम्बन्धी सभी प्रथाओं को इस एक्ट के अधिकार क्षेत्र में लाने के लिये प्रथा की व्यापक परिभाषा की गई है। प्रथा इस एक्ट के अनुसार, वह नियम है जो समानरूप से लगातार काफी दिनों तक व्यवहार में आने के कारण, किसी क्षेत्र, गणजाति समुदाय, समूह या परिवार के हिंदुओं में विधि की सत्ता ग्रहण कर लेता है। किन्तु इस एक्ट के अनुसार वही प्रथा वध है जो राज्य नीति के विरोध में न हो और जिस प्रथा का सम्बन्ध केवल परिवार से है तथा परिवार के सदस्यों द्वारा वह कभी तोड़ी न गई हो। यहां प्रथा की वही परिभाषा अपनाई गई है जो परम्परागत हिन्दू विधि में मान्य रही है। प्रथा को ही वैधता प्रदान करने के दृष्टिकोण से दोनों एक्टों में अन्य अनेक परिभाषायें दी गई हैं। हिंदू शास्त्रकारों ने पूर्वज की श्रेणी में पिता और उसके वंशज को ही स्वीकार किया है किन्तु इन नये विधानों में माता और पिता दोनों को वंशज मान लिया गया है। नये विधान के अनुसार, वे दो व्यक्ति पूर्ण रक्त सम्बन्धी हैं जो एक ही पुरुष और स्त्री की सन्तान हैं किन्तु, जो एक पुरुष और उसकी भिन्न भिन्न स्त्रियों की सन्तान हैं वे अर्द्ध रक्त सम्बन्धी हैं। जो अलग अलग पतियों से उत्पन्न एक स्त्री की सन्तान हैं, वे मातृ-रक्त-सम्बन्धी हैं। इसप्रकार, इन एक्टों में तीन प्रकार के रक्त सम्बन्धी मान गये हैं। मां की ओर से तीन पीढ़ी और पिता की ओर से पांच पीढ़ी में आने वाले

व्यक्ति सपिण्ड सम्बन्धी मान गये हैं। जो स्त्री पुरुष एक दूसरे की पूर्वज शाखा में आते हैं, जो स्त्री और पुरुष एक दूसरे की ऊपर या नीचे की पूर्वज शाखाओं में किसी के पति या पत्नी रहे हैं जो स्त्री किसी पुरुष के भाई पिता माता पितामह या दादी के भाई की पत्नी रही हो भाई बहिन चाचा और भतीजी, चाची और भतीजा तथा भाई बहनों की सन्तान प्रतिषधी सम्बन्धी श्रेणी (Prohibited Degrees of Relationship) में आते हैं।

हिन्दू मैरिज एक्ट के अनुसार एक पुरुष और एक नारी का विवाह तभी सम्पन्न हो सकता है जब विवाह के समय पुरुष की कोई जीवित पत्नी न हो और नारी का कोई जीवित पति न हो दोनों में से कोई भी हतबुद्धि (Idiot) या पागल (Lunatic) न हो वर की आयु अठारह साल की हो गई हो और कन्या की पन्द्रह साल की (जहाँ कन्या की आयु अठारह साल की न हुई हो वहाँ उसके अभिभावक की अनुमति ले ली गई हो) और दोनों प्रतिषेधी तथा सपिण्ड सम्बन्धी श्रेणी में न आते हों या जब तक कि प्रचलित प्रथा द्वारा प्रतिषधी तथा सपिण्ड सम्बन्धी श्रेणी के व्यक्तियों में विवाह मान्य न हो। इसप्रकार, इस एक्ट के अनुसार, वर कन्या कुंवारे भी हो सकते हैं विधुर और विधवा भी तथा तलाक दिये हुए भी। इस एक्ट में बहुपत्नीत्व तथा बहुपतित्व अमान्य है। एक पुरुष अपना दूसरा विवाह तभी कर सकता है जब उसकी पत्नी मर जाय या वह अपनी पत्नी को तलाक दे दे या उसकी पत्नी उसे तलाक दे दे। स्त्री भी इसीप्रकार अपने पति के जीवित रहते दूसरा विवाह नहीं कर सकती है। विवाह में वर कन्या की अनुमति और उनमें यौन सम्बन्ध की क्षमता का होना आवश्यक है। यह पहले ही कहा जा चुका है कि शास्त्रकारों ने वर कन्या की अनुमति की आवश्यकता पर प्रत्यक्ष जोर नहीं दिया है। शास्त्रों में कन्या की अनुमति की आवश्यकता का प्रश्न ही नहीं उठाया गया है यद्यपि शास्त्रकारों की मान्यताओं से यह अवश्य ध्वनित होता है कि कन्या पर उसके पिता या अभिभावक का वैसा स्वत्व नहीं है जैसा कि किसी व्यक्ति का उसकी भौतिक वस्तुओं पर होता है। इसका सबसे बड़ा प्रमाण यह है कि कन्यादान से ही हिन्दू विवाह सम्पन्न और बन्द नहीं होता है[1]। अभिभावक कन्या का संरक्षक है और जहाँ कन्या नाबालिग होती है, अभिभावक की अनुमति की आवश्यकता आती है। हिन्दू मैरिज एक्ट में दोनों प्रकार का विधान किया गया है। जहाँ कन्या अठारह वर्ष की है उसके अभिभावक की अनुमति की आवश्यकता नहीं है किन्तु जहाँ उसकी आयु अठारह वर्ष से कम है अभिभावक की अनुमति की आवश्यकता है। यह नई परिस्थितियों और परम्परा का समन्वय है[2]।

---

1 श्री सम्पूर्णानन्द : हिन्दू विवाह में कन्यादान

2 कन्या का मूल अभिभावक पिता है। उसके बाद क्रमशः पितामह, भाई, चाचा

स्पेशल मैरिज एक्ट में विवाह के वैध आधारों को थोड़ा बदलकर रक्खा गया है, क्योंकि इसका उद्देश्य धर्मनिरपेक्ष विवाह को वैधता प्रदान करना है। इस एक्ट के अनुसार उसी वर और कन्या का विवाह वैध है जिनके विवाह के समय, उनमें से कोई पत्नी या पति जीवित न हो, जिनमें से कोई भी मन्दबुद्धि या पागल न हो, दोनों परस्पर प्रतिबंधित सम्बन्धों की श्रेणी में न आते हों और विवाह के समय वर तथा कन्या क्रमशः इक्कीस और अठारह साल की आयु के हो गए हों। भारत के बाहर जहाँ यह एक्ट लागू होता है, वहाँ इस एक्ट के अन्तर्गत तभी विवाह हो सकता है, जब वर और कन्या दोनों भारतीय नागरिक हों। इस एक्ट का उद्देश्य अन्तर्जातीय, अन्तर्धर्म और अन्तसम्प्रदाय विवाहों को वैधानिक मान्यता देना है जिसके कारण इसमें अभिभावक की अनुमति आवश्यक नहीं है। इस एक्ट के अनुसार, विवाह की वैयक्तिक स्वतन्त्रता तभी मिल सकती है जब वर और कन्या वयस्क हों। यहाँ प्रथा को वैध अपवाद के रूप में नहीं रक्खा गया है। इस एक्ट के अनुसार विवाह में अभिभावक की अनुमति नहीं वरन् विवाह-अधिकारी की अनुमति आवश्यक है। विवाह सम्बन्ध में बंधने के इच्छुक वर और कन्या के लिये यह आवश्यक है कि वे उस क्षेत्र के विवाह अधिकारी के पास अनुमति प्राप्त करने के लिये प्रार्थना पत्र भेजें, जिसमें वर या कन्या प्रार्थना पत्र देने के तीस दिन पहले तक निवास कर चुका हो। प्रार्थना-पत्र विवाह का नोटिस है जिसे विवाह अधिकारी मैरिज नोटिस बुक में दर्ज करके अपने दफ्तर में ऐसी जगह टाँगने के लिये बाध्य है जहाँ सर्वसाधारण की पहुँच हो। प्रस्तावित विवाह की नोटिस मिलने के तीस दिन बाद विवाह हो सकता है उसके पहले नहीं। प्रस्तावित विवाह के प्रति कोई भी इस बात पर एतराज कर सकता है कि प्रस्तावित विवाह से एक या कई वैध आधार भंग होते हैं। किसी के एतराज उठाने पर विवाह-अधिकारी के लिये जाँच करना आवश्यक हो जाता है और जब तक कि वह इस बात से सन्तुष्ट न हो जाय कि एतराज निराधार है या जब तक कि एतराज वापस न ले लिया जाय यह एक्ट विवाह-अधिकारी को विवाह की अनुमति देने का अधिकार नहीं देता है। विवाह-अधिकारी को सिविल कोर्ट के अधिकार दिये गये हैं। विवाह अधिकारी के अनुमति न देने पर, जिस क्षेत्र में विवाह अधिकारी आता है, उस क्षेत्र के जिला अधिकारी के न्यायालय में विवाह अधिकारी के निर्णय के प्रति अपील की जा सकती है। जिला-अधिकारी का निर्णय अन्तिम माना गया है। यदि एतराज निराधार साबित होता है तो एतराज करने वाला हर्जे खर्चे के दण्ड का भागी है। इस प्रकार, विशेष विवाह अधिनियम से एक विशेष प्रकार का विवाह

और मामा इत्यादि आते हैं। यह तालिका लगभग वही है जो शास्त्रकारों ने दी है। इसमें एक अन्तर है। इस एक्ट में माँ को भी विवाह में कन्या देने का अधिकार है।

अस्तित्व मे आया है जिसमे विवाह की वैयक्तिक स्वतन्त्रता तो है किन्तु अभिभावक का स्थान अदालत न ले लिया है।

हिन्दू मैरिज एक्ट (1955) से हिन्दू-विवाह को वधता प्रदान की गई है और इसकारण उसमे ववाहिक कमकाण्ड को भी वध स्तर प्रदान किया गया है। हिन्दू मैरिज एक्ट के अनुसार वर या कन्या मे से किसी भी एक पक्ष की ववाहिक प्रथाओ के अनुसार विवाह सम्पन्न किया जा सकता है। किन्तु, जहा ववाहिक प्रथा के कमकाण्ड म सप्तपदी का विधान है, वहा विवाह तभी वैध समझा जायगा, जब सप्तपदी का कमकाण्ड पूरा हो जाय। साथ ही साथ, इस एक्ट मे यह भी विधान है कि जहा कोई जातीय कमकाण्ड, जाति के अनुसार, विवाह के लिए आवश्यक हो वहा वही कमकाण्ड विवाह को वध बनाने के लिए काफी है बशर्ते कि अय बातें एक्ट के अनुसार हो। इस एक्ट मे विवाह के बाद यौन सम्बन्धो के आधार पर विवाह को वैधता प्रदान करने के स्थान पर, सप्तपदी को अधिक महत्ता दी गई है। इसका यह तात्पय नही है कि इस एक्ट मे विवाहोपरान्त यौन सम्बन्ध आवश्यक नही माने गए हैं। वास्तविकता यह है कि हिन्दू विधिप्रणाली की परम्पराओ के अनुसार, सप्तपदी से ही विवाह पूर्ण समझा जाता रहा है[1] और इसी परम्परा को इस एक्ट के द्वारा वधता मिली है।

जसा कि हिन्दू विवाह विधान की परम्परा रही है, नये विधान म भी विधवा-पुनर्विवाह के लिये किसी कमकाण्ड का विधान नहीं किया गया है। स्पेशल मरिज एक्ट के अन्तगत होने वाले विवाह धार्मिक नही अदालती विवाह है। अत उसम कमकाण्ड का स्थान ही नही है, यद्यपि एक्ट मे इस बात का विधान किया गया है कि वर कन्या अपनी मर्जी से किसी भी प्रकार के कमकाण्ड से अपना विवाह सम्पन्न कर सकते है। किन्तु, स्पशल मरिज एक्ट के अनुसार, विवाह तभी वध होगा जब विवाह अधिकारी और तीन गवाहो की उपस्थिति म वर और कन्या लिखित रूप से एक दूसरे के पति पत्नी बनने की घोषणा कर[2] और उस घोषणापत्र पर गवाहो के साथ साथ विवाह-अधिकारी के भी हस्ताक्षर हो। विवाह-अधिकारी द्वारा मिलने वाला सर्टीफिकेट जिस पर वर कन्या और गवाहो के हस्ताक्षर हो और जिसकी नकल मरिज सर्टीफिकेट बुक म नत्थी कर दी गई हो, विवाह का प्रमाण है। हिन्दू मरिज एक्ट क अनुसार होने वाले विवाह के लिये सर्टीफिकेट (प्रमाणपत्र) की आवश्यकता नही है। इसप्रकार हिन्दू विवाह अधिनियम के अनुसार होने वाला विवाह समझौता संस्कार है जबकि विशेष विवाह अधिनियम के अनुसार होने वाला विवाह केवल एक समझौता है। किन्तु नये विधान के अनुसार जसा कि

1 सम्पूर्णानन्द वही।
2 घोषणापत्र का फार्म भी एक्ट द्वारा निर्धारित है।

न्यायालयों के निर्णयों से स्पष्ट है हिन्दू विवाह मूलतः समझौता माना जाता है। वैधानिक दृष्टिकोण से, न्यायालयों में यह माना गया है कि हिन्दू विवाह, संस्कार और संस्था होने के साथ साथ एक संविदा भी है जो पति पत्नी उस संविदा से सम्बन्धित अधिकार और कर्तव्यों के दृष्टिकोण से निर्धारित करते हैं। संस्कार होने के साथ साथ, हिन्दू विवाह एक व्यावहारिक कानूनी समझौता भी है। एक कानूनी संविदा के रूप में विवाह की धारणा का अभ्युदय यूरोपीय विधि प्रणाली के प्रभाव का परिणाम है। हिन्दू सामाजिक आदर्शों में विवाह आज भी एक अविच्छेद्य संस्कार है किन्तु हिन्दू विधान में विवाह एक संविदा पहले है संस्कार बाद में।

दोनों एक्टों में विवाह के निबन्धन (Registration) का विधान है। किन्तु, हिन्दू विवाह बिना निबन्धन के भी वैध है। विशेष विवाह (Special Marriage) भी जो स्पेशल मैरिज एक्ट के अनुसार होता है निबन्धित करवाया जा सकता है। दोनों एक्टों में इस बात का भी विधान है कि यदि विवाह के बाद ऐसा पाया जाय कि विवाह से वैध वैवाहिक आधारों की अवहेलना हुई है, तो अदालत द्वारा विवाह अवैध कराया जा सकता है। यदि पति पत्नी के सहवास से या पत्नी पति के सहवास से अकारण अलग हो जाते हैं तो परिवेन्ति पति या पत्नी को इस बात का अधिकार है कि वह अदालत द्वारा अपने सहवासी अधिकारों की माँग करे और यदि अदालत इस बात से सन्तुष्ट है कि परिवेदित व्यक्ति (पति या पत्नी) अकारण ही अपने सहवासी अधिकारों से वंचित है तो अदालत को सहवासी अधिकारों को पुनः संस्थापित करने की आज्ञा देने का अधिकार है। सहवासी अधिकारों की माँग करने वाले प्रार्थना पत्र के उत्तर में, विरोधी पार्टी का व्यक्ति केवल उन्हीं तथ्यों का सहारा लेकर सहवास से अलग रहने की माँग कर सकता है जो इन दोनों अधिनियमों में न्यायिक पृथक्करण (Judicial Separation) और तलाक के आधार के रूप में स्वीकार किए गए हैं।

दोनों अधिनियमों में तलाक का भी विधान किया गया है और साथ ही साथ, इस बात की भी कोशिश की गई है कि जहाँ तक हो सके तलाक को हँसी खेल की वस्तु बनने से रोक कर विवाह की पवित्रता को बनाए रखा जाय। दोनों अधिनियमों में एकदम तलाक माँगने का विधान नहीं है। सहवासी अधिकारों की पुनः संस्थापना के विधान के आधार पर, परिवेदित पति या पत्नी अपने सहवासी अधिकारों की माँग कर सकता है और उसमें असफल होने पर, न्यायिक पृथक्करण की माँग कर सकता है। दोनों अधिनियमों के अनुसार न्यायिक पृथक्करण तलाक की भूमिका है। न्यायिक पृथक्करण, तलाक के पहले का वह काल है जिसमें पति पत्नी का तलाक नहीं होता है, किन्तु अदालत की अनुमति लेकर दोनों एक दूसरे के सहवास से अलग रहते हैं। यह वह काल है जिसमें पति पत्नी को अपनी समस्या पर सोचने का और यदि वे चाहें तो परस्पर समझौता करने का मौका भी मिलता है। जाति-पंचायतों में भी ऐसे ही नियम का अनुसरण किया जाता रहा है क्योंकि जाति पंचायतों

मे एकदम तलाक नही मिलता है। पहले पति पत्नी एक दूसरे से अलग हो जाते है और बाद मे पंचायत द्वारा तलाक का फैसला चलता रहता है। कभी कभी इसी बीच में पति पत्नी में समझौता भी हो जाता है। न्यायिक पृथक्करण का विधान भारतीय परम्परा की देन है।

हिन्दू विवाह अधिनियम के अनुसार, पति पत्नी में से कोई भी तब न्यायिक पृथक्करण की माग करने का अधिकारी है जब प्रार्थी के जीवन साथी ने, प्रार्थनापत्र देने के समय तक, लगातार दो वर्षो से उसका परित्याग किया हो, जब प्रार्थी के साथ उसने इस प्रकार निर्दयता से व्यवहार किया हो कि प्रार्थी के मन में यह आशंका उत्पन्न हो गई हो कि प्रार्थी का अपने जीवन साथी के साथ और भी अधिक रहना, प्रार्थी के लिए नुकसानदेह या खतरनाक है, जब प्रार्थी का जीवन साथी, प्रार्थनापत्र देने के समय तक, एक साल से संघातिक कोढ की बीमारी का शिकार रहा हो जब प्रार्थी का जीवन साथी गुप्त संक्रामक यौनिक रोग का शिकार रहा है और वह रोग उस प्रार्थी से न लगा हो जब प्रार्थी का जीवन साथी, प्रार्थनापत्र देने के समय तक कम से कम दो साल तक पागल रहा है और जब प्रार्थी के जीवन साथी ने विवाह के बाद प्रार्थी के अलावा किसी अन्य से यौन सम्बन्ध स्थापित किया है। हिन्दू मैरिज एक्ट के अनुसार इसप्रकार, विवाह के कम-से कम एक साल बाद ही न्यायिक पृथक्करण की माग की जा सकती है।

स्पेशल मैरिज एक्ट के अन्तर्गत, पति या पत्नी द्वारा सहवासी अधिकारों के पुनर्स्थापन की माग तभी की जा सकती है जब उनका विवाह इस एक्ट के ही अन्तर्गत हुआ हो और प्रार्थी के जीवन साथी ने बिना किसी संगत कारण के उसके सहवास का त्याग किया हो। स्पेशल मैरिज एक्ट में न्यायिक पृथक्करण के आधार हिन्दू मैरिज एक्ट की अपेक्षा अधिक ज्यादा और कठिन हैं। इस एक्ट के अन्तर्गत पति या पत्नी के द्वारा सहवासी अधिकारों के पुनर्स्थापन की अवहेलना करने विवाह के बाद परसम्बन्ध स्थापित करने, प्रार्थनापत्र देने के पहले तीन साल तक जीवन साथी का परित्याग करने, किसी अपराध में सात साल की सजा हो जाने पर जिसमें प्रार्थनापत्र देने के समय तीन साल की सजा भुगती जा चुकी हो निर्दय व्यवहार करने प्रार्थनापत्र देने के समय तक तीन साल तक पागल रहने या कोढ या गुप्त संक्रामक यौनिक रोगों का शिकार होने पर तथा सात साल तक लापता रहने पर न्यायिक पृथक्करण की माग की जा सकती है। ये नियम पति पर भी लागू होते हैं और पत्नी पर भी। यदि न्यायिक पृथक्करण की माग का आधार कोढ या संक्रामक गुप्त यौनिक रोग हैं तो वे तभी न्यायिक पृथक्करण का आधार बन सकते हैं जब वे प्रतिवादी को प्रार्थी से न लगे हो। इसप्रकार स्पेशल मैरिज एक्ट में विवाह के तीन साल के बाद ही न्यायिक पृथक्करण की माग की जा सकती है। इसके अतिरिक्त, यदि विवाह के बाद पति से बलात्कार, गुदा मैथुन या पशुमैथुन का अपराध हो गया

हो तो पत्नी को न्यायिक पृथक्करण की माँग करने का अधिकार है।

दोनों अधिनियमों में तलाक को वैध कर दिया गया है किन्तु तलाक के लिए प्रार्थनापत्र विवाह के तीन साल बाद ही दिया जा सकता है। हिन्दू मैरिज एक्ट के अनुसार तलाक के आधार हैं परसम्बन्ध, धर्म परिवर्तन, तलाक के लिए प्रार्थनापत्र देने के समय तक कम से कम तीन साल तक पति या पत्नी का पागल रहना, संघातिक तथा दुस्साध्य कोढ़ या गुप्त यौन रोगों से पीड़ित रहना, विरक्त होकर संन्यासी होना, सात साल तक लापता रहना, न्यायिक पृथक्करण की डिग्री के बाद दो साल तक यौन सम्बन्ध न रखना और दो साल तक सहवासी अधिकारों के पुनःस्थापन की डिग्री की अवहेलना करना। दो आधारों पर पत्नी को तलाक माँगने का अधिकार मिला हुआ है—एक, विवाह के पहले या बाद में यदि पति ने दूसरा विवाह किया था और तलाक के लिए प्रार्थनापत्र देने के समय यदि दूसरी पत्नी जीवित हो और, दूसरा यदि विवाह के बाद पति बलात्कार, गुदामैथुन या पशुमैथुन का अपराधी हुआ हो। स्पेशल मैरिज एक्ट में इन आधारों के अलावा दो और आधारों का विधान किया गया है—एक, क्रूरता और दूसरा आपसी समझौता (Mutual Consent) द्वारा तलाक की माँग। क्रूरता क्या है? इसकी विवेचना स्पेशल मैरिज एक्ट में नहीं की गई है जो इस एक्ट की कमजोरी है। इस एक्ट में विवाह में वैयक्तिक स्वतन्त्रता, प्रेम विवाह और रूमानी विवाहों को प्रोत्साहन मिलने की सम्भावना है। ऐसे ही विवाहों में विवाह विच्छेद की भी सम्भावना अधिक है। ऐसी दशा में केवल क्रूरता शब्द को लिखकर उसका निर्वचन न्यायालयों और वकीलों पर छोड़ना एक ऐसी वैधानिक कमी है जिससे हानि ही अधिक हो सकती है।

आपसी समझौते द्वारा विवाह विच्छेद का अधिकार देने के कारण स्पेशल मैरिज एक्ट की आलोचना भी की गई है। इस विधान का दुरुपयोग न हो, इसकारण, इसपर कुछ वैधानिक रोकें भी लगाई गई हैं। पति-पत्नी आपसी समझौते द्वारा तभी तलाक की माँग कर सकते हैं जब उनका विवाह इस एक्ट के अन्तर्गत हुआ हो, जब विवाह सम्पन्न या निबंधित होने के तीन साल बाद तलाक के लिए प्रार्थनापत्र दिया गया हो, जब प्रार्थनापत्र देने के समय पति पत्नी एक साल से अलग अलग रहते आए हों और प्रार्थनापत्र देने के समय से लेकर उसका निर्णय होने तक अलग अलग रहें। इस अधिनियम में दिए गए विधान के अनुसार आपसी समझौते के आधार पर माँगे गए तलाक के केस की सुनवाई प्रार्थनापत्र देने की तारीख के एक साल बाद होगी और इस बीच में आपसी फैसले द्वारा तलाक लेने का निर्णय पति-पत्नी के बीच में बना रहना चाहिए। अधिनियम के अनुसार, अदालत तभी तलाक की अनुमति देगी जब अदालत को यह निश्चय हो जाय कि आपसी समझौते द्वारा तलाक लेने का निर्णय पति-पत्नी ने अपनी अपनी सही राय से किया है।

परम्परागत हिन्दू विधि प्रणाली में, पति या पत्नी में से किसी एक के द्वारा

धर्मपरिवर्तन करने में उनके विवाह का स्वतः वैध विच्छेद नहीं हो जाता है। यदि पति या पत्नी में से कोई भी धर्म परिवर्तन कर ले तो नये विधान के अनुसार, हिन्दू विवाह अधिनियम के आधार पर विवाह विच्छेद की माग की जा सकती है। उनमें से यदि कोई भी इसाई हो जाता है और दूसरा हिन्दू रहता है, तो इसाई धर्म ग्रहण करने वाला नेटिव कन्वर्टस मैरिज डिसोल्यूशन एक्ट के आधार पर अपने जीवन साथी को तलाक दे सकता है क्योंकि इस एक्ट का उद्देश्य उसी अवस्था में तलाक का विधान करना है जहां पति या पत्नी में से कोई भी इसाई हो जाए। अदालत से तलाक की डिगरी मिलने के बाद, वादी प्रतिवादी को, पुनर्विवाह करने का अधिकार मिल जाता है।

विधवा विवाह को वैधता मिलना योरोपीय सघात से उत्पन्न एक विशेष क्रान्तिकारी सांस्कृतिक विकास है। यह पहले ही कहा चुका है कि हिन्दू शास्त्रकार हर दशा में विधवा पुनर्विवाह के विरोधी नहीं रहे हैं यद्यपि उन्होंने इसको खुली छूट नहीं दी है। शास्त्रकार नियोग के पक्ष में रहे हैं और नियोग के लिए उन्होंने देवर और सपिण्ड को उत्तम माना है। शास्त्रीय मान्यताओं में देवर से नियोग उत्तम माना गया है और निम्नवर्णी जातियों में विधवा का देवर से पुनर्विवाह अधिमान्य माना गया है। दोनों दशाओं का आधार एक ही मान्यता रही है और वह यह है कि विधवा और उसके पहले पति से उत्पन्न बच्चे पति के परिवार में ही रहें और विधवा का अपने पति के परिवार से भरण पोषण चलता रहे। पुनर्विवाह करने पर विधवा का अपने मृत पति के परिवार से भरण पोषण का अधिकार समाप्त हो जाता है। किन्तु योरोप से सम्पर्क स्थापित होने के समय उच्चवर्णी जातियों में विधवा-पुनर्विवाह अमान्य हो गया था। भारत के समाज सुधारकों ने शास्त्रों का हवाला देकर यह साबित किया कि शास्त्रों में विधवा-पुनर्विवाह का एकदम निषेध नहीं है और सामाजिक विधान द्वारा विधवा पुनर्विवाह को वैध बनाने की माग की। इसके फलस्वरूप, हिन्दू विडोज रिमैरिज एक्ट (1856) पास हुआ जिससे विधवा पुनर्विवाह और उससे उत्पन्न सन्तान को वैध करार दिया गया।

हिन्दू विडोज रिमैरिज एक्ट (1856) के द्वारा बालिग हिन्दू विधवा को पुनर्विवाह का अधिकार दिया गया है। यदि विधवा बालिग नहीं है तो पुनर्विवाह के लिए उसके अभिभावक की अनुमति आवश्यक है। अभिभावक वही सम्बन्धी हैं जिनका उल्लेख हिन्दू मैरिज एक्ट में हुआ है। विवाह की इच्छुक विधवा के मार्ग में रुकावट डालने वाले के लिए इस एक्ट में दण्ड का विधान किया गया है। विधवा के पहले विवाह में किए गए कर्मकाण्ड को फिर से किया जा सकता है या बिना उनके ही विवाह को सम्पन्न किया जा सकता है। यदि विधवा बालिग है तो उसकी अनुमति ही विवाह को वैध बनाने के लिए काफी है। इस एक्ट से जहां विधवा को पुनर्विवाह का अधिकार मिलता है वहां जैसी कि हिंदू परम्परा रही है, पुनर्विवाह से विधवा

के कुछ अधिकार समाप्त भी हो जाते हैं। उदाहरणार्थ, पुनर्विवाह करने पर मृत पति की सम्पत्ति में विधवा का उत्तराधिकार या मृत पति के परिवार से विधवा का भरण-पोषण अधिकार समाप्त हो जाता है। पुनर्विवाहित विधवा अपने मृत पति के नाम पर दत्तक पुत्र नहीं ले सकती है। हाँ, यह अवश्य है कि पुनर्विवाह के बाद, विधवा के जो अधिकार बनते हैं वे इस एक्ट से प्रभावित नहीं है। पुनर्विवाहित विधवा अपने पहले पति के पुत्र की सम्पत्ति की तब उत्तराधिकारिणी है जब उसका पुत्र उसके पुनर्विवाह के बाद लावारिस मर जाता है। इस विषय पर वैधानिक मतैक्य नहीं है कि यदि पुनर्विवाह से पहले विधवा धर्म परिवर्तन करे और बाद में पुनर्विवाह करे तो वह मृत पति की सम्पत्ति की अधिकारिणी रहती है या नहीं। इलाहाबाद हाई-कोर्ट के अनुसार धर्म परिवर्तन के बाद यदि विधवा पुनर्विवाह करती है तो मृत पति की सम्पत्ति में उसका जो भी अधिकार था वह अक्षुण्य रहता है क्योंकि धर्म परिवर्तन के बाद पुनर्विवाह इस एक्ट के अंतर्गत पुनर्विवाह नहीं है। किन्तु अन्य हाई कोर्टों के अनुसार धर्म परिवर्तन करके पुनर्विवाह करने वाली विधवा का अपने मृत पति की सम्पत्ति पर से वैसे ही अधिकार समाप्त हो जाता है जैसे कि पुनर्विवाह से होता है।

नए विधान में बहुपत्नीत्व तो समाप्त हो गया है किन्तु न्यायालय के निर्णयों में अवरुद्ध स्त्री को भरण पोषण का वैसे ही अधिकार दिया गया जैसे कि विधवा का है। अवरुद्ध स्त्री दासी है जो रखैल के स्तर पर आती है। रजवाड़ों में ऐसी स्त्रियों की संख्या अधिक रही है। अवरुद्ध स्त्री वह स्त्री है जो हिन्दू हो जो अपने हिन्दू प्रेमी के जीवन पर्यन्त लगातार उसके साथ रहे और उसके तथा उसके प्रेमी के यौन-सम्बन्ध न तो पर सम्बन्धों की श्रेणी में आते हों और न अगम्यगमन की श्रेणी में। इसका तात्पर्य यह हुआ कि रखैल और उसका स्वामी दोनों हिन्दू हों और स्वामी के मरने तक दोनों का सम्बन्ध बना रहा हो तथा रखैल कभी भी किसी दूसरे के पास न रही हो। रखैल विवाहित भी हो सकती है और अविवाहित भी। उसकी सन्तान को दासी पुत्र की संज्ञा दी गई है। रखैल, अपने स्वामी के जीवन-काल में, भरण पोषण की माँग के लिए वैध अधिकार का प्रश्न नहीं उठा सकती है। स्वामी की मृत्यु के बाद ही उसे भरण पोषण का अधिकार मिलता है बशर्ते कि उसमें वे वैध आधार हो जिनका ऊपर वर्णन किया गया है। दासी पुत्रों को भी अपनी माता व स्वामी की सम्पत्ति से भरण पोषण का अधिकार मिलता है। किन्तु यदि स्वामी शूद्र है तो रखैल और उसके पुत्रों को स्वामी के मरने के बाद उसकी सम्पत्ति में उत्तराधिकार का अधिकार मिलता है। इसप्रकार इसकाल में, दासी रखैल की हिन्दू-परम्पराओं को वैध माना गया है। उत्तराधिकार की संशोधित विधि से यदि संयुक्त गृहस्थी को ठेस पहुँची है तो अवरुद्ध स्त्री की वैधता ने संयुक्त गृहस्थी को प्रश्रय दिया है। हाँ, यह अवश्य है कि इस एक्ट द्वारा रखैल की परिभाषा इसप्रकार से की गई है कि रखैल के लिए सामाजिक स्थान कम हो गया है। इस एक्ट के अनुसार, रखैल वह है जिसके साथ

अधिकार में आ गए है। विवाह और तलाक के प्रश्न धीरे धीरे वयक्तिक बनते जा रहे है।

यारोपीय सघात के कारण हिन्दू विवाह परम्पराओ का जो विधिकरण हुआ है उसमें अनेक परपरायें अपने परम्परागत रूप में या परिवर्तित रूप मे वध मान ली गई है और अनेक परम्पराय अवध हो गई है। इन परम्पराओ मे शास्त्रीय, जातीय तथा स्थानीय परम्परायें शामिल हैं। शास्त्रीय परम्पराओ के साथ साथ अनेक प्रचलित परम्पराओ का वधता मिलना इस काल का एक प्रमुख सांस्कृतिक विकास है। हिन्दू मरिज एक्ट से अनेक प्रचलित जातीय और स्थानीय परम्परायें वध अपवाद के रूप म स्वीकार कर ली गई है बशर्ते कि वे राज्य नीति के विरोध म न हो। इस दष्टिकोण से यह विधान हिन्दू समाज क एकीकरण के विरुद्ध पडता है। लेकिन साथ ही साथ, इसस किसी दशा तक हिन्दू समाज के एकीकरण को प्रोत्साहन भी मिलता है। नय विधान म सभी वर्गों और सभी जातियो के लिए बहुविवाह अवैध है। नये विधान के दष्टिकोण से जौनसार बावर की बहुपतित्व की प्रथा एक वधानिक अपवाद ही नही वरन एक वधानिक पहेली बन गई है। एक स्त्री के रहने हुए दूसरा विवाह करन वाला, हिन्दू मरिज एक्ट के अनुसार, दण्ड का भागी है। हिन्दू विवाह के आठ प्रकारो म हिन्दू मरिज एक्ट केवल ब्राह्म विवाह को मान्यता प्रदान करता है। इस एक्ट की मान्यता मे सभी हिन्दू विवाह ब्राह्म हैं जब तक कि यह प्रमाणित न किया जाय कि अमुक विवाह ब्राह्म नही है। आसुर विवाह मान्य है पर एक वध प्रथायी अपवाद के रूप म। वधू धन दिया जा सकता है पर वह विवाह सविदा का वध अग नही है। उसी प्रकार स दहज भी विवाह सविदा का वध अग नही है। इस एक्ट स विवाह वयक्तिक हो गया है किन्तु व्यवहार मे विवाह अब भी वर और कन्या के परिवारो क बीच म एक समझौता है। दहज और वधूधन अवध होते हुए भी तब तक चलते रहेंगे जब तक विवाह पूणतया वर और कन्या के बीच म स्वतन्त्र समझौता नही बन जाता है। ब्राह्म और दव विवाह वस्तुत एक ही हैं। आर्य और प्राजापत्य समयातिरेक होकर विलीन हो गए हैं तथा गान्धव, राक्षस और पशाच आज सामाजिक अपराध बन गए हैं और भारतीय दण्ड सहिता के नियमानुसार दण्डनीय हो गए हैं।

स्पेशल मरिज एक्ट के द्वारा गान्धव विवाहो को वधानिक आधार प्रदान किया गया है। गान्धव विवाह वहा अपराध है जहा कन्या नाबालिग है क्योकि नाबालिग कन्या से विवाह करने वाले वर पर कन्या अपहरण का अपराध लगाया जा सकता है। नये विधान क अनुसार अठारह वष की कन्या और इक्कीस वष का वर ही गान्धव विवाह कर सकते हैं। किन्तु स्पेशल मैरिज एक्ट ने गान्धर्व विवाह के परम्परागत रूप को बदल दिया है। परम्परागत गान्धव विवाह म वर और कन्या परस्पर सम्मति से वैवाहिक बन्धन म बधकर बाद म अभिभावकों या समाज का अनुमोदन प्राप्त करते थे। किन्तु, स्पेशल मरिज एक्ट म बालिग वर और कन्या को

विवाह से पहले अदालत की अनुमति लेना आवश्यक है। हिन्दू परम्परा के अनुसार गान्धर्व विवाह वैयक्तिक रहा है। स्पेशल मैरिज एक्ट के अनुसार भी वह वैयक्तिक है किन्तु, वस्तुत वह एक विशेष विवाह बन गया है—वह विवाह जिसमे विवाह के लिए कमकाण्ड का विधान नही है, वर-कन्या के अभिभावको की अनुमति की आवश्यकता नही है, जो पूर्णतया वैयक्तिक है दो परिवारो के बीच मे समझौता नही है और जाति, धर्म तथा सम्प्रदाय के प्रभावो से मुक्त है। यह विवाह वर-कन्या के बीच म वैवाहिक बन्धन म बधन का समझौता है। इसीलिए, विशेष विवाह प्रेम विवाह होता है और वर तथा कन्या के बीच म वैयक्तिक समझौता होने के कारण दहेज और वधूधन की समस्याओ स मुक्त होता है। अत, स्पेशल मैरिज एक्ट को नये भारत के नये समाज का वैवाहिक विधान कहा जा सकता है। किन्तु, नये पुराने के संघर्ष के कारण कही-कही विशेष विवाह व्यक्ति और परिवार तथा जाति और सम्प्रदाय के संघर्ष का कारण बन जाता है। यदि वर और कन्या बालिग है और एक ही जाति के हैं तो वह हिन्दू विवाह अधिनियम के अन्तर्गत विवाह सम्पन्न कर सकते हैं यदि वे भिन्न भिन्न जातियो के हैं तो उन्हे इस बात की छूट है कि चाहे वे हिन्दू मैरिज एक्ट के अन्तर्गत अपना विवाह सम्पन्न करें या स्पेशल मैरिज एक्ट के अन्तर्गत। यदि वे भिन्न धर्मों या सम्प्रदायो के हैं तो स्पेशल मैरिज एक्ट का आश्रय लेना आवश्यक है। धर्मगत विधि प्रणाली (जैसे हिन्दू या मुस्लिम या इसाई) का तभी आश्रय लिया जा सकता है जब वर और कन्या जन्मत या धर्मपरिवर्तन से एक ही धर्म के हो। जिस प्रकार, स्पेशल मैरिज एक्ट वर-कन्या को वैवाहिक बन्धन म बधने का वैयक्तिक अधिकार प्रदान करता है, उसी प्रकार यह एक्ट पति पत्नी को पारस्परिक स्वेच्छा से विवाह विच्छेद का भी अवसर प्रदान करता है बशर्ते कि उनका विवाह इसी एक्ट के आधार पर हुआ हो। यह विधान वर्तमान भारत मे एक विशेष विकास है।

स्पेशल मैरिज एक्ट के चौथे अध्याय की उन्नीस से लेकर इक्कीस धाराओ का परिवार के परम्परागत गठन पर महत्वपूर्ण प्रभाव पडा है। इन धाराओ के अनुसार जब कोई हिन्दू बौद्ध, सिक्ख और जैन, जो अपने संयुक्त परिवार का सदस्य है, इस एक्ट के अन्तर्गत विवाह सम्पन्न करके अपने विवाह का निबन्धन करता है तो उसका अपने परिवार से सम्बन्ध विच्छेद हो जाता है किन्तु परिवार म उसका उत्तराधिकार ज्यो का त्यो बना रहता है। हा, यह अवश्य है कि उसका तथा उसकी सन्तान का उत्तराधिकार हिन्दू उत्तराधिकार अधिनियम से नियन्त्रित न होकर, भारतीय उत्तराधिकार अधिनियम स नियन्त्रित होता है।

३

मुस्लिम विवाह

जिस प्रकार हिन्दू वैवाहिक परम्पराओं के निश्चित विधिकरण और उनके अदालती निवचनो स हिन्दू ववाहिक परम्पराओ म परिवतन भी आया और उनका पुनरुन्नयन भी हुआ, उसी प्रकार, मुस्लिम विवाह परम्पराओं का, इस काल म सहिता-करण हुआ, उन्ह वैधता मिली अनेक गौण परम्परायें वध मानकर निश्चित बनाई गई (जसे डिसोल्यूशन आफ मुस्लिम मरिजज एक्ट 1909 के द्वारा स्त्री को तलाक देने के वध अधिकारो को मिलना) और अदालती निवचनो के द्वारा अनेक मुस्लिम परम्पराओ मे परिवतन आया। अग्रेजी राजकाल म, जसा कि पहले कहा जा चुका है, हिन्दू और मुस्लिम स्वीय विधियो को लेखबद्ध करके सहिताबद्ध किया गया जिसके कारण हिन्दू मुस्लिम विधि परम्पराओ का समयानुसार परिवर्तित पुनरुन्नयन हुआ। उदाहरणाथ, डिसोल्यूशन आफ मुस्लिम मैरिजज एक्ट (1909) का उद्देश्य मुस्लिम विधि के अतगत विवाहित पत्नी द्वारा विवाह विच्छेद करने तथा पत्नी द्वारा इस्लाम के परित्याग करने पर उसके ववाहिक सम्बन्धो पर पडने वाले प्रभावो से सम्बधित मुस्लिम विधि परम्पराओ को एकत्र तथा स्पष्ट करना है। इस एक्ट की भूमिका म कहा गया है कि यह एक्ट एकत्रक होने के साथ-साथ घोषणात्मक है। किन्तु इस पर, मुल्ला की यह टिप्पणी है कि इससे मुस्लिम विवाह सम्बन्धी विधि म सारगर्भित परिवतन होता है[1]। अत, इस एक्ट को कवल घोषणात्मक ही नहीं कहा जा सकता है। यह नही कहा जा सकता कि इस्लाम की परम्परागत विधि प्रणाली म स्त्री को तलाक देने का अधिकार नही है। हनाफी विधि सम्प्रदाय म नहीं किन्तु मालिकी विधि सम्प्रदाय म स्त्री का यह अधिकार है। ऐसी दशा म यह एक्ट तलाक सम्बन्धी गौण विधि परम्परा को प्रधान बनाता है और परम्परा के एक नये निवचन के लिए अवसर प्रदान करता है। लेकिन साथ ही साथ, यह अवश्य है कि हिन्दू ववाहिक विधि प्रणाली की अपेक्षा, मुस्लिम ववाहिक विधि प्रणाली म परिवतन कम पुनरुन्नयन अधिक हुआ है क्योकि मुस्लिम ववाहिक प्रणाली धमगत और हिन्दू विधि प्रणाली की अपेक्षा अधिक निश्चित रही है। इसका परिणाम यह हुआ है कि योरोपीय सघात के अतगत इस्लामीकृत दगज परम्पराओ के विधिकरण क स्थान पर अरबी इस्लामी परम्पराओ का ही विधिकरण हुआ है। योरोपीय सघात स मुस्लिम विवाह परम्पराओ म जो परिवतन आए हैं, वे इस्लामी विवाह विधि के अदालती निवचनो म आये हैं क्योकि इस्लामी विधि म स्वतन्त्र विधान की रचना नही के बराबर हुई है[2]।

---

1 मुल्ला, डी० एफ० प्रिंसिपिल्स आफ मोहम्मडन ला पष्ठ 269
2 सक्सेना, कालीप्रसाद आपरेशन आफ मुस्लिम ला इन इडिया एण्ड पाकिस्तान पष्ठ 72

अंग्रेजी राज्यकाल में मुस्लिम स्वीय विधि को यथावत् लागू करने की नीति रही है। किंतु साथ ही साथ मुस्लिम स्वीय विधि का निर्वचन करते समय न्यायिक वांछनीयता और समता पर भी ध्यान दिया गया है जिसके कारण मुस्लिम विधि में अंग्रेजी न्याय प्रणाली के तत्वों का भी समावेश हुआ। इस बात में हिंदू विधि प्रणाली के अनुसार मुस्लिम विधि प्रणाली भी एंग्लो मुस्लिम विधि-प्रणाली बनी। एक ओर मुस्लिम परसनल ला (शरिअत) एप्लीकेशन एक्ट (1937) पास करके मुस्लिम स्वीय विधि में निश्चितता लाने का प्रयास किया गया था, दूसरी ओर, दि मुस्लिम मरिजज डिसोल्यूशन एक्ट (1939) पास करके मुस्लिम स्वीय विधि के उन पक्षों का विकास किया गया जो समयानुकूल थे और जो अंग्रेजों की वैधानिक नीति न्यायिक वांछनीयता तथा समता की कसौटी पर खरे उतरते थे। अंग्रेजों ने भारत में जो विधि प्रणाली विकसित की वह एक ओर, हिन्दू और मुस्लिम विधि प्रणाली थी और, दूसरी ओर वह अखिल भारतीय दीवानी और फौजदारी की विधि प्रणाली पर आधारित थी। अंग्रेजी विधि प्रणाली ने मुस्लिम विधि प्रणाली को प्रत्यक्षतः और अप्रत्यक्षतः दोनों प्रकार से प्रभावित किया। उदाहरणार्थ, उन्नीस सौ उन्तीस के चाइल्ड मरिज रेस्ट्रेंट एक्ट से मुसलमानों में भी बाल विवाह पर प्रभाव पड़ा। किंतु सबसे अधिक परिवर्तनकारी प्रभाव पड़ा न्यायालयों के निर्णयों का क्योंकि न्यायालयों के निर्णय धीरे धीरे वैधानिक नजीर बनते गए और उनसे अनेक अरबी परम्पराओं में परिवर्तन आये। इन निर्णयों में जो असामंजस्यता उत्पन्न हुई, उसे दूर करने में और परिवर्तन हुए। इस प्रकार अंग्रेजी राजकाल में जहाँ एक ओर, मुसलमानों की अरबी वैवाहिक परम्पराओं को वैध आधार मिला वहाँ, दूसरी ओर, उनमें परिवर्तन भी आये। किंतु ये परिवर्तन उतने अधिक नहीं हैं जितना कि अरबी परम्पराओं का पुनर्स्थापन।

भारत की मुस्लिम वैवाहिक परम्पराओं में देशज परम्पराओं का समावेश हुआ है किंतु यह समावेश वैवाहिक रूपों तक ही सीमित है। मुस्लिम विवाह के मूलाधार अरबी परम्पराओं में हैं—वे परम्परायें जिनका एक आधार इस्लाम के विकास के पहले की अरबी परम्पराओं में है और दूसरा, मुहम्मद और उनके आधार पर मुस्लिम विधि प्रणाली के संस्थापकों द्वारा प्रतिपादित परम्पराओं में। जिस प्रकार हिन्दू वैवाहिक परम्पराओं को लेकर शास्त्रकारों में मतभेद रहा है उसी प्रकार मुस्लिम विधि प्रणाली के विभिन्न सम्प्रदायों में इस्लामी वैवाहिक परम्पराओं को लेकर मतभेद रहा है। सुन्नी सम्प्रदाय में 'मुता विवाह' वैध नहीं है जबकि शिया सम्प्रदाय में 'मुता विवाह' वैध है। भारतीय मुस्लिम स्वीय विधि में यह परम्परा मान्य है। इस परम्परा का स्रोत इस्लाम के पहले की अरबी परम्परा में है। इस प्रकार, भारतीय मुसलमानों की विवाह परम्परायें मूलतः अरबी हैं और अंशतः भारतीय। इतिहासकारों, समाजशास्त्रियों और मुस्लिम विधि प्रणाली के अध्ययनाओं की यह मान्यता है कि मुस्लिम वैवाहिक परम्परायें इस्लाम के पहले की अरबी परम्पराओं

के आधार पर विकसित हुई है। इस्लाम के द्वारा अनेक अरबी परम्पराओं का ह्रास हुआ और अनेक परम्पराओं का इस्लामीकृत उदविकास[1]।

लेवी की यह मान्यता है कि शरिअत में प्रतिपादित परम्पराओं और विभिन्न देशों के मुसलमानों की स्थानीय परम्पराओं में अन्तर रहा है। यह अन्तर किसी न किसी रूप में सभी देशों में पाया गया है। विवाह, तलाक और उत्तराधिकार में कहीं-कहीं शरा की परम्पराओं की अवहेलना सी प्रतीत होती है। हिमालय के दक्षिण में बसने वाले मुसलमान (इससे लेवी का तात्पर्य भारत के मुसलमानों से है, पृष्ठ 244) इस्लाम के अनुयायी होते हुए भी उन अनेक परम्पराओं को अपनाये हुये हैं जो वहां के गैर मुसलमानों से भिन्न नहीं है। इस्लाम में मूर्तिपूजक स्त्री से विवाह करने का विधान नहीं है फिर भी मुस्लिम पुरुषों और हिन्दू स्त्रियों का विवाह होता है जिसमें स्त्री विवाह के पहले इस्लाम स्वीकार करती है। मुसलमान स्त्रियां सिक्खों से विवाह कर लेती हैं जो शरा के विरुद्ध है क्योंकि इस्लाम के नियमानुसार मुस्लिम स्त्री को मुसलमान से ही विवाह करना चाहिये। इस्लाम में विधवा विवाह जायज है किन्तु, उन मुस्लिम सम्प्रदायों में, जिनकी उत्पत्ति हिन्दुत्व में हुई है विधवा विवाह सराहनीय नहीं माना जाता है। उसी प्रकार हिन्दू प्रभाव के कारण कुछ मुस्लिम सम्प्रदायों में तलाक विरला ही होता है। लेवी के इस वर्णन का आधार वे विवरण हैं जो उन्नीसवीं शताब्दी के अन्त या बीसवीं शताब्दी के प्रारम्भ में लिखे गये थे। इस बीच में मुस्लिम स्वीय विधि का जो संहिताकरण हुआ है उसमें देशज परम्पराओं के समक्ष, अरबी परम्पराओं को प्रधानता दी गई है जिसके फलस्वरूप देशज परम्पराओं पर, धीरे धीरे शरीअत की परम्पराओं का प्रतिरोपण हुआ है और उससे मुस्लिम विवाह का जो रूप उभरा है वह अरबी परम्पराओं में ही निहित है।

पूर्व इस्लामी अरबी परम्परायें

मुस्लिम वैवाहिक परम्पराओं का विकास, विवाह सम्बन्धी उन अरबी परम्पराओं के आधार पर हुआ है जो इस्लाम के अभ्युदय के पहले अरब में प्रचलित थी। उस काल का अरबों सामाजिक संगठन गणजातीय था। गणजातियों में परम्परागत कुल वैर और संघर्ष, पूर्व इस्लामी अरबी समाज की विशिष्टता थी। इन गणजातियों में मातृसत्तात्मकता की प्रधानता थी। गुन्तेरी के अनुसार पितृवंशीयता की भी प्रथायें थीं यद्यपि मातृसत्तात्मकता और मातृवंशीयता का पाया जाना अधिक निश्चित है। मातृसत्तात्मकता

---

1 देखिए के० एम० कपाडिया कृत मैरिज एण्ड फैमिली इन इण्डिया अध्याय 9, गाडीफ्रायम डिमाम्बींस कृत मुस्लिम इंस्टीट्यूशन्स, अध्याय 8, रिबेन लेवी कृत दि सोशल स्ट्रक्चर आफ इस्लाम, अध्याय 2, गुन्तेरी ए० एम० ए० कृत आउट लाइन्स आफ इस्लामिक कल्चर अध्याय 14 और अमीर अली कृत दि स्प्रिट आफ इस्लाम, भाग 2, अध्याय 5

तथा मातवंशीयता के साथ-साथ बहुविवाह के दोनों रूप बहुपत्नीत्व तथा बहुपतित्व, पाये जाते थे। इस्लाम के पहले के अरबी समाज में, एक ओर जहाँ मातृ-सत्तात्मकता बहुपतित्व की प्रथा थी तो दूसरी ओर आतंक बहुपतित्व की परम्परा[1]। नारी को अपना पति चुनने की स्वतंत्रता थी। वह या तो स्वयं या अपने पिता, भाई या अन्य सम्बन्धियों द्वारा अपना पति चुनती थी। पति और पत्नी दोनों को विवाह विच्छेद करने का अधिकार था। नारी अपनी इच्छानुसार जब चाहे तब पति का परित्याग कर सकती थी। किनशिप एण्ड मैरिज इन अर्ली अरेबिया के लेखक डब्ल्यू० राबर्टसन स्मिथ के आधार पर, कपाडिया ने यह लिखा है कि अपने तम्बू का रुख बदलकर पत्नी पति से विवाह विच्छेद करती थी और पति के कहने मात्र से ही पत्नी से सम्बन्ध विच्छेद हो जाता था। विवाह धार्मिक संस्कार न होकर संविदामात्र था जिसका प्रमाण है महर की प्रथा जो इस्लामी वैवाहिक परम्पराओं में प्रधान थी। मेहर का रूप वधू धन का रूप था—वह धन जो वर कन्या के पिता को देता था। विवाह विच्छेद के समय पति को यह धन पत्नी के पिता या सम्बन्धियों को वापस करना पड़ता था। स्मिथ के अनुसार, वधू धन के दो पहलू थे—एक वह धन (महर) जो वर कन्या के पिता या उसके अभिभावक को देता था और दूसरा वह धन (सिदाक) जो वर कन्या को देता था और जिसके बिना वह पत्नी से यौन-सम्बन्ध नहीं स्थापित कर सकता था। आगे चलकर महर की ही प्रथा रह गई और इस्लाम में वैध विवाह का एक आधार बन गई।

इस्लाम के पहले के अरबी समाज में अनेक प्रकार के विवाहों का वर्णन मिलता है। तत्कालीन महर की प्रथा को विद्वानों ने पत्नी क्रय कहकर यह प्रतिपादित किया है कि क्रय विवाह तत्कालीन समाज की प्रधान वैवाहिक परम्परा थी। इसके साथ-साथ अपहरण विवाह की भी परम्परा थी जिसका कारण था तत्कालीन अरब की गणजातियों में चलने वाला कुल-वैर। महर अपहरण की हुई नारी को दासी के रूप में रखने तथा उसे रखैल बनाने की प्रथाओं के कारण, यह कहा गया है कि तत्कालीन अरबी समाज में नारी सम्पत्ति समझी जाती थी। कोई भी अरब विवाहिता अपनी दासी को बेच सकता था या दूसरे को दे सकता था। इसके अतिरिक्त, बहुपतित्व और बहुपत्नीत्व की आम प्रथा थी। सौतेली माँ, पिता के मरने पर पुत्र को उत्तराधिकार में मिलती थी। कोई भी व्यक्ति अपनी सौतेली माँ से विवाह कर सकता था या महर लेकर किसी दूसरे के साथ उसका विवाह कर सकता था।

---

1 यूनानी लेखक स्ट्रैबो का हवाला देते हुए गुप्ता ने यह लिखा है कि वयोवृद्ध पुरुष परिवार का मुखिया होता था और कई भाइयों की एक ही सम्मिलित पत्नी होती थी। जब एक भाई पत्नी के पास होता था तो वह दरवाजे पर अपनी छड़ी गाड़ देता था ताकि दूसरा न आ सके।

इस परम्परा ता भी नारी को सम्पत्ति मानने क विचार का प्रमाण माना गया है। नियोग जसी प्रथा भी तत्कालीन अरबी समाज म पाई जाती थी। जब कोई व्यक्ति बुद्धिमान तथा शौयवान या साहसवान पुत्र की कामना करता था तो वह अपनी पत्नी को बुद्धि शौय और साहस के लिये प्रसिद्ध व्यक्ति क साथ सहवास करने के लिये भेज दता था और सहवास स उत्पन्न सन्तान पति की वध सन्तान समझी जाती थी। मित्रता क नाते, मित्र को पत्नी स सहवास करन का अधिकार दना भी एक आम प्रथा था[1]। विदश जाने वाला व्यक्ति अपनी पत्नी का अपने मित्र या किसी अन्य व्यक्ति को सौंप जाता था और वापस आकर पुन अपनी पत्नी को वापस ल लेता था। अल्पकालीन विवाहों का भी वणन मिलता है। विदश म जाकर अल्पकाल के लिये विवाह करना (वह विवाह जो केवल यौन सुख के लिये सविदा-मात्र होता था) एक साधारण अरबी रिवाज था। इस्लाम म मुता विवाह की धारणा और परम्परा इसी अरबी आधार पर विकसित हुई है।

राबट सन स्मिथ के अनुसार[2] इस्लाम के अभ्युदय के पहले, अरब मे जो बहुविवाह प्रथा प्रचलित थी, उसकी तीन विशषताय थी—एक, नारी को अपना पति चुनने की स्वतन्त्रता थी, दो पति अपनी पत्नी के तम्बू मे रहता था और पत्नी अपनी मर्जी के अनुसार कभी भी पति परित्याग कर सकती थी और तीन सन्तान पर नारी के सम्बन्धियों का अधिकार रहता था और बच्चे उन्ही के सरक्षण म पलते थे। राबट सन ने इस विवाह प्रकार को तत्कालीन अरबी परम्परा के आधार पर 'बीना विवाह' कहा है। इस्लाम के अभ्युदय के प्रारम्भिक काल म, इसी विवाह परम्परा के आधार पर जो पितसत्तात्मक तथा पित वंशी परम्परा निकली उसे राबट सन ने 'ब अल विवाह' की सज्ञा दी है। ब अल विवाह म पत्नी के स्थान पर पति का प्रभुत्व बढ गया और मातवंशीयता के स्थान पर पितवंशीयता का अभ्युदय हुआ जिसके फलस्वरूप सन्तान पर माता और उसके सम्बन्धियों के स्थान पर पिता और उसके सम्बन्धियों के अधिकार और प्रभुता की स्थापना हुई। ब अल विवाह म, अपनी मर्जी के अनुसार जब चाहे तब पति को तलाक दने के नारी के अधिकार का हनन हुआ और तलाक म पति का स्वच्छाचारिता का अधिकार मिला। ब अल विवाह म

1 अरबी में ब अल शब्द पति का पर्याय है किन्तु पिता का पर्याय है अब (ab) जिसका अथ सरक्षक या जनक न होकर पालक होना है। यह इस बात का प्रमाण माना जा सकता है कि इस्लाम क पहले क अरबी समाज में पिता की जनक की भूमिका पर उतना जोर नहीं था जितना कि उसकी पालन पोषण कर्ता की भूमिका पर—कापड़ी वही पष्ठ 512

2 कपाडिया की पुस्तक मरिज एण्ड फमिली इन इडिया में उद्धत राबट सन क मत के आधार पर पष्ठ 185

मेहर की प्रथा का समावेश हुआ और मेहर नारी के पिता की सम्पत्ति हो गई। नारी को परसम्बन्धों से बचाए रखना पति का उत्तरदायित्व हो गया[1]। परसम्बन्धों से अपने को बचाना नारी का अपना उत्तरदायित्व न था। गणजाति में ही परसम्बन्ध क्षम्य थे किन्तु गणजाति के बाहर होने वाले परसम्बन्ध संघर्ष का कारण। नारी, एक ओर, पिता की सम्पत्ति हो गई और दूसरी ओर पति की। विवाह में 'वली' (अभिभावक) की महत्ता का अभ्युदय हुआ जो मातृसत्तात्मकता पर पितृसत्तात्मकता के प्रतिरोपण का प्रतीक है। विधवा होने पर, अपना पति स्वयं चुनने की प्रथा के रूप में, नारी का प्राचीन अधिकार बना रहा। नारी से विवाह विच्छेद का अधिकार छिन गया किन्तु मातृसत्तात्मकता परम्परा के अवशेष के रूप में नारी को पति से भरण पोषण का अधिकार मिला। मेहर इस्लाम में स्त्री धन हो गया। पुत्री हनन[2] की प्रथा का निषेध हुआ किन्तु पुत्री पर पिता का वली का अधिकार मिला। बअल विवाह में नारी की यौन स्वच्छन्दता का निषेध हुआ किन्तु साथ-ही साथ नारी अपहरण और सतीत्व हरण भी चलता रहा। सतीत्वहन्ता आदर का पात्र बन गया। कपाडिया और लेवी के अनुसार मुहम्मद के समय में यदि, एक ओर, बअल विवाह के रूप में पितृसत्तात्मक परम्परायें उभर रही थीं तो दूसरी ओर मुता विवाह के रूप में प्राचीन परम्परायें चल रहीं थीं।

मुस्लिम विवाह परम्पराओं का उद्गम और विकास इन्हीं पितृसत्तात्मक तथा मातृसत्तात्मक परम्पराओं के संगम और मातृसत्तात्मक परम्पराओं के पितृसत्तात्मक परम्पराओं के संक्रमण में हुआ है। इस्लाम का अभ्युदय एक सुधारवादी, राजनैतिक, मजहबी आन्दोलन के रूप में हुआ—उस आन्दोलन के रूप में जिसमें पति को पत्नी पर प्रभुत्व मिला किन्तु पति पर मेहर का बन्धन लगा जिसमें विवाह एक संविदा बना नारी के स्थान पर पति को विवाह विच्छेद में अधिक अधिकार मिले तलाक को वैध माना गया पर अनेक बन्धनों के साथ, रखैल की परम्परा का निषेध किया गया बहुपत्नीत्व को एक सीमा प्रदान की गई और कुंवारी लड़की से विवाह उत्तम माना गया। लेवी के अनुसार कुरान में मुहम्मद साहब ने जिन वैवाहिक परम्पराओं का प्रतिपादित किया है, उनसे यह प्रतीत होता है कि मुहम्मद

---

1 लेवी, रिबन वही पृष्ठ 94

2 इस्लाम के पहले के अरब में लड़कियों को पैदा होते ही मार डालने या गाड़ देने की प्रथा थी। लेवी के अनुसार इसके कारण हैं गरीबी बलि का विचार, अपहरण से या युद्ध में बन्दी बनाये जाने पर लड़कियों को दूसरों की दासी या रखैल हो जाने की आशंका और उच्च तबके में दूसरों को लड़की देने से मानहानि होने का विचार। पुत्री-जन्म कभी ही मानहानि और आशंका का प्रतीक था, जैसा कि हाल तक हिन्दुओं में रहा है (लेवी वही पृष्ठ 91 92)। मुहम्मद साहब ने पुत्री हनन की प्रथा का निषेध किया।

साहब ने इस्लामी वैवाहिक परम्पराओं को वहाँ तक इसाई परम्पराओं के अनुसार ढालने का प्रयास किया, जहाँ तक वे स्वयं इसाई परम्पराओं से परिचित थे[1]। किंतु, लेवी के ही अनुसार, जहाँ इसाई विवाह एक धार्मिक कृत्य है, वहाँ मुस्लिम विवाह एक कानूनी संविदा है। यह मतांतर एक महत्वपूर्ण अन्तर है जो यह एकतरफा राय कायम करने के विरोध में पड़ता है कि मुहम्मद द्वारा प्रतिपादित विवाह तथा स्त्री-प्रतिष्ठा सम्बन्धी मान्यताएँ इसाइयत से प्रेरित हैं। यह हो सकता है कि मुहम्मद साहब पर प्रत्यक्ष या अप्रत्यक्ष इसाई प्रभाव रहा हो। मुहम्मद साहब द्वारा प्रतिपादित वैवाहिक मान्यताओं और परम्पराओं पर तत्कालीन अरबी परम्पराओं के प्रति होने वाली उनकी प्रतिक्रिया का अधिक प्रभाव है। यही कारण है कि जैसा कि कपाडिया ने प्रतिपादित करने का प्रयास किया है मुस्लिम वैवाहिक परम्पराओं का विकास उन विवाह परम्पराओं और मान्यताओं के आधार पर हुआ है, जो मुहम्मद साहब के पहले और उनके जीवन-काल में अरब में प्रचलित थी और जिनको उन्होंने सुधारने का प्रयत्न किया। मुहम्मद साहब के बाद मुहम्मद साहब के कृत्यों और कथनों के आधार पर मुस्लिम विधि प्रणाली के निवचकों ने उन परम्पराओं को निश्चित रूप देने का प्रयास किया। मुस्लिम विवाह मातसत्तात्मक तथा पितसत्तात्मक परम्पराओं के समन्वय से उत्पन्न हुआ है। जब सुधार की आवश्यकता पड़ी, मुहम्मद साहब के कथनों का निर्वचित करके ही सुधार का आश्रय लिया गया—वैसे ही जैसे हिन्दू विवाह में सुधार का पक्ष शास्त्रीय मान्यताओं का निर्वचन करके लिया गया। हिन्दू विवाह की भाँति मुस्लिम विवाह भी एक सतत सांस्कृतिक विकास का परिणाम है—वह विकास जो एक साथ पुनरुत्थानवादी और सुधारवादी रहा है।

मुसलमानों में अरबी भाषा का शब्द 'निकाह' विवाह के पर्याय के रूप में प्रयुक्त होता है। मुस्लिम विधि प्रणाली में 'निकाह' से विवाह का अर्थ लिया जाता है। वस, निकाह का शाब्दिक अर्थ है नर नारी का विपयी समागम। निकाह के शाब्दिक और वैधिक अर्थों में जो

निकाह

अन्तर है उससे यह स्पष्ट होता है कि एक वैध विवाह की अवधारणा के रूप में निकाह का वतमान रूप, इस्लाम के प्रभाव में उन परम्पराओं से उत्पन्न हुआ है, जो इस्लाम के पहले के अरब में विद्यमान थी। निकाह के तीन उद्देश्य मान गये हैं—एक यौनिक सायुज्य की वैधता दूसरा, सन्तानोत्पत्ति और सन्तान की वैधता तीसरा, पति पत्नी के रूप में नर-नारी तथा उनकी सन्तान के मध्य अधिकार और कर्तव्यों का निश्चित करके समाज के हित में सामाजिक जीवन को नियमित करना। इस दृष्टिकोण से, निकाह एक प्रकार का संविदा है जिसके द्वारा नर नारी पति

1 लेवी वही पृष्ठ 100

पत्नी के सम्बन्धों मे बधने का प्रस्ताव करके, उसे स्वीकार करते ही, परस्पर अनेक अधिकारों और कर्तव्यो मे बध जाते हैं। इस्लामी वैधानिक मान्यताओं के अनुसार निकाह एक कानूनी संविदा है जिसका उद्देश्य पति पत्नी के सम्बन्ध मे बधे नर-नारी के यौन-सम्बन्धों, उनकी सन्तानो, उनके तथा उनकी सन्तान के सम्बन्धों और उनके पारस्परिक अधिकारों तथा कर्तव्यों को वैधता प्रदान करना है। विषयानन्द और सन्तानोत्पत्ति निकाह संविदा के दो आधारभूत उद्देश्य हैं। निकाह के बाहर यौन-सम्बन्ध व परसम्बन्धों की श्रेणी मे आते हैं जिन्हे इस्लाम मे जिना कहा गया है। जिना अवैध है। अत जिना से उत्पन्न सन्तान भी अवैध है।

मुल्ला[1] के अनुसार निकाह की परिभाषा एक संविदा के रूप मे की जाती है जिसका उद्देश्य सन्तानोत्पत्ति और सन्तान को वैधता प्रदान करना है। अमीरअली के अनुसार, मुस्लिम विवाह एक कानूनी संविदा है, जिसके लिये न तो किसी पुरोहित (मुल्ला) की आवश्यकता है और न किसी धार्मिक कर्मकाण्ड की[2]। निकाह संविदा से पुरुष का नारी की प्रतिष्ठा और सम्पत्ति पर कोई अधिकार नही मिलता है। इस संविदा से पुरुष को नारी पर अधिकार अवश्य मिलता है किन्तु वहीं तक जहा तक मुस्लिम विधि मे उस अधिकार की परिभाषा की गई है। संविदा होने के नाते निकाह अविच्छेद्य नही है। विवाह विच्छेद के लिये अरबी मे तलाक शब्द आता है जिसका अर्थ है डिसमिस करना या निकाल देना। निकाह सम्बन्ध स्थापित करने की क्षमता प्रत्येक उस मुसलमान को है जिसका दिमाग सही है और जो वयःसंधि की अवस्था पार कर चुका है क्योंकि इस्लामी विधि प्रणाली मे निकाह तभी वैध माना जाता है जब वर-कन्या ने उसके लिये अनुमति दी हो। जिसका दिमाग सही न हो और जिसने वयःसंधि न पार किया हो, वह निकाह के लिये अक्षम है[3]।

निकाह मे निकाह प्रस्ताव और उसकी स्वीकृति, वली अल निकाह की

---

1 मुल्ला, डी० एफ० प्रिंसिपिल्स आफ मुस्लिम ला पृष्ठ 223

2 अमीर अली दि स्प्रिट आफ इस्लाम (पृष्ठ 257) में और अब्दुल नवी बनाम सय्यद अजमत हुसेन (1931, नागपुर 1-3) नामक मुकदमे के फसले में।

3 फतवा ए आलमगीरी के अनुसार निकाह संविदा के बन्धन में बधने वाले वयस्क होने चाहियें उन्हें निकाह संविदा स्थापित करने की स्वतन्त्रता होनी चाहिये, उन पर किसी प्रकार का जोर दबाव नहीं होना चाहिये और उनमें इतनी बौद्धिक स्वतन्त्रता तथा क्षमता होनी चाहिये कि वे निकाह संविदा के ठीक-ठीक स्वरूप और उसमें निहित उत्तरदायित्व को समझ सकें। अगर किसी व्यक्ति में ये क्षमताएं है तो वह बिना किसी दूसरे की सलाह या स्वीकृति के स्वय निकाह संविदा को तय कर सकता है—सक्सेना, काली प्रसाद वही : पृष्ठ 151

अनुमति निकाह के इकरारनाम पर दो गवाहों के हस्ताक्षरों की आवश्यकता, मेहर, और तलाक होने पर 'फारखती' लिखने की आवश्यकता या मन्शा पर सामाजिक वैधानिक जोर देने से निकाह का जो रूप निखरा है, उसमें वैधानिक संविदा का ही अधिक पुट है। मुस्लिम परम्परा में निकाह तभी वैध होता है, जब एक पक्ष की ओर से प्रस्ताव किया जाता है और दूसरा पक्ष उसे स्वीकार करके उसकी अनुमति ही नहीं देता है वरन स्वीकृति की इस प्रकार से घोषणा करता है कि दूसरे, विशेषतया निकाह के साक्षी, उसे सुन लें। प्रस्ताव, स्वीकृति और उसकी घोषणा एक ही साथ एक मीटिंग में होना आवश्यक है। वयस्क के लिये प्रस्ताव स्वीकृति और स्वीकृति की घोषणा नितान्त आवश्यक है। इस्लामी विधि इतनी छूट अवश्य देती है कि वयस्क व्यक्ति निकाह के प्रस्ताव, स्वीकृति और स्वीकृति की घोषणा के लिये एजेंट नियुक्त कर सकते हैं। निकाह के प्रस्ताव, स्वीकृति और घोषणा को न तो लेखबद्ध करने की आवश्यकता है और न उसके लिये किसी कर्मकाण्ड और समारोह की। यदि निकाह का प्रस्ताव और उसकी स्वीकृति एक साथ और एक ही मीटिंग में नहीं किये जाते हैं तो निकाह अवैध है। हनाफी विधि सम्प्रदाय के प्रतिपादकों के अनुसार यदि निकाह का प्रस्ताव जोर दबाव के कारण किया गया हो और बिना निकाह के इरादे के भी प्रस्ताव की स्वीकृति दे दी गई हो तो भी निकाह संविदा जायज है। यह मान्यता मुहम्मद साहब के इस कथन पर आधारित है कि विवाह, तलाक और तलाक की हुई स्त्री को वापस लेना हर दशा में वैध है चाहे यह हँसी मजाक में किया जाय या सोच समझ कर[1]। किन्तु, यारोपीय प्रभाव में मुस्लिम विधि का भारतीय अदालतों में जो निर्वचन हुआ है उसमें इस बात पर जोर दिया गया है कि जालसाजी और अवांछनीय दबाव से किया निकाह अवैध है। किन्तु ऐसे निकाह में भी, यदि निकाह के बाद यौनसम्बन्ध स्थापित हो गए हों तो निकाह वैध है और पत्नी मेहर की अधिकारिणी है।

यह अवश्य है कि मुस्लिम कानून में निकाह को एक संविदा का रूप देने का प्रयास किया गया है। भारत के अंग्रेजी मुस्लिम कानून में भी विवाह को संविदा के ही रूप में स्वीकार किया गया है। निकाह संस्कार नहीं है। विवाह में विवाह से सम्बन्धित कर्मकाण्डों के कारण, आधिदैविक का भाव निहित रहता है जो निकाह में नहीं है। निकाह यदि संस्कार नहीं है तो वह एक सामान्य कानूनी संविदा भी नहीं है। निकाह में इबादत का भी पुट है और मुवामलात (मानव सम्बन्धों) का भी। मुहम्मद साहब के एक कथनानुसार किया निकाह मेरी सुन्नत है और जो इसकी आज्ञा का पालन नहीं करते हैं वे मेरे अनुयायी नहीं हैं किसी भी नारी का विवाह उसकी चार विशेषताओं के कारण होता है—एक उसकी सम्पत्ति दो उसके वंश की

1 सक्सेना वही पृष्ठ 152

उच्चना, तीन, उसका सौन्दर्य और चार उसकी धर्मनिष्ठा। तुम धर्मनिष्ठा से निकाह करो'। अत, निकाह एक ऐसी संविदा है जो एक सामाजिक-सम्यागत धार्मिक कृत्य है। साधारण संविदा कोई भी दो वयस्क व्यक्ति कर सकते हैं। किन्तु निकाह ऐसी संविदा है जिसके साक्षी दो मुस्लिम (वयस्क मुस्लिम) ही हो सकते हैं, जिसमें वली-अल निकाह और मुल्ला का परम्परागत महत्व है और जिसके द्वारा नर-नारी पति-पत्नी तथा माता पिता की वैध सामाजिक भूमिका में प्रवेश करते हैं। निकाह कानून के दृष्टिकोण से एक विशेष संविदा है मजहब के दृष्टिकोण से एक मजहबी (सुन्नती) कृत्य है और समाजशास्त्रीय दृष्टिकोण में एक संस्था जो परिवार का आधार है।

डिमाम्बीस के अनुसार निकाह के लिये पति पत्नी की सहमति आवश्यक है। यदि पति वयस्क है तो उसे स्वयं या किसी अपने प्रतिनिधि द्वारा अनुमति देने का अधिकार है। डिमाम्बीस का यह मत है कि इस्लाम में नारी हमेशा अपने निकाह की अनुमति देने के लिये अक्षम मानी गई है। इस्लामी कानून की परम्परा के अनुसार, नारी वली-अल निकाह[1] द्वारा ही अपनी अनुमति दे सकती है[2]। वली अनुमति देता है और कन्या मौन स्वीकृति देती है। वली को कन्या का जब्र निकाह करने का अधिकार है अर्थात वली कन्या की अनुमति लिये बिना ही उसका विवाह कर सकता है लेकिन तभी तक जब तक कन्या वयस्क नहीं है। हतबुद्धि (Lunatic) पुरुष होश आने पर निकाह के लिये या तो स्वयं अनुमति दे सकता है या किसी अपने प्रतिनिधि द्वारा किन्तु अवयस्क कन्या का निकाह की अनुमति देने के लिये अपना प्रतिनिधि या वकील नियुक्त करने की आज्ञा नहीं है। कन्या की ओर से वैध अभिभावक ही अनुमति दे सकता है। किन्तु यदि कन्या वयस्क या विधवा या तलाक दी हुई है तो, वली की अनुमति ही वैध नहीं है। जहां वर कन्या वयस्क हैं वहां निकाह की वैधता के लिये उनकी स्वतन्त्र अनुमति आवश्यक ही नहीं वरन् नितान्त आवश्यक है। वहां वली की अनुमति कन्या की अनुमति का स्थान नहीं ले सकती है[3]। कन्या को अपने निकाह की अनुमति देने का अधिकार है या नहीं इस्लाम में इस प्रश्न पर मतभेद है। भारत के इस्लामी कानून में वली की भूमिका को दो पहलुओं में देखा गया है—एक, यदि वली ने अल्पवयस्क का निकाह कर दिया है तो

---

1 वली का अर्थ है अभिभावक या संरक्षक। पिता, पितामह, भाई, पिता की ओर के अन्य सम्बन्धी, माता, मातुल और माता की ओर के अन्य प्रत्यक्ष सम्बन्धी क्रमशः अभिभावक की श्रेणी में आते हैं। यदि किसी कन्या का कोई भी अभिभावक न हो तो शासक उसका अभिभावक हो सकता है।

2 डिमाम्बीस गार्डीफ़्वाय वही पृष्ठ 129

3 सक्सेना, काशीप्रसाद वही पृष्ठ 151

वयस्क होने पर कन्या उस निकाह को अस्वीकार नही कर सकती। दो, जहा वली ने छल स निकाह किया हो, या जो निकाह कन्या के लिय स्पष्टत असुविधाजनक हो या निकाह किसी पागल (हतबुद्धि) स हो गया हो वहा वयस्क होने पर कन्या को वली द्वारा किया हुआ निकाह अस्वीकार करने का अधिकार है। किन्तु जहा निकाह क बाद वर कन्या के यौन सम्बन्ध स्थापित हो जाते है वहा कन्या का यह अधिकार समाप्त हो जाता है। दि डिसाल्यूशन आफ मुस्लिम मरिजेज एक्ट के अन्तर्गत, वयस्क होन पर कन्या का वली द्वारा किए हुए निकाह को समाप्त करने का अधिकार दिया गया है यदि कन्या यह सिद्ध कर सके कि (अ) निकाह के बाद वर कन्या मे यौन सम्बन्ध नही हुए हैं, (ब) यदि निकाह कन्या की पन्द्रह साल की आयु पूर्ण होने के पहले हुआ है (स) यदि कन्या अठारह साल की आयु पूर्ण होने के पहले वली द्वारा सम्पन्न निकाह को अस्वीकार करती है। कुछ अदालतों का राय है कि ऐसे निकाह का अस्वीकार करने के लिय अदालत की अनुमति लेन की आवश्यकता नही है और कुछ की राय है कि अदालत की अनुमति लेने की आवश्यकता है। किन्तु, विशेष ध्यान देने की बात यह है कि इस एक्ट द्वारा अवयस्क कन्या का वयस्क होने पर वली द्वारा सम्पन्न अपने निकाह को अस्वीकार करने का अधिकार दिया गया है और इस अधिकार पर जो रोक थी, उसे दूर कर दिया गया है[1]। अन्य इस्लामी देशो म भी इस प्रकार के वैधानिक परिवर्तन किये गए है जिनका उद्गम यारोप क प्रभाव म है।

निकाह एक संविदा है जिसकी वैधता के लिय वर कन्या की स्वीकृति आवश्यक है यदि दोनों वयस्क है। वरना वैध वली की अनुमति स किया हुआ निकाह वैध है। इडियन मेजोरिटी एक्ट के अनुसार, अठारह वर्ष की आयु पूर्ण हो जाने पर ही कोई व्यक्ति किसी संविदा म पार्टी बन सकता है। किन्तु, निकाह-संविदा पर यह नियम नही लागू होता है। निकाह के साथ मेहर और तलाक मे निहित संविदा पर भी यह एक्ट लागू नही होता है। इस विषय पर इस्लामी विधि के अपने नियम हैं जिन्हे अंग्रेजी राज मे वर्तमान कानूनी स्तर मिला है। इस्लामी विधि के अनुसार वयस्क वर-कन्या तभी निकाह के बन्धन म बंध सकते हैं जबकि उनम निर्णय बुद्धि का विकास हो चुका हो और वे निकाह प्रस्ताव को स्पष्टतया स्वीकार करने म समर्थ हो। जिस स्त्री का एक बार विवाह हो चुका है, उसके लिये यह आवश्यक है कि वह निकाह प्रस्ताव का स्पष्ट शब्दो म स्वीकार करे किन्तु जिसका निकाह पहली बार हो रहा है, निकाह प्रस्ताव पर उसका हसना, मुस्काना या चुप रहना स्वीकृति

1 मुल्ला, डी० एफ वही पृष्ठ 235

का प्रतीक माना जायगा[1]। किन्तु, यहा प्रश्न उठता है कि किस आयु म वर-कन्या निकाह की स्वीकृति दने के वैध अधिकारी हैं। मुस्लिम विधि के अनुसार वय सधि की आयु प्राप्त होने पर, वर और कन्या निकाह के वध अधिकारी हो जाते हैं। पन्द्रह वष की आयु के पूण होने पर, साधारणत, वय सधि की आयु की पूणता मानी जाती है।

निकाह-आयु पन्द्रह वष की आयु वय सधि की अधिकतम सीमा मानी गई है। सुन्नी विधि-प्रणाली मे यह माना गया है कि वर बारह साल के बाद और कन्या नौ साल के बाद वय सधि को प्राप्त होते हैं। शिया विधि-प्रणाली म वर पन्द्रह वष की आयु मे और कन्या नौ वष की आयु म वय सधि का प्राप्त हुये माने जाते हैं। इसप्रकार मुस्लिम विधि प्रणाली के दृष्टिकोण से वय सधि की आयु प्राप्त होने पर वर कन्या निकाह सविदा मे बधने के अधिकारी हा जाते हैं। जहा अन्य कोई प्रमाण न हो वहा वय सधि पन्द्रह वष पर मानी जाती है। इस दृष्टिकोण से यदि कोई लडकी वय सधि को प्राप्त कर चुकी है और उसकी आयु पन्द्रह वष से कम है वह निकाह करने के लिये सक्षम है। आग चलकर, यदि यह पाया जाय कि कन्या म वय सधि की आयु की न होने के कारण उसे निकाह करने की क्षमता न थी तो एसा विवाह अनियमित माना जायगा न कि अवध। लेकिन निकाह की वधता के लिये वय सधि की आयु ही एकमात्र आवश्यकता नही है। निकाह की वधता के लिये, निकाह प्रस्ताव और निकाह स्वीकृति देने के अथ को समझने की मानसिक क्षमता भी आवश्यक है। यदि वर और कन्या वय सधि का प्राप्त हा गए हा और उनमे निणय बुद्धि की क्षमता न हो या निणय बुद्धि की क्षमता हा और वय सधि की आयु पूण न हुई हो तो दोना अवस्थाओं मे, निकाह तभी वध है जब वैध वली की स्वीकृति से निकाह सम्पन्न हुआ हो। इस प्रकार, जहा हिन्दू विवाह मे वर कन्या को क्रमश इक्कीस और अठारह वष की आयु पूण करने पर विवाह सविदा करने का अधिकार है वहा निकाह मे उसके पहले

1 इस्लामी विधि के एक सम्प्रदाय (शफी, मालिकी) के अनुसार निकाह सविदा को पूर्ति के लिये वयस्क कुमारी की स्वीकृति ही काफी नहीं है। शिया और सुन्नी विधि सम्प्रदायों के अनुसार स्वस्थचित्त और वयस्क तथा कुमारी या विधवा नारी को वध निकाह सविदा करने का अधिकार है। किन्तु साथ ही साथ, वयस्क कुमारी के निकाह में उसकी स्वीकृति तथा उसके वली की स्वीकृति पर एक साथ जोर दिया गया है जिसका तात्पय यह है कि कुमारी के निकाह में वली की स्वीकृति एक आवश्यक आधार है। कानून के दृष्टिकोण से बलात्कार से जिसका कुमारित्व नष्ट हुआ है वह कन्या भी कुमारी ही है।

बशर्ते कि जिस आयु मे निकाह किया जाय, उसमे वर कन्या वय सधि का प्राप्त होने के साथ-साथ निणय बुद्धि की क्षमता को भी प्राप्त हो गए हो।

मुस्लिम विधि परम्परा क अनुसार निकाह दो गवाहो की उपस्थिति मे तथा उनको सुनाई देते हुए प्रस्ताव और स्वीकृति क रूप मे होना चाहिये।

निकाह साक्षी बिना साक्षी के किया हुआ निकाह अवैध है। जो निकाह अभिभावक द्वारा सम्पन्न होता है, उसके लिय भी दो गवाहो की आवश्यकता है। गवाहो का स्थिरचित्त, वयस्क और मुसल्मान होना आवश्यक है। गैर मुसल्मान निकाह का साक्षी नही हो सकता है। हनाफी विधि सम्प्रदाय के अनुसार, दो गवाहो म एक का पुरुष होना आवश्यक है। गवाही के मामले म, इस्लाम म दो स्त्रिया एक पुरुष के बराबर मानी गई हैं। अत, जहा दोनो गवाह पुरुष नही हैं वहा गवाहो म एक पुरुष और दो स्त्रियो का होना आवश्यक है। शफी विधि सम्प्रदाय म स्त्रिया को निकाह की साक्षी बनने की अधिकारिणी नही माना गया है। शिया सम्प्रदाय म निकाह सविदा की वधता के लिये साक्षियो का होना आवश्यक नही है। अमीर अली ने यह मत प्रतिपादित किया है कि निकाह के अवसर पर मुल्ला या काजी की उपस्थिति आवश्यक नही है क्योकि निकाह न तो सस्कार है और न धार्मिक कर्मकाण्ड। कि तु, भारत के मुसलमानो की वैवाहिक परम्पराओ मे 'मुल्ला या 'काजी न पुरोहित का रूप ले लिया है। ऐसी दशा म, मुल्ला अपने आप विवाह का साक्षी बन जाता है। उन्नीसवी शताब्दी मे, भारत के विभिन्न भागो म मुल्ला की स्थिति का अधिक नियमित और नियन्त्रित बनान के लिये अनेक अधिनियमो[1] को पास किया गया किन्तु उनमे भी इस प्रश्न पर एकमतता नही है। बहुमत इसी पक्ष मे है कि निकाह सम्पन्न करने के लिये काजी या मुल्ला की आवश्यकता नही है।

मेहर की परम्परा निकाह का आवश्यक अग है। मेहर वह निश्चित रकम है जो

मेहर निकाह और उसके बाद पति को सम्भोग का अधिकार देने के कारण पत्नी को पति से मिलती है। मेहर पति तथा पत्नी के बीच समझौता है क्योकि पति और पत्नी ही मेहर की रकम निश्चित करते हैं। मेहर की रकम निकाह के पहले या निकाह के समय या निकाह के बाद निश्चित की जा सकती है। निकाह के बाद, यदि पति पत्नी म तलाक न हुआ हो, तो पहले स निश्चित की हुई मेहर की रकम बढाई भी जा सकती है। मेहर निकाह का एक आधारभूत अग है क्योकि मेहर निकाह म निहित है। मुस्लिम कानून म बिना मेहर के निकाह की सम्भावना ही नही है। निकाह के बाद कोई स्त्री मेहर की रकम अपने पति को दे सकती है या मेहर की सारी रकम उसे अर्पित

1 अधिनियमों के लिये देखिये सक्सेना, कालीप्रसाद वही पृष्ठ 150

कर सकती है किन्तु निकाह के पहले या निकाह के समय नहीं क्योंकि उस समय वह मेहर की अधिकारिणी नहीं है। मेहर निकाह संविदा से उत्पन्न पति का उत्तरदायित्व है जिसे निकाह संविदा की रक्षा के लिए निभाना पति के लिए आवश्यक है। यदि निकाह के समय मेहर तय न की गई हो तो इस्लामी कानून के अनुसार काजी या न्यायाधीश को पति पत्नी की हैसियत के अनुसार, मेहर की रकम तय करने का अधिकार है। मेहर के बिना निकाह अवैध नहीं अनियमित है क्योंकि इस्लामी कानून में जहाँ निकाह है वहाँ मेहर है चाहे वह निकाह के समय निश्चित की जाय या बाद में।

मुस्लिम नारी का मेहर का अधिकार निकाह में निहित है। किन्तु, मेहर पाने का अधिकार केवल निकाह पर ही निर्भर नहीं है। पति का सम्भोग की अनुमति देने के बाद ही नारी मेहर की अधिकारिणी होती है। दूसरी ओर बिना मेहर के अधिकार के पत्नी पति को सम्भोग से वंचित रख सकती है। मेहर का अधिकार पाने के बाद पति को सम्भोग की अनुमति देने की प्रथा, वस्तुतः नारी के उस अधिकार की स्वीकृति है जिसका सम्बन्ध नारी की सामाजिक-आर्थिक सुरक्षा से है। पत्नी के लिए दातव्य के रूप में, पति द्वारा स्वीकृत धन राशि (मेहर) उन परिस्थितियों में नारी को सुरक्षा प्रदान करने का प्रयास है जो पति द्वारा पत्नी को अस्वीकृत करने, तलाक देने, एक से अधिक विवाह करने और पति के मरने की अवस्थाओं में उत्पन्न हो सकती हैं। इस्लाम में पुरुष को मिले एकतरफा अधिकार और उससे उत्पन्न होने वाली सम्भव विपन्नताओं के प्रति, मेहर एक प्रकार का सुरक्षा साधन है। मेहर की परम्परा इस्लाम के पहले के अरबी समाज से आई है। इस्लाम के पहले अरबी समाज में वर कन्या को भी धन देता था और उसके पिता को भी वर जो धन देता था वह उस धन का एक अंश हुआ करता था जो वह भविष्य में अपनी पत्नी के तलाक करने पर देने का वादा किया करता था। पति पत्नी कभी भी एक दूसरे को तलाक दे सकते थे। यदि पति तलाक देता था तो वह प्रतिज्ञा की हुई धन राशि का शेष पत्नी के सम्बन्धियों को देता था और यदि पत्नी विवाह-विच्छेद करती थी तो उसके सम्बन्धी पति से प्राप्त धन, पति को वापस किया करते थे। मेहर का कुछ अंश निकाह के अवसर पर दिया जाता था और कुछ पत्नी को तलाक करने की अवस्था में या उसके विधवा होने की अवस्था में। इस्लाम में मेहर की परम्परा इसी अरबी परम्परा से आई है।

इस्लाम के प्रादुर्भाव से, मेहर की अरबी परम्परा, थोड़े परिवर्तन के साथ इस्लाम में एक वैध परम्परा बन गई। कुरान (2/299) में यह कहा गया है कि 'यदि तुम अपनी पत्नियों से विवाह विच्छेद करते भी हो तो उदारतापूर्वक करो। तुमने जो कुछ उन्हें दिया है, उसे वापस लेने की तुम्हें आज्ञा नहीं है। पैगम्बर की इस अनुज्ञा का परिणाम यह हुआ कि मेहर नारी के सम्बन्धियों की सम्पत्ति न होकर, नारी की

सम्पत्ति हो गई। पैगम्बर ने यदि पति को विवाह विच्छेद का असीमित अधिकार दिया तो पत्नी को महर की धन राशि पर एकमात्र अधिकार दिया। इस्लाम के प्रभाव से, महर निकाह की वधानिकता का एक आवश्यक अंग बन गई। कुरान में निहित अनुज्ञा के द्वारा मेहर स्त्री की सम्पत्ति बनी किन्तु वास्तविक व्यवहार में जसा कि इस्लाम के पहले मेहर सम्बन्धी अरबी प्रथा थी, मेहर पर वली का अधिकार बना रहा। यह प्राचीन अरबी परम्परा का ही परिणाम है कि निकाह में वली कन्या की अनुमति का माध्यम बना। मेहर पर अधिकार होने के साथ साथ, वली के कुछ विशेषाधिकार भी बने रहे। मेहर की धन राशि तय करने में वली का महत्वपूर्ण हाथ रहता है। वली का यह विशेषाधिकार है कि वह यह देखे कि निकाह में दोनों पक्षों की समानता बनी रहे और कन्या अपने लिए अनुपयुक्त या अवांछनीय पति का चुनाव न करे। निश्चित मेहर की धनराशि में से कुछ अंश के मिलने पर ही वली कन्या वर को सौंपता है। इसी परम्परा से जब निकाह की धारणा का विकास हुआ है। इसप्रकार, मेहर पर वली को अधिकार उन विशेषाधिकारों के कारण मिलता है जो प्राचीन अरबी समाज से इस्लाम में आकर बँध हुए हैं। मेहर पर वली का अधिकार प्रत्यक्ष नहीं है। प्रत्यक्ष अधिकार कन्या का है। मेहर पर वली का अधिकार उसके संरक्षक अधिकार से सम्बन्धित है[1]।

मेहर के भुगतान के प्रकारों के आधार पर मेहर के कई रूप पाये जाते हैं। भुगतान की अवधि के आधार पर दो प्रकार की मेहर पाई जाती है—एक, तत्कालीन और दूसरी स्थगित। तत्कालीन मेहर निकाह संविदा के बाद, माग किय जाने पर, फौरन भुगतान की जाती है। सम्भोग के बाद भी तत्काल मेहर को स्थगित नहीं किया जा सकता है जब तक कि इकरारनामों में तत्काल मेहर को स्थगित करने का विधान न हो। स्थगित मेहर, मेहर की वह धनराशि है जिसका भुगतान तलाक या पति-पत्नी की मृत्यु के बाद होता है। मेहर की धनराशि का निर्णय

---

1 निकाह में वली का क्या स्थान है इस पर इस्लाम में मतभेद है। वली की अनुमति के बिना निकाह वध है या नहीं इस पर दो मत है—एक मत यह है कि अवयस्क कन्या के लिए ही वली की अनुमति की आवश्यकता है और दूसरा यह कि बिना वली की अनुमति के निकाह वध ही नहीं है। आधुनिक ईरान के नियमानुसार प्रथम विवाह बिना वली की अनुमति के नहीं हो सकता है चाहे कन्या वयस्क हो क्या न हो। हाँ, यदि उसे अनुमति नहीं मिलती है तो वह उस सगठन के माध्यम से विवाह कर सकती है जो इसके लिए राज्य द्वारा सगठित किया गया है। हर दशा में यह अवश्य है कि निकाह के बाद वली की आवश्यकता तभी पड़ती है जब किसी स्त्री के पुनर्विवाह का प्रश्न आता है—लेवी वही पृष्ठ 111

बहुधा मौखिक समझौते द्वारा होता है। कुरान और हदीस म इस तथ्य का उल्लेख नही है कि मेहर की धनराशि का भुगतान कब हो। अत, मेहर के कुछ अश को तत्काल और कुछ का स्थगित करने की परम्परा चल पडी है। मेहर की धन राशि का निश्चय करने के आधार पर मेहर को दो श्रेणिया म बाँटा गया है—एक, निश्चित जा पारस्परिक समझौते द्वारा पहल ही से निश्चित कर दी जाती है और दूसरी उचित या परम्परागत (महर उल मिस्ल) जो पहले से निश्चित नही रहती है किन्तु मौका पडने पर, पति पत्नी की योग्यता या सामाजिक प्रतिष्ठा के अनुसार निर्धारित की जाती है। मेहर उल मिस्ल का वहा आश्रय लेना पडता है जहा निकाह म मेहर पूवनिर्धारित नही रहती है। परम्परानुसार कम से-कम दस दीनार की महर होना चाहिए। किन्तु शिया सम्प्रदाय म इस परम्परा को नही माना जाता है।

सुन्नी सम्प्रदाय की विधि प्रणाली में पत्नी को मेहर का अधिकार तीन अव स्थाओ म मिलता है—एक निकाह क बाद सम्भोग होने पर, या दो, वध एकान्त सवन (Valid Retirement) से अथति पति पत्नी के इसप्रकार एकान्त सवन से जिससे सम्भोग की सम्भावना की पुष्टि होती हो और तीसरे पति पत्नी मे से किसी की भी मत्यु होने पर। शिया विधि प्रणाली म वध एकान्त सेवन से मेहर अधिकार मिलने का विधान नही है। शिया विधि प्रणाली म पाच प्रकार की मेहर मिलती है—एक परम्परागत (महर ए सुन्नत) जा पैगम्बर की परम्परानुसार पाच सौ दिरम आती है दूसरी उचित या वाजिब (मेहर उल मिस्ल) जो पत्नी की हैसियत के अनुसार निर्धारित की जाय तीसरी पूवनिर्धारित (महर ए मुसम्मा) चौथी जो पति पत्नी के द्वारा निकाह के बाद तय की जाय (मेहर ए-तफवीज) और पाचवी जो जज द्वारा निर्धारित की जाय (महर ए-तखीम)। सुन्नी विधि प्रणाली म कम-से-कम धनराशि का विधान किया गया है और शिया प्रणाली मे अधिक से अधिक का (पाच सौ दिरम)। किन्तु ऐस भी उदाहरण आते हैं जहा पति अपनी आर्थिक हैसियत स अधिक मेहर देने का वादा करता है। यह वादा वैध है और पत्नी को मेहर की धनराशि पाने का अधिकार है चाहे वह पति की क्षमता स बाहर ही क्यो न हो। किन्तु इस्लामी विधि परम्परा मे जहा मेहर की धनराशि अत्यधिक हो और पति क हैसियत के बाहर हो वहा काजी को उम घटाने का अधिकार है। अग्रेजी राजकाल म अवध और अजमर मेरवाडा की दीवानी अदालतो को यह अधिकार मिला था[1]।

मेहर की धनराशि का आधार क्या है? एक आधार है परम्परा का जिसम दस दिरम स लेकर पाच सौ दिरम की धनराशि का उचित महर माना गया है और दूसरा पत्नी का कुमारापन या विधवापन, उसकी सुन्दरता उसकी योग्यता और पत्नी क पिता की सामाजिक तथा आर्थिक प्रतिष्ठा। ल्वी के अनुसार, साधारणतया

1 सक्सेना, वाणी प्रसाद वही पष्ठ 329

कुवारी का मिलने वाली मेहर की धनराशि विधवा और तलाक दी हुई स्त्री की अपेक्षा अधिक होती है। किन्तु साथ ही साथ, चाहे मक्का हो या चीनी तुर्किस्तान, सभी जगह उस औरत को अधिक पसंद किया जाता है जिसे निकाह का अनुभव रहा हो और जो सुदरता और चतुराई म साधारण नारी से बढ कर हो। अत, ऐसी औरत के लिए मेहर की धनराशि निश्चय ही अधिक होती है। कुवारेपन का, यह कहा जा सकता है, अधिक पसन्द किया जा सकता है। निकाह सविदा म बहुधा यह घोषणा की जाती है कि वधू कुवारी है या नही। मारक्को म, यदि वर कन्या को कुवारी नही पाता है तो वह उसे उसके पिता के घर वापस भज देता है। किन्तु, यह तभी होता है जब निकाह मविदा म यह कहा गया हो कि कन्या कुवारी है और पति को वह कुवारी न लगे[1]। काशी प्रसाद सक्सेना के अनुसार मेहर की धनराशि क्या हो, इसका कोई निश्चित नियम नही हैं यद्यपि इस्लामी विधि के निर्वचकों ने मेहर की निम्नतम राशि (दस दिरम) निर्धारित करने की कोशिश की है क्योंकि मुहम्मद साहब न अपनी पत्नियों म से प्रत्येक को इतनी ही धनराशि बतौर मेहर के दी थी। किन्तु, आज, मेहर की धनराशि, अन्य विचारों और तथ्यों पर निर्भर करती है। य विचार और तथ्य हैं पति पत्नी की परिस्थितिया, तलाक विषयक मिले हुए पति के विशेषाधिकारों पर रोक लगाने की आवश्यकता पत्नी के पितृ परिवार की सामाजिक स्थिति उसकी सुदरता और बौद्धिक तथा वयक्तिक योग्यतायें पति की आर्थिक दशा, पत्नी की सामाजिक परिस्थितिया और उसके पितृ सम्बन्धियों म ऐश्वर्य प्रदर्शन की भावना की मात्रा[2]।

मेहर का धनराशि की मात्रा वर की स्थिति और कन्या की माग पर निर्भर करती है। कही कही यह धनराशि साधारण होती है और कही कही हिन्दू दहेज की भाति देने वाले की सामर्थ्य के बाहर और ऐश्वर्य तथा वैभव के दिखावे का प्रतीक होती है। जिन दिनों अरबी सत्ता अपने चरम विकास पर थी उस समय मेहर की धनराशि की मात्रा काफी बढ गई था। मुगल शहजादों और अभिजात वर्गों म मेहर की धनराशि काफी बढी चढी थी। आज भी हैदराबाद और उत्तरी भारत के मुस्लिम उच्च वर्गों म मेहर की धनराशि की मात्रा दिखावटी उपभोग (Conspicuous Consumption) का प्रतीक है। ईरान के गावों मे मेहर के अलावा, वर का कन्या की मा को एक निश्चित धनराशि देनी पडती है जिसे शीर-बहा (मा के दूध का मोल) कहा जाता है[3]। ईरान मे सिगा (अस्थायी मुता) विवाह म मुट्ठी भर मक्का म ही मेहर का काम चल जाता है[4]। गुजरात के खोजा मुसलमानों म जो तरीका पाया

1 लेवी वही पष्ठ 114–15
2 सक्सेना, काशी प्रसाद वही पष्ठ 22
3 शुन्तेरो आउटलाइन्स आफ इस्लामिक कल्चर पष्ठ 518
4 लेवी वही पष्ठ 117

जाता है वह प्रतिष्ठित इस्लामी परम्परा से भिन्न है। यहां वर का पिता कन्या के पिता को पांच रुपये और चार आने (Rs 5 25) देता है जो कन्या का पिता एक सम्मिलित फण्ड (जमाअत खाता) में जमा कर देता है[1]।

मुस्लिम समाज और संस्कृति के अधिकतर विद्वानों के अनुसार, निकाह में मेहर का जो स्थान है उससे ऐसा प्रतीत होता है कि मानो निकाह पत्नी के वली से पत्नी पर सम्भोग अधिकारों का क्रय विक्रय हो और पत्नी सम्पत्ति हो। मुस्लिम स्त्रीय विधि का निर्वचन करने वाले अनेक जजों ने, मेहर के कारण, विवाह को एक ऐसा संविदा माना है जिसमें क्रय विक्रय का भाव आता है। उदाहरणार्थ, जस्टिस महमूद के अनुसार विक्रय संविदा की उपमा के आधार पर, मेहर को दाम्पत्तिक सम्भोग के लिये दिया हुआ धन माना जा सकता है[2]। निकाह, एक दृष्टिकोण से, एक प्रकार का विक्री संविदा है जिसमें पत्नी सम्पत्ति है मेहर उसका मूल्य है और मूल्य देकर पत्नी का हस्तान्तरण किया जाता है। तब क्या मेहर को वधूधन माना जा सकता है? प्राचीन अरब की वैवाहिक परम्पराओं में क्रय विक्रय का भाव था जो निकाह में केवल अप्रत्यक्षत विद्यमान है। मेहर, वली की नहीं पत्नी की सम्पत्ति है। निकाह में कन्या की अनुमति आवश्यक है। अत मेहर कन्या मूल्य नहीं है और न कन्या सम्पत्ति। किन्तु साथ ही साथ मेहर से पति को अपनी पत्नी पर सम्भोग अधिकार मिलता है और मेहर वापस करके पत्नी अपने को पति से अलग कर सकती है। इन परम्पराओं से यह प्रतिभासित होता है कि मानो पत्नी पति की सम्पत्ति हो।

मेहर को वधूधन या कन्यामूल्य मानना अनुपयुक्त है क्योंकि मेहर कन्या के बदले में दिया हुआ मुआवजा नहीं है। निकाह विक्रय भी नहीं है क्योंकि मेहर निकाह का प्रतिदेय नहीं है। मेहर का सम्बन्ध, निकाह से प्रतिफलित होने वाले पति के पत्नी पर सम्भोग अधिकारों से है—वे अधिकार जो खरीदे नहीं जाते हैं वरन निकाह से उत्पन्न होते हैं। मेहर के बिना निकाह का अवैध न होना और बिना मेहर के निकाह में, मेहर को निर्धारित करने की वैध गुंजायश का होना इस बात का प्रतीक है कि मेहर केवल सम्भोग अधिकारों का मूल्य नहीं है। इस्लामी परम्परा में सम्भोग और मेहर परस्पर कई प्रकार से सम्बन्धित हैं। सम्भोग की अनुमति देने से पहले पत्नी मेहर का अंश मांग सकती है किन्तु उसकी अधिकारिणी वह सम्भोग के ही बाद होती है। यदि स्त्री के किसी दोष के कारण विवाह विच्छेद होता है और उसके पूर्व पति पत्नी से सम्भोग (दुखूल) कर लेता है तो पत्नी मेहर की अधिकारिणी हो जाती है। किन्तु यदि पति के किसी दोष के कारण बिना सम्भोग हुये ही तलाक हो जाता है तो पत्नी निश्चित मेहर की धनराशि के आधे की अधिकारिणी

1 गुन्तेरी वही पृष्ठ 517
2 काशी प्रसाद सक्सेना से उद्धृत पृष्ठ 219

हो जाती है[1]। इसप्रकार, जैसा कि कपाडिया का मत है मेहर मूलत पत्नी पर सम्भोग अधिकारो से सम्बंधित रहा है और वधूधन के काफी समीप रहा है। किंतु इस्लाम के प्रभाव के साथ-साथ मेहर सिदाक (पत्नी धन) मे मिल गया जिसके परिणामस्वरूप निकाह के समय मेहर की धन राशि निश्चित न करने से भी निकाह अवैध नही होता है। इस दृष्टिकोण से, मेहर बुजा (रति) का प्रतिदेय है—वह प्रतिदेय जो न तो निकाह संविदा का मुआवजा है, जो न पति से उत्पन्न होता है और न बुजा का प्रतिदान है। मेहर, निकाह के बदले मे प्रतिदेय नही, वरन निकाह से उत्पन्न एक उत्तरदायित्व है जो नारी सम्मान की रक्षा के प्रतीक के रूप मे मुस्लिम विधि प्रणाली मे स्वीकार किया गया है[2]।

निकाह एक ऐसा संविदा है जिसमे निर्धारित मेहर की अदायगी हो जाने के बाद, पति पत्नी को अनेक वैध अधिकार और कर्तव्य मिलते हैं। पति को पत्नी पर सम्भोग अधिकार मिलता है। स्वास्थ्य शारीरिक दशा नैतिकता और मर्यादा का ध्यान रखते हुए, पति को, उसकी इच्छानुसार सम्भोग का अवसर देना पत्नी का धर्म है। बिना पति की आज्ञा के अजनबियो से न मिलना, बच्चो का लालन पालन और गृहस्थी की देखभाल पत्नी का कर्तव्य है। पत्नी को आवश्यकता पडने पर मेहर की धनराशि देना पत्नी की देखभाल करना यदि एक से अधिक पत्नियां हो तो प्रत्येक पत्नी को अलग अलग रहने का स्थान देकर सबका समान आदर करना, पत्नी के चालचलन पर नियंत्रण रखना, यदि पत्नी पति की आज्ञा का उल्लघन करे तो उसे शारीरिक दड देना और पत्नी से दाम्पत्तिक सेवाओ को पाना पति के अधिकारो और कर्तव्यो मे आते हैं। इस्लामी विधि के अनुसार, पति पत्नी को जीविका कमाने, बच्चो के पालन पोषण के साधन जुटाने तथा मेहमानो के लिये खाना बनाने के लिये बाध्य नही कर सकता है। इस्लामी विधि मे बच्चो की देखभाल तथा उनके पालन पोषण के लिये धाय या आया रखना और गृहस्थी के मामूली काम के लिये सेवक रखना पति का कर्तव्य माना गया है। अपनी सामाजिक प्रतिष्ठा के अनुसार, पति से भरण पोषण का खर्चा पाना पत्नी का अधिकार है जो उसे निकाह-संविदा से प्राप्त होता है।

निकाह और नारी

इस्लाम के प्रभाव से, प्राचीन अरबी परम्पराओ का जो रूपान्तरण हुआ उसमे, नारी को जहां अनेक अधिकार मिले, वहां उसे अनेक सामाजिक निर्योग्यताओ का भी शिकार होना पडा। इस्लाम मे नारी को पिता और पति दोनो की सम्पत्ति मे उत्तराधिकार मिला। मेहर की धनराशि, उसको मिले उपहारो और उसके द्वारा अर्जित सम्पत्ति पर, उसे एकाधिकार मिला। मेहर की धनराशि के अलावा, पत्नी का पति

1 कपाडिया, के० एम० वही पृष्ठ 193
2 सक्सेना, काशी प्रसाद वही पृष्ठ 210

से भरण पोषण का अधिकार भी मिला। यदि पति एक से अधिक विवाह करता है तो प्रत्येक नारी को पति से उचित भरण पोषण पाने का अधिकार है। इस्लाम ने, यदि सीमित बहुपत्नीत्व को जायज माना तो साथ ही साथ, प्रत्येक पत्नी के लिये मेहर और भरण पोषण का विधान करके, बहुपत्नीत्व पर रोक भी लगाई। इस्लाम ने नारी को वह आर्थिक सुरक्षा दी जो प्राचीन अरब में न थी। किन्तु, साथ ही साथ, इस्लामी परम्पराओं ने पुरुष के प्रभुत्व को भी सर्वोपरिता दी। वली को कुमारी का संरक्षक बनाया। पत्नी को उचित भरण पोषण देना यदि पति का कर्तव्य निर्धारित किया तो, साथ ही साथ, पति को पत्नी पर असीमित अधिकार भी दिये। पत्नी पर सम्भोग-अधिकारों की धारणा आवश्यकता पड़ने पर पत्नी को पीटने का अधिकार पत्नी का पर्दे में रहने की प्रथा, बिना पति की आज्ञा के पत्नी का किसी अन्य से सम्भाषण न करने का विचार, इच्छानुसार विवाह विच्छेद करने तथा एक से अधिक विवाह करने का पति का अधिकार और नारी के शरीर पर पति के एकछत्र अधिकार की धारणा, जैसा कि विद्वानों का मत है नारी पर पुरुष की प्रभुता के परिचायक हैं। सतीपरी जीवन, पति का निरपेक्ष अनुसरण पति भक्ति और शुद्ध जीवन इस्लामी परम्परा के अनुसार गृहिणी के आदर्श हैं। अपने अधिकारों के साथ पति के निरपेक्ष अधिकारों के प्रति समर्पण पत्नी का कर्तव्य है।

निकाह पत्नी पर पति को निरपेक्ष अधिकार प्रदान करता है। मेहर नारी के आर्थिक स्वार्थों की रक्षा करते हुए पति के अधिकारों की निरपेक्षता को और भी बढ़ावा देता है। विवाह विच्छेद का निरंकुश अधिकार, वैवाहिक जीवन में पत्नी को गौण स्थान प्रदान करता है। कपाडिया[1] के अनुसार इस्लामी समाज में तलाक का कानून नारी पर पुरुष की प्रभुता को प्रतिपादित करता है। कपाडिया का यह भी मत है कि पुरुष का पत्नी को अकारण ही तलाक देने का अधिकार मुस्लिम नारी की प्रतिष्ठा को नकारात्मक ढंग से प्रभावित करता है क्योंकि जहाँ नारी को अनेक अधिकार मिले हैं, वहाँ उसे तलाक की निरन्तर आशंका भी मिली है। मुहम्मद के बाद से न्यायाधीश पुरुष के इस विशेषाधिकार को कम करने के पक्ष में रहे हैं किन्तु उसमें सफलता नहीं मिली। कुरान में नारी को पुरुष के आधे के बराबर माना गया है। इस्लाम में पति पत्नी दम्पति नहीं वरन नर नारी की दो अलग अलग इकाइयाँ हैं जो पति पत्नी के रूप में अपने अपने अधिकारों और कर्तव्यों का पालन करने के लिये सविदाबद्ध हैं। इस दृष्टिकोण से, मुस्लिम नारी को पति की दासी सम्पत्ति और गुलाम तक कहा गया है। किन्तु मुस्लिम नारी की अपेक्षाकृत उच्चतर सामाजिक प्रतिष्ठा सिद्ध करने वाले नारी के मेहर अधिकार भरण-पोषण के अधिकार और उत्तराधिकार पर जोर दिया है। इस्लाम ने मजहबी

---

1 कपाडिया, के० एम० वही पृष्ठ 192

मामलों में नारी और पुरुष को समान माना किन्तु वैवाहिक तथा पारिवारिक मामलों में असमान। इसमें इस्लाम का दोष नहीं है क्योंकि इस्लाम का विकास ही इस्लामेतर प्राचीन अरबी परम्पराओं के प्रति सुधारवादी दृष्टिकोण लेकर हुआ था। इस्लाम में नारी को बहुत से वे अधिकार पहले ही से मिले हुए हैं जिनको भारत में लाने के लिये नई विधि का निर्माण करना पड़ा। इस्लाम में नारी की प्रतिष्ठा *उच्च है या निम्न या हिन्दू नारी की प्रतिष्ठा उच्च है या मुस्लिम नारी की ये प्रश्न* असमाजशास्त्रीय हैं क्योंकि नर नारी की भूमिकायें उनके पारस्परिक अधिकार और कर्तव्य भिन्न भिन्न समाजों में भिन्न हैं और प्रत्येक समाज के सांस्कृतिक परिवर्तन तथा विकास का परिणाम है। अनेक वैध अधिकारों के बावजूद भी पत्नी की प्रतिष्ठा उस सामंजस्य पर निर्भर करती है जो वह पुरुष के साथ स्थापित करती है। इस्लाम के इतिहास में अनेक ऐसी नारियों के उदाहरण मिलते हैं जिन्होंने सामाजिक राजनैतिक जीवन को प्रभावित किया है। इस्लाम ने यदि नारी को *आर्थिक अधिकार दिये और पुरुष को नारी पर निरंकुश प्रभुता प्रदान की तो* इस्लाम में यह भी कहा गया है कि संसार और इसके आनन्द मूल्यवान हैं किन्तु पतिव्रता पत्नी इन सबसे कहीं अधिक मूल्यवान है। खुदा की निगाह में वही सर्वोत्तम है जो अपनी पत्नी के साथ उत्तम व्यवहार करता है[1]।

निकाह नियम इस्लामी परम्पराओं में दो भाइयों की सन्तान में विवाह अधिक पसन्द किया जाता है। पिता के भाई की कन्या प्रत्येक नौजवान की प्रथम भावी पत्नी मानी जाती है यद्यपि यह आवश्यक नहीं कि विवाह उसी के साथ हो। इस प्रथा का उद्भव इस्लामेतर अरब में हुआ था और आज भी इस्लाम में पिता के भाई की कन्या के साथ विवाह प्रथा के ही रूप में विद्यमान है। इस प्रथा के पीछे किसी कानून की शक्ति नहीं है। प्राचीन अरब की परम्परा में, यदि किसी स्त्री का उसके पिता के भाई के पुत्र से प्रथम विवाह होता था तो वह अपने पति के घर की तब भी स्वामिनी बनी रहती थी जब उसका पति दूसरा विवाह करता था। पिता के भाई की कन्या के साथ विवाह के दो कारण थे—प्रत्येक नारी का पति उसकी गणजाति (Tribe) में से होता था और प्रत्येक नारी के बच्चे उसकी गणजाति के ही सदस्य होते थे जिसके कारण गणजाति की एकता को प्रोत्साहन मिलता था। अतः, दो भाइयों की सन्तानों में विवाह की परम्परा इस्लामेतर अरबी समाज की गणजाति प्रणाली की देन है जो इस्लाम में प्रथा के रूप में स्थाई हो गई और कालान्तर में उस प्रथाई विधि को अनुमोदन मिल *गया। इस्लामी कानून के हनाफी सम्प्रदाय के अनुसार यदि कोई व्यक्ति अपनी* अवयस्क कन्या का विवाह अपने भाई के लड़के के साथ करता है तो वयस्क होने पर

1 लेवी की पुस्तक दि सोशल स्ट्रक्चर आफ इस्लाम से उद्धृत।

वह कन्या उस विवाह को अस्वीकार नहीं कर सकती है। पिता के भाई की कन्या के साथ विवाह करने की प्रथा चीन के मुसल्मानों को छोड कर सारे मुस्लिम समाज में पाई जाती है। चीनी मुसलमानों की स्थानीय प्रथा से ही इस प्रथा का निषेध हुआ है।

सामान्यत, मुसल्मान पुरुष को मुसलमान नारी से ही विवाह करने की अनुमति दी गई है। किन्तु कुरान की एक परम्परा में किताबिया (अर्थात जिसका मजहब इस्लाम की भांति किताबी है) नारी से विवाह करने की अनुमति होने के कारण यहूदी और ईसाई स्त्रियों से विवाह जायज माना गया है। बौद्ध स्त्री किताबिया है या नहीं यह प्रश्न अनिश्चित है[1]। मूर्तिपूजक तथा अग्निपूजक स्त्री के साथ मुसल्मान का विवाह इस्लामी विधि में अवैध नहीं बल्कि नियमविरुद्ध है क्योंकि मूर्ति या अग्निपूजक स्त्री को मुसल्मान बनाकर विवाह को वैध बनाया जा सकता है। रंगून के एक केस में यह निर्णय दिया गया था कि एक शिया किसी बौद्ध धर्मी स्त्री से तभी वैध विवाह कर सकता है जब पहले स्त्री को इस्लाम में दीक्षित किया जाय। मुस्लिम पुरुष गैर-मुस्लिम स्त्री से विवाह कर सकता है या नहीं इस पर मतभेद है—हनाफी कानूनी सम्प्रदाय में किताबिया के साथ विवाह की अनुमति है किन्तु शाफी सम्प्रदाय में गैर मुस्लिम स्त्री से विवाह करने की बिलकुल अनुमति नहीं है क्योंकि उनके अनुसार मुहम्मद ने गैर मुस्लिम पर अधिकार रखने का निषेध किया है[2]। किन्तु मुहम्मद ने मुस्लिम और गैर मुस्लिम दोनों प्रकार की स्त्रियों से विवाह किया है। वास्तविक व्यवहार में गैर मुस्लिम स्त्री से विवाह की वैधता की समस्या तभी तक बनी रहती है जब तक कि गैर मुस्लिम स्त्री इस्लाम को स्वीकार नहीं करती।

मुस्लिम नारी को हर दशा में मुस्लिम पुरुष से ही निकाह करने का आदेश है। कुरान (/220) में इस बात की हिदायत की गई है कि मुस्लिम नारी को मूर्तिपूजक से विवाह नहीं करना चाहिये। यह हिदायत यहां तक की गई है कि उन मुस्लिम स्त्रियों का भी ग्रहण नहीं करना चाहिये जो गैर मुस्लिम पतियों का त्याग कर आई हों वरन उन्हें उनके पतियों के पास वापस कर देना चाहिये। यह परम्परा लगभग सारे मुस्लिम समाज में है। तुर्की के सिविल कोड में मुस्लिम नारी को गैर मुस्लिम के साथ विवाह करने का अधिकार दिया गया है किन्तु वहां की प्रथा में विवाह के पहले वर को इस्लाम में दीक्षित करने पर जोर दिया जाता है[3]। भारत में भी इसी

1 काशी प्रसाद सक्सेना के अनुसार प्रिवी काउंसिल में यह प्रश्न उठाया गया था किन्तु अनिर्णीत ही रहा वही पृष्ठ 166
2 सक्सेना काशी प्रसाद वही पृष्ठ 166
3 लेवी वही पृष्ठ 103

परम्परागत वधिक प्रणाली को माना जाता है। भारतीय मुसलमान परम्परागत मुस्लिम प्रणाली के ही अन्तर्गत विवाह कर सकते हैं। स्पेशल मैरिज एक्ट (1954) मुसलमानों पर नहीं लागू होता है।

प्राचीन अरब की अनेक वैवाहिक परम्परायें या तो इस्लाम के प्रभाव में अवध हो गई या अगम्यगमन की श्रेणी में आ गई। प्राचीन अरब में पिता के मरने पर पुत्र को अपनी सौतेली माँ से विवाह करने या उसका किसी दूसरे के साथ विवाह कर देने का अधिकार था किन्तु कुरान ने इस प्रथा को अनियमित घोषित कर दिया। इसी नियम के अनुसार इस्लाम में पिता द्वारा तलाक दी हुई या पिता की विधवा से विवाह करना भी अगम्यगमन माना गया। किन्तु, जहा ऐसे विवाह हो जाय और विवाह के बाद सम्भोग भी हो जाय कुरान की एक परम्परा के आधार पर ऐसे विवाहों को जायज मानने का भी विधान है यद्यपि इस नियम को साधारणतया, पालन करने का विधान नहीं है। इस्लाम में ऐसे विवाहों को अपवाद के ही रूप में जायज मानने की अनुमति दी गई है। दो बहनों से एक ही साथ विवाह (Sororal Polygyny) का इस्लाम में निषेध है यद्यपि इस्लामेतर अरब में ऐसे विवाहों का प्रचलन था। पुत्री, भगिनी मा की तथा पिता की बहिन भाई तथा बहिन की पुत्री पुत्र की पत्नी दादी (Grand Mother) और प्रपौत्री के साथ यौन सम्बन्ध अगम्यगमन माने गए हैं। अत, इन सम्बन्धियों के साथ विवाह वर्जित है। सौतेली मा का सम्बन्ध भी इस्लाम में रक्त सम्बन्ध माना गया है और, इसकारण, जिन व्यक्तियों ने एक ही सौतेली माँ के स्तन से दुग्धपान किया है उनमे विवाह वर्जित है। जिस स्त्री का बचपन में स्तन पान किया गया है वह मा के समान है, इसकारण वह पत्नी नहीं बनाई जा सकती चाहे स्तनपान करने वाला व्यक्ति उस स्त्री के पति का किसी अन्य स्त्री से ही सन्तान क्यों न हो।

जिसप्रकार दो बहनों से एक ही साथ विवाह करने का निषेध है, उसीप्रकार एक स्त्री और उसकी भतीजी से भी एक साथ विवाह करने का निषेध है। इस्लामी विधि प्रणाली में विनिमय विवाह (शिगार) का निषेध है यद्यपि इस्लामेतर अरब में इसका प्रचलन था। शिगार विवाह वह विवाह है जिसमें दो व्यक्ति एक दूसरे की कन्याओं से विवाह करते हैं और मेहर का विधान नहीं करते हैं क्योंकि यहां कन्या के बदले में दी हुई कन्या मेहर समझी जाती है। इस्लामी परम्परा में ऐसा विवाह तब तक नाजायज है जब तक कि प्रत्येक कन्या के लिए अलग अलग मेहर नहीं निश्चित की जाती है। दूसरे शब्दों में, यदि मेहर को तय किए बिना, दो व्यक्ति एक दूसरे की कन्याओं का विनिमय करके उनसे विवाह कर लेते हैं तो उनका विवाह अनियमित है। इसीप्रकार किसी अन्य व्यक्ति की वध पत्नी से विवाह करना भी इस्लाम में वर्जित है। तलाक दी हुई स्त्री और विधवा से विवाह किया जा सकता है किन्तु तलाक होने या विधवा होने के फौरन बाद नहीं। पुरुष विधुर होने और तलाक देने

बाद फौरन विवाह कर सकता है किन्तु स्त्री नही। इस्लामेतर अरब म पति के मरने या तलाक के बाद स्त्री फौरन दूसरा विवाह कर सकती थी जिस पर इस्लाम ने रोक लगाई। इस्लाम म विधवा होने वाली या तलाक दी हुई स्त्री पर इद्दत की कद लगाई गई। इद्दत वह निर्धारित काल है जिसम विधवा हुई या तलाक दी हुई स्त्री को दूसरे विवाह के लिए इ तजार करना पडता है। तलाक दी हुई स्त्री के लिए दूसरा विवाह करने के पहले, तीन मासिकधर्मों तक इ तजार करने का विधान है और विधवा हुई स्त्री को चार महीने दस दिन तक। इस्लाम म गुलाम-स्त्री स सम्भोग करने की अनुमति है कि तु साथ ही-साथ इस बात का भी विधान है कि किसी गुलाम स्त्री पर अधिकार पाने पर पुरुष का यह कर्तव्य है कि सम्भोग स पहले वह यह निश्चित करले कि गुलाम स्त्री गर्भवती तो नही है और यदि वह गर्भवती है तो पुरुष को तब तक इ तजार करना चाहिए जब तक कि उसे स तान न हो जाय। इद्दत के दौरान म, इद्दती स्त्री से विवाह प्रस्ताव किया जा सकता है कि तु गुप्त रूप स। विवाह इद्दत के समाप्त होने पर ही हो सकता है। तलाक दी हुई पत्नी से पति तब तक पुन विवाह नही कर सकता है जब तक कि कोई दूसरा पुरुष उससे विवाह और सम्भोग करके पुन उसे तलाक न दे और वह पुन इद्दत का समय काट न ले।

कुरान म मुसल्मान को गुलाम स्त्रियो स विवाह करने का अधिकार दिया गया है किन्तु बाद के विधिवेत्ताओ (Legists) ने उस पर निय त्रण लगाने का प्रयास किया है। इस परम्परा का उद्गम इस्लामेतर अरबी समाज की गुलामी प्रथा स हुआ है। इस्लाम क नियमानुसार, अविवाहित स्त्रियो को चाह वे मुसल्मान हो या यहूदी या इसाई, गुलाम रखेलिया की भाति रखा जा सकता है। गुलाम रखेलियो के साथ सम्भोग की अनुमति है। स्त्री भी पुरुष गुलामो को रख सकती है। गुलाम को सम्पत्ति माना गया है। कि तु हनाफी विधि परम्परा म अपनी गुलाम स्त्री या अपने पुत्र की गुलाम-स्त्री या अपने गुलाम पुरुष म विवाह करने का आज्ञा नही है। गुलाम के साथ निकाह तभी हो सकता है जब वह स्वतन्त्र कर दिया जाय। अधिक-तर विधि शास्त्रिया के अनुसार एक पुरुष दूसरी गुलाम स्त्री स तभी विवाह कर सकता है जब (अ) वह अविवाहित हो और उसक पास कोई गुलाम रखल न हो (ब) मुस्लिम स्त्री स विवाह करने क लिए उसक पास महर न हो (स) यदि अविवाहित रहने स उसे पर सब धो के दाव मे फसने की आशका हो और (द) यदि गुलाम-स्त्री मुसल्मान हो। गुलामी प्रथा को दूर करने के ससारव्यापी आ दोलन का इस्लाम पर भी प्रभाव पडा है। गुलामी अधिनियम (Slavery Act 1843) ने मुस्लिम विधि के उस अश को प्रभावित किया है जिसम गुलाम स्त्री का रखली बना कर रखन या उससे शादी करन का विधान है।

इसप्रकार निकाह पर अनेक प्रतिषध लगे हुए है जिनकी अवहेलना स निकाह म वध निर्योग्यता (अस्बाब उत तहरीम) उत्पन्न होती है। इन प्रतिषधो का चार

श्रेणियों में रखा जा सकता है एक, निरपेक्ष प्रतिषेध, दो, सापेक्ष प्रतिषेध, तीन निषेधात्मक प्रतिषेध और चार आदेशात्मक प्रतिषेध। निरपेक्ष प्रतिषेध रक्तसम्बन्धता (Consanguinity) दो परिवारों में विवाह से उत्पन्न सम्बन्धियों में विवाह निषेध के नियमों (Affinity) और धात्रेयपालन (Fosterage) के सिद्धान्तों से उत्पन्न होते हैं क्योंकि रक्त सम्बन्धियों पत्नी के रक्त सम्बन्धियों तथा धात्रेय से सम्बन्धित सम्बन्धियों[1] में विवाह का निषेध है। सापेक्ष प्रतिषेध एक साथ दो बहनों इद्दती स्त्री तथा दूसरे मजहब की स्त्री के साथ विवाह करने और बहुपत्नित्व तथा निकाह में साक्षी के नियमों से सम्बन्धित है। बहुपतित्व और गैर मुस्लिम के साथ विवाह करने के निषेध नियम निषेधात्मक प्रतिषेधों को जन्म देते हैं। दूसरे में गर्भवती स्त्री से विवाह न करने का आदेश तथा तलाक दी हुई स्त्री से तब तक विवाह न करने का आदेश जब तक कि दूसरा उससे विवाह करके उसे तलाक न दे दे शिया विधि के अनुसार मक्का की तीर्थयात्रा के दौरान में मुता विवाह करने वालों का स्थाई निकाह न करने का आदेश तथा जहाँ पति पत्नी में धात्रय सम्बन्ध स्थापित किए जाय या उनमें से कोई धर्मपरिवर्तन करले वहाँ विवाह के निर्योग्य हो जाने का आदेश[2]—ये आदेश आदेशात्मक प्रतिषेधों की श्रेणी में आते हैं। इन प्रतिषेधों के कारण, मुस्लिम विधिशास्त्रियों ने तीन प्रकार के विवाह निर्धारित किए हैं—एक वैध (सहीह) दूसरा अनियमित (फासिद) और तीसरा अवैध (बातिल)। जो निकाह वैध नहीं है वह या तो अनियमित है या अवैध। जहाँ निरपेक्ष प्रतिषेध या प्रतिषधों का उल्लंघन होता है वह निकाह अवैध है और जहाँ सापेक्ष, निषेधात्मक तथा आदेशात्मक प्रतिषेधों का उल्लंघन होता है, वह निकाह अनियमित है क्योंकि उसमें उस नियम का उल्लंघन किया गया है जो अस्थाई और घटनावश होने के कारण सुधारा जा सकता है। उदाहरणार्थ यदि कोई व्यक्ति चार पत्नियों के रहते हुए पाँचवीं पत्नी से निकाह करता है तो उसका पाँचवाँ निकाह अवैध नहीं वरन् अनियमित है क्योंकि किसी भी एक पत्नी को तलाक

1 इस्लाम में माँ और धात्रेय माँ को समान माना गया है। स्तन पान कराकर पालन करना तथा गर्भधारण करके जन्म देना एक समान माना गया है। किन्तु साथ ही साथ, अनेक धात्रय सम्बन्धों को अपवाद मान कर उनके साथ विवाह की अनुमति भी दी गई है। ऐसे धात्रय सम्बन्धों की तालिका के लिए देखिये काशी प्रसाद सक्सेना कृत मुस्लिम ला पृष्ठ 160

2 इस्लामी विधि के अनुसार, जहाँ पति पत्नी धात्रय सम्बन्ध स्थापित करलें या उनमें से कोई धर्मपरिवर्तन करले वहाँ विवाह अवैध हो जाता है। इस नियम पर भारत के कास्ट डिजेबिलिटीज रिमूवल एक्ट (1850) का प्रभाव पड़ता है क्योंकि इस एक्ट के अनुसार स्वधर्म त्याग, स्वधर्म से निष्कासन या धर्म परिवर्तन से किसी भी व्यक्ति के वैयक्तिक, साम्पत्तिक तथा उत्तराधिकार नियम ज्यों के त्यों बने रहते हैं।

देकर वह अपने पांचवें निकाह का वध कर सकता है। अनियमित विवाह में प्रतिषेध या प्रतिषेधों का उल्लंघन संयोगवश होता है। मुल्ला ने अनियमित विवाह के पांच प्रकार बताए हैं—एक, वह विवाह जिसमें साक्षी न हों, दो, चार पत्नियों के रहते हुए पांचवीं पत्नी से विवाह, तीन इद्दती स्त्री के साथ विवाह, चार, दूसरे मजहब की स्त्री से विवाह और पांच वह विवाह जिसमें अवैध संयोग (Unlawful Conjunction) का समावेश हो अर्थात पत्नी से सम्बन्धित किसी ऐसी स्त्री से विवाह, जिसमें और पत्नी में वैध विवाह न हो सकता यदि उन दोनों में से कोई भी पुरुष होता[1]।

बहुपत्नीत्व और मुता विवाह इस्लाम में इस्लामेतर प्राचीन अरबी समाज से आए हैं।

बहुपत्नीत्व यह कहना गलत होगा कि इस्लाम में बहुपत्नीत्व का प्रवेश मुहम्मद के द्वारा हुआ है। जो लोग मुहम्मद साहब को इस्लाम में बहुपत्नीत्व लाने का उत्तरदायी मानते हैं, वे एक ओर कुरान की उस आयत पर जोर देते हैं जिसमें यह कहा गया है कि मुसलमान चार पत्नियां रख सकता है और दूसरी ओर मुहम्मद साहब के इस कथन पर कि जो मुस्लिम स्त्री अपने को पैगम्बर को सौंपती है वह पैगम्बर के लिए स्वीकृत है। स्वयं मुहम्मद साहब ने चार से अधिक विवाह किए थे और इसकारण, एक मत यह भी है कि पैगम्बर के उदाहरण से बहुपत्नीत्व को प्रोत्साहन मिला। लेकिन, साथ ही-साथ यह भी कहा जा सकता है कि मुहम्मद साहब के अधिकतर विवाह राजनैतिक थे और बहुत सम्भव है कि पुत्र की प्राप्ति के लिए पैगम्बर ने एक से अधिक विवाह किये हों। लेवी का यह मत है कि इस तथ्य को अस्वीकार नहीं किया जा सकता कि मुहम्मद ने स्वयं अपने द्वारा निर्धारित वैवाहिक मर्यादाओं का उल्लंघन किया और अपने उल्लंघनों का अपवाद माना[2]। अमीरअली के अनुसार, ईसाई लेखकों का यह मत कि मुहम्मद ने बहुपत्नीत्व को स्वीकार करके उसे वैधानिक बनाया गलत है क्योंकि मुहम्मद साहब ने यदि, एक ओर यह कहा कि मुसलमान चार पत्नियां तक रख सकता है तो, दूसरी ओर, इस पर भी जोर दिया कि यदि मुसलमान एक से अधिक स्त्री को न्यायोचित ढंग से नहीं रख सकता है तो उसके लिए एक ही स्त्री से विवाह करना श्रेयस्कर है।

इस्लाम में बहुपत्नीत्व की प्रथा का विकास इस्लामेतर अरबी समाज के धरातल से विकसित हुआ है। गणजातीय युद्धों से पुरुषों की जनसंख्या का निरन्तर ह्रास होने के कारण युद्ध में स्त्रियों का अपहरण करके उनसे विवाह करने या उन्हें दासी बनाकर रखने की प्रथा के कारण और नारी को क्रय विक्रय की सम्पत्ति समझने के कारण, इस्लामेतर प्राचीन अरबी समाज में बहुपत्नीत्व का श्रीगणेश हुआ था। बहुपत्नीत्व और रखनी की प्रथाएँ साथ साथ पाई जाती थीं। पत्नियों और रखनियों

---

1 मुल्ला डी० एफ० वही पृष्ठ 229
2 लेवी वही पृष्ठ 100

की संख्या पुरुष की आर्थिक दशा पर निर्भर करती थी। इसी परिस्थिति का सुधार करने के प्रयास में, इस्लाम में बहुपत्नीत्व की प्रथा का समावेश हुआ जिसे, मुहम्मद के बाद, वैधानिक आधार प्रदान किया गया। अमीरअली ने ठीक ही कहा है कि इस्लाम में बहुपत्नीत्व का अनुमोदन उन आदिम परिस्थितियों की देन है जिनमें इस्लाम का अभ्युदय हुआ है।

मुहम्मद ने बहुपत्नीत्व का निषेध किया और बहुपत्नीत्व को सीमित किया। कुरान की एक आयत के अनुसार, तुम उन दो, तीन या चार स्त्रियों से विवाह करो, जो तुम्हें अच्छी लगें किन्तु, यदि तुम्हें यह लगे कि तुम उनके साथ न्याय नहीं कर सकोगे तो केवल एक ही पत्नी से विवाह करो या उससे जो तुम्हारे दाहिने हाथ के अधिकार में है (यहां युद्ध में अपहृत स्त्रियों की ओर संकेत है)। इसप्रकार मुहम्मद ने अरब की बहुपत्नीत्व परम्परा को स्वीकार तो किया किन्तु उसे सीमित भी किया। स्त्री को मेहर का अधिकार दिया और साथ ही साथ, इस बात का भी विधान किया कि जहां एक से अधिक पत्नी से विवाह होगा, वहां पहली पत्नी का दर्जा बड़ा होगा और प्रत्येक के लिए अलग निवास स्थान तथा भरण पोषण का प्रबंध करना होगा। प्रत्येक पत्नी को समान समझना और प्रत्येक के साथ समानता का व्यवहार करना मुसल्मान का फर्ज निर्धारित किया। मुहम्मद ने, इस्लामेतर प्राचीन अरबी समाज की मातृसत्तात्मक प्रथा के स्थान पर, पितृसत्तात्मक प्रथा का प्रतिरोपण किया और सम्भवतः यही कारण है कि इस्लाम में, एक ओर, पुरुष को प्रभुत्वपूर्ण स्थान देने का प्रयास है और दूसरी ओर, नारी को वहां तक अधिकार देने का प्रयास जहां तक पितृसत्तात्मकता की मर्यादा बनी रहे। इस्लाम में सीमित बहुपत्नीत्व का अनुमोदन और बहुपतित्व का निषेध मातृसत्तात्मकता के स्थान पर पितृसत्तात्मकता का प्रतिरोपण करने से उत्पन्न संघर्ष को दूर करने के प्रयास में, मुहम्मद द्वारा प्रतिपादित एक समझौता सा लगता है।

मुहम्मद साहब के कथनों के आधार पर यह दिखाने का प्रयास किया गया है कि इस्लाम में बहुपत्नीत्व का भी अनुमोदन है और एकपत्नीत्व का भी। लेवी के अनुसार, कुछ हदीसों के आधार पर यह कहा जा सकता है कि मुहम्मद ने एक से अधिक कुंवारी मुस्लिम स्त्रियों से विवाह करने का अनुमोदन किया है। लेवी का यह भी मत है कि कुरान में जहां एक से अधिक पत्नियों से विवाह करने का पक्ष लिया गया है वहां, सम्भवतः, पत्नियों का सन्दर्भ मुस्लिम स्त्रियों से है क्योंकि वहां यह भी कहा गया है कि जहां एक से अधिक मुस्लिम स्त्री से विवाह करने में कठिनाई हो वहां या तो एक स्त्री से विवाह करना चाहिए या गुलाम स्त्रियों को रखैली बनाकर रख लेना चाहिए। मुस्लिम पत्नियों के अलावा, गुलाम स्त्रियों के भरण पोषण और मेहर पर अपेक्षाकृत कम खर्चा होता है। दूसरी ओर, कुरान की एक आयत (43/128), जिसमें यह कहा गया है कि एक से अधिक पत्नियों के होने से सब के साथ निष्पक्ष

व्यवहार सम्भव नही है, के आधार पर यह प्रतिपादित करन का प्रयास किया गया है कि स्वय पगम्बर एक पत्नीत्व के पक्ष मे थे[1]। इस्लाम मे यदि, एक ओर बहु-पत्नीत्व के आदश प्रतिपादन की परम्परा मिलती है तो, दूसरी ओर, एकपत्नीत्व के आदश प्रतिपादन की। मुताजिला-सम्प्रदाय मे, एक पत्नीत्व के आदश का सर्वोत्तम मानकर, यह प्रतिपादित किया गया है कि एक पत्नी के जीवित रहते हुए दूसरी से विवाह करना अवध है। अमीरअली का यह मत है कि बहुपत्नीत्व की वधता क प्रश्न पर इस्लाम के अनुयाइयों मे काफी मतभेद है किन्तु, एक बडे प्रभावशाली तबके की यह धारणा है कि बहुपत्नीत्व एकदम अवैध है। इस्लाम के आदिमकाल में, जिन परिस्थितियो से बहुपत्नीव का प्रश्रय मिला था व या ता समाप्त हा गई है या वतमान समय म उनका अस्तित्व ही नही है[2]। कुरान म सभी पत्नियो के साथ समता का व्यवहार करने के सन्दभ मे 'अदल शब्द' का प्रयोग हुआ है। अमीरअली के अनुसार, 'अदल से तात्पय मकान, कपडा और भरण पोषण की समानता नहीं वरन सभी पत्नियों के प्रति प्रेम की भावनात्मक समानता है, जिसका वास्तविक व्यवहार मे लाना सम्भव नहीं है। अत कुरान अप्रत्यक्षत एकपत्नीत्व क पक्ष में है। इस्लामी सम्वत की तीसरी शताब्दी मे इस विचार का अभ्युदय हो चुका था कि मुहम्मद के उपदेशो मे बहुपत्नीत्व का स्थान नही है, यद्यपि इस विचार का प्रसार न हो सका। अमीरअली के मत में, बहुपत्नीत्व मुहम्मद क उपदशा के उतना ही विरोध म पडता है जितना कि वह सभ्य समाज तथा सच्ची संस्कृति की सामान्य प्रगति के माग म रुकावट है[3]।

इस्लामी ससार म, बहुपत्नीत्व बनाम एकपत्नीत्व के विचार आज भी चल रहे हैं। इस्लामी समाज मे एकपत्नीत्व का आदश पूणरूपेण नही स्वीकृत हो पाया है यद्यपि उसके प्रतिष्ठापोषको की सख्या बढती रही है। यदि इस्लाम न बहुपत्नीत्व का प्रतिरोपण किया तो इस्लाम ने ही उस पर रुकावटें भी लगाई। मेहर तथा प्रत्येक पत्नी को अलग अलग मकानो मे रखकर भरण पोषण प्रदान करने के आदश से उत्पन्न आर्थिक समस्याओ के कारण समाज द्वारा स्वीकृत हान पर भी, बहुपत्नीत्व एक सामान्य प्रथा बनने से बचा रहा। बडी गहस्थी के आर्थिक बाझे के कारण बहुपत्नीत्व एक एसा भोग रहा है जिसका उपभोग धनी और अभिजातवग के ही लोग करते रहे हैं। वतमान आर्थिक परिस्थितियों और प्रथाओ ने एकपत्नीत्व का आदश उन पर प्रतिरोपित किया है जो स्थाई जीवन व्यतीत करते हैं और विशेषतया शहरा के निवासी हैं। योरोपीय शिक्षा तथा योरोपीय आदर्शों ने एकपत्नीत्व क

1 लेवी वही 100-101
2 कालीप्रसाद सक्सेना की पुस्तक मुस्लिम ला से उदधृत पृष्ठ 162
3 अमीर अली वही पृष्ठ 230

आदर्श को आगे बढाया। योरोपीय सभ्यता के संघात से, जैसा सर्वत्र हुआ, इस्लाम मे भी एकपत्नीत्व के आदर्श की प्रतिस्थापना की माग की गई। अमीरअली के विचार, जिनका पहले उल्लेख किया जा चुका है योरोपीय विचारधारा से प्रभावित हैं। मुस्लिम स्त्रियो मे शिक्षा का जितना प्रसार होगा, नयी विचारधारा और नये ससार के सम्पर्क म वह जितना आयेंगी और एकपत्नीत्व के आदर्श की वह जितनी माग करेंगी इस्लाम मे बहुपत्नीत्व के प्रति उतना ही विरोध बढ़ेगा। मुस्लिम नारी को सीमित बहुपत्नीत्व मुहम्मद साहब की देन है। उस सीमित बहुपत्नीत्व को समाप्त करना, अब मुस्लिम नारी का उत्तरदायित्व और कर्तव्य है।

मुस्लिम देशो म, उन्नीसवी शताब्दी से बहुपत्नीत्व को दूर करने या उसे और भी सीमित करने के कदम उठाए गए हैं। सन उन्नीस सौ छत्तीस म स्विस सिविल कोड (Swiss Civil Code) लागू करके, तुर्की मे बहुपत्नीत्व की प्रथा को कानूनन बन्द कर दिया गया। मिस्र सीरिया और ईरान मे ऐसा विधान बनाया गया जिससे बहुपत्नीत्व और भी सीमित हो गया। रूस और चीन मे बहुपत्नीत्व अवैध है यद्यपि, जैसा कि लेवी का मत है, मध्य एशिया के इस्लामी राज्यो मे इस कानून की बहुधा अवहेलना होती रहती है। जिन देशो म इस्लामी मजहबी कानून का परम्परागत पालन किया जाता है वहा बहुपत्नीत्व वैध है। भारत और पाकिस्तान के मुसलमानों मे बहुपत्नीत्व वैध है क्योकि जहा पाकिस्तान मे मजहबी राज्य की स्थापना करके परम्परागत इस्लाम को बनाए रखने का प्रयास किया गया है, वहा भारत म मुस्लिम कानून को इसलिए यथावत रहने दिया गया है कि मुस्लिम कानून ईश्वरीय आदेश है और उसे बदलना मनुष्य के अधिकार के बाहर है। भारत म यह मान लिया गया कि बहुपत्नीत्व लोकनीति (Public Policy) के विरुद्ध है किन्तु, इस दृष्टिकोण से, कोई भी केस अभी तक भारतीय अदालतो के सामने नही आया है। दूसरी ओर, इंडियन कन्ट्रैक्ट एक्ट की छब्बीसवी धारा म यह कहा गया है कि मवयस्क के अलावा किसी अन्य के साथ किया हुआ ऐसा समझौता जिसमे समझौता करने वाले व्यक्तियो मे से, किसी भी के विवाह का प्रतिरोध होता हो, अवैध है। इस आधार पर, यदि पति के दूसरा विवाह करने पर, पत्नी पति का तलाक देती है तो वह अवैध नही है क्योकि पति का दूसरी पत्नी से विवाह करना एक ऐसा संविदा है जिससे पहली पत्नी के विवाह मे प्रतिरोध उत्पन्न होता है[1]। इस प्रकार, इंडियन कन्ट्रैक्ट एक्ट अप्रत्यक्षत इस्लामी बहुपत्नीत्व को और भी सीमित करता है[2]।

---

1 सक्सेना, काशी प्रसाद वही पृष्ठ 162 163

2 अमीरअली के अनुसार बहुपत्नीत्व के विरुद्ध विचार धीरे धीरे एक सामाजिक आस्था बनता जा रहा है और अनेक बाह्य परिस्थितियों के साथ मिल कर, भारतीय मुसलमानों के बीच से इस प्रथा को दूर कर रहा है। भारतीय

मुता निकाह

मुता विवाह परम्परा, इस्लाम म, इस्लामेतर प्राचीन अरबी समाज की परम्पराओं म आइ है। इस्लाम क प्रारम्भिक काल मे, जसा कि रावट्सन का मत है, एक ओर पितृसत्तात्मक ब अल विवाह की प्रथा थी और, दूसरी ओर बीना विवाह प्रथा, जिसम विवाह अस्थाई होता था, जिसम स्त्री पति के पास केवल उतने समय के लिए रहती थी जितनी अवधि के के लिए पति पत्नी साथ रहने का वादा करते थे। मुता विवाह-परम्परा अस्थाई विवाह परम्परा के रूप म विकसित हुई और पगम्बर के समय म प्रचलित थी। मुता विवाह अस्थाई विवाह होना था, जिसका उद्देश्य केवल रति का आनन्द लेना था। ब अल विवाह का उद्देश्य परिवार की स्थापना था किन्तु मुता का कवल काम-सुख प्राप्ति। मुता विवाह का उद्देश्य उस अवस्था मे कामसुख प्रदान करता था जब पुरुष सैनिक सवाओं क लिए या अन्य किसी उद्देश्य के लिए घर स बाहर रहता था। मुता विवाह केवल एक अवधि विशेष के लिए समझौतामात्र होता था। इसमे भी मेहर का समझौता होना था। मुता विवाह केवल वयक्तिक समझौता होता था—उसमे वली की आवश्यकता नही पडती थी। निश्चित अवधि क समाप्त होन पर, पति पत्नी अलग हो जाते थे और पत्नी को ठहराई हुई मेहर की धनराशि मिल जाती थी। इस विवाह स उत्पन्न सन्तान वैध होती थी और बहुधा अपनी मा के सम्बन्धियो के पास रहती थी। इसी अरबी प्रथा की पष्ठभूमि मे इस्लाम मे मुता विवाह की वैध परम्परा का विकास हुआ है[1]।

मुसलमानों में यह प्रथा उत्पन्न हुई है कि निकाह सविदा में पति इस बात का वादा करता है कि वह, पहली पत्नी के जीवित रहते, दूसरा निकाह नहीं करेगा। भारतीय मुसलमानों में पचान्वे फीसदी, यातो एकपत्नीत्व में आस्था रखने के कारण या परिस्थितिवश एकविवाही ह। भारतीय मुसलमानों के शिक्षित वग में जो अपने पूवजों के इतिहास से परिचित ह और जो अन्य राष्ट्रो से अपनी तुलना करते ह, वे बहुपत्नीत्व के पक्ष में नहीं ह। अमीर अली का यह आशा है कि वह समय दूर नहीं है जब इस्लाम के विधिशास्त्री, गुलामी प्रथा की भाति, बहुपत्नीत्व की प्रथा को अवाछनीय घोषित करेंगे (वही पष्ठ 232)। भारतीय अदालतो के सामने एसे कस आये ह जिनमें पति ने दूसरा विवाह न करने के समझौत को तोडा है। भारतीय अदालतों ने कुछ केसो में इस समझौत का कि पहली पत्नी के रहते हुए पति दूसरा विवाह नहा करेगा इस्लामी विधि के अनुसार अनुपयुक्त माना है और कुछ में उसे उचित मानकर पत्नी को तलाक की इजाजत दी है। इन केसों के लिए देखिये काशीप्रसाद सक्सेना कृत मुस्लिम ला, पृष्ठ 268 269।

1 लेवी वही पृष्ठ 115

वर्तमान भारत की मुस्लिम विधि प्रणाली में मुता विवाह वैध भी है और अवैध भी। सुन्नी विधि प्रणाली में मुता विवाह अवैध है किन्तु, शिया विधि प्रणाली में वैध। शिया विधि प्रणाली के आधार पर, काशी प्रसाद सक्सेना ने मुता विवाह के आधारों को इस प्रकार निर्धारित किया है इसमें अवधि (कुछ घंटों से लेकर जीवनपर्यन्त तक[1]) और महर का निश्चय आवश्यक है। जहां अवधि का निश्चय नहीं है वहां मुता विवाह स्थायी निकाह माना जाता है। निकाह में महर की धनराशि का निर्धारण आवश्यक नहीं है क्योंकि निकाह में, इस्लामी प्रथा के अनुसार महर का निश्चय बाद में भी किया जा सकता है। किन्तु, मुता संविदा में महर का निश्चित निर्धारण आवश्यक है क्योंकि उसके बिना मुता-संविदा वैध नहीं है। निश्चित महर की धनराशि और विवाह की निश्चित अवधि मुता संविदा के दो वैध आधार हैं जिनके बिना मुता विवाह अवैध है। बिना निश्चित अवधि का मुता और स्थाई निकाह में कोई अन्तर नहीं है। मुता विवाह में पत्नियों की संख्या निर्धारित नहीं है। अतः मुता में पत्नियों की संख्या पुरुष की आर्थिक दशा पर निर्भर है। स्त्री पुरुष का मजहबी अन्तर मुता विवाह के मार्ग में बाधक है। शिया यहूदी, इसाई तथा अग्निपूजक पारसियों को कितबिया मानते हैं। अतः भारत में, शिया पुरुष पारसी स्त्री के साथ मुता विवाह कर सकता है। मुता संविदा में तलाक का स्थान नहीं है क्योंकि मुता की अवधि समाप्त होने ही मुता विवाह अपने आप समाप्त हो जाता है। यदि कोई पति चाहे तो अवधि की समाप्ति के पहले ही, पत्नी को छोड़ सकता है। पारस्परिक समझौते से, पति पत्नी मुता विवाह की अवधि को बढ़ा सकते हैं। मुता विवाह की अवधि के समाप्त होने के बाद भी, यदि दो स्त्री पुरुष पति पत्नी की तरह रहते हैं और इस बीच में यदि पति की मृत्यु हो जाती है तो यह समझा जायगा कि मुता की अवधि बढ़ा दी गई थी। लेकिन यह तभी माना

---

1 ईरान में मुता विवाह कुछ घंटों से लेकर कई सालों तक का किया जाता है। इज्जतदार व्यक्ति निन्नानवे वर्षों तक का मुता विवाह करते हुए पाए जाते हैं। इतनी अवधि का मुता विवाह अस्थाई न होकर स्थाई विवाह हो जाता है। ईरान में मुता विवाह में ली गई बीबी को सिगा कहते हैं यद्यपि जैसा कि लेवी का मत है, सिगा वस्तुतः प्रतीक है मुता संविदा का जिसे मुल्ला तयार करता है। ईरानी मुता में मेहर का निर्धारण आवश्यक है किन्तु संविदा में कहीं भी इस बात का वर्णन नहीं होना चाहिए कि स्त्री किसी धन या भेंट के बदले में पुरुष को दी गई है। किसी ऐसी अभिव्यक्ति के आ जाने से मुता-संविदा अनियमित हो जाता है और उससे पति की पत्नी को इच्छानुसार तलाक देने की स्वतन्त्रता समाप्त हो जाती है क्योंकि ऐसी अभिव्यक्ति के आजाने से ईरानी प्रथा के अनुसार, तलाक पारस्परिक अनुमति से होना चाहिये–लेवी वही पृष्ठ 117

जायगा जब उपलब्ध प्रमाणों से यह न सिद्ध हो कि निश्चित अवधि के बाद मुता समाप्त कर दिया गया था।

निकाह की भाँति, मुता भी एक वैध संविदा है जिसमें पति पत्नी के अनेक बन्धन और अधिकार भिन्न हैं। मुता विवाह स्त्री को केवल मेहर की धनराशि का अधिकार देता है। मुता विवाह में पत्नी को पति की सम्पत्ति में उत्तराधिकार का अधिकार नहीं मिलता है। जहाँ मुता विवाह में सम्भोग नहीं होता है, वहाँ पत्नी केवल आधी मेहर की अधिकारिणी है। मुता विवाह में सम्भोग हो जाने के बाद, पत्नी मेहर की पूरी धनराशि की उत्तराधिकारिणी है चाहे, अवधि की समाप्ति के पहले ही, पति मुता विवाह को समाप्त क्यों न कर दे। मुता विवाह में, साधारणतः, पत्नी को पति को छोड़ने का अधिकार नहीं है किन्तु यदि वह ऐसा करती है तो पति को मेहर की धनराशि कम करने का अधिकार है। निश्चित अवधि के समाप्त होते ही मुता विवाह स्वतः समाप्त हो जाता है लेकिन, यदि पति चाहे तो निश्चित अवधि के बीच में ही शेष अवधि को वह पत्नी को बतौर उपहार (हिबा-ए मुद्दत) के देकर, मुता विवाह को समाप्त कर सकता है। ऐसी दशा में पत्नी को पूरी मेहर का अधिकार है। मुता विवाह स्थाई विवाह (निकाह) में बदला जा सकता है किन्तु तभी जब या तो अवधि समाप्त हो गई हो या शेष अवधि पत्नी को उपहार में देकर, नये सिरे से निकाह-संविदा किया जाय। विवाहित नारी के साथ किया हुआ मुता-विवाह अवैध है। निकाह में पत्नी को मेहर भी मिलता है, भरण-पोषण का अधिकार भी और पति की सम्पत्ति में उत्तराधिकार भी। किन्तु मुता विवाह में स्त्री को केवल मेहर का ही अधिकार मिलता है। मुता विवाह से उत्पन्न सन्तान वैध है। सन्तान को माता पिता दोनों की सम्पत्ति में उत्तराधिकार का अधिकार मिलता है। सन्तान की वैधता ही मुता विवाह को वेश्यावृत्ति से भिन्न करती है वर्ना मुता विवाह और वेश्यावृत्ति एक दूसरे की भगिनी के समान लगते हैं। इस्लामी प्रथा के अनुसार मुता विवाह में पत्नी को भरण पोषण का अधिकार नहीं है किन्तु क्रिमिनल प्रोसीजर कोड (The Criminal Procedure Code) की चार सौ अट्ठासीवीं धारा के अनुसार, कलकत्ता के हाईकोर्ट ने एक केस में मुता पत्नी को भरण पोषण का अधिकार दिया है।

बहुपत्नीत्व की भाँति, मुता विवाह को लेकर, इस्लाम में विरोधी विचारों का समावेश हुआ है। कुरान की परम्परा के आधार पर मुता को वैध माना गया है और कुरान की ही परम्परा के आधार पर मुता को अवैध और अवाछनीय माना गया है। मुता प्राचीन अरबी समाज की एक परम्परा के रूप में आया जिसे, अन्य परम्पराओं की भाँति, इस्लाम सहसा अस्वीकार न कर सका वरन उसे उस सुधारवादी दृष्टिकोण के साथ, अपनाने का प्रयास किया जिसको लेकर इस्लाम का अभ्युदय हुआ था। जो सम्प्रदाय मुता का समर्थक रहा है उसने कुरान की उस परम्परा पर

जोर दिया है जिसमें यह कहा गया है कि जिन स्त्रियों के साथ तुमने सम्भोग किया है उन्हें उनका वध पुरस्कार दो क्योंकि, पारस्परिक सलाह से, पुरस्कार तय करके निश्चित सम्भोग करने में कोई अपराध नहीं है[1]। किन्तु, इस प्रथा की इतनी बुराइयाँ थीं कि मुहम्मद ने इसे अवैध भी घोषित किया। एक अन्य परम्परा के अनुसार इस्लाम में मुता को वेश्यावृत्ति की भगिनी कहा गया है। सम्भावना इस बात की है कि यदि मुहम्मद ने इसकी आज्ञा दी भी है तो अनिच्छा से। हो सकता है कि इसकी अनुमति वेश्याओं के साथ सम्भोग करने के लिए दी गई हो क्योंकि वेश्याओं का वर्ग सर्वत्र और सब कालों में पाया गया है। मुता से वेश्या की भी प्रतिष्ठा बढ़ जाती है। प्रत्येक वर्ग की नारी की दशा सुधारने के लिए हो सकता है कि तत्कालीन परिस्थितियों में, मुहम्मद ने एक ओर, मुता विवाह का अप्रत्यक्ष पक्ष लिया किन्तु दूसरी ओर, उसे प्रत्यक्षतः अवैध घोषित किया। मुहम्मद के बाद, शिया सम्प्रदाय में *मुता को वध माना गया और सुन्नियों में अवैध।* खलीफा मामून ने इसे वैध घोषित किया किन्तु जनविरोध के कारण उन्हें अपने हुक्म को वापस लेना पड़ा। खलीफा उमर ने मुता विवाह को समाप्त किया और तभी से यह सुन्नियों में अवैध है[2]।

यहाँ यह प्रश्न उठता है कि इस्लाम के एक बड़े तबके में मुता का विरोध क्यों किया गया? कपाडिया के अनुसार, इसके कई कारण हैं। एक, इस्लाम तत्कालीन अरबी समाज में विकसित पितृसत्तात्मक तथा पितृवंशी परिवार का प्रतिष्ठापोषक था जिसमें मुता विवाह असामयिक प्रतीत हुआ। दो, इस्लाम ने पत्नीत्व का जो आदर्श प्रतिपादित किया मुता विवाह उस आदर्श के विरोध में पड़ा क्योंकि मुता में नारी को यौनिक स्वतन्त्रता अधिक थी। तीसरा, पैगम्बर विवाह को स्थाई बनाने के पक्ष में थे जिसके कारण उन्होंने मुता विवाह की भर्त्सना की। चौथा, मुता मिल्लत की धारणा से मेल न खाता था क्योंकि मुता एक वैयक्तिक समझौता था और गैर मुस्लिम पुरुष के साथ भी स्थापित किया जा सकता था। पाँचवाँ, मुता विवाह में पति पत्नी का आदर्श उस आदर्श से मेल न खाता था जिसका प्रतिपादन इस्लाम में हुआ था। इस प्रकार जैसा कि कपाडिया का मत है तत्कालीन अरबी समाज की परिस्थितियों में, इस्लाम में मुता के प्रति जो दृष्टिकोण विकसित हुआ, उसमें इस्लाम के हितों की रक्षा का भाव अधिक प्रधान था।

डिमाम्बीम के अनुसार इस्लाम में आध्यात्मिकता और सांसारिकता के एक में मिल जाने के कारण मुसलमानों में विवाह-संविदा का कोई विशेष धार्मिक सांस्कारिक महत्त्व नहीं है। अमीर अली ने भी इस बात पर जोर दिया है कि निकाह एक कानूनी समझौता है जिसमें धार्मिक कर्मकाण्ड का कोई विशेष महत्त्व नहीं है। फिर भी, निकाह का सम्बन्ध मिल्लत से है। जैसा कि सभी समाजों में है, मुसलमानों में

निकाह के रस्म रिवाज

1 वही वही पृष्ठ 115 2 वही पृष्ठ 116

भी विवाह दो व्यक्तियो के बीच म एक ऐसा कानूनी समझौता है जिसस दो व्यक्तियो म ही नही वरन दो परिवारा म भी सामाजिक सम्बन्ध बनते हैं। इन सामाजिक सम्बन्धो स अनेक रस्म रिवाज बन गए है—जिनमे स कुछ अरबी समाज स आये है और कुछ उन स्थानीय समाजो स जहा इस्लाम का प्रसार हुआ है। भारत के मुसल्मानो म पाये जाने वाले वैवाहिक रस्म रिवाज अधिकांश अरबी हैं और अशात भारतीय। इन्ही रस्म रिवाजो के द्वारा निकाह को सामाजिक मान्यता मिलती है। वैवाहिक रस्म रिवाजो को दो श्रेणियो म बाटा जा सकता है—एक, मगनी से लेकर निकाह तक के रस्म रिवाज और दूसरे निकाह के बाद से लेकर दुल्हन (सोहागरात) तक के रस्म रिवाज।

मगनी की रस्म स निकाह का सूत्रपात होता है। मगनी का अर्थ मागने से है। इसम वर पक्ष की ओर स कन्या मागी जाती है अर्थात वर पक्ष की ओर से निकाह का प्रस्ताव किया जाता है। प्रस्ताव के स्वीकृत हो जाने पर कन्या का वर की ओर स अगूठी या कड़े भेंट किये जाते है। माझा रस्म म कन्या को अपनी सहेलियो के साथ एकान्त म छोड दिया जाता है। इसी रस्म के बाद स कन्या सही अर्थो म दुल्हन समझी जाने लगती है। इस रस्म के बाद म वर और कन्या को अधिकतर घर के अन्दर ही रखा जाता है। साचिक रस्म म कन्या का मेहदी की पत्ता और अन्य उपहार दिये जाते हैं। मेहदी की रस्म म कन्या के हाथ परो म मेहदी रची जाती है। यह प्रथा अरबी है और मुहम्मद के काल से चली आती है। बरात की रस्म म कन्या के लिये आभूषण वस्त्र और अन्य भेंट की वस्तुए ले जाई जाती हैं। कहीं कहीं साचिक और बरात एक ही म मिला लिये जाते हैं। रस्म बुर्रामी की रस्म म कन्या के लिये वस्त्र तयार किये जाते हैं। शबेगश्त ईरानी रस्म है जिसम वर जलूस म कन्या के घर ले जाया जाता है। हल्दी और चौथी भारतीय रस्म हैं। हल्दी मलन की रस्म को हल्दी कहा जाता है और चौथी विवाह की अन्तिम रस्म है जिसमे वर और कन्या एक दूसरे के साथ खेलते हैं।

निकाह मुस्लिम विवाह की प्रधान रस्म है। निकाह म वर कन्या पति पत्नी के बधन म बधने की अनुमति देते है दो गवाह इस अनुमति के साक्षी होते हैं और मेहर की रकम निश्चित की जाती है। यह रस्म वर-कन्या के माता पिता तथा सम्बन्धियो की उपस्थिति म होती है। वर-कन्या की पारस्परिक अनुमति, साक्षी और मेहर के अलावा फातिहा और खुत्बा निकाह रस्म के दो और प्रधान आधार हैं। निकाह की शर्तें तय हो जाने के बाद काजी वर-कन्या की सहमति प्राप्त करता है। उसके बाद फातिहा पढ़ा जाता है। फातिहा कुरान का पहला सूरा है जिसम इस्लामी जीवन की प्रत्येक क्रिया का वर्णन है। खुत्बा के द्वारा वैवाहिक जीवन की महत्ता का परिचय दिया जाता है। इसके साथ निकाह सम्पन्न हो जाता है। निकाह के बाद विवाह भोज (वलीमा) की रस्म अरबी परम्परा स आई है।

किसी न किसी रूप म विवा८-भोज सवत्र पाया जाता है। मुस्लिम विवाह म स्नान की रस्म का महत्वपूण हाथ ह। निकाह के पहल वर और कया अपन अपने घरो म स्नान करते है और उसके बाद महदी रचान की रस्म होती है।

निकाह क बाद दूसर दिन जिल्वा (अरबी मे ज्याफत अल अरूस) की रस्म होती है जिसम नव विवाहित पति पत्नी का परिचय कराकर, कया की विदाई होता है। इस रस्म की अदाग के लिये वर कया क घर जाता है जहाँ पहले वर कया का शीश म दखता है और बाद म दोनो का परिचय कराया जाता है। कया की सुन्दरता क बार म पूछ जान पर वर का यह फज होता है कि वह कया की सुदरता का स्वीकार कर और उस रस्म की याद म उसे कोइ भेंट दे। उसक बाद कया अपन सम्बन्धियो म विदा लेकर वर के साथ विदा हो जाती है। शास्तरो के अनुसार भारत क मुसलमानो म, कया के विदा होन क बाद, वर का कया को अपनी गोद म उठाकर सवारी तक ले जाना आवश्यक है जबकि अय दशो म वर कया का केवल हाथ का सहारा देकर ल जाता है। डिमाम्बीस के अनुसार निकाह की सारी रस्मो म दुल्ल (सोहागरात) की रस्म सबस अधिक महत्वपूण है[1]। दुल्ल के बाद प्रीतिभाज दन की प्रथा पाई गई है। निकाह के बाद क सात दिन शुभ दिन समझे जात है और उन दिनो वर वधू पर अनेक प्रतिब ध लगे रहत है। विधवा या तलाक की हुई स्त्री का निकाह सादा होता है। उसम ये रस्मे नही मनाई जाती हैं।

इस्लामेतर प्राचीन अरबो समाज म निकाह अविच्छेद्य सस्कार न था। पति को, अपनी इच्छानुसार निकाह-ससझौता समाप्त करने का अधिकार था। अरबी म तलाक का अथ है विवाह विच्छेद करना। किन्तु विवाह विच्छेद का अधिकार पति का था न कि पत्नी का। पति

तलाक

का तलाक का एकतरफा अधिकार मिला हुआ था। हा यह अवश्य था कि विवाह विच्छेद करन पर पति को मेहर की तय रकम पत्नी का देनी पडती थी। पति स छुटकारा पान क लिये पत्नी अपने सम्बन्धियो का शरण म जा सकती थी और पति स मिली हुई हुई मेहर का वापस करन का वादा करक पति म अपने उद्धार की

1 ईरानी प्रथा के अनुसार कया की माँ या अय कोई नजदीकी स्त्री कया के साथ उसकी ससुराल जाती है। वह उस कमरे के पडोस में सोती है जिसमें वर वधू सोते ह। वर वधू क पलग पर एक सफेद चादर बिछा दी जाती है जिसके आधार पर वह दूसरे दिन, वधू के कुवारेपन का सबूत देती है। वर को इस बात की सतुष्टि होना आवश्यक है कि वधू कुवारी है या नहीं क्योंकि वर या उसके घर के लोग यदि यह पाते ह कि वधू कुवारी नहीं है तो वे उसे वापस कर देते ह--गुलेरी वही पृष्ठ 522

अनुमति प्राप्त कर सकती थी। किन्तु पत्नी को पति की प्रभुता से तभी उद्धार मिल सकता था जब, पत्नी का दी हुई मेहर वापस लेकर पति पत्नी को छुटकारा देने के लिये राजी हो। अत, एक ओर, विवाह विच्छेद का तरीका था 'तलाक' और दूसरी ओर खुला अर्थात पति से मिली हुई मेहर पति को वापस करके पति की अनुमति से पत्नी द्वारा पति से उद्धार पाने का तरीका। निकाह में निहित नारी के क्रय विक्रय का भाव विवाह विच्छेद मे भी निहित था। इस्लाम में यही आधारभूत अरबी परम्परा अपनाई गई किन्तु तत्कालीन परिस्थितियो के अनुसार, सुधारो या परिवर्तन के साथ।

पैगम्बर ने निकाह को समझौता तो माना किन्तु उसका उद्देश्य केवल यौनसुख ही नहीं माना। निकाह को उन्होंने मिल्लत का एक आवश्यकता माना। कुरान में आई एक आयत के अनुसार सुकून प्रेम (मो अद्दत) रहमत और सन्तानोत्पत्ति निकाह के उद्देश्य हैं[1]। निकाह को स्थाई बनाने के लिए तथा पति की निरंकुशता पर रोक लगाने के लिए पैगम्बर ने यह भी आज्ञा दी कि 'या तो उन्हें (पत्नियों को) न्यायतुता के साथ अपनाओ या सहृदयता के साथ उन्हें तलाक दे दो'[2]। किन्तु साथ ही साथ, पैगम्बर ने यह भी माना कि एक वह वस्तु जो वैध है किन्तु अल्लाह को नापसन्द है तलाक है। इसप्रकार पैगम्बर ने तलाक की परम्परा को वैध तो माना किन्तु साथ ही साथ उसकी अवांछनीयता का भी स्वीकार किया। सम्भवत यह अरबी-परम्परा के विरुद्ध उठने वाली प्रतिक्रिया का परिणाम है क्योंकि इस्लाम का उद्देश्य निकाह को स्थाई बनाना था और नारी को उस स्थिति से त्राण दिलाना था जिसमे उसका वैवाहिक जीवन केवल पति की दया पर निर्भर था। अत जैसा कि अमीर अली का मत है, कुरान मे निहित तलाक की अनुमति को पैगम्बर के उद्देश्यो के सन्दर्भ मे समझने की आवश्यकता है। इस्लाम में, तलाक के प्रति जिस दृष्टिकोण का विकास हुआ वह प्राचीन अरबी प्रथाओ तथा इस्लाम के उद्देश्यो में एक समन्वयपूर्ण समझौता है। इस तथ्य की पुष्टि अमीर अली के इस कथन से होती है कि पैगम्बर ने पति के तलाक देने के अधिकार को कायम रखा, कुछ उचित आधारो पर पत्नी को पति से अलग होने की अनुमति दी और अपने जीवन के अन्तिम दिनो में पति की तलाक लेने की निरंकुशता पर पाबन्दी लगाने के यहां तक हामी हो गए कि उन्होंने जिना काजी का बीच में डाले, तलाक न देने तक का विधान किया[3]।

लेवी के अनुसार तलाक के बारे में, कुरान में सामान्यत काफी कुछ कहा

---

1 सक्सेना, काशीप्रसाद वही पृष्ठ 281

2 वही

3 वही पृष्ठ 260

किसी न किसी रूप म विवाह भोज सवत्र पाया जाता है। मुस्लिम विवाह म स्नान की रस्म का महत्वपूण स्थान ह। निकाह के पहले वर और कन्या अपने अपने घरो मे स्नान करते है और उसके बाद महदी लगाने की रस्म होती है।

निकाह के बाद दूसरे दिन, जिल्वा (अरबी म ज्याफत अल अरूस) की रस्म होती है जिसम नव विवाहित पति पत्नी का परिचय कराकर, कन्या की विदाई होती है। इस रस्म की अदाइ के लिये वर कन्या के घर जाता है जहा पहले वर कन्या को शीशे म देखता है और बाद म, दोनो का परिचय कराया जाता है। कन्या की सुन्दरता के बारे म पूछे जाने पर वर का यह फज होता है कि वह कन्या की सुन्दरता को स्वीकार कर और उस रस्म की याद म उसे कोई भेंट दे। उसके बाद कन्या अपने सम्बन्धियो से विदा लेकर वर के साथ विदा हो जाती है। गुस्तेरी के अनुसार, भारत के मुसलमानो म कन्या के विदा होने के बाद वर को कन्या को अपनी गोद मे उठाकर सवारी तक ले जाना आवश्यक है जबकि अन्य देशो म वर कन्या को केवल हाथ का सहारा देकर ले जाता ह। डिमाम्बीस के अनुसार निकाह की सारी रस्मो म दुल्ल (सोहागरात) की रस्म सबसे अधिक महत्वपूण है[1]। दुल्ल के बाद प्रीतिभोज देने की प्रथा पाई गई है। निकाह के बाद के सात दिन शुभ दिन समझे जाते हैं और उन दिनो वर वधू पर अनेक प्रतिबन्ध लगे रहते हैं। विधवा या तलाक की हुई स्त्री का निकाह सादा होता है। उसम ये रस्म नही मनाई जाती हैं।

इस्लामेतर प्राचीन अरबी समाज मे निकाह अविच्छेद्य संस्कार न था। पति को अपनी इच्छानुसार निकाह-समझौता समाप्त करने का अधिकार था। अरबी म तलाक का अथ है विवाह विच्छेद करना। किन्तु विवाह विच्छेद का अधिकार पति को था न कि पत्नी को। पति

तलाक

को तलाक का एकतरफा अधिकार मिला हुआ था। हा यह अवश्य था कि विवाह विच्छेद करने पर पति को मेहर की नियत रकम पत्नी को देनी पडती थी। पति से छुटकारा पाने के लिये पत्नी अपने सम्बन्धियों की शरण म जा सकती थी और पति से मिली हुई हुई मेहर को वापस करने का वादा करके, पति से अपने उद्धार की

1 ईरानी प्रथा के अनुसार कन्या की मा या अन्य कोई नजदीकी स्त्री कन्या के साथ उसकी ससुराल जाती है। यह उस कमरे के पडोस में सोती है जिसमें वर वधू सोते ह। वर वधू के पलग पर एक सफेद चादर बिछा दी जाती है जिसके आधार पर यह दूसरे दिन, वधू के कुवारेपन का सबूत देती है। वर को इस बात की सन्तुष्टि होना आवश्यक है कि वधू कुवारी है या नहीं क्योंकि वर या उसके घर के लोग यदि यह पाते ह कि वधू कुवारी नहीं है तो वे उसे वापस कर देते ह—गुस्तेरी वही पृष्ठ 522

अनुमति प्राप्त कर सकती थी। किन्तु पत्नी का पति की प्रभुता से तभी उद्धार मिल सकता था जब पत्नी का दी हुई महर वापस लेकर पति पत्नी को छुटकारा देने के लिए राजी हो। अतः एक ओर, विवाह विच्छेद का तरीका था 'तलाक' और दूसरी ओर 'खुला' अर्थात पति से मिली हुई महर पति को वापस करके पति की अनुमति से पत्नी द्वारा पति से उद्धार पाने का तरीका। निकाह में निहित नारी के क्रय विक्रय का भाव विवाह विच्छेद में भी निहित था। इस्लाम में यही आधारभूत अरबी परम्परा अपनाई गई किन्तु तत्कालीन परिस्थितियों के अनुसार सुधारकों के परिवर्तन के साथ।

पैगम्बर ने निकाह को समझौता तो माना किन्तु उसका उद्देश्य केवल यौनसुख ही नहीं माना। निकाह को उन्होंने मिल्लत की एक आवश्यकता माना। कुरान में आई एक आयत के अनुसार सुकून, प्रेम (मा अद्दत) रहमत और सन्तानोत्पत्ति निकाह के उद्देश्य हैं[1]। निकाह को स्थाई बनाने के लिये तथा पति की निरंकुशता पर रोक लगाने के लिये पैगम्बर ने यह भी आज्ञा दी कि 'या तो उन्हें (पत्नियों को) न्यायपूर्णता के साथ अपनाओ या सहृदयता के साथ उन्हें तलाक दे दो'[2]। किन्तु साथ ही साथ पैगम्बर ने यह भी माना कि एक वह वस्तु जो वैध है किन्तु अल्लाह को नापसन्द है तलाक है। इसप्रकार पैगम्बर ने तलाक की परम्परा को वैध तो माना किन्तु साथ ही साथ उसकी अवांछनीयता को भी स्वीकार किया। सम्भवतः यह अरबी-परम्परा के विरुद्ध उठने वाली प्रतिक्रिया का परिणाम है क्योंकि इस्लाम का उद्देश्य निकाह को स्थाई बनाना था और नारी को उस स्थिति से त्राण दिलाना था जिसमें उसका वैवाहिक जीवन केवल पति की दया पर निर्भर था। अतः जैसा कि अमीर अली का मत है, कुरान में निहित तलाक की अनुमति को पैगम्बर के उद्देश्यों के सन्दर्भ में समझने की आवश्यकता है। इस्लाम में, तलाक के प्रति जिस दृष्टिकोण का विकास हुआ वह प्राचीन अरबी प्रथाओं तथा इस्लाम के उद्देश्यों में एक समन्वयपूर्ण समझौता है। इस तथ्य की पुष्टि अमीर अली के इस कथन से होती है कि पैगम्बर ने पति के तलाक देने के अधिकार को कायम रखा, कुछ उचित आधारों पर पत्नी को पति से अलग होने की अनुमति दी और अपने जीवन के अंतिम दिनों में पति की तलाक देने की निरंकुशता पर पाबन्दी लगाने के यहाँ तक हामी हो गए कि उन्होंने बिना काजी का बीच में डाले, तलाक न देने तक का भी विधान किया[3]।

नबी के अनुसार तलाक के बारे में कुरान में सामान्यतः काफी कुछ कहा

---

1 सक्सेना, काशीप्रसाद वही पृष्ठ 281

2 वही

3 वही पृष्ठ 260

गया है किन्तु कुरान म जो कुछ कहा गया है उसका अधिकाश तलाक देने के तरीके और पत्नी तथा बच्चो क प्रति पति के आर्थिक तथा अन्य उत्तरदायित्वो म सम्बन्धित है[1]। तलाक के क्या आधार हो, इस पर बहुत कम ध्यान दिया गया है। इसी कारण, इस्लाम म प्राचीन अरबी प्रथा का समावेश हो गया है और पति का तलाक सम्बन्धी एकतरफा अधिकार बना रहा है। यही कारण है कि विवाह विच्छेद म न्यायाधीश के स्थान, विवाह विच्छेद के तरीकों की वैधानिक महत्ता तथा गवाहो के स्थान के बारे मे मतभेद है। शिया विधि प्रणाली म विवाह विच्छेद के भी गवाह होने चाहियें जबकि सुन्नी विधि प्रणाली म विवाह विच्छेद मे गवाही की आवश्यकता नही है। भारत म, अंग्रेजी राज की स्थापना होने के बाद, किन्ही अवस्थाओ म तलाक देने के पति के परम्परागत अधिकार को कायम रखा गया, किन्ही अवस्थाओ म पत्नी को विवाह विच्छेद का अधिकार मिला और किन्ही किन्ही अवस्थाओ म विवाह विच्छेद का निर्णय करने म अदालतो को अधिकार मिला। सबसे मुख्य विकास यह हुआ कि विवाह विच्छेद सम्बन्धी इस्लामी कानून अंग्रजी इस्लामी हो गया और विवाह विच्छेद सम्बन्धी सारे कानून के निर्वचन का अधिकार अदालतो को मिला। आज काजी के बहुत कुछ अधिकार भारतीय अदालतो के पास है।

इस्लाम के प्रभाव म विवाह विच्छेद सम्बन्धी प्राचीन अरबी परम्पराओ मे तलाक को सीमित करके पत्नी को अधिक आर्थिक सुरक्षा प्रदान करने का प्रयास किया गया ताकि इस्लाम द्वारा प्रतिपादित पितृसत्तात्मक परिवार की सरचनात्मक एकता और उसकी मर्यादाएं सुरक्षित रह सकें। तलाक के साथ साथ बच्चो को पितृसत्तात्मक परिवार का सदस्य मानकर उन्हें द्विपक्षी उत्तराधिकार का अधिकार दिया गया। तलाक के साथ इद्दत को जोड दिया गया। इद्दत म तात्पर्य है तीन मासिक धर्मों की अवधि से। तलाक के बाद इद्दत का मानना आवश्यक कर दिया गया ताकि यह निश्चित हो सके कि तलाक दी जाने वाली पत्नी के पहले व्यक्ति म कोई गर्भ तो नही है। इद्दत वह अवस्था है जिसम नारी न तो किसी की पत्नी है और न वह तलाक दी हुई स्त्री है। इद्दत म नारी परित्यक्ता भी नहीं है क्योंकि इस्लामी विधान के अनुसार इद्दत के दौरान म नारी को अपने पहले पति स भरण पोषण मिलता ह। इद्दत म नारी दूसरा विवाह नही कर सकती है यद्यपि गुप्त रूप स वह किसी अन्य पुरुष से विवाह का प्रस्ताव कर सकती है या दूसरे का विवाह प्रस्ताव स्वीकार कर सकती है। इद्दत के दौरान म पति पत्नी म सम्भोग जायज है बशर्ते कि पत्नी पति के लिये हराम न बन गई हो। पत्नी पति के लिए तब हराम बनती है जब तलाक पूर्ण हो जाता है और उस हटाने के लिए पुनर्विचार की गुजायश नही रह जाती है। इस्लामी परम्परा म तलाक तब पूर्ण होता है जब या तो पति पत्नी

1 लेवी वही पृष्ठ 112

से तीन बार यह कह दे कि उसने उसे तलाक दिया था अथवा तलाक की डिग्री दे दे। इस्लाम में यह विधान किया गया है कि पति या तो एक ही साथ तीन बार तलाक कहकर तलाक को पूर्ण कर सकता है या वह अपनी इच्छानुसार कुछ समय का अंतर देकर, अलग-अलग समयों पर तीन बार तलाक देने को कह सकता है। तीसरी बार तलाक कहने पर विवाह विच्छेद पूर्ण होता है। एक सामान्य नियम यह है कि पति पत्नी को तलाक देने के लिये उस समय कहे जब वह मासिक धर्म से शुद्ध हो अथवा दो मासिक धर्मों के बीच में हो। दो बार तलाक कहने से पत्नी हराम नहीं होती है। अतः उसे पुनः वापस लिया जा सकता है। तलाक के एक बार पूर्ण हो जाने पर पत्नी को इद्दत में रहना आवश्यक हो जाता है और एक बार तलाक दी हुई पत्नी से पति इच्छा रहते हुए भी तब तक पुनर्विवाह नहीं कर सकता है जब तक कि कोई दूसरा पुरुष उससे विवाह करके पुनः उसे तलाक न दे और वह पुनः इद्दत की अवधि को पार न ले। इसप्रकार इद्दत तलाक के पहले, तलाक की आवश्यकता पर पुनः विचार करने का अवसर प्रदान करता है। यदि पत्नी पहले पति से गर्भवती है तो उसे गर्भ से छुटकारा पाने तक इन्तजार करना पड़ता है। तलाक के पूर्ण होते ही पत्नी अपना मेहर की अधिकारिणी हो जाती है। जैसा कि प्राचीन अरबी परम्परा थी पत्नी को तलाक देते समय पति को न तो तलाक का कारण बताने की आवश्यकता है और न अपने इरादे को ही स्पष्ट करना था। किन्तु पति का यह अधिकार निरंकुश भी नहीं है। इद्दत के काल में वह पत्नी को खाना, कपड़ा देने का उत्तरदायी है।

इस्लामी कानून के अनुसार, कोई भी वह मुसलमान, जिसका दिमाग सही है जिसने वयस्कता की आयु प्राप्त कर ली है अपनी इच्छानुसार जब भी चाहे, बिना कोई कारण बताये हुए अपनी पत्नी को तलाक दे सकता है। भारतीय मुसलमानों में विवाह विच्छेद करने के तीन तरीके पाये जाते हैं—एक बिना अदालत की शरण लिये पति द्वारा विवाह विच्छेद (तलाक), दो बिना अदालत को बीच में लाये पति पत्नी की पारस्परिक अनुमति द्वारा विवाह विच्छेद (खुला और मुबारत) और तीसरा, अदालत की डिग्री द्वारा। इस्लामी कानून में लिखित और मौखिक दोनों प्रकार के तलाकों का विधान है। मौखिक तलाक में पति उन शब्दों का प्रयोग करता है जिनसे पत्नी को यह स्पष्ट हो जाय कि उसे तलाक दिया गया है जैसे मैं (पति) तुझे (पत्नी को) तलाक देता हूँ। जहाँ तलाक की भाषा सही है वहाँ पति को अपने इरादे का प्रमाण देना आवश्यक नहीं किन्तु जहाँ भाषा अस्पष्ट है, वहाँ पति को अपने इरादे का प्रमाण देना आवश्यक हो जाता है। तुहर (दो मासिक धर्मों के बीच का समय) में तलाक की एकबार घोषणा करके पत्नी के साथ सम्भोग बन्द किया जा सकता है (तलाक अहसन) या तीन तुहरों में तीन बार तलाक की घोषणा की जा सकती है (तलाक हसन) या एक ही तुहर में तीन बार तलाक की

घोषणा की जा सकती है या एक ही तुहर में एक ही बार पूर्ण तलाक की घोषणा की जा सकती है (तलाक उल बिद्दत या तलाक ए बनी)। यह आवश्यक नहीं कि तलाक की घोषणा पत्नी की उपस्थिति में की जाय। शिया विधि प्रणाली के अनुसार तलाक की घोषणा के समय दो गवाहों का होना आवश्यक है। आवश्यक यह है कि तलाक की घोषणा पत्नी के प्रति सम्बोधित हो। पत्नी के महर के अधिकार के दृष्टिकोण से तलाक की घोषणा का समाचार पत्नी तक पहुँचाना जरूरी है। जब तक पत्नी को तलाक की सूचना नहीं मिलती है उसका निर्वाह-व्यय का अधिकार बना रहता है। महर के स्थगित अंश को पाने का अधिकार पत्नी को तभी से मिलता है जब उसे तलाक की सूचना मिलती है। तलाकनामा लिखित तलाक का प्रतीक है। तलाकनामे में मौखिक तलाक को लेखबद्ध किया जा सकता है या उसे दस्तावेज के रूप में लिखा जा सकता है। दस्तावेज काजी या पत्नी के पिता की या दो गवाहों की उपस्थिति में लिखा जा सकता है। यदि दस्तावेज पत्नी के नाम सम्बोधित होता है, उसकी भाषा स्पष्ट होती है और दस्तावेज लेखक के उस पर दस्तखत होते हैं तो पति के लिए तलाक की मंशा को स्पष्ट करना आवश्यक नहीं होता है और तलाकनामा वह फौरन लागू हो जाता है। जहाँ तलाकनामा केवल तलाक का घोषणापत्र होता है वहाँ पति के लिए तलाक की मंशा स्पष्ट करना जरूरी है और मंशा स्पष्ट करने पर ही वह लागू होता है। स्पष्ट तलाकनामा जारी होते ही लागू हो जाता है चाहे पत्नी को उसकी सूचना न हो या बाद में मिले[1]।

तलाक, खुला, मुबारत, इला, जहर, लिआन और फिस्ख—ये सात प्रकार के विवाह विच्छेद इस्लामी विधि प्रणाली में मान्य हैं। साधारणतया तलाक विवाह विच्छेद का पर्याय माना जाता है किन्तु इस्लामी विधि प्रणाली में तलाक एक विशेष प्रकार के विवाह विच्छेद का प्रतीक है—वह विवाह विच्छेद जिसमें पति को निकाह तोड़ने या और पत्नी को डिसमिस करने का एकतरफा वैधानिक अधिकार मिला हुआ है। इस्लामी समाज में पति का यह अधिकार इस्लाम के पूर्व प्राचीन अरबी समाज से आया है। जैसा कि पहले कहा जा चुका है तलाक मौखिक भी हो सकता है और लिखित भी। तलाक के मुख्य तरीके हैं तलाक अहसन, तलाक हसन, तलाक उल बिद्दत, तलाक ए तफवीज और तलाक एन्तालीक। पहले तीन प्रकार के तलाक मौखिक हैं यद्यपि उन्हें लिखित में बदला जा सकता है। इन तलाकों में पति को स्पष्ट रूप से पत्नी से यह कहना पड़ता है कि पति ने पत्नी को तलाक दे दिया है। तलाक ए अहसन में, जब पत्नी तुहर में आती है तो पति तलाक की घोषणा करके पत्नी से सम्भोग बन्द कर देता है और उसके बाद इद्दत की अवधि समाप्त होने पर तलाक पूर्ण हो जाता है। जिस मासिक धर्म के बाद पति तलाक की घोषणा करता

1 मुल्ला, डी० एफ० वही पृष्ठ 209 61

है, उसके बाद से सम्भोग नहीं होना चाहिये क्योंकि सम्भोग होने से तलाक पूर्ण हुआ नहीं माना जाता है। किन्तु यदि निकाह के बाद सम्भोग हो नहीं हुआ है तो तलाक अहसन की घोषणा किसी भी समय, यहां तक कि मासिक धर्म के दिनों में भी की जा सकती है। यदि पत्नी तुहर में न हो तो सम्भोग के बाद भी तलाक अहसन की घोषणा की जा सकती है। तलाक अहसन के बाद पुन निकाह का विधान है किन्तु शिया विधि में तलाक अहसन को नहीं तोड़ा जा सकता है यदि तलाक अहसन की घोषणा ऐसी पत्नी के विरुद्ध की गई हो जिसके साथ विवाह के बाद पति ने सम्भोग न किया हो या जिसकी प्रजनन की आयु समाप्त हो गई हो या जिसने वयःसंधि को प्राप्त न किया हो।

तलाक हसन में, तीन तुहरों में तलाक की तीन बार घोषणा करनी पड़ती है। तीसरी घोषणा के बाद तलाक पूर्ण हो जाता है बशर्ते कि पहले तुहर के समय से जब से तलाक की घोषणा की गई है और तीसरे तुहर तक पति ने पत्नी के साथ सम्भोग न किया हो। तलाक उल बिद्दत में तलाक की घोषणा के बाद से ही तलाक पूर्ण हो जाता है और प्रत्यावर्तनीय (Revocable) नहीं रहता है। तलाक हसन में जब तक तीसरी घोषणा नहीं हो जाती तलाक पूर्ण नहीं होता है जिसके कारण तीसरी घोषणा के करने तक पति को अपने तलाक के इरादे पर पुन विचार करने और पत्नी को पुन वापस लेने का अधिकार रहता है। किन्तु तलाक उल बिद्दत में तलाक की घोषणा के बाद ही पत्नी हराम हो जाती है चाहे घोषणा तलाक के इरादे को स्पष्ट व्यक्त करती हुई एक बार या एक ही साथ तीन बार की जाय या एक ही वाक्य में तीन बार की जाय[1]। तलाक उल बिद्दत को उमैयद सम्राटों ने, हिजरी सन की दूसरी शताब्दी में लागू किया था। तलाक उल बिद्दत का ही भारत में सबसे अधिक प्रयोग होता है। कालीप्रसाद सक्सेना के अनुसार, तलाक उल बिद्दत कानून के दृष्टिकोण से तलाक का सर्वोत्तम तरीका है किन्तु इस्लामी धर्मविद्या में निकृष्ट माना जाता है क्योंकि इसमें तलाक के प्रत्यावर्तन का विधान नहीं है। तलाक अहसन में, घोषणा के बाद भी और तलाक हसन में दो घोषणाओं तथा तीसरी घोषणा के पहले तक, पति को तलाक प्रत्यावर्तन का अधिकार है। किन्तु तलाक उल बिद्दत में पति का यह अधिकार नहीं है क्योंकि घोषणा के तुरन्त बाद ही तलाक पूर्ण हो जाता है। तलाक हसन में तीसरी घोषणा के बाद तलाक अप्रत्यावर्तित होता है किन्तु, तलाक

1 तीनों प्रकार की घोषणाओं को इस प्रकार स्पष्ट किया जा सकता है —एक, कलकत्ता के एक केस में इस लिखित बयान को वैध मान लिया गया था—मैं तुम्हें तीन बार तलाक देकर निकाह बन्धन से मुक्त करता हूँ। दो, जैसे मैं तुम्हें तलाक देता हूँ मैं तुम्हें तलाक देता हूँ, मैं तुम्हें तलाक देता हूँ। तीन, जैसे मैं तुम्हें तीन बार तलाक देता हूँ।

उल बिद्दत में तलाक की घोषणा के साथ-साथ, तलाक अप्रत्यावर्तित हो जाता है। तलाक उल बिद्दत, हर दशा में अप्रत्यावर्तनीय है चाहे उसकी घोषणा उस समय की गई हो जब पत्नी मासिक धर्म में हो या चाहे पति ने जोर दबाव से या मजाक से ही तलाक की घोषणा क्या न की हो। इरादे की स्पष्ट अभिव्यक्ति ही तलाक उल बिद्दत की वैधता के लिए काफी है।

शिया विधि में तलाक उल बिद्दत का स्थान नहीं है। सुन्नियों में यह वैध है किन्तु, मजहबी दृष्टिकोण से इसे हीन माना जाता है। मजहबी दृष्टिकोण से तलाक-उल बिद्दत पथभ्रष्टता का प्रतीक माना गया है। इसीलिए, तलाक में, एक ओर, तलाक उल बिद्दत है तो दूसरी ओर तलाक उस सुन्नत। तलाक उस सुन्नत व तलाक हैं जो सुन्ना के अनुसार हो। तलाक-अहसन और तलाक हसन तलाक उस सुन्नत की श्रेणी में आते हैं। तलाक प्रत्यावर्तन और अप्रत्यावर्तन के दृष्टिकोण से तलाकों को दो श्रेणियों में बांटा गया है—एक तलाक उल रजाई और दूसरी तलाक उल-बैन। तलाक उल रजाई की श्रेणी में वे तलाक आते हैं जिनमें प्रत्यावर्तन के लिए स्थान रहता है जैसे तलाक अहसन और तलाक हसन। तलाक उल बैन वह तलाक है जो अप्रत्यावर्तनीय है। जहां तलाक पूर्ण और अप्रत्यावर्तनीय हो जाता है वहां प्रत्येक तलाक तलाक उल बैन है।

तलाक ए-तफवीज में पति अपना तलाक का अधिकार किसी तीसरे पक्ष को दे सकता है। तीसरा पक्ष पत्नी का पिता या भाई या स्वयं पत्नी ही हो सकती है। तलाक ए-तफवीज में अधिकृत व्यक्ति तलाक के अधिकार का उपयोग करता है न कि पति। एक बार दिया हुआ अधिकार पुनः वापस नहीं हो सकता। मुस्लिम विधि शास्त्रियों ने इस वैध परम्परा का उपयोग पत्नी के अधिकारों की रक्षा के लिये किया है। विवाह के समय, समझौते के रूप में तलाक का अधिकार पत्नी को देने की आम प्रथा रही है। एक बार तलाक का अधिकार मिल जाने में पत्नी अपनी इच्छानुसार उसका प्रयोग कर सकती है। जहां तलाक ए-तफवीज में पत्नी को तलाक का अधिकार मिल जाता है वहां पत्नी स्वयं अपने को तलाक देने की अधिकारिणी हो जाती है। पत्नी को यह अधिकार सम्भाव्य घटनाओं (Contingencies) की शर्त पर मिलता है। वही सम्भाव्य घटनाएं वैध हैं जो मुस्लिम विधि और राजनीति के विरुद्ध न हों। तलाक ए-तफवीज में न्यायालय की अनुमति की आवश्यकता नहीं है। तलाक ए-तफवीज का इकरार निकाह के पहले भी किया जा सकता है और बाद में भी। तलाक ए तालीक में जैसा कि हनाफी विधि में मान्य है तलाक की घोषणा फौरन लागू हो सकती है या किसी भावी तारीख या घटना में जो शर्त के रूप में स्वीकार की गई हो। तलाक ए-तालीक का इकरार निकाह के पहले भी हो सकता है और बाद में भी। किन्तु शिया विधि प्रणाली में तलाक का न तो किसी शर्त पर आधारित किया जा सकता है और न उसे सम्भाव्य ही बनाया जा सकता है।

तलाक का अधिकार पति का है पत्नी का नहीं। इस्लामेतर प्राचीन अरबी समाज में पत्नी को तलाक का अधिकार नहीं था। इस्लाम ने पति के इस अधिकार को बनाए रक्खा किन्तु, साथ ही साथ, आवश्यकता पड़ने पर पत्नी को पति से उद्धार पाने के उपायों को भी वैध कर दिया। खुला और मुबरत विवाह विच्छेद के दो ऐसे तरीके हैं जिनसे पत्नी आवश्यकता पड़ने पर पति से छुटकारा पा सकती है। किन्तु, तलाक में मिले पति के अधिकार की भांति पत्नी का यह अधिकार एकतरफा नहीं है। पत्नी को तभी उद्धार मिल सकता है अथवा वह तभी विवाह विच्छेद कर सकती है जब पति की अनुमति हो। खुला का अर्थ है त्यागना। विवाह विच्छेद के संदर्भ में, खुला का अर्थ है उस विवाह विच्छेद से जिसमें पत्नी के अनुनय से और पत्नी से मेहर की धनराशि वापस लेकर पति पत्नी को निकाह-बंधन से मुक्त करता है। खुला में, पत्नी अपने अधिकारों को त्यागती है और पति उस त्याग के बदले, पत्नी को निकाह-बंधन से मुक्त करता है। खुला का सूत्रपात पत्नी से होता है और अपने अन्तिम रूप में वह तलाक का रूप ले लेता है। पत्नी तलाक के उपलक्ष में पति को क्या देगी, यह पति पत्नी के बीच में हुए समझौते पर निर्भर करता है। यदि पत्नी, अपने समझौते के अनुसार पति को स्वीकृत धनराशि न दे तो तलाक अवैध नहीं होता है यद्यपि पति का यह अधिकार है कि पहले से निश्चित धनराशि पाने के लिए वह पत्नी पर दावा करे। यदि पत्नी यह कहे कि उसने अपना मेहर का अधिकार नहीं छोड़ा है और पत्नी के इस कथन के विरुद्ध कोई प्रमाण न हो तो फतवा ए-काजी खां और फतवा ए-आलमगीरी के अनुसार पत्नी का कथन वैध है और इद्दत के काल में पत्नी निर्वाह-व्यय की अधिकारिणी नहीं है। इद्दत के बाद खुला तलाक में प्रत्यावर्तन नहीं हो सकता है और न इद्दत के बाद पति पत्नी एक दूसरे से मिलने वाले प्रतिज्ञा का ही दावा कर सकते हैं। पति पत्नी की पारस्परिक अनुमति और खुला का 'एवज' जो सामान्यतः पति को पत्नी से मिलता है खुला तलाक के मुख्य आधार हैं।

इस प्रकार, खुला वह विवाह विच्छेद है जिसमें पत्नी निकाह से अपनी स्वतन्त्रता खरीदती है। पत्नी खरीदार है और पति बेचने वाला। खरीद और फरोख्त एवज (प्रतिदेय) के आधार पर होती है। किन्तु खुला में अन्तिम निर्णय पति के ही हाथ में रहता है। खुला में विवाह विच्छेद का आधार तलाक ही है यद्यपि उसका स्रोत बदल जाता है। मुबरत में विवाह विच्छेद पति पत्नी दोनों की सहमति से होता है अर्थात दोनों साथ-साथ विवाह विच्छेद करना तय करते हैं। मुबरत का अर्थ है छुटकारा। इसमें पति पत्नी अपनी सहमति से निकाह से छुटकारा लेते हैं। अतः मुबरत में एवज' (प्रतिदेय) का प्रश्न नहीं उठता है। जब, पत्नी के अनुरोध से, पति प्रतिदेय लेकर विवाह विच्छेद करता है तो विवाह विच्छेद खुला प्रकार का होता है। किन्तु, जब दोनों अपनी सहमति से विवाह विच्छेद करना तय करते हैं

और पति तलाक देता है, तो विवाह विच्छेद का प्रकार मुबरत होता है। खुला और मुबरत दोनो तलाक के साथ पूर्ण होकर अप्रत्यावर्तनीय हो जाते हैं। दोनो में इद्दत का पालन आवश्यक है और दोनों में काजी या अदालत की आवश्यकता नहीं है। खुला और मुबरत या तो पति द्वारा घोषित किए जाते है या पति द्वारा अधिकृत पत्नी के द्वारा। सुन्नी विधि प्रणाली में खुला और मुबरत में, तलाक की घोषणा की आवश्यकता नही है। विवाह विच्छेद का प्रस्ताव और स्वीकृति तथा इकरारनामा ही विवाह विच्छेद के लिए पर्याप्त हैं। शिया विधि प्रणाली के अनुसार खुला प्रकार के विवाह विच्छेद में पत्नी तुहर में होनी चाहिए और खुला की साक्षी दो गवाहों द्वारा होनी चाहिए। यदि पति पत्नी में सम्भोग नही हुआ है तो तुहर की कद की आवश्यकता नहीं है। खुला का प्रस्ताव अरबी भाषा में होना चाहिए। किन्तु मुबरत में तलाक की घोषणामात्र से ही काम चल जाता है। अवयस्क और असन्तुलित मस्तिष्क के व्यक्ति खुला समझौता नहीं कर सकते हैं। हनाफी विधि प्रणाली में, दबाव और अपने ही द्वारा की हुई नशे की हालत में भी किया हुआ खुला समझौता वैध है। किन्तु शिया विधि प्रणाली में यह अमान्य है। सुन्नी विधि प्रणाली में अवयस्क के अभिभावक द्वारा किया हुआ खुला-समझौता वैध है बशर्ते कि वह प्रतिदेय का उत्तरदायी है। अभिभावक के इस अधिकार और उत्तरदायित्व पर शिया विधि प्रणाली में एकमतता नही है।

इला प्रकार का तलाक तब होता है जब कोई वयस्क और सही दिमाग का व्यक्ति पत्नी से सम्भोग न करने का व्रत लेकर, लगातार चार मास तक उसके साथ सम्भोग नहीं करता है। इला तलाक उल बिद्दत के प्रकार का सा अप्रत्यावर्तनीय तलाक होता है। इला के प्रकार के तलाक का आदेश कुरान में है। यदि कोई पति निकाह के बाद कन्या की रुख्सती के समय यह प्रतिज्ञा करे कि उसकी पत्नी केवल नाममात्र की ही पत्नी होगी तो उसकी प्रतिज्ञा इला का आधार नहीं बनती है। इस तलाक को सिद्ध करने का कानूनी भार पति के ऊपर होता है।

जेहर पति द्वारा उत्पन्न की हुई वह परिस्थिति है जो विवाह विच्छेद का आधार बन जाती है। यदि कोई पति अपनी पत्नी को उस सम्बन्धी के तुल्य मान ले जिसके साथ सम्भोग अगम्यगमन है और निकाह अवैध है तो पति का यह कार्य जेहर कहलाता है। जेहर की परिस्थिति में मुस्लिम विधि में पत्नी का यह अधिकार है कि वह पति की सम्भोग की मांग को तब तक अस्वीकार कर दे जब तक कि पति विधि द्वारा निर्धारित प्रायश्चितों में से एक को पूरा न कर ले। जेहर से छुटकारा पाने के लिए तीन प्रायश्चितों को इस्लामी विधि में रखा गया है— एक, एक गुलाम को स्वतन्त्र करना, दो, दो मास तक उपवास रखना, और तीन साठ दीनों को खाना खिलाना। पति द्वारा जेहर की परिस्थिति उत्पन्न कर देने पर, पत्नी या तो पति से कोई एक प्रायश्चित करवा कर उसे सम्भोग की अनुमति दे

सकती है या अदालत में पति का प्रायश्चित करवाने की या नियमित विवाह विच्छेद की माँग कर सकती है। लियान विधि प्रणाली में जहर के समय दो गवाहों का होना आवश्यक माना गया है। पति तभी जेहर कर सकता है जब पत्नी तुहर में हो या पति घर से बाहर हो और जेहर के पहले के मासिक धर्म के बाद न पत्नी के साथ सहवास न किया हो। सुन्नी विवाह का विच्छेद जहर द्वारा हो सकता है। जहर के बाद का सम्भोग मुस्लिम विधि में अवैध है।

जब पति सौगंध खाकर ईश्वर के अभिशाप का आवाहन करता हुआ पत्नी पर परपुरुषगमन का अपराध लगाता है तो पति का यह कृत्य लि आन कहलाता है। इस्लामी परम्परा के अनुसार पत्नी पर परपुरुषगमन का अपराध तभी सिद्ध होगा जब पति चार गवाह प्रस्तुत करे। चार गवाहों का मिलना कठिन है। इसलिए, इस्लाम में यह भी विधान है कि यदि पति चार बार ईश्वर को साक्षी करके पत्नी पर परपुरुषगमन का अपराध लगाता है और पत्नी चुप रहती है तो उस पर परपुरुष-गमन का अपराध सिद्ध हो जाता है। लि-आन की वैधानिकता का आधार यही परम्परा है। इस्लामी परम्परा के अनुसार परपुरुषगमन के अपराध के सिद्ध होने पर पत्नी सौ कोड़ा के दंड की भागी है और न सिद्ध होने पर पति अस्सी कोड़ा के दंड का। किन्तु, वर्तमान व्यावहारिक विधि ने, कोड़ा की मार के दंड का विधान निकाल दिया गया है जो यारोपीय व्यायशास्त्र के सिद्धान्तों का प्रभाव है। अपराध के सिद्ध होने पर वर्तमान भारत में पत्नी को कोई दंड नहीं मिलता है और अपराध के न सिद्ध होने पर पत्नी को पति पर मानहानि का दावा करने का अधिकार मिलता है। जहाँ पति सौगंध खाकर पत्नी पर परपुरुषगमन का अपराध लगाता है और पत्नी सौगंध खाकर इस अपराध को अस्वीकार करती है वहाँ पति-पत्नी में विवाह विच्छेद आवश्यक हो जाता है चाहे विच्छेद के प्रति उनमें अनिच्छा ही क्यों न हो। किन्तु विवाह विच्छेद तभी वैध होता है जब सौगंध की रस्म पूरी हो जाय। ऐसी दशा में, विच्छेद हो जाने से, पति-पत्नी दोनों निर्धारित दंड में बंध जाते हैं और उनमें सहवास अवैध हो जाता है। लि आन' इसप्रकार विवाह विच्छेद का आधार है न कि तलाक है।

लि आन' सही निकाहों पर लागू होता है न कि फासिद निकाहों पर। लि आन का उपयोग तभी हो सकता है जब पति पत्नी वयस्क हों, पार कर चुके हों और उनके दिमाग सही हों। 'लि-आन के अधिकार के प्रयोग में प्रतिनिधि का कोई स्थान नहीं है। लि आन के प्रयोग के लिये, कानून के दृष्टिकोण से पत्नी के अच्छे चाल चलन की शोहरत आवश्यक है। 'लि आन के कारण होने वाला विवाह-विच्छेद अप्रत्यावर्तनीय है। जब तक कि पति पत्नी एक दूसरे से अलग नहीं होते हैं, उनके पारस्परिक अधिकार तथा उत्तराधिकार के अधिकार बने रहते हैं। 'लि-आन के आधार पर होने वाले विवाह विच्छेद में न तो पारस्परिक समझौते का म ाव

और न क्षमा का। शिया कानून म लि-आन मे जिनका विच्छेद होता है, व पुन आपस म विवाह नही कर सकते। किंतु सुन्नी-कानून के अनुसार, यदि बाद म कोई ऐसा तथ्य नजर आए जिसके कारण 'लि आन रुक सकता था तो लि-आन' के कारण अलग हुए पति पत्नी के पुन आपस म विवाह करने मे कोई वधानिक रुकावट नही है। जहा पत्नी अवयस्क, क्तिबिया या पागल है, वहा लि-आन नही लागू होता।

विवाह का यायिक निराकरण (Judicial Resecission) भिन्न है। इस्लामी विधि प्रणाली म तलाक पति का एकमात्र अधिकार है। खुला मुबरत, जेहर और लि-आन वह परिस्थितिया अवश्य उत्पन्न करते हैं, जिसम पत्नी विवाह विच्छेद की माग कर सकती है। पति पत्नी मे स्वभाव की प्रतिकूलता एक दूसरे का न चाहना और एक दूसरे के प्रति घृणा इस्लामी विधि प्रणाली म विवाह विच्छद के आधार नहीं बन सकते हैं। काशीप्रसाद सक्सना के अनुसार भारत म विकसित एंग्लो मुस्लिम विधि म लि आन और नपुसकता (पति की नपुसकता) ही दो एसे आधार हैं जिन पर पत्नी पति से विवाह विच्छेद का मुकदमा चला सकती है। पति के नपुसक होने पर, पत्नी तभी यायिक निराकरण की माग कर सकती है जब पति की नपुसकता आर्जामक हो और विवाह के पहले ही स विद्यमान हो विवाह के समय पत्नी को यह मालूम न हो कि उसका पति नपुसक है और विवाह के बाद पति ने पत्नी से सम्भोग न किया हो। इस्लामी विधि क अनुसार, यदि पत्नी पति के नपुसक होने पर विवाह विच्छेद की माग करती है तो पति का एक साल का समय यह सिद्ध करने के लिए मिलता है कि वह नपुसक नही है। पति नपुसक नहीं है, यह सिद्ध करन का उत्तरदायित्व पति का है।

इस्लामी विधि म यदि पत्नी का तलाक का अधिकार नही है तो किन्ही विशष परिस्थितियो म उसे विवाह के यायिक निराकरण क लिए अनुरोध करने का अधिकार अवश्य है[1]। खुला, मुबरत लि-आन पति की नपुसकता तलाक ए

---

1 कुरान के पाचवें भाग, चौथे अध्याय, छठे सेक्शन की पतीसवीं आयत में मनमुटाव पैदा होन पर पति-पत्नी में पुन मत्री करवान की कार्यवाही का उल्लेख है। इस आयत में काजी को आज्ञा दी गई है कि जब कभी पति पत्नी के बीच में वमनस्य की सम्भावना हो तो वह दो मध्यस्थों को नियुक्त करे—एक, पति के सम्बन्धियों में से और दूसरा पत्नी के सम्बन्धियों में से। यदि ये मध्यस्थ पति-पत्नी में पुन मत्री न करवा सकें तो क्या वह विवाह विच्छद करवा सकते ह ? यदि य मान भी लें कि विवाह विच्छद होना चाहिए तो क्या बिना पति की अनुमति लिये व विवाह विच्छेद करवा सकते ह ? इन प्रश्नों का उत्तर कुरान में नहीं है। यदि काजी इस बात से निश्चित है कि

तफ्वीज और तलाक ए तालीक तथा निकाह-संविदा मे पत्नी को पति द्वारा दिया हुआ विवाह विच्छेद का अधिकार, पत्नी का विवाह विच्छेद के लिए अनुरोध करने का अवसर प्रदान करते हैं। निकाह संविदा मे यदि पति विवाह विच्छेद की कोई ऐसी भावी शर्त रख देता है जिसका टूटना पत्नी को तलाक का अवसर प्रदान करता है तो वह यथासमय तलाक के लिए अनुरोध कर सकती है। दि डिसोल्यूशन आफ मुस्लिम मैरिजेज एक्ट (1939) म, मुस्लिम नारी का जिन आधारों पर विवाह विच्छेद का मुकद्दमा करने का अधिकार दिया गया है, वे हैं पति का इसप्रकार लापता होना कि उसे ढूंढ निकालना मुश्किल हो, पति का पागल होना या भयंकर कोढ से पीडित होना, पति का पत्नी के भरण पोषण की अवहेलना करना या भरण-पोषण अस्वीकार करना पति का पत्नी के प्रति दुर्व्यवहार करना, पति के दीर्घकाल तक बाहर रहने या कारावास मे रहने के कारण पत्नी के सतीत्व को खतरा उत्पन्न होना, वयस्क होने पर, पत्नी द्वारा निकाह को अस्वीकार करना किसी घटना के कारण निकाह का अवैध होना पति की नपुसकता पति द्वारा पत्नी पर परपुरुषगमन का अनुचित दोष लगाना, और अन्य कोई कारण जो मुस्लिम विधि के अन्तर्गत विवाह विच्छेद का आधार बन सकता हो।

इस एक्ट के अन्तर्गत अदालत का वही स्थान है जो इस्लाम की न्याय-प्रशासन व्यवस्था मे काजी का है। अपना यह अधिकार अदालत किसी दूसरे को नही दे सकती है। अदालत का जिन आधारों पर विवाह विच्छेद की डिग्री देने का अधिकार है, व हैं पति का चार साल तक लापता रहना पति का दो साल तक पत्नी के भरण पोषण मे असफल होना पति को सात साल या उससे अधिक की कारावास का सजा होना, अकारण ही पति का, तीन साल तक, अपने वैवाहिक उत्तरदायित्व को निभाने मे असफल होना, पति का विवाह के पहले से ही नपुसक होना और बाद

पति-पत्नी में मनमुटाव नहीं हुआ है, यदि वह मध्यस्थ न नियुक्त करे और यदि उसके द्वारा नियुक्त मध्यस्थ एक राय न हो, तो विवाह विच्छेद नहीं हो सकता है। कुछ न्यायशास्त्रियों का मत है कि यदि मध्यस्थ विवाह विच्छेद के लिए एकमत भी हों तो भी बिना पति की अनुमति के, विवाह विच्छेद नहीं हो सकता है (काशीप्रसाद सक्सेना वही पृष्ठ 282)। यह तथ्य इस बात का प्रमाण है कि इस्लामी विधि में विवाह विच्छेद के मुकद्दमे में न्यायिक मध्यस्थता का स्थान है। यदि पति का तलाक का अधिकार निरंकुश है तो पत्नी का इस्लामी विधि के अन्तर्गत न्यायिक मध्यस्थता का सहारा लेने का अधिकार है। दि डिसोल्यूशन आफ मुस्लिम मैरिजेज एक्ट में, इस्लामी विधि की आत्मा को बनाये रखते हुए, नारी के इसी अधिकार को और भी अधिक वैधानिक बनाया गया है।

मे भी नपुसक बना रहना पति का दो साल तक पागल रहना या कोढ या गुप्त रोग (गर्मी सूजाक) से पीडित रहना पन्द्रह साल की आयु के पहले विवाह हो जाने पर, वयस्क होने पर पत्नी द्वारा अपने विवाह को अस्वीकार करना[1] पति का पत्नी के साथ नृशसता का व्यवहार करना[2] और अन्य कारण जो इस्लामी विधि के अन्तर्गत विवाह विच्छेद का आधार बन सकते है। यदि पत्नी का इस आधार पर विवाह विच्छेद करने की अनुमति मिलती है कि उसके पति को सात साल या उससे अधिक की कारावास की सजा हुई है तो अदालत की डिगरी इस आधार पर होगी कि पति को कारावास की सजा अतिम रूप से हुई है और उसके बदलने की सम्भावना नही है। यदि पति के लापता होने पर अदालत विवाह विच्छेद की डिगरी देती है तो वह डिगरी पास होने की तारीख से छ महीने बाद लागू होगी और यदि पति इस बीच मे आ जाता है तो डिगरी रद समझी जायगी। पति स्वय आ सकता है या किसी अपने अधिकृत व्यक्ति को भेज सकता है। अदालत तभी डिगरी को रद करेगी जब उसे पति की ठीक ठीक पहचान का सन्तोष हो जाय। यदि पति की नपुसकता के आधार पर पत्नी विवाह विच्छेद की माग करती है और यदि पति पत्नी के दावे को झूठा साबित करने की मोहलत चाहता है तो अदालत उसे एक साल का समय देगी और इस बीच मे यदि पति अदालत को सन्तुष्ट कर देता है कि पत्नी का दावा झूठा है तो विवाह विच्छेद की डिगरी नही दी जायगी।

दि डिसाल्यूशन आफ मुस्लिम मरिजेज एक्ट से मुस्लिम विवाह मे दो मुख्य परिवर्तन हुए है। इस एक्ट के पहले विवाहित व्यक्तियो के धर्म परिवर्तन करने से स्वत विवाह विच्छेद हो जाता था। किन्तु आज धर्म परिवर्तन से विवाह विच्छेद नही होता है वरन विवाह विच्छेद का आधार उत्पन्न होता है। पति ऐसी दशा मे तलाक का आश्रय ले सकता है। इस एक्ट के पहले अवयस्क कन्या का वयस्क होने

---

1 इस आधार पर विवाह विच्छेद की तभी डिगरी मिल सकती है जब विवाह के बाद सम्भोग न हुआ हो।

2 पति की पत्नी को पीटने की आदत पति का निदय आचरण पति का बदनाम नारियों के साथ सहवास या बदनामी का जीवन व्यतीत करना, पति का पत्नी को अनैतिक जीवन अपनाने के लिये बाध्य करना पति का अपनी जायदाद बेचना या अपनी जायदाद पर पत्नी के वैध अधिकारों का हनन करना, पति का पत्नी की मजहबी आस्थाओं और क्रियाओ में खलल डालना और एक से अधिक पत्नियों के होने पर, कुरान की आज्ञा के अनुसार, पति का पत्नी से समानता का व्यवहार न करना, इस एक्ट के अनुसार, नृशस व्यवहार की श्रेणी में आते है और पत्नी के अनुरोध पर, यदि अदालत सन्तुष्ट हो तो, विवाह विच्छेद का आधार बन सकते है।

पर अपने अभिभावक द्वारा सम्पन्न किए हुए विवाह म तलाक का अधिकार न था किन्तु, इस एक्ट क अन्तगत अवयस्क कन्या वयस्क होन पर तलाक द सकती है बशर्ते कि वह यह सिद्ध कर सके कि उसक साथ पति न सम्भोग नही किया है उसका विवाह अभिभावक ने पन्द्रह साल के पहले ही कर दिया था और अठारह वष की आयु पूण होने क पहले ही उसने विवाह का अस्वीकार कर दिया था। इसप्रकार योरोपीय प्रभाव म मुस्लिम नारी को तलाक का सीमित अधिकार मिला है।

संयुक्त परिवार ४

समाजशास्त्रियो और मानवशास्त्रियो न इस ससार म पाए जान वाले परिवारो का वर्गीकरण करते हुए मुख्यत दो प्रकार की परिवार-श्रेणियां निर्धारित की हैं यद्यपि उनक लिए अलग अलग नामो का प्रयोग किया गया है। वर्गीस (Burgess) के वर्गीकरण क अनुसार परिवार क दो प्रकार है—एक संस्थायिक प्रकार (The Institutional Type) और दूसरा साहचय प्रकार (The Companionship Type)। पहला प्रकार वह प्रकार है जो प्राचीन समाजो म पाया जाता था और अर्वाचीन समय म उन समाजो मे पाया जाता है जो योरोप की औद्योगीकृत सभ्यता के व्यापक प्रभाव क बाहर हैं। यह वह प्रकार है जिसमे कई पीढियो के परिवार एक साथ रहते हैं जिसम विवाह का आधार धम है, जिसम तलाक को अनुचित माना जाता है जिसमे परिवार के वयोवृद्ध अथवा वयोवृद्ध पुरुषो का प्रभुत्व रहता है, जिसम व्यक्ति की सामाजिक प्रतिष्ठा परिवार की ही सामाजिक प्रतिष्ठा पर निभर करती है जिसम सम्मिलित सम्पत्ति, सम्मिलित आय सम्मिलित वासस्थान और सम्मिलित उत्पादन की भावना का प्राधान्य रहता है और जो अपन सामाजिक-आर्थिक पक्ष म उत्पादन उपभोग की एक सुगठित इकाई होता है। साहचय प्रकार म परिवार का सम्बन्धी सगठन (Kin Organization) का व्यापक प्रभाव पति पत्नी और उनकी सन्तान तक ही सीमित रहता है, जिसम पति पत्नी के सम्बन्ध म, पति अथवा पत्नी की प्रभुता के स्थान पर साहचय का भाव अधिक रहता है, जिसम विवाह पर धार्मिक अवगुण्ठन नही रहता है और जो अपन आर्थिक सामाजिक पक्ष म केवल उपभोग की ही इकाई है। वर्गीस क अनुसार, औद्योगीकरण और शहरीकरण ने संस्थायिक परिवार का साहचय-परिवार म परिणत किया है। मानवशास्त्रियो ने भी परिवार प्रकारो को दो श्रेणियो म रखा है—एक श्रेणी म उन्होन रखा है उस परिवार को जो एक विवाह पर आधारित है जो पति-पत्नी सन्तान क कलाप (Pattern) स बनता है और जो वस्तुत सवकालिक और सावभौमिक प्राथमिक परिवार है। दूसरी श्रेणी मे उन्होंने रखा है उन परिवार प्रकारो को जो प्राथमिक

परिवार के विस्तार से बनते हैं। दूसरी श्रेणी में बहुपत्नीत्व और बहुपतित्व पर आधारित परिवारों के अतिरिक्त वे अन्य सभी प्रकार के परिवार आते हैं जिसमें कई प्राथमिक परिवार, कई एकवंशी पीढ़ियों के माध्यम से, एक विस्तृत परिवार में बंधे रहते हैं। इसीकारण दूसरी श्रेणी के परिवारों को विस्तृत परिवार की संज्ञा दी गयी है। समाजशास्त्रियों तथा मानवशास्त्रियों ने अलग अलग वर्गीकरण अवश्य किए हैं किन्तु उनके द्वारा निर्धारित श्रेणियां वस्तुतः समान हैं। संस्थायिक प्रकार और विस्तृत प्रकार में काफी साम्य है यद्यपि यह नहीं कहा जा सकता कि परिवार की गत्यात्मकता केवल संस्थायिक प्रकार से साहचर्य प्रकार में परिणत होने की ओर रही है क्योंकि विभिन्न सामाजिक सन्दर्भों में समान परिवर्तनकारी शक्तियां परिवर्तन की एक ही गति और दिशा को जन्म नहीं देती है।

अपने आधारभूत तथा अखिल भारतीय रूप में, भारतीय परिवार सामान्यतः संयुक्त परिवार है। संयुक्त परिवार के रूप में भारतीय परिवार उन परिवार प्रकारों की श्रेणी में आता है जिन्हें संस्थायिक और विस्तृत परिवार कहा गया है। ग्राम, जाति और गणजाति के साथ, संयुक्त परिवार भारतीय सामाजिक जीवन की आत्मा में व्याप्त सा रहा है। भारतीय सामाजिक जीवन में संयुक्त परिवार के प्रमाण उस समय से मिलते हैं जब से भारतीय सामाजिक इतिहास के लिखित प्रमाण मिलते हैं। महाभारत के युद्ध के समय (जिसका काल ईसा के लगभग एक हजार वर्ष पूर्व माना जाता है) संयुक्त परिवार उसी प्रकार से भारतीय जीवन का एक अंग था, जैसाकि वह आज है। भारत की इस प्राचीन संस्था की संरचना न तो मुस्लिम शासन से बदली और न अंग्रेजी शासन से। हां, यह अवश्य है कि औद्योगिक क्रांति तथा वैज्ञानिक प्रौद्योगिकी के प्रभाव संयुक्त परिवार की संरचना में प्रविष्ट हुए हैं जिसके कारण भारत में पश्चिमी प्रकार के परिवार के कुछ उदाहरण मिल जाते हैं। भारतीय जनता का एक बड़ा भाग अब भी संयुक्त-परिवार प्रणाली की परम्परा से चिपका हुआ है[1]। इस कथन से यह निष्कर्ष निकलता है कि पश्चिमी सभ्यता के प्रभाव से भारतीय परिवार में परिवर्तन अवश्य आए हैं किन्तु उसका आधारभूत रूप अब भी वैसा ही है। इस परिवर्तन प्रक्रिया को समझने के लिए भारत में संयुक्त परिवार के प्रकारों उसके स्वरूप कार्य और परिवर्तित रूप को समझना आवश्यक है। भारत में संयुक्त परिवार के कई रूप पाए जाते हैं जिनमें से कुछ पितृसत्तात्मक और पितृवंशी हैं और कुछ मातृसत्तात्मक तथा मातृवंशी। पितृसत्तात्मक पितृवंशी परिवारों में मुख्य हैं 'मिताक्षरा', 'दायभाग', खस परिवार इल्लम और 'ओक्का'। मिताक्षरा और दायभाग वस्तुतः वे संयुक्त परिवार प्रणालियां हैं जिनका निरूपण स्मृतिकारों

मिताक्षरा
दायभाग

1 कर्वे, इरावती किनशिप आर्गनाईजेशन इन इंडिया पृष्ठ 10

ने ग्यारह्वी शताब्दी से लेकर पन्द्रहवी शताब्दी के मध्य में किया है और अंग्रेजी राज काल में जिन्हें वैधानिक आधार प्रदान किया गया है। याज्ञवल्क्य स्मृति पर विज्ञानेश्वर द्वारा लिखित टीका मिताक्षरा प्रणाली का आधार है और दायभाग आधारित है जीमूतवाहन द्वारा लिखित अनेक संहिताओं के सार संग्रह पर। दायभाग प्रणाली बंगाल और आसाम की पारिवारिक परम्पराओं में समायी हुयी है और मिताक्षरा प्रणाली शेष भारत की पारिवारिक परम्पराओं में। किन्तु साथ ही साथ स्मृतिकारों तथा आधुनिक विधि के निर्माताओं ने स्थानीय व्यावहारिक प्रथाओं को भी वांछनीय अपवाद मान लिया है। इसीकारण इन प्रणालियों के साथ-साथ अन्य व्यावहारिक प्रणालियाँ भी पायी जाती रही हैं। मिताक्षरा और दायभाग वे प्रणालियाँ हैं जो हिन्दू शास्त्रकारों के प्रतिपादनों के फलस्वरूप विकसित हुयी हैं।

ये दोनों प्रणालियाँ पितृसत्तात्मक और पितृवंशी हैं। इनमें निहित परिवार-संगठन की धारणा में कई पीढ़ियाँ आती हैं और परिवार की धारणा द्विपक्षीय सम्बन्धि वर्ग (Bilateral Kin Group) पर आधारित है। इन दोनों प्रणालियों में परिवार के वयोवृद्ध व्यक्ति को कर्ता का स्थान दिया गया है। कर्ता वयोवृद्ध पीढ़ी का अधिकतम वयोवृद्ध पुरुष होगा और परिवार में सबसे कम आयु वाली पीढ़ी के सदस्यों के संबंध में वह उनका पिता हो सकता है (यह तब होगा जब परिवार में दो ही पीढ़ियाँ हों), या पितामह हो सकता है (यह तब होगा जब परिवार में तीन पीढ़ियाँ हों) या यदि परिवार में केवल एक ही पीढ़ी के व्यक्ति हैं तो वह अन्य सदस्यों का ज्येष्ठ भाई हो सकता है। इन दोनों प्रणालियों में कर्ता का सर्वोपरि स्थान मिला हुआ है। किन्तु, मिताक्षरा प्रणाली में कर्ता उतना सबल और सशक्त नहीं है जितना कि वह दायभाग प्रणाली में है। क्योंकि मिताक्षरा प्रणाली में कर्ता को पैतृक सम्पत्ति को मनमाने ढंग से खर्च करने का अधिकार नहीं है और कर्ता के जीवन काल में ही परिवार का कोई सदस्य अपने सहभाग को लेकर परिवार से अलग हो सकता है। दायभाग-प्रणाली में, कर्ता के जीवन काल में पारिवारिक सम्पत्ति का बटवारा नहीं हो सकता है। अतः, पैतृक सम्पत्ति कर्ता की पारिवारिक सम्पत्ति में मिल जाती है और वह उसका उसी प्रकार से स्वामी हो जाता है जैसे कि वह अपनी सम्पत्ति का है। दायभाग प्रणाली में कर्ता की मृत्यु के पश्चात् क्रमागताधिकार नियम के अनुसार, उसके सभी पुत्र उसकी सम्पत्ति के अधिकारी होते हैं और तब वे चाहें तो सम्पत्ति का बटवारा भी कर सकते हैं। दोनों प्रणालियों में व्यक्ति का परिवार में जन्मजात अधिकार माना गया है किन्तु अन्तर है तो केवल इतना कि दायभाग प्रणाली में व्यक्ति अपने उस जन्मजात अधिकार की माँग कर्ता के जीवन काल में नहीं कर सकता है। मिताक्षरा प्रणाली में उत्तराधिकार चलता है जीवित शेष उत्तराधिकार (Survivorship Succession) के नियमानुसार, जिसके आधार पर कर्ता की मृत्यु के बाद, उसके लड़के, पौत्र, नाती, भाई और भतीजे, क्रमशः, उसकी सम्पत्ति के अधिकारी होते हैं। इन दोनों प्रणालियों में, परि-

वार म रहने और भरण पापण का अधिकार जन्मजात है और कोई भी 'कर्ता' किसी भी सदस्य के इस अधिकार का अस्वीकार नहीं कर सकता है। इन दोनो प्रणालियो मे, विशेषत मिताक्षरा प्रणाली मे परिवार की धारणा वस्तुत एक निगम (Corporation) की सी धारणा है जिसम उसके सदस्यो का समान अधिकार रहता है।

खस परिवार खस परिवार से तात्पर्य है उस परिवार से जो देहरादून जिले की चकराता तहसील के जौनसार बावर म रहने वाले और भ्रातक बहुपतित्व (Fraternal Polyandry) की प्रथा का पालन करने वाले खस राजपूतो म पाया जाता है। जौनसार बावर भारत का वह भौगोलिक सांस्कृतिक क्षेत्र है जो देहरादून जिले के पहाडी क्षेत्र म यमुना और तौस नदियो के बीच म आता है। इस क्षेत्र म ब्राह्मण राजपूत, बाजगी और कोल्टा इत्यादि जातियाँ पायी जाती है किन्तु, इनम राजपूतो की सख्या सबसे अधिक है। यहा के राजपूत अपने को खस राजपूत कहते हैं और, इसीकारण डा० मजूमदार और कपाडिया ने यहाँ के परिवार प्रकार का खस परिवार की सज्ञा दी है जो वस्तुत भ्रामक है। यहाँ बहुपति प्रथा की अधिकतम बारम्बारता (Frequency) राजपूतो और ब्राह्मणो म ही पायी जाती है। फिर भी, यहाँ के परिवार प्रकार को खस परिवार की सज्ञा देना सार्थक और तर्कसगत नही है। इस प्रदेश म वह सयुक्त परिवार पाया जाता है जिसका एक आधार पितृवशी पितृसत्तात्मकता है और दूसरा भ्रातक बहुपतित्व तथा मातृवशी मातृसत्तात्मकता।

जौनसार बावर के परिवार प्रकार को समझने के लिए इस प्रदेश म पायी जाने वाली भ्रातक बहुपतित्व की प्रथा का समझना आवश्यक है। यह निश्चित है कि मध्य एशिया म बहुपतित्व की प्रथा प्राचीन काल म पायी गई है और आज भी यह प्रथा हिमाचल प्रदेश के कुछ भागो लद्दाख और तिब्बत म पायी जाती है। इसी आधार पर, कुछ लेखको ने यह मत प्रतिपादित किया है कि सम्भवत, आर्यों म बहुपतित्व की प्रथा थी। इसी सदर्भ म एक मत यह भी है कि, प्राचीनतम आर्यों की जो टुकडियाँ हिन्दुकुश के किनारे किनारे आकर इस प्रदेश म बस गई वे बहुपतित्व का पालन करती थी[1]। महाभारत म यह पता चलता है कि पाण्डवो ने सम्मिलित रूप स द्रौपदी से विवाह किया था। जब सम्मिलित रूप म पाँच भाइयो द्वारा द्रौपदी स विवाह करने पर युधिष्ठिर की आलोचना की गयी थी तो युधिष्ठिर ने अपने इस काम का औचित्य सिद्ध करने के लिए यह कहा था कि उन्होने जिस मार्ग का अनुसरण किया गया है वह उनके पूर्वजो का मार्ग है। एक ओर यह कह सकना कठिन है कि पाण्डव आर्य ही थे और दूसरी ओर नीलगिरि की पहाडियो म रहने वाली टोडा जनजाति के लोगो और मालाबार निवासी नायरो म बहुपतित्व पाया गया है। नीलगिरि और मालाबार निश्चय ही आर्येतर प्रदेश है। डा० मजूमदार के अनुसार इस प्रदेश की भ्रातक बहुपतित्व आर्यों की

1 सक्सेना, आर० एन० सोशल इकानमी आफ ए पालियाण्ड्रस पीपुल।

पितवशी पितृसत्तात्मक और इस क्षेत्र की दराज मातवशीथान मत्तात्मक परिवार प्रथाओं के पारस्परिक सघात और सामञ्जस्य का परिणाम है। इसके अनेक प्रमाण इस प्रदेश की संस्कृति में पाये जाते हैं। एक ओर, इस प्रदेश में, परिवार में पुरुषों का प्रभुत्व है, स्त्री का न तो पिता के घर में सम्पत्ति का अधिकार है और न पति के घर में, स्त्री को पति के घर में कठिन परिश्रम करना पड़ता है स्त्री धन की धारणा एकदम अनुपस्थित है देवताओं के पूजा अनुष्ठान भी पुरुष ही करते हैं और, दूसरी ओर, यह विश्वास है कि स्त्रियाँ पति या पुरुषों को चुपके से विष दे देती हैं और अपने पिता के घर में नारी को रोमांटिक और यौनिक निर्बन्धता का जीवन अपनाने का विशेषाधिकार भी मिला हुआ है। नारी के दो रूप हैं—एक ग्यान्टी अथवा पत्नी का जो कठिन परिश्रम और पुरुष की दासता का जीवन है और दूसरा 'ध्याण्टी' अथवा 'ध्याण' का जो एक रूमानी हास परिहास का जीवन है। पहला जीवन ससुराल से सम्बन्धित है और दूसरा मायके से। यहाँ के रूमानी लोकगीतों से इसकी पुष्टि होती है।

इस प्रदेश की बहुपति प्रथा का एक और पक्ष है। एक ओर यह प्रदेश, पहाड़ी होने के कारण कठिन कृषि कार्य का प्रदेश है, यहाँ भूमि की कमी है, कृषि कार्य में मानव श्रम (Human Labour) की आवश्यकता रहती है और इसीकारण, जो पुरुष परिवार में अकेला होता है, वह आवश्यक मानव श्रम एकत्र करने के लिए बहुपत्नीत्व का आश्रय लेता है और दूसरी ओर इस प्रदेश में, स्त्री पुरुषों के अनुपात में स्त्रियों की कमी है। ऐसा लगता है कि जौनसार बावर की स्थानीय भौगोलिक आर्थिक परिस्थितियों में, संयुक्त परिवार एक आधारभूत सामाजिक आवश्यकता है जिसके फलस्वरूप स्त्रियों की कमी के कारण, इस क्षेत्र के संयुक्त परिवार में यहाँ की ऐतिहासिक परिस्थितियों में, भ्रातृक बहुपतित्व की प्रथा का अभ्युदय हुआ है। इस कथन का सबसे बड़ा प्रमाण यह तथ्य है कि निम्नजाति के सदस्यों की अपेक्षा उच्चजाति के सदस्यों में, जिनमें राजपूत और ब्राह्मण आते हैं, बहुपतित्व और बड़े बड़े परिवार अधिक पाये जाते हैं। यहाँ की कृषियोग्य भूमि का अधिकतम भाग राजपूतों और ब्राह्मणों के स्वामित्व में है और उनमें परिवार विभाजन का अर्थ होगा भूमि का बटवारा और यदि पीढ़ी दर पीढ़ी परिवार बटता चला गया तो इसका अर्थ होगा एक ऐसी स्थिति का आना जहाँ परिवार का आर्थिक आधार ही समाप्त हो जायगा इसके विपरीत, निम्नस्तर की जातियों में, जिनमें कोल्टा मुख्य हैं न तो परिवार ही बड़े बड़े हैं और न उनमें परिवार को संयुक्त बनाये रखने की वह भावना है जो उच्च जाति के लोगों, विशेषतः राजपूतों में पाई जाती है। यहाँ के लोकगीतों में सास बहू, देवरानी जेठानी ननद भौजाई तथा भाई-भाई के संघर्षों और तनाव से सम्बन्धित विषय वस्तु का वर्णन नहीं के बराबर है। जो स्त्री भाइयों में वैमनस्य या बटवारा लाने का प्रयास करती है उसे अवसर तलाक दे दिया जाता है। यहाँ की नारी सोच हो नहीं सकती है कि केवल एक पति उसकी सारी आवश्यकताओं की पूर्ति कर सकता है।

जौनसारी परिवार पूर्णत पितृसत्तात्मक और पितवंशी है। कर्ता परिवार की वयोवृद्ध पुरुष पीढ़ी का वयोवृद्ध पुरुष होता है और बाल विवाह प्रथा के कारण एक साथ तीन पीढ़ियों का पाया जाना साधारण बात है। कर्ता का स्थान सर्वोपरि है और वही परिवार का सचालक है। वयोवृद्ध पुरुष पीढ़ी का वयोवृद्ध पुरुष बहुधा उस पीढ़ी के पुरुषों का ज्येष्ठ भाई होता है। यहां के परिवारों म ज्येष्ठ भाई को ही उच्चतम स्थान मिला हुआ है। परिवार के सभी विषयों म, उसका मत सर्वोच्च माना जाता है। वही एक या एक से अधिक स्त्री से विवाह करता है और जिस स्त्री या जिन स्त्रियों से वह विवाह करता है, वह स्त्री या वे स्त्रियां उसके भाइयों की पत्नी या पत्नियां हो जाती है। स्त्री के साथ सहवास म भी बड़े भाई को प्राथमिकता मिलती है और इस प्रथा से समस्या इसलिए नहीं उत्पन्न होती है कि यहां स्त्री जैसा कि पहले कहा जा चुका है, नैतिकता के दोहरे मापदण्ड (Double Standard of Morality) का पालन करती है। ध्याण्टी के रूप म, अपने पिता के गांव में वह अपनी इच्छानुसार गांव के उन तरुणों के साथ, जो उसकी रुधिर सम्बन्धी सीमा म नहीं आते हैं यौन सम्बन्ध स्थापित कर सकती है। जो पुरुष जितना ही तरुण होता है उसके लिए स्वामीपन के जीवन की उतनी ही गुंजाइश रहती है। यहां के सामाजिक जीवन म अनेक पर्व और त्यौहार आते हैं जब तरुण स्त्रियां अपने मायके चली जाती है और वहां महीना रहती हैं। सम्मिलित स्त्रियों से उत्पन्न सन्तान भी सम्मिलित समझी जाती है। अत सन्तान को लेकर उठने वाले वैमनस्य का भी यहां के पारिवारिक सम्बन्धों म अभाव है। यहां की पारिवारिक अर्थव्यवस्था म परिवार विभाजन अवाञ्छनीय समझा जाता है। भ्रातृक बहुपतित्व और उनमें निहित लेविरेट विवाह (Leviratic Marriage) के कारण, स्त्री के लिए वैधव्य का प्रश्न ही नहीं उठता है और यदि कोई स्त्री कर्ता के मरने पर उसके छोटे भाई के साथ नहीं रहना चाहती है तो वह तलाक देकर दूसरी जगह अपना विवाह कर लेती है।

कर्ता परिवार का स्वामी अवश्य है किन्तु वह निरंकुश नहीं है क्योंकि एक ओर, परिवार म जन्मे पुरुषों अविवाहित लड़कियों और परिवार की विधवा अथवा परित्यक्ता लड़कियों का भरण पोषण पान का अधिकार है और दूसरी ओर यदि कर्ता की पीढ़ी के सहभागी सब सम्मति से चाहते परिवार का बटवारा हो सकता है। यहां बटवारा न तो मिताक्षरा प्रणाली के अनुसार होता है और न दायभाग प्रणाली के अनुसार ही। यहां बटवारा होता है सौतिया बाट की प्रथा के अनुसार। इस प्रथा के अनुसार यदि कर्ता की पीढ़ी मे पांच भाई हैं और उनमें से तीन एक मां की सन्तान हैं और दो दूसरी मां की तो परिवार की सम्पत्ति जिसम उन पाच पुरुषों की सम्मिलित स्त्रियां भी शामिल हैं, दो बराबर बराबर हिस्सों म बट जायगी। उनमें से एक हिस्सा उन दो पुरुषों को मिलेगा जो एक स्त्री की सन्तान हैं और दूसरा उन तीन पुरुषों को जो दूसरी मां की सन्तान है। इसप्रकार

यहा एक सयुक्त परिवार बटवारा होने पर, कई सयुक्त परिवारो म बट जाता है। यहाँ जीवित द्वारा उत्तराधिकार नियम (The Rule of Survivorship Succession) और परिवार म जन्मजात हिताधिकार का नियम एक ओर पितवशी क्रमागताधिकार नियम और दूसरी ओर, मातवशी परम्पराओ म समाया हुआ है। किन्तु, फिर भी, पारिवारिक अविभाज्यता का आदर्श और आवश्यकता यहा क पारिवारिक जीवन का एक अभिन्न अग है।

प्रोफसर एम० एन० श्रीनिवास के अध्ययन के अनुसार कुग निवासियो म जो पितवशी (Patrilineal) और पितस्थानी (Patrilocal) सयुक्त-

ओक्का परिवार पाया जाता है उस स्थानीय भाषा म ओक्का (Okka) कहते हैं। कुग समाज म, जो व्यक्ति किसी ओक्का से सम्बन्धित नहा होता है उसका कोई सामाजिक अस्तित्व ही नही है। अवध विवाह से उत्पन्न सन्तान के लिए यह आवश्यक होता है और उससे यह आशा भी की जाती है, कि वह अपनी मा या पिता क ओक्का की सदस्यता प्राप्त कर ले। समाज क वयोवृद्ध पुरुष इस दिशा म उसकी सहायता भी करत हैं। पहले एक ओक्का म, एक ही पितवश से सम्बन्धित पुरुषो के लडके साथ साथ जानवर चराते थे चिडियो का शिकार करते थे और पलन थ तथा वयस्क होन पर ओक्का क मुखिया क नेतत्व मे साथ-साथ पैतक जायदाद की देख भाल और उसका उपयोग करत थे क्योकि पहले ओक्का की स्थिर पतक सम्पत्ति अविभाज्य समझी जाती थी। किन्तु आज ओक्का की सम्पत्ति अविभाज्य नहीं मानी जाती है। फिर भी पतक गह और जायदाद पवित्र माने जाते है और आज भी विवाह और अन्त्येष्टि क्रिया जसे सामाजिक कृत्यो का पतक गृह म सम्पन्न करना शुभ माना जाता है। आज भी, कावेरी स्नान जस कातिक त्योहारो क अवसर पर, एक ओक्का के सदस्य एक साथ एकत्र होत है।

विवाह क बाद, स्त्रिया अपन पतक ओक्का को छोड कर, पति के ओक्का की सदस्य हो जाती हैं किन्तु फिर भी विधवा अथवा परित्यक्ता होन पर, उन्ह अपने पतक ओक्का म शरण मिलता है। यदि कोई स्त्री किसी निम्नजाति के सदस्य स यौन-सम्बन्ध स्थापित कर तो उस पतक ओक्का मे शरण नहीं मिलती है। एक ओक्का क सदस्य एक साथ रहते है और इकट्ठा हो कर काम करते हैं। ओक्का, वस्तुत, काल के अनवरत म निहित एक सन्तति (Continuum) है और किसी भी समय विशेष मे उसमे पाये जाने वाले व्यक्ति केवल उस सन्तति पर बिन्दुमात्र हैं। ओक्का को, अनक स्थानीय कारणो स सन्तति का रूप मिलता रहा है। इनम सबसे प्रधान कारण रह है भू सम्पत्ति और स्थानीय दास प्रथा। प्रत्येक ओक्का का मुख्य आधार है पतक भू सम्पत्ति और प्रत्येक ओक्का म निम्नजाति क सदस्य बस हो दास क समान काम करत रहे हैं जसे इस परिवार मे पोल्टा। ओक्का का पवित्र मान

कर उस अविभाज्य रखने की सामाजिक भावना दूसरा कारक है। ओक्का को अविभाज्य और स्थायी रखने के लिए दो संरचनात्मक साधनों का आश्रय लिया गया है। लेविरेट विवाह (Leviratic Unions) के द्वारा मृतक पुरुष की विधवा और उसकी सन्तान को ओक्का ही में रखने का विधान किया गया है और मां के भाई की कन्या (मातुल कन्या) और पिता की बहिन की कन्या से विवाह को प्राथमिकता देकर एक ओर, ओक्का के संगठन को मजबूत करने का विधान किया गया है और, दूसरी ओर सास बहू में स्वभावत उत्पन्न होने वाले तनाव को रोकने का प्रयास। क्रास कजिन मैरिज के कारण, पति पत्नी में, सामञ्जस्य की सम्भावना बढ़ जाती है क्योंकि क्रास कजिन (Cross Cousins) एक दूसरे से बचपन से ही परिचित होते हैं। इस विवाह प्रकार में जो आज भाई की या पति की बहिन की कन्या है वह एक भावी बहू भी है। अत, इस विवाह प्रकार के द्वारा सास बहू के सम्बन्धों को अधिक सामञ्जस्य मिलता है और उससे ओक्का को अधिक स्थायित्व और संगठन मिलता है। ओक्का में ब्याह कर आने वाली स्त्रियाँ अलग अलग घरों से आती हैं और पुरुषों की अपेक्षा स्त्रियों के सम्बन्धों में सामञ्जस्य की अधिक आवश्यकता है[1]। प्रत्येक ओक्का में एक देवस्थान (नाग) होता है जहाँ एक छोटे से चबूतरे पर नाग देवता के प्रतीक कुछ पत्थर रखे रहते हैं। यह देवस्थान ओक्का की एकता का प्रतीक है[2]।

मालाबार निवासी नम्बूद्री ब्राह्मणों में जो परिवार प्रकार पाया जाता है उसे स्थानीय भाषा में इल्लम की संज्ञा दी जाती है। इल्लम भी एक पितृवंशी

इल्लम

(Patrilineal) पितृसत्तात्मक (Patriarchal) और पितृस्थानी (Patrilocal) संयुक्त परिवार है। अनेक संरचनात्मक साधनों और प्रथाओं के माध्यम से इल्लम को संयुक्त बनाये रखने की प्रवृत्ति रही है। इल्लम भी वैधानिक तथा सामाजिक दृष्टिकोण से एक हिन्दू संयुक्त परिवार है किन्तु मिताक्षरा और दायभाग प्रणालियों से वह दो बातों में भिन्न है—एक मिताक्षरा और दायभाग की अपेक्षा, इल्लम अधिक अविभाज्य और स्थायी है और दूसरे इल्लम में स्त्री का अपेक्षाकृत अधिक अधिकार मिला हुआ है। कई कारणों ने एक साथ इल्लम की अविभाज्यता को प्रोत्साहन दिया है। मिताक्षरा और दायभाग परिवारों की भांति

---

1 स्त्रियों के सम्बन्धों में सामञ्जस्य ओक्का की एक आधारभूत आवश्यकता है। ओक्का की एकता स्त्रियों के ही कारण नष्ट हो सकती है। कुर्ग की एक स्थानीय कहावत के अनुसार, 'एक हजार मूछें एक साथ रह सकती हैं किन्तु चार स्तन (Breasts) नहीं'।

2 श्रीनिवास एम० एन० रिलीजन एण्ड सोसायटी एमाग दि कुर्गस आफ साउथ इण्डिया अध्याय 5

इल्लम म भी वयोवद्ध पुरुष-पीढी का वयोवद्ध व्यक्ति परिवार का कर्ता होता है जिसे परिवार के अन्य सदस्यो को भरण पोषण का अधिकार मिला हुआ है। बिना सभी सदस्यो की सर्वसम्मिति के कर्ता न तो परिवार की सम्पति या उसके किसी अश को बेच सकता है और न गिरवी रख सकता है। इल्लम के किसी सदस्य के ऋण का भार उसकी सतान पर न पड कर इल्लम पर सम्मिलित रूप से पडता है जिससे इल्लम की सयुक्तता को प्रोत्साहन मिला है।

नम्बूद्री विवाह प्रणाली इल्लम की सयुक्तता का एक मुख्य आधार रही है। नम्बूद्रियो के परिवार म एक पीढी के भाइयो म केवल बडे भाई को ही नम्बूद्री लडकी से विवाह करने की अनुमति रही है और शेष भाइयो को नायरो म। नायर मातवशी (Matrilineal) मातसत्तात्मक (Matriarchal) और मातस्थानी (Matrilocal) रहे है। उनमे, विवाह के पश्चात स्त्री अपने पति के घर न जाकर अपनी मा के ही घर म रहती है। अत इल्लम म उत्तराधिकार की समस्या उतनी जटिल नही रही है जितनी कि मिताक्षरा प्रणाली म रही है क्योकि इल्लम म केवल कर्ता की ही सतान रहती है और उसम भी ज्येष्ठ भाई ही उत्तराधिकार का अधिकारी रहता है। अनेक भाइयो की पत्नियो और उनकी सतानो के कारण जो वयक्तिक स्वार्थ उत्पन्न होकर परिवार की सयुक्तता को नष्ट करते है उनकी इल्लम मे कम सम्भावना रहती है। जौनसारी परिवार म, मातवशी और पितवशी परम्पराओ का सम्मिलन हुआ है किन्तु इल्लम मातवशी और मातसत्तात्मक सामाजिक पष्ठभूमि मे एक विशिष्ट पितवशी और पितसत्तात्मक परिवार प्रणाली है। जौनसार की परिस्थितियो म भ्रातृक बहुपतित्व और स्त्री नैतिकता के दोहरे मापदण्ड (Double Standard of Morality for Woman) ने परिवार की सयुक्तता म योगदान दिया है तो मालाबार म, नम्बूद्री नायर विवाह प्रणाली ने इल्लम को सयुक्त रहने म सहायता दी है।

इल्लम म जैसा पहले कहा जा चुका है, कर्ता पारिवारिक सम्पत्ति को न बेच सकता है और न बन्धक रख सकता है और यदि वह ऐसा करता है तो पत्नी उसके इस कार्य को कानूनन रद करा सकती है और उसे प्रबन्धक के पद से भी हटवा सकती है। किन्तु यदि परिवार मे, विधवा के अतिरिक्त अन्य कोई पुरुष-सदस्य जीवित न बचे तो विधवा को परिवार की सम्पत्ति बेचने या गिरवी रखने का अधिकार है। निस्सतान विधवा को गोद लेने का अधिकार है। सर्वस्वदानम की प्रथा के अनुसार नम्बूद्री विधवा किसी भी नम्बूद्री को इस शर्त पर विवाह सम्पन्न करवा सकती है कि उससे उत्पन्न पुत्र उसके इल्लम का अधिकारी और प्रबन्धक होगा। सर्वस्वदानम, वस्तुत, दत्तक पुत्र लेने का एक अन्य रूप है। कुछ भी हो इल्लम म स्त्री के अधिकारो ने इल्लम की अविभाज्यता और सयुक्तता को प्रोत्साहन दिया है।

पितृवंशी और पितृसत्तात्मक संयुक्त परिवार प्रकारों के साथ-साथ भारत में मातृवंशी और मातृसत्तात्मक संयुक्त परिवार प्रकार भी पाये गये हैं। जैसा कि लगभग सारे संसार में पाया गया है भारत में भी मातृवंशी-मातृसत्तात्मक परिवारों के साथ मातृस्थानी (Matrilocal) प्रथा पायी गयी है जिसके अनुसार, विवाह के बाद स्त्री का अपने पिता या माता के घर में रहने का अधिकार मिला होता है और उसका पति या तो उसके साथ रहता है या सहवास के लिये समय समय पर उसके साथ आकर रहता है। भारत में तीन प्रकार के मातृवंशी और मातृसत्तात्मक परिवारों का अध्ययन किया गया है—वे हैं मालाबार का नायरपरिवार (थारवाद), खासी-परिवार और गारो परिवार। नायर परिवार मालाबार में पाया जाता है और खासी तथा गारो परिवार आसाम में।

मातृसत्तात्मक संयुक्त परिवार

जिसप्रकार पितृवंशी पितृसत्तात्मक और पितृस्थानी (Patrilocal) संयुक्त परिवार में कर्ता के भाई, वृद्ध माता पिता कर्ता तथा उसके भाई के लड़के और अविवाहित कन्यायें तथा लड़कों के लड़के रहते हैं उसीप्रकार थारवाद में कर्ता-स्त्री उसके बहिन भाई, बहिनों के लड़के लड़कियां, कर्ता स्त्री के लड़के लड़कियां कर्ता स्त्री तथा उसकी बहिनों की लड़कियों के लड़के-लड़कियां और उन लड़कियों के लड़के-लड़कियां रहते हैं। उत्तराधिकार कर्ता स्त्री की ज्येष्ठ लड़की को मिला हुआ होता है। इसकारण, थारवाद में उत्तराधिकार मां से लड़की को मिलता है। थारवाद में कर्ता स्त्री का ज्येष्ठ भाई, या उसकी मृत्यु के बाद उसका कनिष्ठ भाई परिवार का प्रबन्धक (कारनवान) होता है। थारवाद की सम्पत्ति पर वैध अधिकार कर्ता-स्त्री का होता है किन्तु वास्तविक अधिकार प्रबन्धक के हाथ में रहता है। यह सही है कि थारवाद के सभी सदस्य थारवाद की सम्पत्ति में भरण पोषण के अधिकारी होते हैं किन्तु यह अधिकार तभी तक रहता है जब तक कि वे थारवाद में रहते हैं। थारवाद से बाहर रहकर, भरण पोषण का अधिकार तभी मिल सकता है जब यह निश्चित हो गया हो कि कारनवान का व्यवहार अनुचित है। थारवाद की सम्पत्ति से थारवाद के सदस्यों का भरण पोषण करने के कर्तव्य के सन्दर्भ में, कारनवान के अधिकार और स्थिति सर्वोपरि हो जाते हैं। थारवाद में कारनवान की भूमिका वस्तुतः, एक निरंकुश शासक की भूमिका रही है। जैसा कि मिताक्षरा प्रणाली में है कोई एक सदस्य थारवाद की सम्पत्ति से अपने हिस्से को अलग करने की मांग नहीं कर सकता है। थारवाद की सम्पत्ति का, सिद्धान्ततः, बटवारा हो सकता है किन्तु सभी सदस्यों की सम्मति से। कारनवान थारवाद की अविभाज्यता की ओर प्रेरित रहता है और, इसकारण बहुधा थारवाद में सर्वसम्मति से विभाजन की मांग नहीं आती है क्योंकि कोई भी एक सदस्य, जो कारनवान के पक्ष में है, विभाजन की मांग को रोक सकता है। साथ ही साथ, एक प्रबन्धक के रूप में बिना सभी सदस्यों की

लिखित अथवा अलिखित अनुमति के कानवान न तो थारवाद की सम्पत्ति को बेच सकता है, न उसे गिरवी रख सकता है और न दान कर सकता है। इस नियम का उल्लंघन करने पर, कानवान को उसके पद से पदच्युत किया जा सकता है। अत, यह कहा जा सकता है कि कानवान के पद उसके व्यवहार तथा अधिकारों पर लगी हुयी रुकावटों ने थारवाद की संयुक्तता को बनाये रक्खा है।

वास्तव में, थारवाद की संयुक्तता को बल मिलता रहा है थारवाद की संरचना से। थारवाद की संरचना में सास-बहू, देवरानी जिठानी देवर भौजाई ननद भौजाई जैसे तनावकारी और परिवार विभाजक सम्बन्ध और सम्बन्धी नहीं पाये जाते हैं क्योंकि विवाह के पश्चात प्रत्येक स्त्री अपने मां के ही घर में रहती है और प्रत्येक पुरुष को अपनी सन्तान के स्थान पर, अपनी बहिन अथवा बहिनों की सन्तान की देखभाल करनी पड़ती है। थारवाद के सदस्यों में भाई-बहिन, मामा (मां का भाई)—भानजा (बहिन का लड़का)—भानजी (बहिन की लड़की) मौसी (मां की बहिन)—भानजा भानजी (बहिन के लड़के लड़की), नानी (मां की मां)—नाती (लड़की का लड़का)—नातिन (लड़की की लड़की) के ही सम्बन्ध पाए जाते हैं। इन सम्बन्धों में तनाव का कम स्थान होता है। वास्तव में यदि देखा जाय तो थारवाद का मुख्य आधार है क्रमशः वद्धमान पीढ़ी के जीवित भाई-बहिन जिनके सम्बन्धों में अधिक सामन्जस्य पाया जाता है और जिससे थारवाद की संयुक्तता बनी रहती है।

थारवाद अपेक्षाकृत एक अधिक शक्तिशाली संयुक्त परिवार रहा है किन्तु, फिर भी, यह नहीं कहा जा सकता कि वह विभाजन प्रक्रिया से परे रहा है। परम्परानुसार, आकार में आवश्यकता से अधिक बढ़कर दुर्वाह्य होने पर, थारवाद तावजी (Tavazhi) कही जाने वाली छोटी छोटी इकाइयों में बंट जाता है। तावजी उन्नीस सौ बत्तीस के दि मद्रास मरुमक्कथयम एक्ट के अनुसार एक स्त्री से सम्बन्धित है और, इस दृष्टिकोण से, तावजी एक स्त्री उसकी सन्तान और उसकी मातवंशी शाखा के क्रमागत वंशजों से मिलकर बना हुआ एक मातृवंशी परिवार है। थारवाद तावजियों में बंटते रहे हैं और तावजियां कालान्तर में बढ़कर थारवाद का रूप लेती रही हैं। पहले तावजी का अपने जनक थारवाद से सम्बन्ध बना रहता था क्योंकि प्रत्येक तावजी अपने जनक थारवाद पर निर्भर करती थी। इधर हाल में बने कानून थारवाद में तावजी की उत्पत्ति और बिलगाव में सहायक हो रहे हैं। पहले थारवाद का कोई भी सदस्य अपनी स्वोपार्जित सम्पत्ति को अपने जीवनकाल में इच्छानुसार खर्च कर सकता था किन्तु उसकी मृत्यु के बाद, उसकी शेष सम्पत्ति थारवाद की सम्पत्ति में मिल जाती थी। किन्तु आज, वर्तमान विधि के अनुसार, एक थारवाद के किसी भी सदस्य की स्वोपार्जित सम्पत्ति उसके समीपस्थ वंशजों को मिलती है जिसके कारण तावजी की नींव दृढ़ हो गयी है और उसके संगठन तथा बिलगाव की सम्भावना पहले की अपेक्षा कई गुनी बढ़ गयी है। तावजी के

अस्तित्व मे आने पर पतक थारवाद से उसके सदस्यो के वशज सम्बन्ध बने रहते हैं किन्तु साम्पत्तिक सम्बन्ध और अधिकार समाप्त हो जाते है। वशज सम्बन्धो के ही कारण एक तावजी के सदस्य अपने को पतृक थारवाद का सदस्य मानते हैं और उसके बाहर विवाह करते है। जैसी कि परम्परा रही है आज भी अपने पैतृक थारवाद के किसी सदस्य के निधन पर, तावजी के सदस्य चौदह दिन तक अपने को अशुद्ध मानते है।

खासी और गारो मातवशी परिवार सगठन भारत के उत्तरी पूर्वी भाग (आसाम) मे पाये जाते हैं और वे भारत के दक्षिण पश्चिम (मालाबार) मे पाये जाने वाले मातवशी परिवार सगठन से भिन्न है। खासी परिवार तीन या चार पीढ़ी के सदस्यो का एक छोटा सयुक्त परिवार होता है। खासी परिवार मातवशी और मातृस्थानी (Matrilocal) है और उसमे मातवशी उत्तराधिकार के नियम का पालन होता है। खासी परिवार मे मातवशी उत्तराधिकार की क्रमागतता उल्टी चलती है क्योकि खासी परिवार मे सबसे छोटी लड़की परिवार का अभिरक्षक (Custodian) समझी जाती है। इसकारण वही प्रथम उत्तराधिकारिणी समझी जाती है। यदि कर्ता स्त्री के सन्तान न हो तो उत्तराधिकार उनसे छोटी बहिन को मिलता है और यदि वह भी निस्सन्तान मर जाय तो उत्तराधिकार उससे छोटी बहिन को मिलेगा। यदि कर्ता स्त्री की बहिनें मर चुकी हो कर्ता स्त्री निस्सन्तान हो और यदि उसकी बहिन की सन्तान हो तो उत्तराधिकार कर्ता-स्त्री की बहिन की लड़की को मिलता है। बटवारे की स्थिति मे परिवार गृह (Family House) सबसे छोटी लड़की को मिलता है और परिवार के रत्नाभूषणों के साथ साथ पारिवारिक सम्पत्ति का एक बड़ा अंश भी मिलता है क्योकि खासी परिवार प्रणाली मे गृह, परिवार के सदस्यो का वासस्थान होने के साथ साथ एक सम्मिलित पूजा स्थान और परिवार के मृत सदस्यो की अस्थियां को गाड़ने का स्थान (Common Sepulchre) भी है। वास्तव मे परिवार धर्म (The Family Religion) मे भाग लेना और सम्मिलित गाड़ने के स्थान (Common Sepulchre) मे परिवार-सदस्यो की अस्थियो का गाड़ा जाना दो ऐसे कृत्य हैं जो परिवार की सयुक्तता को बनाये रखते है। स्त्री-कर्ता के मरने पर उसकी सबसे छोटी पुत्री ही उसका दाह सस्कार करती है और उसकी अस्थियां को परिवार के कब्र-स्थान (Sepulchre) मे गाड़ देती है। खासी परिवार पर मातसत्तात्मकता का यहा तक प्राधान्य है कि पुरुष जो कुछ भी कमाता है वह या तो उसकी मा को मिलता है या उसकी बहिन को या उसकी मा के स्त्री वशजो को।

गारो परिवार भी मातवशी (Matrilineal) है और गारो लोगो मे भी मातस्थानीयता (Matrilocal Residence) की प्रथा है। उत्तराधिकार स्त्री से स्त्री को चलता है किन्तु, गारो परिवार खासी तथा नायर परिवार से भिन्न है।

गारा परिवार मे, माता पिता अपनी पुत्रियो मे से उत्तराधिकारिणी पुत्री को चुनकर उसे नामजद करते है। यह आवश्यक नही कि उत्तराधिकारिणी स्त्री सबसे छोटी या सबसे बडी पुत्री हो। वह कोई भी हो सकती है यद्यपि, साधारणत, बडी पुत्री को उत्तराधिकारिणी नही घोषित किया जाता है। उत्तराधिकारिणी घोषित की हुयी पुत्री के अलावा अन्य पुत्रिया तब तक परिवार गृह मे रहती हैं जब तक कि उनका विवाह नही हो जाता है। विवाह होने पर अपने मायके के ही गाव मे वे माता-पिता द्वारा दी हुयी भूमि पर अलग घर बसाती है। उत्तराधिकारिणी पुत्री को माता पिता के दाह संस्कार का सारा भार उठाना पडता है। यदि किसी परिवार मे पुत्रिया न हो तो कर्त्ता स्त्री अपनी बहिन की किसी लडकी को गोद ले लेती है और यदि बहिन न हो या बहिन की कोई पुत्री न हो तो विस्तृत परिवार (Extended Family) के किसी भी सम्बन्धी की पुत्री को गोद ले लेनी है[1]।

जैसाकि इस सर्वेक्षण से ज्ञात होता है भारत मे परिवार की आधारभूत सामाजिक संरचना संयुक्त परिवार की है, यद्यपि जैसाकि दायभाग और मिताक्षरा प्रणालियो मे है कही परिवार की संयुक्तता द्विपक्षीय सम्बन्धपद (Bilateral Kinship) की स्वीकृति पर आधारित है और कही एकपक्षीय सम्बन्धपद (Unilateral Kinship) पर। अपने आधारभूत प्रकारो मे एक ओर, संयुक्त परिवार मातवशी है और, दूसरी ओर, पितवशी। श्रीमती कर्वे ने पितवशी संयुक्त परिवार को उत्तरी प्रकार (The Northern Type) कहा जाता है और मातवशी परिवार को दक्षिणी प्रकार (The Southern Type)[2] किन्तु उत्तरी प्रकार तथा दक्षिणी प्रकार की संज्ञाओ से ऐसा ध्वनित होता है कि मानो उत्तरी भारत मे पितवशी प्रकार ही पाया जाता है और दक्षिणी भारत मे केवल मातवशी प्रकार। यह निर्विवाद है कि भारत मे संयुक्त परिवार का एक रूप मातवशी है और दूसरा पितवशी और उत्तरी भारत मे केवल पितवशी प्रणाली ही नही पायी जाती है और न दक्षिणी भारत मे केवल मातवशी प्रणाली।

सामान्य वशेषतायें

भारत के परिवार प्रकारो के इस सर्वेक्षण मे यह भी स्पष्ट होता है कि पितवशी परिवार प्रणाली मे परिवार का कर्ता वयोवद्ध पुरुष पीढी का सबसे वयोवद्ध पुरुष होता है उत्तराधिकार पुरुष से पुरुष को चलता है वशावली पिता की वश-परम्परा मे चलती है और विवाह हो जाने के बाद स्त्री को अपने पिता का घर छोड कर पति के घर मे जाकर रहना पडता है। पितवशी परिवार सामान्यत, लेविरट-विवाहो से सम्बन्धित है क्योंकि उससे परिवार के किसी पुरुष सदस्य की मत्यु के बाद उसकी विधवा को उसके पति वश मे ही रहने का अवसर मिलता है और उसकी सन्तान की पितपक्षी वशावली का ह्रास नहीं होता है। पितवशी संयुक्त परिवार मे

1 कपाडिया के० एम० मरिज एण्ड फमिली इन इडिया पृष्ठ 239 243

2 कर्वे, इरावती किनशिप आर्गनाइजेशन इन इडिया पृष्ठ 12

दो प्रवृत्तियां पायी गई है—एक, परिवार को संयुक्त बनाए रखने की ओर, दूसरी, संयुक्त परिवार मे विभाजन (Fission) और पुनर्संगठन (Formation) की। पितवंशी परिवार की अर्हायें परिवार को संयुक्त बनाए रखन पर जोर देती हैं। पौराणिक कथाओं द्वारा प्रतिपादित आदर्श भी इसी पर जोर देते हैं। पुत्र के लिए पिता (कर्ता) ही सर्वोपरि है। अपने पिता के लिए और परिवार की रक्षा के लिए भीष्म अविवाहित रहे और राम ने चौदह वर्ष तक वनवास किया। जसाकि महाभारत में युधिष्ठर के प्रति उनके भाइयों के और रामायण मे राम के प्रति उनके भाइयो के व्यवहार से स्पष्ट है यदि बडा भाई परिवार का कर्ता है तो वह पितृतुल्य है। बडा भाई जनसाधारण की मान्यतानुसार पितवत माना जाता है और देवर 'कस्मात द्वितीयो वर'। किन्तु जिन पौराणाणिक कथाओ के आधार पर परिवार की संयुक्तता बनाए रखने के आदर्श का प्रतिपादन किया गया है, उन्हीं से यह भी स्पष्ट होता है कि एक ही वातावरण म पले पितवंशी पुरुषो के लिए संयुक्तता बनाए रखना आसान है और विभिन्न परिवारो स्थानों तथा विभिन्न पर्यावरणो मे पली *स्त्रियों के लिए परिवार की संयुक्तता बनाए रखना कठिन है। पितवंशी संयुक्त परिवार* की यही कहानी रही है। पुरुषों ने समान पर्यावरण और पितवंश के कारण, परिवार की संयुक्तता को बनाए रखन का प्रयास किया है जबकि विभिन्न स्थानो, पर्यावरणो तथा परिवारो से आई हुयी उनकी स्त्रियां परस्पर सामजस्य न रख पाने के कारण, संयुक्तता के विभाजन का कारण रही हैं। कोई आश्चर्य नही यदि पितवंशी परिवार वाले क्षेत्रो म पाए जाने वाल लोकगीतो और कहावतो मे सौत सौत सास बहू, ननद भौजाई और देवरानी-जेठानी के सम्बन्धों म पायी जाने वाली प्रतिस्पर्धा, मानसिक संघर्ष तथा तनाव की विषयवस्तु का अधिक वर्णन मिलता है। किन्तु, इसका यह तात्पर्य नही कि स्त्री संयुक्त परिवार के विभाजन का कारण है। स्त्री संयुक्त परिवार के विभाजन और पुनर्संगठन दोनो का कारण रही है। बहू के रूप म स्त्री संयुक्त परिवार के प्रति विद्रोह करती रही है किन्तु वयोवृद्ध मा और सास के रूप म एक नए संयुक्त परिवार का संयोजन क्योंकि कोई भी वृद्धा नहीं चाहती कि उसका पुत्र अपनी पत्नी के साथ एक अलग परिवार बसाए[1]।

मातवंशी परिवारो म कर्ता का वधिक पद परिवार की जीवित वयोवृद्ध पीढ़ी की स्त्री में निहित होता है किन्तु कर्ता के अधिकारो का वास्तविक प्रयोग उस पुरुष के हाथ म होता है जो परम्परानुसार परिवार प्रबन्धक के पद पर कार्य करता है। मातवंशी परिवार म, वंशावली माता के नाम पर चलती है और सामान्यत विवाह के बाद स्त्री अपने पति के साथ न रह कर अपनी मा के ही घर म रहती है। इस कारण, मातवंशी परिवार म, पिता माता सन्तान प्रकार का परिवार कलाप (Family

---

1 दुब श्यामाचरण इंडियन विलेज

Pattern) नही पाया जाता है । परिवार के सदस्यो के पालन पोषण का भार प्रबन्धक का काय करने वाले पुरुष के ऊपर रहता है । प्रबन्धक का पद, सामान्यत, कर्ता स्त्री के भाई का मिलता है । उत्तराधिकार पिता से पुत्र के स्थान पर मा से पुत्री को चलता है । यही कारण है कि मातवशी परिवार की सरचना सामान्यत मातमत्ता त्मक होती है । पिता पुत्र भाई भाई साम बहू, देवर भौजाई ननद भौजाई और देवरानी जिठानी जस तनावकारी और प्रतिस्पर्द्धी सम्बन्ध मातवशी परिवार म नही पाए जाते हैं जिसके कारण मातवशी परिवारो की सयुक्तता अधिक स्थायी होती है। श्रीमती कर्वे के अनुसार, पितवशी परिवार की अपेक्षा मातृवशी परिवार अधिक सुगठित और अविभाज्य रहा है क्योकि मातवशी परिवार म वे आन्तरिक सघर्ष, तनाव और दबाव नही रहत हैं जो साधारणत पितवशी परिवार-सरचना मे पाए जाते हैं जिनके कारण पितवशी परिवार एक सतत विभाजन-सयोजन प्रक्रिया मे रहा है । जहाँ मातवशी परिवार सरचना पायी जाती है वहा की कहावतो और लोकगीतो म भाई भाइ, सौत सौत, साम बहू ननद भौजाई और देवरानी जिठानी के प्रतिस्पर्द्धी व्यवहार दृष्टिकोण और सम्बन्धो के वणन अनुपस्थित हैं जो इस बात का द्योतक है कि पितवशी परिवार की अपेक्षा मातवशी परिवार की सरचना अधिक सयुक्त तथा सुगठित रही है ।

पिछले सर्वेक्षण तथा विश्लेषण से भारतीय सयुक्त परिवार की मुख्य-मुख्य विशेषताये भी स्पष्ट होती है । सयुक्त परिवार एक विशेष प्रकार का सम्बन्धी समूह (Kin Group) है जिसके सदस्य या तो मातवशावली मे होते हैं या पितवशावली म। सयुक्त परिवार एक कालगत सन्तति (Continuum in Time) है। क्योंकि भारतीय परिवार सम्बन्धी अहंताओ के अनुसार, परिवार पित और पुत्र दोनों से मिलकर बनता है। भारतीय परम्परा म परिवार जीवन का एक साधन मात्र है। साध्य है धर्म, अर्थ और काम के समन्वय से मिलने वाला मोक्ष। गृहस्थाश्रम केवल एक सक्रमण अवस्था (Phase of Transition) है। व्यक्ति गृहस्थाश्रम म इसीलिए प्रवेश करता है कि वह उन सारी विधियो का पालन कर सके जिनके द्वारा कुल का परिरक्षण हो सके और उसका नरन्तर्य बना रहे। पचमहायज्ञो को सम्पन्न करना गृही का मुख्य धर्म है। अत, परिवार सम्बन्धी समूह होने के साथ-साथ, पचमहायज्ञो को सम्पन्न करने तथा कुल परिरक्षण और कुल नरन्तर्य को बनाए रखने का एक साधन है। इसीकारण पचमहायज्ञ की विधिया (Rites) परिवार का एक अग बन गयी हैं[1]। किन्तु, पच महायज्ञो की विधियों म से केवल पितृ-यज्ञ और देव यज्ञ की विधिया ही सयुक्त परिवार का मुख्य आधार रही हैं। प्रत्येक सयुक्त परिवार म, एक देव पितृ स्थान होता है जहा, जन्म, विवाह और मृत्यु के अवसरो पर, परिवार कल्याण की

1 प्रभु, पी० एच० हिन्दू सोशल आर्गनाइजेशन पृष्ठ 215-216

कामना के लिए देव पित्रों का आवाहन किया जाता है। इस परम्परा का परिणाम यह हुआ कि संयुक्त परिवार सभी दशाओं में एक पैतृक स्थान से सम्बन्धित रहा है। पैतृक स्थान से सम्बन्ध उस दशा में भी बना रहता है जब एक परिवार के सदस्य पैतृक स्थान को छोड़कर कहीं अन्यत्र जा बसते हैं। अक्सर पैतृक स्थान के देवताओं के नाम मनौतियां मानी जाती हैं और उन्हें पूरा करने के लिए लोग पैतृक स्थान को जाते रहते हैं। यदि कोई संयुक्त परिवार बंट जाता है तो देव पितृ स्थान तब तक मूल परिवार में रहता है जब तक कि उसकी कहीं किसी अन्य नए परिवार में स्थापना न की जाय। प्रत्येक संयुक्त परिवार का अपना एक आसन (Seat) होता है।

संयुक्त परिवार के आसन (Seat) से सम्बन्धित रहने का कारण रही है कृषि-व्यवस्था। कृषि व्यवस्था में भूमि ही जीवन यापन का मुख्य आधार होती है। कृषि व्यवस्था के कारण ही भूमि परिवार की संयुक्तता बनाये रखने का मुख्य माध्यम बनी। जैसाकि जौनसारी परिवार (खस परिवार) के वर्णन से स्पष्ट है, आज भी, भूमि परिवार की संयुक्तता का कारण है। ज्यों ज्यों औद्योगिक व्यवस्था विकसित हो रही है और भूमि के अतिरिक्त सम्पत्ति के अन्य साधन विकसित हो रहे हैं परिवार की संयुक्तता बनाए रखने में भूमि का महत्व भी समाप्त हो रहा है। चूंकि परिवार की संयुक्तता भूमि पर आधारित रही है पारिवारिक सम्पत्ति का सम्मिलित स्वामित्व और उपभोग संयुक्त परिवार की एक विशेषता बन गई है। हिन्दू शास्त्रों के अनुसार चूल्हा, चक्की, झाड़ू, ओखली मूसल और पानी का घड़ा परिवार के मुख्य पांच उपकरण (Tools) हैं। किन्तु, इन सभी में चूल्हा परिवार की संयुक्तता को बनाये रखने का एक मुख्य माध्यम रहा है। चूल्हे के ही कारण, संयुक्त परिवार की उन विशेषताओं का अभ्युदय हुआ है जिन्हें सम्मिलित रसोई और सम्मिलित वास स्थान कहा गया है। आज भी, भारत की जनगणना में, एक चूल्हे और एक रसोई को एक परिवार का आधार माना जाता है यद्यपि समाजशास्त्रीय दृष्टिकोण से, यह तर्कसंगत नहीं है। आज भी, अवध में सम्पूर्ण परिवार के सदस्यों को किसी भोज में आमन्त्रित करने को चूल्हा न्योतना कहा जाता है और परिवार विभाजन को 'चूल्हा बटना'।

पिछले विश्लेषण में संयुक्त परिवार की जिन विशेषताओं का वर्णन किया गया है, उनके आधार पर संयुक्त परिवार की परिभाषा इसप्रकार की जा सकती है: संयुक्त परिवार एक विशेष प्रकार का सजातीय (Kindred) समूह है जिसके सदस्य सामान्यतः रक्त और वंशावली से सम्बन्धित रहते हैं, एक ही गृह या निवास-स्थान में रहते हैं एक ही रसोई में भोजन करते हैं सम्मिलित रूप से समान सम्पत्ति के स्वामी होते हैं और अपने परिवार की समान पूजा विधियों में सम्मिलित रूप से भाग लेते हैं। किन्तु संयुक्त परिवार की यह परिभाषा आदर्श संयुक्त परिवार की परिभाषा है। इस परिभाषा से

परिभाषा

संयुक्त परिवार का जो रूप उभरता है वह एक ऐतिहासिक आदर्श है। संयुक्त परिवार में, सम्मिलित रूप में केवल वही सदस्य रहते आए हैं जो कृषक रहे हैं। सेना और व्यापार में लगे लोग, हमेशा से, आवश्यकतानुसार स्थानान्तरित होते रहे हैं और अपने साथ संयुक्त परिवार प्रणाली के आदर्श ले जाते रहे हैं। यदि ऐतिहासिक सन्दर्भ में विचार किया जाय तो यह स्पष्ट होता है कि प्रत्येक संयुक्त परिवार एक बड़े संयुक्त परिवार से निकला है। शहर और गाँव दोनों जगह ऐसे उदाहरण मिल जाते हैं जिनमें दस या बारह संयुक्त परिवारों के लोग, अलग अलग तो रहते हैं किन्तु वे एक ही वंश के होते हैं। इन घरों में ऐसा हो सकता है कि एक घर अत्यन्त प्राचीन समझा जाता हो और उसी में देव पितरों की स्थापना हो। संयुक्त परिवार को आदर्श में अविभाज्य समझा गया है किन्तु वास्तविक व्यवहार में संयुक्त परिवार अविभाज्य नहीं रहा है। हाँ यह अवश्य है कि विभाजित होकर एक संयुक्त परिवार कई संयुक्त परिवारों में बटता रहा है।

संयुक्त परिवार, भारतीय संस्कृति के परिरक्षण (Preservation) का एक प्रधान साधन रहा है। भारतीय संस्कृति का नैरन्तर्य भी संयुक्त परिवार के सामाजिक योगदान का परिणाम है। लेकिन इसका यह तात्पर्य नहीं कि भारतीय संस्कृति और समाज का स्थायी बनाने का श्रेय केवल संयुक्त परिवार को ही है। स्वयं संयुक्त परिवार भारत की परम्परागत जाति संरचना और ग्राम संगठन प्रणाली पर आधारित रहा है। भारत की परम्परागत ग्राम-संगठन प्रणाली का मुख्य आधार रही है कृषि व्यवस्था। संयुक्त परिवार को, एक ओर परिरक्षण मिला है जाति से और दूसरी ओर, कृषि-व्यवस्था तथा ग्राम-संगठन प्रणाली से। संयुक्त परिवार के नियमन की सत्ता जाति और ग्राम के पास रही है। जाति संयुक्त परिवार के चारों ओर घिरा हुआ और अन्तर्वैवाहिकी पर आधारित एक वह सामाजिक घेरा रहा है जिस पर, अपने अस्तित्व के लिए संयुक्त परिवार निर्भर रहा है। किन्तु संयुक्त परिवार का आर्थिक आधार ग्राम-समूह में समाया रहा है। अकालों दुर्भिक्षों और राजनैतिक उथल पुथल के अवसरों पर गाँवों के स्थानान्तरण हुए हैं न कि जातियों के और इन अवसरों में संयुक्त परिवार ग्राम से बंधा रहा है न कि जाति से। जाति अन्तर्वैवाहिकी से बंधे हुए, उन संयुक्त परिवारों का एक समूह है जो एक क्षेत्र विशेष के कई गाँवों में फैला रहता है और गाँव, एक सीमा विशेष में घिरा हुआ, कई उन संयुक्त परिवारों से मिलकर बना हुआ समूह है जो कई जातियों में विभक्त रहते हैं। जहाँ किसी गाँव या कई पड़ोसी गाँवों में एक ही जाति के सदस्य रहते हैं वहाँ स्थिति भिन्न रहती है। कुछ भी हो, ग्राम और जाति संयुक्त परिवार के दो मुख्य आधार रहे हैं। ग्राम और जाति के सन्दर्भ में संयुक्त परिवार एक छोटा-सा संसार रहा है—वह संसार जो अनेक दशाओं में आत्मनिर्भर रहा है और अनेक दशाओं में, सामाजिक

संयुक्त परिवार के काम

आर्थिक आदान प्रदान की परम्परा के द्वारा, उन समूहों मे मिला रहा है जिन्हे ग्राम और जाति की सज्ञा दी गई है[1]।

भारतीय जीवन मे सयुक्त परिवार एक प्रकार का विशिष्ट सहवासी समुदाय रहा है जिससे व्यक्ति की लगभग सभी शरीरी और सांस्कृतिक आवश्यकताओ की पूर्ति होती रही है। सयुक्त परिवार म जन्म लेने वाले व्यक्ति को अपनी ही पीढी के साथी मिल जाते हैं क्योकि सयुक्त परिवार मे भाइयों या बहिनो के बच्चे एक साथ पलते हैं। शिशु अपनी माता पर ही नही निभर रहता है। शिशु के पिता की मा, बहिन और भाई की स्त्री भी उसकी देखभाल करती हैं। सयुक्त परिवार म, शिशु बहुधा अपनी दादी (पिता की मा) या बाबा (पिता का पिता) द्वारा पाला पोसा जाता है, विशेषतया उस समय, जब उसके अन्य भाई या बहिन हो जाते हैं। उत्तरी भारत मे, परिवार म, अपने बच्चे का ही लाड प्यार करना ठीक नही समझा जाता है और आज भी एम तरुण पिताओ की कमी नही है जो अपने माता, पिता और बडे भाई के सामने अपने बच्चे का लाड प्यार करते शरमाते हैं। सयुक्त परिवार म शिशु या बालक अपने ही मा-बाप पर नहीं निभर रहता है। परिवार के अन्य बच्चो के साथ उसका मुण्डन और जनेऊ होता है। सयुक्त परिवार म, वद्धो का भी वद्धावस्था दूभर नही लगती है।

सयुक्त परिवार रूपी सहवासी समुदाय म दो अलग अलग ससार हैं—एक पुरुषो का ससार और दूसरा नारियो का ससार। ब्याह कर आने पर, पितवशी सयुक्त परिवार म स्त्री को एक नया सामञ्जस्य स्थापित करना पडता है पर वह सामञ्जस्य जसाकि आधुनिक योरोपीय परिवार मे होता है, पति के प्रति एक रागात्मक सामञ्जस्य मात्र नही है। इस सामञ्जस्य का एक रूप है सास के साथ सामञ्जस्य, दूसरा ननद (पति की बहिन) के साथ सामञ्जस्य, तीसरा, पति के भाइयो की स्त्रियो के साथ सामञ्जस्य चौथा पति के पिता और उसके भाइयो के साथ सामञ्जस्य और, पाचवा, पति के भाइयो के साथ सामञ्जस्य। स्त्री का अधिकतर समय परिवार की स्त्रियो के ही साथ बीतता है। बीमारी और प्रसव के समय परिवार की स्त्रिया ही उसकी देख भाल करती हैं। पति-पत्नी मिलते हैं पर केवल रात्रि म थोडे समय के लिए। पति पत्नी के सहवास पर भी परिवार का नियमन रहता है। पति का अधिकतर समय पुरुष-ससार म व्यतीत होता है। पितवशी सयुक्त परिवार म पति पत्नी का सम्बन्ध ही प्राथमिक नही है। मातृवशी परिवार म पति पत्नी का सम्बन्ध तो एकदम गौण रहता है।

सयुक्त परिवार म आयु को प्राथमिकता और सत्ता मिलती है। सयुक्त परिवार की सरचना प्राधिकारवादी (Authoritarian) रही है। इसकारण, सयुक्त

1 कर्वे इरावती किनशिप आरगनाइजेशन पृष्ठ 11

परिवार में असंतोष, जटिलता और कटुता भी रही है। किन्तु, साथ ही साथ उसमें आकर्षक तत्व भी रहे हैं। पितृवंशी संयुक्त परिवार में देवर भौजाई, ननद भौजाई, देवरानी जेठानी और साली बहनोई के परिहास सम्बन्ध (Joking Relationships) भी रहे हैं। संयुक्त परिवार में हमेशा कुछ न कुछ होता रहता है। आज यदि विवाह है तो कल उपनयन-संस्कार। आज यदि किसी का जन्म हुआ है तो कल किसी की मृत्यु। आज यदि परिवार की स्त्रियों के भाई उन्हें उनके मायके ले जाने के लिए आए हैं तो कल परिवार की विवाहित लड़कियाँ अपनी सुसराल में आ रही हैं। आज यदि कोई पर्व है तो कल कोई त्यौहार। संयुक्त परिवार का जीवन, एक ओर, सत्ता और अनुशासन का जीवन है तो दूसरी ओर, वुमुलता और आशाओं का। उसमें एक ओर हास परिहास है तो, दूसरी ओर संघर्ष एक ओर, वाद विवाद का जीवन है तो दूसरी ओर नयी नयी योजनाओं का[1]।

संयुक्त परिवार में व्यक्ति परिवाररूपी समष्टि का एक अंग रहा है। संयुक्त परिवार और पश्चिमी व्यक्तिवाद (Western Individualism) दो विरोधी सामाजिक मानसिक प्रमेय रहे हैं। संयुक्त परिवार में व्यक्ति की सत्ता स्वतन्त्र न होकर समष्टि का एक अंग रही है। प्राधिकारवादी (Authoritarian) होने के कारण, संयुक्त परिवार व्यक्तिगत उपक्रमण (Individual Initiative) का विरोधी-सा रहा है। भारतीय समाज में जन्मजात सत्ता और विशेषाधिकारों का सामाजिक सूत्रपात संयुक्त परिवार से ही होता है और जिसका चरम विकास जाति संरचना प्रणाली में हुआ है। परिवार की संयुक्तता बनाए रखने के कारण ही, संयुक्त परिवार संरचना में एक ओर, सत्ता अनुशासन और आयु को प्राथमिकता देने की प्रथा तथा विभिन्न सदस्यों के जन्मजात विशेषाधिकारों के विचार का समावेश हुआ और, दूसरी ओर, एकवंशी उत्तराधिकार प्रणाली का। पितृवंशी परिवार में समान पितृवंशी पुरुषों का उत्तराधिकार में प्राथमिकता मिली और मातृवंशी परिवार में, मातृवंशी स्त्रियों का। उत्तराधिकार में भी, पितृवंशी पुरुष पीढ़ी में आयु के अनुसार ज्येष्ठ पुरुष को प्राथमिकता मिली और मातृवंशी परिवार में एक पीढ़ी की स्त्रियों में ज्येष्ठ स्त्री को। पितृवंशी परिवार में स्त्रियों का स्थान गौण हो गया। स्त्री को न तो पिता की सम्पत्ति में वांछित उत्तराधिकार मिला और न पति के परिवार की सम्पत्ति में—उन्हें केवल भरण पोषण का अधिकार मिला। उसी प्रकार, मातृवंशी परिवार में, पुरुष का स्थान गौण हो गया। इस परिस्थिति के कई परिणाम निकले। इसमें स्त्री पुरुष की सामाजिक स्थिति और प्रतिष्ठा में जन्मजात असमानता की भावना का अभ्युदय हुआ समाज में जन्मजात विशेषाधिकारों के प्रति लालसा उत्पन्न हुई और चूंकि जन्मजात विशेषाधिकार सभी को नहीं मिल सकते थे, इसकारण साम्यवादी दृष्टिकोण

1 कर्वे, इरावती किनशिप आर्गनाइजेशन इन इण्डिया पृष्ठ 14

का अभ्युदय हुआ। इसके दो परिणाम निकले। अधिकार सम्पन्न व्यक्ति की भूमिका में शासन और अधिकार लिप्सा के सामाजिक मनोवृत्ति का समावेश हुआ और अधिकार विहीन व्यक्ति की भूमिका में परजीवी (Parasitic) उत्तरदायित्वहीन और पराश्रित मनोवृत्ति का। संयुक्त परिवार सामाजिक सुरक्षा का कवच रहा है उसमे सामाजिक बीमा के तत्व समाए रहे है किन्तु, साथ ही साथ उसने अकर्मण्यता को भी प्रोत्साहित किया है। संयुक्त परिवार में मिलने वाली सुरक्षा ने यदि, असुरक्षा के भय से उत्पन्न होने वाली चिन्ता से व्यक्ति की रक्षा की है तो उसने उस सन्तोष को भी प्रोत्साहित किया है जो व्यक्ति को निरुत्साह बना देता है।

संयुक्त परिवार परिवर्तन के कारण

अंग्रेजी राज के माध्यम से पड़ने वाले योरोपीय संघात के प्रभाव से जैसे अन्य संस्थाओं का रूपान्तरण हुआ है वैसे ही संयुक्त परिवार का भी रूपान्तरण हुआ है। पिछले दो सौ वर्षों में संयुक्त परिवार की गत्यात्मकता बढ़ गई है क्योंकि अंग्रेजी राज में होने वाले सामाजिक आर्थिक परिवर्तनों के कारण एक ओर, संयुक्त परिवार का परम्परागत सामाजिक आर्थिक आधार बदला और दूसरी ओर उसके कई पहलुओं में परिवर्तन आए। संयुक्त परिवार संरचना में प्रविष्ट होने वाली गत्यात्मकता और उसके अनेक कार्यों (Functions) में होने वाले परिवर्तनों के कारण संयुक्त परिवार के वर्तमान स्वरूप के विषय में दो प्रकार के मतों का अभ्युदय हुआ है। एक ओर यह मत प्रतिपादित किया गया है कि आज संयुक्त परिवार विघटन और विशृंखलन की प्रक्रिया में है जिसके कारण, एकाकी परिवारों की संख्या बढ़ रही है और दूसरी ओर यह मत प्रतिपादित किया गया है कि संयुक्त परिवार की संरचना में विशृंखलन नहीं रूपान्तरण हुआ है जिसके कारण परिवर्तित होकर भी संयुक्त परिवार बना हुआ भारतीय सामाजिक संगठन का एक अंग है जैसे कि वह कभी था। हाँ यह अवश्य है कि आज संयुक्त परिवार की ऐतिहासिक गत्यात्मकता में निहित विभाजन संयोजन प्रक्रिया (The Process of Fission & Formation) अधिक तीव्र हो गई है और, जैसाकि योरोप में हुआ है योरोपीय सभ्यता के प्रभाव में परिवार के अनेक काम राज्य के हाथ में चले गए हैं और संयुक्त परिवार का नियमन जाति तथा ग्राम के हाथ से निकल कर राज्य के हाथ में चला गया है। विवाह, उत्तराधिकार और तलाक सम्बन्धी अधिनियम जो भारत में राज्य द्वारा पारित किए गए हैं और राज्य द्वारा अपनाया जाने वाला परिवार-तथा बाल कल्याण कार्यक्रम (The Programme of Family and Child Welfare) इसके प्रमाण हैं।

अंग्रेजी राज्य काल में जिन परिवर्तनकारी शक्तियों ने संयुक्त परिवार को प्रभावित किया है वे हैं भारत की बदलती हुई आर्थिक व्यवस्था, औद्योगीकरण शहरीकरण प्रौद्योगिकी, पश्चिमी शिक्षा, परिवार को प्रभावित करने वाली विधि प्रणाली और पश्चिम के व्यक्तिवादी उदारवादी विचार तथा धारणायें। यह

पहले ही लिखा जा चुका है कि अंग्रेजी राज का सबसे व्यापक प्रभाव भारत की परम्परागत आर्थिक व्यवस्था पर पड़ा जिसके कारण भारत में औद्योगीकृत, पूँजीवादी आर्थिक-व्यवस्था का विकास हुआ। पूँजीवादी व्यवस्था, जो अंग्रेजी राज के माध्यम से भारत में आई समष्टिवादी न होकर व्यक्तिवादी है। उसका आधार है व्यक्तिवादी प्रतियोगिता (Individualistic Competition) और वह सामाजिक प्रतिष्ठा (Social Status) जो जन्मजात न होकर अर्जित होती है। पूँजीवादी औद्योगिक व्यवस्था में भूमि के स्थान पर, मुद्रा का महत्व बढ़ा और कृषि के स्थान पर उद्योग और व्यापार का। साथ ही साथ, औद्योगीकरण के कारण नये नये बुद्धिजीवी पेशे अस्तित्व में आये जिन्हें व्यक्ति अपनी योग्यतानुसार अपना सकता है। कृषि-व्यवस्था में परिवार का एकमात्र आधार भूमि थी। सारी पेशा-संरचना कृषि व्यवस्था, अभिरोपित सामाजिक प्रतिष्ठा प्रणाली (Ascribed Status System) और जाति-संरचना की उच्चोच्च परम्परा (The Hierarchy of Caste Structure) के आधीन थी। ऐसी दशा में, व्यक्ति के आर्थिक-सामाजिक अस्तित्व का एकमात्र साधन परिवार ही रह जाता था। पूँजीवादी औद्योगिक व्यवस्था में, भूमि के आर्थिक महत्व के कम होने का तात्पर्य हुआ संयुक्त परिवार के एक मुख्य आधार का कमजोर होना। अभिरोपित सामाजिक प्रतिष्ठा प्रणाली के स्थान पर अर्जित सामाजिक प्रतिष्ठा प्रणाली (Achieved Social Status System) के विकास का अर्थ हुआ व्यक्ति के सामाजिक अस्तित्व के उन नये आधार का अभ्युदय जिस पर संयुक्त परिवार और जाति का एकाधिकार न था। परम्परागत सामाजिक व्यवस्था में व्यक्ति की सामाजिक प्रतिष्ठा जाति और परिवार पर आधारित थी किन्तु नयी सामाजिक प्रतिष्ठा प्रणाली में, व्यक्ति अपनी योग्यतानुसार अपने प्रयत्नों के द्वारा अपना विशिष्ट स्थान बना सकता था। परम्परागत व्यवस्था में व्यक्ति के पेशे का चुनाव व्यक्ति के हाथ में न होकर परिवार और जाति के हाथ में था। किन्तु पूँजीवादी औद्योगिक-व्यवस्था में पेशे के चुनाव में व्यक्ति को अधिक स्वतन्त्रता मिल गयी। इसप्रकार, अंग्रेजी राज के सघात से भारत की बदलती हुई आर्थिक व्यवस्था में व्यक्ति को जाति और परिवार के अधिकार से अपेक्षाकृत अधिक स्वतन्त्रता मिली जिसके फलस्वरूप व्यक्ति को अपनी इच्छा और योग्यतानुसार अपना सामाजिक आर्थिक जीवन ढालने की प्रेरणा मिली।

पश्चिमी वैज्ञानिक प्रौद्योगिकी (Western Scientific Technology) ने संयुक्त परिवार को कई तरह से प्रभावित किया। प्रौद्योगिकी से ही औद्योगीकरण बना जिसने भारत की नयी औद्योगिक पेशा संरचना को जन्म दिया। प्रौद्योगिकी के ही प्रभाव से, भारत में औद्योगिक नगरों का विकास हुआ। औद्योगिक नगरों में सामाजिक आर्थिक जीवन का आधार कृषि न होकर व्यापार, उद्योग धन्धे और वे पेशे हैं जो कृषि पर ही आधारित न होकर उद्योग, नौकरियों (Services) और वृत्तियों

(Professions) पर आधारित है। यातायात के साधनों ने, एक ओर, औद्योगिक शहरों के विकास को प्रोत्साहन दिया था, दूसरी ओर, औद्योगिक शहरों में मिलने वाले सामाजिक आर्थिक अवसरों से लाभ उठाने के लिए गांव से शहर की ओर के स्थानान्तरण को उत्तेजना दी। स्थानान्तरण का परिणाम होता है व्यक्ति पर से परिवार के अधिकार का कम होना और व्यक्ति को परिवार के अनुशासन से अपेक्षाकृत अधिक स्वतन्त्रता मिलना। स्थानान्तरण से बहुओं को भी सास के अधिकारपूर्ण अनुशासन से मुक्ति मिलती है। नौकरी पेशा लोगों के लिए, विशेषत जो सरकारी नौकरियों में हैं स्थानान्तरण स्वाभाविक सा हो गया है। बढ़ते हुए व्यवसाय और औद्योगीकरण के कारण गांव में बढ़ती हुई बेरोजगारी ने भी शहर की ओर स्थानान्तरण को बढ़ावा दिया है। शहरी सामाजिक आर्थिक पर्यावरण ग्रामीण पर्यावरण की अपेक्षा अधिक गतिशील है और शहरी सामाजिक आर्थिक संरचना जाति तथा परिवार की ओर उन्मुख न होकर, व्यक्ति की ओर अधिक उन्मुख है। शहरी सामाजिक पर्यावरण में अनामकता (Anonymity) का व्यापक प्रभाव रहता है जिससे, एक ओर, प्रथाओं के कठिन अनुशासन में ढीलापन आता है और दूसरी ओर, व्यक्तिवाद को प्रोत्साहन मिलता है। *शहरी पर्यावरण में व्यक्ति का अधिकतर समय पारिवारिक प्रभाव क्षेत्र* के बाहर बीतता है जिससे व्यक्ति स्वातन्त्र्य की भावना को प्रोत्साहन मिलता है।

भारतीय विधि प्रणाली पर अंग्रेजी राज के संघात का वर्णन करते हुए इस तथ्य का उल्लेख किया जा चुका है कि अंग्रेजी राज में, एक ओर स्वीय विधि (Personal Law) को लेखबद्ध किया गया और, दूसरी ओर इङ्गलैण्ड की विधि प्रणाली के आधार पर, भारत में सामान्य विधि (General Law) का निर्माण किया गया। जैसाकि इङ्गलैण्ड का ढर्रा था भारत में भी सामान्य विधि को व्यक्तिपरक बनाया गया और स्वीय विधि के निर्वचन में समष्टि के स्थान पर व्यक्ति और प्रथा को प्रधानता दी गई। उन्नीसवीं सदी में अंग्रेज न्यायाधीशों ने विज्ञानेश्वर और जीमूतवाहन के परिवार सम्बन्धी वैधिक निर्वचनों को हिन्दू-परिवार का आधार मान लिया, यद्यपि ये वैधिक निर्वचन कई सौ वर्ष पूर्व के थे। इन दोनों विद्वानों ने दो भिन्न-भिन्न दृष्टिकोणों से, हिन्दू परिवार का वैधिक निर्वचन किया था, और दोनों का उद्देश्य था पारिवारिक संयुक्तता और समष्टि के साथ व्यक्ति के मानसिक तथा सामाजिक स्वत्व का सामञ्जस्य बनाये रखना। इसमें कोई संदेह नहीं कि इन दोनों विद्वानों ने पारिवारिक सम्पत्ति में व्यक्ति के अधिकार को माना है और यह भी माना है कि व्यक्ति अपने अधिकार (भाग) को परिवार की सम्पत्ति में से ले सकता है। किन्तु यह मान्यता उस समय की थी जब कृषि ही जीवन का मुख्य आधार थी, जब उपजीविका संरचना (Occupational Structure) और सामाजिक गतिशीलता नहीं थी जो जाति और परिवार के स्थान पर व्यक्ति को महत्व देती थी, जब स्थानान्तरण की सम्भावना, वस्तुतः, नहीं के बराबर थी और जब परिवार और जाति से

अलग व्यक्ति का सामाजिक आर्थिक अस्तित्व ही नहीं था और यदि कहीं था भी तो संन्यास में। वैयक्तिक अधिकारों के रहते हुए भी, व्यक्ति में परिवार से बाहर रहने की प्रेरणा की कमी थी। किन्तु नयी परिस्थितियों में पारिवारिक सम्पत्ति में वैयक्तिक अधिकारों के व्यक्तिवादी निर्वचनों से एक ओर परिवार विषयक संयुक्तता की भावना का ह्रास हुआ, उसकी समष्टिवादिता क्षीण हुयी और दूसरी ओर, सम्मिलित स्वामित्व और उपभोग के स्थान पर, पैतृक तथा पिता की सम्पत्ति में, पुत्रों और वंशजों के निहित स्वार्थ (Vested Interest) की भावना का अभ्युदय हुआ। अंग्रेजी राज्य काल में, और उसके बाद भी दीवानी के मुकदमों की बढ़ती हुई संख्या इसी का परिणाम है।

कपाडिया के अनुसार अंग्रेजों द्वारा स्थापित अदालतों में, हिन्दू विधि प्रणाली का जिस रूप में प्रशासन किया गया उसके दो परिणाम निकले—एक ओर व्यक्ति ने संयुक्त परिवार में निहित अपने उत्तराधिकारों की उत्तरोत्तर माँग (Assertion) की जिसके कारण संयुक्त परिवार की विभाजन प्रक्रिया तीव्रतर हुयी और, दूसरी ओर अन्य परिस्थितियों के साथ साथ ऐसी परिस्थिति अस्तित्व में आई जिसने संयुक्त परिवार के विश्रृंखलन को प्रोत्साहित किया यद्यपि, भारत की आधारभूत सामाजिक सत्यात्मकता की पृष्ठभूमि में, यह विश्रृंखलन अधिक दूर न जा सका और संयुक्त परिवार इसके आघात को सहता हुआ नयी परिस्थितियों के अनुसार अपने को रूपान्तरित कर सका। भारत में परिवार सम्बन्धी जितनी विधियों का निर्माण अंग्रेजी राज्य काल और उसके बाद हुआ है उनसे, एक ओर, संयुक्त परिवार के विश्रृंखलन को और दूसरी ओर उसकी अतिजीवता और रूपान्तरण को प्रोत्साहन मिला है। कपाडिया के अनुसार हिन्दू उत्तराधिकार अधिनियम (1929) और हिन्दू-स्त्री के सम्पत्ति विषयक अधिकार अधिनियम ने संयुक्त परिवार के विश्रृंखलन की उस प्रक्रिया को पूरा करने में योग दिया है जो अंग्रेजी न्याय प्रणाली और नयी परिस्थितियों में, व्यक्तिवादी भावनाओं की माँग के कारण अस्तित्व में आई थी। हिन्दू-उत्तराधिकार अधिनियम में कर्ता की सम्पत्ति में कर्ता के पितृवंशी सम्बन्धियों के अधिकार के समक्ष उसके पुत्र की पुत्री या उसकी पुत्री की पुत्री का अधिक प्राथमिक उत्तराधिकार मान लिया गया है। इसके फलस्वरूप यदि किसी कर्ता के पुत्र न हो तो उसकी सम्पत्ति उसके पितृवंशी सम्बन्धियों की अपेक्षा उसके प्रपौत्र या उसकी अनुपस्थिति में उसकी प्रपौत्री (पुत्र की पुत्री) या पुत्री या उसके लड़के या लड़की को मिलती है।

हिन्दू नारी के सम्पत्ति विषयक अधिकार अधिनियम (The Hindu woman's Right to Property Act 1937) का मुख्य उद्देश्य है विधवा होने पर हिन्दू-स्त्री को उसके पति की सम्पत्ति में, अन्य उत्तराधिकारियों के समक्ष, उत्तराधिकार का प्राथमिक अधिकार देना। सिद्धान्ततः, हिन्दू परिवार की मुख्य विशेषता थी जीवित-

त्व का सिद्धान्त (The Theory of Survivorship) जिसका व्यावहारिक रूप यह था कि व्यक्ति परिवार की सम्मिलित सम्पत्ति में से अपना भाग अलग कर सकता था यद्यपि कर्ता के साथ साथ, अन्य पितृवंशी वंशज भी पारिवारिक सम्पत्ति के अधिकारी समझे जाते थे। किन्तु हिन्दू स्त्री को उसके पति के बराबर ही उत्तराधिकार का अधिकार देने से, परिवार का परम्परागत पितृवंशी संयुक्त आधार समाप्त हो गया। वास्तव में यदि देखा जाय तो हिन्दू स्त्री के वैधानिक अधिकारों की मान्यता ने परिवार की परम्परागत संयुक्तता को बदलने में काफी योग दिया है। आज हिन्दू स्त्री को पति और पिता दोनों की सम्पत्ति में उत्तराधिकार का अधिकार प्राप्त है जिससे परिवार की परम्परागत पितृवंशी संयुक्तता को ठेस पहुँच रही है। आज, हिन्दू स्त्री को तलाक का अधिकार प्राप्त हो गया है और तलाक के पहले वैधिक पृथक्करण (Judicial Separation) की अवस्था में उसे अपने पति की सम्पत्ति और आय में से भरण पोषण पाने का अधिकार है जो संयुक्त परिवार की संयुक्तता के पितृवंशी आधार का सैद्धान्तिक निषेध है।

अंग्रेजी शिक्षा के द्वारा योरोपीय सभ्यता के अनेक तत्वों ने भारतीय *परिवार सम्बन्धी मान्यताओं को प्रभावित किया जिससे भारतीय संयुक्त परिवार का* रूपान्तरण हुआ। इनमें सबसे मुख्य है स्त्री पुरुष की समता का सिद्धान्त। जिस काल में भारत में अंग्रेजी राज्य की स्थापना हुयी उसी काल में इंगलैंड में वालिग मताधिकार का आन्दोलन चला। इस आन्दोलन में नारियों का मताधिकार दिलाने का आन्दोलन काफी महत्वपूर्ण है। इस आन्दोलन के फलस्वरूप जब भारत में संवैधानिक सुधार लागू किए गए तो नारियों को मताधिकार दिया गया जिससे भारत की नारियों को वे राजनैतिक अधिकार अपने आप मिल गये जिसके लिये योरोप की नारियों को आन्दोलन करना पड़ा था। शिक्षण कार्य नर्सिंग डाक्टरी स्टेनोग्राफिंग (Stenotyping) और क्लर्की जैसे अनेक नारियोचित और नारी सुलभ पेशे अस्तित्व में आए जिनके कारण नारियों के लिए उसी प्रकार वेतनभोगी सेवाओं के अवसर खुल जैसे कि अन्य क्षेत्रों में पुरुषों के लिये खुले थे। एक ओर नारियों को राजनैतिक तथा वैधानिक अधिकार और दूसरी ओर उन्हें आर्थिक स्वतन्त्रता के अवसर मिले। सन्तति नियमन के उपकरणों ने नारी को मातृत्व की भारी भार दान से छुटकारा मिला जिससे नारी को घर की चहारदीवारी के बाहर आने में सुविधा हुयी। जिस समय भारत का योरोप से व्यापक तथा प्रभावपूर्ण सम्पर्क स्थापित हुआ उस समय योरोप में विशेषतया अंग्रेजी साहित्य में एक ओर प्रकृतिवादी दर्शन की विचारधारा चल रही थी और दूसरी ओर उदारवादी विचारधारा। उदारवादी विचारधारा ने समता और व्यक्तिगत स्वातन्त्र्य की भावना को प्रोत्साहित किया और प्रकृतिवादी दर्शन ने उस स्वाभाविक और निर्बन्ध जीवन को अपनाने पर जो प्रकृति में पाया जाता है। उदारवादी विचारधारा ने नर-नारी की समता की धारणा

को जन्म दिया और जीवन के प्रति प्रकृतिवादी दृष्टिकोण ने स्वतन्त्र स्वाभाविक और वैयक्तिक प्रेम की धारणा को। इसी विचारधारा के प्रभाव में, यौन-तुष्टि को नर-नारी की उसी प्रकार की स्वाभाविक आवश्यकता बताया गया जैसे भूख और प्यास। विवाह को सामाजिक बन्धन न कह कर स्त्री-पुरुष के बीच में स्वाभाविक प्रेम पर आधारित समझौता कहा गया। इन सभी विचारधाराओं का सम्मिलित प्रभाव हुआ नारी द्वारा स्वाभाविक प्रेम पर आधारित विवाह की माँग जिसने प्रेम विवाह और सिविल मैरिज (Civil Marriage) की धारणा को जन्म दिया। उदारवादी तथा प्रजातन्त्रवादी विचारों पर आधारित नर-नारी की समता और प्रेम विवाह सम्बन्धी विचार जितनी तेजी से बढ़े उतनी तेजी से परम्परागत सामाजिक मान्यतायें नहीं बदलीं। फलतः रूमानी विचारधारा का जन्म हुआ जिससे उन्नीसवीं शताब्दी का अंग्रेजी साहित्य भरा पड़ा है और जो एक ओर, सामाजिक बन्धनों के प्रति विद्रोह की भावना है और दूसरी ओर एक सतत अतृप्त अभिलाषा की अभिव्यक्ति है। अंग्रेजी साहित्य विशेषतः कविता और उपन्यास से यही विचारधारा भारत में फैली। इस विचारधारा के प्रभाव से, भारत में जिस साहित्य की रचना हुयी उसमें परिवार और जाति के बन्धनों से मुक्त वैयक्तिक तथा स्वाभाविक प्रेम और नारी-स्वातन्त्र्य को ही मुख्य विषय बनाया गया। इसप्रकार अंग्रेजी शिक्षा के प्रभाव से, भारतीय नारी ने अपने सामाजिक जीवन और उसके आधारों का पुनपरीक्षण किया और नयी व्यवस्था में मिलने वाली सुविधाओं के कारण संयुक्त परिवार के नारी-संसार को छोड़कर, उस संसार में पदार्पण किया जहाँ नारी और पुरुष दोनों थे और जहाँ परिवार में पति पत्नी के सम्बन्धों को प्राथमिकता दी गयी।

पाश्चात्य संघात के अन्तर्गत सामाजिक जीवन के नियमों के पुनपरीक्षण ने नर-नारी के सम्बन्धों को प्रभावित किया है और उससे संयुक्त परिवार की रचना में अन्तर आया है। सामाजिक जीवन के नियमों का पुनपरीक्षण, एक ओर स्वयं नारियों ने किया है और, दूसरी ओर सामाजिक नवजागति के प्रणेताओं ने। इन पुनपरीक्षणों और उनसे उत्पन्न होने वाले सुधारों का प्रारम्भ उस समय से होता है जब राजाराम मोहन राय ने सती प्रथा को रोकने का आन्दोलन किया था। तब से विधवा विवाह, विवाह विच्छेद, बाल विवाह निरोध, प्रेम विवाह, अन्तर्जातीय विवाह और देवदासी वृत्ति के निराकरण को एक ओर, वैधानिक आधार प्रदान करने का प्रयास किया गया है और, दूसरी ओर इन समस्याओं के प्रति सक्रिय तथा जागरूक जनमत बनाने का प्रयत्न किया गया है। अंग्रेजी शिक्षा के द्वारा फैलने वाली जागरूकता और नयी व्यवस्था से मिलने वाली वैयक्तिक स्वतन्त्रता के कारण, नारियों ने भी स्वातन्त्र्य संग्राम में कम ही भाग लिया जैसे कि पुरुषों ने। इन सभी प्रभावों के अन्तर्गत नारी की सामाजिक प्रतिष्ठा बदली तथा उस परम्परागत मान्यता का खण्डन हुआ जिसके अनुसार यह कहा जाता था कि कौमार्य अवस्था में, नारी की रक्षा पिता

की देखभाल और उनकी शिक्षा जीवन की एक मुख्य आवश्यकता हो गई जिससे, थारवाद की मातसत्तात्मक व्यवस्था के स्थान पर, पितृसत्तात्मक एकाकी परिवार की संरचना को प्रोत्साहन मिला। नयी परिस्थितियों ने नायरों में पितृसत्तात्मकता को प्रोत्साहित किया है। स्थानान्तरण (Migration) से पितृसत्तात्मकता की वृद्धि हुई है। आज यदि कोई नायर, नौकरी के कारण, किसी बड़े शहर में जाकर बसता है तो वहां वह अपनी स्त्री और बच्चों के साथ पितृवंशी एकाकी परिवार की स्थापना करता है और धीरे धीरे पति पत्नी दोनों अपने पतक थारवाड से दूर हो जाते हैं। आधुनिक समय में मातृसत्तात्मक परिवार इसलिये विभाजित होता है कि नायरों में पितृवंशी एकाकी परिवारों को स्थापित करने की भावना का अभ्युदय हुआ है और नयी परिस्थितियों ने इस भावना की व्यावहारिक सम्भावना को बढ़ा दिया है[1]।

जिस प्रकार हिन्दू परिवार तथा विवाह सम्बन्धी अधिनियमों ने व्यक्ति के अधिकारों की प्राथमिकता दी परिवार में व्यक्ति का जन्मजात अधिकार मानकर उसे विभाजन द्वारा अपने हिस्से को अलग करने की अनुमति दी कर्ता के अधिकारों पर रोक लगाई और नारी को अधिक अधिकार देकर उसके पत्नीत्व को अधिक सशक्त और स्थायी बनाया, उसी प्रकार, मद्रास और मालाबार में, नायर परिवार तथा विवाह सम्बन्धी अधिनियमों ने नायर-नारी के वैवाहिक अधिकारों को वैधिक मान्यता प्रदान की जिससे नारी का वैयक्तिक व्यक्तित्व उभरा और उसका पत्नीत्व अधिक वास्तविक और स्थायी हुआ कारनवान के अधिकारों को कम किया और थारवाद को सिद्धान्ततः अविभाज्य न मानकर उसे तावजियों में विभाजित होने के लिये प्रोत्साहित किया। तावजी के बच्चों को कारनवान की तावजी में उसी प्रकार उत्तराधिकारी माना गया जिस प्रकार पितृवंशी परिवार में किसी कर्ता के पिता की सम्पत्ति में उसके लड़कों और प्रपौत्रों का अधिकार रहता है। इसप्रकार नायर-परिवार में संयुक्त परिवार की उस भावना का उदय हो रहा है जो पितृवंशी परिवार में आज भी पायी जाती है। नम्बूद्री ब्राह्मणों की विवाह पद्धति में आने वाले परिवर्तनों से भी थारवाद में परिवर्तन आया है। पहले की भांति आज एक नम्बूद्री परिवार का बड़ा भाई ही नम्बूद्री लड़की से विवाह नहीं करता है। आज अन्य भाई भी नम्बूद्री लड़की से विवाह करते हैं और यदि वे नायर नारी से विवाह भी करते हैं तो उसे अपने साथ रखना पसन्द करते हैं। इस परिवर्तन से नायर-परिवार के मातृवंशी आधार में परिवर्तन आया है और उनमें पायी जाने वाली अभ्रातक बहुपतित्व की प्रथा भी समाप्त हो गयी है। हाँ, नायर विवाह और परिवार में मातृस्थानीयता (Matrilocality) की प्रथा में कोई विशेष परिवर्तन नहीं आया

---

1 कर्वे, इरावती किनशिप आरगनाइजेशन इन इण्डिया पृष्ठ 13

है[1] जिसके कारण निश्चयपूर्वक यह नहीं कहा जा सकता है कि नजदीक भविष्य में नगर परिवार वैसे ही पितृसत्तात्मक हो जायगा जैसे कि उत्तर भारत का परिवार है[2]।

वर्तमान परिस्थितियों ने संयुक्त परिवार में विशेषत पितृवंशी संयुक्त परिवार में, दो प्रकार के संघर्षों को जन्म दिया है जिनके कारण संयुक्त परिवार में विभाजन और विशृंखलन की अधिकता बढ़ गयी है। इन दो प्रकार के संघर्षों में एक का आधार आर्थिक (Economic) है और दूसरे का वैचारिक (Ideological)। शहरों में रहने वाले लोगों के लिये गांव में रहने वाले सम्बन्धियों की आर्थिक आवश्यकता को पूरा करना कठिन हो गया है और यदि उन्हें ऐसा करना पड़ता है तो उन्हें भारस्वरूप लगता है। लेकिन यह दशा अधिकतर उच्चवर्गी मध्यमवर्ग के लोगों में है। भारत के नगरों में कारखानों में काम करने वाले श्रमिकों का एक बड़ा भाग परिवार की सहायता करने या पारिवारिक कृषि के आर्थिक पक्ष को सम्भालने के लिये ही, नगर में नौकरी करने आता है। अनेक शोध कार्यों से यह पता चला है कि आर्थिक संघर्ष ने अभी तक वह गम्भीर रूप नहीं लिया है जितना कि साधारणतः समझा जाता है। कपाडिया के शोधकार्य में सतालीस प्रतिशत ऐसे लोग मिले जो अपने संयुक्त परिवार का आर्थिक भार वहन करते हैं और उस सतालीस प्रतिशत में, दो तिहाई लोग ऐसे हैं जो इस उत्तरदायित्व के प्रति शिकायत नहीं करते हैं[3]। हां, यह अवश्य है कि अपनी कमाई हुयी सम्पत्ति को तरुण अपनी इच्छानुसार खर्च करना पसन्द करता है। वैचारिक संघर्ष की समस्या, समयानुसार अवश्य गम्भीर हो गयी है। वैयक्तिक स्वातन्त्र्य विचार, दृढ़तर होता हुआ एकाकी परिवार का आर्थिक आधार तथा पश्चिमी शिक्षा और उससे उत्पन्न जीवन आदर्शों ने इस संघर्ष को बढ़ावा दिया है।

नयी परिस्थितियों में, तरुणाई और वायक्य का संघर्ष शुरू हुआ और नयी परिस्थितियों में निहित व्यक्तिवादी प्रवाहों के कारण, तरुणाई को प्राथमिकता मिली। नयी पीढ़ी के लोगों ने पुरानी पीढ़ी के लोगों से उदारवादी व्यवहार की मांग की। शिक्षा और आर्थिक स्वातन्त्र्य मिलने के कारण नारी ने उदारवादी व्यवहार की अधिक मांग की। पुरुष का दृष्टिकोण पहले की अपेक्षा अधिक उदारवादी हो गया

1 कपाडिया, के० एम० मरिज एण्ड फेमिली इन इण्डिया पृष्ठ 273–275

2 जहां तक कि पारिवारिक सत्ता के प्रयोग और उपयोग का सम्बन्ध है, कार्नवान की अब भी वही प्रतिष्ठा है। पिता ने कारनवान का स्थान न तो सिद्धान्ततः लिया है और न व्यवहार में—कपाडिया वही पृष्ठ 279

3 वही पृष्ठ 270

है किन्तु नारी का नहीं हो पाया जिसके कारण सास बहू के रूप म नारियो म वैचारिक सघष अधिक पाया जाता है। कपाडिया द्वारा उदधृत के० टी० मर्चेण्ट के अध्ययन से यह विदित होता है कि पुरुषो की अपेक्षा नारियाँ सयुक्त परिवार प्रथा के अधिक विराध मे हैं।

विघटनवादी मत की समीक्षा

सयुक्त परिवार मे होने वाले इन अनेक परिवर्तनो के कारण, वतमान भारत के शिक्षित वग म साधारणत यह माना जाता है कि अग्रजी राज तथा योरोपीय प्रभाव के सघात से, भारत म, सयुक्त परिवार का विघटन हो गया है और शीघ्र ही वह भारतीय सामाजिक सगठन से लुप्त हो जायगा। इसी वग क अधिकतर लोगा की यह भी मा यता है कि सयुक्त परिवार प्रथा आयु को प्राथमिकता देने तथा व्यक्ति को वयक्तिक विचार तथा व्यवहार स्वात न्य न देने के कारण, अप्रजात त्रीय है। अत, उसकी समाप्ति होनी ही चाहिये। पा निकर के अनुसार, नारियो द्वारा सामाजिक जीवन के सिद्धा ता का पुनपरीक्षण वतमान हि दू समाज के लिये एक महानतम चुनौती है जिसका परिणाम है सयुक्त परिवार, जाति और ग्राम जसी समष्टिवादी सस्थाओ का स्वाभाविक विघटन। सयुक्त परिवार का विघटन कुछ के अनुसार, वतमान भारत के सास्कृतिक इतिहास मे, पश्चिम के प्रभाव से उत्प न गत्यात्मक परिस्थितियो की स्वाभाविक प्रारम्भि है और किसी के अनुसार भारतीय सयुक्त परिवार एक चक्रिक सगठन विघटन प्रक्रिया म होता हुआ आज पुन विघटन की ओर उन्मुख हो रहा है[1]।

उन्नीस सौ इक्यावन के जनगणना विवरण म प्रस्तुत आकडा के आधार पर यह निष्कष निकाला गया है कि भारत मे छोट आकार की गहस्थियों (Households) क अधिकतम अनुपात का पाया जाना इस बात का प्रमाण है कि आज भारतीय परिवार उस रूप म सयुक्त परिवार नही रहा जिस रूप मे वह परम्परानुसार पाया जाता रहा है और आज, सयुक्त परिवार से अलग होकर एक अलग गृहस्थी बसाने की प्रवत्ति अधिक है। जनगणना विवरण के इस निष्कष को समझने के लिये उसम प्रस्तुत आकडा की व्याख्या आवश्यक है। जनगणना मे गह (House) और गहस्थी (Household) को अलग अलग इकाइया माना गया है। गह म तात्पय है उस भवन स जिसम लोग रहते हैं और यदि एक भवन कई भागो म बाट दिया गया है और प्रत्येक भाग का एक अलग प्रवश द्वार है तो एक भवन को कई स्वतन्त्र गहो मे बटा हुआ मान लिया गया है। गहस्थी म तात्पय है उस मानव-समूह से जिसके सदस्य एक साथ रहते हैं और एक ही रसोई म भोजन करते हैं। इसप्रकार, जनगणना क लिय गह और गहस्थी की अलग अलग परिभाषायें की गई हैं। इस

1 हरिदत्त वेदालकार हिन्दू-परिवार मीमांसा पष्ठ 35

दृष्टिकोण से, एक भवन मे, कई गृह हो सकते है और एक गृह मे कई गृहस्थिया क्या कि गृहस्थी का आधार रसोई (चूल्हा) और सम्मिलित वासस्थान है न कि पारिवारिक सम्बन्ध।

सदस्य-सख्या (आकार) के आधार पर गृहस्थियो को चार श्रेणियो मे बाटा गया है—लघु (Small जिनकी सदस्य सख्या तीन तक है) मध्यम (Medium जिनकी सख्या चार मे लेकर छ तक है) वृहत् (Large जिनकी सदस्य-सख्या सात से लेकर नौ तक है) और अति वृहत (Very Large जिनकी सख्या नौ से अधिक है)[1]। जनगणना के विवरण मे दिए आकडो के अनुसार, एक सामान्य भारतीय ग्राम म तंतीस प्रतिशत और शहर म अडतीस प्रतिशत गृहस्थिया लघु आकार की है जो इस बात का प्रमाण है कि भारतीय परिवार की सयुक्तता समाप्त हो रही है। किन्तु उसी जनगणना म ही दी हुयी एक अन्य सारिणी[2] से इस निष्कर्ष का खण्डन होना

1 सम्पूर्ण सारिणी इस प्रकार है —

सारिणी 6

	गृहस्थियो की सख्या	
	सामान्य ग्राम में	सामान्य शहर में
लघु (Small)	33	38
मध्यम (Medium)	44	41
वृहत (Large)	17	16
अतिवृहत (Very Large)	6	5
	100	100

2 यह सारिणी इस प्रकार है —

सारिणी 7

	गृहस्थी में पाए जाने वाले सम्बन्ध	सौ गृहस्थियो की सख्या
अ	गृहस्थियो के प्रमुख — पुरुष (विवाहित)	71
	पुरुष (विधुर)	19
	नारी	10
	गृहस्थियों के प्रमुखों की पत्नियां	71
		171
ब	गृहस्थियों के प्रमुखो के पुत्र	108
	गृहस्थियो के प्रमुखो की पुत्रियां	81
		189
स	गृहस्थियो के प्रमुखो के पुरुष सम्बन्धी (पुत्रो क अलावा)	48
	गृहस्थियो के प्रमुखो के नारी सम्बन्धी (पुत्रियों क अलावा)	72
		120

है। दूसरी सारिणी म सौ गहस्थियो क कुल सदस्या के पारिवारिक सम्बन्धो का वर्गीकरण किया गया है। सौ गहस्थियो की कुल सदस्य सख्या है चार सौ सत्तासी जिसम सात एस सदस्य है जिनका गहस्थी के प्रमुख से सम्बन्ध अज्ञात है। शष चार सौ अस्सी म एक सौ इकहत्तर गहस्थियो क प्रमुख (Heads) और उनकी पत्निया है, एक सौ सदस्य नवासी प्रमुखो के पुत्र और पुत्रिया है और एक सौ बीस एस पुरुष तथा स्त्री है जो प्रमुख के सम्ब धी ता है कि तु न तो वे प्रमुख की पुत्रिया है और न उनके पुत्र। इस सारिणी से यह स्पष्ट होता है कि सौ गहस्थिया म लगभग एक चौथाई ऐसे सदस्य है जो गहस्थी क प्रमुख पर निभर है कि तु वे उसक पुत्र या पुत्रिया नही है। य एक चौथाई सदस्य निश्चय ही वे सम्ब धी है जो सयुक्त परिवार क भोग म आत है। इसप्रकार, जनगणना विवरण (1951) म सयुक्त परिवार के वतमान स्वरूप के विषय म निकाले गये निष्कर्षो म विरोध है। जनगणना विवरण (1951) म जहा इस निष्कष का उल्लेख किया गया है कि भारत मे सयुक्त परिवार समाप्त हो रहा है वही इस बात का भी उल्लेख किया गया है कि दुर्भाग्यवश पिछली जनगणनाओ म ऐसी सूचना नही है इसलिये यह नही कहा जा सकता है कि लघु गृहस्थिया का अनुपात बढा है या नही। भारत के विभिन्न भागो म लघु आकार की गहस्थिया किस अनुपात स बढी हैं यह भी निर्धारित नही किया जा सकता है[1]। इससे यह स्पष्ट है कि स्वय जनगणना विवरण का लखक जनगणना म निकाल गए निष्कष क विषय म निश्चयपूवक नही कह सकता है। कवल गहस्थिया के आकार के आधार पर यह नही निर्धारित किया जा सकता ह कि भारत म परिवार की सयुक्तता समाप्त हो रही है या नही।

उन्नीस सौ इक्यावन के जनगणना विवरण म जो आकडे दिए गए हैं उनम कई कमिया हैं। उनकी पहली कमी यह है कि वे परिवार की गलत परिभाषा पर आधारित हैं। परिवार केवल सम्मिलित वासस्थान और रसोई पर ही आधारित नही है—परिवार का मुख्य आधार है परिवार मे पाए जाने वाले सम्बन्ध और उनमे निहित विभिन्न व्यक्तियो के अधिकार और कत व्य। जनगणना म कवल आकार पर ही ध्यान दिया गया है और आकार परिवार का अनेक विशेषताओ म स केवल एक विशेषता है जिसके आधार पर ही सयुक्त परिवार का स्वरूप नही निर्धारित किया जा सकता है। जिस आधार पर जनगणना म गहस्थी का इकाई माना गया है उस आधार पर व मजदूर भी एक गहस्थी म गिने जायेंगे जो एक ही

द गहस्थियों क प्रमुखों के गैर सम्ब धी	पुरुष	4
	नारी	3
		7
	योग	487

1 जनगणना विवरण, 1951 वाल्यूम I, भाग I A और I B पृष्ठ 50

या अन्य अन्य स्थानों से आये हैं किन्तु एक ही वासस्थान में रहते हैं और एक ही चौके में खाना खाते हैं यद्यपि वे एक परिवार के नहीं हैं। दूसरे, जैसा कि पहले से होता आया है, परिवार विभाजन के कारण कई चौकों के बनने का अर्थ यह नहीं है कि संयुक्त परिवार वस्तुतः टूट गया है। चूल्हे बँट जाने के बाद भी परिवार की संयुक्तता बनी रहती है क्योंकि संयुक्त परिवार वस्तुतः एक व्यावहारिक सामाजिक प्रथम है। जैसा कि पहले कहा जा चुका है जन्म विवाह, मृत्यु पर्व और त्यौहार के अवसरों पर, परिवार की संयुक्तता तब उभर आती है जब विभाजित परिवार के सदस्य एकसाथ एकत्र होते हैं और अपनी पितवंशी समरूपता को प्रदर्शित करते हैं। वास्तव में जैसा कि पहले कहा है आज भी जाति अन्तर्वैवाहिकी परिवार की संयुक्तता को रोके हुए है क्योंकि जाति अन्तर्वैवाहिकी के कारण, जाति एक विस्तृत सम्बन्धिवर्ग (Extended Kin Group) हो जाता है जिसमें विभिन्न मातवंशी या पितवंशी पारिवारिक समूह को स्वतः महत्ता मिल जाती है। यही कारण है कि जाति व्यवस्था में उस व्यक्ति का विवाह एक समस्या है जो एकसाथ एक जाति और एक संयुक्त परिवार का विशिष्ट सदस्य न हो। जिस व्यक्ति (पुरुष अथवा स्त्री) के पारिवारिक सम्बन्धियों के विस्तार का ठीक ठीक पता न हो वह सामाजिक मर्यादाओं के अनुसार अवरणीय है। तीसरे, इन आँकड़ों से यह पता नहीं चलता है और न जनगणना में इसके जानने का प्रयत्न ही किया गया है कि किस आकार वाली गृहस्थी में भारतीय जनसंख्या का क्या प्रतिशत पाया जाता है। बहुत सम्भव कि यदि आँकड़े इकट्ठे किये जाय तो उनसे यह पता चले कि भारतीय जनसंख्या का अधिकतम अनुपात बड़े आकार वाली गृहस्थियों में रहता हो। चौथे इन आँकड़ों से जो वस्तु स्थिति निकलती है, वह वास्तविक नहीं है। उदाहरणार्थ, जनगणना के आँकड़ों के अनुसार, भारत के एक सामान्य गाँव में प्रत्येक तीसरे परिवार की सदस्य-संख्या तीन से अधिक नहीं है, अर्थात् एक तिहाई परिवारों की सदस्य संख्या केवल एक से लेकर तीन तक है। यह स्थिति असम्भव सी लगती है और, इसकारण, इन आँकड़ों को प्रामाणिक नहीं माना जा सकता है।

ये आँकड़े, वास्तव में दोषपूर्ण जनगणना का परिणाम हैं। सम्मिलित चूल्हा और वासस्थान के आधार पर, जनगणना में जिस समूह को गृहस्थी मानकर उसको परिवार का प्रतीक मान लिया गया है वह समूह वस्तुतः परिवार का प्रतीक नहीं है। समाजशास्त्रीय दृष्टिकोण से परिवार न तो केवल आकार में समाया है न सम्मिलित वासस्थान में और न सम्मिलित सम्पत्ति के स्वामित्व में। इन सभी विशेषताओं के साथ-साथ, संयुक्त परिवार मूलतः समाया है भारत के परम्परागत पारिवारिक सम्बन्ध-जाल, परिवार के सदस्यों की परम्परागत पारस्परिक सामाजिक भूमिकाओं (Social Roles) उनके पारस्परिक अधिकारों (Rights) और दायित्वों (Obligations) में तथा उन सबसे मनोवृत्तियों में, जिनके कारण, एक मातवंश

अथवा पितवश के सदस्य, अपने सम्ब धो मे सामीप्य का अनुभव करते हुए, सुगठित सामाजिक इकाई के रूप म रहते है।

हाल मे किए गए समाजशास्त्रियो के अध्ययनो से यह स्पष्ट है कि आज भी सयुक्त परिवार भारतीय सामाजिक सगठन का अग है और आज भी भारतीयो के व्यवहार तथा उनकी मनोवत्तियो मे सयुक्त परिवार सरचना का प्रभाव बना हुआ है। के० टी० मर्चेण्ट के तथा अपने अध्ययनो का हवाला देते हुए कपाडिया[1] ने लिखा है कि उच्च शिक्षा से सयुक्त परिवार का विघटन नहीं हुआ है। सूरत जिले के नवसारी शहर और उसके आसपास पन्द्रह गावो मे पाय जाने वाले परिवारो की सरचना का विश्लेषण करत हुए कपाडिया ने लिखा है कि शहर और गाव म सयुक्त तथा एकाकी परिवारो की सख्या लगभग बराबर है किन्तु यदि पारिवारिक जीवन क ढाचा (Pattern) के दृष्टिकोण स जाच की जाय, तो पता चलता है कि अध्ययन के लिए जिन लोगो म सम्पक स्थापित किया गया था, उनका अधिकतर प्रतिशत सयुक्त परिवार म रहता है। कपाडिया क निष्कष के अनुसार, आज एकाकी परिवारों की सख्या बढ गई है, परिवार का आकार पहले की अपेक्षा कम हा गया है और सम्मिलित वासस्थान, सम्मिलित रसोई तथा सम्मिलित सम्पत्ति वाला तीन

---

1 के० टी० मर्चेन्ट ने 1930 32 में परिवार सम्ब धी मनोवत्तिया में आने वाले परिवतनों का अध्ययन किया था। उनके अनुसार अध्ययन के लिए, जिन चार सौ छियालीस स्नातकों (Graduates) से सम्पक स्थापित किया गया था उनमें से दो सौ सतत्तर सयुक्त परिवारों में रहते थ और एक सौ पतीस एकाकी परिवारों में। सयुक्त परिवारो में रहने वालो में से, एक सौ उन्नीस इसके पक्ष में थे और एक सौ एक उसके विपक्ष में। एकाकी परिवारो में रहने वाले लोगों में ततालीस सयुक्त परिवार के पक्ष म थे और तेईस विपक्ष में। एक सौ तिरेपन गर स्नातकों (Non Graduates) में उनसठ सयुक्त परिवार में रहते थ और बहत्तर एकाकी परिवारो में और सयुक्त परिवार निवासियों में सत्ताइस इसके पक्ष में थे, बीस विपक्ष में और दस अनिश्चित। अध्ययन क लिए जिन व्यक्तियों से सम्पक स्थापित किया गया था, उनका छप्पन प्रतिशत सयुक्त परिवार में रहता है और कुल का 43 2 प्रतिशत सयुक्त परिवार में रहने के पक्ष में था। गर स्नातको की अपेक्षा स्नातकों (Graduates) में सयुक्त परिवार में रहने वालों की सख्या अधिक थी। कपाडिया के एक अध्ययन के अनुसार पाच सौ तेरह स्नातकों में 57 3 प्रतिशत सयुक्त परिवार में रहत थे और सयुक्त परिवार निवासियों में 86 प्रतिशत ने सयुक्त परिवार को वाछित माना और 83 3 प्रतिशत ने उसे बनाय रखने की इच्छा प्रगट की—कपाडिया वही पष्ठ 2,9 60

पीढ़ी का संयुक्त परिवार बहुतायत से नहीं मिलता है फिर भी, एकवंशी व्यक्तियों और उनके परिवारों में भावनात्मक संयुक्तता बना हुयी है। जहां संयुक्त परिवार के विभाजन से सम्पत्ति बट जाता है और इसप्रकार अस्तित्व में आये हुए एकाकी परिवारों के सदस्य अलग अलग खाते कमाते और रहते हैं वहां भी परिवार के सदस्यों में पारस्परिक सहयोग अधिकार और दायित्वों (Obligations) के द्वारा संयुक्तता बनी रहती है। जन्म विवाह मृत्यु श्राद्ध पर्व और त्योहार ऐसे अवसर है जब एक ही वंश में उत्पन्न परिवार के सदस्य परस्पर सहयोग करते हैं। जहां, एक परिवार के सदस्य कई सौ परिवारों में बटकर कई गावों में बट जाते हैं वहां भी किसी एक परिवार में सबसे ज्यादा उम्र की मृत्यु के समय सभी परिवारों के लोग एकत्र होते हैं और उसकी के लिए प्रत्येक परिवार का एक व्यक्ति अपना सिर मुड़वाता है। इसप्रकार संयुक्त परिवार जाति को आधार प्रदान करता है और जाति संयुक्त परिवार को।

श्राइ० पी० देसाई के अनुसार, जनगणना के आंकड़ों से निकलने वाले निष्कर्ष और वास्तविकता में अंतर है और उसका प्रधान कारण है जनगणना लेखकों की संयुक्त परिवार विषयक गलत धारणा। व्यक्ति का परिवार की सम्पत्ति में और परिवार में अलग होने का अधिकार अंग्रेजी राज की स्थापना के बहुत पहले से प्राप्त है। फिर भी संयुक्त परिवार टूटा नहीं बल्कि निरंतर बनता और बिगड़ता रहा। आज भी भारतीय सामाजिक संगठन में वंश कुल और कुटुम्ब जैसी एकवंशी सम्बन्धि इकाइयां (Unilateral Kin Groups) है जिन पर व्यक्ति निर्भर है और कठिनाइयों में उन्ही का आसरा लेता है। भारत में सामाजिक सुरक्षा का कार्यक्रम अब भी उस अवस्था में नहीं पहुचा है कि व्यक्ति संयुक्त परिवार से पूर्णतया अलग हो जाय। मदलबाम के अनुसार आज से नहीं बल्कि अत्यन्त प्राचीन काल से संयुक्त परिवार विभाजित होता रहा है लेकिन फिर भी, उसकी संयुक्तता बनी रही है।

समाजशास्त्रीय दृष्टिकोण से यह मान्यता निर्मूल सिद्ध होती है कि जिस प्रकार वर्तमान यूरोप में औद्योगीकरण शहरीकरण और स्थानान्तरण से उत्पन्न शक्तियों ने एकाकी परिवारों को जन्म दिया है और परिवार पर व्यक्ति की निर्भरता का ह्रास कर दिया है वैसे ही भारत में यह परिवर्तनकारी शक्तियां संयुक्त परिवार का विघटन कर रही हैं। समान परिवर्तनकारी शक्तियां दो विभिन्न समाजों में समान परिवर्तन को ही जन्म नहीं देती है। योरोप की प्रौद्योगिकी और औद्योगीकरण का अपना करके भी जापान यूरोप की प्रतिछवि नहीं बना। सामाजिक परिवर्तन परिवर्तनकारी शक्तियों के अलावा उन गति पर अधिक निर्भर करता है जिसके साथ परिवर्तनकारी शक्तियों का प्रभाव किसी समय पर पड़ता है। यदि परिवर्तनकारी शक्तियां तेजी से आती हैं तो सहसा परिवर्तन होते हैं। यदि परिवर्तनकारी शक्तियां धीरे धीरे आती हैं तो सहसा परिवर्तन के स्थान पर धीरे धीरे रूपान्तरण

जाता है। भारत में संयुक्त परिवार का विघटन न होकर रूपान्तरण हुआ है।

भारत में औद्योगीकरण, नगरीकरण और स्थानान्तरण जैसी परिवर्तनकारी शक्तियों का प्रवेश धीरे धीरे हुआ है। इसी कारण, भारत की सामाजिक संस्थायें, एक ओर रूपान्तरित हुयी हैं और दूसरी ओर ये परिवर्तनकारी शक्तियां और उनसे उत्पन्न होने वाले सामाजिक परिवर्तन भारत की संस्थाओं से प्रभावित हुआ है। जैसाकि योरोपीय प्रभाव से आर्थिक संस्थाओं में होने वाले परिवर्तनों का वर्णन करते समय दिखाया गया है अंग्रेजी राज में भारत का औद्योगीकरण हुआ तो है किन्तु धीरे धीरे। इसीकारण भारत में नगरीकरण की मात्रा तो कम रही है किन्तु नगरों का विकास सहसा हुआ है जिससे ग्रामीण जीवन की अनेक विशेषतायें नगरी संगठन में समा गई। कृषि आर्थिक व्यवस्था, जाति प्रथा, बाल विवाह प्रथा शिक्षा की कमी भाषा तथा संस्कृति की भिन्नता और उत्तराधिकार के नियमों के कारण भारत में स्थानान्तरण और आन्तरिक चरिष्णुता (Internal Mobility) अपेक्षाकृत कम रही है। फलतः भारत के कारखानों में काम करने वाले सैकड़ों हजारों मजदूर अपने गांव और परिवार में बंधे रहे हैं। परिवार के प्रत्येक व्यक्ति का परिवार की खेती और सम्पत्ति में अधिकार रहता है। जाति अन्तर्विवाहिकी के कारण विवाह के लिए प्रत्येक व्यक्ति को अपने गांव और परिवार में लौटकर आना पड़ता है। भारत में गांव से नगर की ओर होने वाला स्थानान्तरण योरोप से भिन्न रहा है। ऐसा देखा गया है कि बहुधा परिवार पर हो जाने वाले कर्ज का चुकाने के लिए या पारिवारिक कृषि की पूंजी सम्बन्धी समस्या का हल करने के लिए परिवार का एक व्यक्ति नगर जाकर नौकरी या व्यवसाय करता है। ऐसा भी देखा गया है कि यदि एक परिवार में तीन भाई हैं तो वे बारी बारी से नगर जाकर काम करते हैं और घर पर रहने वाले व्यक्ति कृषि का कार्य किया करते हैं। भारत में, व्यक्ति का नगरों की ओर स्थानान्तरण तो हुआ है किन्तु व्यक्ति के साथ साथ उसके गांव और जाति का भी नगर में स्थानान्तरण हुआ है। यही कारण है कि प्रत्येक नगर में एक क्षेत्र विशेष में आए हुए व्यक्ति बहुधा एक जाति विशेष के होते हैं और वे एक ही पेशे में लगे रहते हैं। देहरादून का एक चमार जाति (रैदास) के सदस्य बिजनौर के आस पास से आए हैं और दूसरी जाति (जाटव) के सदस्य ग्वालियर के आस पास से। उनके साथ साथ उनकी जाति पंचायत भी आई है और विवाह तथा उत्तराधिकार नियमों के साथ-साथ संयुक्त परिवार के आधार भी।

५

भारत में मुस्लिम परिवार

भारतीय मुस्लिम-परिवार के संगठन में एक ओर से देशज और दूसरी ओर से उन इस्लामी सामाजिक तत्वों का संगठन हुआ है जिनका कुरान और परम्परा

(Tradition) के आधार पर निरूपण हुआ है। किन्तु, जैसा कि डिमाम्बीस ने कहा है, यह समझना भूल होगी कि मुस्लिम परिवार के सामाजिक तत्वों का निर्माण और निरूपण मुहम्मद ने ही किया है। मुस्लिम परिवार की सामाजिक रूपरेखायें वस्तुत, उस प्राचीन अरब परिवार पर आधारित हैं जिसे हजरत मुहम्मद ने एक उच्चतर मजहबी ढाँचे में लाने का प्रयास किया था। इस्लाम के अभ्युदय के पहले का अरबी सामाजिक संगठन गणजातियों (Tribes) में विभक्त था। ये गणजातियाँ आपस में लड़ती रहती थीं। गणजाति (Tribe) के सामाजिक जीवन का केन्द्र था परिवार। निरंतर युद्धरत सामाजिक जीवन की आवश्यकता थी परिवार में पुरुषों की अधिकता क्योंकि पुरुषों की अधिकता से ही सुरक्षा और अतिजीवित (Survival) सम्भव था। इसी आवश्यकता के कारण, एक ओर प्राचीन अरब परिवार में कन्याओं को जीवित गाड़ देने की प्रथा का अभ्युदय हुआ था और दूसरी ओर परिवार की संख्या बढ़ाने के लिए बहुपत्नीत्व की प्रथा का। इस्लाम के पहले अरब में मातसत्तात्मकता और पितसत्तात्मकता की प्रणालियाँ पायी जाती थीं यद्यपि मुहम्मद के समय, पितसत्तात्मकता का प्रभाव प्रधान होने लगा था। हजरत मुहम्मद ने कन्याओं के जिन्दा गाड़ने की प्रथा की भर्त्सना की, बहुपत्नीत्व को चार पत्नियों तक सीमित करा बहुपत्नीत्व की प्रथा को संकुचित करके एक विवाह के आदर्श का प्रतिपादन किया और पारिवारिक संगठन को पितसत्तात्मक बनाया। मातसत्तात्मकता और मातवंशीयता (Matriliny) के कारण अरबों में नायरों की भाँति, भ्रातक बहुपत्नीत्व पाया जाता था जो इस्लाम के प्रभावों के अन्तर्गत समाप्त हुआ। मुस्लिम परिवार विशेषत अरबी मुस्लिम परिवार में मातुल (मामा खाल) को जो महत्वपूर्ण स्थान मिला हुआ है वह मुस्लिम परिवार के प्रारम्भिक मातसत्तात्मक आधार का ही प्रमाण है[1]।

इस्लामी प्रभाव में प्राचीन अरब के बन्धु परिवार के आधार पर मुस्लिम परिवार के जिस संगठन का अभ्युदय हुआ है वह पितसत्तात्मक (Patriarchal) पितवंशी (Patrilineal) और पितस्थानीय (Patrilocal) परिवार है यद्यपि इस्लाम के प्रसार में देश देश की स्थानीय परिस्थितियों ने उसे प्रभावित किया है। परिवार का कर्ता पुरुष होता है। परिवार के कर्ता का परिवार उसकी सम्पत्ति, पत्नियाँ और उनकी सन्तानों तथा परिवार के गुलामों (Slaves) पर पूर्ण अधिकार रहता है। यदि यह सिद्ध हो जाय कि कोई सन्तान कर्ता की सन्तान नहीं है तो उस पर उस व्यक्ति का अधिकार होता है जो उस सन्तान का वास्तविक पिता होता है। इस्लाम के सिद्धान्त के अनुसार, गुलाम का भी अपने कर्ता की सम्पत्ति में हिस्सा

1 गाडीफ़राय, डिमाम्बींस मुस्लिम इन्स्टीट्यून्स पृष्ठ 127। गुस्तेरो, ए० एम० ए० आउटलाइंस आफ इस्लामिक कल्चर पृष्ठ 510

मिलता है और यदि कोई स्वतन्त्र गुलाम लावारिस मर जाय तो उसकी सम्पत्ति को उसके कर्ता को मिलने का विधान है। गुलामो के साथ साथ, परिवार म रखेली पत्नियो (Concubines) का भी स्थान है। रखेली पत्नी की सन्तान का कर्ता की सम्पत्ति म उतना ही उत्तराधिकार है जितना कि ब्याही स्त्री या स्त्रियो की सन्तान अथवा सन्तानो का। हजरत मुहम्मद के एक आदेशानुसार ' सन्तान पर उसके मा बाप का अधिकार है। तुम्हारा उन पर अधिकार है और उनका तुम पर। उन्हे तुम्हारे प्रति वफादार रहना चाहिए और तुम्हे उनके साथ दयापूर्ण प्रेम का व्यवहार करना चाहिए'[1]। कर्ता के लिए सभी सन्तानें समान है। पुरुष कर्ता, इस्लाम की मान्यताओ के अनुसार, परिवार का पोषक है। अत, उसके उत्तरदायित्व के साथ साथ, उसके अधिकार भी, औरो की अपेक्षा अधिक है। किन्तु साथ ही साथ नारी का भी परिवार सगठन म प्रमुख स्थान मिला हुआ है[2]। मुस्लिम परिवार की सबसे बडी विशेषता है स्त्री को मिलने वाला द्विपक्षीय उत्तराधिकार और वयक्तिक सम्पत्ति का अधिकार जो कपाडिया के अनुसार, अरबी नारी के मातसत्तायी विशेषाधिकारो का, इस्लाम की पितसत्तात्मक परिवार सरचना म, ऊर्ध्वगामी विकास है[3]।

इस्लाम म प्रतिपादित उत्तराधिकार के नियमो के आधार पर यह कहा जा सकता है कि *मुस्लिम परिवार का केन्द्र कर्ता, उसकी स्त्रिया (ब्याही और रखली) और उनकी सन्तानें है*[4] यद्यपि साथ ही-साथ गुलामो तथा सन्तान के अतिरिक्त अन्य वशजो (Descendants) जीवित पूर्वजो (Ascendants) और पितवशी सम्बन्धियो (Collaterals) का उत्तराधिकार देकर परिवार के विस्तत रूप को भी स्वीकार किया गया है। इस विस्तार का आधार मुख्यत, पितवश और पितसत्ता रमरता है। इसका प्रमाण है पिता की सम्पत्ति म बहिन भाइयो को मिलने वाला उत्तराधिकार। मुस्लिम परिवार की सरचना म निहित पितसत्तात्मकता का पता इस बात म चलता है कि, एक ओर, पिता की सम्पति म भाइ बहिनो को उत्तराधिकार मिला हुआ है किन्तु दूसरी ओर, बहिनो को भाइयो के हिस्से का आधा भाग मिलता

---

1 गुस्तेरी, ए० एम० ए० वही पृष्ठ 509

2 इस्लाम के विद्यार्थियो की यह मान्यता है कि इस्लामी विधि (Law) और परम्परा (Tradition) से पति को पत्नी और सन्तान पर निरपेक्ष (Absolute) अधिकार मिलता है और पति का स्तर पत्नी की अपेक्षा उच्चतर (Suprior) है— डिमाम्बींस वही पृष्ठ 132

3 कपाडिया, के० एम० वही अध्याय 9

4 गाडीफ्रायब डिमाम्बींस के अनुसार असली सन्तान वही है जो सोहागरात (दुल्ह Consumation of Marriage) के छ महीने बाद या उसके विच्छेद (Dissolution) के चार साल तक उत्पन्न हो वही पृष्ठ 136

है। कर्ता की सम्पत्ति में उसके पुत्र अथवा पुत्रों का प्रथम उत्तराधिकार है और उसकी लड़की अथवा लड़कियों को पुत्र अथवा पुत्रों के हिस्से का आधा भाग मिलता है। पुत्रों की संख्या जितनी ही अधिक होती है लड़की का भाग उतना ही कम हो जाता है। यदि कर्ता के एक ही पुत्र हो तो लड़की को कर्ता की सम्पत्ति का एक तिहाई भाग मिलता है और यदि दो लड़के हो तो पाचवा भाग। लड़कों के हिस्से में आने वाला भाग कर्ता की लड़कियों में उनकी संख्यानुसार बराबर बट जाता है।

डिमाम्बीस के अनुसार इस्लामी उत्तराधिकार विधि (Law of Inheritance) कुरान द्वारा प्रतिपादित हुयी है और कुरान में प्राचीन अरब की उत्तराधिकार विधि को अपना लिया गया है। अन्तर इतना है कि प्राचीन अरब में पितवंशी उत्तराधिकार को प्राथमिकता मिलती थी जबकि कुरान में नारी का भी उत्तराधिकार दिया गया। फिर भी, इस्लामी विधि (Muslim Law) में उत्तराधिकार की प्राथमिकता पितवंश (Paternal Line) में ही है। पितवंश में पुरुष (असब) और लड़कियां (असबान) आते हैं। इस्लामी विधि के अनुसार एक ओर स्वाभाविक उत्तराधिकारी आते हैं और दूसरी ओर विशेष उत्तराधिकारी (Privileged Inheritors) जिन्हें कर्ता की सम्पत्ति में से एक निश्चित (Fixed) हिस्सा मिलता है। विशेष उत्तराधिकारियों में लड़कियां, पुत्र अथवा पुत्रों की लड़कियां (प्रपौत्रियां) माता पिता बाबा (Grand Father) दादी (Grand Mother) बहिन या चचेरी बहिनें (Sisters German) मातृत्व बहिन (पिता की ओर से) बहिन भाई (माता की ओर से) विधुर (Widower) और विधवा (Widow) आते हैं। इसके अतिरिक्त पितामह (Grand Father) और अन्य जीवित पूर्वज पितवंशी बन्धु बान्धव (Collaterals of Any Degree) भी उत्तराधिकारियों में आते हैं। यदि कोई व्यक्ति किसी का कभी गुलाम रहा हो किन्तु बाद में स्वतन्त्र हो गया हो और यदि उसके कोई उत्तराधिकारी न हो तो उसकी सम्पत्ति उसके मालिक को मिलती है। यदि किसी व्यक्ति के कोई उत्तराधिकारी न हो तो उसकी सम्पत्ति राज्य कोष में चली जाती है[1]। यदि कोई व्यक्ति चाहे तो वह अपनी सारी सम्पत्ति पुण्यकार्य के लिए वक्फ या दान कर सकता है।

इसप्रकार मुस्लिम-परिवार में एक ओर कर्ता को निरपेक्ष अधिकार मिले हुए हैं और, दूसरी ओर, उसकी सम्पत्ति पर उसकी मृत्यु के बाद एक विस्तृत सम्बन्धियों का उत्तराधिकार मान लिया गया है। ऐसी दशा में परिवार की संरचना में संयुक्तता का वह आधार नहीं रह जाता है जो परम्परागत हिन्दू परिवार में है। भारत में मुस्लिम विधि प्रणाली को ही लागू किया गया है। भारत के विभिन्न स्थानों की रिवाज परम्पराओं ने और अपनी राज के संघात ने मुस्लिम

1 गाडोम्बाय, डिमाम्बीस वही अध्याय 9

परिवार के संगठन और संरचना को किस प्रकार प्रभावित किया है इस विषय में निश्चितपूर्वक कह सकना कठिन है क्योंकि, भारत में इस दृष्टिकोण से मुस्लिम परिवार का समाजशास्त्रीय अध्ययन नहीं किया गया है। तुर्की जैसे देशों में योरोपीय प्रभाव पड़ा है और योरोपीय ढंग के परिवर्तन भी आए हैं। तुर्की में होने वाले परिवर्तनों का वर्णन मिलता अवश्य है किन्तु उससे प्रतिष्ठित मुस्लिम परिवार (Classical Muslim Family) में होने वाले परिवर्तनों का पता चलता है न कि भारत में होने वाले परिवर्तनों का।

६

जाति

जाति विवाह और परिवार की भांति योरोपीय संघात से उत्पन्न परिवर्तनकारी शक्तियों के प्रभाव में आई है किन्तु जिस प्रकार योरोपीय संघात के अन्तर्गत विवाह और परिवार का परिवर्तित उद्विकास हुआ है उसी प्रकार, जाति का भी परिवर्तित उद्विकास हुआ है। अंग्रेजी राज के माध्यम से पड़ने वाले योरोपीय संघात से जैसा कि पिछले वर्णन से स्पष्ट है, भारत की आर्थिक व्यवस्था बदली उदारवादी प्रजातन्त्र के आदर्श का प्रसार हुआ, वैज्ञानिक प्रौद्योगिकी को उत्तरोत्तर अपनाया गया, नगरीकरण और औद्योगीकरण बढ़ा, प्रशासन के आधार बदले, भारतीय विधि प्रणाली के निर्वचन और प्रशासन को योरोपीय वैधानिक मान्यताओं के समन्वय में लाने का प्रयास किया गया, यातायात और सन्देशवहन के साधनों का उत्तरोत्तर विकास हुआ सामाजिक, भौमिक और आर्थिक चलिष्णुता पहले की अपेक्षा और भी अधिक प्रखर हुई तथा ईसाइयत और इस्लाम के सम्मिलित प्रभाव ने वैयक्तिक समानता के विचार को और भी व्यापक तथा व्यावहारिक बनाने पर जोर दिया। जाति के सन्दर्भ में इस विकास के सम्मिलित प्रभाव के कई परिणाम निकले—एक, जाति के परम्परागत सामाजिक-आर्थिक आधार ढीले पड़े, दो जाति भारतीय समाज की एक सामाजिक समस्या बन गई, तीन जाति संस्था का सामाजिक ऐतिहासिक, धार्मिक तथा दार्शनिक पुनर्परीक्षण प्रारम्भ हुआ, चार समाज सुधार आन्दोलनों का विकास हुआ जिनमें एक ओर जाति को अप्रजातान्त्रिक और अमानवीय कहकर, उसे नष्ट करने पर जोर देकर, वर्ण सिद्धान्त को अपनाने पर जोर दिया गया और, दूसरी ओर जाति संगठन को ही समाज सुधार आन्दोलन का माध्यम बनाने पर जोर दिया गया, पांच शूद्रवर्णी जातियों में जाति विरोधी, वस्तुतः ब्राह्मण विरोधी, आन्दोलनों की उत्पत्ति हुई और शूद्रवर्णी जातियों का

अखिल भारतीय स्तर पर संगठित होने की प्रेरणा मिली जिसके फलस्वरूप शूद्रवर्णी जातियों की सामाजिक समस्या राजनैतिक समस्या बन गई और आर्थिक तथा राजनैतिक अधिकारों को प्राप्त करने के लिए विभिन्न जातियों में प्रतियोगिता प्रारम्भ हुई जिसमें अन्तर्जातीय तनाव और संघर्ष को प्रोत्साहन मिला। इन परिवर्तनों का परिणाम यह निकला कि जाति में एक ओर विघटक और दूसरी ओर संघटक शक्तियों का प्रादुर्भाव हुआ। विघटक और संघटक शक्तियों के घात प्रतिघात से उत्पन्न परिवर्तन प्रक्रिया जाति गत्यात्मकता का मूलाधार रही है। अन्तर इतना है कि योरोपीय संघात ने इस प्रक्रिया को और भी प्रखर बना दिया जिसके फलस्वरूप जाति में तेजी से परिवर्तन भी आये और जाति को सामाजिक दृढ़ता भी मिली।

योरोपीय संघात से जाति में उत्पन्न होने वाले परिवर्तनों की ठीक ठीक व्याख्या करने के लिये जाति के सामाजिक स्वरूप की व्याख्या आवश्यक है। जाति क्या है ? यह एक विवादग्रस्त प्रश्न रहा है क्योंकि जाति एक बहुमुखी जटिल सामाजिक प्रमेय है। जाति की परिभाषा करने के प्रयास में मानवशास्त्रियों तथा समाजशास्त्रियों ने जाति की अनेक विशेषताओं को निर्धारित किया है जिनके आधार पर जाति का परिभाषात्मक वर्णन किया जा सकता है। एक जाति भारतीय सामाजिक संरचना का एक प्रतिष्ठा समूह (Status Group) है—यह समूह जो अन्तर्विवाही होता है, जो परम्परा से एक या एक से अधिक पेशों से सम्बन्धित होता है जिसके सदस्य साधारणतया जाति पंचायत के अन्दर संगठित होते हैं जिसकी सदस्यता जन्म जात होती है जिसके सदस्यों के अपने विशिष्ट खान पान के नियम तथा कल्प (Rituals) होते हैं और जिसका सामाजिक संरचना में एक परम्परागत पद (Status) और सामाजिक तथा आर्थिक भूमिका होती है। जाति एक नहीं अनेक हैं। भारतीय समाज जातियों में बंटा हुआ है। सभी जातियां भारत की परम्परागत किन्तु चलिष्णु सामाजिक संरचना प्रणाली में बद्ध हैं। प्रत्येक जाति की एक विशिष्ट सामाजिक-आर्थिक भूमिका होती है। इसकारण, समाज में परम्परा से निर्धारित एक सामाजिक आर्थिक भूमिका को निभाते हुए, प्रत्येक जाति अन्य जातियों पर निर्भर करती है क्योंकि प्रत्येक जाति की आर्थिक, सामाजिक तथा कर्मकाण्डी आवश्यकताएं अन्य जातियों से पूरी होती हैं। जाति, इस दृष्टिकोण में एक विशेषीकृत समूह है और भारतीय समाज में पाये जाने वाले श्रम विभाजन का आधार है।

परिभाषा और विशेषतायें

जाति की इन बहुमुखी सामाजिक विशेषताओं के कारण जाति की विभिन्न दृष्टिकोणों से परिभाषा की गई है। इरावती कर्वे के अनुसार, जाति मूलतः एक अन्तर्विवाही समूह है क्योंकि जाति अन्तर्विवाही हो जाति की सामाजिक सीमायें निर्धारित करती है। उनके दृष्टिकोण से पेशा, सामाजिक प्रतिष्ठा (Social Status) आर्थिक भूमिका कर्मकाण्डी स्तर

अन्तर्विवाही

व्यवस्था रही है और ग्राम सहवासी समुदाय प्रणाली को आधार प्रदान करती रही है, म जातिगत पशे उस रूप म जाति-समूहो के एकमात्र स्वतन्त्र पशे नही रहे हैं जिस रूप म औद्योगिक सामाजिक आर्थिक व्यवस्था के विभिन्न पेशे है। परम्परागत पेशा सरचना का मूल आर्थिक आधार कृषि व्यवस्था रही है क्योकि सभी पेशा विशेषज्ञ कारीगर जातियो के पेशे कृषि और कृषक मे केन्द्रीभूत रह है। गाव की सभी जातियो के पेशो स मिलने वाली सामाजिक आर्थिक सेवायें मूलत स्थानीय कृषक के लिय रही है। दूसरे शब्दो मे, सारी पेशा सरचना कृषि-आर्थिक व्यवस्था के अधीन रहा है। यह अवश्य है कि प्रत्येक क्षेत्र म कुछ विशेष जातिया कृषि को ही करती रही है किन्तु कृषि का पेशा अन्य जातियो के लिये बन्द नही रहा है। धोबी चमार नाई तली दरजी कहार और कुम्हार अपने अपने जातिगत पशो को भी करत रहे हैं और कृषि का भी यद्यपि इन जातियो के लोग बड-बड कृषक नही रह है। इन जातियो क लोग अपना पेशा करने के अलावा योता छोट पमाने पर कृषि करते रहे है या फिर खेतिहर मजदूर रहे हैं। भारत की कृषि आर्थिक-व्यवस्था निम्नतम उपभोग के आदश पर आधारित रही है जिसके कारण जातिगत पेश कृषक की सीमित आवश्यकताओ की पूर्ति का साधन रह हैं।

इसप्रकार, विभिन्न जातियो के पेश और उनके काय परस्पर पूर्णत, स्वतन्त्र नही हैं। ग्रामीण भारत की आर्थिक प्रणाली, मुख्यत विभिन्न जातियो के काय विन्यीकरण (Functional Specialization) पर और पारस्परिक अन्तर्निभरता पर आधारित है। प्रत्येक जाति एक पेशा विशेष स सम्बन्धित रहती है किन्तु उसके द्वारा दूसरा पेशा अपनाये जाने पर कोई रुकावट नही है यद्यपि दूसरा पेशा अपनाने की सीमायें अवश्य निर्धारित हैं। ग्राम सहवासी समुदाय की सरचना मे, प्रत्यक जाति समूह को परम्परा स एक निश्चित पेशा मिला है और पेश के साथ, एक निश्चित सामाजिक स्तर भी मिला है तथा स्तर और पेशे के साथ, एक निश्चित कार्य और भूमिका भी मिली है। अपने पश के द्वारा अन्य जातियो की सवा करना, प्रत्येक जाति का दायित्व है। विभिन्न जातियो द्वारा की जाने वाली दायित्व-सेवाओ को श्यामाचरण दुबे[1] न चार श्रेणियो मे बाटा है—एक, कृषि सम्बन्धी सेवाये जो कृषक के ही लिय होती हैं और जिनका कृषि पर सीधा प्रभाव पडता है (जैसे बढई और लुहार का हल और फाल बनाना), दो कृषक तथा गैर कृषक के प्रति की जाने वाली सामाजिक धार्मिक प्रकार की पेशागत सेवायें (जैसे पुरोहित की सेवायें) तीन, कारीगर जातियो म एक दूसरे की सेवाओ के उपलक्ष म की हुई पेशागत सेवायें (जैसे नाई का नाई से बाल बनवाई न लेना), और, चार, नकद पारिश्रमिक लेकर की हुई पेशागत सेवायें (जैसे धोबी का नकद पसे लेकर कपडे

1 दुबे, श्यामाचरण   इंडियन विलेज

धोना)। नकद पारिश्रमिक देने की परम्परा तब से अधिक चली है जब से भारत में, मुद्रा पर आधारित औद्योगिक तथा पूँजीवादी आर्थिक व्यवस्था का समावेश हुआ है। परम्परानुसार, पारिश्रमिक नकद न देकर धान्य में देने की प्रथा रही है। फसल तयार होने पर कृषक की सेवा करने वाली जातियों को, अनाज के रूप में, पारिश्रमिक दिया जाता रहा है। पारिश्रमिक भी परम्परा से निर्धारित रहा है।

इस प्रकार यदि देखा जाय तो प्रत्येक जाति पेशा विशेषीकरण पर आधारित एक समूह है। जाति का यह रूप परम्परा से निर्धारित है। पर जाति केवल एक पेशा समूह ही नहीं है क्योंकि जातिगत पेशों का, एक ओर आर्थिक महत्त्व है और दूसरी ओर, कमकाण्डी महत्त्व। उदाहरणार्थ जब नाई वर के बाल बनाता है तथा नाई की स्त्री वर कन्या के पैरों में महावर लगाती है जब नाई की स्त्री विधवा की चूड़ियाँ तोड़ कर उसके माँग का सिन्दूर उतारती है जब किसी के मरने पर, सूतक मनाने वाले के नाई बाल बनाता है या जब अवध में ब्राह्मणों की कन्या के विवाह में धोबी की स्त्री दिन भर उपवास रख कर कन्या को सुहाग देती है तब नाई और धोबी की सेवायें केवल आर्थिक सेवायें नहीं रहती है। उनकी सेवायें वस्तुतः कमकाण्डी सेवायें हो जाती हैं। इसीप्रकार, अन्य जातियों की सेवाओं का भी कमकाण्डी महत्त्व है। जन्म विवाह मृत्यु त्यौहार और मेले ऐसे अवसर है जब विभिन्न जातियों को एक दूसरे की कमकाण्डी सेवाओं की आवश्यकता पड़ती है और यही कारण है कि जाति का न तो केवल पेशा समूह के रूप में परिभाषित किया जा सकता है और न गिल्ड (Guild) के रूप में यद्यपि जाति में पेशा समूह और गिल्ड के तत्व समाहित हैं। जाति-पेशा के सह सम्बन्ध ने जाति अन्तर्निर्भरता तथा यजमानी प्रथा को जन्म दिया है।

यजमानी प्रथा

प्रत्येक जाति को अपने पेशे पर एकाधिकार मिला है और, पेशे के साथ साथ, उन लोगों पर भी जो उस जाति के सदस्यों से सेवायें लेते हैं। उदाहरणार्थ, यदि एक गाँव में नाई के चार घर है तो गाँव के सारे घर उन चार नाइयों में बँट जाते है। प्रत्येक व्यक्ति जिसकी एक नाई सेवा करता है उसका यजमान है। इसीप्रकार प्रत्येक जाति के लोगों के यजमान होते हैं—विशेषतः उन जाति के लोगों के जिनके पेशों का आर्थिक और कमकाण्डी महत्त्व है। यजमान अपने परजा या 'कमीन' से ही सेवा पाने के लिए बाध्य है। प्रत्येक किसान उसी नाई से बाल बनवायेगा, उसी बढ़ई से अपना हल ठीक करायेगा और उसी लुहार से अपने औजारों की मरम्मत करायेगा जिसका कि वह यजमान है। यजमान और परजा का सम्बन्ध परम्परा से निर्धारित है। यजमान को अपनी 'परजा' पर एकाधिकार है और परजा को अपने यजमान पर। परजा जाति के किसी व्यक्ति के घर में यदि बटवारा होता है तो यजमान भी बँट जाते हैं। इसप्रकार, जाति में पेशागत विशेषीकरण तो है किन्तु एक ही जाति के लोगों में ग्राहकों के लिए प्रतियोगिता नहीं है क्योंकि प्रत्येक के ग्राहक परम्परा से निर्धारित हैं।

व्यवस्था रही है और ग्राम सहवासी समुदाय प्रणाली को आधार प्रदान करती रही है, मे जातिगत पेशा उस रूप म जाति समूहो के एकमात्र स्वतन्त्र पेशे नही रह हैं जिस रूप म औद्योगिक सामाजिक आर्थिक व्यवस्था के विभिन्न पेशे है। परम्परागत पेशा सरचना का मूल आर्थिक आधार कृषि व्यवस्था रही है क्योंकि सभी पेशे विशेषज्ञ कारीगर जातियो के पेशे कृषि और कृषक मे केन्द्रीभूत रह है। गाव की सभी जातियों के पेशो स मिलने वाली सामाजिक आर्थिक सेवाय मूलत स्थानीय कृषक के लिय रही हैं। दूसरे शब्दो मे सारी पेशा सरचना कृषि आर्थिक व्यवस्था के अधीन रही है। यह अवश्य है कि प्रत्येक क्षेत्र मे कुछ विशेष जातिया कृषि का ही करती रही हैं किन्तु कृषि का पेशा अन्य जातियो के लिये बन्द नही रहा है। धोबी चमार नाई तेली दरजी कहार और कुम्हार अपने अपने जातिगत पेशो को भी करते रह है और कृषि को भी यद्यपि इन जातियो के लोग बड़-बड़े कृषक नही रह है। इन जातियो क लोग अपना पेशा करने के अलावा या तो छोटे पमाने पर कृषि करते रहे है या फिर खेतिहर मजदूर रहे हैं। भारत की कृषि आर्थिक-व्यवस्था निम्नतम उपभोग के आदर्श पर आधारित रही है जिसके कारण जातिगत पेशे कृषक की सीमित आवश्यकताओ की पूर्ति का साधन रहे है।

इसप्रकार *विभिन्न जातियो के पेशे और उनके कार्य परस्पर पूर्णत,* स्वतन्त्र नही है। ग्रामीण भारत की आर्थिक प्रणाली मुख्यत विभिन्न जातियो के कार्य विशेषीकरण (Functional Specialization) पर और पारस्परिक अन्तर्निर्भरता पर आधारित है। प्रत्येक जाति एक पेशा विशेष से सम्बन्धित रहती है किन्तु उसके द्वारा दूसरा पेशा अपनाये जाने पर कोई रुकावट नही है यद्यपि दूसरा पेशा अपनाने की सीमायें अवश्य निर्धारित हैं। ग्राम सहवासी समुदाय की सरचना म प्रत्येक जाति-समूह को परम्परा से एक निश्चित पेशा मिला है और पेशे के साथ, एक निश्चित सामाजिक स्तर भी मिला है तथा स्तर और पेशे के साथ एक निश्चित कार्य और भूमिका भी मिली है। अपने पेशे के द्वारा, अन्य जातियो की सेवा करना प्रत्येक जाति का दायित्व है। विभिन्न जातियो द्वारा की जाने वाली दायित्व-सेवाओ को श्यामाचरण दुबे[1] ने चार श्रेणियों में बाटा है—एक, कृषि सम्बन्धी सेवायें जो कृषक के ही लिये होती हैं और जिनका कृषि पर सीधा प्रभाव पडता है (जसे बढइ और लुहार का हल और फाल बनाना), दो कृषक तथा गैर कृषक के प्रति की जाने वाली सामाजिक धार्मिक प्रकार की पेशागत सेवाय (जसे पुरोहित की सेवायें) तीन, कारीगर जातियो म एक दूसरे की सेवाओ के उपलक्ष म की हुई पेशागत सेवायें (जसे नाई का नाई से बाल बनवाई न लेना) और, चार नकद पारिश्रमिक लेकर की हुई पेशागत सेवायें (जसे धोबी का नकद पसे लेकर कपडे

1 दुबे, श्यामाचरण इण्डियन विलेज

धाना)। नकद पारिश्रमिक देने की परम्परा तब से अधिक चली है जब से भारत में, मुद्रा पर आधारित औद्योगिक तथा पूंजीवादी आर्थिक व्यवस्था का समावेश हुआ है। परम्परानुसार पारिश्रमिक नकद न देकर धान्य में देने की प्रथा रही है। फसल तैयार होने पर कृषक की सेवा करने वाली जातियों को, अनाज के रूप में, पारिश्रमिक दिया जाता रहा है। पारिश्रमिक भी परम्परा से निर्धारित रहा है।

इस प्रकार, यदि देखा जाय तो प्रत्येक जाति पेशा विशेषीकरण पर आधारित एक समूह है। जाति का यह रूप परम्परा से निर्धारित है। पर जाति केवल एक पेशा-समूह ही नहीं है क्योंकि जातिगत पेशों का, एक ओर आर्थिक महत्त्व है और दूसरी ओर कर्मकाण्डी महत्त्व। उदाहरणार्थ जब नाई वर के बाल बनाता है तथा नाई की स्त्री वर कन्या के पैरों में महावर लगाती है जब नाई की स्त्री विधवा की चूड़ियां तोड़ कर उसके मांग का सिन्दूर उतारती है [illegible] किसी के मरने पर, मृतक मनाने वाले के नाई बाल बनाता है या जब अवध में ब्राह्मणों की कन्या के विवाह में धोबी की स्त्री दिन भर उपवास रख कर कन्या को सोहाग देती है, तब नाई और धोबी की सेवायें केवल आर्थिक सेवायें नहीं रहती हैं। उनकी सेवायें [illegible] कर्मकाण्डी सेवायें हो जाती हैं। इसीप्रकार अन्य जातियों की सेवाओं का भी कर्मकाण्डी महत्त्व है। जन्म विवाह, मृत्यु त्यौहार और मेले ऐसे अवसर हैं जब विभिन्न जातियों को एक दूसरे की कर्मकाण्डी सेवाओं की आवश्यकता पड़ती है और यही कारण है कि जाति को न तो केवल पेशा समूह के रूप में परिभाषित किया जा सकता है और न गिल्ड (Guild) के रूप में यद्यपि जाति में पेशा-समूह और गिल्ड के तत्त्व [illegible], जाति-पेशा के सह सम्बन्ध ने जाति अन्तर्निर्भरता तथा यजमानी प्रथा को [illegible]

यजमानी प्रथा

है। प्रत्येक जाति का अपने पेशे पर एकाधिकार [illegible] पेशे के साथ साथ, उन लोगों पर भी जो इस [illegible] सेवायें लेते हैं। उदाहरणार्थ यदि एक गांव में [illegible] घर हैं तो गांव के सारे घर उन चार नाइयों में बंट जाते हैं। [illegible] एक नाई सेवा करता है, उसका यजमान है। इसीप्रकार, प्रत्येक [illegible] यजमान होते हैं—विशेषत उन जाति के लोगों के जिनके [illegible] कर्मकाण्डी महत्त्व है। यजमान अपने 'परजा' या 'कमीन' [illegible] बाध्य है। प्रत्येक किसान उसी नाई से बाल बनवायेगा, [illegible] करायेगा और उसी लुहार से अपने औजारों को [illegible] यजमान है। यजमान और परजा का सम्बन्ध परम्परा से [illegible] अपनी 'परजा' पर एकाधिकार है और 'परजा' का [illegible] जाति के किसी व्यक्ति के घर में यदि बंटवारा [illegible] इसप्रकार जाति में परम्परागत विशेषीकरण तो है [illegible] ग्राहकों के लिए प्रतियोगिता नहीं है क्योंकि प्रत्येक [illegible]

जमींदारी परम्परा पर आधारित भूमि व्यवस्था, यजमानी प्रथा का आर्थिक आधार रही है क्योंकि परजा की सेवायें कृषक जमींदार के लिए अधिक रही है। जिस जाति का स्तर जितना उच्च है, उसकी सेवा के लिए 'परजा' की उतनी सुविधा रही है। परजा जातियों को दो प्रकार का पारिश्रमिक मिलता रहा है—एक आर्थिक महत्व की सेवाओं के उपलक्ष में और दूसरा कर्मकांडी सेवाओं के उपलक्ष में। कर्मकांडी सेवाओं के उपलक्ष में मिलने वाला पारिश्रमिक 'नेग' है। विवाह के अवसर पर जब दरजी 'वर' के कपड़े सिलता है, लोहार कगन भेंट करता है, नाई बाल बनाता है, धोबी की स्त्री कन्या को सोहाग देती है, माली वर को 'मौर' देता है, तब वे सब नेग के अधिकारी होते हैं। यजमानी प्रथा ने जाति को ट्रेड यूनियन का रूप दिया है क्योंकि प्रत्येक जाति अपने एकाधिकारी पेशे व आर्थिक हितों की वैसे ही रक्षा करती है जैसे एक ट्रेड यूनियन अपने सदस्यों के आर्थिक हितों की। आस्कर लुइस के अनुसार, जब रामपुर[1] गांव के जाटों ने, विवाह में नाइयों को मिलने वाले 'नेग भाग' को घटा दिया तो नाइयों ने अपने जाटों की हजामत बनाना बन्द कर दी। जाटों ने रेजर खरीद कर स्वयं हजामत बनाना शुरू कर दी[2]। तब क्या जाति को ट्रेड यूनियन कहा जा सकता है? ट्रेडयूनियनवाद औद्योगिक पूंजीवादी व्यवस्था की उपज है। ट्रेड यूनियन में मालिक और मजदूर के संघर्ष तथा उनके विरोधी हितों का भाव निहित है। यजमानी प्रथा में भी मालिक और सेवक का भाव है। यजमान और परजा का सम्बन्ध परम्परा से निर्धारित है। यजमानी प्रथा, जाति के निम्नस्तर पर, श्रम को अचलिष्णु बनाती है ताकि प्रभु जाति (Dominant Caste) के लिए श्रमिक उपलब्ध हो सकें। यहां सामूहिक सौदेबाजी नहीं है। यजमानी प्रथा में केवल यजमान ही नहीं निर्धारित होते हैं वरन् प्रत्येक जाति का सामाजिक स्तर उसकी सामाजिक, आर्थिक तथा कर्मकांडी भूमिका भी निर्धारित होती है। यजमानी प्रथा विभिन्न जातियों का सामाजिक आर्थिक समायोजन तथा सामञ्जस्य है। यजमानी प्रथा की जड़ें भारत की कृषि पर आधारित परम्परागत तथा निष्प्रवाह आर्थिक व्यवस्था में उत्पन्न ग्रामवाद में है। जाति में ट्रेड यूनियन के तत्वों का समावेश आज हो रहा है।

जाति अन्तर्विवाही तथा पेशा समूह होने के साथ-साथ, भारतीय सामाजिक संरचना का आधार भी है क्योंकि जाति व्यवस्था एक सामाजिक प्रतिष्ठा

उच्चोच्च परम्परा प्रणाली की परम्परागत उच्चोच्चपरम्परा पर आधारित है। जाति व्यवस्था एक स्तरीकृत प्रणाली है, जिसमें विभिन्न जातियों को अलग अलग सामाजिक प्रतिष्ठा प्राप्त है—वह सामाजिक प्रतिष्ठा जो जन्मजात है। आधुनिक पश्चिमी समाज का स्तरीकरण अर्जित सामा

---

1 रामपुर दिल्ली के पास का वह गांव है जहाँ आस्कर लुइस ने ग्राम व्यवस्था का अध्ययन किया था। रामपुर नाम कल्पित है।

2 वाइजर, डब्ल्यू० एच० कृत दि हिन्दू जजमानी सिस्टम में से उद्धृत।

जिक आर्थिक प्रतिष्ठा पर आधारित है जबकि जाति व्यवस्थागत स्तरीकरण जन्मजात सामाजिक, आर्थिक तथा कर्मकाण्डी प्रतिष्ठा पर। जाति-व्यवस्था, इस दृष्टिकोण से, वर्ग व्यवस्था से भिन्न है। इसी भिन्नता के कारण जाति को 'आबद्ध वर्ग' या अचलिष्णु वर्ग या 'वह वर्ग जो अचलिष्णु (Immobile) है' के रूप में परिभाषित किया गया है। इसका यह तात्पर्य नहीं कि जाति-व्यवस्था परिवर्तनशील नहीं है—जाति व्यवस्था चलिष्णु और परिवर्तनशील रही है किन्तु उतना नहीं जितना कि वर्ग व्यवस्था है। इसका कारण भारत की निष्प्रवाह आर्थिक-व्यवस्था रही है। जाति-व्यवस्था में वर्ग व्यवस्था के भी तत्व हैं। कृषि-व्यवस्था में भूमि ही सम्पत्ति का आधार है और भूमि का वितरण इसप्रकार से रहा है कि अधिकतर भूमि पर अधिकार ब्राह्मण तथा क्षत्रियवर्णी जातियों के पास रहा है। ब्राह्मण और क्षत्रिय, इसप्रकार, उच्च वर्ग में रहे हैं, खेतिहर जातियां मध्यवर्ग में और कारीगर तथा अस्पृश्य जातियां निम्न वर्ग में। जातियों का वर्णानुसार वर्गीकरण और इवर्गीकरण का आधार प्रदान करने वाली सामाजिक आर्थिक पृष्ठभूमि, जाति व्यवस्था में निहित वर्ग व्यवस्था को स्पष्ट करती है। निष्प्रवाह आर्थिक व्यवस्था में सामाजिक आर्थिक चलिष्णुता कम सम्भव रही है। इसकारण, जाति व्यवस्था में, कर्म सिद्धांत को महत्ता दी गई है और चलिष्णुता के आधार आर्थिक न होकर कर्मकाण्डी रहे हैं। यही कारण है कि जातियों ने अपना स्तर उठाने के लिए कर्मकाण्ड पर अधिक जोर दिया है न कि आर्थिक स्तर को उठाने पर। कृषि पर आधारित निष्प्रवाह आर्थिक व्यवस्था में आर्थिक स्तर उठाने के लिए स्थान ही नहीं रहा है।

जाति-व्यवस्था में निहित सामाजिक प्रतिष्ठा क्रम विन्यास का आधार आर्थिक भी है और कर्मकाण्डी भी। जाति-व्यवस्था के सामाजिक प्रतिष्ठा क्रम विन्यास के आधार में पवित्रता और अपवित्रता का भाव रहा है। इसीकारण जिस जाति का सामाजिक स्तर जितना उच्च है उसका आर्थिक स्तर भी उतना ही उच्च मिलता है और वह उतना ही पवित्र मानी जाती है। जाति-संरचना के उच्चतम स्तर पर रहे हैं ब्राह्मण जो पवित्रतम माने गये हैं और निम्नतम स्तर पर रही हैं चमार और भंगी जैसी जातियां जो अपवित्र और अछूत मानी गई हैं। जाति जाति में पाई जाने वाली पवित्रता तथा अपवित्रता की भावनायें, कुछ जातियों को अछूत मानने की परम्परा और खान-पान के प्रतिबन्ध तथा जातिगत खाद्य अखाद्य के प्रश्न, अपवित्रता और अशौच के विचारों पर आधारित हैं। जैसाकि हटन ने लिखा है कि जाति-संरचना में अस्पृश्यता का विचार, अपवित्रता और अशौच के ही विचारों से सम्बन्धित है। कर्मकाण्डी पवित्रता जाति क्रम विन्यास का आधार रही है। जिस जाति का स्तर जितना उच्च है उसके लिए पवित्रता के कर्मकाण्ड उतने ही अनिवार्य और जटिल हैं। उदाहरणार्थ, ब्राह्मण के लिए दैनिक पवित्रता के नियम भंगियों की अपेक्षा अधिक आवश्यक हैं।

जाति एक अर्द्ध राजनतिक इकाई है—अर्द्ध इसलिए कि राजनतिक सगठन होते हुए भी जाति सगठन राजनतिक दृष्टिकोण से स्वतन्त्र नही रहा है।

जाति का राजनैतिक पक्ष भारतवर्ष की राजनतिक व्यवस्था तीन स्तरो पर सगठित रही है—एक जाति के स्तर पर, दूसरी क्षत्रीय राज्यो (Principalities) के स्तर पर और तीसरी, अखिल भारतीय राजनैतिक स्तर पर। अग्रेजी राज्य की स्थापना के पहले रियासती स्तर ही प्रधान था। एक सामाजिक राजनतिक इकाई के रूप मे जाति धरातल पर काय करती रही है और प्रत्येक जाति के राजनैतिक काय जाति तक ही सीमित रहे हैं। जाति पचायत का सगठन जाति का राजनतिक पहलू है। जाति-पचायत जाति व्यवस्था मे एक परम्परा के रूप म रही है। प्रत्येक अर्तविवाही समूह एक या कई जाति पचायतो मे सगठित रहा है। जाति पचायत मे प्रबन्धक, विधायिनी और यायिक अधिकार निहित रह हैं। जाति पचायतो ने परम्परा विधि को लागू किया है। जाति पचायतो का मुखिया वशानुक्रम के आधार पर चुना जाता रहा है। जाति पचायतो के अन्तगत जाति सम्बन्धी सभी प्रकार के नियमो का प्रतिपादन, सरक्षण और निवचन होता रहा है। अन्तर्जातीय सम्बन्धो का जाति पचायतो द्वारा ही नियमन होता रहा है। जाति पचायतो म दवी साक्ष्य (Ordeal), शपथ और व्यावहारिकता के आधार पर काय होता रहा है। जाति के नियमो का उल्लघन करन वाला, जाति के समक्ष, दण्ड का भागी है। जुर्माना, जाति भोज, शारीरिक प्रतारणा जन अपमान शुद्धिकरण और हुक्का पानी बन्द करना, जाति पचायत द्वारा दिय जाने वाले मुख्य दण्ड है। जाति पचायत के दण्ड विधान मे, ऐसे दण्डो का विधान रहा है जिससे अ य व्यक्तियो को उदाहरण मिले और वे जाति नियमो के उल्लघन से दूर रह। अत जसे को तसा का सिद्धात जाति पचायत क न्याय और दण्ड विधान का मुख्य आधार रहा है। हुक्का पानी ब द करने का दण्ड हर दशा मे अस्थायी ही रहा है क्योकि जाति के बाहर व्यक्ति का सामाजिक स्तर शून्य है और इसकारण जाति से निकल जान पर जाति म पुन शामिल होना एक आधारभूत आवश्यकता रही है। इसस जाति को स्थायित्व मिला है।

जाति सरचना के माध्यम से भारत की राजनतिक सत्ता सस्थागत रही है। राजनतिक सत्ता के उच्च स्तर पर रही है ब्राह्मण तथा क्षत्रियवर्णी जातिया, मध्य स्तर पर वश्यवर्णी जातिया और निम्नस्तर पर शूद्रवर्णी तथा अस्पश्य जातिया। इधर हाल मे, भारत की ग्रामीण सामाजिक-व्यवस्था के जो अध्ययन हुए है उनस यह स्पष्ट हुआ है कि किस प्रकार ग्रामीण सामाजिक-आर्थिक प्रणाली मे राजनतिक सत्ता और विशेषाधिकार उच्चवर्णी जातियो के हाथ म रह हैं। राजनतिक सत्ता और विशेषाधिकार उन्हीं जातियो क हाथ म रह हैं जिनके पास अधिकतम भूमि रही है। इस परम्परागत सामाजिक आर्थिक-व्यवस्था म प्रत्यक गाव और क्षत्र म एक प्रभुतासम्पन्न जाति (Dominant Caste) रही है। प्रभुतासम्पन्न जाति वह जाति

है जिसके पास अपने ग्राम या क्षेत्र के सामाजिक, आर्थिक तथा राजनैतिक विशेषाधिकार रहे हैं और इस कारण, अन्य जातियों के सामाजिक जीवन का वह आदर्श रही हैं अर्थात अपने सामाजिक स्तर को ऊपर उठाने के लिए निम्नस्तर की जातियां जिसका अनुकरण करती रही हैं। उदाहरणार्थ, पश्चिमी उत्तर प्रदेश मे जाटों का प्रभुत्व रहा है और उनके जीवन-यापन में उस क्षेत्र के सामाजिक जीवन के आदर्श प्रतिमान रहे हैं। प्रभुत्व सम्पन्न जाति किसी भी वर्ण की हो सकती है यद्यपि मुख्यतया, ब्राह्मण क्षत्रिय और वैश्य वर्ण की जातियां ही प्रभुत्व सम्पन्न जाति के रूप मे पाई गई हैं। जाति व्यवस्था के माध्यम से, राज्य सत्ता के संस्थागत हो जाने के कारण भारतीय सामाजिक जीवन में सामाजिक-सांस्कृतिक नेतृत्व भी संस्थागत रहा है। यही कारण है कि भारतीय समाज में नेतृत्व ब्राह्मणों और क्षत्रियों के हाथ में रहा है। इस परम्परागत सामाजिक प्रभुत्व से यह ऐतिहासिक तथ्य भी स्पष्ट होता है कि भारतीय इतिहास के प्रत्येक काल में ब्राह्मण और क्षत्रियों ने जाति प्रथा का विरोध किया है और उसे स्थायित्व भी प्रदान किया है।

इसप्रकार जाति के अनेक आधार रहे है, जिन्हे किसी एक परिभाषा मे बाधना मुश्किल रहा है। अन्तर्विवाहिकी, पेशा सामाजिक राजनैतिक तथा कर्मकाण्डी प्रतिष्ठा से सम्बन्धित होने के कारण जाति ने भारतीय सामाजिक संरचना को अनेक पहलुओं से प्रभावित किया है। हटन के अनुसार जाति का प्रभाव मुख्यतया तीन स्तरों पर क्रियाशील रहा है—एक, जाति के माध्यम से व्यक्ति को जन्मजात प्रतिष्ठा मिलती रही है जिसके कारण जहां व्यक्ति को आर्थिक सुरक्षा मिली है वहां, जाति के द्वारा व्यक्ति का जीवन भी निर्देशित होता रहा है। जाति से व्यक्ति की सामाजिक परिधि निर्धारित होती रही है। दो, जाति-व्यवस्था के माध्यम से विभिन्न समूहों के सम्बन्ध नियमित होते रहे हैं जिसके कारण, जहां प्रत्येक समूह का सामाजिक स्तर निर्धारित हुआ है उसे सामाजिक-आर्थिक सुरक्षा मिली वहां दूसरी ओर, विभिन्न जातियों के रूप में विभिन्न समूहों के अन्तर्सम्बन्धों को स्थायित्व मिला है। इस दृष्टिकोण से जाति को भारतीय विशेषत हिन्दू, समाज का मूलतम आधार कहा जा सकता है। जाति-व्यवस्था वह माध्यम है जिसके द्वारा अनेक समूह जो प्रधानत गणजातियों के स्तर से उठे हैं हिन्दुत्व, इस्लाम और ईसाइयत में, अपनी विशिष्टता बनाये रखते हुए भी, स्थान पाते रहे हैं[1]। इसीकारण, जाति का प्रवेश हिन्दुत्व,

1 जाति और गणजाति में काफी समानता है। गणजातियां जाति के रूप में परिवर्तित होती रही हैं जिनके कारण, भारतीय समाज में, जातियों की संख्या बढ़ती गई है। जाति और गणजाति का अन्तर वर्तमान भारत में किया गया है न कि प्राचीन भारत में। अन्तर्विवाही समूह होने के कारण, भारतीय परम्परा के अनुसार, प्रत्येक गणजाति जाति है। गणजाति के जाति में परिवर्तित होने की प्रक्रिया का वर्णन अन्तिम अध्याय में किया गया है।

इस्लाम और इसाइयत म हुआ ह । तीसरा, जैसा कि हटन का मत है, जाति व्यवस्था ने भारतीय समाज को सधानीय समाज (Federal 1 c Plural Society) का रूप दिया है । सधानीय समाज वह समाज है जिसमे प्रत्यक इकाई का अस्तित्व बना रहता है लेकिन हर इकाई एक सामाजिक सास्कृतिक सूत्र से बधी रहती है, वस ही जस अपनी कीली पर घूमती हुई पथ्वी सूय के चारो ओर घूमती है । सधानीय समाज लचीला समाज है और उसका मूल अनेकता म एकता का सिद्धात है । जाति व्यवस्था ने, जैसा कि इरावती कर्वे का मत है, भारतीय समाज को 'एकोऽह बहुस्याम' का आधार प्रदान किया है । जन्मजात सामाजिक प्रतिष्ठा तथा सामाजिक सास्कृतिक भूमिका से सम्बधित हाने के कारण, जाति न एकता म अनेकता बनाये रखते हुए सास्कृतिक स्थायित्व को प्रोत्साहित किया है । जाति-व्यवस्था मे उस व्यवस्था के तथ्य निहित है जिसे डाक्टर मजूमदार ने संस्कृतियो के सधान (Federation of Cultures) का माना गया है । किन्तु, जाति से यदि सास्कृतिक स्थायित्व मिला है तो जाति परम्परावादिता का भी स्रोत रही है । परम्परावादिता बनाम प्रगति के सघष का मूल कारण जाति व्यवस्था मे ही रहा है ।

यहा एक प्रश्न किया जा सकता है कि भारतीय समाज और संस्कृति को जाति ने स्थायित्व प्रदान किया है या उन कारको न जिन्हाने स्वय जाति व्यवस्था को स्थाई बनाया है । भारत के सामाजिक ऐतिहासिक पयवेक्षण स यह पता चलता है कि कृषि पर आधारित आर्थिक व्यवस्था और ग्रामवादिता ने जाति व्यवस्था को स्थाई आधार प्रदान किये हैं क्योकि अग्रेजी राज्य की स्थापना के पहल तक, य निष्प्रवाह रहे हैं । अत , यह कहना अतिशयोक्ति न होगी कि भारतीय समाज और संस्कृति के स्थायित्व मे यहा की निष्प्रवाह अथ-व्यवस्था का बहुत कुछ योगदान है और इसी योगदान न जाति-व्यवस्था को भी स्थाई बनाया है और इसका प्रसार भी किया है । साधारणतया यह मान्यता पाइ जाती है कि जाति-व्यवस्था अचलिष्णु और अपरिवतनशील है । किन्तु यह मत तकसगत नहीं है क्योकि जाति-व्यवस्था पर आधारित सामाजिक प्रतिष्ठानुक्रम लचीला रहा है । हा, यह अवश्य है कि जाति व्यवस्था में निहित चलिष्णुता क प्रेरक आर्थिक कम, सामाजिक धार्मिक तथा सुधारवादी अधिक रहे हैं । बुद्धवाद जाति-व्यवस्था क विरुद्ध एक आदोलन है और इसका उद्देश्य विभिन्न समूहो म धार्मिक सुधार करके, उन्ह एक सम्माननीय सामाजिक स्तर पर लाना रहा है । इसी प्रकार मध्य युग के सुधारवादी निगुण पन्था न यदि जाति प्रथा का विरोध किया तो उन्हान निम्नस्तर की जातियो की प्रतिष्ठा को उठान के लिय हिन्दुत्व का ही माध्यम बनाया । यही हाल उन्नीसवी शताब्दी के ब्रह्मसमाज तथा आयसमाज जस सुधारवादी आन्दोलन का हुआ । इन सुधारवादी आन्दोलनों म हिन्दुत्व का इसप्रकार स निवचन किया गया कि अधिक स अधिक अतर्विवाही समूह हिन्दुत्व क घेरे मे आ सकें । उधर, हिन्दुत्व म प्रवश करने पर,

जाति के रूप मे यदि गणजाति को निम्नस्तर मिलता रहा है तो साथ ही साथ, एक पेशा अपनाने के कारण, सामाजिक सुरक्षा भी मिलती रही है। इसप्रकार, प्रत्येक सुधारवादी आन्दोलन मे यदि नई गणजातिया जाति सरचना मे प्रविष्ट हुई तो उनसे पहले आई हुई गणजातिया भी पहले की अपेक्षा अधिक उच्चतर सामाजिक प्रतिष्ठा की ओर अग्रसर हुई। किन्तु साथ ही साथ, जसा कि वीरशव समाज और लिंगायत सम्प्रदाय के उदाहरणो से स्पष्ट है प्रत्येक सुधारवादी सघ या सम्प्रदाय या तो स्वय एक जाति बन गया या उसमे जातियो का समावेश हुआ। जसा कि सिक्ख सम्प्रदाय से स्पष्ट है जो जातिया जिस स्तर से आई उनका वही स्तर बना रहा। इसप्रकार, चलिष्णुता क प्रेरक रहे है हिन्दुत्व क वे तत्व जिन्हे श्रीनिवास ने सस्कृतान्जेशन कहा है। जाति सरचना मे सामाजिक प्रतिष्ठा को उठाने के लिये सस्कृताइजेशन को इसीलिये महत्व मिलता रहा है कि भारतीय समाज का आर्थिक आधार निष्प्रवाह रहा है। यही कारण है कि जाति सरचना मे तीव्रतर चलिष्णुता का तबतक उदभव नही हुआ जबतक, अग्रेजी राज्य के माध्यम से पड़ने वाले योरोपीय सघात के कारण, भारत मे पूजीवादी आर्थिक-व्यवस्था का समावेश नही हुआ।

परिवर्तन और उसके कारण भारत मे अग्रेजी राज्य की स्थापना ने नई सामाजिक, आर्थिक तथा राजनतिक परिस्थितियो को जन्म दिया। उत्तरोत्तर बढते हुये पूजीवाद से सामतवादी व्यवस्था समाप्त हुई। औद्योगिक तथा मुद्रायी आर्थिक व्यवस्था का प्रसार हुआ। यातायात तथा सदेशवहन के साधनो के उत्तरोत्तर विकास क कारण पहली बार भारत का राजनतिक आर्थिक तथा सास्कृतिक एकीकरण हुआ जिसके कारण जाति का अखिल भारतीय राजनतिक एकीकरण म समायोजन हुआ। प्राचीन परम्परागत पेशा सरचना के आधार पर, एक नई औद्योगिक पेशा-सरचना का प्रतिरोपण हुआ। भारतवर्ष म उस वधानिक न्यायिक तथा दण्ड व्यवस्था का श्रीगणेश हुआ जिसका आधार पूजीवादी प्रजातत्र और उदारवाद था। इसाइयत के प्रभाव से समतावादी विचारधारा फली और जाति जाति का असमान अन्तर एक निराधार आदर्श बन गया। व्यक्ति की गरिमा और महत्ता तथा व्यक्ति-स्वातन्त्र्य के आदर्श के विचार का अभ्युदय हुआ। भूमि ही आर्थिक सपन्नता का एकमात्र आधार न रही। सरकारी नौकरियो, कारखानो की मजदूरी और व्यापार ने आर्थिक सपन्नता के नये आधार प्रस्तुत किये। शहरीकरण के विकास से शहरों म जो आर्थिक व्यवस्था उत्पन्न हुई वह ग्रामो स भिन्न थी। इन सारे विकासो का परिणाम यह हुआ कि जाति-व्यवस्था को आधार प्रदान करने वाले आर्थिक सामाजिक तथा धार्मिक आधारो म परिवर्तन आया जिसके फलस्वरूप जाति के बहुमुखी आधारो म धीरे धीरे परिवर्तन हुये। किंतु साथ ही साथ, अग्रेजी राज्य म जनगणना जातियो क आधार पर ही होती रही, अस्पृश्य जातियों को विशेषाधिकार दिये गये फौज म जातियों क आधार पर

यूनिटों (Units) का संगठन किया गया। बदली हुई आर्थिक तथा राजनतिक परिस्थितियों में यदि निम्नस्तर की जातियों ने आर्थिक तथा सामाजिक अधिकारों की अधिकाधिक मांग की तो उच्च स्तर की जातियों ने अपने परम्परागत विशेषाधिकारों को बनाये रखने का प्रयास किया। इस परिस्थिति का सम्मिलित परिणाम यह हुआ कि जहां, एक ओर, जाति के आधार ढीले हुये वहां, दूसरी ओर, जाति का संगठित होने के नये आधार और नई प्रेरणायें भी मिली। योरोप के संघात ने जाति में एकीकरण तथा विश्रृंखलन की प्रक्रियायों को एक साथ जन्म दिया।

अंग्रेजी राज्य के माध्यम से ज्यों ज्यों योरोपीय सभ्यता का संघात बढ़ा और भारत की परम्परागत आर्थिक व्यवस्था में परिवर्तन आया, त्यों-त्यों जाति के विभिन्न आधारों और पहलुओं में परिवर्तन उत्पन्न हुये। उदारवादी विचारधारा, ईसाइयों द्वारा जाति की आलोचना, अंग्रेजी शिक्षा के द्वारा पनपती हुई प्रजातन्त्रवादी विचारधारा तथा व्यक्तिवादी मान्यताओं के कारण जाति तथा उसके बन्धनों के प्रति एक नये सुधारवादी दृष्टिकोण का उदय हुआ जिसकी अभिव्यक्ति ब्रह्मसमाज तथा आर्यसमाज के आंदोलनों में हुई। इन आन्दोलनों से समतावादी विचारधारा का प्रसार हुआ, जाति के बंधनों का निर्मूल निर्धारित किया गया और हिन्दू समाज की एकता पर जोर दिया गया। ब्रह्मसमाजियों ने जाति रहित हिन्दू समाज की स्थापना के लिये अंतर्जातीय विवाहों पर जोर दिया। आर्यसमाज ने भी इसी परम्परा का अनुसरण किया। उधर, अंग्रेजी साहित्य के माध्यम से फलनेवाली रूमानी विचारधाराओं से, विवाह और नर-नारी के प्रेम में वैयक्तिक स्वातन्त्र्य के विचार को प्रोत्साहन मिला। इन विकासों का परिणाम यह हुआ कि अंतर्जातीय विवाहों का पक्ष लिया जाने लगा। सन अठारह सौ बहत्तर के स्पेशल मैरिज एक्ट से अन्तर्जातीय विवाहों को वैधता प्रदान की गई। अंग्रेजी राज्यकाल में समान स्तर की जातियों के संगठन अस्तित्व में आये जिसके कारण अंशतः राजनतिक और अंशतः सांस्कृतिक थे। किन्तु इन कारणों के मूल में थी उच्च सामाजिक स्तर प्राप्त करने की भावना। इस विकास का परिणाम यह हुआ कि एक ही स्तर की अन्तर्विवाही जातियों में अंतर्जातीय विवाहों को प्रोत्साहन मिला। उदाहरणार्थ, चमारों के जटिया और रविदास अन्तर्विवाही समूहों में अन्तर्जातीय विवाहों को किया जाने लगा है। किन्तु, अन्तर्जातीय विवाह अधिकतर शहरों में और शिक्षित तथा धनी वर्ग तक ही सीमित हैं। साधारणतया जाति अब भी मूलतः अन्तर्विवाही समूह है।

योरोप की पूंजीवादी तथा औद्योगिक-आर्थिक-व्यवस्था के दबाव से बदलती हुई भारतीय आर्थिक-व्यवस्था का परिवर्तनकारी प्रभाव जाति और पेशा के सह सम्बन्ध पर पड़ा। औद्योगिक व्यवस्था ने शहरीकरण के साथ-साथ उस नई पेशा संरचना को जन्म दिया जिसमें अनेक परम्परागत पेशों की महत्ता समाप्त हो गई (जसे नाई द्वारा समाचार भेजने के महत्व का कम होना), अनेक पेशों की आर्थिक

महत्ता समाप्त हुई (जैसे आइल मिलो की स्थापना स तेली के पेशो की आर्थिक महत्ता का कम होना) और कुछ पेशों जसे धोबी चमडे का काम करने वाले चमारो, बुनकरो और भगियो के पेशो की आर्थिक महत्ता बढ गई क्योकि शहरीकरण ने इन पेशों की आवश्यकता को और भी बढा दिया। दूसरी ओर, उद्योग और व्यापार तथा सरकारी नौकरियो ने सभी जातिया के लिये नये अवसर प्रदान किये जिसके परिणामस्वरूप जाति और पेशे का सह सम्बन्ध उतना अनिवार्य नहीं रहा जितना कि वह परम्परागत सामाजिक आर्थिक व्यवस्था मे था। किन्तु उच्चवर्णी जातियाँ पहले ही से व्यापार शिक्षा, सेना और प्रशासन के पेशो म लगी हुई थी जिसके फलस्वरूप नये अवसरो का लाभ सबस पहले और सबस अधिक इन्ही जातियो को मिला। अठारह सौ सत्तावन की राज्यक्रान्ति के बाद, निम्नस्तर की जातियो को सेना मे स्थान देने की नीति अपनाई गई और उन्नीसवी शताब्दी के उत्तरार्ध मे जब दक्षिण भारत म ब्राह्मणविरोधी आदोलन का प्रसार हुआ तब पिछडी हुई जातियो के लिये सरकारी नौकरियो मे आरक्षित स्थान की माग की गई। तबसे बराबर इसी नीति को अपनाया गया जिसके परिणामस्वरूप एक ओर, जातिवाद को प्रोत्साहन मिला और दूसरी ओर, भारतीय राजनीति म जाति का समावेश हुआ।

सरकारी नौकरियो मे आरक्षित सीटो की माग पिछडी जातियो के उस वर्ग से आती रही है जो शिक्षित होने के कारण परम्परागत पेशो को नहीं अपनाता है और सरकारी नौकरी को उच्चतर-सामाजिक प्रतिष्ठा का माध्यम मानता है। उच्च-वर्णी जातियो के सामने यह समस्या न थी क्योंकि अग्रेजी राज्य म उन्हें वह सामाजिक प्रतिष्ठा उत्तराधिकार के रूप म मिली थी, जिसकी निम्नवर्णी-जातिया माग कर रही थी। अग्रेजी राज की स्थापना स उत्पन्न, नई परिस्थितियो म उच्चवर्णी जातिया के परम्परागत पेशो का (जसे ब्राह्मण के अध्यापन तथा प्रशासन काय को, क्षत्रिय के जमीदारी तथा प्रशासन काय को वश्यो के उद्यम को और कायस्थो के मुखियाना पेशो को) एक नया अवसर मिला जिसस उनका, ह्रास नहीं बल्कि, विस्तार हुआ। किन्तु निम्नवर्णी जातियो विशेषतया कारीगर जातियो के पेशो का पूजीवादी-औद्योगिक व्यवस्था स ह्रास हुआ। जूता बनाने के कारखाना, कपडे की मिलो, खेती के औजार बनाने वाले कारखानो स, चमारो, कपडा बुनने वाली जातियो और लोहारों के पेशों का ह्रास हुआ। किन्तु, साथ ही साथ, ये सब ऐसे क्षत्र थे जहा पूजीवादी व्यवस्था न नये व्यापारिक अवसर प्रदान किय जिसके कारण उच्च जातियों ने इन पेशो म कारीगर के रूप म ही नही वरन् व्यापारी के रूप म प्रवेश किया। आज ऐस अनेक उदाहरण मिल जाते हैं जिसम लाड्री का मालिक एक उच्च-जाति का है, यद्यपि कपडा धोने का काय धोबी करते है। उसी प्रकार, जूता और चमडो का व्यापार अधिकतर उच्च जातियो के हाथ मे है, जबकि चमडा निकालने तथा जूता बनाने का काम चमार करते हैं। इसप्रकार, नई आर्थिक व्यवस्था म कारीगर

जातियो का अपने पेशो पर से एकाधिकार समाप्त हुआ उनका अपने ग्राहको पर से भी एकाधिकार समाप्त हुआ और धीरे धीरे उनका भारत के सर्वहारा वर्ग म परिवतन हुआ। जिन पेशो को परम्परानुसार अपवित्र मानकर अशौच का कारण माना जाता था (जसे मरे हुए जानवरो की खाल निकालना और भगी का काय (उन पेशो को करने वाली जातिया म उन पेशो के प्रति प्रतिक्रिया प्रारभ हुई और उन्होने उन छोडने पर जोर दिया। इस प्रतिक्रिया का कारण बदलती हुई आर्थिक व्यवस्था से मिलने वाले नये अवसर हैं। किन्तु इस प्रतिक्रिया के बावजूद भी अधिकतर निम्न वर्णी जातिया अपने परम्परागत पेशा मे ही हैं।

बदलती हुई सामाजिक आर्थिक परिस्थिति न जाति और पेशे के सहसम्बन्ध को प्रभावित किया है किन्तु पेशा तथा जाति सरचनाओ की उच्चावचपरम्परा म जो अनुरूपता थी उसे नही तोडा है। देहरादून के चमारो की पेशा सरचना के विश्लेषण से इस तथ्य को स्पष्ट किया जा सकता है। देहरादून म रविदास और जटिया दो चमार जातिया पाई जाती है। रविदास अधिकतर चूना उद्योग म लगे हुए है और *जटिया जूता बनाने तथा चमडे के उद्योग म। जटिया रविदासो से पहले* देहरादून मे स्थानातरित हुए थ। रविदास चमारो के तीन सौ पद्रह घरो के मुखायाओ म 76 10 प्रतिशत चूना उद्योग म लगे है 5 7-% बलगाडी से सामान ढोने मे 2 51% छोटे छोटे व्यापारो म 3 81% दर्जी और नाई के कामो मे 7 04% छोटी मोटी सरकारी नौकरियो मे 1 27% प्राइवेट नौकरियो म और 2 5% अपने लडको पर निभर ह। जटिया चमारो म 89 3% जूता उद्योग म 4 54% व्यापार म और 6 78% सरकारी नौकरियो म लगे है। किन्तु इनके पेशो का यदि अत्यन्त कुशल (H ghly Skilled) कुशल (Skilled) और अद्धकुशल और अकुशल (Semi skilled and Unsk lle l) श्रेणियों म वर्गीकरण किया जाय तो यह स्पष्ट होता है कि रविदास चमारो म केवल 11 11% और जटिया चमारो म केवल 1 0% अत्यन्त कुशल श्रेणी म आते हैं और क्रमश 13 02% तथा 69 01% कुशल श्रेणी म और 73 3% तथा 27 9 % अद्धकुशल या अकुशल श्रेणी म[1]। ब्रिग्ग ने अपनी पुस्तक दि चमार (1920) और माहिन्दर सिंह न अपनी पुस्तक दि डिप्रेस्ड क्लासेज (1947) म चमारो का मुख्य पेशा चमडा निकालना चमडा पकाना जूता बनाना और मजदूरी निर्धारित किया है। इससे यह स्पष्ट होता है कि शहरीकरण तथा औद्योगीकरण न चमारो के परम्परागत पदो म परिवतन किया है यद्यपि

---

1 देहरादून क चमारों के पेशा सम्ब धी यह आंकडे सन 1958 59 में एकत्र किए गये थे। इनका विश्लेषण ईस्टर्न एन्थ्रोपालाजिस्ट वाल्यूम XIV, न० 3 में प्रकाशित, लेखक के लेख ट्रेन्डस एण्ड मेजस आफ स्टेटस मोबिलिटी एमाग दि चमारस आफ देहरादून में किया गया है।

सभी चमार जातियो पर इसका एक सा प्रभाव नही हुआ है। किन्तु साथ ही साथ, शहरीकरण और औद्योगीकरण के बावजूद भी चमार अधिकतर उसी अनुपात से अकुशल, अर्द्धकुशल और कुशल पेशा मे है जिस अनुपात से वे ग्रामीण सामाजिक-आर्थिक-व्यवस्था मे रहे है और आज भी है। हां यह अवश्य है कि बदलती हुई आर्थिक व्यवस्था मे चमारो मे एक ऐसे छोटे वर्ग का अभ्युदय हुआ है जो अत्यंत कुशल पेशे में होने के कारण, अपेक्षाकृत अधिक धनी है। यही वह वर्ग है जो, एक ओर, उच्च जातियो के सामाजिक स्तर मे प्रवेश पाने के लिए इच्छुक है और दूसरी ओर, अपनी सामाजिक प्रतिष्ठा को उठाने के लिए चमारो के सामाजिक स्तर को उठाने के लिए, प्रयत्नशील है। इसप्रकार जिस जाति मे जितना अधिक पेशा वैभिन्य आया है उतना ही उसमे आर्थिक वैभिन्य और वर्ग संरचना के तत्वो का समावेश हुआ है और उतना ही उसमे पश्चिमीकरण या संस्कृताइजेशन के द्वारा अपना सामाजिक स्तर उठाने की प्रेरणा का अभ्युदय हुआ है।

ग्रामीण सामाजिक-व्यवस्था मे उपरोक्त प्रक्रिया का समावेश हुआ है किन्तु उतना नही जितना कि शहरी सामाजिक व्यवस्था मे। जैसा कि हाल के ग्रामीण अध्ययनो से स्पष्ट है भारत के गावो मे मुख्यतया निम्नवर्णी जातियो मे जाति और पेशे का परम्परागत सह सम्बन्ध बहुत कुछ अब भी वैसा ही बना हुआ है यद्यपि वह धीरे-धीरे परिवर्तित हो रहा है। इसके फलस्वरूप ग्रामीण सामाजिक व्यवस्था मे यजमानी प्रथा विद्यमान भी है और बदल भी रही है। बदलती हुई ग्रामीण आर्थिक व्यवस्था तथा उस पर उत्तरोत्तर बढते हुये औद्योगीकरण तथा शहरीकरण के प्रभाव ग्राम की शहर पर बढती हुई निर्भरता तथा ग्रामवासियो के शहरो मे स्थानान्तरित होने के कारण यजमानी प्रथा का परम्परागत रूप बदल रहा है। उदाहरणार्थ, जब गाव के लोग शहरो मे कपडे सिलाते हैं या जच्चाओ को शहरो मे स्थित जच्चा-केन्द्रो मे भेजते है या शहरो के नजदीक स्थित गाव के लोग शहरो मे बाल कटाने जाते हैं तो परम्परागत यजमानी प्रथा को धक्का लगता है। परम्परागत सामाजिक आर्थिक-व्यवस्था मे गाव का व्यक्ति गाव की ही कारीगर जातियो से सेवा लेने के लिए बाध्य था, जिसके कारण गाव की कारीगर जातियों का अपने ग्राहको पर एकाधिकार था जो शहरीकरण तथा औद्योगीकरण के कारण समाप्त हुआ। फलतः यजमानी प्रथा के मूल आधारो मे परिवर्तन आया। दूसरी ओर दैनिक आवश्यकताओ की वस्तुओ के बढते हुए भावो तथा मुद्रायी आर्थिक व्यवस्था के उत्तरोत्तर प्रभाव के कारण पारिश्रमिक को धान्य (Kind) मे देने के स्थान पर मुद्रा के रूप मे देने और लेने की प्रेरणा बढी। मुद्रा मे पारिश्रमिक के भुगतान के कारण यजमान और 'परजा' का परम्परागत सम्बन्ध समाप्त हो गया और उसके स्थान पर व्यापारी दृष्टिकोण का अभ्युदय हुआ। शहरो मे अधिक पारिश्रमिक मिलने के कारण कारीगर तथा सेवक जातियो ने अपने पेशे के अनुसार ग्राम की अपेक्षा शहरो मे ग्राहक बढाने पर जोर दिया। शहरी

व्यवस्था म भी, यहा-वहा, परम्परागत यजमानी प्रथा के तत्व पाए जाते हैं किन्तु उनका आधार परम्परागत नही है। जैसे, शहर म भी विवाहो म नाई की आवश्यकता पडती है किन्तु उसके लिए पसा देकर किसी भी नाई की सेवा ली जा सकती है। जसा कि भगियो के पेशे से स्पष्ट है शहरीकरण के बावजूद भी, उनका अपने पेशे पर एकाधिकार बना रहा जिसके कारण, शहरीकरण के प्रभाव मे और अपने पेशे की विशिष्टता के कारण, भगी जाति ने ट्रेड यूनियन का रूप ले लिया।

बदलती हुई आर्थिक व्यवस्था, पूजीवाद तथा बढते हुये औद्योगीकरण के प्रभाव के कारण तथा जमीदारी उन्मूलन और अस्पश्यता निवारण जसे वधानिक विकासो के कारण, एक ओर, विभिन्न जातियो का परम्परागत आर्थिक श्रम विन्यास बदला है तो दूसरी ओर, समानता के विचार का प्रसार हुआ है। वयस्क मताधिकार के द्वारा सभी जाति के लोगो को राजनतिक समानता मिली। इसप्रकार योरोप के सघात स परम्परागत राजनतिक तथा आर्थिक जातिगत विन्यास परिवर्तित हुआ है किन्तु कमकाण्डी श्रम विन्यास बहुत कुछ वसा ही है। ग्रामीण सामाजिक व्यवस्था म, आज भी विभिन्न जातिया कमकाण्डी सेवाओ को प्रदान करती हैं किन्तु 'नेग', धान्य के स्थान पर अधिकतर मुद्रा म दिया जाता है। कमकाण्डी श्रम विन्यास के कारण, पवित्र और अपवित्र तथा शुद्ध और अशुद्ध जतियो का अतर आज भी बना हुआ है। अछूतो को मिल हुए राजनतिक अधिकारो ने अछूतो का एक अलग समूह बना दिया है, जिसके कारण, अछूता म पाय जाने वाले कमकाण्डी श्रम विन्यास (Ritual Ranking) पर राजनतिक एकता का अभ्युदय हुआ है। यद्यपि गाव म अस्पश्यता की समस्या वसी ही है रल, मोटर, होटल सिनेमा, विद्यालयो और शहरी वातावरण ने विभिन्न जातियो के सम्पर्क को बढावा देकर कमकाण्डी श्रम *विन्यास को बदला है जिमस शहरो म छूत अछूत की भावना कम हुई है।* एक ओर, कमकाण्डी श्रम विन्यास तथा आर्थिक असमानताओ के बने रहने तथा दूसरी ओर, राजनतिक अधिकारो के मिलने स निम्नवर्णी तथा उच्चवर्णी जातिया मे सघर्ष उत्पन्न हुआ है। जिसकी छाप वतमान भारतीय राजनतिक जीवन पर पड रही है।

अग्रेजी राज्य का सबस अधिक प्रभाव जाति के राजनतिक पहलू और जाति पचायत के अधिकारा तथा कार्यों पर पडा। अग्रेजी राज्य के रूप म, भारत म पहली बार, *राष्ट्र राज्य का अभ्युदय हुआ जिसके कारण जातियो को अखिल भारतीय* विस्तार का अवसर मिला। रेल तार डाक, छापाखाना और समाचार पत्र के कारण तथा बदलती हुई राजनतिक परिस्थितिया स मिलने वाली प्रेरणा के कारण, अग्रेजी राज्यकाल म, अखिल भारतीय जाति सगठनो का अभ्युदय हुआ। यही वह काल है जब विभिन्न जातियो ने अपने अखिल भारतीय सगठन भी स्थापित किए और, साथ ही साथ जाति के सगठन को बनाए रखने के लिए, जाति के लिए उच्च स्तर का दावा करने के लिए तथा आवश्यकतानुसार सुधार करने के लिय समाचार

पत्रा का निकाला, जाति पर पुस्तका को प्रकाशित किया और जैसा कि श्री निवास ने लिखा है अनेक जातियो ने अपन सगठनो के सविधान का बनाकर उस प्रकाशित कराया[1]। लेकिन ये सगठन परम्परागत जाति-पचायतो स भिन्न थे। जसा कि पहले लिखा जा चुका है परम्परागत सामाजिक व्यवस्था म, राज्य की देखरेख म, जाति-पचायतो म प्रशासन, न्याय तथा दण्ड के अधिकार निहित होते थे। अंग्रेजी राज्य मे जब पुलीस और न्यायालयो की स्थापना हुई और भारतीय दण्ड-सहिता का नियमन हुआ तथा आवश्यकतानुसार विधियो क निर्माण का काय राज्य के हाथ म चला गया तो जाति पचायतो के प्रशासकीय सविधायिनी तथा न्यायिक अधिकार राज्य के हाथ मे चले गये। किन्तु फिर भी अन्तर्विवाह, खानपान और पशा-सम्बन्धी नियमों का प्रशासन और नियमन जाति पचायतो के ही हाथ म रहा। जाति-पचायतो क जो दण्ड विधान जैसे शारीरिक प्रतारणा देना या दवी परीक्षा लेना, भारतीय दण्ड-सहिता के विरोध मे पडते थे वे धीरे धीरे स्वत समाप्त हो गये। दूसरी ओर अंग्रेजी राज्य की स्थापना स, जो सामाजिक, आर्थिक तथा वैधानिक परिवतन हुये उनम निम्नस्तर की जातियो को अपनी सामाजिक प्रतिष्ठा को उठाने का अवसर भी मिला और प्ररणा भी। अंग्रजी शिक्षा ब्राह्मणवादी कमकाण्ड और उच्च समझे जाने वाले पेशे सामाजिक प्रतिष्ठा का उठाने के व माध्यम बन गये जिनको निम्नस्तर की जातियों ने अपनाने का प्रयास किया। एसी परिस्थिति म निम्नस्तर की जातियो म जाति-पचायत एक सुधारवादी सगठन म परिवर्तित हुई। जाति पचायतो ने, निम्नस्तर की जातियो म, मद्यनिषेध को लागू करने का प्रयास किया, उच्च शिक्षा की ओर लोगो को प्रोत्साहित किया और ब्राह्मणवादी कमकाण्ड का प्रचार किया। लखनऊ म कुरील चमारों की जाति पचायत न चमारो को अपन अलग मदिर निर्मित करने के लिए प्रोत्साहित किया। पचायतो के ही प्रयत्नो स रविदास मदिर का निर्माण हुआ जिसे कुरील जाति का मदिर समझा जाता है और पचायत की बठको म शराब पीकर आने वाले पर जुर्माना लगाने का विधान किया गया[2]। निम्नस्तर की लगभग सभी जातियो म, जाति-पचायत समाज सुधार का माध्यम बन गई। इसके दो कारण है—एक प्रत्येक निम्नस्तर की जाति के शिक्षित वग न जाति का स्तर उठाने के लिए समाज सुधारो को प्राथमिकता दी और, दूसरे, समाज सुधार आन्दोलन के प्रणेताओ न जाति को समाज सुधार-आन्दोलन का माध्यम बनाने पर जोर दिया जिसस जाति पचायत क सगठन को प्रोत्साहन मिला। निम्नस्तर की जाति के शिक्षित तथा धनी वग का सामाजिक स्तर तब तक नही उठ सकता था जब तक कि सम्पूण जाति का सामाजिक स्तर न उठे। यही कारण है कि जिस जाति का स्तर जितना निम्न रहा

1 श्रीनिवास एम०एन० कास्ट इन माडन इण्डिया एण्ड अदर एसेज पृष्ठ 16

2 भट्ट, जी० एम० चमास आफ लखनऊ (अप्रकाशित)

है और जिस जाति के सदस्यो म उच्च सामाजिक प्रतिष्ठा पाने की जितनी प्रेरणा रही है, उसम जाति पचायत या जाति सगठन का प्रभाव उतना ही महत्वपूर्ण है।

यारोपीय प्रभाव के अतगत, जाति सरचना म वग व्यवस्था के तत्वो का समावेश हुआ जिसके दो मुख्य परिणाम निकले। शहरी सामाजिक व्यवस्था मे जाति के आर्थिक आधार गौण हो गए और व्यापार, सरकारी नौकरियो तथा अग्रजी शिक्षा क प्रभाव के अतगत वहा औद्योगिक समाज की वग व्यवस्था का अभ्युदय हुआ। इस वग व्यवस्था म निम्न और उच्च सभी प्रकार की जातियो का सम्मिश्रण हुआ। उदाहरणाथ, शहरो म जो औद्योगिक पूजीवादी सामाजिक व्यवस्था विकसित हुई उसके मध्यवग म उच्चवर्णी जातियो क लोग भी है और निम्नवर्णी जातियो के भी, यद्यपि इसम बहुतायत उच्चवर्णी जातियो के लोगा की है। किन्तु भारत की ग्रामीण सामाजिक व्यवस्था का आर्थिक आधार कृषि ही है क्योकि भारत म औद्योगीकरण तथा शहरीकरण का धीरे धीरे विकास हुआ है। एसी दशा म, ग्रामीण समाज के आर्थिक साधना पर अधिकतर उच्चवर्णी जातियो का ही अधिकार रहा है। उधर, औद्योगीकरण के प्रभाव स घरेलू उद्योग धधो के ह्रास के कारण, कारीगर जातियो के लोग भूमिहीन कृषक के रूप म सवहारा वग म बदलते गये जिससे भूमि पर जनसख्या का दबाव और भूमिहीन कृषका की सख्या बढी। राजनैतिक अधिकारो के मिलने के साथ साथ निम्नवर्णी जातियो ने आर्थिक समानता तथा आर्थिक अधिकारो को बनाये रखन का प्रयास किया। निम्नवर्णी जातियो के जिन लोगा न सरकारी नौकरियो को अपनाया या व्यापार को अपनाया उनका आर्थिक अस्तित्व खती पर निभर नही है। अत, व अपने अन्य भाइयो की भाँति उच्च जातियो पर आश्रित नही हैं। उच्च जातियो पर आश्रित न होने के कारण इस वग ने कमकाण्डी समानता की माग की क्योकि राजनतिक समानता पहले स ही मिली हुई है। हा, यह अवश्य है कि स्वत त्रता आन्दोलन क आरम्भ मे, इस वग को राजनतिक विशेषाधिकार नही मिले थे। अत, जैसा कि ज्योतिराव फुले महाराजा कोल्हापुर (श्री साहू क्षत्रपती) और अम्बेदकर के ब्राह्मणविरोधी आन्दोलना स स्पष्ट है, इस वग ने पहले राजनतिक विशेषाधिकारो की माँग की।

राजनतिक विशेषाधिकारो के मिल जाने पर, कमकाण्डी समानता की माग दाबी। इसका प्रभाव भारत के राजनतिक आन्दोलन पर भी पडा जिसके फलस्वरूप निम्नवर्णी जातियो को, सविधान द्वारा, राजनतिक विशेषाधिकार और सरक्षण प्रदान किया गया। किन्तु, गाव म जमीदारी उन्मूलन क बाद भी, भूमि पर उच्चवर्णी जातियो का ही अधिकार रहा। इधर ग्राम पचायतो के सगठन स निम्नवर्णी जातियों को मतदान का अधिकार और राजनतिक समानता मिली। इस परिस्थिति म, उच्चवर्णी जातियो ने पचायत को अपने विशेषाधिकार बनाये रखन का माध्यम बनाया तो निम्नवर्णी जातियो न उसे नये अधिकारो क प्रयोग का माध्यम। आर्थिक असमानता

ने, इस परिस्थिति में, उच्च तथा निम्नवर्णी जातियों में संघर्ष को जन्म दिया क्योंकि निम्नवर्णी जातियाँ, एक ओर, अपने राजनैतिक अधिकारों के प्रति जागरूक हैं तो, दूसरी ओर, उच्चवर्णी जातियों पर अपनी आर्थिक आश्रयता के कारण असहाय हैं। ऐसी परिस्थिति में, निम्नवर्णी जातियों का शिक्षित वर्ग, अपनी जाति के लोगों को नये मिले हुए राजनैतिक अधिकारों के प्रयोग के लिए प्रेरित करता है जिसका परिणाम होता है गुटबन्दी और संघर्ष जिससे ग्राम पंचायत प्रणाली सरोकार है[1]।

जैसाकि भारत के अन्य ऐतिहासिक युगों में हुआ, अंग्रेजी राज्यकाल में भी, जाति को लेकर हिन्दू-समाज में सुधारवादी आन्दोलन का प्रादुर्भाव हुआ। ये सुधारवादी आन्दोलन दो प्रकार के हैं—एक श्रेणी में ब्रह्मसमाज, आर्यसमाज, रामकृष्ण मिशन और थियोसॉफिकल सोसाइटी आते हैं और दूसरी श्रेणी में महादेव गोविंद रानाडे और गोपाल कृष्ण गोखले के सुधार आन्दोलन। पहली श्रेणी के आन्दोलन धार्मिक-सामाजिक हैं और दूसरी श्रेणी के सामाजिक धार्मिक। पहली श्रेणी के सुधारवादी आन्दोलनों ने जाति का विरोध किया और शास्त्रप्रणीत वर्ण व्यवस्था का उसी प्रकार से प्रतिपादन किया जैसा कि बुद्ध और रामानुज जैसे सुधारक कर चुके थे। सामाजिक धार्मिक सुधारवादी नेता मूलतः समाजसुधारवादी थे और उनका दृष्टिकोण सैद्धान्तिक होने की अपेक्षा व्यावहारिक अधिक था। अतः यदि पहली श्रेणी के नेताओं ने जाति की वर्ण के सन्दर्भ में व्याख्या की तो दूसरी श्रेणी के नेताओं ने जाति को ही समाज सुधार का माध्यम बनाने पर जोर दिया क्योंकि जाति का लोगों पर व्यापक प्रभाव था। इसका परिणाम यह हुआ कि एक तरफ तो जाति की आलोचना शुरू हुई और, दूसरी ओर, जाति संगठनों को प्रोत्साहन मिला जिसके फलस्वरूप यदि एक ओर जाति विरोधी विचार फैला तो, दूसरी ओर, गीता के 'चातुर्वर्ण्यं मया सृष्टम्' के आधार पर जाति का सुधुविनकरण किया गया। एक ओर, जाति विरोधी विचारधारा पनपी तो, दूसरी ओर जनगणना में निम्नस्तर की जातियों ने अपने को उच्चस्तरीय जाति का अंकित करवाना शुरू किया। इसके फलस्वरूप जाति को लेकर भारतीय विचारधारा में द्विमानिता का श्रीगणेश हुआ।

श्रीनिवास के अनुसार, ज्यों ज्यों जनता के हाथ में राजनैतिक सत्ता सौंपी गई त्यों-त्यों जाति की राजनैतिक सत्ता और कार्य बढ़ते गये। माण्टग्यू चेम्सफोर्ड के राजनैतिक सुधारों के साथ-साथ, भारत के राजनैतिक जीवन में जाति चेतना का

1 विशेष अध्ययन के लिये देखिये

(अ) बर्नर्ड एस० कोन : चेंजिंग स्टेटस आफ डिप्रेस्ड कास्ट, मैकिम मेरियट द्वारा सम्पादित विलेज इण्डिया में।

(ब) बेली, एफ० जी० : एन उड़िया हिल विलेज, एम० एन० श्रीनिवास द्वारा सम्पादित इण्डियाज विलिजेज में।

श्रीगणेश हुआ। इस चेतना का भारत की राजनतिक गतिविधियों पर प्रभाव पड़ा। अपने विशेषाधिकारों की रक्षा के लिये या नये विशेषाधिकारों को प्राप्त करने के लिए, जातियों ने राजनतिक दलों का आश्रय लिया। उदाहरणार्थ, आंध्र में कम्मा और रेड्डी जातियों की प्रतिस्पर्द्धा अत्यन्त प्राचीन है। बदलती हुई परिस्थिति में कम्मा जाति के लोगों ने कम्युनिस्ट पार्टी पर अधिकार जमाया तो रेड्डियों ने कांग्रेस पर। रेड्डियों के पास आपक्षाकृत भू स्वामित्व अधिक है और यही उनकी प्रतिस्पर्धा का कारण है। वास्तव में, मुख्यतया, भारत के प्रधान राजनैतिक दल का ही विभिन्न जातियों ने अपनी राजनतिक स्पर्द्धा का मंच बनाया है। विभिन्न प्रान्तों में, कांग्रेस पर विभिन्न जातियों ने अपना बहुमत कायम किया है। जसाकि श्रीनिवास का मत है पंचायतों के संगठन से स्थानीय प्रभुतासम्पन्न जाति को अपना राजनतिक प्रभाव बढ़ाने का एक अवसर मिला। यह सर्वविदित है कि चुनाव में, एक क्षेत्र विशेष के उम्मीदवार को चुनने के लिए राजनतिक दल बहुधा उन्हीं प्रभावशाली व्यक्तियों को नामजद करते हैं जिनकी जाति का उस क्षेत्र विशेष में बहुमत है। इसप्रकार, प्रत्येक राजनतिक दल, विशेषतया कांग्रेस, एक ओर प्रभुतासम्पन्न जातियों के निहित स्वार्थों से ग्रसित है तो दूसरी ओर, पिछड़ी हुई जातियों के स्वार्थों से। यही कारण है कि कांग्रेस भारतीय समाज में आमूल चूल परिवर्तन लाने में असफल रही। हिन्दू मुसलमान और ईसाइयों में से अनेक जातियों ने पिछड़ी जातियों को मिलने वाले विशेषाधिकारों को पाने के लिए, अपने को बैकवर्ड जातियों की श्रेणी में लाने का प्रयास किया। केरल में बैकवर्ड क्रिश्चियन फेडरेशन की स्थापना और उसके द्वारा पिछड़ी ईसाई जातियों के लिए विशेषाधिकारों की माग राजनीति पर जाति के बढ़ते हुए प्रभाव का एक उदाहरण है[1]। मध्यकालीन भारत में लिंगायतों ने शैववाद का आश्रय लेकर और अनेक शास्त्रोक्त परम्पराओं को अपनाकर अपनी सामाजिक प्रतिष्ठा को ऊपर उठाने का प्रयास किया किन्तु वर्तमान समय में अपने लिए पिछड़ी जातियों के स्तर की माग की। इसप्रकार राजनीति के मंच पर जहाँ एक ओर जाति की भर्त्सना की गई उसे दूर करने के लिए लोगों को प्रेरणा दी गई वहा, दूसरी ओर, वोटों को आकर्षित करने वाली वस्तु के रूप में जाति की दबे शब्दों में महत्ता भी स्वीकार की गई।

संस्कृताइजेशन की प्रक्रिया जाति गत्यात्मकता का आधार रही है क्योंकि धार्मिक-व्यवस्था के निष्प्रवाह होने के कारण संस्कृताइजेशन ही जातिगत्यात्मकता का एकमात्र आधार रहा है। *बुद्धवाद तथा मध्ययुगीन भारत के सुधारवादी निर्गुण* सम्प्रदायों ने यदि जाति का विरोध किया तो, साथ ही साथ, हिन्दुत्व का इस ढंग से

1 दि हिन्दुस्तान टाइम्स वीकली (4 अक्तूबर 1964) में प्रकाशित यू० एन० आई० के एक समाचार के आधार पर।

निवचन किया कि अधिकतर जातिया शास्त्रोक्त परम्पराओ को अपना सकें। इन सुधारवादी आन्दोलनो ने अनेक गणजातियो के लिए हिंदुत्व मे आने का मार्ग प्रशस्त किया। ये आन्दोलन ब्राह्मणो द्वारा (बुद्धवाद को छोडकर) शुरू किए गए। ब्राह्मण ही जाति का विरोधी रहा और ब्राह्मण ने जाति का समर्थन भी किया। जाति विरोधी आन्दोलन मे सभी जातियो के लोग आकृष्ट हुए किन्तु जाति विरोधी आन्दोलन म आकर के भी लोग अपनी पुरानी जातियो से सम्पर्क न छोड सके। यह प्रक्रिया इस तथ्य से स्पष्ट है कि कबीर पथ, नानक पथ, शिवनरायनी पथ इत्यादि सुधारवादी पथो म सभी जातियो के लोग आए किन्तु अपनी जाति से सम्पर्क न छोड सके। जसे, सिक्खो म यदि खत्री एक समूह विशेष बन ता निम्नस्तर की जातियो के अनेक अन्तर्विवाही समूह सिक्खो म प्रविष्ट हुए। इसप्रकार सस्कृताइजेशन एक ऐतिहासिक प्रक्रिया है और सुधारवादी आन्दोलन उसकी अभिव्यक्ति के माध्यम। जाति का एक भाग पहले सस्कृताइजशन की ओर उन्मुख होता है और फिर सस्कृताइजेशन को अपनाकर वह सपूर्ण जाति को सस्कृताइजेशन की प्रेरणा देता है। अत सस्कृताइजेशन यदि जाति म एक ओर, पथक्करण की प्रक्रिया को जन्म देता है तो, दूसरी ओर एकीकरण की प्रक्रिया को क्योकि निम्नस्तर की जातियो म जो व्यक्ति उच्चस्तर प्राप्त करने के लिए प्रेरित होते है उनको उच्चस्तर पर तब तक स्वीकार नही किया जाता जब तक कि उनकी सपूर्ण जाति उच्चतर स्तर पर स्वीकृत न हो जाय। सस्कृताइजेशन की प्रक्रिया जाति म विभाजन तथा एकीकरण का एक साथ जन्म देती है। पुराणो के आधार पर उच्चवर्ण का दावा मास मदिरा का निषेध वर्ण कर्म तथा आवागमन मे विश्वास और ब्राह्मणवादी कर्मकाण्ड का अपनाना सस्कृताइजेशन के मूलतत्व रहे हैं।

भारत म अग्रेजी राज की स्थापना के बाद से योरोपीय सघात के कारण भारत की आर्थिक-व्यवस्था म जो परिवर्तन आये और अग्रेजी शिक्षा एव सरकारी नौकरी व्यापार और शहरीकरण ने आर्थिक चलिष्णुता के जो अवसर प्रदान किए उनसे सस्कृताइजेशन के द्वारा सामाजिक प्रतिष्ठा को उठान के और भी अवसर मिले। दूसरी ओर, पश्चिमीकरण (Westernization) सामाजिक प्रतिष्ठा का एक नया मापदण्ड बना। इसके परिणामस्वरूप, वर्तमान भारत मे सस्कृताइजेशन और पश्चिमीकरण जाति गत्यात्मकता के दो आधार बन गये। जिस प्रकार, मध्य-युग म इस्लाम ने सस्कृताइजेशन को अधिक तीव्र बना दिया उसीप्रकार योरोप तथा ईसाइयत के सघात ने, बदलती हुई आर्थिक-व्यवस्था मे, सस्कृताइजेशन को पहले की अपेक्षा अधिक व्यापक सामाजिक आधार प्रदान किया। ब्रह्मसमाज और आर्यसमाज सस्कृताइजेशन को व्यापक बनाने के आन्दोलन थे और दोनो के प्रणेता ब्राह्मण थे। आर्य-समाज ने सभी को पौरोहित्य कार्य का स्थान देकर सस्कृताइजेशन को और भी जनसुलभ बना दिया। यह दोनो आन्दोलन पश्चिमीकरण के विरोधी थे किन्तु, फिर भी,

पश्चिमीकरण प्रतिष्ठा का मापदण्ड बना रहा। व्यापार, सरकारी नौकरियों और राजनतिक अधिकारों ने निम्नस्तर की विभिन्न जातियों म ऐसे वर्ग को जन्म दिया जिसने संस्कृताइजेशन को अपनाकर उच्चस्तर प्राप्त करने की प्रेरणा दी। अम्बेदकर द्वारा अछूतों को बुद्धवाद की ओर ले जाने का प्रयास इसका एक उदाहरण है। इस काल में, पौराणिक प्रमाणों के आधार पर निम्नस्तर की जातियों ने अपने लिए उच्चस्तर का दावा किया। चमारों ने अपने को चवरवंशी राजपूत, जरावारों ने अपने को राठौर राजपूत तथा काछियों ने अपने को कुशवाहा राजपूत कहा। अनेक जातियों ने जाति के महापुरुषों का संस्कृताइजेशन के प्रतीक के रूप में स्वीकार किया। उदाहरणार्थ चमारों ने रविदास जयन्ती मनानी शुरू की और तुलसीदास रामायण तथा सत्यनारायण कथा के स्थान पर रविदास रामायण तथा रविदास कथा को अपनाया। भंगियों ने वाल्मीकि को जाति का प्रतीक माना और उनके उपदेशों को मानने पर जोर दिया। अनेक जातियों ने अपनी उन संज्ञाओं का बहिष्कार किया जिनके कारण उन्हें हेय माना जाता था (जैसे भंगियों का अपने को भंगी न कहकर वाल्मीकि कहना) मांस और मदिरा के त्यागने पर जोर दिया और यज्ञोपवीत के साथ साथ ब्राह्मणों की सेवाओं को अपनाने पर जोर दिया।

संस्कृताइजेशन की प्रक्रिया एकतरफा रही है क्योंकि निम्नस्तर की जातियाँ ही संस्कृताइजेशन को अपनाने के लिए उन्मुख रही हैं। पश्चिमीकरण उच्चस्तर की जातियों से प्रारम्भ हुआ और बाद में उसका प्रचार निम्नस्तर की जातियों में हुआ। पश्चिमीकरण और संस्कृताइजेशन साधन हैं साध्य नहीं। साध्य है उच्चतर सामाजिक प्रतिष्ठा। लोगों की ऐसी धारणा रही है कि पश्चिमीकरण का प्रभाव उच्चस्तर पर रहा है और संस्कृताइजेशन का निम्नस्तर पर। जहाँ पश्चिमीकरण प्रारम्भ होता है वहाँ संस्कृताइजेशन का अन्त होता है और जहाँ संस्कृताइजेशन का अन्त होता है वहाँ पश्चिमीकरण का प्रारम्भ होता है। ऐसी मान्यतायें भ्रममूलक हैं क्योंकि यदि बुद्धवाद मध्ययुग के सुधारवादी पंथों और उन्नीसवीं शताब्दी के सुधारवादी आन्दोलनों के सन्दर्भ में विचार किया जाय तो यह विदित होगा कि संस्कृताइजेशन एक गत्यात्मक विचार है—वह विचार जिसका निर्वचन एक ओर 'सम्भवामि युगे युगे' की धारणा से सम्बन्धित रहा है तो दूसरी ओर, देश काल की परिस्थितियों से। संस्कृताइजेशन के साथ पश्चिमीकरण का संगम यूरोपीय संघात का प्रभाव है। पश्चिमीकरण और संस्कृताइजेशन जाति संरचना के विभिन्न स्तरों पर एक साथ काम कर रहे हैं यद्यपि किसी स्तर पर संस्कृताइजेशन का अपेक्षाकृत अधिक प्रभाव है और किसी स्तर पर पश्चिमीकरण का। पश्चिमीकरण और संस्कृताइजेशन सामाजिक प्रतिष्ठा की चलिष्णुता के आधार अवश्य हैं किन्तु वे वस्तुतः, निर्भर करते हैं जाति गत्यात्मकता का जन्म देने वाली दो प्रक्रियाओं पर। उन प्रक्रियाओं में एक है जाति से पृथक होकर उच्चस्तर पाने की प्रक्रिया और दूसरी, उच्चस्तर प्राप्त करने के लिए जाति के

एकीकरण को बनाए रखने की प्रक्रिया। बदलती हुई आर्थिक परिस्थितियों ने तथा व्यापार, सरकारी तथा फौज की नौकरी और, राजनैतिक अधिकारों से उत्पन्न परिस्थितियों ने इन प्रक्रियाओं के लिए अपेक्षाकृत अधिक व्यापक सामाजिक आधार प्रदान किया जिसके कारण, इन दोनों प्रक्रियाओं के माध्यम से, पश्चिमीकरण और संस्कृतीकरण को जाति-गत्यात्मकता में अधिक प्रभावशाली स्थान मिला।

योरोपीय संघात का एक महत्वपूर्ण प्रभाव यह पड़ा कि भारतीय समाज की एक आधारभूत संस्था होते हुए भी जाति एक प्रमुख सामाजिक समस्या बन गई। योरोपीय उदारतावाद, प्रजातन्त्रवाद, व्यक्तिवाद और वैयक्तिक धर्म के आदर्शों के सन्दर्भ में जाति अनुपयुक्त सामाजिक संस्था प्रतीत हुई। हिन्दू समाज के एकीकरण की समस्या ने जाति को सामाजिक समस्या का रूप दिया किन्तु, साथ ही-साथ, इस काल के सांस्कृतिक आर्थिक तथा राजनैतिक जीवन में जाति की जड़ें जम गईं। फलतः जैसाकि पंजाब के जाति पाँति तोड़क मण्डल जैसे संगठनों और आर्यसमाज के अछूतोद्धार के कार्यक्रमों से स्पष्ट है एक ओर जाति पाँति के तोड़ने के विचार का अभ्युदय हुआ तो दूसरी ओर, जाति का समाजशास्त्रीय विवेचना को प्रोत्साहन मिला। विदेशी प्रशासकों ईसाई मिशनरियों और मानव शास्त्रियों ने जाति क्या है? क्या है? इन प्रश्नों के समाधान का प्रयास किया। इन प्रश्नों का समाधान एक ओर ऐतिहासिक विवेचना के द्वारा किया गया और दूसरी ओर, जाति की वर्तमान व्यावहारिक विशेषताओं के आधार पर। रिसले ने जाति को प्रजाति-सम्मिश्रण के परिणाम माना जिसे स्वीकार न किया जा सका, क्योंकि एक ही स्तर की जातियों के प्रजातिक गठन में समानता नहीं पाई जाती है। नस्फील्ड और नेसफील्ड ने जाति की उत्पत्ति पेशे से मानी है किन्तु जैसाकि डा० मजूमदार ने लिखा है, उपलब्ध पेशों की अपेक्षा जातियों का अधिक होना, इस सिद्धांत की सबसे बड़ी कमजोरी है जिसके कारण इसे स्वीकार नहीं किया जा सकता। भारत के सामाजिक इतिहास के सन्दर्भ में, जाति गत्यात्मकता का विवेचन करते हुए घुरे ने जाति को ब्राह्मणों की वह सामाजिक कृति कहा जिसे ब्राह्मणों ने अपनी सामाजिक प्रतिष्ठा बनाए रखने के लिए, चालाकी से समाज में उत्पन्न किया। किन्तु घुरे के सिद्धान्त से यह नहीं स्पष्ट होता कि ब्राह्मण ही क्यों जाति प्रथा के विरोधी रहे हैं और क्या कोई सामाजिक संस्था इतनी सुनियोजित और सुयुक्तिपूर्ण विचारधारा की उत्पत्ति हो सकती है जितनी कि घुरे ने जाति को माना है। डा० मजूमदार ने जाति की उत्पत्ति संस्कृति-संघर्ष और प्रजाति-सम्पर्क से मानी है। उनके अनुसार आर्यों और अनार्यों की संस्कृतियों के संघर्ष और उस संघर्ष में प्रजातिक शुद्धता बनाए रखने की भावना से जाति की उत्पत्ति हुई है जिसका प्रमाण अनुलोम और प्रतिलोम की विवाह प्रथाएँ हैं। किन्तु, अनुलोम और प्रतिलोम का सम्बन्ध वर्ण से है न कि जाति से। कुछ लोगों ने मनु का अनुसरण करते हुए, आर्यों की वर्ण-व्यवस्था से जाति व्यवस्था की

उत्पत्ति मानी है। इस मत के प्रतिपादकों ने दो दृष्टिकोण अपनाए—एक दृष्टिकोण के अनुसार, वर्ण जातियों में विभाजित हुए, और, दूसरे के अनुसार वर्ण ही जातियों में अध:पतित हुए। किन्तु इस मत के प्रतिपादक यह भूल जाते हैं कि भारतीय विचारधारा में वर्ण अर्जित सामाजिक प्रतिष्ठा पर आधारित रहा है और जाति जन्मजात सामाजिक प्रतिष्ठा पर। वर्ण और जाति, वस्तुत दो समानान्तर परम्पराएँ हैं। हटन ने जाति-व्यवस्था में निहित छुआछूत के विचारों पर जोर देते हुए यह मत प्रतिपादित किया कि जाति के तत्त्व संभवत आर्यों की सामाजिक व्यवस्था के बाहर उत्पन्न हुए हैं, क्योंकि भारत के आदिवासियों में भी छुआछूत के विचार पाए जाते हैं। जाति व्यवस्था की उत्पत्ति के प्रश्न को लेकर, जाति का विश्लेषण करने वाले विद्वान जाति और गणजाति में पाई जाने वाली असाधारण समानताओं को, जाति के विश्लेषण में गौण मानते रहे हैं। यदि जाति के पेशागत विशेषीकरण की विशेषता को जाति की विशेषताओं में से निकाल दिया जाय तो जाति वस्तुत गणजाति ही है। अंग्रेजी राज्य की स्थापना से पहले के भारतीय साहित्य में वर्ण और जाति का अन्तर तो पाया जाता है किन्तु जाति और गणजाति की द्विभाजिता नहीं पाई जाती है। जाति और गणजाति मूलत जन्मजात अन्तर्विवाही समूह के दो पहलू हैं। अत, यह कहा जा सकता है कि जाति आर्यों की वर्ण व्यवस्था तथा भारत की गणजातीय व्यवस्था के समन्वय से उत्पन्न एक सामाजिक प्रमेय है। गणजातियों से जातियों की संख्या बढ़ी है और संस्कृताइजेशन के माध्यम से वर्ण व्यवस्था के सिद्धान्त पर, जातियों की क्रम व्यवस्था विकसित हुई है। जाति वह संरचना है जिसका एक आधार गणजाति के माध्यम से जन्म और अन्तर्विवाहमूलक है तथा दूसरा वर्ण सिद्धान्त के आधार पर, सामाजिक प्रतिष्ठामूलक।

भारत में आदिवासी संस्कृति

उन्नीसवां अध्याय

आदिवासी समाज सस्कृति सकुल

आदिवासी भारत

भारत के राजनतिक नक्शे के साथ-साथ आदिवासी भारत का भी नक्शा बदलता रहा है। अपनी पुस्तक रेसेज एण्ड कल्चर्स आफ इण्डिया म मजूमदार ने भारत पाकिस्तान उपमहाद्वीप के आदिवासियो की सस्कृति, प्रजाति तथा भाषा भिन्नता क आधार पर तीन क्षत्रो म वर्गीकृत किया है। पहला क्षेत्र है पश्चिमोत्तर सामान्त प्रदेश का जो पश्चिमी पाकिस्तान म है और जिसम अफगानी और बिलोची गणजातियाँ आती है। यहाँ के लोग जिरगो म बटे हुए हैं और साधारणत पख्तून के नाम म प्रसिद्ध हैं। अग्रजी सरकार ने इन्ह दबाकर अवश्य रखा किन्तु इन्होन अग्रजो का पूण आधिपत्य कभी नही माना। आज य वस ही अपने लिय स्वतन्त्र पख्तूनिस्तान की माँग कर रह हैं, जसे कि नागा प्रदेश के निवासी। पूर्वोत्तर सीमान्त प्रदेश (उद्सी) मजूमदार क अनुसार दूसरा आदिवासी-क्षत्र है और शेष भारत, जिस उन्होने आन्तरिक भारत (Interior India) कहा है तीसरा क्षत्र है। पहल क्षेत्र की गणजातियाँ पश्तो भाषा का प्रयोग करती हैं दूसर क्षत्र की गणजातियाँ मॉन्-ख्मेर और आसामी मिश्रित तिब्बती चीनी परिवार की भाषाओं का तथा तीसरे क्षत्र की

गणजातियाँ इण्डो-आर्य (Indo-Arya), द्राविड़ तथा ऑस्ट्रिक परिवार की भाषाओं का। भाषा के आधार पर तीसरे क्षेत्र की गणजातियाँ को भील कोली, गोंड-कोया तथा मुण्डा भाषा समूहों में बाँटा जा सकता है। भील कोली समूह में इण्डो-आर्य भाषा को आस्टिक भाषा पर आधारित किया गया है, गोंड कोया समूह में द्राविड़ भाषा की बोलियों का प्रयोग होता है और मुण्डा समूह में जिन बोलियों का प्रयोग होता है वे आस्टिक परिवार की भाषा के अन्तर्गत आती हैं। पश्चिमोत्तर सीमान्त प्रदेश की गणजातियों में आमतौर पर काकेसायड प्रजाति के तत्वों का समावेश है, पूर्वोत्तर सीमान्त प्रदेश की गणजातियों में, एक ओर मंगोलायड प्रजातिक तत्वों का समावेश मिलता है तो दूसरी ओर भारतीय आस्ट्रेलायड प्रजातिक तत्वों का, जो, अपने मूल रूप में सम्भवतः प्राग् मेडीटरेनियन (Proto Mediterranean) के प्रकार के रहे होंगे[1]।

भारत के जिन भूभागों में आदिवासी पाये जाते हैं, उनकी भौगोलिक विशेषताओं तथा आदिवासियों के प्रजातिक गठन और भाषा भिन्नताओं के

भौगोलिक क्षेत्र

आधार पर, वर्तमान आदिवासी भारत को मोटे तौर पर, तीन बड़े बड़े आदिवासी क्षेत्रों में विभाजित किया जा सकता है। पहला, उत्तरी उत्तर-पूर्वी क्षेत्र जिसका एक नाका शिमला और लेह में है और दूसरा लुशाई पहाड़ियों तथा मिश्मी मैदान में तथा जो लद्दाख से लेकर नेफा तक फैला हुआ है। मध्य में पतला और किनारों पर चौड़ा होता हुआ यह क्षेत्र, पश्चिम में लगभग अक्षांश 390°7 उ०—3०°00 उ० तथा पूर्व में लगभग अक्षांश 23°30 उ०—28°0′ उ० तथा लगभग देशान्तर 77°33 पू०—97°0′ पू० के बीच में फैला हुआ है। इसमें पूर्वी कश्मीर, पूर्वी पंजाब हिमाचल प्रदेश उत्तरी उत्तरप्रदेश, सिक्किम, नागालैण्ड तथा आसाम के आदिवासी क्षेत्र आते हैं। नृकुलशास्त्रीय (Ethnological) दृष्टिकोण से दक्षिणी उत्तरप्रदेश (जिला मिर्जापुर), बिहार, बंगाल और उड़ीसा, मध्यप्रदेश, गुजरात तथा दक्षिणी राजस्थान के आदिवासी मध्य क्षेत्र (Central Zone) में आते हैं। उत्तरी राजस्थान बस्तर (मध्यप्रदेश) और बम्बई प्रान्त के दक्षिणी भाग तक (लगभग अक्षांश 20°0′ उ०—2०°0 उ० तथा देशान्तर 73°0 पू०—90°0 पू० के बीच) फैला यह क्षेत्र, क्षेत्रफल और जनसंख्या में सबसे बड़ा क्षेत्र है। इसका दक्षिण पूर्वी भाग आन्ध्र, मद्रास केरल और मैसूर इत्यादि प्रान्तों के आदिवासी क्षेत्रों के साथ, दक्षिणी आदिवासी क्षेत्र (अक्षांश 8°0′ उ०—20°0′ उ० तथा देशान्तर 75°0 पू०—8०°0 पू० के बीच) का रूप ग्रहण करता है। अंडमान और निकोबार द्वीपों में भी आदिवासी पाये जाते हैं किन्तु उनका प्रजातिक गठन भारत-महादेश (Main Land) के आदिवासियों से भिन्न है[2]।

1 मजूमदार, डॉ० एन० रेसेज एण्ड कल्चर्स आफ इण्डिया पृष्ठ 377।
2 मजूमदार और मदन के आधार पर।

जनसंख्या और प्रसार के दृष्टिकोण से, मध्य क्षेत्र अन्य क्षेत्रों की अपेक्षा जितना बड़ा है उसके प्रति अपेक्षाकृत हमारा समाजशास्त्रीय ज्ञान भी उतना ही अधिक है। यह वह क्षेत्र है जहां आदिवासियों की जनसंख्या का उत्तरोत्तर केन्द्रीकरण भी होता रहा और गैर आदिवासियों से संस्कृति सम्पर्क भी। इसी क्षेत्र में गोंड जैसे आदिवासियों के साम्राज्य का उत्थान और पतन भी हुआ है। भारत के कटि प्रदेश में स्थापित होने के कारण अंग्रेजी शासन काल में, इस क्षेत्र के अध्ययन पर भी अधिक जोर दिया गया। किन्तु आज हिमालय में भारत और चीन की सीमाओं के मिलन तथा चीन भारत संघर्ष के कारण उत्तरी उत्तर-पूर्वी क्षेत्र की महत्ता सबसे अधिक बढ़ गई है। नेफा को छोड़कर, इस क्षेत्र के बारे में हमारा समाजशास्त्रीय ज्ञान अल्पतम है। भारत के आदिवासी क्षेत्र पहाड़ियों, घाटियों तथा दुर्गम जंगलों से घिरे उन भूभागों में आते हैं जहां यातायात की अपेक्षाकृत कम सुविधा होने के कारण जन जीवन एक प्रकार से अर्द्ध पृथक्कृत अवस्था में रहा है। इसका उत्तरदायित्व जिन ऐतिहासिक परिस्थितियों पर है उनका वर्णन यहां न करके आगे किया जायेगा। यहां तो इतना कहना काफी होगा कि अर्द्ध पृथक्कृत अवस्था के बावजूद इन प्रदेशों का जन जीवन भारत महादेश के सांस्कृतिक प्रवाहों से अछूता नहीं रहा है। अंग्रेजी राज की स्थापना के बाद से, ज्यों ज्यों यातायात के साधन और औद्योगिकी का प्रभाव बढ़ता रहा इन प्रदेशों की पृथक्ता भी कम होती गई। द्वितीय महायुद्ध में, इम्फाल युद्ध का मोर्चा बना और जब भारत की उत्तरी सीमा पर चीनी फौजों ने लद्दाख और नेफा में चढ़ाई (1962) की तो नेफा से लेकर लद्दाख तक के आदिवासी क्षेत्र की पृथक्ता और भी कम हुई।

भारत के आदिवासी क्षेत्र पहाड़ों तथा जंगलों से घिरे होने के बावजूद भी, एकान्त आदिवासी (Exclusively Tribal) क्षेत्र नहीं हैं। हां, यह अवश्य है कि कहीं आदिवासियों के साथ गैर आदिवासियों की संख्या कम है और कहीं ज्यादा, यद्यपि प्रत्येक सम्पूर्ण आदिवासी क्षेत्र में आदिवासियों की संख्या गैर आदिवासियों से ज्यादा है। लद्दाख और नेफा की अपेक्षा दक्षिणी बिहार, उड़ीसा और मध्यप्रदेश के आदिवासी क्षेत्रों में गैर आदिवासियों की संख्या अधिक है। जहां जमशेदपुर और भिलाई जैसे कारखाने खुल गये हैं, वहां गैर आदिवासियों की स्थायी जनसंख्या और भी बढ़ गई है। अधिकांश आदिवासी निश्चय ही जंगलों से आच्छादित दुर्गम पहाड़ी घाटियों में रहते हैं किन्तु इन भौगोलिक परिस्थितियों के ही आधार पर, आदिवासी सांस्कृतिक जीवन पर भौगोलिक परिस्थितियों तथा प्राकृतिक पर्यावरण का अपेक्षाकृत इतना अधिक प्रभाव पड़ता है कि प्राकृतिक पर्यावरण के विभिन्न तत्व आदिवासी संस्कृति के पार्थिव उपादान बन जाते हैं और उसके कारण आदिवासी संस्कृति तथा प्राकृतिक पर्यावरण में एक प्रकार का सहानुभूतिक तादात्म्य सा स्थापित हो जाता है। किन्तु तादात्म्य में जो सह-सम्बन्ध है, वह आदिवासी संस्कृति का एकमात्र

नात्मक तत्व नहीं है। आदिवासी ने अपने भौगोलिक पर्यावरण का प्रत्यक्ष उपभोग किया है। जातियों में बटे हिन्दुओं और गणजातियों में बटे आदिवासियों में अन्तर ही यह रहा है कि आदिवासी अपने प्राकृतिक पर्यावरण का प्रत्यक्ष उपभोग करता रहा है। किन्तु भौगोलिक परिस्थितियों के ही आधार पर आदिवासी की परिभाषा नहीं हो सकती है। उड़ीसा के खाड गणजाति के आदिवासी पहाड़ी घाटियों में अवश्य रहते हैं किन्तु, पहाड़ों में रहने के कारण ही, वे आदिवासी नहीं हैं। जैसा कि बेली[1] ने कहा है कि गणजाति (आदिवासी जाति) की परिभाषा में भौगोलिक मापदण्ड इसलिए असफल हो जाता है कि पहाड़ियों (उड़ीसा की पहाड़ियों) में यदि गण-जातियों के अलावा अन्य लोग रहते तो आदिवासी समस्या ही नहीं रहेगा।

आदिवासी भाषा वर्गीकरण

भारत के चार भाषा परिवारों इण्डो योरोपीय (आर्य) द्राविड़, आस्ट्रिक (कोल या मुण्डा) और तिब्बती चीनी, में से आदिवासी मुख्यतया अनार्य भाषाओं तथा बोलियों का प्रयोग करते हैं यद्यपि आर्य भाषा के प्रभाव से वे एकदम मुक्त नहीं हैं। हाँ यह अवश्य है कि आर्य भाषा का प्रभाव सारे भारतवर्ष के आदिवासियों पर नहीं पड़ा है। उत्तरी उत्तर पूर्वी प्रदेश में चीनी तिब्बती और तिब्बती बर्मी का प्रयोग होता है यद्यपि, जैसा कि खासी प्रदेश के उदाहरण से स्पष्ट है इस प्रदेश में कहीं कहीं मॉन-ख्मेर (आस्ट्रिक परिवार की भाषा) का प्रयोग होता है। नागा पहाड़ियों में, स्थानीय बोलियों के अलावा सोलह भाषाओं का प्रयोग होता है। मध्यक्षेत्र में, आस्ट्रिक परिवार की भाषा की प्रधानता तथा यहाँ वहाँ इण्डो आर्य भाषा के प्रभाव के साथ साथ, द्राविड़ भाषा परिवार की बोलियों और भाषाओं का भी प्रयोग होता है। इस क्षेत्र में ओराओं कान्ध खोंड और गोंड नामक आदिवासी जिन भाषाओं को बोलते हैं, वे द्राविड़ परिवार की हैं और छोटा नागपुर (बिहार) के आस-पास बोली जाने वाली मुण्डा[2] भाषाएँ आस्ट्रिक परिवार की हैं। गोंडी भाषा द्राविड़ और आन्ध्र भाषाओं

---

1 बेली, एफ० जी० ट्राइब, कास्ट एण्ड नेशन पृष्ठ 264

2 मुण्डा भाषाओं में क्रिया और लिंग भेद का अभाव है। शब्दों के द्वारा वस्तुओं का वर्गीकरण निर्जीव और सजीव के आधार पर होता है। इन भाषाओं के लिए 'मुण्डा' संज्ञा का प्रयोग सबसे पहले (1852 में) फ्रेडरिक मिलर ने किया था। सन 1907 में डब्ल्यू० श्मिट (W Shmidt) ने मुण्डा तथा मान और ख्मेर भाषाओं को एक समूह की मानकर, उसे आस्ट्रो एशियाटिक भाषा परिवार की संज्ञा दी थी। मुण्डा भाषा परिवार तथा फिनो उग्रियन (Finno Ugrian) परिवार को एक वर्ग में मिलाने के प्रयत्नों को हेमडार्फ ने तर्कसंगत नहीं माना है। सन 1928 में हैन गेल्डर्न (Heine Geldern) ने यह सुझाव रखा कि मुण्डा भाषाएँ उन मंगोलॉयड

के बीच की मानी जाती है। दक्षिण क्षेत्र के आदिवासी किसी न किसी रूप मे द्राविड-परिवार की भाषाओ तामिल, तेलगू, मलयालम और कनड या उनसे सम्बन्धित भाषाओ का प्रयोग करते हैं।

भारत के तीन आदिवासी क्षेत्र इस प्रकार, साधारणतया तीन प्रधान भाषा-क्षेत्रो मे रक्खे जा सकते है यद्यपि किसी भी क्षेत्र मे एक ही भाषा का प्रयोग नही होता है। उत्तरी उत्तर पूर्वी क्षेत्र म तिब्बती चीनी और तिब्बती बर्मी के साथ मान-खमेर भाषा बाली जाती है और मध्य क्षत्र मे आस्ट्रा एशियाटिक परिवार की भाषाओ के साथ द्राविड परिवार की भाषाएँ पाई जाती है। हा, दक्षिणी क्षेत्र इसका अपवाद अवश्य लगता है। एक ही क्षेत्र मे दो आदिवासी समूह संस्कृति म समान होते हुए भी अलग-अलग भाषाओ का प्रयोग करते है। छोटा नागपुर म मुण्डा बोली आस्ट्रिक परिवार म आती है और ओरांओ बोली द्राविड परिवार मे, जबकि ओरांओ और मुण्डा एक-दूसरे के पडौसी हैं और दोनो की संस्कृति समान है। आदिवासी भाषाए और बोलियाँ निश्चय ही अनार्य भाषाओ के परिवार की है किन्तु यह नही कहा जा सकता कि मूलत भारत के आदिवासियो की एक भाषा थी या अनेक भाषाए या यदि एक भाषा थी तो उसका मूल रूप क्या था। आज कोई भी आदिवासी भाषा अपने मूल रूप मे नही है। इतिहास के प्रवाह म, ज्यो ज्यो और जहा जहा आदिवासियो का गर आदिवासियो स सम्पर्क हुआ उनकी भाषा बदली या उन्होने दूसरो की भाषा अपनाई या कही कही उनकी मूल भाषा का लोप हो गया। बगा आदिवासियो ने आज अपनी मूल भाषा को छोडकर अपने पडौस की छत्तीसगढी

लोगों की भाषा से निकली ह जो उत्तर पूव की ओर से, नव प्रस्तरयुगीन सस्कृति के प्रणेता के रूप में भारत में आये। यह मान्यता इस तथ्य पर आधारित है कि आर्यों के पहले, उत्तर-पूर्वी भारत तथा मध्य भारत में सास्कृतिक नरतय का सम्बन्ध स्थापित हो चुका था जो उस समय अलग हुआ, जब आय पूव की ओर बढ़े। दिवगत की स्मति में, बड़े बड़े पत्थरों का स्मारक बनाने का कल्प (Megalithic Ritual), युवागृह सगठन, जो उत्तर पूर्वी तथा मध्य क्षत्रों में पाये जाते ह तथा मध्यभारत की बोंडो और उत्तरी पूर्वी क्षेत्र की को-याक आदिवासी स्त्रियों की छाल के रंगों से बनी घाघरी, हैमन्डाफ के अनुसार, गेल्डन की मान्यता के नकुलशास्त्रीय प्रमाण ह। हटन का मत है कि भारत में आस्ट्रिक परिवार की भाषा एक ओर हिमालय के पश्चिमी किनारों से आने वाले कोल भाषा भाषियों द्वारा और, दूसरी ओर हिमालय के पूव से आने वाले मान खमेर भाषा भाषियों द्वारा आई है—मजूमदार एण्ड मदन एन इन्ट्रोडक्शन टू सोशल एन्थ्रापोलोजी पृष्ठ 2.5 256।

(मध्य प्रदेश) भाषा को अपना लिया है, यद्यपि बंगा संस्कृति आज भी एक विशिष्ट संस्कृति है। मध्य क्षेत्र के अधिकतर आदिवासी द्विभाषी हो गए हैं—प्रत्येक समूह अपनी भाषा का भी प्रयोग करता है। मध्य क्षेत्र में आदिवासी भाषाओं के साथ-साथ उड़िया, बंगाली और हिन्दी का भी प्रचलन मिलता है। ओरांव और मुण्डा हिन्दी का प्रयोग करने लगे हैं और बंगाल में रहने वाले संथाल अपनी भाषा के अलावा बंगाली का प्रयोग सीख गए हैं।

केरल में, ट्रावनकोर कोचीन के निवासी कादर प्राचीनतम आदिवासी माने जाते हैं किन्तु वे मलयालम भाषा का प्रयोग करते हैं। एक ओर, जैसा कि गोंडों के उदाहरण से स्पष्ट है, भारत के आदिवासियों की भाषा का आर्यकरण हुआ और, दूसरी ओर, जहां द्राविड़ भाषा भाषियों का प्रभुत्व रहा है आदिवासियों की भाषाओं का द्राविडीकरण हुआ। ऐसी दशा में, भाषा के आधार पर आदिवासी की परिभाषा करना दुष्कर है क्योंकि आदिवासियों की कोई एक भाषा नहीं है। आदिवासी भाषा की एक सार्वभौम विशेषता है और वह है लिपि का अभाव। लिपि के अभाव के कारण सारा आदिवासी साहित्य मौखिक होता है। लिपि के अभाव में आदिवासी भाषा अधिकतर बोली के ही स्तर पर रहती है और इस कारण, लिखित भाषाओं की अपेक्षा वह परिवर्तनशील भी अधिक होती है। आदिवासियों की भाषाओं के लोप होने का एक कारण आदिवासियों में लिपि का अभाव है और जहां यह अभाव नहीं है, आदिवासी भाषा बाह्य प्रभाव को रोकने में सशक्त हो जाती है। जब से ईसाई मिशनरियों ने आदिवासियों में रोमन लिपि का प्रचार करके आदिवासी भाषा में ही प्राथमिक शिक्षा का संगठन किया है तब से आदिवासी भाषाएं सबल होने लगी हैं और सांस्कृतिक पुनरुन्नयन का माध्यम बनती जा रही हैं।

प्रजातिक गठन

जिस प्रकार यह नहीं कहा जा सकता कि आदिवासियों की मूल भाषा क्या थी, उसी प्रकार यह भी कहना कठिन है कि आदिवासियों का मूल प्रजातिक प्रकार क्या था। सिंधु नदी की घाटी की संस्कृति, जो लगभग चार हजार पांच सौ वर्ष और नर्मदा नदी की घाटी की संस्कृति, जो दो लाख पचास हजार वर्ष पुरानी हैं, की खोदाई में इस तथ्य के यथेष्ट प्रमाण नहीं मिले हैं कि उनके निर्माताओं का प्रजातिक प्रकार क्या था। यह अनुमान अवश्य लगाया गया कि सिंधु नदी की घाटी में जो नगरी संस्कृति उत्पन्न हुई थी उसके निर्माताओं का प्रजातिक गठन विजातीय था। भारत में एक ओर, प्रागितिहास में काम कम हुआ है और, दूसरी ओर, यहां की जलवायु के कारण, प्रागैतिहासिक प्रमाणों की कमी भी रही है जिसके कारण प्रागितिहास काल के भारतीय मानव की प्रजातिक विशेषताओं और संस्कृति के विषय में हमारा ज्ञान आज भी कम है। विभिन्न प्रजातियों तथा भाषा-संस्कृति-समूहों का कब, कहां और किस प्रकार स्थानान्तरण होता रहा है इस विषय में भी निश्चित ऐतिहासिक तथा प्रागैतिहासिक

प्रमाणों की भी कमी रही है—जिसके कारण, प्राचीन पुस्तकों में मिलने वाले विभिन्न समूहों का प्रजातिक विशेषताओं के वर्णन तथा इधर बीसवीं शताब्दी में की गई शरीर रचना की पैमाइशों के आधार पर आदिवासियों के प्रजातिक गठन तथा इतिहास को जानने का प्रयास किया गया है। उदाहरणार्थ, वेदों में 'दस्यु' का जो वर्णन मिलता है और गुप्त काल की चित्रकला में जो नीग्रायड विशेषताओं वाली आकृतियां मिलती हैं उनके आधार पर यह अनुमान लगाया गया है कि आदिवासियों के प्रजातिक गठन में श्वेत प्रजाति की विशेषताओं के स्थानपर, नीग्रायड तथा मंगोलायड विशेषताओं का ही अधिक समावेश है। किन्तु इस समावेश के स्वरूप और मात्रा पर मतभेद है।

सर हरबर्ट होप रिसले जिन्होंने सन अठारह सौ इक्यानवे की जनगणना का पर्यवेक्षण किया था ने यह मत प्रतिपादित किया था कि भारत में द्राविड इण्डो आर्य और मंगोलायड प्रजातियों के समावेश से भारत के मुख्य प्रजातिक प्रकारों का गठन हुआ है और आदिवासी प्रजातिक गठन द्राविड तथा मंगोलायड के मिश्रण का परिणाम है। रिसले के सहयोगी सर विलियम क्रुक ने यह लिखा है कि आर्यों को पंजाब में मंगोलायड प्रकार की एक नागा प्रजाति तथा बंगाल में दस्युओं का सामना करना पड़ा था। क्रुक ने दस्युओं को द्राविड तथा काल प्रजातियों का एक मिश्रित प्रकार माना है और द्राविडों का नीग्रिटो प्रकार की एक प्रजाति किन्तु इन मतों को मान्यता नहीं मिली है क्योंकि इसमें जहां आर्य और द्राविड जैसे भाषा समूहों को प्रजाति माना गया है वहां दो प्रजातियों के मिश्रण से एक नई प्रजाति के बन जाने की कल्पना की गई है जो आनुवांशिकता के नियमों के विरुद्ध पड़ती है।

हैडन ने, प्रजातियों के स्थानान्तरण के आधार पर प्रजातिक इतिहास तथा गठन को स्पष्ट करने का प्रयास किया है। हैडन मध्य क्षेत्र के आदिवासियों को भारत का मूल निवासी मानते हैं और उन्हें पूर्व द्राविड मानते हुए उन्हें भारत का प्रजातिक आधार मानते हैं। भारत के आदिवासियों का मूल प्रजातिक प्रकार क्या था यह हैडन के मत से स्पष्ट नहीं होता है यद्यपि हैडन के मत से यह विचार अवश्य पनपा कि भारत के आदिवासियों तथा भारत के निवासियों के प्रजातिक गठन के विश्लेषण में, भारत में जो प्रजातिक समूह आये हैं उन पर ध्यान देना आवश्यक है। इस दृष्टिकोण से बरन इगॉन वॉन आइक्स्टेड ने यह मत प्रतिपादित किया है कि हिमयुगों के काल में दक्षिण भारत में प्रोटो नीग्रायड (Proto Negroid) प्रकार की एक प्रजाति विद्यमान थी। जिसको आइक्स्टेड ने इण्डो-नीग्रिड (Indo Negrid) की संज्ञा दी है। बाद में यहाँ लंका के वेड्डाओं के प्रजातिक गठन से मिलती जुलती एक प्रजाति का आगमन हुआ जिसको उन्होंने वेड्डिड (Veddid) प्रकार की संज्ञा दी है। भारत में जो वर्तमान वेड्डिड प्रकार (Veddid Type) मिलता है, वह इण्डो नीग्रिड और प्राचीन वेड्डिड प्रकारों के मिश्रण का परिणाम है। एस० एम० सरकार

आइक्सटेड से सहमत होते हुए, वड्डा प्रकार के प्रजातिक समूह में आने वाले आदिवासी-समूहों को भारत का प्राचीनतम प्रजातिक प्रकार मानते हैं। हैमण्डाक भी इसी मत का प्रतिपादन करते हैं किन्तु एक दूसरे ढंग से। हैमण्डाक के मत में, सम्भवत, आर्यों और द्राविड़ों का भारत में एक ही समय में आगमन हुआ। आर्य हिमालय के किनारे किनारे भू भाग से आये और द्राविड भारत के पश्चिमी समुद्रतट पर समुद्री मार्ग से। जिस समय आर्यों के प्रभुत्व का प्रसार उत्तर में हो रहा था उसी समय द्राविड दक्षिणी भारत का द्राविडीकरण कर रहे थे। उत्तर पश्चिमी भारत में ब्राहुवी भाषा भाषी प्रदेश जो अब पाकिस्तान में है द्राविड भाषा भाषियों के एक उपनिवेश का प्रतीक है न कि, आर्यों के पहले सम्पूर्ण भारत में द्राविड़ों के प्रसार और प्रभुत्व का। उत्तर में आर्यों और दक्षिण में द्राविड़ों के दवाब के कारण, भारत के मूल निवासी सिमट कर मध्य क्षेत्र की पहाड़ियों और घाटियों में जा बसे और वहाँ आदिवासी समुदाय बन गए। किन्तु पर्याप्त प्रमाणों और भारत के भाषा इतिहास की खोजों के अभाव में यह मत अनुमान मात्र लगता है।

गुह के अनुसार, भारत के आदिवासियों के प्रजातिक गठन में तीन प्रजातिक प्रकारों, नीग्रिटो प्रोटो ऑस्टोलॉयड और मंगोलॉयड का अलग अलग स्थानों और मात्राओं में समावेश हुआ है। गुह के अनुसार दक्षिणी भारत की गणजातियाँ कादर, इरुला और पनियन भारत के प्राचीनतम आदिवासी हैं और उनमें घुंघराले बालों (Frizzly Hair) का पाया जाना इस बात का प्रमाण है कि व मूलत नीग्रिटो प्रजाति के हैं। मध्य क्षेत्र के आदिवासी, गुह के अनुसार प्रोटो आस्टोलॉयड (Proto-Australoid) प्रजाति के हैं। उत्तर पूर्वी क्षेत्र में, गुह के अनुसार, मंगोलॉयड प्रजाति के तत्वों का प्रधानता है और यहाँ दो प्रकार की प्रजातिक धारणाएं पाई जाती हैं। एक वह प्रकार जो उत्तर पूर्वी भारत में पाया जाता है तथा अन्य मंगोलॉयड विशेषताओं के साथ चौड़ा सिर जिसकी प्रधान विशेषता है। दूसरा प्रजातिक प्रकार ब्रह्मपुत्र की घाटी के निवासियों में पाया जाता है तथा मध्यम सिर, मध्यम नाक और ऊंचा सिर (High Head) जिसकी मुख्य शारीरिक विशेषताएँ हैं। इस प्रकार, गुह के अनुसार भारत के आदिवासियों के प्रजातिक गठन में नीग्रिटो, प्रोटो आस्टोलॉयड और मंगोलॉयड प्रजातियों के तत्वों का समावेश हुआ है। दक्षिणी क्षेत्र नीग्रिटो है, मध्य क्षेत्र प्रोटो आस्ट्रोलॉयड और उत्तरी उत्तर पूर्वी क्षेत्र मंगोलॉयड। हटन भी गुह के मत के मानने वाले हैं। किन्तु, मजूमदार और आयप्पन गुह के मत को नहीं मानते हैं। आयप्पन के अनुसार, घुंघराले बाल केवल यहाँ वहाँ नाममात्र को ही पाये जाते हैं। प्रजातिक गठन में दक्षिणी क्षेत्र के आदिवासी, अन्य क्षेत्रों के आदिवासियों से मूलत भिन्न नहीं हैं। मजूमदार यह स्वीकार करते हैं कि उत्तर पूर्वी क्षेत्र में मंगोलॉयड प्रजाति के तत्वों का और पश्चिमी समुद्र तट के प्रदेश में बसने वाले आदिवासी समूहों में नीग्रॉयड प्रजाति के तत्वों का समावेश अवश्य हुआ है। किन्तु

हाती है। खोंडो का यह विश्वास है कि व अपने क्षेत्र मे कहीं बाहर स आकर बसे हैं और उहाने वहाँ के मूल निवासियो का बाहर खदेडा है। आर्थिक स्तर के दृष्टिकोण से यदि देखा जाय तो आदिवासियो का आर्थिक स्तर उन कृषको से बुरा नही है जो आदिवासी नही हैं। प्रायद्वीपीय भारत की गणजातियो के देवताओ म हिन्दू देवता पाये जात हैं और अनेक निम्न स्तर की जातियाँ आदिवासियो के उन अनेक विश्वासो और प्रथाओ को अपनाय हुए है जिन्ह उच्च स्तर की जातियाँ तिरस्कार की दृष्टि से देखती हैं। आज आदिवासियो का जो विशेषाधिकार मिले हैं उसस समस्या और भी जटिल हा गई है और आदिवासी तथा गर आदिवासी का प्रश्न राजनतिक तथा प्रशासकीय महत्त्व का हो गया है"।

आदिवासी संस्कृति को उसकी निजी तथा भारत की सामाजिक एतिहासिक पृष्ठभूमि म समझने की आवश्यकता है क्योंकि जिसे आदिवासी संस्कृति कहा जाता है उसका निर्माण भारत की एतिहासिक प्रक्रिया मे हुआ है। आदिवासी संस्कृति एक धारणा है जो एक विशप प्रकार क सामाजिक सगठन का प्रतीक है यद्यपि वह सामाजिक सगठन निरपक्ष नही है। योराप के मानवशास्त्रियो ने आदिवासी संस्कृति का योरोपीय समाज की सापक्षता मे निर्धारित करने का प्रयास किया है। भारत की आदिवासी संस्कृति को योरोपीय सापक्षता म नही समझा जा सकता है क्योंकि भारत की आदिवासी संस्कृति की सापक्षता भारतीय, विशपत हिन्दू समाज म है। आदिवासी संस्कृति तथा उसके सामाजिक आधार हिन्दू संस्कृति और समाज क व्यतिरेक नहीं है क्योंकि आदिवासी संस्कृति और समाज हिन्दुत्व का एक आधार है। आदिवासी और हिन्दू भारतीय सामाजिक सास्कृतिक नरन्तय के दो किनारे हैं यद्यपि उन्हे एक-दूसरे का पूरक नहीं कहा जा सकता है। यह नरन्तय भारत की एतिहासिक प्रक्रिया मे विकसित हुआ है और आज एतिहासिक प्रक्रिया ने ही इसक विकास के मार्ग म व्यवधान प्रस्तुत कर

---

2 अनेक समूहो न अपन लिए आदिवासी स्तर का दावा किया है ताकि वे सवधानिक विशेषाधिकारों का प्रयोग कर सकें। जौनसार बावर इसका उदाहरण है। बहुपत्नीत्व की प्रथा के कारण अग्रजों न इसे एक अलग बसे हो विशष प्रशासकीय क्षत्र माना है जसाकि अन्य आदिवासी क्षत्रो को। बहुपतित्व की प्रथा के कारण जौनसार बावर क निवासियों को प्राचीनतम मानने की भी धारणा रहा है। किन्तु जाति प्रथा क कारण वहाँ क निवासी यमे ही हिन्दू हैं, जसाकि अन्य क्षत्र क। एक दृष्टिकोण स वे आदिवासी ह और एक दृष्टिकोण स नहीं। किन्तु सवधानिक विशेषाधिकारों के कारण वहाँ क निवासियों ने अपन लिए आदिवासी स्तर का दावा किया है।

दिया है। इससे यह निष्कर्ष नही निकाला जा सकता कि आदिवासी का ऐतिहासिक गन्तव्य हिन्दुत्व म है। इसका अर्थ यह है कि भारत की एतिहासिक प्रक्रिया म जहाँ, एक ओर हिन्दू सस्कृति का विकास हुआ है, वहा दूसरी ओर, हिन्दू की पृष्ठभूमि के रूप म आदिवासी सस्कृति का विकास हुआ है। अत आदिवासी को हिन्दू-आदिवासी की ऐतिहासिक सापेक्षता म समझना अधिक तकसगत है। किन्तु, इस एतिहासिक सापक्षता की विवेचना के पहले आदिवासी सस्कृति समाज सकुल (Trible Culture Society Complex) की विवचना आवश्यक है।

२

आर्थिक व्यवस्था

आदिवासी आर्थिक व्यवस्था यारोप की पजीवादी आर्थिक व्यवस्था स भिन्न है जिसके कारण उन्नीसवी शताब्दी के योरोप के मानवशास्त्रिया ने आदिवासी-आर्थिक व्यवस्था को उद्विकासी ऐतिहासिक दृष्टिकोण स योरोपीय आर्थिक व्यवस्था क व्यतिरेक के रूप म निर्धारित करने का प्रयास किया है। इस प्रयास म एक ओर आदिवासी आर्थिक व्यवस्था म पाई जाने वाली भिन्नताओ के आधार पर विभिन्न आर्थिक व्यवस्थाओ के वर्गीकरण का प्रयास किया गया है और, दूसरी ओर विभिन्न आदिवासी आर्थिक व्यवस्थाओ का एकसूत्री उद्विकास क्रम म बिठाने का प्रयास किया गया है। प्रागतिहासिक विकास की अवस्थाओ के निर्धारण म आदिवासी आर्थिक व्यवस्थाओ को एकसूत्री उदविकास क्रम म बिठाने क प्रयास को बल मिला है। उदाहरणार्थ प्राचीन प्रस्तर-युग म यायावर और फल फूल तथा क द मूल एकत्र करने वाली आर्थिक व्यवस्था क प्रमाण मिले हैं नवप्रस्तरयुग म कृषक और पशु-पालक आर्थिक व्यवस्था के, कास्य युग म मुद्रा तथा धातु मन्त्र की उद्योगो पर आधारित आर्थिक व्यवस्था क और लौहयुग मे औद्योगीकरण तथा साख पर आधारित आर्थिक व्यवस्था क।

उदविकासी विचार इतना प्रभावकारी तथा व्यापक था कि उस काल के अथशास्त्री भी इसक प्रभाव स मुक्त न रह सक। वतमान अथशास्त्र के जन्मदाता एडम स्मिथ ने भी मानव क आर्थिक विकास का आखेटक पशुपालक तथा कृषक-अवस्थाओ से गुजरता हुआ माना है। ग्राहम चाइल्ड न मानव विकास का चयाचरणी

(Savagery) बर्बर (Barbarian) तथा सभ्य (Civilization) अवस्थाओं से गुजरता हुआ माना है। किन्तु आज यह मान्यता निराधार मानी जाती है कि मानव का सर्वत्र एकसूत्री आर्थिक उदविकास हुआ है। यह आवश्यक नहीं कि प्रत्येक समूह पहले आखेट भोजन एकत्र करने वाली तथा यायावर अवस्था में ही आये और बाद में पशुपालक तथा कृषक अवस्थाओं में। न्यूजीलैण्ड के मावरी कृषक अवस्था में हैं किन्तु वे पशुपालक अवस्था में कभी भी नहीं आये। यह नहीं कहा जा सकता कि एक आदिवासी समूह एक अवस्था विशेष में किसी एक ही उदविकासी आर्थिक व्यवस्था में रहता है। उदविकास एकसूत्री न होकर बहुसूत्री होता है और इस कारण एक आदिवासी समूह में आखेटक पशुपालक तथा कृषक आर्थिक व्यवस्थाओं के तत्व एक साथ पाये जाते हैं। सन्थाल और मुण्डा जहाँ शहरीकरण के सम्पर्क में आये हैं सर्वहारा श्रमिक वर्ग के सदस्य हो गए हैं यद्यपि शहरीकरण के प्रभाव से दूर घने जंगलों में रहने वाले उनके साथी कीड़े मकोड़े और छिपकलियों को खाते हैं देवी देवताओं को मुर्गी और कबूतर की भेंट चढ़ाते हैं और यहाँ वहाँ कृषि करते तथा कन्द मूलों को एकत्र करते हैं। इसी प्रकार उड़ीसा और बिहार के ग्वालियर और बस्तर के गोंड आदिवासी एक ओर जंगम खेती करते हैं और दूसरी ओर कन्द मूल एकत्र करते तथा जानवरों और चिड़िया का शिकार भी करते हैं[1]।

उपर्युक्त विवरण से कई तथ्य स्पष्ट होते हैं। पहला आदिवासी आर्थिक व्यवस्था की भिन्नताएं मानव आर्थिक विकास के किसी एकसूत्री आर्थिक उदविकास का द्योतक नहीं है और न उन्हें किसी एक विकास क्रम में फिट ही किया जा सकता है। दूसरा *प्रागैतिहासज्ञों ने विभिन्न युगों के जिन आर्थिक प्रकारों* को वर्णन करके जिन आर्थिक प्ररूपों और सत्ताओं का निर्धारित किया है उनका आदिवासी आर्थिक व्यवस्था की भिन्नताओं का वर्णन करने के लिए प्रयोग किया जा सकता है क्योंकि आज भी आदिवासियों में कोई समूह प्रधानतः आखेटक है कोई पशुपालक और कोई कृषक[2]। तीसरा प्रागैतिहासज्ञों ने आदिवासी आर्थिक व्यवस्था तथा भिन्नता

---

1 मजूमदार डी० एन० रेसेज एण्ड कल्चर्स आफ इण्डिया अध्याय 5

2 थुर्नवाल्ड ने, इस दृष्टिकोण से, विभिन्न आदिवासी आर्थिक व्यवस्थाओं का जो वर्गीकरण प्रस्तुत किया है वह इस प्रकार है —1 वे सजातीय समुदाय जिनमें पुरुष आखेट या पाश द्वारा शिकार करते हैं और नारियाँ कन्द मूल एकत्र करती हैं। जैसे भारत के कोरवा खारिया बिरहोर और कादर इत्यादि *आदिवासी समूह 2 वे सजातीय समुदाय जिनमें आखेट तथा पाश द्वारा* जानवरों का शिकार और कृषि एक साथ आर्थिक साधन हैं (जैसे चमार भैगा और बिरहोर इत्यादि आदिवासी समुदाय), 3 वे स्तरीकृत समाज जिनमें

का जो वणन और वर्गीकरण प्रस्तुत किया है उसका मुख्य आधार आदिवासी द्वारा खाद्य-सामग्री प्राप्त करने के प्रयास है[1]।

आर्थिक व्यवस्था की भिन्नताओ के दृष्टिकोण स भारत की गणजातिया का क्या वर्गीकरण और वणन हो सकता है इस पर विचार करन क पहले आदिवासी आर्थिक व्यवस्था की उन तमाम विशेषताओ पर विचार करना आवश्यक है जो सामान्यत सवत्र पाई जाती हैं और आदिवासी आर्थिक व्यवस्था को विशिष्टता प्रदान करती है। आर्थिक व्यवस्था आदिवासी संस्कृति का एक अंग है और संस्कृति की भांति वह सामान्य भी है और विशेष भी। आर्थिक व्यवस्था मानव-सम्बन्धो और प्रयासो क सगठन स उत्पन्न वह व्यवस्था है जिसके माध्यम स मनुष्य कम स कम प्रयास क द्वारा दैनिक जीवन की आवश्यकताओ की अधिकाधिक पूर्ति करने का प्रयास करता है। आर्थिक व्यवस्था वह संगठित सामूहिक तथा व्यवस्थित प्रयास है जिसके द्वारा मनुष्य अपनी असीमित आवश्यकताओ और इच्छाओ की, सीमित साधना क द्वारा अधिकाधिक सम्भव तुष्टि करने का प्रयास करता है। मानव का

आखेट, पशु कृषि और शिल्प आर्थिक साधन ह (भारत की अधिकतर गण जातियां इसी श्रेणी में आती ह), 4 पशुपालक (जसे टोडा), 5 सजातीय पशुपालक तथा आखेटक (यह प्रकार भारत में नहीं है), 6 वे पशुपालक तथा व्यापारी समुदाय जो अपने प्रजातिक सांस्कृतिक सगठन में विजातीय और स्तरीकृत ह (जसे, उत्तरप्रदेश क पहाडी क्षेत्र के भोटिये), 7 वे पशु पालक जिनमें कृषक, आखेटक और शिल्पी भी पाये जाते ह और अपने सामाजिक सगठन में जो विजातीय भी ह और स्तरीकृत (Graded) भी।

1 मजूमदार और मदन वही पष्ठ 119 20

खाद्य-सामग्री की प्राप्ति के प्रयास, साधन और समस्याओं को आदिवासी आर्थिक व्यवस्थाओं के वर्गीकरण का मुख्य आधार माना गया है। किसी किसी ने, जसा कि थुर्नवाल्ड ने किया है खाद्य प्राप्ति के प्रयास और सामाजिक सगठन को मिलाकर, आदिवासी आर्थिक व्यवस्थाओं का वर्गीकरण प्रस्तुत किया है। आर्थिक व्यवस्थाओं के वर्गीकरण का यही एक आधार नहीं है। हिल्डेब्रंड ने वदलौअल (Barter) मुद्रा (Money) और साख (Credit) पर आधारित आर्थिक व्यवस्थाओं में विभिन्न आर्थिक प्रणालियों का वर्गीकरण किया है। ग्रास ने उदविकासी दृष्टिकोण से, क्रमश पाच प्रकार की अर्थ प्रणालियां बताई ह, जो इस प्रकार ह—साग्रहिक (Collectional), सांस्कृतिक यायावरी (Cultural Nomadic), स्थायी ग्रामिका (Settled Village) नगरीय (Town) तथा महानगरीय अर्थ-व्यवस्थाएँ। फोर्ड और हर्सकोविट्स ने संग्रहक, आखेटक, मछली मारना, कृषि और पशु सवधक पाच प्रकार की अर्थ व्यवस्थाएँ निर्धारित की ह (मजूमदार—मदन वही पष्ठ 120)। इन सभी वर्गीकरणो पर प्रत्यक्षत या अप्रत्यक्षत खाद्य-सामग्री की प्राप्ति के प्रयासो पर जोर है। मजूमदार न भी खाद्य-सामग्री की प्राप्ति क प्रयासों की भिन्नता पर आधारित वर्गीकरण को उत्तम माना है।

यह प्रयास, एक ओर, पर्यावरण द्वारा प्रदत्त भौगोलिक साधनो, प्रौद्योगिकी के रूप मे उपार्जित मानवकृत उपकरणो तथा, दूसरी ओर, मानव के आदर्शों और आग्रहो से नियन्त्रित होता है। जिन्हे आर्थिक आवश्यकताए कहा जाता है वे इन्ही कारको से निर्धारित होती है और चूकि स्वय मानव उनमे एक कारक है, वे निरपेक्ष न होकर सापेक्ष रहती हैं और शाश्वत न होकर परिवर्तनशील होती हैं। जीवन के लिये आर्थिक आवश्यकता क्या है इसकी परिभाषा प्रत्येक समुदाय उपरोक्त कारको के आधार पर अपने ढग से करता है। आर्थिक व्यवस्था के चार आधार उपभोग (Consumption) उत्पादन (Production), विनिमय (Exchange) और वितरण (Distribution) सवत्र पाये जाते हैं। किन्तु आदिवासी समाज मे, उनका व्यवस्थापन दूसरे ढग से होता है और औद्योगिक समाज मे दूसरे ढग से।

उत्पादन

आदिवासी आर्थिक व्यवस्था आदिवासी और उसके प्राकृतवास (Habitat) के बीच मे होने वाले समायोजन का एक अग है क्योकि आदिवासी अपने प्राकृतवास पर अधिक निर्भर करता है। आदिवासी आर्थिक व्यवस्था मुख्यतया खाद्य-सामग्री की प्राप्ति सरक्षण और अति-जीविता के साधन जुटाने की आवश्यकताओ से सम्बन्धित रहती है और इन आवश्यकताओ को जुटाने मे आदिवासी अपने प्राकृतवास का अपेक्षाकृत अधिकतम आश्रय लेता है। प्राकृतवास पर आदिवासी की अधिकतम निर्भरता का कारण है आदिवासी संस्कृति मे प्रौद्योगिकी (Technology) का निम्न स्तर जो लगभग सभी आदिवासी समाजो की विशेषता है। मजूमदार ने, बिहार उडीसा के खारिया, आसाम के कुक्की तथा बस्तर (मध्य प्रदेश) के गोंड आदिवासियों का उदाहरण देकर इस तथ्य को स्पष्ट किया है[1]। खारिया बिहार उडीसा के दुर्गम पहाडी क्षेत्रो मे रहते हैं जहा भोजन मानव जीवन की सवप्रथम समस्या है। अत वे एक ओर जगम कृषि (Shifting Cultivation) को अपनाते हैं और दूसरी ओर, आखेट तथा मछली मारने को। साथ ही साथ वे जगलो से शहद फल और कन्द भी एकत्र करते हैं। खारिया प्रदेश मे लोहा भी पाया जाता है और इस कारण वे खेती और आखेट की आवश्यकताओ की पूर्ति के लिये लोहे के औजार भी बनाते हैं। बदलौअल उनकी आर्थिक व्यवस्था का आधार है। छोटे छोटे गावो मे रहते हुए वे साल वृक्ष का अनेक प्रकार से उपयोग करते हैं क्योकि उनके प्राकृतवास मे साल बहुतायत से पाया जाता है। इसके विपरीत आसाम के कुक्की की आर्थिक व्यवस्था मे बास का अधिक महत्व है। कुक्की के घर और बर्तन बहुधा बास के ही बने होते हैं। कुक्की प्रदेश घने जगलो से आच्छादित है और इस कारण खारिया की भाति कुक्की भी जगम कृषि करते हैं। जगम कृषि ने कुक्की जीवन को यायावर बना दिया है। हाथियो को

1 मजूमदार डी० एन० रेसेज एण्ड कल्चर्स आफ इण्डिया पृष्ठ 111 120

पकड़ना और उनका आर्थिक उपयोग कुकी आर्थिक व्यवस्था की एक अन्य विशेषता है। बस्तर के गोंडों में स्थायी कृषि का अधिक महत्व है, जिसके कारण, उनमें अतिरिक्त उपज (Surplus Produce) भी अपेक्षाकृत अधिक होती है। अतिरिक्त उपज, समाज में विनिमय व्यापार और विशेषीकरण को प्रोत्साहित करती है। गोंडों में लोहार जैसे विशेषीकृत समूह पाये जाते हैं। इसके अतिरिक्त, गोंड जंगलों में लकड़ी की कटाई का काम भी करते हैं और बस्तर प्रदेश के घने जंगली पहाड़ी इलाकों में सीढ़ीनुमा खेत बनाकर गहन कृषि भी करते हैं। इसप्रकार आदिवासी आर्थिक व्यवस्था का आधार अतिजीविता की आवश्यकता है जिसे आदिवासी अपने तथा अपने प्राकृतवास में समायोजन स्थापित करके पूरा करने का प्रयास करता है। यह समायोजन चार कारकों पर निर्भर करता है—(1) आदिवासी सामाजिक समूह का आकार (2) समूह की पार्थिव (Material) आवश्यकताएँ (3) प्रकृति प्रदत्त साधन और (4) प्रौद्योगिकी के विकास का स्तर। किसी भी समूह की पार्थिव आवश्यकताएँ न तो समूह के आकार से निर्धारित होती हैं और न प्रकृति प्रदत्त साधनों से। पार्थिव आवश्यकताओं का स्वरूप, उनकी महत्ता की मात्रा, उनकी तुष्टि के साधनों के प्रकार तथा प्राकृतवास के साथ समायोजन के ढंग, प्रत्येक समूह में भिन्न होते हैं।

खाद्य-सामग्री जुटाने के प्रयास आदिवासी आर्थिक व्यवस्था का मुख्य आधार प्रदान करते हैं[1]। कन्द मूल, शहद तथा फल फूल एकत्र करना, जानवरों का शिकार करना, मछली मारना और कृषि करना ही आदिवासी के आर्थिक जीवन के प्राथमिक आधार हैं। घर बनाना, मिट्टी, लकड़ी या धातु के बर्तन बनाना, चटाई और टोकरी बनाना तथा कृषि के साथ-साथ पशुपालन ये द्वितीयक आर्थिक क्रियाएँ हैं। आदिवासी का अधिकतर समय खाद्य-सामग्री के जुटाने या उत्पादन में ही बीतता है। प्रौद्योगिकी के निम्न स्तर के कारण आदिवासी समाज में खाद्य सामग्री

---

1 फ्रायड के सैद्धान्तिक प्रभाव के अन्तर्गत, कुछ मानवशास्त्रियों ने यह निर्धारित करने का प्रयास किया है कि आदिवासी जीवन के निर्धारण में यौनतुष्टि की आवश्यकता (Sex Need) की अभिव्यक्तियों और उन पर लगने वाले सामाजिक निषेधों का मौलिक स्थान है (विशेष अध्ययन के लिये देखिये मलिनास्की द्वारा रचित सेक्स एण्ड रिप्रेशन इन सेवेज सोसाइटी)। किन्तु वर्तमान मानवशास्त्र में इस सैद्धान्तिक दृष्टिकोण को महत्व नहीं दिया जाता है। अफ्रीका की बान्टू भाषा भाषी, बेम्बा गणजाति के अध्ययन से आड्रे रिचर्ड्स ने यह मान्यता प्रतिपादित की कि आदिवासी सांस्कृतिक जीवन में भोजन का सर्वाधिक महत्व है और उसी के जुटाने तथा उत्पादन में आदिवासी का अधिकतर समय व्यतीत होता है। क्योंकि के सामाजिक आर्थिक सम्बन्ध भोज्य पदार्थों के जुटाने तथा उत्पादन करने की आवश्यकताओं से व्यवस्थित होते हैं (विशद संदर्भ के लिये देखिये बील्स एण्ड हाइजर—एन इंट्रोडक्शन टू एन्थ्रोपालाजी)।

के ही उत्पादन में अधिक समय लगता है। जहा शिकार ही भोजन का मुख्य साधन है वहा भोजन प्राप्ति की निश्चितता भी कम रहती है और खाद्य सामग्री जुटाने मे समय भी अधिक लगता है। क्योंकि शिकार का मिलना सयोग पर अधिक निर्भर करता है। एस्कीमो का सास्कृतिक जीवन इसका उदाहरण है। खाद्य सामग्री की पूर्ति की अनिश्चितता आर्थिक व्यवस्था मे सामूहिक जीवन (Collective Life) के तत्वों को अधिक प्रोत्साहित करती है जिसके कारण, अनेक मानवशास्त्रियो को आदिवासी आर्थिक व्यवस्था अपने मौलिक रूप मे, साम्यवादी प्रतीत होती है। आदिवासी आर्थिक व्यवस्था साम्यवादी है या नही इस प्रश्न पर आगे विचार किया जायगा। यहा इतना कहना पर्याप्त है कि आदिवासी संस्कृति में खाद्य सामग्री के जुटाने और उसके उत्पादन से जो प्रथाएँ सम्बन्धित हैं, वे इस बात का प्रमाण है कि आदिवासी आर्थिक व्यवस्था मे क्षुधा निवारण का प्रश्न सर्वोपरि है और यौन-आवश्यकता की अपेक्षा क्षुधा निवारण की आवश्यकता आदिवासी आर्थिक क्रियाओ की अधिक प्रेरक है[1]।

आदिवासी आर्थिक व्यवस्था मे खाद्य सामग्री का सग्रहण या उत्पादन मुख्य

---

1 खाद्य सामग्री के उत्पादन से सम्बन्धित कुछ प्रथाए इसप्रकार हैं —प्राचीन प्रस्तर-युग की कन्दराए जो स्पेन और फ्रास में मिली हैं उनमें मृत जानवरों के भित्ति चित्र मिले हैं। कहीं-कहीं शिकार के दृश्य भी चित्रित हैं। प्रागैतिहासज्ञों की यह मान्यता है कि ये चित्र जादुई विचारों के प्रतीक हैं। शिकार के चित्र इसलिये बनाये जाते थे कि शिकार बहुतायत से मिल सके। प्रशान्त महासागर के मारक्वीसस द्वीप के निवासी एकान्त में अनाज का भण्डार रखते हैं और वहां स्त्रियों को नहीं जाने देते हैं। स्त्रियों को रसोई में भी नहीं जाने देते हैं, क्योंकि उनका विश्वास है कि स्त्रियों के छूने से अनाज का भण्डार कम होता है। नीलगिरी के टोडाओं के आर्थिक जीवन का आधार भैंस है। जहां वे भैंस बांधते हैं वहां स्त्रियों को नहीं जाने देते और स्त्रियों को दूध नहीं छूने देते। लगभग सारे आदिवासी संसार में अनाज की बुवाई का काम स्त्रियां करती हैं। किन्तु, मासिक धर्म के दिनों में स्त्रियों को अनाज न बोने देना और बोए हुए खेत में उन्हें न जाने देना एक आम प्रथा है क्योंकि आदिवासियों का यह विश्वास है कि मासिक धर्म के दिनों में स्त्री अशुद्ध होती है जिससे फसल को नुकसान होने का भय है। बस्तर के गोंड, बोने के पहले, बीज को बलि दिये हुए पशु के खून से इस आशा से भिगोते हैं कि उससे फसल अधिक अच्छी होगी। दारजग कूकी, जगम कृषि के लिए, जब जगल साफ करते हैं तो, एक पेड़ को इसलिये छोड़ देते हैं ताकि जगल की आत्माएं उस पेड़ पर विश्राम कर सकें और खेती को नुकसान न पहुंचायें। फसल तैयार होने पर कूकी उन आत्माओं की पूजा करते हैं ताकि वे प्रसन्न रहें। कूकी सीढ़ीनुमा खेत बनाकर इसलिए खेती नहीं करते कि इस प्रकार खेती करना उनकी प्रथा नहीं है और, इसकारण, वे यह नहीं जानते कि किन अनुष्ठानों से सीढ़ीनुमा खेती से अधिक फसल उत्पन्न होगी।

स्थान रखता है और उत्पादन का उद्देश्य है उपभोग न कि मुनाफा। मुनाफे के लिए, मशीनों के द्वारा बड़े पैमाने पर उत्पादन पूँजीवादी औद्योगिक व्यवस्था की मुख्य विशेषता है जो आदिवासी आर्थिक व्यवस्था में नहीं पाई जाती है। आदिवासी आर्थिक व्यवस्था नियमित बाजार-व्यवस्था बैंक मुद्रा और साख जैसी आर्थिक संस्थाओं पर आधारित नहीं है। आदिवासी आर्थिक व्यवस्था में केवल मेलों और साप्ताहिक बाजारों का ही अधिक महत्व है जो मुद्रा पर आधारित आर्थिक व्यवस्था के प्रसार और प्रभाव के साथ-साथ और भी बढ़ता जाता है। आदिवासी आर्थिक व्यवस्था उपभोग पर आधारित होने के कारण केवल निर्वाह अर्थ-व्यवस्था (Subsistence Economy) है। उत्पादन का उपभोग पर आधारित करके अतिजीविता प्राप्त करने के प्रयास के कारण आदिवासी उत्पादन-व्यवस्था में सहयोग की मात्रा अधिक है। किन्तु इसका यह तात्पर्य नहीं कि आदिवासी समाज में प्रतियोगिता (Competition) और संघर्ष (Conflict) का मूलतः अभाव है। मजूमदार के अनुसार जो आदिवासी समूह आखेट और कन्द-मूल एकत्र करके खाद्य सामग्री जुटाते हैं उनमें सामूहिक सहयोग अधिक पाया जाता है किन्तु फिर भी, उनमें विभिन्न समूहों तथा व्यक्तियों के स्वार्थों में विरोध होने पर संघर्ष भी पाया जाता है। आखेट के लिये विभिन्न आदिवासी समूह आखेट-क्षेत्र का तथा फल फूल एकत्र करने के लिये पेड़ों का बटवारा करते पाये गए हैं। भारत के अनेक आदिवासी क्षेत्रों में, महुआ जंगलों में उगता है और महुए से एक प्रकार की शराब बनाई जाती है। ऐसा पाया जाता है कि एक क्षेत्र के आदिवासी बहुधा महुए के पेड़ों का अपने समूह के विभिन्न परिवारों में बाँट देते हैं ताकि संघर्ष की सम्भावना कम हो जाय। आदिवासी समाज में, आर्थिक क्रिया की प्रेरक निरीह प्रतियोगिता ही नहीं है। निरीह प्रतियोगिता पूँजीवादी व्यवस्था की विशेषता है।

प्रौद्योगिकी का स्तर निम्न होने के कारण, आवश्यक उत्पादन की निश्चितता नहीं रहती है, जिसके कारण उत्पादन क्रियायें विभिन्न प्रकार के जादुई अनुष्ठानों से सम्बन्धित हो जाती हैं। इन अनुष्ठानों का पहले वर्णन किया जा चुका है। चूँकि उत्पादन उपभोग और जीवन निर्वाह से प्रत्यक्षतः सम्बन्धित रहता है, इस कारण, प्रौद्योगिकी का स्तर भी साधारणतः निम्न ही रहता है। दूसरी ओर उत्पादन कलात्मक तथा मनोरंजक क्रियाओं से सम्बन्धित हो जाता है। मछली मारना भोजन उत्पादन के साथ साथ, मनोरंजन का भी साधन है। जौनसार बावर में मग का त्योहार एक मछली मारने का त्योहार है जिसमें एक रवत के लोग अपने इष्ट मित्रों सहित मछली मारने जाते हैं। किन्तु यह त्योहार तभी मनाया जाता है जब फसल अच्छी हो। उत्पादन के विभिन्न उपकरणों के बनाने में आदिवासी की कलात्मक अभिव्यक्ति को प्रश्रय मिलता है। मछली मारने के लिये जाल, टोकरी या पास बनाना तथा शिकार के लिए औजारों का बनाना इसका उदाहरण है।

आदिवासी सामाजिक आर्थिक व्यवस्था में उत्पादन साथ और कला एक में मिले रहते हैं। उत्पादन क्रिया में आदिवासी मानव मशीन का एक अंग नहीं है।

आदिवासी उत्पादन-व्यवस्था में श्रम विभाजन, मुख्यतया आयु (Age) और लिंग (Sex) के आधार पर होता है। समाज में श्रम विभाजन (Division of Labour) की जटिलता और उसमें पाया जाने वाला विशेषीकरण प्रौद्योगिकी के विकास के साथ साथ बढ़ते रहे हैं। प्रौद्योगिकी के विकास के साथ साथ जहाँ जितनी अतिरिक्त उपज बढ़ती रही है, वहाँ व्यापार और श्रम विभाजन भी उतने ही बढ़ते रहे हैं। श्रम विभाजन प्रौद्योगिकी से उतना सम्बन्धित नहीं है जितना कि उस अतिरिक्त उपज से जिसका कि विनिमय किया जा सके। यही कारण है कि जहाँ स्थायी कृषि के कारण विनिमय के लिए अतिरिक्त उपज उपलब्ध है वहाँ पेशागत विशेषीकरण के आधार पर, श्रम विभाजन भी पाया जाता है। वास्तविक श्रम विभाजन वहीं है जहाँ अतिरिक्त उपज की उपलब्धि पर आश्रित रह कर एक समाज के कुछ व्यक्ति किसी विशेष पेशा या कार्य में कुशलता प्राप्त करते हैं। इस दृष्टिकोण से किसी कार्य के करने की प्रौद्योगिक जटिलता भी श्रम विभाजन को प्रभावित करती है। उड़ीसा के मानरा आदिवासियों में बुनकरों का पाया जाना तथा बस्तर के गाड़ा में लोहारी में निपुण लोगों का पाया जाना इसका उदाहरण है।

आदिवासी आर्थिक व्यवस्था में पाया जाने वाला श्रम विभाजन मूलतः शरीरी कारकों से अधिक प्रभावित रहता है। आयु और लिंग के आधार पर होने वाला श्रम विभाजन, वस्तुतः, शरीरी भिन्नताओं पर आधारित श्रम विभाजन है। आदिवासी समाज में व्यक्ति ज्यों ज्यों अपने जीवन चक्र में बढ़ता रहता है अर्थात बालक से तरुण और तरुण से वृद्ध होता है त्यों त्यों उसके सामाजिक आर्थिक कार्य भी बदलते रहते हैं। आयु के आधार पर पाया जाने वाला श्रम विभाजन इस तथ्य पर आधारित है कि व्यक्ति के जीवन में बालपन, तरुणाई तथा वयस्कता और वृद्धता तीन मुख्य अवस्थाएँ आती हैं जिनमें होने वाले शारीरिक परिवर्तन व्यक्ति की कार्य क्षमता को प्रभावित करते हैं। आयु पर आधारित श्रम विभाजन सार्वभौमिक है यद्यपि आदिवासी समाज में इसका महत्व अधिक है। जिस समाज का प्रौद्योगिक स्तर जितना निम्न है उतना ही उसमें आयु पर आधारित श्रम विभाजन का महत्व है। खाद्य सामग्री एकत्र करने वाले तथा आखेट पर निर्भर रहने वाले समाजों में बालक और वृद्ध भारस्वरूप हो जाते हैं। [illegible] ने लिखा है कि अफ्रीका के कालाहारी रेगिस्तान में भोजन सामग्री एकत्र करने तथा आखेट पर निर्भर रहने वाले समाजों में शरीर से असमर्थ वृद्धों को थोड़े भोजन के साथ उस समय छोड़ दिया जाता है जब कि बुशमैन समूह एक स्थान से दूसरे स्थान पर जाता है। पुरुष और नारी के श्रम विभाजन के पीछे नारी और पुरुष में पाये जाने वाले शारीरिक अन्तर का

आधार अवश्य है लेकिन इसका यह तात्पर्य नहीं कि पुरुष और नारी में जो श्रम-विभाजन है उसको नारी और पुरुष की शारीरिक भिन्नताओं के ही आधार पर स्पष्ट किया जा सकता है। उदाहरणार्थ भारत की गणजातियों में नारी आखेट में भाग नहीं लेती है लेकिन भारत के बाहर की सभी गणजातियों में ऐसा नहीं है।

नारी शरीर से सम्बन्धित स्वाभाविक दैहिक प्रक्रियाओं, जैसे मासिक धर्म और गर्भधारण को ठीक ठीक न समझ पाने के कारण आदिवासी समाज में नारी के आर्थिक जीवन पर अनेक निषेध लग गए हैं। मासिक धर्म के दिनों में बीज न बोने का निषेध या टोडा लोगों में नारी द्वारा भैंस को छूने या जहां भैंसें बांधी जाती हैं वहां न जाने का निषेध इसके प्रमाण हैं। मातृत्व की जिम्मेदारियों ने नारी को पुरुष से भिन्न बना दिया है और उसके फलस्वरूप नारी के सामाजिक आर्थिक कार्यों पर स्वभावतया अनेक निषेध लग गए हैं। अपनी शारीरी तथा दैहिक विशेषताओं के कारण, नारियां लगभग सभी समाजों में हल्के श्रम वाले कार्यों को करती हैं। आदिवासी समाज भी इस सार्वभौम नियम का अपवाद नहीं हैं। आदिवासी समाज में यह विचार आमतौर पर पाया जाता है कि नारियां उन कार्यों के अयोग्य हैं जो पुरुष करता है यद्यपि इस विश्वास का आधार वास्तविक नहीं है। वास्तविकता यह है कि पुरुष नारी के कार्यों को नहीं करते हैं, लेकिन नारियां पुरुषों द्वारा किए जाने वाले अधिकतर कार्यों को करती हैं। भारत के आदिवासी क्षेत्रों में, जहां कृषि होती है वहां अधिकतर हल चलाने का काम पुरुष करते हैं और नारियां अधिकतर कृषि के शेष कार्यों को करती हैं। बीज बोना, धान रोपना और फसल काटना अधिकतर स्त्रियों द्वारा ही किया जाता है। इसके अतिरिक्त, जंगल से खाद्य सामग्री एकत्र करना, मछली मारना, टोकरी, कपड़ा और मिट्टी के बर्तन बनाना बहुधा नारियों द्वारा ही किया जाता है। भारत के आदिवासी समाजों में नारियां शिकार के लिये नहीं जाती हैं और न वे बढ़ईगिरी या लुहारी जैसे काम करती हैं। बच्चों का पालन पोषण और गृह कार्य सर्वत्र नारी के विशेषाधिकार में आते हैं। यह मत कि नारियों को साधारणतया वही कार्य सौंपे जाते हैं, जिनमें थोड़ी बुद्धि की आवश्यकता होती है तर्कसंगत नहीं है। वास्तविकता यह है कि नारियां अधिकतर उन्हीं आर्थिक कार्यों को करती हैं जो प्रजनन और मातृत्व के स्वाभाविक भार का निर्वाह करते हुए किये जा सकें। यह किसी भी दशा में नारी अयोग्यता का परिचायक नहीं है। मासिक धर्म, गर्भधारण, सन्तान का प्रजनन तथा पालन पोषण, घर की देखभाल तथा नारी शरीर की सामान्य विशेषताएँ ऐसे कारक हैं जो आदिवासी समाज में नारी की आर्थिक भूमिका (Economic Role) को प्रभावित करते हैं।

प्रौद्योगिकी के प्रभाव से उत्पन्न तथा उत्तरोत्तर विकसित होता हुआ औद्योगीकरण भारत की आदिवासी आर्थिक व्यवस्था को भी बदल रहा है जिसके कारण, भारत के आदिवासी नर नारी की आर्थिक भूमिकाएं भी बदल रही हैं।

आदिवासी पुरुष आज लोहे के कारखानों, कोयले की खानों तथा चाय के बागों में काम करते हुए पाये जाते हैं। आदिवासी नारियाँ भी, उसी प्रकार, अभ्रक और कोयले की खानों तथा चाय के बगीचों में नारी श्रमिकों के रूप में काम करती हैं। आज आदिवासी समाज में भी, नर नारी के बीच का पुराना श्रम विभाजन धीरे-धीरे समाप्त हो रहा है। भारत की आदिवासी आर्थिक व्यवस्था में कृषक श्रमिक अवश्य पाये गए हैं किन्तु यहां दास प्रथा नहीं पाई गई है[1]।

आदिवासी आर्थिक व्यवस्था में पाया जाने वाला विनिमय (Exchange) और वितरण (Distribution) मुद्रा और मुनाफे की भावना पर आधारित न

विनिमय

होने के कारण औद्योगिक तथा पूंजीवादी समाज में पाये जाने वाले विनिमय और वितरण से मूलतः भिन्न हो जाता है। विनिमय और श्रम विभाजन का सहसम्बन्ध है और दोनों, प्रत्यक्षतः, अतिरिक्त उपज से सम्बन्धित हैं। जहां जितनी मात्रा में अतिरिक्त उपज उपलब्ध होती है वहाँ, उतनी ही मात्रा में, विनिमय और श्रम विभाजन का सामाजिक संस्थागत प्रसार होता है। विनिमय को दो रूपों में देखा जा सकता है—एक प्रत्येक समाज विशेष में पायी जाने वाली विनिमय प्रणाली के दृष्टिकोण से और दूसरे विभिन्न समाजों में पायी जाने वाली सामान्य विनिमय प्रणाली के दृष्टिकोण से। किन्तु, सिद्धान्ततः, ऐसा कोई समाज नहीं है जहां विशेषीकरण आयु और लिंग पर आधारित श्रम विभाजन न हो और इस कारण, सिद्धान्ततः किसी ऐसे आदिवासी समाज की कल्पना नहीं की जा सकती जो किसी न किसी प्रकार की विनिमय प्रणाली से पूर्णतया मुक्त हो। हां यह अवश्य है कि जहाँ अतिरिक्त उपज जितनी कम होगी वहां विनिमय भी उतना ही सीमित होगा। जंगलों से खाद्य सामग्री एकत्र करने वाले तथा आखेट पर निर्भर रहने वाले आदिवासी समाजों में अतिरिक्त उपज की मात्रा के कम होने के कारण आर्थिक विनिमय प्रणाली का निम्नतम रूप पाया जाता है क्योंकि उनमें विनिमय के साधन ही निम्नतम होते हैं। लेकिन फिर भी, इन समाजों में लिंग के आधार पर पाये जाने वाले श्रम विभाजन के कारण, विनिमय का क्षेत्र मुख्यतः पति पत्नी के बीच में, परिवार तक ही सीमित रहता है।

विभिन्न समाजों में पाये जाने वाले आर्थिक विनिमय के प्रमाण प्रागैतिहास के प्रारम्भ से मिलते हैं। आखेटक समाज भी आर्थिक विनिमय से पूर्णतया मुक्त नहीं रहे हैं। आदिवासी समाजों में पायी जाने वाली आर्थिक व्यवस्थाओं में विनिमय इस प्रकार से संचालित हो जाता है कि उसे आधुनिक समाज की आर्थिक व्यवस्था में प्रयुक्त 'अदलाबदल' (Barter), 'क्रय विक्रय' (Purchase Sale) या 'मजदूरी' (Wages) जैसी धारणाओं से व्यक्त नहीं किया जा सकता। आदिवासी समाज का

---

1 मजूमदार एण्ड मदन वही पृष्ठ 192

आर्थिक व्यवस्था मे विनिमय का आधार केवल मुद्रा कमाना या मुनाफा नही है। यहाँ विनिमय म इस बात की आशा नही रहती है कि विनिमय करने वाले को उतनी ही आर्थिक सेवा या आर्थिक मूल्य की वस्तु मिलेगी जितनी कि वह दे रहा है। आदिवासी आर्थिक व्यवस्था म पायी जाने वाली विनिमय प्रणाली की कुछ विशेषताए इस प्रकार है एक, विनिमय मूलत सामाजिक परम्पराओ के आधार पर होता है न कि केवल व्यापारिक दृष्टिकोण से। दो, विनिमय साधारणतया मित्रता रक्त या अन्य सम्बन्धो के आधार पर होता है। तीन विनिमय के अवसर सास्कृतिक परम्पराओ के अनुसार पूर्वनिर्धारित होते है[1]। चार किसी भी विनिमय म जैसा कि लबोला के उदाहरण स स्पष्ट है यह आवश्यक नही है कि लेना और स होन वाला आदान प्रदान तत्काल हो जाए। पाच विनिमय का क्षेत्र विनिमय म प्रयुक्त होने वाली वस्तुए तथा उनका मूल्य प्रत्येक आदिवासी समाज के सास्कृतिक आदर्शों के अनुसार पूर्वनिर्धारित रहते हैं। छ अधिकतर विनिमय सामूहिक स्तर पर आनुष्ठानिक (Ceremonial) ढग स होता है जिसके कारण, बहुत से विद्वानो को आदिवासी आर्थिक व्यवस्था साम्यवादी प्रतीत हुई है यद्यपि एस विनिमय किसी साम्यवादी विचारधारा पर आधारित न होकर, पारम्परिकता क सिद्धान्त पर अधिक आधारित होते है[2]।

1 अफरीका में लबोला (Labola) वधूधन (Bride Price) की प्रथा आदिवासी विनिमय प्रणाली को सास्कृतिक परम्परागतता का एक सुप्रसिद्ध उदाहरण है। लबोला प्रथा के अनुसार, विवाह के अवसर पर, प्रत्येक वर का पिता वधू के पिता को कुछ वस्तुएँ भेट करता है जिन्हें वधू का पिता अपने सगे-सम्बन्धियों में बाट देता है और जिन्हें वर का पिता अपन सगे-सम्बन्धियों से एकत्र करता है। इसप्रकार प्रत्येक विवाह में, वर के सगे सम्बन्धियो से लबोला एकत्र होता है और वधू के सगे सम्बन्धियो में बटता है। प्रत्येक व्यक्ति अपने सगे-सम्बन्धी के पुत्र के विवाह में लबोला एकत्र करने में सहायता देता है और उसकी लडकी के विवाह में लबोला का अश दाय के रूप में पाता है। बिहार के मुण्डा आदिवासियो में भी वधूधन एकत्र करने की ऐसी प्रथा थी, जो मुद्रा अर्थ प्रणाली क सघात से समाप्त हो गई है।

2 न्यूगिनी के पूर्वी किनारे के उत्तर पूर्व की दिशा में पाये जाने वाले द्वीपों (Tobriand Islands) के निवासियो में कुला रिंग (Kula Ring कुला परिधि) की प्रथा का यहा उदाहरण दिया जा सकता है। कुला को विनिमय परिधि, व्यापारिक साझेदारो का क्षेत्र या व्यापार का आधार कहा जा सकता है। कुला रिंग (कुला परिधि) लाल रग के हार और सफेद रग के बाजूबन्द से बनती है। जब कोई व्यक्ति अपने ही समुदाय में, या जब दो समूह अपने ही समुदाय में, या जब दो द्वीपों के निवासी साधारण ढग स या धूमधाम से आनुष्ठानिक ढग से आर्थिक विनिमय करते ह तो, साथ ही साथ, एक पार्टी दूसरी पार्टी को लाल रग का हार और दूसरी पार्टी पहली पार्टी को सफेद रग का बाजूबन्द देती है। बिना हार और बाजूबन्द के दो व्यक्तियो, दो समूहों, और दो द्वीप के निवासियों में व्यापारिक विनिमय नहीं हो सकता है। हार

आदिवासी आर्थिक व्यवस्था सामूहिकता की ओर अधिक उन्मुख है किन्तु वह साम्यवादी नहीं है। उद्विकासवादी मानवशास्त्रियों की यह धारणा थी कि आदिवासी सामाजिक आर्थिक व्यवस्था साम्यवादी है किन्तु हाल के अनेक अध्ययनों के आधार पर आज यह माना जाता है कि आदिवासी सामाजिक आर्थिक व्यवस्था को उस अर्थ में साम्यवादी नहीं कहा जा सकता है जिस अर्थ में मार्क्स ने साम्यवाद का अर्थ किया है। साम्यवाद की धारणा यूरोप के पूँजीवादी समाज के एक व्यतिरेक (Contrast) के रूप में विकसित हुई है और उस रूप में वह आदिवासी समाज पर लागू नहीं की जा सकती है[1]। विडिंगटन ने, न्यूगिनी के तटवर्ती प्रदेश के एक द्वीप वोगियो (Wogeo) और दक्षिणी टगानिका की एक बाटू गणजाति में भूपति प्रणाली (Land Tenure System) का तुलनात्मक अध्ययन करके, यह निष्कर्ष निकाला है कि जहाँ भूमि की कमी के कारण भूमि के लिए प्रतियोगिता उत्पन्न होती है वहीं वैयक्तिक तथा सामूहिक भूपति को नियमित करने के लिए आवश्यक नियम उत्पन्न होते हैं। आदिवासी समाज में ये नियम अलिखित होने के कारण परम्परा के रूप में विद्यमान रहते हैं।

आदिवासी साम्यवाद

और बाजूब द के विनिमय में हार दाहिनी ओर से बाईं ओर और बाजूब द बाईं ओर से दाहिनी ओर चलते हैं और इस प्रकार कुला रिंग बनाते हैं। कुला समुदाय व्यक्तियों का वह समूह है जो आपस में विनिमय करते हैं किन्तु जब विभिन्न द्वीपों के निवासियों में विनिमय होता है तो, एक सामूहिक इकाई के रूप में विनिमय में भाग लेते हैं। एक कुला रिंग में एक गाँव से या कई गाँवों से या एक या कई जिलों के वयस्क पुरुष आते हैं। कुला विनिमय में विभिन्न द्वीपों के निवासियों में होने वाले विनिमय सबसे महत्त्वपूर्ण हैं, जिनमें भाग लेने के लिए आवश्यक जादू (Magic) का जानना जरूरी है।

1 विडिंगटन के अनुसार आदिवासी आर्थिक व्यवस्था में वे वस्तुएँ जिनके उत्पादन में सामूहिक प्रयासों की आवश्यकता होती है सामूहिक स्वामित्व में रहती हैं, जिसके कारण आदिवासी साम्यवाद की भ्रमात्मक धारणा उत्पन्न हुई। आदिवासी समाज में सम्पत्ति सामूहिक भी होती है और वैयक्तिक भी। जिन आधारों पर लोग आदिवासी साम्यवाद की धारणा के प्रतिपादित करने का प्रयास करते हैं, उन्हीं आधारों पर, आदिवासी व्यक्तिवाद की भी धारणा प्रतिपादित की जा सकती है। साम्यवाद आधुनिक समाज की धारणा है जो सामाजिक प्रतिष्ठा की समानता, उत्पादन के सामाजिक नियमन तथा नियोजन उत्पादन पर समाज के स्वामित्व, लगभग समान जीवन स्तर, कार्य करने की अनिवार्यता तथा एक विशेष प्रकार की सामूहिक राजनैतिक सत्ता की धारणाओं पर आधारित है और, इस कारण जो आदिवासी अर्थ व्यवस्था पर लागू नहीं होता है। आदिवासी साम्यवाद क्या है इस पर लोग एकमत भी नहीं हैं। ऐसी दशा में आदिवासी साम्यवाद की धारणा का प्रयोग ही भ्रामक है देखिए राल्फ पिडिंगटन कृत 'एन इन्ट्रोडक्शन टू सोशल एन्थ्रापालोजी वाल्यूम I पृष्ठ 314 17

सस्वामित्व भूमि के प्रयोग पर निर्भर करता है। इस कारण आदिवासी समाज में भूमि पर किए जाने वाले उत्पादन प्रयासों तथा भूमि पर मिले अधिकारों में साम्य रहता है। वैयक्तिक तथा सामूहिक अधिकारों का स्वरूप सांस्कृतिक आदर्शों पर आधारित रहता है। आदिवासी समाज में वैयक्तिक तथा सामूहिक अधिकार और विरासाधिकार साथ साथ पाये जाते हैं, जिसके कारण पहले के अनेक मानवशास्त्रियों को आदिवासी आर्थिक व्यवस्था के साम्यवादी होने का भ्रम हुआ है। विभिन्न उपकरण (Tool) कपड़े आभूषण और जन मवेशी का स्वामित्व बहुधा वैयक्तिक होता है। आदिवासी समाज में एक व्यक्ति किसी वस्तु का तभी अधिकारी होता है जब वह उसका उत्पादन करता है या नियमित रूप से उसका प्रयोग करता है। आदिवासी समाज में धन और सम्पत्ति की धारणा वर्तमान पूंजीवादी औद्योगीकृत समाज में पायी जाने वाली धन और सम्पत्ति की धारणाओं से भिन्न है। यहाँ धन और सम्पत्ति का संचय नहीं वरन वैयक्तिक या सामूहिक उपभोग महत्वपूर्ण है। आदिवासी समाज में, विभिन्न अवसरों पर बिरादरी को दिए जाने वाले भोज इसका उदाहरण है। भारत के आदिवासियों में भी वैयक्तिक और सामूहिक सम्पत्ति तथा उत्तराधिकार के नियम पाये जाते है। नागा प्रदेश में ऐसे उदाहरण हैं जिनमें एक गांव के निवासी गांव की भूमि के सामूहिक रूप से अधिकारी हैं। वर्तमान परिस्थितियों में, वैयक्तिक सम्पत्ति की परम्परा अधिक बढ़ रही है।

भारत की आदिवासियों की आर्थिक प्रणालियां

भारत के आदिवासी किसी एक विशेष आर्थिक व्यवस्था में नहीं है। एक ओर कुछ गणजातियां खाद्य सामग्री एकत्र करने की और कृषि तथा आखेट की अवस्था में हैं तो, दूसरी ओर, अनेक गणजातियां औद्योगिक आर्थिक प्रणाली के प्रभाव में आ गई हैं। आर्थिक संगठन के आधार पर भारत की गणजातियों का चार श्रेणियों में वर्गीकरण किया जा सकता है पहली श्रेणी में कादर पलियन पनियन, पनडंडी, कुरुम्बा बिरहोर खारिया, चचू और मल्पन्तरम जैसी गणजातियां आती हैं जो सघन वनों में रहती हैं और जंगलों में खाद्य सामग्री एकत्र करके जीवन-निर्वाह करती है। कादर ऐसा कहा गया है किसी भी प्रकार की कृषि नहीं करते हैं। वे जंगलों में फल, कन्द और शहद एकत्र करते हैं तथा आखेट पर निर्भर करते हैं। खाद्य सामग्री एकत्र करके जीवन यापन करने वाली गणजातियां मछली भी मारती है और शिकार भी करती हैं। दूसरी श्रेणी में कमार और बैंगा जैसी वे गणजातियां आती हैं जो जंगल से खाद्य सामग्री एकत्र करती हैं, मछली और आखेट पर अपना जीवन निर्वाह करती हैं और, साथ ही साथ, जगम कृषि भी करती हैं। तीसरी श्रेणी में स्थायी कृषि करने वाली भील जैसी गणजातियां आती हैं। जिन गणजातियों ने स्थायी कृषि को अपना लिया है, उनके लिए जंगली फल-फूल का महत्व गौण हो गया है। चौथी श्रेणी में वे गणजातियां आती हैं जिनके सदस्यों ने, चाय के

बगीचो खाना और कारखाना म, मजदूरी करना प्रारम्भ कर दिया है। चौथी श्रेणी के लाग आदिवासी सवहारा वग म आते हैं और वे मुख्यतया बिहार बगाल और आसाम म क द्रित हैं। सथाल, हा मुण्डा और भुइया गणजातिया के सदस्य चौथी श्रेणी म आते हैं। मजमदार और मदन[1] क अनुसार भारत क तीन आदिवासी क्षेत्रा म तीन अलग अलग प्रकार की आर्थिक प्रणालियाँ पायी जाती है। उनकी उत्तर पूर्वी क्षेत्र म पहाडा की ढालों पर वन, सीढीनुमा खेता म स्थायी कृषि प्रधान रूप स का जाती है यद्यपि आसाम म यहाँ वहाँ जगम कृषि भी होती है। मध्य क्षेत्र मे जगम कृषि की प्रधानता रही है और दक्षिणी क्षेत्र की गणजातियाँ भोजन का एकत्र करके जीवन निर्वाह करने वाली (Food Gathering) साधारण आर्थिक व्यवस्था म हैं।

उपर्युक्त वणन के आधार पर यह निष्कर्ष निकाला जा सकता है कि जगला म फल फूल तथा कद मूल क रूप म खाद्य सामग्री एकत्र करना स्थायी या जगम कृषि करना पशुपालन और कारखाना म मुख्यतया सर्वहारा वर्ग के रूप म काम करना भारत के आदिवासिया की मुख्य आर्थिक क्रियाएँ हैं। आखेट करना, मछली मारना, टोकरी बनाना और कृषक मजदूरा के रूप म काम करना तथा सडक बनाने के लिए और वन विभाग म सरकारी नौकरी करना उनके सहायक पेशे हैं। कुछ आदिवासी समूह जिनमें परधान मख्य हैं गाने-बजाने का पेशा करके अपना जीवन यापन करते हैं। मध्यप्रदेश बिहार उडीसा और बगाल क आदिवासी क्षेत्रा म खनिज पदाथ बहुतायत से पाये जाते हैं जिसके कारण योरोप क प्रभाव म आने के बाद इन क्षेत्रों से खनिज पदार्थों का निकालने के लिए या उनका औद्योगिक उपयोग करने के लिए, इन आदिवासी क्षेत्रो म औद्योगीकरण बढता रहा है। अभ्रक, कोयला और लोह की खानें इन्ही आदिवासी क्षेत्रा म हैं। भिलाई और जमशेदपुर क कारखाने भी इन्ही क्षेत्रों म है। अत गरीबी तथा अधिक आर्थिक लाभ क कारण आदिवासी खाना और कारखाना म काम करने की ओर आकृष्ट होते रहे है। इसके अतिरिक्त, आसाम के चाय के बगीचा म भी आदिवासी श्रमिकों के रूप म काम करते हैं। सथाल, गाड और गाड एव बडी सख्या म, आसाम के चाय के बगीचा म काम करते हैं।

भारत क आदिवासिया म पशुपालका की सख्या अधिक नहीं है। पशुपालन आर्थिक व्यवस्था का प्रधान उदाहरण नीलगिरी क टोडा लोगा की आर्थिक व्यवस्था है। टोडा भैंसें पालते हैं और भैंस तथा दूध ही इनके जीवन के आर्थिक आधार हैं। यद्यपि दूध और दूध से बनी वस्तुओ के विनिमय से वे आवश्यक वस्तुएँ प्राप्त करते हैं। वे कृषि नहीं करते हैं। उत्तरप्रदेश की उत्तरी सीमा पर पाये जाने वाले भोटिए कृषि और पशुपालन की बीच की अवस्था म है। किन्तु जहाँ स्थायी कृषि आर्थिक जीवन

[1] वही पृष्ठ 190

का आधार है वहा पशुपालन गौण पेशा बन गया है। कृषि के साथ साथ अन्य अनेक गौण पेशे भी आ जाते हैं। गौण पेशे वस्तुत सहायक पेशे हैं क्योंकि वे प्रधान पेशे के साथ किये जाते हैं। शिकार करना, मछली मारना टोकरी बनाना, सूत कातना, कपडा बुनना, रस्सी बनाना और बेंत की आवश्यक वस्तुएँ बनाना ऐसे ही पेशे हैं। बढ़ईगिरी लुहारी तथा कुम्हारी का काम करने वाले विशिष्ट समूह भी आदिवासियों मे पाये जाते हैं। उदाहरणार्थ, मध्यप्रदेश के मरिया गोंड जगल की जडी-बूटियों (Forest Produce) से एक प्रकार की नगद बनाते हैं। सावरा, खोंड और गोंड आदिवासियों में शिल्पी वर्ग के लोग गोपालक धातुओं का काम करने वाले, बुनकर, बेंत का काम करने वाले तथा मिट्टी के बर्तन बनाने वाले पाये जाते है। कोरवा और अगरिया लोहार का काम करने मे सिद्धहस्त हैं। वे स्थानीय उपयोग के लिए साधारण किस्म के औजार बनाते हैं। घासी तांत बनाने के काम में निपुण हैं। थारू कृषि के साथ साथ, फर्नीचर, घरेलू उपयोग के बर्तन टोकरी, वाद्य यत्र हथियार रस्सी और चटाई बनाने का काम करते हैं। मद्रास प्रान्त के इरुला काम की चटाइया तथा टोकरिया और फाल (Ploughsnare) और पहिये बनाते हैं।

आदिवासियों में कृषि-कार्य

कृषि भारत के आदिवासियों का मुख्य आर्थिक आधार है। सन 1951 की जनगणना में दिये गए आंकड़ों के अनुसार भारत के एक सौ नब्बे लाख से कुछ अधिक आदिवासियों में से, लगभग एक सौ सत्तर लाख कृषि पर निर्भर हैं। कृषि कई प्रकार की है। एक जगम कृषि जिसमे एक स्थान पर लगातार स्थायी रूप से खेती न करके, एक स्थान पर पेड़ो को गिराकर और उनमे आग लगाकर तथा राख और मिट्टी को एक में मिलाकर तबतक खेती की जाती है जबतक कि भूमि की उर्वरता बनी रहती है। इस प्रकार की कृषि में न तो हल का महत्व है और न खाद का। जलाये हुए पेड़ो की राख खाद का काम देती है। बीज या तो छिटका कर बोया जाता है या छड़ी से गड्ढे करके, प्रत्येक गड्ढे में एक बीज का दाना रख दिया जाता है। प्रागितिहासज्ञो का मत है कि जगम कृषि ही से वर्तमान कृषि का प्रारम्भ हुआ है। नव प्रस्तर युग की आर्थिक व्यवस्था खाद्य सग्रहण और जगम कृषि पर आधारित थी। स्थायी कृषि, कृषि का दूसरा प्रकार है जो पहाडो की ढलानो पर सीढीनुमा खेतो में भी की जा सकती है और मैदानो में भी। स्थायी कृषि, जगम कृषि से आगे बढ़ा हुआ एक कदम है। स्थायी कृषि खाद तथा हल के प्रयोग और फसलों को बदल-बदल कर बोने (Rotation of Crops) के ज्ञान से सम्बन्धित है। मशीनो द्वारा खेती (Mechanized Agriculture) उसी प्रकार से, हल पर आधारित खेती से आगे उठा हुआ एक कदम है जिस प्रकार, हल से खेती जगम कृषि से आगे उठा हुआ एक कदम है। हल द्वारा की जाने वाली खेती मे यदि खाद के प्रयोग का ज्ञान आवश्यक है तो मशीनीकृत खेती में उर्वरकों (Fertilizers) के प्रयोग का

बगीचों, खानों और कारखानों में मजदूरी करना प्रारम्भ कर दिया है। चौथी श्रेणी में लोग आदिवासी सबन्धी वर्ग में आते हैं और वे मुख्यतया बिहार, बंगाल और आसाम में केन्द्रित हैं। संथाल, हो, मुण्डा और भूमिज गणजातियाँ के सदस्य चौथी श्रेणी में आते हैं। मजूमदार और मदन[1] के अनुसार भारत के तीन आदिवासी क्षेत्रों में, तीन अलग-अलग प्रकार की आर्थिक प्रणालियाँ पायी जाती हैं। उत्तरी उत्तर-पूर्वी क्षेत्र में पहाड़ों की ढाल पर वन, सीढ़ीनुमा खेतों में स्थायी कृषि प्रधान रूप से की जाती है यद्यपि आसाम में कहीं कहीं नवीन कृषि भी होती है। मध्य क्षेत्र में नवीन कृषि की प्रधानता रही है और दक्षिणी क्षेत्र की गणजातियाँ भोजन को एकत्र करके जीवन निर्वाह करने वाली (Food Gathering) साधारण आर्थिक व्यवस्था में हैं।

उपर्युक्त वर्णन के आधार पर यह निष्कर्ष निकाला जा सकता है कि जंगलों में फल-फूल तथा कन्द मूल के रूप में खाद्य सामग्री एकत्र करना, स्थायी या नवीन कृषि करना, पशुपालन और कारखानों में मुख्यतया मजदूरों के रूप में काम करना भारत के आदिवासियों की मुख्य आर्थिक क्रियायें हैं। आखेट करना, मछली मारना, टोकरी बनाना और कृषक मजदूरों के रूप में काम करना तथा सड़क बनाने के लिए और वन विभाग में सरकारी नौकरी करना उनके सहायक पेशे हैं। कुछ आदिवासी समूह जिनमें परामर्श सम्भव है, गाने बजाने का पेशा करके अपना जीवन यापन करते हैं। मध्यप्रदेश, बिहार, उड़ीसा और बंगाल के आदिवासी क्षेत्रों में खनिज पदार्थ बहुतायत से पाये जाते हैं जिसके कारण, यातायात के प्रभाव न होने के बाद, इन क्षेत्रों से खनिज पदार्थों को निकालने के लिए या उनका औद्योगिक उपयोग करने के लिए इन आदिवासी क्षेत्रों में औद्योगीकरण बढ़ता रहा है। अभ्रक, कोयला और लोहे की खानें इन्हीं आदिवासी क्षेत्रों में हैं। भिलाई और जमशेदपुर के कारखाने भी इन्हीं क्षेत्रों में है। अतः वहाँ के आदिवासी लाभ के कारण आदिवासी खानों और कारखानों में काम करने की ओर आकृष्ट होते रहे हैं। इसके अतिरिक्त, आसाम के चाय के बगीचों में भी आदिवासी श्रमिकों के रूप में काम करते हैं। संथाल, गोंड और भील एक बड़ी संख्या में, आसाम के चाय के बगीचों में काम करते हैं।

भारत के आदिवासियों में पशुपालकों की संख्या अधिक नहीं है। पशुपालन आर्थिक व्यवस्था का प्रमुख उदाहरण नीलगिरि के टोडा लोगों की आर्थिक व्यवस्था है। टोडा भैंसें पालते हैं और भैंस तथा दूध ही इनके जीवन के आर्थिक आधार हैं। यद्यपि दूध और दूध से बनी वस्तुओं के विनिमय से वे आवश्यक वस्तुएं प्राप्त करते हैं। वे खेती नहीं करते हैं। उत्तरप्रदेश की उत्तरी सीमा पर पाये जाने वाले भोटिया कृषि और पशुपालन के बीच की अवस्था में है। किन्तु जहां स्थायी कृषि आर्थिक जीवन

1 वही, पृष्ठ 106

का आधार है वहा पशुपालन गौण पेशा बन गया है। कृषि के साथ साथ अन्य अनेक गौण पशे भी आ जाते हैं। गौण पशे वस्तुत सहायक पशे हैं क्योकि व प्रधान पेशे के साथ किये जाते है। शिकार करना, मछली मरना, टोकरी बनाना सूत कातना, कपडा बुनना, रस्सी बनाना और वन की आवश्यक वस्तुए बनाना ऐस ही पशे हैं। बढ़ईगिरी लोहारी तथा कुम्हारी का काम करने वाले विशेषीकृत समूह भी आदिवासियो मे पाय जाते हैं। उदाहरणार्थ, मध्यप्रदेश क मरिया गाड जगल की जडी बूटिया (Forest Produce) से एक प्रकार की शराब बनाते हैं। सावरा खोड और गाड आदिवासियो म शिल्पी वर्ग के लोग गोपालक, धातुओ का काम करने वाले बुनकर बेंत का काम करने वाले तथा मिट्टी के बर्तन बनाने वाले पाये जाते है। कारवा और अगरिया लोहार का काम करन मे सिद्धहस्त हैं। वे स्थानीय उपयोग के लिए साधारण किस्म के औजार बनाते हैं। धामी तांत बनाने के काम म निपुण हैं। थारू कृषि के साथ साथ फर्नीचर घरेलू उपयोग क बर्तन टोकरी, वाद्य-यन्त्र हथियार रस्सी और चटाई बनाने का काम करते हैं। मद्रास प्रान्त क इरला बास की चटाइया तथा टोकरिया और फाल (Ploughshare) और पहिये बनाते हैं।

आदिवासियो में कृषि कार्य

कृषि भारत के आदिवासियो का मुख्य आर्थिक आधार है। सन 1951 की जनगणना मे दिये गए आंकडो के अनुसार भारत के एक सौ नब्बे लाख से कुछ अधिक आदिवासियो म से, लगभग एक सौ सत्तर लाख कृषि पर निर्भर हैं। कृषि कई प्रकार की है। एक जगम कृषि जिसम एक स्थान पर लगातार स्थायी रूप से खेती न करके एक स्थान पर पडो को गिराकर और उनम आग लगाकर तथा राख और मिट्टी को एक म मिलाकर तबतक खेती की जाती है जबतक कि भूमि का उर्वरता बनी रहती है। इस प्रकार की कृषि म न तो हल का महत्व है और न खाद का। जलाये हुए पडो की राख खाद का काम देती है। बीज या तो छिटका कर बोया जाता है या छडी स गड्ढे करके प्रत्येक गड्ढे म एक बीज का दाना रख दिया जाता है। प्रागैतिहासिको का मत है कि जगम कृषि ही स वर्तमान कृषि का प्रारम्भ हुआ है। नव प्रस्तर युग की आर्थिक व्यवस्था खाद्य सग्रहण और जगम कृषि पर आधारित थी। स्थायी कृषि, कृषि का दूसरा प्रकार है जो पहाडो की ढलानो पर सीढीनुमा खेतो म भी की जा सकती है और मैदानो म भी। स्थायी कृषि, जगम कृषि स आगे बढा हुआ एक कदम है। स्थायी कृषि खाद तथा हल क प्रयोग और फसलो को अदल-बदल कर बोने (Rotation of Crops) के ज्ञान स सम्बन्धित है। मशीनो द्वारा खेती (Mechanized Agriculture) उसी प्रकार स, हल पर आधारित खेती स आगे बढा हुआ एक कदम है जिस प्रकार हल स खेती जगम कृषि से आगे उठा हुआ एक कदम है। हल द्वारा की जाने वाली खेती मे यदि खादो के प्रयोग का ज्ञान आवश्यक है तो मशीनीकृत खेती म उर्वरको (Fertilizers) के प्रयोग का

जाता। हल और मशीन से की जाने वाली कृषि स्थायी कृषि में आती है। हल और मशीन से ही प्रकृष्ट खेती (Intensive Cultivation) सम्भव हुई है। प्रकृष्ट खेती बढ़ता हुई जनसंख्या की एक आवश्यकता है। जगम कृषि को आदिम कृषि कहा गया है और वह वहीं सम्भव है जहां जनसंख्या घनी न हो तथा जहां जंगलों और भूमि का बाहुल्य है।

भारत के आदिवासियों में जारावा, गौंड, भील, मुण्डा, खरवार, बैगा, कोरवा, नागा, हो और आसाम की गणजातियाँ प्रधान कृषक गणजातियाँ हैं। भारत के आदिवासी स्थायी और जगम दोनों प्रकार की कृषि करते हैं। जगम कृषि पर निर्भर गणजातियों की आर्थिक व्यवस्था मूलतः वैसी ही होती है जैसी खाद्य-संग्रहक गणजातियों की। कमार, रेड्डी और बैगा इत्यादि गणजातियाँ जो जगम कृषि पर निर्भर हैं नवप्रस्तर युग की आर्थिक व्यवस्था से आगे नहीं बढ़ पाई हैं। जहाँ-जहाँ स्थायी कृषि आ गई है वहां आदिवासी ग्रामीण कृषक की अवस्था में आ गए हैं किन्तु जहां जगम कृषि ही जीवन का आधार है वहां आदिवासियों की आर्थिक दशा काफी अविकसित है।

भारत के आदिवासियों में जगम कृषि का व्यापक प्रचार है। विभिन्न क्षेत्रों में उसे विभिन्न नामों से पुकारा जाता है। नागा उसे झूम कहते हैं, उड़ीसा के माड़ पोडू, बस्तर के मरिया पाढ़, पश्चिम और मध्यप्रदेश के बैगा लोग बेवार। भुइयाँ जब कुल्हाड़ियों की सहायता से पेड़ों को गिरा और जला कर राख में बीज बोते हैं तो उसे दाही कहते हैं किन्तु यदि वे पेड़ों को न गिरा कर पेड़ों के चारों ओर बड़ी झाड़ियों को एकत्र कर पेड़ों को जलाते हैं तो वे उसे कोमन कहते हैं। जगम कृषि में पेड़ों को जलाकर राख करके, भूमि पर जमी राख की परतों में बीजों का बोना और एक या दो फसलों के बाद उस भूमि को छोड़कर नई भूमि तैयार करना आधारभूत क्रियाएँ हैं। इस प्रकार की कृषि में निवास वनों पर निर्भर रहती है। जगम कृषि में वन-सम्पत्ति का नाश होता है। वनों के विनाश से भूमि का कटाव और बाढ़ों का आना बढ़ जाता है। परिश्रम के अनुसार फसल कम होता है तथा इसमें फसल इतनी कम होती है कि सम्पूर्ण जनसंख्या का पेट भी नहीं भर पाता है। इस कारण जगम कृषि का प्रयत्न से और हानिकर कहा गया है। अनेक राज्य की सरकारों के बाद में जब से सरकार ने जंगलों की सुरक्षा की नीति को अपनाया है तब से आदिवासियों और सरकार के लिए जगम कृषि एक समस्या बन गई है यद्यपि आज आदिवासियों को जंगलों को काट गिराने में कोई स्वतन्त्रता नहीं है। जगम कृषि आदिवासी संस्कृति का एक अभिन्न अंग बन गई है। अतः यह मान लिया गया है कि इन लोगों को इसी भांति की खेती करने दी जाए और इससे हानि कम हो ऐसे प्रयत्न किए जाएँ। ... ने विश्वास है कि ... आदिवासियों की आर्थिक दशा में सुधार करने

के लिए, उन्हें जगम कृषि की अवस्था से ऊपर उठाना आवश्यक है किन्तु यह सहसा नहीं हो सकता है। इस कारण, जगम कृषि जहां आर्थिक समस्या है, वहां वह सांस्कृतिक और प्रशासकीय समस्या भी है। कुछ भी हो, भारत के सभी आदिवासी जगम कृषि पर निर्भर नहीं है। नागा क्षेत्र के निवासी रेंग्मा नागा पहाड़ की ढाल पर खेती करने में काफी कुशल हैं। भील, गोंड, मुण्डा, संथाल, खासी और अन्य अनेक गणजातियाँ हल का प्रयोग करके वैसे ही स्थायी खेती करती हैं जैसी कि गैर-आदिवासी गांवों के निवासी। जहां स्थायी खेती होती है वहां सिंचाई और खाद का भी ज्ञान आदिवासियों का है।

३

सामाजिक संगठन गणजाति (Tribe)

गणजाति (Tribe), आदिवासी सामाजिक संगठन की वैसे ही एक आधारभूत सामाजिक इकाई है जैसे जाति हिन्दू सामाजिक संगठन की एक आधारभूत सामाजिक इकाई है। हिन्दू समाज जातियों में बँटा हुआ है और आदिवासी समाज गणजातियों में। जाति की सदस्यता की भांति, गणजाति की सदस्यता जन्मजात होती है। गणजाति, जाति, वर्ण, वर्ग और सम्प्रदाय, अलग अलग आधारों पर आधारित भारतीय सामाजिक संगठन की विभिन्न इकाइयां हैं जिनमें से, गणजाति-संगठन आदिवासी समाज की आधारभूत विशेषता है। मजूमदार के अनुसार कुछ परिवार या परिवार समूहों से संगठित, गणजाति एक ऐसा समूह है जिसका एक सामान्य नाम होता है (जैसे, टोडा भील, संथाल, आराओं हो बगा और कमार इत्यादि), जिसके सदस्य एक निश्चित भूभाग में रहते हैं (जैसे संथालों का बिहार से लेकर बंगाल तक फैला होना), एक सामान्य भाषा या बोली का प्रयोग करते हैं (जैसे गोंडों द्वारा गोंडी और भीलों द्वारा भीली बोलियों का प्रयोग), विवाह और पेशा सम्बन्धी कुछ सामान्य निषेधों को मानते हैं (जैसे गणजाति के बाहर विवाह न करना, टोडाओं द्वारा भैंस और दूध को नारियों से दूर रखना) और आपस में अन्तर्निर्भर रहते हैं। इम्पीरियल गजेटियर में गणजाति का एक समान नाम, बोली तथा क्षेत्र वाला कुछ परिवारों का एक ऐसा समूह कहा गया है जो सामान्यतः अन्तर्विवाही नहीं होता है यद्यपि मूलतः वह अन्तर्विवाही रहा होगा। किन्तु मजूमदार के मत में, गणजाति साधारणतया एक अन्तर्विवाही समूह होता है। अन्तर्विवाह, मजूमदार के मत में, गणजाति की एक आवश्यक विशेषता है। रिवर्स ने गणजाति को एक सरल प्रकार (Simple Kind) का ऐसा समूह माना है, जिसके सदस्य एक

चालों का प्रयोग करते हैं और युद्ध जैसे सामान्य उद्देश्य में संगठित होकर, काम करते हैं। किन्तु युद्ध सदा दो गणजातियों में ही नहीं होते हैं। एक ही गणजाति के दो पक्षों में भी युद्ध हो सकते हैं। युद्ध नहीं, क्षेत्र गणजाति की आवश्यक विशेषता है यद्यपि रिवर्स ने क्षेत्र को महत्ता नहीं दी है। यायावर (Nomadic) गणजातियाँ भी किसी न किसी क्षेत्र से सम्बन्धित होती हैं और प्रत्येक यायावर गणजाति एक क्षेत्र विशेष में ही घूमती रहती है।

इरावती कर्वे के अनुसार, गणजाति में आर्थिक विशेषीकरण (Economic Specialization) का अभाव होता है जिसका तात्पर्य यह है कि एक गणजाति के सदस्य सभी आवश्यक आर्थिक क्रियाओं को करते हैं। जाति व्यवस्था में पेशेवर विशेषीकरण (Occupational Specialization) पाया जाता है जिसके कारण, जाति व्यवस्था में जातियों की अन्तर्निर्भरता पाई जाती है। दूसरे शब्दों में, जाति व्यवस्था परम्परागत विशेषीकरण के आधार पर, विभिन्न सामाजिक समूहों का ऐसा संगठन है जिसमें विभिन्न सामाजिक समूह एक सामाजिक उच्चनीच परम्परा में बंधे रहते हैं जो अपरिवर्तनशील लगते हुए भी आर्थिक दबावों के कारण वस्तुतः लचीली रहती है। इस प्रकार, जैसा कि एक मत है गणजातीय व्यवस्था में आर्थिक विशेषीकरण नहीं होता है जिसके कारण गणजाति जाति से भिन्न हो जाती है। किन्तु, आर्थिक जीवन में आत्मनिर्भर तथा स्वतन्त्र समूह के रूप में गणजाति की धारणा एक आदर्श प्रारूपमात्र है क्योंकि उसके अपवाद भी पाये जाते हैं। मजूमदार के अनुसार, जाति के आर्थिक विशेषीकरण जाति व्यवस्था में निहित जातियों की अन्तर्निर्भरता और उच्चनीच परम्परा तथा गणजाति की आर्थिक स्वतन्त्रता के आधार पर जाति और गणजाति का अन्तर नहीं किया जा सकता क्योंकि भारत के ऐतिहासिक विकास की प्रक्रिया में गणजातियों में भी अन्तर्निर्भर पेशागत विशेषीकरण का विकास हुआ है। नीलगिरी की गणजातियाँ इसका उदाहरण हैं। टोडा गणजाति के लोग न तो खेती करते हैं और न शिल्प उद्योग को। उनका आर्थिक जीवन भैंस पालन और दूध के व्यापार पर निर्भर है। दूध और दूध की बनी वस्तुओं से वे अपनी पड़ोसी गणजातियों से आवश्यक वस्तुएँ बदलते हैं। बडगा से वे अनाज खेतों में उगाई जाने वाली अन्य आवश्यक स्थानीय वस्तुएँ और कपड़े लेते हैं और कोटा गणजाति के लोगों से मिट्टी के बर्तन और लोहे के औजार लेते हैं। कोटा गणजाति के लोग टोडा त्योहार और अनुष्ठानों में गान-वादन का भी काम करते हैं। कुरुम्बा गणजाति के लोग कन्द-मूल एकत्र करके जीवन निर्वाह करते हैं। इस क्षेत्र में ऐसा माना जाता है कि मूलतः यहाँ की सारी भूमि टोडा लोगों की थी जिसके फलस्वरूप बडगा बतौर लगान के टोडा लोगों को अनाज पैदावार का एक हिस्सा देते हैं।

इस प्रकार नीलगिरी की सारी गणजातियों का आर्थिक जीवन आत्मनिर्भर न होकर, परस्पर अन्तर्निर्भर है। टोडा पशुपालक हैं बडगा खेतिहर कोटा शिल्पी

और कुरूम्बा क ने मूल सग्रहक । इस क्षेत्र के आर्थिक सगठन म, प्रत्येक गणजाति दूसरी पर निभर है। इन चारो गणजातियो के अन्तसम्बन्धो म पाये जान वाले सामाजिक प्रतिष्ठाक्रम विन्यास म उच्चोच्च परम्परा का भाव है। टोडा गणजाति की सामाजिक प्रतिष्ठा उच्चतम मानी जाती है। ऐसा लगता है कि मानो ये चारों गणजातियाँ, वस्तुत, जातियाँ हो। दूसरी ओर, प्रत्येक गणजाति की भाषा और सस्कृति कलाप एक दूसरे-से भिन्न हैं। अनेक गणजातियाँ ऐसी हैं जिनके सदस्य एक पेशा विशेष पर निभर करते है और, इसी कारण, गणजातियो का आखेटक, पशु-पालक तथा कृषक श्रेणियो म वर्गीकरण भी किया जाता है। भारत क जिन क्षेत्रों म जाति और गणजाति का सम्पक बढा है, जसा कि मध्य प्रदेश म अधिकतर आदि-वासी क्षेत्रों के सीमा त प्रदेशो म हुआ है गणजाति का आर्थिक विशेषीकरण भी हुआ है। उत्तरप्रदश के मिर्जापुर जिले म, बियार और खरवार गणजातियाँ के सदस्यो ने कत्था बनाने क काम म निपुणता प्राप्त कर ली है, जिसके कारण, उन्हे खराही की सज्ञा से सम्बोधित किया जाता है। भारत की सामाजिक ऐतिहासिक प्रक्रिया मे गणजाति पेशा विशेषीकरण की ओर उन्मुख रही है और, इसी कारण, गणजाति जाति म रूपान्तरित होती रही है। आगे, यथास्थान, इस प्रक्रिया का वणन किया जायगा। विशेषीकरण का स्तर प्रौद्योगिकी के विकास-स्तर म सम्बन्धित है। आदिवासी आर्थिक व्यवस्था मे प्रौद्योगिकी का स्तर निम्न है और इस कारण, अपेक्षाकृत, उसम विशेषीकरण की कमी है। भारत म, गणजाति का पेशागत विशेषीकरण, गणजाति को जाति मे, रूपान्तरित करता रहा है, जिसके कारण, यहाँ-वहाँ, अपवाद के रूप म गणजाति के पेशागत विशेषीकरण के उदाहरण भी मिल जाते हैं। बस, जैसी कि अधिकतर मानवशास्त्रियों की राय है आर्थिक आत्म-निभरता, गणजाति का एक सामान्य विशेषता है। आर्थिक विशेषीकरण जाति की विशेषता है न कि गणजाति की। एक गणजाति क सदस्य लगभग उन सभी आर्थिक क्रियाओ और पेशों का करते हैं जो उनके जीवन निर्वाह के लिये आवश्यक हैं। गण जाति म साधारणतया आर्थिक विशेषीकरण नहीं होता है यद्यपि एक ही गणजाति म आर्थिक विशेषता प्राप्त समूह पाये जा सकते है। मध्य प्रदेश के गोंडो मे लोहारी के काम मे विशेषता प्राप्त समूह का पाया जाना इसका उदाहरण है। जाति का आर्थिक विशेषीकरण, उसे गणजाति से भिन्न कर देता है। इसम कोई शक नहीं कि एक जाति विशेष क सदस्य कई पेशो को कर सकते है किन्तु, हर दशा मे, प्रत्येक जाति के सदस्यो के लिय निर्धारित पेशा की सख्या और सीमा परम्परानुसार निर्धारित रही है। ब्राह्मण न तो भंगी का काम कर सकता है और न भंगी ब्राह्मण का।

सामाजिक राजनैतिक पहलू

मजूमदार के अनुसार गणजाति एक सामाजिक राजनैतिक (Social Political) संगठन है। गणजाति मूलतः एक आत्मनिर्भर स्वतन्त्र राजनैतिक इकाई है—ऐसी राजनैतिक इकाई जिसमें विभिन्न सामाजिक प्रतिष्ठा (Social Status) वाले व्यक्ति संगठित रहते हैं। एक सम्पूर्ण क्षेत्र में फैली हुई स्वतन्त्र राजनैतिक इकाई होने के कारण, गणजाति राष्ट्र का रूप ले लेती है यद्यपि भारत में राष्ट्र राज्य के विकास के साथ-साथ गणजाति का राष्ट्र रूप क्षीण होता रहा है[1]। आज सभी गणजातियाँ भारत के राजनैतिक संगठन का अंग हैं और उनकी राजनैतिक स्वतन्त्रता समाप्त हो गई है। किन्तु फिर भी गणजाति अपने सदस्यों के सामाजिक सम्बन्धों

---

1 आदिवासी साम्यवाद (Primitive Communism) के प्रणेता मानवशास्त्रियों ने यह मत प्रतिपादित किया है कि आदिवासी समाज में राज्य-संगठन नहीं पाया जाता है और आदिवासी जीवन प्रथाओं से नियन्त्रित होता है। आदिवासी प्रथाओं का कभी उल्लंघन नहीं करता है। इस कारण आदिवासी समाज में कानून (विधि) की भी आवश्यकता नहीं होती है। किन्तु आज यह मत निर्मूल माना जाता है। आज यह माना जाता है कि राजनैतिक संगठन प्रत्येक समाज में पाया जाता है यद्यपि उसके प्रकार भिन्न हैं। समाज का खण्डात्मक विभाजन (Segmentary Division) राजनैतिक संगठन की आवश्यकता को जन्म देता है। रक्तसम्बन्धी समूह, धार्मिक समूह, आयु और लिंग (Sex) आदिवासी समाज को खण्डात्मक बनाते हैं जिसके कारण आदिवासी समाज में भी राजनैतिक संगठन पाया जाता है। राजनैतिक संगठन के दृष्टिकोण से, बील्स और हॉयजर ने आदिवासी समाजों को तीन श्रेणियों में बाँटा है: पहला, वह समाज जिसमें राजनैतिक संगठन अत्यन्त सरल होता है (जैसे गाध नपरव और आपटर गणजातियाँ); दूसरा, वह समाज जो जत्था (Band) गणजाति या राज्यसंघ (Confederacy) में संगठित होता है, और तीसरा, वह समाज जो साम्राज्य (Empire) में संगठित होता है। जिस समाज का *आर्थिक स्तर जितना विकसित है उसका राजनैतिक संगठन भी उतना ही* विकसित और जटिल है। हॉबल के अनुसार, आदिवासी समाज में पाँच प्रकार के राजनैतिक संगठन पाये जाते हैं: स्थानीय समूह (The Local Group), जत्था (The Band), राष्ट्र (The Nation), राज्यसंघ (The Confederacy) और साम्राज्य (The Empire)। स्थानीय समूह और जत्था राष्ट्र में विलीन हो जाते हैं। आदिवासी समाज में गणजाति राष्ट्र का रूप ग्रहण करता है। गणजाति का विकसित राजनैतिक रूप राज्यसंघ और साम्राज्य का रूप ले लेता है।

का नियमन उन क्षेत्रो मे करती है जो भारतीय विधि प्रणाली के अन्तगत नही आ पाये हैं। प्राचीन तथा मध्यकालीन भारत मे जहाँ राज्य का उद्देश्य भारत की विभिन्न गणजातियो पर प्रभुता स्थापित करना था, गणजाति, केन्द्रीय सत्ता के अधीन, एक स्वतन्त्र राजनतिक इकाई के रूप मे काय करती थी। गाडा ने मध्यभारत म अपना राज्य स्थापित किया था इसके प्रमाण इतिहास मे मिलते है। सन 1855 मे, सथालो न अग्रेजो को अपन इलाके से निकल जाने की चुनौती दी थी और सगठित होकर अग्रेजा के विरुद्ध विद्रोह किया था।

वतमान आदिवासी भारत मे पचायत प्रणाली आदिवासी राजनैतिक सगठन का मुख्य रूप है। भारत म पचायत प्रणाली के तीन परम्परागत प्रकार मिले है एक, जाति पचायत, दूसरा ग्राम पचायत और तीसरा गणजाति-पचायत। जाति पचायत के अन्तगत एक जाति के सदस्य आते है। एक जाति पचायत के सदस्य, कई पडोसी गावो के किन्तु एक ही जाति के सदस्य होते है। जाति पचायत का उद्देश्य है जाति के नियमो को लागू करना और उनका उल्लघन करने वाले को दड देना। ये नियम मुख्यतया खान पान, विवाह तलाक और पेशे से सम्बन्धित होते है। ग्राम-पचायत के अन्तगत एक गाव के निवासी आते हैं जो कई जातियो के सदस्य हो सकते हैं। ग्राम-जीवन का नियमन जाति पचायत के अन्तगत आता है। स्वतन्त्र भारत मे ग्राम पचायत को वधानिक आधार प्रदान किया गया है और विधान द्वारा उनके कार्यो और सगठन को निर्धारित किया गया है। वतमान विधान के अनुसार एक ग्राम-पचायत म कई ग्राम आ सकते है क्योकि, वतमान विधान मे, पचायत सगठन का आधार ग्राम नही, बल्कि एक निश्चित जनसख्या है जो कई ग्रामो से मिल कर बन सकती है। गणजाति पचायत से तात्पय उस पचायत से है जो एक गणजाति मे पायी जाती है। वतमान आदिवासी भारत म, गणजाति का एक केन्द्रीय राजनतिक सगठन नही मिलता है। प्रत्येक गणजाति एक सस्पर्शी क्षेत्र म फैली रहती है और उसके सदस्य कलानो (जिनका आगे वणन किया जायगा) और ग्रामो म विभक्त रहते है। वतमान आदिवासी समाज म परम्परागत ग्राम पचायत का ही रूप अधिक मिलता जिसे कुछ उदाहरणो द्वारा इसप्रकार स्पष्ट किया जा सकता है।

कमार गणजाति मे कोई केन्द्रीय सगठन नही है। पास पास स्थित कुछ गावो के निवासी पचायत मगठन मे सगठित हो जाते हैं। पचायत का सामाजिक धार्मिक मामलो मे सर्वोच्चसत्ता मिली हुई होती है। कमार गणजाति के सदस्य, अपनी अपनी पचायत के अधीन होते है। खरिया गणजाति मे एक गाव के खरिया परिवारो के मुखियाओ से मिलकर ग्राम पचायत सगठित होती है। रेग्मा नागाओ म, अग्रेजो राज्य के पहले प्रत्यक गाव का एक अध्यक्ष होता था जो प्रशासन म प्रमुख ग्रामवृद्धो की सहायता लिया करता था। हो गणजाति मे भी पचायत व्यवस्था पायी जाती थी। किन्तु अग्रेजी राज्य की स्थापना के बाद से, वहाँ जो दोहरा प्रशासन अस्तित्व म

आया, उससे पचायत का ह्रास हुआ है। अग्रेजी प्रशासन ने वहाँ प्रत्येक गाँव मे आदिवासी आफिसर रक्खे जो अपनी ही सेवा म लग रहे जिसके कारण परम्परागत प्रशासन भ्रष्ट हो गया। वहा यह नियम है कि किसी भी मुकद्दमे की अतिम पचायत म कलक्टर अवश्य उपस्थित हो और वह स्वय यह देखे कि फसला ठीक दिया गया है या नही।

प्रत्येक पचायत का एक मुखिया होता है, जिसका पद पीढी दर पीढी चलता है। किन्तु, इस नियम के अपवाद भी पाये जाते हैं। रेंग्मा नागाओ म ग्राम अध्यक्ष का पद किसी एक परिवार म नही वरन क्लान म पीढी दर पीढी चलता है। आदिवासी समाज म, मुस्लिम निरकुश शासक नही है। मुखिया की सहायता क लिए तथा उसे सलाह देने के लिए यातो क्लान के या गाव के प्रमुख वद्धो की सभा होती है, जिसकी राय की मुखिया अवहेलना नही कर पाता है। मुखिया का पद वशानुगत होता है फिर भी, यदि बहुमत उसके पक्ष म न हो तो, उसे हटाया जा सकता है। आदिवासी पचायत के सामने वही मुकदमे आते हैं जिनसे गणजातीय विधि (Tribal Law) भग होती है। सिद्धान्तत, पचायत के अधिकार क्षेत्र म आदिवासी जीवन मे सम्बन्धित सभी समस्यायें आती हैं क्योकि पचायत और उसके नेताओ का प्रधान काय है पचायत के सदस्यो के वयक्तिक तथा सामूहिक अधिकारो की रक्षा गणजाति के नियमो का लागू करना तथा आपत्तियो के समय माग निर्देशन करना। किन्तु भारत के राष्ट्र राज्य और केन्द्रीय सत्ता के सगठित होने के साथ साथ पचायत के अधिकारो का क्षेत्र भी सीमित हो गया है। पुलीस-सगठन न्यायालयो और भारतीय दण्ड सहिता से पचायतो के अधिकार सीमित हो गए हैं।

पचायत के अन्तगत मुख्यतया परस्त्रीगमन तलाक, वधू मूल्य, डाकिनी-वत्ति (Witchcraft), उत्तराधिकार के झगडो तथा खान पान के नियमो स सम्बन्धित समस्याए आती हैं। कमार पचायत के नियमानुसार गोहत्या और उनके साथ खाना खाना जिन्हे कमार अपने म निम्न मानते हैं अपराध माना जाता है। अन्तरवाहिकी तथा बहिर्वाहिकी के नियमो का पालन करवाना भी पचायत के अधिकार-क्षेत्र मे आता है। किसी व्यक्ति की हत्या, चोरी किसी की मानहानि और किसी की स्त्री या लडकी भगाना इत्यादि अपराध पचायत क अधिकार क्षेत्र म आते हैं, किन्तु ऐसे मामले भारतीय दण्ड सहिता के नियमानुसार न्यायालय म भी ले जाये जा सकते हैं। कमारो म जसाकि दुबे ने लिखा है व्यक्ति और सम्पत्ति के विरुद्ध अपराध बहुत कम होते हैं और यदि होते भी है तो व उतने गम्भीर नही होते हैं। कमारो जसा हाल लगभग सभी गणजातियो का है।

पचायत म विधायी (Legislative) न्यायिक (Judiciary) तथा प्रशासकीय (Executive) काय और अधिकार निहित हैं। गणजाति की प्रथाओ का नियमन, प्रशासन और न्यायिक निवचन पचायत द्वारा ही होता है। पचायत उस प्रकार का

न्यायालय नहीं है जैसाकि वर्तमान समाज में पाया जाता है। पंचायत में वादी प्रतिवादी को अपने विचारों को व्यक्त करने का अवसर मिलने के साथ-साथ, पंचायत के प्रत्येक सदस्य को अपना मत व्यक्त करने का अधिकार होता है। पंचायत द्वारा उसी निर्णय को लागू किया जाता है जो बहुमत का निर्णय नहीं वरन सर्वसम्मति का निर्णय होता है। आदिवासी विधान परम्परा में अपराध को अपराध न मानकर पाप माना जाता है जिसके कारण अपराध के इरादे और प्रेरकों पर ध्यान न देकर, उसके परिणाम पर अधिक ध्यान दिया जाता है। दण्ड भी अपराध के परिणाम को ध्यान में रखकर दिया जाता है। चूंकि अपराध पाप माना जाता है, इसलिए दण्ड ऐसा दिया जाता है जिससे अपराधी का सुधार भी हो और दूसरों को उदाहरण भी मिल सके। दण्ड को उदाहरणीय बनाने के कारण, आदिवासी दण्ड विधान में 'जैसे को तैसा नियम' भी पाया जाता है। मध्यप्रदेश की कलबलिया गणजाति में बलात्कार के अपराधी को गुप्तांग गरम किए हुए पैसे या लोहे से दागने की प्रथा का विवरण मिलता है। किन्तु आज ऐसे दण्ड भारतीय दण्ड संहिता के विरुद्ध पड़ते हैं और इसकारण, उनका प्रयोग कम होता है। साक्षी में चश्मदीद गवाह को ही अधिक महत्व दिया जाता है पर साथ ही साथ सौगन्ध और दमीपरीक्षा (Ordeal) को भी महत्व दिया जाता है। कलबलिया में यदि कोई अपराधी सात पीपल के पत्ते को अपने हाथ पर रखकर और उसके ऊपर लाल तपा हुआ लोहा रखकर, सात कदम चलने पर भी न जले, तो वह निर्दोष समझा जाता है। वर्तमान समय में पंचायत, मुख्यतया, या तो नकद जुर्माना लगाती है या बिरादरी के लिए भोज देने का दण्ड देती है, या दोनों को एक में मिला देती है। हुक्का पानी बन्द करना (Excommunication) पंचायत द्वारा दिया जाने वाला मुख्य दण्ड है किन्तु यह थोड़े समय के लिए ही होता है क्योंकि अन्ततोगत्वा अपराधी को पुनः समाज में वापस ले लिया जाता है।

आदिवासी समाज में पंचायत का रूप एक सीमित सरकार का रूप है। पंचायत जिन नियमों को लागू करती है वे प्रथाओं के रूप में पाये जाते हैं। इस

गणजातीय विधि

कारण एक मत यह भी है कि आदिवासी समाज में विधि (Law) का अभाव है। इस मत के प्रणेताओं का यह भी मत रहा है कि आदिवासी अपनी प्रथाओं का कभी उल्लंघन नहीं करता है। वह अपनी प्रथाओं का वैसे ही स्वभावतया पालन करता है जैसे अपनी स्वाभाविक आदतों का। किन्तु, यह मत निराधार है क्योंकि आदिवासी समाज में भी व्यक्ति को सामाजिक नियमों को मानना पड़ता है और यदि वह इन नियमों का उल्लंघन करता है तो संगठित रूप से, समाज उसे दण्ड देता है। यदि विधि को सरकार, संविधान और न्यायालय के सन्दर्भ में ही परिभाषित किया जाए तो आदिवासी समाज में निश्चय ही विधि नहीं है क्योंकि आदिवासी समाज में संस्थाएँ अलग-अलग संगठित नहीं हैं। किन्तु, विधि की ऐसी परिभाषा एकांगी है। विधि से तात्पर्य है उस सामाजिक नियम से जो

सवमान्य है और जिसके पीछे समाज की वह शक्ति है जो राजनैतिक संगठन से उत्पन्न होती है और व्यक्ति को सवमान्य नियम मानने के लिए बाध्य करती है। जिस सामाजिक नियम को व्यक्ति सामाजिक शक्ति के दबाव तथा सामाजिक दण्ड के भय से मानता है वही विधि की श्रेणी में आता है। विधि ऐसा सामाजिक नियम है जिसका उल्लंघन व्यक्ति अपनी स्वाभाविक प्रवृत्तियों के वशीभूत होकर वैयक्तिक स्वार्थ के लिए करता है। असामाजिक कृत्यों को रोकने वाले नियम विधि की श्रेणी में आते हैं। ये वे नियम हैं जिनके उल्लंघन से समाज की एकता को खतरा उत्पन्न होता है। आदिवासी समाज की प्रथाओं में ऐसे नियम सन्निहित रहते हैं। किन्तु असामाजिक क्या है इसकी परिभाषा अलग अलग समाजों में अलग अलग ढंग से की जाती है। कच्ची शराब बनाना भारत के आबकारी विभाग के नियमों के अनुसार अपराध है किन्तु चमार पंचायत के विधान में यह अपराध नहीं है। भील चोरी करना अपराध नहीं मानते हैं। अपराधी गणजातियों में भी चोरी और डाकेजनी को अपराध नहीं माना जाता है यद्यपि भारतीय दण्ड संहिता के अनुसार, उनके कृत्य असामाजिक और दण्डनीय हैं। यही कारण है कि आज परिवर्तित परिस्थिति में आदिवासी समाज की अनेक परम्परागत विधियाँ राष्ट्र की विधियों के विरोध में पड़ती हैं और, उसके फलस्वरूप भारतीय समाज में यहाँ वहाँ तनाव और संघर्ष उत्पन्न हो रहा है। आदिवासी संस्कृति में और आदिवासी संस्कृति से उत्पन्न इन समस्याओं का यथास्थान आगे वर्णन किया गया है।

४

क्लान टोटम और टोटेमवाद

गणजाति को समझने के लिए गण जाति के आंतरिक संगठन को समझना आवश्यक है। गणजाति संगठन की निम्नतम इकाई परिवार है। स्थानीय समूह (Local Group) कई परिवारों से मिलकर बनता है किन्तु वह ग्राम नहीं होता है। परिवार का सम्बन्ध एक ओर स्थानीय समूह और गाँव से होता है और दूसरी ओर वंश से होता है। वंश में वह व्यक्ति आते हैं जो एक निश्चित पूर्वज की सन्तान होते हैं। कहीं कहीं वंश से बड़ा सम्बन्धि समूह पाया जाता है (उप क्लान) जिसके सदस्य अपने को एक कल्पित पूर्वज की सन्तान मानते हैं। कई वंशों और भालों में मिल कर क्लान बनती है जिसके सदस्य अपने को एक कल्पित पूर्वज की सन्तान मानने के कारण परस्पर रक्त सम्बन्धी मानते हैं। एक गणजाति वैसे ही क्लानों (Clans) में विभक्त रहती है जैसे एक जाति गोत्रों में। क्लान को वैसे ही गोत्र नहीं कहा जा सकता जैसे जाति को गणजाति नहीं कहा जा सकता। वंश जाति और गोत्र हिन्दू सामाजिक संगठन के

क्लान

आधार है जबकि गणजाति और क्लान आदिवासी सामाजिक संगठन के। क्लान परिवार का एक विस्तृत रूप है किन्तु, क्लान को परिवार नहीं माना जा सकता क्योंकि, क्लान के सदस्य एक ही गृह में नहीं रहते हैं।

गोत्र का नामकरण वैदिक ऋषियों के आधार पर किया गया है जबकि क्लान का नाम पशुओं पेड़ों और पौधों के आधार पर किया जाता है। जिस पेड़, पशु या पौधे के नाम पर क्लान का नामकरण किया जाता है उसे मानवशास्त्र में टोटम की संज्ञा दी गई है। टोटमवाद (Totemism) आदिवासी समाज की एक विशिष्टता है जिसका आगे वर्णन किया जायगा। यहां इतना कहना पर्याप्त है कि गणजाति साधारणतया क्लानों (Clans) में विभक्त रहती है और एक क्लान के सदस्य अपने समूह का नामकरण किसी पेड़ पशु या पौधे के नाम पर करके, उसके और अपने बीच में रहस्यात्मक सम्बन्ध मानते हुए, अपने को एक ही पूर्वज की सन्तान मानते हैं और इस मान्यता के कारण, एक बहिर्विवाही समूह का रूप ग्रहण करते हैं। क्लान इसप्रकार, गणजाति रूपी अन्तर्विवाही समूह का एक बहिर्विवाही उपसमूह है। क्लान रक्तसम्बन्ध के सिद्धान्त पर आधारित है यद्यपि रक्तसम्बन्ध की धारणा केवल कल्पनामात्र होती है। क्लान की सदस्यता सामाजिक वंशानुकूल (Social Heredity) के सिद्धांत पर पूर्वनिर्धारित रहती है। क्लान की सदस्यता, व्यक्ति की इच्छा पर नहीं निर्भर रहती है यद्यपि, एक क्लान का सदस्य, यदि वह चाहे तो दूसरे क्लान की सदस्यता ग्रहण कर सकता है। क्लान मातसत्तात्मक भी होती होती है और पितसत्तात्मक भी। क्लान के माध्यम से गणजाति की जनसंख्या खण्डों में विभाजित हो जाती है। क्लान-संगठन में निहित रक्तसम्बन्ध की भावना के कारण क्लान का सामाजिक प्रभाव महत्वपूर्ण हो जाता है।

आदिवासी सामाजिक संगठन में क्लान संगठन प्रणाली के कई रूप मिलते हैं। कहीं कहीं, जैसाकि टोडा गणजाति में है, गणजाति दो क्लानों में विभक्त रहती है। ऐसी दशा में प्रत्येक क्लान को म्वायटी (Moiety) कहा जाता है। 'म्वायटी' अंग्रेजी भाषा का शब्द है, जिसका अर्थ है अर्धभाग। म्वायटी प्रणाली को दोहरा-विभाजन (Dual Division) या दोहरा संगठन (Dual Organisation) कहते है। सामान्यतः, म्वायटी बहिर्विवाही होती है किन्तु जैसाकि टोडा लोगों में है, इस नियम के अपवाद के रूप में, म्वायटी अन्तर्विवाही समूह के रूप में भी पायी जाती है। जिस गणजाति में कई क्लानें पायी जाती हैं, वहां एक म्वायटी कई क्लानों से मिल कर बनती है। फ्रैटरी (Phratry) प्रणाली क्लान-संगठन प्रणाली का दूसरा रूप है। जब एक गणजाति कई क्लानों में विभक्त होती है और सारी क्लानें दो से अधिक समूहों में बंट जाती है तो प्रत्येक समूह को फ्रैटरी कहा जाता है। एक फ्रैटरी की क्लानें आपस में विशेष सम्बन्ध मानती हैं। म्वायटी प्रणाली विवाह को प्रभावित करती है किन्तु, फ्रैटरी नहीं।

आदिवासी सामाजिक संगठन में क्लान के कई सामाजिक कार्य (Social Functions) पाये गए हैं। एक क्लान के सदस्य एक दूसरे की सहायता और सुरक्षा प्रदान करते हैं। परिवार के बाद क्लान ही ऐसा संगठन है जो व्यक्ति के व्यवहार को नियमित करता है। गणजातीय समाज के नियमों की अवहेलना करने पर, व्यक्ति क्लान की सदस्यता से वंचित भी किया जा सकता है। क्लान बहिर्विवाह (Clan Exogamy) का नियम क्लान संगठन की दृढ़ता को बढ़ाता है। कहीं कहीं कृषि तथा बागबानी की भूमि जैसी सामूहिक सम्पत्ति क्लान के अधिकार में पायी जाती है। क्लान का मुखिया धार्मिक कृत्यों में सामूहिक नेतृत्व करता है। एक गणजाति की क्लानों के सदस्यों या मुखियाओं से मिल कर गणजातीय परिषद (Tribal Council) संगठित होती है। अतः आदिवासी समाज में क्लान का राजनैतिक महत्व भी है।

परिवार, स्थानीय समूह, ग्राम, वंश और क्लान गणजाति के विभिन्न स्तर हैं जिनसे गणजाति के राजनैतिक पहलू का सामाजिक संगठन प्रभावित होता है। परिवार, वंश और क्लान रक्तसम्बन्ध के एकपक्षीय सिद्धान्त पर आधारित है और ग्राम क्षेत्रीय समुदाय तथा स्थानीय समूह के हित के सिद्धान्तों पर। गणजातीय राजनैतिक संगठन में, क्लान का प्रमुख स्थान है और इसकारण गणजातीय राजनैतिक संगठन में सविदावादी सम्बन्धों की अपेक्षा नातेदारी के बन्धनों की अधिक प्रधानता है। किंतु गणजाति और क्लान दोनों क्षेत्रीय समूह भी हैं और इसी कारण गणजातीय राजनैतिक सामाजिक संगठन में क्षेत्र का भी प्रभाव पड़ता है। उदाहरणार्थ उड़ीसा की खोंड गणजाति अनेक बहिर्विवाही ग्राम इकाइयों (Village Units गोत्रिया) में बटी हुई है। कई गावों से मिल कर, अलग अलग छोटी बड़ी कई क्षेत्रीय इकाइयां बनती हैं और क्षेत्रीय इकाइयां अन्ततोगत्वा गणजाति इकाई में विलीन हो जाती हैं। छोटा नागपुर और बिहार की मुण्डा गणजातियों में कई ग्रामों और क्लानों से मिल कर परहा या पीर संगठित होता है जो एक उपाध्यक्ष के अधीन होता है[1]।

जो गणजाति जितनी बड़ी होती है, उसका आन्तरिक संगठन उतना ही विस्तृत और जटिल होता है। मध्यप्रदेश के गोंड इसका उदाहरण है। गोंडों में पाई जाने वाली क्लानों को चार श्रेणियों में विभक्त किया गया है। पहली श्रेणी में वे क्लानें आती हैं जो टोटेम पर आधारित है जैसे गोह, टीकम (टीक या साल के पेड़ पर आधारित) लोह (लोहा) और निरगम (अग्नि) इत्यादि)। सूनेन्मार मुजोर (जिद्दी), पेटम (गांव का मुखिया) और लात चटिया (नमक चाटने वाला) इत्यादि नामों पर आधारित क्लानें विद्रूपित नामों पर आधारित है और दूसरी श्रेणी में आती हैं। महानदिया जौनपुरिया सरनगढिया सरगुजिया और रतनपुरिया इत्यादि क्लानें स्थानवाची हैं और तीसरी श्रेणी में आती है। शाण्डिल्य तथा कश्यप

[1] मजूमदार डी० एन० रेसेज एण्ड कल्चर्स आफ इण्डिया पृष्ठ 3 9

जत नामा पर आधारित क्लानें वैदिक ऋषियो के नाम पर आधारित हैं और गाडो मे हिंदू प्रभाव की प्रतीक हैं। गाडो म तीन प्रकार क वग पाये जात ह, जिनका डा० इन्द्रजीत सिंह न अभिजात्य (Aritocracy) रयत (Tenantry) और श्रमिक नामकरण किया है। अभिजात्य वग म राजगाड आते हैं जिनम माल्गुजार, पटेल और अन्य सम्पत्तिधारी लोग हैं। रयत वग म व कृपक आत हैं जा भूमि क स्वामी नही केवल कृपक हैं। रैयत वग के गाडा का धुरगाड कहा जाता है। राजगाड और धुरगाड एक ही सामाजिक पष्ठभूमि स उठ हैं। धुर का अथ है धूलि जिसका लक्षणात्मक अथ सामान्य म है और राज का लक्षणात्मक अथ है उसम जा राजतन्त्र स सम्बधित हो। द्वितीय वग म परधान और माझा जस शिल्पी समूहा के गाड भी आते हैं। गोडा म परधाना का मूलत वही काम रहा है जा सामान्यतया चारणा और भाटा का रहा है। खतिहर श्रमिक तीसरे वण म आत हैं[1]।

टोटेमवाद वह प्रथा है जिसके आधार पर आदिवासी समाज म, साधारणतया क्लान का नाम किसी पड पशु या पौध के आधार पर रखा जाता है।

टोटेम और टोटेमवाद

जिस किसी पेड पशु या पौधे क आधार पर क्लान का नामकरण किया जाता है उस टोटम कहत हैं[1]। किन्तु क्लान का किसी पड पशु या पौध पर नामकरण ही टाटमवाद (Totemism) नही है और न टोटमवाद सावभौमिक ही है। जहाँ गणजाति के एक अग, क्लान, का नामकरण किसी पड पशु या पौधे पर करने के कारण क्लान क सदस्या तथा नामकृत पड, पशु या पौधे क बीच विश्वास और प्रथाए इसप्रकार आ जाती हैं कि पड पशु या पौधे का सामाजिक जीवन म एक विशप स्थान बन जाता है और क्लान के सदस्या तथा टाटेम के बीच म रहस्यात्मक सम्बन्ध उत्पन्न हा जाते हैं वही टोटेमवाद का प्रमय अस्तित्व म आ जाता है। पडा पौधा पशुओ या भौतिक पदार्थों के आधार पर क्लानो का नामकरण और टाटमवाद (Totemism) अलग अलग वस्तुएँ हैं। टाटेमवाद का प्रत्यक्ष सम्बन्ध उन निश्चित विश्वास और प्रथामा स है जो टाटेम स सम्बन्धित हैं। इस दृष्टिकोण स पशु पेड और पौधा की पूजा को टोटेमवाद के अन्तगत नही रखा जा सकता।

---

1 मजूमदार, डी० एन० रसेज एण्ड कल्चस आफ इण्डिया पष्ठ 309

2 सवप्रथम जे० लग नामक अंग्रेज ने, 1791 में उत्तरी अमरीका के रेड इण्डियनों में इस प्रमेय का अवलोकन करके इसकी ओर ध्यान आकर्षित किया था। तब से टोटेमिज्म का अवलोकन ससार क अन्य भागों में किया गया है। आस्ट्रेलिया क आदिवासिया में टोटेमिज्म का व्यापक प्रभाव है। यह अमरीका की कुछ भागों उत्तरी अमरीका की कुछ गणजातियों और दक्षिणी अमरीका की दो गणजातियों में पाया जाता है। मानवशास्त्री इसे आदिवासी समाज की एक महत्वपूर्ण संस्था मानते ह।

टोटेमवाद को स्पष्ट रूप से समझने के लिए कुछ बातों पर ध्यान देना आवश्यक है। टोटेम के आधार पर कबीले का नामकरण सार्वभौमिक नहीं है। ऐसे उदाहरण भी पाए जाते हैं जहाँ कबीले का नाम टोटेम पर आधारित नहीं रहता है। संसार के जिन जिन आदिवासी क्षेत्रों में टोटमवाद पाया जाता है यदि वहाँ के टोटमवाद का तुलनात्मक अध्ययन किया जाय तो यह स्पष्ट होता है कि टोटमवाद के अन्तर्गत कई प्रकार के व विशिष्ट सामाजिक सम्बन्ध आते है जो एक समाज या उसके एक अंग और टोटेम के बीच स्थापित हो गए हैं। यूनाइटेड के रेड इण्डियनों में टोटमवाद का केवल इतना ही महत्व है कि कबीलों का नामकरण टोटम के आधार पर मिलता है। अमरीका के उत्तरी पश्चिमी समुद्र तट के प्रदेश में पाये जाने वाले हैदा आदिवासियों में टोटम कबीले का प्रतीक माना जाता है। अतः उनमें टोटेम का शरीर पर गुदवाने कपड़ों पर छपवाने या अन्य वस्तुओं पर खोदने या चित्रित करने की प्रथा है। होपी रेड इण्डियनों में टोटम मनुष्यों जानवरों, पौधों, भौतिक पदार्थों और मानवनिर्मित उपकरणों (Artifacts) के वर्गीकरण का एक माध्यम है। मध्य आस्ट्रेलिया के निवासी, अरुन्ता आदिवासियों में टोटेमवाद एक प्रकार की पूजा पद्धति है जिसमें अनेकों प्रकार के संस्कार (Rituals) और कर्मकाण्ड (Pites) आते है। अरुन्ता पितृसत्तात्मक परिवार एक निश्चित क्षेत्र में फैला रहता है और इस क्षेत्र में कई पवित्र स्थान या टोटम केन्द्र होते हैं—जहाँ जैसा कि अरुन्ता लोगों का विश्वास है पौराणिक पूर्वजों (Mythological Ancestors) की मृत्यु होने से उनकी आत्मा का वास रहता है। टोटम केन्द्र में जो पेड़ या जानवर पाये जाते है अरुन्ता विश्वासों के अनुसार उनका सम्बन्ध पूर्वजों से है और चूँकि जैसा कि अरुन्ता लोगों का विश्वास है, पूर्वजों की आत्मा के ही द्वारा स्त्रियों का गर्भाधान होता है, टोटम केन्द्र में सम्बन्धित पेड़ और पशुओं का उस समूह के सदस्यों से विशेष सम्बन्ध होता है, जो टोटम केन्द्रों के अधिकारी होते है। इसप्रकार आस्ट्रेलिया के अरुन्ताओं में टोटेमवाद पूर्वज पूजा पद्धति का रूप ले लेता है। विभिन्न आदिवासी क्षेत्रों में इसप्रकार टोटेमवाद के अलग अलग रूप और विशेषतायें है।

भारतीय टोटेमवाद की विशेषताओं का मजूमदार ने इसप्रकार उल्लेख किया है टोटेम पशु को मारने का निषेध है। जब टोटम पशु की मृत्यु होती है तो उसकी वैसे ही अन्त्येष्टि क्रिया की जाती है जैसी कि किसी क्लान के सदस्य की की जाती है। विशेष अवसरों पर टोटम पशु की खाल को पहनने टोटेम को शरीर पर गुदवाने या टोटेम चित्र को क्लान का निशान या प्रतीक मानने की प्रथायें मिलती हैं। यदि टोटेम पशु भयानक होता है तो उसको प्रसन्न रखने के लिये इस दृष्टिकोण से, पूजा की जाती है कि वह अपनी क्लान के सदस्यों पर प्रसन्न रहे और उनको नुकसान न पहुँचाये। यदि टोटम-पशु या पौधा खाद्य है तो उसे केवल विशेष आनुष्ठानिक अवसरों पर ही खाया जाता है। भारत के आदिवासियों में यह विश्वास पाया जाता

है कि टोटेम अपनी वंशज के सदस्यों का संरक्षक है। टोटेम से भावी आशंकाओं की सूचना भी हो सकती है और उनसे रक्षा भी हो सकती है। इस प्रकार टोटम के साथ अनेक धार्मिक भावनाएं निषेध और प्रतीक लिपटे हुए हैं और चूंकि एक टोटेम-समूह के सदस्य अपने को रक्त-सम्बन्धी मानते हैं बहिर्विवाह टोटम समूह की एक आवश्यक विशेषता बन जाती है[1]।

भारत में टोटमवाद का प्रसार आदिवासियों से लेकर हिन्दू समाज की निम्नस्तरीय जातियों तक है। संथालों में लगभग सौ से अधिक कुलान हैं जिनका नामकरण पौधों, पशुओं और पार्थिव पदार्थों के आधार पर किया गया है। हो गण-जाति में पचास से अधिक टोटमवादी कुलान हैं। मुण्डाओं में चौंसठ से अधिक टोटमवादी बहिर्विवाही कुलानें हैं। भीलों की चौबीस कुलानों में अधिकतर टोटमवादी हैं किन्तु, हिन्दू प्रभावों के कारण, कुछ गोत्रवादी अर्थात वैदिक ऋषियों के नामों पर आधारित मिलती है। छोटा नागपुर के निवासी खरिया आदिवासियों का एक समूह ढेलकी खरिया आठ टोटेम कुलानों में विभक्त है। इसी प्रकार मध्यप्रदेश और राजस्थान के गोंड तथा बम्बई प्रान्त के कटकारी भी टोटमवादी कुलानों में विभक्त हैं। जहां गणजाति फ्रेट्रीज (Phratries) में विभक्त है, वहां फ्रेटरी अन्तर्विवाही समूह है और फ्रेटरी के अन्तर्गत कुलान बहिर्विवाही समूह। बंगाल के बांकुरा जिले के दाउरी ना एक अनसूचित जाति है, माल धाल 'सवोरिया' और 'मान' नामक चार फ्रेट्रियों में बंटे हैं और इनमें से प्रत्येक फ्रेटरी पांच से लेकर बीस बहिर्विवाही कुलानों में विभक्त है। फ्रेट्रियों के नाम स्थानवाची हैं जैसे माल मालभूमि के, धाल धालभूमि के और मान मानभूमि के निवासी हैं। उड़ीसा की कुरमी, कुम्हार और भूमिया जातियों के निवासी भी सांप सियार और कद्दू जैसे टोटेमों पर आधारित समूहों में विभक्त हैं। भारत में पाये जाने वाले टोटमों में कुछ तो स्थानवाची हैं, लेकिन अधिकतर पशु पेड़ों और पौधों पर आधारित हैं। जिन पशु, पेड़ और पौधों को टोटेम माना गया है वे सामान्यतः उस समूह के प्राकृतवास का अभिन्न अंग हैं जो उन्हें टोटम मानता है और उसके लिए किसी न किसी रूप में उपयोगी है।

हिन्दुओं में अनेक ऐसी प्रथायें पायी गई हैं जिनकी उत्पत्ति भारत के आदिवासियों की टोटमवादी प्रथाओं में मानी जा सकती है किन्तु वे प्रथायें टोटेमवाद के अन्तर्गत नहीं आती हैं। हिन्दू गाय को पवित्र मानकर उसकी पूजा करते हैं। काले कुत्ते को नहीं मारते क्योंकि काला कुत्ता भैरव की सवारी है। बिल्ली का मारना अशुभ है और बिल्ली तथा गाय का मारने वाले को प्रायश्चित करना पड़ता है। नागपंचमी के पर्व पर नाग की पूजा की जाती है। गधा को शीतलादेवी का वाहन माना जाता है और जिस घर में चेचक का प्रकोप होता है, उस घर में गधे को खिलाये

1 मजूमदार, डी० एन० रेसेज एण्ड कल्चर्स आफ इंडिया पृष्ठ 334

हुए चने की दील (दाल) खिलायी जाती हैं। ऐसा माना जाता है कि यदि गधा चनों की भिगाई दाल खा लेता है तो चेचक से त्राण मिलेगा, वर्ना नहीं। बन्दर को हनुमान का रूप मानकर उसके प्रति वही आदर का भाव रक्खा गया है जो कि हनुमान के प्रति वांछित है। मजूमदार के अनुसार, बंगाल के हिंदुओं में बिल्ली की पूजा करके नारियों की प्रजनन शक्ति बढ़ाने की प्रथा पाई गई है। नरसिंह देवता के रूप में बाघ की पूजा के प्रमाण मिलते हैं। बैल शंकर की सवारी, चूहा गणेश की सवारी, हाथी इन्द्र की सवारी, भैंसा यम की सवारी तथा उल्लू लक्ष्मी की सवारी होने के कारण, इन देवताओं के साथ पूजनीय माने गए हैं। हिंदुओं में तुलसी के पौधे को पवित्र मानकर पूजनीय माना गया है। भारत के कुछ भागों में हिन्दू नारियां वटवृक्ष को दीर्घायु पति का प्रतीक मानकर उसकी पूजा करती हैं। पीपल की पूजा इसलिये की जाती है कि वह ब्रह्मराक्षस का निवास स्थान है। अवध में ब्याह के रीति रिवाजों में पलाश पूजन तथा मूसल जैसे पार्थिव पदार्थों की पूजा प्रथा पाई जाती है। किन्तु ये प्रथायें टोटमवाद के अन्तर्गत नहीं आती हैं क्योंकि इनसे सामाजिक संगठन का नियमन नहीं होता है। ये केवल धर्म और जादू के क्षेत्र में आती हैं जबकि टोटेम जादू के भी क्षेत्र में आता है और सामाजिक संगठन के भी क्षेत्र में।

आदिवासी समाज में टोटमवाद क्यों पाया जाता है? इस प्रश्न का सैद्धान्तिक उत्तर एक विवाद का विषय रहा है। इसको स्पष्ट करने के लिये अनेक सिद्धान्तों को प्रतिपादित किया गया है जिनमें से कोई भी सर्वमान्य नहीं है। इसका कारण यह है कि टोटेमवाद एक ऐसी सामाजिक संस्था है जिसके विभिन्न आदिवासी समाजों में, विभिन्न विचरित रूप पाये जाते हैं और जिनके स्पष्टीकरण का समाहार किसी एक सिद्धान्त में नहीं हो पाया है। भारतीय टोटेमवाद को स्पष्ट करने के लिये जो सैद्धान्तिक दृष्टिकोण अपनाया गया है उसको स्पष्ट करने के पहले विभिन्न सिद्धान्तों का एक संक्षिप्त पर्यवेक्षण आवश्यक है।

हैडन ने यह प्रतिपादित किया है कि, मूलतः टोटेम का सम्बन्ध खाद्य सामग्री की प्राप्ति से है। प्रारम्भिक काल में एक आदिवासी समूह जिस किसी पेड़ या पशु पर निर्भर था कालान्तर में उसने उसी पेड़ या पौधे के आधार पर विनिमय के द्वारा अन्यों से व्यापार प्रारम्भ किया, जिसके कारण उसने उस पेड़ या पशु का संवर्धन प्रारम्भ किया और उसी के आधार पर उसका नाम पड़ा। इससे यह नहीं स्पष्ट होता कि अखाद्य पशु या पेड़ों का टोटेम क्यों बनाया गया। जेम्स फ्रेजर ने एक के बाद एक कई सिद्धान्त प्रतिपादित किये हैं। उनका एक सिद्धान्त यह है कि विभिन्न टोटेम-समूह एक प्रकार के उत्पादन उपभोग (Production Consumption) वर्ग हैं। अर्थात् एक टोटेम समूह अपने टोटम का इसीलिये संवर्धन करता है ताकि दूसरा उसका उपभोग कर सके और वह दूसरे द्वारा संवर्धित टोटेम पशु या वनस्पति का उपभोग कर सके। पर, आदिवासी समाज इतना नियोजित नहीं है जितना कि

इस सिद्धान्त में कल्पना की गई है। आस्ट्रेलिया के आदिवासियों में आत्मा के दोहरे अस्तित्व में विश्वास है। अर्थात आत्मा शरीर के अन्दर भी रह सकता है और बाहर भी। टोटेम में, फ्रेजर के अनुसार आदिवासी ने वाह्य आत्मा को स्थापित करने का विचार इसलिये अपनाया ताकि उसकी सुरक्षा की भावना दृढ़तर हो सके। फ्रेजर का तीसरा सिद्धान्त गर्भाधारण के सिद्धान्त (Conception Theory of Totemism) के नाम से प्रसिद्ध है। इस सिद्धान्त के अनुसार आदिवासी इस तथ्य से अनभिज्ञ है कि नर नारी के संयोग से गर्भाधारण होता है। इस कारण वह टोटेम को गर्भधारण का कारण मानकर उस वस्तु को पूर्वज मानता है। फ्रेजर की यह मान्यता निराधार है कि आदिवासी को इस बात का पता नहीं है कि नर नारी के संयोग से गर्भधारण होता है। सबसे बड़ा प्रश्न यह है कि आखिर कोई पेड़ या पशु या पौधा टोटेम क्यों चुना जाता है?

दुर्खिम ने यह कहा है कि जिस आदिवासी समूह की खाद्यपूर्ति का जो पशु या पेड़ साधन रहा है वही उस समूह का टोटेम हो गया और उसके प्रति आदिवासी का समादर का भाव जगा। जैसे टोडाओं में भैंस के प्रति आदर का भाव विकसित हो गया है। टाइलर के अनुसार आदिवासी का यह विश्वास है कि मरने के बाद आत्मा किसी न किसी पशु या पेड़ में निवास करती है और जिस किसी पेड़ या पशु में आदिवासी ने आत्मा का निवास माना, उसी को टोटेम मानकर, उसकी रक्षा करना प्रारम्भ कर दिया। टाइलर के अनुसार टोटेमवाद पूर्वज-पूजा का एक अंग है। दुरखेम ने, अपने समष्टिवादी समाजशास्त्रीय सिद्धान्त के अनुसार टोटेम को सामूहिक मन की एक अभिव्यक्ति माना है। अमरीकी मानवशास्त्री बोआज और ग्वाटन इत्यादि ने यह माना है कि टोटेमवाद, आदिवासी समाज में, व्यक्ति तथा पशु या पेड़ के सम्बन्धों का सामाजिक विस्तार है। फ्रायड ने अपने ओडिपस कम्पलेक्स (Oedipus Complex)[1] के सिद्धान्त के आधार पर टोटेमवाद को स्पष्ट करने का प्रयास किया है। टोटेम, फ्रायड के अनुसार पिता की सामाजिक आकृति का प्रतीक

---

1 इस सिद्धान्त का नामकरण यूनान की एक पौराणिक कथा के आधार पर किया गया है। इस कथा में ओडिपस नामक एक व्यक्ति अपने पिता को मार कर अपनी सगी माता से विवाह करता है। फ्रायड के अनुसार, माता की ओर कामुक आकर्षण प्रत्येक व्यक्ति में पाया जाता है और प्रत्येक व्यक्ति ओडिपस की भांति ही व्यवहार करना चाहता है किन्तु, यह व्यवहार, सामाजिक निषेधों के कारण, वास्तविक रूप नहीं ले पाता है जिसके कारण, व्यक्ति के व्यक्तित्व-गठन में जो मानसिक ग्रंथि बनती है उसे फ्रायड ने ओडिपस कम्पलेक्स की संज्ञा दी है। पिता को मारकर माता से विवाह करने की लालसा फ्रायड के ओडिपस कम्पलेक्स सिद्धान्त का मूलाधार है।

है, जिसके विनाश पर सामाजिक सांस्कृतिक निषेध लग जाते हैं। निषेध का अंग्रेजी में टैबू कहा जाता है। टोटम के साथ जो टैबू (Taboo) लगे रहते हैं, उनके कारण टोटेम और टबू फ्रायड के अनुसार आडिपस कम्पलैक्स का सामूहिक प्रतीक बन जाते है। किंतु जैसा कि फ्रायड के आलोचकों ने कहा है, यह मानना कि आडिपस कम्प्लेक्स हर समाज मे पाया जाता है आधारहीन है।

गोल्डन वाइजर नामक अमरीकी मानवशास्त्री ने यह प्रतिपादित किया है कि टोटेमवाद एक सामाजिक धार्मिक (Socio Religious) प्रमेय है और टोटमवाद को समझने के लिए उसके सामाजिक धार्मिक पक्षों पर एक साथ ध्यान देना आवश्यक है। भारतीय टोटमवाद को स्पष्ट करने के लिए रिसले ने यह प्रतिपादित किया था कि, भारत में, टोटमवाद के धार्मिक आधारों का तो लोप हो गया है किंतु सामाजिक आधार विद्यम न हैं। रिसले ने टोटेम समूह के बहिर्विवाही आधार को टोटेमवाद का कारण माना है। किंतु, मजूमदार के अनुसार टोटेम और बहिर्विवाह का साथ साथ पाया जाना इस बात का प्रमाण नहीं है कि टोटेमवाद की उत्पत्ति बहिर्विवाह के ही कारण हुई है। मजूमदार के अनुसार दो टोटेम समूहों में अन्तर्विवाह के उदाहरण पाये गए हैं। एक टोटेम समूह और क्लान के सदस्य जनसंख्या बढ़ने के कारण, जब दो समूहों में बट गए हैं तो वे अन्तर्विवाही भी होते हुए पाये गये है। इसके अनेक उदाहरण, मजूमदार ने अपनी पुस्तक रेसेज एण्ड कल्चर्स में संकलित किये हैं। क्लान का बहिर्विवाही रूप क्लान के सदस्यों में कल्पित रक्त सम्बन्धों की धारणा के कारण आता है न कि टोटेमवाद के कारण। टोटेमवाद और बहिर्विवाहिकी, क्लान के साथ, अलग अलग कारणों से सम्बन्धित हो गए हैं। हटन के अनुसार भारतीय टोटेमवाद की उत्पत्ति मूलतः प्रजनन पूजापद्धति (Fertility Cult) में हुई है यद्यपि कालान्तर में उसके साथ अन्य प्रथाएं जुड़ गई हैं। आदिवासियों में टोटेमवाद से सम्बन्धित जो विचार या कथाएं मिलती हैं, उनसे इस मत की पुष्टि नहीं होती है।

जुवांग गणजाति के टोटेमों के बारे में लिखते हुए एल्विन ने यह मत प्रतिपादित किया है कि जुवांग लोगों में टोटमवाद ऐतिहासिक घटनाओं और अनुकरण के कारण आया हुआ जान पड़ता है। आकस्मिक या ऐतिहासिक घटना का सिद्धान्त एक काल्पनिक उदाहरण में स्पष्ट किया जा सकता है। मान लो कबूतर की हत्या करने के कारण, कोई व्यक्ति अन्धा हो जाता है और इसकारण वह कबूतर से डरकर उसकी पूजा आरम्भ कर देता है और उसके परिवार में यह परम्परा चल पड़ती है तो एक टोटम-समूह उत्पन्न हो जाता है। मुण्डा-समूह के तमरिया आदिवासियों में पान्‍र्भिंग खानदान के टोटम को स्पष्ट करने के लिये जो कथा प्रचलित है उसमें इस तथ्य की पुष्टि होती है। पान्‍र्भिंग मुण्डा भाषा का शब्द है जिसका अर्थ है नाग। एक तमरिया स्त्री अपने बच्चे को अकेला छोड़कर पानी भरने गई और जब लौटकर आई तब उसने देखा कि उसके सोते हुए बच्चे के ऊपर अपना फन फैलाये, एक नाग

बैठा हुआ है। स्त्री को देखकर नाग एक ओर को चला गया। उस बच्चे की सन्तानें और उनकी पीढ़ियां से मिलकर पाण्डुभिग या नागपुरती क्लान का संगठन हुआ। इस क्लान के लोग न तो सांप को मारते हैं और न उसे नुकसान पहुंचाते हैं और यह विश्वास करते हैं कि नाग उनका संरक्षक है। इस अन्य अनेक आधारों के प्रमाणों के आधार पर, मजूमदार ने लिखा है कि भारतीय टोटमवाद की आत्मा न तो धार्मिक अभिवृत्तियों में है न टोटेम को देवता तुल्य मानने वाले विचारों में और न खाद्य जानवरों तथा वनस्पतियों के संबंधन की सामाजिक या आर्थिक आवश्यकता में। टोटेमवाद की आत्मा समायी है सामाजिक व्यवस्था के उस सामान्य समायोजन में जिसके द्वारा आदिवासी मानव और उसके पर्यावरण में सहानुभूति सम्बन्ध (Sympathetic Relations) स्थापित हो सकें, क्योंकि इस सम्बन्धों में आदिवासी मानव को अपने प्राकृतवास के साथ समायोजन करने की आवश्यकता पूरी होती है और उससे उन अवस्थाओं में मानसिक सुरक्षा मिलती है जहां मानव सुरक्षा का कोई भी साधन उपलब्ध नहीं होता है।

पिछले वर्णन से क्लान संगठन की अनेक विशेषताएं स्पष्ट होती हैं। एक, क्लान अन्तर्विवाही समूह गणजाति, का एक भाग है। दो साधारणतया, क्लान बहिर्विवाही समूह होता है। तीन क्लान काल्पनिक रक्त-सम्बन्धों (Supposed Consanguineous Pelations) पर आधारित होता है और इस कारण, क्लान संगठन और बहिर्विवाहिकी एक में मिल जाते हैं। चार, वंश (Lineage) भी रक्त सम्बन्धों पर आधारित होता है किन्तु, वंश में रक्त सम्बन्ध काल्पनिक न होकर वास्तविक होते हैं। पांच वंश क्लान का एक भाग होता है। इसकारण, वंश की अपेक्षा क्लान का सामाजिक क्षेत्र अधिक विस्तृत होता है। छः, साधारणतया पौराणिक पुरुष, पेड़, पौधे और पशु क्लान के पूर्वज माने जाते हैं। सात, अधिकतर क्लान और टोटमवाद साथ साथ पाये जाते हैं, यद्यपि टोटेमवाद को क्लान की सार्वभौमिक विशेषता नहीं माना जा सकता है। आठ, बहुधा क्लान के सदस्य एक सम्पर्णी क्षेत्र के निवासी होते हैं। नौ, क्लान मातृसत्तात्मक और मातृवंशी भी होता है तथा पितृसत्तात्मक और पितृवंशी भी। दस, क्लान और वंश रक्त सम्बन्धों और समान पूर्वज की धारणा पर आधारित हैं किन्तु वे परिवार नहीं हैं, क्योंकि क्लान और वंश के सदस्य, परिवार के सदस्यों की भांति, एक ही गृह में नहीं रहते हैं। अतः, क्लान परिवार नहीं है।

निष्कर्ष

पहले के मानवशास्त्रियों ने टोटेमवाद और सम्मिलित निवास-स्थान (Common Residence) को क्लान की आधारभूत विशेषताएँ माना है। किन्तु टोटेमवाद सार्वभौमिक नहीं है। अफ्रीकी आदिवासी संगठन में क्लान है किन्तु, टोटेमवाद नहीं। सम्मिलित निवासस्थान नहीं वरन् सामूहिक पूर्वज के आधार पर, एक क्लान के सदस्य संगठित रहते हैं। एक क्लान के सदस्य एक क्षेत्र विशेष में फले

रहते है जो आदिवासी क्षेत्रों में बहुधा संस्पर्शी होता है। क्षेत्रीय संस्पर्शिता और सम्मिलित निवासस्थान अलग अलग हैं। पहले के उद्विकासवादी मानवशास्त्रियों ने, यह भी मान्यता प्रतिपादित की है कि क्लान संगठन की अवतारणा परिवार संगठन से पहले हुई है और क्लान संगठनों में, मातवंशी क्लान संगठन प्राचीनतम है। इसका यह अर्थ निकलता है कि पितवंशी क्लान संगठन तथा परिवार मानव विकास प्रक्रिया में बाद के विकास हैं और मातवंशी क्लानसंगठन पहले के। उद्विकासवादी मानव शास्त्रियों के अनुसार, पहले मातवंशी क्लान का विकास हुआ, फिर पितवंशी क्लान का और फिर परिवार का। मातवंशी क्लान की उत्पत्ति, झुंड-संगठन (Horde) से हुई है, जिसमें एक झुंड के सभी पुरुष सभी स्त्रियों से सहवास करते थे, जिसके कारण, प्रत्येक व्यक्ति का अपने पिता की अपेक्षा माता का ही अधिक निश्चित ज्ञान रहता था। यह अवस्था साम्यवादी अवस्था थी जिसमें, वैयक्तिक सम्पत्ति न होने के कारण, मातवंशीयता प्रधान थी।

क्लान-संगठन की उत्पत्ति के बारे में उद्विकासवादी मानवशास्त्रियों के विचार आज काल्पनिक माने जाते हैं क्योंकि विभिन्न क्षेत्रों के अध्ययनों से जो तथ्य प्रकाश में आये हैं उनसे उद्विकासी सिद्धान्त की पुष्टि नहीं होती है। उदाहरणार्थ केरल की कादर गणजाति तथा अंडमान द्वीप के आदिवासियों में क्लान संगठन नहीं पाया जाता है यद्यपि उनका विकास स्तर यायावर अवस्था में ही है। उनमें परिवार-संगठन का पाया जाना इस बात का प्रमाण है कि क्लान संगठन परिवार संगठन से पहले का नहीं है। क्लान और परिवार जहाँ क्लान संगठन है साथ साथ पाये गये है। आसाम के खासियों में, सम्पत्ति-संस्था पाई जाती है किन्तु उनमें पाई जाने वाली मातसत्तात्मकता पितसत्तात्मकता में नहीं बदली है। मातसत्तात्मक तथा पितसत्तात्मक क्लानों की उत्पत्ति अलग अलग स्थानों में साथ साथ हुई है, ऐसा विद्वानों का मत है। वास्तव में परिवार को जिन आवश्यकताओं ने जन्म दिया है, वे उन आवश्यकताओं से भिन्न हैं जिन्होंने क्लान संगठन को जन्म दिया है। परिवार का आधार है प्रजनन, सन्तान पालन तथा आर्थिक जीवन को गृह के स्तर पर व्यवस्थित करने की आवश्यकताएँ। परिवार का आधार है विवाह जो दो भिन्न परिवारों तथा समूहों के विपरीतलिंगी व्यक्तियों के बीच में होता है। परिवार द्विपक्षीय (Bilateral) सम्बन्धों से मिलकर संगठित होता है यद्यपि साधारणतया, इसमें विवाह पर आधारित सम्बन्धों का द्वितीयक स्थान मिलता है। परिवार में निहित एकपक्षीय रक्त सम्बन्धों का सिद्धान्त, जहाँ परिवार से बड़े समूह के स्तर पर लागू किया गया है, वहाँ वंश और क्लान जैसे संगठन पाये जाते हैं। वंश में रक्तसम्बन्ध वास्तविक होते हैं जब कि क्लान में काल्पनिक रक्तसम्बन्धों के एकपक्षीय संगठन ने ही क्लान में, बहिर्विवाह को जन्म दिया है। सामाजिक संगठन के दृष्टिकोण से परिवार वंश और क्लान का आधार है न कि क्लान और वंश परिवार के आधार हैं। परिवार,

गणजाति के विकास के सभी स्तरों पर पाया जाता है जबकि क्लान न तो प्राचीनतम विकास के स्तर पर पाई गई है और न आधुनिकतम विकास के स्तर पर। क्लान का व्यापक संगठन प्राचीनतम और आधुनिकतम विकास अवस्थाओं के बीच की अवस्था में पाया जाता है। बिहार, उड़ीसा और मध्यप्रदेश की गणजातियों में पाया जाने वाला क्लान संगठन, इसका उदाहरण माना जा सकता है।

५

परिवार विवाह और युवागृह

गणजाति के आंतरिक संगठन का विश्लेषण, इसप्रकार, आदिवासी परिवार संगठन के विश्लेषण की ओर ले आता है। विवाह परिवार का आधार है। इसकारण परिवार के साथ-साथ, विवाह का विश्लेषण भी आवश्यक हो जाता है। आदिवासी समाज में परिवार और विवाह

परिवार

संगम तथा विकास की सभी अवस्थाओं में पाये जाते हैं यद्यपि उनके रूप भिन्न भिन्न हैं। उदाहरणार्थ, एक ओर, पितसत्तात्मक परिवार पाये जाते हैं जिनमें वंश पिता के नाम पर चलता है और पारिवारिक सम्पत्ति का उत्तराधिकार पिता से पुत्र को मिलता है तो, दूसरी ओर, खासी और गारो जैसे आदिवासियों में मातृसत्तात्मक परिवार पाया जाता है जिसमें पारिवारिक सम्पत्ति का उत्तराधिकार माता से पुत्री को मिलता है। पितसत्तात्मक परिवारों में वंश पिता के नाम पर चलता है और परिवार का अध्यक्ष पिता होता है तो मातृसत्तात्मक परिवार में वंश मां के नाम से चलता है तथा परिवार की अध्यक्षता मां के पास होती है। जहां पितसत्तात्मकता है वहां विवाह के बाद, वधू अपने पति के घर जाकर रहती है और जहां मातृसत्तात्मकता है वहां, विवाह के बाद, वधू अपनी मां के ही घर में रहती है। पितसत्तात्मक परिवार में बहुधा, एक ही पिता की सन्तानें और सन्तानों की सन्तानों की कई पीढ़ियां रहती हैं और, इस प्रकार, परिवार में विवाह के द्वारा आई हुई स्त्रियों को छोड़कर, बाकी सभी सदस्य रक्त सम्बन्धी होते हैं। किन्तु मातृसत्तात्मक परिवार में जैसाकि नायरों के मातृसत्तात्मक परिवार में एक शताब्दी पहले पाया जाता था, परिवार के सदस्य रक्त सम्बन्धी नहीं होते थे क्योंकि इस परिवार में विवाह के बाद लड़कियां पति के घर नहीं जाती थीं और परिवार के विवाहित पुरुषों की पत्नियां अपने पिता के ही घर रहती थीं। देहरादून जिले के जौनसार बावर परगना में कई सगे भाई एक या एक से अधिक स्त्रियों से, सम्मिलित विवाह कर लेते हैं और टोडा गणजाति में सगे भाई या कोई भी दो या दो से अधिक व्यक्ति, सम्मिलित विवाह करके, परिवार की स्थापना करते हैं। आदिवासी समाज में, किन्हीं किन्हीं अवस्थाओं में, विवाह से पहले और विवाह के साथ साथ, विवाह के अतिरिक्त यौन-

सम्बन्धो को मान्यता प्राप्त है। अफ्रीका और दक्षिणी अमरीका के आदिवासियो म, स्त्री का अतिथि और मित्र का यौन-तुष्टि के लिये देने की प्रथाओ की रिपोर्ट मिलती है। भारत की कुछ अपराधी गणजातियो म, पत्नी का बन्धक के रूप म रखने का उल्लेख मरकार मजूमदार ने किया है[1]।

उदविकासवादी दष्टिकोण

आदिवासी परिवार सगठन और उसस सम्बन्धित परम्पराओ के वचित्र्य का उदविकासी मानवशास्त्रियो ने बडे ही अतिरजित ढग म स्पष्ट किया है। उदविकासी मानवशास्त्रियो म अमरीका के लुई माइगन प्रमुख हैं और सबसे पहले उन्होने ही यह विचार रखा था कि परिवार का उदभव और विकास उस आदिवासी अवस्था म हुआ है जिसम मूलत न तो विवाह था और न परिवार। यह अवस्था साम्यवादी युड की अवस्था थी जिसम नर नारी के यौन-सम्बन्ध उन्मुक्त थे यहा तक कि भाई बहिन का विवाह होता था। आदिवासी समाज में पाई जाने वाली जिन प्रथाओ को इन्होने प्रमाण माना वे इसप्रकार हैं अनेक त्योहार के अवसरो पर, पति-पत्नी के यौन सम्बन्धो म छट मिलना मित्रो को यौन तुष्टि के लिय पत्नी दे देना, दो व्यक्तियो मे स्त्रियो का बदला जाना और पिता तथा मामा के लिये एक ही सम्बन्धी श०द (Kinship Term) का प्रयोग करना। परिवार विकास की दूसरी अवस्था है समूह विवाह की अवस्था जिसम पुरुषो का एक समूह, स्त्रियो के एक समूह स विवाह करता था। बहुपतित्व इसी अवस्था में आता है। तीसरी अवस्था मे विवाह तो एक पुरुष और एक स्त्री म होता था किन्तु उनके यौन-सम्बन्ध निबन्ध थे। चौथी अवस्था मे एक पुरुष कई स्त्रियो स विवाह करता था किन्तु स्त्रियो के यौन सम्बन्धो पर पुरुष (पति) का ही अधिकार रहता था। यह पितसत्तात्मक बहुपत्नीत्व की अवस्था है। पाचवी या आधुनिकतम अवस्था एकविवाही परिवार की है जिसमे एक पुरुष, एक समय म एक ही स्त्री से विवाह करता है। इसी आधार पर, मारगन न कलान का परिवार का प्रारम्भिक रूप माना है और कलान से ही परिवार की उत्पत्ति मानी है जिसकी वास्तविक तथ्यो के आधार पर, सैद्धान्तिक पुष्टि नहीं की जा सकती है।

वेस्टर माक ने यह मत प्रतिपादित किया कि परिवार की उत्पत्ति के कारण हैं नर मे पाई जाने वाली ईर्ष्या (Jealousy) तथा अधिकारात्मकता (Possessiveness) की भावनायें और सम्पत्ति तथा सम्पत्ति भावना का विकास। परिवार की उत्पत्ति का कारण है नर न कि नारी। चारम डारविन न पशु-ससार मे पाये जाने वाले उदाहरणो से परिवार की उत्पत्ति को स्पष्ट किया। उनके अनुसार, कई नर,

---

1 देखिय मजूमदार कृत फारचून्स आफ प्रिमिटिव ट्राइब्स में अपराधी गणजातियों पर लिखा अध्याय।

नारी के लिये सघर्ष करते हैं किन्तु उनमे विजय एक ही की होती है। लिये एक पत्नी की व्यवस्था के द्वारा इस सघर्ष को दूर करने की जब सामाजिक प्रथा बनी तभी परिवार की उत्पत्ति हुई। राबर्ट ब्रिफाल्ट ने इस तथ्य पर जोर दिया है कि परिवार की उत्पत्ति पुरुष की ईर्ष्या की भावना तथा सम्पत्ति सस्था के कारण नही वरन् मातृत्व की समस्याओ तथा मातृत्व-अधिकार (Mother Right) के कारण हुई है। मानव मात्र को ही सबसे अधिक मातृत्व का भार वहन करना पड़ता है। मातृत्व का सरक्षण की आवश्यकता तथा सन्तान के लालन पालन की सबसे अधिक समस्या मानव समाज मे ही है। परिवार इन आवश्यकताओ की पूर्ति के लिये उत्पन्न हुआ और इसकारण परिवार का मूल रूप मातसत्तात्मक ही था।

आधुनिक मानवशास्त्र मे यह विवादग्रस्त समस्या एक किनारे छोड दी गई है क्योकि इसका निर्णय सम्भव नही है। जैसा कि मारग्रेट मीड ने कहा है इन सिद्धान्तो के निर्धारण मे योरोप के एकविवाही परिवार को आधुनिकतम माना गया है और आदिवासी परिवारो को प्राचीनतर या प्राचीनतम। योरोपीय परिवार को ही मापदण्ड मानना गलत है क्योकि योरोपीय परिवार को योरोपीय सस्कृति के सन्दर्भ मे समझा जा सकता है और आदिवासी परिवार को आदिवासी सस्कृतियो के सन्दर्भ मे। ऐसी कोई भी आदिवासी सस्कृति नही है जिसमे परिवार सस्था न हो। आदिवासी समाज मे पिता की सामाजिक भूमिका (Social Role) सभी जगह स्वीकार की गई है। ऐसी दशा मे यह नही कहा जा सकता कि कभी कोई अवस्था थी जब परिवार और विवाह नही थे। साथ ही साथ यह भी नही निर्धारित किया जा सकता कि पितसत्तात्मकता प्राचीन है या मातसत्तात्मकता। सास्कृतिक प्रमाण तो यह है कि मातसत्तात्मक परिवारो मे भी परिवार प्रबन्ध पुरुष के हाथ मे रहता है जबकि सत्ता नारी के अधिकार मे[1]। अधिक सम्यक दृष्टिकोण यह है कि मानव की कुछ आधारभूत आवश्यकताओ के

परिवार के आधार

कारण, परिवार की अवतारणा मानव के ही साथ साथ हुई है यद्यपि विभिन्न स्तरो और सास्कृतिक क्षेत्रो मे उसके भिन्न भिन्न रूप पाये गए हैं। प्रजनन तथा सन्तान-पालन की आवश्यकता के कारण परिवार सार्वभौमिक है। यही कारण है कि माता पिता और सन्तान मे मिलकर परिवार का जो प्रकार बनता है वह सर्वत्र पाया जाता है। आज तक यह नही सिद्ध किया जा सका कि कही भी किन्ही

---

1 दक्षिण भारत के नायरो में मातसत्तात्मक परिवार का जो वर्णन मिलता है उनसे यह स्पष्ट होता है कि परिवार की सत्ता तो परिवार की वयोवृद्ध स्त्री के हाथ में रहती है किन्तु परिवार के प्रबन्ध का अधिकार उस स्त्री के बड़े भाई के हाथ में। विशेष विवरण के लिये देखिये के० एम० कपाडिया कृत मैरिज एण्ड फैमिली इन इंडिया।

अवस्थाओं में परिवार नहीं पाया जाता है या पाया गया है। विवाह, यौन-तुष्टि के नियमन का एक माध्यम है जिसके आधार पर परिवार सामूहन होता है। परिवार से व्यक्ति को सुरक्षा भी मिलती है और मानसिक तुष्टि भी। इसकारण, जहाँ, एक ओर परिवार का एक आधार जैविक है वहाँ, दूसरी ओर दूसरा आधार मानसिक है। परिवार संस्कृति के नरन्तय का माध्यम है क्योंकि संस्कृति के मापदंड, परिवार के ही द्वारा व्यक्ति तक पहुचते हैं। इसीलिये यह कहा गया है कि परिवार का शैक्षिक महत्व भी है यद्यपि, ज्यो-ज्यो सभ्यता का विकास होता गया है, परिवार के शैक्षिक कार्य अन्य संस्थाओ के हाथ में पहुचते रहे है। परिवार को समाज का छोटा रूप माना गया है। समाज के आदर्श नियम, परिवार के ही माध्यम से व्यक्ति के व्यक्तित्व का अंग बन जाते हैं। अतः परिवार सामाजिक नियन्त्रण का माध्यम भी है। समाज में जितने प्रकार के समूह बनते हैं उनमें परिवार समूह का प्राथमिक स्थान है। परिवार परिवर्तन में ही स्थाई रहता है। जबकि मानसिक, सांस्कृतिक तथा सामाजिक आवश्यकताओं की पूर्ति के साथ साथ परिवार के द्वारा आर्थिक आवश्यकताओं की भी पूर्ति होती है। आदिवासी समाज मे परिवार का आर्थिक महत्व और भी बढ़ जाता है क्योंकि परिवार के सदस्य, खाद्य सामग्री जुटाने में सामूहिक रूप से प्रयास करते हैं।

परिवार को समाजशास्त्रियो ने समिति (संघ) माना है और विवाह को संस्था। किन्तु आदिवासी समाज मे परिवार का जो रूप मिलता है उसमे संस्था के तत्व अधिक हैं। आदिवासी परिवार को आसानी से, संस्थात्मक प्रकार का परिवार (Institutional Type of Family) कहा जा सकता है। इसप्रकार के परिवार की सबसे बड़ी विशेषता यह है कि यह उत्पादन और उपभोग की इकाई है। उपभोग के लिये उत्पादन आदिवासी आर्थिक व्यवस्था की विशेषता है, जिसके कारण, यह विशेषता आदिवासी परिवार की भी विशेषता बन गई है। संस्थात्मक प्रकार का परिवार एकविवाही परिवार से बड़ा होता है और उसमें कई पीढ़ियों के लोग एक साथ रहते है। इस परिवार का आर्थिक महत्व वर्तमान समाज में पाये जाने वाले परिवार में अपेक्षाकृत अधिक है। संस्थात्मक प्रकार के परिवार का व्यक्ति पर व्यापक प्रभाव पड़ता है जिसके कारण, समाज में परिवार के सदस्यों का वही स्तर होता है जो कि परिवार का होता है। परिवार के नेतृत्व में आयु का प्रधानता मिलती है और विवाह केवल दो विपमलिंगी व्यक्तियों के बीच में समझौता मात्र नही होता है। विवाह का सम्बन्ध परिवार के सदस्यों और सम्बन्धियों से होता है। नारियों का कार्य क्षेत्र मुख्यतया प्रजनन सन्तान पालन और गृहस्थी तक सीमित रहता है। विवाह विच्छेद की समस्या भी केवल पति पत्नी की ही समस्या नही रहती है, वरन उस परिवार और बिरादरी के सदस्यों की समस्या रहती है जिसके पति-पत्नी सदस्य होते हैं।

आदिवासी परिवार इसप्रकार उस परिवार की श्रेणी म आता है, मानवशास्त्रियो ने विस्तृत परिवार (Extended Family) कहा है। विस्तृत परिवार वह परिवार है जिसम प्राथमिक परिवार (Primary Family) का साधारणतया दो या तीन पीढ़ियो म विस्तार होता है। इसका तात्पर्य यह नही कि आदिवासी समाज म प्राथमिक परिवार नही पाया जाता है। वास्तव म जैसा कि मानवशास्त्रियो ने प्रतिपादित किया है प्राथमिक परिवार जिसम पति पत्नी और उनकी सन्तान आते हैं, सभी प्रकार क परिवारो का मूलाधार है। प्राथमिक परिवार बहुपतित्व तथा बहुपत्नीत्व पर आधारित परिवारो म भी समाया रहता है। प्राथमिक परिवार सार्वभौमिक और सार्वकालिक है यद्यपि आधुनिक समाज म वह अधिक स्पष्ट रूप तथा सख्या म पाया जाता है। आदिवासी समाज म प्राथमिक परिवार विद्यमान तो रहता है लेकिन सामाजिक सम्बन्धो म रक्त सम्बन्धो की प्रधानता के कारण वह विस्तृत परिवार म समाया रहता है। प्राथमिक परिवार स्वाभाविक परिवार है, जिसम चौमुखी सम्बन्धो का समावेश रहता है यद्यपि इन सम्बन्धो म सबसे अधिक महत्ता एकपक्षीय रक्त सम्बन्धो की होती है। विस्तृत परिवार तभी उत्पन्न होता है जब एकपक्षीय रक्त सम्बन्ध तथा सम्मिलित वासस्थान के आधार पर प्राथमिक परिवार का विस्तार होता है। इसीलिये विस्तृत परिवार का एकपक्षीय परिवार (Unilateral Family) तथा रक्त सम्बन्धी परिवार (Consanguine Family) की सज्ञायें भी दी गई है। बहुपत्नीत्व और बहुपतित्व पर आधारित तथा सयुक्त परिवार विस्तृत परिवार की श्रेणी म आते है। क्लान भी रक्त सम्बन्धो के एकपक्षीय विस्तार के सिद्धान्त पर आधारित है। किन्तु उसे विस्तृत परिवार की श्रेणी म नही रक्खा जा सकता क्योकि एक क्लान के सदस्य एक ही गृहस्थी मे नही रहते है। गृहस्थी की एकता की भावना अन्य विशेषताओ के साथ परिवार की एक मुख्य विशेषता है।

भारत के आदिवासियो मे, पितृसत्तात्मक सयुक्त परिवार पाया जाता है यद्यपि यहा-वहा पितृसत्तात्मक सरचना म मातृसत्तात्मक सरचना के तत्व भी मिलते है जो साधारणतया गौण हैं। उदाहरणार्थ जौनसार बावर की पितृसत्तात्मक सरचना म नारियो को कुछ विशेषाधिकार मिले हुए हैं जिनम से एक पिता के घर म यौन जीवन की स्वतन्त्रता है। अपने पिता के घर म रहते हुए जौनसारी नारी, विवाहित होते हुए भी परसम्बन्धो को कर सकती है जिसे मजूमदार ने पितृसत्तात्मक व्यवस्था मे मातृसत्तात्मक प्रभाव का परिणाम माना है। इसीप्रकार छोटानागपुर के आस पास रहने वाली खरिया गणजाति के परिवार म, मामा को जो विशेष स्थान प्राप्त है उसे भी मातृसत्तात्मक प्रथा की देन माना गया है। किन्तु ये उदाहरण इस निष्कर्ष के प्रमाण नहीं हैं कि भारत का आदिवासी परिवार मूलत मातृसत्तात्मक ही था। आदिवासी समाज म पितृसत्तात्मक परिवार की सरचना और

संगठन किस प्रकार का है यह खरिया और हो गणजातियों के परिवारों के उस वर्णन में स्पष्ट होता है जो मजूमदार और मदन ने प्रस्तुत किया है। खरिया गणजाति में, माता पिता और उनकी संतान या दत्तक संतान परिवार की मूल इकाई है। इस इकाई में कहीं कहीं जमाई भी शामिल हो जाता है विशेषतः उस अवस्था में जहाँ किसी के लड़का नहीं होता है और वह किसी को दत्तक पुत्र न बनाकर, जमाई को अपने परिवार का सदस्य बना लेता है। कभी कभी गृहपति के पिता, पितामह, चाचा और चाचा की संतान भी परिवार के सदस्य के रूप में पाये जाते हैं। किन्तु, अधिकतर नौजवान अपना आपना अलग घर बना लेते हैं जिसके कारण पति पत्नी और उनकी संतान से बना परिवार ही समाज की मूल इकाई रहता है। दूर के सम्बन्धी, परिवार सदस्या में विरला ही शामिल किये जाते हैं। किन्तु हो परिवार के संगठन में, कार्यात्मक तथा संरचनात्मक दृष्टिकोण से परिवार और किली (क्लान) एक में मिल गये हैं यद्यपि परिवार और किली के बीच में कार्यों का विभाजन स्पष्ट है। यहाँ किली विस्तृत परिवार का रूप ले लेती है। खाद्य पालन विस्तृत परिवार की जिम्मेदारी है किन्तु उत्पादित खाद्यसामग्री अलग अलग परिवारों (Individual Families) में बाँट दी जाती है। बच्चों की शिक्षा दीक्षा सामाजिक नियन्त्रण बीमारियों से रक्षा तथा त्यौहारों और उत्सवों का मनाना किली का सामूहिक उत्तरदायित्व है। इसका यह तात्पर्य नहीं कि हो परिवार किली में पूर्णतया समाहित हो गया है। प्रत्येक हो परिवार अपनी अलग पूजा पद्धति को अपनाता है। हो गणजाति में किली और परिवार के सम्बन्ध पारस्परिकता तथा सामूहिकता की आवश्यकताओं पर आधारित है। जहाँ सामाजिक सामूहिकता की आवश्यकता है वहाँ किली का महत्व बढ़ जाता है। लड़के के विवाह पर जब किसी परिवार को सहायता की आवश्यकता होती है तो उसको किली के सदस्य उसकी सहायता करते हैं।

खरिया और हो परिवार पितृसत्तात्मक हैं, जिसके कारण पिता, कर्त्ता के रूप में परिवार का मुख्य केन्द्र है। पिता में ही परिवार की सत्ता केन्द्रित रहती है और पिता से ही वंश चलता है। विवाह के बाद प्रत्येक स्त्री पिता का घर छोड़कर पति के घर में रहती है। एकविवाह का आम रिवाज है यद्यपि बहुपत्नी विवाह भी होते हैं दोनों गणजातियों में परिवार के द्वारा दैविक मानसिक (यौन संतुष्टि और भूख) की आवश्यकताओं की पूर्ति होने के साथ साथ नई पीढ़ियों की शिक्षा दीक्षा भी होती है। भेड़ और जानवर चराने तथा खेती के कामों की शिक्षा लड़के को पिता से मिलती है और गृहकार्य की शिक्षा लड़कियों को माता से मिलती है। कथन और परिवार एक साथ गणजाति की भाषा प्रथाओं रूढ़ियों तथा जनरीतियों को, एक पीढ़ी से दूसरी पीढ़ी तक ले जाते हुए खरिया संस्कृति को स्थायित्व प्रदान करते हैं। परिवार में वैवाहिक जीवन का भी नियमन होता है।

खरिया परिवार एक आर्थिक समूह भी है। परिवार के सदस्य एक साथ

खाद्य सामग्री का उत्पादन और सग्रह करते हैं तथा सबके लिए एक समान सुरक्षा (Shelter) और कपडा का प्रब ध करत है। पति पत्नी समान रूप से परिवार के चलान म अपना अपना भाग दन हैं यद्यपि उनके कार्यों का विभाजन लिंग क आधार पर होता है। पति का आर्थिक काय मछली मारना और आखेट करना है तथा पत्नी का काय फल कद और खाद्य जड़िया का एकत्र करना है। पत्नी खाना बनाती, पानी भरती और बच्चा की दखभाल करती है और खेती के कामा में भाग नही लेती है। पति क प्रभुत्व के हात हुए भी परिवार म, पत्नी का स्थान गौण नही है। बच्चा के पालन तथा गृहस्थी के चलाने म पत्नी का काफी स्वतत्रता रहती है। खरिया नारी का अनक सामाजिक निर्योग्यताओ तथा निषधा का पालन करना पडना है, जिनम से मुख्य है धार्मिक अनुष्ठाना म भाग न लेना। किन्तु, इन निषेधा का नारी की निम्न सामाजिक प्रतिष्ठा का प्रतीक नही माना जा सकता है। खरिया नारी को अपनी वयक्तिक वस्तुओ, जिनम उसके आभूषण, कपडे और व वस्तुएँ आती है जिनका कि वह स्वय अजन करती है या जि है वह स्वय बनाती है, पर स्वतत्र अधिकार रहता है।

खासी और गारो परिवार ही, भारत के आदिवासियो म, मातसत्तात्मक परिवारो के उचित उदाहरण हैं। खासी और गारा, आसाम के खासी और जयन्तिया पहाडिया क प्रदश म पाये जाते हैं। खासी परिवार म, सबसे छोटी लडकी, परिवार का उत्तराधिकारिणी समझी जाती है जिसके कारण, सम्पत्ति-उत्ताधिकार माँ स बडी लडकी का न मिल कर, छोटी लडकी को मिलता है। परिवार की पूजा अनुष्ठान प्रथाओ का छोटी लडकी ही सम्पन्न करती है और परिवार के सदस्या के मरने पर, उनकी अस्थियो को, वही परिवार के श्मशान स्थान म गाडती है। इसप्रकार छोटी लडकी परिवार की सरक्षक समझी जाती है जिसके कारण उस परिवार की सम्पत्ति म से, सबस अधिक अश मिलता है। जब कर्ता स्त्री का दहा त होता है तो उसका दाह सस्कार सबस छोटी लडकी ही करती है। गारो परिवार म उत्तराधिकार माता म लडकी को चलता है किन्तु यहाँ उत्तराधिकारिणी वह लडकी होती ह जिसे माता पिता उत्ताधिकारिणी घोषित करत हैं। साधारणतया, ज्येष्ठ पुत्री का उत्तराधिकारिणी नही घोषित किया जाता है। उत्तराधिकारिणी घोषित की हुई पुत्री के अलावा, अन्य पुत्रियाँ तबतक परिवार मे रह सकती हैं जबतक कि उनका विवाह नहीं हो जाता। विवाह हो जाने पर वे, अपन मायके म ही, पिता द्वारा दी हुई भूमि पर अपने घर बनाती हैं। यदि कर्ता-स्त्री के लडकी न हो ता उत्तराधिकार बहिन का या बहिन की लडकी का मिलता है। यदि कोई न हो तो मातवशी सम्बन्धी वग स कोई लडकी गोद ली जा सकती है।

खासी परिवार म, साधारणत, कर्ता स्त्री उसका पति, उसके अविवाहित पुत्र पुत्रियाँ और विवाहित पुत्रिया के पति पाये जाते हैं। विवाह के समय, प्रत्येक

पुरुष को अपनी पत्नी के घर में जाकर रहना पड़ता है किन्तु, कालान्तर में, यदि पुरुष में अलग घर बसाने की क्षमता आ जाती है तो वह अपनी स्त्री और बच्चों के साथ अलग घर बसा सकता है। किन्तु इसप्रकार बसा हुआ नया परिवार मातवंशी ही रहता है[1]। परिवार की नारियों और पुरुषों की सारी कमाई पर, कर्ता-स्त्री का अधिकार रहता है और वही परिवार के सदस्यों की कमाई का, परिवार के सदस्यों के लिए उपयोग करता है। खासी परिवार प्रणाली के परम्परागत नियमों के अनुसार पुरुषों का वयक्तिक सम्पत्ति का अधिकार नहीं है, चाहे परिवार में उनका स्थान पति और पिता का हो या पुत्रों का। पुरुषों की अपेक्षा स्त्रियों का अधिक सत्ता और प्रतिष्ठा मिली रहती है। श्रम विभाजन लिंग के अनुसार होता है। कृषि कार्य पुरुषों द्वारा किया जाता है और कपड़ा बुनने का काम नारियों के द्वारा। कुलीगीरी पुरुष और नारी दोनों कर सकते हैं। इसप्रकार खासी परिवार-संगठन का मूल पारिवारिक सम्पत्ति सत्ता तथा धार्मिक कृत्यों का अधिकार रक्तसम्बन्धी नारियों में ही केन्द्रित रहता है। परिवार में पुरुष के पास न तो सत्ता है और न सम्पत्ति। पुरुष उसे ही आदर और सम्मान का अधिकारी है जसे पितसत्तात्मक परिवार में नारी।

विवाह एक सार्वभौमिक तथा सर्वकालिक संस्था है यद्यपि विभिन्न समाजों में उसके भिन्न भिन्न रूप पाये जाते हैं। विवाह संस्था को उन आदर्श

विवाह

सामाजिक नियमों का एक संकुल कहा जा सकता है जिनके द्वारा समाज में नर नारी के सम्बन्ध पति पत्नी के रूप में नियमित तथा नियन्त्रित होते हैं और, साथ ही साथ पति पत्नी के सम्बन्धियों के पारस्परिक सम्बन्ध, माता पिता और सन्तानों के सम्बन्ध तथा परिवार और समाज के सम्बन्ध परिभाषित होते हैं। पति पत्नी के रूप में समाज में नर-नारी के क्या अधिकार कर्तव्य और आवश्यकतायें हैं यह विवाह संस्था द्वारा ही निर्धारित होता है। विवाह संस्था, परिवार के स्वरूप आकार सामाजिक क्षेत्र और कार्यों को प्रभावित करती है। सवेशन (Mating) और विवाह में अन्तर है। सवेशन किन्हीं भी दो विषमलिंगी व्यक्तियों द्वारा की जाने वाली अस्थाई काम तुष्टि है जो केवल नर मादा की स्वाभाविक विषय-वासना से ही प्रेरित होती है। विवाह समाज द्वारा नियोजित नियन्त्रित तथा नियमित सवेशन है। अतः विवाह केवल सवेशन नहीं है यद्यपि सवेशन विवाह का आधार है। इसीकारण यह भी प्रतिपादित किया गया है कि विवाह का आधार केवल काम-तुष्टि ही नहीं है। काम तुष्टि के साथ साथ प्रजनन और आर्थिक जीवन की आवश्यकतायें भी विवाह संस्था के द्वारा पूर्ण होती हैं। समाज का स्थायित्व नई पीढ़ियों की देखभाल तथा शिक्षा दीक्षा और विवाह सम्बन्ध में बंधने वाले नर-नारियों के विस्तृत परिवारों के सदस्यों के पारस्परिक सम्बन्धों तथा अधिकारों

1 खासी समाज में यह विकास नया है जो इसाइयत के प्रभाव से उत्पन्न हुआ माना जाता है—देखिए मजूमदार और मदन पृष्ठ 51

और कर्तव्यों का निर्धारण विवाह-संस्था के द्वारा सम्पन्न होता है जिसके कारण, विवाह की महत्ता जविक महत्ता से आगे बढ़कर, सामाजिक महत्ता में बदल जाती है।

आदिवासी समाज में विवाह संस्था भी पाई जाती है और उसके साथ-साथ पूर्व-वैवाहिक (Pre Marital) तथा विवाहेतिरिक्त (Extra Marital) यौन सम्बन्ध भी। जहां-कहीं भी पूर्ववैवाहिक तथा विवाहातिरिक्त यौन-सम्बन्ध पाये जाते हैं वे विवाह सम्बन्धों की भांति संस्थागत होकर आदिवासी संस्कृति का एक अंग बन गए हैं। किन्तु इसमें यह निष्कर्ष निकालना कि आदिवासी-जीवन एक अनैतिक जीवन है और आदिवासी समाज में उन्मुक्त यौन-सम्बन्ध पाये जाते हैं एक भूल होगी। पातिव्रत्य तथा सतीत्व के आदर्श अलग-अलग समाजों में भिन्न हैं। जहां मित्रता को दृढ़ करने के लिए, दो पुरुष एक-दूसरे की पत्नी से यौन-तुष्टि करते हैं या अतिथि की आवभगत के लिए पत्नी अर्पित की जाती है या आवश्यकता पड़ने पर पत्नी को बन्धक रख दिया जाता है वहां यह माना जाता है कि इन कृत्यों से नारी का सतीत्व भंग नहीं होता है। नटों में वेश्यावृत्ति के विवरण मिलते हैं। नट स्त्रियां भीख मांगती हुई या देशज जड़ी-बूटियां बेचती हुई सूर्योदय से सूर्यास्त तक घर के बाहर रहती हुई, परसम्बन्धों द्वारा भी धनोपार्जन करती हुई पाई गई है। किन्तु यदि सूर्यास्त होते होते, वे पति के पास वापस न आ जायें तो पति या उनकी बिरादरी उन पर सतीत्व भंग करने का आरोप लगा कर, उन्हें दण्डित कर सकती है। जौनसार बावर में बहुपतित्व की प्रथा के साथ साथ नारी नैतिकता का दोहरा माप दण्ड प्रचलित है। पत्नी के रूप में नारी को रान्टी कहा जाता है और घर की लड़की तथा गांव की बालिका के रूप में ध्यान्टी। ध्यान्टी के रूप में, नारी को परसम्बन्धों की छूट है। परसम्बन्धों को, 'जास्ती' (दोस्ती) की धारणा के रूप में, एक संस्था का रूप मिल गया है। जोस्ती में होने वाले परसम्बन्ध उतने ही पवित्र हैं जितने कि विवाह सम्बन्ध। किन्तु पति के घर में या पति की मौजूदगी में, जौनसारी नारी उतनी ही पतिव्रता रहती है जितनी कि किसी अन्य समाज की नारी।

पूर्ववैवाहिक तथा विवाहातिरिक्त परसम्बन्ध	

नारी-नैतिकता का दोहरा मापदण्ड न तो निरीह कामुकता से प्रेरित है और न कामाचार से। इसका सामाजिक पहलू भी है। जौनसार-बावर में बहुपतित्व की प्रथा है और परिवार की संरचना, संयुक्त तथा पितृसत्तात्मक है। वयोवृद्ध पीढ़ी के पुरुषों में, ज्येष्ठ भाई परिवार का कर्ता होता है। वहां की बहुपतित्व प्रथा में कई सगे भाई एक या एक से अधिक पत्नी में सम्मिलित विवाह करते हैं किन्तु सम्मिलित पत्नियों पर, कर्ता का ही प्रथम अधिकार रहता है। पहाड़ी प्रदेश होने के कारण, वहां खेती योग्य भूमि की कमी है और जब से सरकार ने जंगलों के संवर्धन की नीति को अपना कर अतिरिक्त भूमि पर कब्जा कर लिया है, नई भूमि (नौ तोड़) प्राप्त

करने की गुंजायश ही नहीं रही है। पहाड़ी प्रदेश में खेत दूर दूर होते हैं और ढगरों तथा भेड़ बकरियों का पालन की भी आवश्यकता रहती है। इन सबके लिए श्रम की आवश्यकता होती है जो परिवार के सदस्यों से मिलता है। बड़ा संयुक्त परिवार यहां की आर्थिक आवश्यकता है और इसीकारण भाइयों में मनमुटाव पैदा करने वाली पत्नी को तलाक देना परिवार विभाजन से अधिक श्रेयस्कर माना जाता है क्योंकि निरंतर परिवार विभाजन का अर्थ है भूमि का निरंतर बटवारा। भूमि के बटवारे से परिवार के आर्थिक आधार को ही खतरा उत्पन्न हो जाता है। खेती के लिए श्रम की आवश्यकता की पूर्ति के लिए ही अकेला व्यक्ति बहुपत्नीत्व का आश्रय लेता है। इस क्षेत्र में नारियों की संख्या पुरुषों की अपेक्षा कम है[1]। जौनसार बावर की इन परिस्थितियों में बहुपतित्व संयुक्त परिवार संरचना को बनाये रखने का एक माध्यम है। यही कारण है कि वहां उच्चस्तर की जातियों (ब्राह्मण और क्षत्रिय) में निम्नस्तर की जातियों (कोल्टा बाजगी और डोम) की अपेक्षा बहुपतित्व और संयुक्त परिवार अधिकता से पाया जाता है क्योंकि खेती योग्य भूमि का अधिकांश भाग उच्चस्तर की जातियों के अधिकार में है। ऐसी स्थिति में जहां आर्थिक परिस्थितियां परिवार की संयुक्तता आवश्यक बना देती है और उस आवश्यकता के साथ नारियों की अपेक्षाकृत कमी के कारण बहुपतित्व परिवार की संयुक्तता बनाये रखने का एक माध्यम बन जाता है तथा परिवार की संयुक्त संरचना में ज्येष्ठ भाई का सम्मिलित पत्नियों पर प्राथमिक अधिकार मिले हैं वहाँ नैतिकता के दोहरे मापदण्ड से भाइयों में उत्पन्न होने वाले विद्वेष पर रोक लग जाती है और परिवार की संयुक्तता को प्रोत्साहन मिलता है क्योंकि गांव के तरुणों की काम वृत्ति की पूर्ति घर के बाहर भी हुआ करती है।

जैसा कि जौनसार बावर के उदाहरण से स्पष्ट है आदिवासी समाज में जहाँ कहीं भी विवाहपूर्व और विवाहातिरिक्त यौन सम्बन्ध पाये जाते हैं उनका कार्य उस समूह या समूहों के सम्बन्धों को दृढ़ करना है जिनमें वे सम्बन्ध पाये जाते हैं। विवाह साधारणतया कम उम्र में होता है जिससे विवाहपूर्व के यौन सम्बन्ध वह समस्याएं उत्पन्न नहीं करते हैं जो वे वर्तमान समाज में करते हैं। आदिवासी समाज में तलाक की व्यवस्था है और जो तलाक देते हैं उन्हें हेय दृष्टि से नहीं देखा जाता और न उनके पुनर्विवाह की समस्या होती है। इसकारण विवाहोपरान्त का परसम्बन्ध यदि समस्या उत्पन्न भी करते हैं तो उसका हल तलाक और पुनर्विवाह से हो जाता है। विवाह संस्था से सम्बन्धित आदर्श नियमों का नियमन

---

1 ऐसा अनुमान है कि नर नारी की जनसंख्या में सौ और अस्सी का अनुपात है—देखिए मजूमदार द्वारा सम्पादित रूरल प्रोफाइल्स भाग 1, में डेमाग्रफिक स्ट्रक्चर आफ ए पालियाण्डस विलेज नामक लेख।

और संचालन गणजाति पंचायत द्वारा होता है। यदि कोई कुंवारी गर्भवती हो जाती है तो पंचायत के सामने उसे उस पुरुष का नाम बताना होता है जो उसके गर्भ के लिये उत्तरदायी है और पंचायत उस पुरुष को उस लड़की से विवाह करने के लिये बाध्य करती है। बहुपत्नीत्व की मान्यता के कारण भी ऐसी समस्याओं का निराकरण हो जाता है क्योंकि यदि विवाहित पुरुष किसी कुंवारी या ब्याहता स्त्री से परसम्बन्ध स्थापित करता है और यदि समस्या आ खड़ी होती है तो वह दूसरा विवाह कर लेता है। समस्या तब आती है जब स्त्री का परसम्बन्ध उस पुरुष से स्थापित होता है जो स्वयं भी गणजाति का सदस्य नहीं होता है और गणजाति पंचायत का उस पर अधिकार नहीं होता है। आजकल आदिवासी गैर आदिवासियों के सम्पर्क में आ रहे हैं जिसके कारण परसम्बन्धों की समस्याएं उठ रही हैं और परसम्बन्धों की संस्थागत मान्यता वेश्यावृत्ति का रूप धारण कर रही है।

सवर्जन नियमन के जो नियम मिलते हैं उन्हें दो श्रेणियों में रखा जा सकता है।

सवर्जन नियम

एक श्रेणी में वे नियम आते हैं जो सवर्जन निषेध की मर्यादा प्रतिपादित करते हैं—जैसे पिता पुत्री, माता पुत्र, भाई बहिन, मामा-भानजी इत्यादि सम्बन्धियों के बीच में सवर्जन का निषेध करने वाले नियम। सवर्जन निषेध नियमों के उल्लंघन को अगम्यगमन या स्वजनतल्पगमन (Incest) कहते हैं। अगम्यगमन की मर्यादा निर्धारित करने वाले नियम सर्वत्र समान नहीं हैं। पिता पुत्री के सवर्जन का निषेध सर्वत्र पाया जाता है। माता पुत्र का सवर्जन निषेध भी सर्वत्र है। हाँ इसका एक अपवाद अवश्य है। हिन्दू मान्यताओं के अनुसार सौतेली माँ भी माता की श्रेणी में आती है। किन्तु नागाओं में जहाँ बहुपत्नीत्व की प्रथा है, कर्ता के मरने पर उसका उत्तराधिकारी ज्येष्ठ पुत्र अपनी सगी माँ को छोड़कर सभी सौतेली माताओं को पत्नी के रूप में उत्तराधिकार में पाता है। अफ्रीका में भी यह प्रथा पाई गई है। भाई बहिन के बीच में विवाह वर्जित है किन्तु इसके अपवाद भी पाये गये हैं। मिस्र के प्राचीन राजघरानों में तथा दक्षिण अमरीका के पेरू प्रदेश की इन्का गणजाति के राज परिवारों में भाई-बहिन के विवाह की प्रथा पाई गई है। बाली द्वीप में जुड़वा भाई बहिन भी विवाह के अधिकारी हैं। उत्तरी भारत के हिन्दुओं में माँ के भाई और पिता की बहिन की लड़की के साथ विवाह का निषेध है किन्तु मुसलमानों, दक्षिण के हिन्दुओं और आदिवासियों में ऐसे विवाहों को प्राथमिकता दी जाती है। बहिर्विवाहिकी (Exogamy) भी सवर्जन निषेध नियमों पर आधारित एक विवाह प्रथा है जिसके कई रूप देखने को मिलते हैं। बहिर्विवाहिकी का अर्थ है व्यक्ति द्वारा अपने उस समूह में विवाह न करना जिसकी समाज द्वारा अनुमति नहीं है और उस समूह में विवाह करना, जिसकी समाज द्वारा अनुमति है। दूसरे गाँव में विवाह करना (Village Exogamy) तथा अपनी कलान को छोड़कर, दूसरी कलान में विवाह करना कलान

बहिर्विवाहिकी (Clan Exogamy) के दो ऐसे प्रकार है जो आदिवासी भारत में सर्वत्र मिलते है।

सर्वमान नियमन से सम्बन्धित नियमों की दूसरी श्रेणी में वे नियम आते हैं जो एक निर्धारित सामाजिक सीमा में विवाह की वांछनीयता प्रतिपादित करते है। अन्तर्विवाहिकी (Endogamy) सौतेली माँ को उत्तराधिकार के रूप में ग्रहण करना (Filial Inheritance) लेविरट (Levirate मृत पति के भाई से विवाह करना) सारोरेट (Sororate मृत पत्नी की बहिन से विवाह करना) सारोरल पालीजिनी (Sororal Polygyny पत्नी के जीवित रहते हुए उसकी बहिन या बहिनों से विवाह करना) और पिता की बहिन की लड़की या लड़के से और माता के भाई की लड़की या लड़के से विवाह करना (Cross Cousin Marriage) इसी श्रेणी के नियमों के अन्तर्गत आते है। अन्तर्विवाहिकी का अर्थ है व्यक्ति द्वारा उस निर्धारित समूह में विवाह करना जिसका कि वह सदस्य है। जाति अन्तर्विवाहिकी हिन्दू प्रथा है और गणजाति अन्तर्विवाहिकी (Tribe Endogamy) आदिवासी प्रथा। स्थानीय अन्तर्विवाहिकी (Local Endogamy) आदिवासी भारत में नहीं पाई जाती है यद्यपि बाहर इसके उदाहरण मिलते हैं। म्वायटी अन्तर्विवाहिकी (Moiety Endogamy) अन्तर्विवाहिकी का तीसरा प्रकार है जो टोडा गणजाति में पाया जाता है। अगम्यगमन बहिर्विवाहिकी तथा अन्तर्विवाहिकी के नियम साथ साथ और सर्वत्र पाये जाते हैं यद्यपि उनके व्यावहारिक प्रकारों में भिन्नता है।

अगम्यगमन (Incest) और बहिर्विवाहिकी रक्तसम्बन्धी से विवाह न करने के सिद्धान्त पर आधारित है। किन्तु जैसा कि पिछले उदाहरणों से स्पष्ट है अगम्यगमन और बहिर्विवाहिकी वास्तविक रक्तसम्बन्धों पर आधारित न होकर उन सम्बन्धों पर आधारित हैं जिनमें समाज रक्तसम्बन्धों की कल्पना कर लेता है। बाली द्वीप में जुड़वा भाई बहिन का विवाह की अनुमति होना इसका उदाहरण है। प्राचीन मिश्र के राजघरानों में भाई बहिन में विवाह की अनुमति होना इसका दूसरा उदाहरण है। अगम्यगमन और बहिर्विवाहिकी में वही सम्बन्ध रक्तसम्बन्ध माने जाते है जिनको समाज रक्तसम्बन्ध में परिभाषित कर देता है न कि वास्तविक रक्तसम्बन्ध। इसका कारण है परिवार तथा परिवार के विस्तृत आधार पर वंश समूहों की सगठनात्मक एकता को सुदृढ़ बनाये रखने की आवश्यकता। यदि भाई बहिन माता पुत्र और पिता पुत्री में मैथुन का निषेध न हो तो परिवार की एकता ही भंग हो जाय। जैसा कि प्राचीन मिश्र के राजपरिवारों में पाया गया है राजपरिवार की विशिष्ट एकता बनाये रखने के लिये, वहाँ भाई-बहिन के विवाह की अनुमति रही है। काम एषणा की तुष्टि की आवश्यकता एक ऐसा सामाजिक तत्व है जो समूह की एकता को प्रोत्साहित भी कर सकता है और उसे नष्ट भी कर सकता है। परिवार और कुलान की एकता तभी दृढ़ रहती है जब इन समूहों के सदस्य इन समूहों के बाहर विवाह करते है। यदि ऐसा न हो तो

परिवार के पुरुषों में वहां की नारियों के लिये जो प्रतिद्वन्द्विता पैदा हो। वह परिवार की एकता को ही नष्ट कर दे। वांछनीय संवरन नियमों का आधार भी यही मामाजिक आवश्यकता है। गणजाति अन्तर्विवाहिकी से गणजाति की एकता सुदृढ़ रहती है और म्वायटी-अन्तर्विवाहिकी (Moiety Endogamy) में म्वायटी की। सौतेली माताओं का उत्तराधिकार के रूप में पत्नी बनाने से परिवार की एकता बनी रहती है। लेविरेट (Levirate) पितृवंश को सुदृढ़ बनाकर परिवार की संयुक्तता बनाये रखने का एक माध्यम है। सारोरेट से पति-पत्नी का समायोजन आसान हो जाता है। सारोरल पालीजिनी वहीं पाई जाती है, जहां बहुपत्नीत्व पाया जाता है और इस कारण सारोरल पॉलीजिनी बहुपत्नीत्व वाले परिवार में सौतिया डाह पर रोक लगाकर परिवार की एकता में सहायक हो जाती है। पिता की बहिन की लड़की से विवाह या माता के भाई की लड़की से विवाह वस्तुतः उन व्यक्तियों और परिवारों में विवाह है जो पहले ही से एक दूसरे को जानते हैं और परस्पर सम्बन्धी हैं। ऐसे विवाह में पति-पत्नी एक दूसरे को बचपन से जानते रहते हैं। जहां मां के भाई की लड़की से विवाह किया जाता है वहां लड़की की फूफी (पिता की बहिन) उसकी सास हो जाती है। ऐसी दशा में पति पत्नी तथा सास बहू के सम्बन्धों में तनाव की सम्भावना कम हो जाती है और परिवार की एकता को बल मिलता है[1]।

बहुपतित्व और बहुपत्नीत्व

पति-पत्नी की संख्या के आधार पर विवाह के दो प्रकार मिलते हैं—एकविवाह और बहुविवाह। एकविवाह में एक समय में एक पुरुष एक नारी से तथा एक नारी एक पुरुष से ही विवाह करती है। बहुविवाह में एक पुरुष एक समय में कई नारियों से और एक नारी या कई नारियां कई पुरुषों से सम्मिलित विवाह करती हैं। एकविवाह और एकविवाही परिवार सर्वत्र पाये जाते हैं—उन समाजों में भी जहां बहुपत्नीत्व (एक पुरुष का एक समय में कई पत्नियों से विवाह) और बहुपतित्व (कई पुरुषों का एक या कई पत्नियों से सम्मिलित विवाह) पाये जाते हैं। आदिवासी समाज में बहुपत्नीत्व को सामाजिक अनुमति है किन्तु बहुपत्नीत्व आम प्रथा नहीं है। पहली पत्नी के बांझ होने पर परिवार में अधिक काम करने वालों की आवश्यकता होने पर (जैसा पहले दिये हुए जौनसार के उदाहरण से स्पष्ट है) और सामाजिक प्रतिष्ठा[2]

---

1 इसका यह अर्थ नहीं कि आदिवासी परिवार-व्यवस्था पूर्वनियोजित है। इसका यह भी अर्थ नहीं है कि आदिवासी परिवार में तनाव होता ही नहीं है। यहां जो स्पष्टीकरण दिये गए हैं उनपर अधिकतर मानवशास्त्री और समाजशास्त्री एकमत हैं।

2 नागा गणजातियों में जो गणजाति के मुखिया हैं, और जिनकी आर्थिक स्थिति सामान्य लोगों से अच्छी है वे, बहुधा एक से अधिक विवाह करते हैं।

न्दा विषमलिंगी सदस्य विवाह सूत्र म बँधते है[1]।

विवाह विच्छेद हो जान पर वधू मूल्य लौटाने की प्रथा भी सवत्र पाई जाती है। लेकिन एसी परिस्थिति म जैसा कि जौनसार बावर म होता है पति वधू मूल्य हरजाने के रूप म वसूल करता है। विवाह विच्छेद म, पति जो रकम लेता है, उसम याह का खर्चा भी जुड जाता है जिसके कारण विवाह विच्छद की रकम वधू मूल्य स बढ़ जाती है। यह रकम उस व्यक्ति को दनी पडती है जो तलाक दी हुइ स्त्री स विवाह करता है। एसी दशा म तलाको की सख्या के साथ साथ, हर्जाने की रकम भी बढती जाती है किन्तु यह रकम तभी तक बढती है जब तक स्त्री तरुण और स्वस्थ रहती है। मुण्डा गणजातियो म, वधू-मूल्य की रकम वधू की सुन्दरता उम्र और उसके पिता की सामाजिक प्रतिष्ठा पर निभर करती है। वधू मूल्य तथा तलाक म हर्जाने का रकम तय करने म, मध्यस्थ का रोल काफी महत्व पूण होता है जिसका आगे वणन किया जायेगा।

गोंड और बगा गणजातियो म, *यदि कोई व्यक्ति वधू मूल्य चुकाने मे* असमथ होता है तो वह अपने भावी ससुर के घर म जाकर एक निर्धारित समय तक घर का काम काज करता है और उसके बाद विवाह करके अपने घर वापस आ जाता है। बिरहोर गणजाति मे, भावी दामाद को वधू-मूल्य की रकम उधार दे दी जाती है और जब तक वधू मूल्य का भुगतान नही हो जाता है दामाद को अपने ससुर के घर मे रहकर, उसके घर का काम करना पडता है। जौनसार बावर मे, कृषि का काय करने वाले के लिए कभी कभी पुरुष भी इस शत पर रख लिए जाते हैं कि एक निश्चित समय के बाद घर की ल की से उनका विवाह कर दिया जायगा[2]। एस विवाहो को सेवा विवाह की श्रेणी मे रखा जाता है। घर जवाई पद्धति और सेवा विवाह म अन्तर है। घरजवाई पद्धति म जब किसी के लडका नही होता है तो वह विवाह के बाद म या पहले ही स दामाद का अपने घर की देखभाल के लिए रख लेता है। *वधू मूल्य जुटाने की समस्या को हल करने के लिए जब दो परिवार कन्याओ का विनिमय कर लेते हैं तो उसे विनिमय विवाह* कहा जाता है। जहा क्रास कजिन मरिज (मामा फूफी की सन्तानो म विवाह) की प्रथा है वहा विनिमय विवाह आसानी से हो जाता है। आसाम के खासिया मे ऐस विवाह की अनुमति नहा है। वधू मूल्य की समस्या से बचने के लिए मध्यभारत के आदिवासियो म लेविरेट विवाह को प्रोत्साहन दिया जाता है। परिवीक्ष्य विवाह (Probationary Marriage), जो आसाम की कुकी गणजाति म पाया जाता है घरजवाई विवाह तथा सेवा विवाह से भिन्न है। परिवीक्ष्य विवाह म भावी पति पत्नी को प्रेमी तथा

---

1 हॉबेल, ई० ए० मन इन द प्रिमिटिव वल्ड पष्ठ 20, 210

2 मजूमदार और मदन वही पष्ठ 90

परिवार के पुरुषों में वहाँ की नारियों के लिये जो प्रतिद्वंद्विता पैदा हो, वह परिवार की एकता को ही नष्ट करदे। वांछनीय संबंध नियमों का आधार भी यही सामाजिक आवश्यकता है। गणजाति अन्तर्वैवाहिकी से गणजाति की एकता सुदृढ़ रहती है, और फ्रायटी अन्तर्वैवाहिकी (Moiety Endogamy) से फ्रायटी की। सौतेली माताओं को उत्तराधिकार के रूप में पत्नी बनाने से परिवार की एकता बनी रहती है। लेविरेट (Levirate), पितवंश को सुदृढ़ बनाकर परिवार की संयुक्तता बनाये रखने का एक माध्यम है। सॉरोरेट से पति-पत्नी का समायोजन आसान हो जाता है। सॉरोरल पॉलीजिनी वहीं पाई जाती है जहाँ बहुपत्नीत्व पाया जाता है और, इस कारण, सॉरोरल पॉलीजिनी बहुपत्नीत्व वाले परिवार में सौतिया डाह पर रोक लगाकर, परिवार की एकता में सहायक हो जाती है। पिता की बहिन की लड़की से विवाह या माता के भाई की लड़की से विवाह वस्तुतः, उन व्यक्तियों और परिवारों में विवाह है जो पहले ही से एक दूसरे को जानते हैं और परस्पर सम्बन्धी हैं। ऐसे विवाह में पति-पत्नी एक दूसरे को बचपन से जानते रहते हैं। जहाँ माँ के भाई की लड़की से विवाह किया जाता है वहाँ लड़के की फूफी (पिता की बहिन) उसकी सास हो जाती है। ऐसी दशा में, पति-पत्नी तथा सास बहू के सम्बन्धों में तनाव की सम्भावना कम हो जाती है और परिवार की एकता को बल मिलता है[1]।

पति पत्नी की संख्या के आधार पर, विवाह के दो प्रकार मिलते हैं—एकविवाह और

बहुपतित्व और बहुपत्नीत्व

बहुविवाह। एकविवाह में एक समय में एक पुरुष एक नारी से तथा एक नारी एक पुरुष से ही विवाह करती है। बहुविवाह में, एक पुरुष एक समय में कई नारियों से और एक नारी या कई नारियाँ, कई पुरुषों से सम्मिलित विवाह करती हैं। एकविवाह और एकविवाही परिवार सर्वत्र पाये जाते हैं—उन समाजों में भी, जहाँ बहुपत्नीत्व (एक पुरुष का एक समय में कई पत्नियों से विवाह) और बहुपतित्व (कई पुरुषों का एक या कई पत्नियों से सम्मिलित विवाह) पाये जाते हैं। आदिवासी समाज में, बहुपत्नीत्व की सामाजिक अनुमति है किन्तु बहुपत्नीत्व आम प्रथा नहीं है। पहली पत्नी के वाँझ होने पर, परिवार में अधिक काम करने वालों की आवश्यकता होने पर (जैसा पहले दिये हुए जौनसार के उदाहरण से स्पष्ट है) और सामाजिक प्रतिष्ठा[2]

---

1 इसका यह अर्थ नहीं कि आदिवासी परिवार व्यवस्था पूर्वनियोजित है। इसका यह भी अर्थ नहीं है कि आदिवासी परिवार में तनाव होता ही नहीं है। यहाँ जो स्पष्टीकरण दिये गए हैं, उनपर अधिकतर मानवशास्त्री और समाजशास्त्री एकमत हैं।

2 नागा गणजातियों में, जो गणजाति के मुखिया हैं, और जिनकी आर्थिक स्थिति सामान्य लोगों से अच्छी है वे, बहुधा एक से अधिक विवाह करते हैं।

प्राप्त करने के लिए बहुपत्नीत्व का आश्रय लिया जाता है। किन्तु मौतिया डाह और कई पत्नियो के भरण पोषण की समस्या ऐसे कारण हैं जिनकी वजह से बहुपत्नीत्व सदैव सीमित रहा है। भारत म बहुपतित्व जौनसार बावर, टोडाओं और नायरो मे पाया गया है। नायरो मे मातसत्तात्मक व्यवस्था का विवाह प्रथा ने बहुपतित्व को जन्म दिया था। नायरो और नम्बूद्री ब्राह्मणो की विवाह परम्पराओं से यह स्पष्ट होता है। नम्बूद्री ब्राह्मणो म एक परिवार का सबसे बडा लडका ही नम्बूद्री नारी से विवाह करता है और अन्य नायर नारियो से। नायर स्त्रियां अपनी माँ के ही घर रहती थी और उनके नम्बूद्री पति, यदा कदा, उनके पास आया करते थे जिसम नायर-स्त्री बहुपति सम्बन्ध स्थापित करती थी। टोडाओ म सगे भाई या कोई भी दो व्यक्ति मिलकर एक पत्नी से विवाह कर सकते हैं। जौनसार बावर म, सगे भाई (जो बहुधा एक मा की सन्तान होते है) एक या कई पत्नियां म सम्मिलित विवाह करते हैं। कपाडिया ने लिखा है कि भारत म बहुपतित्व संयुक्त परिवार के साथ साथ कई सामाजिक सन्दर्भो म पाया गया है। जैसा कि पहले लिखा गया है यह पतित्व, विभिन्न सामाजिक सन्दर्भो म, परिवार की संयुक्तता बनाये रखने का एक माध्यम रहा है।

पत्नी अभिग्रहण के प्रकार

पत्नी अभिग्रहण (Acquiring of Mate) के तरीका के आधार पर आदिवासी विवाह के जो मुख्य प्रकार निर्धारित किये गए हैं वे हैं क्रय विवाह (Marriage by Purchase) सेवा विवाह (Marriage by Service) विनिमय विवाह (Marriage by Exchange) अपहरण विवाह (Marriage by Capture) पत्नी को उत्तराधिकार म प्राप्त करना (Inheritance of Wives) और गन्धर्व विवाह। क्रय विवाह का अर्थ यह नही है कि आदिवासी समाज मे नारियो का क्रय विक्रय होता है। लगभग सारे आदिवासी भारत तथा भारत के बाहर के आदिवासियो म लडकी के पिता को एक निश्चित रकम देने की प्रथा है। इस वधू मूल्य (Pride Price) की प्रथा कहा गया है। यह प्रथा दहेज प्रथा का उल्टा है।

वधू मूल्य

दहेज प्रथा म वधू का पिता वर के पिता को एक तय की हुई रकम देता है जबकि वधू-मूल्य प्रथा के अनुसार वर का पिता वधू के पिता को एक निश्चित रकम देता है। जिस प्रकार, दहेज की रकम या तो नकद होती है या उपहारो के रूप म दी जाती है उसी प्रकार, वधू-मूल्य भी या तो नकद होता है या उपहारो के रूप म दिया जाता है। कहीं वधू मूल्य परम्परा से निश्चित है (जैसे जौनसार म) और कही (जैसा कि हो गणजाति म है) वर कन्या के पक्ष के एक मध्यस्थ के द्वारा उस रकम का तय किया जाता है। दहेज हिंदू समाज की प्रथा है जबकि वधू मूल्य आदिवासी समाज की। जिस प्रकार, मुद्रायी आर्थिक व्यवस्था (Monetary Economy) के प्रभाव से, दहेज उत्तरोत्तर

नकद रकम के रूप मे दिया जाने लगा है उसी प्रकार, वधू मूल्य भी धीरे धीरे नकद रकम का रूप लेता रहा है। बिहार की मुण्डा गणजातियों मे, वधू मूल्य इतना बढ गया है कि वह दहेज की भांति एक आर्थिक-सामाजिक समस्या बन गया है। जिस व्यक्ति की सामाजिक आर्थिक प्रतिष्ठा जितनी उच्च है, वह उतनी ही बड़ी रकम वधू मूल्य के रूप मे मागता है। इसका परिणाम यह हुआ है कि या तो लडके लडकिया कुवारे रह जाते हैं या वे अपहरण या गन्धर्व विवाह करते है। इस समस्या का एक अन्य परिणाम यह है कि यदि एक लडकी का पिता मनमाना वधू मूल्य न पाने के कारण, उसका विवाह नही करता है तो वह जिस लडके से विवाह करना चाहती है, उसके घर चली जाती है और वहा, कुछ दिनो की नम्रता और अपमान के बाद वह स्वीकृत हो जाती है। इसप्रकार के विवाह को मुण्डा भाषा मे "अनदर" (अपधारण Intrusion) की संज्ञा दी गई है। गाधर्व अपहरण (धारोनिपी) और अपधारण (अनदेर) विवाह अनियमित विवाह है किन्तु, कालान्तर मे, उन्हे सामाजिक स्वीकृति मिल जाती है।

वधू मूल्य देने तथा वधू क्रय (Purchase of Bride) मे वैसे ही अन्तर करना कठिन हो जाता है जैसे कि भेंट और रिश्वत मे। यह आशका निर्मूल नही होगी कि किन्ही किन्ही परिस्थितियो मे वधू मूल्य कन्या विक्रय का रूप ले सकता है। बहुत कुछ वधू मूल्य (Bride Price) लेने वाले के दृष्टिकोण पर निर्भर करता है। किन्तु वधू मूल्य प्रथा का एक दूसरा पहलू भी है। वधू मूल्य, आम तौर पर, वर-कन्या के परिवारो मे भेंट विनिमय (Gift Exchange) के रूप मे, माल (Kind) मे दी जाती रही है। वर का पिता, अपने बन्धु-बान्धवों से भेंट लेकर वधू के पिता को देता रहा है और वधू का पिता उसे अपने बन्धु बान्धवो मे बाट देता रहा है। आज वधू मूल्य का यह रूप समाप्त हो रहा है। किन्तु यहा सबसे बडा प्रश्न यह है कि वधू मूल्य दिया ही क्यो जाता है। इस प्रश्न का उत्तर आदिवासी विश्वास और प्रथाओ मे कई रूपो मे मिलता है। कही इसे कन्या के दूध का मोल कहा जाता है, कहीं इसे वधू के लिए दिया जाने वाला प्रतिदान और कही, जैसा कि बाली द्वीप मे है, वधू मूल्य उस आर्थिक हानि का मूल्य है जो विवाह के द्वारा, लडकी के घर से चले जाने से, वधू के पिता को होता है। पश्चिमी अफ्रीका की दहोमियन गणजाति के लोगों मे, यदि कोई स्त्री बाझ होती है तो उसे अपने पति के दूसरे विवाह के लिए वधू धन का प्रबन्ध करना पडता है। दक्षिणी अफरीका की बवण्डा गणजाति मे वधू मूल्य को किस्तो मे चुकाने की प्रथा है और जब तक एक पुरुष सारी किस्तो का अदा नहीं कर देता है तब तक उसके बच्चे उसकी पत्नी के पिता के पास बन्धक के रूप मे रहते हैं। मानवशास्त्रियो का यह मत है कि वधू मूल्य से, उन दो परिवारों मे, आदान प्रदान के द्वारा, सामाजिक सम्बन्ध दृढ होते है जिनके

दो विषमलिंगी सदस्य विवाह सूत्र मे बँधते है[1]।

विवाह विच्छेद हो जाने पर वधू मूल्य लौटाने का प्रथा भी सवत्र पाई जाती है। लेकिन एसी परिस्थिति म, जसा कि जौनसार बावर म होता है पति वधू-मूल्य हरजाने के रूप म वसूल करता है। विवाह विच्छेद म, पति जो रकम लेता है, उसमे ब्याह का खर्चा भी जुड जाता है जिसके कारण विवाह विच्छद की रकम वधू मूल्य स बढ जाती है। यह रकम उस व्यक्ति को दनी पडती है जो तलाक दी हुई स्त्री से विवाह करता है। ऐसी दशा म तलाको की सख्या के साथ साथ हर्जाने की रकम भी बढती जाती है किन्तु यह रकम तभी तक बढती है जब तक स्त्री तरुण और स्वस्थ रहती है। मुण्डा गणजातियो मे, वधू-मूल्य की रकम वधू की सुदरता, उम्र और उसके पिता को सामाजिक प्रतिष्ठा पर निभर करती है। वधू मूल्य तथा तलाक मे हर्जाने की रकम तय करने म, मध्यस्थ का रोल काफी महत्व पूर्ण होता है जिसका आगे वणन किया जायेगा।

गोंड और बैगा गणजातियो म, यदि कोई व्यक्ति वधू मूल्य चुकान म असमथ होता है तो वह अपने भावी ससुर के घर मे जाकर एक निर्धारित समय तक, घर का काम काज करता है और उसके बाद विवाह करके अपने घर वापस आ जाता है। बिरहोर गणजाति म भावी दामाद को वधू मूल्य की रकम उधार दे दी जाती है और जब तक वधू मूल्य का भुगतान नही हो जाता है दामाद को अपने ससुर के घर म रहकर, उसके घर का काम करना पडता है। जौनसार बावर मे, कृषि का काय करने वाल के लिए, कभी कभी गुरखे भी इस शत पर रख लिए जाते हैं कि एक निश्चित समय के बाद घर की लडकी से उनका विवाह कर दिया जायगा[2]। एस विवाहो को सेवा विवाह की श्रेणी म रखा जाता है। घर जवाई पद्धति और सेवा विवाह म अतर है। घरजवाई पद्धति म, जब किसी के लडका नही होता है तो वह विवाह के बाद मे या पहले ही स दामाद को अपने घर की देखभाल के लिए रख लेता है। वधू मूल्य जुटाने की समस्या को हल करने के लिये जब दो परिवार कन्याओ का विनिमय कर लेते है तो उसे विनिमय विवाह कहा जाता है। जहा नास कजिन मरिज (मामा फूफी की सतानो म विवाह) की प्रथा है, वहा विनिमय विवाह आसानी स हो जाता है। आसाम के खासिया मे ऐसे विवाह की अनुमति नही है। वधू मूल्य की समस्या से बचने के लिए मध्यभारत के आदिवासियो मे प्लविरट विवाह का प्रोत्साहन दिया जाता है। परिवीक्ष्य विवाह (Probationary Marriage), जो आसाम की कुकी गणजाति म पाया जाता है, घरजवाई विवाह तथा सेवा विवाह से भिन्न है। परिवीक्ष्य विवाह म भावी पति पत्नी को प्रेमी तथा

1 हुबेल, ई० ए० मन इन द प्रिमिटिव वल्ड पष्ठ 205 210
2 मजूमदार और मदन वही पष्ठ 90

प्रेमिका के रूप म, कन्या के घर म, कुछ समय के लिए रहने दिया जाता है और इस बीच म यदि वर कन्या एक-दूसरे को पसन्द कर लेते हैं तो दोनों का विवाह हो जाता ह वना अलग अलग हाने पर, वर का कन्या के पिता का प्रतिदान (Compensation) दना पडता ह। सेमा नागाआ म, पिता के मरन पर, पुत्र को सौतली विधवा माताआ स विवाह करना आवश्यक हो जाता है क्योकि सेमा नागाओ की उत्तराधिकार परम्परा के अनुसार, मत व्यक्ति की सम्पत्ति का उत्तराधिकार उसकी विधवा या विधवाआ का मिलता है और यदि पुत्र उस सम्पत्ति का उत्तराधिकारी होना चाहता है तो उसे अपनी सगी माँ को छाडकर, अन्य सौतेली विधवा माताआ स विवाह करना आवश्यक हो जाता है।

अपहरण विवाह के जसे उदाहरण भारतीय इतिहास म मिलत हैं वसे अपहरण विवाह वतमान दण्ड-सहिता के अनुसार अपराध हैं। ज्यों-ज्यों सामाजिक प्रगति हाती रही है और भारतीय दण्ड-सहिता का लागू किया जाता रहा है, अपहरण विवाहो की सख्या कम हाती रही है। फिर भी, नागा, हो, गोड, भील, खरिया और बिरहार गणजातियो म, वास्तविक या आभासी (Mock), अपहरण विवाह के प्रमाण मिलते हैं। आसाम की नागा गणजातियों मे जब एक गाव के निवासी दूसरे गाव पर आक्रमण करते हैं ता स्त्रियो का भी अपहरण करते हैं। यही कारण है कि नागाआ म, लडकियों को जन्मते ही मार डालने की प्रथा रही है। गोंडा मे लडकी के पिता के अनुराध पर, लडकी का अपहरण किया जाता है। यह अपहरण पहले ही स निर्धारित हाता है। वर-पक्ष के लाग, वधू का अपहरण करते हैं और वधू-पक्ष के लाग इसका विरोध करते हैं। किन्तु, यह अपहरण, वास्तविक न होकर, केवल अपहरण का नाटकमात्र हाता है। इसी प्रकार, हो गणजाति मे वधू मूल्य की समस्या उठ खडी हाने पर, आभासी अपहरण सयोजित किया जाता है। खरिया और बिरहार गणजातियो म, अपहरण विवाह ने एक सस्कार का रूप ले लिया है। जब काइ पुरुष किसी भी स्त्री स सामान्य तरीक स विवाह नहीं कर पाता है ता वह किसी मल या अन्य स्थान म छुपकर बठ जाता है और उस स्त्री के उधर निकलने पर, सहसा उसके माथे पर तल मिश्रित सिन्दूर मल देता है तो वह उस स्त्री से विवाह करने का अधिकारी मान लिया जाता है। मध्यभारत में, त्योहारा क अवसरा पर, जब कई गावा के लाग एक-साथ नाचत-गाते और शराब पीकर एकत्र हात हैं तब नौजवान उन लडकियो का अपहरण करत हैं, जिनके साथ वे विवाह करना चाहते हैं। ये अपहरण शान्तिमय हाते हैं। नागाओ के अतर्ग्राम आक्रमणों का छाड कर, हर दशा म अपहरण पूवसयोजित हाते हैं और वास्तविक अपहरण का आभासमात्र हाते हैं। बहुधा, वर-वधू क माता पिता की अनुमति से अपहरण हाता है। अपहरण विवाह को गणजाति बिरादरी सेत भी मान्यता मिलती है जब, अपहरण करन वाला या ता बिरादरी का हर्जाना देता है या भोज देता है।

भीलों के गाल गेधाग्ो विवाह मे, जहा एक और अपहरण का आभ मिलता है बना, दूसरी आर, विवाह के उम्मेदवार नौजवान क साहस और बहादु का अजमान का भी आभास है। गान गधादा प्रथा के अनुसार, विवाह क इच्छ भील नौजवान का, किमी लडकी से विवाह प्रस्ताव करन के पहल अपनी बहादु और शक्ति का परिचय दना पडता है। हाली के त्योहार पर अविवाहित पु और स्त्रिया किसी पेड या जमीन पर गड पाल (Pole खम्भे) के आस पास न करन हैं। इस नत्य म स्त्रिया पाल या पड क आस-पास घेरा बनाकर नाचती और पुरुष स्त्रियो के घेर के बाहर घेरा बनाकर, नाचन ह। पाल या पेड पर और नारियल बँधा रहता है। नाचन नाचत जब कोई नौजवान स्त्रियो का घ तोड कर, पाल या पेड पर चढन का प्रयास करता है तो स्त्रिया उस राकन प्रयास करती ह और इस प्रयास म, वे उसके कपडे नाच सकती ह उस चुटकी सकती ह या झाड स मार सकती ह। किन्तु इन रुकावटो क बावजूद भी यदि व नौजवान गुड और नारियल तक पहुच कर गुड खान तथा नारियल तोडन म स हो जाता है तो वहा पर नत्य करती हुई लडकियो म से, वह किसी से भी विवे करने का अधिकारी हो जाता है और वह चुनी हुई लडकी को तत्काल वहा से ले सकता है।

न हो जाय तथा अपनी प्रेमिका के मस्त पर सिंदूर मल कर उससे विवाह करने की अनुमति प्राप्त करना एस उदाहरण हैं जिनमे प्रचलित नियमो की अवहेलना है। किंतु, य सभी प्रकार क विवाह समाज की मर्यादा के अंतगत हैं और जब ऐसे विवाह किये जाते ह तो उन्ह समाज म स्वीकार कर लिया जाता है।

धर्मशास्त्रो के रचयिताओ ने ब्राह्म दव आर्ष, प्राजापात्य, आसुर, गांधर्व, राक्षस और पैशाच य आठ प्रकार के विवाह मान हैं। आसुर वह विवाह है जिसम वधू मूल्य दिया जाता है। गान्धर्व प्रेम विवाह है और राक्षस तथा पैशाच अपहरण-विवाह की श्रेणी म आते है। हिन्दू धर्मशास्त्रो के अनुसार इन आठ विवाह प्रकारो मे, प्रथम चार वांछनीय है और अंतिम चार अवांछनीय। इसम यह स्पष्ट होता है कि हिन्दू विचारधारा के विकास म, आदिवासी विवाह प्रकारो को अवांछनीय कहकर उन्हे निषेधात्मक सामाजिक प्रदान करने का प्रयास किया गया है। और ऐसा हुआ भी है। ज्यो ज्यो गणजातियो का हिन्दूकरण हुआ है उनम हिन्दू तत्वो का समावेश होता गया है। आदिवासी मान्यताओ म विवाह दो विषमलिंगी व्यक्तियो उनक परिवारो तथा विस्तृत सम्बन्धी समूहो म प्रजनन तथा गृहस्थी बसाने के लिये एक ऐसा सामाजिक समझौता है जो आवश्यकता पडने पर तोडा भी जा सकता है। आदिवासी के लिये साधारणत विवाह का सामाजिक पक्ष धार्मिक पक्ष की अपेक्षा अधिक महत्वपूर्ण है। जिसके कारण, आदिवासी विवाह म संस्कारो की वह जटिलता नही मिलती है जो हिन्दू विवाह म मिलती है। किन्तु आदिवासी विवाह का धार्मिक पक्ष सवत्र गौण नही है। खासी विवाह म, सामाजिक और धार्मिक पक्षो का एक सा महत्व है क्योकि खासी परिवार धार्मिक कृत्यो क सम्पादन की एक सामाजिक इकाई है। जिस गणजाति पर हिन्दूकरण का जितना प्रभाव है उसके विवाह संस्कार म उतनी ही संस्कार जटिलता भी बढी है। हो गणजाति म संस्कार के दृष्टिकोण स अंदी और दिक्कू अंदी दो प्रकार क विवाहो का पाया जाना इसका प्रमाण है। दिक्कू अन्दी वह विवाह है जिसम अग्नि को साक्षी बनाकर विवाह सम्पन्न कराया जाता है जबकि अंदी विवाह म गणजाति क देवताओ की स्तुति की जाती ह और उनको प्रसन्न करने के लिय बलि चढाई जाती है। 'अन्दी विवाह स्थानीय पुरोहित द्वारा सम्पन्न होता है, जबकि दिक्कू अन्दी हिन्दू पुरोहित के द्वारा।

आदिवासी समाज म विवाह क लिए लडके लडकी का चुनाव तो माता पिता करत ह किन्तु, साधारणत विवाह मध्यस्थ द्वारा तय किया जाता है। मध्यस्थ के, विभिन्न गणजातियो म अलग अलग नाम ह। उदाहरणार्थ हो मध्यस्थ को दूतम कहते हैं और खरिया 'डण्डिया। मध्यस्थ क द्वारा ही वधू मूल्य तय होता है। कभी-कभी जैसा कि हो गणजाति म होता ह भावी पत्नी का चुनाव करक, लडका अपने मित्रो द्वारा अपने माँ बाप को सूचना भिजवा देता है और

मध्यस्थ का नियुक्त करके विवाह तय करते ह। आदिवासी समाज म, विवाह से भी व्यक्तियो और उनके परिवारो का ही सम्बन्ध नही है। वलान और गाव के सदस्य भी विवाह स उतने ही सम्बन्धित ह जितने कि परिवार के सदस्य। यही कारण है कि विवाह ऐसे समय किया जाता है जब सभी उसमे शामिल हो सकें। बहुधा, जाडा की फसल काटने के बाद विवाह की तारीख रक्खी जाती है।

आदिवासी, विवाह को एक अविच्छद्य धार्मिक सस्कार न मान कर, एक समाजीकृत समझौता मानते ह जिसके कारण आदिवासी समाज म तलाक आसानी से हो जाता है। खासिया म परस्त्री या परपुरुषगमन और स्त्री के बाझपन के कारण विवाह विच्छेद किया जा सकता है। उसी प्रकार, गोडो में, यदि स्त्री परपुरुषगामिनी है, गृहस्थी के कार्यों की आर उदासीन है, बाझ या झगडालू स्वभाव की है तो उसे तलाक दिया जाता है। खासियो और गोडा मे तलाक के जो आधार ह वे खरिया लोगों मे भी पाय जाते हैं। इसके अतिरिक्त खरिया गणजाति में यदि ग्राम पचायत किसी की स्त्री को डायन (Witch) घोषित कर दती है तो उसके पति को उसे तलाक देना आवश्यक हो जाता है। वास्तविकता तो यह है कि, आदिवासी समाज में, उन सभी परिस्थितियो और कारणो के कारण तलाक हो जाता है जिनमें पति पत्नी वैवाहिक समझौते का चलाने मे असफल हो जाते हैं। पति पत्नी मे असगति आ जाना ही तलाक का मुख्य आधार है। तलाक देने का अधिकार पति और पत्नी दोनो का है। तलाक का निर्णय पचायत के द्वारा हाता है। पचायत के नियम अलिखित होते ह जिसके कारण तलाक के मुकदमो का निपटारा व्यावहारिकता की कसौटी पर किया जाता है और तलाक की अनुमति तभी दी जाती है जब दोनो पक्ष तलाक क पक्ष मे हो। जा पक्ष तलाक की माग करता है, उस दूसरे पक्ष का हर्जाना देना पडता है। लुशाई गणजाति मे यदि पति, पत्नी को तलाक देना है तो उसे वधू मूल्य का वह अश दना पडता है जो उसकी ओर बाकी होता है। किन्तु यदि पत्नी पति को छोडती है या परसम्बन्धो क अपराध के कारण उसे तलाक दिया जाता है, तो उसे वधू मूल्य म दी गई रकम वापस करनी पडती है। खासी गणजाति म, तलाक क बाद बच्चों पर स्त्री का अधिकार रहता है। किन्तु अन्य गणजातियो म बच्चों पर अधिकार की समस्या पारम्परिक समझौत द्वारा तय की जाती है। तलाक क बाद स्त्री-पुरुषों क पुनर्विवाह मे कठिनाई नही होती है क्योकि आदिवासी समाज म तलाक और तलाक देने वाले स्त्री-पुरुषा को अवाछनीय नहीं समझा जाता है। विधवा-पुनर्विवाह भी आसानी मे हा जाता है।

विवाह विच्छेद

आदिवासी समाज में जहाँ एक ओर, रक्तसम्बन्ध के सिद्धान्त पर आधारित परिवार और क्लान जैसे समूह पाये जाते हैं वहाँ, दूसरी ओर, धर्मनिरपेक्ष

युवागृह

और धर्मसापेक्ष समूह भी पाए जाते हैं जिनकी सदस्यता ऐच्छिक होती है और जो समितियों के रूप में कार्य करते हैं। धर्मसापेक्ष समूह, धार्मिक कृत्यों के लिए संगठित होते हैं जैसे सूखा पड़ने पर, वर्षा-अनुष्ठान का सम्पन्न करने के लिए संगठित समूह। धर्मनिरपेक्ष ऐच्छिक समूह व समितियाँ या संघ हैं जो विभिन्न उद्देश्यों की पूर्ति के लिए संगठित होते हैं। ये समितियाँ अफ्रीका और अमरीका के आदिवासियों में पाये जाने वाले 'गुप्त संघ' (Secret Societies) के प्रकार के भी होते हैं और मनोरंजन के लिए संगठित क्लबों के प्रकार के भी। इन समितियों के संगठन में आयु का कारक महत्वपूर्ण होता है जिसके कारण इन्हें आयु समूह (Age Groups) भी कहा गया है। उदाहरणार्थ 'गुप्त-संघ' (Secret Society) के सदस्य वयस्क पुरुष ही हो सकते हैं। इस दृष्टिकोण से भारत के आदिवासियों में युवा संगठन (Youth Organization) एक महत्वपूर्ण संगठन है। युवा संगठन भोटिया, हो, ओराओं, खरिया, गोंड, भुइय्या और नागाओं में पाया जाता है।

युवा-संगठन, अविवाहित (कुँआर) लड़के-लड़कियों की एक समिति है, जिसके नियमानुसार, अविवाहित लड़के-लड़की युवागृह में रात्रि बिताते हैं। सभी नागाओं का युवागृह इस सर्वप्रचलित नियम का अपवाद है क्योंकि उनके यहाँ, लड़के और लड़कियों के युवागृह अलग अलग होते हैं। विभिन्न गणजातियों में युवागृह के अलग अलग नाम हैं। युवागृह के लिए, मुण्डाओं और हो गणजातियों में 'गीतो ओरा', ओराओं में 'जोकरपा' या 'धुमकुरिया', भुइय्याओं में 'धंगरबासा', गोंडों में 'गोतुल', भोटियों में 'रंगबंग' और एओ तथा सभी नागाओं में 'मोरंग' नामों का प्रयोग होता है। सभी नागाओं में लड़कों के युवागृह को 'इखुवीचो' और लड़कियों के युवागृह को 'इलोइची' कहा जाता है। युवागृह इस प्रकार, एक प्रकार का युवा-संगठन है, जिसके माध्यम में, अविवाहित लड़के और लड़कियाँ एक-साथ एकत्र होते हैं यद्यपि युवागृहों से सम्बन्धित प्रथाओं में भिन्नता पाई जाती है। उदाहरणार्थ, मुण्डा, हो, ओराओं और नागा गणजातियों में अविवाहित लड़के और लड़कियाँ के अभिभावकों की देखरेख में लड़के लड़कियाँ अलग अलग गृहों में सोते हैं जबकि, बस्तर के मुरिया गोंडों में, अविवाहित लड़के-लड़कियाँ एक ही गृह में साथ सोते हैं।

युवागृह केवल शयनगृह ही नहीं है। युवागृह से सम्बन्धित नियमों और प्रथाओं में युवागृह की सामाजिक महत्ता स्पष्ट होती है। युवागृह गाँव के बीचोबीच या गाँव की सरहद पर वनाच्छादित एक ऐसे ऊँचे स्थान पर बनाया जाता है जहाँ से, रात्रि में, गाँव की रखवाली भी की जा सके। गाँव के सभी अविवाहित लड़के-लड़कियाँ, युवागृह के सदस्य होते हैं। युवागृह की बातों को गुप्त रखना युवागृह के

सन्स्य या वत य हाता है। विवाह के बाद युवागह की सदस्यता समाप्त हा जाती है गान म, तब किसी युवागह क सदस्य का विवाह हो जाता है ता, उसका तथा उसकी पत्नी के लिए गातुल म जो स्वागत समाराह होना है वह वस्तुत उसका गातुल म विदा समारोह होता ह क्योकि उसके बाद वह गोतुल का सदस्य नही रहना है। वह गातुल म फिर भी आता है ता उसे मना किया जाता है और यदि वह फिर भी नही मानता है ता गातुल के सदस्य उसकी फसल या जानवरा को नुकसान पहुचाकर उसका आना राकन ह।

युवागह सगठन म अधिकारी वसे ही पाय जाते हैं जसे कि वे किसी भी समिति म पाये जान हैं। गातुल का एक अध्यक्ष हाता है जिसे सरदार या मुखिया कहते हैं। उसका पद वशानुक्रम स चलता है। युवागह म मुखिया और उसके सलाहकारा स मिलकर, युवागह की कायकारिणी सगठित हाती है। मुखिया को विशेषाधिकार भी मिलत है। मुरिया गातुल का मुखिया गातुल की किसी भी लडकी को अपनी प्रमिका बनाकर सवसाधारण म उसकी घोषणा कर सकता है। गोतुल क मुखिया की प्रमिका हाना गौरव और सम्मान की बात समझी जाती है जिसके लिए गातुल की प्रत्यक सन्स्या लालायित रहती है।

नाच, गीत, किस्स कहानिया तथा हास परिहास के द्वारा युवागह के सदस्य परस्पर मनारजन करत हैं। ओराव युवागह का वणन करत हुए डाल्टन न लिखा है कि युवागह म छाटी आयु के लडके बडी आयु के लडका क बदन दबात हैं मालिश करत है और उनके बाला का सवारत हैं। छाटी आयु क लडका का बडी आयु के लडका क कठिन अनुशासन म रहना पडता है। जसाकि गाना क युवागह म होता है, जहा लडके लडकिया साथ साथ रहत है वहा छाटी आयु क लडका का स्थान लडकिया ले लती है। मजूमदार के अनुसार युवागह म लडके लडकी अपनी अपनी आयु के अनुसार अलग अलग समूहा मे बटे रहत हैं—छोटी उम्र क लडके लडकी एक साथ रहत हैं और बडी उम्र के एक साथ। गातुल का उदाहरण दत हुए मजूमदार न यह लिखा है कि एक गाव के गातुल के सदस्य कभी कभी दूसरे गाव के गोतुल के सदस्या स मिलने जात हैं गातुल के सदस्य गाव की जगली जानवरो और शत्रुओ से रक्षा करत है और कभी कभी गाव के सावजनिक कार्यों म हाथ बटात है या आवश्यकता पडने पर उस व्यक्ति की भी सहायता करत है जिसको सहायता की आवश्यकता हाती है। धनुष चलाने की तथा प्रतिरक्षा के उपायो की शिक्षा और अभ्यास भी गोतुल क कायक्रम का एक अग है।

बस्तर क मुरिया गाडो क युवागह का वणन करत हुए गिगसन ने लिखा है कि आदिवासी लडके लडकियो का काम रहस्य (Mysteries of Sex) म परिचित कराना गातुल का आधारभूत काय है। मजूमदार क अनुसार गातुल क लडके लडकिया म यौन सम्बन्ध हो जाते हैं लेकिन एसे सम्बन्ध न ता आमतौर पर पाय

जाते है और न गोतुल उन्हे प्रोत्साहित ही करता है। यदि काम शिक्षा ही युवागृह का एकमात्र सामाजिक कार्य माना जाय तो यह स्पष्ट करना कठिन हो जायगा कि लडके लडकियो के अलग अलग युवागृह क्यो पाये जाते है। मजूमदार का यह मत है कि युवागृह से आदिवासी समाज के ऐक्य को प्रोत्साहन मिलता है नौजवानो की शक्ति रचनात्मक कार्यों की ओर प्रवाहित होती है और उन्हे भावी कर्तव्यो की प्रशिक्षा मिलती है। युवागृह की उत्पत्ति का कारण काम तुष्टि की शिक्षा की आवश्यकता नही वरन प्रतिरक्षा (Defence) की आवश्यकता है। यही कारण है कि युवागृह या तो गाव के बीच मे स्थापित होता है या गाव की सरहद पर। कालान्तर मे, अन्य जनक प्रथाए युवागृह से सम्बंधित हो गई हैं जो मरिया गोडा के गोतुल संगठन से स्पष्ट है।

६

धर्म और जादू अलौकिक के प्रति विश्वास तथा कर्मकाण्ड

आदिवासी समाज और संस्कृति धर्मसापेक्ष (Sacred) हैं न कि धर्मनिरपेक्ष। धर्मसापेक्ष और धर्मनिरपेक्ष की द्विभाजिता वर्तमान योरोपीय सभ्यता की देन है। आदिवासी धर्म इसाइयत की भाति न तो ऐतिहासिक और संगठित धर्म है और न उसमे राद्धान्त (Dogmas) और मिशनरीपन ही पाये जाते हैं। राद्धान्तो और मिशनरीपन की अनुपस्थिति मे आदिवासी मे न तो अपने धर्म के सुयुक्तिकरण की प्रवृत्ति मिलती है और न धर्मविद्या (Theology) को निरूपित करने की प्रवृत्ति। आदिवासी धर्म जहा ईश्वरवादी है वहा बहुदेववादी भी। आदिवासी यदि मानवीकृत अलौकिक शक्तियो को देवताओ के रूप मे पूजता है तो वह अलौकिक तथा आधिदैविक अवैयक्तिक शक्ति (Impersonal Supernatural Force) मे भी विश्वास करता है और भूत प्रेतो तथा डाइनो से भी डरता है। वह प्रार्थना भी करता है और अपने देवताओ की तुष्टि के लिए बलि भी देता है। जन्त्र मन्त्र मे भी उसका विश्वास है और देवकृपा मे भी। यदि वह आधिदैविक को अलौकिक मानकर प्रार्थना के द्वारा उसकी अनुकम्पा की कामना करता है तो, साथ ही साथ वह यह भी मानता है कि आधिदैविक की इष्टसिद्धि करके उसके द्वारा मनोवांछित फल भी प्राप्त किया जा सकता है और, इसलिए, मारण मोहन उच्चाटन तथा अनेक जन्त्रो मन्त्रो का प्रयोग करता है। वह पेडो को पूजता है और पहाड तथा पत्थरो को भी। आर्थिक व्यवस्था तथा औद्योगिकी द्वारा, यदि वह अपने और प्रकृति के बीच तथा सामाजिक संगठन के द्वारा यदि अपने तथा साथियो के बीच मे तादात्म्य स्थापित करता है तो धर्म के द्वारा, वह अपने आधिदैविक और प्राकृतवास के बीच मे समायोजन

लाने का प्रयास करके, जीवन के उन स्थलों में भावात्मक सुरक्षा पाने का प्रयास करता है जहां अन्य किसी प्रकार की मानवीय सुरक्षा उपलब्ध नहीं है। आदिवासी के लिए, धर्म, मानव प्रकृति तथा समाज में आधिभौतिक के द्वारा भावात्मक समायोजन लाने का एक माध्यम है।

आदिवासी धर्म के कुछ रूप

आदिवासी धर्म एक भी है और अनेक भी। प्रत्येक गणजाति की अपनी धार्मिक प्रथायें और विश्वास है। उदाहरणार्थ, मिर्जापुर जिले की कोरवा गणजाति के आदिवासियों का यदि निराकार भगवान या 'ईश्वर' में विश्वास है तो साथ ही साथ, वह फसल, वर्षा और जानवरों के अधिष्ठाता देवों में भी विश्वास करते हैं। दुन्धी की लगभग सभी पहाड़िया और जलस्रोत, किसी न किसी देवी या देवता से सम्बन्धित है। गांव के आस पास आने वाले पीपल पलाश और महुआ के पेड़, प्रेता और चुड़ैल के वासस्थान माने जाते है। कोरवा जिन देवताओं को मानता है उनके नाम हैं राजा चन्दोल टिकरी के बरमबाबा भरमबाबा मुड़्हिसेमर के बिलचर राजा गुरहर राजा मोरहमन, अहितर (एक पहाड़ी का नाम) के महराज और बरमडन के महराज। कोरवा के द्वारा पूज्य देवियों में बुढ़ीमाई शीतला माई मिरगो रानी, माठा रानी नखिनी माई कोटा की ज्वालामुखी और काटर की देवी मुख्य हैं। इन देवी-देवताओं को, कोरवा गणजाति के पड़ोस में रहने वाली अन्य गणजातियां भी मानती हैं। महादावी कोरवा लोगों का मुख्य देवता है जिसका वासस्थान प्रत्येक गांव के पूर्व में आने वाला बांस का झुरमुट माना जाता है। प्रत्येक ऐसे झुरमुट में इस देवता के प्रतीक के रूप में एक पत्थर रक्खा रहता है। कोरवा लोगों का विश्वास है कि पत्थर और बांस का झुरमुट अत्यन्त प्राचीन काल के हैं और 'महादावी' देवता गांव के लोगों की बीमारी महामारी भयानक संकटों और दुर्घटनाओं से रक्षा करता है। प्रत्येक तीन साल बाद, देवता को प्रसन्न करने के लिये एक सफेद बछड़े की बलि दी जाती है। बछड़े के न मिलने पर सफेद बकरी या सफेद मुर्गी की बलि दी जाती है। महादावी वाले बांस के झुरमुट के समीप ही एक दूसरा बांस का झुरमुट (देवघर) होता है जिसमें रक्खे हुए पत्थर गांव के सभी लोगों (जिनमें कोरवा और अन्य जातियां शामिल हैं) के देवताओं के प्रतीक होते हैं[1]। सूखा पड़ने पर कोरवा गणजाति के लोग, पहाड़ियों पर से बड़े-बड़े पत्थर ढनगाते हैं क्योंकि उनका विश्वास है कि पत्थरों की गड़गड़ाहट, बादलों की गड़गड़ाहट को प्रभावित करके, वर्षा लायगी।

मुण्डा और हो गणजातियां, एक प्रकार की अव्यक्तिक आधिदैविक शक्ति में विश्वास करती हैं, जिसे वे बोंगा के नाम से सम्बोधित करती हैं। बोंगा एक

---

1. मजूमदार डी० एन० रेसेज एण्ड कल्चर्स आफ इण्डिया पृष्ठ 407

अवयक्तिक अलौकिक शक्ति है जिसके संसर्ग से भौतिक वस्तुओं और व्यक्तियों में अलौकिक गुण उत्पन्न होते हैं। बोंगा का एक रूप सिंगबोंगा है जो हो गणजाति में सूर्य देवता के समान पूजा जाता है। हो और मुण्डा गणजातियों का विश्वास है कि बोंगा सपनों के द्वारा भावी जीवन की ओर संकेत करता है। बोंगा ही सभी प्रकार की ऊर्जा का स्रोत है। जिस किसी भी वस्तु में ऊर्जा की अभिव्यक्ति होती है वह बोंगा ही है। साइकिल, वाष्पइंजिन और हवाई जहाज अलग-अलग बोंगा हैं। हवाई जहाज इन सब में बड़ा बोंगा है। जिस व्यक्ति में, बोंगा की जितनी अधिक मात्रा होगी, उसके गुण और उसकी प्रतिष्ठा अन्यों से, उतनी ही ज्यादा होगी। जिस किसी नयी वस्तु में नये समायोजन का सन्तुलन बिगड़ जाता है, वे सब बोंगा हो जाते हैं। इन गणजातियों के विश्वासों के अनुसार उनके प्राकृतवास के अनेक तत्व और जानवर बोंगा हो गए हैं। वर्षा न होने पर हो गणजाति के लोग, आग जलाकर, धुएँ के बादल उठाते हैं क्योंकि उनका विश्वास है कि धुएँ के बादल वर्षा के बादलों को आकृष्ट करते हैं।

मध्य भारत के मुरिया गोंडों के बारे में लिखते हुए एल्विन ने लिखा है कि मुरिया गोंडों का धर्म हिन्दुत्व के शैव सम्प्रदाय के अधिक समीप है, यद्यपि उसकी अपनी निजी विशिष्टता है। मुरिया धर्म में शिव के साथ अन्य अनेक देवताओं की पूजा की जाती है, जिन्हें मुरिया लोगों ने मानवीय रूप दिया है। मुरिया लोगों के अपने पुरोहित होते हैं। वे उनके लिए छतरी (Shrine) मन्दिर और झोंपड़े बनाकर उनको मानव देवता के रूप में पूजते हैं। मुरिया धर्म, एक ओर नैतिक जीवन का आधार है और दूसरी ओर, देवताओं तथा जीवित और मृत मनुष्यों को एकसूत्र में बाँधता है। डाइनवृत्ति से बचने के लिए, गोंडों में, अनेक ऐसी प्रथाएँ पायी जाती हैं जो मुरिया धर्म की अभिन्न अंग हैं[1]।

इसप्रकार, ईश्वरवाद, बहुदेववाद, प्रकृतिवाद बोंगावाद, आत्मावाद शक्तिवाद तथा शैववाद, भूत प्रेत चुड़ैल और डाइनवृत्तिवाद तथा सौगन्ध अग्नि परीक्षा (Ordeal), जन्त्र-मन्त्र शकुन अपशकुन टोटेम और टैबू में विश्वास आदिवासी के धार्मिक विश्वासों और कर्मकाण्डों में शामिल हैं। हिन्दू विचारधारा के दृष्टिकोण से, आदिवासी धार्मिक विश्वास और प्रथायें वाममार्गी तथा आगममार्गी परम्पराओं में आती हैं। वाममार्गी प्रथाओं के बड़े ही दिलचस्प रूप देखने को मिलते हैं। कोरवा का विश्वास है कि पत्थरों की गड़गड़ाहट वर्षा के बादलों को आकृष्ट करती है, हो के विश्वास के अनुसार, धुएं के बादल वर्षा के बादलों को आकृष्ट करते हैं, किन्तु, खोंडों का यह विश्वास रहा है कि नरबलि के समय बलि दिये जाने वाले मनुष्य की आँखों से गिरते हुए आँसुओं तथा उसके शरीर से निकलती हुई खून की

1 मजूमदार और मदन वही पृष्ठ 167 68

धार वर्षा को आकृष्ट करते है। नाल (Umbilical chord) का अक्सर गाड दिया जाता है क्योंकि ऐसा विश्वास किया जाता है कि नाल का जो कुछ होगा वह बच्चे का भी होगा। मुण्डन के समय उतारे हुए गर्भवारे बालों को जल में प्रवाहित करने के पीछे भी यही विश्वास है। पूर्वी पाकिस्तान में रहने वाली पोलिया गण जाति का सदस्य अपना फोटो नहीं लेने देता क्योंकि वह यह मानता है कि उसके फोटो और उसमें कोई अन्तर नहीं है और यदि फोटो को कुछ हो गया तो उसे भी वही हो जायगा। बीज को बलि दिए हुए जानवर के खून में मिलाकर बोने के पीछे भी ऐसा ही विश्वास है।

यहाँ यह स्पष्ट कर देना आवश्यक है कि भारत के आदिवासियों के अनेक धार्मिक विश्वास और प्रथाएँ हिन्दुओं में भी पायी जाती हैं और हिन्दुओं की अनेक विश्वास और प्रथाएँ आदिवासियों में। जिसे हिन्दुत्व में आगम और वाममार्गी कहा गया है, वह आदिवासी सांस्कृतिक आधार से आया है। हिन्दू समाज में, निम्नस्तर की जातियों के स्तर पर हिन्दुत्व और आदिवासीत्व एक में मिल गये हैं और वहीं से अनेक आदिवासी विश्वासों और प्रथाओं का वैदिकीकरण हुआ है। इस प्रक्रिया का विश्लेषण जाति और जनजाति की तुलनात्मक विवेचना के सन्दर्भ में आगे किया जायगा। यहाँ इस तथ्य की ओर संकेत करना काफी है कि हिन्दुत्व के तत्वों को आत्मसात करते हुए और हिन्दुत्व के समीपवर्ती क्षेत्र में रहकर हिन्दुत्व को प्रभावित करते हुए आदिवासी धर्म अधिदैविक के प्रति विश्वासों और कर्मकाण्डों का एक विशिष्ट संकुल रहा है। आदिवासी धर्म की विविधता की पृष्ठभूमि में कुछ ऐसे आधारभूत तत्व रहे हैं जिनके आधार पर आदिवासी धर्म की सत्ता का प्रमाण देकर, आदिवासी धर्म की समाजशास्त्रीय व्याख्या की जा सकती है। हटन के अनुसार, आत्मावाद, जादूवाद, टोटमवाद, नरबलि, नरमुण्डों के शिकार की प्रथा (Head Hunting नागाओं में), पूर्वज पूजा, पारलौकिक जीवन तथा संसार (स्वर्ग नरक) और पुनर्जन्म तथा टोटमवाद में विश्वास आदिवासी धर्म के मुख्य तत्व हैं[1]।

धर्म उद्भव के सिद्धान्त

आदिवासी धर्म प्रतिष्ठित धर्मों (Classical Religions) हिन्दुत्व, यहूदी, पारसी बुद्धवाद, इस्लाम, ईसाइयत और कन्फ्यूशियसवाद से भिन्न है। वह न तो हिन्दुत्व की 'धर्म' की धारणा से स्पष्ट होता है और न मजहब या रिलीजन की उस धारणा में जो ईसाइयत में पाई जाती है। इन धर्मों की तुलना में आदिवासी धर्म विलक्षण भी प्रतीत होता है। यही कारण है कि उन्नीसवीं शताब्दी के उत्तरार्ध में, जबतक इंगलैंड के मानवशास्त्री सर ई० बी० टाइलर ने सभी धर्मों का तुलनात्मक अध्ययन करके, यह नहीं प्रतिपादित किया कि धर्म एक विकासशील किन्तु सार्वभौमिक संस्था है,

1 मजूमदार और मदन वही पृष्ठ 166

तब तक, यूरोप के अधिकतर विद्वानों का यही विचार था कि धर्म केवल सभ्य समाज में ही पाया जाता है। टाइलर उद्विकासवादी मानवशास्त्री थे। इसकारण उन्होंने यूरोप के धर्म को उद्विकास का अंतिम परिणति माना और आदिवासी धर्मों को धर्म के प्रारम्भिक उद्विकास का मूल। टाइलर के अनुसार, धर्म की उत्पत्ति सर्वचेतनवादिता एनिमिज्म (Animism) में हुई है और उसका विकास बहुदेववादिता (Polytheism) से एकेश्वरवादिता (Monotheism) की ओर हुआ है। बहुदेववादिता पूर्वजों की प्रेतात्माओं की पूजा से विकसित हुई है। पूर्वजों की प्रेतात्माओं से डरना और उनको प्रसन्न रखने के लिए उनकी पूजा करना धर्म के उद्विकास की प्रथम कड़ी है। प्रेतात्माएँ मानव के प्रथम देवता रही होंगी और उनके शवप्रकोष्ठ (Tombs) प्रारम्भिक मंदिर। अपने इस सिद्धांत को टाइलर ने एनिमिज्म (Animism) कहा है। एनिमिज्म (Animism) शब्द की व्युत्पत्ति एनिमा (Anima) से हुई है, जिसका अर्थ है आत्मा (Soul)। आत्मा का अनुभव और उसमें विश्वास प्रेतात्माओं में विश्वास और उनकी पूजा की उत्पत्ति का कारण होगा। टाइलर की मान्यता के अनुसार, आत्मा में विश्वास आदिवासी समाज में सर्वत्र पाया जाता है, जिससे एनिमिज्म के उद्विकासवादी सिद्धांत की पुष्टि होती है।

आदिवासी को आत्मा का अनुभव और विश्वास कैसे हुआ इस पर व्यक्त टाइलर के विचार वैज्ञानिक नहीं, काल्पनिक हैं। उनकी यह मान्यता है कि आदिवासी का मानसिक गठन बच्चों के समान होता है और इसकारण आदिवासी की विचार धारा अतार्किक होती है। आदिवासी ने जब मृत्यु का अनुभव किया, पानी में उसने अपनी परछाईं देखी, स्वप्न में उसने स्वच्छंद विचरण किया और पूर्वजों के दर्शन किए, अपनी ही आवाज की प्रतिध्वनि सुनी और जब उसे मतिविभ्रम (Hallucination) तथा अतींद्रिय अनुभव हुए तो उसे सर्वव्याप्त चेतना का अनुभव हुआ। निद्रा और मृत्यु से, उसे यह अनुभव हुआ कि मानव में भी चेतन है जो मृत्यु के बाद निकल जाता है। एक चेतन वह है जो अतींद्रिय है और दूसरा वह जो शरीर में व्याप्त है। चेतना के अनुभव ने, आत्मा के अनुभव को जन्म दिया—एक वह आत्मा जो अतींद्रिय और स्वतंत्र है और दूसरी वह जो शरीर बद्ध है। मृत पुरखों को स्वप्न में देखने तथा, बच्चों के समान मानसिक गठन होने से उसे न समझ पाने के कारण आदिवासी, एक ओर आत्मा की अमरता के विश्वास की ओर अग्रसर हुआ और दूसरी ओर प्रेतात्मा में विश्वास की ओर। आदिवासियों में पाई जाने वाली दोहरी अंत्येष्टि क्रिया की प्रथा टाइलर के अनुसार, इस बात का प्रमाण है कि आदिवासी मृत्यु और चेतना के प्रभाव को नहीं समझ पाया। पहली अंत्येष्टि क्रिया मृत्यु के बाद की जाती है, जिसमें शव को अंतिम रूप से गाड़ा या जलाया नहीं जाता है क्योंकि यह विश्वास किया जाता है कि हो न हो दिवंगत आत्मा लौट आये और दूसरी उस समय, जब यह निश्चित हो जाता है कि दिवंगत आत्मा के लौटने की कोई

आया नहीं है[1]। पूर्वजों के प्रति रागात्मक लगाव ने, प्रेतात्माओं के प्रति श्रद्धा को जन्म दिया और चेतन के प्रभाव को न समझ पाने के कारण ने डर को। इसप्रकार आत्मा के अनुभव के आधार पर, प्रेतात्माओं के प्रति डर और श्रद्धामिश्रित जो दृष्टिकोण उत्पन्न हुआ और उससे जो विश्वास प्रथाएं और पूजापद्धतियां अस्तित्व में आईं वे, एक ओर आदिवासी का धर्म बनीं और दूसरी ओर धर्म का मूलाधार। प्रेतात्माओं में विश्वास और उनकी पूजा एनिमिज्म है और आदिवासी धर्म की आत्मा है।

जिन कारणों से टाइलर का सिद्धान्त अमान्य हुआ है वे इसप्रकार हैं — एक पूर्वज पूजा आदिवासियों में पायी जाती है किन्तु सर्वत्र नहीं। और फिर पूर्वज-पूजा आदिवासियों की ही विशेषता नहीं है। हिन्दुओं में पूर्वज पूजा का उतना ही स्थान है जितना कि आदिवासियों में। भारत में आदिवासी भी देव और पितरों की वैसे ही पूजा करता है जैसे कि हिन्दू। हिन्दू संयुक्त परिवार में भी एक पितरस्थान होता है और खासी संयुक्त-परिवार में भी। हिन्दू और आदिवासी दोनों प्रेतात्माओं से डरते हैं और दोनों अनुष्ठानों द्वारा उनको सन्तुष्ट रखने का प्रयास करते हैं। पूर्वज पूजा में हिन्दू और आदिवासी में केवल मात्रा का अन्तर है। दो आदिवासी का मानसिक गठन बच्चों के समान होता है यह अमान्य है। अमरीकी मानवशास्त्री बोआज ने अपनी पुस्तक 'माइण्ड आफ दि प्रिमिटिव मैन' में यह दिखाया है कि आदिवासी का मानसिक गठन न तो बच्चों के समान है और न अतार्किक। यह अवश्य है कि आदिवासी का मानसिक गठन, उसके प्राकृतवास की परिस्थितियों से अधिक प्रभावित होता है। तीन, आदिवासी उतना दार्शनिक नहीं है जितना कि टाइलर ने अपने मत में उसे चित्रित किया है। क्योंकि आदिवासी धर्म में युक्तिकरण (Rationalization) की प्रवृत्ति नहीं मिलती है। चार टाइलर ने आत्मा और प्रेतात्मा में पाये जाने वाले विश्वास पर आवश्यकता से अधिक जोर दिया है। पांच, धर्मों के तुलनात्मक अध्ययन से यह स्पष्ट होता है कि बहुदेववाद एकेश्वरवाद से पहले की अवस्था नहीं है। जसाकि भारत में आदिवासी और हिन्दुओं में पाया जाता है। बहुदेववाद और एकेश्वरवाद साथ साथ पाये जा सकते हैं। आज, यह माना जाता है कि एनिमिज्म (Animism सर्वचेतन वाद) आदिवासी धर्म का एक अंग है और आदिवासी धर्म एनिमिज्म ही नहीं है।

---

1 दोहरी अन्त्येष्टि क्रिया की प्रथा भारत में भी पायी जाती है और भारत के बाहर भी। भारत में टोडा कोटा और हो गणजातियां इस प्रथा को मानती हैं। अंग्रेजों में पहली अन्त्येष्टि को ग्रीन (Green ताजा) और दूसरी को ड्राई (Dry अन्तिम) कहते हैं। ग्रीन का अर्थ है 'हरा' और ड्राई का 'सूखा'।

टाइलर के आलोचक अन्य उद्विकासवादियों ने यह प्रतिपादित किया कि एनिमिज्म का विकास बाद की अवस्था है। धर्म का विकास मानव की उस प्रारम्भिक मनोवृत्ति में हुआ है जिसमें, सम्भवतः वह जीव और निर्जीव में बराबर चेतना का अनुभव करता था। मॅरेट ने इस अवस्था को मानावादिता या चेतनावादिता। (Manaism or Animatism) कहा है और मॅक्समूलर ने प्रकृतिवादिता (Naturism) मॅरेट के अनुसार आदिवासी धर्म, मूलतः, मानावादी या चेतनावादी है। माना (Mana) शब्द अंग्रेजी भाषा में, मलानेशिया की भाषा से आया है। मेलानेशिया में, यह विश्वास पाया जाता है कि उस संसार में एक अलौकिक तथा अवैयक्तिक शक्ति (माना Mana) है, जिसका अनुभव किया जा सकता है और जो सजीव तथा निर्जीव वस्तुओं में अवतरित होकर, उन्हें अलौकिकता प्रदान करती है किन्तु उनमें बँधती नहीं है। माना, अनुभवगम्य होते हुए भी, अतीन्द्रिय है। भौतिक शक्तियों तथा मानव और अन्य वस्तुओं के अद्वितीय गुणों में माना की ही अभिव्यक्ति होती है। व्यक्तियों और वस्तुओं में इसकी अभिव्यक्ति, अल्प अल्प मात्राओं में होती है यद्यपि इसका मूल रूप सदैव एक सा और निर्लिप्त रहता है। यह चेतनावादी दृष्टिकोण, मॅरेट के अनुसार, मानावाद और एनीमेटिज्म (Animatism) है और यही आदिवासी धर्म की मूल आत्मा है। भारत में मुण्डा, हो और नागा जनजातियाँ ऐसी अवयक्तिक शक्ति में विश्वास करती हैं। हो, जैसा कि पहले कहा जा चुका है इसको बोंगा कहते हैं। कहीं कहीं इस वाकुआ (Wakua) भी कहा जाता है। किन्तु, भारत के सभी आदिवासी माना में विश्वास नहीं करते हैं। माना में विश्वास सार्वभौमिक भी नहीं है। माना में विश्वास के साथ-साथ, अन्य देवी देवताओं में भी विश्वास पाया जाता है जो मॅरेट के मत के विरुद्ध पड़ता है। जैसा कि डाक्टर मजूमदार ने लिखा है बहुत से पार्थिव पदार्थ इसलिए नहीं पूजे जाते हैं कि उनमें किसी देवी शक्ति या माना का वास है वरन इसलिए कि वे उपयोगी होते हैं। अवध के हिन्दुओं में ब्याह की रस्मों में मूसल, सिल बट्टा और पलास के पेड़ का पूजन इसका उदाहरण है। मानावाद आदिवासी धर्म का एक तत्व है किन्तु आदिवासी धर्म उसी प्रकार से केवल मानावादी नहीं है जिस प्रकार से वह केवल एनिमिज्म नहीं है।

एनीमेटिज्म

मॅक्समूलर के अनुसार, प्रकृतिवादिता (Naturism) अर्थात प्राकृतिक पदार्थों की पूजा, धर्म का मूल रूप रही होगी। मॅक्समूलर ने वेदों को इसका प्रमाण माना है। वेदों में इन्द्र बादलों के देवता हैं, वरुण समुद्र के और मरुत वायु के। वेदों में अग्नि का भी देवता माना गया है। प्राकृतिक शक्तियों और पदार्थों का देवताकरण और उनके प्रति श्रद्धा डर या भय-मिश्रित आदर का भाव, मॅक्समूलर के अनुसार, उस रुग्ण मस्तिष्क (Diseased Mind) की उत्पत्ति है जो उन्हें समझ नहीं पाता है और जिसकी अपर्याप्त भाषा

नेचुरिज्म

(Defectvie Language) में निर्जीव वस्तुओं में चेतनता और उन शक्तियों की अवधारणा प्रतिपादित की जाती है, जो सजीव की विशेषताएं हैं। मानव ने अनेक प्रमेयों का ऐसी ही अपर्याप्त भाषा में व्यक्त किया है—जैसे सूरज का उगना और डूबना, जबकि सूर्य अचल है। प्रकृतिवादिता इसप्रकार अविकसित मस्तिष्क और अपर्याप्त भाषा का दन है। आदिवासी धर्म, प्रकृतिवादी है इसको अस्वीकार नहीं किया जा सकता और न इस पर मतभेद ही है। मतभेद इस बात को लेकर है कि प्रकृतिवादिता धर्म का मूलरूप है और अपर्याप्त भाषा की उपज है। ऐतिहासिक दृष्टिकोण से, यह सिद्ध करना कठिन है कि धर्म का मूल प्रकृतिवादिता में ही है। मानव की धारणाएं भाषा अभिव्यक्तियों से नहीं बनती हैं वरन भाषा अभिव्यक्तियां, धारणाओं को व्यक्त करती हैं। धारणाएं पहले जन्म लेती है और भाषा अभिव्यक्तियां बाद में।

इंगलैंड के मानवशास्त्री फ्रेजर के अनुसार धर्म की उत्पत्ति जादुई (Magical) विश्वास और प्रथाओं से हुई है और धर्म का मूलरूप जादू था। जहां जादू असफल हुआ वहां धर्म की उत्पत्ति हुई। यहां जादू से तात्पर्य न तो इन्द्रजाल से है, न बाजीगर के तमाशे से और न मेस्मेरिज्म से।

जादू सिद्धान्त

समाजशास्त्र और मानवशास्त्र में, जादू का एक विशिष्ट अर्थ है। धर्म और जादू का अंतर, सबसे पहले दुरखेम ने किया था। दुरखेम के अनुसार धर्म का मूल आधिदैविक में विश्वास है किन्तु आधिदैविक में विश्वास ही धर्म नहीं है। धर्म वह सामाजिक प्रमेय है जिसमें आधिदैविक में विश्वास (Beliefs) और उससे उत्पन्न तथा आधिदैविक की ओर लक्षित कर्मकाण्ड (Rites) आते हैं। आधिदैविक में विश्वास पर आधारित तथा उसमें उत्पन्न जिन कर्मकाण्डों में प्रार्थना का भाव होता है जो समाज में सामूहिकता को प्रोत्साहित करते हैं और समाज की एकता को बढ़ावा देते हैं वे धर्म के अन्तर्गत आते हैं। किन्तु आधिदैविकता से उत्पन्न, जिन विश्वासों और कर्मकाण्डों में, आधिदैविक को नियन्त्रण में लाकर उससे मनोवांछित फल प्राप्त करने की भावना रहती है जो सामूहिक रूप से न किए जाकर वैयक्तिक तथा गुप्त रीति से किये जाते हैं, (जैसे मोहन और मारण की क्रियाएं) और जो असामाजिक होते हैं वे जादू की श्रेणी में आते हैं। धर्म और जादू का एक ही स्रोत है—आधिदैविक में विश्वास और उससे उत्पन्न कर्मकाण्ड। किन्तु जहां धर्म सर्वकल्याणकारी सामूहिक और सामाजिक है वहां जादू वैयक्तिक और असामाजिक है। धर्म ग्रहणीय है और जादू त्याज्य। दुरखेम जैसा कि सर्वविदित है समष्टिवादी समाजशास्त्री हैं। वे धर्म का समष्टिवादिता के एक कारक के रूप में देखते हैं और उस विशेषतया टोटेम को, सामूहिक मन (Group Mind) की एक अभिव्यक्ति मानते हैं। धर्म की सामाजिक महत्ता के सन्दर्भ में, आगे चल कर, दुरखेम के विचारों पर पुनः विचार किया जायगा। यहां फ्रेजर के विचारों की व्याख्या अपेक्षित है।

फ्रेजर की व्याख्या में जादू धर्म का व्यतिरेक है क्योंकि, धर्म में, आधिदैविक शक्ति से प्रार्थना और अनुनय विनय की जाती है तथा, जादू में, आधिदैविक को नियंत्रित करके, वांछित वस्तु पाने के लिए उसे निर्देश करने की भावना रहती है। जादू इस विश्वास पर आधारित है कि आधिदैविक शक्ति मनुष्य के वश में आकर, उसकी मनोकामना पूरी कर सकती है। मंत्रों द्वारा सांप का विष झाड़ना मारने के लिये मूठ चलाना किसी को मारने के लिए उसका पुतला बनाकर उसमें छुरा भोंकना या कीलें गाड़ना जादुई विश्वास और प्रथाओं की श्रेणी में आते हैं। फ्रेजर के अनुसार जादू दो सिद्धान्तों पर आधारित है— एक एक वस्तु (या प्रमेय) अपनी ही जैसी वस्तु (या प्रमेय) को जन्म देती है और, दूसरा जो एक बार किसी के सम्पर्क में आ जाता है, वह हमेशा उसके सम्पर्क में रहता है। पहले सिद्धान्त पर जो जादुई कर्मकाण्ड आधारित हैं उन्हें फ्रेजर ने अनुकरणात्मक (Homeopathic Imitative or Mimetic Magic) कहा है। खरवा गणजाति के लोगों के द्वारा पहाड़ियों पर से, इस आशा से पत्थर लुढ़काना कि पत्थरों की गड़गड़ाहट बादलों की गड़गड़ाहट को आकर्षित करके, वर्षा लायेगी या आटे या गोबर के पुतले को किसी का प्रतिरूप मानकर, उस पर इस आशा से मारने की क्रिया करना कि इससे उस व्यक्ति की मृत्यु हो जायगी, इसी श्रेणी में आते हैं। दूसरे सिद्धान्त पर जो जादुई कर्मकाण्ड आधारित हैं वे संक्रामक जादू (Contagious Magic) की श्रेणी में आते हैं। पूर्वी बंगाल की पोलिया गणजाति का सदस्य जब इस डर से किसी को अपना फोटो नहीं लेने देता कि अगर फोटो को कुछ अनिष्ट होगा तो वह उसे ही होगा तो इसके पीछे संक्रामक जादू का ही भय रहता है। इसी विश्वास के कारण आदिवासियों में एक-दूसरे के कपड़े न इस्तेमाल करने तथा कटे हुए बालों और नाखूनों को दूसरे के सम्पर्क में न आने देने का रिवाज है।

जादुई कर्मकाण्ड जनकल्याण के लिये भी किया जाता है और दूसरों का नुकसान पहुंचाने के लिये भी। दुर्खीम का यह मत कि जादू सदा अनिष्टकारी ही होता है, सभी प्रकार की प्रचलित जादुई प्रथाओं की कसौटी पर खरा नहीं उतरता है। सूखा पड़ने पर, वर्षा के लिये किया जाने वाला जादुई कर्मकाण्ड न तो असामाजिक है और न अनिष्टकारी। जौनसार बावर क्षेत्र में, अप्रैल के महीने में एक वार्षिक पूजा होती है और उस अवसर पर, जब गांव के चारों ओर पतली रस्सी इस आशा से फेर दी जाती है कि वह गांव वालों की अनिष्टकारी आधिभौतिक शक्तियों से रक्षा करेगी तो जादू का वह रूप अनिष्टकारी नहीं होता है। अनेक जादुई कर्मकाण्ड सामूहिकता को प्रोत्साहित करते हैं और सामूहिक संगठन की सुदृढ़ता को प्रोत्साहित करते हैं। व्यक्तिगत लाभ के लिये किये जाने वाले जादुई कर्मकाण्ड किन्हीं किन्हीं दशाओं में, अनिष्टकारी हो सकते हैं—जैसे किसी को मारने के लिये किया जाने वाला कर्मकाण्ड। इस दृष्टिकोण से जादू के दो भेद किये गए हैं—शुभकारी (White)

और अनिष्टकारी (Black)। जिस जादुई कर्मकाण्ड का ध्येय सामाजिक कल्याण है, उससे सम्बंधित कर्मकाण्ड अनिष्टकारी जादुई कर्मकाण्ड की अपेक्षा, अधिक सार्वजनिक होता है। लेकिन, धार्मिक, कर्मकाण्डों की अपेक्षा, जादुई कर्मकाण्ड अधिक गोपनीय रक्खे जाते हैं। दिवाली की अर्द्धरात्रि का मंत्र जगाने की प्रथा इसका प्रमाण है। ऐसा विश्वास पाया जाता है कि जादू की सफलता उसकी गोपनीयता पर ही निर्भर करती है।

जादुई तथा धार्मिक दोनों प्रकार के कर्मकाण्ड विशेषज्ञों द्वारा सम्पन्न होते हैं। धार्मिक अनुष्ठानों को सम्पन्न करने वाला विशेषज्ञ पुजारी या पुरोहित कहलाता है। उसका कार्य है अपने यजमानों के मंगल के लिये आधिदैविक की प्रार्थना करना। किन्तु जादुई कर्मकाण्डों का विशेषज्ञ अपने यजमान की मनोकामना पूर्ण करने के लिए, आधिदैविक को निर्देश देता है। तान्त्रिक, अघोरी कापालिक, सिद्ध, ओझा नाउत भगत और बाकी (जौनसार का शब्द) जादुई कर्मकाण्डों के विशेषज्ञों की श्रेणी में आते हैं। अंग्रेजी में पुजारी के लिये प्रीस्ट (Priest) और तान्त्रिक के लिये शेमन (Shaman) शब्द का प्रयोग होता है। शेमन (Shaman) शब्द अंग्रेजी में साइबेरिया की भाषा से आया है। पुजारी उन आधिदैविक शक्तियों का सेवक होता है जो कल्याणकारी होती हैं किन्तु तान्त्रिक (Shaman) उनका, जो अनिष्टकारी होती हैं। इसीलिये शेमन को अंग्रेजी में डेविल प्रीस्ट (Devil Priest) अथवा शैतान का पुजारी कहा जाता है। वह भूत को भी जानता है और भविष्य को भी। दुर्भाग्य असफलता, लम्बी बीमारी और अनिष्ट की आशंका में, आदिवासी त्राण के उपाय तान्त्रिक से ही पूछता है, क्योंकि तान्त्रिक रहस्य के भी रहस्य का ज्ञाता माना जाता है। तान्त्रिक अनिष्ट भी कर सकता है, इसलिये, लोग उससे भय खाते हैं। फिर भी तान्त्रिक आदिवासी समाज का एक नेता होता है। मिश्र में जो प्रागैतिहासिक प्रमाण मिले हैं उनके आधार पर, प्रागैतिहासज्ञों ने यह प्रतिपादित किया है कि प्राचीन प्रस्तरयुग के अन्तिम चरणों में, वहां जो सामाजिक संगठन विकसित हुआ था उसका राजा तान्त्रिक ही हुआ करता था। अमरीका की अनेक गणजातियों के प्रधान तान्त्रिक ही होते हैं।

जादू और विज्ञान

फ्रेजर के अनुसार, सभी प्रकार के जादुई कर्मकाण्ड सहवृत्त्यात्मक (Sympathetic) होते हैं क्योंकि वे कार्य कारण (Cause & Effect) में सहवृत्ति के सिद्धान्त पर आधारित होते हैं। पत्थरों की गड़गड़ाहट से बादलों की गड़गड़ाहट को आकृष्ट करके वर्षा लाने का प्रयास, कार्य (बादलों की गड़गड़ाहट का आना और वर्षा होना)—कारण (पत्थरों की गड़गड़ाहट) की सहवृत्ति (समान वृत्ति) पर आधारित है। जादुई कर्मकाण्डों में, निरीक्षण और प्रयोग के द्वारा, किन्तु आधिदैविक के माध्यम से, किसी प्रमेय के कार्य कारण की सहवृत्ति पर नियन्त्रण पाने का प्रयास रहता है। विज्ञान में भी, कार्य-

कारण की सहवृत्ति पर नियन्त्रण किया जाता है। इस दृष्टिकोण से, जादू विज्ञान के समीप पहुँचता है यद्यपि वह विज्ञान नहीं है। जादू का एक सैद्धान्तिक पक्ष होता है और दूसरा व्यावहारिक। जादू का सैद्धान्तिक पक्ष छद्म विज्ञान (Psendo Science) और व्यावहारिक पक्ष छद्म कला (Psendo Art) है। छद्म कला के रूप में, जादू प्रत्यक्षवादी (Positive) है जिसमें जादूगरी (Sorcery) और डायनवृत्ति (Witchcraft) आते हैं और दूसरा निषेधात्मक (Negative) जिसमें टैबू (Taboo निषेध) आते हैं। किन्तु विज्ञान में, कार्य कारण की सहवृत्ति का सही और निश्चित प्रयोग होता है जबकि जादू में गलत और अनिश्चित। जादू के प्रयोग हर दशा में निश्चित और सही उतरते हैं। इसीलिये, वास्तव में, जादू भ्रष्ट विज्ञान है। फ्रेजर ने, जादू को विज्ञान की विजन्मा भगिनी (Bastard Sister) कहा है। जादू विज्ञान का जनक नहीं है। जादू और विज्ञान मनुष्य की उस वृत्ति से जन्मे हैं जिसमें, विभिन्न प्राकृतिक प्रमेयों के कार्य कारण पर नियन्त्रण पाकर, जीवन में सुरक्षा लाने की प्रवृत्ति है।

जादू और विज्ञान दोनों की कार्यप्रणालियाँ (Procedure) समान हैं। जिस प्रकार, किसी परिणाम पर पहुँचने के लिये वैज्ञानिक उसी कार्यप्रणाली को मशीनवत बार बार दोहराता है उसी प्रकार तान्त्रिक (Magician) भी करता है। दोनों इस मान्यता पर आधारित हैं कि विभिन्न प्रमेय अपने-अपने कार्य कारण की सहवृत्ति पर आधारित है और कार्य कारण की सहवृत्ति के नियन्त्रण द्वारा उस सामान्य नियम या नियमों पर नियन्त्रण किया जा सकता है जो विभिन्न प्रमेयों के घटक है। किन्तु विज्ञान का सम्बन्ध प्रकृति से है और जादू का अलौकिक से। विज्ञान का सीधा सम्बन्ध प्रकृति के कारकों से है जिन्हें प्रयोग, निरीक्षण और पुनपरीक्षण के द्वारा आंका जा सकता है। जादू जिन कारकों की मान्यता पर आधारित होता है वे अलौकिक होते हैं। उन पर न तो प्रयोग किया जा सकता है और न उनका निरीक्षण या पुनपरीक्षण ही। विज्ञान में यदि वांछित फल न मिले तो सारी कार्यप्रणाली की पुनः परीक्षा की जा सकती है जो जादुई कार्यप्रणाली में सम्भव नहीं। जादू की असफलता या तो जादुई कर्मकाण्ड में कमी के कारण मानी जाती है या अलौकिक के प्रभाव के कारण। वैज्ञानिक कार्यप्रणाली या कार्यप्रणालियाँ गुप्त नहीं रक्खी जाती हैं जबकि जादुई कर्मकाण्ड बहुधा गुप्त और अलौकिक वातावरण में चलता है। इसलिये, जादू का वातावरण अवास्तविक होता है। जादू और विज्ञान में दृष्टिकोण का अन्तर है। वैज्ञानिक दृष्टिकोण वास्तविक और निश्चित होता है और जादुई दृष्टिकोण अवास्तविक, आशाप्रद किन्तु अनिश्चित। विज्ञान वास्तविकता की ओर उन्मुख रहता है और जादू अवास्तविकता की ओर। जादू मुख्यतया अफल (Barren) रहता है जबकि विज्ञान सफल। जादू की सफलता का श्रेय जादू का नहीं वरन् संयोग का है।

जादू और धर्म विज्ञान से अलग एक निश्चित श्रेणी में आते हैं। जादू और धर्म दोनों आधिदैविक से सम्बन्धित हैं और दोनों एक दूसरे के सहोदर हैं। जादू धर्म और विज्ञान का संघर्ष योरोपीय समाज की समस्या है न कि आदिवासी समाज की। आदिवासी समाज में जादू धर्म, विज्ञान और प्रौद्योगिकी एक में मिल गये हैं। टोब्रियाण्ड द्वीप के निवासियों के जादुई कर्मकाण्डों की व्याख्या करते हुए मलिनॉस्की ने लिखा है, वहाँ के निवासी नाव बनाने में काफी कुशल हैं। उन्हें इस बात का भी पता है कि नाव एक विशेष आकृति की क्यों बनाई जाती है, नाव पानी पर क्यों और कैसे तरती है और क्या डूब जाती है। उनके पास इस विषय में सम्बन्धित वैज्ञानिक ज्ञान भी है। किन्तु वे यह नहीं जानते कि तूफान कब और क्यों आता है और इस कारण उनकी नाविकता में विज्ञान प्रौद्योगिकी और जादू का मिश्रण हो गया है। जहाँ उनकी प्रौद्योगिकी सफल नहीं है वहाँ वे जादू का आश्रय लेते हैं। तब क्या प्रौद्योगिकी की असफलता या अक्षमता जादू की जननी है? मलिनॉस्की पर यह आरोप लगाया गया है कि उन्होंने एक ऐसे सिद्धान्त का प्रतिपादन किया है जो दोहरे सत्य (Double Truth) पर आधारित है। यह निश्चित है कि जादू असत्य है। पर, साथ ही साथ, यह भी सही है कि विज्ञान और प्रौद्योगिकी जहाँ सफल है, वहाँ जादुई कर्मकाण्ड निरर्थक हो जाते हैं। लखनऊ के पड़ोस के गावों में पहले निमोनिया झाड़-फूंक द्वारा ठीक की जाती थी क्योंकि पेनीसिलीन के पहले निमोनिया का कोई निश्चित इलाज नहीं था। किन्तु आज पेनीसिलीन के प्रयोग ने झाड़ फूंक को निरर्थक बना दिया है।

जादू, फेटिश और टैबू

फेटिश (Fetish) और टैबू जादू के वैसे ही अभिन्न अंग हैं जैसे आधिदैविक में विश्वास और उससे उत्पन्न कर्मकाण्ड। फेटिश (Fetish) उन पार्थिव पदार्थों को कहते हैं जिनके बारे में यह विश्वास किया जाता है कि उनमें वह अलौकिक शक्ति है जिससे वे कठिनाई में मनुष्य की सहायता कर सकते हैं या मनुष्य को मनोवांछित फल दे सकते हैं। ताबीज इसका एक उदाहरण है। बच्चे को शेर का दांत इसलिये पहनाना कि वह डरे नहीं और उस पर भूत प्रेतों का असर न हो और जिस कमरे में स्त्री का बच्चा हो उसके दरवाजे पर कथा पक्षी का घोसला लटकाना और बेल के कांटे इसलिये बांधना कि जच्चा बच्चा दैवी विपत्ति से मुक्त रहे फेटिशवाद के अन्य उदाहरण हैं। टैबू शब्द अंग्रेजी में पालीनेशियन भाषा के टाबू (Tabu) शब्द के आधार पर गढ़ा गया है। टैबू का अर्थ है निषेध किया हुआ। जादुई कर्मकाण्ड के दो पहलू होते हैं—एक वह जिससे जादुई कर्मकाण्ड के व्यवहार विहित और वांछनीय माने जाते हैं और दूसरा, जिसमें कुछ व्यवहारों का निषेध होता है। मासिक धर्म के दिनों में हिन्दू स्त्रियों द्वारा कच्चा खाना बनाने का निषेध टैबू का एक उदाहरण है। टैबू की अवहेलना करने वालों को समाज दण्डित नहीं करता है। टैबू जादू में इसलिये

निश्चित हो जाता है कि उसके पीछे आधिदैविक शक्ति का प्रभाव समझा जाता है। टैबू की अवहेलना दैवी आशंका को जन्म देती है और दैवी-आशंका समाज द्वारा मान्य होती है। अवध मे, लखनऊ के पास के गावो मे मुर्दे को बहाकर या जलाकर या गाडकर जब लोग लौटते हैं तो अलग अलग चलते हैं क्योंकि उनको यह आशंका रहती है कि यदि किसी के पैर की एडी दूसरे के पजे से लडती है तो उनमे से किसी न किसी के घर म मृत्यु होगी।

टैबू तीन प्रकार के होते हैं—उत्पादक (Productive) सुरक्षात्मक (Protective) और निषेधात्मक (Prohibitive)। जो टबू कृषि की उवरता बढाने से सम्बन्धित हैं उन्हे उत्पादक कहा गया है जैसे जौनसार मे मासिक धर्म के दिनो म स्त्री को आलू के खेत म न जाने देना। सुरक्षात्मक टबू वे हैं जो नारियो, बच्चों और पुरुषो को कुछ स्थानो क्रियाओ और वस्तुओ से दूर रहने का निर्देश करते हैं जस दैवी आशका के डर मे नवजात शिशु को सन्ध्या के झुटपुटे म घर से बाहर न लाने की प्रथा। निषेधात्मक वे है जो किसी स्त्री या पुरुष से दूर रहने का निर्देश करते हैं। निषेधात्मक टबू ससर्ग का निषेध करते है जसे जादू टोना करनेवाले म दूर रहना या रजस्वला नारी के ससर्ग मे न आने का निषेध। माना (Mana) विश्वास भी टबू को जन्म देता है। माना पर आधारित टैब तीनों प्रकार के या तीनो म से किसी एक प्रकार के हो सकते है। जिस वस्तु या व्यक्ति का ससर्ग टैबू से होता है, उसम विशेष माना का वास समझा जाता है[1]।

आदिवासी समाज म तथा अन्य समाजो मे भी जादुई और धार्मिक विश्वासो और कमकाण्डो का साथ-साथ पाया जाना इस बात की पुष्टि करता है कि जादू की उत्पत्ति धर्म के प्रारम्भिक रूप म नही हुई है। विज्ञान और प्रौद्योगिकी के विकास के

---

1. टबू की सामाजिक वास्तविकता को कई प्रकार से स्पष्ट किया गया है। टोटेमवाद के साथ अनेक टबू पाये गये ह। फ्रायड के अनुसार, टबू विकृत मस्तिष्क की उपज ह। विकृत मस्तिष्क की अवस्था मानसिक गठन की वह अवस्था है जो विसयुज (Ambivalent) होती है जिसमें विरोधी कार्यों के करने की प्रवृत्ति होती है। यह अवस्था मानसिक सघर्ष की अवस्था है और व्यक्ति पर पडने वाले समाज के दबावों से उत्पन्न होती है। यह अवस्था सार्वभौमिक है और इसके साथ साथ टैबू भी। टोटेम के साथ जो टबू पाये जाते ह, फ्रायड के अनुसार उनकी उत्पत्ति आडिपस कम्पलेक्स (Oedipus Complex) की विसयुज मानसिक अवस्था से होती है। रेडक्लिफ ब्राउन के अनुसार, टबू और टोटेम का सम्बन्ध प्रतीकों से है, जिनका उद्देश्य समाज की एकता को प्रोत्साहन देना है। टबू वह सामाजिक यन्त्र है जिससे समाज की अहार्यें सुरक्षित रहती ह और समाज को अतिजीविता मिलती रहती है।

साथ-साथ अनेक जादुई विश्वासा का क्षीण होना यह सिद्ध करता है कि जादू प्रौद्योगिकी और विनान के बाद की नहीं पहले की चीज है। आधिदविक म विश्वास और उससे प्ररित कमकाण्ड आदिवासी समाज म एक ओर, धम के स्तर पर पहुचते हैं और दूसरी थार, जादू के स्तर पर। हाँ यह आवश्यक है कि आदिवासी के आधिदविक विश्वासो और कमकाण्डो म जादू का अधिक पुट रहता है यद्यपि यह नही कहा जा सकता कि आदिवासी के आधिदविक सम्बन्धी विश्वास और कमकाण्ड नितान्त जादुई हाते है। इसीलिये आदिवासी धम को स्पष्ट करने के लिये मानव शास्त्री 'जादुई धार्मिक विश्वास और कमकाण्ड' की अभिव्यक्ति का प्रयाग करते हैं। प्रतिष्ठित धर्मों और आदिवासी धर्मों मे एक आधारभूत अन्तर है। प्रतिष्ठित धम निराकार या सरकार ईश्वरवादिता धमविद्या के द्वारा धार्मिक सुयुक्तिकरण और दशन चच सगठन और पारलौकिकता की ओर अधिक झुके हुए हैं जबकि आदिवासी धम देववादिता प्रमवादिता टबुओ, मानावाद और जादुई कमकाण्ड की ओर। प्रतिष्ठित धर्मों म बुद्धिवाद अनीश्वरवादी और इहलौकिक है। आदिवासी धम इसकारण न तो हिन्दुत्व की धम की धारणा म बँधता है न मजहब की ओर न रिलीजन की। वास्तविकता ता यह है कि धम सावभौमिक है और मानव सस्कृति तथा समाज का अग है किन्तु धम न ता एकेश्वरवादिता म निहित है न देववादिता म न प्रेतवादिता म न आत्मावादिता मे, न चच सगठन म न किसी विशेष पूजा पद्धति या पद्धतियो मे न पुरोहितवादिता (Priesthood) म न धार्मिक सिद्धान्तो (Religious Dogmas) में और न धम ग्रन्थो म, यद्यपि विभिन्न सास्कृतिक परिस्थितियो म य सभी तत्व एकसाथ या अलग अलग धम के आधार अवश्य है[1]। धम, मानव मस्तिष्क की उपज है क्योकि मानवेतर स्तर पर धम नही पाया जाता है। धम समाज-सस्कृति सकुल का एक आधार होने के कारण मानव और पर्यावरण के बीच हाने वाले समायोजन का एक माध्यम है। पर्यावरण के साथ समायाजन की आवश्यकता ने धम और जादू को साथ साथ जन्म दिया है। धम के साथ जादू का प्रभाव कही कम है और कही ज्यादा।

समाज और सस्कृति के माध्यम से मानव ने पर्यावरण के साथ जो समायोजन किया है, उसका उद्देश्य है पहले सुरक्षा और फिर सुरक्षा के द्वारा अतिजीविता प्राप्त करना। विनान और प्रौद्योगिकी के विकास के बावजद भी मानव जीवन पूर्णरूपेण सुरक्षित नही है। जहाँ विज्ञान और प्रौद्योगिकी जितने अविकसित हैं वहा जीवन उतना ही असुरक्षित है। भावात्मक सुरक्षा मानव की एक सतत आवश्यकता है। मानव जीवन ही ऐसा है कि ज्ञान विज्ञान के विकास क बावजूद भी जीवन के अनेक

---

1 हूबल, ई० ए० मन इन दि प्रिमिटिव वल्ड पृष्ठ 40

पहलू रहस्य में लिप्त हैं। जन्म, किशोरावस्था, विवाह बीमारी (विशेषत वह बीमारी जिसका इलाज न हो) और मृत्यु ऐसे अवसर हैं जो व्यक्ति के जीवन में भावात्मक संकट (Emotional Crisis) प्रस्तुत करते है। खाद्य की कमी अकाल, अतिवृष्टि, ऋतु परिवर्तन और महामारियां तथा युद्ध सामूहिक संकट (Communal Crisis) उत्पन्न करते हैं। संकट की ये परिस्थितियां एक ओर, भावात्मक असुरक्षा की भावना को प्रोत्साहित करती हैं और, दूसरी ओर, अनिश्चितता की भावना को। ये संकट मानव जीवन के सामाजिक-सांस्कृतिक जीवन का एक अंग हैं जिनसे भावात्मक त्राण पाने के लिये मनुष्य ने आधिदैविक का आश्रय लिया है। आधिदैविक में विश्वास ने जिन कर्मकाण्डों (Rites) को जन्म दिया है उन्हीं पर धर्म भी आधारित है और जादू भी जिनकी अभिव्यक्ति एक ओर, संस्कृति में होती है और, दूसरी ओर, समाज में।

आधिदैविक में विश्वास और उससे भावात्मक सम्पर्क स्थापित करने की प्रवृत्ति तथा दोनों से प्रेरित कर्मकाण्ड (Rites) धार्मिक वृत्ति के मूल के रूप में सर्वत्र पाये जाते हैं यद्यपि उनकी सामाजिक सांस्कृतिक अभिव्यक्ति सर्वत्र समान नहीं है। इसी वृत्ति ने, हिंदुत्व में नैतिवादी ईश्वरवाद पर आधारित धर्म की धारणा का रूप लिया है और इस्लाम तथा ईसाइयत में वैयक्तिक ईश्वरवादी संघीय संगठन का। मानव की इसी वृत्ति ने आदिवासी धर्मों को जन्म दिया है। धार्मिक वृत्ति, आधिदैविक में लिप्त होने के कारण, रहस्यवादिता, भावात्मकता तथा पारलौकिकता से ओतप्रोत रहती है। भावात्मक सुरक्षा पाने के लिये, आधिदैविक से सम्पर्क स्थापित करने की वृत्ति जहाँ प्रार्थना का रूप लेकर पूजा, भजन कीर्तन के रूप में अवतरित होती है वहाँ धर्म का अभ्युदय होता है, और जहां यह वृत्ति आधिदैविक को मानव नियन्त्रण में लाने की प्रवृत्ति का रूप लेती है वहां जादू का अभ्युदय होता है। धर्म और जादू एक ही स्रोत से उत्पन्न दो ऐसे प्रमेय हैं जो बहुत कुछ समान भी है और भिन्न भी और इसकारण, उनमें, विशेषत आदिवासी सांस्कृतिक स्तर पर, स्पष्ट विभाजन रेखा खींचना कठिन हो जाता है। आदिवासी स्तर पर दोनों एक दूसरे के पूरक है।

जादू और धर्म दोनों आधिदैविक में विश्वास और उसमें उत्पन्न कर्मकाण्ड पर आधारित हैं। दोनों में आधिदैविक के आश्रय से, मनुष्य को भावात्मक सुरक्षा प्रदान करने का प्रयास है। दोनों में कल्प (Ritual) का मुख्य स्थान है। दोनों इस संसार के रहस्य को समझने के माध्यम हैं, अत, दोनों एक ही बौद्धिक मनोवृत्ति से उत्पन्न होते है। आधिदैविकता में लिप्त तथा कल्पों द्वारा अभिव्यक्त होने के कारण, प्रार्थना, मन्त्र धूप, दीप, नवेद्य के साथ दोनों मनुष्य के लिये संकेतग्राह्यता (Suggestibility) का जो वातावरण उपस्थित करते हैं उसमें, मानव में, आधिदैविक के प्रति सम्मोहन और भी प्रखर हो उठता है, जिसमें उसकी भावात्मक सुरक्षा

की भावना का बल मिलता है। दोनों में, मनुष्य प्रत्यक्षतः आधिदैविक के सम्पर्क में नहीं आता है। धर्म में, पुजारी मानव तथा आधिदैविक के बीच मध्यस्थ बनता है और जादू में ओझा, तान्त्रिक और शमन (Shaman)। दोनों का उद्देश्य एक ही है और दोनों परम्परा से बँधे रहते हैं। दोनों मानव समायोजन के साधन हैं।

फ्रेजर ने कहा है कि जादू प्रकृति के प्रक्रमों पर प्रभावपूर्ण अधिकार पाने की बलवती तथा सक्रिय अभिलाषा का एक परिणाम है। मन्त्रों (Spells) द्वारा आधिभौतिक पर नियन्त्रण पाने का प्रयास इस अभिलाषा की पूर्ति का एक साधन है। तान्त्रिक शमन (Shaman) और ओझा का यह विश्वास रहता है कि एक निश्चित परिस्थिति में आधिदैविक शक्ति उसके नियन्त्रण में रहती है और उसका फार्मूला मनोवांछित फल देगा ही वास्तव में सदैव ऐसा नहीं होता है क्योंकि कभी कभी जादू असफल भी हो जाता है। धर्म के पीछे प्रार्थना की मनोवृत्ति है मानव की असहायता की भावना है और आधिदैविक के आवाहन का प्रयास है। धर्म का आधार प्रदान करने वाली वाली मनोवृत्ति प्रार्थनावादी है जबकि जादू को आधार प्रदान करने वाली मनोवृत्ति प्रार्थनावादी क्योंकि जादू में यह विश्वास रहता है कि मानव आधिदैविक की सहायता में अपनी इच्छाओं और आवश्यकताओं की पूर्ति कर सकता है। जादू में मानव-क्षमता पर आवश्यकता से अधिक जोर है और धर्म में मानव की असहायता, निर्बलता, विनम्रता और भाग्यवादिता पर। इसीलिए, यह कहा गया है कि जहाँ मन्त्र प्रार्थना में बदल जाता है जादू का स्थान धर्म ले लेता है।

जादू का आधार है प्रच्छन्न शक्ति (Hidden Force) और धर्म का देवता, भूत और प्राकृतिक शक्तियाँ। पिडिंगटन के अनुसार एक या एक से अधिक आधिदैविक भूतों में विश्वास, चर्च या सहधर्मी संगठन और समाज द्वारा मान्य पूजाविधि धर्म से सम्बन्धित है और वैयक्तिकता प्रच्छन्नता आधिदैविक भूतों के माध्यम से प्रत्यक्ष परिणाम लाने का प्रयास तथा दुर्भावनात्मक होने के कारण जादू को मिलने वाली सामाजिक भर्त्सना, जादू की विशेषताएं हैं। दुरखीम ने भी वैयक्तिकता प्रच्छन्नता दुर्भावना असामाजिकता और आधिदैविक को नियन्त्रित तथा तुष्ट रखने के प्रयास (Propitiation) को जादू के गुण माना है और सामूहिकता प्रार्थना और कल्याणकारी भावना को धर्म के गुण। धर्म सामायिक समष्टिवादिता को प्रोत्साहित करता है और जादू वैयक्तिकता को। इसी कारण जादू का कोई मंदिर नहीं है। लगभग धार्मिक सभा और धार्मिक परिषद जैसे समष्टिवादी सामूहन जादू में नहीं होते हैं। दुरखीम का यह मत है कि जादू हर हालत में वैयक्तिक दुर्भावना प्रेरित तथा असामाजिक होता है सांस्कृतिक प्रमाणों की कसौटी पर खरा नहीं उतरता है। हाँ यह अवश्य है कि, धर्म की अपेक्षा जादू में वैयक्तिकता असामूहिकता और दुर्भावना का अधिक पुट होता है। मलिनॉस्की ने दो अनुष्ठानों की व्यतिरेकी तुलना करके धर्म और जादू के अन्तर को स्पष्ट करने का प्रयास किया है। उनमें से एक है

बच्चे के जन्म का अनुष्ठान। बच्चे के जन्म का समारोह धर्म में आता है, क्योंकि वह अपने में ही सीमित है। वह अपना साध्य भी है साधन भी। किन्तु इलाज का अनुष्ठान एक साधन है, एक साध्य नहीं। किन्तु यह मान्यता कि धार्मिक अनुष्ठान साध्य भी हैं और साधन भी मान्य नहीं है क्योंकि धार्मिक अनुष्ठानों के भी अन्ततः गहरा उद्देश्य होते हैं। धार्मिक अनुष्ठानों का भी कुछ न कुछ उद्देश्य रहता है, जो कहीं स्पष्ट है और कहीं प्रच्छन्न।

न तो प्रार्थना ही हर दशा में सफल होती है और न जादुई कर्मकाण्ड। फिर भी धर्म और जादू में लोगों का विश्वास बना रहता है, क्योंकि दोनों उपयोगितावादी आस्था (Pragmatic Faith) पर आधारित हैं और उपयोगितावादी कसौटी (Pragmatic Test) पर खरे उतरते हैं। धर्म में ईश्वर की अनुकम्पा की धारणा मनुष्य को मानसिक सबल प्रदान करती है। धर्म की उपयोगितावादी कसौटी यही है कि प्रार्थना द्वारा ईश्वर की अनुकम्पा के मिलने के विचार से, संकटकाल की स्थिति में, मानव का भावात्मक सन्तुलन प्रोत्साहित होता है। यही कारण है कि सभी धर्मों में ईश्वर और देवताओं की अलौकिकता दया और कष्ट में पड़े मानवों की सहायता करने की गाथाएं मिलती हैं। इन गाथाओं से, जिन्हें अंग्रेजी में माइथालोजी (Mythalogy पौराणिक कथा) कहा गया है, ईश्वर, तथा देवताओं के स्वरूप, उनके अलौकिक गुणों, उनकी पूजा करने के उपाय और उनकी अनुकम्पा से मिलने वाले लाभों का प्रतिपादन किया जाता है। सत्यनारायण व्रत में सुनाई जाने वाली सत्यनारायण की कथा अजामिल, गणिका, प्रह्लाद तथा गज इत्यादि के तरने की कथाएँ इसका प्रमाण हैं। सत्यनारायण की कथा में सत्यनारायण की कथा नहीं है किन्तु उन लोगों की कथा है जिन्हें सत्यनारायण की अनुकम्पा प्राप्त करने का फल मिला।

पौराणिक कथाओं में धर्म, धार्मिक विश्वासों कर्मकाण्डों और कल्पना का, समाज के आदर्शों के अनुसार समुचितकरण निहित रहता है जिससे व्यक्ति में धर्म के प्रति मानसिक आस्था विकसित होती है। किन्तु पौराणिक कथाएँ धर्म को ही नहीं जादू का भी सबल प्रदान करती है। यदि धर्म का आधार है ईश्वर की अनुकम्पा में विश्वास तो जादू का आधार है जादुई कर्मकाण्डों और संयोग में विश्वास। उदाहरणार्थ, पानी बरसाने वाले अनुष्ठानों के करने में कभी पानी बरसता है और कभी नहीं बरसता है। बहुधा होता यह है कि जादू की असफलताएँ तो भुला दी जाती हैं लेकिन उसकी संयोगिक सफलताओं का बढ़ा चढ़ाकर वर्णन किया जाता है जिससे जादू के प्रति आस्था बनी रहती है। प्रार्थना के असफल होने पर, कर्मों को दोष दिया जाता है किन्तु, जादुई कर्मकाण्ड के असफल होने पर, इस मान्यता को कि सम्भवतः कर्मकाण्ड ही ठीक नहीं हुए हैं। टेबुओं के द्वारा कर्मकाण्डों को करने पर जो कैद लगती है उससे कोई न कोई बात ऐसी अवश्य निकल आती है जिससे

कमकाण्डा के करने म भूल की सम्भावना का प्रोत्साहन मिलता है। पालीनसिया और मेलानसिया म जादूगर (तान्त्रिक Shamen) एक कुशल कारीगर भी होता है जिसस वहा जादुई कमकाण्डा को प्रतिष्ठा मिलती है। जादू और जादुई कमकाण्ड अवास्तविक हैं किन्तु उनकी अवास्तविकता समाज म प्रचलित कल्पनाओ द्वारा ढकी रहती है। उदाहरणाथ जब जादू असफल होता है तो यह माना जाता है कि जादू की असफलता का कारण कमकाण्डा का ठीक स न किया जाना है या किसी दवी शक्ति का प्रभाव है जो मानव की समझ क बाहर है, या किसी और भी अधिक शक्तिशाली तान्त्रिक द्वारा उत्पन्न किय व्यवधान के फलस्वरूप है।

पिछले पष्ठो म धम जादू और विज्ञान की जो व्याख्या की गई है उसमे एक ओर, यह स्पष्ट हुआ है कि आदिवासी धम जादू मिश्रित है और दूसरी ओर, यह कि धम और जादू से मिलकर जो सामाजिक सास्कृतिक सकुल बनता है उसके प्रधान तत्व क्या हैं। आधिदविक की कल्पना और उसम विश्वास टबू और टोटेम ओझइती (Shamanism) और पौरोहित्यवाद (Priest craft), कल्प और अनुष्ठान (Ritual Ceremony) पूजापद्धति (या) (Cults) और पौराणिक कथाय जादू धम सकुल के मुख्य तत्व है।

धम और जादू के आधार

आधिदविक की कल्पना और उसम विश्वास की अभिव्यक्ति दो रूपो म होती है—एक, देवी देवताओ तथा भूत प्रेतो के रूप म और दूसरी मानावाद के रूप म। ईश्वर दवी दवता और भूत प्रेत अधिदविक की मानव के रूप म कल्पनाय है। अत उन्ह आधिदविक आत्मायें कहा जा सकता है। आदिवासी का आधिदविक आत्माओ मे विश्वास, बील्स एण्ड हायजर के अनुसार एनिमिज्म (Animism) है। आधिदविक आत्माओ क ससार म कई प्रकार की आत्मायें शामिल हैं—एक वह आत्माए जो कभी इस पथ्वी पर थी (भूत प्रत) दूसरी व जो आधिदविक के रूप म प्रारम्भ स ही विद्यमान है जिनका निवास पड तालाब और पहाड जसे प्राकृतिक प्रमया शास्त्र पर या नाव जसे प्राकृतिक पदार्थों मे या अदृश्य रूप स सम्पूण ब्रह्माण्ड या उसके एक भाग म हो सकता है।

आधिदविक आत्माओ को तीन श्रेणिया म बाँटा जा सकता है। पहली श्रेणी मे देवतुल्य वे आधिदविक आत्माएँ आती हैं जो ससार की जनक और नियन्त्रक समझी जाती हैं और आधिदविक आत्माओ के ससार म सर्वोपरि मानी जाती हैं। दूसरी श्रेणी म वे आत्माएँ आती हैं, जो पहली श्रेणी की आत्माओ स निम्न मानी जाती है और जिनम स कुछ मानव के लिए कल्याणकारी होती हैं कुछ अनिष्टकारी और कुछ तटस्थ। तीसरी श्रेणी म मतका की आत्मायें, (भूत प्रेत और चुडल) आती हैं जो, आधिदविक आत्माओ म निकृष्टतम होती हैं और जो मानव के अनिष्ट के लिए सदव उद्यत रहती हैं। पहली और दूसरी श्रेणी की आधिदविक आत्माओ म स्थानीय भिन्नता अधिक पायी जाती है। आधिदविक आत्माएँ न तो धम और जादू है और न व धम

का जन्म देती हैं। इन आत्माओं में विश्वास और उससे सम्बन्धित कर्मकाण्ड धर्म में आता है। धर्म की उत्पत्ति का कारण तो वह मनोवृत्ति और उसके कारण हैं, जिसके कारण इन आधिदैविक आत्माओं के प्रति प्रार्थना (Prayer) या उन्हें नियन्त्रित तथा निर्देशित करने (Propitiation) का भाव उत्पन्न होता है।

माना वाकुआ और बोंगा उस अलौकिक शक्ति के प्रतीक हैं जो आधिदैविक हैं किन्तु आधिदैविक आत्मा नहीं है वरन् आधिदैविक आत्माओं से अलग, ब्रह्माण्ड में उन्मुक्त प्रवाहित होती रहती है जो अवैयक्तिक है किन्तु व्यक्तियों और वस्तुओं में अभिव्यक्त होकर उन्हें असाधारण गुण प्रदान करती है। आदिवासी के लिए 'असाधारण' या तो आधिदैविक आत्माओं की देन है या माना की। जहां 'असाधारण' आधिदैविक आत्माओं की देन नहीं है वहां वह माना की देन है। वे सभी कार्य और व्यवहार मानव की सामान्य शक्ति तथा प्रकृति से परे हैं माना के प्रभावों से उत्पन्न माने जाते हैं। प्रत्येक वस्तु या व्यक्ति की अलग अलग माना भी हो सकती है। जो वस्तु या व्यक्ति जितना ही असाधारण है उसकी माना उतनी ही उच्च है। पालीनेसिया की सामाजिक प्रतिष्ठा-परम्परा (Social Status System) माना की धारणा पर आधारित है। वहाँ राजा की माना सर्वोच्च मानी जाती है, जिसके कारण, राजा सर्वसाधारण के सम्पर्क से दूर रहता है। जब माना या आधिदैविक आत्मा के प्रभाव के कारण, किसी पार्थिव पदार्थ के प्रति सम्मान और पूजा (Veneration) का भाव विकसित होता है तो वह फैटिश (Fetish) का रूप ले लेता है। मामूली या कीमती पत्थर, उपकरण (औजार) पेड़ पहाड़ और कला की पार्थिव कृतियाँ बहुधा फैटिश के रूप में पाई जाती हैं। फैटिश वही पदार्थ होता है जो कल्पों (Rituals) से सम्बन्धित होने के कारण, पवित्र और असाधारण गुण वाला माना जाता है।

टबू (Taboo) पौरोहित्य कर्म (Priestcraft) और ओझइती (Shamanism) धर्म और जादू के बाह्य रूप हैं। टैबू धर्म जादू और टोटेम के साथ लिप्त रहता हुआ सामाजिक सम्बन्धों को प्रभावित करता है। माना और टबू का, जैसा कि पालीनेसिया के सांस्कृतिक उदाहरणों से स्पष्ट है, घनिष्ठ सम्बन्ध रहता है। पालीनेशिया में उच्चतर माना वाले व्यक्ति का अंग और उसकी वस्तुओं का छूना, निम्नतर माना वाले व्यक्ति के लिए टैबू है। पौरोहित्य कर्म (Priastcraft) और ओझइती (Shamanism) आधिदैविक के प्रति व्यवहार करने तथा उसके सम्पर्क में आने के दो तरीके हैं। पौरोहित्यकर्म धार्मिक कर्मकाण्ड की विशेषता है और ओझइती जादुई कर्मकाण्ड की। पुरोहित और ओझा मानव तथा आधिदैविक के बीच की कड़ी है। आदिवासी समाज में दोनों संस्थागत महत्त्व के, एक पहलू विशेष के, अधिष्ठाता होते हैं। पुजारी का सम्बन्ध प्रार्थना से होता है और ओझा या तान्त्रिक का आधिदैविक पर नियन्त्रण पाने से। ओझा को आदिवासी समाज में भविष्यद्रष्टा माना जाता है। हिन्दुत्व के दृष्टिकोण से, पुरोहित निगम परम्परा का कर्मकाण्डी कहा जा सकता

है और ओझा या तान्त्रिक वाममार्गी परम्परा का।

कल्प (Ritual), अनुष्ठान (Ceremony), पूजा पद्धतियां (Cults) और पौराणिक कथायें (Mythology) धर्म और जादू के क्रियात्मक पक्ष हैं। आधिदैविक से सम्बन्धित तथा एक पूर्वनिर्धारित और निश्चित ढंग से की जाने वाली धार्मिक या जादुई क्रिया कल्प है। एक समय में किये जाने वाले अनेक अन्तःसम्बन्धित कल्पों से एक अनुष्ठान बनता है। जिसे अंग्रेजी में सेरेमनी (Ceremony) कहा जाता है, उसमें अनुष्ठान और संस्कार दोनों आते हैं। शिव की पूजा में 'आरती' केवल एक कल्प है लेकिन शिवलिंग का स्नान दूध और बेल्पत्र का अर्पण, भोग और आचमन इत्यादि कई कल्पों से मिलकर शिव-पूजा का अनुष्ठान बनता है। विवाह एक संस्कार है किन्तु कन्यादान एक कल्प (Ritual)। कल्प तथा अनुष्ठान संस्कार दो श्रेणियों में आते हैं—एक श्रेणी में जन्म नामकरण वयःसंधि (Puberty) विवाह बीमारी और मृत्यु से सम्बन्धित कल्प तथा अनुष्ठान आते हैं और दूसरी में उन संकटों से सम्बन्धित कल्प और अनुष्ठान आते हैं जो सारे समुदाय को प्रभावित करते हैं। पूर्वजपूजा, मृतकों की पूजा, प्रकृतिपूजा फेटिशवाद (Fetishism) और देवी देवताओं की पूजा, पूजा पद्धति के वे सामान्य रूप हैं जो आदिवासी समाजों में आमतौर से मिलते हैं। पौराणिक कथाएँ व काल्पनिक कथायें हैं जो पात्रों और घटनाओं द्वारा, जादुई तथा धार्मिक विश्वासों, कल्पों अनुष्ठानों और पूजापद्धतियों के औचित्य का प्रतिपादन करती हैं। भारत का सारा पौराणिक साहित्य विभिन्न देवी देवताओं, उनकी उत्पत्ति, महिमा और उनसे सम्बन्धित पूजा पद्धति तथा उसकी महत्ता का प्रतिपादन करता है।

धर्म और जादू दोनों आधिदैविक से सम्बन्धित है किन्तु वे आधिदैविक नहीं है। दोनों का क्रियात्मक पक्ष संस्कृति में है और वैयक्तिक तथा सामूहिक पक्ष समाज में दुरखेम पहले समाजशास्त्री थे जिन्होंने इस बात पर जोर दिया कि धर्म और जादू मूलतः सामाजिक वास्तविकताएँ हैं यद्यपि जादू की अपेक्षा धर्म अधिक सामाजिक है क्योंकि धर्म समष्टिवादिता को प्रोत्साहित करता है। धार्मिक विश्वास, दुरखेम के अनुसार उन्हीं सामाजिक परिस्थितियों में सम्बन्धित होते हैं जहां, व्यक्ति के स्थान पर समूह की महत्ता अधिक होती है। त्यौहार मनाना इसका एक उदाहरण है। इन परिस्थितियों में धर्म, समूह के परमोत्कृष्ट तथा सर्वशक्तिशाली रूप को प्रस्तुत करता है। धर्म व्यक्ति पर समष्टि का भौतिक और नैतिक प्रभुता का प्रतीक है। जादू दुरखेम के अनुसार व्यक्ति पर समष्टि की नैतिक और भौतिक प्रभुता का प्रतिपादन नहीं करता है। इसकारण वह असामाजिक है। समष्टिवादिता को प्रोत्साहित करने के कारण, धर्म पवित्र है और व्यक्तिवादिता को प्रोत्साहित करने के कारण जादू अपवित्र है।

धर्म समष्टिवादिता और सामूहिक मन की ही अभिव्यक्ति है। दुरखेम ने इस

मत से लोग सहमत नहीं हैं। फिर भी दुरखेम के मत के प्रभाव से, धर्म और जादू को उनकी सामाजिक महत्ताओं के दृष्टिकोण से स्पष्ट करने की ओर कदम अवश्य उठे हैं। रेडक्लिफ ब्राउन के अनुसार, धर्म और जादू के द्वारा व्यक्ति को उन सामाजिक आदर्शों का मानने के लिए बाध्य होना पड़ता है जो समाज की अतिजीविता के लिए आवश्यक है। आधिदैविक नियन्त्रण और दंड की धारणा और धार्मिक तथा जादुई क्रियाओं सम्बन्धी सामाजिक मान्यताएँ, व्यक्ति को धार्मिक तथा जादुई विश्वास और प्रथाओं के अनुसार कार्य करने के लिए बाध्य करती है। धार्मिक तथा जादुई क्रियाएँ सम्पूर्ण सामाजिक क्रिया का एक अंग है। सम्पूर्ण सामाजिक क्रिया का कार्य है समाज को अतिजीवी बनाना। जादुई तथा धार्मिक क्रियाएं इसी सम्पूर्ण सामाजिक क्रिया का अपना योगदान प्रदान करती हैं। मलिनास्की के अनुसार, धर्म और जादू का सम्बन्ध मानव की उन भावात्मक अवस्थाओं से है जहाँ भावी अनिष्ट की आशंका होती है। धर्म और जादू के द्वारा, भावी आशंका का डर दूर होता है और मनुष्य, आशंकापूर्ण मानसिक परिस्थितियों में, मानसिक तनाव से बच जाता है। मलिनास्की के मत में धर्म और जादू भावात्मक सुरक्षा की आवश्यकता का पूर्ण करते हैं और रेडक्लिफ ब्राउन के मत में, सामाजिक अतिजीविता की आवश्यकता को। दोनों मतों में विरोध सा जान पड़ता है यद्यपि उनमें विरोध नहीं है। धर्म और जादू व्यक्ति और समूह को मानसिक सुरक्षा भी प्रदान करते हैं और सामाजिक संरचना को अतिजीविता भी। उदाहरणार्थ जब चेचक का प्रकोप होने पर अवध के गाँवों के लोग, देवी को प्रसन्न करने के लिए सामूहिक अनुष्ठान का आयोजन करते हैं तो उसमें विभिन्न जातियों के लोग विभिन्न भूमिकाओं में अपना योग देते है। माली देवी के सेवक के रूप में पूजा का सामान और चन्दा इकट्ठा करता है और ब्राह्मण अनुष्ठान का सम्पादन करता है। यहाँ यदि, एक ओर, जाति प्रथा के कार्यात्मक पहलू का तत्व आता है तो, दूसरी ओर मानसिक सुरक्षा प्राप्ति का भी[1]।

भारत के आदिवासी धर्म

भारत के आदिवासी धर्मों का वास्तविक रूप क्या है, इस पर मतभेद रहा है। अंग्रेजी राज्य काल में, जनगणना के लेखकों ने आदिवासियों को हिन्दुओं से अलग एक सामाजिक इकाई मानकर आदिवासी धर्म को हिन्दुत्व से भिन्न माना और उसे एनिमिज्म (Animism) की संज्ञा दी। आदिवासी धर्म को एनिमिस्टिक (Animistic) या सचेतनावादी कहने का यह अर्थ होता है कि उसमें केवल आधिदैविक आत्माओं की पूजा और जादुई कर्मकाण्ड के अलावा और कुछ नहीं है। यह अवश्य है कि भारत के आदिवासियों का धर्म एनिमिज्म की ओर कुछ अधिक झुका हुआ है

---

1 विशेष अध्ययन के लिए देखिये एल्विन कृत 'दि रिलीजन आफ सावराज' और एम० एन० श्रीनिवास कृत 'दि रिलीजन एंड सोसायटी'।

किन्तु न तो आदिवासी धर्म कोरी एनिमिज्म है और न केवल आदिवासी ही एनिमिस्टिक (Animistic) हैं। एक विकसित दर्शन के साथ साथ, हिन्दुओं में भी एनिमिज्म (Animism) के प्रभाव पाये जाते हैं। आदिवासी और हिन्दू दोनों पूर्वजों और मृतकों की पूजा करते हैं। कोरवा गणजाति के लोगों में ईश्वर की अस्पष्ट धारणा पाई जाती है। शिव को हिन्दू भी पूजते हैं और भील भी। हिन्दू और मुसलमान भी जादू टोने में विश्वास करते हैं और आदिवासी भी। हटन ने हिन्दुत्व और आदिवासी धर्म को अलग-अलग मानते हुए भी, इस बात पर जोर दिया है कि चूंकि दोनों का विभिन्न स्तरों पर विभिन्न मात्राओं में सम्मिश्रण हुआ है इसलिए, दोनों में स्पष्ट विभाजन रेखा खींचना कठिन है। आदिवासी धर्मों में, हटन के अनुसार, उस विषय वस्तु का बाहुल्य है जिसके आधार पर उत्तरवैदिक हिन्दुत्व का निर्माण हुआ है और जो आज भी हिन्दुत्व के बाहर एक ऐसी अतिरिक्त विषय वस्तु है जिसका हिन्दुत्व के मंदिर में निर्माण होना बाकी है। दूसरे शब्दों में हिन्दुत्व में आदिवासी धर्म के तत्व है और आदिवासी धर्म में हिन्दुत्व के किन्तु फिर भी आदिवासी धर्म अधिकतर हिन्दुत्व के बाहर हैं और अभी उन पर हिन्दुत्व की मुहर नहीं लगी है।

एल्विन के अध्ययनों में इस बात पर जोर है कि आदिवासी धर्मों और हिन्दुत्व में अन्तर करना निरर्थक है क्योंकि आदिवासी और हिन्दू संस्कृतियों में इतना सम्पर्क और संस्कृतिकरण हुआ है कि जहां निम्नस्तर के हिन्दू आदिवासी लगते हैं वहां गोंड, भील और रांची के आस पास के आदिवासी वस्तुतः हिन्दूकृत आदिवासी। एल्विन के अनुसार आदिवासी सदैव एक दो अधिक देवताओं की पूजा करने के लिए तत्पर रहता है बशर्ते कि वैसा करने से उसे कुछ पार्थिव या सामाजिक लाभ हो। सामाजिक लाभ की लालसा ने ही आदिवासियों को हिन्दुत्व की ओर आकर्षित किया है। बुद्धवादी आन्दोलन में यदि वैदिक धर्म के विरुद्ध प्रतिक्रिया थी तो उसमें आदिवासियों के हिन्दूकरण का प्रच्छन्न प्रयास भी। आदिवासी हिन्दू सम्पर्क में यदि कुछ आदिवासी देवताओं का अपकर्ष हुआ है तो कुछ का उत्कर्ष भी। हिन्दुत्व में आगम निगम का विमर्श और समन्वय हिन्दू आदिवासी के ऐतिहासिक सम्पर्क की ही देन है। घुरे ने एल्विन और हटन के मत को दूसरे दृष्टिकोण से प्रतिपादित किया है। जब हिन्दुत्व और आदिवासी धर्मों में अन्तर नहीं किया जा सकता है और आदिवासी धर्मों में वे तत्व विद्यमान हैं जिनसे उत्तरवैदिक हिन्दुत्व का निर्माण हुआ है तो जैसा कि घुरे का मत है, आदिवासी हिन्दुओं से भिन्न नहीं हैं। आदिवासी वस्तुतः पिछड़े हुए हिन्दू हैं।

घुरे के मत में बहुत कुछ सार्थकता है क्योंकि आदिवासी उत्तरोत्तर हिन्दूकरण की ओर बढ़ते रहे हैं। यह प्रक्रिया आज भी चल रही है यद्यपि योरोप और ईसाइयत के प्रभाव ने इस आदिवासी पुनरुन्नयन की ओर मोड़ दिया है। साथ ही साथ इसे भी अस्वीकार नहीं किया जा सकता कि पार्थिव या सामाजिक लाभ के लिए, एक-दो अधिक देवताओं को स्वीकार करने के लिए आतुर आदिवासी ने केवल हिन्दू देवताओं

चो ही नहीं अपनाया है । जहा आदिवासी ने इस्लाम को अपनाया है, वहा वह अपनी विशिष्टता खो बठा है । इसाइयत को अपनाकर, इसाइयत, योरोपीयता तथा आदिवासी धार्मिक विश्वास और प्रथाओ से आदिवासी ने एक विशिष्ट धम सकुल (Religious Complex) का निर्माण किया है, जिसके कारण भारत का इसाई आदिवासी न तो योरोपीय अथ मे इसाई है और न आदिवासी अथ मे आदिवासी । वतमान भारत म, कही आदिवासी अद्ध हिन्दू है, कही अद्ध इसाई और कही कोरा आदिवासी, जिनम धार्मिक चेतना ही नहीं है । इसीलिए, घुरे के मत को एक प्रकार का उग्र, अतिवादी राष्ट्रीय मत भी कहा गया है । वतमान आदिवासी धम हिन्दुत्व, इसाइयत और आदिवासी धम के सीमान्त धम (Marginal Religions) हैं अर्थात आदिवासी धम, एक ओर, हिन्दुत्व और इसाइयत की सीमा पर है और, दूसरी ओर, अपने प्राचीन धार्मिक तथा जादुई विश्वास और प्रथाओ की सीमा पर। इस मिश्रण के जो परिणाम हैं, उनका आगे वणन किया जायेगा क्योकि आज सीमान्तता (Marginalities) की समस्या आदिवासी धम की ही नहीं, वरन सम्पूण आदिवासी सस्कृति की समस्या है ।

बीसवाँ अध्याय

आदिवासीत्व, हिन्दुत्व और योरोपीय सभ्यता

आदिवासीत्व (Tribalism) प्रतीक है उन सामाजिक सांस्कृतिक विशेषताओं का जिनका आदिवासी समाज संस्कृति संकुल के अंतर्गत विश्लेषण किया गया है। समाजशास्त्रीय दृष्टिकोण से, गणजाति संगठन प्रणाली आदिवासीत्व का मूलाधार है। गणजाति जैसा कि पहले लिखा जा चुका है एक ऐसा सामाजिक समूह है जिसके सदस्य एक क्षेत्र विशेष में फैले रहते हैं मुख्यतया अन्तर्विवाही होते हैं, जिनमें आर्थिक कार्यों का विशेषीकरण नहीं होता है क्योंकि वे जीवन के लिए आवश्यक सभी प्रकार की उपलब्ध आर्थिक क्रियाओं को करते हैं, जिनकी एक सामान्य भाषा या बोली होती है जिसके कारण उन्हें एक विशिष्ट सामाजिक समूह का रूप मिलता है जो पंचायतों में संगठित होते हैं, जिनके मुखिया अधिकतर वंशानुगत होते हैं जो अपनी विशिष्ट परम्पराओं, प्रथाओं और विश्वासों (जैसे विवाह परिवार कल्यान, टोटेम और धर्म तथा जादू सम्बन्धी विश्वास और प्रथाओं) का पालन करते हैं, जो बाह्य प्रथाओं और विचारों के सात्मीकरण के प्रति अनुदार और अपने समूह की सांस्कृतिक तथा क्षेत्रीय एकता तथा सजातिता के प्रति सजग रहते हैं। गणजाति का

आन्तरिक सगठन उसे विशिष्टता प्रदान करता है। गणजाति सगठन म तीन प्रकार के समूह पाए जाते है—परिवार, क्लान, म्वायटी, फ्रेट्री और युवाह जैसे समूह जो सामाजिक जीवन का आधार हैं, काय विभाजन के आधार पर नर नारियो का आर्थिक समूहो मे विभाजन जा आर्थिक जीवन का आधार है, पचायत-समूहों मे विभाजन जा आदिवासी समाज के आदश नियमो के नियमन का माध्यम है और, धार्मिक तथा जादुई कृत्यो को सम्पन्न करने वाले समूह जिनसे आधिदविक के माध्यम स व्यक्ति और समाज का जीवन नियमित होता है।

गणजाति का एक आत्मनिभर तथा धमसापक्ष राजनतिक सामाजिक सगठन म सगठित हाना, आदिवासीत्व की प्रधान विशेषता है। हिन्दू समाज म जातिया एक-दूसरे पर निभर हाती हैं किन्तु गणजातियाँ बहुधा परस्पर स्वतन्त्र हाती हैं। छोटा नागपुर के पास रहने वाली मुण्डा और ओराआ गणजातिया इसका उदाहरण हैं। आदिवासी सामाजिक सगठन म गणजाति का आन्तरिक सगठन महत्वपूर्ण होता है। आन्तरिक सगठन के दष्टिकोण से, गणजातियो म अन्तर पाया जाता है क्योकि गणजाति की सामाजिक इकाइया (Social Units) की सगठन व्यवस्था सभी गण-जातियो म एक सी नहीं है। टी० सी० दास का मत है कि विवाह का नियमन, गणजाति की इकाइयो (परिवार, क्लान और टोटेम इत्यादि) का प्रधान काय है। गणजाति की सामाजिक इकाइयां अन्तर्ववाहिकी और बहिर्ववाहिकी का नियमन करती हैं। अत, इस दष्टिकोण से, गणजातियो को सात श्रेणियो मे रक्खा जा सकता है।

अन्तर्विवाही स्थानीय समूहों तथा बहिर्विवाही परिवारो म बटी अन्तर्विवाही गणजाति पहली श्रेणी म बहिर्विवाही म्वायटियो (Moieties) तथा परिवारो मे बटी अन्तर्विवाही गणजाति तीसरी श्रेणी मे, बहिर्विवाही फ्रटरियो (Phratries) क्लानो और परिवारो मे बटी अन्तर्विवाही गणजाति चौथी श्रणी मे, बहिर्विवाही म्वायटियो (Moieties), फ्रटरियो (Phratries), क्लानो और परिवारो मे बटी अन्तर्विवाही गणजाति पाचवी श्रेणी मे, बहिर्विवाही उपगणजातियो (Sub Tribes), क्लानो और परिवारा मे बटी अन्तर्विवाही गणजाति छठी श्रेणी म और अन्तर्विवाही क्लानो तथा बहिर्विवाही उपक्लाना और परिवारो मे बटी अन्तर्विवाही गणजाति सातवी श्रणी म आती है। यह वर्गीकरण अन्तिम नही है। वास्तव म, कोई भी वर्गीकरण न तो अन्तिम है और न हो सकता है क्योंकि प्रत्येक वर्गीकरण वर्गीकृत प्रमया की किसी न किसी एक आधारभूत विशेषता पर आधारित रहता है। जब किसी दूसरी विशेषता के आधार पर वर्गीकरण किया जाता है, वहा वर्गीकरण उस वर्गीकरण से बदल जाता है जा किसी अन्य विशेषता पर आधारित है[1]।

---

1 मजूमदार और मदन वही पष्ठ 237 241

२

हिन्दुत्व और आदिवासीत्व

गणजातियों के सामाजिक सगठन और सांस्कृतिक प्रथाओं पर बाह्य संस्कृतियों के निश्चित प्रमाण मिलते हैं। जो गणजाति बाह्य संस्कृति या संस्कृतियों के सम्पर्क में जितना अधिक आई है उस पर बाह्य संस्कृति का उतना ही अधिक प्रभाव देखने मे मिलता है। जो गणजाति जितना अलग रही है उस पर उतना ही कम। किन्तु यह सोचना कि किसी गणजाति की शुद्ध आदिवासी संस्कृति है, सिद्धान्ततः गलत है, क्योंकि संस्कृति सम्पर्क संस्कृति प्रसरण (Diffission of Culture) के द्वारा भी होता है। बदलती हुई ऐतिहासिक परिस्थितियों के साथ संस्कृति सम्पर्क के प्रवाह की मात्रा भी घटती बढ़ती रही है। भारत में अंग्रेजी राज की स्थापना के बाद से यातायात के साधनों के बढ़ने के साथ साथ संस्कृति सम्पर्क की तीव्रता और भी बढ़ गई है। द्वितीय महायुद्ध में जब भारत बर्मा की सीमा युद्ध स्थल बनी और रांची पूर्वी कमान का प्रधान कार्यालय बना तो आदिवासी और भी सभ्यता के सम्पर्क में आये। लेकिन यहां विचारणीय यह है कि हिन्दुत्व बुद्धवाद इस्लाम, मध्यकालीन भारत के समाज सुधार आन्दोलन, ईसाइयत और योरोपीय सभ्यता के प्रभावों के बाद भी आदिवासीत्व की विशिष्टतायें बनी रही और अनेक विशिष्टताएँ विकसित होकर आदिवासी संस्कृति का विशिष्ट अंग बन गई। प्रत्येक नागा गाँव में एक ही पेशा के करने वाले विशेषज्ञ पाये गये हैं। प्रत्येक गाँव के व्यक्ति अपने पेशे की वैसे ही रक्षा करते है जैसे एक ट्रेड यूनियन के सदस्य। दूसरी ओर आदिवासी संस्कृति की अनेक विशिष्टतायें भारतीय संस्कृति के ताने बाने में बुन गई हैं।

हिन्दुत्व का अभ्युदय ही आर्य द्राविड और आदिवासी संस्कृति के उत्तरोत्तर समन्वय से हुआ है। आदिवासी द्राविड सम्पर्क में अनेक गणजातियों का द्राविडीकरण और अनेक द्राविड-समूहों का आदिवासीकरण हुआ। संस्कृति सम्पर्क की इस प्रागैतिहासिक प्रक्रिया के बारे में हमारा ज्ञान अल्प ही है। प्रारम्भिक संस्कृत साहित्य में 'दास', 'दस्यु', 'निषाद' और 'किरात' जैसे शब्दों का प्रयोग मिलता है जो, विद्वानों के अनुसार, आर्यों द्वारा यहां के आदिवासियों के लिए प्रयुक्त किए गए हैं और जो आर्य तथा आदिवासी संस्कृतियों के सम्पर्क के प्रमाण हैं। भारत के प्रांगण में आर्यों का ज्यों-ज्यों प्रसार हुआ, यह सम्पर्क और भी बढ़ता गया। इस सम्पर्क में आर्यों ने आदिवासियों से अपने को अलग भी रखा उन्हें भर्त्सना की नजर से भी देखा किन्तु उनसे साथ सम्पर्क भी स्थापित किया। इरावती कर्वे का ऐसा मत है कि आदिवासियों के शासक वर्ग के लोग आर्यों के शासक वर्ग के सम्पर्क में आये और सामान्य वर्ग के लोग सामान्य वर्ग के सम्पर्क में। आदिवासी आर्य संस्कृति सम्पर्क में गणजातियों में वर्गगत विभेदीकरण उत्पन्न हुआ। अनुलोम और प्रति-

लोम विवाहों के सिद्धान्त इस बात का प्रमाण हैं कि आर्य और आदिवासी सम्पर्क किस प्रकार का था। इस सम्पर्क में सम्पर्क की अभिलाषा भी है और अलग रहने की भावना भी। आर्यों में ब्राह्मण क्षत्रिय और वैश्य तीन वर्णों का ही वर्णन मिलता है। शूद्र वर्ण में मुख्यतया यहाँ के आदिवासी ही आये। विद्वानों का मत है कि, मूलत, शूद्र किसी एक गणजाति का नाम था जो कालान्तर में उन लोगों का प्रतीक बना जो, आर्य वर्ण-व्यवस्था में कृषक और सेवक के रूप में, विभिन्न गणजातीय इकाइयों के रूप में संगठित हुए।

वर्ण संरचना में ज्यों-ज्यों गणजातियों का समावेश हुआ त्यों त्यों शूद्रों और चाण्डालों की संख्या बढ़ी और वैश्यों का स्तर ऊँचा हुआ। बौद्धकाल में दो मुख्य विकास मिलते हैं—एक वैश्यों की उठती हुई सामाजिक प्रतिष्ठा और, दूसरी, आदिवासी समाज के उत्तरोत्तर विघटन से बढ़ती हुई विक्षिप्तता। इसीलिये एक मत यह भी है कि बुद्धवाद, वस्तुत उत्तरोत्तर विशृंखलित आदिवासी समाज की वैदिक परम्पराओं के प्रति प्रतिक्रिया है। यही कारण है कि बुद्धवाद से वैदिक परम्पराओं के प्रति प्रतिक्रिया भी है और उनके नवनिर्वचन का प्रयास भी ताकि वर्ण व्यवस्था में संगठित सर्वहारा वर्ग को अधिक समाहृत स्थान प्राप्त हो सके। मजूमदार ने लिखा है कि पाली साहित्य से यह प्रमाण मिलता है कि अशोक ने लंका को जो अभियान भेजा था उसमें टोटेमवादी समूहों के लोग भी थे[1]। बुद्धवादी परम्परा मध्यकालीन भारत के सुधारवादी निर्गुण सम्प्रदायों के रूप में प्रस्फुटित हुई। तुलसीदास ने जहाँ वैदिक परम्परा के प्रतिरोपण का प्रयास किया, वहाँ कबीर-पंथियों, सतनामियों, दादू पंथियों, और रविदासपंथियों ने वैदिक परम्परा के उस सुधारवादी पक्ष पर जोर दिया, जिस पर बुद्ध पहले ही जोर दे चुके थे। इस सन्दर्भ में ध्यान देने योग्य ऐतिहासिक तथ्य यह है कि इन सुधारवादी पंथों का प्रभाव और प्रसार समाज के उस स्तर में हुआ जहाँ जाति और गणजाति का अन्तर नगण्य था। यही प्रदेश इन पंथों के प्रभाव में आये जहाँ आदिवासी जनसंख्या का बाहुल्य रहा है—जैसे पूर्वी उत्तरप्रदेश बिहार और मध्यप्रदेश। वैदिक परम्पराओं के प्रसार की यह प्रक्रिया वर्तमान समय तक चलती रही है जिसे योरोप और ईसाइयत के प्रभाव से एक दूसरी गति और दिशा मिली है। श्रीनिवास के शब्दों में इस प्रक्रिया को सँस्कृताइजेशन (Sanskritization) कहा जा सकता है।

द्राविड, आदिवासी और आर्य संस्कृतियों के समन्वय से हिन्दुत्व का अभ्युदय हुआ जिसके सामाजिक-सांस्कृतिक आधार बने नीतिवाद बहुदेववाद, स्याद्वाद धर्म की धारणा, पुरुषार्थ वर्ण और जातिव्यवस्था तथा कर्मसिद्धान्त। इन आधारों से मिलकर जो समाज संस्कृति-संकुल बनता है वही सँस्कृताइजेशन का मूल है। सँस्कृताइजेशन के आधार पर, हिन्दुत्व एक उत्तरोत्तर विकसित सामाजिक सांस्कृतिक प्रक्रिया

1 मजूमदार, डी० एन० मट्रिक्स आफ इण्डियन कल्चर पृष्ठ 132

ही है, जिसके कारण वैदिक परम्पराओं के विरुद्ध उठने वाले आन्दोलन भी हिन्दुत्व समा गये और विभिन्न गणजातियों को समय समय पर, हिन्दुत्व में स्थान मिलता रहा है। संस्कृताइजशन हिन्दुत्व में सामाजिक चलिष्णुता (Social Mobility) का एक प्रधान माध्यम रहा है जिसके कारण आदिवासी समूह हिन्दुत्व में आने के लिये प्रेरित रहे हैं और जिसके कारण हिन्दुत्व एक दुर्धर सामाजिक शक्ति रहा है। हिन्दुत्व के इस उत्तरोत्तर विकास के लिए, संस्कृताइजशन शब्द का प्रयोग सबसे पहले विनयकुमार सरकार ने किया था किन्तु उन्होंने संस्कृताइजशन और हिन्दूकरण (Hinduization) में अन्तर नहीं किया है[1]। किन्तु जैसा कि भील जैसी गणजातियों के उदाहरण से स्पष्ट है, यह आवश्यक नहीं कि संस्कृताइजेशन हिन्दूकरण में ही बदल जाय। संस्कृताइजेशन एक प्रक्रिया है जिसके माध्यम से विभिन्न जातियाँ और गणजातियाँ अपना सामाजिक स्तर उठाने का प्रयास करती रही हैं और आदिवासी हिन्दुत्व के तत्वों को आत्मसात करते रहे हैं। संस्कृताइजशन हिन्दूकरण में बदल भी सकता है और नहीं भी।

संस्कृताइजशन हिन्दुत्व और आदिवासीत्व के सम्पर्क का माध्यम रहा है। हिन्दुत्व और आदिवासीत्व संस्कृताइजशन के दो किनारे रहे हैं। संस्कृताइजेशन भारतीय सांस्कृतिक संतति (Cultural Continuum) का मुख्य आधार है। संस्कृताइजेशन के दृष्टिकोण से, मजूमदार ने भारत की गणजातियों को तीन श्रेणियों में बाँटा है। पहली श्रेणी में वे गणजातियाँ आती हैं जो हिन्दू प्रभावों के बाहर हैं, और सही अर्थों में आदिवासी हैं, यद्यपि यह नहीं कहा जा सकता कि उनकी संस्कृति बाह्य संस्कृति या संस्कृतियों के प्रभाव से बिल्कुल ही नहीं आई है। दूसरी श्रेणी में वे गणजातियाँ आती हैं जिन्होंने हिन्दू प्रभावों और विश्वासों को अपनाकर सांस्कृतिक प्रगति भी की है और हिन्दुओं के सम्पर्क में भी आई हैं किन्तु जो अनुसूचित जातियों में नहीं गिनी जाती है। तीसरी श्रेणी में वे गणजातियाँ आती हैं जो हिन्दू हो गई हैं किन्तु उच्च जातियों के सामाजिक सम्पर्क में नहीं हैं यद्यपि उनमें और अनुसूचित जातियों में अन्तर करना कठिन है[2]। किन्तु एक चौथी श्रेणी भी है जो, आदिवासी के स्तर से उठकर, हिन्दू समाज में मिल गई है। यह वह स्तर है जहाँ गणजाति ने जाति का, विशेषत अनुसूचित जाति का, रूप ले लिया है और हिन्दुत्व के मूल तत्वों को भी अपना लिया है किन्तु, आदिवासीत्व से भी उसका सम्पर्क बना हुआ है। यहाँ धर्म और जादू एक में मिल हैं और दोनों का रूप वैदिक न होकर टाटमवादी है। यह वह स्तर है जहाँ जातियाँ नहीं गणजातीय जातियाँ (Tribe Castes) पाई जाती

1 विनयकुमार सरकार कृत दि पाजिटिव बैकग्राउण्ड आफ हिन्दू साशियालाजी
2 मजूमदार, डी० एन० मैट्रिक्स आफ इण्डियन कल्चर पृष्ठ 131

है[1]। गणजातीय जाति वह अवस्था है जहाँ गणजाति का धीरे धीरे जाति में रूपान्तरण होता है। इसी रूपान्तरण में हिन्दुत्व और आदिवासित्व मिलते हैं जिसके स्पष्टीकरण के लिए, जाति और गणजाति के जाति में रूपान्तरित होने के कारणों का विश्लेषण अपेक्षित है।

गणजाति से जाति

जाति और गणजाति में अन्तर भी है और घनिष्ठ समानता भी। गणजाति कुछ परिवारों का बना एक सामाजिक समूह है और जाति भी। गणजाति की सदस्यता जन्मजात होती है और जाति की भी। गणजाति एक ऐसा समूह है जो एक क्षेत्रविशेष में फैला रहता है, जैसे भील झाबुआ, अरावली की पहाड़ियों और खानदेश में मिलकर बसने वाले त्रिकोण के बीच में फैले हुए हैं। एक क्षेत्रविशेष में फैला होना जाति की आम विशेषता नहीं है। फिर भी, ऐसी जातियाँ मिलती हैं जो एक क्षेत्रविशेष में ही केन्द्रित हैं। जाट पूर्वी उत्तरप्रदेश में नहीं पाये जाते हैं। उनका केन्द्रीकरण पश्चिमी उत्तर-प्रदेश में लेकर पंजाब के बीच के प्रदेश में है। एक ही स्तर की जातियों का केन्द्रीकरण भी भिन्न भिन्न क्षेत्रों में पाया जाता है। जसवार चमार पूर्वी उत्तरप्रदेश से लेकर बिहार तक केन्द्रित हैं लखनवी कुरील लखनऊ के आस पास और जटिया-चमार ग्वालियर से लेकर पश्चिमी उत्तरप्रदेश तक। ये सभी चमार जातियाँ अन्त-विवाही हैं। गणजाति एक अन्तर्विवाही समूह है और जाति भी। यदि गणजाति में यहाँ वहाँ अन्तर्वैवाहिकी की अवहेलना होती है तो जाति में भी। गणजाति क्लानों में विभक्त रहती है और जाति गोत्रों में। क्लान और गोत्र दोनों बहिर्विवाही समूह हैं और रक्त सम्बन्धों के सिद्धान्त पर आधारित हैं। क्लानों का नामकरण टोटेम के आधार पर होता है और गोत्रों का वैदिक ऋषियों के आधार पर। किन्तु, निम्नस्तर की अनेक जातियों में पाये जाने वाले गोत्र, टोटमवादी होने के कारण वस्तुतः क्लान समूह हैं। हट्टन ने लिखा है कि गोत्र वैदिक ऋषियों के नाम पर भी आधारित होते हैं, टोटमों पर भी और स्थानवाची संज्ञाओं पर भी। सगोत्र विवाह का निषेध सर्वमान्य नियम अवश्य है किन्तु उसके अपवाद भी हैं। बिहार के शाकद्वीपी ब्राह्मणों में सगोत्र विवाह का नहीं, सपुर' विवाह का निषेध है। गणजाति एक सामाजिक राजनैतिक संगठन है और जाति भी। जाति और गण-जाति दोनों में पंचायत व्यवस्था पाई जाती है और दोनों में पंचायत का एक ही

1 गणजातियों से हिन्दू समाज में वह अतिरिक्त सामग्री (Surplus Material) आती रही है जिससे अनुसूचित जातियों की संख्या बढ़ती रही है। सभी अनुसूचित जातियाँ अस्पृश्य नहीं हैं। अनुसूचित जातियों में छूत और अछूत दोनों हैं। गणजातियों और अनुसूचित जातियों में सांस्कृतिक अन्तर है न कि प्रजातिक (मजूमदार वही)। ईसाइयत के प्रभाव से इस प्रक्रिया में परिवर्तन आया है।

रूप है। हाँ यह अवश्य है कि निम्नस्तर की जातियों में पंचायत प्रणाली अधिक सुदृढ़ है। गणजाति अपने क्षेत्र की मूलनिवासी ही है ऐसा नहीं है। उड़ीसा के खाँडा का यह विश्वास है कि व कोंडमल के मूलनिवासी नहीं हैं। गणजाति के युवागृह जैसे संगठन जाति में नहीं पाये जाते हैं। गणजातियों में जादूमिश्रित धार्मिक प्रथाएँ अधिक पाई जाती है और जातियों में ब्राह्मणवादी कर्मकाण्ड पर आधारित प्रथाएँ। किन्तु यह भी अन्तर विशेष नहीं है। राँची के आस पास के आदिवासी ब्राह्मणवादी कर्मकाण्ड का प्रयोग करने लगे हैं।

मैक्स वेबर[1] के अनुसार, जो समूह सही अर्थों में जाति है उसका कोई निश्चित क्षेत्र नहीं है जबकि गणजाति का तबतक एक निश्चित क्षेत्र रहता है जबतक कि उसके सदस्यों की स्थिति परिया (Pariah अछूत बहिष्कृत) लोगों की नहीं हो जाती है। परिया स्तर पर आने पर गणजाति जाति के स्तर पर आती है क्योंकि तभी उसे हिन्दू समाज में स्थान मिलता है। दूसरे शब्दों में, यह कहा जा सकता है कि जब गणजाति की सामाजिक-आर्थिक आत्मनिर्भरता समाप्त होती है, तो वह गणजाति न रहकर जाति हो जाती है क्योंकि गणजाति के सदस्य, जैसा कि पहले लिखा जा चुका है अपने आर्थिक विकास के स्तर के अनुसार, उन सभी सम्भव आर्थिक क्रियाओं को अपनाते हैं जो जीवन निर्वाह के लिये आवश्यक हैं। साधारणतः एक गणजाति का आर्थिक जीवन किसी दूसरी गणजाति पर निर्भर नहीं करता है जबकि एक जाति का आर्थिक जीवन दूसरी जाति पर निर्भर करता है। एक जाति के सदस्यों का साधारणतया एक ही पेशा होना है और यदि एक जाति के लोग कई धन्धों को करते भी हैं तो उनका क्षेत्र सीमित होता है। भंगी ब्राह्मण का पेशा नहीं अपनाता है और न ब्राह्मण भंगी का। प्रत्येक जाति के आर्थिक कार्यों का क्षेत्र भी सीमित होता है। किन्तु एक गणजाति के सदस्य कृषक भी हो सकते है आखेटक भी, पुरोहित भी और शिल्पी भी।

जाति एक बड़े समाज (हिन्दू समाज) का एक खण्ड होती है और अपने ही जैसे अन्य खण्डों पर निर्भर करती है। प्रत्येक गणजाति अपने में एक आत्मनिर्भर समाज समुदाय होती है। प्रत्येक जाति की, परम्परानुसार एक निश्चित सामाजिक प्रतिष्ठा होती है और विभिन्न जातियों के सामाजिक सम्बन्ध सामाजिक प्रतिष्ठा उच्चोच्चपरम्परा (Hieranchy of Social Status) पर आधारित होते हैं। एक जाति के सदस्यों की एक ही सामाजिक प्रतिष्ठा होती है जबकि, एक गणजाति में विभिन्न सामाजिक प्रतिष्ठाओं वाले लोग पाये जाते हैं। जाति संगठन सामाजिक प्रतिष्ठा और पेशे पर आधारित सामाजिक समूह होना है, जो गणजाति नहीं है। सामाजिक आदर्श नियमों (Social Norms) के दृष्टिकोण से, जाति और गणजाति

---

1 वेबर मैक्स दि रिलीजन आफ इंडिया पृष्ठ 31 101, 102, 109, 126

में अन्तर होता है। वेबर के अनुसार, अन्तर्वैवाहिकी जाति की एक निश्चित विशेषता है न कि गणजाति की। किन्तु, मजूमदार इससे सहमत नहीं है। उनके अनुसार, भारत में, अन्तर्वैवाहिकी गणजाति की वस ही एक सामान्य विशेषता है जैसे जाति की। वेबर के अनुसार कुछ दशाओं में गणजाति में अन्तर्वैवाहिकी अवश्य पाई जाती है किन्तु वह सम्पूर्ण गणजाति पर लागू नहीं होती है। वेबर का इशारा सम्भवत इस तथ्य की ओर है कि गणजाति के अभिजात वर्ग के लोग गणजाति के बाहर विवाह कर लेते है। लेकिन यह सर्वमान्य नियम का अपवाद है। गणजाति में अन्तर्विवाह अपवाद नहीं, एक सर्वमान्य नियम है। गणजाति में टोटम समूह, ग्राम समुदाय तथा वलान बहिर्वैवाहिकी साथ साथ पाये जाते हैं। इस सामाजिक आदर्श नियम जाति संगठन में नहीं है। खाद्य अखाद्य तथा छूत अछूत और खान पान के नियम जाति से सम्बन्धित है गणजाति से नहीं।

वेबर के अनुसार गणजाति मूलत और सामान्यत एक राजनैतिक इकाई है। जाति किसी भी दशा में राजनैतिक संघ नहीं है। यदि जाति संघ का रूप लेती भी है तो वह व्यापारी और शिल्पी गिल्ड (Merchant & Craft Guild) का रूप लेती है न कि राजनैतिक संघ का। जाति तो उस सामाजिक समुदाय का अंग है जिसके राजनैतिक संगठन में जाति स्वयं संगठित रहती है। जाति के लिये न तो आवश्यक है और न जाति कोई ऐसी नियमित समिति है जो केवल एक ही राजनैतिक संघ के अन्तर्गत हो। जाति एक ऐसा सामाजिक समूह है जो राजनैतिक संघ की सीमाओं के या तो इस पार पड़ता है या उस पार। किन्तु, यहाँ पर विचारणीय यह है कि आज न तो गणजाति एक आत्मनिर्भर राजनैतिक संघ है और न जाति। साथ ही साथ, यह भी विचारणीय है कि भारत में जाति और गणजाति दोनों की राजनैतिक सत्ताएँ सम्राट के अधीन रही है यद्यपि एक सीमा तक दोनों को स्वतन्त्रता रही है। आज भी न्यायालयों में जाति और गणजाति के निर्णयों पर ध्यान दिया जाता है यद्यपि न्यायालयों को जाति और गणजाति की पंचायतों के बदलने का अधिकार है। और फिर न तो कोई जाति एक ही पंचायत के अन्तर्गत संगठित रहती है और न एक गणजाति ही। जाति पंचायत की संस्था निम्नस्तर की जातियों में पाई जाती है जिनका सांस्कृतिक संगठन गणजाति के अधिक समीप है। राजनैतिक संगठन के तत्व जाति और गणजाति दोनों में पाये जाते है किन्तु उनकी सांस्कृतिक सामाजिक अभिव्यक्ति अलग-अलग है।

उड़ीसा के खोंडों में किये गये अपने एक अध्ययन के आधार पर बेली[1] ने जाति और गणजाति के संगठनों में निहित राजनैतिक व्यवस्थाओं को इसप्रकार स्पष्ट किया है। गणजाति में पंचायत संगठन का आधार वलान है जो समानों सिद्धान्त

---

1 बेली एफ० जी० ट्राइब, कास्ट एण्ड नेशन पृष्ठ 263 65

पर संगठित है। अतः बेली के अनुसार सपिण्डी सम्बन्धी प्रणाली (Aganatic Kinship) पर आधारित खण्डात्मक (Segmentary) राजनैतिक प्रणाली गणजातीय है। सपिण्डी सम्बन्धी प्रणाली पर आधारित होने के कारण गणजातीय राजनैतिक प्रणाली खण्डात्मक होने के साथ साथ सिद्धान्ततः समतावादी हो जाती है। बेली के अनुसार जाति और गणजाति एक ही सतति (Continuum) के दो किनारे हैं जिसके एक किनारे पर राजनैतिक प्रणाली सपिण्डी खण्डात्मक और समतावादी है और दूसरे किनारे पर खण्डात्मक राजनैतिक सम्बन्ध पाये तो जाते हैं किन्तु सम्पूर्ण समाज के अनुपात में एक बहुत ही सीमित दायरे में जहा अधिकतर लोग समान नहीं पर आश्रिता की भूमिका से राजनैतिक सम्बन्ध स्थापित करते है। विधायन जिसकी विशेषता है वह राजनैतिक प्रणाली गणजातीय नहीं है। जाति प्रणाली आश्रितों (Dependents) को संगठित करने में सक्षम है जबकि गणजाति या तो लोगों को समान स्तर पर संगठित करती है या उन्हें छोड देती है।

राजनैतिक संगठन में जाति और गणजाति किस स्तर पर एक से मिलते हैं यह कहना कठिन है। हा एक समूह विशेष जाति है या गणजाति यह बेली के अनुसार इन आधारों पर निश्चित किया जा सकता है पहला गणजाति का अपने साधनों पर सीधा अधिकार रहता है दूसरा गणजाति को आर्थिक उत्पादन का लाभ किसी मध्यजन द्वारा नहीं मिलता है क्योंकि उनकी सामाजिक प्रतिष्ठा (Dependent Social Status) दूसरे पर आधारित नहीं है तीसरा अपने क्षेत्र में आदिवासियों की संख्या औरों की अपेक्षा अधिक होती है। बेली के अनुसार इन आधारों के बावजूद भी यदि किसी क्षेत्र में गणजाति के सदस्यों की संख्या वहाँ की जनसंख्या के अनुपात में बहुत कम है तो वह गणजाति गणजाति नहीं जाति है। जाति गणजाति और राष्ट्र तीन अलग अलग राजनैतिक श्रेणियां (Political Alignments) हैं। अपर्याप्त साधनों का वितरित करने तथा पाने के लिये संगठित होकर प्रतियोगिता करने के वे तीन अलग अलग तरीके हैं। व एक तीन क्षेत्र हैं जिनमें अलग अलग प्रकार के तीन समूह पाये जाते हैं। पहले गणजाति फिर जाति और फिर राष्ट्र का विकास हुआ है और इस राजनैतिक संगठन की वर्तमान गत्यात्मक प्रक्रिया में जाति और गणजाति का राजनैतिक अन्तर समाप्त हो रहा है। पहले की व्यवस्था में गणजाति का गन्तव्य जाति में था किन्तु आज गणजाति का गन्तव्य राष्ट्र में है।

अधिकतर जातियाँ हिन्दूकृत तथा आश्रित अभ्यागत गणजातियों के जाति में रूपान्तरित होने से विकसित हुई हैं। आश्रित अभ्यागत गणजाति वह गणजाति है जो राजनैतिक पराधीनता में आ जाती है जिसकी भूमि विजितों के हाथ में चली जाती है जिससे आर्थिक आत्मनिर्भरता समाप्त हो जाती है। और जो जीवन यापन के लिए विजिता या अपने अन्य पडोसियों पर निर्भर हो जाती है। यही वह अवस्था है जिसमें एक सम्पूर्ण गणजाति के सदस्य या एक गणजाति के एक स्थान के सदस्य

या तो सर्वहारा वर्ग में आ जाते हैं, या लगानी कृषक हो जाते हैं या किसी पेशे या शिल्प को अपनाते हैं। इस अवस्था में आने वाले गणजाति समूहों को वेबर ने परिया (Pariah) और आश्रित अभ्यागत (Guest People) की संज्ञा दी है। यही आश्रित-अभ्यागत जब एक पेशा विशेष अपने जीवन यापन का आधार बना लेते हैं (अर्थात जब उनमें आर्थिक विशेषीकरण आ जाता है) हिन्दू सामाजिक प्रतिष्ठा व्यवस्था में एक स्तर विशेष को प्राप्त कर लेते हैं, अपने आर्थिक जीवन यापन में अन्य अपने जन समूहों पर निर्भर हो जाते हैं और ब्राह्मणवादी कर्मकांड (Brahmanical Ritualism) को अपना लेते हैं, तो वे धीरे धीरे गणजाति से जाति में रूपान्तरित हो जाते हैं।

जब तक एक गणजाति अपने निवास-क्षेत्र से बँधी रहती है, अपनी आदिवासी संस्कृति के तत्वों को अपनाये रहती है, तब तक न तो वह ग्राम-समुदाय का अंग बनती है और न सामाजिक निर्योग्यताओं का शिकार बनती है। किन्तु, जहां एक गणजाति समूह या उसका कोई अंश, एक पेशा या औरों पर आर्थिक निर्भरता अपना कर, आदिवासी जीवन से हटता है, वहां वह, ग्राम सामाजिक अर्थव्यवस्था में मिल कर अनसूचित जातियों की श्रेणी में पहुँच जाता है और बहिष्कृत या अनुसूचित जातियां (Exterior or Scheduled Castes) की सामाजिक निर्योग्यताओं (Social Disabilities) का प्राप्य हो जाता है। यह पहले ही कहा जा चुका है कि सभी अनुसूचित जातियाँ अस्पृश्य नहीं हैं। अनुसूचित जातियों में अछूत भी हैं और शुद्ध भी। यह इस तथ्य का प्रमाण है कि जाति में रूपान्तरित होने पर, प्रत्येक गणजाति का एक ही स्तर नहीं मिलता है। वेबर के अनुसार, अन्य बातों के साथ साथ, हिन्दूकरण के समय जो गणजाति अपने क्षेत्र की निवासिनी और अपनी भूमि की अधिकारिणी रही है, उसे उस गणजाति की अपेक्षा, जो सर्वहारा वर्ग में आ गई है अधिक उच्च सामाजिक प्रतिष्ठा मिली है। कृषक जातियां (Agricultural Castes) की, अस्पृश्य या शिल्पी जातियों की अपेक्षा, उच्चतर सामाजिक प्रतिष्ठा इसका प्रमाण है। जिस गणजाति ने सेनानियों और योद्धाओं के रूप में हिन्दू समाज में प्रवेश किया उसे औरों की अपेक्षा उच्चतर सामाजिक प्रतिष्ठा प्राप्त होती रही है। अधिकतर राजपूत जातियां गणजाति के स्तर से आई हैं और उनको प्राप्त सामाजिक प्रतिष्ठा इस तथ्य की पुष्टि करती है। अपराधी गणजातियों का अभ्युदय इस आर्थिक प्रक्रिया का दूसरा परिणाम रहा है जिसके व्यापक परिणाम अंग्रेजी राज की स्थापना के बाद और भी प्रखर हो गए।

हिन्दू समाज में पाई जाने वाली जातियां मुख्यतया दो बड़ी बड़ी श्रेणियों में आती हैं एक, पेशे पर आधारित (Professional), जैसे ब्राह्मण, क्षत्रिय, वैश्य और शूद्र और, दूसरी गणजातीय जातियां (Tribe Castes) जिन्होंने ग्राम सामाजिक व्यवस्था में एक पेशे को तो अपना लिया है किन्तु हिन्दुत्व को अपनाते हुए भी, आदिवासीत्व

की ओर अधिक भुकी हुई है। ग्राम सामाजिक व्यवस्था म नट, कजर (यू० पी० और बिहार म) और बागडी तथा बरगुण्डा (मध्यप्रदेश म) इसके उदाहरण है। नट बहुधा गावा के किनारे पर रहते हैं पत्थर की वस्तुए (मुख्यतया चक्की सिल और बट्टा) बनाते हैं शहद निकालते है शिकार करते है, सिरकी व पाल बनाकर बचते है और पचायता म सगठित रहत है। किसी कुए बाग या मन्दिर के किनारे बठकर दूर स ब्राह्मण स सत्यनारायण की कथा सुन लते है और अपने विशिष्ट दवी दवताआ का भी पूजत है। उनके यहा दहेज नही बधू धन की प्रथा है। स्त्रिया म परदा नही है। कलाबाजी दिखाकर या नाच गाकर नट गाववाला का मनोरजन भी करते है और जहा उन्ह सुविधा मिलती है व खती भी करत है। व गाव वालो पर निभर करते है किन्तु गाववाल उनसे डरत है और दूर रहते हैं। उनकी अपनी अलग बोली भी है। नट एक अन्तर्विवाही समूह है। इसप्रकार नट जाति की श्रेणी म भी आते है और गणजाति की भी। नट एक गणजातीय गणजाति है।

जाति-व्यवस्था म गणजातीय जातिया की सख्या काफी ज्यादा है जिनकी विशेषताए इसप्रकार हैं। गणजातीय जातियो के नाम वश नामावलि से भिन्न होते हैं। एक स्तर की अनक उपजातियो का एक ही पूवज से अपनी उत्पत्ति मानना, उनके सामाजिक सगठन मे टोटमा का पाया जाना आदिवासी दवताआ म विश्वास बना रहना और ब्राह्मण के स्थान पर जाति के पुरोहित का उपयोग करना, गण-जातीय जातियो की मुख्य विशेषताए हैं। गणजातीय जातियो का प्रसार एक बडे क्षेत्र म रहता है। गणजातियो म अन्तर्विवाहिकी क नियम उतने कठोर नही होत हैं। उच्च जातिया की अपेक्षा गणजातीय जातियो म नारिया पर्दा प्रथा का कम अनुसरण करती हैं, आर्थिक जीवन म अधिक सक्रिय भाग लेती है और उनम विधवा पुनर्विवाह तथा तलाक मान्य होता है। वेबर के अनुसार जहाँ एक ही पेशे का करन वाली कई जातियो म अलग अलग गणजातीय नाम पाये जात हैं वहा गणजातीय जाति अधिक स्पष्टता स पहचानी जा सकती है। उत्तर भारत के विभिन्न क्षेत्रा म पायी जाने वाली अन्तर्विवाही चमार जातियाँ इसका उदाहरण हैं। अहीर सुनार और अहीर लोहार जसे अन्तर्विवाही समूह इसका दूसरा उदाहरण हैं। एसी गणजातिया, सभवत आर्थिक विशेषीकरण और सम्पत्ति तथा शिल्पकारिता से उत्पन्न होने वाली विभेदीकरण के कारण उत्पन्न हुई हैं। आर्थिक विशेषीकरण एक ही गणजाति म कई शिल्पी समूहा का जन्म दे सकता है या एक ही गणजाति का एक शिल्पी समूह का।

उच्चतम स्तर की जाति और गणजाति भारतीय सरचना क दो विभेदी किनारे हैं जिनके बीच म विभिन्न सामाजिक प्रतिष्ठाआ वाले अनेक अन्तर्विवाही समूह आत हैं जो या तो आदिवासी स्तर स जाति-सरचना म आये हैं या अन्तर्विवाह क नियमा को भग करने या जाति के नियमो की अवहेलना करने या काई नया पेशा अपनाने के कारण उच्च स्तर से अध पतित हुई हैं। गणजाति का जाति म रूपान्तरण

अत्यन्त प्राचीन काल से चलता चला आ रहा है। इस रूपान्तरण की कई संक्रमण-कालीन अवस्थाएँ मिलती हैं। कहीं गणजाति में हिन्दुत्व और जाति-संरचना की विशेषताओं का सात्मीकरण मिश्रित रूप में मिलता है और कहीं जब किसी गणजाति का कोई भाग ग्राम-व्यवस्था में कई जातियों का आश्रित-अन्तर्गत समूह बन जाती है तो वह जाति का रूप ले लेता है और कहीं प्रचार के द्वारा गणजाति के सदस्यों को हिन्दुत्व में धीरे धीरे सम्मिलित किया जाता है। हिन्दुत्व का प्रचार हिन्दू सम्राटों, ब्राह्मणों और गणजाति के अभिजात वर्ग द्वारा हुआ है।

मजूमदार और मदन[1] ने रिसले के आधार पर गणजाति के जाति में रूपांतरित होने की पाँच प्रक्रियाओं का वर्णन किया है। पहली गणजाति के समृद्ध और अभिजात वर्ग के लोग साधारणतया राजपूत जाति का रूप ग्रहण करके ब्राह्मण द्वारा अपनी वंशावली बनवा कर, हिन्दुत्व का ग्रहण करते हैं और हिन्दुत्व के प्रसार का माध्यम बन जाते हैं। प्राचीन भारत में शासक हिन्दूकरण का मुख्य प्रेरक रहा है। इतिहास में इस बात के अनेक प्रमाण मिलते हैं। गंगा के मैदान के पूर्वी भाग से लेकर दक्षिण में कुमारी अन्तरीप तक राजाओं ने ब्राह्मणों को जागीर देकर अपने यहाँ आमन्त्रित किया, ताकि उनकी सहायता से वे अपने राज्य का हिन्दू मान्यताओं के अनुसार संगठन कर सकें और वे ब्राह्मणों की सहायता से अपने को वैध शासक (Legitimate Ruler) घोषित कर सकें[2]। अठारहवीं शताब्दी में शिवाजी का क्षत्रिय घोषित किया जाना और उनके द्वारा हिन्दू राज्य की स्थापना का प्रयास इसका एक उदाहरण है। दूसरी गणजाति के सदस्यों का किसी हिन्दू पंथ या सम्प्रदाय में सम्मिलित होकर और अपना आदिवासी नाम त्याग कर एक हिन्दू जाति का रूप ग्रहण करना। तीसरी, किसी एक गणजाति या किसी एक गणजाति के एक बड़े समूह का हिन्दुत्व के विचारों और प्रथाओं को अपनाकर, एक जाति नाम ग्रहण करना। चौथी, बिना आदिवासी नाम का त्याग किये हुए, किसी एक गणजाति या उसके एक बड़े भाग का हिन्दुत्व को स्वीकार करना। पाँचवीं, किसी गणजाति के एक समृद्ध व्यक्ति का किसी जातिविशेष और एक गोत्र की संज्ञा ग्रहण करके, उस जाति में विवाह करना और उसके उदाहरण का अनुसरण करते हुए गणजाति के अन्य सदस्यों द्वारा वैसा ही करने, गणजाति में जाति की स्थापना करना।

जहाँ आदिवासी और हिन्दू सम्पर्क में आये हैं, वहाँ आदिवासी, हिन्दू प्रथाओं, कल्पों, विश्वासों, देवताओं और त्योहारों को अपनाकर, हिन्दूकरण की ओर अग्रसर हुए हैं। एक ओर, गणजातियाँ स्वयं हिन्दुत्व की ओर अग्रसर हुई हैं यद्यपि हिन्दूकरण के द्वारा जाति का रूप लेने पर, गणजाति का अनेक सामाजिक निर्योग्य-

1 मजूमदार एण्ड मदन; वही पृष्ठ 213-14

2 वेबर, मक्स। दि रिलीजन आफ इण्डिया पृष्ठ 23

तामो का सामना करना पडा है। यही नहीं, उन्हें गामांस भक्षण और मदिरा सेवन जैसी अनेक अपनी प्रथाओं को छोडना पडा है। दूसरी ओर हिन्दू सम्राट गणजातियों को पराजित करके, उन्हें हिन्दुत्व के प्रभाव में लाये है। उनका ध्यान सम्भवत राजनैतिक सत्ता के द्वारा राजस्व बढाने का स्वार्थ रहा होगा। तीसरी ओर, गणजाति के शासकों ने ब्राह्मणो की सहायता से राजपूत बनने की कोशिश की और वे उसमे सफल भी हुए। चौथी ओर ब्राह्मणो ने जहा एक ओर, गणजातियो के अभिजात वर्ग को राजपूत बनाने में सहायता दी वहा, दूसरी ओर, हिन्दू जाति व्यवस्था में स्थान पाने के लिए लालायित गणजातियो का, जाति का रूप ग्रहण करने में नेतृत्व किया। हिन्दू समाज मे यदि एक ओर उच्चस्तर के ब्राह्मण रहे हैं तो दूसरी ओर, निम्न स्तर के ब्राह्मण जो निम्नस्तर की जातियो के पुरोहित रहे हैं। वेबर का मत है कि आर्थिक स्वार्थ तथा अपनी सामाजिक प्रतिष्ठा को बनाये रखने के लिए, ब्राह्मणो ने गणजातियो का नेतृत्व किया। आज भी जो निम्न स्तर की जाति अपना सामाजिक स्तर उठाने के लिए लालायित है, वह ब्राह्मणो की सेवाएँ प्राप्त करने का प्रयास करती है और एम ब्राह्मण सदा उपलब्ध भी रहते हैं। इसी सन्दर्भ में दूसरा विचारणीय तथ्य यह है कि भारत के सभी ऐतिहासिक सुधारवादी आदोलनो ने वेदो से प्रेरणा ली है सभी ने जाति का विरोध किया है और वर्ण का प्रतिपादन किया है और जनवाद तथा बुद्धवाद को छोड कर लगभग सभी ब्राह्मणों ने चलाये हुए है तथा जातिविरोधी होकर भी वे जाति की सात्मीकरण की शक्ति के शिकार हो गए। जैनो मे जाति प्रथा इसका प्रमाण है।

ब्राह्मणो ने हिन्दुत्व का प्रसार दो रूपो में किया है। एक ओर उन्होंने आदिवासियो को अपनी सेवायें अर्पित की, उन्हें हिन्दू विश्वास और प्रथाओं से अवगत करा कर उनमे तथा हिन्दुत्व में सास्कृतिक समीपता को बढावा दिया और प्रत्येक गणजातीय समूह को पौराणिक प्रमाणो के आधार पर वर्ण जाति का रूप करार दिया। ब्राह्मणो ने इस विचारधारा का प्रचार किया कि प्रत्येक गणजाति पहले ही से जाति है और उसके प्रमाण उन्होंने पुराणो और महाभारत से ढूढ निकाले। यदि किसी गणजाति या जाति का स्तर निम्न भी था तो उन्होंने यह कहा कि अमुक समूह मूलत क्षत्रिय था और वैदिक कर्मकाड भूलने के कारण उसका अध पतन हुआ है उन्होंने उसे आत्मविश्वास भी बँधाया और भावी प्रगति की आशा भी, क्योंकि जिसका अध पतन वैदिक कर्मकाण्ड और ज्ञान की अवहेलना के कारण हुआ है वह उनको अपनाकर पुन अपनी सामाजिक प्रतिष्ठा को उठा सकता है। चॅवर पुराण में चमारो को मूलत चवरवंशी क्षत्रिय सिद्ध करना इस प्रक्रिया का एक उदाहरण है। दूसरी ओर, सुधारवादी आन्दोलनो के द्वारा ब्राह्मण ने जाति की भर्त्सना की, कर्मानुसार वर्ण को श्रेष्ठ माना और वैदिक परम्परा का इस ढग से निर्वचन किया कि वह व्यापक रूप से लागू की जा सके। दयानन्द द्वारा हिन्दू के स्थान पर 'आर्य' शब्द का

प्रयोग करना, आय का अंश 'श्रेष्ठ' करना और, ईसाई तथा इस्लाम के समान आर्य-धर्म की श्रेष्ठता प्रतिपादित करना इस प्रक्रिया का आधुनिकतम ऐतिहासिक प्रमाण है। इसप्रकार के आन्दोलनों से, जो हिन्दुत्व के निम्न स्तर पर आ चुके थे उन्हें एक नया उत्साह मिला और जो हिन्दुत्व की सीमा में थे, हिन्दुत्व में आकर एक वैध स्थान पाने के लिए प्रेरित हुए। मध्यकालीन भारत के भक्ति आंदोलनों के माध्यम से अनेक गणजातीय जातियां हिन्दुत्व में वैध स्थान पाने में सफल हुई हैं।

सुधारवादी आन्दोलनों ने जाति का विरोध किया है किन्तु वस्तुतः वे जाति के ही प्रसार में सहायक हुए हैं। प्रत्येक सुधारवादी आंदोलन में कई जातियों के लोग आकृष्ट हुए किन्तु उनमें से प्रत्येक जाति के लोग अपनी ही जाति विरोधी विचारों के कारण, एक अलग विशिष्ट समूह बन गए। उधर जैसाकि लिंगायत सम्प्रदाय का हाल हुआ है, सुधारवादी सम्प्रदाय ही कालांतर में एक जाति बन गया। चूंकि सुधार-वादी आंदोलन में सभी स्तर की जाति के लोग आते हैं इसकारण जैसा जैनों सिक्खों, लिंगायतों ब्रह्मसमाजियों और आर्यसमाजियों में हुआ सुधारवादी सम्प्रदाय जाति से मुक्त नहीं हो पाता है और सुधारवादी सम्प्रदाय में आने वाला प्रत्येक व्यक्ति अपनी जाति को नहीं छोड़ पाता है। इसका परिणाम यह होता है कि प्रत्येक सुधारवादी सम्प्रदाय में अंतर्विवाही जाति-समूह उत्पन्न हो जाते हैं। उदाहरणार्थ, आर्यसमाजी ब्राह्मण आर्यसमाजी चमार में नहीं मिल पाता है। क्योंकि उस मिलन से न तो चमार को निश्चित सामाजिक प्रतिष्ठा रह पाती है और न ब्राह्मण को। आर्यसमाजी चमार चमारों में एक विशिष्ट समूह बन जाते हैं और आर्यसमाजी ब्राह्मण ब्राह्मणों में। सिक्ख जाट, सिक्ख खत्री इत्यादि, कालांतर में अलग-अलग जातियां बन जाती हैं। जाति से बहिष्कृत व्यक्ति जाति से बहिष्कृत होता है न कि हिन्दुत्व से और पुनः जाति में वापस जा सकता है। जाति का सुयुक्तियुक्त रूप वर्ण है जिसने उन्हें संताप मिला है जो जाति विरोधी रहे हैं। इसप्रकार जाति एक स्वयंवर्धित सम्पदा रही है और उसके द्वारा हिन्दुत्व का प्रसार होता है। जाति के द्वारा विभिन्न समूहों को समाज में वैध स्थान मिलता रहा है और, अपनी इसी विशेषता के कारण जाति इतनी शक्तिशाली रही है कि इस्लाम और ईसाइयत भी इसके प्रभाव से न बच सके।

बिहार में पालामऊ तथा उत्तरप्रदेश में मिर्जापुर के खरवार जनेऊ धारण करते हैं और उच्चवर्णी होने का दावा करते हैं। दीनाजपुर रंगपुर जलपाइगुड़ी और कूचबिहार के पोलिया क्षत्रियवर्णी होने का दावा करते हैं और अपने को राज-वंशी कहते हैं। गोंड अपने को राजपूत मानते हैं। भील शिव की पूजा करते हैं। लगभग सभी गणजातियों में सुधारवादी आन्दोलन चले हैं जिनमें एकेश्वरवाद का प्रति-पादन किया गया है और मांस मदिरा के छोड़ने पर जोर दिया गया है। वर्तमान समय में, निम्न स्तर की जातियों में यह आन्दोलन काफी व्यापक है। लखनऊ के चमारों

ने संत रविदास का देवतु य मान लिया है उनके नाम पर एक मन्दिर की स्थापना भी की है लेकिन उसम विष्णु की मूर्ति को उच्चतम आसन प्राप्त है। सबसे बड़ी बात तो यह है कि इस बात पर संघर्ष भी हुआ कि रविदास की मूर्ति के साथ विष्णु की मूर्ति रखी जाय या नहीं और अन्त मे बहुमत इसी पक्ष म रहा कि रविदास के साथ विष्णु की मूर्ति रखी जाय और उसे उच्चतर आसन दिया जाय। इन विकासो को ब्राह्मणो की चालाकी मात्र नही कहा जा सकता है और न इसे ब्राह्मणो का प्रसार। वास्तविकता तो यह है कि जहाँ हिन्दुत्व एक विकासशील सचयी सांस्कृतिक प्रक्रिया रहा है वहा साथ ही साथ गणजाति और हिन्दुत्व की सीमा म स्थित गणजातीय जातिया हिन्दुत्व म आन के लिए प्रेरित रही हैं। ब्राह्मण तो इसक एक माध्यम मात्र रह हैं। ब्राह्मणो ने इस प्रक्रिया को सयुक्तिकृत किया है और उन्होने इस प्रयास मे, पौराणिक कथाओ के आधार पर यह प्रतिपादित किया है कि गणजाति और गणजातीय जाति दानो पहले ही स हिन्दुत्व का अग हैं और उन्हे हिन्दुत्व म स्थान मिल सकता है बशर्ते कि व ब्राह्मणवादी कर्माचार को अपना ल। जो प्रेरणा स्रोत पहले ही स विद्यमान है ब्राह्मण उसकी पूर्ति का एक माध्यम रह हैं।

तब प्रश्न उठता है कि गणजाति के जाति मे रूपान्तरित होने के प्रेरक कहा हैं? वेबर क मत म सामाजिक तथा राजनैतिक प्रभुता सम्पन्न वर्गों के अधिकारो को एक सुनिश्चित वधता प्रदान करने म प्रभुता सम्पन्न वर्गों म और पुरोहिताई के बीच सधि एक महत्वपूर्ण ऐतिहासिक प्रमेय है। भारत मे विशेषत हिन्दूकालीन भारत म ब्राह्मण पुरोहितो के रूप म इसी सन्धि के एक माध्यम रहे हैं। हिन्दुत्व ने जब एक सुनिश्चित धर्म का रूप ले लिया तब ब्राह्मणों के माध्यम म शासक वर्ग के अधिकारो को धार्मिक वैधता मिली। इसीकारण हिन्दू और आदिवासी शासकों ने, ब्राह्मणो क माध्यम स हिन्दूकरण के प्रसार के लिए प्रयत्न किया। किन्तु इसका दूसरा पक्ष भी है। ब्राह्मणो क माध्यम से हिन्दुत्व विभिन्न गणजातीय समूहो की सामाजिक प्रतिष्ठाओ आर्थिक भूमिकाओ तथा स्वार्थों की वैधता (Legitimation) का कारण भी बना। जाति पचायत के अन्तर्गत सगठित और ग्राम-आर्थिक व्यवस्था म एक विशेष आर्थिक भूमिका निभाते हुए जाति वस्तुत एक एक अन्तर्विवाही, और विस्तृत सम्बन्धी समूह (Extended Kingroup) क रूप म विकसित हुई, जिसका मूल रूप ट्रेड यूनियन का सा रहा है। जब गणजाति अपने क्षेत्र और अपनी आर्थिक आत्मनिर्भरता को त्याग कर जाति या गणजातीय जाति के रूप म हिन्दुत्व म प्रविष्ट करती है तो जहाँ उस बहिष्कृत जातियो की निर्योग्यताओ का शिकार होना पड़ता है वहाँ एक पेशे पर एकाधिकार तथा एक स्तर विशेष की सामाजिक प्रतिष्ठा मिलने क कारण उसकी सामाजिक प्रतिष्ठा और उसके आर्थिक एकाधिकार को धार्मिक वैधता भी मिलती है। यजमानी प्रथा जिसके द्वारा हर जाति के लोगो को अपने अपने पेशे क अनुसार कुछ निश्चित परिवारो की सेवा और उसके बदले में

आर्थिक लाभ लेने का अधिकार मिलता है से विभिन्न समूहों के आर्थिक स्वार्थ और भी वधिक तथा सुरक्षित हो जाते हैं। शिल्पी समूहों को, इसप्रकार की वधना स, और भी सुरक्षा मिली। इसप्रकार हिन्दुत्व मे निहित सात्मीकरण की क्षमता का कारण ब्राह्मण नहीं, वरन् हिन्दुत्व द्वारा सामाजिक प्रतिष्ठा और उसमे सम्वर्धित सम्भव आर्थिक लाभों को मिलने वाली धार्मिक वैधता (Religious Legitimation) है।

जाति और गणजाति दोनो जन्म पर आधारित समूह है। गणजाति आत्मनिर्भर है, पर जाति नहीं। जाति जन्म पर आधारित सामाजिक प्रतिष्ठा प्रणाली का एक अंग है। गणजाति के जाति में रूपान्तरित होने का अर्थ है गणजाति को जन्म पर आधारित सामाजिक प्रतिष्ठा प्रणाली मे, एक स्तर मिलना और, आर्थिक आत्मनिर्भरता के स्थान पर, अन्तर्निर्भरता और उसके साथ साथ आर्थिक विशेषाधिकारों का मिलना। इस रूपान्तरण मे, गणजाति की केवल एक विशेषता लुप्त होती है और वह है उसकी सामाजिक आर्थिक आत्मनिर्भरता। गणजाति जन्मजात की सदस्यता अन्तर्विवाहिकी तथा पंचायती सगठन ज्यों के त्यों बने रहते है और साथ ही साथ, उसके सामाजिक अस्तित्व को, एक मान्यता प्राप्त धर्म के आधार पर, वैधता भी मिलती है। *अत, गणजाति का जाति मे रूपान्तरण गणजाति का केवल आंशिक* रूपान्तरण है। जाति सरचना के माध्यम से, गणजाति को मिलने वाली प्रतिष्ठा वैध और जन्मजात है किन्तु अपरिवर्तनीय नहीं है क्योंकि हिन्दुत्व मे सिद्धान्तत सामाजिक प्रतिष्ठा का आधार जन्म नहीं, कर्म रहा है। कर्म को ब्राह्मणवादी कर्मकाण्ड और मान्यताओं पर आधारित करके, जब इस बात पर जोर दिया गया कि कर्म के आधार पर वर्ग-परिवर्तन करके सामाजिक प्रतिष्ठा की उच्चोच्च परम्परा मे उच्चतर स्तर प्राप्त किया जा सकता है तो एक ओर, हिन्दूकृत गणजातियो के लिए उत्तरोत्तर हिन्दूकरण के लिए मार्ग प्रशस्त किया गया और, दूसरी ओर, जाति व्यवस्था के निम्न स्तर पर आने वाली गणजातियो को भावी उद्धार की आशा प्रदान की गई। पारलौकिकता और मुक्ति की धारणाओं से यह आशा और भी बलवती हुई। जाति प्रथा के विरुद्ध उठने वाले सुधारवादी आन्दोलनो ने जब वर्ण सिद्धान्त का आश्रय लिया तब गणजातियो के उत्तरोत्तर हिन्दूकरण और सामाजिक चलिष्णुता का मार्ग और भी प्रशस्त हुआ और दबी हुई जातियो के लिए हिन्दुत्व मे उद्धार की जो आशा निहित थी, वह और भी बलवती हुई।

गणजातियो के लिए, हिन्दुत्व एक दोहरी प्रेरक शक्ति रहा है और, अपनी इसी दोहरी प्रेरणा शक्ति के कारण, हिन्दुत्व एक दुर्निवार सामाजिक सांस्कृतिक शक्ति रहा है। जनवाद और बुद्धवाद जसे उद्धारवादी धर्म एसी शक्ति न दे पाये। इसकारण आदिवासियो मे फलने के बावजूद भी वे हिन्दुत्व मे आत्मसात हो गये। इस्लाम और इसाइयत भी वह शक्ति न दे सके। आदिवासी आज भी हिन्दुत्व की ओर उतना ही आकृष्ट है। आज आदिवासी हिन्दू महाजन, हिन्दू व्यापारी, हिन्दू

सरकारी अफसर और हिन्दू ठेकेदार का विरोधी है, हिन्दुत्व का नहीं। उसके इस विरोध का कारण व नई आर्थिक परिस्थितियां है जो अंग्रेजी राज की स्थापना के बाद म, भारत म उत्पन्न हुई है और जिनका आगे वणन किया जायेगा। यहा ध्यान दन योग्य तथ्य यह है कि गणजातियो को जाति के रूप म आत्मसात करके, हिन्दुत्व का प्रसरण हुआ है। वास्तव मे यदि देखा जाय तो, वण और गणजाति भारतीय सामाजिक सगठन के दो अलग अलग सिद्धा त हैं। पहला हिंदुत्व का प्रतीक है और दूसरा आदिवासीत्व का। जाति उन दोनो क बीच का प्रमेय है। जाति, वण सिद्धा त के आधार पर, हिंदूकृत गणजातियो के सामाजिक वर्गीकरण का प्रयास और माध्यम है। जाति की उत्पत्ति गणजाति की पष्ठभूमि से हुई है। जाति वस्तुत हिन्दूकृत आदिवासीत्व है और यही कारण है कि हिंदुत्व म जाति का विरोध होता रहा है और वण का प्रतिपादन[1]।

जाति उत्पत्ति क सिद्धान्तो म इस तथ्य का प्रतिपादन मिलता है। जाति को ब्राह्मण मस्तिष्क की उपज मानना अवास्तविक है। हटन ने जाति क खान पान के नियमो क पीछे उन जादुई और माना सम्ब धी विचारो को माना है जो गणजातीय सगठन की विशेषताए ह। गोत्र बलान का हिंदूकृत रूप जान पडता है। वलान-सगठन क सम्बन्धी सिद्धान्त (The Principle of Kinship) का जाति म विस्तत रूप मिलता है। अन्तर्विवाहिता के आधार पर जाति और गणजाति म अन्तर करना कठिन है। विजितो म पराजितो का लडकी न देने की प्रवत्ति सवत्र पाई गई है। अभिजात वग की लडकी अभिजात वग को ही जाती है। आर्यो और आदि-वासियो क वणभद स, अनुलोम और प्रतिलोम विवाहो का सगठन हुआ। अनुलोम विवाह से जन्मजात अधिकार को प्रोत्साहन मिला। वेबर के अनुसार सवचेतनवादी (Animistic) विश्वासो के प्रभाव म, सामाजिक प्रतिष्ठा विशेषतया सत्ता-अधिकार और पौरोहित्य पद उस मिलता है जिसके अधिकार मे जादुई करिश्मा (Magical Charishma) होता है। किन्तु भारत मे शिल्पी-कला, वलान करिश्मा का रूप लेकर, अन्ततोगत्वा वशानुगत हो गई। कृषि पर आधारित आर्थिक व्यवस्था प्रौद्योगिकी तथा शहरीकरण का निम्न स्तर, धातुओ की कमी, ग्राम सामाजिक आर्थिक व्यवस्था, प्रजातीय भिन्नताए, गणजातीय व्यवस्था, गणजातियो की ओर निरन्तर उन्मुख पौरोहित्यवादिता और वलान करिश्मा, इसप्रकार जाति के विकास के केन्द्र

---

1 अंग्रेजी राज की स्थापना क पहले जाति और गणजाति का विभद ही नहीं था। अन्तर्विवाही होन के कारण गणजाति, वस्तुत, जाति थी। गणजाति शब्द अंग्रेजी भाषा के 'ट्राइब' शब्द का एक गढ़ा हुआ पर्याय है। संस्कृत और पाली म ट्राइब का पर्याय नहीं मिलेगा। जाति और गणजाति का अन्तर अंग्रेजी राज की स्थापना क बाद से किया जाने लगा है।

बिंदु बना। इसी केंद्र बिंदु के माध्यम से गणजाति को जाति में रूपांतरित होने की प्रेरणा मिली। कृषिवादी आर्थिक व्यवस्था और सामंतवादी सामाजिक-राजनैतिक संगठन, इस केंद्र बिंदु के मुख्य घटक हैं। व्यापारी वर्ग, साख प्रणाली (Credit System) उद्योगों और सामंतवादी व्यवस्था के बावजूद भी भारत में, पूंजीवाद का विकास नहीं हुआ। भारत में पूंजीवाद पश्चिम से आया है। गणजाति का जाति में रूपांतरण उस सामाजिक-आर्थिक व्यवस्था में अधिक होता रहा है जो पूंजीवादी नहीं है। पूंजीवाद ने नये प्रेरकों और गंतव्यों को जन्म दिया है। आज गणजाति का गंतव्य जाति में ही नहीं है। गणजाति का जाति में रूपांतरण गण-जाति का विघटन और विशृंखलन नहीं, वरन गणजाति का एक बड़े समाज में अधिक सुनिश्चित एकीकरण है।

उपर्युक्त विश्लेषण से यह निष्कर्ष नहीं निकाला जा सकता कि गणजाति का स्वाभाविक गंतव्य जाति में ही रहा है। यह रूपांतरण हर दशा में असुविधा-हीन भी नहीं रहा है। इस रूपांतरण का अर्थ रहा है आदिवासी का हिंदुत्व और आदिवासीत्व के दोहरे संसार में प्रवेश करना जिसके कारण आदिवासी में, संस्कृति-संघर्ष से उत्पन्न मानसिक दशा और उदासीनता भी उत्पन्न हुई है। भारत की एक बड़ी जनसंख्या में भाग्यवादिता की भावना की उत्पत्ति भी यही से मानी जा सकती है। गणजाति का जाति में रूपांतरण इस भावना से प्रेरित रहा है कि हिन्दुत्व, आदिवासीत्व की अपेक्षा, अधिक समादृत और वांछनीय है। इसका परिणाम यह हुआ है कि स्वयं आदिवासी ने आदिवासीत्व को हेय दृष्टिकोण से देखा है और, समय-समय पर, ऐसी प्रथाओं को अपनाया है जो आदिवासी संस्कृति-संकुल में कभी कभी फिट नहीं हो पाती हैं। यह इसी प्रभाव का परिणाम है कि हाल में आदिवासियों में बाल विवाह का प्रचार बढ़ा है, जो आदिवासी संस्कृति-संकुल में फिट नहीं है। फिर भी, गणजाति का जाति में, रूपान्तरण आर्थिक लाभों से प्रेरित रहा है और, इसी कारण, इस प्रक्रिया में व्यवधान और समस्याएँ तभी आईं जब भारत पर, अंग्रेजी राज के माध्यम से पूंजीवादी योरोपीय सभ्यता का प्रभाव पड़ा।

३

आदिवासीत्व और इस्लाम

इस्लाम का भारत के आदिवासियों पर क्या प्रभाव पड़ा, या भारत में इस्लाम आदिवासी संस्कृति से किस प्रकार और कहां तक प्रभावित हुआ है, यह प्रश्न भारतीय समाज और संस्कृति के इतिहासकारों की नजर से ओझल ही रहा है। सम्भवतः, इसका कारण यह है कि भारत के राष्ट्रीय जीवन में हिंदू-मुस्लिम समस्या

सरकारी अफसर और हिन्दू ठेकेदार का विरोधी है, हिन्दुत्व का नही। उसके इस विरोध का कारण व नई आर्थिक परिस्थितिया है जो अग्रेजी राज की स्थापना के बाद स भारत म उत्पन्न हुई है और जिनका आगे वणन किया जायेगा। यहा ध्यान दने योग्य तथ्य यह है कि गणजातियो को जाति के रूप म आत्मसात करके, हिन्दुत्व का प्रसरण हुआ है। वास्तव म यदि देखा जाय तो वण और गणजाति भारतीय सामाजिक सगठन क दो अलग अलग सिद्धा त हैं। पहला हि दुत्व का प्रतीक है और दूसरा आदिवासीत्व का। जाति उन दोनो के बीच का प्रमय है। जाति वण सिद्धा त के आधार पर हिन्दूकृत गणजातियो के सामाजिक वर्गीकरण का प्रयास और माध्यम है। जाति की उत्पत्ति गणजाति की पृष्ठभूमि से हुई है। जाति वस्तुत हि दूकृत आदिवासीत्व है और यही कारण है कि हि दुत्व म जाति का विरोध होता रहा है और वण का प्रतिपादन[1]।

जाति उत्पत्ति क सिद्धान्तो म इस तथ्य का प्रतिपादन मिलता है। जाति को ब्राह्मण मस्तिष्क की उपज मानना अवास्तविक है। हटन ने जाति के खान पान क नियमो क पीछे उन जादुई और माना सम्बन्धी विचारो को माना है जो गणजातीय सगठन की विशेषताए है। गात्र बन्धन का हि दूकृत रूप जान पडता है। बलान सगठन क सम्ब धी सिद्धान्त (The Principle of Kinship) का जाति म विस्तत रूप मिलता है। अ तर्विवाहिकी के आधार पर जाति और गणजाति म अ तर करना कठिन है। विजितो म पराजितो को लडकी न दने की प्रवत्ति सवत्र पाई गई है। अभिजात वग की लडकी अभिजात वग को ही जाती है। आर्यों और आदिवासियो क वणभद स अनुलोम और प्रतिलोम विवाहो का सगठन हुआ। अनुलोम विवाह से जन्मजात अधिकार को प्रोत्साहन मिला। वेबर के अनुसार सवचेतनवादी (Animistic) विश्वासो के प्रभाव मे सामाजिक प्रतिष्ठा विशेषतया सत्ता-अधिकार और पौरोहित्य पद उसे मिलता है जिसके अधिकार मे जादुई करिश्मा (Magical Charisbma) होता है। किन्तु भारत म शिल्पी-कला, बलान करिश्मा का रूप लेकर, अन्ततोगत्वा वशानुगत हो गई। कृषि पर आधारित आर्थिक व्यवस्था, प्रौद्योगिकी तथा नहरीकरण का निम्न स्तर, धातुओ की कमी ग्राम सामाजिक आर्थिक व्यवस्था, प्रजातीय भिन्नताए गणजातीय व्यवस्था, गणजातियो की ओर निरन्तर उन्मुख पौरोहित्यवादिता और बलान करिश्मा इसप्रकार, जाति के विकास के केन्द्र

---

1 अग्रेजी राज की स्थापना के पहले जाति और गणजाति का विभद ही नहीं था। अ तर्विवाही होने के कारण गणजाति वस्तुत, जाति थी। गणजाति शब्द अग्रेजी भाषा के ट्राइब शब्द का एक गढा हुआ पर्याय है। सस्कृत और पाली म ट्राइब का पर्याय नहीं मिलेगा। जाति और गणजाति का अन्तर अग्रेजी राज की स्थापना क बाद से किया जाने लगा ह।

बिन्दु बने। इसी केन्द्र बिन्दु के माध्यम से गणजाति को जाति में रूपान्तरित होने की प्रेरणा मिली। कृषिवादी आर्थिक व्यवस्था और सामन्तवादी सामाजिक-राजनैतिक संगठन, इस केन्द्र बिन्दु के मुख्य घटक हैं। व्यापारी वर्ग, साख प्रणाली (Credit System) उद्योगों और सामन्तवादी व्यवस्था के बावजूद भी भारत में, पूँजीवाद का विकास नहीं हुआ। भारत में पूँजीवाद पश्चिम से आया है। गणजाति का जाति में रूपान्तरण उस सामाजिक-आर्थिक व्यवस्था में अधिक होता रहा है जो पूँजीवादी नहीं है। पूँजीवाद ने नये प्रेरकों और गन्तव्यों को जन्म दिया है। आज गणजाति का गन्तव्य जाति में ही नहीं है। गणजाति का जाति में रूपान्तरण, गणजाति का विघटन और विशृंखलन नहीं वरन गणजाति का एक बड़े समाज में अधिक सुनिश्चित एकीकरण है।

उपर्युक्त विश्लेषण से यह निष्कर्ष नहीं निकाला जा सकता कि गणजाति का स्वाभाविक गन्तव्य जाति में ही रहा है। यह रूपान्तरण हर दशा में असुविधाहीन भी नहीं रहा है। इस रूपान्तरण का अर्थ रहा है आदिवासी का हिन्दुत्व और आदिवासीत्व के दोहरे संसार में प्रवेश करना जिसके कारण आदिवासी में, संस्कृति-संघर्ष से उत्पन्न मानसिक दशा और उदासीनता भी उत्पन्न हुई है। भारत की एक बड़ी जनसंख्या में भाग्यवादिता की भावना की उत्पत्ति भी यहीं से मानी जा सकती है। गणजाति का जाति में रूपान्तरण इस भावना से प्रेरित रहा है कि हिन्दुत्व, आदिवासीत्व की अपेक्षा अधिक सम्मान्य और वांछनीय है। इसका परिणाम यह हुआ है कि स्वयं आदिवासी ने आदिवासीत्व को हेय दृष्टिकोण से देखा है और, समय-समय पर, ऐसी प्रथाओं को अपनाया है जो आदिवासी संस्कृति-संकुल में कभी कभी फिट नहीं हो पाती हैं। यह इसी प्रभाव का परिणाम है कि हाल में आदिवासियों में बाल विवाह का प्रचार बढ़ा है जो आदिवासी संस्कृति-संकुल में फिट नहीं है। फिर भी गणजाति का जाति में, रूपान्तरण आर्थिक लाभों से प्रेरित रहा है और, इसी कारण, इस प्रक्रिया में व्यवधान और समस्याएँ तभी आईं जब भारत पर, अंग्रेजी राज के माध्यम से पूँजीवादी योरोपीय सभ्यता का प्रभाव पड़ा।

२

आदिवासीत्व और इस्लाम

इस्लाम का भारत के आदिवासियों पर क्या प्रभाव पड़ा, या भारत में इस्लाम आदिवासी संस्कृति से किस प्रकार और कहाँ तक प्रभावित हुआ है, इस [illegible] भारतीय समाज और संस्कृति के इतिहासकारों की नजर से [illegible] है। सम्भवतः, इसका कारण यह है कि भारत के राष्ट्रीय जीवन में [illegible]

जितनी गम्भीर रही है आदिवासी-मुस्लिम या आदिवासी हिन्दू समस्या उतनी गम्भीर नहीं रही है। यह नहीं कहा जा सकता कि आदिवासी मुस्लिम प्रभाव से मुक्त रहे हैं। इस्लाम का केन्द्रीकरण उन्हीं इलाकों (उत्तरी-पूर्वी उत्तरप्रदेश बिहार बंगाल आसाम मद्रास और केरल) में हुआ है जहाँ आदिवासी जनसंख्या की अपेक्षाकृत अधिकता रही है। यह कहना अतिशयोक्ति न होगा कि जिस प्रकार, गणजाति के हिन्दुत्व में आने के कारण हिन्दुत्व में जाति की जड़ें जमीं उसी प्रकार इस्लाम में जाति का समावेश गणजातियों के इस्लाम में प्रवेश करने से हुआ है। इस्लाम में जादुई विश्वास और प्रथाओं का समावेश गणजातियों के ही माध्यम से आया हुआ माना जा सकता है। बहराइच में गाजी मियाँ की मजार के पीछे एक छोटा-सा कुण्ड है जिसमें कोढ़ी इस विश्वास से नहाते हैं कि वहाँ नहाने से कोढ़ दूर हो जाता है। वहाँ एक अन्य मजार पर लकड़ी के डंडे चढ़ाये जाते हैं। ये प्रथाएँ गैर इस्लामी हैं और इनका स्रोत निश्चय ही आदिवासी संस्कृति है या तान्त्रिक बुद्धवाद जो स्वयं बुद्धवाद में आदिवासी प्रथाओं से आया जान पड़ता है। इस्लाम को मानने वाले अनेक ऐसे अन्तर्विवाही समूह हैं जो इस्लाम में गणजातीय जातियों (Tribe Castes) के रूप में हैं। उत्तर भारत की अनेक अपराधी गणजातियाँ अपने को चित्तौड़गढ़ के राणा प्रताप का वंशज मानती हैं। उनके उपाख्यानों में यह वर्णन मिलता है कि उनका सामाजिक अधःपतन उस समय से हुआ जब अलाउद्दीन खिलजी के द्वारा चित्तौड़ का पतन हुआ था और इस्लाम से बचने के लिए उन्होंने यायावर और डाकूजनों तथा लूटपाट का जीवन अपना लिया। डा० एन० मजूमदार के अनुसार, मुस्लिम अपराधी गणजातियाँ वे समूह हैं जिनको जबरदस्ती मुसलमान बनाया गया होगा और इसकारण सामाजिक जीवन के विशृंखलित होने के कारण उन्होंने अपराधी क्रियाओं को जीविका के साधन के रूप में अपना लिया होगा[1]।

४

आदिवासीवाद और यूरोपीय सभ्यता

उन्नीसवीं शताब्दी के अन्त तक गणजाति के जाति में रूपान्तरित होने की प्रक्रिया में व्यवधान आ गया और उसे एक नयी अभिव्यक्ति भी मिली—वह अभिव्यक्ति थी आदिवासी-पुनरुत्थान (Tribal Revivalism) की भावना के साथ साथ ईसाइयों का भी अभ्युदय हुआ। पहले हिन्दू आदिवासी सम्पर्क में सामाजिक प्रतिष्ठा का विधायन (Legitimization) हिन्दू धर्म द्वारा होता था। इसकारण

---

1 मजूमदार, डा० एन० रेसेज एण्ड कल्चर्स आफ इण्डिया पृष्ठ 363

गणजातियाँ स्वभावतया, हिन्दुत्व की ओर आकर्षित होती थी। वर्ण कर्म और मुक्ति की धारणाओं से गणजातियों को आशा भी मिलती थी और निरन्तर हिन्दूकरण की ओर बढ़ने की प्रेरणा भी। इस्लाम के आने से मध्यकालीन भारत में गणजातियों को इस्लाम की ओर आकर्षित होने की प्रेरणा मिली यद्यपि इस्लाम की अपेक्षा, हिन्दुत्व के प्रति आकर्षित और प्रेरित होने की मात्रा अधिक रही। मध्यकालीन भारत में सगुण तथा निर्गुण भक्तिमार्गी तथा सुधारवादी पंथों के द्वारा, आदिवासियों के उत्तरोत्तर हिन्दूकरण की ऐतिहासिक प्रक्रिया चलती रही है। गणजाति के हिन्दूकरण और इस्लामीकरण से गणजातियों का हिन्दू और मुस्लिम जातियों का रूप मिलता रहा है। गणजाति का हिन्दूकरण और इस्लामीकरण निर्बाध होता रहा है क्योंकि इससे गणजाति के आर्थिक जीवन का उन्मूलन नहीं रूपान्तरण होता रहा है और गणजाति की सामाजिक प्रतिष्ठा भी परिस्थिति के अनुसार उठती रही है। गणजाति का सामाजिक अस्तित्व भी बना रहा है क्योंकि इस रूपान्तरण में गणजाति ने वहीं तक हिन्दुत्व या इस्लाम के आधारभूत तत्वों को अपनाया है, जहाँ तक आवश्यक था। हिन्दुत्व या इस्लाम में जाने से गणजाति का आर्थिक उन्मूलन नहीं हुआ है बल्कि उसे एक नया आर्थिक सन्तुलन मिला है या करना पड़ा है क्योंकि उन्नीसवीं शताब्दी के पहले तक हिन्दुत्व और इस्लाम दोनों का आर्थिक आधार कृषि आर्थिक व्यवस्था थी। कृषि आर्थिक व्यवस्था में हिन्दू या मुस्लिम जाति में रूपान्तरित होने से, गणजाति की एकता भी बनी रही। किन्तु अंग्रेजी राज की स्थापना के बाद से, योरोपीय सभ्यता और पूंजीवादी आर्थिक व्यवस्था के प्रभावों से, भारत की गणजातियों का बाह्य संसार से सम्पर्क तेजी से बढ़ा और गणजाति में वैसी ही विशृंखलक और एकताकारी शक्तियों का एक साथ प्रादुर्भाव हुआ जैसी जाति में हुई हैं। एक ओर यदि भारतीय राष्ट्रवादिता का विकास हुआ तो दूसरी ओर, हिन्दू इस्लामी और आदिवासी राष्ट्रीयताओं का, जिसके कारण, हिन्दुत्व और आदिवासीत्व में वैसे ही तनाव उत्पन्न हुआ जैसे कि इस्लाम और हिन्दुत्व में। आदिवासियों में बढ़ते हुए इसाइयत के प्रसार से इस तनाव को और भी प्रोत्साहन मिला क्योंकि, सामाजिक प्रतिष्ठा की धार्मिक वैधता (Religious Legitimization) के लिए, इसाइयत ने, हिन्दुत्व और इस्लाम से अलग, एक अन्य आधार प्रदान किया।

भारत में अंग्रेजी राज की स्थापना के साथ साथ और बाद में भी आदिवासी योरोपियनों के सम्पर्क में वहीं अधिक आये जहाँ योरोप के इसाई मिशनरियों ने मिशनों और चर्चों की स्थापना करके एक ओर, इसाई धर्म का प्रचार आरम्भ किया और दूसरी ओर अस्पताल और स्कूल खोल कर, समाज सेवा का कार्य प्रारम्भ किया। किन्तु, यह सम्पर्क उतना व्यापक और प्रभावकारी नहीं रहा है, जितना कि योरोपीय सभ्यता और पूंजीवादी आर्थिक व्यवस्था के संघात से उत्पन्न परिवर्तनकारी

न्वितथा का प्रभाव रहा है। सोलहवीं शताब्दी के बाद से जब संसार में योरोपियनों के प्रभुत्व का प्रसार होना शुरू हुआ तो संसार के सभी भागों में योरोपीय सभ्यता और आदिवासी संस्कृतियों का सम्पर्क हुआ। इस सम्पर्क में योरोपीय संस्कृति की प्रभुता रही है। इसकारण जैसा अन्य स्थानों मे हुआ भारत में भी, योरोपीय संस्कृति का संघात आदिवासी संस्कृति पर पड़ा। इस संघात ने जैसे अन्य स्थानों (अमरीका अफ्रीका, न्यूजीलैण्ड आस्ट्रेलिया और प्रशान्त महासागर के द्वीपों) से, आदिवासी संस्कृति में विश्रृंखलन की प्रक्रियाओं को जन्म दिया वैसे ही भारत में भी हुआ। अन्य स्थानों की भाँति भारत में भी, आदिवासियों के सांस्कृतिक स्वास्थ्य को इससे धक्का पहुंचा। आदिवासी संस्कृति पर सभ्यता के संघातिक परिणामों का विश्लेषण करने के पहले इस संस्कृति सम्पर्क के माध्यमों पर विचार करना आवश्यक है।

यातायात के साधनों (मुख्यतः रेल तार और सड़क) के उत्तरोत्तर विकसित होने में जो आदिवासी क्षेत्र पहले दुर्गम थे वे सुगम हो गये। बढ़ते हुए औद्योगीकरण से खनिज पदार्थों की माँग बढ़ी। आदिवासी क्षेत्र उन प्रदेश में आते हैं जहाँ कोयला लोहा और अभ्रक जैसे खनिज पदार्थ पाए जाते हैं। अतः, आदिवासी क्षेत्रों मे कोयले, अभ्रक और लोहे की खानें खुलने लगी। जमशेदपुर, राउरकेला और भिलाई जैसे स्थानों में कारखाने खुलने लगे जहां आदिवासी, श्रमिकों के रूप मे, काम करने लगे और बाहरी लोगों तथा सभ्यता के प्रभावों में आने लगे। आसाम के चाय के बाग आदिवासी श्रमिकों के द्वारा ही बने हैं जिसप्रकार भारत में गाँवों के किसान मजदूरों के रूप मे औद्योगिक शहरों में जाकर वहाँ के कारखानों में काम करने के लिए विवश हुए उसीप्रकार, आदिवासी भी श्रमिकों के रूप में औद्योगिक केन्द्रों में जाने के लिए विवश हुए क्योंकि पूँजीवादी संघात से जैसे गाँवों की आर्थिक व्यवस्था के आधार हिले वैसे ही पूँजीवादी संघात से आदिवासी आर्थिक व्यवस्था के आधार हिले। मेलों और यत्र-तत्र लगने वाली हाटों के स्थान पर, नियमित बाजार का प्रभाव बढ़ा, जहाँ गैर आदिवासी व्यापारियों मिसनरियों और पेटेन्ट दवाइयाँ बेचने वालों ने उन वस्तुओं का व्यापार प्रारम्भ किया जिसका उत्पादन आदिवासी क्षेत्रों में नहीं होता है। साबुन तेल, सस्ते किस्म के मोटे नकली जेवर बच्चों के खिलौने रंग मिलों के बने कपड़े इत्यादि इस श्रेणी की वस्तुएँ में आने हैं। सरकार ने न्यायाधीश और प्रशासक नियुक्त किए जो नई सभ्यता के माध्यम बने। जंगलों को सुरक्षित रखने की नीति के कारण जंगल विभाग के कर्मचारियों का संगठन किया गया। जंगलों के नियोजित संवर्धन और उपभोग की नीति के कारण एक ओर, जंगलों को लगाने के लिए श्रमिकों को रखा गया तो, दूसरी ओर आवश्यकतानुसार जंगलों को काटने के लिए ठेकेदारों को नियुक्त किया गया। इसप्रकार जंगलों के कर्मचारी ठेकेदार और उनके श्रमिक जो अधिकतर बाहर से आते थे एक नये संस्कृति सम्पर्क के माध्यम

सभ्यता संस्कृति सम्पर्क के माध्यम

बने। जंगल की अनेक उपजों जैसे लाख और बीड़ी बनाने के पत्तों को नयी आर्थिक महत्ता मिली और उनको एकत्र करने के लिए ठेकेदारी प्रथा का संगठन किया गया। स्कूलों का संगठन करके वहां शिक्षकों को नियुक्त किया गया। एक ओर मिशनों ने सेवा कार्य को अपनाया तो दूसरी ओर भारतीय नेताओं की प्रेरणा से आदिमजाति सेवक संघ जैसी समाजसेवी संस्थाओं का संगठन हुआ जिसमें सभ्यता-संस्कृति सम्पर्क और भी बढ़ा। इसी बीच में मानवशास्त्रियों ने अपने अध्ययन प्रारम्भ किए जिनसे आदिवासी अपने प्रति सजग हुए और भारतीयों तथा सरकार का ध्यान उनकी समस्याओं की ओर गया। इसी बीच में सम्भवतः, भारत में चलने वाली सांस्कृतिक पुनर्जागरणवादिता के विचार के प्रभाव के कारण, लोक संस्कृति के अध्ययन की ओर लोगों का ध्यान गया और लोक गीतों के अनेक संकलनकर्ता आदिवासियों को बाह्य सम्पर्क में लाने के माध्यम बने। अनेक चित्रकारों ने नए डिजाइनों की प्रेरणा के लिए आदिवासी क्षेत्रों का भ्रमण किया। द्वितीय महायुद्ध के दिनों में, जब इम्फाल और कोहिमा के क्षेत्र युद्ध के मोर्चे बने और रांची पूर्वी कमान का हेडक्वार्टर बना, तो यह सम्पर्क और भी बढ़ा। अधिकतर प्रान्तों की ग्रीष्मकालीन राजधानियां आदिवासी क्षेत्रों में ही हैं। स्वतन्त्रता के बाद, जब बालिग मताधिकार के आधार पर चुनाव हुए, सहकारी आन्दोलन का प्रसार हुआ, बड़े पैमाने पर शिक्षा संगठित हुई, उच्च-शिक्षा के लिए आदिवासियों को वजीफे दिए जाने लगे और आदिवासी क्षेत्रों में सामुदायिक विकास योजनाओं का संगठन हुआ, तो संस्कृति सम्पर्क पहले की अपेक्षा और भी बढ़ा। सन उन्नीस सौ बासठ में, जब चीन ने भारत की उत्तरी सीमा पर आक्रमण किया तो उस प्रदेश के आदिवासियों का सम्पर्क और भी बढ़ा। आज उस प्रदेश के विकास पर जो अधिक ध्यान दिया जा रहा है उससे वहां के आदिवासियों का सभ्यता के सम्पर्क में आना निश्चित ही है।

सभ्यता संघात के परिणाम

आदिवासियों को सभ्यता के सम्पर्क में लाने वाली शक्तियां अन्ततः आर्थिक, अन्ततः औद्योगिक प्रौद्योगिकीय, अन्ततः प्रशासकीय अन्ततः राजनैतिक और अन्ततः मानवतावादी है। जिसप्रकार, सारा भारत और भारतीय संस्कृति सभ्यता के प्रभाव में आये उसीप्रकार, भारतीय संस्कृति का एक अंग होने के कारण आदिवासी संस्कृति भी योरोपीय सभ्यता के प्रभाव में आई। इस प्रभाव से आदिवासी सामाजिक-सांस्कृतिक जीवन की पृथकता (Isolation) समाप्त हो गयी और उत्तरोत्तर समाप्त होती जा रही है। भारत के दो करोड़ आदिवासी आज भारत राष्ट्र का एक महत्वपूर्ण हिस्सा हैं जिनकी अवहेलना नहीं की जा सकती है। उन्हें समुचित सामाजिक विकास के स्तर पर लाना संविधान का आदेश है जिसे पूरा करना राज्य का आवश्यक कर्तव्य है। इस उद्देश्य को पूरा करने का मतलब है आदिवासियों को अधिकाधिक सभ्यता के सम्पर्क में लाना, जिसे समय पर नहीं छोड़ा जा सकता है। हिन्दू-

परम्परा म, हिन्दू और आदिवासी म विभेद नही किया गया है और न हिन्दू तथा आदिवासी म ऐसा विभेद मिलता ही है। हिन्दू के दृष्टिकोण से, प्रत्यक गणजाति एक जाति है और उसकी सस्कृति उसका स्वधम । किन्तु सम्यता के सघात ने इस हिन्दू आदिवासी नरन्तय को शिथिल कर दिया है। आज आदिवासी भारत राष्ट्र के अल्पसख्यक नागरिक हो गय हैं जो, अपनी राजनतिक सत्ता का बनाये रखने के लिये अपने तथा अपनी सस्कृति की विशिष्टता के प्रति जागरूक है। आज सामाजिक प्रतिष्ठा की वैधता धम म नही राजनैतिक अधिकारा आर्थिक स्तर शिक्षा और सरकारी नौकरी से होती है। इसप्रकार, हिन्दू आदिवासी नैरन्तय शिथिल पड गया है। धमनिरपेक्षता न इस शिथिलता का और भी बढावा दिया है। यद्यपि योरोपीय सम्यता के प्रभाव मे, हिन्दुत्व की इतनी व्यापक परिभाषा करने का प्रयास किया गया है कि आदिवासी भी उसम आ जाय। किन्तु इस काल म आदिवासियो ने हिन्दुत्व का अर्द्धस्वागत ही किया है।

योरोपीय सम्यता के सघात स जैसे सारे भारत की कृषि आर्थिक व्यवस्था का धीरे धीरे औद्योगिक पूजीवादी व्यवस्था मे रूपान्तरण हो रहा है वैस ही गणजाति-आर्थिक व्यवस्था का भी रूपान्तरण हो रहा है। किन्तु इस रूपान्तरण मे अंग्रेजी राज के निहित स्वार्थों के कारण, एक ओर जमीदारो क रूप मे सामन्तवादी भी उत्पन्न हुआ और दूसरी ओर व्यापारी मध्यजना के वर्ग का जो आदिवासी आर्थिक व्यवस्था मे शोषण का माध्यम बन गया। उधर जगलो के सुरक्षित रखने की नीति से आदिवासियो से जगलो का आर्थिक लाभ छिन गया। जगम कृषि पर रोक लगा दी गई या उस एक क्षत्र म सीमित कर दिया गया जिसके कारण, जगम कृषि उतनी उवरक न रही जितनी कि वह पहले हुआ करती थी। जगम कृषि म खाद जलाए हुए पेडो स मिलती थी। पेडो की कमी होने के कारण, खाद की मात्रा कम होने लगी जिसका असर पदावार पर पडा। आदिवासी उद्योग धन्धे वस ही क्षीण हुए जसे कि सारे भारत के हुए। आदिवासी भी मिल की बनी वस्तुआ के प्रयोग की ओर आकर्षित हुए। बदलौअल के स्थान पर, मुद्रा का प्रयोग बढ्न लगा। इसका परिणाम यह हुआ कि गणजातीय आर्थिक व्यवस्था की आत्मनिर्भरता समाप्त होन लगी और आदिवासी भारत के गरीब कृषक वग का एक अग बन गया। मुद्रा के प्रसार के कारण, आदिवासी आर्थिक व्यवस्था मे व्यापारियो ठेकेदारो और सूदखोरो (सिक्खो और पठानो) का प्रवश हुआ और व वहा की व्यवस्था म दापक वग बन गए। जमीदारी प्रथा के कारण, सारी भूमि हिन्दू जमीदारो के हाथ मे चली गई जिसका परिणाम हुआ उत्तरोत्तर बढ़ती हुई दीनता नराश्य असन्ताष और प्रतिक्रिया।

आदिवासियो की आर्थिक दीनता का अन्दाजा डा० मजूमदार द्वारा दिए हुए एक उदाहरण स लगाया जा सकता है। एक आने का साग खरीदने या बेचन के लिए आदिवासी नारियां बीस-बीस मील तक का रास्ता तय करती हैं। छबासा की

एक साप्ताहिक बाजार मे सर्वेक्षण से यह पता चला कि फल और सब्जी बचने वाली आदिवासी नारियो की सख्या चौरासी थी जबकि उनके माल की कीमत ग्यारह रुपए से ज्यादा नही थी और खरीदने वालो की सख्या हजारो मे थी। लोग वहाँ थोडा नमक थोडी तम्बाकू और थोडा मिट्टी का तेल ही अधिक खरीद रहे थे। बाजार से दस मील दूर के एक गाव के लोगो ने जितना सामान खरीदा था, उसकी लागत साढे तीन रुपए से ज्यादा नही थी जबकि उस गाव से आए हुए खरीदारो की सख्या साठ थी। काल्हन मे अक्सर यह देखने मे आता है कि आदिवासी नारिया, सुबह शाम, पडोस के शहरी स्थानो या रेलवे स्टेशन के गावो की कई मील की यात्रा सिर्फ थोडी-सी सब्जी या थोडा चावल बेचकर और उसके बदले मे थोडा नमक या परिवार की आवश्यकता की अन्य छोटी मोटी चीजे लाने के लिए करती हैं। छवासा के बाजार मे सिर्फ खरीद फरोख्त करने वाले ही नही आते हैं। वहा घूमने वाले, गप लडाने वाले और ठेरा पर शराब पीने वाले एक बडी सख्या मे आते हैं जो आदिवासियो की दीनता और उनके द्वारा क्षीण होने वाले राष्ट्रीय श्रम के बेकार जाने का परिचायक है[1]।

गणजातीय आर्थिक व्यवस्था मुद्रारहित आर्थिक व्यवस्था (Moneyless Economy) से, मुद्रा पर आधारित आर्थिक व्यवस्था मे परिवर्तित हुई जिसका एक परिणाम हुआ आदिवासियो का उत्तरोत्तर शोषण और आर्थिक दीनता तथा, दूसरा गणजाति-सरचना मे सामाजिक प्रतिष्ठा विभेद का अभ्युदय और गणजातीय सत्ताधिकार मे परिवर्तन। मुद्रारहित आर्थिक व्यवस्था स्वभावतया समष्टिवादी होती है। उसमे व्यक्तियो या परिवारो द्वारा सम्पत्ति-सचय का कम स्थान रहता है क्योकि सम्पत्ति मुद्रा मे न निहित होकर कृषि की उपज तथा जानवरो के रूप मे होती है जिसे प्रत्येक परिवार के व्यक्ति अपने श्रम से उत्पन्न करते हैं। इस व्यवस्था मे प्रत्येक परिवार के सदस्यो को अपनी प्राथमिक आवश्यकताओ की पूर्ति स्वय करनी पडती है। इस व्यवस्था मे, जो कुछ भी अतिरिक्त उपज होती है, उसे सचित नही किया जा सकता क्योकि वह जल्दी ही क्षीण हो जाती है। इसकारण, अतिरिक्त उपज बिरादरी के भोजो मे समाप्त कर दी जाती है। मौद्रिक अर्थ व्यवस्था मे, मुद्रा के रूप मे, व्यक्ति को सम्पत्ति-सचय का अधिक अवसर मिलता है यदि वह सम्पत्ति सचय के अवसर दूसरो से छीन सके। इस व्यवस्था मे, अपने समुदाय के कल्याण के परम्परागत उत्तरदायित्व से भी व्यक्ति मुक्त हो जाता है। यहा सामाजिक प्रतिष्ठा जन्म पर आधारित न रह कर, व्यक्ति के द्वारा अर्जित सम्पत्ति पर आधारित हो जाती है जिसके कारण व्यक्तिवाद को प्रोत्साहन मिलता है।

मुद्रा अर्थ-व्यवस्था के निरन्तर प्रसार तथा व्यापार सरकारी नौकरियो और

---

1 मजूमदार, डी० एन० रेसेज एण्ड कल्चर्स आफ इंडिया पृष्ठ 393 94

कारखानों में काम करके धन कमाने के बढ़ते हुए अवसरों से, आदिवासियों में उन व्यक्तियों को धन कमाने और संचय करने के अवसर मिले जो इसके योग्य थे। इसका परिणाम हुआ गणजाति की सामाजिक प्रतिष्ठा प्रणाली (Social Status System) के आधार में परिवर्तन। पहले एक गणजाति में उच्च सामाजिक प्रतिष्ठा वाले व्यक्ति होते थे और निम्न सामाजिक प्रतिष्ठा वाले भी। किन्तु, यह व्यवस्था वंशानुक्रम के सिद्धान्त पर चलती थी। दूसरे निम्न सामाजिक प्रतिष्ठा वालों के पास अपनी प्रतिष्ठा को बढ़ाने के साधन न थे और उच्च प्रतिष्ठा वालों के पास सम्पत्ति संचय की अधिक गुंजाइश न थी। अतः सामाजिक प्रतिष्ठाओं का अन्तर आर्थिक विषमताओं पर आधारित न था। मुद्रा अर्थ व्यवस्था में गणजाति के उच्च प्रतिष्ठा वालों को सम्पत्ति संचय का अवसर मिला और निम्न प्रतिष्ठा वालों को अपने आर्थिक स्तर को बढ़ा कर सामाजिक प्रतिष्ठा उठाने का अवसर। अंग्रेजी राज में लागू की गई विधि प्रणाली और कृषि के अतिरिक्त मिलने वाले आर्थिक साधनों ने इस परिवर्तन प्रक्रिया को और भी प्रेरित किया। इसका परिणाम यह हुआ कि प्रत्येक गणजाति में ऐसे व्यक्तियों का अभ्युदय हुआ जिन्होंने शिक्षा के द्वारा या सरकारी नौकरियों के द्वारा या खानों, मिलों या चाय के बागों में काम करके या अन्य के स्थान पर मुद्रा कमाने वाले धंधों को करके अपनी आर्थिक स्थिति को उठाकर सामाजिक प्रतिष्ठा अर्जित की। यह वह वर्ग है जो वंशानुक्रम सत्ताधारियों की अपेक्षा अधिक प्रभावशाली होता जा रहा है जिसके कारण जैसा कि हो गणजाति में हो रहा है परम्परागत गणजातीय नेतृत्व का ह्रास हो रहा है। यह वर्ग या तो बाहरी पीढ़ी की ओर उन्मुख है या हिन्दुत्व की ओर, और भारत की नई सामाजिक प्रतिष्ठा व्यवस्था में सम्मानित स्थान पाने के लिए उन्मुख है। अतः वह आदिवासी जीवन से अलग होने के प्रयास में है। पर, साथ ही साथ उसे उस स्तर पर सामाजिक मान्यता नहीं मिलती है जहाँ वह मान्यता पाने का इच्छुक है। इसके परिणामस्वरूप, यह वर्ग एक ओर आदिवासी जीवन से अपने को दूर भी रखना चाहता है और दूसरी ओर आदिवासी जीवन को संगठित भी करना चाहता है और बदलना भी चाहता है ताकि आदिवासी का स्तर बढ़ने के साथ साथ उसका भी स्तर बढ़े। बालिग मताधिकार सरकारी नौकरियों तथा विधानसभाओं में आदिवासियों को मिली आरक्षित सीटों ने इस प्रक्रिया को और भी प्रखर बना दिया है।

इस विकास के कई सामाजिक परिणाम निकले हैं पहला गणजाति में वर्ग व्यवस्था का समावेश हो रहा है जिसके कारण गणजाति में वर्गविभेदीकरण की प्रक्रिया प्रारम्भ हो गई है। दूसरा उच्च वर्ग को अपनी सामाजिक प्रतिष्ठा के लिये गणजाति की प्रतिष्ठा को उठाने की आवश्यकता पड़ रही है जिसके कारण वर्ग विभेदीकरण के साथ साथ गणजाति एकीकरण की प्रक्रिया भी चल रही है। जाति की भाँति गणजाति में भी विखण्डन तथा एकीकरण की प्रक्रियायें साथ साथ चल

रही है। तीसरा, इन साथ साथ चलने वाली विशृंखलन तथा एकीकरण की प्रक्रियाओं की एक अभिव्यक्ति है हिन्दूकरण और योरोपीयकरण दूसरी आदिवासी पुनरुन्नयन और तीसरी आदिवासी सभ जैसे सुधारवादी संगठनों का अभ्युदय स्वतन्त्र नागा प्रदेश और बिहार तथा उड़ीसा के आदिवासियों द्वारा अखण्ड प्रान्त जैसी मांगों के द्वारा राजनैतिक अधिकारों की मांग। चौथा, आदिवासी समाज में एक ऐसा वर्ग पैदा हो गया है जो आदिवासी है भी और नहीं भी, जो आदिवासी संस्कृति के सीमान्त में है और आदिवासी संस्कृति के सुधार की मांग कर रहा है। आज आदिवासी समाज का नेतृत्व इसी वर्ग के हाथ में है—वह वर्ग जो अंशतः आदिवासी नहीं रहा है किन्तु जो आदिवासीत्व को छोड़ भी नहीं सकता है क्योंकि उसका स्वार्थ इसी में है। वंशानुगत नेतृत्व के प्रभाव के कम होने और इस वर्ग के नेतृत्व का प्रभाव बढ़ने का परिणाम यह हुआ है कि आदिवासी संस्कृति के प्रति आदिवासी के दृष्टिकोण में विरोध आ गया है जिससे जीवन के प्रति उदासीनता को प्रोत्साहन मिल रहा है।

अंग्रेजी राज के संघात से एक ओर, गणजाति प्रशासन व्यवस्था बदली। अंग्रेजों की पृथक्करण की नीति के कारण आदिवासी राष्ट्रीय जीवन के प्रवाह से अलग रहे और, दूसरी ओर यह विचार धीरे धीरे पनपता गया कि आदिवासी क्षेत्रों के लिये एक अलग प्रशासन प्रणाली की आवश्यकता है। इसका परिणाम हुआ अप्रत्यक्ष प्रशासन प्रणाली (The System of Indirect Rule) जो अंग्रेजी राज्य काल में विकसित हुआ है। इस विकास को ऐतिहासिक परिस्थितियों ने जन्म दिया है। अप्रत्यक्ष प्रशासन और आदिवासियों का पृथक्करण, अंग्रेजी नीति के दो आधार रहे हैं जिनका श्रीगणेश उस समय हुआ था जब बंगाल की राजमहल पहाड़ियों में रहने वाली गणजाति (हिल पहाड़िया) के आन्दोलन को कुचलने तथा आदिवासी नेताओं को पेंशन के रूप में घूस देकर उन्हें चुप करने के बाद सन 1872 में अंग्रेजों ने राजमहल पहाड़िया के आदिवासी क्षेत्र में स्थानीय नेताओं को दीवानी तथा फौजदारी के मुकदमों का फैसला करने का अधिकार देकर, स्थानीय न्यायालयों का संगठन किया। हिल पहाड़िया गणजाति के लोगों ने हिन्दू जमींदारों से तंग आकर विद्रोह किया था। इसलिये उन्हें बेलगानी जमीन दी गई। एक विधानसभा का संगठन करके, उसे स्थानीय प्रशासन और न्याय व्यवस्था को संगठित करने का अधिकार दिया गया। किन्तु स्थानीय अफसरों के भ्रष्टाचार के कारण यह प्रयोग सफल न हो सका। बाद में (1827), इस प्रदेश की गणजातियों को साधारण अदालतों के अधिकार-क्षेत्र में लाकर, उन्हें अंशतः आदिवासी विधि प्रणाली और अंशतः, सामान्य भारतीय विधि प्रणाली के अन्तर्गत रक्खा गया। सन 1855 में, जब सन्थालों ने विद्रोह किया तो सन्थाल क्षेत्र के अफसरों को विशेष प्रशासनिक अधिकार देकर सन्थाल-क्षेत्रों को विशेष प्रशासन क्षेत्र घोषित करके, उनका विशेष उत्तरदायित्व गवर्नर जनरल को दिया गया। इसप्रकार, आदिवासी क्षेत्रों को विशेष अनुसूचित

कारखानो में काम करके धन कमाने के बढ़ते हुए अवसरों ने आदिवासियों में उन व्यक्तियों को धन कमाने और संचय करने के अवसर मिले जो इसके योग्य थे। इसका परिणाम हुआ गणजाति की सामाजिक प्रतिष्ठा प्रणाली (Social Status System) के आधार में परिवर्तन। पहले एक गणजाति में उच्च सामाजिक प्रतिष्ठा वाले व्यक्ति होते थे और निम्न सामाजिक प्रतिष्ठा वाले भी। किन्तु यह व्यवस्था वंशानुक्रम के सिद्धान्त पर चलती थी। दूसरे निम्न सामाजिक प्रतिष्ठा वालों के पास अपनी प्रतिष्ठा को बढ़ाने के साधन न थे और उच्च प्रतिष्ठा वालों के पास सम्पत्ति संचय की अधिक गुंजाइश न थी। अतः सामाजिक प्रतिष्ठाओं का अन्तर आर्थिक विषमताओं पर आधारित न था। मुद्रा अर्थ व्यवस्था में गणजाति के उच्च प्रतिष्ठा वालों को सम्पत्ति संचय का अवसर मिला और निम्न प्रतिष्ठा वालों को अपने आर्थिक स्तर को बदल कर सामाजिक प्रतिष्ठा उठाने का अवसर। अंग्रेजी राज में लागू की गई विधि प्रणाली और कृषि के अतिरिक्त मिलने वाले आर्थिक साधनों ने इस परिवर्तन प्रक्रिया को और भी प्रेरित किया। इसका परिणाम यह हुआ कि प्रत्येक गणजाति में ऐसे व्यक्तियों का अभ्युदय हुआ जिन्होंने शिक्षा के द्वारा या सरकारी नौकरियों के द्वारा या खानों, मिलों या चाय के बागों में काम करके या अन्न के स्थान पर मुद्रा कमाने वाली फसलों को बोकर अपनी आर्थिक स्थिति को उठाकर सामाजिक प्रतिष्ठा अर्जित की। यह वह वर्ग है जो वंशानुक्रम सत्ताधारियों की अपेक्षा अधिक प्रभावशाली होता जा रहा है जिसके कारण जैसा कि हो गणजाति में हो रहा है परम्परागत गणजातीय नेतृत्व का ह्रास हो रहा है। यह वर्ग या तो यारो पायता की ओर उन्मुख है या हिन्दुत्व की ओर और भारत की नई सामाजिक प्रतिष्ठा व्यवस्था में सम्मानित स्थान पाने के लिए उन्मुख है। अन्य वर्ग आदिवासी जीवन से अलग होने के प्रयास में है। पर, साथ ही साथ उसे उस स्तर पर सामाजिक मान्यता नहीं मिलती है जहाँ वह मान्यता पाने का इच्छुक है। इसके परिणामस्वरूप यह वर्ग एक ओर आदिवासी जीवन से अपने को दूर भी रखना चाहता है और दूसरी ओर आदिवासी जीवन को संगठित भी करना चाहता है और बदलना भी चाहता है ताकि आदिवासी का स्तर बदलने के साथ साथ उसका भी स्तर बदले। बालिग मताधिकार, सरकारी नौकरियों तथा विधानसभाओं में आदिवासियों को मिली आरक्षित मांगों ने इस प्रक्रिया को और भी प्रखर बना दिया है।

वर्ग विकास के कई सामाजिक परिणाम निकले हैं पहला गणजाति में वर्ग-व्यवस्था का समावेश हो रहा है जिसके कारण गणजाति में वर्गविभेदीकरण की प्रक्रिया प्रारम्भ हो गई है। दूसरा उच्च वर्ग को अपनी सामाजिक प्रतिष्ठा के लिये गणजाति की प्रतिष्ठा को उठाने की आवश्यकता पड़ रही है जिसके कारण वर्ग विभेदीकरण के साथ साथ गणजाति एकीकरण की प्रक्रिया भी चल रही है। जाति की भाँति गणजाति में भी विश्रृंखलन तथा एकीकरण की प्रक्रियायें साथ साथ चल

रही हैं। तीसरा इन साथ-साथ चलने वाली विशृंखलन तथा एकीकरण की प्रक्रियाओं की एक अभिव्यक्ति है हिंदूकरण और योरोपीयकरण, दूसरी आदिवासी पुनरुन्नयन और तीसरी आदिवासी संघ जैसे सुधारवादी संगठनों का अभ्युदय, स्वतन्त्र नागा प्रदेश और बिहार तथा उड़ीसा के आदिवासियों द्वारा अखण्ड प्रान्त जैसी मांगों के द्वारा राजनैतिक अधिकारों की मांग। चौथा, आदिवासी समाज में एक ऐसा वर्ग पैदा हो गया है जो आदिवासी है भी और नहीं भी, जो आदिवासी संस्कृति के सीमान्त में है और आदिवासी संस्कृति के सुधार की मांग कर रहा है। आज आदिवासी समाज का नेतृत्व इसी वर्ग के हाथ में है—वह वर्ग जो अंशत आदिवासी नहीं रहा है किन्तु जो आदिवासीत्व को छोड़ भी नहीं सकता है क्योंकि उसका स्वार्थ इसी में है। वंशानुगत नेतृत्व के प्रभाव के कम होने और इस वर्ग के नेतृत्व का प्रभाव बढ़ने का परिणाम यह हुआ है कि आदिवासी संस्कृति के प्रति आदिवासी के दृष्टिकोण में विरोध आ गया है जिससे जीवन के प्रति उदासीनता को प्रोत्साहन मिल रहा है।

अंग्रेजी राज के संघात से, एक ओर गणजाति प्रशासन व्यवस्था बदली। अँग्रेजों की पृथक्करण की नीति के कारण आदिवासी राष्ट्रीय जीवन के प्रवाह से अलग रहे और दूसरी ओर, यह विचार धीरे धीरे पनपता गया कि आदिवासी क्षेत्रों के लिये एक अलग प्रशासन प्रणाली की आवश्यकता है। इसका परिणाम हुआ अप्रत्यक्ष प्रशासन प्रणाली (The System of Indirect Rule) जो अंग्रेजी राज्य-काल में विकसित हुआ है। इस विकास को ऐतिहासिक परिस्थितियों ने जन्म दिया है। अप्रत्यक्ष प्रशासन और आदिवासियों का पृथक्करण, अंग्रेजी नीति के दो आधार रहे हैं जिनका श्रीगणेश उस समय हुआ था जब बंगाल की राजमहल पहाड़ियों में रहने वाली गणजाति (हिल पहाड़िया) के आन्दोलन को कुचलने तथा आदिवासी नेताओं को पेंशन के रूप में घूस देकर उन्हें चुप करने के बाद, सन 1872 में अंग्रेजों ने राजमहल पहाड़ियों के आदिवासी क्षेत्र में, स्थानीय नेताओं को दीवानी तथा फौजदारी के मुकदमों का फैसला करने का अधिकार देकर, स्थानीय न्यायालयों का संगठन किया। हिल पहाड़िया गणजाति के लोगों ने, हिन्दू जमींदारों से तंग आकर, विद्रोह किया था। इसलिये उन्हें बेलगानी जमीन दी गई। एक विधानसभा का संगठन करके उसे स्थानीय प्रशासन और न्याय-व्यवस्था का संगठित करने का अधिकार दिया गया। किन्तु स्थानीय अफसरों के भ्रष्टाचार के कारण यह प्रयोग सफल न हो सका। बाद में (1827) इस प्रदेश की गणजातियों को साधारण प्रान्तों के अधिकार क्षेत्र में लाकर, उन्हें अंशत आदिवासी विधि प्रणाली और अंशत, सामान्य भारतीय विधि प्रणाली के अंतर्गत रक्खा गया। सन 1855 में, जब संथालों ने विद्रोह किया तो संथाल क्षेत्र के अफसरों को विशेष प्रशासनिक अधिकार देकर, संथाल-क्षेत्रों को विशेष प्रशासन-क्षेत्र घोषित करके, उनका विशेष उत्तरदायित्व गवर्नर जनरल को दिया गया। इसप्रकार, आदिवासी क्षेत्रों को विशेष अनुसूचित

क्षेत्र मानकर और उनके लिये स्थानीय प्रथाओं के अनुसार स्थानीय नेताओं की सहायता से प्रशासन चलाने की परम्परा का अभ्युदय हुआ, जो सन 1947 तक बनी रही। इस परम्परा में, किसी भी क्षेत्र को विशेष या अनुसूचित क्षेत्र घोषित करने का अधिकार गवर्नर और गवर्नर जनरल को था और वहां का प्रशासन सामान्य प्रशासन से अलग गवर्नर जनरल का विशेष उत्तरदायित्व था। इस नीति से आदिवासी पृथक्करण को प्रोत्साहन मिला। अंग्रेजों ने आदिवासियों को अन्य भारतीयों से पृथक्कृत ही नहीं किया वरन उनके लिये अलग प्रशासन नियमों और दण्ड विधान की व्यवस्था थी। अपराधी गणजातियां अधिनियम के अनुसार, अपराधी गणजातियों के अपराधियों को, समान अपराध के लिये सामान्य व्यक्ति से अधिक दंड देने का विधान किया गया था जो अब समाप्त हो गया है।

गणजातियों के अप्रत्यक्ष प्रशासन की परम्परा अंग्रेजों के पहले से चली आ रही थी। भारत के सम्राटों और राजाओं ने गणजातियों को अपनी राजनैतिक अधीनता में रक्खा, उनसे कर लिया किन्तु उनके सामाजिक आर्थिक जीवन को वैसा ही रहने दिया और गणजाति के आन्तरिक प्रशासन में हस्तक्षेप नहीं किया। गणजाति के वंशानुक्रम नेता किसी राजा या सम्राट की अधीनता में अवश्य रहते थे किन्तु स्थानीय शासक के रूप में वे स्वतन्त्र रहते थे। वे प्रशासन के वेतनिक एजेण्ट नहीं होते थे। किन्तु अंग्रेजों ने अप्रत्यक्ष प्रशासन की जो व्यवस्था चलाई उसमें गणजाति के नेता जब अंग्रेजों की ओर से सरकारी प्रशासक नियुक्त किये गए तो, वे नेता न रहकर एक विदेशी सरकार के वैतनिक एजेण्ट हो गये। उनका उत्तरदायित्व गणजाति के प्रति न रहकर, सरकार के प्रति हो गया। उनका नेतृत्व गणजाति के सदस्यों की इच्छा पर न निर्भर रहकर सरकार की इच्छा पर निर्भर रहने लगा। अपनी सत्ता जमाये रखने के लिये विदेशी सरकार ने उन्हें अधिक से अधिक सम्भव अधिकार दिये। इसका परिणाम यह हुआ कि नयी आर्थिक प्रशासन व्यवस्था में उन्हें वैयक्तिक स्वार्थों को समझने की प्रेरणा मिली। रिश्वत लेना, गबन करना, भ्रष्टाचार फैलाना, अपराधों के प्रमाणों को दबाना और अपने ही साथियों का शोषण करना सरकार द्वारा नियुक्त आदिवासी अफसरों के मुख्य काय हो गये। आसाम की अप्रत्यक्ष प्रशासन प्रणाली की आलोचना करते हुए हटन ने लिखा था कि 'वंशानुक्रम मुखिया को मिलने वाली सरकारी मान्यता से शोषण और भ्रष्टाचार का फैलना स्वाभाविक है क्योंकि विद्रोह के डर से सरकार मुखिया के अधिकारों को सहन करता है और मुखिया अपने अधिकारों का निरंकुश दुरुपयोग करता है'[1]।

मजूमदार के मत में आदिवासी स्थानीय प्रशासन भ्रष्ट है लेकिन फिर भी, आदिवासियों में शुद्ध स्थानीय प्रशासन की स्थापना के पक्ष में यथेष्ट तर्क हैं पहला, आदिवासियों में स्थानीय प्रशासन की परम्परा रही है और उसे उन्होंने सुरक्षित कर

1 डी० एन० मजूमदार कृत दि मट्रिक्स आफ इण्डियन कल्चर से उद्धत पृष्ठ 138

रखा है। दूसरा आदिवासी-योरोपियन सम्पर्क के बावजूद आदिवासी संस्कृति के अनेक पक्ष ज्यों के त्यों हैं। तीसरा गणजाति के मुखिया अब भी वैसे ही काम कर रहे हैं जैसे कि वे, योरोपियनों के सम्पर्क में आने के पहले करते थे। चौथा, प्रजातन्त्र की योरोपीय धारणा आदिवासियों में नहीं पाई जाती है। आदिवासी शासक तथा उसकी वृद्ध परिषद के स्थान पर जिलाधीश की नियुक्ति आदिवासी प्रशासन का स्थान नहीं ले सकती है। आदिवासी शासन प्रणाली के स्थान पर, जिलाधीश शासन प्रणाली की स्थापना वस्तुतः एक ऐसी बाह्य प्रणाली की स्थापना करना है जिसका आदिवासी जीवन में कोई स्थान नहीं है। मजूमदार आदिवासी क्षेत्रों में, स्थानीय प्रशासन प्रणाली अपनाने के पक्ष में हैं क्योंकि एक ओर योरोपीय प्रशासन प्रणाली आदिवासियों के लिये विदेशी है और दूसरी ओर आदिवासियों में स्थानीय प्रशासन प्रणाली की परम्परायें अब भी विद्यमान हैं[1]। इसी परम्परा का

1 अधिकतर गणजातियों में गणजातीय संगठन पाया जाता है। कहीं सम्पूर्ण गणजाति का वंशानुक्रम मुखिया पाया जाता है कहीं गांव या कई गांवों से मिलकर बने क्षेत्र के वंशानुक्रम अध्यक्ष या मुखिया पाये जाते हैं जो राजनैतिक और सामाजिक सत्ता के अधिकारी होते हैं। ये अध्यक्ष या मुखिया अक्सर गणजाति के वृद्धों की सलाहकार परिषद की राय से काम करते हैं। परिषद के सदस्यों की सत्ता या तो मुखिया से मिलती है या गांव के निर्माण में उनके द्वारा दिये हुए योगदान से। छोटा नागपुर में ऐसे लोगों को खूट कट्टादार या भुइंहार (जंगल साफ करने वाला) कहते हैं। हो गणजाति में प्रत्येक गांव का एक अध्यक्ष (मुण्डा) होता है जो पीर्हा अध्यक्ष (मनकी) के अधीन होता है। एक पीर्हा में बीस गांव आते हैं। प्रत्येक गांव में एक पुजारी, एक मुनीम और कई कार्यवाहक होते हैं जो गांव के अफसर समझे जाते हैं। फसल कटने पर, इन लोगों को प्रत्येक परिवार से पारिश्रमिक मिलता है। कुछ मुण्डा गांवों में ग्राम अध्यक्ष और पुजारी एक ही व्यक्ति होता है किन्तु जहां गांव बड़ा होता है, वहां पुजारी और अध्यक्ष के पद अलग अलग लोगों के पास होते हैं। सन्थालों में, ग्रामाध्यक्ष मांझी कहलाता है और वह परगना अध्यक्ष (परगनाइत) के अधीन होता है। एक परगने में कई गांव आते हैं। मांझी और परगनाइत दोनों मिलकर सन्थाली सामाजिक व्यवस्था का नियमन करते हैं। जोग मांझी, मांझी के आदेशों को लागू करता है। खोंडों में प्रत्येक कलान का मुखिया और ग्रामवृद्ध मिलकर स्थानीय प्रशासन चलाते हैं। गोंडों में पटेल ग्रामाध्यक्ष भी होता है और धर्माध्यक्ष भी। इसप्रकार, आदिवासी समाज के भी वंशानुक्रम प्रशासक केवल प्रशासक नहीं हैं और न केवल वे राजनैतिक नेतामात्र हैं। उनका पद सांस्कृतिक जीवन का एक अंग है—मजूमदार दि मट्रिक्स आफ इंडियन कल्चर पृष्ठ 139-41

उपयोग आदिवासी प्रशासन में होना चाहिए न कि सरकार द्वारा नियुक्त भ्रष्ट आदिवासी एजण्टों का। मजूमदार के तर्क का आधार यह तथ्य है कि आदिवासी प्रशासन व्यवस्था योरोपीय व्यवस्था से भिन्न है और इस कारण आदिवासियों पर योरोपीय व्यवस्था लादी नहीं जानी चाहिए। आदिवासी क्षेत्रों में थाना और पुलीस की स्थापना को मजूमदार महत्त्व नहीं देते हैं क्योंकि वे आदिवासियों का आदिवासियों द्वारा प्रशासन चाहते हैं। उनके तर्क का मुख्य उद्देश्य है आदिवासी जीवन का सभ्यता के विशृंखलनकारी प्रभावों से बचाना।

स्वतन्त्रता के पश्चात सारी समस्या ने एक नया रूप ले लिया है क्योंकि अब योरोपीय बनाम आदिवासी की समस्या नहीं रही है। अब समस्या है एक ऐसी प्रशासन प्रणाली की स्थापना की जिसमें आदिवासी जीवन विशृंखलित भी न हो और उसका राष्ट्रीय प्रवाह से पृथक्करण भी न हो। संविधान में जिस प्रशासन प्रणाली का निरूपण किया गया है उसमें अंग्रेजों द्वारा स्वीकृत प्रणाली को थोड़ा बदलकर स्वीकार किया गया है। आज आदिवासी एक अलग समूह नहीं है। वे भारत के नागरिक हैं और उन्हें वही मौलिक अधिकार तथा सुविधायें प्राप्त हैं जो भारत के एक सामान्य नागरिक को प्राप्त हैं। किन्तु आदिवासी एक पिछड़ा हुआ अल्पसंख्यक वर्ग है अतः उसके लिये विशेष प्रशासन की अवधारणा को स्वीकार किया गया है। संविधान में यह निर्देश किया गया है आदिवासियों और पिछड़ी जातियों के सामाजिक विकास और कल्याण की देखभाल राष्ट्रपति और राज्यपालों का विशेष उत्तरदायित्व है। इसके लिये राष्ट्रपति को, राज्यपाल की सलाह से, किसी भी गणजाति और जाति को अनुसूचित घोषित करने का अधिकार दिया गया है। राष्ट्रपति को यह अनुसूचित क्षेत्र घोषित करके वहाँ के राज्यपाल को अधिकार भी दिया गया है कि आदिवासी कल्याण के लिये वह आदिवासी क्षेत्रों की उचित देखभाल के लिए आदेश दे और समय समय पर उसमें कल्याणकारी कार्यक्रम के विकास पर रिपोर्ट ले। पिछड़े वर्गों की जाँच करने और उनके सुधार के लिये सलाह देने के लिये राष्ट्रपति को कमीशन नियुक्त करने का भी अधिकार है। काका कालेलकर की अध्यक्षता में ऐसा एक कमीशन (1952-53) अपनी रिपोर्ट पेश कर चुका है। राष्ट्रपति को इसके लिये एक विशेष आफिसर नियुक्त करने का अधिकार है जिसके फलस्वरूप पिछड़े वर्गों (जिनमें अनुसूचित जातियाँ तथा गणजातियाँ और क्षेत्र आते हैं) में विकास कार्य की देखभाल के लिये एक कमिश्नर की नियुक्ति की गई है।

संविधान में यह निर्देश दिया गया है कि राज्य समाज के कमजोर तबकों की शिक्षा और आर्थिक हितों का विशेष ख्याल रखेगी और सभी प्रकार के सामाजिक अन्यायों तथा शोषणों से उनकी रक्षा करेगी तथा इस दिशा में अनुसूचित जातियों और गणजातियों की दशा पर विशेष ध्यान देगी। संविधान में बिहार, मध्यप्रदेश और उड़ीसा में आदिवासी-कल्याण-मन्त्रालयों के संगठन का निर्देश है क्योंकि इन

प्रदेशों में आदिवासियों की संख्या ज्यादा है। आसाम के प्रशासन के लिये, अलग विधान है और, जो क्षेत्र आसाम, उड़ीसा, बिहार और मध्यप्रदेश के बाहर पड़ते हैं, उनके लिये एक अलग विधान की व्यवस्था है। आसाम के आदिवासी-क्षेत्रों के प्रशासन के लिये, स्थानीय शासन के अधिकारों से युक्त मण्डलों और प्रदेशों के निर्माण तथा उनमें परिषदों के संगठन का विधान किया गया है। ये परिषद स्थानीय मामलों में स्वतन्त्र हैं और स्थानीय सामाजिक जीवन के नियमन का इन्हें अधिकार है। न्याय-प्रशासन का भी इन्हें अधिकार है। भारतीय दण्ड संहिता में स्थानीय आवश्यकताओं के अनुसार, ये परिषदें परिवर्तन कर सकती हैं। संसद के अधिनियमों को अपने क्षेत्र में लागू करने, रोकने या बदलने का इन्हें अधिकार है। नागालैण्ड आज एक अलग प्रदेश के रूप में बदल गया है।

संविधान के अनुसार आदिवासियों को बालिग मताधिकार मिला है। भारतीय संसद और प्रदेशों की विधानसभाओं में आदिवासियों की सीटें आरक्षित हैं। सरकारी नौकरियों में भी उनकी सीटें आरक्षित हैं। सीटों के आरक्षण का विधान पहले दस साल के लिये था किन्तु, बाद में इसे अब 26 जनवरी सन 1970 तक बढ़ा दिया गया है। अनुसूचित गणजातियों के कल्याण तथा उनका अच्छा प्रशासन प्रदान करने के लिए संविधान में यह निर्देश दिया गया है कि केन्द्रीय सरकार राज्य सरकारों को अलग से अनुदान दिया करेगी।

संविधान में आदिवासी सलाहकार परिषद के संगठन का विधान है। इस परिषद का कार्य राज्यपाल को आदिवासी प्रशासन के मामलों में सलाह देना है। संविधान में राज्यपाल को यह अधिकार दिया गया है कि अपने राज्य के अनुसूचित क्षेत्र में सामान्य कानून का लागू होना रोक सकता है या उसे आवश्यकतानुसार बदल सकता है। राज्यपाल सलाहकार परिषद की सलाह मानने के लिए बाध्य नहीं है किन्तु उसका यह अधिकार निरंकुश भी नहीं है। आदिवासी क्षेत्र में शान्ति बनाये रखने के लिए या उन्नततर प्रशासन लाने के लिए या व्यापारियों तथा सूदखोरों की गतिविधियों पर नियन्त्रण रखने के लिए या आदिवासियों की भूमि का दूसरों के हाथ में जाने से रोकने के लिए या भूमि का बटवारा करने के लिए राज्यपाल सामान्य कानून को रोक या बदल सकता है।

भारतीय संविधान में, इसप्रकार, जिस प्रशासन-व्यवस्था की रूपरेखा रक्खी गई है उसके आधारभूत उद्देश्य हैं आदिवासी समाज की विशिष्टता बनाये रखना उसे धीरे धीरे भारत के राष्ट्रीय जीवन से एकीकृत करना विश्रृंखलनकारी तथा शोषण शक्तियों को दूर करना और आदिवासी समाज के विकास तथा कल्याण के मार्ग को प्रशस्त करना। भारत का नागरिक मानते हुए भी आदिवासियों को अलग से विशिष्ट अधिकार प्रदान करना अन्ततः भारत की संस्कृतीकरण की प्रक्रियाओं और अंग्रेजों द्वारा अपनाई गई नीति के स्वाभाविक ऐतिहासिक परिणाम हैं।

हमारा जीवन अब निरथक है। हम एक ही गणजाति के हैं। आओ हम सगठित हो और सगठित होकर हम भी मारें लूट और नाश करें। छोटा नागपुर के एक जमन मिशन की रिपोट म आदिवासी भावना का इसप्रकार व्यक्त किया गया है हमे प्रेतात्माओ की पूजा छोडकर इसाई हो जाना चाहिए ताकि, पादरियो की सहायता से हम हिंदुओ क अन्याय स बच सक और अपनी खोई हुई धरती पुन प्राप्त कर सक [1]। इसाइयत न आदिवासिया को आध्यात्मिक प्ररणा नही दी वरन प्रतिक्रियात्मक प्रेरणा दी है। इसाइयत स आदिवासी बनाम गर आदिवासी क सामाजिक सघष को प्ररणा मिली है। नागा प्रश्न के और हाल क बिहार तथा उडीसा क दग इसका प्रमाण हैं।

इसाइयत क सघात न आदिवासिया म सस्कृतीकरण की जिस प्रक्रिया को जन्म दिया है वह सस्कृताइजशन की ओर नही वरन योरोपीयकरण की ओर उन्मुख रही है। योरोपीयकरण का अथ रहा है चच सगठन म प्रविष्ट होना चच पूजा पद्धति का तथा इसाई ईश्वरवाद को अपनाना, आदिवासी विश्वासो तथा कमकाण्ड को छोडना योरोपीय वेश भूषा तथा तौर तरीको और इसाई सामाजिक सगठनो (मुख्यतया एक विवाही पितसत्तात्मक परिवार, इसाई विवाह पद्धति तथा व्यक्तिवादी सामाजिक सम्बन्धो) का अपनाना। इसाई धम म प्रविष्ट होने वाल आदिवासी, सस्कृतिकरण की इस प्रक्रिया म अपन ही घर नही छोड दिये जाते हैं। इसाई मिशनरी बराबर इस प्रक्रिया का आगे बढन के लिए प्रयत्नशील रहत है। इसका परिणाम यह होता है कि आदिवासी क देशी तौर-तरीको और इसाई तौर तरीको मे सघष उत्पन्न हो जाता है। इसाइयत ने आदिवासी समाज म वयक्तिक सम्पत्ति के अधिकारो पितसत्तात्मक परिवार और उत्तराधिकार-सम्बन्धी विचारो का प्रोत्साहित किया है। कही कही ये विचार आदिवासी प्रथाओ के विरोध मे पड कर सघष उत्पन्न करत हैं। खासी इसाइयो क मातसत्तात्मक परिवार सगठन म सबस छोटी लडकी क उत्तराधिकार की वैधता को लेकर, मुकदमे चलने क विवरण मिले हैं। जो इसाई खासी हो गए हैं वे खासी परम्पराओ का नवनिवचन करके वह प्रतिपादित करन लग है जो सम्भवत, खासी परम्पराओ म नहीं है। इसाइ गाड गातुल को हय दष्टि स देखन लगे हैं।

इसाई मिशनरियों ने आदिवासिया मे शिक्षा का प्रसार किया उन्हे सभ्यता से परिचित कराया उनक लिए अस्पतालो का स्थापित किया उनकी बोलियो का विकास करके, उन्हे भाषा का स्तर प्रदान करने का प्रयास किया और जमीदारो तथा महाजनो क शोषण स उन्हे त्राण दिलान की कोशिश भी की। किन्तु साथ ही साथ, मिशनरियों ने, आदिवासियो को इसाई बना कर एक एसे सास्कृतिक ससार म ला पटका है जो न भारतीय है, न आदिवासी और न योरोपीय। यह एक सीमा त ससार

1 मजूमदार, डी० एन० रेजेस एण्ड कल्चर्स आफ इण्डिया पष्ठ 381 82

प्रदेशों में आदिवासियों की संख्या ज्यादा है। आसाम के प्रशासन के लिये, अलग विधान है और, जो क्षेत्र आसाम, उड़ीसा, बिहार और मध्यप्रदेश के बाहर पड़ते हैं, उनके लिये एक अलग विधान की व्यवस्था है। आसाम के आदिवासी क्षेत्रों के प्रशासन के लिये, स्थानीय शासन के अधिकारों से युक्त, मण्डलों और प्रदेशों के निर्माण तथा उनमें परिषदों के संगठन का विधान किया गया है। ये परिषदें स्थानीय मामलों में स्वतंत्र हैं और स्थानीय सामाजिक जीवन के नियमन का इन्हें अधिकार है। न्याय प्रशासन का भी इन्हें अधिकार है। भारतीय दण्ड संहिता में, स्थानीय आवश्यकताओं के अनुसार, ये परिषदें परिवर्तन कर सकती हैं। संसद के अधिनियमों का अपने क्षेत्र में लागू करने, रोकने या बदलने का इन्हें अधिकार है। नागालैण्ड आज एक अलग प्रदेश के रूप में बदल गया है।

संविधान के अनुसार आदिवासियों को बालिग मताधिकार मिला है। भारतीय संसद और प्रदेशों की विधानसभाओं में आदिवासियों की सीटें आरक्षित हैं। सरकारी नौकरियों में भी उनकी सीटें आरक्षित है। सीटों के आरक्षण का विधान पहले दस साल के लिये था किन्तु बाद में इसे अब 26 जनवरी सन 1970 तक बढ़ा दिया गया है। अनुसूचित गणजातियों के कल्याण तथा उनका अच्छा प्रशासन प्रदान करने के लिये संविधान में यह निर्देश दिया गया है कि केन्द्रीय सरकार राज्य सरकारों को अलग से अनुदान दिया करेगी।

संविधान में आदिवासी सलाहकार परिषद के संगठन का विधान है। इस परिषद का कार्य राज्यपाल को आदिवासी प्रशासन के मामलों में सलाह देना है। संविधान में राज्यपाल को यह अधिकार दिया गया है कि अपने राज्य के अनुसूचित क्षेत्र में सामान्य कानून का लागू होना रोक सकता है या उसे आवश्यकतानुसार बदल सकता है। राज्यपाल सलाहकार परिषद की सलाह मानने के लिए बाध्य नहीं है किंतु उसका यह अधिकार निरंकुश भी नहीं है। आदिवासी क्षेत्र में शान्ति बनाये रखने के लिए या उन्नततर प्रशासन लाने के लिए या व्यापारियों तथा सूदखोरों की गतिविधियों पर नियंत्रण रखने के लिए या आदिवासियों की भूमि का दूसरों के हाथ में जाने से रोकने के लिए या भूमि का बटवारा करने के लिए राज्यपाल सामान्य कानून को रोक या बदल सकता है।

भारतीय संविधान में, इसप्रकार, जिस प्रशासन व्यवस्था की रूपरेखा रक्खी गई है उसके आधारभूत उद्देश्य हैं आदिवासी समाज की विशिष्टता बनाये रखना उसे धीरे धीरे भारत के राष्ट्रीय जीवन से एकीकृत करना विघ्न खलनकारी तथा शोषण शक्तियों को दूर करना और आदिवासी समाज के विकास तथा कल्याण के मार्ग को प्रशस्त करना। भारत का नागरिक मानते हुए भी आदिवासियों को अलग से विशिष्ट अधिकार प्रदान करना अशान्त भारत की संस्कृतीकरण की प्रक्रियाओं और अंग्रेजों द्वारा अपनाई गई नीति के स्वाभाविक ऐतिहासिक परिणाम है।

इसाइयत का संघात

मजूमदार के अनुसार इसाई मिशनरियों ने आदिवासियों में इसाइयत का प्रचार करके, आदिवासी सामाजिक सांस्कृतिक जीवन की जटिलताओं और समस्याओं को और भी बढ़ा दिया है। एक ओर पूंजीवादी व्यवस्था के प्रभावों से गणजाति की सामाजिक संरचना में वर्ण-विभेदीकरण बढ़ा तो, दूसरी ओर, इसाइयत के प्रचार से गणजाति का धर्म के आधार पर लम्बात्मक (Vertical) विभाजन हुआ और दोनों के सम्मिलित प्रभाव से सामाजिक विशृंखलन और गैर आदिवासीकरण (Detribalization)। आदिवासी गांवों की जनता और गणजातियां आदिवासियों और गैर-आदिवासियों में बंट गए और उनमें सम्पर्क ही नहीं कम हुआ वरन धार्मिक संघर्ष भी बढ़ा। खासी इसाइयों और गैर इसाइयों में बंट गये हैं और खासी गणजाति के इन दो तबकों में बहुत ही कम सामाजिक सम्पर्क है। इसाई धर्म में प्रविष्ट सभी आदिवासियों को उच्च आर्थिक स्तर न मिल सका। इसाई धर्म स्वीकार करने वाले आदिवासियों को समाज में तिरस्कार की नजर से देखा जाता है जिसका परिणाम यह होता है कि इसाई आदिवासियों को अनेक नागरिक अधिकारों (Civic Rights) से भी हाथ धोना पड़ता है क्योंकि आदिवासी इसाई आदिवासी को घृत मानते हैं अतः इसाई होने वाले आदिवासी या तो अधिकतर मिशन की नौकरी करते हैं या फिर शहरों में चले जाते हैं। जहां इसाई आदिवासियों की संख्या अधिक है, वहां उनका प्रभुत्व रहता है और जहां उनकी संख्या कम है वहां अपनी ही बिरादरी की दृष्टि में हेय बनने से बचने के लिए वे शहरों में स्थानान्तरित हो जाते हैं। तमाम आराव और मुण्डा इसाई रिक्शा चलाकर, बोझा ढोकर खेतिहर मजदूरों के रूप में काम करके और छोटे मोटे शिल्पी पेशे अपनाकर जीवन बसर करते पाये गये हैं।

इसाइयत के प्रसार में आदिवासी समाज में विषमता ही नहीं आई है वरन संस्कृतिकरण की अनेक समस्यायें उत्पन्न हो गई हैं। हिन्दुत्व में गणजाति का रूपान्तरण धीरे धीरे होता था और इस रूपान्तरण में आदिवासी को अपने विश्वासों और प्रथाओं को सहसा बदलना नहीं पड़ता था। जाति गणजाति सतति में चलने वाली हिन्दूकरण की प्रक्रिया में या तो सम्पूर्ण गणजाति किसी सुधारवादी आन्दोलन के माध्यम से अपना उत्तरोत्तर हिन्दूकरण करती थी, या गणजाति के नेता हिन्दुत्व से आकृष्ट होकर, अपनी तथा गणजाति की सामाजिक प्रतिष्ठा को ऊंचा उठाने के लिए गणजाति में हिन्दू विश्वासों और प्रथाओं को नवोन्मेष (Innovation) के रूप में धीरे धीरे अपनाते थे। जाति के रूप में गणजाति की विशिष्टतायें बनी रहती थीं। हिन्दूकरण का मूल आधार रहा है संस्कृताइजेशन इसमें हिन्दू प्रथाओं का वहीं तक अपनाया गया है जहाँ तक आवश्यक है। संस्कृताइजेशन का अर्थ गणजाति की संस्कृति का आमूल चूल परिवर्तन नहीं रहा है और सकारण, संस्कृताइजेशन में गणजाति का सांस्कृतिक उन्मूलन नहीं होता था वरन्

हिन्दू समाज में गणजाति को उसकी आधारभूत विशिष्टताओं के साथ एक निश्चित सामाजिक प्रतिष्ठा प्राप्त होती थी। गणजाति का जाति में रूपान्तरित होने का अर्थ होना था गणजाति द्वारा अपने विश्वासों और प्रथाओं में निगम परम्पराओं का समन्वय। हिन्दुत्व उस रूप में संगठित मिशनरीवादी धर्म नहीं रहा है जिस रूप में इसाइयत है। इसलिए हिन्दुत्व में प्रवेश करने वाले समूहों से आरधारभूत सांस्कृतिक परिवर्तन की मांग नहीं की गई है। और फिर जाति तथा गणजाति के सांस्कृतिक आधारों में इतनी समानता रही है कि गणजाति का जाति में रूपान्तरण अवरोध रहित होने के साथ साथ सामाजिक प्रतिष्ठा प्रणाली में एक स्तर ऊपर उठा हुआ क्रम होता था।

इसाइयत के सघात से इस प्रक्रिया को दूसरा रूप मिला। इसाइयत का पहला प्रभाव यह पडा कि आदिवासी विशेषत इसाई आदिवासी अपने को आदिवासी और हिन्दू में अलग एक विशिष्ट-समूह मानने लगे। इसाई मिशनरियो ने व्यक्तियो का धर्म परिवर्तन कराया है गणजातियों का नही जिसके कारण, आदिवासी समाज में और इसाई आदिवासियो के मानसिक गठन में हिन्दू बनाम आदिवासी को लेकर, सामाजिक-मानसिक द्वन्द्व का समावेश हुआ। इसाई मिशनरियों ने दवाइयाँ, अन्न और कपडे पहले बांटे स्कूल पहले खोले और इसाइयत का प्रचार बाद में किया। इसलिए, आदिवासी इसाइयत की ओर आध्यात्मिकता के कारण नहीं वरन कुछ सांसारिक लाभो की पूर्ति की प्रेरणा से आकृष्ट हुए। इसाइयत की सुव्यवस्थित बौद्धिक धर्मविद्या और आदिवासी के आधिदैविक सम्बन्धी भावात्मक विश्वास और कर्मकाण्ड परस्पर विरोधी हैं। इसाई आदिवासी इसी विरोध का शिकार हुआ जिसका परिणाम यह हुआ कि इसाई आदिवासी न तो इसाई रहा और न आदिवासी। दूसरे धर्मों को हेय बताकर, अपने धर्म की श्रेष्ठता प्रतिपादित करना मिशनरी कार्य की एक साधारण विशेषता है। इसका परिणाम यह हुआ कि इसाई मिशनरी और इसाई-आदिवासी ने जहाँ आदिवासीत्व को हेय माना वहाँ आदिवासी इसाइयत के प्रति दयालु हो गया।

जहाँ गणजातियाँ और निम्नस्तर की जातियाँ काफी दिनो से साथ-साथ रहती आई हैं और उनके हितों में संघर्ष नही रहा है, वहाँ गणजातियाँ जाति के घेरे में प्रवेश करती रही है। किन्तु जहाँ आदिवासी हिन्दू जमींदारों, व्यापारियों और सूदखोरों के शोषण के शिकार रहे हैं और उन्हें बेगार करनी पडी है तथा आर्थिक कठिनाइयो के कारण अपनी खेती की भूमि से हाथ धोना पड़ा है और इन बाहरी लोगो के कारण आदिवासी नारियों का सतीत्व भंग होता रहा है वहाँ, इसाइयत को एक प्रतिक्रियावादी माध्यम के रूप मे अपनाया गया है। कोल विद्रोह (1932) और छोटा नागपुर के आस पास इसाइयत का प्रसार ऐसी ही परिस्थिति का परिणाम है। छोटा नागपुर के आस-पास गाये जाने वाले एक लोकगीत में यह भाव आता है कि पठानो ने आकर हमारी हुरमत और सिक्खो ने हमारी बहनों की अस्मत लूट ली।

हमारा जीवन अब निरथक है। हम एक ही गणजाति के है। आओ हम सगठित हो और सगठित होकर हम भी मारें लूट और नाश करें। छोटा नागपुर के एक जमन मिशन की रिपोट म आदिवासी भावना को इसप्रकार व्यक्त किया गया है हम प्रतात्माओं की पूजा छोडकर इसाई हो जाना चाहिए ताकि पादरियो की सहायता से हम हिंदुओ के अयाय से बच सक और अपनी खोई हुइ सत्ती पुन प्राप्त कर सक [1]। इसाइयत ने आदिवासियो को आध्यात्मिक प्ररणा नही दी वरन प्रतिक्रियात्मक प्रेरणा दी है। इसाइयत से आदिवासी बनाम गर आदिवासी के सामाजिक सघष को प्ररणा मिली है। नागा प्रदश व और हाल के बिहार तथा उडीसा के दग इसका प्रमाण हैं।

इसाइयत के सघात ने आदिवासियो म सस्कृताकरण की जिस प्रक्रिया को जन्म दिया है वह सस्कृताइजेशन की ओर नही वरन योरोपीयकरण की ओर उन्मुख रही है। योरोपीयकरण का अथ रहा है चच सगठन म प्रविष्ट होना चच पूजा पद्धति का तथा इसाई ईश्वरवाद को अपनाना आदिवासी विश्वासो तथा कमकाण्ड को छोडना योरोपीय वश भूषा तथा तौर-तरीका और इसाई सामाजिक सगठनो (मुख्यतया एक विवाही पितसत्तात्मक परिवार इसाई विवाह पद्धति तथा व्यक्तिवादी सामाजिक सम्बन्धो) का अपनाना। इसाई धम म प्रविष्ट होने वाले आदिवासी सस्कृतिकरण की इस प्रक्रिया म स्वयन ही पर नही छोड दिय जाते हैं। इसाई मिशनरी बराबर इस प्रक्रिया को आगे बढन क लिए प्रयत्नशील रहते है। इसका परिणाम यह होता है कि आदिवासी के देशी तौर तरीको और इसाइ तौर तरीको मे सघष उत्पन्न हो जाता है। इसाइयत ने आदिवासी समाज म वयक्तिक सम्पत्ति के अधिकारो पितसत्तात्मक परिवार और उत्तराधिकार-सम्बन्धी विचारो को प्रोत्साहित किया है। कही कही ये विचार, आदिवासी प्रथाओ के विरोध म पड कर सघष उत्पन्न करते हैं। खासी इसाइयो क मातसत्तात्मक परिवार सगठन म सबस छोटी लडकी के उत्तराधिकार की वधता को लकर, मुकदम चलने के विवरण मिल हैं। जो इसाइ खासी हो गए हैं वे खासी परम्पराओ का नवनिवचन करके यह प्रतिपादित करन लग हैं जो सम्भवत, खासी परम्पराओ म नहीं है। इसाई गाड गालुल को हय दष्टि स देखन लग हैं।

इसाई मिशनरियो न आदिवासियो म शिक्षा का प्रसार किया उन्हे सभ्यता स परिचित कराया उनक लिए अस्पतालो को स्थापित किया उनकी बोलियो का विकास करके, उन्हे भाषा का स्तर प्रदान करन का प्रयास किया और जमीदारो तथा महाजनो के शोषण से उन्हे त्राण दिलान की कोशिश भी की। किन्तु साथ ही साथ मिशनरियो ने, आदिवासियो को इसाई बना कर एक ऐसे सास्कृतिक ससार म ला पटका है जो न भारतीय है, न आदिवासी और न योरोपीय। यह एक सीमान्त ससार

---

1 मजूमदार, डी० एन० रेजस एण्ड कल्चस आफ इण्डिया पष्ठ 381 82

है जिसमे संस्कृति संघर्ष का समावेश है। कहीं कहीं इसाइयत का बड़ा अस्वस्थ प्रभाव पड़ा है। इसाइयत के संघात के कारण आदिवासी में अपनी परम्परागत संस्कृति के प्रति विद्वेष और घृणा का भाव आया है। इसाइयत से जीवन स्तर का उठान की प्रेरणा अवश्य मिली है किन्तु इसाइयत से वे आर्थिक साधन नहीं मिले हैं, जिनसे जीवन-स्तर को उठाया जा सके। मिशनों ने, अधिकतर गैरतकनीकी शिक्षा का ही संगठन किया है। और फिर सभी इसाई होने वाले आदिवासी मिशन के स्कूलों में दी जाने वाली शिक्षा का उपयोग भी नहीं कर पाये हैं। इसाई होने वाले अधिकतर लोग मजदूर, कुली माली, खानसामा बैरा और अधिक से अधिक क्लर्क और पादरी होकर रह गये हैं। कुछ ऐसा देखने में आता है कि भारतीय इसाइयों की लड़कियाँ तो शिक्षा का उपयोग कर लेती है किन्तु लड़के नहीं कर पाते हैं। इसका परिणाम यह होता है कि इसाई लड़कियों की शादी एक सामाजिक समस्या बन जाती है।

जीवन स्तर को ऊंचा उठाने की प्रेरणा के अनुरूप साधन न मिलने से नैराश्य, दीनता, हीनता की भावना, दिखावे की प्रवृत्ति और अपराधी वृत्तियों का जन्म होता है। मजूमदार ने अपराधी जनजातियों के एक कैम्प के असिस्टेंट सुपरिटेंडेंट की स्थिति का वर्णन करते इसाई होने वाले गरीब लोगों की दीनता का वर्णन किया है। बड़े दिन की दावत में उसने मजूमदार को आमन्त्रित किया था। मजूमदार के अनुसार, खाने की मेज के पाये टूट थे उस ईंटों के पाये पर खड़ा किया गया था और खाना आमन्त्रित लोगों के लिए काफी न था। बीच ही में खाना खत्म हो जाने से, मेहमानों के सामने ही पति पत्नी में अनबन बातचीत हुई। दूसरे दिन प्रातःकाल उस सुपरिटेंडेंट ने मजूमदार को बताया कि उसने उस दावत के लिए कर्जा लिया था और उसने यह भी बताया कि कैसे उस अवसर रूखी सूखी रोटी खाकर गुजर करना पड़ता था। उसने यह भी बताया कि बन ठन कर जाना और दूसरों के समान कपड़े पहन कर सन्तोष और ऊंचे स्तर की जिन्दगी का दिखावा करते रहना उसके लिए लाजिमी था। मजूमदार के अनुसार ऐसा संघर्ष उस व्यक्ति का ही नहीं वरन बहुतों का है और, सम्भवतः सभ्यता के संघात का परिणाम है। छोटा नागपुर के इसाई आदिवासी बहुधा शहरों में आ जाते हैं और वहाँ मजदूरी, कुलीगिरी, रिक्शागिरी और छोटे-मोटे शिल्पी कामों को करके, जीवन निर्वाह करते हैं। लेकिन साथ ही साथ, वे योरोपियनों की वेशभूषा की नकल करते हैं, प्लेटों में तथा मेज पर खाना पसन्द करते हैं, इतवार को योरोपियनों की भांति कपड़े पहन कर बन ठन जाना पसन्द करते हैं और उन तमाम आरामदायक सभ्यता के उपकरणों को पाने की ख्वाहिश करते हैं जो उनके आर्थिक साधनों की सीमा के बाहर हैं। फलतः उनमें सामाजिक अयोग्यता और दीनता की भावना आती है जो उन्हें अपराधी वृत्तियों की ओर प्रेरित करती है। एक व्यापारी एजण्ट के अनुभव का हवाला देते हुए, मजूमदार ने, यह लिखा है कि नागा प्रदेश में अंगराग (Cosmetics), पाउडर, लिपस्टिक,

साबुन और सुगंधित तेलों की मांग आठ नौ गुना बढ़ी है जबकि रबर की बनी सन्तति निरोधक वस्तुओं की मांग इतनी बढ़ गई है कि वे बाजार भाव पर भी मिलती नहीं है। इन चीजों की मांग इसाई खासियों में ही अधिक है क्योंकि उनमें, इसाइयत के प्रभाव से वैयक्तिक स्वच्छता का स्तर बढ़ गया है[1]।

मानवशास्त्रियों का यह मत रहा है कि विदेशी इसाई मिशनरी के दृष्टिकोण में आदिवासी संस्कृति के प्रति उदारता और सहानुभूति का अभाव है क्योंकि उसका उद्देश्य आदिवासी को सच्चा इसाई बनाना रहा है। इसमें मिशनरी का भी दोष नहीं है क्योंकि आदिवासी को सच्चा इसाई बनाना उसका पेशा है और उसकी जीविका का आधार है। मिशनरी द्वारा की जाने वाली सेवाओं के पीछे स्वार्थ है और स्वार्थ तथा उदारता में विरोध है। व्यापारी, चाहे धर्म का हो या पार्थिव वस्तुओं का न तो सहिष्णु रह सकता है और न उदार। यही कारण है कि मिशनरी की गतिविधियों के प्रभाव से आदिवासी संस्कृति की शक्ति का ह्रास हुआ है और अनेक गणजातियों का सामाजिक सांस्कृतिक सन्तुलन बिगड़ गया है। यही कारण है कि मजूमदार, शरतचन्द्र राय, मिल्स और हटन जैसे मानवशास्त्रियों ने आदिवासी क्षेत्रों में काम करने वाली मिशनरियों की गतिविधि पर रोक और नियन्त्रण लगाने की मांग की है।

संस्कृति सम्पर्क और समस्यायें

सभ्यता के उत्तरोत्तर संघात से अनेक आदिवासी सांस्कृतिक प्रथायें धीरे धीरे लुप्त हो गइ, अनेक नई प्रथायें सामाजिक समस्या के रूप में आविर्भूत हुई और अनेक प्रचलित प्रथायें सामाजिक समस्यायें बन गई। जहां हिन्दूकरण की प्रवृत्ति है वहां सरल आदिवासी अनुष्ठानों के स्थान पर, जटिल हिन्दू अनुष्ठानों को और जहां इसाइयत का प्रभाव है वहां इसाई अनुष्ठानों को अपनाया जा रहा है। कहीं कहीं, बाल विवाह नया आदर्श बन गया है जो आदिवासी परम्पराओं के प्रतिकूल है। युवागृह के ह्रास से आदिवासी जीवन में तनाव पैदा हो रहा है। परम्परागत जादुई धार्मिक प्रथाओं पर से आदिवासियों का विश्वास उठ रहा है किन्तु उनके स्थान पर कोई नया आधार नहीं उत्पन्न हो रहा है। जहां विवाहपूर्व और विवाहोपरान्त परसम्बन्धों की प्रथा थी वहां इस प्रथा के दुरुपयोग के कारण आदिवासियों का नैतिक शोषण हो रहा है। जब तक ऐसे सम्बन्ध गणजाति के ही घेरे तक सीमित थे तब तक ये सामाजिक समस्या न थे। आज आदिवासी क्षेत्र में गैर आदिवासियों के रहने के कारण, यह प्रथा वेश्यावृत्ति

---

1 मजूमदार, डी० एन० दि मैट्रिक्स आफ इण्डियन कल्चर पृष्ठ 136 144-45

2 बदलती हुई परिस्थितियों में एक सामाजिक संस्था किस प्रकार नैतिक पतन और सामाजिक समस्या का कारण बन जाती है, इसका एक उपयुक्त उदाहरण

और नतिक पतन का कारण बन रही है। इसके कारण आदिवासी प्रदेशों में गुप्त रोगों की भयंकरता भी फैल रही है। वधूधन जो पहले धान्य के रूप में दिया जाता था और रक्त सम्बन्धियों के योगदान से एकत्र होता था, आज नकद दिया जाता है और प्रत्येक पिता को अपने पुत्र के लिये या स्वयं वर को अपने लिये वधू धन का प्रबन्ध करना पडता है। उधर, वधू धन की रकम वैसे ही बढ गई है, जैसे हिन्दुओं में दहेज की रकम बढ गई है। जिस व्यक्ति का सामाजिक स्तर जितना ऊंचा है वह अपनी कन्या के लिये उतना ही ज्यादा वधू धन मांगता है। इसका परिणाम यह हुआ कि बिहार में, छोटा नागपुर के आस पास की अनेक गणजातियों में, तमाम कन्याये कुंवारी रह जाती हैं। पहले यदि कोई वर व्यक्ति वधू धन नहीं दे पाता था किन्तु यदि कन्या और उसका पिता विवाह करने पर राजी होते थे तो वह, अपनी भावी पत्नी को भगाकर या उसका अपहरण करके विवाह कर लेता था। किन्तु आज 'भगाना (Elopement) और अपहरण (Capture), भारतीय दण्ड-संहिता के अनुसार, अपनयन (Abduction) है और दण्डनीय हैं। वधू धन की समस्या एक ओर ऋणग्रस्तता की समस्या को जन्म दे रही है और, दूसरी ओर, अविवाहिताओं की नतिक समस्या को। पहले, जगलों को काटकर, जगम कृषि करना एक सामान्य आदिवासी सांस्कृतिक प्रथा थी किन्तु आज वह कानूनन बन्द कर दी गई है और कानून की सीमा का उल्लघन दण्डनीय है। आदिवासी पंचायत प्रणाली की अनेक दण्ड व्यवस्थायें, जिनका पहले उल्लेख किया जा चुका है, भारतीय दण्ड-संहिता के

जौनसार बावर में मिलता है। यहां स्त्रियां कई पतियों की पत्नी होती हैं। अपने पिता के घर में, उन्हें गाव के लोगों के साथ विलासी जीवन बिताने की अनुमति रहती थी। स्त्रियों को मिलने वाली यह सांस्कृतिक छूट, बहुपतित्व पर आधारित संयुक्त परिवार की पोषक थी। किन्तु, इस प्रदेश में, जब बाहर के लोगों का आना जाना प्रारम्भ हुआ तो इस प्रथा का शोषण होने लगा क्योंकि बाहरी लोग यहां की लडकियों को शरीर बेचने के लिये लालच देने लगे। प्रत्येक जौनसारी पुरुष जानता है कि उसकी स्त्री यदि उसकी पत्नी है तो अपने गाव में वह किसी की प्रेमिका भी है। लाखा मण्डल के आस पास से यहां की स्त्रियों के वेश्या बन कर बड़े बड़े शहरों में जाने के समाचार मिले हैं, जो सर्वथा निर्मूल नहीं हैं। वहां शोधकार्य करने वाले मेरे एक मित्र ने बताया कि बहुपतित्व की प्रथा और नतिकता के दोहरे मापदण्ड में पली नारी के लिये घर और वेश्यालय बराबर हैं क्योंकि वह एक से अधिक पुरुषों को कामतुष्टि प्रदान करने की आदी है। शहरों की चकाचौंध, वेश्यालयों में मिलने वाला मान, अच्छे कपडे और अच्छा खाना और कठिन खेती के परिश्रम से मुक्ति वेश्यालयों के प्रति आकर्षित होने के कारण बन जाते हैं।

अनुसार, प्रमाण्य ही नहीं दण्डनीय हैं। नर बलि और नागाओं में की जाने वाली मुण्डों की बलि जैसी प्रथायें आज गैरकानूनी बन गई हैं।

मदिरा सेवन आदिवासी संस्कृति का एक अंग रहा है क्योंकि आदिवासी अपने जादुई धार्मिक अनुष्ठानों, उत्सवों, पर्वों और संस्कारों में मदिरा का प्रयोग करता रहा है। आदिवासी के साथ साथ उनके देवी देवता भी मदिरा का भोग करते हैं। विवाह की रस्मों में मदिरा भेंट करने की आदिवासियों में प्रथा रही है। वाममार्गी हिन्दू अनुष्ठानों और प्रथाओं में मदिरा का प्रयोग आदिवासियों से ही आया जान पड़ता है। चावल और महुए की मदिरा आदिवासी अत्यन्त प्राचीन काल से बनाते और प्रयोग करते आये हैं। अंग्रेजी राज की स्थापना के बाद से सरकार ने मदिरा का उत्पादन और वितरण अपने हाथ में ले लिया ताकि सरकारी राजस्व बढ़ सके। अंग्रेजी सरकार ने आबकारी की जो नीति अपनाई उसमें उत्पादन और वितरण ठेके पर दिया जाने लगा। मदिरा उत्पादन वितरण के चार प्रकार धीरे धीरे विकसित हुए हैं—एक, शराब बनाने के बड़े बड़े कारखानों और वितरण की दूकानों को लाइसेंस देना, दूसरा, वितरण का राशन करना जैसे मद्यनिषेध के क्षेत्रों में है, तीसरा देशी तरीके से शराब बनाने की आम छूट देना जैसा कि जौनसार बावर में है, जहाँ हर व्यक्ति अपनी आवश्यकतानुसार अपने खर्च भर की शराब बना लेता है और चौथा, देशी शराब बनाने तथा बेचने की भट्टियों का कायम करना। आदिवासी क्षेत्रों के लिए चौथे प्रकार का तरीका अपनाया गया है। इसमें कोई सन्देह नहीं कि इस प्रकार के उत्पादन और वितरण से, अन्य स्थानों की अपेक्षा आदिवासी क्षेत्रों में अपेक्षाकृत सस्ती शराब मिलती है लेकिन उसमें स्पिरिट (Spirit) की मात्रा इतनी ज्यादा होती है कि वह स्वास्थ्य के लिये हानिकारक हो जाती है। आदिवासी द्वारा बनाई हुई शराब इतनी तेज नहीं होती थी और इसकारण वह अधिक स्वास्थ्यवर्द्धक थी। पहले, जब आदिवासी स्वयं शराब बनाता था तब, शराब का उत्पादन भी कम होता था और शराब का प्रयोग भी विशेष अवसरों पर ही होता था। किन्तु, भट्टियों के कायम हो जाने से शराब के उपभोग की मात्रा बढ़ गई है। बढ़ती हुई आर्थिक दीनता से उत्पन्न नैराश्य के कारण शराब का बढ़ता हुआ उपभोग आज आदिवासी की मानसिक रुग्णता का परिचायक हो गया है।

बाह्य संसार से बढ़ते हुए सम्पर्क के कारण, अनेक स्वास्थ्य तथा आचार सम्बन्धी समस्यायें उत्पन्न हो गई हैं। अधिकतर आदिवासी क्षेत्रों में कपड़े का प्रयोग अल्पतम होता था। अधिकतर आदिवासी कमर से ऊपर का बदन नंगा रखते थे। ईसाई मिशनरियों और अन्य लोगों ने उन्हें इसकारण हेय दृष्टि से देखा। अतः, शरीर ढकने के लिये कपड़े का प्रयोग बढ़ा। किन्तु आर्थिक साधनों की कमी के कारण आदिवासी अधिक कपड़ों का प्रबन्ध न कर पाया। इसका परिणाम यह हुआ कि आदिवासी तन तो ढकने लगा मगर कपड़ों की कमी के कारण, वह कपड़ों की

गन्दगी और उससे उत्पन्न बीमारियों का भी शिकार हुआ। आदिवासी नारी का मिले परसम्बन्धों की सांस्कृतिक मर्यादा के शोषण से आदिवासियों में गुप्त रोगों (गर्मी और सूजाक) का प्रसार जनस्वास्थ्य की एक प्रधान समस्या बन गया है। तपेदिक जैसे संक्रामक रोगों की संख्या बढ़ गई है। नागाप्रदेश में सीढ़ीनुमा खेतों में खेती करने के प्रचार से मलेरिया का प्रकोप बढ़ गया है क्योंकि इन खेतों में भरे रहने वाले पानी में मच्छरों की पैदावार बढ़ती है। थारओं में राहू (Franchoma) की बीमारी की अधिकता है। खाड़ों और गाडों में गर्मी (Siphilis) के प्रकार की खाज (Yaws) नामक बीमारी का प्रवेश हो गया है। माड़ प्रदेश में इस खोड़ो की बीमारी और मारिया गोंडों में इसे मारिया बीमारी कहा जाता है। इसप्रकार, सभ्यता के सम्पर्क से, आदिवासियों में नयी-नयी बीमारियाँ आ गई हैं जिनका निदान-उपचार न उनकी जड़ी बूटियों में है और न जादू टोने में।

शहरीकरण और औद्योगीकरण ने भी आदिवासियों को प्रभावित किया है। अंग्रेजी राज में एक ओर, आदिवासियों की आर्थिक दीनता बढ़ी और, दूसरी ओर, शहरों तथा नये उद्योगों ने नये आर्थिक अवसर प्रदान किये। कारखानों खानों जंगलों और चाय के बागों में श्रमिकों की माँग बढ़ी। फलत, आदिवासी श्रमिक के रूप में शहरों और उद्योगों की ओर आकर्षित हुआ। इसप्रकार शहरीकरण तथा औद्योगीकरण ने आदिवासियों में श्रमिक वर्ग को जन्म दिया। इस वर्ग में बिहार बंगाल और आसाम के आदिवासी ही अधिक हैं। इस वर्ग में संथाल, हो, भुइयाँ और मुण्डा गणजातियों के आदिवासी हैं। जमशेदपुर के कारखाने में इन गणजाति के सदस्यों की संख्या मजदूरों की कुल संख्या का दस फीसदी है। इस वर्ग के आदिवासियों का आर्थिक स्तर अपेक्षाकृत अच्छा है किन्तु उनकी दशा ठीक नहीं है। यह वर्ग भी सूदखोरों और ठेकेदारों के शोषण का शिकार है। शहरों में रहते हुए और कारखानों में काम करते हुए इस वर्ग के आदिवासी, जुआ, शराबीपन और वेश्यापन जैसे अस्वस्थ कृत्यों के शिकार होते हैं। शराब पीने और वेश्यागमन के कारण ये तमाम बीमारियों के भी शिकार होते रहते हैं। शहरों से ही ये अधकचरे राजनैतिक विचारों और नारों को ग्रहण करते हैं, जिनसे छोटा नागपुर के झारखण्ड जैसे हठधर्मी आन्दोलनों को बल मिलता है।

अंग्रेजी राज्यकाल में, अधिकतर गणजातियाँ ग्रामीण सामाजिक आर्थिक व्यवस्था में आकर भारत के विशाल कृषक वर्ग में मिल गई हैं। साथ ही साथ, श्रमिकों सरकारी और गैर सरकारी नौकरों के रूप में, आदिवासी शहरों में भी आ बसे हैं। शिक्षा के प्रभाव ने उन्हें शहरों की ओर आकर्षित किया है। इसप्रकार आदिवासी ग्राम शहर सतति (Tribal Rural Urban Continuum) का विकास हुआ है। आज आदिवासी ग्रामीण भी है और शहरी भी है। आदिवासी ग्राम शहर-संतति, आज आदिवासी संस्कृति को परिवर्तन के आधार प्रदान कर रही है।

उत्तरोत्तर हिन्दूकरण, इसाईकरण योरोपीयकरण, गैर आदिवासीकरण (Detribalization) और आदिवासी पुनरुत्थान की प्रक्रियायें, आदिवासी ग्राम शहर सतति की पृष्ठभूमि मे चल रही हैं। जो समूह इस सतति के जितना समीप है वह उतना ही अधिक परिवर्तित हो रहा है।

संस्कृति सम्पर्क-सम्पत्व का, आदिवासी संस्कृति पर स्वस्थ प्रभाव नही पडा है।

आदिवासी समस्या

इससे आदिवासियो का आर्थिक सांस्कृतिक उन्मूलन हुआ है। अंग्रेजी राजकाल मे आदिवासियो का जो भी इसाईकरण या हिन्दूकरण हुआ है उससे उनकी सांस्कृतिक आस्था को धक्का पहुचा है। शोषण के कारण उनकी दीनता बढी है और आदिवासी तौर-तरीको के प्रति उनमे हीनता का भाव आया है। एक ओर, ऐसे आदिवासी है जो आदिवासीत्व से मुह मोड रहे है (जिनमें पढा लिखा तबका आता है) और, दूसरी ओर एक ऐसा समूह (विशाल समूह) है जो आदिवासी जीवन के प्रति उदासीन है। साथ ही साथ एक ऐसा भी समूह है जो आदिवासी पुनरुत्थान का हामी है। सांस्कृतिक उदासीनता जो हर दशा मे पाई जाती है सांस्कृतिक विशृंखलन की परिचायक है। सांस्कृतिक विशृंखलन की प्रक्रिया अंग्रेजो के आने के बाद से प्रारम्भ हुई है और, अंग्रेजी राज्यकाल मे यह प्रक्रिया उत्तरोत्तर बढती गई है। इसकारण आदिवासी समाज अपने आन्तरिक सघर्षों तनावो और हलचलों का शिकार रहा है जिसकी अभिव्यक्ति पहाडिया सन्थाल (1855) और कोल (1932) विद्रोहो के रूप मे होती रही है। अंग्रेजो की नीति आदिवासियो को पृथक्कृत करने की रही मिशनरियो की नीति उन्हें इसाई बनाने की हिन्दुओ ने उन्हे हिन्दुत्व मे आत्मसात करने की माग रक्खी और राष्ट्रीय आन्दोलन के प्रणेताओ ने उनमे राजनतिक चेतना जगाकर उन्हे राष्ट्रीय आन्दोलन के प्रवाह मे लाने का प्रयास किया। आदिवासी क्षेत्रो मे समाज सुधार तथा समाजसेवा करने वालो का उद्देश्य यातो राजनतिक रहा है या धार्मिक। आदिवासियो को समझने की सबने कोशिश की किन्तु अपने अपने दृष्टिकोण से। मानवशास्त्री ने आदिवासी और उसकी समस्याओ को सद्धान्तिक स्तर पर समझने का प्रयास किया, सरकारी नौकरी मे अंग्रेज मानवशास्त्री पृथक्करण का हामी रहा, स्टीफन फुक्स जसे मिशनरी मानवशास्त्री हिन्दुत्व के बाहर जाने मे आदिवासी का कल्याण देखते रहे, एल्विन जसे लोग आदिवासियो के निर्बाध आदिवासीकरण और पुनरुत्थान के प्रतिष्ठापोषक रहे[1] और

1 एल्विन का यह मत रहा है कि आदिवासी संस्कृति का विशृंखलन प्रशासकों, मिशनरियो, व्यापारियो और सरकारी अफसरों के अनुदार दृष्टिकोण और गतिविधियों के कारण हो रहा है। आदिवासियों को नहीं वरन प्रशासकों, मिशनरियों, व्यापारियो और अफसरों को सुधारने की आवश्यकता है। और

मजूमदार जैसे मानवशास्त्री इस बात पर जोर देते रहे कि आदिवासी संस्कृति का संरक्षण की आवश्यकता है क्योंकि आदिवासी संस्कृति को विशृंखलन से बचाकर, ऐसे स्तर पर लाना है जहां वह भारतीय सांस्कृतिक संधान (Indian Federation of Cultures) का एक अंग बन सके।

द्वितीय महायुद्ध के दौरान में आदिवासी समाज का विशृंखलन भी बढ़ा और उनकी समस्याएं भी अधिक प्रखर हुईं। स्वतन्त्रता के बाद जब नागा प्रदेश में स्वतन्त्र नागालैंड की मांग उठी और सरकार को विद्रोही नागाओं के विरुद्ध पुलिस कार्यवाही करनी पड़ी बिहार और उड़ीसा के आदिवासियों ने एक अलग प्रान्त (झारखण्ड प्रान्त) की मांग की और यहां के आदिवासियों ने हिंसात्मक असन्ताप व्यक्त किया तो लोगों का ध्यान आदिवासी समस्याओं की ओर गया। आदिवासी समाज की समस्यायें और आदिवासियों में बढ़ता हुआ असन्ताप जो अराष्ट्रीय प्रवृत्तियों का प्रदर्शित करता है उस सांस्कृतिक विघटन की प्रक्रिया का परिणाम हैं। जो अंग्रेजों के आने के बाद तब प्रारम्भ हुई जब पूंजीवादी शक्तियों के बढ़ते हुए प्रभावों के कारण आदिवासियों का आर्थिक उन्मूलन प्रारम्भ हुआ और उसके कारण उनकी आर्थिक कठिनाइयां बढ़ीं। व्यापारियों ठेकेदारों सूदखोरों और मिशनरियों के द्वारा उनका शोषण बढ़ा, उनकी राजनैतिक स्वतन्त्रता का अपहरण हुआ, उनकी राजनैतिक संस्थाओं को अवैधानिक करार दे दिया गया और उनकी विधि तथा शासन प्रणाली छिन्न भिन्न हो गई। इस विघटन प्रक्रिया के कई परिणाम निकले—एक आदिवासी में नैराश्यजन्य सांस्कृतिक तथा राष्ट्रीय उदासीनता की भावना का अभ्युदय दूसरा अपनी समस्याओं के कारणों के न समझ पाने के कारण, आदिवासी में, दूसरों को उत्तरदायी ठहराने तथा दूसरों के प्रति प्रतिक्रियात्मक विद्रोही भावना का अभ्युदय, तीसरा, आदिवासियों में अराष्ट्रीयता की भावना का अभ्युदय, और चौथा, आदिवासियों का असामाजिक कृत्यों को अपनाना और उनका सुयुक्तिकृत बताना।

आदिवासी अराष्ट्रीयता की सर्वाधिक अभिव्यक्ति नागा प्रदेश में हुई है जहां से स्वतन्त्र नागा प्रदेश की मांग के लिए सशस्त्र विद्रोह के विवरण आते रहते हैं। आदिवासी किस प्रकार असामाजिक कृत्यों को अपनाने के लिए प्रेरित हुए हैं इसका प्रमाण भारत की अपराधी कही जाने वाली गणजातियां हैं जिनके सदस्यों की संख्या, अपराधी गणजाति अधिनियम के रद्द होने के पहले, बाइस लाख, अड़सठ हजार

यदि हम इन्हें नहीं सुधार सकते तो हमें आदिवासियों को उनके हाल पर छोड़ देना चाहिए। आदिवासियों को सभ्यता से दूर रखने की आवश्यकता है क्योंकि, सभ्यता सम्पर्क आदिवासी के लिए अनिष्टकारी है। इसप्रकार, एल्विन का दृष्टिकोण पृथक्करणवादी ही नहीं वरन् स्थानी भी है।

और तीन सौ अन्तालीस थी[1]। गरीबी के कारण, गुजरात के कुछ भागों में, भील अपराधों की ओर प्रवृत्त हुए हैं। मजूमदार के अनुसार, जीविका के साधनों की कमी, निरन्तर बढ़ती हुई दीनता और प्रशासन द्वारा भीलों की आवश्यकताओं की अवहेलना ने भीलों को डाकजनी हत्या और लूट के लिए प्रेरित किया है। गरीबी और अपराध भील जीवन में इतना समा गए हैं कि भील उस जीवन का एक आवश्यक अंग मानते हुए पौराणिक कथाओं के आधार पर उसे सुयुक्तिकृत करते हैं। भीलों में प्रचलित एक पौराणिक कथा के अनुसार पार्वती भील कन्या थी और भीलों ने जब भगवान शंकर से कुछ धन मांगा तो भगवान शंकर ने यह कहकर इन्कार कर दिया कि उन जैसे फक्कड़ के पास धन कहां? तब भीलों ने नन्दी (भगवान शंकर के बैल) की हत्या कर दी क्योंकि उन्होंने सुन रक्खा था कि उसके कंधे में अपार रत्न राशि थी। इस जघन्य पाप के लिए जैसी कि कथा है भीलों को गरीबी और आर्थिक यातना का जीवन बिताना पड़ रहा है। बामवाड़ा (राजस्थान) के आस-पास प्रचलित एक ऐसी लोक कथा के अनुसार महादेव ने भीलों को यह वरदान दिया कि उनको चोरी का पाप नहीं लगेगा। वहां का भील अपने को महादेव शंकर का चोर मानता है। यही कारण है कि भील एक ओर अपने महाजन को अपना सारा सामान लुका कर दे देता है लेकिन दूसरी ओर वह उसे लूट भी लेता क्योंकि भीलों का विश्वास है कि किसी को कर्ज न देना पाप है किन्तु उसे लूटना पाप नहीं। तमाम अपराधी कहे जाने वाली जनजातियां इसी प्रकार अपने अपराधी कृत्यों का सुयुक्तिकरण करती हैं और असामाजिक कृत्यों को अपनी संस्कृति का अंग मानती हैं।

हिन्दू मुस्लिम और योरोपीय सभ्यता के संघातों का सहन करके आज आदिवासी संस्कृति उस स्तर पर आ गई है जहां वह हिन्दुत्व, इस्लाम और ईसाइयत से भिन्न है किन्तु भारतीय संस्कृति और राष्ट्र का एक महत्वपूर्ण अंग है। इन संघातों के फलस्वरूप उसमें अनेक आर्थिक सामाजिक और सांस्कृतिक व्याधियों का समावेश हो गया है जिसके कारण उसका विघटन हो रहा है। कुछ आदिवासी समूह निराश तथा आशामक दृष्टिकोण के शिकार हो गए हैं कुछ (जैसे टोडा और कोरवा) समाप्त हो रहे हैं कुछ हिन्दुत्व या योरोपीयकरण की ओर बढ़ रहे हैं और कुछ पुनर्नयन की ओर। वर्तमान भारत में ढाई करोड़ आदिवासी एक महत्वपूर्ण अल्पसंख्यक इकाई हैं। स्वतन्त्र भारत उनकी अवहेलना नहीं कर सकता है। उनकी अवहेलना राष्ट्रीय एकता और भारतीय समाज के सर्वांग विकास में बाधक हो सकती है। यदि समाज के सारे अंग एकसाथ नहीं विकसित होते हैं तो अविकसित अंग प्रगति के मार्ग में बाधक होकर प्रगति पर उल्टा ही प्रभाव डालता है। अतः विकासोन्मुख आदिवासी कल्याण और आदिवासी संस्कृति का पुनर्स्थापन आज के भारत की राजनैतिक

[1] मजूमदार, डी० एन० रेसेज एण्ड कल्चर्स आफ इण्डिया पृष्ठ 363

तथा सामाजिक सांस्कृतिक आवश्यकता है।

आदिवासी-कल्याण और संस्कृति पुनर्स्थापन की रूपरेखाओं का विश्लेषण करने से पहले एक और तथ्य पर विचार करना आवश्यक है। सभ्यता-संघात के प्रति, आदिवासियों की प्रतिक्रिया सर्वत्र एक सी नहीं हुई है जिसके कारण आदिवासी संस्कृति में विभेदीकरण तथा परिवर्तन की भिन्न गतियों और दिशाएं उत्पन्न हुई हैं। उदाहरणार्थ भील और गोंड जैसी गणजातियों की जनसंख्या बड़ी है जबकि खारवा और टोडा जैसी गणजातियों ने अपने को सभ्यता-संपर्क में अलग रखकर, अपने लिए विनाश का मार्ग अवरुद्ध कर लिया है। जो गणजातियां सभ्यता सम्पर्क से दूर रही हैं उनकी अलग समस्यायें है। जगम कृषि जिसे वे अधिकतर करती हैं, आज अनुर्वर सिद्ध हो रही है क्योंकि, जगम कृषि के लिए आज उन्हें उतना विस्तृत वन प्रदेश नहीं मिलता है जितना कि कभी मिलता था। जमीन की बढ़ती हुई अनुर्वरता और कटाव के कारण तथा सभ्यता-सम्पर्क से दूर रहने की प्रवृत्ति के कारण ऐसी गणजातियों का विकास ही नहीं रुका है वरन भुखमरी उनकी एक विकट समस्या बन गई है। भील और गोंड जैसी गणजातियां अपने को हिंदूकृत करती हुई तथा स्थाई कृषि अपनाकर ग्रामीण सामाजिक-आर्थिक व्यवस्था में आ गई हैं। आज उनकी वही समस्यायें हैं जो भारत के कृषकों की हैं। जिन आदिवासियों का शहरीकरण हो रहा है उनकी समस्या है एक नया शहरीकृत सामाजिक-सांस्कृतिक संतुलन। जो श्रमिक वर्ग में आ गए हैं उनकी अलग समस्यायें हैं और जो ग्राम शहर के बीच में हैं शोषणकारी तत्वों से मुक्ति पाना उनकी विशेष समस्या है।

सभ्यता संघात ने, आदिवासियों में, इसप्रकार विभिन्न परिवर्तन की गतियों और दिशाओं को जन्म दिया है जिसके कारण, गणजातियों में विभिन्न सांस्कृतिक स्तरों का समावेश हो गया है। विभिन्न सांस्कृतिक स्तरों के समावेश ने, अलग अलग गणजातियों और क्षेत्रों में, अलग अलग समस्याओं को जन्म दिया है। इसीलिए,

समस्या समाधान

इस बात पर जोर दिया गया है कि आदिवासी कल्याण और संस्कृति पुनर्स्थापन की एक राष्ट्रीय नीति हो सकती है न कि एक कार्यक्रम। हां, यह अवश्य है कि राष्ट्रीय नीति के आधार पर, एक योजना को अपना लिया जाय और, विभिन्न क्षेत्रों तथा गणजातियों की आवश्यकतानुसार, उसके आधार पर, अलग-अलग स्थानीय कार्यक्रमों को तैयार किया जाय। किन्तु इसके लिए गणजातियों के वर्गीकरण की आवश्यकता है। आदिवासी-कल्याण की योजना के दृष्टिकोण से, विद्वानों ने विभिन्न आधारों पर गणजातियों के वर्गीकरण प्रस्तुत किए हैं। सभी ने संस्कृति करण की प्रक्रिया को मुख्य आधार माना है किन्तु संस्कृतिकरण के अलग-अलग पक्षों पर जोर दिया है। उदाहरणार्थ मजूमदार ने, गणजातियों में पाई जाने वाली हिंदूकरण की मात्रा पर जोर दिया है। उनका वर्गीकरण इस प्रकार है—एक,

हिंदू प्रभाव के बाहर की गणजातियां (वास्तविक आदिवासी), दूसरा, वे गणजातियां जिन्होंने हिंदू प्रथाओं को तो अपना लिया है किंतु बहिष्कृत जातियों की श्रेणी में नहीं आई हैं और, तीसरी वे गणजातियां जो हिंदूकृत हो गई हैं जिन्हें जाति का रूप भी मिल गया है किन्तु जो उच्च जातियों से सामाजिक अंतर मानती हैं। इस प्रकार, कुछ गणजातियों का हिंदुत्व में सात्मीकरण हो गया है जिन्हें सात्मीकृत (Assimilated) आदिवासी समूह कहा जा सकता है और कुछ समायोजन प्रक्रिया (Process of Adaptation) में है। समायोजन प्रक्रिया में जो गणजातियां हैं वे अपने को बदलती हुई परिस्थितियों के अनुकूल ढाल रही हैं। दूसरे प्रकार की गण जातियों को मजूमदार ने तीन श्रेणियों में रखा है—पहली कम्मेंसलिक (Commensalic) दूसरी सिम्बायटिक (Symbiotic) और तीसरी एकल्चरेटिव (Acculturative)। कम्मेंसलिक गणजातियों का आर्थिक जीवन आत्मनिर्भर है। सिम्बायटिक गणजातियों का आर्थिक सामाजिक जीवन परनिर्भर हो गया है जैसे नीलगिरि की गणजातियां। एकल्चरेटिव गणजातियां सम्पर्क के कारण बाह्य सांस्कृतिक तत्वों को आत्मसात करते हुए अपना संस्कृतिकरण कर रही हैं। कम्मेंसलिक गणजातियों की संख्या वस्तुतः नहीं के बराबर है क्योंकि आज शायद ही कोई गणजाति हो, जो बाह्य संसार के सम्पर्क में न आई हो।

सन 1952 की इण्डियन कान्फ्रेंस आफ सोशल वर्क के द्वारा नियुक्त आदिवासी कल्याण-समिति (1952) ने गणजातियों को चार श्रेणियों में बांटा है : पहली आदिवासी समुदाय दूसरी अर्द्ध आदिवासी समुदाय, तीसरी वे आदिवासी समुदाय जिनका संस्कृतिकरण हो चुका है अर्थात जिन्होंने बाह्य संस्कृति के तत्वों का आत्मसात करते हुए, अपनी विशिष्टता कायम रखी है और चौथी, सात्मीकृत (Assimilated) गणजातियां। एक दशक पहले, एल्विन ने सभ्यता सम्पर्क के परिणामों के दृष्टिकोण से, एक वर्गीकरण प्रस्तुत किया था। उनके अनुसार चार श्रेणियां हैं : पहली श्रेणी में वे आदिवासी आते हैं जो अत्यंत प्राचीन हैं, दुर्गम जंगलों में रहते हैं, जिनका सामाजिक-आर्थिक जीवन समष्टिवादी है और जो कुल्हाड़ियों से खेती करते हैं। दूसरी श्रेणी में वे आदिवासी आते हैं जो पहली श्रेणी के आदिवासियों की भांति सभ्यता से दूर हैं किन्तु जिनका सामाजिक आर्थिक संगठन व्यष्टिवादी हैं और पहली श्रेणी के आदिवासियों की अपेक्षा कम सरल है। तीसरी श्रेणी में वे आदिवासी आते हैं जिनकी संख्या सबसे अधिक है और जो सभ्यता सम्पर्क में आने के कारण, अपनी संस्कृति से दूर जा रहे हैं। चौथी श्रेणी में वे आदिवासी हैं जो प्राचीन आदिवासी शासक-समूहों के प्रतिनिधि हैं (जैसे भील और नागा) जिनका प्राचीन आदिवासी जीवन अक्षुण्ण है और जो संस्कृति सभ्यता सम्पर्क में विजयी हुए हैं। एल्विन का यह मत है कि पहली और दूसरी श्रेणी के आदिवासियों को चौथी श्रेणियों में लाना ही मुख्य आदिवासी-समस्या है। एल्विन के मत में चौथी श्रेणी ही वांछनीय है। किन्तु,

चौथी श्रेणी मे आकर, हर दशा मे आदिवासी संस्कृति सुरक्षित ही रहेगी यह मान्यता वैज्ञानिक कम रोमाण्टिक अधिक है क्योंकि चौथी श्रेणी म आकर न तो विकास ही रुक जायगा और न संस्कृति सम्पर्क ही। आदिवासियो को राष्ट्रीय जीवन की प्रधान-धारा स या सामाजिक आर्थिक शक्तियो के प्रभाव स अलग रखना न तो सम्भव ही है और न वाछनीय ही है। आदिवासी संस्कृति को अक्षुण्ण बनाने रखने की मानवतावादी भावुकता के प्रवाह म बहकर, इस बात का पक्ष नही लिया जा सकता कि आदिवासियो को सभ्यता के लाभो से दूर रखा जाय। एल्विन के मत से यह ध्वनि होती है कि मानो वे आदिवासी संस्कृति को वैसे रखना चाहते हो जैसे कि वे मानव अजायबघर (Human Zoo) की वस्तुए हो। एल्विन का मत पृथक्करणवादी है और एक प्रकार स रोमाण्टिक है। जो भारतीय राष्ट्रीयता के प्रतिकूल पडता है[1]।

गणजातियो के आर्थिक आधारो और उनमे हुए परिवर्तनो के आधार पर उन्हे चार श्रेणियों मे रखा जा सकता है—एक, वे जो जगलो मे रहती हैं जगल पर निर्भर हैं और कदमूल पर जीवन बसर करती हैं दो वे (कमार बगा और रेड्डी वगैरह) जो कदमूल पर भी निर्भर हैं और साधारण किस्म की कृषि पर भी, तीन वे जो मुख्यत कृषि पर निर्भर होने के साथ साथ, जगल की उपज पर भी निर्भर करती है (जैसे उत्तरी पूर्वी तथा मध्यभारत की गणजातिया) और आदिवासी जनसख्या का सबसे बडा भाग है चार वे आदिवासी जो औद्योगिक श्रमिक की श्रेणी मे आ गए हैं। इस वर्गीकरण से यह स्पष्ट होता है कि आर्थिक दृष्टिकोण से आदिवासी जनसख्या का अधिकतम भाग कृषि और जगल की उपज पर निर्भर है और किसी भी कल्याण योजना म इस तथ्य की अवहेलना नही की जा सकती है। यह पहले ही कहा जा चुका है कि सभ्यता के प्रभाव से गणजातिया ग्राम शहर सतति (Rural Urban Continuum) के विभिन्न स्तरो म आ गई हैं और इस दृष्टिकोण से मजूमदार और मदन ने गणजातियो को तीन श्रेणियो मे बाटा है—पहली, वे गणजातिया जिनकी संस्कृति ग्रामीण शहरी समूहो से दूर है अर्थात जो सम्पर्क से बाहर हैं, दूसरी, वे जो ग्रामीण और शहरी समूहो के सम्पर्क मे आकर सामाजिक और आर्थिक समस्याओ का शिकार हो गई हैं, तीसरी, वे जो ग्राम शहर के सम्पर्क मे आई हैं किन्तु उन्होने ऐसा सांस्कृतिक समायोजन कर लिया है जिसके कारण वे सामाजिक-आर्थिक समस्याओ का शिकार होने से बच गई हैं यद्यपि हो सकता है कि पहले वे सामाजिक-आर्थिक समस्याओ का शिकार रही हो। समाज-कल्याण की आवश्यकता पहली और दूसरी श्रेणी की गणजातियों को है। आदिवासी कल्याण, विकास और सांस्कृतिक पुनर्स्थापन इस ढग से हो कि आदिवासी ग्राम-शहर की सामाजिक-आर्थिक व्यवस्था मे आ जाय ताकि, ज्यो ज्यो इस व्यवस्था का विकास हो, आदि-

1 मजूमदार और मदन वही पृष्ठ 263

वासियों का भी विकास हो।

आदिवासी कल्याण और संस्कृति पुनर्स्थापन की योजना ऐसी हो कि उससे आदिवासियों की संस्कृति और उनके हितों की रक्षा भी हो और उसे अपने ही आधार पर विकसित होने का अवसर भी मिले। आदिवासियों को भारत की सामाजिक आर्थिक धाराओं से अलग रखना न सम्भव ही है और न ऐसा करना वाछनीय ही है। उनको सहसा न तो हिन्दुत्व में आत्मसात किया जा सकता है और न इस्लाम या ईसाइयत में। आदिवासियों को उस राजनैतिक आर्थिक और सांस्कृतिक संरक्षण की आवश्यकता है जिसके नतीजे और साए में वे अपना विकास करते हुए राष्ट्रीय जीवन का अंग बन सकें। उनका राष्ट्रीय सात्मीकरण वाछनीय है न कि सामाजिक या सांस्कृतिक। उन्हें विकास के मार्ग पर लाते हुए वहाँ लाना है जहाँ उन्हें भारत के संस्कृति संघात में एक निश्चित स्थान मिले। आदिवासियों का उत्तरोत्तर संस्कृतिकरण आदिवासी कल्याण योजना का आधार होना चाहिए। इस योजना के तीन पहलू है—एक निश्चयात्मक (Positive) दूसरा निषेधात्मक (Negative) और तीसरा निरोधात्मक (Preventive)। आदिवासियों में शिक्षा का प्रसार आदिवासी श्रेणियों द्वारा आदिवासी क्षेत्रों के प्राकृतिक साधनों का उत्तरोत्तर उपयोग और उनसे आदिवासियों की आर्थिक दशा सुधारने का प्रयास आदिवासियों में नई चेतना का प्रसार आदिवासियों का सामाजिक कल्याण और मातृत्व तथा शिशुकल्याण निश्चयात्मक पहलू में आते है। आदिवासी संस्कृति को विशृंखलित करने वाली शक्तियों का रोकना और आदिवासियों का शोषण करने वाले प्रतिकारकों (व्यापारी सूदखोर भ्रष्ट अफसर और ईसाई मिशनरी) का निवारण निषेधात्मक पक्ष में आते है और आदिवासियों में पाई जाने वाली संक्रामक बीमारियों की रोक थाम निरोधात्मक पहलू में।

आदिवासियों की समस्याओं को दो श्रेणियों में रक्खा जा सकता है पहली श्रेणी में वे समस्यायें आती है जो आदिवासी और अन्य पिछड़े वर्गों की समान समस्यायें हैं और दूसरे वर्ग में वे समस्याये आती हैं जो आदिवासी की अपनी समस्यायें हैं। गरीबी अशिक्षा सांस्कृतिक उदासीनता परम्परागत आदिवासी शासन प्रणाली तथा सरकारी शासन प्रणाली में समन्वय बीमारी और स्वास्थ्य शाराब और मिशनरी की समस्याये आदिवासी की अपनी विशिष्ट समस्यायें हैं। उनकी आर्थिक कठिनाइयो को दूर करने लिए यह सिफारिश की गई है कि व्यापारियों ठेकेदारो और सूदखोरो के शोषण से उन्हें मुक्त किया जाए जगम कृषि के लिए जहाँ तक हो सके उन्हें अवसर देते हुए उन्हें स्थायी कृषि की ओर ले जाया जाय और उनमें उद्योग धन्धों का विकास किया जाय जहाँ तक हो सके जगल की उपज को उनके अधिकार में दिया जाय ताकि वे उससे आर्थिक लाभ उठा सकें उनमें शिक्षा का प्रसार किया जाय उनके स्वास्थ्य की ओर विशेष ध्यान दिया जाय और संक्रामक बीमारियों की रोक थाम के लिए अधिक से अधिक सरकारी प्रबन्ध किया जाय आदिवासी क्षेत्रों का,

अप्रत्यक्ष प्रशासन प्रणाली के सिद्धान्तों के आधार पर प्रशासन किया जाय और उसके लिए परम्परागत पंचायत प्रणाली का प्रयोग किया जाय और न्यायिक तथा राजनैतिक प्रशासन में आदिवासी सांस्कृतिक प्रथाओं की अवहेलना न की जाय। मजूमदार आदिवासी सेना में पुलिस संगठन के भी पक्ष में रही हैं। उनके मत में आदिवासी अफसरों को ही प्रशासन में लगाया जाय। बहुत से लोगों का यह मत है कि आदिवासियों को अपने उपयोग के लिए शराब बनाने की अनुमति दे दी जाय क्योंकि इससे उनको स्वास्थ्यवर्द्धक पेय मिलेगा, आजकल कच्ची शराब बनाने के जो अपराध होते हैं वे मिट जायेंगे और शराबखोरी में कमी आयेगी। किन्तु इस मत का पक्ष लेने वाले यह भूल जाते हैं कि आज आदिवासी क्षेत्रों में आदिवासी ही नहीं अन्य लोग भी पाये जाते हैं और शराब आदिवासी ही नहीं गैर आदिवासी भी पीते हैं। ऐसी दशा में शराब खींचने की अनुमति छोटे पैमाने पर शराब बनाने और बेचने के व्यापार को जन्म दे सकती है। जौनसार में ऐसा हो रहा है। यहां जंगलों में काम करने वाले श्रमिकों व्यापारियों और अन्य प्रकार के लोगों के आने से शराब की मांग बढ़ी है। शराब बनाने की परम्परागत तरीके में समय भी लगता है और पैसा भी। अतः यहां हर आदमी नौसादर और चूने से शराब बनाने लगा है जिसका प्रयोग स्वास्थ्य को नष्ट कर रहा है।

मानवशास्त्रियों की यह मान्यता है कि आदिवासी की शिक्षा, स्वास्थ्य, अनैतिकता और शराबखोरी सम्बन्धी समस्याओं को दूर करने के लिए शिक्षाप्रद सामाजिक प्रचार की आवश्यकता है—वह प्रचार जिसका उद्देश्य नये जीवन के लिए शिक्षाप्रद सामाजिक चेतना लाना है। इस कार्य के लिए समाजसेवकों की आवश्यकता है। आदिवासी क्षेत्रों में आज कई प्रकार के समाजसेवी मिलते हैं। एक ओर वे प्रशिक्षित समाजसेवी हैं जो सरकारी समाजकल्याण विभाग की ओर से अधिकारियों के रूप में नियुक्त हैं। दूसरी ओर ईसाई समाजसेवी हैं जिनके लिए समाज सेवा ईसाइयत के प्रचार का एक माध्यम है। तीसरी ओर राजनैतिक समाजसेवी हैं और, चौथी ओर आदिमजाति सेवक संघ जैसी प्राइवेट संस्थाओं के समाजसेवी हैं जिनमें से कुछ राजनीति के हारे हुए खिलाड़ी हैं और कुछ परिस्थितिवश परोपकार समाज सेवक बन गए हैं। इधर, आदिवासियों में बढ़ते हुए ईसाइयत के प्रसार की प्रतिक्रिया में हिन्दू संगठनों ने भी आदिवासियों में समाजसेवा कार्य संगठित करना प्रारम्भ कर दिया है। इस धकापेल में आदिवासी समाज सेवा कार्य में व्यवधान ही अधिक आता है। समाज-सेवियों की इस सेना के प्रति आदिवासी शंकालु हो उठता है—विशेषतया उस दशा में जब आदिवासी यह देखता है कि यह सारा मेला तो उसके नाम पर है किन्तु लाभ दूसरों को हो रहा है। आज हम यह भूल रहे हैं कि जहां समाज सेवा के लिए फंड सरकार से आए और उसका खर्च गैर सरकारी संस्थाओं के द्वारा हो वहां, समाज सेवा में, राजनीति और निहित स्वार्थों का प्रवेश

वासियो का भी विकास हो।

आदिवासी कल्याण और संस्कृति पुनर्स्थापन की योजना ऐसी हो कि उससे आदिवासियो की संस्कृति और उनके हितो की रक्षा भी हो और उन्हें अपने ही आधार पर विकसित होने का अवसर भी मिले। आदिवासियो को भारत की सामाजिक आर्थिक धाराओ से अलग रखना न सम्भव ही है और न ऐसा करना वाछनीय ही है। उनको सहसा न तो हिन्दुत्व म आत्मसात किया जा सकता है और न इस्लाम या इसाइयत म। आदिवासियो को उस राजनतिक आर्थिक और सास्कृतिक सरक्षण की आवश्यकता है जिसके नतत्व और साए म वे अपना विकास करते हुए राष्ट्रीय जीवन का अग बन सक। उनका राष्ट्रीय सात्मीकरण वाछनीय है न कि सामाजिक या सास्कृतिक। उन्हे विकास के माग पर लाते हुए वहा आना है जहा उन्हे भारत के संस्कृति सघात म एक निश्चित स्थान मिले। आदिवासियो का उत्तरोत्तर संस्कृतिकरण आदिवासी कल्याण योजना का आधार होना चाहिए। इस योजना के तीन पहलू हैं—एक निश्चयात्मक (Positive) दूसरा निषेधात्मक (Negative) और तीसरा विरोधात्मक (Preventive)। आदिवासियो म शिक्षा का प्रसार आदिवासी श्रेणियो द्वारा आदिवासी क्षत्रो के प्राकृतिक साधनो का उत्तरोत्तर उपयोग और उनमे आदिवासियो की आर्थिक दशा सुधारने का प्रयास आदिवासियो म नई चेतना का प्रसार आदिवासियो का सामाजिक कल्याण और मातत्व तथा शिशुकल्याण निश्चयात्मक पहलू म आते है। *आदिवासी संस्कृति को विशृखलित करने वाली शक्तियों का* रास्ता और आदिवासियो का शोषण करने वाले प्रतिकारको (व्यापारी सूदखोर भ्रष्ट अफसर और इसाई मिशनरी) का निवारण निषेधात्मक पक्ष म आते है और आदिवासियो म पाई जाने वाली सक्रामक बीमारियो की रोक थाम विरोधात्मक पहलू मे।

आदिवासियों की समस्याओ को दो श्रेणियो म रक्खा जा सकता है पहली श्रेणी मे व समस्यायें आती हैं जो आदिवासी और अन्य पिछडे वर्गों की समान समस्याय हैं और दूसरे वग म वे समस्यायें आती है जो आदिवासी की अपनी समस्यायें हैं। गरीबी अशिक्षा सास्कृतिक उदासीनता परम्परागत आदिवासी शासन प्रणाली तथा सरकारी शासन प्रणाली म समन्वय बीमारी और स्वास्थ्य खराब और मिशनरी की समस्याय आदिवासी की अपनी विशिष्ट समस्यायें हैं। उनकी आर्थिक कठिनाइयो को दूर करने लिए यह सिफारिश की गई है कि व्यापारियो ठेकेदारों और सूदखोरो के शोषण से उन्हे मुक्त किया जाए जगम कृषि के लिए जहा तक हो सके उन्हे अवसर देते हुए उन्हे स्थायी कृषि की ओर ले जाया जाय और उनम उद्योग धन्धो का विकास किया जाय जहा तक हो सके जगल की उपज को उनके अधिकार म किया जाय ताकि व उसमे आर्थिक लाभ उठा सकें उनम शिक्षा का प्रसार किया जाय उनके स्वास्थ्य की ओर विशेष ध्यान दिया जाय और सक्रामक बीमारियो की रोक थाम के लिए अधिक से अधिक सरकारी प्रबन्ध किया जाय, आदिवासी क्षेत्रो का,

अप्रत्यक्ष प्रशासन प्रणाली के सिद्धान्तो के आधार पर प्रशासन किया जाय और उसके लिए परम्परागत पंचायत प्रणाली का प्रयोग किया जाय और न्यायिक तथा राजनैतिक प्रशासन में आदिवासी सांस्कृतिक प्रथाओं की अवहेलना न की जाय। मजूमदार आदिवासी क्षेत्रो में पुलीस संगठन के भी पक्ष में नहीं हैं। उनके मत में आदिवासी अफसरों को ही प्रशासन में लगाया जाय। बहुत से लोगो का यह मत है कि आदिवासियों को अपने उपयोग के लिए शराब बनाने की अनुमति न दी जाय क्योंकि इससे उनका स्वास्थ्य गिरेगा। पर मिलेगा आजकल कच्ची शराब बनाने के जो अपराध होते हैं वे मिट जायगे और शराबखोरी में कमी आयगी। किन्तु इस मत का पक्ष लेने वाले यह भूल जाते हैं कि आज आदिवासी क्षेत्रों में आदिवासी ही नहीं अन्य लोग भी पाये जाते हैं और शराब आदिवासी ही नहीं गैर आदिवासी भी पीते हैं। ऐसी दशा में शराब खींचने की अनुमति छोटे पैमाने पर शराब बनाने और बेचने के व्यापार को जन्म दे सकती है। जौनसार में ऐसा हो रहा है। यहां जंगलो में काम करने वाले श्रमिकों व्यापारियों और अन्य प्रकार के लोगों के आने से शराब की मांग बढ़ी है। शराब बनाने की परम्परागत तरीके में समय भी लगता है और पैसा भी। अत, यहां हर आदमी नौसादर और चूने से शराब बनाने लगा है जिसका प्रयोग स्वास्थ्य को नष्ट कर रहा है।

मानवशास्त्रियों की यह मान्यता है कि आदिवासी की शिक्षा स्वास्थ्य, अनैतिकता और शराबखोरी सम्बन्धी समस्याओं को दूर करने के लिए शिक्षाप्रद सामाजिक प्रचार की आवश्यकता है—वह प्रचार जिसका उद्देश्य नये जीवन के लिए शिक्षाप्रद सामाजिक चेतना लाना है। इस कार्य के लिए समाजसेवकों की आवश्यकता है। आदिवासी क्षेत्रों में आज कई प्रकार के समाजसेवी मिलते हैं। एक ओर, वे प्रशिक्षित समाजसेवी हैं जो सरकारी समाजकल्याण विभागों की ओर से अधिकारियों के रूप में नियुक्त हैं। दूसरी ओर ईसाई समाजसेवी हैं जिनके लिए समाजसेवा ईसाइयत के प्रचार का एक माध्यम है। तीसरी ओर राजनैतिक समाजसेवी हैं और चौथी ओर आदिमजाति सेवक संघ जैसी प्राइवेट संस्थाओं के समाजसेवी हैं जिनमें से कुछ राजनीति के हारे हुए खिलाड़ी हैं और कुछ परिस्थितिवश पेशेवर समाज सेवक बन गए हैं। इधर, आदिवासियों में बढ़ते हुए ईसाइयत के प्रसार की प्रतिक्रिया में हिन्दू संगठनों ने भी आदिवासियों में समाजसेवा कार्य संगठित करना प्रारम्भ कर दिया है। इस धकापेल में आदिवासी समाज सेवा कार्य में व्यवधान ही अधिक आता है। समाज-सेवियों की इस सेना के प्रति आदिवासी शंकालु हो उठा है—विशेषतया, उस दशा में जब आदिवासी यह देखता है कि यह धन पैसा तो उसके नाम पर है किन्तु लाभ दूसरों को हो रहा है। आज हम यह भूल रहे हैं कि जहां समाज सेवा के लिए फंड सरकार से आए और उसका खर्च गैर-सरकारी संस्थाओं के द्वारा हो वहां, समाज सेवा में, राजनीति और निहित स्वार्थों का प्रवेश

अवश्यभावी है। आदिवासी क्षेत्रों मे किए जाने वाले समाज सेवा कार्य को प्राइवेट संस्थाओं के कर्णधारों के निहित स्वार्थों के चंगुल से निकालना और उसे प्रशिक्षित समाज सेवियों के हाथ में देना आदिवासी समाज सेवा-कार्य की आज प्राथमिक आवश्यकता भी है और समस्या भी।

आदिवासी संस्कृति की राष्ट्रीय महत्ता के प्रति भारत बहुत पहले ही सजग हो चुका था और स्वतन्त्रता के पहले ही से समाज सेवा के कार्यक्रमों के द्वारा (जिनका सूत्रपात गांधी जी की प्रेरणा से ठक्कर बापा के द्वारा हुआ था) उन्हें राष्ट्रीय प्रवाह में लाने का प्रयास किया गया है। प्रारम्भ से ही, भारत में पृथक्करण और सात्मीकरण की नीतियों को तरजीह नहीं दी गई है यद्यपि उनके प्रतिष्ठापक सरकार में भी रहे हैं और बाहर भी। एल्विन सरकार के सलाहकार रहे हैं और उन्होंने आदिवासी क्षेत्रों को नेशनल पार्कों के रूप में विकसित करने का पक्ष लिया था जिसे स्वीकार नहीं किया गया है। संविधान में जिस नीति की आधारशिला रखी गई है उसमें एक ओर, निश्चयात्मक (Positive) निषेधात्मक (Prohibitive) और निरोधात्मक (Preventive) कार्यक्रमों का उल्लेख है और दूसरी ओर, यह स्वीकार किया गया है कि भारतीय नागरिकों के रूप में आदिवासियों को अपने विकास का और अपनी संस्कृति को सुरक्षित रखने का पूरा अधिकार है और उसके लिए अवसर प्रदान करना राज्य का कर्तव्य है। आदिवासियों के वही मौलिक अधिकार हैं जो अन्य भारतीयों के हैं। उन्हें अपनी संस्कृति, प्रथाओं और अपने विश्वास बनाये रखने का पूरा अधिकार है बशर्ते कि वे राष्ट्रीय जीवन के आदर्शों के विरोध में न आते हों। संविधान में बेगार और अस्पृश्यता को गैरकानूनी करार दे दिया गया है। राज्यों, विशेषतः राज्यपालों, को आदिवासियों का शोषण रोकने और आदिवासियों के आर्थिक हितों की रक्षा करने का विशेष अधिकार है। संविधान की पांचवीं और छठी अनुसूचियों के द्वारा आदिवासी क्षेत्रों को अप्रत्यक्ष प्रशासन के लाभों को देने का भी प्रयास किया गया है।

अंग्रेजों के समय से चली आ रही एक समस्या आज भी उतनी ही विवादपूर्ण है और वह यह है कि भारत राष्ट्र में आदिवासी संस्कृति का क्या स्थान हो? अंग्रेजों ने आदिवासियों को, सर्वचेतनावादी कहकर, उन्हें हिन्दुओं से अलग माना और उन्हें अलग रखने की कोशिश भी की यद्यपि आदिवासियों में, विदेशी ईसाई मिशनरियों को ईसाइयत का प्रचार करने दिया। इस प्रक्रिया का परिणाम यह हुआ कि घुरे जैसे समाजशास्त्रियों ने, आदिवासियों को पिछड़े हुए हिन्दू कहकर, उन्हें हिन्दुत्व में पूर्णरूपेण आत्मसात कर लेने के मत की पुष्टि की। हिन्दू राष्ट्रवादिता पर आधारित जनमत भी इसी पक्ष में रहा है। किन्तु आज, न तो पृथक्करण ही सम्भव है और न आदिवासियों का हिन्दुत्व में पूर्ण सात्मीकरण ही। संविधान में आदिवासी संस्कृति को स्वतन्त्र विकास का अवसर प्रदान कर देने के बाद भी समस्या

जाती हैं। शरीर और मुख पर बालों की अनुपस्थिति सिर के बालों की बनावट ऊनी (Woolly), रंग घने बादामी से लेकर काला सकीर्ण किन्तु गोलाकार मस्था मोटे तथा ऊपर नीचे की ओर उठे हुए होंठ चौड़ी नाक और आगे की ओर निकला हुआ मुख, ये ही नीग्रो प्रजाति की मुख्य विशेषतायें हैं। सिर के दोनों ओर के चौड़े किनारे इस प्रकार के बने होते हैं कि सिर लम्बा लगता है, यद्यपि सिर-देशना (Cephalic Index) के अनुसार नीग्रो के सिर की बनावट मध्य श्रेणी में ही आती है। लम्बा कद घुटना तक लम्बा भुजायें (आजानुबाहुता), छोटी टांग और मोटा तथा मांसल शरीर नीग्रो की अन्य प्रजातिक विशेषतायें हैं।

नीग्रो-वन क्षेत्र के उत्तर में स्थित सूडान और मरुानी प्रदेश के उत्तरी भाग को हावेंस ने मिश्रण-क्षेत्र कहा है क्योंकि इस क्षेत्र में नीग्रो और श्वेत प्रजाति के मिश्रित प्रकार पाये जाते हैं। इस मिश्रण के मुख्य प्रतीक हैं नाइलोटिक नीग्रो जो नील नदी के उद्गम क्षेत्र और भील प्रदेश तक फैले हुये हैं। नाइलोटिक नीग्रो लम्बे कद, लम्बी-पतली और सीधी मुखाकृति वाले एक प्रकार के नीग्रो हैं जिन्होंने अस्तन में मेडीटरेनियन प्रजाति की कुछ विशेषताओं को भी आत्मसात कर लिया है। पूर्वी अफरीका तथा गुड होप अन्तरीप के दक्षिण में बान्टू-भाषा-भाषी गणजातियां रहती हैं जिनकी शारीरिक बनावट में गैर-नीग्रो विशेषताओं की झलक मिलती है। बान्टू भाषा भाषी गणजातियों में, यहां-वहां, कुछ समूहों में एबीसीनिया के निवासियों की शारीरिक विशेषतायें अवश्य दिखती हैं किन्तु अधिकतर, ये गणजातियां शरीर की बनावट और आकार में वन-क्षेत्र के नीग्रो और नाइलोटिक नीग्रो की विशेषताओं को लिये हुये हैं।

कांगो नदी की घाटी में नीग्रो प्रजाति के साथ-साथ नीग्रिटो प्रजाति के लोग पाये जाते हैं। इन्हें अफ्रीका के बौने भी कहा जाता है। नीग्रो और नीग्रिटो एक ही परिवार के हैं। नीग्रिटो नीग्रो का एक प्ररूप मात्र है। नीग्रिटो का छोटा कद (चार फुट, आठ इंच के लगभग) शरीर और मुख पर उगने वाले बाल, चौड़ा-गोला सिर अत्यधिक बड़ी और चौड़ी नाक गोलाकार (Bulbus) मस्था और बचकानी (Infantile) मुखाकृति उन्हें एक प्राथमिक नीग्रायड प्रजाति का रूप देती है। नीग्रो और नीग्रिटो में मिश्रण भी कम होता है। कांगो-प्रदेश के जंगलों में नीग्रिटो प्रजाति के लोगों का कोई निश्चित क्षेत्र नहीं है। वे जंगलों में शिकार करते हैं और नीग्रो गणजातियों को मांस पहुँचाया करते हैं।

अफरीका के बाहर, नीग्रिटो दक्षिणी भारत (?), मलाया और ओशीनिया (Oceania) तक फैले हुए हैं। एशिया और ओशीनिया में नीग्रो की अपेक्षा नीग्रिटो-तत्वों की

है। बोर्नियो और सेलीबीज म नीग्रिटो तत्व है, पर मिश्रित रूप म और यत्र-कदा पाये जाने वाले घुंघराल बाल और छोटे कद म देखने को मिलता है। न्यूगिनी के अन्तराल म भी नीग्रिटो-तत्व पाये जाते हैं। मेलानेशिया के भी कुछ भागों म नीग्रिटो तत्वों के पाये जाने की सम्भावना है यद्यपि अभी तक उन्हें निर्धारित नहीं किया जा सका है। इडोनेशिया म नीग्रो नहो के बराबर हैं, यद्यपि न्यूगिनी और जावा-सुमात्रा के बीच के द्वीपों म नीग्रो मिश्रित रूप में मिलता है। न्यूगिनी म नीग्रिटो के साथ साथ नीग्रो भी पाया जाता है और न्यूगिनी के ठीक पूर्व म नीग्रो नीग्रिटो और आस्ट्रेलायड के मिश्रण से एक ऐसा प्रकार अस्तित्व म आया है जिसम मलाया के लोगों की एक अस्पष्ट झलक ही मिलती है। मेलानेशिया में प्रमुख द्वीपों पर नीग्रो तत्वों का प्राधान्य है, जो फीजी म पालीनेशियन तत्वों से मिल गये है। पालीनेशिया म नीग्रो, मगोलियन और श्वेत प्रजातियां के साथ मिल कर मिश्रित पर विशिष्ट रूप ले चुका है। आस्ट्रेलिया के आदिवासियों मे नीग्रिटो और काकेस्वायड के मिश्रण ने जिस प्रजाति प्रकार को जन्म दिया है उसे आस्ट्रेलायड की सज्ञा दी जाती है।

अफरीका के सुदूर दक्षिण मे, कालाहारी रेगिस्तान के निवासी, बुशमैन और हाटेन्टाट नामक दो समूहों को हुटन ने एक ऐसा मिश्रित प्रजातिक प्रकार माना है जिसमे नीग्रिटो विशेषताओं की प्रधानता है। बुशमन और हाटेन्टाट म नीग्रिटो प्रजाति की विशेषताओं का सहसा अस्वीकार नहीं किया जा सकता है यद्यपि वे पूर्णतया नीग्रिटो नहीं हैं। प्रजाति के लगभग सभी विद्यार्थियो ने बौनों (नीग्रिटो) और बुशमैनों मे पाई जाने वाली समानताओं को स्वीकार किया है। कद म, बुशमैन बौनों से कुछ अधिक लम्बे हैं। उनकी त्वचा का रंग काला न होकर पीला है। काली मिर्च के समान घुंघिया पड़े हुए बाल और मोटे तथा भरे हुए होठ, उन्हें नीग्रो और नीग्रिटो के समीप ला बिठाते हैं जब कि पीला वर्ण, कम चौड़ी नाक, चपटी मुखाकृति सकीर्ण मस्तक, चौड़ी गाल की हड्डियां, इपीकैथिक फोल्ड और तिरछी आखें उनम मगोलियन विशेषताओं की निश्चित झलक देती ह। स्टीटोपाइजिया (Stetopygia), नितम्बों पर जमा मास, बुशमन-हाटेन्टाट-स्त्रियों की एक अलग विशेषता है। बाल तथा होठ की बनावट मे पाई जाने वाली समानता के आधार पर हावेल्स ने बुशमैन को नीग्रो प्रजाति के समीपतम माना है और उसमे तथा मगोलियन मे पाई जाने वाली समानताओं का भ्रम कहा है। किन्तु, हुटन बुशमैन की मगोलियन विशेषताओं को भ्रम नहीं मानते हैं। हाटेन्टाट बुशमन का वह रूप है जिसम बाटू नीग्रो और हैमेटिक मेडीटरेनियन की विशेषताओं का मिश्रण हुआ है। हाटेन्टाट, बुशमैन से कुछ अधिक लम्बे होते हैं और सिर की बनावट में नीग्रो के अधिक समीप होते हैं। किन्तु

विशेषाकृत और सामान्यकृत विशेषताओं की बात करना कठिन है और हावेल्स के मंगोलियन सम्बन्धी वर्णन से प्रजाति शुद्धता की ध्वनि निकलती है जिसे स्वीकार नहीं किया जा सकता। क्लासिकल मंगोल्वायड (Classical Mongoloid) और इस्किमवायड (Eskimoid) मंगोल्वायड को हूटन ने प्राथमिक मंगोलियन प्रजातियां माना है और इण्डोनेशियन मंगोल्वायड (Indonesian Mongoloid) तथा अमरीकी इण्डियन (American Indian) को मिश्रित मंगोलियन प्रजातियां। मिश्रित मंगोलियन प्रजातियों में हूटन के अनुसार मंगोलियन तत्वों और विशेषताओं की प्रधानता है। नामकरण के लिये अपनायी गई संज्ञाओं और दृष्टिकोणों में मतमतान्तर हो सकता है किन्तु यह निर्विवाद है कि सम्पूर्ण साईबेरिया और उत्तरी चीन में मंगोलियन प्रजाति का एक प्रकार केन्द्रित है और उसकी सबसे बड़ी विशेषता है मुख का चन्द्रमा के समान गोल और चपटा होना। साइबेरिया के उत्तर में रहने वाले इस्कीमो चौड़े सिर वाले हैं और अन्य लोग लम्बे सिर वाले। इसके अतिरिक्त चीन में इसी मंगोलियन प्रकार के तत्वों का बाहुल्य है। पश्चिमी मंगोलों में भी इसी प्रकार की विशेषतायें काफी मात्रा में पायी जाती हैं और तिब्बत में चौड़े सिर के साथ, यहां वहां अन्य विशेषतायें पाई जाती हैं।

इण्डोनेशिया और मलाया में पाये जाने वाले मंगोलियन प्रकार को ही इण्डोनेशियन-मंगोल्वायड प्रकार कहा गया है। इण्डोनेशियन-मंगोल्वायड के दो प्रकार हैं—एक मलाया मंगोलियन प्रकार (The Malaya Mongoloid Type) और दूसरा, इण्डोनेशियन मंगोल्वायड प्रकार (The Indonesian Mongoloid Type)। मलाया मंगोल्वायड प्रकार इण्डोनेशिया (हिन्द चीन), थाईलैण्ड बरमा मलाया प्रायद्वीप डच पूर्वी द्वीप समूह फिलिप्पाइन्स और जापान तक फैला हुआ है और इण्डोनेशियन मंगोल्वायड प्रकार दक्षिणी चीन इण्डोचाइना बरमा थाईलैण्ड और मलाया प्रायद्वीप के अन्तराल में पायी जाने वाली गणजातियों के शारीरिक गठन में। इण्डोनेशियन प्रकार की अपेक्षा मलाया प्रकार अपेक्षाकृत अधिकतर चौड़े सिर उभरी हुई गाल की हड्डियां चौड़ी किन्तु अन्दर की ओर धसी नाक इपीकैथिक फोल्ड और रूखे-सीधे तथा काले बालों वाला होता है। त्वचा का रंग भी अपेक्षाकृत अधिक काला-गहरा होता है। इण्डोनेशियन प्रकार कद में छोटा होता है और सिर की बनावट में लम्बे या मध्य प्रकार की प्रवृत्ति पायी जाती है। त्वचा का रंग बादामी या अरुण-बादामी (Red Brown) और बालों का रंग काला होता है। मलाया प्रकार की अपेक्षा इण्डोनेशियन प्रकार में कम मंगोलियन विशेषतायें हैं। इसके प्रमाण हैं इण्डोनेशियन प्रकार का अपेक्षाकृत अधिक लम्बी-पतली नाक, सीधा भाल और लहरदार बाल।

मास्ट्रेलायड है और न काकेस्वाड। दक्षिणी अमरीका म पालीनेशियन विशेषतायें मिलती हैं, पर अस्पष्ट रूप म। रेड इण्डियन न तो उतने सजातीय और विशिष्ट हैं जितना कि उन्हे बनाने का प्रयत्न किया गया है और न वे लाल रग के ही हैं। वे वस्तुत एक प्रजातिक दृश्यरूप हैं और मगोल्वायड परिवार के एशियाई सदस्य हैं। मध्य एशिया, तिब्बत और ईस्ट इण्डीज (East Indies) के लोगो से उनकी काफी प्रजातिक समानता है। प्रजाति के विद्यार्थियो की ऐसी मान्यता है कि रेड इण्डियन अलास्का होते हुये अमरीका मे आये और उनके स्थानान्तरित समूह हजारो वर्षो तक आते रहे। उनमे कई प्रजाति की विशेषताओ का मिश्रण भी एशिया मे ही हुआ होगा[१]।

४

भारत मे प्रजातिया

भारत प्रजातियो का अजायबघर है। पश्चिमी पाकिस्तान से लेकर पूर्वी पजाब और कश्मीर तक और साधारणतया सम्पूर्ण भारत मे काकेस्वायड तत्वो का बाहुल्य है। उत्तर प्रदेश म हिमालय की तलहटी म रहने वाले थारूप्रो म मगोल्वायड तत्वो का प्रभाव स्पष्ट है और दक्षिण के आदिवासियो का शारीरिक बनावट म नीग्रायड तत्वों के मिश्रण का आभास सा मिलता है। काकेस्वायड तत्व भी सम्पूर्ण भारत म एक समान नही हैं। उत्तरी-पूर्वी पजाब, काश्मीर और जौनसार-बावर म लम्बे कद, लम्बे सिर, लम्बी मुखाकृति पतली नाक और गौरवर्ण का केन्द्रीकरण हुआ है किन्तु बगाल की ओर चौडे सिर, गोल मुखाकृति मध्यम कद और बादामी गौरवर्ण की अधिकता बढती जाती है। दक्षिणी-पश्चिमी भारत म, गुजरात से लेकर कुर्ग तक श्वेत वर्ण चौडे सिर और मध्यम कद की प्रधानता है। भारत के सामाजिक सगठन म भी प्रजातिक तत्वो का समावेश हुआ है—साधारणतया उच्चस्तर की जातियों के शारीरिक गठन म काकेस्वायड तत्वो का, विशेषतया श्वेतवर्ण का, बाहुल्य है जब कि निम्नस्तरीय जातियो म श्यामवर्ण का। उत्तर पश्चिम के श्वेत

१—(अ) हूटन ई० ए० अप फ्राम दि एप पृष्ठ ६३३ ६४६
(ब) हावल्स विलियम मनकाइण्ड सो फार पृष्ठ २५६ २५८

इन नाना सम्प्रदायों मे काफी मतभेद रहा है और किसी सीमा तक आज भी है। विदेशी मानवशास्त्री जनगणनाओं को ही प्रामाणिक मानते रहे हैं और भारत के मानवशास्त्रियों के इस दिशा में काफी ध्यान न देने के कारण जनगणना विवरणों की प्रामाणिकता और भी बढ़ गई। उधर, अंग्रेज नृकुलशास्त्रियों ने आधारहीन सिद्धांतों का प्रतिपादन किया। अट्ठारह सौ इक्यानवे के जनगणना विवरण में ओ डानेल (O Donnell) ने यह प्रतिपादित किया कि बिहार और बंगाल के मैदानों में पाया जाने वाला मध्यम सिर, चौड़े सिर वाले मंगोलों और लम्बे सिर वाले द्राविड़ों के मिश्रण का परिणाम है और आर्यों का उस पर कोई प्रभाव नहीं है। उन्नीस सौ एक में रिसले ने यह निर्धारित करने का प्रयत्न किया कि अनेक प्रजातियों के मिश्रण के कारण भारत में कई अन्तवर्ती प्रजातियाँ (Intermediate Races) अस्तित्व में आयी। उन्नीस सौ इक्तीस में हटन और गुहा ने नीग्रिटो प्रजाति को भारतीय जनसंख्या का प्राचीनतम प्रजातिक आधार माना[1]। सर विलियम हंटर (Sir William Hunter) ने अपनी पुस्तक 'दि इण्डियन इम्पायर' में छोटा नागपुर के आस पास रहने वालों को एक अलग प्रजाति माना और उसे कोलारियन प्रजाति की संज्ञा दी। किंतु रिसले ने कोल और द्राविड़ों में प्रजातिक भिन्नता के स्थान पर उनमें केवल भाषा भिन्नता ही मानी है[2]। अंडरसन ने प्रजाति को भाषा, जाति और धार्मिक भिन्नताओं का मुख्य कारण माना[3]। अंडरसन[4] के शब्दों में मानव-वर्गों में जाति ने निश्चय ही उन भिन्नताओं को स्थिर रखने का प्रयास किया है जो विभिन्न नस्लों के घोड़ों या जानवरों में पाई जाती हैं 'भारतीय प्रजातिक भिन्नताओं के कुछ सूत्र इस प्रायद्वीप के धर्मों में भी मिल सकते हैं।' जिस प्रकार, हंटर ने कोल प्रजाति को प्रतिपादित किया, उसी प्रकार, हैडोन (Haddon) ने नेसियट (Nesiot) प्रजाति को और उसका केन्द्रीकरण नागा प्रांत में माना। अंग्रेज नृकुलशास्त्री आर्यों और द्राविड़ों को अलग अलग प्रजातियाँ मानते आए हैं यद्यपि ये दोनों प्रजातिक समूह न

१—दत्त बी० एन० रेसेज आफ इण्डिया जनल आफ दि डिपार्टमेंट आफ लेटर्स, वाल्यूम २६ कलकत्ता विश्वविद्यालय।

२—दत्त बी० एन० वही

३—भाषा और प्रजाति परस्पर समानान्तर नहीं हैं, यद्यपि भारत के इतिहासकार और भाषाशास्त्री बहुधा उन्हें समान मान लेते हैं। उदाहरण के लिये देखिये आर० सी० मजूमदार द्वारा सम्पादित वैदिक एज अध्याय ८

४—अंडरसन जे० डी० दि पीपुल्स आफ इण्डिया पृष्ठ ४

वर्णी समूह और श्यामतम आदिवासी भारत के प्रजातिक गठन के दो व्यतिरेकी आधार हैं। मिश्रित कि तु स्थायी विशिष्ट प्रजाति समूह भारत के प्रजातिक गठन को एक विजातीय (Heterogeneous) रूप प्रदान करते है जिसका निर्धारण और स्पष्टीकरण एक जटिल विवादग्रस्त समस्या है। सस्कृति और भाषा भिन्नता इस बात का प्रतीक है कि भारतीयों के प्रजातिक उद्गम स्रोत अनेक प्रजातियो और उनके मिश्रण मे निहित हैं। प्रजातिक वर्णसकरता ने मिश्रित समूहो को जन्म दिया और जाति अन्तर्वैवाहिकी के आदर्श ने एक ओर प्रजातिक धाराओ (Racial Strains) को बनाये रखा तो दूसरी ओर मिश्रित प्रजातिक समूहो को स्थायित्व प्रदान किया। अपनी भौगोलिक विशेषता के कारण भारत उस बर्तन के समान रहा है जिसमे अनेक प्रजातिया घुलती और मिश्रित होती रही हैं। अपने प्रजातिक गठन मे भारतीय वस्तुत उस रस्सी के समान है जिसके निर्माण मे कई मोटी पतली लडिया एक साथ बट दी गई है।

भारत मे प्रजातियो के अध्ययन का श्रीगणेश अग्रज नृकुलशास्त्रियो (Ethnologists) के हाथों हुआ। एन्डरसन (Anderson) के अनुसार, भारत के लोगो की प्रजातिक विशेषताओ का शास्त्रीय अध्ययन उस समय से प्रारम्भ होता है जब नेसफील्ड (Nesfield) ने यह कहा था कि भारत मे केवल एक ही भारतीय जाति और प्रजाति है और यह प्रतिपादित किया था कि एक ब्राह्मण और भगी मे अन्तर करना असम्भव है। यदि अन्तर किया भी जा सकता है तो वेश भूषा और अन्य समाजकृत बनावटी आधारो पर। किन्तु भारत मे प्रजातियों के अध्ययन का यही एकमात्र कारण नही है। रिसले (Risley) का छोटा नागपुर के आदिवासियो के बीच मे रहने का अनुभव, आर्य परिवार की भाषाओ का निर्धारण वेदो मे वर्णित वर्ण भेद और आर्यों के शारीरिक गठन प्रागितिहास और समाज की प्रजातियो के अध्ययन मे बढ़ती हुई दिलचस्पी भारत मे प्रजातियो के उत्तरोत्तर अध्ययन के अन्य कारण हैं। अग्रजी शासन काल मे अग्रज नृकुलशास्त्रियो का ध्यान मे होने वाली जनगणनायें भारतीय प्रजातियो के अध्ययन का मुख्य माध्यम रही है। १८६१, १९०१ और १९३१ की जनगणनायें भारतीय प्रजातियो के अध्ययन मे विशेषरूप से उल्लेखनीय हैं। इसके अतिरिक्त भारतीय और योरोपीय मानवशास्त्री भी इस दिशा मे प्रयत्नशील रहे है। बगाल, उत्तर प्रदेश और गुजरात मे डा० मजूमदार द्वारा किये हुए प्रजातिक सर्वेक्षण इस दिशा मे महत्वपूर्ण प्रयास हैं।

भारत की प्रजातियो के अध्ययन कर्त्ताओं को तीन सम्प्रदायो मे बाटा जा सकता है—प्रथम, योरोपीय सम्प्रदाय (जिसमे फ्रास जर्मनी और इटली के मानवशास्त्री शामिल हैं), द्वितीय, अग्रजी अमरीकी सम्प्रदाय और तृतीय, भारतीय सम्प्रदाय।

इन नाना सम्प्रदायों में काफी मतभेद रहा है और किसी सीमा तक आज भी है। विदेशी मानवशास्त्री जनगणनाओं को ही प्रामाणिक मानते रहे हैं और भारत के मानवशास्त्रियों के इस दिशा में काफी ध्यान न देने के कारण जनगणना विवरणों की प्रामाणिकता और भी बढ़ गई। उधर अंग्रेज नृकुलशास्त्रियों ने आधारहीन सिद्धान्तों को प्रतिपादित किया। अट्ठारह सौ इक्यानवे के जनगणना विवरण में ओ' डानल (O Donnell) ने यह प्रतिपादित किया कि बिहार और बंगाल के मैदानों में पाये जाने वाला मध्यम सिर, चौड़े सिर वाले मंगोलों और लम्बे सिर वाले द्राविड़ों के मिश्रण का परिणाम है और आर्यों का उस पर कोई प्रभाव नहीं है। उन्नीस सौ एक में रिसले ने यह निर्धारित करने का प्रयत्न किया कि अनेक प्रजातियों के मिश्रण के कारण भारत में कई अन्तवर्ती प्रजातियां (Intermediate Races) अस्तित्व में आयीं। उन्नीस सौ इक्कीस में हटन और गुहा ने नीग्रिटो प्रजाति को भारतीय जनसंख्या का प्राचीनतम प्रजातिक आधार माना[1]। सर विलियम हंटर (Sir William Hunter) ने अपनी पुस्तक 'दि इण्डियन इम्पायर' में छोटा नागपुर के आस पास रहने वालों को एक अलग प्रजाति माना और उसे कोलारियन प्रजाति की संज्ञा दी। किंतु रिसले ने कोल और द्राविड़ों में प्रजातिक भिन्नता के स्थान पर उनमें केवल भाषा भिन्नता ही मानी है[2]। अन्डरसन ने प्रजाति को भाषा जाति और धार्मिक भिन्नताओं का मुख्य कारण माना[3]। अन्डरसन[4] के ... में 'मानवसमूहों में जाति ने निश्चय ही उन भिन्नताओं को स्थिर रखने का प्रयास किया है जो विभिन्न नस्लों के घोड़ों या जानवरों में पाई जाती हैं 'भारतीय प्रजातिक भिन्नताओं के कुछ सूत्र इस प्रायद्वीप के धर्मों में भी मिल सकते हैं।' जिस प्रकार, हंटर ने कोल प्रजाति को प्रतिपादित किया, उसी प्रकार, हैडान (Haddon) ने नेसियट (Nesiot) प्रजाति को और उसका केन्द्रीकरण नागा प्रांत में माना। अंग्रेज नृकुलशास्त्री आर्यों और द्राविड़ों को अलग अलग प्रजातियां मानते आए हैं यद्यपि ये दोनों प्रजातिक समूह न

१—दत्त बी० एन० रेसेज आफ इण्डिया जर्नल आफ दि डिपार्टमेंट आफ लेटर्स, वाल्यूम २६ कलकत्ता विश्वविद्यालय।

२—दत्त बी० एन० वही

३—भाषा और प्रजाति परस्पर समानान्तर नहीं हैं यद्यपि भारत के इतिहासकार और भाषाशास्त्री बहुधा उन्हें समान मान लेते हैं। उदाहरण के लिये देखिये आर० सी० मजूमदार द्वारा सम्पादित वैदिक एज अध्याय ८

४—अन्डरसन जे० डी० दि पीपुल्स आफ इण्डिया पृष्ठ ४

होकर सांस्कृतिक समूह है। इस प्रकार, भारतीय प्रजातियों को स्पष्ट करने के लिए एक और मानव-समूहो के काल्पनिक स्थानान्तरण का आश्रय लिया गया तो दूसरी ओर प्रजातिक मिश्रण का और इस प्रयास म, जसा कि भूपेन्द्रनाथ दत्त ने लिखा है प्राणिशास्त्र व आनुवंशिकता सम्बन्धी नियमो की स्पष्ट अवहेलना की गई[1]। सम्भवत इसी विचारधारा के प्रभाव का परिणाम है कि क्रोबर (Kroeber) ने 'हिन्दू को काकेशायड प्रजाति के अन्तगत एक अलग प्रजाति माना है[2] और हावेल्स (Howells) ने यह लिखा है कि यदि पाठक को ऐसा प्रतीत हो कि भारतीय प्रजातियो के प्रति उसके विचार अस्पष्ट है तो उसे शरमाने की आवश्यकता नही, क्योकि शायद ही कोई ऐसा जीवित व्यक्ति हो जिसके विचार इस विषय म स्पष्ट हो। भारतीयो के प्रजातिक प्रकार के बारे म काफी अज्ञानता है और उनके प्राचीन इतिहास के बारे म पूर्णतम अनभिज्ञता। वर्तमान परिस्थिति मे मानवशास्त्री केवल सतह पर ही देखकर जो स्पष्टतम है उसी पर जोर दे सकता है यद्यपि ऐसा करने का तात्पय होगा सव प्रथम यह कहना कि भारतीयो के प्रजातिक गठन की चरम सीमाये एक दूसरे से कोसो दूर है और फिर उन चरम सीमाओ के निर्धारण का प्रयत्न करना। भारतीयो के प्रजातिक गठन के विषय म केवल एक ही तथ्य स्पष्ट है और वह यह है कि भारत की जनसंख्या श्वेत वर्णी और एक या उससे अधिक श्यामवर्णी प्रजातियो का मिश्रण है[3]।

५

भारत की प्रजातियो के कुछ वर्गीकरण

भारत म पायी जाने वाली प्रजातिक धाराओ का वर्णन करने से पहले भारत की प्रजातियो के कुछ वर्गीकरणों और उनके प्रतिपादको के मतो की विवेचना आवश्यक है। सबसे पहला प्रयास रिसले (Sir Herbert Risley) का है और जसा कि पहले कहा जा चुका है रिसले ने यह प्रतिपादित किया है कि मिश्रण के कारण भारत में सात मिश्रित किन्तु स्थायी

रिसले

१—दत्त बी० एम० वही
२—क्रोबर ए० एल० एन्थ्रोपोलाजी पृष्ठ १३५
३—हावेल्स विलियम मनकाइण्ड सो फार पृष्ठ २४५

मध्यवर्ती प्रकार (Intermediate Type) पाये जाते हैं। तुर्को ईरानियन प्रकार (The Turko Iranian Type) बिलोचियो, त्रिलोचिस्तान के अफगानो, ब्राह्वी भाषा भाषियो और पश्चिमोत्तर सीमान्त प्रदेश के निवासियो में केन्द्रित है। आज यह प्रदेश पाकिस्तान का भाग है। तुर्को ईरानियन-प्रकार रिसले के अनुसार तुर्कों और ईरानियों के मिश्रण का परिणाम है। यहूदियो जैसी नाक शरीर पर बालो की अधिकता और घनी दाढी इस प्रकार की मुख्य शारीरिक विशेषतायें हैं। इण्डो आर्यन प्रकार (The Indo-Aryan Type) पंजाब, राजपूताना और कश्मीर में केन्द्रित है और राजपूत, खत्री तथा जाट इस प्रकार के मुख्य प्रतिनिधि हैं। वर्ण को छोड कर, अन्य सभी विशेषताओ में ये योरोपियनो के समान हैं और मेडीटरनियन के आस-पास पायी जाने वाली प्रजातियो से विरला ही अधिक धूसर (Dusky) हैं। इन्डो-आर्यन प्रजाति के लोग लम्बे कद वर्ण में साफ रग (Fair), लम्बे सिर, पतली प्रमुख नाक, काली आँखो तथा चेहरे पर घने बालों वाले होते हैं। इनमें आर्यों की विशिष्टतायें विद्यमान हैं, यद्यपि उनका रूपान्तरण अवश्य हुआ है। सीथो-द्रविडियन (The Scytho Dravidian) रिसले का तीसरा प्रकार है जो मराठी ब्राह्मणो, कुनबियो और पश्चिमी भारत के कुछ निवासियो में निहित है। अपेक्षाकृत छोटा कद लम्बा सिर, अधिक ऊँची उठी हुई नाक और चौडी मुखाकृति ही सीथो-द्रविडियन को तुर्को ईरानियन से भिन्न करती हैं। चौथा प्रकार, आर्यो-द्रविडियन (Aryo-Dravidian) है जिसे रिसले ने हिन्दुस्तानी प्रकार (The Hindostani Type) भी कहा है। यह प्रकार संयुक्त प्रांत (उत्तर प्रदेश) और राजपूताना तथा बिहार के कुछ भागो में पाया जाता है। इण्डो आर्यन और द्रविडियन प्रजातिक धाराओ का मिश्रण ही इस प्रकार का कारण है, यद्यपि इस मत्र का उच्च जातियो में, अपेक्षाकृत, इण्डो-आर्यन विशेषतायें अधिक पायी जाती हैं और निम्नस्तर की जातियो में अधिक द्रविडियन विशेषतायें। फिर भी यह प्रकार एक विशिष्ट प्रजाति है। इस प्रजातिक प्रकार के सदस्यो की सामाजिक स्थिति उनकी नासिका-देशना (Nasal Index) पर निर्भर है। रिसले के अनुसार, जिस जाति की स्थिति जितनी ही निम्न है उस जाति के सदस्यो की नाक उतनी ही चौडी होती है। पाचवा प्रकार, मगोलो-द्रविडियन (Mongolo Dravidian) या बंगाली प्रकार (The Bengali Type) बगाल और उडीसा में पाया जाता है जहां स्थानीय आदिवासियों, द्रविडों और तिब्बती-बर्मी प्रकारो के साथ आर्य प्रजातिक विशेषताओ का काफी मिश्रण हुआ है। चौडा सिर इस प्रकार की प्रमुख विशिष्टता है जो ब्राह्मणों में बहुतायत से पायी जाती है। बंगाली ब्राह्मण की पतली लम्बी नाक उसकी इण्डो

आधन आनुवंशिकता का ही प्रतीक है। मगोल्वायड (The Mongoloid Type), छठा प्रकार, हिमालय नपाल आसाम और वर्मा म निहित है। चौडा सिर, पीलिमा लिये हुये श्याम वर्ण मुख पर कम बाल छोटा कद, पतली तथा चौडी नाक, चपटा चेहरा और तिरछी आखें इस प्रकार की मुख्य शारीरिक विशेषतायें हैं। पश्चिमी हिमालय म कम प्रजाति और आर्यों का मिश्रण हुआ है। द्रवीडियन-प्रकार (The Dravidian Type) रिसले के अनुसार भारत का सातवा प्रजातिक प्रकार है जो लका स लकर गगा की घाटी तक और दक्षिणी पूर्वी भारत म फला हुआ है। यह मद्रास, हैदराबाद म य प्रदेश और छोटा नागपुर म पाया जाता है यद्यपि इसके शुद्धतम प्रति निधि मालाबार के तट पर और छोटा नागपुर म पाय जाते है। इस प्रजातिक प्रकार की विशेषताय है छोटा कद, गहरा काला रंग घु घुरालेपन का आभास लिये हुये घने बाल अधिक कजरारी आख लम्बा सिर और अत्यधिक चौडी नाक जो कभी कभी जड म धसा रहता है।

रिसल द्वारा प्रयोग म लायी हुयी प्रजातिक सज्ञाओ (Racial Names) के विषय म एण्डरसन का कहना है कि ये सज्ञायें विभिन्न क्षेत्रो के निवासियो की उन साधारण प्रजातिक विशेषताओं को व्यक्त करती है जो निरीक्षण के द्वारा ही नही वरन् माप के द्वारा भी निर्धारित की जा सकती है। ये सज्ञाय, किन्ही किन्ही परिस्थितियो मे, प्रजातियो की उत्पत्ति के सिद्धान्तो को भी व्यक्त करती हैं और प्रजाति उत्पत्ति के य सिद्धान्त अज्ञात भाषा, अज्ञात प्रथाओ और अज्ञात भाषा विविधताओ पर आधारित हैं। रिसले के मत को स्पष्ट करने के लिये लिखे गय एडरसन के इस कथन मे ही रिसल की तीव्रतम आलोचना निहित है। भाषा प्रथा और प्रजाति एक दूसरे के समानान्तर नही हैं और भाषा के आधार पर ही प्रजाति का निधारण करना कठिन है। रिसल के अनुसार भारत के लोगों का प्रजातिक गठन मुख्यतया तीन प्रजातियो के मिश्रण का परिणाम है और वे तीन मुख्य प्रजातिया है—द्राविड (The Dravidian) इण्डो-आर्य (The Indo Aryan) और मगोलियन (The Mongolian)। किन्तु आर्य और द्राविड प्रजातिक समूह न होकर भाषा पर आधारित समूह हैं और द्राविड भाषा भाषी समूह म कम से कम तीन प्रजातिया पाई जाती हैं। भारत मे पायी जाने वाली चौडे सिर की विशेषता रिसले के अनुसार मगोलियन प्रभाव के कारण है किन्तु डा० मजूमदार के मत म यह निर्धारित करना कठिन है क्योंकि एक ओर मगोल्वायड प्रजाति के लोग केवल चौडे सिर वाले ही नहीं होते हैं और दूसरी ओर बगाल पर मगोलियन प्रभाव उतना नहीं है जितना कि रिसले ने प्रतिपादित करने का प्रयत्न किया है। गुजरात म पायी जाने वाली चौडे सिर की विशेषता मगोलियन प्रभाव

के आधार पर निधारित करना वस्तुत असम्भव है। रिसले द्वारा प्रयुक्त सज्ञाएँ मानव-शास्त्र म प्रयोग की जाने वाली अन्तर्राष्ट्रीय प्रजातिक सज्ञाओ के अनुकूल नही हैं और न उनसे वास्तविक प्रजाति-समूहो का बोध ही होता है। इसी कारण, रिसले द्वारा प्रयुक्त नामावली की आलोचना की गयी है। रिसले के एक सहयोगी क्रुक (Crooke) ने 'दि पीपुल्स आफ इण्डिया' की दूसरी आवृत्ति के प्राक्कथन म यहा तक लिखा है कि रिसले द्वारा प्रयुक्त प्रजातिक सज्ञायें जितनी ही जल्दी त्याग दी जाय उतना ही अच्छा होगा। बाद के अध्ययन कर्ता रिसले की प्रजातिक सज्ञाओ को बराबर त्यागते चले गये। आज वह नामावली सर्वथा अमान्य है। फिर भी, रिसले के काय और अध्ययन का आज वही महत्त्व है जो एक अग्रगामी कार्य का होना है।

एo सीo हैडोन (A C Haddon) ने रिसले का अशत अनुसरण किया है।

हैडोन

हैडोन (Haddon) के अनुसार भारत म मुख्यतया पाच प्रकार हैं—प्राक द्राविड (Pre Dravidian), द्राविड (लम्बे सिर और बादामी तथा जलूनी वर्ण वाले), इण्डो आर्य (साफ वर्ण और लम्बे सिर वाले), इण्डो-अल्पाइन (चौडे सिर वाले) और मगोलियन। द्राविड जैसा कि हैडोन का मत है, पश्चिमी बगाल म गगा की घाटी के मूल निवासी रहे होंगे और इधर उधर काफी भ्रमण करने के पश्चात मुख्यतया छोटा नागपुर में बस गए होंगे। इण्डो आर्यन प्रजातिक तत्त्व और भारत म पायी जाने वाली चौडे सिर की विशेषता क्रमश आर्य और अल्पाइन प्रजाति की देन हैं। भारत म मगोलायड तत्त्व, हैडोन के अनुसार, पूर्व से आये हैं। हैडान ने ही सर्वप्रथम भारत की मूलतम प्रजाति का प्रश्न उठाया और यह प्रतिपादित किया कि भारत के प्रजातिक गठन का प्राचीनतम आधार अनेक प्राक द्राविड गणजातियों में निहित है। प्राक द्राविड प्रजातिक प्रकार की विशेषता है लम्बा सिर और चौडी नाक, जो हैडोन के अनुसार अधिकतर नागा, खासी कूकी, मैनीपुरी मिकिर और कचारी गणजातियो म पाई जाती है यद्यपि नागा गणजातियो म य तत्त्व उतने प्रधान नहीं है। लम्बे सिर और मध्यम नाक वाले तत्त्व को हैडान ने नेसियट (Nesiot) कहा है जो नेफा (NEFA) की पहाडियो म पाया जाता है और जिसका नागा गणजातियों म प्राधान्य है। किन्तु हैडान ने नेसियट को इण्डोनेशियन माना है जब कि हट्टन ने मैलानेशियन'।

१—हत्त बीo एनo वही।

जनगणना विवरणो के लेखको म हटन पहले व्यक्ति हैं जिन्होने रिसले, अडरसन और हैडान द्वारा प्रयुक्त नामावली का प्रयोग न करके सवमान्य,
हटन अन्तर्राष्ट्रीय नामावली का प्रयोग किया है। हटन के मत मे, भारतीय प्रजातिक धाराओ का निर्धारण एव स्पष्टीकरण भारत मे होने वाले स्थानान्तरणो के सन्दभ म हो हो सकता है और इसी कारण उनका वर्गीकरण भारतीयो की भाषा, संस्कृति और शरीर गठन के आधार पर लगाये गये अनुमानो पर आधारित है। उदाहरणाथ हटन के अनुमार, दक्षिणी पूर्वी एशिया के अन्य क्षेत्रो के प्रजातिक गठन पर विचार करने से यह बहुत सम्भव प्रतीत होता है कि भारत के प्राचीनतम निवासी जिनके कुछ भी चिह्न अवशेष हैं नीग्रिटो हैं। अडमन द्वीपो म नीग्रिटो अपने शुद्ध रूप म पाये जाते हैं और मलाया फिलिप्पाइन-द्वीपो तथा यूगिनी तक नीग्रिटो तत्व फैले हुए है। किन्तु, भारत म नाग्रिटो प्रभाव समाप्त होता रहा है और आज भारत म नाग्रिटो तत्व सम्भवत कोचीन के जगलों म पाई जाने वाली कादर गणजाति के सदस्यो बिहार म गगा नदी के दक्षिण म स्थित राजमहल की पहाडियो के इक्का-दुक्का निवासियो और आसाम तथा बमा के बीच उत्तरी पूर्वी सीमा पर स्थित किसी किसी नागा-गाव के निवासियो म पाये जाते हैं। वतमान भारत म नीग्रिटो प्रजाति के क्षीण अवशेष ही पाये जाते है और आज इस बात की केवल कल्पना ही की जा सकती है कि कभी नीग्रिटो पूर्वी तथा दक्षिणी भारत के निवासी रहे होगे[1]।

सुदूर उत्तर-पूर्वी भारत म स्थित आसाम की नागा पहाडियो के निवासियो की शारीरिक विशेषताओ म यहा वहा पापुअन (Popuan) मेलानेशियन प्रकार के नीग्रायड भी पाये जाते हैं। शारीरिक गठन की अपेक्षा इस प्रदेश की संस्कृति और कला में मलानेशियन तत्व अधिक स्पष्ट है। उन्नीस सौ इकत्तीस के जनगणना विवरण म हटन द्वारा व्यक्त विचारो के अनुसार भारत और बमा म मलानेशियन तत्व स्पष्ट है यद्यपि उनका विस्तार सीमित है और उनकी उत्पत्ति सन्देहात्मक। मेलानेशियन प्रकार को हटन एक विशिष्ट मिश्रित स्थायी प्रकार मानते हैं जो सम्भवत नीग्रिटो और प्रोटो आस्ट्रेलायड के मिश्रण से उत्पन्न हुआ है। मेलानेशियन प्रकार निकाबार द्वीप और उन पवतीय भूखण्डो म पाया जाता है जो बर्मा और आसाम को परस्पर अलग करते हैं। इस प्रकार हटन के अनुसार, भारत म नीग्रिटो मलानेशियन प्रकार के रूप म आया है और उसका मुख्य माध्यम है भारत में पूव की

१—हटन जे० एच० कास्ट इन इडिया पृ० ३

ओर से होने वाले स्थानान्तरण। किन्तु, भूपेन्द्रनाथ दत्त के अनुसार नागा-प्रदेश मे नीग्रिटो और मेलानेशियन प्रजातिक धाराओं की मान्यतायें परस्पर विरोधी हैं[1]।

जिसे हैडोन ने प्राक् द्राविड (Pre Dravidian) कहा है हटन ने उसे आस्ट्रालायड (Australoid) प्रजाति के अनुरूप मानकर, प्रोटो आस्ट्रेलायड (Proto Australoid) का नाम दी है। हटन के मत मे नीग्रिटो को भारत की प्राचीनतम प्रजाति मानने मे संशय हो सकता है किन्तु इसमे कोई सन्देह नही है कि भारत की जनसंख्या के प्रजातिक निर्माण मे प्रोटो आस्ट्रेलायड प्रजाति का मुख्य हाथ है। अत्यन्त प्राचीन काल में, इस प्रजाति के पूर्वज भारत के निवासी थे और उस समय सम्भवतः नीग्रिटो के अतिरिक्त कोई अन्य प्रजाति भारत मे नहीं आई थी। भारत के आदिवासियो, विशेषतया दक्षिणी भारत के जंगली और पहाड़ी भूखण्ड मे निवास करने वाली गणजातियो मे, प्रोटो आस्ट्रेलायड तत्वो की प्रधानता है यद्यपि, मिश्रित रूप मे, यह प्रजाति सम्पूर्ण भारत और सभी सामाजिक स्तरो मे पाई जाती है। हा, यह अवश्य है कि उच्च जातियो की अपेक्षा निम्न जातियो मे इसका प्रभाव अधिक स्पष्ट है[2]।

आस्ट्रिक परिवार की भाषाओ का प्रयोग करने वाली गणजातियो मे, हटन के अनुसार, प्रोटो आस्ट्रेलायड तत्वो के साथ मंगोलायड तत्वो का मिश्रण हुआ है, यद्यपि ये मंगोलायड तत्व न तो विशेषीकरण को प्राप्त हो सके और न प्रमुखता को ही। भारत मे पाये जाने वाले दो आस्ट्रिक भाषा परिवारो के आधार पर हटन ने मध्य एशिया से दो स्थानान्तरण माने हैं—एक, हिमालय के पश्चिमी किनारे से और दूसरा, हिमालय के पूर्व की ओर से[3]। पांच सौ ईसवी पूर्व से लेकर ईसा के मृत्यु काल के समय तक शकों के, ईसा के बाद की पांचवीं शताब्दी मे हूणों के और आसाम मे शान लोगों के हमले हुये, जिसके कारण, भारत मे मंगोलायड प्रजाति के अवशेष पाये जाते हैं। हटन को छोटा नागपुर, बस्तर राज्य[4] और मद्रास की पहाड़ियो के निवासियो के शारीरिक गठन मे अस्पष्ट मंगोलियन प्रभाव का आभास मिलता है। हटन के अनुसार, यह मंगोलायड प्रभाव समुद्री मार्ग से आया है। किन्तु, हैडोन (Haddon) और थर्स्टन (Thurston) ने, हटन के विपरीत, इस प्रदेश मे मंगोलियन तत्वो को अस्वीकार किया है। पूर्वी बंगाल के मुसलमान किसानो के

१—दत्त बी० एन० वही

२—हटन जे० एच० कास्ट इन इंडिया पृ० ३

३—वही पृ० ४

४—बस्तर राज्य अब मध्य प्रदेश मे मिला दिया गया है।

शारीरिक गठन म भी, हटन के अनुसार मगोल्वायड तत्वो का समावेश हुआ है, किन्तु गेट के आधार पर भूपेन्द्रनाथ दत्त ने इसे अस्वीकार किया है। वास्तव मे, हटन की इस मान्यता म विरोध है क्योकि, एक ओर हटन ने नामसूद्रो को लम्बे सिर और मध्यम नाक वाला कहा है और, दूसरी ओर पूर्वी बगाल के किसानो को मुख्यतया मगोल्वायड प्रजाति का। बगाल क नामसूद्र और मुसलमान किसान एक ही सास्कृतिक क्षेत्र क निवासी हैं और उनका आधारभूत प्रजातिक गठन वस्तुत समान है। बगाल के उन्नीस सौ इक्तीस के जनगणना-विवरण के लेखक गेट (Gait) ने रिसले (Risley) का हवाला देते हुये, पूर्वी बगाल क मुसलमान कृषको के प्रजातिक गठन म स्थानीय प्रजातिक धाराओ की प्रमुखता का उल्लेख किया है।

द्राविड भाषा भाषियो को हटन ने एक अलग प्रजातिक प्रकार न मान कर, उन्हे मुख्यतया मेडीटरनियन प्रजाति का माना है। आज द्राविड परिवार की भाषाये मुख्यतया गोदावरी क दक्षिण म ही सीमित हैं। किन्तु पश्चिमी पाकिस्तान म आज भी विद्यमान ब्राहुवी और राजमहल की माल्टो भाषायें द्राविड परिवार की होने क कारण, इस बात का प्रतीक हैं कि किसी समय द्राविड-भाषा भाषी सम्पूर्ण भारत म फैले हुये थे। द्राविड परिवार की भाषायें हटन के अनुसार, भारत के उत्तर-पश्चिम से, एशिया माइनर (Asia Minor) या उस ओर से मेसापोटामिया (Mesopotamia) होते हुये भारत मे आयी है। द्राविड भाषा भाषियो का प्रजातिक प्रकार सम्भवत वही था, जो प्रधानत मेडीटरनियन म पाया जाता है यद्यपि वर्तमान भारत म यह प्रकार अन्य प्रकारो म मिल गया है। इसका मिश्रण मुख्यतया चौडे सिर वाले प्रकार (Round Headed Type) से हुआ है जिसस भारत म सीरिया (Syria) आरमीनिया (Armenia) और इरानी पठार (Iranian Plateau) मे पाये जाने वाले प्रजातिक प्रकारो का आभास मिलता है। दक्षिणी भारत और मेसापोटामिया सीरिया तथा क्रीट की प्राचीन संस्कृतियो मे पायी जाने वाली समानतायें हटन क मत म इस बात का प्रमाण हैं कि द्राविड भाषा भाषियो या मेडीटरनियन प्रजाति के लोगो की कई स्थानान्तरित धारायें भारत मे आयी है। एक धारा के लोग वह भाषा बोलते थे जिससे आस्ट्रो-एशियाटिक (Austro Asiatic) परिवार की भाषाओ का विकास हुआ है और इसी कारण आस्ट्रोएशियाटिक भाषा भाषियो म यदि एक ओर प्रोटो आस्ट्रोल्वायड और क्षीण मगोलियन तत्व पाये जाते हैं तो दूसरी ओर उनम भाव मेडोटरनियन तत्व भी विद्यमान हैं। इस धारा के लोगों को कृषि का साधारण ज्ञान था और व पत्थर के बडे स्मारक (Megalithic Cult) बनाने

में विश्वास करते थे । दूसरी धारा के लोग पूर्वी योरोप से आये और पहली धारा के लोगों से अधिक उन्नत थे । इन्हें धातु और उसके प्रयोग का ज्ञान था और इन्हें ही सिंध नदी की घाटी की सभ्यता का जन्मदाता कहा जाता है । हटन के ही शब्दों में, 'मेडीटरेनियन ही एक ऐसी प्रजाति प्रतीत होती है *जिसका भारत के लोगों के शारीरिक गठन और सम्भवत उनकी संस्कृति-निर्माण* में सबसे अधिक योग है'' ।

ईसवी पूर्व तीसरी सहस्त्राब्दी में, हटन के अनुसार, उत्तर-पश्चिम से चौड़े सिर वाले लोगों की एक धारा आयी जो पश्चिमी समुद्रतट के किनारे किनारे कुर्ग तक पहुँची और वहाँ से मैसूर होती हुयी तामिल तथा तेलगू भाषा भाषी-प्रदेशों तक पहुँची । सम्भवत, गंगा और यमुना के दक्षिण में चलते हुए इस धारा की एक शाखा बंगाल जा पहुँची । हटन के अनुसार, भारत में चौड़े सिर के दो उद्गम स्रोत हैं । एक स्रोत हैं वे चौड़े सिर वाले, जो आरमीनायड प्रजाति के थे, जो सम्भवत द्राविड भाषा बोलते थे और जिनमें तथा मेसोपोटामिया के प्रागैतिहासिक लोगों में काफी समानता थी । चौड़े सिर का एक अन्य स्रोत है वह स्थानान्तरित धारा जो पामीर और ईरान के पठार से भारत में आयी और जिसके सदस्य सम्भवत पिशाच अथवा दर्दी परिवार की भारोपीय (इण्डो-योरपीय) भाषा बोलते थे ।

एक हजार पाँच सौ ईसवी पूर्व के लगभग गौर वर्ण तथा लम्बे सिर वाले इण्डो-आयन प्रजाति के लोग उत्तर पश्चिम से आकर पहले पंजाब में बसे और फिर वहाँ से भारत के अन्य क्षेत्रों में फैलते रहे । इण्डो आयन प्रजाति को हैडोन ने प्रोटो नार्डिक कहा है यद्यपि इस नामकरण से अधिकतर मानवशास्त्री सहमत नहीं हैं । आर्य, विशेषतया इण्डो-आर्य शब्द भाषा-समूह को व्यक्त करता है न कि प्रजाति को । हटन स्वयं आर्य शब्द को प्रजातिक नामावली में मिलाने के पक्ष में नहीं हैं । कोई और अधिक उपयुक्त शब्द न होने तथा आर्य शब्द से पूर्व परिचित होने के कारण ही हटन ने आर्य शब्द का प्रयोग प्रजाति के सन्दर्भ में किया है[1] ।

हटन द्वारा प्रस्तुत भारतीय प्रजातियों की रूपरेखा के अनुसार संसार की तीन बड़ी प्रजातियों की कुछ मुख्य मुख्य धारायें भारत में विद्यमान हैं । भारत में नीग्रायड प्रजाति के प्रतिनिधि हैं प्रोटो आस्ट्रेलायड, नीग्रिटो और मेलानेशियन तत्व कॉकेस्वायड प्रजाति के मेडीटरेनियन (लम्बा सिर, मध्यम नाक), इण्डो आयन (नॉर्डिक ? लम्बा सिर, पतली नाक), आर्मीनायड (चौड़ा सिर, लम्बा विस्तृ

१—हटन जे० एच० कास्ट इन इण्डिया पृ० ५

मोरी तथा प्रमुख नाक) और ईरानी। मध्य एशिया तथा दक्षिणी पूर्वी एशिया के मंगोलियन तत्व भारत में मंगोलायड प्रजाति के प्रतीक हैं यद्यपि यहां मंगोलायड प्रमुख न होकर क्षीण अवस्था में ही है। हटन ने स्वयं स्वीकार किया है कि भारत की प्रजातिक धाराओं के स्पष्टीकरण और वर्गीकरण पर उनका मत अंतिम नहीं है यद्यपि उनका दावा है कि उनके वर्गीकरण की योजना में भारत में प्रजाति सम्बन्धी सभी ज्ञात तथ्य बिना किसी तोड़ मरोड़ के फिट अवश्य हो जाते हैं[1]।

बी॰एस॰ गुह का वर्गीकरण हटन की अपेक्षा अधिक विस्तृत है और स्थानान्तरण की

गुह

कल्पनाओं के स्थान पर मुख्यतया भारतीयों की शारीरिक मापों पर आधारित है। डा॰ गुह के अनुसार भारत में सात मुख्य प्रजातिक धारायें पायी जाती हैं। तेलगू ब्राह्मणों में पाई जाने वाली शारीरिक विशेषताओं को डा॰ गुह ने मुख्य भारतीय प्रजाति माना है और उसे प्रथम प्रजातिक प्रकार की संज्ञा दी है। इस प्रजातिक धारा की विशेषताएं हैं लम्बा किन्तु योरोपियनों की अपेक्षा छोटा सिर लम्बी किन्तु प्रमुख नाक, काले बाल और गहरा पीला बादामी वर्ण (Dark Tawny Brown Colour)। नागर ब्राह्मण दूसरी धारा के प्रतिनिधि हैं। सिर की बनावट में ही दूसरी धारा पहली से भिन्न है, क्योंकि दूसरे प्रजातिक प्रकार के लोगों के सिर का पिछला भाग चपटा होता है। तीसरी धारा के प्रतिनिधि हैं पठान जिसे आर्य प्रकार (The Aryan Type) भी कहा जा सकता है। इस धारा के लोग पहली तथा दूसरी धारा के लोगों की अपेक्षा अधिक लम्बे और कम गहरे रंग (Less Pigmented) वाले होते हैं। इसके अतिरिक्त ये लम्बे सिर, लम्बी मुखाकृति और लम्बी किन्तु प्रमुख नाक वाले होते हैं। चौथी धारा या प्रकार केन्द्रित है मध्य और दक्षिणी भारत के आदिवासियों में। यह प्रकार लंका के वेड्डा (Veddah) और मलाया के सकाई लोगों के शारीरिक गठन से मिलता जुलता है। इसी प्रकार को आइक्स्टेड (Eickstedt) ने वेड्डाइड प्रकार कहा है। छोटी किन्तु चपटी नाक, छोटी-चौड़ी मुखाकृति और लहरदार अथवा घुंघराले काले बाल इसे प्रथम प्रकार से अलग एक भिन्न प्रकार का रूप देते हैं। पांचवां प्रकार, मालाबार की कादर और पुलायां जनजातियों के सदस्यों में पाया जाता है। छोटा शरीर और कुन्तलाकार घुंघराले बाल (Spirally Curled Hair) इस प्रजातिक प्रकार को चौथे प्रकार से भिन्न करते हैं। डा॰ गुह द्वारा निर्धारित छठे और सातवें प्रजातिक प्रकार मंगोलायड प्रजाति की

1—मजूमदार डी॰ एन॰ रेसेज एण्ड कल्चर्स आफ इण्डिया पृष्ठ ३१

दो शाखायें हैं। भूटान तथा काश्मीर से लेकर आसाम तक, हिमालय की तलहटी के निवासियो म, चौड सिर के साथ पायी जाने वाली मगोलियन विशेषतायें छठी प्रजातिक धारा की प्रतीक हैं और आसाम के अगामी नागा सातवीं धारा क। लम्बा सिर और नाक की अधिक प्रमुख गठन सातवी धारा से छठी धारा को भिन्न करती है।

हटन की भाति, डा० गुह ने भी आधुनिक नामावली का प्रयोग किया है। व भी निग्रिटो को भारत क प्राचीनतम निवासी मानत हैं और मालाबार की कादर तथा पुलाया गणजातियो क सदस्यो की कतिपय शारीरिक विशेषताओ को उनके प्रतीक। मध्य तथा दक्षिण भारत के आदिवासी प्रोटो-आस्ट्रालायड प्रजाति के प्रतिनिधि हैं। मगोल्वायड की भारत म दो शाखायें हैं—एक पुरा मगोल्वायड (Palae Mongoloid) जिसम लम्ब सिर और चौडे सिर वाले मगोल्वायड शामिल हैं और दूसरी, तिब्बतो मगोल्वायड (Tibeto Mongoloid)। मेडीटरैनियन, डा० गुह क अनुसार, भारत की प्रमुख प्रजातिक धारा है और उसकी तीन मुख्य शाखायें हैं—एक, पुरा मेडीटरनियन (Palae-Mediterranean), दूसरी, मेडीटरैनियन और तीसरी, मेडीटरनियन कहा जान वाला एक पूर्वी प्रकार (The So called Oriental Type)। भारत म अल्पाइन, आरमीन्वायड और डिनारिक प्रभाव चौडे सिर की विशेषता के लिये उत्तरदायी हैं और उन्हें डा० गुह न एक ही श्रेणी मे रख कर पश्चिमी चौडे सिर वाली प्रजातियो (The Western Brachycephals) की सज्ञा दी है। हटन की भाति, गुह न भी अन्य प्रकार म नार्डिक तत्वो को निर्धारित किया है।

डा० गुह के विश्लेषण और वर्गीकरण की एक अन्य विशेषता है। उनके अनुसार ब्राह्मणो और उच्च जातियों के सदस्यों के शारीरिक गठन म निहित आधारभूत मेडीटरैनियन तत्व और पश्चिमी भारत तथा बगाल मे प्रतिरोपित अल्पाइन तत्व, भारत मे होन वाले एक प्राचीन प्रजातिक आप्रवासन (Racial Immigration) और आर्यों क साथ उत्तरी पश्चिमी भारत म आन वाल नार्डिक तत्वो से एक दम भिन्न हैं। प्रजातिक गठन क दृष्टिकोण से डा० गुह ने भारत क आदिवासियो को चार प्रजातिक प्रकारो म बाटा है। पहले प्रकार की विशेषतायें हैं छोटा, लम्बा किन्तु थोडा उठा हुआ सिर, प्रमुख भौहें, छोटा-चौडी मुखाकृति, थोडा आगे की ओर निकला हुआ मुह और छोटी-चपटी नाक जिसके नथने फैले रहते हैं। दूसरे प्रकार को डा० गुह ने कृष्णवर्णी, बौनी और कुतलात्मक घुघराले बालो वाली प्रजातिक धारा कहा है जिसके अवशेष कादर और पुलाया

गणजातियो में पाये जाते हैं। आसाम और उत्तरी बर्मा के आदिवासियो म चौडे सिर वाली मगोलियन धारा डा० गुह के तीसरे प्रकार म आती है। उनके चौथे प्रकार मे मगोलियन प्रजाति की वह धारा आती है जिसकी विशेषतायें है मध्यम कद ऊचा सिर (High Head), मध्यम नाक और तीसरे प्रकार की मुखाकृति तथा आख की सभी मगोलियन विशेषतायें। इन चार प्रजातिक प्रकारो म से प्रथम, डा० गुह के अनुसार, मध्य और दक्षिण भारत के आदिवासियो मे मुख्य रूप से पायी जाती है। निम्नस्तर की जातियो मे भी इसके अ श विद्यमान हैं।

डा० डी० एन० मजूमदार के अनुसार, नीग्रिटो भारत के मूलनिवासी नही हैं यद्यपि नीग्रिटो प्रजाति के तत्वो का यहा वहा पाया जाना एक दम

मजूमदार असम्भव नही है। प्रोटो आस्ट्रो लाइड, डा० मजूमदार के मत मे, भारत के प्राचीनतम निवासी हैं और नीग्रिटो की अपेक्षा प्रोटो आस्ट्रोलायड तत्व ही भारत म बहुतायत से पाये जाते है। भारत के आदिवासी, जो अभी तक प्राक द्राविड कहे गए हैं, मुख्यतया एक ही (प्रोटो आस्ट्रोलायड) प्रजाति के हैं उनम, डा० गुह की भाति, प्रजातिक अन्तर निकालना आवश्यक नही। मुण्डा और आराओ अपनी प्रजातिक विशेषताओ म परस्पर भिन्न नही हैं यद्यपि दोनो अलग अलग भाषायें बोलते हैं। इन गणजातियो को एक ही प्रजाति की इकाइया मानने म भाषा भिन्नतायें अटल अवरोध न समझी जानी चाहियें क्योकि प्रजाति और भाषा परस्पर निर्भर नही हैं। मुण्डा, सथाल, जुवाग, कोरवा सावरा, परजा खाड, चच, इरला, पानियन और दक्षिण की अनेक गणजातिया स्वतन्त्र प्रजातिया या प्रजातिक प्रकार नही हो सकती है। वे वस्तुत एक ही प्रजातिक सजाति (Racial Stock) से सम्बद्ध की जा सकती है। काकेस्वायड प्रजातियो म भी भाषा तथा शारीरिक बनावट क अन्तर पाये जाते है, फिर भी, उनम व्याप्त आधारभूत समानता के कारण उन्हे एक ही प्रजातिक सजाति के अन्तगत रक्खा जाता है[1]।

लम्बा सिर लम्बी नाक मध्यम कद और बादामी वर्ण, डा० मजूमदार के अनुसार, उस प्रजातिक प्रकार की विशेषतायें है जो दक्षिणी भारत म प्रमुख है और न्यूनाधिक अनुपात म जिसका, एक ओर आदिवासियो म मिश्रण हुआ है और, दूसरी ओर, चौडे सिर तथा लम्बी नाक वाली उस प्रजातिक धारा म जिसके मुख्य प्रतिनिधि हैं कन्नड और तामिल भाषा भाषी लोग। जैसा कि हडप्पा म पाये गये नरकंकालो की शारीरिक बनावट से स्पष्ट है यह चौडे सिर वाला तत्व भारत में

१—मजूमदार डी० एन० रेसेज एण्ड कल्चर्स आफ इण्डिया पृष्ठ ४७

प्रागैतिहासिक काल म आया था और यही वह प्रजातिक धारा है जिसे हैडोन ने अल्पाइन (Alpine) की सज्ञा दी है। चौडे सिर वाली धारा भारत के सम्पूर्ण मध्य भाग मे, गुजरात तथा मध्य प्रदेश से लेकर बगाल तक, फली हुयी है। उत्तर मे चौडे सिर की धारा साफ रग और लम्बे सिर वाली धारा (जिसे रिसले ने इण्डोआयन की सज्ञा दी है) म मिल जाती है और पूव म यही धारा मगोलियन आदिवासी समूहा म लीन हा गयी है[1]।

६

भारत मे प्रजाति-तत्व एक समीक्षा

यह निर्विवाद है कि भारत म लम्बे सिर और लम्बी तथा मध्यम नाक (Dolico-Lepto to Mesorrhine) वाले प्राजातिक तत्व की प्रधानता है। इसी आधार पर हाबेन्स ने लिखा है कि भारतीय मुख्यतया लम्बे सिर वाले और मेडीटरेनियन प्रजाति के हैं। जैसा कि साधारणतया लाग मानते आये हैं आय ही भारत में काकेस्वायड तत्वो के जन्म दाता नहीं हैं। हडप्पा और मोहनजोदडो की सस्कृति इसकी साक्षी है कि अत्यन्त प्रचीन काल में पश्चिम और उत्तर से काकेस्वायड प्रजाति के लोग आये और यहा के कृष्ण वण वाला का आत्मसात कर लिया या दक्षिण और पूव की ओर जाने के लिय बाध्य किया। भारत की प्रधान प्रजातिक धारा को हूटन (Hooton) ने इण्डो ड्रैवीडियन (Indo Dravidian) की सज्ञा दी है। उन्नीस सौ इक्तीस के जनगणना विवरण के लेखक हटन का कहना है कि तलगू भाषा-भाषी सम्भवत भारत की शुद्धतम मेडीटरनियन प्रजाति (Stock) के हैं। हैडोन के अनुसार ड्रवाडियन और मेडीटरनियन लोगा मे काफी समानतायें हैं जा उनके प्राचीनतम सम्बन्ध और सम्भवत समान उद्गम की द्योतक हैं[2]। द्राविड भाषा भाषियों को इस प्रकार मेडीटरेनियन प्रजाति का माना गया है।

द्राविड ?

१—मजूमदार डी० एन० रेसेज एण्ड कल्चर्स आफ इण्डिया पृष्ठ ४६ ४८

१—दत्त बी० एन० वही

ड्रवीडियन अथवा द्राविड प्रतीक है उस समूह का जिसके सदस्य द्राविड-परिवार की भाषाये बोलते है। द्राविड (ड्रवीडियन), वास्तव मे, भाषा पर आधारित एक सांस्कृतिक प्रकार है जिसको प्रजातिक स्तर प्रदान करने का प्रयास किया गया है। द्राविड भाषा तथा संस्कृति के प्रमुख खोजकर्त्ता बिशप काडवेल (Bishop Caldwell) के अनुसार, द्राविड बोलियो की आधारभूत समानता द्राविड भाषा भाषियो की प्रजातिक एकता की प्रतीक है और यह कल्पना निराधार है कि द्राविड प्रान्तो मे निम्नस्तर की जातिया एक अलग प्रजाति की है। भाषा-साम्यता के आधार पर काडवेल ने द्राविडो और आस्ट्रेलिया के आदिवासियो को भी एक ही प्रजाति का माना है। टोपीनार्ड (Topinard) ने भी आस्ट्रेलिया के आदिवासियो और द्राविडो के प्रजातिक साम्य को माना है।

हैडोन (Haddon) के अनुसार, तामिल तेलगु मलयाली और कन्नड द्राविड भाषा भाषी हैं, जिनकी अपनी समान संस्कृति भी है। द्राविड भाषा भाषियो मे से यदि प्राक्-द्राविड तत्वो को निकाल दिया जाय तो आदिवासियो से भिन्न एक ऐसा प्रजातिक प्रकार रह जाता है जिसकी शारीरिक विशेषताये अधिक उन्नत है और जो भारत मे ईसा से दो हजार वर्ष पहले आने वाले प्रवासियो की देन है। हैडोन का यह भी मत है कि दक्षिण भारत मे उच्च स्तर की जातियो मे साधारणतया मूल द्राविड और निम्नस्तर की जातियो तथा अन्त्यजो मे प्राक् द्राविड प्रजाति की विशेषताएँ पायी जाती हैं किन्तु रिसले (Risley) और थर्स्टन (Thurston) के मतो से यह स्पष्ट है कि दक्षिण की उच्च और निम्नस्तर की जातियो के प्रजातिक गठन मे वैसा अन्तर नही किया जा सकता है जैसा कि हैडोन ने किया है। यह भी निश्चय पूर्वक नही कहा जा सकता कि जिन्हे हैडोन ने अधिक उन्नत शारीरिक विशेषताये कहा है वे ईसा से दो हजार वर्ष पहले आने वाले प्रवासियो की ही देन हैं। बहुत सम्भव है कि ये विशेषतायें उत्तरी भारत के श्वेतवर्णी प्रवासियो की देन हो। कुछ जर्मन मानवशास्त्री एक स्वतन्त्र द्राविड प्रजाति के अस्तित्व को अस्वीकार करते हैं और इस बात पर जोर देते हैं कि सम्भवत उत्तरी भारत से आने वाले प्रवासियो और वेड्डा प्रजाति के मिश्रण के कारण एक ऐसे नये तत्व का अभ्युदय हुआ जिसके कारण उच्च तथा निम्नस्तर की जातियो के शारीरिक गठन मे प्रजातिक असमानता का समावेश हुआ[२]।

द्राविड प्रजाति के वास्तविक स्वरूप पर विरोधी मत प्रगट किये गये है। एक

२—दत्त बी० एन० वही

ओर, उस मडीटरेनियन के समरूप माना गया है तो, दूसरी ओर आस्ट्रलॉयड के समान। एक ओर, उसे बाहर से आयी हुई एक प्रजातिक धारा माना गया है तो, दूसरी ओर, उत्तरी भारतीयों और वड्डा के मिश्रण से उत्पन्न एक प्रजातिक प्रकार जिसे विशिष्ट प्रजाति का स्तर नहीं दिया जा सकता है। जिन द्राविड भाषा भाषियों को समान प्रजातिक स्तर प्रदान करने का प्रयत्न किया गया है उनमें वस्तुत प्रजातिक सजातिता (Racial Homogeneity) का अभाव है। भाषा और संस्कृति पर आधारित समानतायें प्रजातिक सजातिता का प्रमाण नहीं मानी जा सकती हैं। जिन आदिवासियों को रिसले ने द्राविड कहा है वे लम्बे सिर और चौड़ा नाक वाले हैं। द्राविड़ परिवार की भाषा बोलने वाले अन्य लोगों का सिर लम्बा अवश्य है पर नाक चौड़ी नहीं है। तेलगू और तामिल तथा तलगू और मलयाली के प्रजातिक गठन में डा० गुह को समोपम्य समानतायें मिली हैं। किन्तु, द्राविड भाषा-भाषी होने पर भी ... और मलयाली एक दूसरे से भिन्न हैं। ... चौड़े सिर वाले हैं जब कि मलयाली लम्बे सिर वाले। यही नहीं, द्राविड-भाषा भाषियों में पाये जाने वाले प्रजातिक तत्व भारत के अन्य भाषा में भी पाये जाते हैं। द्राविड शब्द वस्तुत एक परिवार के भाषा भाषियों का बोधक है न कि प्रजाति का। द्राविड भाषा भाषियों को न तो किसी विशिष्ट और स्वतन्त्र प्रजाति में ही अन्तर्गत रक्खा जा सकता है और न प्रजातिक नामावली (Racial Nomenclature) में द्राविड शब्द का प्रयोग ही किया जा सकता है। 'ड्रवीडियन रेस' एक भ्रामक संज्ञा है और द्राविड प्रजाति (ड्रवीडियन रेस) की धारणा एक कपोल कल्पना।

मेडीटरनियन

भारत की प्रजातिक धाराओं को व्यक्त करने वाली नामावली में मेडीटरनियन शब्द का प्रयोग भी अनुपयुक्त सा लगता है। डा० गुह ने भारत में तीन मडीटरनियन शाखाओं को निर्धारित किया है जो इस बात का प्रतीक है कि भारत में लम्बे सिर वाली प्रजाति के कई प्रकार पाये जाते हैं। बक्सटन (Buxton) का भी यही मत है कि भारत की अधिकतर जनसंख्या लम्बे सिर वाली है और लम्बे सिर वाले निश्चय ही कई समूहों में विभक्त हैं। भारत में मडीटरनियन का निर्धारण साधारणतया सिर की बनावट के आधार पर किया गया है यद्यपि मानवशास्त्रियों का यह मत है कि किसी एक शारीरिक विशेषता के आधार पर ही किसी प्रजाति का निर्धारण करना अशास्त्रीय है। दूसरी ओर, मेडीटरनियन प्रजाति के आविष्कर्त्ता सर्जी (Sargi) ने मेडीटरनियन की जो विशेषतायें निर्धारित की हैं वे एक साथ और

उसी रूप म भारत म नहीं पायी जाती हैं। अतएव, मेडीटरनियन के स्थान पर यह कहना अधिक उपयुक्त होगा कि भारत म लम्बे सिर तथा मध्यम नाक और लम्बे सिर तथा पतली नाक वाले दो श्वेतवर्णी शारीरिक प्रकार पाये जाते हैं, जिनसे मिलते-जुलते प्रकार भारत की पश्चिमी सीमा के बाहर भी पाये जाते है और बहुत सम्भव है कि भारत के लम्बे सिर वाले प्रकार पश्चिम से ही स्थानान्तरित हुये हो।

लम्बे सिर लम्बे कद, लम्बी पतली नाक, गौर वर्ण लहरदार बाल और नीली आखो वाले तत्व को भारत मे नार्डिक अथवा प्रोटो नार्डिक (Proto Nordic)

नार्डिक कहा गया है। रिसले हैडोन और हटन ने इसी प्रजातिक प्रकार को इण्डो-आर्य (Indo Aryan) कह कर इसे आर्य-समूहो के साथ सम्बन्धित किया है। द्राविड की भाति आर्य शब्द भी भाषा समूह का प्रतीक है न कि किसी प्रजाति विशेष का। आर्य परिवार की भाषायें भारत से लेकर योरोप तक फैली हुयी हैं और इस परिवार के अन्तर्गत अनेक काकेस्वायड प्रजातियां आती हैं। यह मान लेना कठिन है कि सभी इण्डो आर्य लम्बे सिर वाले थे क्योंकि आर्य जिस क्षेत्र के प्रवासी हैं वहा चौडे सिर वाले प्रकार का अस्तित्व भी सिद्ध हो चुका है। हटन के इस मत म बहुत कुछ सार है कि ईसा के पूर्व तीसरी सहस्राब्दी मे भारत मे आये हुय चौडे सिर वालो के कुछ समूह आर्य भाषा भाषी थे। यह निश्चित ऐतिहासिक तथ्य है कि आर्य कई हजार वर्षो तक भारत मे आते रहे और उनके स्थानान्तरण की धाराओं के उद्गम और मार्ग अनेक हैं। अतएव, यदि आर्य नार्डिक कहे जाने वाले प्रजातिक तत्वो के जन्मदाता हैं तो वे चौडे सिर वाले तत्वो के कारण भी हैं। भारत में चौडे सिर वाला प्रजातिक तत्व रिसले के अनुसार मगोलियन प्रभाव की ही देन है। इसम कोई शक नही कि हिमालय और उसकी तलहटी मे, जैसा कि लद्दाख के निवासी, थारुओं और नागाप्रान्त के निवासियों के शारीरिक गठन से स्पष्ट है कश्मीर म लेकर आसाम तक, मगोलायड प्रभाव कहीं अधिक हैं और कहीं कम। किन्तु, मगोलायड प्रभाव ही चौडे सिर वाले तत्व के लिये उत्तरदायी नहीं है।

रायबहादुर रामप्रसाद चादा न सर्वप्रथम रिसले के मत का खण्डन करके यह निर्धारित किया था कि भारत मे चौडे सिर की प्रजातिक

अल्पाइन विशेषता अल्पाइन (Alpine) प्रभावो के कारण है। मोहनजोदडो म पायी गयी खोपडिया म डा० गुह और सिवेल (Sewell) ने अल्पाइन तत्वो को निर्धारित किया है। जसा कि पारसियों के शारीरिक गठन से विदित है भारत म चौडे सिर वाला आर्मीनायड प्रजातिक तत्व भी पाया

जाता है। दूसरी ओर, यह भी निर्विवाद है कि सभी प्रकार के मंगोलियन चौड़े सिर वाले नहीं होते हैं। अतएव, यह कहना अनुपयुक्त न होगा कि भारत म चौड़े सिर वाला प्रजातिक तत्व मुख्यतया पश्चिम से ही आया है। इसी कारण, डा० गुह ने भारत मे चौड़े सिर वाले तत्वों को तीन शाखाओं में बाट कर उन्हें पश्चिमी चौड़े सिर वाली (Western Brachycephals) प्रजातियां कहा है।

भारतीय जनसंख्या का प्रजातिक आधार क्या है? भारत के प्राचीनतम निवासियों की मुख्य प्रजातिक विशेषतायें क्या हैं? भारत की गणजातियां

नीग्रिटो? म पाया जाने वाला श्याम वर्णी तत्व (Dark Skinned Element) वस्तुत किस प्रजाति का प्रतीक है? ये प्रश्न भारतीय मानवशास्त्र की वो जटिल पहेली हैं जिनका ठीक-ठीक उत्तर दे सकना कठिन है क्योंकि भारतीय गणजातियां साधारणतया किसी भी प्रजातिक वर्गीकरण म फिट नहीं होती हैं। भारतीय गणजातियों के शारीरिक गठन की विशेषताओं से ऐसा प्रतीत होता है कि मानो, बिना किसी सांस्कृतिक परिवर्तन को जन्म दिये, गौरवर्णी प्रजाति ने श्यामवर्णी प्रजाति का आत्मसात कर लिया हो। भारत म नीग्रो प्रजाति के प्रमाण नहीं हैं क्योंकि यहां मुलाटोज (Mulatoes), श्वेत वर्णियों और नीग्रो के मिश्रण से उत्पन्न वर्णसंकर नहीं मिलते हैं। दक्षिण के आदिवासियों म अत्यन्त छोटा कद, चौड़ा नाक और यदा-कदा पाये जाने वाले ऊनी बाल नीग्रिटो प्रजाति का आभास अवश्य देते हैं। भारत तथा आस्ट्रेलिया के आदिवासियों के शारीरिक गठन म कुछ हल्का साम्य निश्चित है और कभी-कभी आस्ट्रेलियन प्रकार के व्यक्ति यहां-वहां मिल भी जाते हैं। एक ओर, हावेल्स (Howells) ने यह कहा है कि यह सम्भव है कि भारतीय प्रजातियों की पृष्ठभूमि मे आस्ट्रालायड प्रकार छिपा हुआ हो और, दूसरी ओर, उनका यह मत है कि श्वेतवर्णी प्रजाति के अतिरिक्त भारत के श्यामवर्णी लोगों की अनुरूपता आस्ट्रेलायड और निग्रिटो प्रजातियों म ही हो सकती है[1]।

भारत का आधारभूत प्रजातिक आधार नीग्रिटो है या प्राटो-आस्ट्रेलायड? इस प्रश्न का उत्तर भारतीय मानवशास्त्र की एक विवादग्रस्त समस्या रही है और आज भी है। जब से मैक्समुलर (Max Muller) ने वेदों से श्वेत वर्णी आर्यों और उनकी भर्त्सना के पात्र श्याम वर्णी दस्युओं को ढूंढ निकाला और जब से भारत की आर्य भाषाओं और योरोप की भाषाओं म समानता स्थापित हुयी, तभी से श्यामवर्णी दस्युओं के प्रजातिक गठन को स्पष्ट करने के लिये लोग नीग्रायड तत्वों की तलाश

1—हावेल्स विलियम मनकाइण्ड सो फार पृ० २४६-२४७

म रह हैं। अट्ठारह सौ सत्तासी म, सम्भवत सब प्रथम लाथम (Latham) के आधार पर डी क्वारटरफेजेज (De Quarterfages) ने यह प्रतिपादित किया था कि भारत और उससे प्रभावित देशो म छोटे कद और श्याम वर्ण वाली लगभग सभी जनसंख्याओ म नीग्रिटो का न्यूनाधिक मिश्रण हुआ है। उसके बाद अट्ठारह सौ नवासी म डी क्वारटरफेजज (De Quarterfages) के आधार पर फ्लावर (Flower) ने यह निर्धारित किया कि हिमालय पजाब सिन्ध नदी के पश्चिम और मध्य तथा दक्षिणी भारत म गाठदार बाल (Frizzly Hair) छोटा कद (Short Stature), और नीग्रो विशेषतायें (Negro Features) इतनी बहुतायत से पायी जाती हैं कि उनके आधार पर यह कहा जा सकता है कि सम्पूर्ण प्राक आर्य और द्राविड जनसंख्या का मुख्य आधार नीग्रिटो ही है। डेनिकर (Deniker) ने चेचू, यनद्दी और कादर गणजातियो को नीग्रायड प्रकारो म रखते हुये यह मत प्रगट किया है कि दक्षिणी भारत म गाठदार बाल और चौडी नाक वाले व्यक्ति पाये जाते हैं[1]। जे० एच० हट्टन, बी० एस० गुह, एल० ए० के० अइय्यर भी नीग्रिटो को भारत का प्राचीनतम प्रजातिक तत्व और आधार मानते हैं।

नीग्रिटो को भारत का प्रजातिक आधार सिद्ध करने के पक्ष म दिये गये तर्क मुख्यतया दो प्रकार के हैं। मानवशास्त्रियो और नकुलशास्त्रियो के एक सम्प्रदाय के अनुसार लका अण्डमन द्वीप मलाया फिलिप्पाइन, मलानेशिया, माइक्रोनेशिया और तस्मानिया म कही कम और कही ज्यादा, किसी न किसी रूप मे, नीग्रिटो तत्व पाये जाते हैं। भारत भी इसी क्षेत्र म आता है, अतएव, भारत म भी नीग्रिटो तत्व है और मध्य तथा दक्षिणी भारत के जगलो म निवास करने वाले आदिवासियो का प्रजातिक गठन इसका प्रमाण है। हा, यह अवश्य है कि भारत म नीग्रिटो अन्य प्रजातियों म घुल सा गया है। इसी सम्प्रदाय के आधार पर हट्टन ने सास्कृतिक साम्य (Cultural Similarity) के सिद्धान्त को प्रतिपादित किया है। मलानेशियन और भारतीय संस्कृतियो के कुछ तत्वो म पायी जाने वाली समानताओ के आधार पर हट्टन ने यह प्रतिपादित किया है कि भारत म नीग्रिटो तत्व मलानेशिया से होने वाले स्थानान्तरण के कारण आय हैं। दूसरे प्रकार के तर्क भारत के कुछ आदिवासियो म नीग्रिटो के समान पायी जाने वाली शारीरिक विशेषताओ पर आधारित हैं। उदाहरणार्थ, एल० ए० के० अइय्यर के अनुसार, कादर, पुलाया, पुराली और कनिक्कर गणजातियों के सदस्यो म गाठदार बाल पाया जाता है जो नीग्रिटो प्रजाति

१—दत्त बी० इन० वही

की आधारभूत विशेषता है। डा० गुह, इसी प्रकार, कादर गणजातियों के लोगों के सिर और बाल की बनावट के आधार पर भारत म नीग्रिटो को प्रतिपादित करते हैं। डा० गुह क अनुसार, 'सौभाग्यवश मिले पाच कादर पुरुषो और एक स्त्री के बालो की बनावट निश्चय ही गोल कु तलाकार (Spirally Curved) थी और उनम से एक के बाल छोटे छोटे कुन्तलो वाले शुद्ध ऊनी (Woolly With Short Spirals) थे और बाकी के मेलानशिया के लोगों म पाये जाने वाले बाल की तरह गाठदार (Frizzly)। इसके अतिरिक्त, डा० गुह के अनुसार, कादर छोटे कद के और अयत्न वाले वण क हैं। उनका मु ह आग की ओर निकला (Prognathic) और माथा साधारणतया पीछे की ओर दबा (Receding Forehead) रहता है। डा० गुह क विवरण क अनुसार कादर चौड सिर वाले न होकर साधारणतया लम्ब सिर वाले होते हैं। कुन्तलाकार बालो वाले पाच व्यक्तियो म से, दो के सिर की बनावट म यम (Mesocephalic) है और इसी कारण उनका यह मत है कि सम्भवत कादरो म पाया जाने वाला नीग्रिटो तत्व अपन प्रारम्भिक रूप म चौडे सिर वाला या कम से कम, मध्यम सिर वाला अवश्य रहा होगा'[1]।

डा० मजूमदार के अनुसार, नीग्रिटो के पक्ष म दिये जाने वाले तर्कों में कोई सार नहा है। नाग्रिटो चौड सिर वाले होते हैं किन्तु कादरो मे डा० गुह को चौड सिर वाला तत्व नही मिला। डा० गुह की धारणा है कि एक आद्य, लम्ब सिर वाली प्रजाति म मिश्रित होने के कारण, भारत में नाग्रिटो क सिर की बनावट प्रभावित हुयी है, जिसके फलस्वरूप चौडे सिर का स्थान लम्ब अथवा मध्यम सिर ने ले लिया है। डा० गुह की यह धारणा दो समस्याओ को जन्म दती है—प्रथम क्या दो तत्वो का मिश्रण एक अन्तवर्ती प्रकार (Intermediate Type) को जन्म द सकता है और दूसरे, क्या कादर और पुलायो मे इक्का-दुक्का व्यक्तियो म पाया जान वाला मध्यम सिर नीग्रिटो प्रकार को सिद्ध कर सकता है? अमरीका म बोआज (Boas) न भी मिश्रण से उत्पन्न अन्तवर्ती प्रजातिक प्रकार को निर्धारित करने का प्रयत्न किया था किन्तु उनकी खोजो को शास्त्रीय मान्यता न मिल सकी। दो भिन्न विशेषताओ वाले समूहो का मिश्रण किसी एक अन्तवर्ती प्रकार को निश्चय ही जन्म द या, यह प्रजनन शास्त्र के नियमो के प्रतिकूल है, अतएव, अमान्य है। हो सकता है कि इक्का-दुक्का व्यक्तियो म पाया जान वाली चौडे सिर की प्रवृति लम्ब सिर का विचर प्रकार (Variant Type) हो क्योंकि प्रोटो आस्ट्रोलायड मे लम्बे सिर क

1—दत्त बी० एन० वही

साथ साथ चौड़ सिर की भी प्रवृत्ति पायी जाती है । अतएव, यहां वहां एक दो लोगों में पायी जाने वाली चौड़े सिर की प्रवृत्ति नीग्रिटो प्रजाति का निश्चित प्रतीक नहीं है।

नीग्रिटो के बाल गाठदार होते है किन्तु कादर और पुलाया मे गाठदार बाल की कितनी बारम्बारता पायी जाती है इसका वर्णन न तो डा० गुह ने किया है और न एल० ए० के० अय्यर ने। कादर के बाल की बनावट का वास्तविक निर्धारण उसकी जड को आर पार काट कर माइक्रास्कोप द्वारा निरीक्षण करने पर ही हो सकता है। किन्तु ऐसा निर्धारण अइय्यर और गुह दोनो मे से किसी ने भी नहीं किया है। यही नहीं, कादरों में गाठदार बाल की अधिकाधिक बारम्बारता (Frequency) निर्धारित किये बिना ही गाठदार बाल के आधार पर नीग्रिटो प्रजाति का प्रतिपादन अशास्त्रीय है और फिर केवल दो शारीरिक विशेषताओं (बाल और सिर की बनावट) के आधार पर न तो किसी प्रजाति का निर्धारण ही किया जा सकता है और न किसी उपकल्पना (Hypothesis) को सिद्ध करने के लिये कादर गणजाति को औरों से एकदम अलग ही किया जा सकता है। कादर, जैसा कि डा० आयप्पन का मत है अपने पडोसी मदान के निवासियों से भिन्न नहीं हैं। दक्षिण भारत का आधारभूत प्रजातिक आधार आस्ट्रोलॉयड प्रकार का है यद्यपि, यहां वहां मुट्ठीभर लोगो मे गाटदार बाल अवश्य पाया जाता है।

खुदाई से प्राप्त प्रागैतिहासिक काल की खोपडियों मे कोई विशिष्ट नीग्रि तत्व नहीं पाये गये हैं। नीग्रिटो म 'बी' रुधिर की प्रधानता है किन्तु भारत आदिवासियो म उसकी अपेक्षाकृत कमी । भीलो और मुण्डाओ मे, मक्फारले (Macfarlane) के अनुसार, 'बी' रुधिर की प्रधानता है, किन्तु न तो भील नीग्रिटो प्रकार के है और न मुण्डा ही । सम्पूर्ण भारत म पायी जाने वाली 'बी' रुधिर की बारम्बारता कुछ लोगों के अनुसार, मंगोल्वायड और नीग्रिटो के मिश्रण कारण है। किन्तु डा० मजूमदार के अनुसार, भारत मे पायी जाने वाली 'बी' रुधि की बारम्बारता जलवायु या बीमारी के प्रवरणशील (Selective) प्रभावों के कार भी हो सकती है। बहुत सम्भव है कि थाहरूओं और मलेरिया-क्षेत्र के निवासियो म 'बी' रुधिर का आधिक्य मलेरिया के प्रति रोध क्षमता (Immunity) उत्पन्न होने विकसित हुआ हो'[1]।

कुछ लोगों का ऐसा भी मत है कि ए (A) और ओ (O) रुधिर-समूहो

१—मजूमदार डी० एन० रेसेज एण्ड कल्चर्स आफ इण्डिया पृष्ठ ४४

अपेक्षा वो (B) बाद म अस्तित्व मे आकर प्रसारित हुआ है। रगल गेट की एसा मान्यता है कि सम्भवत प्राटो-ग्रास्ट्रोल्वायड प्रजाति प्रकार नीग्रिटो से अधिक प्राचीन है। उधर, कुछ विद्वान नीग्रिटो प्रजाति की विशेपताओ को उत्परिवर्तनों (Mutations) का परिणाम मानते हैं। इन दृष्टिकोणो से यह प्रतिपादित किया जा सकता है कि नाग्रिटो निश्चय ही प्राचीनतम प्रजातिक प्रकार नही है और भारत म यहा-वहा नीग्रिटो विशेपताओ का क्षीण आभास उत्परिवर्तन प्रक्रिया का परिणाम हो सकता है न कि निश्चय ही नीग्रिटो प्रजाति का। सम्पूर्ण भारत म नीग्रिटो प्रजाति की विशेपताओं का न पाया जाना नीग्रिटो सिद्धान्त की सबसे बडी कमजोरी है। डा० मजूमदार के अनुसार, यदि भारतीय जनसख्या का प्रजातिक आधार नीग्रिटो होता और नीग्रिटो का भारत की अन्य प्रजातिक धाराओ के साथ सात्मीकरण हुआ होता तो नीग्रिटो की प्रधान विशेषतायें—चपटी नाक काला-ऊनी बाल तथा चौडा सिर—उत्तरी भारत म भी पायी जाती।

दक्षिणी पूर्वी एशिया म नग्रिटो का पाया जाना ही भारत मे नीग्रिटो प्रजाति के पाये जाने का यथेष्ट प्रमाण नही है। जिन सांस्कृतिक साम्य को हुटन ने अपने नीग्रिटो सिद्धान्त का आधार बनाया है वह भारत म मलानशिया से स्थानान्तरित लोगो द्वारा ही आया हो एसा मानना आवश्यक नही। समानान्तर उद्विकास (Parallel Evolution) या सांस्कृतिक प्रसरण (Cultural Diffusion) दो संस्कृतियो म समान तत्वो और विशेपताओ को जन्म दे सकते हैं। दूसरी ओर, यह भी निर्धारित कर दिया गया है कि मेलानशिया के वास्तविक निवासी प्रधानत नीग्रिटो नहीं हैं। हावल्स (Howells) न भी मेलानेशियनों को शुद्ध नीग्रिटो प्रजाति का नही माना है। अडमन द्वीप के निवासी निश्चय ही नीग्रिटो हैं किन्तु, अधिकतर विद्वानो के मत म न तो भारत की जनसख्या पर अडमन निवासियो का प्रभाव है और न उनके अनुरूप भारत में शारीरिक विशेपतायें ही पायी जाती हैं। रिसले (Risley) ने साफ लिखा है कि अडमन द्वीप क निवासी कभी भी इतने साहसिक नहीं रहे कि वे भारत की जनसख्या के प्रजातिक गठन को प्रभावित करते। भारत, विशेपतया दक्षिण भारत, के आदिवासियो और अडमन निवासियो म प्रजातिक साम्य स्थापित करने के सारे प्रयत्न असफल रहे और यदि किसी ने ऐसा मत प्रतिपादित भी किया तो उसे मतसम्मति न मिल सकी। डा० गुह के अनुसार, वह और ल्पीक (Lapique) अलग अलग इस निर्णय पर पहुचे है कि भारत की मूल, प्रारम्भिक प्रजाति नीग्रिटो ही थी, किन्तु, भूपेन्द्र नाथ दत्त के लेख मे दिये गये ल्पीक (Lapique) के मतानुसार भारत के किसी भी भाग म कोई भी ऐसी आद्य प्रजाति

नहीं है जो अपने शुद्ध रूप में अण्डमन निवासियों या अन्य प्रकार के नीग्रो से तुलना करने योग्य हो। सरसिन्स (Sarasins) ने भी अण्डमन में पाये जाने वाले नीग्रिटो तत्वों का दक्षिणी भारत में होना अस्वीकार किया है। बी० एस० गुहा द्वारा उद्धृत, ए० बी० मेयर (A B Mayer) के मतानुसार फिलिप्पाइन्स के बाहर नीग्रिटो का जो भी वर्णन मिलता है वह कमजोर प्रमाणों पर आधारित होने के कारण सहसा स्वीकार नहीं किया जा सकता। आज तक यह भी नहीं सिद्ध हो सका और न अंतिम रूप से उसके सिद्ध होने की आशा ही है कि महाभारत में वर्णित कृष्णवर्णी लोग नीग्रिटो प्रजाति के ही हैं। वास्तव में, भारत के कृष्णवर्णी लोगों की प्रजातिक स्थिति पर विरोधी विचार व्यक्त किये गये हैं। कुछ भी हो दक्षिणी पूर्वी एशिया, विशेषतया अण्डमन में नीग्रिटो तत्वों का पाया जाना कोई ऐसा ठोस प्रमाण नहीं है कि यह मान ही लिया जाय कि नीग्रिटो प्रजाति भारतीय जनसंख्या का प्रजातिक आधार रही होगी।

प्रोटो आस्टोल्वायड (Proto Australoid) या इण्डो आस्ट्रोल्वायड (Indo Australoid) बहुमत में, भारत का प्रजातिक आधार है। ठोस प्रमाण भी इसी मत के पक्ष में है। भारत की गणजातियों और निम्नस्तरीय जातियों के शारीरिक गठन में प्रोटो-आस्ट्रोल्वायड तत्वों का केन्द्रीकरण हुआ है जो मजूमदार के अनुसार, इस बात का ठोस प्रमाण है कि भारत की जनसंख्या का प्रजातिक आधार प्रोटो आस्टोल्वायड है न कि नीग्रिटो। प्रोटो (Proto) का अर्थ है आद्य अथवा प्रारम्भिक और प्रोटो आस्ट्रोल्वायड का अर्थ हुआ आस्ट्रोल्वायड का आदि अथवा प्रारम्भिक रूप। आस्ट्रेलिया के आदिवासियों की शारीरिक विशेषताओं के आधार पर ही आस्ट्रोल्वायड प्रकार का निर्धारण किया गया है। आद्यता का आभास देने वाली शारीरिक विशेषताओं और निम्नतम सांस्कृतिक स्तर[1] के आधार पर आस्ट्रोल्वायड को एक प्राचीन प्रजातिक धारा माना गया है।

आस्ट्रोल्वायड, हुटन के अनुसार, एक मिश्रित (Composite) प्रजाति है, यद्यपि उसके गठन में वादेस्वाइड तत्वों की प्रधानता है। हुटन की मान्यता आधारित है टिंडेल और बर्डसेल (Tindale and Birdsell) के शोध कार्य पर। बर्डसेल

१—आस्ट्रेलिया के निवासियों के औजार पत्थर और लकड़ी के हैं, उनमें मिट्टी के बर्तन बनाने की कला का अभाव है और उनके निवास स्थानों को विरला ही झोंपड़ों की संज्ञा दी जा सकती है—हुटन कास्ट इन इण्डिया पृ० ६०६

(Birdsell) के अनुसार, ओशनिक नाग्रिटो (Oceanic Negrito), आद्य श्वेत (Archaic White) और लंका के वड्डा तथा भारत के चचू और मुण्डाओं में पाये जाने वाले नीग्रो-प्रकार (The Negro Type) के मिश्रण से आस्ट्रेलायड प्रजाति का निर्माण हुआ है। हूटन की अपनी मान्यता के अनुसार आद्य-श्वेत (Archaic-White), तस्मानियन (Tasmanian), कुछ हाल में आये हुए मेलानेशियन और पापुअन (Papuan) प्रजातिक तत्वों के समावेश से आस्ट्रेलायड प्रकार बना है। आस्ट्रेलायड प्रकार की मुख्य विशेषतायें हैं चाकलेट रंग की त्वचा (Chocolate Skin), काले या काले बादामी रंग के लहरदार अथवा घुंघराले बाल घनी मूंछें, बालों से भरी हुई छाती, पतली टाँगें, पतली किन्तु ऊँची खोपड़ी, बड़ी मोटी भौंहें, पीछे की ओर दबी हुयी माथे की हड्डी आगे की ओर निकला हुआ मुँह (Prognathism) और पीछे की ओर धँसी हुयी किन्तु चौड़ी नाक[1]।

हावेल्स के अनुसार, अपनी चौड़ी नाक और काले रंग के कारण आस्ट्रेलायड नीग्रो के समान प्रतीत होता है। उसके सीधे घुंघराले बाल घनी और भरी हुयी दाढ़ी और शरीर पर उगने वाले घने बाल उसे यारोपियनों के समीप ला बिठाते हैं और संकीर्ण तथा पीछे की ओर दबा हुआ माथा, मोटी और उठी हुई भौंहें (Heavy ridges over the eyes) और नाक की जड़ में पीछे की ओर दबी हुयी गहराई आस्ट्रेलायड को एक विशेष प्रकार का आद्य (Primitive) और भयानक सा लगने वाला रूप देते हैं। बड़े मुंह औसतन मोटे होंठ नीग्रो की अपेक्षा कम आगे की ओर निकला हुआ मुख किन्तु पीछे की ओर दबी हुई ठुड्डी, खोपड़ी की वजनदार हड्डियाँ छोटे आकार का मस्तिष्क और दांतों का अपेक्षाकृत बड़ा आकार, आस्ट्रेलायड की अन्य विशेषताएं हैं जो उसमें एक आद्य प्रकार के मेधावी मानव (Homo Sapiens) का आभास देती है। ऐसा प्रतीत होता है कि मानो आद्य श्वेत (Archaic White), नीग्रिटो और नीग्रो के मिश्रण से आस्ट्रेलायड का निर्माण हुआ हो। किन्तु वास्तव में ऐसा है नहीं। आस्ट्रेलायड को मिश्रित प्रकार मानने से, हावेल्स के मत में आद्य श्वेत (Archaic White) को एक बड़ी चौथी प्रजाति मानना पड़ेगा। आद्य श्वेत (Archaic White) प्रजाति के पक्ष न में तो ठोस प्रमाण हैं और न तर्क। आस्ट्रेलिया के बाहर आस्ट्रेलायड प्रकारों का पाया जाना इस बात का प्रमाण है कि आस्ट्रेलायड एक मिश्रित प्रजाति नहीं है। कॉकेसायड, मंगोलायड और नीग्रायड की भांति आस्ट्रेलायड चौथी बड़ी प्रजाति है और सम्भवतः सबसे प्राचीन होने के

[1]—हूटन ई० ए० वही पृष्ठ ६०६

कारण अन्य सभी प्रजातियों की जननी है[1]।

हटन के अनुसार, भारत मे नीग्रिटो का पाया जाना सन्देहास्पद हो सकता है किन्तु प्रोटो आस्ट्रेलायड का पाया जाना निश्चित है[1]। हैडोन (Haddon) मारटिन (Martin) और बक्सटन (Buxton) के अनुसार, आस्ट्रेलायड दक्षिणी पूर्वी एशिया मे फैला हुआ है। अतएव इस बात के अधिकाधिक प्रमाण मिलते हैं कि भारत मे आस्ट्रेलायड लोगो का स्थानान्तरण पूर्व की ओर से हुआ है। किन्तु डा० मजूमदार के अनुसार यदि आस्ट्रेलिया मे नियन्डरथल (Neandorthal) के अवशेष हो तो आस्ट्रेलिया भी आस्ट्रेलायड का जन्मस्थान माना जा सकता है। यह निश्चित है कि आस्ट्रेलायड का जन्म स्थान न तो आस्ट्रेलिया है और न दक्षिणी पूर्वी एशिया। भारत मे आस्ट्रेलायड निश्चय ही एक प्राकद्राविड प्रजाति है। हटन (Hoxton) का यह मत है कि नीग्रिटो और प्रोटो आस्ट्रेलायड के मिश्रण ने प्राक्-द्राविडो को जन्म दिया। हटन के अनुसार यह प्रजाति अन्ततोगत्वा दक्षिणी पूर्वी योरोप की बादामी प्रजाति (Brown Race) से सम्बन्धित की जा सकती है या हो सकता है कि दक्षिणी पूर्वी एशिया मे ही किसी अद्ध मानव पूर्वज से ही इसका विकास हुआ हो[1]। भारत मे प्रोटो आस्ट्रेलायड की उत्पत्ति के विषय मे, जैसा कि हटन ने लिखा है डा० सिवल (Dr Sewell) दो सम्भावनाए मानते हैं। एक ओर उनका यह कहना है कि सम्भवत जलवायु द्वारा उत्पन्न आपरिवतनों के कारण पश्चिम का एक लम्बी पतली नाक वाला प्रकार भारत मे प्रोटो आस्ट्रेलायड के रूप मे रूपान्तरित हो गया है। या जैसा कि उनका दूसरा मत है इस रूपान्तरण मे, जलवायु द्वारा उत्पन्न आपरिवर्तनो के स्थान पर, मिश्रण द्वारा उत्पन्न आपरिवर्तनो के प्रभावशाली सिद्ध होने का अधिक सम्भावना है। अतएव, डा० सिवेल के आधार पर हटन ने यह उक्त मत प्रतिपादित की है कि पश्चिम से होने वाले एक प्राचीन स्थानान्तरण के माध्यम से प्रोटो आस्ट्रेलायड भारत मे आया और इसकी मुख्य प्रजातिक विशेषताओं का अन्तिम और स्थायी निर्माण भारत मे ही हुआ। आज बहु मत इसी पक्ष मे है कि भारत की प्रोटो आस्ट्रेलायड प्रजातिक धारा पश्चिम से ही आयी है। दक्षिणी पूर्वी एशिया, विशेषतया आस्ट्रेलिया मे, प्रोटो आस्ट्रेलायड की उत्पत्ति प्रतिपादित करने का प्रयास हथेली पर सरसो जमाने के समान है।

अत्यन्त सहरदार घुघराले बाल चौडी नाक साधारणतया अपरिष्कृत शारीरिक

१—हावेल विलियम वही पृ० २८४ २८६

२—हटन जे० एच० कास्ट इन इण्डिया पृ० ३

३—वही पृ० ३

अग और श्यामवर्ण, भारत में, प्रोटो-आस्ट्रोलायड की मुख्य प्रजातिक विशेषताएं है। डा० मजूमदार के अनुसार, प्राटो-आस्ट्रोलायड का सिर साधारणतया लम्बा होता है किन्तु लम्बे सिर के साथ साथ, चौडे सिर की भी प्रवृत्ति पायी जाती है। जैसी ओशनिक नीग्रो (Oceanic Negro) की विशदता है प्रोटो-आस्ट्रोलायड म, चौड सिर के साथ ऊनी अथवा गाठदार बाल नही पाये जाते हैं। वतमान भारत म, विशेषतया आदिवासियो मे, आमतौर से, प्रोटो-आस्ट्रोलायड विशषताए ही पायी जाती हैं यद्यपि विभिन्न प्रजातिक धाराओ के मिश्रण ने इसके अमिश्रित शुद्ध रूप और केन्द्रीकरण को समाप्त सा कर दिया है। भील इसका एक सुन्दर उदाहरण हैं। खानदेश और पश्चिम मध्यप्रदेश से लेकर राजस्थान तक फैले हुए भील, विभिन्न क्षेत्रो म, अलग अलग लोगो के सम्पर्क म आये है। आज उनमे सास्कृतिक, प्रजातिक और भाषा भिन्नता देखने को मिलती है किन्तु इसका तात्पर्य यह नही कि भीलो का अपना सजातीय प्रजातिक आधार ही नही है। जिस प्रकार भीलो म पायी जाने वाली विजातीयता पर सजातीयता का आवरण चढा हुआ है, उसी प्रकार, मिश्रण के बावजूद भी भारत के आदिवासियो का सजातीय प्रजातिक आधार (प्रोटो आस्ट्रोलायड) भी बना हुआ है।

'भारत म प्रोटो आस्ट्रोलायड' का अर्थ यह निकलता है कि भारत म आस्ट्रोलायड का आदिरूप पाया जाता है। आस्ट्रोलायड का आदिरूप क्या था? आज इसका निणय करना कठिन है और यदि इसका निर्णय किया भी जायगा तो उसमे कल्पना का ही अधिक पुट होगा। 'प्रोटो आस्ट्रोलायड' की सज्ञा स यह भी ध्वनित होता है कि वतमान भारत म आस्ट्रोलायड की प्रारम्भिक विशेषतायें पायी जाती हैं और उन पर प्राणिक उद्विकास की प्रक्रिया का कोई प्रभाव ही नही पडा। प्राणिक उद्-विकास और परिवतन बराबर चलता रहता है। विकास प्रक्रिया मे किसी भी समय का आद्य अथवा प्रारम्भिक रूप निर्धारित करना कठिन है। नृकुलशास्त्र म 'आद्य' शब्द का काफी विवादग्रस्त अस्तित्व रहा है। आद्य (आदि) के निर्धारण म सोद्देश्यता बनाए रखना कठिन होता है। दूसरी ओर, वर्तमान के सन्दभ म आद्य को प्रतिपादित करने का तात्पय होता है परिवतन और उसके प्रभाव की अवहेलना। परिवतन-प्रक्रिया म शायद ही कोई प्रमेय अपने आद्य रूप म विद्यमान रहता हो। वास्तव म, आद्य को एक बार अस्तित्व म आकर परिवर्तित होने देर नही लगती। अतएव, प्रोटो विशेषण के साथ आस्ट्रोलायड की सत्ता का प्रयोग भ्रामक है। इसी कारण, भूपेन्द्रनाथ दत्त ने भारतीय प्रजातियो को व्यक्त करने के लिए प्रयुक्त नामावली म प्रोटो आस्ट्रोलायड के प्रयोग पर आपत्ति प्रगट की है। सम्भवत, प्रोटो आस्ट्रोलायड

शब्द का प्रयोग भारत म आस्ट्रेलायड तत्वो की विशिष्टता व्यक्त करने के लिए किया गया है और यदि ऐसा है तो एक स्पष्ट प्रजातिक नामावली के दृष्टिकोण से प्रोटो आस्ट्रेलायड के स्थान पर इण्डो आस्टोल्वायड (भारतीय आस्ट्राल्वायड) की सज्ञा अधिक उपयुक्त होगी।

मगो वायड भारत म मगोल्वायड प्रजाति के तत्वो उनके स्वरूप प्रकार और प्रभाव की सीमा पर विरोधी मत प्रगट किये गये है। जसा कि पिछले वर्णन से स्पष्ट है, रिसले ने बगाल स लेकर छोटा नागपुर मध्यप्रदेश और मद्रास तक छुटपुट मगोल्वायड प्रभाव की कल्पना की है। पूर्वी बगाल के मुसलमान किसानो को रिसले ने मगोलवायड प्रजाति का माना है किन्तु भूपेन्द्र नाथ दत्त ने इस अस्वीकार किया है। रिसले न मगोल्वायड प्रभाव से ही भारत म चौड सिर की उत्पत्ति मानी है। आज रिसले का मत अमान्य हो चुका है। डा० मजूमदार न इस बात पर जोर दिया है कि मगोलवायड प्रभाव पर उतना जोर नहीं दिया जा सकता जितना कि रिसले न दिया है। पर साथ ही साथ यह भी निर्विवाद है कि भारत की उत्तरी और पूर्वी सीमा पर तथा हिमालय और उसकी तलहटी म रहने वाले लोगो म मगोल्वायड प्रभाव स्पष्ट है। दार्जिलिंग और चिटगाव (जो आज पूर्वी पाकिस्तान म हैं) की पहाडियो म इपिकैंथिक फोल्ड (Epicanthic Fold), मगो वायड आख की विशेषता पायी जाती है यद्यपि बगाल की जातियो मे यह अनुपस्थित है। डा० मजूमदार न थारुओ म मगो वायड प्रभाव माना है और डा० गुह न आसाम और उत्तरी बर्मा के आदिवासियो म दो मगो वायड प्रजातिक धाराओ का उल्लेख किया है। डा० मजूमदार ने भारत के आदिवासियो को मुख्यतया प्रोटो-आस्ट्रेलवायड प्रकार का माना है लेकिन उन्होने बगाल और आसाम के पहाडी क्षेत्रो म रहने वाले आदिवासियो म मगो वायड विशेषताओ को एकदम अस्वीकार नही किया है। उनका यह अवश्य कहना है कि भारत के प्रजातिक गठन म, काकेसवायड प्रजातियो की अपेक्षा मगोल्वायड प्रभाव क्षीण और कम महत्वपूर्ण है। डा० गुह और मजूमदार के आधार पर, भारत म तीन मगोल्वायड प्रजातिक धाराओ का उल्लेख किया जा सकता है। पहली थारुओ म पायी जाने वाली मध्यम सिर, तथा छोटी नाक, मगोलियन प्रकार की आख और पीले बालो वाला वर्ग की विशेषतायें, दूसरी, आसाम और उत्तरी बर्मा म चौडे सिर के साथ मगो वायड विशेषतायें और तीसरी, उसी प्रदेश म मध्यम कद, ऊचे सिर (High Head), मध्यम नाक के साथ मगोल्वायड प्रकार की आख की बनावट। इस विषय पर उपलब्ध साहित्य से ऐसा पता लगता है कि भारत म मगोल्वायड तत्वो, उनके निर्धारण और प्रभाव की सीमा स सम्बन्धित समस्याओ

का निराकरण अभी भी होना बाकी है।

७

भारतीय सामाजिक संरचना में प्रजाति

हरबर्ट रिजले पहला अंग्रेज नृतत्त्वशास्त्री था जिसने यह प्रतिपादित किया था कि जाति प्रथा के रूप में, भारतीय सामाजिक संरचना भारत में पाई जाने वाली प्रजातिक धाराओं और उनके सम्मिश्रण पर आधारित है। प्रजातिक मिश्रण के ही कारण प्रत्येक जाति की सामाजिक प्रतिष्ठा उस जाति के सदस्यों में पाये जाने वाले आर्य रुधिर के अनुपात पर आधारित है।

रिजले के मत में, प्रत्येक जाति की नासिका देशना (Nasal Index) और सामाजिक प्रतिष्ठा में प्रतीप अनुपात (Inverse Ratio) है। अर्थात् जिस जाति के सदस्यों की नाक की बनावट जितनी चौड़ी है उनकी सामाजिक प्रतिष्ठा उतनी ही निम्न। भूपेन्द्रनाथ दत्त के अनुसार जाति-प्रथा का कोई भी प्रजातिक आधार नहीं है और किसी भी जाति के सदस्यों की नासिका देशना और उस जाति की सामाजिक प्रतिष्ठा में प्रतीप अनुपात नहीं है[1]। इसमें कोई शक नहीं कि नासिका देशना और जातियों की सामाजिक स्थिति में कोई भी सम्बन्ध स्थापित नहीं किया जा सकता और न ऐसा सम्बन्ध स्थापित करने में कोई सफल ही हुआ है। वास्तव में, विभिन्न जातियों और उपजातियों के मूल प्रजातिक तत्वों को निर्धारित करना कठिन है क्योंकि यह निस्सन्देह है कि जितनी भी मूल प्रजातिक धारायें भारत में आयीं उनका विभिन्न अनुपातों में पारस्परिक मिश्रण हुआ है। आक्रमण के बाद आक्रमण विजेताओं और पराजितों के सम्बन्ध, विशेषतया यौन-सम्बन्ध, धर्म और सामाजिक तथा क्षेत्रीय गतिशीलता (Social and Territorial Mobility) भारत में प्रजातियों के समतलक (Levellers) रहे हैं। इस्लाम और ईसाई धर्म अनेक जातियों और प्रजातिक गठन वाले समूहों को एक सूत्र में बांधते रहे हैं। हिन्दुत्व आदिवासियों

१—दत्त बी० एन० वही

को अपने प्रभाव क्षेत्र में समेटता रहा है[१]। अनुलोम प्रथा भी प्रजातिक तत्वों को सतत करती है। किन्तु इसमें भी कोई शक नहीं कि अन्तर्विवाही समूहों के रूप में जातियां विभिन्न समूहों के प्रजातिक तत्वों को स्थिर बनाये रखने में सफल हुयी हैं। किसी भी क्षेत्र की जातियों को सरलता पूर्वक प्रजातिक श्रेणियों में वर्गीकृत किया जा सकता है[२]। रिसले का मत निश्चय ही एकांगीण है किन्तु भूपेन्द्रनाथ दत्त का मत भी एकांगीणता से मुक्त नहीं है। भारतीय सामाजिक संरचना में प्रजाति का समावेश हुआ है यद्यपि प्रजाति ही उसका एक मात्र कारण नहीं है। सन् उन्नीस सौ इक्तालीस में डा० मजूमदार द्वारा किये गये उत्तर प्रदेश के प्रजातिक सर्वेक्षण से यह तथ्य स्पष्ट होता है।

उत्तर प्रदेश की सामाजिक संरचना में ब्राह्मणों का स्थान सर्वोच्च है। ब्राह्मणों के बाद क्रमानुसार क्षत्रिय (राजपूत), खत्री, वैश्य, कायस्थ, अहीर, कुरमी, कहार, तेली और चमार इत्यादि जातियां, सांसी, हबूड़ा भातू इत्यादि अपराधी कही जाने वाली गणजातियां और कोरवा ओराओं चेरो, मझवार खरवार तथा रजवार इत्यादि गणजातियां (आदिवासी अन्तर्विवाही समूह) आती हैं। धर्म के आधार पर मुसलमान एक अलग समूह हैं किन्तु, उनकी सामाजिक संरचना भी जाति प्रथा पर आधारित है। उत्तरी पूर्वी सीमा पर हिमालय की तलहटी में रहने वाले, थारू (आदिवासी) एक विशिष्ट सांस्कृतिक समूह हैं। इस प्रकार, सामाजिक उच्चोच्च परम्परा (Social Hierarchy) के उच्चतम स्तर पर हैं ब्राह्मण और निम्नतम स्तर पर आदिवासी और इन दोनों स्तरों के बीच उच्च तथा निम्न और छूत (Clean) तथा अछूत (Unclean) जातियों की उच्चोच्च परम्परा का सिलसिला आता है।

अपने प्रजातिक गठन में, लम्बे सिर और साधारणतया लम्बी पतली नाक की प्रधानता के कारण ब्राह्मण वह विशिष्ट प्रजातिक समूह हैं जिसमें खत्री, क्षत्रिय और पठान जैसे उच्च जाति के मुसलमान भी आ जाते हैं। प्रजातिक विजातीयता (Racial Heterogeneity) लिये हुए कायस्थ एक सांस्कृतिक समूह है जो उनमें पाये जाने वाले अन्तर्विवाही समूहों (जातियां जैसे श्रीवास्तव सक्सेना, माथुर इत्यादि) से स्पष्ट है। अहीर, कुरमी, कहार तेली, चमार और डोम जो शिल्पी जातियां (Artisan Castes) की श्रेणी में आते हैं, प्रजातिक गठन में परस्पर भिन्न हैं। उनमें पाई जाने वाली प्रजातिक भिन्नता उनके सामाजिक स्तरों की भिन्नता

२—मजूमदार डी० एन० मेट्रिक्स आफ इण्डियन कल्चर पृष्ठ १६६

१—मजूमदार डी० एन० रेसेज एण्ड कल्चर्स आफ इण्डिया पृष्ठ ४६–६७

से सम्बन्धित है । शिल्पी जातियो की श्रेणी म अहीर सर्वोच्च हैं और अपने प्रजातिक गठन मे ब्राह्मणो क अधिक समीप हैं। इसके विपरीत क ार और चमार, जो अहीरो मे निम्न स्तर के हैं, मिरजापुर के आदिवासियों म पाये जाने वाले प्रजातिक प्रकार क अधिक अनुरूप हैं। निम्नस्तर की मुसलमान जातियो का प्रजातिक गठन भी निम्नस्तर की जातियों के प्रकार का है। शिल्पी जातियो म डोम का स्तर निम्नतम है। रिसले ने डोम को द्राविड गणजातियो (Dravidian Tribes) क साथ रक्खा है। कि तु डा० मजूमदार के मत म, डोम का प्रजातिक स्तर (Racial status) इससे कहीं उच्चतर है। कद म डोम क्षत्रियो के समीप हैं किन्तु सम्पूर्ण प्रजातिक गठन म चमारो के। प्रजातिक दृष्टिकोण से यह निश्चित है कि निम्न स्तर की जातियों की उत्पत्ति गणजातियो (Tribes) मे हुयी है। उत्तर प्रदेश के दक्षिण, दक्षिण-पूर्व और पूर्व म ही आदिवासियो और निम्नस्तर की जातियो का अधिकतर केन्द्रीकरण इस सम्भावना को और भी बढा देता है।

चौंतीस अपराधी कही जाने वाली गणजातियों के सदस्य जिनकी संख्या बीस लाख के लगभग है, उच्च जातियो तथा आदिवासियो म पाय जाने वाले प्रजातिक प्रकारो से भिन्न एक अलग सजातीय प्रजातिक प्रकार है। उनके नयनो की बनावट, किन्ही दशाओं म, उन्ह शिल्पी जातियों से अलग एक विशिष्ट प्रजातिक समूह का रूप देती हैं।

उत्तर प्रदेश के आदिवासियो मे दो प्रजातिक धारायें स्पष्ट हैं। थारुओ के मध्यम सिर, मध्यम तथा छोटी नाक मगोलॉयड प्रकार की आख की बनावट उभरी हुयी गाल की हड्डी और पीले बादामी (Yellow Brown) वर्ण म उन मगोलॉयड विशेषताओं की स्पष्ट झलक मिलती है जिन्हें थारुओ न मगोलियनो के सम्पर्क से आत्मसात कर लिया है और जो उन्ह मिरजापुर के आदिवासियो स अलग एक विशिष्ट प्रजातिक समूह का रूप देती है। मातृपक्ष से थारू अपने को क्षत्रिय मानते हैं। उनके सामाजिक सगठन म स्त्रियों को एक प्रधान स्थान मिला हुआ है। थारू वस्तुत एक विशिष्ट प्रजातिक-सास्कृतिक समूह हैं। मिरजापुर जिले म, कैमूर पहाडियो के दक्षिण मे बसने वाली गण जातियो मे गहरा-बादामी और काला रंग, चौडी किन्तु जड मे धसी हुयी नाक, छोटा कद, लम्बा सिर, घने घुँघराले या कुन्तलाकार काले बाल, शरीर पर बालो की कम सख्या, मोटे होठ, छोटे दात और कम चौडा किन्तु तिरछा मस्तक की शारीरिक विशेषतायें पायी जाती हैं। ये विशेषतायें उन्ह प्राटो-आस्ट्रेलायड प्रजातिक प्रकार का रूप देती हैं।

उत्तर प्रदेश मे, मजूमदार के अनुसार, चार प्रजातिक प्रकार पाये जाते हैं प्रथम

लम्बे सिर और साधारणतया लम्बी पतली नाक वाला प्रकार (इण्डो मेडीटरनियन) जिसके प्रतिनिधि हैं ब्राह्मण, क्षत्रिय, खत्री और उच्च जाति के मुसलमान, दूसरा, लम्बे सिर और चौडी नाक वाला प्रकार (प्रोटो आस्ट्रेलायड) जो मिरजापुर के आदिवासियो म केन्द्रित है, तीसरा मध्यम सिर और मध्यम तथा छोटी नाक वाला प्रकार, जो थारुओ और तराई के अन्य लोगो म पाये जाने वाले मगोलायड तत्वो म निहित है, और चौथा अल्पाइन प्रकार जो उत्तरा यू० पी० के चौडे सिर तथा जतूनी वर्ण वाले लोगो म पाया जाता है।

इस प्रजातिक सामाजिक संरचना की दो चरम सीमायें हैं—एक, ब्राह्मण और दूसरी आदिवासी। इन दो चरम सीमाओ के बीच म फली हुई उच्चाच्च परम्परा (Hierarchy) मे जिस जाति का स्तर जितना उच्च अथवा निम्न है वह अपने प्रजातिक गठन मे आदिवासी समूह स उतना ही दूर अथवा समीप है। ब्राह्मण और आदिवासी के मध्य पायी जाने वाली सामाजिक उच्चोच्च परम्परा, उसम पाये जाने वाले स्तरो तथा जातियो और गणजातियो म पायी जाने वाली प्रजातिक शुद्धता (Racial Purity) या वर्णसंकरता (Hybridization) की मात्रा मे सामजस्य है। इसका कारण है अन्तर्विवाहिकी की प्रथा जिसके कारण विभि न जातियों (Castes) और गणजातियो (Tribes) के रुधिर सगठन और समपित्र क प्रकार (Genetic Types) अलग अलग निश्चित सीमाओ म रहे है। उदाहरणार्थ, जसा कि डा० मजूमदार का मत है, यदि ब्राह्मण का प्रारम्भिक प्रजातिक रूप शुद्ध था तो उसने औरो की अपेक्षा अपने को अधिक शुद्ध रक्खा और यदि उसका प्रारम्भिक रूप मिश्रित था तो अन्य जातियों की अपेक्षा, उसने अपने को पुन मिश्रित होने से अधिक बचाया। सम्भवत, इसीकारण, डा० मजूमदार ने यह निर्धारित किया है कि जाति प्रथा की उत्पत्ति हुई है प्रजातियो के सम्पर्क और संस्कृतियो के संघर्ष म। किन्तु, फिर भी, 'जाति' अलग है और 'प्रजाति' अलग। जाति-संरचना मे 'प्रजाति' के तत्वो का समावेश अवश्य हुआ है किन्तु प्रजाति जाति का एकमात्र कारक नही है। प्रजाति, जाति प्रथा के अनेक कारको मे से केवल एक ऐसा कारक कहा जा सकता है जो समाजशास्त्रीय दृष्टिकोण से अधिक महत्वपूर्ण नहीं है और न जिस पर आवश्यकता से अधिक जोर ही दिया जा सकता है।

तीसरा अध्याय

सस्कृति

सस्कृति समाजशास्त्रीय व्याख्या

सस्कृति का समाजशास्त्रीय अथ-जनसाधारण मे प्रचलित अथ से भिन्न है। जनसाधारण म प्रचलित, सामान्य अथ म, सस्कृति प्रतीक है मानव-व्यवहार के उन उपकरणो की जो मानव को सभ्य बनायें। पर, सभ्य क्या है? इस प्रश्न का न तो एक उत्तर हुआ है और न हो सकता है। 'सभ्य' के सदर्भ म सस्कृति की धारणा तभी यथाथ प्रतीत होती है जब 'सभ्य' के साथ-साथ 'असभ्य' की भी धारणा बनाई जाय। पर असभ्य' की परिभाषा करना उतना ही कठिन है जितना कि 'सभ्य' की। सस्कृति की धारणा का सम्बन्ध है मानव-व्यवहार और उसके उपकरणो स और आज यह स्पष्ट हो चुका है कि मानव-व्यवहार, मानव की कुछ आधारभूत दैहिक, शरीरी और मानसिक आवश्यकताओ स उत्पन्न होता है—वे आवश्यकतायें जो मनुष्य को जागिक उदविकास की प्रक्रिया की विरासत के रूप म मिली हैं। ऐसी दशा म यह कहना कठिन है कि कौन-सा मानव-व्यवहार 'सभ्य' का प्रतीक है और कौनसा 'असभ्य' का। मानव व्यवहार की भिन्नतायें दश-काल के प्रभावो का

परिणाम हैं। सभी प्रकार के मानव व्यवहार के उद्गम स्रोत और उनके उद्देश्य समान हैं। विवाह और परिवार के भी उद्देश्य और उदगम स्थान यूरोप में है वही भारत में भी। उनमें जो भिन्नतायें हैं वे देश काल के परिसीमन का परिणाम हैं। ऐसी दशा में, संस्कृति के संदर्भ में, सभ्य तथा असभ्य और उच्च' तथा निम्न की मान्यतायें स्वतः निर्मूल हो जाती हैं। न कोई संस्कृति उच्च है न निम्न, न कोई संस्कृति सभ्य है और न कोई असभ्य।

समाजशास्त्रीय संदर्भ में संस्कृति का अर्थ सुसंस्कृत भी नहीं है क्योंकि जिस प्रकार यह कहना कठिन है कि सभ्य' क्या है उसी प्रकार यह भी निर्धारित करना कठिन है कि सुसंस्कृत क्या है। सभी प्राणियों में संस्कृति निर्माण की क्षमता केवल मनुष्य में है और यही क्षमता मानव को मानवेतर प्राणियों से भिन्न करती है[1]। अतः, मानव-व्यवहार सुसंस्कृत है और सुसंस्कृत होने के नाते ही मानव मानवेतर प्राणियों से भिन्न है। सुसंस्कृत शब्द का यदि प्रयोग किया भी जा सकता है तो केवल मानवमात्र के व्यवहार के लिए क्योंकि अन्य प्राणियों की अपेक्षा केवल मानव ही संस्कृतिवान अथवा सुसंस्कृत है। समान आधारभूत दैहिक तथा मानसिक क्षमताओं के कारण ही सभी स्थान और कालों में मनुष्य ने संस्कृति का निर्माण किया है और देश काल की भिन्नताओं ने इस संसार के सांस्कृतिक वैचित्र्य को जन्म दिया है—वह वचित्र्य जिसके आधार और पृष्ठभूमि समान हैं और जिसकी अनेकता में एकता और एकता में अनेकता समायी हुई है। इसी कारण, समाजशास्त्र में यदि, एक ओर, सामान्य संस्कृति की धारणा है तो, दूसरी ओर संस्कृति विशेष की। देश काल की विशेष सीमाओं और सामाजिक सम्बन्धों के जाल में बंधने पर ही मानव संस्कृति संस्कृति विशेष का रूप ग्रहण करती है। भारतीय अमरीकी चीनी, जापानी और योरोपीय संस्कृतियां विशेष संस्कृतियां हैं और मानव संस्कृति की अनेकता की परिचायक हैं। शुद्ध संस्कृति की कल्पना उसी प्रकार से आकाश कुसुम की कल्पना के समान है जिस प्रकार शुद्ध प्रजाति की कल्पना। देश काल की सीमाओं में बंधी हुयी विशेष संस्कृतियों के पारस्परिक आदान प्रदान और समान आधारों में ही, मानव की

1 इसका तात्पर्य यह नहीं कि मानव की संस्कृति निर्माण की क्षमता किसी मूलप्रवृत्ति पर आधारित है। मानव उसी प्रकार संस्कृति का निर्माण नहीं करता है जिस प्रकार मकड़ी जाले का। संस्कृति के कारक अंशतः दैहिक, अंशतः मानसिक और अंशतः ऐतिहासिक हैं। समाजशास्त्री आधारभूत क्षमता और मूलप्रवृत्ति को अलग-अलग मानते हैं। मानव व्यवहार इतना विचरणशील है और उस पर संस्कृति तथा सीखने का इतना प्रभाव है कि समाजशास्त्री यह मानते हैं कि मूलप्रवृत्ति का सिद्धान्त मानवेतर प्राणियों के व्यवहार को तो स्पष्ट कर सकता है पर मानव का नहीं।

सुसंस्कृत का स्तर प्रदान करने वाली मानव संस्कृति समायी हुयी है। संस्कृति उतनी ही शाश्वत और चिरंतन है जितना कि स्वयं मनुष्य।

भारतीय संस्कृत साहित्य और अन्य देशों के दर्शनों में प्रतिपादित संस्कृति की धारणा में सुसंस्कृत का भाव ही प्रमुख है। 'कल्याण' के 'हिन्दू संस्कृति अंक' के चौबीसवें पृष्ठ पर संस्कृति शब्द की व्याख्या करते हुए संस्कृति को 'भूषणभूत सम्यक् कृति या चेष्टा' कहा गया है। मानव सम्यक्-असम्यक् चेष्टायें करने में समर्थ है, इसी कारण मानव में संस्कृति निर्माण की क्षमता भी है। भूषणभूत सम्यक् चेष्टायें मानव व्यवहार के वे प्रेरक कारक हैं जिनसे 'मनुष्य अपने जीवन के समस्त क्षेत्रों में उन्नति करता हुआ सुख शान्ति प्राप्त करे' या जो 'मनुष्य की आधिभौतिक, आधिदैविक एवं आध्यात्मिक उन्नति के अनुकूल हो,' 'संक्षेप में कहा जा सकता है कि मनुष्य के लौकिक-पारलौकिक सर्वाभ्युदय के अनुकूल आचार विचार ही संस्कृति है।' इसमें कोई सन्देह नहीं कि मानव-व्यवहार और उसका प्रत्येक पक्ष संस्कृति से इस प्रकार परिवेष्टित है कि संस्कृति के ही माध्यम से मानव के लौकिक-पारलौकिक स्वत्व और अस्तित्व को अर्थपूर्ण अभिव्यक्ति और मान्यता मिलती है और इसी माध्यम से उसके सुख शान्ति की भी परिभाषा होती है। यह भी निर्विवाद है कि संस्कृति के द्वारा निर्धारित संस्कारों के माध्यम से ही मानव का सामाजीकरण और मानवीकरण होता है। फिर भी, इस प्रकार की धारणाओं से यह शंका उठती है कि आखिर 'लौकिक पारलौकिक सर्वाभ्युदय के अनुकूल आचार विचार' उत्पन्न करने वाली चेष्टायें क्या हैं? यह शंका उतनी ही गहन और समाधान से परे है जितनी कि ईश्वर के अस्तित्व सम्बन्धी शंका। भूषणाभूत सम्यक् चेष्टाओं का निरपेक्ष निर्धारण वस्तुतः असम्भव है क्योंकि जो कुछ भारत के लिए 'सम्यक चेष्टा' है वह योरोप के लिए असम्यक हो सकती है। अतः, ऐसी परिभाषायें और धारणायें मानव-व्यवहार के विश्लेषण के उस स्तर पर बेकार सिद्ध होती हैं जहाँ धारणाओं को मानव-व्यवहार के निरीक्षण और तज्जनित अनुभूति पर आधारित किया जाता है और सारा विश्लेषण सापेक्ष तर्कों पर आधारित रहता है। मानव-व्यवहार सम्बन्धी सर्वमान्य और सार्वभौमिक निरपेक्ष चेष्टाओं का निर्धारण सामाजिक शास्त्रों की वह समस्या है जिसका निराकरण सम्भवतः इन शास्त्रों के पास नहीं है और न होगा क्योंकि इनकी विषय वस्तु—मानव और उसकी व्यवहारिक समानतायें तथा असमानताओं की वास्तविकता—निरपेक्ष न होकर सापेक्ष है।

परिभाषायें

संस्कृति को परिभाषा के घेरे में बाँधने का सर्वप्रथम प्रयत्न इंगलैंड के मानवशास्त्री ई० बी० टाइलर (E.B Tylor) ने सन् अठारह सौ चौहत्तर ई० में किया था। उनके अनुसार "संस्कृति अथवा सभ्यता वह जटिल इकाई है जिसमें ज्ञान, विश्वास, कला, शील, विधि, रूढ़ि और किसी भी उस क्षमता तथा अभ्यास (आदत) का समावेश रहता है जो मनुष्य,

समाज का सदस्य होने के नाते ग्रहण करता है'। संस्कृति और सभ्यता को टाइलर ने एक ही श्रेणी मे रक्खा है और आज भी अधिकतर मानवशास्त्री दोनो का एक ही प्रमेय मानते है जबकि समाजशास्त्री संस्कृति और सभ्यता को अलग अलग दो विशिष्ट प्रमेय मानते है। टाइलर ने समाज और संस्कृति को दो अलग अलग प्रमेय माने हैं। टाइलर की इस मान्यता को आज सैद्धान्तिक रूप से स्वीकार कर लिया गया है। इस मान्यता के अनुसार संस्कृति से तात्पर्य है मानव-व्यवहार सम्बन्धी उस प्रमेय से जो किसी समूह विशेष या मानवमात्र के जीवनयापन का आधार हो—वह आधार जो परम्परात्मक तथा रूढिगत होता है जो पीढी दर पीढी चला करता है जिसमे इतिहास समाया रहता है तथा जिसमे भूत लीन रहता है, वर्तमान अपने यथार्थ रूप मे विद्यमान रहता है और भविष्य का आरोहण अकुरित हुआ करता है। समाज से तात्पर्य लिया जाता है सामाजिक सम्बन्धो के उस जाल से जो किसी विशिष्ट मानव समूह या मानवमात्र मे पाया जाता है। समाज संस्कृति मे समाया रहता है और संस्कृति समाज मे। समाज संस्कृति के स्वत्व, अस्तित्व और कालगत प्रसरण का मुख्य माध्यम है और संस्कृति के ही कारण समाज को विशिष्टता मिलती है क्योंकि सामाजिक सम्बन्ध संस्कृति द्वारा ही परिभाषित होते है। इसी कारण लावी (Lowie) और लिण्टन (Linton) ने संस्कृति को सामाजिक आनुवंशिकता या विरासत (Social Heredity) कहा है। इसमे कोई सन्देह नही कि सर्वप्रथम संस्कृति मानव व्यवहार की वह विरासत है जो मानव को समाज से समाज का सदस्य होने के नाते प्राप्त होती है—वह विरासत जिसे मानव अस्वीकार भी नही कर सकता।

मानवशास्त्रियो के एक अन्य सम्प्रदाय के अनुसार, सामाजिक विरासत की वास्तविकता मुख्यतया मानसिक (Psychical) है क्योंकि यह वास्तविकता वस्तुत व्यक्ति के मस्तिष्क मे समायी रहती है और मानव-व्यवहार मे प्रतीको के रूप मे अवतरित होती है। मानव की विचार प्रक्रियायें, आदर्श और अर्हायें संस्कृति का एक मुख्य आधार हैं। सम्भवत, इसी तथ्य को ध्यान मे रखते हुए लेसलेह्वाइट (Leslie White) ने संस्कृति को क्रियाओ (Acts) पदार्थों (Objects) और विचारो (Ideas) तथा भावनाओ (Sentiments) का वह जटिल सगठन माना है जिसका अस्तित्व प्रतीकों मे निहित रहता है और यह प्रतिपादित करने का प्रयास किया है कि संस्कृति एक प्रकार की प्रतीकात्मक (Symbolic), अखण्ड (सिलसिलेवार Continuous) सचयी (Cumulative) और प्रगतिशील (Progressive) प्रक्रिया है। लेसलेह्वाइट (Leslie White) की परिभाषा मे एक ओर संस्कृति के मानसिक पक्ष पर जोर है तो दूसरी ओर उसकी प्रतीकात्मक वास्तविकता और ऐतिहासिकता पर।

संस्कृति के मानसिक और ऐतिहासिक पक्षो को आधार बनाते हुए क्लाइड [illegible] (Clyde Kluckhohn) ने यह प्रतिपादित किया है कि संस्कृति की आत्मा

वस्तुत समायी रहती है उन सभी आकल्पनाओं (Designs) म जो मानव व्यवहार का नेतृत्व करती हैं जिनका जन्म ऐतिहासिक प्रक्रियाओं म होता है और जो स्पष्ट भी होती हैं और अस्पष्ट भी युक्तियुक्त भी होती हैं और आयुक्तिक भी। मानव-व्यवहार का नेतृत्व करने वाली आकल्पनाएं प्रणाली सबद्ध होती हैं और उनकी उत्पत्ति अज्ञात पर्यावरण अज्ञात ऐतिहासिक प्रक्रिया और अज्ञात मानव की आधारभूत दैहिक तथा मानसिक आवश्यकताओं के घात प्रतिघात के कारण होती है। जीवन यापन का नेतृत्व करने वाली आकल्पनायें, एक ओर, मानवमात्र म पायी जाती ह और दूसरी ओर, देश-काल की सीमाओं स घिरे विशिष्ट मानव समूह (या समूहों) मे जिसे (जिन्हे) समाज (अथवा समाजो) की सज्ञा दी जाती है।

क्रोबर (Kroeber) द्वारा प्रतिपादित धारणा में संस्कृति के लक्षण, सचयी प्रक्रिया पक्ष पर ही जोर दिया गया है। क्रोबर के अनुसार, संस्कृति मानव-व्यवहार का अपने म समेटे हुए एक सतति (Continuum) है, जिसकी व्यक्ति (Individual) और जीव (Organism) स परे एक अलग स्वतंत्र सत्ता है। संस्कृति वस्तुत एक अमर प्रवाह है—वह प्रवाह जिसकी सीमायें आदि और भावी इतिहास म निहित हैं, जिसकी गत्यात्मकता स व्यष्टि समष्टि, परिवर्तन, स्थायित्व तथा ऐतिहासिक घटनाओं का निर्माण होता है और जो व्यक्तियो तथा उनके मध्य स अथवा बाहर से आयी हुयी लहरो (तत्वो) का आत्मसात करता हुआ आगे बढता रहता है। मानव संस्कृति अमर ह। उसके अग (संस्कृति विशेष) विशृखलित हो सकते हैं पर लुप्त नहीं। हडप्पा तथा मोहनजोदडो और मेसापोटामिया तथा मिश्र की प्राचीन संस्कृतियां विशृखलित हो गयी है पर मानव-संस्कृति म उनके योगदान अमर हैं क्योकि आखिरकार मानव संस्कृति मनुष्य की सामाजिक विरासत है।

अपने वास्तविक रूप म संस्कृति वस्तुत वह उपकरण है जिसके द्वारा मनुष्य प्रकृति के साथ अपना सामञ्जस्य और अनुकूलन स्थापित करता रहा है। प्राकृतिक पर्यावरण के साथ चलने वाले सहयोग और सघर्ष म ही मानव संस्कृति का निर्माण करता है और इसी कारण, संस्कृति पर प्राकृतिक पर्यावरण की छाप रहती है। मनुष्य पर्यावरण का न तो दास है और न स्वामी ही। वह पर्यावरण को अपने अनुकूल बनाने के लिए निरन्तर प्रयास करता रहता है। इसी दृष्टिकोण म, यह कहा गया है कि संस्कृति पर्यावरण का वह भाग है जिसका निर्माण स्वय मनुष्य ने किया है। मलिनास्की (Malinowski) के उपयोगितावादी दृष्टिकोण म संस्कृति वह यत्र (Apparatus) है जिसके द्वारा मानव अपनी शरीरी आवश्यकताओं (Organic Needs) की पूरा करता है। भूख प्यास, मलत्याग और काम तृप्ति व प्राथमिक आवश्यकतायें हैं जिनकी पूर्ति और सन्तुष्टि के प्रयास म द्वितीयक आवश्यकताओं का जन्म होता है। ये आवश्यकतायें सार्वभौमिक हैं, अतएव, संस्कृति भी सार्वभौमिक है। इन आवश्यकताओं की पूर्ति के प्रयास म ही संस्थाओं का

जन्म होता है जिनके द्वारा मानव व्यवहार के आदर्शक मापदण्ड निर्धारित होते हैं। अतः इस दृष्टिकोण से यह कहा जा सकता है कि प्राथमिक तथा द्वितीयक आवश्यकताओं की तुष्टि के प्रयास में निर्मित संस्थाओं की पारस्परिक सम्बन्ध प्रणाली ही संस्कृति है[1]।

यह दृष्टिकोण इतना उपयोगितावादी है कि विश्लेषण के स्तर पर इसकी सार्थकता नष्ट होने का डर रहता है क्योंकि संस्कृति का प्रत्येक तत्व और उपकरण उतना उपयोगी नहीं है जितना कि इस मत में मान लिया गया है। संस्कृति तर्क पर आधारित है और अतर्क पर भी। बहुत से ऐसे तत्व हैं जिनकी उपयोगिता ढूंढ निकालना कठिन है। दूसरी ओर, इस मत से यह नहीं स्पष्ट होता है कि संस्थाओं के सम्बन्ध जाल का सुगठित रूप और विशिष्टता कहाँ से मिलती है और जो कुछ भी विशिष्टता एक बार मिल जाती है वह परिवर्तन प्रक्रिया में किस प्रकार स्थायी रहती है? इन प्रश्नों का संतोषजनक उत्तर तभी मिल सकता है जब सैद्धान्तिक रूप से यह मान लिया जाय कि संस्कृति एक ऐतिहासिक प्रक्रिया है—वह प्रक्रिया जो सांस्कृतिक आदर्शों तथा अर्हताओं (Ideals and Values) को जन्म देती है और उनसे प्रभावित भी होती रहती है। यहाँ पर यह समझना भूल होगी कि उपयोगितावादी दृष्टिकोण निराधार है। संस्कृति से आवश्यकताओं की पूर्ति होती है। अतएव वह उपयोगी है। हाँ, यह अवश्य है कि संस्कृति की वास्तविकता उपयोगिता तक ही सीमित नहीं है। उपयोगी होने के साथ साथ संस्कृति कुछ और भी है।

संस्कृति पार्थिव अपार्थिव

संस्कृति जैसे जटिल प्रमेय को परिभाषा की सीमा में बांधने का प्रयास वस्तुतः गागर में सागर भरने के समान है। सम्भवतः इसी कारण आज तक न तो कोई परिभाषा पूर्ण उतरी है और न सर्वमान्य ही हो सकी है। इसी कारण संस्कृति के तत्वों और आकार को निर्धारित करके, उसके सांगोपांग रूप को समझने का प्रयास किया गया है क्योंकि संस्कृतिविषयक सबसे महत्वपूर्ण प्रश्न यह है कि संस्कृति के रूप, आकार और आत्मा क्या, किस प्रकार और कहाँ से उत्पन्न पल्लवित पुष्पित और पालित पोषित होते रहते हैं? आगबर्न (Ogburn) द्वारा यह निर्धारित करने का प्रयास कि संस्कृति की आत्मा उसके पार्थिव (Material) और अपार्थिव (Non material) पक्षों के पारस्परिक गठन में समायी रहती है इसी दिशा में उठा हुआ एक कदम है। साधारणतौर पर संस्कृति पार्थिव और अपार्थिव पहलुओं में बटी हुयी दिखायी पड़ती है यद्यपि यह विभाजन उतना स्पष्ट नहीं है जितना कि आगबर्न ने उसे मान लिया है। यह कहना सरल है कि पार्थिव वह है जो भौतिक है, जड़ है, जिसे स्पर्श, दृष्टि और सूंघने से जाना जा सकता है और जो कुछ अमूर्त अदृश्य और भावनाओं

---

1 मलिनास्की बी० ए साइंटिफिक थ्योरी आफ कल्चर

आदर्शों तथा आत्मा से सम्बन्धित है, वह अपार्थिव है। पर संस्कृति के सर्वांगीण गठन में, पार्थिव में अपार्थिव का पुट रहता है और अपार्थिव में पार्थिव का। संस्कृति गठन में पार्थिव-अपार्थिव का सम्मिश्रण इतना प्रगाढ़ होता है कि यह कहना कठिन है कि पार्थिव-अपार्थिव कहां से प्रारम्भ होते हैं या कहां उनका अन्त होता है या कहां वे एक दूसरे को स्थान देते हैं। यह निर्धारित करना कठिन है कि मन्दिर, मस्जिद और चर्च में कितना पार्थिव है और कितना अपार्थिव। संस्कृति के पार्थिव और अपार्थिव पक्षों में स्पष्ट विभाजक रेखा खींचना कठिन है और यही इस मत की सबसे बड़ी कठिनाई और कमजोरी है। पार्थिव अपार्थिव की धारणाओं से न तो संस्कृति के रूप का पता चलता है और न उसकी आत्मा का क्योंकि संस्कृति पार्थिव-अपार्थिव का योग न होकर, उनके प्रगाढ़ सम्मिलन से उत्पन्न एक प्रवाहयुक्त प्रणाली है—वह प्रणाली जिसके तत्वों को उनके संदर्भ से अलग करते ही उनका वास्तविक महत्त्व और स्वत्व अर्थहीन हो जाता है। इस दृष्टिकोण से संस्कृति का पार्थिव-अपार्थिव पक्षों में धारणात्मक विभाजन अतार्किक सा लगता है। यह इस धारणा की ही कमजोरी है कि इस पर आधारित सामाजिक परिवर्तन का सांस्कृतिक विलम्बन (Cultural Lag) वाला सिद्धान्त तर्क की कसौटी पर खरा न उतर सका[1]। इस विषय में आज केवल इतना ही मान्य है कि संस्कृति के पार्थिव-अपार्थिव पहलू अकाट्य वास्तविकता है किन्तु उनके अलग-अलग आधार पर कोई भी उपयोगी, विश्लेषणात्मक उपकरण (Useful Analytical Tool) गढ़ना कठिन है क्योंकि व्यवहार में पार्थिव अपार्थिव का अन्तर समाप्त हो जाता है।

प्रसरणवादी दृष्टिकोण

अमरीकी प्रसरणवादियों (Diffusionists) ने संस्कृति क्षेत्र (Culture Area) की धारणा के द्वारा संस्कृति के रूप और आकार को समझने का प्रयास किया है। संस्कृति क्षेत्र की धारणा इंगलैंड और जर्मनी की प्रसरणवादी धारणाओं की उत्पत्ति है। जर्मन प्रसरणवादियों ने मानव-संस्कृति के विशेष तत्वों को निर्धारित करके, उनके आधार पर मानव-संस्कृति को कुछ विशुद्ध संस्कृति-सीमाओं में बांटने का प्रयास किया है क्योंकि इनकी मान्यता के अनुसार इस पृथ्वी पर सर्वप्रथम कुछ विशिष्ट विशुद्ध और सजातीय संस्कृतियों का जन्म हुआ और बाद में उनके मिश्रण से वर्तमान मानव संस्कृति बनी। इनके अनुसार, वर्तमान मानव-संस्कृति के आधार हैं कुछ निश्चित तत्व-संकुल (Trait-Complexes) जो विभिन्न स्थानों में उत्पन्न होकर प्रसारित और मिश्रित हुए हैं। इनके मतानुसार, यदि दो संस्कृतियों के तत्वों में साम्य है तो वह इस बात का प्रमाण है कि समान तत्व वाली संस्कृतियों ने एक ही तत्व-संकुल से समान तत्व ग्रहण किये हैं। इस प्रकार, जर्मनी के प्रसरणवादियों के

---

1 मकाइवर एण्ड पेज सोसायटी पृष्ठ 574-575

अनुसार तत्व-संकुलो के निर्धारण से ही संस्कृति को समझा जा सकता है। जर्मन-भाषा में तत्व-संकुल के लिए कुल्टूरकीज (Kulturkreise) शब्द का प्रयोग किया गया है। इस कारण इस मत के अनुयाइयों को कुल्टूरकीज सम्प्रदाय भी कहा गया है। इसके विपरीत इंगलैंड के प्रसरणवादियो ने वर्तमान मानव संस्कृति का एक ही उद्गम-स्रोत (मिस्र) मानकर, वर्तमान मानव-संस्कृति को स्पष्ट करने का प्रयत्न किया है। इन दोनों मतो की तीव्र आलोचना इस आधार पर की गयी है कि इनके अनुयाइयो ने विभिन्न संस्कृतियों के समान तत्वों को उनके संदर्भो से निकाल कर उन्हें अलग एक स्तर पर रक्खा। ऐसा करना अप्रशंसनीय है क्योंकि, जैसा पहले कहा जा चुका है किसी भी संस्कृति-तत्व का वास्तविक महत्व और स्वरूप उसके संदर्भ में है। अपने संदर्भ से अलग संस्कृति तत्व वस्तुतः उस पुरजे के समान है जिसे मशीन से अलग कर दिया गया हो।

अमरीकी प्रसरणवादियों ने प्रसरण के सिद्धान्त को मानते हुए इस बात पर जोर दिया कि केवल संस्कृति साम्य ही प्रसरण का प्रतीक नहीं हैं। प्रसरण को निर्धारित करने के लिए यथेष्ट प्रमाणों की आवश्यकता है और वे प्रमाण तभी निर्धारित किये जा सकते है जब संस्कृति, उसके तत्वों और तत्व संकुलों के भौगोलिक प्रसरण का निरीक्षण करके, प्रसरण क्षेत्र को निर्धारित किया जाय। किसी भी संस्कृति विशेष का भौगोलिक प्रसार क्षेत्र, उसका संस्कृति क्षेत्र है। जिस स्थान अथवा क्षेत्र में उस संस्कृति के प्रमुख तत्वों या तत्व संकुलों का सबसे अधिक केन्द्रीकरण होता है वह उसका भौगोलिक संस्कृति केन्द्र (Geographical Culture Centre) है। केन्द्र की अपेक्षा परिधि पर तत्वों या तत्व संकुलों का केन्द्रीकरण अपेक्षाकृत कम हो जाता है और वहां सजातीयता की अपेक्षा विजातीयता अधिक पायी जाती है। प्रत्येक संस्कृति क्षेत्र की परिधि किसी दूसरे संस्कृति क्षेत्र से मिलती है, इस कारण संस्कृति क्षेत्र की परिधियों की सीमा में मिश्रित संस्कृतियां पनपा करती हैं। इस प्रकार संस्कृति क्षेत्र की धारणा, एक ओर संस्कृति विशेष के अध्ययन का उपकरण है तो, दूसरी ओर विभिन्न संस्कृतियों के वर्गीकरण का एक प्रयास है—वह प्रयास जिसकी सफलता ध्यानाकर्षक होने के साथ साथ सन्देहास्पद रही है।

इस धारणा का जन्म और पालन पोषण अमरीका के उन संग्रहालयों में हुआ था जहां अमरीकी आदिवासियों के सांस्कृतिक उपकरणों का वर्गीकृत करके उनके भौगोलिक प्रसरण के दिग्दर्शन की समस्या का हल ढूंढना था। इस धारणा के सम्बन्ध में कई शंकायें की गयी है जिनका समाधान नहीं हो पाया है। प्रथम, संस्कृति तत्व या तत्व-संकुल समानरूप से चारों ओर प्रसरित नहीं होते हैं, अतएव, संस्कृति क्षेत्र की धारणा ही अनुपयुक्त लगती है। दूसरे, यह भी निर्धारित करना कठिन है कि किसी भी संस्कृति का प्रमुख तत्व या तत्व-संकुल क्या है? यदि उनका निर्धारण हो भी जाय तो यह निश्चित करना कठिन हो जायगा कि किन तत्वों या तत्व संकुलो के आधार

पर, क्षेत्र का निर्धारण किया जाय। इसी कारण, अमरीका में, विशेषतः वहां के आदिवासी-क्षेत्रों में, संस्कृति शब्दों की संख्या पर मतैक्य नहीं पाया जाता है। मिश्रित तत्व संकुल वर्गीकरण की वह जटिल समस्यायें उत्पन्न करते हैं जिनका हल ढूंढना मुश्किल हो जाता है। तीसरे इस धारणा में यह मान लिया गया है कि संस्कृति-तत्वों या तत्व संकुलों से किसी भी संस्कृति को समझा जा सकता है। इस धारणा के आधार पर अमरीका में जितने भी अध्ययन हुए हैं उनमें किसी भी संस्कृति का वर्णन करने के लिए केवल उस संस्कृति के तत्वों की तालिका बनाने पर ही ध्यान दिया गया है। पर, कोई भी संस्कृति अपने तत्वों की तालिकामात्र ही नहीं है और न वह उसका योग है। किसी भी संस्कृति की आत्मा अपने तत्वों के पारस्परिक सामंजस्य में समायी रहती है न कि उनकी तालिका में[1]।

संस्कृति क्षेत्र की धारणा का जन्म संग्रहालयों में हुआ था और वहीं इसका सबसे अधिक प्रयोग भी किया गया है। सैद्धान्तिक स्तर पर इस धारणा के कुछ योगदान हैं जिनसे संस्कृति को समझने में सहायता मिली है और जिनके कारण संस्कृति का एक धारणात्मक उपकरण (Conceptual Tool) बनाने की दिशा में प्रयास हुए हैं और हो रहे हैं। प्रथम संस्कृति क्षेत्र एक आनुभविक वास्तविकता है जिसका निर्धारण किया जा सकता है यद्यपि उसके निर्धारण में मतैक्य लाना बड़ा मुश्किल है क्योंकि संस्कृति क्षेत्र के निर्धारण के आधार एक नहीं अनेक हो सकते हैं। इस विषय पर, अमरीकी मानवशास्त्रियों के वाद विवाद इसके ज्वलन्त उदाहरण हैं। भारत में भाषा के आधार पर संस्कृति क्षेत्रों को निर्धारित करने का प्रयत्न किया गया है पर यह निर्धारण न तो पूर्ण है और न अंतिम। भाषा या बोली के आधार पर नए प्रान्तों की मांग इस बात का प्रमाण है कि यह निर्धारण पूर्ण नहीं है। यदि मकान बनाने विधि या वैवाहिक रीतियों के आधार पर संस्कृति क्षेत्र बनाए जाय तो वे वर्तमान भाषावार प्रान्तों से भिन्न होंगे। अतः संस्कृति क्षेत्र एक ऐसी धारणा है जिसको कई पहलुओं से देखा जा सकता है और आवश्यकतानुसार इसका प्रयोग किया जा सकता है। दूसरे, संस्कृति क्षेत्र की धारणा के प्रमुख आधार संस्कृति तत्व (Culture Traits) अथवा तत्व-संकुल (Trait Complex) की धारणाओं का संस्कृति क्षेत्र की धारणा की अपेक्षा अधिक प्रयोग किया गया है और आज भी किया जा रहा है।

संस्कृति तत्व (Culture Trait) संस्कृति के वे अंग उपादान या उपकरण हैं, जिनसे मिलकर संस्कृति बनती है, जो संस्कृति की अधिकतम छोटी इकाई होते हैं जो पार्थिव भी होते हैं और अपार्थिव भी और, जिन्हें संस्कृति विश्लेषण के लिए अलग प्रयोग किया जा सकता है ? पर यहां प्रश्न उठता है कि संस्कृति की अधिकतम छोटी इकाई है क्या ? उदाहरण के लिए खान का कमरा मकान की इकाई है। पर

[1] हर्सकोविट्स, एम॰ जे॰ मैन एण्ड हिज वर्क्स अध्याय 11

मज कुर्मी जउमारी उसकी अउग अल्ग इकाइयाँ है जिनको अधिकतम उाटी इकाई नही कहा जा सकता है क्योकि उनम अपनी स्वय की इकान्या विद्यमान है। अत, सस्कृति तत्व का निर्धारण अध्ययनकर्त्ता उसकी समस्या और दृष्टिकोण पर निभर है। पार्थिव तत्वा का निर्धारण और निरूपण अपार्थिव तत्वा की अपक्षा अधिक सरल है, जिसके कारण तत्व निर्धारण की कठिनाई और भी बढ जाती है क्योकि पार्थिव और अपार्थिव एक दूा म मिल रहते है। तीसर जसाकि खान के कमरे के उदाहरण स स्पष्ट है सस्कृति के तत्व (Traits) का अयपूर्ण अस्तित्व अन्य तत्वो के ससग म ही होता है। ऐसे ही तत्व ससर्गो से जा इकाइया बनती हैं उन्हे तत्व सकुल (Trait Complex) कहा जाता है। मकान विवाह पूजा पद्धतिया तत्व सकुल है। प्रत्येक सस्कृति कई तत्व सकुलो स बना हुआ एक विशिष्ट सकुल है, जिसे सस्कृति सकुल (Culture Complex) का धारणा से व्यक्त किया जाता है। चौथे सकुल, तत्वा स बना योग मात्र नही है। सकुल वस्तुत वह सामजस्ययुक्त प्रणाली है जो तत्वो के बीच म पाई जाती है। प्रसरण होता अवश्य है पर वास्तविक प्रसरण वही है जहा बाहर स लिया हुआ तत्व आत्मसात कर लिया जाता है। वास्तव म सकुल बनता तभी है जब कई तत्व एक प्रणाली मे एकाकार हो जाते है। भारत की हिंदू-पूजा पद्धति म आगम निगम और आर्यो की हवन तथा द्राविडो की पुष्पार्पण पद्धतियो का एक प्रणाली म एकीकृत होना इसका उदाहरण है। यही एकीकरण की प्रवृत्ति क्रोबर की मान्यता म सस्कृति का आन्तरिक बहाव (Inherent Drift of Culture) है और कूल (Cooley) की मान्यता म सस्कृतिगत समनुगति की प्रवत्ति (Strain of Coherency) है जिसके कारण सस्कृति म एकात्मकता बनी रहती है। प्रत्येक सस्कृति बाह्य तत्वो को आत्मसात कर लेती है और अपने सभी तत्वा का एक म पिरोए रहती है। इसी प्रवाह म सस्कृति की आत्मा है और इसी मे सस्कृति की एकीकरण (Integration) की प्रवत्ति।

अत सस्कृति की वास्तविकता एक सुगठित व्यवहार इकाई की सामाजिक वास्तविकता है जा जटिल है जिसके तत्वो म अपनी निजी प्रणाली, तारतम्य प्रवत्ति या प्रवाह पाया जाता है जा मानव व्यवहार को परिवष्टित किए रहती है जो अपना काय भी है और कारण भी, जो परम्परागत है तथा व्यक्ति और समष्टि दोना को अपन म समेट हुए है जिसकी उत्पत्ति अशत दैहिक, अशत मानसिक और अशत पर्यावरिक (Environmental) कारको से हुई है और जिसका अस्तित्व और स्थायित्व एक ओर भौगोलिक है तो दूसरी ओर, कालगत (Temporal) और ऐतिहासिक। जिन मानवशास्त्रिया पर मनोविज्ञान का प्रबल प्रभाव है या रहा है उन्होन इस इकाई की वास्तविकता को मुख्यत मानसिक (Psychical) माना है और इस बात पर जोर दिया है कि सस्कृति का स्वरूप प्रधानत व्यक्ति म है तथा उसम जा समष्टिकारी तत्व पाए जाते हैं वे व्यक्ति

सस्कृति-कलाप

न परे संस्कृति की स्वतन्त्र सत्ता के द्योतक नहीं हैं वरन समान पर्यावरण, अनुभूति, समाजीकरण, संस्थाओं, अर्हाओं (Values) और आदर्शों (Ideals) के व्यक्ति पर प्रभाव की उत्पत्ति हैं। इसी दृष्टिकोण से संस्कृति की परिभाषा करते हुए रुथ बेनेडिक्ट (Ruth Benedict) ने कहा है कि संस्कृति वस्तुतः उसी प्रकार एक इकाई है जिस प्रकार व्यक्ति। एक संस्कृति एक व्यक्ति की भाँति विचारों और क्रियाओं का लगभग एक संगत कलाप (More or less a consistent pattern of thought and action) होती है। प्रत्येक संस्कृति में कुछ विशिष्ट उद्देश्य (Characteristic Purposes) उत्पन्न हो जाते हैं जिनके सामंजस्ययुक्त, स्थायी एकीकरण से संगत कलाप (Consistent Pattern) उत्पन्न होता है। इन्हीं उद्देश्यों के अनुसार प्रत्येक संस्कृति के अनुवाहक अपनी अनुभूति का निरन्तर संचित एवं समेकित किया करते हैं और इन्हीं उद्देश्यों की आवश्यकताओं के अनुपात में प्रत्येक संस्कृति में बाहर से आए हुए तत्व निरन्तर अधिकाधिक अनुरूप आकार (Congruous Shape) ग्रहण किया करते हैं। प्रत्येक संस्कृति के विशिष्ट उद्देश्यों से मिलकर उस संस्कृति के सदस्यों में, एक प्रधान मनोवृत्ति (Dominant Attitude) बनती है जो उस एकीकरण, विशिष्टता और नरन्तर्य प्रदान करती है। इसी प्रधान मनोवृत्ति को, किन्हीं किन्हीं मानवशास्त्रियों ने अर्हा (Value) और किसी ने आन्तरिक प्रवृत्ति (Ethos) कहा है।

इसमें कोई सन्देह नहीं कि प्रत्येक संस्कृति में अपना एक प्रवाह होता है। यह प्रवाह अनुभवगम्य है। पर, इस प्रवाह का कैसे वर्णन किया जाय और संसार की विभिन्न संस्कृतियों में पाए जाने वाले प्रवाहों में पायी जाने वाली समानताओं तथा असमानताओं को किस प्रकार वर्गीकृत किया जाय और उन्हें किस भाषा में व्यक्त किया जाए, यह एक जटिल समस्या रही है और आज भी है। उदाहरण के लिए, यदि यह कहा जाय कि मनमौजी (Happy go Lucky) मनोवृत्ति किसी संस्कृति के लोगों की प्रधान मनोवृत्ति है तो सबसे बड़ा प्रश्न यह उठता है कि यह मनोवृत्ति है क्या? और, क्या इसकी कोई सर्वमान्य परिभाषा हो सकती है। रुथ बेनेडिक्ट और मारग्रेट मीड जैसे मानवशास्त्रियों की जो आलोचना हुयी है, उसके आधार पर तो यही कहा जा सकता है कि नहीं। वास्तव में समाजशास्त्र, मानवशास्त्र और मनोविज्ञान में जिन पारिभाषिक शब्दों का प्रयोग होता है वे इतने गुणात्मक हैं कि अलग-अलग संस्कृतियों के सन्दर्भ में उनके अलग अलग अर्थ होते हैं, जिसके कारण उनकी सर्वमान्य परिभाषा नहीं हो पाती है। और फिर, एक यह प्रश्न भी है कि क्या निरीक्षण और अनुभव के आधार पर किसी संस्कृति विशेष की प्रधान मनोवृत्ति को निर्धारित किया जा सकता है? इसका उत्तर 'हाँ' में भी दिया जा सकता है और 'ना' में भी। 'हाँ' में इसलिए कि कई अध्ययन इस प्रकार किए गए हैं और किए जा रहे हैं और 'ना' इसलिए कि एक ओर इस प्रकार के अध्ययन और निर्धारण में अध्ययनकर्ता की मनोवृत्ति का प्रभाव रहता है और दूसरी ओर दो अध्ययनकर्ता एक

ही निष्कर्ष पर नहीं पहुंच पाते हैं। इसी कारण यह कहा गया है कि संस्कृति की मनतमुखी प्रवृत्ति वस्तुतः बीजगणित में प्रयोग होने वाले एक्स (X) या अ' के समान है जिसका आवश्यकतानुसार अलग अलग मूल्य निकाला जा सकता है। किन्तु, इन सभी कठिनाइयों और आलोचनाओं में यह सिद्ध नहीं होता है कि प्रत्येक संस्कृति विशेष में अपनी निजी प्रवृत्ति और प्रवाह नहीं पाए जाते हैं। हां यह अवश्य है कि उनके वर्णन और विश्लेषण के उपकरण उतने उपयुक्त और प्रभावपूर्ण नहीं हैं जितना कि उन्हें होना चाहिए। वर्तमान समय में अर्हताओं (Values) राष्ट्रीय चरित्र (National Character) और संस्कृति में व्यक्तित्व (Personality in Culture) सम्बन्धी होने वाले अध्ययन इसी वास्तविकता को स्पष्ट करने की दिशा में किए जाने वाले प्रयास हैं।

संस्कृति एकीकरण

बेनेडिक्ट के अनुसार संस्कृति में एकीकरण (Integration) उसके विशिष्ट उद्देश्यों और उनसे उत्पन्न प्रधान मनोवृत्ति से उत्पन्न होता है। किन्तु आज यह मान्यता त्याग दी गयी है क्योंकि प्रधान मनोवृत्ति का पाया जाना यह सिद्ध नहीं करता है कि गौण मनोवृत्ति या मनोवृत्तियाँ या तो अनुपस्थित रहती हैं या उनका प्रभाव नहीं के बराबर होता है। संस्कृति एक जटिल इकाई है। उसका एकीकरण, वस्तुतः एक साथ पाई जाने वाली कई मनोवृत्तियों के घात प्रतिघात और सामंजस्य का परिणाम है। मुख्य आपत्ति 'प्रधान' शब्द के प्रयोग से है (क्योंकि प्रधान न तो निरपेक्ष है और न शाश्वत) और इस मान्यता से है कि एक संस्कृति में एक ही प्रधान मनोवृत्ति पायी जाती है। इसी कारण विद्वानों ने कलाप (Pattern) की धारणा और संज्ञा के प्रयोग पर भी आपत्ति प्रगट की है। क्लूखान ने संस्कृति के बाह्य (Overt) और आन्तरिक (Covert) दो पहलू माने हैं और इस बात पर जोर दिया है कि कलाप (Pattern) की धारणा को बाह्य पहलू या पक्ष पर लागू करना चाहिए क्योंकि इस पक्ष में कलाप स्पष्ट होते हैं। उनका और क्रोबर का यह भी कहना है कि कलाप एक नहीं कई हो सकते हैं और दोनों ने उनके रूप प्रकार और संख्याओं को अलग अलग निर्धारित किया है[1] जो इस बात का प्रतीक है कि कलापों का निर्धारण, संस्कृति की जटिलता और गुणात्मकता के कारण एक समाधान रहित समस्या है।

आपलर (Oppler) ने यह दिखाने का प्रयत्न किया है कि संस्कृति एकीकरण (Integration of Culture) निरपेक्ष न होकर सापेक्ष ... किसी भी एकीकरण पूर्ण नहीं है। विभिन्न संस्कृतियों की एकी... है। ऐसी दशा में प्रधान मनोवृत्ति की धारणा ... सकती है विशेषतः भारत जैसी उन संस्कृ...

1 क्रोबर, ए० एल० एन्थ्रापालोजी

में अनेक सांस्कृतिक धाराओं को आत्मसात करने का प्रयत्न किया है। ओपलर का कथन तर्कसंगत है क्योंकि प्रत्येक संस्कृति में, एक सीमा तक, व्यावहारिक विचरणशीलता (Behavioural Variation) स्वीकृत है। उदाहरणार्थ भारत के शिक्षालयों में जब अध्यापक कक्षा में प्रवेश करता है तब विद्यार्थी अपने अपने स्थान पर उठकर उसका स्वागत और उसके प्रति आदर प्रगट करते हैं। यह एक सांस्कृतिक प्रथा है। किन्तु, वास्तविक व्यवहार में कुछ विद्यार्थी सीधे खड़े हो जाते हैं कुछ थोड़ा उठकर फौरन बैठ जाते हैं, कुछ खड़े होने का संकेतमात्र करते हैं और बैठे ही रहते हैं। इसी प्रकार, प्रत्येक हिन्दू के लिए विवाह आवश्यक है लेकिन अविवाहित रहने वाले को समाज से निकाला नहीं किया जाता है। विवाह सम्पन्न करने के लिए कोई भी हिन्दू चाहे तो वह आर्यसमाजी पद्धति को अपना सकता है, या सनातनी पद्धति को या उस कानूनी पद्धति को जिसको हिन्दू मैरिज एक्ट और स्पेशल मैरिज एक्ट जैसे अधिनियमों द्वारा मान्यता प्रदान की गयी है। इससे यह स्पष्ट हो जाता है कि सांस्कृतिक व्यवहार और मर्यादाओं में एक सीमा तक विचलन (Deviation) मान्य रहता है। विचलन तथा विचरण की प्रवृत्ति और प्रधान मनोवृत्ति, तर्क के दृष्टिकोण से, परस्पर विरोधी हैं और एक की मान्यता दूसरे को स्वतः समाप्त कर देती है। इसी कारण, संस्कृति के एकीकरण को स्पष्ट करने के लिए प्रधान मनोवृत्ति का सिद्धांत कमजोर पड़ता है।

इसी कठिनाई को दूर करने के लिए लिंटन (Linton) ने संस्कृति के तत्वों को तीन श्रेणियों में बाँटा है—प्रथम सर्वव्यापी (Universalities) जिनमें विचरण और विचलन अमान्य रहता है दूसरे वैकल्पिक (Alternatives) जिनमें वैकल्पिक विचरण और विचलन मान्य होता है, जैसे हिन्दुओं में अपनायी जाने वाली विवाह-पद्धतियाँ और, तीसरे विशेष (Specialities) जो विशेष पदों (Statuses) और उनसे सम्बन्धित भूमिकाओं (Roles) से सम्बन्धित रहते हैं जैसे डाक्टरों, वकीलों, अध्यापकों, राजनीतिज्ञों और व्यापारियों के पदों और भूमिकाओं से सम्बन्धित आदर्श और मर्यादायें[1]। लिंटन की इस मान्यता से यह सिद्ध होता है कि एकीकरण इन्हीं विभिन्न तत्वों के बीच में पाये जाने वाले सामंजस्य की मात्रा में निहित होता है। इसी दृष्टिकोण से, ओपलर (Oppler) ने यह प्रतिपादित किया है कि एकीकरण किसी एक प्रेरक प्रवृत्ति से उत्पन्न न होकर कई प्रेरक प्रवृत्तियों के घात प्रतिघात और सामंजस्य में उत्पन्न एक संतुलन है। प्रेरक प्रवृत्तियों को ओपलर ने थीम (Theme) की संज्ञा दी है। संस्कृति का स्वरूप और आत्मा इन्हीं प्रेरक प्रवृत्तियों के परस्पर सम्बन्धों में निहित रहता है। किन्तु इन प्रेरक प्रवृत्तियों का निर्धारण उतना ही दुष्कर है जितना कि कलाप अथवा कालापों का निर्धारण। आज, एक ओर, फ्रायड के

1 लिंटन, राल्फ दि कल्चरल बैकग्राउण्ड आफ पर्सनालिटी

मनोविश्लेषण के सिद्धान्तो से प्रभावित मानवशास्त्री बाल्यकाल में अर्जित तथा संचित प्रतिक्रियाओं के अन्तराल में छिपे केन्द्र बिन्दुओं में संस्कृति की प्रेरक प्रवृत्तियों को ढूढ़ने का प्रयत्न करते है और दूसरी ओर उपयोगितावादी विचारधारा से प्रभावित समाजशास्त्री और मानवशास्त्री संस्कृति की सामाजिक संरचना की कार्यात्मकता में प्रेरक उद्देश्य ढूढने में प्रयत्नशील हैं। एकीकरण, प्रेरक प्रवृत्ति और आन्तरिक प्रवाह जैसी धारणायें संस्कृति की मानसिक जटिलता की द्योतक हैं। वे मानव अनुभूति से परे नही हैं। पर उनका सादृश्य निर्धारण और वर्णन वह समस्या है जिसका हल मानवशास्त्र और समाजशास्त्र में नहीं मिल पाया है यद्यपि इन दोनो शास्त्रों के प्रतिष्ठापायक इस दशा में प्रयत्नशील है।

यहाँ तक प्रस्तुत विचार विमर्श से यह स्पष्ट है कि संस्कृति को स्पष्ट और परिभाषित करने के लिए न तो मतैक्य हुआ है और न सम्भवत होगा।

संस्कृति के लक्षण संस्कृति पर लोगो ने अनेक पहलुओं से विचार किया है। संस्कृति के जितने आनुभूतिक पहलू है, उन पहलुओं पर आधारित मतों में सार है और उन्हे सहसा अस्वीकार नहीं किया जा सकता है। इनमे से कोई मत तब सारहीन प्रतीत होता है जब अन्य पहलुओं को गौण मानकर किसी पहलू विशेष को ही महत्त्वपूर्ण मान लिया जाता है और उसी के आधार पर कोई मत प्रतिपादित किया जाता है। संस्कृति विषयक मतमतान्तर और विचार विमर्श से संस्कृति के कुछ सार्वभौतिक और सवमान्य लक्षण (Attributes) निर्धारित हो गये है जो संस्कृति को स्पष्ट करने का एक अच्छा माध्यम है। ये लक्षण इस प्रकार है —1 संस्कृति वह व्यवहार है जो मनुष्य समाज से सीखता है। किन्तु संस्कृति को न तो आदतों अथवा अभ्यासों (Habits) का योग कहा जा सकता है और न समस्याओं के सुलझाने का कोई एक परम्परागत तरीका। यह भी नही कहा जा सकता है कि संस्कृति की उत्पत्ति व्यक्ति के नराश्य में ही होती है क्योंकि संस्कृति में नराश्यकारी तथा तुष्टिकारी दोनो तत्व विद्यमान हैं, 2 संस्कृति समाज का एक पहलू है। इसी में संस्कृति की सामाजिक विशेषता का जन्म होता है। आंगिक उदविकास की प्रक्रिया और मानवेतर प्राणियों मे समाज के पाये जाने के आधार पर यह कहा जा सकता है कि समाज का अवतरण संस्कृति से पहले हुआ है। किन्तु मानवी उद्विकास के संदर्भ मे यह कहना कठिन है कि संस्कृति प्राथमिक है या समाज। हाँ, यह अवश्य है कि समूहों के ही माध्यम से संस्कृति चलती है और उसमे समाज को अपनाने एकीकरण की प्रवृत्ति अधिक होती है। समाज के आधार और संस्कृति के स्वरूप में कोई कारक सम्बन्ध नही है, 3 संस्कृति संक्राम्य (Transmissible) होती है और इसी कारण उसमें ऐतिहासिकता आती है[1], 4 संस्कृति वस्तुत एक आदर्श है जो सर्वथ अप्राप्य रहता है

1 यहाँ पर यह स्पष्ट करना आवश्यक है कि इतिहासज्ञों और समाजशास्त्रियों

यद्यपि उसमें मानव का भाग दर्शन अवश्य होता है, ५ संस्कृति से, जैसा कि मलिनॉस्की ने प्रतिपादित किया है, मानव आवश्यकताओं की पूर्ति होती है, ६ संस्कृति में अनुकूलन की क्षमता होती है और, जैसा कि पहले कहा जा चुका है, संस्कृति में एकीकरण की प्रवृत्ति होती है जिससे संस्कृति में एकात्मकता और एकत्व विशिष्टता आती है।

हर्सकोविट्स (Herskovits) ने संस्कृति के कुछ विरोधाभासी (Paradoxical) लक्षणों का वर्णन किया है। प्रथम, संस्कृति मानव जीवन का निर्धारण करती है, किन्तु मानव के सजग विचारों में उसका विरला ही प्रवेश होता है क्योंकि संस्कृति व्यक्ति में भी है और व्यक्ति से परे भी। दूसरे, संस्कृति स्थायी भी है और गत्यात्मक भी। निरन्तर परिवर्तन में स्थायित्व बनाये रखना संस्कृति की विशेषता है। तीसरे, एक ओर संस्कृति सर्वकालीन तथा सार्वभौमिक है तो, दूसरी ओर उसके राष्ट्रीय, क्षेत्रीय और स्थानीय रूप भी पाये जाते हैं। दूसरे शब्दों में कहा जा सकता है कि संस्कृति सामान्य भी है और विशेष भी। मानव-जीवन की सामान्य, सार्वभौमिक आवश्यकतायें ही संस्कृति की सामान्यता और सार्वभौमिकता को जन्म देती हैं। परिवार, विवाह, आर्थिक तथा राजनैतिक संस्थायें, भाषा, कला और मनोविनोद, धर्म, सामाजिक ज्ञान और प्रौद्योगिकी संस्कृति के सामान्य आधार हैं और सर्वत्र पाये जाते हैं। ये सामान्य आधार मानव-जीवन की सामान्य आधारभूत आवश्यकताओं से सम्बन्धित हैं। संस्कृति की विचरणशीलता में ही विशेष संस्कृतियों का प्रादुर्भाव होता है। विचरणशीलता के कारक हैं भौगोलिक परिस्थितियाँ, प्रौद्योगिक विकास के असमान स्तर, विभिन्न संस्कृतियों के अलग-अलग आन्तरिक प्रवाह और ऐतिहासिक परिस्थितियाँ तथा घटनायें। भारत का इस्लामी राजनैतिक प्रभुत्व में आना वह परिस्थिति है, जिसके कारण भारत में हिन्दू-संस्कृति के स्थान पर भारतीय संस्कृति का अभ्युदय हुआ। यदि सन् सत्रह सौ तिरेसठ ईसवी में फ्रांस इंग्लैंड से हार न जाता और उसके फलस्वरूप भारत इंग्लैंड के राजनैतिक प्रभुत्व में न आता तो सम्भवतः वर्तमान भारत की सांस्कृतिक धारा किसी अन्य दिशा की ओर प्रवाहित होती।

एक धारणा के रूप में, संस्कृति का प्रयोग चार सन्दर्भों में किया जा सकता है—(अ) किसी भी समय विशेष में सम्पूर्ण मानवमात्र के जीवनयापन के तरीकों (Ways of Living) और आकल्पनाओं (Designs) की सम्पूर्णता के लिये। यही सम्पूर्णता सामान्य संस्कृति (The Culture) का आधार है। (ब) उन कई समाजों के जन समूह के सदस्यों के व्यवहार में निहित जीवन-यापन के तरीकों के लिए जिनके व्यवहारों में, कम या अधिक मात्रा में, एकीकरण पाया जाता हो जैसे अरबों इस्लामी

तथा मानवशास्त्रियों के मतों में अन्तर है। इतिहासज्ञों के अनुसार संस्कृति मानव की सिद्धियों का अभिलेख है। इस मान्यता में प्रगति अथवा अवनति का भाव निहित है जो मानवशास्त्रियों को अमान्य है।

संस्कृति। इसी धारणा के सन्दभ में उपसंस्कृति (Sub Culture) या उपसंस्कृतियों (Sub Cultures) और संस्कृतिविशेष (A Culture) जैसी धारणाओं का प्रयोग होता है। (स) किसी समाजविशेष के विशिष्ट व्यवहार कलाप (Pattern of behaviour peculiar to a given society) के लिये, जैसे भारतीय संस्कृति या अमरीकी संस्कृति। (द) एक बड़े जटिल और विजातीय समाज के विभिन्न समूहों के अलग अलग जीवन यापन के तरीकों के लिये जिसका उदाहरण है भारत के विभिन्न भाषा क्षेत्रों में फैली हुई संस्कृतियाँ।

२

संस्कृति प्रक्रियाएँ (Culture Processes)

संस्कृति को चाहे जिस रूप या स्तर में देखा जाय इस तथ्य को अस्वीकार नहीं किया जा सकता कि संस्कृति एक प्रवाहशील प्रक्रिया है। संस्कृति प्रक्रिया के दो मुख्य पहलू हैं—एक परिरक्षण (Preservation) या स्थायित्व (Stabilization) और दूसरा, वृद्धि (Growth) तथा परिवर्तन (Change)। संस्कृति परिरक्षण प्रक्रिया के मुख्य आधार हैं अभ्यासीकरण (Habituation) अर्थात अभ्यास या आदत का बनना[1] संस्कृति के सिद्धान्तों के अनुसार शिक्षा दीक्षा (Indoctrination & Education) और सातत्य (Continuance) की समान भावना। वास्तव में, व्यक्ति संस्कृति में ही जन्म लेता है। संस्कृति व्यक्ति से पहले ही विद्यमान होती है और इसी कारण, व्यक्ति संस्कृति का संवहक बन जाता है यद्यपि इसका यह तात्पर्य नहीं कि व्यक्ति के समक्ष, एक समष्टिकारी प्रमेय के रूप में, संस्कृति ही प्रधान है।

परिरक्षण स्थायित्व और विकास

---

1 जन्म के समय मानव शिशु की मांसपेशियों और नाड़ी संस्थान में न कोई संगठन होता है और न कोई सुगठित व्यवहार। शिशु न तो कहीं आँख ठहरा कर देख ही सकता है और न किसी विशेष कार्य में अपनी मांसपेशियों का प्रयोग ही कर सकता है। यहाँ तक मल मूत्र को निकालने वाली मांसपेशियों पर भी उसका नियन्त्रण नहीं रहता है। अभ्यास के द्वारा ही धीरे धीरे व्यक्ति को मांसपेशियों पर नियन्त्रण मिलता है और अभ्यास संस्कृति के प्रभाव के अनुसार होता है। उदाहरणार्थ, एक ओर शरीर विकास के दौरान में शिशु को मल मूत्र त्यागने वाले स्नायुओं पर नियन्त्रण मिलता है तो दूसरी ओर, अभ्यास द्वारा उसे यह सीखना पड़ता है कि कहाँ, किस प्रकार मल मूत्र का त्याग किया जाये।

व्यक्ति संस्कृति से है और संस्कृति व्यक्ति से, लेकिन प्रतीकात्मक होने के कारण तथा मानव अनुभव में निहित होने के कारण, संस्कृति एक कालगत प्रवाह बन जाती है जबकि व्यक्ति आते जाते रहते हैं। सीखने (Learning) की क्षमता के ही कारण व्यक्ति संस्कृति को अपना कर, संस्कृति-संवहक बनता है और, इसी कारण, संस्कृति-परिरक्षण में वह सामाजिक मनोवैज्ञानिक प्रक्रिया प्रधान बन जाती है जिसे समाज मनोवैज्ञानिकों ने अनुकरण (Imitation) कहा है और जो मानव के सीखने में एक महत्वपूर्ण तथ्य है।

परिरक्षण स्थायित्व और सातत्य के कारण ही संस्कृति एक संचयी प्रक्रिया (Cumulative Process) बन जाती है जिसमें से संस्कृति का ऐतिहासोन्मुख उर्ध्वविकासी रूप उभरता है जिसका विश्लेषण आगे किया जायेगा। परिरक्षण के ही दृष्टिकोण से संस्कृति का वह प्रक्रिया कहा जा सकता है जो निरन्तर वृद्धि (Growth) की ओर उन्मुख रहता है। इस दृष्टिकोण से, यह भी कहा जा सकता है कि संस्कृति विशेषत, संस्कृति विशेष का विघ्न स्खलन हो सकता है किन्तु संस्कृति हानि (Cultural Loss) या संस्कृति निष्प्राणता (Cultural Death) नहीं होती है। मानव संस्कृति अजर और अमर है क्योंकि संस्कृति विशेष के विघ्न स्खलित होने पर, उसके तत्व प्रसरित होकर, सम्पूर्ण मानव संस्कृति के अन्य तत्वों में मिल जाते हैं या अन्य तत्वों को हटा देते हैं या उनका स्थान ले लेते हैं। उदाहरण के लिए हड़प्पा और मोहनजोदड़ो की संस्कृति आज समाप्त हो चुकी है लेकिन उसके अनेक तत्व भारतीय संस्कृति में विद्यमान हैं और भारतीय संस्कृति मानव संस्कृति का एक विशेष रूप है। इसलिए क्रोबर ने कहा है कि संस्कृति कभी भी निष्प्राण नहीं होती है।

वृद्धि संस्कृति की एक वैसे ही स्वाभाविक प्रक्रिया है जैसे परिरक्षण। उपजायें (Inventions) इसका उदाहरण है। यह सही है कि आवश्यकता (Necessity), खेल (Play)[1] और आकस्मिक घटनायें (Accidents)[2] उपजाओं को जन्म देती रही है किन्तु वास्तव में उपजाओं को जन्म देने वाली हैं संस्कृति विकास से उत्पन्न होने वाली परिस्थितियाँ जिनके कारण उपजा का जन्म सम्भव होता है। प्रत्येक उपजा के पीछे एक क्रमिक विकास प्रक्रिया चला करती है, वैसे ही जैसे पानी के उबलने के पीछे एक प्रक्रिया चलती रहती है। हम उपजा के प्रति वैसे ही अवगत होते हैं जैसे चाय के लिये उबलते वाले पानी के प्रति। किन्तु पानी तभी उबलता है जब पानी में गर्मी पहुँचाने वाली प्रक्रिया एक अवस्था विशेष में पहुँच जाती है। इसी कारण, एक उपजा का दूसरे से सम्बद्ध है। शीशा बनाने की कला के विकास से

---

1 साइकिल, मोटर और हवाई जहाज की उपजायें मनोविनोद और खेल की मनोवृत्ति के कारण हुई हैं।

2 पनीसिलीन की उपजा घटनावश हुई थी।

दूरबीन बनी और उससे खगोल विज्ञान (Astronomy) का विकास हुआ। माइक्रास्कोप के बनने से औषधिशास्त्र का विकास हुआ। न्यूटन के सिद्धान्तों ने आइंस्टीन के सिद्धान्तो की आधारशिला रक्खी। अनुकूल परिस्थितियों में ही आविष्कारक आविष्कार करता है। बिना अनुकूल परिस्थितियो के आविष्कार स्वीकार ही नहीं होता है। यह जानते हुये भी कि बालू से चांदी निकल सकती है उसके लिये प्रयास नहीं किया जाता है क्योंकि आर्थिक दृष्टिकोण से यह लाभदायक नहीं है। उपजायें, वास्तव में संस्कृति की सचयी प्रक्रिया से उत्पन्न होती हैं और, इसीकारण कई उपजायें समानान्तर विकास के रूप में एक साथ अलग अलग स्थानो या व्यक्तियो मे अवतरित होती हैं। मारकोनी और जगदीश चन्द्र बसु ने एक साथ बेतार के तार के विचार पर काय करना प्रारम्भ किया था। प्रत्येक उपज्ञा के पीछे उसकी विकास कहानी रहती है जो इस बात का प्रमाण है कि उपज्ञा एक सतत विकास का परिणाम है और उसका सम्बन्ध संस्कृति-वृद्धि से है।

संस्कृति परिवर्तन

इसका यह तात्पय नहीं है कि संस्कृति केवल एक सचयी प्रक्रिया है और उसमे परिवतन होते ही नहीं हैं। संस्कृति मे, एक ओर, सचयी वृद्धि प्रक्रिया चला करती है और दूसरी ओर, परिवतन प्रक्रिया। परिवतन प्रक्रिया के कारक तथ्यो को ओबर ने दो श्रेणियो मे रक्खा है—एक बाह्य और दूसरी आन्तरिक[1]। आन्तरिक तथ्यों से उत्पन्न होने वाले संस्कृति परिवतन मुख्यत तीन श्रेणियो में आते हैं। एक श्रेणी मे वे परिवतन आते है जो जीवन निर्वाह(Subsistence)—प्रौद्योगिक(Technological)—आर्थिक (Economic) स्तर में परिवतन होने के कारण होते हैं जसे कृषि के अनुसन्धान से जनसख्या तथा शहरीकरण का बढना। दूसरी श्रेणी मे वे परिवतन आते है जो जैवकीय मनोविनोदी आवेगो (Biological Play Impulses) के कारण होते हैं। खेल विज्ञान कला, फैशन मनोरजन और परिहास मे होने वाले परिवतन इसी श्रेणी म आते हैं। इसी श्रेणी म वे परिवतन भी आते हैं जो उस अवस्था मे होते हैं जब किसी संस्कृति तत्व से तग आकर लोग उसे बदल देते हैं। सन अठारह सौ उन्नीस म हवाई द्वीप के निवासियों का कुछ निषेधो से तग आकर उन्हे सहसा तोड़ना इसका एक उदाहरण है[2]। तीसरी श्रेणी म वे परिवतन आते हैं जो वृद्धि के कारण

---

1 क्रोबर ए० एल० एन्थ्रापालोजी पृष्ठ 386 421

2 जिन निषेधों को हवाई द्वीप के निवासियों ने तोडा था वे इस प्रकार हैं —
(अ) स्त्रियों का केला और नारियल खाने का निषेध, (ब) स्त्री पुरुषों का एक साथ बठकर खाने का निषेध, (स) सम्राट द्वारा किसी व्यक्ति को भूमि को न छूना और दूसरों के कंधों पर जाना क्योंकि सम्राट द्वारा छूने से भूमि सम्राट की हो जाती थी, (द) त्योहारों को घरों के अन्दर बठकर मनाना।

होते हैं। ऑबर्न ने इन्हें वृद्धि परिवर्तन कहा है। संगठित ऐतिहासिक मजहबों जैसे बुद्धवाद, इस्लाम और ईसाइयत, का विकास तथा प्रसार और उनसे होने वाले परिवर्तन तथा क्रान्तियों (Revolutions) से होनेवाले परिवर्तन इस श्रेणी में आते हैं।

संस्कृति परिरक्षण प्रक्रिया की गत्यात्मकता से उत्पन्न तनाव, संस्कृति परिवर्तन के आन्तरिक प्रतिकारकों (Factors) को जन्म देते हैं। यदि मानव-संस्कृति की सम्पूर्णता के सन्दर्भ में विचार किया जाय तो ऐसा प्रतीत होगा कि सभी परिवर्तन-प्रतिकारक और प्रक्रियायें (Factors and Processes of Change) आन्तरिक ही होते हैं। किन्तु जब हम विशेष संस्कृतियों के संदर्भ में विचार करते हैं तो हमें यह मिलता है कि एक संस्कृति-विशेष में अनेक ऐसी परिवर्तन प्रक्रियायें होती हैं जो बाह्य प्रतिकारकों (External Factors) से उत्पन्न होती हैं। बाह्य प्रतिकारक से तात्पर्य है उस प्रतिकारक से जो किसी संस्कृतिविशेष में बाहर से आया हो। भारत में आधुनिक प्रौद्योगिकी (Modern Technology) इसका उदाहरण है। बाह्य प्रतिकारकों (External Factors) के प्रभाव में उत्पन्न होने वाली प्रक्रियाओं को दो मुख्य श्रेणियों में रक्खा जाता है जिनमें से एक को प्रसरण की संज्ञा दी गई है और दूसरी को संस्कृतिकरण या एकल्चरेशन (Acculturation) की। यह पहले ही कहा जा चुका है कि प्रसरण एक सार्वभौमिक प्रक्रिया है। मानव इतिहास तथा मानव-संस्कृति के गठन में प्रसरण काफी महत्वपूर्ण रहा है। संस्कृतियाँ एक दूसरे से वैसे ही सांस्कृतिक तत्वों को लेती रही हैं जैसे व्यक्ति एक दूसरे से विचारों तथा व्यवहारों का ग्रहण करते रहते हैं। प्रसरण, वस्तुतः संस्कृति की स्वाभाविक विशेषता सी है यद्यपि यह नहीं माना जा सकता कि प्रसरण यन्त्रवत स्वचालित है क्योंकि प्रसरण, जैसा कि पहले कहा जा चुका है तब वास्तविक होता है जब एक संस्कृति का तत्व दूसरी संस्कृति में इस प्रकार स्वीकृत हो जाता है कि ग्रहण किया हुआ तत्व, ग्रहण करने वाली संस्कृति का अंग बन जाता है। इसी कारण, प्रसरण प्रक्रिया में मानव प्रतिकारक (Human Factor) महत्त्वपूर्ण हो जाता है।

प्रसरण से परिवर्तन

प्रसरण, संस्कृति-तत्व पर निर्भर न होकर मानव की सीखने की क्षमता पर निर्भर करता है। अतः, प्रसरण प्रक्रिया इसी कारण अस्तित्व में आती है कि मानव विभिन्न संस्कृतियों में विभाजित होते तथा अलग-अलग संस्कृतियों से प्रभावित होने पर भी, अलग अलग संस्कृतियों के तत्वों को उपयोग में लाने में सफल होता है। यूरोप में औद्योगिक क्रान्ति की जननी वैज्ञानिक प्रौद्योगिकी (Scientific Technology) का संसारव्यापी प्रसार इसका उदाहरण है। प्रसरण में मानव प्रतिकारक की महत्ता इसी से सिद्ध होती है कि प्रसरण के प्रति कम ही सामाजिक अवरोध उत्पन्न होता है जब कि खोजों के प्रति। जैसा कि मुद्रण-यन्त्र, आलू और टमाटर के संसारव्यापी

प्रसरण में स्पष्ट है, अलग अलग उपयोगी तत्वों का प्रसरण सुगमता से होता है। साम्यवाद के प्रसरण के प्रति उत्पन्न होने वाले अवरोध से स्पष्ट होता है कि उन तत्वों का प्रसरण कम होता है जिनमें सम्पूर्ण जीवन में आमूल परिवर्तन आने का भय रहता है। प्रसरण के प्रति उत्पन्न होने वाला सामाजिक अवरोध प्रवरणात्मक (Selective) होता है। आधुनिक भारत में योरोप से बहुत कुछ ग्रहण किया जा रहा है किन्तु सभी कुछ नहीं। यह प्रवरणात्मक अवरोध का प्रतीक है। इसी कारण, यह कहा गया है कि प्रसरण में मानव की सीखने की क्षमता के साथ साथ, उसकी अनुकरण की क्षमता भी महत्वपूर्ण स्थान रखती है। प्रसरण प्रक्रिया के, इस दृष्टिकोण से, मुख्य आधार है प्रसरित होने वाले तत्व की उपयोगिता अनुकूल सामाजिक परिस्थिति और ग्रहणकर्ता का दृष्टिकोण। प्रसरित होने वाले तत्व की उपयोगिता, अनुकूल सामाजिक परिस्थिति पर ही निर्भर करती है। अतः, यह कहा जा सकता है कि प्रसरण वह प्रक्रिया है जिसमें संस्कृति की भौगोलिक निरन्तरता बनी रहती है। प्रसरण परम्परा (Tradition) नहीं है क्योंकि प्रसरण भौमिक प्रसार सीखने और अनुकरण पर आधारित रहता है जबकि परम्परा सीखने और कालगत प्रसरण पर आधारित रहती है।

संस्कृतिकरण या एकल्चरेशन संस्कृति परिवर्तन प्रक्रिया का एक विशेष रूप है और संस्कृति-परिवर्तन के उन प्रमेयों में निहित है जो विभिन्न संस्कृतियों

एकल्चरेशन वाले समूहों के सतत तथा प्रत्यक्ष सम्पर्क (Continuous first hand Contact) में आने के कारण एक या दोनों समूहों के मौलिक सांस्कृतिक कल्पों (Cultural Patterns) में अवतरित होते हैं। संस्कृतिकरण इस दृष्टिकोण से, संस्कृति परिवर्तन नहीं है वरन् संस्कृति परिवर्तन का एक पहलू विशेष है। संस्कृतिकरण सात्मीकरण (Assimilation) भी नहीं है क्योंकि सात्मीकरण किन्हीं किन्हीं परिस्थितियों में सांस्कृतिकरण का एक पहलू होता है। संस्कृतिकरण प्रसरण भी नहीं है यद्यपि संस्कृतिकरण की सभी अवस्थाओं में प्रसरण प्रक्रिया निहित रहती है। संस्कृतिकरण और प्रसरण ग्राह्यता (Borrowing), सीखना (Learning) और अनुकरण (Imitation) पर आधारित रहते है और इस दृष्टिकोण में दोनों समान हैं। प्रसरण सम्पर्क के कारण भी हो सकता है और बिना सम्पर्क के कारण भी। अधिकतर प्रसरण बिना सम्पर्क के कारण हुआ है। अतः प्रसरण संस्कृतिकरण प्रक्रिया का केवल एक अंश है। प्रसरण और संस्कृतिकरण दोनों में सांस्कृतिक सम्प्रेषण (Cultural Transmission) निहित है। किन्तु, प्रसरण में वह सांस्कृतिक सम्प्रेषण आता है जो भूतकालिक है, जो हो चुका होता है, जिसको स्पष्ट करने के लिये अध्ययनकर्त्ता को यह अनुमान लगाना पड़ता है कि अमुक परिस्थितियों में अमुक प्रकार से और अमुक परिणामों के साथ संस्कृति सम्प्रेषण हुआ होगा। किन्तु संस्कृतिकरण वह प्रक्रिया है जिसका अध्ययन प्रत्यक्ष निरीक्षण

के आधार पर किया जाता है और इस कारण, जैसा कि हर्सकोविट्स ने लिखा है, संस्कृतिकरण वस्तुतः सांस्कृतिक संक्रमण की वह प्रक्रिया (Cultural Transmission in Process) है जो चल रही है[1]।

इसका यह तात्पर्य नहीं कि संस्कृतिकरण का ऐतिहासिक पहलू होता ही नहीं है। प्रत्येक संस्कृतिकरण सम्पर्क की एक परिस्थिति विशेष से उत्पन्न होकर, कालान्तर प्रक्रिया का रूप ले लेता है और, इसी कारण संस्कृतिकरण के अध्ययन में ऐतिहासिक अध्ययन विधि, अवधि (Time) और संस्कृति सम्पर्क की भूत तथा वर्तमान परिस्थितियों का ध्यान में रखना आवश्यक हो जाता है। इस दृष्टिकोण से संस्कृतिकरण की धारणा का प्रयोग और अध्ययन उन ऐतिहासिक परिस्थितियों में भी किया जा सकता है जहाँ सम्पर्क और उससे उत्पन्न होने वाले सांस्कृतिक ग्रहण (Cultural Borrowing) तथा परिवर्तन के लिखित अभिलेख मिल जाते हैं। जहाँ सम्पर्क और ग्राह्यता की ऐतिहासिक परिस्थिति, अनेक ऐतिहासिक परिस्थितियों को पार करती हुई, वर्तमान में चली आती है, वहाँ संस्कृतिकरण का ऐतिहासिक सन्दर्भ में देखना और भी आवश्यक हो जाता है। भारत में प्राय द्राविड, हिन्दू, मुस्लिम और भारतीय संस्कृति तथा योरोपीय सभ्यता के सम्पर्क से उत्पन्न होने वाली ऐतिहासिक परिस्थितियाँ ऐसी ही परिस्थितियाँ हैं। किन्तु, जैसा कि अफ्रीका में होने वाली संस्कृतिकरण की प्रक्रिया को स्पष्ट करने के लिए अध्ययन-विधि का प्रतिपादन करते हुए मलिनास्की ने कहा है कि अध्येता को उस स्थिति से प्रारम्भ करना चाहिए जो सम्पर्क और संस्कृतिकरण की न्यूनतम स्थिति हो वैसा करना न तो सम्भव ही है और न वैसा हो ही सकता है क्योंकि न्यूनतम स्थिति का निर्धारण कठिन है। और फिर संस्कृतिकरण एकपक्षीय न होकर द्विपक्षीय होता है जिसके कारण न्यूनतम स्थिति की कल्पना और भी निरर्थक हो जाती है। यह पहले ही कहा जा चुका है कि योरोप के मानवशास्त्रियों का दृष्टिकोण अधिकतर ऐतिहासिक नहीं है और उसका कारण है आदिवासी समाज में अभिलेखित इतिहास (Documented History) की अनुपस्थिति। मानव इतिहास यदि, एक ओर, प्रसरण से उत्पन्न होने वाली वृद्धि और विकास की एक सतत प्रक्रिया रहा है तो, दूसरी ओर, वह एक महान संस्कृतिकरण की प्रक्रिया भी है। भारतीय संस्कृति तो निश्चय ही एक विशेष संस्कृतिकरण की प्रक्रिया है।

जिस परिभाषा के आधार पर संस्कृतिकरण को यहाँ स्पष्ट किया गया है उससे, अध्ययन विधि के दृष्टिकोण से कई समस्यायें अस्तित्व में आई हैं जिनके कारण, इस परिभाषा की आलोचना भी की गई है। यह कहा गया है कि इस परिभाषा में उन प्रक्रियाओं के स्वरूप का वर्णन नहीं है जो संस्कृतिकरण के कारण उत्पन्न

1 हर्सकोविट्स, एम० जे० मैन एण्ड हिज वर्क्स पृष्ठ 532 541

होता है। इस परिभाषा में, सतत प्रत्यक्ष सम्पर्क (Continuous First hand Contact) के ऊपर जोर दिया गया है जिसके कारण, अन्य प्रकार की सम्पर्क परिस्थितियाँ इस परिभाषा के क्षेत्र के बाहर हो जाती हैं। आधुनिक भारत पर योरोप का जो प्रभाव पड़ रहा है वह सतत प्रत्यक्ष-सम्पर्क का परिणाम नहीं है। ऐसी दशा में सतत सम्पर्क की कल्पना एकांगी लगती है। इसी दृष्टिकोण से सम्पर्क में विभिन्न संस्कृतियों वाले समूहों की कल्पना भी कठिनाई उत्पन्न करती है। यह निश्चित है कि संस्कृति सम्पर्क में मानवी प्रतिकारक (Human Factor) व्यक्तियों का सम्पर्क और उनके द्वारा आदान प्रदान निहित होता है लेकिन प्रत्येक संस्कृति सम्पर्क की स्थिति समूहों के सम्पर्क की ही स्थिति नहीं है और न किसी भी स्थिति में सम्पूर्ण संस्कृति अथवा संस्कृतियों का आदान प्रदान ही होता है। आधुनिक भारत इसका उदाहरण है। इंगलैंड के माध्यम से भारत तथा योरोप का सम्पर्क प्रत्यक्ष न होकर अप्रत्यक्ष रहा है और योरोप तथा भारत के सम्पर्क में व्यक्ति समूह उस रूप में सम्पर्क में नहीं रहे हैं जिस रूप में उक्त परिभाषा में, उसकी कल्पना की गई है। अपने विभिन्न उपकरणों सहित वर्तमान योरोपीय सभ्यता का प्रसार भी सम्पर्क की स्थिति उत्पन्न करता है जिसके कारण संस्कृतिकरण की प्रक्रिया अस्तित्व में आती है। इसी कारण संस्कृतिकरण वस्तुतः वह प्रक्रिया है जिसमें बाह्य संस्कृति के तत्वों को ग्रहण और आत्मसात करने के कारण बहुमुखी परिवर्तन प्रक्रिया उत्पन्न होती है।

केवल संस्कृति-सम्पर्क ही संस्कृतिकरण का एकमात्र प्रतिकारक नहीं है। नीलगिरि के पहाड़ी क्षेत्र में रहनेवाली चार गणजातियाँ टोडा, बडगा, कोटा और कुरुम्बा इसका उदाहरण हैं। टोडा पशुपालक (Pastoral) हैं, बडगा खेतिहर (Agriculturist) हैं कोटा शिल्पी (Artisan) और कुरुम्बा कन्दमूल एकत्र करके बसर करने वाले (Food gatherer) और भूतसाधक (Sorcerers) हैं। इन चारों गणजातियों के लोग एक ही क्षेत्र में रहते हैं और उनमें सम्पर्क भी रहा है। अपने सामाजिक-सांस्कृतिक जीवन में ये परस्पर निर्भर भी हैं किन्तु फिर भी ये चार गणजातियाँ अलग अलग भाषा तथा संस्कृति पर आधारित समूह हैं। इस परिस्थिति के लिए चार प्रतिकारक उत्तरदाई हैं। पहला, इन चारों गणजातियों में प्रत्येक का आर्थिक आधार भिन्न है और इसलिए उनमें परस्पर सांस्कृतिक ग्रहण भी कम हुआ है। दूसरे, उनमें पाये जाने वाले सम्पर्क में आदान प्रदान नहीं के बराबर है। इसका एक उदाहरण यह है कि बाजा बजाने वाले तथा गायक होने के नाते कोटा लोग टोडा लोगों के यहाँ हर समारोह में उपस्थित तो रहते हैं लेकिन उनके समीप नहीं जाते हैं क्योंकि कोटा से छू जाने पर टोडा लोग अपने को अपवित्र समझते हैं। अतः, उनमें सम्पर्क तो है लेकिन दूर का। तीसरा कारण है उनमें पाई जाने वाली प्रतिष्ठा प्रतीक प्रणाली (Prestige Symbolism)। जो सांस्कृतिक तत्व किसी एक गणजाति में प्रतिष्ठा का प्रतीक समझा जाता है उसे यदि किसी दूसरी गणजाति के लोग अपनाने

को प्रयास करते हैं तो उसे रोकने का प्रयास किया जाता है। एक बार जब कोटा लोगों ने साफा बाँधना प्रारम्भ किया तो बडगा लोगों ने इसका विरोध किया। यह विरोध यहाँ तक बढ़ा कि एक बार रास्ते में कुछ बडगा छिपकर बैठ गये और उधर से साफा बाँधे हुए कोटा लोगों के निकलने पर, उन पर टूट पड़े और उनके साफों को फाड़ डाला[1]। यह विरोध उसी प्रकार का है जैसा निम्नस्तर की जातियों द्वारा जनेऊ धारण करने पर उच्चस्तर की जाति के लोग उसका विरोध करते हैं जो कभी-कभी संघर्ष में भी बदल जाता है।

इस ही प्रकार के उदाहरणों के आधार पर यह प्रतिपादित किया गया है कि संस्कृतिकरण निर्भर करता है सम्पर्क की ऐतिहासिक परिस्थिति पर और सम्पर्क में आई हुई संस्कृतियों के सदस्यों की सामाजिक-मानसिक पृष्ठभूमि पर। सामाजिक-मानसिक (Social Psychological) पृष्ठभूमि में, ग्रहण करने वाले की, ग्राह्य संस्कृति के प्रति मनोवृत्ति (Attitude) काफी महत्त्वपूर्ण है क्योंकि ग्राह्य-अग्राह्य का निर्णय मनोवृत्ति के ही आधार पर होता है। उदाहरणार्थ एक समय था जब अवध के गाँवों में निम्नस्तर की, विशेषतया चमार, जाति की स्त्रियों के लिए साड़ी, काँच की चूड़ी और सोने के जेवर का प्रयोग वर्जित था और यदि कोई स्त्री उसका प्रयोग करती थी तो उच्च जाति के सदस्य इसका विरोध करते थे। इसी प्रकार, निम्नस्तर की जातियों के सदस्यों द्वारा यज्ञोपवीत के धारण करने का विरोध किया जाता था। किन्तु भारत में अंग्रेजी राज की स्थापना के कारण जब भारत योरोप के सम्पर्क में आया तो स्थिति बदल गई। नगरीकरण ने पश्चिमीकृत (Westernized) सामाजिक वातावरण में यह स्थिति उत्पन्न कर दी जिससे उच्चस्तर के लोग पश्चिमीकरण (Westernization) को प्रतिष्ठा प्रतीक समझने लगे और पुराने प्रतिष्ठा प्रतीकों की ओर से उदासीन हो गये, जिनको निम्नस्तर की जातियों के लोग अपनाने लगे। इस तथ्य से संस्कृतिकरण के दो पहलू स्पष्ट होते हैं—एक, संस्कृतिकरण एक प्रवरणात्मक प्रक्रिया (Selective Process) है क्योंकि सम्पर्क में आई हुई संस्कृतियाँ सभी कुछ ग्रहण नहीं करती हैं। ग्रहण करने का तात्पर्य है ग्रहण करके, ग्राह्य तत्व को संस्कृति में स्थान देना। अतः, वही ग्रहण किया जाता है जो आवश्यक प्रतीत होता है और जिसके लिए संस्कृति में आसानी से स्थान बन जाता है। गृहीत तत्व को स्थान देने का मतलब है उसके प्रयोग को सीखना और, इस कारण, ग्रहण करने वाली संस्कृति के सदस्यों का अनुभव और उनकी मनोवृत्ति संस्कृतिकरण में प्रधान स्थान ग्रहण कर लेते हैं। संस्कृतिकरण, इस दृष्टिकोण से, संस्कृति के ऐतिहासिक उद्विकास का एक माध्यम है।

संस्कृतिकरण का दूसरा महत्वपूर्ण पहलू है संस्कृति-सम्पर्क का स्वरूप

---

1 मैंडलबाम, जी० डेविड कल्चरल चेंज एमग दि नीलगिरि ट्राइब्स अमेरिकन एन्थ्रोपालॉजिस्ट XLIII (1941)।

क्योंकि सम्पर्क स्वरूप, एक ओर, ग्रहण करने वाली संस्कृति के सदस्यों की मनोवृत्ति (Attitude) को प्रभावित करता है और दूसरी ओर, सम्पर्क में आई हुई संस्कृतियों के सम्बन्धों को निर्धारित करता है। इस दृष्टिकोण से हर्सकोविट्स ने सात प्रकार के सम्पर्कों का निर्धारित किया है जो इस प्रकार हैं —एक सम्पर्क की स्थिति वह है जिसमें दो संस्कृतियों की सम्पूर्ण जनसंख्यायें या उनके मुख्य भाग या दोनों के छोटे छोटे समूह या कुछ व्यक्ति सम्पर्क में आते हैं। ऐसी परिस्थिति में वही तत्व ग्रहण किए जाते हैं जिनको लेकर दो संस्कृतियों के प्रतिनिधि परस्पर सम्पर्क में आते हैं। दूसरे प्रकार की स्थिति वह है जिसमें सम्पर्क शत्रुतापूर्ण (Hostile) या मित्रतापूर्ण (Friendly) होता है। इसी से सम्बन्धित तीसरी स्थिति वह है जहाँ आर्थिक या राजनैतिक कारणों से एक संस्कृति के सदस्यों को दूसरी संस्कृति के सदस्यों पर प्रभुत्व (Dominance) मिल जाता है। जहाँ प्रभुता की स्थिति होती है वहाँ, साधारणतया शत्रुतापूर्ण मनोवृत्ति विकसित हो जाती है। यहाँ यह अर्थ लगाना गलत होगा कि मित्रतापूर्ण परिस्थिति में ग्राह्यता बढ़ जाती है और शत्रुतापूर्ण स्थिति में कम हो जाती है। अफरीका में, जहाँ योरोपियनों और वहाँ के आदिवासियों के सम्बन्ध मित्रतापूर्ण नहीं रहे हैं काफी पारस्परिक आदान प्रदान हुआ है जबकि अफरीका में बसने वाले भारतीयों ने अफरीकी सामाजिक जीवन को वस्तुतः नहीं के बराबर ग्रहण किया है। जहाँ एक संस्कृति को प्रभुतापूर्ण स्थिति मिल जाती है वहाँ पराजित संस्कृति विजित संस्कृति से ग्रहण तो करती है किन्तु जो कुछ ग्रहण करती है उसे इस ढंग से आत्मसात करती है कि उसकी अपनी प्रतिष्ठा बनी रहे। शत्रुतापूर्ण संघर्षमय परिस्थिति से यदि एक ओर, जाति अहमन्यता (Ethnocentrism) की भावना उत्पन्न होती है तो दूसरी ओर पुनरुन्नयन (Revivalism) और कान्ट्रा एक्ल्चरेशन (Contra Acculturation) की। चौथी स्थिति वह है जहाँ समान आकार के समूह समान सम्पर्क में आते हैं। पाँचवी, जहाँ असमान आकार की जटिल संस्कृति वाले समूह सम्पर्क में आते हैं। छठी, जहाँ समानरूप से जटिल संस्कृतियों में सम्पर्क होता है और सातवी, वह स्थिति है जहाँ एक संस्कृति समूह के सदस्य अपना वासस्थान (Habitat) छोड़कर अन्य संस्कृति के वासस्थान में जाकर रहते हैं। जब भारत के आदिवासी अपना वासस्थान छोड़कर बड़े बड़े शहरों में जाकर बसते हैं तो सातवीं प्रकार की स्थिति उत्पन्न होती है।

सम्पर्क-परिस्थितियों के आधार पर ही विभिन्न प्रकार की संस्कृतिकरण की प्रक्रियाओं को निर्धारित किया गया है। क्रोबर के अनुसार, संस्कृतिकरण की प्रक्रिया द्विपक्षीय (Two Way Traffic) है और उसी रूप में उसका विश्लेषण भी होना चाहिए। भारतीय सांस्कृतिक उद्विकास की पृष्ठभूमि में चलने वाली संस्कृतिकरण प्रक्रिया इसका उदाहरण है। यहाँ आर्यों ने द्राविड़ों को प्रभावित किया और द्रविड़ों ने आर्यों को, हिन्दुओं ने मुसल्मानों को प्रभावित किया और मुसलमानों ने

हिन्दुओं को और योरोपियनों ने भारतीयों को प्रभावित किया और भारतीयों ने योरोपियनों को। इस प्रक्रिया का वर्णन अगले पृष्ठ में किया जाएगा। संस्कृतिकरण की प्रक्रिया सात्मीकरण (Assimilation), प्रसंकरता (Hybridization) और अनुकूलन (Adaptation) की प्रक्रियाओं को जन्म देती है। सांस्कृतिक अनुकूलन और सात्मीकरण दोनों संस्कृतिकरण से उत्पन्न स्वाभाविक प्रक्रियाएं हैं और दोनों परस्पर काफी समीप हैं। भारत में योरोपीय वेश भूषा का घर के बाहर की वेशभूषा के रूप में अपनाना अनुकूलन का एक उदाहरण है जबकि आर्य द्राविड़ संस्कृतियों का हिन्दू संस्कृति तथा समाज के रूप में सम्मिलन सात्मीकरण का। प्रसंकरता वहां आती है जहां दो संस्कृतियों का सम्मिलन विरोधात्मक विजातीयता (Conflicting Heterogeneity) को जन्म देता है। प्रसंकरता ही शीज्म (Schism) की जननी बन जाती है। भारत में इस्लाम, एक ओर अरबीवाद (Arabicism) की ओर आकर्षित रहा है और दूसरी ओर, भारतीयता की ओर। भारत के मुसलमानों पर, एक ओर इस्लाम द्वारा प्रतिपादित अरबी सांस्कृतिक प्रथाओं का प्रभाव रहा है और, दूसरी ओर देशज प्रथाओं का। इसका परिणाम हुआ भारतीय इस्लाम की सांस्कृतिक प्रसंकरता और उसमें निहित शीज्म की विचारधारा। प्रसंकरता के ही कारण सीमान्त संस्कृति (Marginal Culture) और सीमान्त व्यक्तित्व (Marginal Personality) की उत्पत्ति होती है।

सांस्कृतिकरण की प्रक्रिया स्वेच्छिक (Voluntary) होती है और, इस कारण, उन अन्य कारणों के साथ, जिनका कि पहले वर्णन किया जा चुका है, संस्कृतिकरण एक प्रवरणात्मक प्रक्रिया बन जाती है। वर्तमान भारत जिसमें पूंजीवाद तथा साम्यवाद के सिद्धान्तों के समन्वय का प्रयास चल रहा है इसका एक उदाहरण है। लेकिन प्रभुत्वपूर्ण तथा विजित अविजित की सम्पर्क परिस्थिति में, जहां एक संस्कृति को दूसरी संस्कृति से भय की भावना उत्पन्न होती है, संस्कृतिकरण की प्रक्रिया देशवाद (Nativism), पुनरुन्नयनवाद (Revivalism) और काउंटा एकल्चरेशन (Contra Acculturation) का रूप ले लेती है। भारत में नागालैंड की मांग देशवाद (Nativism) का परिणाम है। यह इसी प्रक्रिया का प्रभाव है कि बिहार के आदिवासियों ने एक अलग प्रान्त झारखण्ड, की मांग को उठाया। आर्यसमाज आन्दोलन और महात्मा गांधी के नेतृत्व में चलने वाला स्वदेशी-आन्दोलन पुनरुन्नयन की श्रेणी में आते हैं। काउंटा एकल्चरेशन की प्रक्रिया प्रतिक्रियात्मक होती है क्योंकि उसमें बाह्य संस्कृति में ग्रहण किए हुए तत्वों को त्यागने पर जोर रहता है। चमार जाति के सदस्य हिन्दू समाज में काफी शोषित रहे हैं और आज यह इसी का परिणाम है कि जगह जगह रविदास मन्दिर बनाकर उसमें महात्मा रविदास की मूर्ति की स्थापना की जा रही है। सत्यनारायण की कथा के स्थान पर रविदास कथा को जनप्रिय बनाया जा रहा है और तुलसीदास की रामायण के स्थान पर रविदास रामायण की

रचना की गई है। उत्तर प्रदेश और बिहार के चमारों में रविदास जयन्ती मनाने का प्रचार अभी हाल ही में बढ़ा है। आज रविदास का एक चमत्कारी दैवी पुरुष के रूप में स्वीकार किया जा रहा है। संस्कृति सम्पर्क की विजित पराजित परिस्थिति में ही जहाँ एक संस्कृति के ह्रास होने का भय उत्पन्न होता है, वहीं मसीहा और पैगम्बर उत्पन्न होते हैं या मसीहा के अवतरण की भावना उत्पन्न होती है। मसीहा का अर्थ है पुनः जीवन देने वाला और पैगम्बर का अर्थ है देवदूत। अंग्रेजी राजकाल में प्रचलित 'कल्कि अवतार'[1] तथा महात्मा गांधी को अवतारी पुरुष मानने की कल्पनायें मसीहावाद से ही सम्बन्धित कल्पनायें हैं"।

३

संस्कृति और समाज

समाज संस्कृति और व्यक्ति मानव-व्यवहार के तीन मुख्य आधार हैं और तीनों अन्योन्याश्रित हैं। व्यक्ति में समाज और संस्कृति दोनों समाहित रहते हैं। एक ओर मानव-व्यवहार समूह से प्रभावित होता है तो दूसरी ओर, उन आदर्श नियमों से जिनका निर्माण स्वयं मानव ने किया है। समाज वस्तुतः संस्कृति का आधार है क्योंकि समाज में ही संस्कृति का अस्तित्व रहता है। सामाजिकता संस्कृति का एक गुण है। संस्कृति की वास्तविकता, वस्तुतः समाज में ही होती है। सामाजिक व्यवहार के ही माध्यम से सांस्कृतिक व्यवहार का निरीक्षण सम्भव है। इसके विपरीत यह भी कहा जा सकता है कि मानव समाज का वास्तविक आधार संस्कृति है क्योंकि समाज की सार्थकता वस्तुतः संस्कृति से है। संस्कृति के ही द्वारा समाज को स्थायित्व और नैरन्तर्य प्राप्त होता है। मानव में संस्कृति समाज से है और समाज संस्कृति से। समाज और संस्कृति मानव व्यवहार के वैसे ही दो पहलू हैं जैसे सूर्य से उत्पन्न धूप

1 कल्कि अवतार की कल्पना में यह विश्वास किया जाता है कि वर्तमान युग कलियुग है और वह मानव के अधःपतन का प्रतीक है जिसे दूर करने के लिए ईश्वर का कल्कि के रूप में वैसे ही अवतार होगा जैसा कि पहले राम और कृष्ण के रूप में हो चुका है।

2 एकल्चरेशन पर विशेष अध्ययन के लिए देखिए
क्रोबर ए० एल० एन्थ्रापालोजी पृष्ठ 425-444
लिंटन राल्फ साइंस आफ मैन इन द वर्ल्ड क्राइसिस पृष्ठ 171-200
हर्सकोविट्स, एम० जे० मैन एण्ड हिज वर्क्स अध्याय 31

और ढांह। मानव सामाजिक प्राणी है पर संस्कृतिवान भी। किन्तु इसका यह तात्पर्य नही कि सामाजिक मानव और संस्कृतिवान मानव दो अलग अलग प्रमेय हैं। मानव के सन्दर्भ में केवल मानव ही एक आधारभूत वास्तविकता है जिसके विभिन्न पहलू इस प्रकार जुड़े हुए हैं कि उन्हें परस्पर अलग नही किया जा सकता। फिर, प्रश्न उठता है कि समाज और संस्कृति में क्या अन्तर है और इस अन्तर को किस प्रकार समझा जा सकता है?

हसकोविट्स के अनुसार एक संस्कृति एक समाजविशेष के लोगों के जीवन-यापन का तरीका (The way of life of a people) होती है जबकि एक समाज उन मानवों का एक संगठित समूह होता है जो एक विशेष प्रकार के जीवन-यापन के ढंग को स्वीकार करके, उसका अनुसरण करते हैं। समाज व्यक्तियों से मिलकर बनता है जबकि संस्कृति उनकी व्यवहार प्रणाली में निहित रहती है[1]। समाज के तत्व समाये रहते हैं व्यक्तियों के सामूहीकरण (Aggregation) और उससे उत्पन्न होने वाले संगठन में जबकि संस्कृति का उद्गम है वह अनुभव जो मनुष्य भाषा, लिपि और प्रतीकों के माध्यम से संचय करता है और जिसमें उसके आदर्श तथा अर्हायें समायी रहती हैं। समाज व्यक्ति-व्यक्ति के सम्बन्धों से उत्पन्न संगठन और संरचना में निहित रहता है जबकि संस्कृति मानव की आधारभूत आवश्यकताओं की पूर्ति के प्रयास में उत्पन्न उद्देश्यों में निहित रहती है। समाज का मूल आधार है सामाजिक सम्बन्ध और संस्कृति का आदर्श नियम (Norm) या आदर्शिक व्यवस्था (Normative Order)।

जहा एक व्यक्ति के व्यवहार का सन्दर्भ दूसरे व्यक्ति से है जहा दो व्यक्तियों के व्यवहार में पारस्परिक जागरूकता (Mutual Awareness) विद्यमान है जहा पारस्परिक जागरूकता के कारण व्यक्तियों के व्यवहार में परिवर्तन आ जाता है जैसे अध्यापक के कक्षा में घुसते ही विद्यार्थियों का एकाग्र होकर खड़ा होना, वही सामाजिक सम्बन्ध पाया जाता है। व्यक्ति-व्यक्ति (Person to Person), व्यक्ति तथा समूह (Person to Group) और समूह तथा समूह के मध्य में उत्पन्न होने वाले सामाजिक सम्बन्धों के जाल से ही समाज का निर्माण होता है। इसलिए जैसा कि समाजशास्त्रियो का मत है जब सामूहिक तथा सहकारी रूप में मनुष्य एक दूसरे के साथ एक दूसरे के प्रति तथा एक दूसरे के लिए व्यवहार करता है तो उससे सम्बन्धों और क्रियाओं का विन्यास उत्पन्न होता है वही समाज है। इतना ही नही, समाज एक ओर मानवों के जीवन में निहित साहचर्य का ढांचा है और दूसरी ओर, संस्कृति (Culture) प्रौद्योगिकी (Technology) तथा सभ्यता के रूप में मनुष्य ने जो कुछ उपार्जित किया है उसकी माप है[2]। समाज मूलत सामाजिक सम्बन्धों का जाल है—वह जाल जो

1 हसकोविट्स, एम० जे० मैन एण्ड हिज वर्क्स पृष्ठ 29
2 ओडम, हवर्ड डब्लू० अंडरस्टैंडिंग सोसायटी पृष्ठ 5

सतत परिवर्तनशील है। किन्तु साथ ही साथ समाज रीतियों (Usages) तथा प्रक्रियाओं (Procedures) अधिकार (Authority) तथा पारस्परिक सहायता (Mutual Aid) बहुमुखी समूहनों (Many Groupings) तथा विभाजनों (Divisions) और मानव-व्यवहार के नियन्त्रणों (Controls of Human Behaviour) तथा स्वाधीनताओं (Liberties) की एक प्रणाली है[1]। सामाजिक सम्बन्धों का एक पहलू साहचर्य (Association), संगठन (Organization) संरचना (Structure) तथा बहुमुखी सामूहीकरण (Groupings) का है तो दूसरा पहलू आदर्श नियमों (Norms) और उनसे उत्पन्न संस्थाओं का है।

सामाजिक आदर्श नियम (Social Norms), आदर्शों (Ideals) और अर्हाओं (Values) से सम्बन्धित रहते है और एक ओर, सामाजिक सम्बन्धों के आदर्श को प्रतिपादित करते है तथा दूसरी ओर मानव व्यवहार को नियमित करते है। आदर्श नियम जैविक आवश्यकताओं की पूर्ति में सहायक होते है यद्यपि उनमे तथा जैविक प्रवृत्तियों मे बहुधा संघर्ष भी रहता है। समाज मे विवाह तथा परिवार द्वारा यौन नियमन (Sex Regulation) इसका उदाहरण है। सामाजिक आदर्श नियमों को, मानव-व्यक्तित्व में उत्पन्न मनोवृत्तियों (Attitudes) तथा संवेगों (Sentiments) से सबल मिलता रहता है और इसी कारण समाज मे जब कोई आदर्श नियम भंग होता है तो आदर्श नियम भंग करने वाले के प्रति समाज में रोष उत्पन्न होता है।

समाज मे मनुष्य वस्तुतः आदर्श नियमों पर ही निर्भर करता है। मानव समाज के आदर्श नियम आनुवंशिक नहीं है। वे मानव की कृति है। अपनी सीखने (Learning) तथा प्रतीकात्मक सन्देशवहन (Symbolic Communication) की क्षमताओं के कारण ही मनुष्य उनका निर्माण कर सका है। यह पहले ही कहा जा चुका है कि संस्कृति सामाजिक आदर्श है। सामाजिक आदर्श के रूप में संस्कृति सामाजिक आदर्श नियमों मे ही समाहित रहती है। मानव-व्यवहार में, आदर्श और वास्तविकता पारस्परिक सामंजस्य मे रहते हुए भी अलग अलग रहते हैं। सामाजिक आदर्श नियम, इसीकारण एक ओर वास्तविकता से सम्बन्धित रहते है तो, दूसरी ओर, आदर्श से। इसके फलस्वरूप आदर्श और वास्तविकता के बीच सामाजिक आदर्श नियमों का लम्बा सिलसिला पाया जाता है। अपने में आदर्श को समाहित किए हुए सामाजिक आदर्श नियम, सामाजिक सम्बन्धों में प्रत्याशाओं (Expectations) को जन्म देते है जो समाज के मूल में निहित साहचर्य (Association) का आधार बन जाती हैं।

सामाजिक आदर्श नियमों से ही संस्थाओं की उत्पत्ति होती है। एक संस्था सामाजिक आदर्श नियमों का वह जाल है जिससे मानव जीवन की एक या कई

[1] मैकाइवर एण्ड पेज सोसायटी पृष्ठ 5

आधारभूत आवश्यकताओं की पूर्ति होती है। विवाह, आर्थिक व्यवस्था, राजनैतिक व्यवस्था नातेदारी प्रणाली (Kinship System) और धर्म व आधारभूत आवश्यकतायें हैं जो संस्थाओं द्वारा पूर्ण होती हैं। संस्थायें एक ओर सामाजिक मान्य नियमों में बंधी रहती हैं तो, दूसरी ओर सामाजिक सम्बन्धों के जाल से। संस्था का सामाजिक पहलू समिति (Association) है। समिति, किसी उद्देश्य की पूर्ति के लिए संगठित सामाजिक समूह है जबकि संस्था किसी उद्देश्य की पूर्ति के लिए निर्धारित मान्य नियमों का जाल है। विवाह संस्था का समिति पक्ष परिवार है। समिति संगठन, सामाजिक साहचर्य (Association) में निहित सामूहीकरण (Grouping) का एक परिणाम है। समाज की धारणा में सामूहीकरण का भाव वैसे ही निहित है जैसे दूध में मक्खन। समूह कई प्रकार के होते हैं और समाजशास्त्रियों ने कई दृष्टिकोणों से उनकी व्याख्या भी की है जिसे यहां पर दुहराना विषयातिरेक होगा। यहां पर इतना कहना आवश्यक होगा कि जैविक आवश्यकताओं की पूर्ति क्षेत्र (Territory) अपने प्रकार के प्रति सजगता (Consciousness of Kind) और सामाजिक प्रतिष्ठा के आधार पर सामाजिक सम्बन्धों का सामूहीकरण होता है जिससे उत्पन्न समूह मानव-व्यवहार को प्रभावित करते हैं।

एक समाज के विभिन्न समूह एक एकीकृत सामाजिक व्यवस्था में बंधे रहते हैं जिसे साधारणतः सामाजिक संगठन की संज्ञा प्रदान की जाती है। किन्तु सामाजिक सम्बन्धों के जाल का एक दूसरा पहलू भी है और वह है स्तरीकरण (Stratification) तथा उच्चावचपरम्परा (Hierarchy) का। सामाजिक सम्बन्धों के जाल में, आयु (Age), लिंग (Sex), धन (Wealth) जन्मजात अथवा अर्जित (Achieved) प्रतिष्ठा के आधार पर, प्रत्येक व्यक्ति को एक विशिष्ट सामाजिक प्रतिष्ठा (Social Status) मिलती है और उसी पर उसकी सामाजिक भूमिका (Social Pole) निर्भर करती है। सामाजिक सम्बन्धों के जाल में निहित प्रतिष्ठा भूमिका-प्रणाली (Status Pole System), एक ओर, व्यक्ति के व्यवहार को प्रभावित करती है व्यक्ति तथा समाज में एकीकरण तथा तादात्म्य लाता है तथा, दूसरी ओर, उस सामूहीकरण का आधार बन जाती है जिसमें ऊंच-नीच का भाव पाया जाता है।

जब यह सामूहीकरण जन्मजात प्रतिष्ठा पर आधारित रहता है तो उसका परिणाम होता है जाति व्यवस्था जो भारतीय समाज की विशेषता है और जब यह अर्जित प्रतिष्ठा (Achieved Status) पर आधारित होता है तो उसका परिणाम होता है वर्ग व्यवस्था (Class System) जो योरोप अमरीकी समाज की विशेषता मानी जाती है। वास्तव में, प्रत्येक समाज में दोनों प्रकार की प्रतिष्ठाओं के तत्व मिले रहते हैं और इसी कारण, जाति तथा वर्ग समारव्यापी प्रमेय हैं। हां, यह अवश्य है कि कहीं जाति के तत्व अधिक मात्रा में पाये जाते हैं और कहीं वर्ग के। जाति वर्ग प्रणालियों से जो सामाजिक व्यवस्था उत्पन्न होती है, उसे सामाजिक संरचना

की धारणा प्रदान की गई है। सामाजिक आदर्श नियम (Social Norms) सामाजिक संगठन (Social Organization) और सामाजिक संरचना (Social Structure) सामाजिक वास्तविकता के तीन पहलू हैं जिनके कारण समाज और संस्कृति एक में मिले रहते हैं। संस्कृति के विश्लेषण में सामाजिक संगठन तथा संरचना का विश्लेषण स्वतः आ जाता है।

समाज और संस्कृति का अन्तर एक दूसरे ढंग से भी समझा जा सकता है। समाज मानव में ही नहीं बल्कि मानवेतर प्राणियों में भी पाया जाता है। अपने सांस्कृतिक पहलू के ही कारण, मानव समाज मानवेतर प्राणियों के समाज से भिन्न हो जाता है। प्राणी संसार में समाज एक सार्वभौमिक प्रमेय है जबकि संस्कृति केवल मानव में ही पाई जाती है। इस दृष्टिकोण से तीन तथ्यों का विश्लेषण आवश्यक हो जाता है—पहला सार्वभौमिक समाज के मूल आधार और विशेषताएं क्या हैं। दूसरा मानव तथा मानवेतर समाजों में क्या समानताएं हैं और तीसरा किन दशाओं में मानव समाज मानवेतर समाजों से भिन्न है। मानव तथा मानवेतर समाजों की समानता तथा भिन्नता में ही वे तथ्य छिपे हैं जो समाज और संस्कृति के अन्तर को समझने में सहायक हो सकते हैं।

समाज की धारणा में सामूहीकरण का भाव निहित है लेकिन समाज केवल समूहमात्र नहीं है। समाज कोई वर्गीकृत श्रेणी भी नहीं है। समाज वस्तुतः निहित है प्राणी द्वारा पर्यावरण के साथ किये जाने वाले सामाजिक अनुकूलन (Social Mode of Adaptation) में। अतिजीविता (Survival), प्रजनन (Procreation) और आहार-पोषण (Nutrition) के लिये प्राणियों का पर्यावरण के साथ सामाजिक अनुकूलन (Social Mode of Adaptation) करना आवश्यक है। सामाजिक अनुकूलन एक वह माध्यम है जो पारस्परिक उद्दीपन (Mutual Stimulus) तथा प्रतिचार (Response) से प्रादुर्भूत साहचर्य (Association) में उत्पन्न होता है। साहचर्य ही समाज के सामूहीकृत रूप को जन्म देता है। पारस्परिक उद्दीपन और प्रतिचार वहां पाया जाता है जहां एक प्राणी से दूसरे प्राणी को इस प्रकार उद्दीपन मिलता है कि उद्दीप्त प्राणी उद्दीपक प्राणी के प्रति जागरूक (Aware) हो जाता है। प्राणी की जिस क्रिया में पारस्परिक उद्दीपन प्रतिचार पाया जाता है उसे अन्तर्क्रिया की धारणा प्रदान की जाती है और अन्तर्क्रिया ही सामाजिक क्रिया (Social Act) का दूसरा नाम है। अन्तर्क्रिया वस्तुतः समाज का आधार है क्योंकि अन्तर्क्रिया पर आधारित सम्बन्ध ही सामाजिक सम्बन्ध है। अतः, समाज प्राणियों (Organisms) का वह सामूहीकरण (Aggregation) है जिसमें पारस्परिक उद्दीपन, जागरूकता तथा प्रतिचार के आधार पर प्राणी-साहचर्य (Association of Organisms) उत्पन्न होता है। समाज अपने मूलरूप में अन्तर्क्रिया से उत्पन्न होने वाले प्राणी-साहचर्य में ही निहित रहता है।

समाज इस प्रकार, एक जैविक आवश्यकता है। समाज जीव के ही समान एक सुगठित इकाई है लेकिन समाज जीव नहीं है। एक सहचारी समूह होने के कारण समाज जीव से मूलतः भिन्न हो जाता है। प्राणी अतिजीविता (Survival of Organism) में समाज एक महत्त्वपूर्ण कारक है[1]। इसका यह तात्पर्य नहीं कि प्राणी अतिजीविता समाज पर ही निर्भर है। अतिजीविता प्राणी तथा समाज दोनों पर निर्भर है। हां, यह अवश्य है कि जहां समाज अस्तित्व में आया है वहां समाज अतिजीविता का एक महत्त्वपूर्ण माध्यम बन गया है। समाज के माध्यम से प्राणी पर्यावरण के साथ अनुकूलन तथा सन्तुलन करने में सफल होता है समाज से प्राणी को बल प्राप्त होता है, समाज के ही माध्यम से प्राणी को सुरक्षा (Protection) तथा आहार पोषण (Nutrition) प्राप्त होते हैं और समाज के ही माध्यम से प्रजनन की प्रक्रिया सम्पन्न होती है। प्राणी-साहचर्य, जो पारस्परिक उद्दीपन, जागरूकता तथा प्रतिचार पर आधारित रहता है समाज का मूल आधार है किन्तु यह समझना भूल होगी कि समाज केवल प्राणियों से ही मिलकर बनता है। समाज वस्तुतः प्राणी से परे, पारस्परिक उद्दीपन प्रतिचार की श्रृंखलाओं से बना एक विन्यास (Arrangement) है जो निरन्तर प्रवाहित होता रहता है। साहचर्य से सामाजिक कार्यों का विशेषीकरण (Specialization of Social Functions) उत्पन्न होता है जो समाज के एकीकरण तथा नरन्तय में सहायक होता है। साहचर्य, विशेषीकरण तथा एकीकरण से समाज में एक ओर, संरचना उत्पन्न होती है तथा, दूसरी ओर, नरन्तय का अभ्युदय होता है।

प्राणी की एक जैविक आवश्यकता के रूप में, समाज के मुख्य चार सार्वभौमिक आधारभूत कार्य हैं। पहला जनसंख्या को बनाये रखना, जिसके मुख्य साधन हैं आहारपोषण का प्रबन्ध (Provision of Nutrition) क्षति या चोट से सुरक्षा (Protection against Injury) और नये प्राणियों का प्रजनन (Peproduction

1 एली (Allee) द्वारा सफेद चूहों पर किया गया परीक्षण इसका उदाहरण है। इस परीक्षण में यह दिखाया गया है कि सफेद चूहे जब छोटे छोटे समूहों में रखे जाते थे तब उनकी वृद्धि अधिक होती थी। यदि किसी चूहे के सिर में चोट लग जाती थी या कोई घाव हो जाता था तो दूसरे चूहे चाटकर उसे ठीक कर लेते थे। ऐसी दशा में यदि कोई चूहा अलग रखा जाता था तो उसकी देखभाल नहीं कर पाते थे और उसकी अतिजीविता की सम्भावना कम हो जाती थी। जब पिंजड़े का ताप कम कर दिया जाता था और शीत बढ़ाया जाता था तो सारे चूहे एक साथ इस प्रकार सट कर बैठ जाते थे कि एक दूसरे के सम्पर्क से अपने को गर्म रख सकें—हसकादिटस मन एण्ड हिज वर्ल्ड पृष्ठ 32

of New Organisms)। दूसरा, समाज की जनसंख्या में सामाजिक कार्यों का विभाजन। इसी आधार से विशेषीकरण और सामाजिक प्रतिष्ठा तथा भूमिका प्रणाली उत्पन्न होती है। तीसरा, समाज समूह में समन्वय बनाये रखना जिसके लिये एक ओर समाज सदस्यों में सम्पर्क बनाये रखने तथा पारस्परिक सहिष्णुता की ओर, दूसरी ओर बाह्य सदस्यों के प्रतिरोध की प्रेरणा मिलती है। यहीं से समाज तथा व्यक्ति में तादात्म्य उत्पन्न होता है। व्यक्ति समाज के साथ अपना अभिज्ञान (Identity) स्थापित करता है। चौथा, सामाजिक प्रणाली (Social System) को नैरंतर्य प्रदान करना।

समाज वस्तुतः प्राणी की उस जैविक क्षमता की उत्पत्ति है जिसके कारण वह पर्यावरण के साथ सामाजिक अनुकूलन करने में समर्थ होता है। आंगिक उद्विकास (Organic Evolution) के साथ साथ प्राणी की यह क्षमता भी बढ़ी है और इसीकारण आंगिक उद्विकास के साथ साथ समाज के गुणों और आधारों की अभिव्यक्ति भी बदल गई है। प्रत्येक प्राणी में समाज के आधारों की अभिव्यक्ति उसकी जैविक संरचना की विशेषताओं के अनुसार हुई है। कीड़ों मकोड़ों, चींटियों, मधुमक्खियों, चिड़ियों, वानरों और मनुष्य में पाये जाने वाले समाजों का अंतर इसका प्रमाण है। इसलिये, किंग्सले डेविस[1] (Kingsley Davis) ने यह कहा है कि समाज की उत्पत्ति आंगिक उद्विकास से न होकर, आंगिक उद्विकास के आधार पर हुई है। आंगिक उद्विकास के बहुमुखी होने के कारण ही समाज एक विचरणशील प्रमेय (Variable Phenomenon) बन गया है। लेकिन समाज की विचरणशीलता के बावजूद भी सभी प्रकार के समाजों में कुछ आधारभूत तत्त्व पाये जाते हैं। साहचर्य, समूह में रहने की प्रवृत्ति, सामाजिक सम्बन्धों में प्रभुत्व अनुवर्तन (Dominance Submission), व्यक्तियों, समूहों और व्यक्तियों तथा समूहों के बीच पाई जाने वाली प्रतियोगिता (Competition) तथा सहकारिता के प्रमेय, सामूहीकरण (Grouping), सामाजिक सम्बन्धों की जटिलता, व्यक्ति में समाज के साथ तादात्म्य तथा अभिज्ञान (Identity) स्थापित करने की प्रवृत्ति, आयु (Age), लिंग (Sex), बल (Strength) तथा प्रतिष्ठा (Status) पर आधारित विभिन्न सामाजिक भूमिकायें (Social Roles), सामाजिक सम्बन्धों में निहित पारस्परिक प्रत्याशायें (Expectations) और सामाजिक संरचना तथा नैरंतर्य सभी समाजों में पाये जाते हैं।

प्रत्येक समाज में व्यक्ति को अपने समाज के व्यवहार कलापों को ग्रहण करना पड़ता है। सभी समाजों में व्यक्ति की सदस्यता जन्म पर आधारित होती है

1 डेविस किंग्सले, ह्यूमन सोसायटी, अध्याय 2

किन्तु यदा-कदा बाह्य सदस्य भी समाज में दाखिल किये जाते है। चाहे कोई व्यक्ति किसी समाज विशेष में जन्मा हो या बाहर से आकर सदस्यता ग्रहण की हो, दोनों अवस्थाओं में समाज और उसके सदस्यों के साथ सामञ्जस्य स्थापित करना आवश्यक हो जाता है। यहीं से, समाज तथा व्यक्ति के बीच तादात्म्य लाने वाली प्रक्रिया में सामाजीकरण (Socialization) का अभ्युदय होता है। सामाजीकरण वह प्रक्रिया है जिसके माध्यम से व्यक्ति सामाजिक सम्बन्धों में भाग लेकर तथा समाज के व्यवहार-कलापों (Patterns of Behaviour) को ग्रहण करके और समाज के साथ सामञ्जस्य स्थापित करके समाज में अपने लिए एक स्थान बनाता है। सामाजीकरण में अभ्यासीकरण (Habituation) अनुकरण (Imitation) और सीखने (Learning) का महत्त्वपूर्ण हाथ रहता है। प्राणी के सामाजीकरण पर किये गये परीक्षणों के आधार पर यह नहीं कहा जा सकता कि किस सीमा तक इसमें मूल प्रवृत्तियों का हाथ रहता है और किस सीमा तक सामाजिक उद्दीपन (Social Stimulation) का। उदाहरणार्थ, मुर्गी का बच्चा मुर्गी का दाना चुगते देख कर ही दाना चुगना प्रारम्भ करता है यद्यपि उसमें दाना चुगने की जैविक क्षमता पहले ही से विद्यमान रहती है। इस विषय में दो तथ्य स्पष्ट हैं—एक, जिस प्राणी की जैविक सरचना मानव की जैविक सरचना के जितना समीप है, उतना ही उसमे सीखने की अधिक क्षमता है यद्यपि भाषागत प्रतीकों तथा पीढ़ी दर पीढ़ी संचित सामाजिक अनुभव के माध्यम से सीखने की क्षमता केवल मनुष्य में ही है। दूसरे, जिस प्राणी की जैविक सरचना मानव की जैविक सरचना से जितना दूर है, उसके सामाजिक व्यवहार के निर्धारण में आनुवंशिक कारकों का उतना ही अधिक हाथ है।

संस्कृति के आधारों को स्पष्ट करते समय यह दिखाया गया है कि अपनी जैविक सरचना से मानव अन्य प्राणियों से भिन्न है और इसी कारण मानव-समाज भी अन्य प्राणियों के समाज से भिन्न है। यह मानव की जैविक सरचना की विशेषताओं का ही परिणाम है कि मानव में सीखने के आधार और अन्य अधिक तीव्र हो गये हैं और उसके सीखने का क्षेत्र अधिक व्यापक हो गया है। भाषागत प्रतीकों और लिपि के कारण मानव का सीखना अधिक गतिशील हो गया है। प्रौद्योगिकी (Technology) का निर्माण केवल मनुष्य ने ही किया है। मानव की सीखने की क्षमता तथा प्रौद्योगिकी के कारण मानव समाज में पाया जाने वाला विशेषीकरण आनुवंशिकता पर आधारित नहीं है। मनुष्य को अपने शरीर का ताप समान रखने की आवश्यकता है और इसी कारण मनुष्य गर्मी में शीतलता लाने का प्रयास करता है और शीतलता मे गर्मी। इसका परिणाम यह हुआ है कि मानव में यौन क्रिया ऋतुओं के प्रभाव से मुक्त हो गई है। मानव में यौनिक क्रिया सतत चलती रहती है जिसके कारण मानव की प्रजनन-क्षमता अन्य प्राणियों की अपेक्षा अधिक बढ़ गई है। अमूर्त विचार-क्षमता के कारण मानव में आदर्श का अभ्युदय हुआ है जिसके कारण मानव-

समाज, आनुवंशिक कारकों के स्थान पर, आदर्श नियम व्यवस्था (Normative Order) से अधिक प्रभावित रहता है। संक्षेप में, जैविक आनुवंशिकता (Biological Heredity) की अपेक्षा मानव व्यवहार तथा समाज सामाजिक आनुवंशिकता (Social Heredity) से अधिक प्रभावित रहते हैं। मानव समाज में सामाजिक आनुवंशिकता के पहलू का जुड़ जाना ही मानव समाज की विशेषता है। मानव की सामाजिक आनुवंशिकता में ही संस्कृति निहित है। इसी आधार पर किंग्सले डेविस ने विभिन्न समाजों का दो श्रेणियों में वर्गीकरण किया है। एक श्रेणी में मानवेतर प्राणियों के समाज आते हैं जिन्हें जैविक सामाजिक प्रणाली की संज्ञा दी गई है और दूसरी श्रेणी में मानव समाज आता है जिसे सामाजिक सांस्कृतिक प्रणाली कहा गया है।

मानव एक है पर अनेक। मानव संस्कृति भी 'अविभक्त विभक्तेषु' (एकता-अनेकता) के प्रमेय में सन्निहित है। इसी कारण, सामान्य संस्कृति (The Culture) तथा विशिष्ट संस्कृति (A Culture) में अन्तर भी किया जाता है। उसी प्रकार, मानव समाज में भी एकता अनेकता का प्रमेय सन्निहित हो गया है। गिंसबर्ग के अनुसार, मानव-सम्बन्धों का सम्पूर्ण जाल सामान्य समाज है जबकि विशेष समाज कुछ व्यक्तियों का वह समूह है जो एक विशेष प्रकार के सम्बन्धों या व्यवहार प्रकारों (Modes of Behaviour) से बंधा रहता है। विशिष्ट समाज की यह धारणा इतनी परमाणुवादीय (Atomistic) प्रतीत होती है कि अन्ततोगत्वा समाज तथा समूह का अन्तर ही निरापद हो जाता है।

पर्यावरण भौगोलिक तथा ऐतिहासिक परिस्थितियों की भिन्नताओं ने विशिष्ट मानव समाजों को जन्म दिया है। हिमालय, अरब सागर, हिन्द महासागर तथा बंगाल की खाड़ी ने उन भौगोलिक परिस्थितियों को विशिष्टता प्रदान की जिसे भारत भूमि की संज्ञा दी गई है। इन विशिष्ट भौगोलिक परिस्थितियों में विशिष्ट ऐतिहासिक परिस्थितियाँ तथा प्रक्रियाएं चलती रही हैं जिनसे भारतीय समाज का निर्माण हुआ है। देश काल की सीमाओं से बंधन पर ही विशिष्ट अस्तित्व में आता है। अतः विशिष्ट समाज देश काल की सीमा से बंधा एक वह समाज विशेष है जिसकी अपनी विशिष्ट संस्कृति है। पर्यावरण और भौगोलिक तथा ऐतिहासिक परिस्थितियों के अतिरिक्त संस्कृति विकास के स्तर की भिन्नता, राष्ट्र धर्म तथा भाषा ने भी विशिष्ट समाज के परिसीमन में योग दिया है। इन्हीं कारकों का परिणाम है कि विशिष्ट समाज में भी विशिष्ट समाजों की उत्पत्ति होती है। भारत में हिन्दू मुस्लिम और आदिवासी समाजों की विशिष्टता इसका उदाहरण है।

नैरन्तर्य संस्कृति और समाज दोनों की विशेषता है। संस्कृति के नैरन्तर्य का आधार समाज है और समाज के नैरन्तर्य का आधार संस्कृति। इसी कारण, मानव स्तर पर संस्कृति तथा समाज दोनों में ऐतिहासिकता का समावेश होता है। दोनों का

अस्तित्व म काल (Time) की पष्ठभूमि रहती है। सम्कृति परिवतन सामाजिक व्यवस्था म प्रतिलम्बित होता है और सामाजिक परिवतन सस्कृति म। अत, सस्कृति के विश्लेषण म समाज का विश्लेषण आवश्यक हो जाता है और समाज के विश्लेषण म सस्कृति का। किसका किस सदभ म कहा तक विश्लेषण हो यह विश्लेषणकर्ता के दष्टिकोण और आवश्यकता पर निभर करता है।

6

सस्कृति और सभ्यता

इतिहासज्ञ और समाजशास्त्री सस्कृति (Culture) और सभ्यता (Civilization) म अन्तर करके उनका अलग अलग प्रयय मानते हैं जबकि मानवशास्त्री उनको एक ही प्रयय के दो ऐसे स्तर मानते हैं जिनम केवल मात्रा का अन्तर है न कि प्रकार का। 'सभ्यता' शब्द अग्रजी के शब्द सिविलीजेशन (Civilization) का हिन्दी पयाय है। शब्दकोशो म सभ्यता म अथ लिया जाता है 'समाज या सस्कृति की प्रगति स, या प्रगति की उस दशा स जिसम कला विज्ञान और राज प्रबन्ध (Statecraft) का अपेक्षाकृत अधिक विकास हुआ हो, या उस सस्कृति म जो वतमान यारोप का लक्षण है। मानव इतिहास इस बात का साक्षी है कि प्रौद्योगिकी और शहरीकरण के विकास के साथ-साथ विज्ञान कला, राज प्रबन्ध की उन्नति होती आयी है और वतमान योरोप की सस्कृति उसी निरन्तर विकास का एक परिणाम है। यारोपीय सस्कृति स उत्पन्न कुछ तत्व (जैसे शहरीकरण, प्रौद्योगिकी औद्योगीकरण, विशेषीकरण, बौद्धिकता, धमनिरपेक्षिता, राजनैतिक तथा आर्थिक शक्तियों और साधनो का केन्द्रीकरण और प्रभुता सम्पन्न राज्य) आज योरोपीय सस्कृति के ही तत्व नहीं हैं—ये तत्व सारे ससार मे फल रहे हैं और एक प्रमुख परिवतनकारी मकुल बन गये हैं। इसी मकुल को समाजशास्त्री सभ्यता की धारणा म बांधते है। सभ्यता को घनिष्ट सम्ब ध पार्थिव स स्थापित किया जाता है। आडम (Odum) ने सभ्यता के पाँच आधार माने हैं—1 नगरीकरण (Urbanization) के साथ साथ विशेषीकरण (Specialization) और सकेन्द्रण (Concentration) 2 प्रौद्योगिकी और उद्योगवाद (Industrialism), 3 बौद्धिकता तथा धमनिरपेक्षिता 4 शक्ति का केन्द्रीकरण और 5 तानाशाही राज्य (Totalitarian State)[1]। इसी आधार पर यह कहा गया है कि सभ्यता सस्कृति की एक विकसित

1 ओडम, एच० डब्ल्यू०, अण्डरस्टैडिंग सोसायटी अध्याय 15

अवस्था तथा विशेषीकृत प्रौद्योगिक स्तर (Specialized Technical Level) है। किन्तु, वह विकसित अवस्था तथा विशेषीकृत प्रौद्योगिक स्तर क्या है ? इसका उत्तर मानवशास्त्रियों की उस परिभाषा में मिलता है जिसमें यह कहा गया है कि सभ्यता शहरी संस्कृति है।

समाजशास्त्रियों की ऐसी मान्यता है कि संस्कृति की अपेक्षा सभ्यता का अधिक यथार्थ मापदण्ड हो सकता है। सभ्यता सदैव विकासोन्मुख रहती है और बिना किसी प्रयास के स्थानान्तरित होती रहती है। इसी दृष्टिकोण से, सभ्यता की परिभाषा में यह कहा गया है कि सभ्यता से तात्पर्य उस सम्पूर्ण यन्त्र (Mechanism) और संगठन से है जो मनुष्य ने अपने जीवन की दशाओं को नियन्त्रण में लाने के प्रयास में निर्मित किया है। इसमें मानव की सामाजिक संगठन प्रणाली ही नहीं वरन उसके द्वारा निर्मित प्रविधियाँ (Techniques) और भौतिक यन्त्र (Material Instruments) भी सम्मिलित है। संस्कृति मानव की उन कृतियों से बनता है जिनसे उसकी लालसाओं (Cravings) की तुष्टि होती है या जिनको मानव साध्य साधन के रूप में स्वीकार करता है। ऐसी कृतियों का सम्बन्ध आन्तरिक आवश्यकताओं से होता है न कि वाह्य आवश्यकताओं से। ये कृतियाँ मूल्यों, रागात्मक लगन, बौद्धिक साहसिकता (Intellectual Adventures) और शैलियों (Styles) के क्षेत्र से सम्बन्धित हैं। संस्कृति सभ्यता का वैपम्य (Antithesis) है। अपने जीवन यापन के प्रकारों विचारों, कला (Art), धर्म (Religion), प्रतिमोदन (Recreation) और आनन्द विनोद (Enjoyment) के दैनिक सव्यवहार (Daily Intercourse) में, संस्कृति मानव स्वभाव की अभिव्यक्ति है[1]।

आडम के अनुसार, सभ्यता की अपेक्षा, संस्कृति में स्वनिर्वतीकरण (Self Perpetuation) और स्थायित्व की अधिक क्षमता है। संस्कृति में, सभ्यता की अपेक्षा, वह शक्ति भी अधिक अन्तर्निहित है जिसके द्वारा संस्कृति अपना पुनरुत्पादन (Reproduction) ही नहीं कर सकती है वरन विकास की विभिन्न अवस्थाओं में उन्विकसित भी होती रहती है। अतः संस्कृति का सम्बन्ध जन से है जबकि सभ्यता का सम्बन्ध राज्य (State) से। संस्कृति सग्रथित समाज (Composite Society) है जिसमें अपने पुनरुत्पादन की क्षमता है और सभ्यता संघटक समाज (Constituent Society) है जिसमें सीमित प्रकार के विशेष उद्देश्य या उद्देश्यों की ही पूर्ति होती है। *संस्कृति समाज के विकास का सर्वोच्च साधन है जबकि सभ्यता,* अपने में ही सीमित एक साधन है न कि किसी साध्य के लिए साधन। संस्कृति एक आधारभूत सामाजिक प्रक्रिया (A Fundamental Social Process) और सामाजिक साधना (Social Means) का प्रतीक है जबकि सभ्यता प्रतीक है सामाजिक पदार्थों

1 ओडम, एच० डब्लू०, अण्डर स्टैंडिंग सोसायटी पृष्ठ

(Social Products) और पार्थिव प्राविधिक साधना (Material Technical Mean) की। संस्कृति प्रतीक है वृद्धि (Growth), विकास (Development) उद्विकास (Evolution) और अतिजीविता (Survival) का और सभ्यता प्रतीक है प्रगति (Progress), सिद्धि (Achievement), क्रांति (Revolution) और अधोगति (Decline) की। मशीन (Machine) जनपुंज (Mass) और वर्ग (Class) सभ्यता के चिह्न हैं। जन (The people) प्रजातन्त्र (Democracy), मानव चेष्टायें (Human Striving) और वैयक्तिक तथा व्यक्तिगत (Presonal Individual) सुयोग (Opportunities) संस्कृति के प्रतीक हैं। संस्कृति यौवनमय (Youthful), विचारमय (Ideological) अनौपचारिक (Informal), यथार्थिक (Realistic) और मानव जाति की भावना तथा आत्मा की सार वस्तु है। सभ्यता का झुकाव बौद्धिकता संगठन प्राविधिकता और युटोपिया (Utopia) की ओर अधिक रहता है। संस्कृति प्रतिनिधि है सामाजिक निर्णयवाद (Social Determinism) की जबकि सभ्यता प्रतीक है प्राविधिक निर्णयवाद (Technical Determinism) की। संस्कृति का विकास जन जीवन के धरातल से होता है जबकि सभ्यता जन जीवन पर अध्यारोपित (Superimposed) होती है। साधारणतः संस्कृति सहवासी समुदाय और प्राथमिक समूहों के जीवन का प्रतिबिम्ब होती है जबकि सभ्यता प्रतिबिम्ब होती है नगरीय प्राप्तियां (Urban Attainments) औद्योगिक व्यवस्था (Industrial Order), द्वितीयक समूहों (Secondary Groups), बड़े-बड़े शहरों की तरह संगठित राष्ट्रों और साम्राज्य की। सामाजिक उद्विकास की सभी अवस्थाओं में लागू होने वाली, संस्कृति संचयी विरासत (Cumulative Heritage) है जबकि सभ्यता विकसित प्रगति का एक अंशमात्र होती है[1]।

साधारणतः संस्कृति और सभ्यता में ऐसे ही विभेद किये जाते हैं। इन विभेदों के आधार पर सभ्यता का जो रूप निखरता है उसमें कुछ अवांछनीयता का भाव झलकता है। यदि संस्कृति वांछनीय है तो सभ्यता भी क्योंकि संस्कृति और सभ्यता दोनों ही मानव की कृतियाँ हैं। इन विभेदों के बावजूद भी, यह कहना कठिन है कि कहाँ सभ्यता प्रारम्भ होती है और कहाँ संस्कृति। यदि सामान्य मानव-संस्कृति के सन्दर्भ में विचार किया जाय तो सभ्यता भी संस्कृति में विलीन हो जायगी क्योंकि उस स्तर पर सभी कुछ मानव संस्कृति का अंग है। सभ्यता और संस्कृति के विभेद अधिक यथार्थ तब लगते हैं जब हम संस्कृति विशेष के सन्दर्भ में मानव कृतियों (उनके स्वरूपों और सम्बन्धों) पर विचार करते हैं। मानव इतिहास के प्रारम्भ से ही शहरीकरण औद्योगिकता, बौद्धिकता इत्यादि उन विशेषताओं का जन्म हो चुका था जिन्हें आज

1 यहाँ तक प्रस्तुत सभ्यता की धारणा के विशद अध्ययन के लिए देखिये आइम की पुस्तक अण्डरस्टैंडिंग सोसायटी अध्याय 15

हम सभ्यता के लक्षण मानते हैं। इन लक्षणों का विकास नगरीकरण और प्रौद्योगिकी के साथ-साथ बढ़ा है। अतः यह कहना गलत है कि सभ्यता ही संचयी प्रक्रिया है। सभ्यता और संस्कृति दोनों ही संचयी प्रक्रियायें हैं। इसका यह तात्पर्य नहीं कि सभ्यता और संस्कृति में अन्तर करना आवश्यक नहीं। वर्तमान संसार में योरोप की प्रौद्योगिक शहरी व्यवस्था फैल रही है और एक प्रमुख परिवर्तनकारी शक्ति का रूप ले रही है। आज तक के उच्चतम विकास से एक ऐसा संकुल बन गया है जिसे धारणा की सीमा में लाना आवश्यक है। शहरी प्रौद्योगिक औद्योगिक तत्व और उनसे उत्पन्न सामाजिक आर्थिक विषमताएं इस संकुल के मुख्य आधार हैं। यही संकुल सभ्यता है जो वस्तुतः प्रतीक है मानव संस्कृति के विकास की एक अवस्था विशेष का। इसी दृष्टिकोण से यह कहना ठीक होगा कि सभ्यता शहरी व्यवस्था की संस्कृति है।

५

संस्कृति के कारक तत्व

यह निर्विवाद है कि मानव की शारीरी दैहिक (जवकीय) आवश्यकतायें संस्कृति निर्माण में प्रथम कारक हैं। शिकार करने के लिए शेर के पास पंजे हैं। शरीर रक्षा के लिए बिच्छू के पास उसका विषभरा डंक है और शरीर को गर्म रखने के लिए ठण्डे प्रदेश के जानवरों के शरीर पर बाल। किन्तु मनुष्य के पास न तो शेर के समान कोई पंजा है न बिच्छू के समान कोई डंक और न शरीर को गर्म रखने के लिए शरीर पर उगने वाले घने लम्बे बाल। गर्मी सर्दी से बचने के लिए मनुष्य को कपड़ा और घर की आवश्यकता है, भूख मिटाने के लिए फल, अनाज तथा शिकार की और अपने बचाव के लिए अस्त्र शस्त्रों की। संस्कृति को जन्म देने वाली शारीरी-दैहिक आवश्यकतायें मानव की शरीर संरचना से उत्पन्न होती हैं और मानव की शरीर संरचना आंगिक उद्विकासी प्रक्रिया (Organic Evolutionary Process) की उत्पत्ति है। सीधे खड़े होकर दो पैरों पर चलने की क्षमता, चलने फिरने के भार से हाथों का मुक्त होना, हाथ और कलाई का अधिक सुगमता से चारों ओर घुमा सकना, अंगुलियों और अंगूठे की सहायता से वस्तुओं को पकड़ कर उनको अनेक पहलुओं से देख सकना, दृष्टि में केन्द्रीकरण की क्षमता (त्रिविम दृष्टि Stereo scopic Vision) अमूर्त विचार क्षमता (Abstract Thinking) तार्किक तथा कार्य कारण सम्बन्ध स्थापित कर सकने में सक्षम मस्तिष्क और भाषा के माध्यम से गढ़े हुए प्रतीकों के द्वारा विचारों के आदान प्रदान की शक्ति ये शारीरिक विषमतायें हैं जो मानव को प्रकृति से वरदान के रूप में मिली हैं और जिन्होंने मानव को संस्कृति

निमाण की क्षमता प्रदान की है। मानव मस्तिष्क, हाथ और भाषा ही वे मुख्य उपकरण हैं जिनके द्वारा संस्कृति निर्माण सम्भव हुआ। आंगिक उत्विकास की प्रक्रिया ही ऐसी रही है कि एक ओर, मानव नाम के प्राणी ने उन शारीरिक उपकरणों का पाया जिनसे अन्य प्रकार के प्राणी प्रकृति से सामञ्जस्य स्थापित किया करते हैं और, दूसरी ओर, उसे वे शारीरिक विशेषताये प्राप्त हुई जिनकी सहायता से उसने प्रकृति से सामञ्जस्य स्थापित करने के लिए अशरीरी (Extra Corporeal) उपकरण उत्पन्न किए। यही नही, भाषा को निर्मित करने की क्षमता के कारण, मानव अपने अनुभवो का परम्परागत बनाने मे सफल हुआ। कार्य-कारण सम्बन्ध स्थापित कर सकने की क्षमता और हाथ की सरचना से मिले कौशल ने यदि अशरीरी उपकरणो (मकान, यातायात के साधन, कृषि, कपडे, कला, राज्य इत्यादि) के निर्माण मे सहायता की तो अमूर्त विचार विमर्श की क्षमता और भाषा प्रतीको ने अनुभवो को सुरक्षित रखने और आकल्पनाओ को गढने मे सहायता की। इन्ही क्षमताओ के कारण, अन्य प्राणियो के विपरीत, यदि मानव को प्रकृति के अनुकूल बनना पडा तो उसने प्रकृति को भी अपने अनुकूल बनाने का प्रयत्न किया। यह सर्वविदित है कि यदि मनुष्य हवाओ के रुख को न बदल सका तो उसने नावो मे परदे लगाकर यातायात मे हवा का लाभ उठाया, यदि वह नदियों की प्रलयकारी बाढ से न बच सका तो उसने बाध-बाँध कर उन पर नियन्त्रण पाने का प्रयत्न किया। प्राकृतिक सन्तुलन को समाप्त कर मानव ने अपना एक अलग सन्तुलन (सास्कृतिक सन्तुलन) स्थापित किया। संस्कृति, वस्तुत, वह परदा है जो मानव ने अपने और प्रकृति के बीच तान रक्खा है[1]।

६

संस्कृति ऐतिहासिक पक्ष

सर चार्ल्स डारविन (Sir Charles Darwin) और उनके अनुयाइयो द्वारा प्रतिपादित सिद्धान्तो के अनुसार, मनुष्य और उसकी शारीरिक विशेषतायें आंगिक उत्विकासी प्रक्रिया की उत्पत्ति हैं। जीव विकास-वेत्ताओ (Palæontologists) और भूगर्भवेत्ताओ (Geologists) के अनुसार इस पृथ्वी के वर्तमान तथा विलुप्त प्राणी उद्विकासी आंगिक प्रक्रिया की उत्पत्ति हैं। प्राणी प्राणो की शरीर रचनाओ मे पाई जाने वाली समानतायें और पृथ्वी के गर्भ मे पाये गये लुप्त प्राणियो के कंकाल (जीवाश्म

1 विशेष अध्ययन के लिए देखिए प्राइन चाइल्ड कृत मन मेक्स हिमसेल्फ अध्याय 2

fossil), इसके प्रमाण है। जीव विकास विज्ञान वेत्ताओं के अनुसार इस बात के प्रमाण अवश्य मिलते हैं कि आज से सवा करोड़ों वर्ष पूर्व एक वह युग था जब एककोषी (प्रजीव Protozoa) जीव उत्पन्न हुए। इस युग को आरकियोज्वायक (Archaeozoic प्राजीवीय) युग कहा गया है। उसके बाद प्रोटिरोज्वायक (Proterozoic पूर्व पुराजीवीय) युग में बहुकोषी (Matazoa) प्राणियों की उत्पत्ति हुयी। मानव बहुकोषी है, अतएव उसके उद्गम की जड़ें इसी युग के विकास में है। पल्यिोज्वायक (Palaeozoic पुराजीवीय) युग को मछलियों का युग कहा गया है क्योंकि इस युग में रीढ़धारी (Vertebrate) प्राणियों के विकास के दौरान में मछलियों का विकास हुआ। इस युग में प्राणिक विकास काफी गति से हुआ। इस युग के अन्त तक उभयचरों (Amphibia मेढक जैसे प्राणी जो पानी में भी रह सकते है और पृथ्वी पर भी) और रेंगने वाले प्राणियों का विकास हो चुका था। मेसोज्वायक (Messozoic मध्यजीवाश्म) युग में रेंगने वाले प्राणियों (Reptiles सरीसृपों उरगों) का चरम विकास हुआ और यह विकास इस सीमा तक पहुँचा कि इस युग के अन्त तक, इस युग में विकसित भारी भरकमवाली रेप्टाइल्ों (Reptiles) का अन्त हो गया। पल्यिोज्वायक युग के अंतिम अध्याय में छोटे स्तनधारी (स्तनपायी, Mammals) प्राणी अस्तित्व में आ चुके थे। मेसोज्वायक युग में प्रचण्ड, दैत्याकार भारी भरकम वाली रेप्टाइलों ने पृथ्वी पर इतना प्रभुत्व जमा रक्खा था और उनसे पृथ्वी इतनी अशान्त थी कि वर्तमान स्तनपायी प्राणियों के पूर्वज छिपे से रहे और उनका विकास रुका सा रहा। मेसोज्वायक युग के बाद सेनोज्वायक[1] (Cenozoic नूतन जीवीय) युग में वर्तमान स्तनपायी प्राणियों का, जिनमें मनुष्य भी शामिल है, विकास हुआ। जीव विकास के दृष्टिकोण से सेनोज्वायक को दो युगों में बाँटा गया है—एक टर्शियरी (Tertiary) और दूसरा क्वाटनरी (Quaternary)। टर्शियरी में बड़े बड़े स्तनपायी प्राणियों (बन्दरों वानरों) और मानव के प्रकार के तथा स्वयं मानव को जन्म देने वाली प्राणिक शाखा का विकास हुआ। क्वाटनरी युग के प्रारम्भ होते होते, जीवाश्म के रूप में ऐसे प्राणी मिलते हैं जो वस्तुतः मानव के समान नहीं हैं किन्तु अपनी शरीर रचना में वानरों की अपेक्षा मानव के अधिक निकट हैं। क्वाटनरी युग का प्रारम्भ दस लाख वर्ष ईसा पूर्व हुआ था और वह वर्तमान में समाया हुआ है। इस युग के मध्य में, वर्तमान मानव के जीवाश्म (Fossils) मिलते हैं। अतएव, यह कहा जा सकता है कि वर्तमान मानव का अस्तित्व लगभग पचास हजार वर्ष से अधिक पुराना नहीं है। प्राणिक विकास के इस संक्षिप्त विवरण से यह न समझना चाहिए कि ये युग पूर्व निर्धारित थे और किसी अदृश्य योजना के अनुसार यथा अवसर पर प्राणी विकसित होते गए। प्राणिक उदविकास एक जटिल प्रक्रिया है जिसमें आनुवंशि

---

1 सेनोज्वायक को केनोज्वायक (Cainozoic) भी कहा जाता है।

क्ता और पर्यावरण का हाथ रहा है। जीव (Organism) मे निरन्तर परिवर्तन होने के कारण ही ये विकास सम्भव हुआ है और स्वय मानव का शरीर भी अनेक परिवर्तनो का परिणाम है। यह विकास और परिवर्तन क्या हुआ ? मानव इस पृथ्वी पर क्या विकसित हुआ ? इन प्रश्नों का शास्त्रीय स्पष्टीकरण तो सम्भव हुआ है किन्तु, इस विकास का क्या उद्देश्य है इस प्रकार के प्रश्नों के उत्तर न दिए जा सकते हैं और न दिए जा सकते है क्योकि एस प्रश्नो का क्षेत्र दर्शन म है न कि समाजशास्त्र म। हा, यह अवश्य है यदि मानव का शन शनै विकास हुआ है यदि मानव का भी आदि है तो मानव द्वारा निर्मित सस्कृति का भी आविष्कार है और उसकी भी अपनी विकास कहानी है[1]।

सिद्धान्त इस तथ्य को अस्वीकार नहीं किया जा सकता कि सस्कृति का आदि और उसका विकास क्रम नहीं है। उन्नीसवा शताब्दी के प्रारम्भ और मध्य म मानवशास्त्रियो ने जहा, एक ओर, मानव के आंगिक और सास्कृतिक विकास की गुत्थियो को सुलझाया वहाँ, दूसरी ओर आदिकालीन सस्कृति की खोज के व्यूह म भी भटक गए। इसी प्रयास में सास्कृतिक उद्विकासवाद (Cultural Evolutionism) की धारणा का जन्म हुआ और इस धारणा के प्रतिष्ठापोषको ने यह प्रतिपादित किया कि इतिहास की गति प्रगति की ओर है। दूसरी ओर, इसाइयत से प्रभावित इतिहासकारो न यह दिखाने का प्रयत्न किया कि मानव पतन की ओर जा रहा है। किन्तु शास्त्रीय दृष्टिकोण से य दोनो मत गलत हैं क्योंकि इतिहास हमे नहीं बता सकता है कि मानव प्रगति की ओर है या पतन की ओर। प्रगति क्या है ? इस प्रश्न का शास्त्रीय उत्तर ही कठिन है। तथ्यो का निरीक्षण और वर्गीकरण करके तथा उनमे निहित कार्य कारण के सम्बन्धो के आधार पर विकास प्रक्रिया का प्रतिपादित करके ही शास्त्र भूत और वर्तमान को एक शृंखला म जोडने वाली कडियो को स्पष्ट कर सकता है। सस्कृति उद्विकास एक निरन्तर सचमी प्रक्रिया है और परिवर्तनो के रूप मे, एक ऐतिहासिक तथ्य है किन्तु, दुर्भाग्यवश, इतिहासकारो न, इस प्रक्रिया को स्पष्ट करने के बजाय, या तो उसम उद्देश्य पूर्व निर्धारित गति और दिशा ढूढने का प्रयत्न किया है या उसम अपनी कोई पूर्व निर्धारित मान्यता या उसस किसी भावी कार्यक्रम को उचित ठहराने का प्रयत्न किया है। हरबर्ट स्पेंसर (Herbert Spencer) और लुई मारगन (Lui Morgan) ने यह प्रतिपादित किया कि सभी मानव समाज और सस्कृतिया प्रगति की ओर जा रही है और प्रगति की चरम सीमा है यूरोप अमरीकी समाज का स्तर। इसी विचारधारा के प्रभाव म, इगलैंड के इतिहासकारो न विक्टा-

1 विशेष अध्ययन के लिए देखिए —1 सहानी एम० आर० मन इन इवोल्यूशन, 2 हावेल्स, विलियम मनकाइण्ड सो फार 3 ब्रूम रावर्ट आन फाइंडिंग दि मिसिंग लिंक

रिया के राज्यकाल का स्वर्णिम युग कहा। मार्क्स ने इतिहास के ही माध्यम से यह सिद्ध करने का प्रयत्न किया कि ऐतिहासिक प्रक्रिया संसार को साम्यवाद की ओर लिए जा रही है और सम्भवतः इसी कारण प्रत्येक साम्यवादी, क्रांति की कामना करता हुआ क्रांति के लिए प्रयत्न करता है क्योंकि उसके विचार से इतिहास का यही प्रारम्भ है कि क्रान्ति के द्वारा पूंजीवाद नष्ट हो और साम्यवाद की स्थापना हो। इतिहास इतिहास है—एक निरन्तर विकास क्रम। चाहे हम उसे एक वैज्ञानिक की भांति निष्पक्ष और तटस्थ होकर देखें या अपनी आंखों पर किसी विचारधारा विशेष का रंगीन चश्मा लगाकर।

आज यह सर्वमान्य है कि ऐतिहासिक प्रक्रिया में सांस्कृतिक उद्‌विकास निहित रहता है किन्तु उसके पीछे न तो कोई पूर्वनिर्धारित उद्देश्य है न कोई गति विशेष और न उसका कोई निश्चित गन्तव्य। सांस्कृतिक उद्‌विकास एक ऐतिहासिक प्रक्रिया है जिसमें ऐतिहासिक परिस्थितियां सर्वदा परिवर्तन और विकास को इस प्रकार प्रभावित करती हैं कि भूत और वर्तमान को मिलाने वाली मुख्य कड़ियां, अपना अस्तित्व बनाए रखते हुए ऐतिहासिक प्रक्रिया को वर्तमान में ले आती है। एक स्थिति दूसरे को जन्म देती है और दूसरी तीसरी को—एक सोपान दूसरे तक पहुंचने में सहायता करता है और दूसरा तीसरे तक। अपने में कुछ मुख्य आधारों को समेटे हुए विकास प्रक्रिया इस प्रकार चलती रहती है कि उद्‌विकास अस्तित्व में आता है। मानव के लिए उद्‌विकास की कल्पना सम्भवतः उतनी ही प्राचीन है जितना कि स्वयं मानव क्योंकि प्रत्येक काल और स्थान में मानव ने भूत और वर्तमान के कार्य कारण सम्बन्ध को स्थापित करके उन्हें समझने का प्रयत्न किया है। सृष्टि रचना की कथायें इसका प्रमाण हैं। आधुनिक शास्त्रीय मान्यताओं के कारण उद्‌विकास का तटस्थ और शास्त्रीय अध्ययन पहले की अपेक्षा अधिक सम्भव है। सम्भवतः, इसी कारण यदि एक ओर सांस्कृतिक उद्‌विकास की पुरानी धारणा की तीव्र आलोचना करके उसे अशास्त्रीय कहा गया है तो दूसरी ओर सांस्कृतिक उद्‌विकास को एक ऐतिहासिक तथ्य मानकर उसके वास्तविक स्वरूप और कारकों को समझने का प्रयत्न किया गया है। जूलियन स्टीवार्ड (Julian Steward) ग्राडन चाइल्ड (Grodon Childe) और लेस्ले व्हाइट (Leslie White) सांस्कृतिक उद्‌विकास के वर्तमान समीक्षकों में से हैं।

प्राचीन उद्‌विकासवादियों ने यह प्रतिपादित किया था कि उद्‌विकास की क्रिया कुछ अवस्थाओं (Stages) से होकर गुजरती है और इस सन्दर्भ में मारगन (Morgan) द्वारा प्रतिपादित जंगलीपन (Savagery), बर्बरता (Barbarian) और सभ्यता (Civilization) की अवस्थायें समाजशास्त्रीय और मार्क्सवादी साहित्य में काफी प्रसिद्ध हैं। ग्राडन चाइल्ड ने अपने विवेचन में मारगन की उद्‌विकास विषयक धारणा का परित्याग किया है किन्तु उसके द्वारा निर्धारित अवस्थाओं की

नामावली का प्रयोग किया है। चाइल्ड के अनुसार जंगलीपन, बर्बरता और सभ्यता आर्थिक विकास की तीन प्रधान अवस्थाओं की द्योतक हैं। जिस प्रकार औद्योगिक क्रान्ति ने आर्थिक परिवर्तनों के साथ-साथ सामाजिक सांस्कृतिक परिवर्तनों को जन्म दिया, उसी प्रकार, प्रत्येक अवस्था के आर्थिक संगठन ने तत्कालीन सामाजिक-सांस्कृतिक परिवर्तनों को जन्म दिया। जंगली अवस्था द्योतक है उस सामाजिक-आर्थिक संगठन की जिसमें मनुष्य कन्दमूल और आखेट पर जीवन बसर करता था, बर्बरता उस अवस्था की जब मानव ने कृषि का आविष्कार किया और जानवर पालना आरम्भ किया और सभ्यता उस अवस्था की जब मनुष्य ने तांबा, कांसा और लोहा जैसे धातुओं का प्रयोग करना सीखा[1]। ल्सले ह्वाइट ने भी इसी विकास नामावली का प्रयोग किया है किन्तु उनकी मान्यता में प्रत्येक नाम प्रतीक है उस अवस्था का जब मनुष्य एक विशेष प्रकार की शक्ति का प्रयोग करता था। जंगलीपन में मानव ने अपनी शारीरिक शक्ति का नियन्त्रित किया, बर्बर अवस्था में कृषि और जानवरों की शक्ति का और सभ्य अवस्था में धातुओं के प्रयोग से उत्पन्न शक्ति को। ह्वाइट के अनुसार, इन शक्तियों पर नियन्त्रण और उनका प्रयोग संस्कृति के उद्विकास और परिवर्तन का मुख्य कारण है। स्टीवार्ड के अनुसार उद्विकास निहित है उन सांस्कृतिक नियमितताओं (Cultural Ragularities) में जो सभी संस्कृतियों में अवतरित होती रही हैं। ये नियमिततायें पाँच हैं जिन्हें स्टीवार्ड ने अवस्थायें न कह कर युग कहा है[2]। सांस्कृतिक उद्विकास के विवेचन की इन रूपरेखाओं से यह स्पष्ट है कि संस्कृति कुछ अवस्थाओं से होकर गुजरी है और किसी भी संस्कृति के ऐतिहासिक अध्ययन में विकास की अवस्थाओं का निर्धारण आवश्यक सा है। भारतीय संस्कृति के समान, जिन संस्कृतियों का लिखित क्रमबद्ध इतिहास मिलता है, उनके विकास की कहानी, ऐतिहासिक अवस्थाओं की पृष्ठभूमि में अधिक स्पष्ट हो उठती है।

योरोप की परम्परा में इतिहास को अधिकतर काल क्रम विन्यास (Chronology) के ही रूप में देखा गया है जिसके कारण वहाँ इतिहास मुख्यतः राजघरानों के उत्थान और पतन की कहानी मात्र रहा है। राजघरानों के उत्थान-पतन केवल घटनायें हैं जो ऐतिहासिक प्रक्रिया को जन्म देने वाली कुछ विशिष्ट शक्तियों पर निर्भर रहती हैं। इंगलैण्ड, फ्रान्स और रूस के राजघरानों का पतन वहाँ की राज्य क्रान्तियों के कारण हुआ और ये क्रान्तियाँ परिणाम हैं इन देशों में फैलने वाली विचारधाराओं की जननी वहाँ की ऐतिहासिक परिस्थितियों की। इसी कारण, यह

[1] चाइल्ड वी० गार्डन 1 मैन मेक्स हिमसेल्फ, 2 ह्वाट हैपेन्ड इन हिस्ट्री, 3 सोशल इवोल्यूशन

[2] बील्स एण्ड हॉयजर एन इन्ट्रोडक्शन टु एन्थ्रापालोजी

कहा गया है कि इतिहास की वास्तविक विषयवस्तु है अर्हायें (Values), परम्पराय (Tradition) और लोकगाथाय (Myths) जो अनेक प्रकार से मानव जीवन और व्यवहार को प्रभावित करती हुई इतिहास की गति और दिशा को भी प्रभावित करती है। अर्हायें, परम्परायें और लोकगाथायें युग युग तक चलती रहती है और इसीलिये वर्तमान की समस्याओं तथा गुत्थियों को सुलझाने और समझने के लिये इनका ऐतिहासिक स्पष्टीकरण आवश्यक है। इतिहास वास्तव में, समाज के व्यावहारिक पक्ष का मनोविज्ञान और दर्शन है जिसके अध्ययन का वास्तविक विषय है युग युग में विकसित होने वाले संस्कृति के गुण (Qualities) और कलापों (Patterns) की उत्पत्ति विकास परिवर्तन और उनकी कार्यात्मक प्रक्रिया (Functional Process)। इसी दृष्टिकोण से समाजशास्त्र को इतिहास का दर्शन कहा गया है। समाजशास्त्रीय दृष्टिकोण से घटनायें नहीं वरन घटनाओं को जन्म देने वाली प्रक्रियायें और शक्तियाँ महत्त्वपूर्ण है। भारत जैसे देश में, जहाँ सांस्कृतिक विकास का क्रमिक इतिहास विद्यमान है और जहाँ नाना प्रकार के मानव समूह अलग अलग रहते हुये भी एक तार में गुथते रहे है, इतिहास का केवल राजनैतिक या आर्थिक निर्वचन एकांगी है। भारतीय संस्कृति का इतिहास साधारणतः मानव-अर्हाओं (Human Values), दर्शनों, धर्मों कलाओं, सामूहिक जीवन यापन के प्रकारों और अनेकता में एकता स्थापित करने वाली विचारधाराओं के सतत विकास का इतिहास है[1]।

परम्परागत इतिहास की एक अन्य कमजोरी भी है। यह परम्परा का ही प्रभाव है कि इतिहास का अध्ययन क्षेत्र वहाँ से प्रारम्भ होता है जहाँ से मानव संस्कृति या संस्कृतियों का लिखित विवरण प्राप्त होता है। किन्तु लिपि और लेखन कला का इतिहास पाँच हजार वर्ष से अधिक पुराना नहीं है। यह सर्वविदित है कि भारत में हड़प्पा और मोहनजोदडो में लिपि के प्रमाण पाये गये है। हड़प्पा और मोहनजोदडो की संस्कृति का काल तीन हजार वर्ष ईसवी पूर्व के लगभग आता है। किन्तु मानव का अस्तित्व उससे कहीं अधिक प्राचीन है। आर्यों के ऋग्वेद में जिन परम्पराओं अथवा विचारों का आभास मिलता है वे लेखबद्ध होने के बहुत पहले अस्तित्व में आ चुकी होंगी। अतएव संस्कृति के विकास का पूर्णरूपेण समझने के लिये ऐतिहासिक क्षेत्र और अध्ययन रीति को अधिक व्यापक बनाने की आवश्यकता है और वह तभी हो सकता है जब इतिहास और प्रागैतिहास का समन्वय किया जाय। चाइल्ड चाइल्ड के मतानुसार प्रागैतिहास इतिहास को युगों पीछे भूतकाल में ले जाकर, अधिक व्यापक और वास्तविक बना देता है। आखिरकार, वर्तमान संस्कृति के मुख्य उपकरणों (कृषि, अग्नि धातुओं का प्रयोग, चक्र (पहिया) और

---

1 मुकर्जी राधाकमल ए हिस्ट्री आफ इण्डियन सिविलीजेशन पृष्ठ 2 55

निर्माण कला) का उद्भव और विकास प्रागैतिहासिक काल में ही हुआ है।

प्रागैतिहास का अध्ययन स्वतः पूर्ण नहीं है क्योंकि प्रागैतिहासिक अध्ययन भूगर्भशास्त्र (Geology) जीव विकास विज्ञान (Palaeontology) और पुरातत्व-शास्त्र (Archaeology) के पारस्परिक सहयोग पर निर्भर है यद्यपि इस अध्ययन में पुरातत्वशास्त्र का ही प्रमुख भाग रहता है। जिस प्रकार इतिहासकार लिखित अभिलेखों के माध्यम से मानव संस्कृति का निर्वचन करता है उसी प्रकार पुरातत्व-वेत्ता उन पुरातत्वों के माध्यम से जो मानव से सम्बन्धित रहे हैं या जिन पर मानव के निर्माण कौशल की अमिट छाप लगी है मानव संस्कृति के उद्गम, विकास और प्रसरण को समझने का प्रयास करता है। मानव द्वारा निर्मित अनेक वस्तुएं प्रस्तरीकृत अथवा अपने प्रारम्भिक रूप में पृथ्वी के गर्भ में पायी गयी हैं जिन्हें पुरातत्व-वेत्ताओं के फावड़ों ने खोज निकाला है और जिनके द्वारा मानव के प्रागैतिहासिक अस्तित्व पर काफी प्रकाश पड़ा है। यह सत्य है कि न तो मानव द्वारा निर्मित सभी कुछ प्रस्तरीकृत हुआ है और न काल के गाल में ही जाने से बचा है। वास्तव में, मानव द्वारा निर्मित संस्कृति के पार्थिव तत्व ही पृथ्वी के गर्भ में पड़े रह पाये हैं जिनका एक नगण्य अंश ही हमारे सामने आ पाया है। पार्थिव के द्वारा पुरातत्व-वेत्ता अपार्थिव को भी समझने का प्रयत्न करता है और एक बड़ी सीमा तक, उसमें सफलता भी मिलती है। वर्तमान समय में भी, मृत व्यक्ति के साथ उसकी प्रिय वस्तु अथवा दैनिक जीवन में काम आने वाली वस्तुओं को दफनाने या जलाने की प्रथा है और यह प्रथा आत्मा और पारलौकिक जीवन में विश्वास पर आधारित है। अतएव, यदि कहीं ऐसी कब्र मिले जिसमें गड़े हुये शव को दैनिक व्यवहार की वस्तुओं के साथ दफनाया गया हो तो पुरातत्ववेत्ता की यह धारणा गलत न होगी कि जिन लोगों ने उस शव को दफनाया था उनका आत्मा और पारलौकिक जीवन में विश्वास रहा होगा।

७

मानव-संस्कृति के चार अध्याय

यूरोप मध्य एशिया भारत, इण्डोनेशिया, चीन और अफरीका में पाये गये पुरातत्वों और मानवीय जीवाश्मों (Humanoid Fossils) के आधार पर, प्रागैतिहास के विद्यार्थियों ने मानव-संस्कृति के उद्गम और विकास की रूपरेखायें प्रस्तुत की हैं। यह पहले ही लिखा जा चुका है कि जीव विकास विज्ञान-वेत्ताओं के द्वारा प्रतिपादित सेनोज़ोइक (Cenozoic) युग को टर्शियरी और क्वाटर्नरी नामक

दो भागो म बाटा जाता है। टर्शियरी की अवधि लगभग छ करोड वष ईसवी पूव से लेकर सतर लाख वष ईसवी पूव तक मानी जाती है और क्वाटनरी लगभग दस लाख वष पूव से प्रारम्भ होकर वतमान म समा जाता है। टर्शियरी महत्त्वपूण भूगर्भीय उथल पुथल का समय माना जाता है। इसी युग म पवतराज हिमालय का जन्म हुआ और भारत कहा जाने वाला भूभाग अस्तित्व म आया। इसी काल म बडे बड स्तनपायी जानवरा का उदविकास हुआ। पथ्वी के परतो का अध्ययन करके भूगभशास्त्रियो न टर्शियरी को चार कालो म बाँटा है—इयोसीन (Eocene) आलिगोसीन (Oligocene), मायोसीन (Miocene) और प्लायोसीन (Pliocene)। टर्शियरी के प्रारम्भ म नील नदी की घाटी म कुछ ऐस जीवाश्म मिले है जो इस बात के प्रतीक है कि इस काल मे बन्दरा (Monkeys) और वानरो (Apes) का अलग-अलग विकास हो चुका था क्योकि टर्शियरी के मध्यकाल (मायोसीन Miocene) स मिलने वाले जीवाश्म वानरा के प्रकार के होते हुये भी उनस भिन्न है। अफरीका भारत और इण्डोनेशिया स प्राप्त, मध्य टर्शियरी के जीवाश्म शरीर रचना के दृष्टिकोण से वानरो से भिन्न हैं और मानव के अधिक समीप है। इसी कारण, यह मत निर्धारित किया गया है कि मानव को जन्म देने वाली विकास शाखा का उदगम मध्य-टर्शियरी मे है और मानव का विकास अफरीका तथा योराप से लेकर एशिया तक फले हुय क्षेत्र म हुआ है। मानव और वानरो की विकास शाखाओ को मिलाने वाली कडी का क्या रूप था इसका निणय न हो सका है और न हो सकेगा क्योकि उदविकास एक सतत परिवतनकारी प्रक्रिया है[1]। क्वाटनरी म मानव और मानव प्रकार के जीवाश्म भी मिलत है और संस्कृति क पार्थिव उपकरण भी। यही वह काल है जिसम मानव और संस्कृति का विकास हुआ। भूगभशास्त्रियो के अनुसार क्वाटनरी को दो कालो म विभक्त किया जाता है—प्लस्टोसीन (Pleistocene) और होलोसीन (Holocene)। प्लस्टोसीन म वतमान मानव के जीवाश्म नही मिलते है। यह अवश्य है कि प्लस्टोसीन स जितने भी जीवाश्म मिल है वे शरीर रचना म, टर्शियरी के जीवाश्मो की अपेक्षा, वतमान मानव के अधिकतम समीप है और जिनके ये जीवाश्म हैं वे वतमान मानव के पूवजो के रूप म मानव संस्कृति के आदि निर्माता है।

अभी तक प्राप्त प्रमाणो के आधार पर यह नही कहा जा सकता है कि मानव संस्कृति के उदगम और विकास के रहस्य प्लस्टोसीन म ही निहित हैं। प्लस्टोसीन हिम युगो का भी काल है क्योकि इस कालम पथ्वी का उत्तरी गोलार्द्ध

---

1 विशेष अध्ययन क लिये 1 हुटन, ई० ए० ... अप फ्राम दि एप, 2 हावर्स विलियम मन काइण्ड सो फार, 3 ब्रूम, रावर्ट ... आन फाईडिंग दि मिसिंग लिंक

चार बार हिमाच्छादित हुआ। दो हिम युगों के बीच के उष्णकाल को अन्तर्हिमयुग (Interglacial Period) कहते हैं। आज तक चार हिम युग हुये हैं और चार अन्तर्हिम युग। आज चौथे अन्तर्हिम युग में रहते हुये क्या हम पाँचवें हिमयुग की ओर बढ़ रहे हैं? सम्भवतः हाँ। कुछ भी हो पृथ्वी के रंगमंच पर हिमयुगों के उतार चढ़ाव के उठते गिरते पर्दे रहे हैं जिनके आगे-पीछे मानव और संस्कृति के विकास का नाटक चलता रहा है। प्रथम अन्तर्हिमयुग से लेकर द्वितीय अन्तर्हिमयुग तक योरोप, अफरीका, इण्डोनेशिया और चीन में प्रस्तरीकृत मानव कंकालों के कई अवशेष मिले हैं जिनमें जावा और चीन के अवशेष प्रमुख हैं। जिन प्राणियों के ये अवशेष हैं वे मानवी विकास दिशा में काफी बढ़ गये थे किन्तु फिर भी वर्तमान मानव का रूप नहीं प्राप्त कर सके थे। इन्हें क्रमशः जावा मानव (Java Man) और चीनी मानव (China Man) की संज्ञायें दी गयी हैं। जावा मानव को उस मानवी प्रकार का वानर (Ape) कहा गया है जो सम्भवतः खड़ा होकर चलता होगा। जावा मानव के साथ मिले संस्कृति के अवशेष नगण्य हैं। चीनी-मानव को जावा मानव की ही श्रेणी में रक्खा जाता है यद्यपि उसकी शरीर रचना मानवी दिशा में अधिक प्रगति कर गयी थी और जहाँ पर उसके अवशेष पाये गये हैं वहाँ संस्कृति के निश्चित पार्थिव प्रमाण भी पाये गये हैं। शरीर में ये प्राणी दैत्याकार रहे होंगे।

तीसरे अन्तर्हिमयुग से लेकर चौथे हिमयुग के मध्य और उत्तरार्द्ध तक, योरोप, उत्तरी अफरीका और फिलस्तीन तक एक विशेष प्रकार की विकास शाखा के सैकड़ों नर-कंकाल मिले हैं जिनके शरीर प्ररूप को नियण्डरथल (Neanderthal) की संज्ञा दी गयी है। चौथे हिमयुग का मध्यकाल नियण्डरथल मानव और उसकी संस्कृति का चरमोत्कर्ष था क्योंकि चौथे हिमयुग के समाप्त होते-होते नियण्डरथल मानव और उसकी संस्कृति दोनों योरोप में लुप्त हो गये। भारी सिर, संकीर्ण मस्तक, आगे की ओर निकली हुयी भौंहों की हड्डी, भारी जबड़ा, संकीर्ण मांसल गर्दन के कारण ऊपर की ओर उठा हुआ सा मुख, गोल लम्बी छाती, घुटनों तक लम्बे हाथ और खड़े होने पर आगे की ओर झुका झुका सा पड़ता हुआ शरीर यही नियण्डरथल की मुख्य शारीरिक विशेषतायें हैं। चौथे हिमयुग के बाद, जहाँ एक ओर नियण्डरथल की समाप्ति होती है वहाँ, दूसरी ओर वर्तमान मानव का प्रसार होता है। जावा-मानव, चीनी मानव और नियण्डरथल वे विकास शाखायें हैं जो उसी तने में से फूटी हैं जिसमें से वर्तमान मानव की शाखा निकली है। इनके लिये न तो मानव की संज्ञा का ही प्रयोग किया जाता है और न इन्हें वर्तमान मानव का पूर्वज ही माना जाता है। सभी विकास-शाखाओं से एक तथ्य स्पष्ट हो उठता है और वह यह कि विकास क्रम में यदि, एक ओर, मानव के हाथ चलने के भार से मुक्त होते गये तो, दूसरी ओर, मानव मस्तिष्क बढ़ता गया जिसके कारण मानव संस्कृति का उत्तरोत्तर विकास सम्भव हुआ।

पृथ्वी में से खोद निकाले गये पुरावशेषों के आधार पर प्रागैतिहासिकों ने मानव संस्कृति के चार प्रागैतिहासिक सोपान निर्धारित किये हैं जिनके नाम हैं प्राचीन प्रस्तरयुग (Palaeolithic) नव प्रस्तरयुग (Neolithic), कांस्य युग (Bronze Age) और लौह युग (Iron Age)। वर्तमान युग लौह युग है और इसका प्रारम्भ उस समय से होता है जब से मनुष्य ने लोहे का प्रयोग करना प्रारम्भ किया। प्रस्तरयुग में मानव पत्थर के औजारों का प्रयोग करता था और कांस्य युग में कांसे के। कुछ ऐसे भी नुकीले और कोनों पर थोड़ा थोड़ा तराशे हुये पत्थर मिलते हैं जिनको देखकर यह आभास होता है कि अवश्य वे सांस्कृतिक उदयकाल के हों। अंग्रेजी में इन्हें इयोलिथ (Eoliths उदयकालीन प्रस्तर) की संज्ञा दी गयी है। किन्तु यह सन्देहास्पद है कि इन पत्थरों को मानव ने ही गढ़ा है। अधिकतर सम्भावना इसी बात की है कि शायद उदयकालीन प्रस्तरों को प्राकृतिक शक्तियों ने गढ़ा हो और मानव ने उनका प्रयोग किया हो। इसमें कोई शक नहीं कि मानव ने पत्थरों के औजारों को गढ़ने के पहले पत्थरों का औजारों की भांति प्रयोग करना सीखा होगा।

प्राचीन प्रस्तरयुगीन औजारों के प्रति पुरातत्ववेत्ता निश्चित हैं कि वे मानव द्वारा ही गढ़े गये हैं। प्राचीन प्रस्तरयुग का प्रारम्भ प्लस्टोसीन के साथ साथ होता है। प्राचीन प्रस्तरयुग मानव-संस्कृति के इतिहास में एक लम्बा विकास काल है जिसमें यदि एक ओर, मोटे और भद्दे पत्थर के औजार मिलते हैं तो, दूसरी ओर, उसके अन्त में, छोटे और बारीकी से गढ़े हुये औजार मिलते हैं।

प्राचीन प्रस्तर युग

यारोप से प्राप्त पुरावशेषों के आधार पर प्रागैतिहासिकों ने प्राचीन प्रस्तर-युग को तीन कालों में बांटा है—प्रारम्भिक (Lower), मध्य (Middle) और अन्तिम (Upper)। प्रारम्भिक प्राचीन प्रस्तरयुग (Lower Palaeolithic) में ऐसे औजार मिलते हैं जिन्हें एक बड़े पत्थर को गढ़कर बनाया गया है। हाथ में पकड़कर प्रहार करना इन औजारों का मुख्य प्रयोग प्रतीत होता है। प्रयोग के दृष्टिकोण से, इन्हें मुष्टिका कुल्हाड़ियां (Hand Axes) कहा जाता है। चौथे हिमयुग में नियण्डरथल मानव के प्रस्तरीकृत कंकालों के साथ-साथ ऐसे औजार पाये गये हैं जिन्हें किसी बड़े पत्थर में से, चोट लगाकर निकाली हुयी चिप्पियों (Flakes) से गढ़ा गया है। औजारों के गढ़न की कला के आधार पर प्रथम प्रकार के औजारों को कोरटूल (Core Tool आन्तरक औजार) और दूसरे प्रकार को फ्लेक टूल (Flake Tool पथुक औजार) कहा गया है। यारोप में प्रारम्भिक प्रस्तर युग में आन्तरक औजारों की प्रधानता है और मध्य प्रस्तर युग में पथुक औजारों की। इसका यह तात्पर्य नहीं कि प्राचीन प्रस्तरयुग के मध्य में आन्तरक औजारों का प्रयोग ही समाप्त हो गया था। वास्तव में मध्य प्रस्तरयुग में दोनों प्रकार के औजार पाये जाते हैं पर पथुक औजारों की बाहुल्यता के साथ। काटने, छीलने और छेद करने के लिये पथुक औजारों का प्रयोग

किया जाता रहा होगा। प्राचीन प्रस्तरयुग के अन्तिम भाग में पत्थर और हड्डी दोनों प्रकार के औजार मिलते हैं। इन औजारों का आकार छोटा होने के साथ-साथ लम्बा और नुकीला हो गया है। ये औजार वस्तुत उस प्रकार के हैं जैसे तीर के छोर पर लगने वाला शल्य (Arrow Head) या दोधारी चाकू का फल। इस काल में पाये गये पत्थर के शल्यों के ही आधार पर यह अनुमान किया गया है कि इस काल में धनुष का प्रयोग आ गया होगा। इस काल में भी पृथक औजारों की बाहुल्यता है और इनके गढने की कारीगरी पहले की अपेक्षा अधिक विकसित है क्योंकि, इन्हें प्रयोगानुकूल बनाने के साथ, इन्हें सुन्दर और आकर्षक बनाने का भी प्रयत्न किया गया है। प्राचीन प्रस्तर युग के अन्तिम काल में पाये गये हड्डी के औजार नक्काशी के द्वारा काफी अलकृत किये गये हैं। इस युग के अन्त तक औजारों को गढने के लिये भी औजार बनने लगे थे।

इस युग के अन्य पार्थिव अवशेषो से अपार्थिव जीवन की झाकी मिलती है। जैसा कि चीनी मानव के खोदाई स्थलो से स्पष्ट है, प्राचीन प्रस्तर-युग के मध्यकाल तक, मानव को आग का प्रयोग ज्ञात हो गया था जिससे आगे चलकर कासे और लोहे के प्रयोग में उसे सफलता मिली। उसी स्थल में अर्थात चीन की चाऊ-काऊ टिन नामक कन्दरा में मानव खोपडियाँ बीच से इस प्रकार तोडी मिली है कि मानो उन्हें तोडकर भेजा निकाला गया हो। यही नहीं साथ ही साथ चिचोरी हुई हड्डियाँ भी मिली हैं। इन तथ्यो के आधार पर यह अनुमान किया जाता है कि सम्भवत चीनी मानव नरभक्षक था?

नियण्डरथल का कन्दराओ में रहना नियण्डरथल के सामूहिक जीवन का प्रतीक है। नियण्डरथल की निवास गुफाओ में, शवो के साथ दफनाये गये पत्थरो के औजारो से, नियण्डरथल के पारलौकिक तथा आत्मा सम्बन्धी विश्वासो का प्रमाण मिलता है। प्राचीन प्रस्तरयुग के अन्तिम काल में जहाँ, एक ओर, शवो के साथ-साथ खाद्य-सामग्री और आभूषण दफनाये हुए मिलते हैं वहाँ दूसरी ओर, इन शवो की हड्डियाँ भी रगी हुई पायी गयी हैं। प्रागैतिहासज्ञो की ऐसी मान्यता है कि इस प्रकार की अन्त्येष्टि क्रिया में जादुयी विश्वास समाये हैं। इस युग की कला यदि, एक ओर, सौन्दर्योत्पादन के लिये है तो, दूसरी ओर, जादुयी विचारो से ओतप्रोत। हाथी दाँत या मिट्टी की बनी छोटी-छोटी नारी मूर्तियाँ, जिनके यौनिक भाग बढा-चढाकर बनाये गये हैं, इस बात का प्रतीक है कि सन्तानवर्द्धन के लिये इस काल में किसी न किसी प्रकार की निषेचन पूजापद्धति (Fertility Cult) रही होगी। ग्राम और स्पेन की अंधकारमयी गुफाओं में, मृत जानवरो और शिकार के चित्र इसलिये बनाये जाते थे ताकि बाहर भी शिकार बहुतायत से प्राप्त हो। यह प्रयोग कुछ वैसा ही है जैसा कि उस जादुयी अनुष्ठान में पाया जाता है जिसमे, जिस व्यक्ति को टोने या टटके से मारना

होता है, उसके गाउर या आटे के पुतले की नक्ल किया करते हैं[1]। कला के इस प्रयोग के पीछे वह भावना है जिसमें जादू और धर्म की उत्पत्ति हुयी है। कुछ भी हो इस युग की कला अधिकतर साउद्देश्य थी। इस काल के समाज में जादुयी अनुष्ठानों को सम्पन्न करने वालों को प्रधानता प्राप्त हो चुकी थी। इसके अतिरिक्त, पत्थर, हड्डी, हाथी दांत कौडी और शंख के आभूषणों का प्रचार था। चाइल्ड के अनुसार, इस काल में व्यापार के यथेष्ट प्रमाण मिले हैं।

प्राचीन और नवप्रस्तरयुगों के बीच में संक्रमणकालीन प्रस्तरयुग (Mesolithic) माना गया है जो एक ओर प्राचीन प्रस्तरयुग का समाप्त होता हुआ प्रसार है और दूसरी ओर नवप्रस्तरयुग का नवोदित काल।

नव प्रस्तरयुग

इस युग की अवधि प्रस्तरयुग की अपेक्षा बहुत ही कम है। योरोप में, जलवायु-परिवर्तन के कारण बर्फीली परिस्थितियाँ समाप्त हो गयी और वर्तमान परिस्थितियां आई। बडे-बडे जानवरों के स्थान पर, मछली पानी में रहने वाली चिड़ियाँ और खरगोश हो मानव जीवन के मुख्य आधार रह गये। प्राचीन प्रस्तरयुग की कला समाप्त हो गयी किन्तु जादुयी विचार बने रहे। पत्थर के औजार इतने छोटे बनाये जाने लगे कि उनका आकार एक या आधा इंच के लगभग रह गया। कई औजारों को एक साथ एक लाइन में लगाकर चाकू, आरी, हंसिया या शल्य की भांति प्रयोग किया जाने लगा। जंगलों की वृद्धि ने कुल्हाड़ियों की आवश्यकता को जन्म दिया, जिनका निर्माण इस काल के अन्त में होने लगा था। कुल्हाड़ियां आन्तरक (Core) भी थी और पथुक (Flake) भी। उनका हाथ से भी प्रयोग होता था और हैंडिल (Haft) लगा कर भी। प्राचीन प्रस्तरयुग में घिसकर और पालिश करके हड्डियों के औजार बनाने की जो कला मानव ने सीखी थी, उसका प्रयोग इस युग में पत्थर के औजार बनाने पर किया जाने लगा। कुत्ता सबसे पहला जानवर है जिसे मनुष्य ने इसी युग में पालना शुरू किया। मिट्टी के बर्तनों और धनुष का प्रयोग भी इस काल में मिलता है।

प्राचीन प्रस्तरयुग और संक्रमणकालीन प्रस्तरयुग (Mesolithic Period)

---

1 धर्म (Religion) और जादू (Magic) समाजशास्त्रीय दृष्टिकोण से एक ही श्रेणी में आते हैं। दोनों दैवी शक्ति में विश्वास और उससे सम्बन्धित क्रियाओं में निहित हैं। दोनों की उत्पत्ति वहां होती है जहां मानव मानसिक असुरक्षा (Emotional Insecurity) का अनुभव करता है और उसे दूर करने में असहायता का अनुभव करता है। जादुयी विश्वास और क्रियाओं में मनुष्य दैवी शक्ति पर नियन्त्रण पाकर उसके द्वारा मनोवांछित फल पाने का प्रयत्न करता है जबकि धर्म में मनुष्य दैवी शक्ति से मनोवांछित फल पाने की प्रार्थना करता है। प्रार्थना धर्म का प्रतीक है और जन्त्र मन्त्र जादू का।

की संस्कृति खाद्य सामग्री एकत्र करने वाली (Foodgathering) अर्थव्यवस्था पर आधारित है, किन्तु नवप्रस्तरयुगीन संस्कृति कृषि पर आधारित आर्थिक व्यवस्था पर। पशुपालन, कृषि और बालू या पत्थर से घिस कर बनाए हुए अपेक्षाकृत बड़े आकार के पत्थर के औजार, नवप्रस्तरयुग की मुख्य विशेषताएं हैं। यह पहले ही कहा जा चुका है कि जलवायु परिवर्तन के कारण बर्फीली परिस्थितियों के स्थान पर, घने जंगलों का विकास हुआ जिससे लकड़ी काटने के लिए कुल्हाड़ी की आवश्यकता का जन्म हुआ। संक्रमणकालीन प्रस्तर युग में ही घिसकर बनायी हुयी कुल्हाड़ियों का बनना प्रारम्भ हो गया था किन्तु नवप्रस्तरयुग में उनकी निर्माण कला का चरम विकास हुआ। इन पत्थर की कुल्हाड़ियों के एक किनारे अथवा बीच में हैंडिल लगाया जाता था और उनसे बड़े-बड़े पेड़ गिराए जा सकते थे।

पशुपालन और कृषि का आविष्कार मानव संस्कृति के इतिहास में एक क्रान्तिकारी कदम है और इन आविष्कारों के कारण इस युग का वही महत्व है जो औद्योगिक क्रान्ति का वर्तमान युग का। कृषि के आविष्कार का श्रेय नारियों को दिया जाता है क्योंकि ऐसा अनुमान किया जाता है, कि जंगल के किनारों पर, शिकार के लिए गए हुए पुरुषों की प्रतीक्षा करते हुए अवकाश के क्षणों में नारियों ने ही बीजों को भूमि पर गिरते और उगते देखा होगा। आज भी आदिवासियों में हल चलाने के अतिरिक्त कृषि का अधिकतर काम, विशेषतया बीज बोना, स्त्रियों के द्वारा ही किया जाता है। कुछ भी हो जैसा कि एच० जी० वेल्स ने लिखा है मनुष्य ने कृषि प्रारम्भ करने के पहले अनेक फसलें काटी होंगी। कृषि का अनुसंधान वस्तुतः कहाँ हुआ यह एक विवादग्रस्त प्रश्न है। फिलिस्तान के माउन्टकारमल (Mount Carmel) में पाए गए हंसियों के आधार पर यह अनुमान किया जाता है कि सम्भवतः इसी क्षेत्र में संक्रमणकालीन प्रस्तरयुग के अन्तिम भाग में मानव ने फसल बोना और काटना सीख लिया होगा। कृषि के अनुसंधान की सम्भावना मध्य एशिया में ही है। फिर भी जैसा कि प्रोफेसर चाइल्ड ने लिखा है नव प्रस्तरयुग में संसार के तीन क्षेत्रों में कृषि और पशुपालन के प्रमाण मिलते हैं—मध्य एशिया (Near East) में जौ, गेहूं, जूट और सन (Flax) की खेती और ढोर, सुअर बकरी और भेड़ पालन, दक्षिणी पूर्वी एशिया में चावल गन्ना, कपास की खेती और भैंसे (Water buffalo) का पालन, और अमरीका में मक्का, टमाटर आलू आदि की खेती। गधे और घोड़े का पालन बाद में प्रारम्भ हुआ।

इन तथ्यों को ध्यान में रखते हुए यह कहा जा सकता है कि कृषि का अनुसंधान अलग अलग भागों में स्वतन्त्र रूप से हुआ या एक ही भाग में कृषि और पशुपालन के ज्ञान का प्रसरण हुआ। अधिक सम्भव है। कुछ लोगों का यह भी मत है कि कन्दमूल और फल पर समूहों ने कृषि का अनुसंधान किया होगा और आखेट पर निर्भ

ने पशुपालन का। किंतु, पुरातत्वों के अवशेष इस विषय मे मौन हैं क्योकि न तो प्राचीनतम पौधा और कृषि के औजारो के अवशेष ही मिलते हैं और न जानवरो के प्राप्त अस्थिपंजर इस बात की गवाही देते हैं कि उनके पालने वाले खेती पर निर्भर थे या शिकार पर। अभी तक प्राप्त पुरातत्वों के अवशेष और उन पर आधारित प्रमाण केवल इसी तथ्य के परिचायक है कि, कृषि और पशुपालन साथ साथ अस्तित्व मे आकर, कृषि पर आधारित सामाजिक आर्थिक व्यवस्था के कारण बने।

कृषि और पशुपालन के आविष्कार से अधिक महत्वपूर्ण इनके सामाजिक आर्थिक परिणाम हैं क्योकि इन्ही परिणामो म वर्तमान मानव संस्कृति की आधार शिलायें रखी हुयी हैं। कृषि और पशुपालन के कारण मानव को खाद्य सामग्री पर अधिक निश्चित नियंत्रण प्राप्त हुआ जिसके परिणामस्वरूप, एक ओर, जीवन सुरक्षा और जनसंख्या बढी, तथा दूसरी ओर फिरदर जीवन के स्थान पर व्यवस्थित जीवन का अभ्युदय हुआ। कृषि की माग है व्यवस्थित जीवन और इसी माग ने ग्राम्य-जीवन का जन्म दिया। खाद्य सामग्री की वृद्धि और निश्चितता ने जहा, एक ओर, मानव के हाथ म अतिरिक्त धन (Surplus Wealth) दिया वहाँ दूसरी ओर विशेषीकरण (Specialization) और खाद्य सामग्री को उत्पन्न करने के अतिरिक्त अन्य कार्यों को प्रोत्साहित किया। इस युग के औजार उन्ही विशेषज्ञों द्वारा निर्मित हुए हैं जिन्हें भोजन की चिन्ता नहीं थी। वास्तव म अधिक भोज्य सामग्री उत्पन्न करके ही मानव संस्कृति का विकास कर सका। वर्तमान समय मे भी, कारखाना और कला तथा साहित्य के क्षेत्र म काम करन वाले उस अतिरिक्त भोज्य सामग्री पर ही जीवित रहते हैं जिसे किसान उत्पन्न करता है।

चाइल्ड के अनुसार कृषि के लिए उपयुक्त पौधो को छाटने के प्रयास म वनस्पतिशास्त्र के उद्गम हैं अनाज को पीसने और सनई की छाल से कपडा बुनने म भौतिक शास्त्र के प्राटा गघन और नशीले द्रव तयार करने म रसायन शास्त्रके और खाद्य अखाद्य जानवरो के चुनाव म प्राणिशास्त्र के। उसने ठीक ही कहा है कि बीसवीं शताब्दी के सार ज्ञान विज्ञान की जडें नवप्रस्तरयुग मे ही हैं। नवप्रस्तरयुगीन क्रान्ति का प्रभाव सामाजिक जीवन पर भी पडा। यह पहले ही कहा गया है कि कृषि ने स्थिर सामाजिक जीवन की आवश्यकता को प्रोत्साहन दिया जिससे सामूहिक जीवन अस्तित्व म आया। यारोप म नवप्रस्तरयुगीन ग्रामो के चारो ओर खोदी हुयी खायी इसका प्रमाण है। कृषि ने नारी और पुरुष के कार्यों म विभाजन ला दिया और यह कृषि का ही परिणाम है कि कृषि व्यवस्था म नारी और बच्चे भार न होकर वरदान हो गए। आज भी कृषक के लिए विवाह परिवार और बच्चे उतने ही आवश्यक हैं जितना कि कृषि। इस युग का ग्राम एक आत्मनिर्भर सामाजिक आर्थिक इकाई रहा होगा। इस बात के भी प्रमाण हैं कि, इस युग म कृषि करने वाले जानवर पालने वाले और पत्थर निकालने वाले विशेषीकृत समूह अस्तित्व मे आ गये होंगे और

उनमें विनिमय-व्यापार होता रहा होगा। इस युग में, जनसंख्या के साथ-साथ, सांस्कृतिक वैचित्र्य भी बढ़ा। पाले हुए जानवर, कृषि के लिए प्रयुक्त पौधों, प्रयोग में लायी हुयी कुल्हाड़ियों और अन्य औजारों, मिट्टी के बर्तनों की सजावट कला के प्रकारों और शव दफनाने से सम्बन्धित रूढ़ियों के आधार पर मध्य एशिया से लेकर योरोप तक, अनेक नवप्रस्तरयुगीन संस्कृतियों को निर्धारित किया जा सकता है। प्राचीन प्रस्तरयुग की अपेक्षा इस युग के शव दफनाने के अनुष्ठान काफी विस्तृत हैं। नारी मूर्तियों की पूजा भी विद्यमान है और इन सबके साथ साथ जादुयी विचार और विश्वास भी। सनई (Flax) के कपड़े बुनने और मृतकों के लिए स्मारक बनाने के भी प्रमाण इस युग में मिलते हैं। संक्षेप में, यही वह युग है जब मानव ने वर्तमान की आधार शिला रक्खी और उन परिस्थितियों को जन्म दिया जिन्होंने कांस्ययुग और लौहयुग की शहरी तथा साम्राज्यवादी संस्कृति को जन्म दिया।

प्राचीन और नवप्रस्तरयुगों की भांति, कांस्य और लौहयुग भी एक संक्रमणकालीन युग के द्वारा अलग भी हैं और जुड़े हुए भी। नव प्रस्तरयुग का अन्त लगभग चार हजार वर्ष ईसा पूर्व होता है और कांस्ययुग का प्रारम्भ तीन हजार वर्ष ईसा पूर्व के लगभग।

कांस्य-युग

इस प्रकार, लगभग एक हजार वर्ष का समय नवप्रस्तरयुग और कांस्ययुग को अलग करता है। इस काल को ताम्रयुग (Copper Age or Aeneolithic or Chalcolithic) की संज्ञा दी गयी है। ताम्र अथवा तांबा और सोना अपने शुद्ध धातुरूप में पाए जाते हैं। अतएव, सर्वप्रथम उनके टुकड़ों का, मानव ने पत्थर के टुकड़ों की भांति प्रयोग किया होगा। तांबा ऐसी धातु है कि उसे कूटपीटकर वांछित आकार दिया जा सकता है। कांस्य अथवा कांसा तांबा और टीन (Tin) से मिलकर बनी धातु है और कांसा तभी बन सका होगा जब मनुष्य को यह ज्ञान हुआ होगा कि तांबा और टीन, आग की सहायता से गलाकर एक में मिलाए जा सकते हैं। मनुष्य ने कांसा बनाना कब और कहां सीखा यह कहना कठिन है। टीन मिट्टी में मिली रहती है जिसे पहचान कर और गलाकर निकालना पड़ता है। अतएव, कांसे की उत्पत्ति तभी हुयी होगी जब मनुष्य ने टीन को पहचानना और आग के द्वारा धातुओं को गलाना सीख लिया होगा। आग के द्वारा धातुओं को गलाना मानव ने कब जाना? यह एक रहस्य है जिसे सुलझा सकना कठिन है। इस बात की सम्भावना अधिक है कि कांसे का बनना मध्य एशिया विशेषतया पश्चिमी एशिया में प्रारम्भ हुआ होगा। चाइल्ड के अनुसार, तीन हजार पांच सौ वर्ष ईसा पूर्व के लगभग, पश्चिमी एशिया में कांसे का प्रयोग मिलता है। वहां से इसका प्रसार सीरिया और, कुछ शताब्दियों बाद, क्रीट और यूनान (ट्राय Troy) में हुआ। योरोप में कांसे का प्रयोग एक हजार आठ सौ वर्ष ईसा पूर्व के लगभग होना प्रारम्भ हुआ। तीन हजार वर्ष ईसा पूर्व के लगभग कांसे से बनी हुयी वस्तुओं का प्रयोग ईरान और भारत तक

पाया जाता है। मोहनजोदड़ो की संस्कृति कांस्ययुगीन संस्कृति है। यही नहीं, इसका प्रसार चीन की ह्वांगहो नदी की घाटी तक में हुआ।

कांस्ययुग में भी अनेक प्रभावशाली आविष्कार और परिवर्तन हुये। इस युग के मुख्य आविष्कार हैं हल, आग के द्वारा धातु को गलाने का ज्ञान, पहिया (चक्र) और लेखन कला (लिपि)। आग के द्वारा धातु के गलाने के ज्ञान से कांसे जैसी मजबूत धातु मनुष्य के हाथ में आई जिससे उसके औजार और भी सुदृढ़ हो गए। धातु को गलाना एक विशेष ज्ञान है जिसका पीढ़ी दर पीढ़ी चलना एक प्रबल सम्भावना है। अतएव धातु के गलाने वाला ने एक विशिष्ट समूह अथवा वर्ग का रूप धारण किया होगा। कांसा, ताम्र और सोना, पत्थर और मिट्टी की अपेक्षा अधिक अलभ्य रहे होंगे। अतएव वे उसी को प्राप्त हो सकते होंगे जिसके पास अतिरिक्त धन होगा और जो धातु को गलाने वालों की सेवायें प्राप्त कर सका होगा। उधर हल के आविष्कार और प्रयोग ने उपज बढ़ाकर अतिरिक्त धन को और भी बढ़ाया। विभिन्न संस्कृति वाले समूहों में संघर्ष और युद्ध नव प्रस्तरयुग में ही आ गया था। कांसे के प्रयोग ने उस संघर्ष को और भी बढ़ावा दिया। अतएव, सम्राटों और सामन्तों का अभ्युदय हुआ जिनका कांसे के प्रयोग पर अधिकार था। कांसे के अधिकाधिक प्रयोग ने अतिरिक्त धन की आवश्यकता को और भी बढ़ाया जिसे गुलामी प्रथा और साम्राज्य संस्थापन के द्वारा पूर्ण किया गया। बेबीलोनिया, सुमेरिया और असीरिया के साम्राज्य इसका प्रमाण हैं। घोड़े और पहिये के प्रयोग ने बैलगाड़ी और रथ को जन्म दिया जिससे मानव पहले की अपेक्षा अधिक गतिवान हो गया। इससे यदि एक ओर विभिन्न संस्कृतियों में पहले की अपेक्षा अधिक सम्पर्क स्थापित करने का मौका मिला तो दूसरी ओर युद्ध और साम्राज्य संस्थापन को प्रोत्साहन भी। हड़प्पा मोहनजोदड़ो से लेकर मैसोपोटामिया तक मिली हुई सीलें (Seals) में से कुछ वैयक्तिक सम्पत्ति का प्रमाण हैं तो कुछ अनेक राज्यों और सामन्तों की।

कांस्ययुग में सामाजिक वर्ग अस्तित्व में आ चुके थे और सामाजिक संगठन पहले की अपेक्षा अधिक जटिल हो गया था। पहिए के प्रयोग से कुम्हार का चाक (Potter's wheel) अस्तित्व में आया जिससे मिट्टी के बर्तन बनाना और भी सुगम हो गया। लेखन कला अथवा लिपि के आविष्कार ने मानव अनुभव और प्रतीकों को सुरक्षित रखने में सहायता देना आरम्भ किया। वास्तव में देखा जाय तो पहिया (चक्र) और लिपि के आविष्कार काफी महत्वपूर्ण हैं। मशीनों पर आधारित वर्तमान युग की कल्पना वस्तुतः पहिया पर ही दौड़ रही है क्योंकि पहिया के प्रयोग के बिना मशीन का प्रयोग असम्भव है। अलौकिक, आत्मा और जादू सम्बन्धी विश्वासों ने इस युग में धर्म का रूप लेना प्रारम्भ किया। जहाँ कहीं कांस्ययुग की सभ्यता मिली

है वहां देवघर भी मिले हैं[1]। इन सब परिवर्तनों और आविष्कारों के सचयी प्रभावों ने शहरीकरण को जन्म दिया। नियोजित शहर और धूप से सुखायी ईंटों के मकान इस युग का एक अन्य विकास हैं। शायर के अनुसार ताम्र के सामाजिक प्रभाव और परिणाम नहीं के बराबर थे। किन्तु कांस्यकला और ताम्र के प्रयोग ने संस्कृति और सामाजिक संरचना को निश्चय ही प्रभावित किया। इसका तात्पर्य यह नहीं कि धातु के प्रयोग ने एक नयी सामाजिक व्यवस्था को जन्म दिया। धातु के प्रयोग ने वस्तुतः एक नयी सामाजिक व्यवस्था को सबल प्रदान किया। कांस्ययुग, शायर के अनुसार, वह युग है जिसने वर्गों, मकबरों देवताओं, स्मारकों, लेखन-कला और शहरीकरण का अभ्युदय और पुनर्मवलन देखा। जहाँ कहीं भी जनसंख्या और परिस्थितियाँ अनुकूल थीं, कांस्ययुग नायकों, अभिजातों और सामन्तों का युग हो गया[1]।

लौह युग

लोहे का आविष्कार और प्रयोग उस समय के ठीक लगभग दो हज़ार वर्ष बाद हुआ जब मानव ने तांबे को गलाने ढालने और अन्य धातुओं के साथ मिलाने का ज्ञान प्राप्त कर लिया था। यह आविष्कार एशिया माइनर (Asia Minor) कहे जाने वाले क्षेत्र में हुआ क्योंकि बारह सौ वर्ष ईसा पूर्व इस क्षेत्र में लोहे का प्रयोग पाया गया है। लगभग एक हज़ार वर्ष ईसा पूर्व यूनानियों को इसका ज्ञान प्राप्त हुआ। जिस प्रकार ताम्र को पृथ्वी से उठाकर मनुष्य ने उसका प्रयोग करना सीखा उसी प्रकार लोहा भी अनुमानतः मनुष्य को सबसे पहले मिट्टी में पड़ा मिला होगा। लोहे को गलाना, ढालना और फौलाद बनाना मानव ने बाद में सीखा। इस बात के प्रमाण मिलते हैं कि पहले लोहा एक मूल्यवान धातु था क्योंकि पहले इसका प्रयोग अंगूठियाँ बनाने और कांस की वस्तुओं में पच्चीकारी करने के लिए किया जाता था। किन्तु बाद में यह जनसुलभ हो गया और अन्य आविष्कारों के साथ प्रजातन्त्रीय विचारों का कारक बना। कांसा अभिजातों और जन्म, काय तथा धन से सत्ता-सम्पन्न व्यक्तियों के प्रयोग की वस्तु था किन्तु लोहा जनसाधारण के प्रयोग की वस्तु बना और लोहे का प्रयोग सर्वत्र लोकतन्त्रीकरण का कारण सिद्ध हुआ। लोहे के प्रयोग के साथ-साथ अक्षरों द्वारा लिखने की लिपि और छोटी छोटी मुद्राओं के निर्माण का भी आविष्कार हुआ। ये दोनों आविष्कार एशिया माइनर में ही हुए और वहां से चारों ओर फैले। कांस्ययुग में लिपि का आविष्कार हो ही गया था पर लिखने के लिए चित्रों और जटिल प्रतीकों का प्रयोग किया जाता था जिसमें लेखन कला जन सुलभ न थी। अक्षरों के प्रयोग

---

1 इसका तात्पर्य यह कदापि न लेना चाहिए कि जादू और आत्मा में विश्वास ने धर्म को जन्म दिया था या जादू धर्म का पूर्ववर्ती रूप है। धर्म के अधिक ठोस प्रमाण इसी काल में मिलते हैं।

1 शेवर, ए० एल० एन्थ्रापालोजी पृष्ठ 701

ने लेखन कला को और सरल बना दिया। मुद्राओं के प्रचलन ने व्यापार को प्रोत्साहन दिया और लोहे के अस्त्र शस्त्रों ने युद्धों और साम्राज्य संस्थापन को। यही वह युग है जब यूनानियों, ईरानियों और रोम की सभ्यताओं और साम्राज्यों का विकास हुआ। रोम साम्राज्य के पतन का काल हम इतिहास की सीमाओं में ले आता है। वास्तव में, इतिहास का प्रारम्भ ही लौहयुग के साथ साथ होता है। वर्तमान मानव लौहयुग के चरमोत्कर्ष के काल में रह रहा है।

इस प्रकार, मानव संस्कृति, विशेषतया योरोप में, प्राचीन प्रस्तरयुग, नवप्रस्तर-युग, कांस्ययुग और लौहयुग के चार सोपानों से गुजरी है। ये सोपान योरोप की भूमि पर एक क्रमिक विकास प्रक्रिया के रूप में मिले हैं किन्तु यह विकास क्रम नियति द्वारा निर्धारित नहीं है और न ये अवश्यंभावी ही हैं। ये चारों सोपान इतिहास की अवस्थायें मात्र हैं जिनका घटित होना संयोग पर अधिक निर्भर करता है न कि किसी पूर्वनिर्धारित अदृश्य योजना पर। यह सोचना कि सारा संसार एक ही समय में एक युग विशेष के प्रभाव में था या संसार के सारे लोग इन्हीं अवस्थाओं में से गुजरे हैं और जो नहीं गुजरे हैं उन्हें गुजरना पडेगा, पुरातत्वीय और ऐतिहासिक तथ्यों के विरुद्ध है। जब योरोप सारे युगों को पार करता हुआ लौहयुग में आ गया था तब प्रशान्त महासागर के अनेक द्वीप प्रस्तरयुगीन अवस्था में थे। लोहे का आविष्कार एशिया माइनर में हुआ किन्तु उसका ढालना चीन में प्रारम्भ हुआ। अतएव जब चीन और उसके बाद मध्य एशिया लौहयुग में प्रवेश कर रहे थे तब योरोप कांस्य युग में था। दूसरी ओर यह मान लेना कि प्रत्येक क्षेत्र में इन अवस्थाओं का क्रमशः अवतरित होना अनिवार्य है ऐतिहासिक निवचन के साथ मखौल करना है। अफरीका की गणजातियाँ और जापान के निवासी कांस्ययुग में प्रवेश किये बिना ही लौहयुग में प्रवेश कर गये हैं। वास्तव में जैसा कि पहले कहा जा चुका है ये युग चार सोपानों के समान हैं और संयोग पर आधारित विकास हैं। यह आवश्यक है कि इनमें से प्रत्येक विकास ने मानव संस्कृति के अनेक पहलुओं को विकसित होने में सहायता दी। अतएव, इन्हें मानव संस्कृति की अवस्थायें (Cultural Phases) भी कहा जा सकता है। संसार के अधिकतर भागों में इन युगों के प्रमाण मिलते हैं किन्तु जैसा पहले कहा जा चुका है प्रत्येक युग की अवस्थायें सारे संसार में न तो समकालीन हैं और न परस्पर अनुरूप। भारत की प्रस्तरयुगीन संस्कृति अनेक विशेषताओं में, योरोप की प्रस्तरयुगीन संस्कृति से भिन्न है। अतएव, एक यह भी मत है कि योरोप में किये गये अध्ययनों के आधार पर गढ़ी गयी नामावली को संसार के अन्य क्षेत्रों पर लागू करना तर्कसंगत नहीं है। इस मत में बहुत कुछ सार है, फिर भी, अध्ययन की सुविधा के लिये धारणाओं और सामान्य रूपरेखाओं के रूप में इनका प्रयोग करने में कोई भी अनौचित्य नहीं है।

चौथा अध्याय

हिन्दुत्व सामाजिक-ऐतिहासिक आधार

भारतीय संस्कृति, देश काल की सीमा में बंधी हुई, एक विशेष संस्कृति है, जिसका उद्भव और विकास मानव संस्कृति की पृष्ठभूमि में हुआ है। प्रारम्भ से लेकर वर्तमान तक, भारतीय संस्कृति के विकासकाल को चार अध्यायों में बांटा जा सकता है प्रथम प्रागैतिहासिक काल जो, भारत में आर्यों के आने और हिन्दू समाज के निर्माण तक फैला हुआ है दूसरा बौद्धकाल जो एक ओर बौद्धिक कोलाहल तथा चेतना और दूसरी ओर रूढ़िग्रस्त वैदिक समाज के प्रति प्रतिक्रिया का काल है तीसरा, मुस्लिम-काल जिसमें इस्लाम के सम्पर्क में हिन्दुत्व का उत्विकास प्रभावित हुआ और चौथा वर्तमान काल जिसमें पश्चिमी सभ्यता के व्यापक संघात ने अनेक परिवर्तन प्रक्रियाओं को जन्म दिया। किन्तु, भारतीय संस्कृति के विकास काल के ये चार अध्याय एक दूसरे से अलग नहीं हैं क्योंकि उनमें एक ही गाथा प्रवाहित हो रही है। ये चार अध्याय वस्तुतः एक महाकाव्य के चार अध्यायों के समान हैं। एकता में अनेकता और अनेकता में एकता समेटे हुए भारतीय संस्कृति का प्रवाह उस गंगा के समान है जो अनेक सहायक नदियों को आत्मसात करके भी गंगा ही बनी रहती है। आज भी भारतीय उसी समाज में रह रहे हैं जो

आज भी वेदों के रचयिताओं तथा महात्मा बुद्ध का प्रेरित करने वाले आदर्श और जहाँ में भारतीयों को प्रभावित कर रही हैं।

आज से लगभग पचास वर्ष पहले सर हरबर्ट रिसले ने लिखा था कि भारत में योरोप जैसे प्रागैतिहासिक अवशेष नहीं पाये जाते हैं और इस कारण भारत के प्रारम्भिक निवासियों और संस्कृति के बारे में यथेष्ट ज्ञान नहीं हो पाता है। इसमें कोई सन्देह नहीं कि भारत की गर्म जलवायु में जीवाश्म (Fossils) वैसे सुरक्षित नहीं रह पाये हैं जैसे कि योरोप में हैं। फिर भी आज वह स्थिति नहीं है जो रिसले के समय में थी। पिछले तीस वर्षों में सरकारी और गैर सरकारी संस्थाओं की छत्र छाया में पुरातत्ववेत्ताओं ने भारत की प्रागैतिहासिक संस्कृति के अनेक पुरावशेष ढूढ़ निकाले हैं।

२

भारत में प्रागैतिहास

सन 1930 ईसवी में डीटेरा और पेटरसन के नेतृत्व में यल और कैम्ब्रिज विश्वविद्यालयों द्वारा संगठित अन्वेषक दल ने यह निर्धारित किया कि भारतीय संस्कृति उतनी ही प्राचीन है जितनी कि योरोप की। योरोप के समसामयिक चार हिम युगों का आगमन निगमन उत्तरी भारत में भी हुआ है जिसके प्रमाण सिंध की सहायक सोआन नदी की घाटी में विद्यमान हैं। पंजाब राजस्थान गुजरात, मध्य प्रदेश, कर्नाटक मैसूर बिहार आसाम और बंगाल लगभग सम्पूर्ण भारतवर्ष में, प्रागैतिहासिक मानव द्वारा निर्मित पत्थर के औजार पाए गए हैं। सोआन, नर्मदा और गोदावरी नदियों की घाटियों में भी मानव द्वारा निर्मित पत्थर के औजार मिले हैं। सोआन नदी की घाटी में पाये गये औजार पानी के साथ बहकर आये हुये पत्थरों (Pebbles) से बनाये गये हैं और उनमें आन्तरक (Core) तथा पथुक (Flake) नाना प्रकार के औजार पाये गये हैं। दक्षिण में पाये जाने वाले औजारों में आन्तरक औजारों की ही प्रधानता है। इसी आधार पर स्टुअर्ट पिगाट ने यह मत प्रतिपादित किया है कि उत्तरी भारत से लेकर उत्तरी योरोप तक पथुक औजारों की और दक्षिण भारत से लेकर दक्षिण योरोप तक आन्तरक औजारों की परम्पराओं का विकास हुआ है। इन औजारों में काटने और छीलने के औजार पाये जाते हैं यद्यपि इनमें मुष्टिका कुल्हाड़ियों (Hand Axes) का बाहुल्य है। वास्तव में योरोप से लेकर भारत तक प्रस्तरकालीन युग में मुष्टिका कुल्हाड़ियों की ही बहुतायत है। पुरातत्ववेत्ताओं के अनुसार, गंगा सिंध के मैदान के अतिरिक्त, भारत के प्रत्येक भाग

री प्राचीनता के प्रमाण मिले है। किन्तु, भौमिक स्तरीकरण (Stratigraphy) के सुस्पष्ट न होने क कारण यह कहना कठिन है कि भारत के किस भाग में मानव की अवतारणा हुयी। भूगर्भीय प्राचीनता, जलवायु की अनुकूलता और वादामदुराइ म पाये गये अवशेषो क आधार पर यह कहा जा सकता है कि सम्भवत भारतवर्ष मे मानव की उत्पत्ति दक्षिणी भूभाग मे हुयी और वहा स वह चारा ओर फैला। साआन की घाटी मे पायी जाने वाली मुष्टिका-कुल्हाडिया (Hand Axes) के प्रमाण को मानते हुए टैटरा न भी यही मत प्रतिपादित किया ह कि भारत म मानव की अवतारण दक्षिण म ही हयी हागी और प्रथम हिमयुग क अन्त तक पजाब म उसका आगमन हुआ होगा[1]।

मध्यमणकालीन प्रस्तरयुग (Mesolithic) के औजार भी लगभग सम्पूर्ण भारत म पाये गये हैं। यारोप और अफरीका म पाये गये इस काल के औजारा की भाति, ये औजार भी छाटे आकार क है और यूरोप म पाये गये औजारा के काफी अनुरूप हैं। अधिकतर ये औजार भूमि की सतह पर पाये गये है। अत, यह निर्धारित करना कठिन है कि वे किस युग के हैं। एक ओर ये औजार लोह के औजारा के साथ पाये गये हैं और दूसरी ओर य उन मिट्टी के बतना के साथ पाये गये हैं जो ईसापूर्व चौथी शताब्दी म अधिक प्राचीन नही है। इस प्रमाण के आधार पर यह कहा जा सकता है कि भारत मे मध्यमणकालीन प्रस्तरयुग लौहयुग के समकालीन है।

मसूर क चीतलदुग जिले म ब्रह्मगिरि नामक स्थान पर की गई खुदाई म मध्यमणकालीन प्रस्तरयुग और नवप्रस्तरयुग क औजार साथ-साथ पाये जाते हैं जिससे यह सिद्ध हाता है कि मसूर क क्षेत्र म नव और प्राचीन प्रस्तरयुगा क मध्य मध्यमणकालीन प्रस्तरयुग आया है यद्यपि यह निर्धारित करना कठिन है कि यारोप की भाति यहा भी मध्यमणकालीन प्रस्तरयुग प्लाइस्टोसीन युग क पश्चात ही आया है। पचमढी की महादेव पहाडियों पर पाये गये पुरावशेषा का भी यही हाल है। भारत क मध्यमणकालीन प्रस्तरयुग की सस्कृतिया म गुजरात की सस्कृति सबसे प्राचीन है और वहा पाये हुये कपालो मे पूर्वी अफरीका और मिस्र के निवासियो की भी शारीरिक विशेषतायें पायी गयी हैं। इस सस्कृति क निर्माता-कलाओ क जीवन का आधार गाय, भैस, घोड़े, बैल, भेड़, बकरी, कुत्ता, मछली और मार का शिकार था। व शव का शानुष्ठान दफनाते थ और सम्भवत कुत्ते पालते थे।

पालिश किये हुए नवप्रस्तरयुगीन औजार बिलारी, मैसूर हैदराबाद मध्य प्रदेश बुन्देलखण्ड गुजरात कश्मीर पश्चिमी बगाल, छोटा नागपुर और उडीसा क

---

1 एच० डी० सकालिया आर० सी० मजूमदार द्वारा सम्पादित वैदिक एज० में पृष्ठ 123 132

भाषा, डा० सुनीति कुमार चटर्जी के अनुसार, संस्कृति की अभिव्यक्ति का एक मुख्य माध्यम है और भाषा के द्वारा ही संस्कृति प्रसरण होता है। यह निर्विवाद है कि भारत में अनेक प्रकार की प्रजातियों का आगमन, निगमन और मिश्रण हुआ है। प्रजाति और भाषा में कोई कारक सम्बन्ध नहीं है पर यह नहीं कहा जा सकता है कि एक प्रजाति समूह की अपनी विशिष्ट भाषा और संस्कृति नहीं होती है। प्रजातियों के साथ भारत में भाषा संस्कृतियाँ (Language Cultures) भी आईं जिनमें भारतीय संस्कृति का निर्माण हुआ है। भारत में आने वाली प्रजातियों के लोग आज आस्ट्रिक (Austric कोल मुण्डा) तिब्बती चीनी (Tibeto Chinese or Sino Tebetan) द्राविड़ और आर्य परिवार की भाषाओं को अलग अलग बोलते हैं किन्तु इन्हीं भाषा भाषियों की सांस्कृतिक विशेषताओं के मिलने से भारतीय संस्कृति और उसकी स्थायी प्रेरक शक्तियों और सांस्कृतिक प्रक्रियाओं का अभ्युदय हुआ है। एक ओर, भारत में विभिन्न भाषा संस्कृतियाँ आती रही हैं और दूसरी ओर कृषि पर आधारित आर्थिक जीवन तथा एक प्रकार से संसार से अलग एक बड़े भूभाग में रहने के कारण उनका पारस्परिक सम्मिलन और आदान प्रदान भी होता रहा है। भाषा के प्रमाणों के आधार पर यह कहना कठिन है कि भारत में आने के समय प्रत्येक भाषा संस्कृति के प्रवर्तकों का मानसिक और आध्यात्मिक गठन किस प्रकार का था यद्यपि, अन्य मानवी शास्त्रों की सहायता से इस बात का बहुत कुछ अनुमान अवश्य लगाया जा सकता है कि प्रत्येक भाषा संस्कृति का पार्थिव और अपार्थिव स्वरूप कैसा था और भारतीय जीवन के पार्थिव अपार्थिव, मानसिक और भावना जगत में उसका क्या योगदान रहा है।

डा० गुह के साथ साथ डा० सुनीति कुमार चटर्जी भी यह मानते हैं कि भारत के आदि निवासी नीग्रिटो थे यद्यपि अब न तो वे पाये ही जाते हैं और न उनकी भाषा ने ही बाद में आने वाली भाषाओं को प्रभावित किया। अत्यन्त आदिकालीन होने के कारण, नीग्रिटो संस्कृति का भारतीय संस्कृति पर कोई प्रमुख प्रभाव नहीं पड़ा और यदि कुछ प्रभाव पड़ा भी तो वह आस्ट्रिक द्राविड़ और आर्य भाषा संस्कृतियों की तह में आत्मसात् हो गया। यह अनुमान किया जाता है कि वट वृक्ष की श्रेणी में आने वाले वृक्षों की पूजा और यमराज की कल्पना वस्तुतः नीग्रिटो लोगों की ही देन है। प्राग आस्ट्रेलियाड प्रजाति के लोग सुनीति कुमार चटर्जी के अनुसार आस्ट्रिक भाषा-भाषी थे। प्रोटो आस्ट्रोलायड (Proto Austroloid) का आगमन पश्चिम से हुआ उनकी आदिकालीन भाषा का विकास भारत में हो हुआ और यहीं से इस प्रजाति और भाषा भाषियों का प्रसार पूर्व की ओर हुआ। भारत की कोल या मुण्डा, मान ख्मेर (आसाम) और निकोबार द्वीप की बोलियाँ आस्ट्रिक परिवार की हैं। कम्बोडिया, हिन्द चीन (इन्डो चाइना) इन्डोनेशिया, मलानेशिया, माईक्रोनेशिया और पॉलीनेशिया की भाषायें भी इसी परिवार में आती हैं। इस प्रकार, आस्ट्रिक

भाषा भाषियों का प्रसार कश्मीर से लेकर ईस्टर द्वीप तक हुआ। यही नहीं, मलानेशियन और पालीनेशियन समूहों के अस्तित्व में आने के बाद उनका भारत में पुनः आगमन हुआ और इस प्रकार अनेक पालीनेशियन और मलानेशियन तत्व भारतीय संस्कृति में मिल गये। जैसा कि डा० सुनीति कुमार चटर्जी का मत है महात्मा बुद्ध के समय तक आस्ट्रिक परिवार के भाषा भाषियों का प्रसार गंगा के मैदान में रहा है। धीरे धीरे वे आर्य भाषा भाषी हो गये। एक हजार पांच सौ और छः सौ ईसवी पूर्व के बीच में ये आर्य भाषा भाषी हुए। निषाद और चण्डाल संज्ञाओं का प्रयोग आर्यों ने इन्हीं के लिये किया है। कुछ भी हो, आस्ट्रिक भाषा भाषी प्रोटो-आस्ट्रेलायड की संस्कृति ने भारत को आधारभूत सांस्कृतिक तत्व प्रदान किये हैं। चावल कदली, नारिकेल (नारियल) और ताम्बूल (पान) जैसे अनेक पदार्थों के नामों की उत्पत्ति न तो संस्कृत में है और न द्राविड़ भाषाओं में। इससे यह स्पष्ट है कि यहां के उन पुष्प पादपजातों के नाम जिनसे आर्य और द्राविड़ भाषा भाषी परिचित नहीं थे, आस्ट्रिक भाषा भाषियों की देन हैं। भारत में नवप्रस्तरयुगीन संस्कृति के बीज आस्ट्रिक भाषा भाषियों ने ही बोये। मिट्टी के बर्तन, चावल की खेती, गन्ने से शक्कर का निर्माण, पूजा तथा अनुष्ठानों और धार्मिक तथा सामाजिक कृत्यों में पान, हल्दी और सिन्दूर का प्रयोग, हाथी पालना और कपास से कपड़ा बुनना कुछ ऐसे पार्थिव तत्व हैं जो आस्ट्रिक भाषा भाषियों से मिले हैं। गिनने में कौड़ी (बीस) की इकाई मानना, चन्द्रमा की कलाओं के आधार पर तिथियों का गिनना, नजर में विश्वास, कच्छपावतार, मत्स्यगंधा और शेषनाग की गाथायें, वानर और गणेश की पूजा और अंडे से सृष्टि उत्पत्ति की कहानी भारतीय संस्कृति के वे अपार्थिव तत्व हैं जिनकी जड़ें आस्ट्रिक संस्कृति में हैं। शव को खुला छोड़कर अन्त्येष्टि किया करना, सहवासा-गृहों (Dormitories) का निर्माण, नरमुण्डों का शिकार और नाव की पूजा बहुत सम्भव है मलानेशिया से आये हुए प्रवासियों की देन हो और विभिन्न संस्कारों में नारियल का प्रयोग पालीनेशिया के प्रवासियों की।

द्राविड़ और आर्य भाषा भाषियों ने ही भारतीय विशेषतया हिन्दू संस्कृति को उसके मुख्य आधार प्रदान किये हैं। आज द्राविड़ परिवार की भाषायें मुख्यतया दक्षिण में ही सीमित हैं किन्तु मध्य भारत में पायी जाने वाली गोंडी, कुवी और ओराओं बोलियों तथा बिलोचिस्तान में पायी जाने वाली ब्राहुई बोली के आधार पर भाषा वैज्ञानिकों और इतिहासकारों ने यह मत प्रतिपादित किया है कि सम्भवतः आर्यों के आने के पहले द्राविड़ भाषा भाषी सम्पूर्ण भारत में फैले हुए थे। अपनी ध्वनि संरचना के कारण, डा० सुनीति कुमार चटर्जी के अनुसार द्राविड़ परिवार की भाषायें फिनो उग्रियन (Finno Ugrian) भाषाओं के अधिक निकट हैं और यह निकटता इस बात का प्रमाण है कि द्राविड़ ईरान के उस पार से भारत में आये हैं। भारत में आर्यों ने दास अथवा 'दस्यु' संज्ञा का प्रयोग उन लोगों के लिए किया है

जो उनसे पहले भारत के निवासी थे। आधुनिक फारसी में 'डह्‌यु' 'दह' या 'डीह' जैसी संज्ञा का पाया जाना इस सम्भावना का प्रतीक है कि आर्यों और द्राविडों का प्रथम साक्षात्कार ईरान में ही हुआ होगा। यह भी सम्भव है कि 'डह' संज्ञा का प्रयोग ईरानियों ने यूनानियों से लिया हो। यूनानी 'डह' संज्ञा का प्रयोग कैस्पियन सागर के दक्षिण पूर्व में रहने वाले, डहाई, लोगों के लिए किया करते थे। अतएव, यह कहा जा सकता है कि 'डहाई' या द्राविड कहे जाने वाले लोग कैस्पियन सागर के दक्षिणी पूर्वी तटवर्ती प्रदेश के निवासी थे।

लंदन विश्वविद्यालय के मानवशास्त्र के प्रोफेसर श्री हेमनडाफ का मत है कि भारत में आर्यों के फैलने के बाद, समुद्री मार्ग से आकर द्राविड दक्षिणी भारत में बस गये और यही कारण है कि आज द्राविड भाषायें दक्षिणी भारत में ही सीमित हैं। उत्तरी भारत से दक्षिणी भारत तक फैली हुयी अनेक ऐतिहासिक परम्परायें और उसमें पाये जाने वाला साम्य इस मत को सही मान लेने में बाधक है। यह भी निश्चयपूर्वक नहीं कहा जा सकता कि द्राविड भाषा भाषी मडीटरैनियन प्रजाति ही के थे। हड़प्पा और मोहनजोन्डो की खुदाई में पायी गयी सीलों पर अंकित लिपि को कुछ लोगों ने वर्तमान द्राविड लिपियों का प्रारम्भिक रूप मान कर यह प्रतिपादित किया है कि हड़प्पा और मोहनजोदडो की संस्कृति द्राविड संस्कृति है? यह निश्चित है कि तीन हजार दो सौ पचास ईसवी पूर्व से लेकर दो हजार ईसवी पूर्व के मध्य, भारत में ताम्रयुगीन संस्कृति का विकास हुआ और जिसके निर्माण में द्राविड भाषा भाषियों का हाथ अवश्य है। बहुत सम्भव है कि जिन्हें वेदों में दास या 'दस्यु', दहरों तथा लोह और पत्थर के सप्तभजी दुर्गों का निर्माणकर्त्ता कहा गया है वही द्राविड हों और हड़प्पा तथा मोहनजोदडो की संस्कृति के निर्माता भी[1]।

सर जान मारशल के अनुसार, हड़प्पा और मोहनजोदडो की संस्कृति ताम्रयुगीन संस्कृति है और उसका अस्तित्व तीन हजार दो सौ पचास ईसवी पूर्व से लेकर दो हजार सात सौ पचास ईसवी पूर्व के मध्य रहा होगा। इसका क्षेत्र सम्पूर्ण सिन्ध, पंजाब, बलूचिस्तान और गंगा के मैदान के एक भाग से लेकर काठियावाड पश्चिमी घाट और दक्षिणी भारत के कुछ भागों में फैला रहा होगा। किन्तु हड़प्पा और मोहनजोन्डो की खुदाई में मिले पुरातत्व के अवशेष ही इस संस्कृति प्रतीक हैं और उन्हीं के द्वारा इस संस्कृति के स्वरूप को आंका जा सकता है। सभी विद्वानों का मत है कि यह संस्कृति ताम्रयुगीन नागरी संस्कृति थी और उस सांस्कृतिक प्रक्रिया का एक परिणाम थी जिसने सिन्ध और नील नदियों के बीच में आने वाले भूभाग में पल्लवित ताम्र तथा कांस्ययुगीन संस्कृतियों को जन्म दिया। इसी काल की सुमेर, बेबीलोन मिस्र और

1 सुन्दरम पी० एम० सय्यद अब्दुल लतीफ द्वारा सम्पादित और संग्रहीत एन आउटलाइन आफ दि कल्चरल हिस्ट्री आफ इंडिया पृष्ठ 1

असीरिया की संस्कृतियों तथा हड़प्पा और मोहनजोदड़ो की संस्कृति में इतना साम्य है कि पुरातत्ववेत्ता हड़प्पा मोहनजोदड़ो की संस्कृति को एक अलग छुटपुट विकास न मानकर उसे मिस्र से भारत तक फैली हुयी सांस्कृतिक विकास शृंखला की एक कड़ी मानते है। फिर भी, हड़प्पा मोहनजोदड़ो की संस्कृति अपनी समकालीन संस्कृतियों के पूर्णतया अनुरूप नहीं है—उसकी अपनी विशिष्टतायें हैं और अपना एक अलग व्यक्तित्व। हड़प्पा-मोहनजोदड़ो की संस्कृति के निर्माणकर्ताओं को कपास से कपड़े बनाने का ज्ञान था जबकि तत्कालीन मध्य एशिया के लोग इस ज्ञान से वंचित थे। मध्य एशिया की भांति यहाँ भी चित्रलिपि का विकास हुआ है किन्तु यहाँ की लिपि में प्रयोग किये गये चित्र अपने ढंग से निराले हैं। यहाँ बनाये जाने वाले मिट्टी के बर्तनों के आकार और उन पर बनायी जाने वाली चित्रकारी भी अपने ढंग की निराली है। हड़प्पा मोहनजोदड़ो में, जैसा कि पुरातत्वीय अवशेषों से विदित होता है, संस्कृति केन्द्रित है जनसाधारण में किन्तु तत्कालीन मध्य एशिया की संस्कृतियों के केन्द्रबिंदु हैं वहाँ के अभिजात्यवर्ग। पत्थरों पर खुदाई और नक्काशी करने की कला और धार्मिक विश्वास भी हड़प्पा मोहनजोदड़ो की संस्कृति को एक अलग सांस्कृतिक विशिष्टता प्रदान करते हैं।

हड़प्पा और मोहनजोदड़ो के अवशेषों से सबसे पहला आभास यह मिलता है कि सिन्धु नदी की घाटी में नगर नियोजन (City Planning) का ज्ञान था क्योंकि हड़प्पा और मोहनजोदड़ो के नगर सुनियोजित हैं। पक्की ईंटों के बने मकान, उनमें स्नानागार और नालियों की व्यवस्था, मकानों का एक सीधी लाइन में बना होना, सड़कों और जनपथों का सीधा तथा चौड़ा होना सार्वजनिक सग्रहागारों और जलवहन, स्वच्छता तथा पानी निकालने की व्यवस्था के अवशेष इस बात के प्रमाण हैं कि हड़प्पा और मोहनजोदड़ो के नगर नियोजित थे। ये अवशेष इस तथ्य के भी प्रमाण हैं कि इन शहरों में सहवासी जीवन अत्यन्त सगठित था और जनसाधारण को आवश्यक नागरीय सुविधायें प्राप्त थी। श्री के० एन० दीक्षित के मत में मौर्यकालीन नगर प्रहरी-पद्धति तथा प्रबन्धक मण्डलों की व्यवस्था और गुप्तकाल की नगर परिषदों की जड़ें सिन्धु नदी की घाटी में विकसित ताम्रयुगीन संस्कृति में हैं।

पुरातत्ववेत्ताओं ने इस संस्कृति के अनेक पार्थिव तत्वों तथा विशेषताओं का निर्धारित किया है। यह निर्विवाद है कि इस संस्कृति का आर्थिक आधार कृषि था। किन्तु, कृषक के अतिरिक्त, कुम्हार, बुनकर बढ़ई, राज और धातु की वस्तुयें बनाने वालों के धंधे भी मुख्य थे। सोने, चान्दी, तांबे, कांसे और पत्थर तथा पालिश की हुयी मिट्टी के आभूषणों का भी प्रचलन था। अनेक प्रकार के मिट्टी के बर्तनों का प्रयोग होता था यद्यपि यदा-कदा तांबे, कांसे चांदी तथा चीनी मिट्टी के बर्तन भी प्रयोग में लाये जाते थे। पकाई हुयी तथा चीनी मिट्टी की तकलियाँ, दशमलव प्रणाली पर आधारित बाँट, सिक्कों का आभास देने वाले गोल चांदी के टुकड़े और कपड़ा

बनाने की कला समृद्धिशाली व्यापार के प्रतीक हैं। भारत तथा एशिया के विभिन्न भागों के निवासियों के साथ हड़प्पा और मोहनजोदड़ो के निवासियों के व्यापारिक सम्बन्ध थे। यहाँ प्रयोग में लाये जाने वाले शंख और मोती, श्री दीक्षित के मतानुसार, दक्षिण के द्राविड़ों, विशेषतया तामिल भाषा भाषियों, से आये होंगे। सुमेर और इलाम की खुदाई में पायी गयी हड़प्पा और मोहनजोदाड़ो की सीलें इस बात की पुष्टि करती हैं कि इन संस्कृतियों के निर्माताओं में सांस्कृतिक तथा व्यापारिक सम्बन्ध थे। उत्किरण (Engraving) और प्रतिरूपण (Modelling) की कलाओं के भी अनेक प्रमाण मिलते हैं। हड़प्पा और मोहनजोदड़ो में पायी गयी सीलों पर तत्कालीन जानवरों और धार्मिक कृत्यों के खुदे हुये चित्र पाये गये हैं जिनसे, एक ओर, उस काल में पाये जाने वाले जानवरों का पता मिलता है और, दूसरी ओर, वहाँ के निवासियों के पारलौकिक विश्वासों का। काँसे में ढली और आभूषणों तथा बालों की सज्जा से सजी नारियों की मूर्तियाँ अनेक मुद्राओं में पायी गयी हैं, जिनमें नर्तकी की मूर्ति काफी प्रसिद्ध है। साथ ही साथ, मिट्टी और पत्थर की भी मूर्तियाँ पायी गयी हैं। खिलौने सी लगने वाली छोटी छोटी मिट्टी की बैलगाड़ियों का वही रूप है जो सिंध में वर्तमान बैलगाड़ियों का है। इसी आधार पर लोगों का यह अनुमान है कि हड़प्पा काल में जगतप्रसिद्ध भारतीय बैलगाड़ी अस्तित्व में आ गयी थी। खुदायी में प्राप्त पाँच सौ सीलें इस बात का प्रमाण हैं कि हड़प्पा मोहनजोदड़ो के निवासी चित्रलिपि का प्रयोग करते थे यद्यपि वह आज तक भी पढ़ी नहीं जा सकी है।

सीलों पर खुदे चित्रों और पत्थर की बनी मूर्त्तियों के आधार पर जिन धार्मिक विश्वासों और कृत्यों को निर्धारित किया गया है उनसे यह स्पष्ट पता चलता है कि हड़प्पा मोहनजोदड़ो के निवासियों के धर्म, उनके विश्वास और प्रथाओं में हिंदुत्व का प्रारम्भिक रूप था। पत्थर और मिट्टी की बनी अर्द्धनग्न नारी मूर्त्तियाँ, जो हड़प्पा और मोहनजोदड़ो में ही नहीं वरन् सम्पूर्ण पश्चिमी एशिया और योरोप तक पायी गयी हैं शक्ति या पृथ्वी माता या प्रकृति-देवी की प्रतीक मानी गयी है और लोगों का ऐसा अनुमान है कि ये मूर्तियाँ उन विश्वासों और अनुष्ठानों की परिचायक है जिन पर, आगे चलकर शाक्त धर्म और देवी भगवती की कल्पनायें आधारित हुई। हड़प्पा की एक सील में उल्टी लेटी हुयी एक नग्न नारी की योनि से एक उगता हुआ पेड़ चित्रित किया गया है जो सम्भवतः उस विश्वास और कल्पना का प्रतीक है जिसने आगे चलकर ऋग्वेद की 'पृथ्वीमाता' या 'पृथ्वी' की कल्पना का रूप लिया। एक सील पर खुदे चित्र में ऐसा आभास मिलता है कि मानो नारी की बलि देने की तयारी हो। नारी की बलि दी जाती थी या नहीं यह तो निश्चयपूर्वक नहीं कहा जा सकता। हाँ, यह अवश्य कहा जा सकता है कि शक्ति की पूजा में बकरी की बलि दी जाती थी क्योंकि एक सील में एक पूजक बकरी को ले जा रहा है और अनेक दर्शक एक पंक्ति में खड़े हैं। शक्ति की पूजा में बकरी की बलि देने की प्रथा आज भी विद्यमान है। हड़प्पा और



...ी सीलों के आधार पर, विद्वानों का यह अनुमान है कि वहाँ के ...मे शैव और जैन धर्मों का पुट था। शिव की अनेक रूपों में कल्पना ... सील में शिव को तीन मुख तथा तीन नेत्रो के साथ पद्मासन मे ...ा है। यही नहीं, उनके सिर पर सींगो वाली पोशाक है। उनके ... हाथी तथा बाघ है और बाइ ओर गंडा तथा भैंसा और सिंहासन ...ण खडा है। इससे यह स्पष्ट है कि 'त्रिमुख', 'त्रिनेत्र' 'भूतनाथ' ...महायोगी' के रूप मे शिव की कल्पनायें इस युग मे अस्तित्व मे आ ... सम्भव है कि सींगो वाली पोशाक ही आगे चलकर त्रिशूल मे प्रति...ो। किन्ही किन्ही सीलो मे शिव को चतुर्भुजी के रूप में अंकित किया ...ा ...वत इसी कल्पना से आगे चलकर चतुर्भुज देवताओ की कल्पना की गयी है। देवताओ का जैन योगियो की मुद्रा मे अंकित करना और ऋषभ (बैल) का प्रतीकात्मक रूप से उनके साथ सम्बन्धित करना जैन धर्म के प्रारम्भिक रूप से लगते हैं। यहाँ मिले शंक्वाकार (Conical) और रम्भाकार (Cylindrical) पत्थरों के आधार पर यह अनुमान लगाया जाता है कि सम्भवत 'शिव और 'शक्ति की पूजा 'लिंग' और 'योनि के रूप मे की जाती थी। आज भी मन्दिरो मे शिव-मूर्ति और अर्धा 'लिंग' और 'योनि के ही प्रतीको के रूप मे गढे जाते हैं। हडप्पा और मोहनजोदडो के लोग पीपल को पवित्र मानते थे। विभिन्न देवताओ के वाहन इस काल म पवित्र और पूजा योग्य समझे जाते थे। मुँह मे मछली लिए घडियाल को लोग सिन्धु का प्रतीक मानते हैं और यह प्रतिपादित करते हैं कि सम्भवत, हडप्पा मोहनजोदडो के निवासी नदियो की भी पूजा करते थे। स्वस्तिक और चक्र, जैसा कि विद्वानो का मत है, सूर्य के प्रतीक समझे जाने चाहिए। इस प्रकार, हिन्दुत्व की अनेक विशेषतायें हडप्पा और मोहनजोदडो की संस्कृति म विद्यमान हैं। यजुर्वेद तथा अथर्ववेद म वर्णित प्रेतात्माओ और जादुयी विचारो मे विश्वास हडप्पा की संस्कृति के प्रभाव के ही परिणाम हैं।

३

हिन्दुत्व का अभ्युदय

आज से चार पीढी पूर्व जब यह निर्धारित किया गया कि संस्कृत और उससे उत्पन्न भाषायें आर्य भाषायें हैं और ईरान से लेकर योरोप तक फैली हुयी आर्य भाषाओ से उनका मूल सम्बन्ध है तो सहसा यह मान लिया गया कि भारत में जो कुछ भी श्रेष्ठ है यह आर्यों की देन है। किन्तु बाद की खोजो से यह धारणा बदल गयी।

आज यह निर्विवाद है कि आर्यों के पहले भी भारत में सुसंगठित और उच्च संस्कृति विद्यमान थी। आर्य शब्द, धर्मानन्द कौसाम्बी के अनुसार, 'ऋ' धातु से बना होने के कारण, 'घुमक्कड़ (यायावर) या मुसाफिर' का अर्थ देता है। आर्य संस्कृति निश्चय ही यायावरों की संस्कृति थी और आर्य संस्कृति का भारत में द्राविडीकरण हुआ है। आर्य-संस्कृति के द्राविडीकरण की प्रक्रिया ईरान में ही प्रारम्भ हो गयी थी और इसीकारण पंजाब और वहां के निवासी आर्यों को उतने अपरिचित नहीं लगे जितने कि वे नवागन्तुकों को लगने चाहिए थे[1]। हड़प्पा और मोहनजोदड़ो के ढूहों (Mounds) के विभिन्न पर्तों में पाए गए विभिन्न प्रकार के मिट्टी के बर्तन जो झुलसे हुए हैं, इस बात का प्रमाण है कि जिन स्थानों में ये ढूह बन गए हैं वे कई बार आबाद हो होकर उजड़े हैं। मिट्टी के बर्तनों का झुलसा होना आग लगाकर उजाड़ने का द्योतक है। इसी आधार पर स्टुअर्ट पिगाट ने यह मत प्रतिपादित किया है कि लगभग एक हजार वर्ष तक आर्य-स्थानान्तरण की लहरें भारत को प्रभावित करती रहीं[2]। भारत में आस्ट्रिक भाषा भाषी नवप्रस्तरयुगीन संस्कृति के अग्रदूत रहे हैं, द्राविड भाषा भाषी ताम्र और कांस्ययुगीन संस्कृति के और आर्य लौहयुगीन संस्कृति के। आर्यों के भारत में स्थानान्तरित होने से भी अधिक महत्वपूर्ण है आस्ट्रिक, द्राविड और आर्य संस्कृतियों को एक सूत्र में बांधने वाली वह समन्वय प्रक्रिया जिसने हिन्दू संस्कृति को जन्म देकर फिर भारतीय संस्कृति को जन्म दिया। वास्तव में, आर्य और मस्लिम संस्कृतियां द्वारा अपरिवर्तित प्राक् आर्य (आस्ट्रिक तथा द्राविड) संस्कृतियां के आधार ही अखिल भारतीय संस्कृति की आधारभूत आत्मा हैं।

आर्य और प्राक् आर्य संस्कृतियों के समन्वय के अनेक प्रमाण हैं। शिव (आदि पुरुष) और उमा (आदि प्रकृति) की कल्पना द्राविडों की देन है। दार्शनिक स्तर पर यह कल्पना आर्यों की 'पृथ्वी माता और आकाश पिता' की कल्पना से कहीं अधिक व्यापक, रहस्यात्मक और तर्कसंगत प्रतीत होती है। शिव लिंग की पूजा, हो सकता है आस्ट्रिक भाषा भाषियों की देन हो किन्तु एक सर्वकल्याणकारी देवता के रूप में, शिव की कल्पना द्राविडों की ही देन है। हिन्दुओं के धार्मिक विचार दर्शन, प्रथायें और संस्कार आगम और निगम दो श्रेणियों में आते हैं। निगम प्रतीक है वैदिक क्रियाओं कर्मकाण्ड और बलियुक्त हवन का और आगम तान्त्रिक तथा पौराणिक प्रथाओं और संस्कारों का जिसमें यौगिक तथा धार्मिक जादुयी विचारधारायें और प्रथायें भी सम्मिलित हैं। धूप दीप नैवेद्य पुष्प भजन कीर्तन के साथ देवमूर्ति की पूजा करना ही पूजा कहलाता है। पूजा निश्चय ही आगम की श्रेणी में आती है। यही नहीं,

1 चटर्जी सुनीति कुमार आर० सी० मजूमदार द्वारा सम्पादित 'वैदिक एज' में पृष्ठ 1।

2 पिगाट, स्टुअर्ट प्रीहिस्टॉरिक इण्डिया पृष्ठ 218

पूजा शब्द की व्युत्पत्ति भी द्राविड भाषा से है। इस प्रकार आगम का अपना एक अलग संसार रहा है यद्यपि आगम और निगम ने एक दूसरे को प्रभावित किया है। गीता में कृष्ण का यह कहना कि यदि कोई पत्र पुष्प अर्पित करके निष्ठा के साथ मेरी आराधना करता है तो वह मुझे स्वीकृत है इस बात का प्रतीक है कि गीता की रचना के समय आगम-संस्कार और अनुष्ठान मान्य हो चुके थे। गीता और महाभारत के समय तक पुष्पकर्म (पूजा) और पशुकर्म (हवन बलि) का समन्वय हो चुका था। हिन्दू धार्मिक अनुष्ठानों और क्रियाओं में यह समन्वय आज भी विद्यमान है।

वेदों में वर्णित आर्यों के देवताओं की महत्ता का धीरे धीरे समाप्त होना, उनका मानवीकरण होना और अनार्यों के देवताओं की सर्वोपरिता जिसका जहां एक ओर, आर्यों के द्राविडीकरण का प्रतीक है वहां दूसरी ओर अनार्यों पर आर्यों की सांस्कृतिक विजय का। आर्य प्रकृति के पुजारी थे और उनके देवता थे इन्द्र वरुण, मरुत और सूर्य जो निराकार प्राकृतिक शक्तियों के प्रतीक थे। आगे चलकर, इन प्राकृतिक शक्तियों की मानवी रूप में कल्पना की गयी जो द्राविड विचारधारा के प्रभाव का परिचायक है। आर्यों के सबसे बड़े देवता इन्द्र (पुरन्दर), उत्तर वैदिक काल में केवल दिक्पाल मात्र रह गए और सभी देवताओं में विष्णु और शिव सर्वोपरि हो गए। विष्णु और शिव की सर्वोपरिता यहां तक बढ़ी कि अन्य देवता, कष्टों से छुटकारा पाने के लिए शिव या विष्णु की शरण में आने लगे। हनुमान और गणेश जैसे देवता और देवी भगवती के अनेक रूप निश्चय ही प्राक् आर्य संस्कृति के प्रतीक हैं। कृष्ण ने इन्द्र की पूजा के स्थान पर गोवर्धन पर्वत की पूजा को प्रतिष्ठापित किया था जो इस बात का प्रमाण माना जाता है कि किस प्रकार कृष्ण के नेतृत्व में अनार्यों ने अपनी सांस्कृतिक विजय पताका फहराने का प्रयत्न किया और उसमें सफल भी हुए। हिन्दू सामाजिक संगठन में टोटेमवाद (Totemism) का प्रभाव गरुड़ तथा नाग के रूप में जानवरों की पूजा और पेड़ पौधों तथा वृक्षों की पूजा अनार्य सांस्कृतिक तत्त्वों के ही प्रतीक हैं।

अनार्यों से आए हुए अनेक सामाजिक तत्व आज भी भारतीय संस्कृति में बने हुए हैं। देवर भाभी का सम्बन्ध, वैदिक तथा उत्तरवैदिक साहित्य में ... अनेक प्रथाओं की ओर निर्देश, नारियल सिन्दूर हल्दी और पान का ... उत्सवों में प्रयोग, जौ की रोटी, मांस और मक्खन, जो आर्यों के ... अतिरिक्त प्रयोग में लाए जाने वाले खाद्य पदार्थ और वस्त्रों में धोती, साफा और उत्तरीय अनार्य सांस्कृतिक तत्व हैं। राम और सीता की भारत के अनेक उपाख्यानों की उत्पत्ति भी अनार्य विचारधारा में भारतीय विचारधारा के आदर्श और अहिंसा के मूलाधार भी अनार्य चटर्जी ने तो यहां तक कहा है कि भारतीय संस्कृति ... में संस्कृति है। वास्तव में भारतीय संस्कृति का ताना है अनार्य

प्राय और अनाय के ताने-बाने से ही भारतीय सस्कृति के प्राधार का निर्माण हुआ है। आय और अनाय सास्कृतियो के सगम से ही भारतीय सस्कृति की सामाजिक एव समन्वयकारी विशेषता का जन्म हाता है। इसी समन्वयकारी विशेषता ने भारतीय सस्कृति का विशिष्टता एकत्व और स्थायित्व प्रदान किया है। यही वह विशेषता है जिसने विभिन्न सास्कृतिक प्रजातिक मानव समूहो को एक सूत्र म बाध दिया। आर्यों और अनार्यों की सस्कृतियो के समन्वय ने एक विशिष्ट दर्शन का जन्म दिया जिसके मुख्य आधार हैं सहिष्णुता, अहिंसा, जीवन के सभी प्रकारो के प्रति पवित्रता की भावना, सम्पूर्ण दुखा और बुराइयो को दूर करने के लिए तपस्या, यम नियम और ज्ञान का आश्रय लेना तथा रहस्यात्मक अनुभवों द्वारा अदश्य वास्तविकता को पाने की अभिलाषा, जीवन के दुखो तथा उनके मूलकारणो के प्रति अवगत होकर व्यक्ति, समुदाय (सहवासी) तथा मानवमात्र के जीवन स उन्हे दूर करने की प्रेरणा, रागात्मक भावनाओ तथा रहस्यात्मक अनुभूतियो म सामन्जस्य रखते हुए बुद्धि पर अडिग आश्रय बनाए रखना, जीवन मे समन्वय (अनेकान्तवाद) की अभिलाषा और जीवन के सभी प्रकारो को अदश्य और अलौकिक वास्तविकता के रूप मानकर उनमे एकत्व की अनुभूति करना[1]।

आय और अनाय सस्कृतियो के सगम से ही हिन्दुत्व और हिन्दू समाज का जन्म हुआ और जसा कि पहले कहा जा चुका है हिन्दुत्व ने ही विभिन्न प्रजातिक तथा सास्कृतिक समूहो का एक सूत्र म बाध दिया। हिन्दुत्व प्रसरण की यह प्रक्रिया आज भी जारी है। हिन्दुत्व और हिन्दू समाज न तो पूणतया प्राय है और न अनाय। जैसाकि वैदिक और उत्तरवदिक साहित्य स स्पष्ट है, धीरे धीरे, आर्यो पर अनार्यों का प्रभाव पडा और प्राय तथा अनाय सस्कृतियो का सगम हुआ। इस सगम से उत्पन्न सामासिकता म अनार्यों के विचार, दर्शन और प्रथायें नए रूपो मे प्रस्फुटित हुयी। भारत की परम्परागत सामाजिक आर्थिक विशिष्टतायें इसी सामासिकता के साथ साथ अस्तित्व मे आती हैं। सम्राट सुदास की विजय के साथ साथ, भारतीय राजनतिक सगठन मे 'सम्राट' की धारणा का जन्म होता है और तभी स भारत के राजाओ ने, अन्य राजाओ के राज्यो को हडप न करके वरन् उन्ह अपने साम्राज्य मे मिलाकर सदव सम्राट की पदवी प्राप्त करने का प्रयन्त किया है। सम्राट बनना राजा का धम है और पराजित राजा के राज्य को हडप लेना अधम है। सम्भवत, इसीकारण जहा एक ओर, भारत के राजाओ ने सम्राट बनकर भारत को एक सूत्र म बांधन का प्रयत्न किया है वहा, दूसरी ओर भारत के बाहर उपनिवेश स्थापित करने से दूर रहे हैं। भारतीय राजनैतिक दर्शन पर भी अनकान्तवाद का प्रबल प्रभाव रहा है।

1 चटर्जी सुनीति कुमार आर० सी० मजूमदार द्वारा सम्पादित पुस्तक वदिक एज में।

भारतीय पर्यावरण में प्रभाव और अनार्यों के सम्पर्क ने फिरन्दर आर्यों को कृषक बना दिया। भूमि से बंधकर स्थायी जीवन बिताना कृषि की एक आधारभूत आवश्यकता है और इस आवश्यकता की पूर्ति के साथ-साथ जगतप्रसिद्ध भारतीय ग्राम का अभ्युदय हुआ। सम्मिलित और संयुक्त परिवार कृषक जीवन की एक अन्य आवश्यकता है। वैदिक साहित्य में इस बात के यथेष्ट प्रमाण मिलते हैं कि किस प्रकार भारत में परिवार की संयुक्तता बनाये रखने का प्रयास किया गया है और आज अनेक प्रबल परिवर्तनकारी शक्तियों के आघातों को सहते हुये भी भारतीय परिवार की संयुक्तता सुरक्षित है। कृषि को सहायता प्रदान करने वाले पेशे और उनको करने वाले व्यक्ति अथवा समूह कृषक समाज की एक अन्य आवश्यकता है जिसके परिणामस्वरूप, प्रारम्भ से ही लकड़ी, लोहा और चमड़े के कार्यों पर आधारित पेशा और उनके करने वाला का वर्णन मिलता है। उधर आर्यों ने भारत में प्रजातिवाद, वर्ण-भेद और जाति ब्रहमन्यता के विचारों को जन्म दिया। जाति ब्रहमन्यता के विचार ने ही इस भावना को जन्म दिया कि वेद का ज्ञान आर्यों को साक्षात ईश्वर से मिला है और इस ज्ञान के सभी अधिकारी नहीं हैं। कृषक समाज की आवश्यकताओं और वर्ण भेद के विचारों ने ही सम्भवतः वर्ण-व्यवस्था को प्रोत्साहन दिया। कालान्तर में, इसी परिस्थिति ने कृषि पर आधारित भारत की उस सामाजिक-धार्मिक व्यवस्था को जन्म दिया जिसका मुख्य आधार जाति में निहित हो गया। इसका यह तात्पर्य नहीं कि वर्ण व्यवस्था ने ही जाति प्रथा को जन्म दिया। वर्ण और जाति सहसम्बन्धित किन्तु सहस्थायी सामाजिक इकाईयां रही हैं। दोनों ने एक साथ मिलकर व्यक्ति और समूह की सामाजिक प्रतिष्ठा को निर्धारित किया है। कृषक-समाज की आवश्यकताओं ने प्रतिष्ठा को कर्ममूलक मानने पर जोर दिया जबकि प्रजातिवाद तथा जाति ब्रहमन्यता के विचारों ने जन्म पर। 'गुणकर्म विभागशः' वाली विचारधारा ने कर्म पर जोर देकर व्यक्ति को वर्ण में स्थान दिया किन्तु सामाजिक स्थिति को जन्मजात मानने वाली विचारधारा ने जाति में। आर्य और अनार्य संस्कृतियों के संगम से वर्ण-व्यवस्था और गणजाति-व्यवस्था का संगम होने से जाति-व्यवस्था का अभ्युदय हुआ जिसका स्पष्टीकरण आगे किया जायगा। वैदिक काल में लेकर वर्तमान समय तक, वर्ण और जाति व्यक्ति के जीवन और व्यवहार को प्रभावित करते रहे हैं और यह इस बात का प्रतीक है कि भारत में प्रारम्भ से ही व्यक्ति समष्टि का अंग रहा है। कृषि पर आधारित सामाजिक प्रणाली की सम्भवतः मांग ही यही है[1]।

इस प्रकार, आर्य-द्राविड़ संस्कृतियों के सम्मिश्रण में हिन्दुत्व का बीजारोपण

1 ओ मेले माडर्न इण्डिया एण्ड दि वेस्ट पृष्ठ 15। पानीकर के० एम० ए सर्वे आफ इण्डियन हिस्ट्री पृष्ठ 8 10

हुआ किन्तु वह पल्लवित और पुष्पित हुआ उत्तरवैदिक काल में। उत्तरवैदिक काल में ही वेदांत ब्राह्मण, आरण्यक और उपनिषद लिखे गये। इन ग्रन्थों में निहित धार्मिक विचारों और दर्शन ने ही हिन्दू समाज और संस्कृति को संगठित और स्थायी होने में सहायता दी। वैदिक काल के आर्य केवल आर्यावर्त (वर्तमान पंजाब और पश्चिमी उत्तर प्रदेश) को ही जानते थे किन्तु बाद में, धीरे धीरे, वे पूर्व और दक्षिण की ओर फैलते गये। रामायण की कथा का ऐतिहासिक पक्ष इस बात का प्रतीक है कि रामायण काल में विन्ध्याचल की तलहटी से लेकर किष्किन्धा तक फैले हुये सघन वन प्रदेश में यत्र-तत्र आर्य ऋषि रहते थे और सम्भवतः उन्हीं के द्वारा हिन्दुत्व का प्रसरण हुआ होगा। किन्तु महाभारत काल में यह स्थिति बदल जाती है। महाभारत काल में भारत के वर्तमान भौगोलिक क्षेत्र का ज्ञान हो जाता है। कुरुक्षेत्र के मैदान में सम्पूर्ण भारत के योद्धा एकत्र होते हैं। यहां तक कि हिमालय, कैलाश और मानसरोवर का ज्ञान भी प्राप्त हो जाता है। रामायण काल में तपस्यारत शूद्र की कल्पना नहीं की जा सकती थी किन्तु महाभारत काल में दासी-पुत्र विदुर ही सम्राट धृतराष्ट्र के मित्र और सहायक हैं। वेदों के रचयिता और पाण्डु तथा धृतराष्ट्र के जनक महर्षि वेदव्यास स्वयं एक निषाद स्त्री की सन्तान हैं। इस प्रकार, ज्यों ज्यों आर्यों का विस्तार होता गया और वे यहां के आदिवासियों के सम्पर्क में आते गये, सामाजिक सामञ्जस्य की समस्या सामने आती गयी। इस समस्या का निराकरण हुआ वर्ण व्यवस्था और जाति व्यवस्था द्वारा। किन्तु अत्यन्त प्राचीन काल से जहां, एक ओर, वर्ण व्यवस्था एक आदर्श कल्पनामात्र रही है और कभी भी समाज में उस कड़ाई के साथ लागू नहीं किया जा सका वहां, दूसरी ओर, जन्म पर आधारित जाति व्यवस्था समाज में दृढ़ता प्राप्त करती गयी और इस दृढ़ता के विरुद्ध बराबर विद्रोह भी होते रहे। हिन्दुत्व एक सतत विकसित और प्रसरित सामाजिक संकुल रहा है। संश्लेषण और सात्मीकरण इसकी विशेषता रही है जिसके कारण भारत में आये हुये विभिन्न प्रकार के समूहों को हिन्दुत्व एकता-सूत्र में बांधने में सफल हुआ है। हां, केवल इस्लाम इसका अपवाद है।

वास्तव में हिन्दुत्व के दार्शनिक और सामाजिक आधारों का विकास और समन्वय तथा संगठन उत्तरवैदिक काल में ही हुआ। उपनिषदों में ही आत्मा निरपेक्ष निराकार ब्रह्म और ईश्वर तथा मानव के सम्बन्ध की कल्पना और व्यवस्था की गयी। उत्तरवैदिक काल में ही धर्म की उस व्यापक धारणा का प्रतिपादन किया गया जो हिन्दू सामाजिक दर्शन की अपनी निजी विशेषता है। कर्म, माया, मुक्ति और आवागमन के सिद्धान्तों का निर्धारण भी उत्तरवैदिक काल में ही हुआ। ये सिद्धान्त ही वास्तव में हिन्दू धर्म तथा समाज की वे आधारभूत शिलायें हैं जिन्होंने हिन्दुत्व को स्थायित्व प्रदान किया है। प्रत्येक युग में आवश्यकतानुसार इन्हीं सिद्धान्तों का विवेचन और निर्वचन होता रहा है और उसी से हिन्दू को प्रेरणायें

मिलती रही है। गृह्य सूत्रों और धर्म-सूत्रों ने हिन्दुत्व के सामाजिक आधार की नींव डाली। गृह्य-सूत्रों के द्वारा हिन्दू गृहस्थ के घरेलू जीवन को नियमित और निर्धारित किया गया। गर्भाधान से लेकर मृत्यु पर्यन्त तक के अनेक संस्कारों का निर्धारण और नियमन गृह्य सूत्रों द्वारा ही हुआ। गृह्य सूत्रों द्वारा निर्धारित संस्कारों से सम्बन्धित कल्पों (Rituals) को मानने वाला ही वास्तव में हिन्दू है। हिन्दुत्व के दार्शनिक सिद्धान्त (जैसे कर्म और आवागमन के सिद्धान्त) औरों के द्वारा भी अपनाये जा सकते हैं किन्तु गृह्य कल्पों (Domestic Ritual) को वही अपनायेगा जो वस्तुतः हिन्दू है। आज भी जहाँ हिन्दुत्व है गृह्य सूत्रों में वर्णित गृह्य कल्प पाये जाते हैं। गृह्य कल्पों ने ही हिन्दुत्व को उसके सामाजिक आधार प्रदान किये। धर्म सूत्रों में सामाजिक व्यवहारों और प्रथाओं का वर्णन है। धर्म-सूत्र किसी युग विशेष की रचना न होकर कई युगों की रचनायें हैं। धर्मसूत्रों को हिन्दुओं की विधि प्रणाली (Legal System) कहा जा सकता है। धर्म सूत्र अपने वास्तविक रूप में समाज को संगठित रखने की प्रेरणा के प्रतीक हैं।

वैदिक काल में हिन्दूकरण (Hinduisation) की जो प्रक्रिया प्रारम्भ हुयी थी उत्तर वैदिक काल में उसका प्रसार बढ़ता गया जिसके फलस्वरूप अनेक गण जातियाँ हिन्दू समाज और धर्म के क्षेत्र में आती गयीं। सम्भवतः, इसी प्रसरण और उससे उत्पन्न सामाजिक सामञ्जस्य की आवश्यकता ने एक ओर वर्ण व्यवस्था को प्रोत्साहन दिया तो, दूसरी ओर जाति व्यवस्था और जन्मजात सामाजिक उच्चोच्च परम्परा की भावना को। वैदिककालीन साहित्य की अपेक्षा उत्तरवैदिककालीन साहित्य में जातियों और पेशों के नाम अधिक मिलते हैं। यही वह युग है जब यह विचार घर करने लगा था कि जाति जन्म पर आधारित है। इस युग में ब्राह्मण ग्रंथों की रचना इस बात का प्रमाण है कि ब्राह्मण वैदिक कर्मकाण्ड को सामाजिक जीवन का आधार बना कर अपनी सामाजिक स्थिति को उच्च बनाने में सफल हो रहे थे। किन्तु साथ ही साथ, विश्वामित्र और वशिष्ठ के संघर्ष की कहानी इस बात का भी प्रतीक है कि इस युग में ब्राह्मण-क्षत्रिय संघर्ष भी चल रहा था। महाभारत में कृष्ण ने इन्द्र के स्थान पर गोवर्धन पर्वत की पूजा पर जोर दिया जो वैदिक धर्म और देवताओं के प्रति विद्रोह का प्रतीक है। आगे चलकर ईसा पूर्व छठी शताब्दी में जैन और बौद्ध धर्मों के प्रवर्तकों का क्षत्रिय परिवारों में उत्पन्न होना यदि, एक ओर, इतिहास की आकस्मिक घटनायें हैं तो दूसरी ओर, ब्राह्मण-क्षत्रिय संघर्ष से उत्पन्न सामाजिक प्रक्रिया के परिणाम भी हैं। कौशाम्बी, कोशल, अवन्ती और मगध के राज्य, बढ़ते हुये राजनैतिक संगठन के प्रतीक होने के साथ साथ, बढ़ते हुये क्षत्रिय प्रभाव के भी प्रतीक हैं। दूसरी ओर, यज्ञ और पशुबलि पर आधारित ... कर्म जनसाधारण को सन्तुष्ट करने में असमर्थ हो रहा था। उत्तर ...
और धर्म के प्रति होने वाली प्रतिक्रिया के

विकास और प्रचार हुआ ।

उपनिषद अनेक हैं और सभी उपनिषदो मे वर्णित दर्शन, किन्ही किन्ही स्थलो पर, एक दूसरे के विरोधी भी हैं । उपनिषदो म विरोधी विचारो के आजाने का एक मुख्य कारण यह है कि वे किसी एक कालविशेष की रचनाए नही हैं । उत्तर वदिक काल से लेकर मुसलमानो के आने के समय और उसके बाद तक भी उपनिषदो की रचनायें और उनमे वर्णित विचारो और दर्शनो की व्याख्या तथा निवचन होता रहा है और यही कारण है कि उपनिषदो मे कही-कही विरोधी विचार व्यक्त हो गए हैं । किन्तु, यह निश्चित है कि उपनिषद उत्तरवदिक काल मे चलने वाली एक विशेष विचारधारा और दर्शन की उपज हैं । वदिक सामाजिक दर्शन इहलौकिक है और उसका मुख्य आधार है यज्ञों पर आधारित कर्म काण्ड । वेदो म कर्म का तात्पर्य है यज्ञ से । वदिक धर्म यज्ञोन्मुख और कर्मकाण्डी होने के साथ-साथ, बहुदेववादी भी है । वेदो मे यज्ञ रचना और देव-स्तुति इसलिए की जाती है कि 'बल मोटे हो घोडे बलवान हों, फसल की उन्नति हो और शत्रुओ पर विजय मिले । वदिकी विचारो म इस लोक को उत्साह और आल्हाद के साथ अपनाया गया है । जन्म न तो दुख का कारण है और न मत्यु का पूवरूप । वदिक विचारका के लिए यह ससार सुख का माध्यम है—यह न तो प्रपच है और न मायामय । वेदो म स्वग की कामना भी इसी भाव से की गयी है कि वहा भी पथ्वी पर उपलब्ध भोगो का सुख प्राप्त हो ।

ठीक इसके विपरीत, उपनिषदो की विचारधारा इहलौकिक न होकर पार लौकिक है । ससार नश्वर है—उस मकडी के जाले के समान जो मकडी से उत्पन्न होकर फिर मकडी मे ही समा जाता है । देवता अनेक है किन्तु इनके ऊपर भी एक देवता है, अदृश्य, अनन्त, अव्यक्त निर्विकार और अजन्मा । इसी कल्पना ने सव शक्तिमान ईश्वर, परब्रह्म परमपिता परमेश्वर की कल्पनाओ को जन्म दिया । सष्टि के आदिकारण ब्रह्म की कल्पना उपनिषद-दर्शन की एक विशेषता है । ब्रह्म एक हैं पर अनेक भी, निराकार है पर साकार भी । अतएव, वह निर्गुण भी है और सगुण भी । निर्गुण की उपासना ने ज्ञान सन्यास तथा योग पर जोर दिया और सगुण की उपासना ने 'भक्ति' और 'अवतार' पर । ब्रह्म की ही कल्पना ने, कालान्तर मे, द्वैत, अद्वैत और विशिष्टाद्वैत जसे वादो को जन्म दिया । उपनिषद दर्शन म एक ओर ससार को क्षणभगुर माना गया तो दूसरी ओर ससार और जीवन को मायामय । जीव ईश्वर का अश है अतएव उसी म समा जाना उसका धर्म है। जन्म और मृत्यु के चक्र से छुटकारा पाने म ही जीव का कल्याण है । मानव जीवन का आदर्श है मुक्ति मोक्ष, जिसके मिलने का माध्यम है ससार का वास्तविक ज्ञान न कि वैदिक कर्म काण्ड । वराग्य, सन्यास, चिन्तन ध्यान और समाधि को ज्ञान प्राप्ति के मुख्य साधन माना गया है जिसकी उपलब्धि तभी सम्भव है जब मनुष्य ससार से अलग रहे । कोई आश्चय नहीं यदि, उपनिषदकाल म वर्णाश्रम-व्यवस्था की विशद व्याख्या करके, उसे

लागू करने का प्रयत्न किया गया। उपनिषदों में जहाँ, एक ओर, यज्ञों और पशुबलि का तिरस्कार किया गया वहाँ, दूसरी ओर, कर्म की विस्तृत व्याख्या करके ज्ञान प्राप्ति के साधनों को भी कर्म के अंतर्गत लाने का प्रयास किया गया। इस प्रकार, उपनिषदों में वैदिक कर्ममार्ग के स्थान पर ज्ञानमार्ग पर ज़ोर दिया गया। किंतु, हिन्दू सामाजिक जीवन में दोनों मार्ग अलग-अलग न रह सके। गीता को एक ऐसा उपनिषद कहा जा सकता है जिसमें इन दोनों मार्गों को समन्वित करने का प्रयास किया गया है। गीता में कर्म की व्याख्या ही इस समन्वय का प्रतीक है। गीता-दर्शन, इहलौकिक भी है और पारलौकिक भी। हिन्दू सामाजिक जीवन को प्रेरणा देने वाली अर्हायें यदि एक ओर इस लोक के प्रति प्रेरित करती है तो दूसरी ओर परलोक के प्रति।

४

बुद्धवाद और जैनवाद

ईसवी पूर्व छठवीं शताब्दी में उत्पन्न होने वाले जैन और बुद्ध धर्मों ने, एक ओर, औपनिषदिक विचारधारा को प्रोत्साहन दिया तो दूसरी ओर वैदिक कर्मकाण्ड और ब्रह्मणवाद का विरोध किया। वास्तव में, जैनवाद और बुद्धवाद का विकास औपनिषदिक और वैदिक विचारधाराओं की ही पृष्ठभूमि में हुआ और यही कारण है कि जैनवाद और बुद्धवाद के रूप में हम सामाजिक तथ्यों के नये निर्वचन मिलते हैं। इसीलिए जैन और बुद्ध धर्मों के आविर्भाव को धार्मिक क्रान्ति न कहकर सामाजिक क्रान्ति कहा जाता है। यह पहले ही कहा जा चुका है कि हड़प्पा और मोहनजोदड़ो की सीलों में खुदे हुए कुछ चित्र जैन-योगियों के समान लगते हैं जो इस बात का प्रतीक हैं कि जैन परम्परायें भारत में पहले ही से विद्यमान थीं। उधर अहिंसा संसार की नित्यता अनित्यता मोक्ष तथा कर्मसम्बन्धी विचार और संन्यास की मान्यतायें, बुद्ध के पहले ही मान्य हो चुकी थी। जैन और बुद्ध धर्मों के प्रवर्तकों ने इन विचारों को वह सामाजिक पुट दिया जिसकी जड़ वैदिक काल और उपनिषदों में ही जम चुकी थी। इसीकारण, सनातन हिन्दू धर्म का विरोध करते हुए भी ये धर्म हिन्दू समाज से दूर न जा सके। जैनमतावलम्बी जैनमत के साथ हिन्दू-परम्पराओं को मानते रहे हैं। बुद्धमत के लिए कहा जाता है कि वह हिंदुत्व का एक बौद्धिक रूप है और इस कथन में अतिशयोक्ति भी नहीं है। यह भी माना जाता है कि पौराणिक कथाओं को बौद्ध-आदर्शों के अनुसार गढ़कर, उन्हें जातक कथाओं के रूप में रक्खा गया। ईसा की पहली शताब्दी में, महायान के उत्थान और नागार्जुन के शून्यवाद की धारणा ने बौद्ध धर्म को हिंदुत्व के और भी समीप ला दिया। नागार्जुन का

शून्यवाद आगे चलकर, शंकर के अद्वैतवाद का आधार बना। वज्रयान के रूप में परम्परागत योगिक तन्त्रवाद पुनः स्थापित हुआ और सहजयान के रूप में वह रहस्यवादी विचारधारा पनपी जिसने एक ओर सिद्धों की परम्परा को जन्म दिया तो दूसरी ओर मध्यकालीन भक्तिमार्ग तथा काव्य परम्परा को। यह कहना असंगत है कि भारत से बुद्धवाद का लोप हो गया। वास्तविकता तो यह है कि बुद्धवाद एक प्रवाहशालिनी सरिता की भांति अनेक धाराओं में बटकर हिन्दुत्व के प्रशान्त महासागर में विलीन हो गया।

यह निश्चित है कि जैनवाद और बुद्धवाद का भारतीय सामाजिक जीवन, विशेषतया सामाजिक अर्हाओं पर क्रांतिकारी प्रभाव पड़ा। इन दोनों धर्मों ने निवृत्तिमार्गी प्रवृत्तियों को प्रोत्साहित किया जिसके फलस्वरूप एक ओर संन्यास का सामाजिक माहात्म्य बढ़ा तो दूसरी ओर मोक्ष', कैवल्य 'तपस्या' और 'समाधि' का। जैन मुनियों ने तो तपस्या को उसकी पराकाष्ठा तक पहुंचाने का प्रयत्न किया किन्तु बौद्धों ने सम्यक मार्ग को ही उचित ठहराया। दोनों ने संसार को दुखमय मानकर संसार त्यागने पर जोर दिया और इस प्रकार दोनों ने उपनिषदों के मार्ग का अनुसरण किया। हां यह अवश्य है कि बौद्धों ने तपस्या के द्वारा शरीर को कष्ट देने पर जोर नहीं दिया। दोनों ने 'अहिंसा परमोधर्म' के आदर्श को प्रतिपादित किया यद्यपि, इस आदर्श प्रतिपादन में दोनों ने अलग अलग मार्गों का अनुसरण किया। जैनियों ने किसी भी प्रकार से जीव हत्या न हो इस पर जोर दिया। छानकर पानी पीना मार्ग को बुहारते हुये चलना और बालों को उस्तरे से काटने के स्थान पर उखाड़ने की क्रियायें इसी विचारधारा का परिणाम हैं। सम्भवतः यही कारण है कि जैनियों ने कृषि के स्थान पर व्यापार को अधिक उचित ठहराया क्योंकि कृषि में जीव हत्या की अधिक सम्भावना रहती है। इसका दूसरा स्पष्टीकरण यह है कि आदिवासियों के हिन्दू समाज में शूद्र के स्तर पर संगठित होने के कारण, कृषि के लिए जब श्रमिक उपलब्ध होने लगे तो वैश्यों ने कृषि के स्थान पर व्यापार को अपना कर अपनी सामाजिक प्रतिष्ठा को उच्च बनाने का प्रयास किया। बुद्ध ने व्यक्ति के लिए हिंसा वर्जित की किन्तु उस पराकाष्ठा तक नहीं जहां तक जैनियों ने किया। बौद्धों में, कहीं-कहीं जानवरों को मारना तो हिंसा माना गया है किन्तु मरे हुए जानवर का मांस खाना अहिंसा। अहिंसा सम्बन्धी जैन विचारधारा ने अन्ततोगत्वा 'बौद्धिक अहिंसा' का रूप लिया और स्याद्वाद और अनेकान्तवाद के मतों का जन्म हुआ। स्यात का अर्थ है 'शायद' या सम्भवतः और स्याद्वाद से तात्पर्य लिया जाता है उस विचारधारा से जो इस मान्यता पर आधारित है कि हो सकता है कि दूसरा भी सही हो। इसी प्रकार अनेकान्तवाद का भी यही अर्थ है कि इस संसार में धर्म और मुक्ति के मार्ग अनेक हैं और सम्भवतः सभी मार्ग ठीक हैं। आज स्याद्वाद और अनेकान्तवाद जैन धर्म के ही एकाधिकार में नहीं है। आज वे भारतीय संस्कृति की

धाराओं में लीन हो चुके हैं। भारत में सांस्कृतिक सहिष्णुता और सामासिकता की जड़ें भी सम्भवतः स्याद्वाद और अनेकान्तवाद में ही है। स्याद्वाद और अनेकान्तवाद से उत्पन्न प्रेरणायें आज भी उतनी ही प्रभावपूर्ण हैं जितनी कि वे कभी थीं। पूर्व और पश्चिम में समन्वय स्थापित करने तथा गुटों के चक्कर से अलग एक स्वतन्त्र वैदेशिक नीति अपनाने की पृष्ठभूमि में स्याद्वाद और अनेकान्तवाद की ही प्रेरणायें कार्य कर रही हैं। इन दो प्रेरक मतों में यदि भारत की कमजोरी निहित है तो उसकी संजीवनी शक्ति भी इन्हीं में है।

बुद्धवाद और जैनवाद अपने युग की सामाजिक धार्मिक क्रान्तियाँ हैं जिनका उद्भव ब्राह्मणवाद, वैदिक कर्मकाण्ड और उपनिषदों की अगम्य, शुष्क एवं नीरस व्याख्याओं के प्रति होने वाली प्रतिक्रिया से हुआ। जैन और बौद्ध धर्मों का आविर्भाव और प्रसार भी उस प्रदेश के वासियों में हुआ था जो मुख्यतया अनार्य थे। इसके कई प्रमाण हैं कि कुरु और पांचाल के आर्य मगध के परिवर्ती आर्यों को अपने से निम्न समझते थे। सम्भवतः इसी कारण मगध के आर्यों में बढ़ते ब्राह्मणवाद और जाति व्यवस्था के प्रति जो प्रतिक्रिया हुयी उसका चरमोत्कर्ष बुद्धवाद के रूप में हुआ। बुद्धवाद में, वैदिक प्रथाओं के प्रतिकूल, यज्ञों को व्यर्थ माना गया है। महात्मा बुद्ध ने जाति को जन्मजात न मानकर कर्मगत माना और वैदिक काल में पनपी हुई 'आत्मवत सर्व भूतेषु' और पण्डिता समदर्शिनः की विचारधारा पर जोर दिया जिसके परिणामस्वरूप यह भावना घर करने लगी कि ऊँच-नीच का भेदभाव न तो जन्मजात है और न ईश्वरकृत है—बल्कि यह मनुष्यकृत है। मानव को जीवन का आदर्श मानते हुए महात्मा बुद्ध ने इस बात पर जोर दिया कि मानव का कल्याण इसी में है कि वह जाति, वर्ण और ऊँच नीच की भावनाओं से ऊपर उठने का प्रयत्न करे। जीवन को मोक्ष के योग्य बनाया जा सकता है पर कर्मों के द्वारा। यह कहकर कि निम्न स्थिति वाला व्यक्ति भी अपने कर्मों द्वारा पवित्र जीवन को प्राप्त हो सकता है भगवान बुद्ध ने कर्म सिद्धान्त को एक क्रान्तिकारी प्रगतिशील रूप प्रदान किया। परम्परागत विचारधारा के अनुसार, मानव जीवन और दुःख सुख इस जीवन तथा पुनर्जीवन के कर्मानुसार होते हैं। महात्मा बुद्ध ने भी यह माना कि कर्म संचित होते रहते हैं। किन्तु साथ ही साथ, उन्होंने यह भी माना कि जन्म कुछ नहीं केवल कर्म ही सब कुछ है क्योंकि कर्म के द्वारा निम्न व्यक्ति भी ऊपर उठकर मोक्ष प्राप्त कर सकता है। कर्मवाद के जिस सिद्धान्त को वेद तथा उपनिषदों के मनीषियों ने निराशामय भाग्यवाद का रूप दिया उसी को भगवान बुद्ध ने एक प्रगतिशील आशावाद का रूप दिया। बुद्धवाद में कर्म की विशद व्याख्या की गई। वैदिक काल में, यज्ञ कर्म के प्रतीक थे। उपनिषद काल में, यज्ञों के साथ-साथ, चिन्तन और साधन भी कर्म की श्रेणी में आ गए। किन्तु बुद्धवाद में, भगवान बुद्ध के सम्यक् मार्ग पर आधारित, सदाचार भी कर्म की कोटि में आ गए। यम नियम प्राणायाम, उपवास, आत्मदमन

और अपरिग्रह इत्यादि कर्म के प्रतीक बन गए। कर्म की इसी व्यापक व्याख्या ने गीता मे अनासक्तियोग की धारणा का रूप ले लिया। महात्मा गाधी के प्रबल आशावाद पर निश्चय ही अनासक्ति योग की छाप रही है और उनका सादा जीवन बिताने तथा साध्य के स्थान पर साधन की पवित्रता पर अधिक जोर देना, उसी आदर्श से प्रभावित से जान पडते हैं जिसमे कर्मों की पवित्रता और सम्यक मार्ग पर जोर दिया गया है।

अनेक प्रजातियो का सगम स्थल होते हुये भी भारत प्रजातिवाद के भयकर रोगो से मुक्त रहा है। भारत प्रारम्भ से ही अनेक सस्कृतियो का संधान रहा है। यह, सम्भवत, जैनवाद के 'अनेकान्तवाद' और बुद्धवाद के 'सम्यक मार्ग' की ही देन है। के० एम० पनिकर के अनुसार, सघो की स्थापना और स्त्रियो को भिक्षुणी बनने की अनुमति देना वास्तव मे मानव इतिहास मे क्रान्तिकारी परिवर्तन के प्रतीक है। यह बुद्धवाद का ही प्रभाव है कि कालान्तर सघो के स्थान पर 'मठो' और 'अखाडो' का महत्व बढ गया। 'सघे शरण गच्छामि' बुद्धवाद का एक प्राथमिक नारा था। सघ परम्परा के परिणामस्वरूप मध्ययुग मे मुसलमानो के प्रभाव के अन्तर्गत, भारत में, विशेषतया उत्तरी भारत मे, पन्थ परम्परा प्रादुर्भूत हुयी। प्रत्येक पन्थ के प्रणेता ने जाति पाति और ऊँच-नीच का विरोध किया। महात्मा बुद्ध ने संयासी को ही मुक्ति का भागी ठहराया और संयासी वह है जो समाज से अलग होकर जाति पाति के बन्धनो से ऊपर उठ गया हो। यह बुद्धवाद का ही प्रभाव है कि संयास हिन्दू सामाजिक जीवन का वह क्षेत्र बन गया है जहा न कोई जाति है और न पाति। जाति-व्यवस्था के विरुद्ध उठने वाले विद्रोहियो को संयास से ही आश्रय और संतुष्टि मिलते रहे है। आज भी यह माना जाता है कि दण्डियो और संयासियो की कोई जाति नही होती है और न उन्हे जातिगत छूआछूत तथा खान पान के नियमो को मानना चाहिये। निगुडा बाभन ना तर भक्ता तर चमारे यह कथन और इसमे निहित दृष्टिकोण बुद्धवाद के कर्म सिद्धान्त से अप्रत्यक्षत प्रभावित हैं। महात्मा बुद्ध ने लोकभाषा मे द्वारा अपना सन्देश लोगो तक पहुचाया और, साथ ही साथ, वैदिक कर्मकाण्ड और उपनिषदो के शुष्क ज्ञानमार्ग के स्थान पर सरल कर्ममार्ग को उचित ठहराया। जाति प्रथा, ब्राह्मणवाद वैदिक कर्मकाण्ड तथा उपनिषदो के शुष्क नीरस ज्ञानवाद से ऊबी हुयी जनता को बुद्धवाद अधिक आकर्षक तथा श्रेयस्कर प्रतीत हुआ। इसका परिणाम यह हुआ कि बुद्धवाद एक सामाजिक आन्दोलन बन गया और उससे उत्पन्न सामाजिक क्रान्ति की लहर एक ओर जाति पाँति का विरोध करने वाले मध्यकालीन सन्तो की वाणी मे प्रस्फुटित हुयी तो, दूसरी ओर महात्मा गाधी के कार्यों और विचारों मे। छठी शताब्दी से लेकर गुप्त साम्राज्य के अन्त तक चलने वाला ब्राह्मण बौद्ध सघर्ष, सामाजिक आन्दोलन का ही प्रतीक है। यह निश्चित है कि बुद्धवाद ने जनसाधारण को ---पित किया और उन समूहो को प्रभावित किया जो हिन्दुत्व के क्षेत्र के बाहर

थे जो, आगे चलकर, बुद्धवाद की समाप्ति के साथ-साथ वे हिन्दू समाज का अंग बन गये। अतएव, यह कहा जा सकता है कि जहां, एक ओर, बुद्धवाद ने वैदिक हिन्दू धर्म तथा समाज के प्रति विद्रोह की आवाज उठाई वहां, दूसरी ओर, आर्य अनार्य समन्वय से उत्पन्न हिन्दूकरण की प्रक्रिया को बढ़ावा भी दिया। बुद्धवाद नव निर्वाचित वैदिक धर्म के प्रसार का एक प्रयास था।

ज्यों ज्यों बौद्ध धर्म का विकास हुआ त्यों त्यों स्मृतियों के रूप में जाति व्यवस्था को बनाये रखने के लिये कड़े अनुशासनों की व्यवस्था की गयी। बुद्धवाद के प्रभाव के कारण, हिन्दुत्व के पुनर्गठन का प्रयास किया गया और इस बात का प्रयास किया गया कि यह पुनर्गठन जनसाधारण के स्तर पर हो। किन्तु जैसा कि मीमांसा सिद्धान्तों[1] से स्पष्ट है इस पुनर्गठन में कल्पवादिता (Ritualism) का प्राधान्य था। आठवीं शताब्दी में, शंकर ने इस कल्पवादिता को अद्वैतवाद का दार्शनिक आधार प्रदान करके इसे शुष्क एवं नीरस होने से बचाया और हिन्दुत्व को वह दार्शनिक सिद्धान्त प्रदान किये जिनके कारण हिन्दुत्व इस्लाम और ईसाइयत के आघातों को आत्मसात कर सका। शंकर ने उपनिषदों के आधार पर, अद्वैतवाद के दर्शन का प्रतिपादित करके, कोरे कल्पाचार को निरर्थक कहा। कल्पों (Rituals) की शंकर ने उसी प्रकार से भर्त्सना की जैसी कि बौद्धों ने की थी और इसी कारण मीमांसकों ने उन्हें प्रच्छन्न बौद्ध की संज्ञा दी है। कुछ भी हो शंकर ने बुद्धवाद के दार्शनिक आधार को आत्मसात करके हिन्दुत्व के पुनर्गठन में सहायता की। दूसरी ओर, उत्तर में बद्रीधाम पूर्व में पुरी पश्चिम में द्वारिका और दक्षिण में शृंगेरी नामक स्थानों पर चार मठों की स्थापना करके शंकर ने हिन्दुत्व के पुनर्संगठन को प्रोत्साहित किया। मीमांसकों को पराजित करके शंकर ने बुद्धवाद और हिन्दुत्व को परस्पर समीप लाने में सहायता दी जिसका परिणाम यह हुआ कि पुरी का बौद्धों का मन्दिर हिन्दुओं का मन्दिर हो गया। संक्षेप में यह कहा जा सकता है कि "दसवीं शताब्दी के अन्त में हिन्दुत्व अपना सार्वभौमिक प्रभुत्व स्थापित करने में सफल हुआ। पुनप्रतिपादित सिद्धान्तों ने हिन्दुत्व को वह दर्शन प्रदान किया जिसे बुद्धिवादी वर्गों में मान्यता मिली और जिसने बुद्धवाद को आत्मसात कर लिया। कश्मीर से कन्याकुमारी अन्तरीप तक शिव, विष्णु और देवों की पूजा का प्रसार और प्रतिपादन हुआ

1 'मीमांसा दर्शन का विषय है वैदिक विधि निषेधों का आशय समझाना, उनकी पारस्परिक संगति बैठाना और युक्तियों द्वारा कर्मकाण्ड के मूल सिद्धान्तों का प्रतिपादन करना। विधि विधान पूर्वक जिस कर्म को करने से जन्म-जन्मान्तर में परमानन्द की प्राप्ति हो उस वेद प्रतिपाद्य विधिवत कर्म का अनुष्ठान ही धर्म है'। मीमांसा दर्शन के द्वारा वैदिक कर्मकाण्डी विधि के पुनरुन्नयन का प्रयास किया गया है—गैरोला, वाचस्पति भारतीय दर्शन पृष्ठ 342

और तत्कालीन दर्शन में बिना किसी शंका के परमात्मा, जीवात्मा, माया और जाति तथा धर्म शास्त्रों के आधार पर संगठित समाज में अवतारों के सिद्धान्तों को स्वीकार कर लिया गया [1]। किन्तु इस प्रकार जहाँ एक ओर हिन्दुत्व के संगठनकारी आधार अस्तित्व में आ रहे थे वहाँ दूसरी ओर अनेक वादों में पड़कर हिन्दू समाज विशृंखलित भी हो रहा था। शैवों, शाक्तों और वैष्णवों के संघर्ष उसी प्रकार अकाट्य ऐतिहासिक तथ्य हैं जिस प्रकार वैदिक काल में ब्राह्मणों तथा क्षत्रियों और बाद में बौद्धों तथा ब्राह्मणों के बीच में चलने वाले संघर्ष। इसी स्थिति में इस्लाम के प्रवेश ने हिन्दुत्व में अनेक परिवर्तनकारी प्रक्रियाओं को जन्म दिया जिनका विश्लेषण करने के पहले हिन्दुत्व के उन वैचारिक आधारों का स्पष्टीकरण अपेक्षित है जिनके द्वारा हिन्दुत्व में व्यक्ति और समाज की मर्यादायें निर्धारित की गई हैं।

५

हिन्दुत्व के वैचारिक आधार

हिन्दुत्व के सामाजिक तथा वैचारिक आधार एक सतत विकासशील संचयी ऐतिहासिक प्रक्रिया रहे हैं। प्रागैतिहासिक काल से लेकर भारत में इस्लाम के प्रवेश के काल तक हिन्दुत्व के सामाजिक तथा दार्शनिक आधारों की नींव पड़ी है जो कालान्तर में इस्लाम तथा योरोपीय सभ्यता के प्रभावों से परिवर्तित होने पर भी स्थायी रहे हैं। हिन्दुत्व जीवन यापन का एक तरीका है जिसके प्रेरणा स्रोत निहित हैं व्यक्ति तथा समाज सम्बन्धी उन विचारों में जिन्हें हिन्दुओं ने एक ओर व्यक्ति तथा समाज के सम्बन्धों और दूसरी ओर इहलौकिक तथा पारलौकिक जीवन को नियमित करने के प्रयास में विकसित किया है। सभी प्राणियों में केवल मानव ही विचारशील प्राणी है। केवल मानव ही आदर्श नियमों का निर्माण करता है और केवल मानव ही वर्तमान के आधार पर भूत तथा भविष्य को एक शृंखला में जोड़ने का प्रयास करता है। आदर्श नियमों द्वारा सामूहिक जीवन का नियमन मानव की ही विशेषता है और इसी विशेषता का परिणाम है कि प्रत्येक काल और स्थान में मानव ने जीवन दर्शन का प्रतिपादन किया है। हिन्दू मानव ने जिस जीवन दर्शन को विकसित किया वह अपने सम्बन्धित सामाजिक पक्ष के साथ हिन्दुत्व के रूप में आविर्भूत हुआ। वेदों के प्रणेताओं, उपनिषदों के मनीषियों, धर्म शास्त्रों के रचयिताओं, स्मृतिकारों और समय समय पर आविर्भूत होने वाले समाज

---

[1] मजूमदार, के० एम० ए सर्वे आफ इण्डियन हिस्ट्री, पृष्ठ 102 103

सुधारकों ने जिस वैयक्तिक तथा सामाजिक जीवन दर्शन को प्रतिपादित किया है, वही हिंदुत्व है। हिंदुत्व वैयक्तिक तथा सामाजिक जीवन के प्रति एक दृष्टिकोण विशेष है। प्रभु के अनुसार, हिंदुओं ने सामाजिक संगठन से सम्बन्धित समस्याओं पर काफी गम्भीरता से ध्यान दिया है और मानव जीवन के संगठन को जहाँ तक सम्भव हो सका उत्तमतम बनाने का प्रयास किया है। इसी प्रयास में हिंदुत्व की आधारभूत धारणाओं और उनसे नियमित हिंदू सामाजिक संगठन की रूपरेखायें भी विकसित हुई हैं। हिंदू-जीवन-यापन में मानवी तथा मानवीय जीवन की आवश्यकताओं, अभिरुचियों, उद्देश्यों तथा आकांक्षाओं के समन्वय का प्रयास किया गया है। इस समन्वय के दो आधार हैं—एक, इहलौकिक जीवन की आवश्यकतायें और दूसरा, इस जीवन तथा संसार से परे जीवन की आवश्यकतायें तथा उद्देश्य। हिंदू के लिये यह संसार एक रंगमंच है और मानव जीवन एक साधनमात्र है—वह साधन जिससे जीवन-स्वातन्त्र्य (मुक्ति मोक्ष) की प्राप्ति होती है। शारीरी आवश्यकताओं की पूर्ति जैविक गुण भी है और आवश्यकता भी। मानवीयता नितान्त शारीरिक आवश्यकताओं की पूर्ति से आगे उठा हुआ एक कदम है क्योंकि शरीर नश्वर है। अमर है तो केवल आत्मा। आत्मा को निरन्तर प्रबुद्ध करते हुए, जीवन स्वातन्त्र्य की प्राप्ति का प्रयास ही मानवीयता है। इस दृष्टिकोण की वाञ्छनीयता इस तथ्य में निहित है कि मानव जीवन केवल शारीरी आवश्यकताओं की पूर्ति तक ही सीमित नहीं है। मानवीयता निहित है शास्त्र प्रणीत धर्म के अनुसार जीवन व्यतीत करने में। मानवीयता की माँग है मोक्ष और मोक्ष की प्राप्ति धर्म से होती है। अतः जीवन धर्म से बंधा है। मोक्ष जीवन तथा संसार से विमुख होने पर नहीं मिलता है। वह मिलता है जीवन को उसकी स्वाभाविक अभिरुचियों के साथ अपनाने में।

इसलिये, धर्म के साथ साथ, जीवन अर्थ और काम में भी बंधा हुआ है। धर्म अर्थ काम और मोक्ष का समन्वय और साधन कर्म से होता है। कर्म के माध्यम से धर्म अर्थ, काम और मोक्ष की साधना पुरुषार्थ है। पुरुषार्थ आवश्यक है क्योंकि मानव जीवन का उद्देश्य केवल पुरुष ही बने रहना नहीं है। मानव जीवन का उद्देश्य है मानवी स्तर से मानवीयता की ओर अग्रसर होना जिसका तात्पर्य है पुरुष से पुरुषोत्तम और नर से नरोत्तम होना। इस साधना में व्यक्ति और समाज दोनों आवश्यक हैं क्योंकि पुरुष से पुरुषोत्तम बनने की प्रक्रिया में व्यक्ति और समाज एक दूसरे के पूरक हैं। व्यक्ति में समाज की साधना होती है और समाज में व्यक्ति। व्यक्ति और समाज में किसी प्रकार का विरोध नहीं है बशर्ते कि प्रणयन धर्म से हो। समाज के रंगमंच पर जीवन है। इस प्रक्रिया की कुछ आधारभूत अवस्थायें के लिये आवश्यक हैं क्योंकि ये अवस्थायें

कृतियों का एक सहज परिणाम है। अतः व्यक्ति अपने गुण तथा कर्मों के कारण ही समाज तथा धर्म से बंधता है और इसकारण पुरुषार्थ की साधना का तात्पर्य है गुण कर्म के अनुसार समाज में धर्म प्रणीत वैयक्तिक जीवन को अपनाने का प्रयास करना[1]। इस प्रकार हिन्दुत्व तथा जीवन के प्रति हिन्दू दृष्टिकोण कुछ धारणाओं में निहित है। ये धारणायें हैं—धर्म, अर्थ, काम, मोक्ष (पुरुषार्थ), कर्म सिद्धान्त और वर्णाश्रम व्यवस्था। ये धारणायें तथा इनमें निहित वैयक्तिक तथा सामाजिक जीवन की आवश्यकतायें और उद्देश्य हिन्दुत्व के आधार हैं। इन्हीं धारणाओं ने हिन्दू समाज तथा संस्कृति को उसकी विशेषतायें प्रदान की हैं। ये धारणायें किसी भी रूप में निरपेक्ष नहीं हैं। ये सापेक्ष हैं व्यक्ति की मानसिक तथा सामाजिक आवश्यकताओं और देश काल की परिस्थितियों से। युग युग की आवश्यकताओं के अनुसार इन धारणाओं के संवर्द्धन और प्रतिपादन में ही हिन्दुत्व का विकास निहित है।

1 हिन्दुत्व का यह आधारभूत विचार सम्पूर्ण हिन्दू वाङ्मय में व्याप्त है। वेदों संहिताओं ब्राह्मणों आरण्यकों उपनिषदों सूत्रों, स्मृतियों महाकाव्यों, नीति शास्त्रों तथा …

हिन्दुत्व

पांचवां अध्याय

धर्म

धर्म और रिलीजन

हिन्दुत्व में धर्म से वह अर्थ नहीं लिया जाता है जो अंग्रेजी में रिलीजन (Religion) से लिया जाता है यद्यपि साधारणतः हिन्दी में धर्म शब्द का प्रयोग रिलीजन के पर्याय रूप में किया जाने लगा है। चेम्बर्स की टवेंटियथ सेंचुरी डिक्शनरी (1947) के अनुसार, रिलीजन का अर्थ है दैवी शक्तियों के प्रति मनुष्य की अनुगता के कर्तव्य की मान्यता, ईश्वर के प्रति प्रेम तथा अनुगता के कर्तव्यों का पालन, आस्था तथा पूजा-पद्धति की कोई भी प्रणाली और दृढ़ता अथवा कर्तव्य का भाव। रिलीजन के दो पहलू हैं—एक दैवी शक्ति के प्रति अनुगता की भावना और दूसरा, दैवीशक्ति के प्रति अनुगता की भावना से प्रेरित व्यक्तियों का एक मजहबी संगठन में संगठित होना। रिलीजन शब्द का प्रयोग बुद्धवाद, ईसाइयत और इस्लाम के लिए अधिक उपयुक्त है बनिस्बत हिन्दुत्व के लिए। बुद्धवाद, इस्लाम और ईसाइयत, एक ओर, दिव्य शक्ति और आधिदैविक के प्रति भावना अनुगता की अनिवार्यता से सम्बन्धित है और दूसरी ओर, संघ संगठन से। हिन्दुत्व में संघ संगठन पर जोर न होने के कारण हिन्दुत्व बुद्धवाद, इस्लाम और ईसाइयत से भिन्न हो जाता है। धर्म की धारणा वहीं तक समष्टिमूलक है जहां तक अर्थ और काम का सम्बन्ध है। अपने मूलरूप में, धर्म की धारणा व्यक्तिमूलक

है। अतः, धर्म रिलीजन नहीं है यद्यपि यह नहीं कहा जा सकता कि धर्म में रिलीजन और रिलीजन में धर्म के तत्वों का एकदम अभाव है।

गोखले के अनुसार, हिन्दू जीवन धर्म, अर्थ, काम और मोक्ष की धारणाओं में ओतप्रोत है। यहां तक कि हिन्दू मान्यताओं में यह माना जाता है कि इतिहास भी उस भूतकाल का वर्णन है जिसमें जीवन के चार आदर्शों—धर्म, अर्थ, काम और मोक्ष की पूर्ति तथा प्राप्ति का प्रयास निहित रहता है। लेकिन, इन चारों धारणाओं में केवल धर्म की ही धारणा ऐसी है जो भारतीय विचारधारा में युग युग से चली आ रही है और जिसके द्वारा एक बड़े जन समूह में एक निश्चित विचार तथा व्यवहार-कलाप का निर्माण हुआ है। धर्म शब्द की व्युत्पत्ति इतनी व्यापक है कि इसका प्रयोग मानव क्रिया के सभी रूपों के निरूपण तथा निर्माण के लिए किया गया है। भारतीय संस्कृति की तीन विशेषतायें आध्यात्मिकता (Spirituality), ओजस्विता (Vitality) और बौद्धिकता (Intellectuality) धर्म की धारणा के विभिन्न रूपों से ही आविर्भूत हुई हैं[1]।

जैसा कि राधाकृष्णन ने कहा है, धर्म की धारणा उन रूपों (Forms) और क्रियाओं (Activities) को समेटे हुए है जो मानव जीवन का आधार है और जिनसे मानव जीवन का निर्माण होता है। मानव जीवन में विभिन्न अभिरुचियां (Interests), अनेक आकांक्षायें (Desires) और विरोधी आवश्यकतायें (Conflicting Needs) का समावेश हुआ है। ये अभिरुचियां आकांक्षाएं और आवश्यकताएं बढ़ती और परिवर्तित होती रहती हैं। हिन्दुत्व में विकसित धर्म की धारणा का उद्देश्य है इन सभी को एक इकाई में समन्वित करना। धर्म सिद्धान्त हमें आध्यात्मिक वास्तविकताओं को पहचानने के प्रति जागरूक बनाता है। किन्तु, यह जागरूकता संसार का त्याग करने से नहीं आती है। यह जागरूकता आती है सांसारिक जीवन में अर्थ काम और आध्यात्मिक आस्था (Spiritual Faith) का नियंत्रित करते वाली शक्ति का समन्वय करने में। जीवन की अभिरुचियां आकांक्षायें और आवश्यकतायें अनेक हैं किन्तु जीवन एक सुगठित इकाई है। यहां लौकिक (Secular) तथा अलौकिक (Sacred) में अन्तर नहीं है और न भक्ति तथा मुक्ति ही परस्पर विरोधी हैं क्योंकि मानव जीवन में लौकिक तथा अलौकिक दोनों का समावेश हुआ है। यहां धर्म अर्थ और काम साथ-साथ चलते हैं। यही कारण है कि धर्म की धारणा में मानव जीवन, उसकी आकांक्षाओं तथा अर्हताओं का एकता मिलती है। इस प्रकार धर्म मानव-जीवन सम्बन्धी वह धारणा है जिसके द्वारा मानव जीवन के लौकिक तथा अलौकिक पक्षों को एक सूत्र में पिरो कर, एक आदर्श समाज में व्यक्ति के अधिकार तथा कर्तव्यों को एक व्यापक सिद्धान्त में निरूपित करने का प्रयास किया गया है। धर्म

1 गोखले, बी० जी० इंडियन थाट थ्रू दि एजेज पृष्ठ 24

एक ओर मानव की सम्पूर्ण नैतिक क्रियाओं की विधि है और, दूसरी ओर एक प्रकार का वह शीशा जिसमें मानव की सभी नैतिक क्रियायें प्रतिबिम्बित होती हैं[1]।

धर्म की धारणा, एक ओर, लौकिकता में अवगुंठित है तो, दूसरी ओर अलौकिकता में। धर्म एक ओर जीवन दर्शन को परिवेष्ठित किए है तो दूसरी ओर, समाज में व्यक्ति की शारीरी मानसिक तथा आध्यात्मिक आवश्यकताओं की पूर्ति के प्रयास में सम्बन्धित है। धर्म वह धारणा है जिसके द्वारा हिन्दुत्व में व्यक्ति के इहलौकिक तथा पारलौकिक जीवन का नियमित तथा निरूपित करने का प्रयास किया गया है। धर्म का सम्बन्ध मानव जीवन की आवश्यकताओं तथा समस्याओं से है। मानव जीवन की आवश्यकताओं का स्रोत एक ही है किन्तु उसकी अभिव्यक्ति बहुमुखी होती है। इसी कारण हिन्दू जीवन में धर्म की अभिव्यक्ति भी बहुमुखी होती है। धर्म की धारणा, वस्तुत, एक बहुदलीय पुष्प के समान है। जिस प्रकार बहुदलीय पुष्प अनेक पखुडियों में बँट होने पर भी अपनी सुगठित एकता बनाये रखता है उसी प्रकार धर्म भी मानव जीवन की शरीरी मानसिक सामाजिक तथा आध्यात्मिक आवश्यकताओं को एक सिद्धान्त में लपेटे हुए है। धर्म की व्यवस्था इसी बहुमुखी सिद्धान्त की व्याख्या में निहित है। हिन्दू विचार में नेति (जिसका अन्त न हो) की प्रधानता रही है और यही कारण है कि हिन्दू के लिए सभी कुछ वह रहस्य है जिसका अन्तिम ज्ञान पाना असम्भव है। इसी विचार ने हिन्दुत्व में रहस्यात्मकता की पुट देकर हिन्दू विचार को लचीला बना दिया है। इस विचार के प्रभाव का परिणाम यह हुआ है कि जहाँ एक ओर धर्म ग्रन्थों में धर्म के निरूपण का प्रयास किया गया है वहाँ दूसरी ओर यह भी स्वीकार किया गया है कि धर्म का स्वरूप अत्यन्त जटिल है। धर्म के अन्तिम तथा शाश्वत स्वरूप का निर्धारण एक दुष्कर कार्य है।

इसी मान्यता का यह परिणाम है कि धर्म की व्याख्या अनेक दृष्टिकोणों से की गई है। एक ओर शाब्दिक व्युत्पत्ति के आधार पर धर्म की आत्मा को आँकने का प्रयास किया गया है तो दूसरी ओर धर्म शब्द के लक्षणात्मक तथा व्यंजनात्मक अर्थों के आधार पर धर्म के स्वरूप का निर्धारित करने का प्रयास किया गया है। हिन्दुत्व में निहित रहस्यात्मक विचार में सम्पुटित होने के कारण धर्म की व्याख्या भारतीय दर्शन की आध्यात्मिक परम्परा में की गई है। धर्म का सम्बन्ध व्यक्ति तथा समाज के सहअस्तित्व के प्रतिपादन में है और इस कारण धर्म का सामाजिक दर्शन से घनिष्ट सम्बन्ध रहा है। हिन्दू विचार उन सामाजिक ऐतिहासिक परिस्थितियों की उत्पत्ति है जिनके प्रभाव के अन्तर्गत हिन्दुत्व का निर्माण हुआ है। अत,

1 गोखले बी० जी० वही पृष्ठ 21

धम की धारणा का अपना सामाजिक एतिहासिक पक्ष है। सामाजिक एतिहासिक पक्ष से तात्पय उन सामाजिक एतिहासिक परिस्थितियों से है जिन्होंने धम की धारणा के निरूपण को प्रभावित किया है। राधाकृष्णन कुमार स्वामी और अरविन्द ने वतमान परिस्थितियों में धम की दार्शनिक व्याख्या प्रस्तुत की है। राधाकृष्णन ने तो पश्चिमी विचार के मुहावरों में धम की व्याख्या की है[1]। प्रभू ने आधुनिक हिन्दू समाज के मनोवैज्ञानिक विश्लेषण के सन्दभ में धम की व्याख्या की है[2]। गोखले ने भारतीय विचार की सामाजिक एतिहासिक विवेचना के सन्दभ में धम की व्याख्या की है[3]।

धम व्युत्पत्ति और परिभाषा

२

संस्कृत भाषा के कोषों में धम शब्द के अनेक अथ मिलते हैं। अमरकोष के अनुसार धम शब्द के अथ हैं—सुकृत या पुण्य वदिक विधि—यागादि, यमराज, न्याय, स्वभाव, आचार और सोमरस को पीने वाला। अन्य कोषों के अनुसार धर्म शब्द के अथ हैं—शास्त्रोक्त कम के अनुष्ठान से उत्पन्न होने वाले भावी फल का साधनस्वरूप शुभ अदृष्ट या पुण्यापुण्य रूप भाग्य, श्रौत और स्मात धम, विहित क्रिया से सिद्ध होने वाला गुण या कम-जन्य अदृष्ट आत्मा, देह को धारण करने में जीवात्मा, आचार या सदाचार वस्त्र का गुण, स्वभाव उपमा यागादि अहिंसा, मामाध्यायी, सत्संग, धनुष ज्योतिष मत में लग्न से नवम स्थान या भाग्य भवन और दान आदि। व्याकरण की रीति से धम शब्द 'धञ्' (धारणे) धातु के आगे 'मन' प्रत्यय लगाने से बनता है। इसकी व्युत्पत्ति तीन प्रकार से की जा सकती है—पहली जिसमें लोक धारण किया जाय वह धम है (ध्रियते लोक अनेन इति धम), दूसरी, जो लोक को धारण करे वह धम है (धरति धारयति वा लोकम् इति धम) और तीसरी, जो दूसरों के द्वारा धारण किया जाय वह धम है (ध्रियते य स धम)[4]। इस प्रकार, धम शब्द का धातुगत अथ है धारण करना। धम की जिस धारणा ने हिन्दू जीवन को प्रभावित किया है, उसका मूलरूप इसी धातुगत अथ पर

1 राधाकृष्णन एस॰ दि हिन्दू व्यू आफ लाइफ
2 प्रभू, पी॰ एच॰ हिन्दू सोशल आगनाईजेशन
3 गोखले बी॰ जी॰ इण्डियन थाट थ्रू दि एजेज
4 कल्याण हिन्दू संस्कृति अक पृष्ठ 300

आधारित है यद्यपि उसकी ~क्षणात्मक तथा ~यजनात्मक व्युत्पत्तियो म मत मतान्तर पाया जाता है। रामदास गौड के मत म धम श~द क वदिक प्रयोगा[1] से धम का जो अथ निकलता है उसके अनुसार किसी वस्तु वा अवस्तु की, आत्म या अनात्म की विधायक वत्ति का उसका धम कहत हं। प्रत्यक पदाथ का व्यक्तित्व जिस वत्ति पर निभर है वही उस प~ाथ का धम है।

धम श~द के अतुगत अथ (धारण करन) क आधार पर धम की अनक ~क्षणात्मक तथा व्यजनात्मक व्यु पत्तियाँ करके धम को निरुपित करन का प्रयास किया गया ह। धम की मू~ धारणा है जा धारण कर वह धम है (धारयतीति धम)। कि~तु यहा प्रश्न उठता है कि कौन धारण करे, क्या धारण कर और किसका धारण करे? महाभारत क कणपव म उदधत एक श्लाक मे निहित मा यता म यह भाव है कि 'धारण करने स लाग इस धम कहते ह। धम प्रजा का धारण करता है। जो धारण के साथ रहे, वह धम है—यह निश्चय है'[2]। इसी का एक व्यञ्जनात्मक अथ यह भी किया जाता है कि 'जो समाज का व्यक्ति का धारण कर, वह धम है[3]। इसी ~याख्या क स~दभ का स्पष्ट करते हुए प्रभू न लिखा है कि धम, निश्चय ही वह सिद्धा त है जिसम सार ब्रह्माण्ड का सुरक्षित रखने की क्षमता है[4]। स स्कृति की ~याख्या के प्रकरण म यह पहले ही कहा जा चुका है कि संस्कृति मानव क आदर्शोन्मुख व्यवहार म निहित रहती है। समाज और व्यक्ति संस्कृति द्वारा ही धारण किय जात हैं। इस ~ष्टिकाण म धम मानव ~यवहार समाज तथा संस्कृति का धारण करन वाला हुआ। मानव ~यवहार, समाज तथा संस्कृति, एक ओर, आदश नियमा के जाल म बध रहते हैं और दूसरी आर वास्तविकता म जा आदश क अनुरूप हाते हुए भी उसम भि~न रहती ह। इसीकारण यह कहा गया है कि धम आचार या सदाचार से उत्प~न होता है (आचार प्रभवा धर्मो)[5]। इसी स~दभ म निरुक्त म दी हुई धम की उस व्याख्या की साथकता सिद्ध हाती है जिसके अनुसार

1 रामदास गौड ने जिन वदिक प्रयोगा का उल्लेख किया ह, व य ह —
(अ) त्रीणि पदा विचक्रमे विष्णुर्गोपा अदाभ्य । अतो धर्माणि धारयन ।18। ऋग्वेद
(ब) धर्ति लोकान ध्रियत पुण्यात्मभिर्वा,
(स) धारणाद्धममित्याहु —देखिय रामदास गौड द्वारा रचित हिन्दुत्व ।

2 धारणाद्धर्ममित्याहुधर्मो धारयते प्रजा ।
यत स्याद्धारणसयुक्त स धम इति निश्चय ॥ महाभारत कण० 69/58
कल्याण वही पृष्ठ 369

3 कल्याण वही पृष्ठ 161

4 प्रभू पी० एच० हिन्दू सोशल आरगनाईजेशन पृष्ठ 79

5 कल्याण वही पृष्ठ 372

धर्म का अर्थ नियम किया गया है—वह नियम जो व्यक्ति तथा समाज को धारण किये रहता है। लेकिन धर्म का उद्देश्य केवल धारण करना ही नहीं है। धर्म सुख और आनन्द का मूल है (धर्मेण सुखमाप्नोति)[1]। सुख दो प्रकार का होता है—लौकिक तथा अलौकिक अथवा आध्यात्मिक। लौकिक सुख के पक्ष की प्रबलता पर जोर देने के लिए ही कहा गया है कि 'धन से धर्म होता है और धर्म से सुख होता है (धनाद्धर्मं ततः सुखम्)। वैशेषिक दर्शन के रचयिता कणाद ने धर्म को लौकिक तथा पारलौकिक सुखों और कल्याण का साधन माना है। उसके अनुसार 'जिससे लौकिक सुख तथा पारलौकिक कल्याण (परमार्थ) की सिद्धि हो, वह धर्म है (यतोऽभ्युदयनिःश्रेयससिद्धिः स धर्मः)[3]।

इस व्याख्या से यह तात्पर्य निकलता है कि धर्म उन सदाचारी नियमों में निहित है जिनके द्वारा लौकिक तथा पारलौकिक सुखों को धारण हो। व्यक्ति का जीवन अस्थायी है। उसके जीवन में आने वाले सुख तथा दुख भी अस्थायी हैं। किन्तु जीव नित्य (स्थायी) है और इस कारण धर्म भी नित्य (स्थायी) है[4]। अतः, नित्य जीव को नित्य सुख नित्य धर्म से ही मिल सकता है। लेकिन, वह नित्य धर्म क्या है? मनु ने धर्म के चार लक्षण बताये हैं और वे हैं वेदानुकूल, स्मृति सम्मत, आचारनिष्ठ तथा आत्मप्रिय व्यवहार[5]। मानवधर्मशास्त्र में धर्म के दस लक्षण बताये गये हैं और वे हैं—धृति (सन्तोष), क्षमा, दम (आत्मनियन्त्रण), अस्तेय (त्याग), शौच (शुद्धता), इन्द्रिय निग्रह, धी (बुद्धि), विद्या (ज्ञान), सत्य और अक्रोध[6]। मनु द्वारा निर्धारित किये हुए लक्षणों की व्याख्या से यह निष्कर्ष निकलता है कि धर्म का सम्बन्ध उन नियमों से है जिनसे मानव जीवन में संयम तथा सदाचार उत्पन्न होते हैं और जिनके माध्यम से मानव जीवन का शारीरिक, मानसिक तथा आध्यात्मिक अभ्युदय होता है। संयम तथा सदाचार की पृष्ठभूमि में संस्कारों का महत्व बढ़ जाता है। इसी दृष्टिकोण से धर्म की व्याख्या करते हुए रामदास गौड़ ने लिखा है संयमी जीवन संस्कारों का समर्थन करता है और संस्कार का फल होता है शरीर

---

1 कल्याण वही पृष्ठ 369

2 वही

3 कल्याण वही पृष्ठ 370

4 धर्मो नित्यः सुख दुःखे त्वनित्ये जीवो नित्यो हेतुरस्यास्त्वनित्यः—भारत सावित्री

5 वेदः स्मृतिः सदाचारः स्वस्य च प्रियमात्मनः।
एतच्चतुर्विधं प्राहुः साक्षाद्धर्मस्य लक्षणम्।

6 धृतिः क्षमा दमोऽस्तेयं शौचमिन्द्रियनिग्रहः धीर्विद्या

और जीवात्मा का उत्तरोत्तर विकास। धर्म पहले संमार्ग का उपदेश है उन्नति के लिए नियम है संयम उसे उत्पन्न व नियम का पालन है, संस्कार उन संयमों का सामूहिक फल है और किसी विशेष देश काल और निमित्त में विशेष प्रकार की उन्नत अवस्था में प्रवेश करने का द्वार है और सब संस्कारों का अंतिम कार्य विकास है। 'संयम-संस्कार विकास' व 'संयम संस्कार अभ्युदयनि श्रेयस' यह धर्मानुकूल कर्त्तव्य का नियामक रूप है। यह सभी मिलकर संस्कृति का इतिहास बनाते है। धर्म यदि आत्म जगत की विधायक शक्ति है तो संस्कृति उसका नियामक रूप है धर्म आत्म और अनात्म का, जीवात्मा और शरीर का विधायक है, संस्कार हर जीवात्मा और हर शरीर का विकास करने वाला है। धर्म व्यक्ति की तरह समाज का भी विधायक है (धर्मो धारयति प्रजा) और संस्कार समाज का विकास करने वाला है[1]।

धर्म संयम और संस्कार के उन नियमों में निहित हैं जो मानव जीवन को व्यक्ति और समाज को अभ्युदय तथा निश्रेयस की ओर ले जाते हैं। किंतु इसका तात्पर्य यह नहीं कि धर्म कोई जटिल बंधन है। धर्म बंधन नहीं है क्योंकि धर्म ज्ञान पर आधारित है। मानव जीवन में बंधन अविद्या से आता है न कि विद्या से। धर्म का आधार विद्या है न कि अविद्या। जो धर्म दूसरे धर्म को बाधा दे वह धर्म नहीं है, अधर्म है। जो धर्म समस्त धर्मों का अविरोधी है, वही यथार्थ धर्म है। धर्म मानव जीवन के सभी पक्षों का सम्यक् किंतु उन्नतिशील विकास है। हिंदू शास्त्रकारों के अनुसार एक सामाजिक प्राणी के रूप में, मनुष्य पर जिन चार कारणों का प्रभाव पड़ता है, वे है देश काल, श्रम और गुण। धर्म वे नियम हैं जो देश काल श्रम और गुण का समन्वय करके व्यक्ति तथा समाज को अभ्युदय के मार्ग पर ले जाते हैं। धर्म, समाज में मानव की स्वाभाविक प्रवृत्तियों की ऊर्ध्वगामी अभिव्यक्ति का आधार है। मानव जीवन में धर्म उतना ही स्वाभाविक है, जितना कि स्वयं मानव जीवन। धर्म मानव जीवन का रक्षा कवच है। धर्म को धारण करना और उसकी रक्षा करना मानव के लिये आवश्यक है। धर्म का जो नाश करेगा धर्म उसका विनाश कर देगा और जो धर्म की रक्षा करता है धर्म उसकी रक्षा करता है (धर्म एव हतो हन्ति धर्मो रक्षति रक्षित)[3] इसीलिए भारत सावित्री में कहा गया है कि कभी भी कामना से भय से लोभ से तथा जीवन अस्तित्व के संरक्षण के लिये भी धर्म का परित्याग न करें (न जातु कामान्न भयान्न लोभाद्

1 गौड़, रामदास हिन्दुत्व पृष्ठ 11
2 धर्म यो बाधते धर्मो न स धर्म कुधर्म तत।
अविरोधी तु यो धर्म स धर्म सत्यविक्रम ॥ कल्याण वही पृष्ठ 171
3 कल्याण वही 161

ममम त्यजेज्जीवितस्यापि हृता)।

धम की उपयुक्त व्याख्या स धम की धारणा म सावधित कई तथ्य और उन तथ्यो से सम्बधित कई शकायें उत्पन होती हैं—पहली क्या धम केवल सदाचारी नियमो का सग्रह मात्र है या दूसरे शब्दों म धम क्वल सदाचार म ही सीमित है। यदि हां, तो सदाचार की कसौटी क्या है? दूसरी यदि धम सयम तथा सस्कार म बधा सदाचार है तो सयम सस्कारमय सदाचार का आधार क्या है? सयम-सस्कार का सम्बध कम विचार स है। अत यहा सहज ही प्रश्न उठता है कि धम कम का सम्बध क्या है? तीसरी धम का वास्तविक स्वरूप क्या है?

३

धर्म, स्वधम और अधम

धातुगत अथ के दृष्टिकोण से विचार करते हुए गामले ने यह लिखा है कि धम के अनेक अर्थों म हम मानव कतव्य का भी ले सकते हैं। मानव-जीवन बहुमुखी है। अत मानव कत्त य भी बहुमुखी है। परिवार के प्रति कतव्य, सामाजिक कतव्य अध्यात्मिक कत य सास्कृतिक कतव्य और राजनतिक कतव्य, मानव-कतव्य के अनेक पहलू हैं। इस स दभ म धम स तात्पय लिया जा सकता है उन मानव-कतव्यो स जिनम वयक्तिक तथा सामाजिक जीवन धारण किया जा सके। कतव्य के साथ अकत य का भी विचार आ जाता है और जहा कतव्याकतव्य का विचार आता है वही सदाचार की धारणा आ जाती है। धम की धारणा म निहित सदाचार की भावना का विचारको ने अनेक रूपो म व्यक्त किया है। महाभारत के शान्ति पव म आये एक प्रसग के अनुसार वही व्यक्ति धम का मम समझता है जो मन वचन और कम स दूसरो के कल्याण का इच्छुक ही नही रहता है वरन दूसरो के कल्याण म निरन्तर रत रहता है। मनु के अनुसार धम वह है जिसका विद्वान अनुसरण करें और जो उन सज्जनो द्वारा बिना किसी शका के ग्रहण किया जाय जिनम दूसरो के प्रति घृणा और द्वेष न हो। इसी आधार पर, धम के विभिन्न रूपो म अन्तर किया गया है। एक ओर है स्वधम की धारणा और दूसरी ओर हैं विधम कुधम परधम धर्माभास उपधम और छलधम की धारणायें। स्वधम ही श्रेयस्कर है। स्वधम म मरना श्रेष्ठ है। परधम भयकारी है (स्वधर्मे निधनं श्रेय परधर्मो भयावह)। स्वधम का अथ है अपना धम जिसस यह तात्पय लिया जा सकता है कि व्यक्ति का जो अपना धम है वही उसका धम है। इसका तात्पय यह नहीं कि व्यक्ति मनमाने ढग से धम की परिभाषा करके, तदनुरूप अपना व्यवहार को चला सकता है। स्वधम वह धम है जो व्यक्ति के गुण श्रम वण आश्रम, देश काल और

धर्म शास्त्रों के अनुसार होने के साथ साथ, समयानुकूल और तर्कसंगत भी हो। स्वधर्म का आधार केवल व्यक्ति ही नहीं है स्वधर्म का आधार व्यक्ति के साथ साथ समाज भी है।

स्वधर्म की धारणा तब स्पष्ट होती है जब अधर्म की धारणा पर भी विचार किया जाय। भागवत पुराण के आधार पर प्रभू ने अधर्म के पांच भेद बताये हैं जो इस प्रकार हैं—विधर्म, परधर्म, धर्माभास, उपधर्म और छलधर्म[1]। कल्याण के हिन्दू संस्कृति अंक में धर्म के लक्षण और रहस्य की व्याख्या करते हुए श्री गोविन्द नारायण आगाया ने अधर्म के इन पांच प्रकारों में कुधर्म की धारणा भी जोड दी है[2]। इस प्रकार, जो स्वधर्म नहीं है अर्थात जो अधर्म है उसके छ प्रकार हैं। जो स्वधर्म के प्रतिकूल है वही विधर्म है। विधर्म की व्युत्पत्ति (विगत धर्मेण विधर्म) के अनुसार स्वधर्म से विगत (गिरी हुई अर्थात प्रतिकूल) क्रियायें विधर्म की श्रेणी में आती हैं। धर्म को शास्त्रविहित और शास्त्रोक्त माना गया है। अतः विधर्म का अर्थ हुआ शास्त्रप्रणीत स्वधर्म के विपरीत आचरण। कुधर्म (कुत्सित धर्म कुधर्म) वह है जो निन्दनीय है और निन्दनीय वही है जो न तो शास्त्रोक्त है और न देश काल तथा वर्णाश्रम व्यवस्था की मर्यादाओं के अनुसार है। कुधर्म शब्द के एक अन्य अर्थ के अनुसार जो स्वधर्म के लिए बाधक हो, वही कुधर्म है (धर्मो या न बाधते धर्म)। पर का अर्थ है अन्य दूसरा। अतः, परधर्म का अर्थ हुआ वह धर्म जो अपने लिए (स्वधर्म) न होकर दूसरे के लिए है। स्वधर्म तथा परधर्म की धारणायें इस तथ्य को व्यक्त करती हैं कि हिन्दू-जीवन दर्शन में प्रत्येक व्यक्ति और समाज के लिये उनकी परिस्थितियों के अनुसार, प्रत्येक के अपने अलग अलग धर्म हैं और प्रत्येक को अपने ही धर्म का अनुसरण करना चाहिए। यही कारण है कि हिन्दुत्व में धर्म प्रचार तथा धर्म परिवर्तन पर जोर न देकर सह अस्तित्व पर जोर दिया गया है। वे सिद्धान्त जो निरूपित आचार (Established Morals) के विरोधी हैं जो पाखण्ड तथा दम्भयुक्त हैं उपधर्म की श्रेणी में आते हैं। धर्माभास की श्रेणी में वह आचरण आता है जो व्यक्ति देश, काल तथा वर्णाश्रम व्यवस्था की मर्यादाओं का ध्यान न रखते हुए अपनी व्यक्तिगत इच्छा की पूर्ति के लिए करता है। छलधर्म वह धर्म है जो केवल नाममात्र के लिए धर्म हो, जिसका आधार सत्य में न होकर असत्य में हो।

धर्म (स्वधर्म) और अधर्म (न धर्म अधर्म) की इस व्याख्या से यह तथ्य स्पष्ट होता है कि धर्म वही आचरण है जो एक ओर शास्त्रविहित हो, देश, काल तथा समाज की मर्यादाओं के अनुकूल हो और, दूसरी ओर, स्वभाव विहित (स्वभाव-

1 प्रभू पी० एच० हिन्दू सोशल आर्गनाइजेशन पृष्ठ 28
2 कल्याण वही पृष्ठ 270–271

विहित) हो। धर्म केवल व्यक्तिगत स्वभाव विहित आचरण नहीं है। धर्म का उद्देश्य है व्यक्ति के आचरण को स्वभावविहित रखते हुए, देश काल की परिस्थितियों, सामाजिक आवश्यकताओं तथा आदर्शों के अनुसार ढालना। यहां धर्माचरण, मर्म तथा संस्कार से बंधते हुए, कर्म में बंध जाता है। यही कारण है कि हिन्दुत्व में धर्म के साथ कर्म की व्याख्या की गई है और कर्म के साथ धर्म की। धर्म कर्ममय है और कर्म धर्ममय। धर्म का आधार कर्म है और कर्म का आधार धर्म। धर्म आदर्शमय आचरणीय सिद्धान्त अवश्य है लेकिन उस सिद्धान्त की साधना केवल उसके ज्ञानमात्र से ही नहीं होती है। धर्म का व्यावहारिक पक्ष उतना ही महत्त्वपूर्ण है जितना कि सैद्धान्तिक पक्ष[1]। जैसा कि कहा गया है, लौकिक पुरुषों का मत है कि क्रिया या कर्म द्वारा सिद्ध होकर कल्याणकारी होना धर्म का लक्षण है (क्रियासाध्यत्वे सति श्रेयस्करत्वमिति लौकिका)'[2]।

४ शान्ति

धर्म के आधार

धर्म के तीन स्कंध माने गए हैं। यज्ञ, अध्ययन तथा दान प्रथम स्कंध में आते हैं, तप दूसरे स्कंध में और आचार्य-कुल-वास तथा ब्रह्मचर्य, तीसरे स्कंध में[3]। इस दृष्टिकोण से आचार्यकुलवास ब्रह्मचर्य यज्ञ अध्ययन (स्वाध्याय अर्थात् वेदाध्ययन), दान तथा तप (दम और अम्नय) धर्म के मुख्य आधार हैं। इनकी साधना व्यक्ति को पुण्यलोक का भागी बनाती है। इनमें व्यक्ति अमृतत्व को प्राप्त होता है। धर्म की यह व्याख्या आश्रमव्यवस्था की आवश्यकताओं पर आधारित है। आचार्यकुलवास, ब्रह्मचर्य तथा अध्ययन का सम्बन्ध ब्रह्मचर्य आश्रम से है, दान का सम्बन्ध गृहस्थाश्रम से है और तप का वानप्रस्थ तथा संन्यास से। यज्ञ का सम्बन्ध सभी आश्रमों से है क्योंकि यज्ञ का लक्षणात्मक अर्थ है त्याग। आश्रमव्यवस्था, जैसा कि आगे स्पष्ट किया जायगा, एक ओर धर्म परम्परा में आती है और, दूसरी ओर, यज्ञ परम्परा में। ब्रह्मचर्य-आश्रम ज्ञान-यज्ञ की परम्परा में आता है क्योंकि इस आश्रम में ब्रह्मचारी अपने 'स्व' को धर्मानुसार ढालने का प्रयास करता है। गृहस्थाश्रम, एक

---

1 इसीलिए, जैसा कि राधाकृष्णन ने लिखा है, हिन्दुत्व में मजहबी एकता (Religious Conformity) पर जोर न देकर, जीवन के प्रति आध्यात्मिक तथा सदाचारी दृष्टिकोण पर अधिक जोर दिया गया है। यहां व्यवहार सिद्धान्त से पहले आता है और व्यवहार के माध्यम से सिद्धान्त समझा जाता है।

2 कल्याण वही पृष्ठ 370

3 वही

ओर जीवन यज्ञ का क्षेत्र है और, दूसरी ओर दान का। गृहस्थाश्रम के धर्मानुसार गृहस्थ के लिये पंचमहायज्ञ (भूतयज्ञ, मनुष्ययज्ञ, पितृयज्ञ, देवयज्ञ तथा ब्रह्मयज्ञ[1]) करने का विधान है। गृहस्थ का जीवन त्याग तथा दान का जीवन है क्योंकि गृहस्थ वस्तुतः पत्नी, सन्तान, वृद्धों, कुल के सदस्यों, अतिथियों और अपने पर निर्भर व्यक्तियों की सेवा में रत रहता है। गृहस्थ वस्तुतः पुत्र तथा पिता का संरक्षक है। गृहस्थाश्रम में व्यक्ति अपने सामाजिक ऋणों को चुकाता है। इसीलिये गृहस्थाश्रम की धारणा में यज्ञ तथा दान की धारणायें व्याप्त हैं और हिन्दू जीवन में दान की अनेक धारणायें पायी जाती हैं (जैसे विद्यादान, सर्वस्वदान, जीवनदान, अन्नदान, रतिदान तथा कन्यादान इत्यादि)। धर्म की विवेचना में दान को भी धर्म का आधार माना गया है। धर्म की उत्पत्ति सत्य से होती है, दया और दान से वह बढ़ता है, क्षमा में वह निवास करता है और क्रोध से उसका नाश होता है (सत्याज्जायते दयया दानेन च वर्धते क्षमाया तिष्ठति क्रोधान्नश्यति)। धर्म की धारणा, इस दृष्टिकोण से, परमार्थ पर आधारित है न कि स्वार्थ पर। धर्म, अर्थ तथा काम की पूर्ति के लिये अपनाया गया गृहस्थजीवन वस्तुतः त्याग-तपस्यामय कठिन पुरुषार्थ का जीवन है। वानप्रस्थ अन्तिम यज्ञ की तैयारी है। संन्यास आत्माहुति की तैयारी है। वानप्रस्थ और संन्यास—ये दोनों आश्रम भक्ति-यज्ञ के आश्रम अथवा अवस्थायें हैं क्योंकि इन आश्रमों में व्यक्ति अपने को ईश्वर के प्रति समर्पित कर देता है। यह भक्ति प्रवृत्तिमार्गी न होकर निवृत्तिमार्गी होती है क्योंकि इसका आधार होता है आत्मज्ञान तथा आत्मदर्शन। इस प्रकार, धर्म को आश्रम-कर्तव्य के रूप में स्पष्ट किया गया है। व्यक्तिगत सन्दर्भ में, धर्म का सम्बन्ध मोक्ष से है और सामाजिक सन्दर्भ में वर्णाश्रम व्यवस्था से। मनु और याज्ञवल्क्य ने इसी आधार पर धर्म की विवेचना की है।

मनु के अनुसार, मन (Mind), वाक (Speech) और देह (Body) सभी कर्मों का आधार हैं। कर्म से ही मानव-जीवन की विभिन्न गतियाँ बनती हैं। कर्म के परिणाम अच्छे भी होते हैं और बुरे भी। कुकर्मी व्यक्ति आवागमन के चक्र में फंसा रहता है और सुकर्मी को आवागमन के चक्र और मृत्यु जाल से छुटकारा मिलता है। जीव की सभी उच्च तथा निम्न गतियां अच्छे बुरे कर्मों के अनुसार बनती हैं। जीवन मृत्यु तथा आवागमन से छुटकारा पाना (मोक्ष) मानव जीवन का उद्देश्य है जिसकी प्राप्ति उन धर्म-कर्मों में होती है जो वेदविहित हैं और जिनसे आत्मज्ञान की प्राप्ति होती है। वेदविहित कर्मों से इहलौकिक तथा पारलौकिक सुखों की प्राप्ति होती है। वेद-विहित कर्म, एक ओर निवृत्ति की ओर ले जाता है और दूसरी ओर, प्रवृत्ति की

आर। जीवन का उच्चतम ध्येय निवृत्ति है न कि प्रवृत्ति और निवृत्ति आत्मज्ञान से मिलती है। आत्मज्ञान से तात्पर्य उस ज्ञान से है जो मनुष्य को इस संसार से उठाकर अभ्युदय और नि श्रेयस की ओर ले जाता है जिसमें आत्मवत् सर्व भूतेषु (सभी प्राणियों में अपनी ही जैसी आत्मा है) की भावना रहती है। जीवन के उच्चतम उद्देश्य की प्राप्ति उसी व्यक्ति को होती है जो रागात्मिका वृत्ति को नियन्त्रित रखता है और अपनी क्षमताओं का वदान्यन तथा आत्मज्ञान की प्राप्ति की ओर लगाता है। तप और विद्या से ही जीवन के उच्चतम उद्देश्य (मोक्ष) की प्राप्ति होती है, निम प्राप्त करना मनुष्य का धर्म है। अत यह कहा जा सकता है कि वह कर्मविहित धर्म जो आत्मज्ञान तथा मोक्ष का साधन हो धर्म है। धर्म वेद विहित, सुकृत कर्मों से रूप न ग्रहण रहस्यात्मक शक्ति है जो इहलौकिक तथा पारलौकिक जीवन में मनुष्य की सहायक रहती है[1]। [धर्म ही एक ऐसा मित्र है जो मरने पर भी जीव के साथ जाता है और सब तो शरीर के नाश के साथ ही छोड़ कर चले जाते हैं[2]।]

मनु द्वारा प्रस्तुत धर्म-कर्म की इस व्याख्या को याज्ञवल्क्य ने भी स्वीकार किया है। याज्ञवल्क्य स्मृति के टीकाकार बालभट्ट के अनुसार कर्म-संचय (Accumulation of Karma) की जड़ें धर्म अधर्म में हैं और कर्म-संचय के तीन परिणाम होते हैं—पहला जाति (उच्च या निम्न स्थिति में जन्म) दूसरा आयु और और तीसरा भाग (सुख और दुख)। याज्ञवल्क्य ने विभिन्न वर्णों के लिये, आश्रम-धर्म निरूपित करने का प्रयास किया है। विज्ञानेश्वर के अनुसार धर्म के सम्बन्ध में याज्ञवल्क्य ने छ विषयों का वर्णन किया है जो इस प्रकार हैं—वर्ण धर्म आश्रम धर्म, वर्णाश्रम धर्म, गुण धर्म निमित्त धर्म और साधारण धर्म[3]। इन छ प्रकार के धर्मों से मनुष्य के लिए सुकर्म (Right Karma) का निर्धारण होता है। याज्ञवल्क्य के अनुसार, धर्म पर आधारित सुकर्म के मुख्य तत्व हैं यज्ञ आचार, दम, अहिंसा दान, स्वाध्याय (वेदाध्ययन) और आत्मदर्शन। इन सभी में आत्मदर्शन परमधर्म है[4]।

---

1 प्रभू हिन्दू सोशल आर्गनाइजेशन पृष्ठ 30–33

2 एक एव सुहृद धर्मो निधनेऽप्यनुयाति य।
शरीरेण समं नाशं सर्वमन्यत्तु गच्छति॥ कल्याण वही पृष्ठ 370

3 वर्ण धर्म का सम्बन्ध है चार वर्णों (ब्राह्मण क्षत्रिय वैश्य और शूद्र) के कर्तव्यों से आश्रमधर्म का चार आश्रमों (ब्रह्मचर्य गृहस्थ वानप्रस्थ और संन्यास) के कर्तव्यों से वर्णाश्रमधर्म का चारों वर्णों तथा आश्रमों के कर्तव्यों के पारस्परिक सम्बन्धों से गुणधर्म व्यक्ति के गुणानुसार कर्तव्यों से, निमित्तधर्म का विशेष परिस्थितियों से सम्बन्धित कर्तव्यों से और साधारणधर्म का उन कर्तव्यों से जो सभी स्त्री-पुरुषों के लिए समान रूप से आवश्यक है—प्रभू वही पृष्ठ 35–36

इस प्रकार अपने मूलरूप म धम आचार है (आचार प्रथमो धम)। लेकिन धम केवल आचारमात्र नहीं है। धम वस्तुत वह आचार है जो सयम और सस्कार स बधा हुआ है। और सयम तथा सस्कार सुकम से बध हुए हैं। धम का उद्देश्य केवल आचार सयम सस्कार तथा सुकम से ही नहीं है। धम का अन्ततोगत्वा उद्देश्य है अभ्युदय और नि श्रेयस स जिसका स्वाभाविक परिणाम है आत्मज्ञान के द्वारा मोक्ष प्राप्ति। धम इहलौकिक तथा पारलौकिक जीवन का सयोजक है। धर्म पार्थिव जीवन से पर वह शक्ति है जो जीव के कर्मों से प्रस्फुटित होकर जीवात्मा के साथ प्रवाहित होती रहती है। इसका तात्पय यह नहीं कि धम दव या प्रारब्ध है। हिन्दुत्व की विचारधारा म प्रयत्न (कम) बीज क समान है और दव क्षेत्र के समान। जिस प्रकार क्षत्र म बीज बोने से फल उत्पन्न होता है, उसी प्रकार कम से दव प्रतिफलित होता है। बिना कम के दव भी निष्प्राण रहता है। जिस प्रकार, हवा के प्रभाव से अग्नि प्रज्वलित होती है, उसी प्रकार कम से दव का प्रभाव भी बढ जाता है। जैसे तेल के कम होने के साथ साथ दीपक की लौ मन्द होती रहती है, उसी प्रकार, बिना कम की सहायता के दव का प्रभाव भी मन्द होता रहता है। कम ही दैव का प्रेरक है[1]। अत, दव कम पर आधारित है और धम दव से परे एक अलग सत्ता है। इसम कोई सन्देह नहीं कि धम का आधारभूत अथ उस कतव्य-सहिता (Code of Duties) से है जो मानव समाज के सुनिश्चित सगठन के लिये आवश्यक है। लकिन धम कतव्य सहिता के अतिरिक्त कुछ और भी है। धम की धारणा म वह भाव भी निहित है जिसम धम का एक प्रकार की प्रच्छन्न शक्ति समझा जाता है—वह शक्ति जिसकी रहस्यमयी प्रच्छन्न क्रियात्मकता म मानव को दण्डित (Punish) अथवा प्रतिफलित (Reward) करने की क्षमता है[2]।

आचार सयम सस्कार और शास्त्रविहित कम होने के कारण धम परम्परा और प्रथा का भी रूप ले लेता है किन्तु धम केवल परम्परा ही नहीं है। धम का प्रत्यक्ष सम्बन्ध सत्य (Truth) और विवक (Reason) स है। यदि परम्परा तक या सत्य के प्रतिकूल है तो परम्परा को धम की श्रेणी म नहीं रक्खा जा सकता है। धम का आधार है विवक जो कोरा तक नहीं है वरन जो सत्य और सदाचार से सम्बन्धित है। कौटिल्य न धम को शाश्वत सत्य कहा है। उपनिषदो म धम को सम्पूर्ण ब्रह्माण्ड का आधार माना जाता है। धम सर्वोत्कृष्ट है धम ब्रह्म स भी पर है। महाभारत म धम को ससार का धारण करने वाला कहा गया है। रामायण म धम को लाभ (Profit) तथा प्रमोद (Pleasure) का माध्यम मानते हुए उसे ससार का सार तथा शक्ति माना गया है। कम स जीव बधता है लकिन धम से जीव की मुक्ति

1 प्रभु वही पष्ठ 28-29
2 गोगन्हे, बी० जी० पष्ठ 27

मिलती है। धम की धारणा मे अलौकिक अनुकम्पा (Devine Grace) का भाव भी निहित है। धम उस अलौकिक शक्ति का प्रतीक है जिससे मानव जीवन प्रभावित होता रहता है। बौद्धो के अनुसार धम म अच्छे-बुरे का अन्तर स्पष्ट होता है। धम शासको का भी शासक है। धम स राज्य की वास्तविक शक्ति म सदाचार का समावेश होता है और धम स ही, सदाचारी तथा आध्यात्मिक अहिंसा के आधार पर, व्यक्ति तथा समाज के सम्बन्ध निरूपित होते हैं। जैसा कि पहले कहा जा चुका है धम का केवल साधारण सदाचार नही माना जा सकता है। भारत म धम की व्याख्या युग युग मे होती चली आ रही है। धम की धारणा की उत्पत्ति तो मानव व्यवहार की एक संहिता (A Code of Humam Behaviour) के रूप मे हुई किन्तु, एक दीर्घकालीन व्याख्या की प्रक्रिया म, धम की धारणा म रहस्यात्मकता का समावेश हुआ। धम की धारणा म रहस्यात्मक (The Mystical), युक्तियुक्त (The Rational), आध्यात्मिक (The Metaphysical) और उपयोगितावादी (The Pratical) दृष्टिकोणो का समावेश हुआ है[1]। वास्तव म हिन्दुत्व म धम की जो धारणा विकसित हुई है, उसका आत्मा सवव्यापी है। धम मानवी प्रयास की सार्थकता की कसौटी है। मानवी क्रिया के सभी प्रकार, चाहे व व्यक्तिगत हो या सामाजिक, सदाचारी हो या आधिदैविक, युक्तियुक्त हो या रहस्यात्मक और लौकिक हो या आध्यात्मिक, धम स ही निरूपित होते हैं। अपनी इस व्यापकता के कारण ही, धम भारतीय विचारधारा का केन्द्र बन गया। धम के विभिन्न अध्यादेशो से वह प्रेरणा मिलती रही जिसके द्वारा सासारिक अस्तित्व अपरिवर्त्य आदर्शों से प्रेरित जीवन बन गया। धम की धारणा कोई सद्धान्तिक सूनमात्र नही है। यह एक व्यावहारिक सिद्धान्त है जिसकी अभिव्यक्ति, एक ओर जनसाधारण के जीवन म, दूसरी ओर, दिलीप, भरत, राम युधिष्ठिर, अशोक, समुद्रगुप्त, हष और अकबर जैसे पौराणिक तथा एतिहासिक पुरुषो के कार्यो म हुई है। सकटकालीन तथा विपन्न परिस्थितियो म धम से ही जनसाधारण को शान्ति तथा कम की प्रेरणा मिली है[2]।

हिन्दुत्व म जिस सवव्यापी, वयक्तिक तथा सामाजिक धमाचरण का एक रहस्यात्मक जीवन दशन के रूप म निरूपण किया गया है, उसकी कसौटी क्या है? धम की प्रथम कसौटी है वेद, शास्त्र और स्मृति म निरूपित आचार-तत्व। अखिल वेद को धम का मूल कहा गया है (वेदोऽखिलो धममूलम्)। धम को वेदविहित (वद म कहा हुआ वद विहितत्वम्) माना गया है। वद म जिसकी प्रेरणा दी गई है, वही धम है (चोदनालक्षणोऽर्थो धम)। गीता म कहा गया है कि वद म कहा हुआ धम है और उसके विपरीत अधम है (वद प्रणहितो धर्मोह्यधमस्तद्विपयय)। श्रुति (वेद) और स्मति (धमशास्त्र)

1 गोखले बी० जी० वही पृष्ठ 23
2 वही पृष्ठ 27

मे जो कुछ कहा गया है, वह धम कहलाता है (श्रुतिस्मतिभ्यामुदितं यत स धम प्रकीतित)'। 'श्रुति और स्मति म कहे हुए धम को करता हुआ मनुष्य इस लोक मे यश पाता है और मरकर परलोक मे उत्तम सुख या मोक्ष को प्राप्त होता है [1]। 'श्रुति और स्मति म वर्णित सदाचार परम धम है। इसलिए आत्मज्ञानी द्विज सदा सदाचार से युक्त रहे [2]। किंतु यह मानना भूल होगी कि धम कोई श्रुति स्मति-विहित अपरिवतनीय शाश्वत धारणा है। मनु ने अखिल वद को धम का मूल माना है लेकिन उनके मत म वेद का ही धर्माचरण की एकमात्र कसौटी नही है। मनु के अनुसार वेद के साथ साथ, विद्वानो का आचरण भी धम का प्रमाण और उसकी कसौटी है। वहस्पति के अनुसार धम के विषय में शास्त्र का अक्षरश पालन करके कोई निणय नही लेना चाहिये। शास्त्रो का अंधा अनुसरण करने स धम विषयक विचार युक्तिहीन हो जाते हैं और उसके परिणाम धम के लिए हानिकारक होते हैं। धम विचार की जटिलता तथा गहराई को ध्यान मे रखते हुए धर्माचरण के लिए एक व्यावहारिक सिद्धान्त के रूप म यह कहा गया है कि महापुरुष जिस माग का अनुसरण करें वही पथ ठीक है (धमस्य तत्वम निहितम गुहायां महाजनो येन गत स पन्था)। महाभारत म यह भी कहा गया है कि धम अधम का निणय करने मे विद्वान का बुद्धि का आश्रय लेकर, परिस्थिति पर अधिक ध्यान देना चाहिये[3]। धम की उत्पत्ति सत्य से होती है और सत्य की धारणा निरपेक्ष न होकर सापेक्ष होती है। सत्य की सापेक्षता देश-काल की परिस्थितियो से बधी रहती है। देश काल की परिस्थितियाँ गत्यात्मक होती है। अत सत्य की धारणा भी गत्यात्मक है और सत्य से उत्पन्न धम भी गत्यात्मक है। यह धम क प्रति गत्यात्मक विचार तथा उसकी गत्यात्मकता के लचीलेपन को सुरक्षित रखने का परिणाम है कि धम की समय समय पर अनेक रूपो में कल्पना की गई है। धम को व्यक्तिक भी माना गया है और सामाजिक भी। धम को अन्धी समष्टिवादिता के चगुल म बचाये रखने के लिये ही, धम के उच्चतम उद्देश्य (मोक्ष) की धारणा को व्यक्ति से ही सम्बंधित रखा गया है। मनु ने तो यहा तक कहा है कि यदि काम और अथ धमरहित हो तो उनका त्याग कर देना चाहिए और यदि ऐसा लगे कि भविष्य म धम से कष्ट होने की सम्भावना है या यदि धम मानवो के प्रति क्रूरता है तो धम का ही परित्याग कर देना चाहिए[4]।

1 श्रुतिस्मत्युदित धममनुतिष्ठन हि मानव ।
इह कीर्तिमवाप्नोति प्रेत्य चानुत्तम सुखम । कल्याण वही पृष्ठ 370
2 आचार प्रथमो धम श्रुत्युक्त स्मात एव च ।
तस्मादस्मिन सदा युक्तो नित्य स्यादात्मवान द्विज । कल्याण वही
3 प्रभू पी० एच० वही पृष्ठ 27 28
4 वही पष्ठ 35

धम की धारणा का विकास एक गत्यात्मक विचारधारा म हुआ है। भारत की सामाजिक एतिहासिक परिस्थितियो न धम की धारणा के विचार को ढाला है। धम की धारणा म व्यक्तिगत सामाजिक तथा रहस्यात्मक विचारा का समावेश भारतीय विचारधारा क विकास की एतिहासिक परिस्थितियो म हुआ है। अत धम की सर्वांगीण व्याख्या क लिए धम की धारणा के विकास का ऐतिहासिक विवेचन भी आवश्यक है। लोगो की एसी मान्यता है कि धम की धारणा की उत्पत्ति 'ऋत की धारणा स हुई। ऋत की धारणा प्रारम्भिक वैदिक साहित्य म पाई जाती है और इस आधार पर यह मत प्रतिपादित किया गया है कि सम्भवत 'ऋत' की धारणा आर्यो की है जो उनकी विचारधारा क रूप म भारत म आई। ऋत का एक अथ है वह शक्ति जो सम्पूर्ण ब्रह्माण्ड की व्यवस्था का आधार है। अपने विपर्याय अनरीत' के सदभ म ऋत का अथ होता है नैतिक व्यवस्था। नैतिक व्यवस्था क सदभ म ऋत' का व्यावहारिक रूप एक ओर नकारात्मक हो जाता है और दूसरी ओर आदेशात्मक जिसके कारण ऋत और सत्य से भी परे एक अलग रहस्यात्मक सत्ता का रूप ले लेता है। ऋत वस्तुत ब्रह्माण्ड म व्याप्त वह शक्ति है जिसके नियमो स देवता भी बधे हुए है। ऋत तथा यज्ञ की धारणाय भारत के प्रारम्भिक सामाजिक तथा नैतिक विचार म ताने बाने के रूप म विद्यमान हैं। प्रारम्भिक वैदिक साहित्य म जहा ऋत स तात्पय ब्रह्माण्ड की पार्थिव व्यवस्था तथा यज्ञ-व्यवस्था स है, वहा इसका तात्पय सामाजिक नैतिक नियम म भी है।

यही ऋत की धारणा कालान्तर म धम की धारणा क रूप म प्रस्फुटित हुई। वैदिक साहित्य म ऋत की धारणा क साथ साथ धम का प्रयोग जिन अर्थो म होता है, वे हैं आचार (Custom), नैतिक नियम (Moral Laws) सामान्य नियम अथवा कतव्य तथा औचित्य (अर्थात What is right)। ब्राह्मणग्रन्थो म धम की धारणा 'ऋत की धारणा का स्थान ले लेती है और इसका कारण है भारत क जटिल तथा विजातीय समाज म एक सामजस्य लाने की आवश्यकता। प्रारम्भ स ही भारत विभिन्न प्रजातिक तथा सास्कृतिक समूहो का समाज रहा है और प्रारम्भ स ही भारत के विभिन्न समूहो को एक समाज, संस्कृति तथा राष्ट्र म सगठित करने का प्रयास चलता रहा है। भारत म अनकता म एकता लाने का प्रयास किया गया है और भारतीय विचार इसी प्रयास स ओतप्रोत है। धम तथा स्वधर्म की धारणाओ म इस प्रयास म सफलता मिली है। भारत म आर्यो क आने क बाद, आर्यो तथा अनार्यो के सम्पक स जो स्थिति निर्मित हुई उसकी आवश्यकतायें 'ऋत की धारणा स पूरी न हो सकी और इसीकारण भारत म आर्यो के आने क बाद कालान्तर म ऋत क आधार पर धम की धारणा विकसित हुई। यही कारण है कि वैदिक साहित्य म धीरे धीरे

धर्म की धारणा देवताओं, ऋषियों, पितरों, मनुष्य तथा मानवेतर प्राणियों के प्रति कर्तव्य संहिता (Code of Duties) के रूप में विकसित होती है। धर्म की इस धारणा में, एक ओर 'जगत की धारणा में व्याप्त प्रकृतिवादी (Naturalistic) दृष्टिकोण बना रहता है और, दूसरी ओर व्यक्ति तथा समाज के सम्बन्धों का नैतिक आधार भी मिलता है।

पाणिनि के निर्वचन में धर्म का अर्थ है धर्मप्राण कृत्य तथा प्रथा। धर्म शास्त्रों में, एक ओर, धर्म की वर्ण व्यवस्था के सन्दर्भ में व्याख्या की गई और, दूसरी ओर आश्रम व्यवस्था के सन्दर्भ में। धर्मशास्त्रों में की गई व्याख्या के अनुसार धर्म वस्तुतः शास्त्रोक्त वर्णाश्रमी कर्तव्यों में निहित है। धर्म की इस व्याख्या में, एक ओर, व्यक्ति के जन्म से लेकर मृत्यु तक के कर्तव्यों को निरूपित करने का प्रयास है और, दूसरी ओर वर्ण व्यवस्था के निरूपण के द्वारा, समाज के विभिन्न समूहों की सामाजिक प्रतिष्ठा तथा कर्तव्यों का निर्धारित करने का प्रयास। इस प्रकार, धर्मशास्त्रों के युग में, धर्म से तात्पर्य लिया गया है एक आदर्श तथा सुगठित समाज की सभी इकाइयों की प्रतिष्ठा तथा कर्तव्यों से। यहीं से धर्म के अन्तर्गत सम्पूर्ण मानव कर्तव्यों को लिया जाने लगा और धर्म को एक व्यापक जीवन दर्शन के रूप में प्रस्तुत किया गया।

इस बहुमुखी विकास का परिणाम यह हुआ कि धर्म अनेक सन्दर्भों तथा अर्थों में प्रयुक्त होने लगा। जैसा कि गोखले ने लिखा है धर्म से अर्थ लिया जाने लगा आचारपरक औचित्य नैतिक कर्तव्य, सद्गुण युक्त धार्मिक कर्तव्य, धार्मिक सद्गुण, आदर्श निरपेक्ष सत्य सामान्य नियम अथवा सिद्धान्त (Universal Law or Principle) दैवी न्याय रूढि (Convention), प्रथा तथा परम्परा संहिता (Code of Customs & Traditions) धर्म विधि (Canon Law) या विधि (Law) तथा अन्तर्गणजातीय विधि (Intertribal Laws) से[1]। धर्म की इस व्यापक धारणा में जहाँ, नैतिक आदर्श नियम (Ethical Norm) धार्मिक कर्तव्य, रहस्यात्मक सत्ता (Mystical Entity) तथा आदर्श के भाव निहित हैं वहाँ इसमें आर्थिक, राजनैतिक, प्रशासनिक तथा वैतिक और व्यावसायिक (Professional) व्यवहार संचालन के नियम भी निहित हैं। इस व्यापक व्याख्या में धर्म को सामाजिक सहचारी जीवन के एकीकरण की प्रक्रिया (Process) का उपकरण (Instrument) बनाने का प्रयास किया गया है। एकीकरण सभी प्रकार के सहचारी जीवन की आवश्यकता है। मानव के सहचारी जीवन (सामाजिक जीवन) में यह आवश्यकता संस्कृति से पूर्ण होती है। भारतीय समाज में उस आवश्यकता की पूर्ति के लिए धर्म की धारणा निरूपित की गई है और इसी कारण भारतीय संस्कृति धर्मप्राण संस्कृति है।

धर्म की इसी व्यापक विशेषता का ध्यान में रखते हुए महाभारत में यहा

1 गोखले, बी० जी० वही पृष्ठ 26

गया है कि सभी प्राणियों की वृद्धि तथा विकास के लिए और उन्हें परस्पर हानि पहुंचाने से रोकने के लिए धम उत्पन्न हुआ है। अत, धम साधारण तथा एकमुखी न होकर जटिल तथा बहुमुखी है। इसका सम्बन्ध राज्य तथा प्रजा के व्यवहार, जाति तथा परिवार समूह, जीवन की अवस्थाओं, दान, उपाय, मोक्ष, नारी पुरुषों के कर्तव्यों तथा सामान्य मानव कर्तव्यों से है। भारतीय विचार के विकास के दौरान धम पर अनेक बहुमुखी विचारों तथा धारणाओं का आवरण चढ़ता रहा है। फिर भी, धम धारणा की अपनी आत्मा है जो विभिन्न धारणाओं तथा विचारों के आवरण में भी अक्षुण्ण रही है। धम की आत्मा सदाचारी महत्ताओं (Moral Values) के संरक्षण तथा स्थायित्व के प्रति विश्वास में निहित है। धम की धारणा में एक शाश्वत सदाचार व्यवस्था का भाव निहित है जो ऋत में निहित ब्रह्माण्ड सम्बन्धी विचारों पर आधारित है जो अपरिवर्तनीय तथा स्थाई रहा है और जो निरीह मानवी अधिमानों (Preferences), सुविधाओं (Conveniences) या प्रबन्धनों (Manipulations) से एकदम स्वतन्त्र ही नहीं वरन उनके प्रति उपेक्षित भी रहा है। ऋत की धारणा रहस्यात्मकता में लिपटी हुई है क्योंकि इस धारणा में मनुष्य से परे एक सत्ता में विश्वास रहा है। यही कारण है कि धम की धारणा में रहस्यात्मकता का पुट आया।

धम की धारणा में निहित रहस्यात्मकता के भाव के लिए भारतीय विचारधारा के मुख्य प्रवाह तथा सामाजिक-आर्थिक परिस्थितियां भी उत्तरदायी हैं। भारत में आर्यों के आने के बाद, जिस सामाजिक आर्थिक व्यवस्था का संगठन हुआ उसमें एक ओर थे आर्य और दूसरी ओर अनार्य, एक ओर थे विजित और दूसरी ओर पराजित। तत्कालीन भारत में भूमि ही अर्थ का एकमात्र साधन थी जिसकी उत्पादन-क्षमता सीमित थी। दूसरी ओर, क्षत्रियों तथा ब्राह्मणों के रूप में, ऐसा वर्ग अस्तित्व में आ रहा था जो उत्पादक न होकर केवल परिजीवीमात्र था। अत, वैदिक समाज की एक आवश्यकता थी विभिन्न जनजातियों को एक समाज में संगठित करना, जो वर्ण व्यवस्था के द्वारा हुआ, दूसरी जनसाधारण को उत्पादन-कार्य में लगाए रखना ताकि परिजीवी वर्गों का अस्तित्व बना रहे और तीसरा व्यक्ति तथा समाज के एकीकरण को बनाए रखना जो आश्रम व्यवस्था तथा संस्कार द्वारा सम्पन्न हुआ। ऐसी अवस्था में कोई आश्चर्य नहीं यदि धम को मानव तथा समाज के पर एक रहस्यात्मक दैवी सत्ता के रूप में प्रस्तुत किया गया। भारत की ही नहीं, वरन तत्कालीन समाज की ही विचारधारा रहस्यात्मक थी। मानव विचारों पर से रहस्यात्मकता का आवरण तब से उतरना प्रारम्भ हुआ जब से विज्ञानवादियों का प्रभाव बढ़ा। विज्ञानवादी विचारधारा के आविर्भाव के पहले मानव सम्बन्धी जितनी भी विचार प्रणालियां अस्तित्व में आई हैं उनमें रहस्यात्मकता का पुट रहा है। यूनानी, ईसाई और इस्लामी विचार प्रणालियां इसका प्रमाण हैं। धम की धारणा की सबसे

बड़ी विशेषता यह है कि रहस्यात्मक होते हुए भी यह उस प्रकार से दवी अध्यादेश नहीं है जिस प्रकार मे इसाइयत और इस्लाम है। धम सर्वोच्च दवी सत्ता से परे एक अलग सत्ता है। इस्लाम और इसाइयत की भांति, धम कोई अपरिवतनीय तथा अंतिम विचार प्रणाली भी नहीं है। धम देश-काल से बंधा हुआ है। यह अवश्य है कि वह मानव से पर है लेकिन वह मानव से सवथा अलग भी नहीं है। यही कारण है कि हिन्दुत्व की विचारधारा मे धम की प्रेरक वह दवी सत्ता नहीं है जिसका अस्तित्व मानव से एकदम अलग है वरन वह दैवी सत्ता है जो मनुष्य के रूप म ही धम की प्रेरणा देती है। धम की धारणा में स्थायित्व की भावना न होकर सम्भवामि युग युगे की भावना व्याप्त है[1]।

इसी वचारिक पृष्ठभूमि का प्रभाव है कि जब हिन्दुत्व तथा हिन्दू समाज के प्रसार तथा संघात के कारण आदिवासी समाज का विशृंखलन हुआ तो बुद्धवाद एक वचारिक तथा सामाजिक क्रान्ति के रूप म प्रस्फुटित हुआ। बुद्धवाद म धम के रहस्यात्मक पक्ष पर ही सबसे अधिक चोट की गई। लेकिन, बुद्धवाद भी धम के आधारभूत विचार से मुक्त न हो सका। बुद्धवाद का विकास मगध तथा अवन्ती जैसे साम्राज्यों की पृष्ठभूमि म हुआ था। मौर्यों के प्रभुत्व और ऐश्वय की आधार शिला जनसाधारण के श्रम से उत्पादित सम्पत्ति थी क्योंकि जन साधारण को उनके

हिन्दुत्व की विचारधारा में ईश्वर को एक साथ, धम का स्रोत तथा धम से बंधा हुआ माना गया है। इसमें कोई सन्देह नहीं कि धम आचार से उत्पन्न होता है लेकिन धम के प्रभु स्वयं अच्युत (भगवान) है (आचारप्रभवो धर्मो धमस्य प्रभुरच्युत)। भगवान धम का मूल है (धममूल हि भगवान सवदेवमयी हरि)। भगवान स्वयं धम के जानने वाले ही नहीं वरन स्वयं धम का रूप है (धर्मो धमविदुत्तम)। भागवत म लिखा है कि धम की रक्षा के लिए भगवान स्वयं अवतार लेते है (धर्मावनायोरुकृतावतार)। गीता के चौथे अध्याय (श्लोक 7 8) में भगवान कृष्ण से कहलाया गया है, 'हे अजुन! जब जब धम की ग्लानि होती है, तब तब अधम के अभ्युत्थान (विनाश पतन) के लिए म अपना सजन करता हूँ (अर्थात अवतार लेता हूँ)। साधुओं के परित्राण दुष्टों के विनाश और धम संस्थापन के लिए म युग-युग में प्रकट होता रहता हूँ'। ऐसा जान पड़ता है कि मानो ईश्वर तथा धम सम्बन्धी विचारों में दुविधा या विरोधाभास हो। ऐतिहासिक सन्दभ में यह विरोधाभास समाप्त हो जाता है। वदिक विचारधारा में धम ही सर्वोपरि है। लेकिन, कालान्तर में संकटकालीन परिस्थितियों में जब साकार की उपासना बढ़ी और जनसाधारण को एक अलौकिक आश्रय की आवश्यकता हुई, तो अवतारवाद की कल्पना के साथ धम को जोड़ कर उसे ईश्वरमय मान लिया गया।

श्रम के फल से वंचित किए बिना न तो साम्राज्य रह सकता था और न साम्राज्य का ऐश्वर्य। और जहां जनसाधारण को उनके श्रम से उपार्जित फल से वंचित किया जाता है वहां या तो क्रांति होती है या यदि क्रांति सम्भव न हो तो जनसाधारण को किसी न किसी मानसिक सन्तोष के माध्यम की आवश्यकता होती है। धर्म की रहस्यात्मकता तथा पारलौकिकता से वर्णव्यवस्था की सत्तारूढ़ सामाजिक व्यवस्था के शोषण से, जनसाधारण को मानसिक संतोष मिला। यह इसी रहस्यात्मक विचारधारा का प्रभाव था कि राजधर्म में सम्राट की राजर्षि के रूप में कल्पना की गई और सम्राट को एक दिव्य संरक्षक के रूप में प्रस्तुत किया गया। इस प्रकार, धर्म की धारणा में निहित पारलौकिकता सामाजिक परिस्थितियों की देन है। यह सामाजिक परिस्थितियों का ही प्रभाव है कि बुद्धवाद जैसे क्रान्तिकारी आन्दोलन में करुणा को प्रधानता मिली और उसके फलस्वरूप महायानी बुद्धवाद में बोधिसत्व की कल्पना आई। जिन परिस्थितियों ने धर्म की धारणा को जन्म दिया था उन्होंने बुद्धवाद को जन्म दिया और यह धर्म की धारणा का ही प्रभाव है कि बुद्धवाद भी पारलौकिकता के प्रभाव से मुक्त न रह सका। मोक्ष की धारणा बुद्धवाद में निर्वाण के रूप में प्रतिफलित हुई। हां, यह अवश्य है कि बुद्धवाद में धर्म का विवेचन एक नये ढंग से किया गया। यहां धर्म को सत्कर्म, सम्यक मार्ग, संयम और निर्वाण में ही सीमित रखा गया। लेकिन, धर्म की बुद्धवादी व्याख्या से ही मजहब की नींव पड़ी। बुद्धवाद ही पहला ऐतिहासिक तथा संगठित मजहब था जिसके प्रभाव में उत्पन्न ऐतिहासिक प्रवाहों ने, कालान्तर में, ईसाइयत तथा इस्लाम जैसे मजहबों को जन्म दिया।

धर्म की धारणा के ऐतिहासिक विवेचन से यह स्पष्ट होता है कि धर्म की धारणा कोई अपरिवर्तनीय तथा अन्तिम धारणा के रूप में नहीं प्रतिपादित की गई है। मानव जीवन देश, काल, गुण तथा श्रम से बंधा हुआ है। देश भौगोलिक परिस्थितियों का प्रतीक है और काल ऐतिहासिक परिस्थितियों का। गुण से तात्पर्य व्यक्ति की स्वाभाविक क्षमताओं से है और श्रम का उन स्वाभाविक क्षमताओं के अनुसार कर्म करने की क्षमता से। धर्म का सम्बन्ध मानव से है। अतः धर्म भी देश, काल, गुण तथा श्रम के कारकों से परे नहीं है। देश, काल, गुण तथा श्रम के कारकों के कारण ही मानव में तथा मानव व्यवहार में विचरणशीलता आती है और चूंकि मानव तथा मानव व्यवहार विचरणशील है धर्म विचार में भी विचरणशीलता का समावेश आवश्यक है। राजर्षि भीष्म के द्वारा दी हुई शिक्षाओं के अनुसार, 'देश काल की परिस्थितियों, आवश्यकताओं तथा अपवादों के कारण जो धर्म है, वह अधर्म हो सकता है और जो अधर्म है वह धर्म हो सकता है।[1] धर्म सम्बन्धी यह

1 प्रभु, पी० एच० वही पृष्ठ 73-74

विचार इस तथ्य का प्रमाण है कि धर्म के गत्यात्मक निर्धारण की आवश्यकता सदैव बनी रहती है क्योंकि मानव जीवन ही गत्यात्मक है। वास्तव में, एक ओर, मानव शाश्वत है और, दूसरी ओर विवरणशील। यही कारण है कि, एक ओर, धर्म की धारणा में मानव सम्बन्धी आधारभूत शाश्वत सिद्धान्तों का प्रतिपादित करने का प्रयास किया गया है और, दूसरी ओर, विभिन्न परिस्थितियों तथा अपवादों के अनुसार उन सिद्धान्तों में लचीलापन बनाये रखने का। इसीकारण एक ओर, जैसा कि पहले कहा गया है स्वधर्म की धारणा प्रतिपादित की गई है और, दूसरी ओर, अधर्म की, एक ओर, सामान्य धर्म तथा मानवधर्म की कल्पना रखी गई है और, दूसरी ओर, आपद्धर्म का। सामान्य धर्म के ही लिए नित्य तथा सार्वभौम की संज्ञाओं का प्रयोग किया है। व्यक्ति के गुणों के सर्वांगीण विकास के लिये आश्रम धर्म की धारणा प्रतिपादित की गई है। सामाजिक दृष्टिकोण से, मानव जीवन में परिवार तथा विवाह का सर्वाधिक महत्व है जिसे कुल धर्म की धारणा से व्यक्त किया गया है। गुण तथा श्रम के अनुसार समाज में व्यक्ति की जो प्रतिष्ठा बनती है और उससे जो स्तरीकरण (Stratification) अस्तित्व में आता है उसे वर्ण धर्म के सामाजिक ढांचे में रक्खा गया है। सामाजिक जीवन के राजनैतिक पक्ष को राजधर्म की धारणा में बांधा गया है। वर्ण और आश्रम की धारणायें वस्तुतः धर्म की धारणा का प्राण हैं। धर्म का सारा निरूपण वर्णाश्रम के ही निरूपण में निहित है। वर्णाश्रम-व्यवस्था वस्तुतः हिन्दुत्व की आत्मा है। हिन्दू संस्कृति वर्णाश्रम अनुमान्ति है। इसीकारण, हिन्दुत्व में धर्म संस्कृति का भी प्रतीक माना गया है।

६

धर्म के विभिन्न रूप

यहां यह स्पष्ट हो जाता है कि धर्म एक ऐसी रहस्यात्मक सत्ता है जिसका सम्बन्ध, एक ओर मानव की शाश्वतता से है और दूसरी ओर, मानव-जीवन की गत्यात्मकता तथा उसके विभिन्न पहलुओं से। इस दृष्टिकोण से धर्म की व्याख्या में, धर्म के विभिन्न पहलुओं की व्याख्या अपेक्षित हो जाता है। धर्म के कितने पहलू हैं या धर्म के कितने रूप हैं? यह विषय जहां सतत विचार का प्रश्न रहा है, वहां इसका समाधान मतमतान्तर का भी विषय रहा है। स्वधर्म तथा अधर्म और उनके विभिन्न रूपों की धारणाओं का स्पष्टीकरण पहले हो किया जा चुका है। यह भी स्पष्ट किया जा चुका है कि याज्ञवल्क्य ने धर्म के प्रश्न पर विचार करते हुए वर्णधर्म, आश्रमधर्म वर्णाश्रमधर्म, गुणधर्म, निमित्तधर्म तथा साधारणधर्म की

व्याख्या की है। अतः, यह कहा जा सकता है कि याज्ञवल्क्य के अनुसार छः प्रकार के धर्म हैं। भारतीय विचार (Indian Thought) की ऐतिहासिक विवेचना के संदर्भ में धर्म की धारणा की व्याख्या करते हुए गोखले ने धर्म के जिन पहलुओं या प्रकारों का वर्णन किया है वे हैं मानवधर्म, वर्णधर्म, आश्रमधर्म, कुलधर्म, राजधर्म तथा संस्कृति के रूप में धर्म[1]। संस्कृति, जैसा कि पहले अध्याय में दिखाया गया है, समाज के आदर्शों को अपने में समेटे रहती है। हिन्दू विचारधारा में मानव जीवन के वैयक्तिक तथा सामाजिक आदर्श धर्म में ही निहित हैं। अतः हिन्दू दृष्टिकोण में धर्म संस्कृति का प्रतीक है। कुलधर्म का सम्बन्ध परिवार और गृहस्थाश्रम से है जिनका, आगे चलकर, यथास्थान वर्णन किया जायगा। धर्म के सामाजिक पहलुओं को स्पष्ट करने के लिए धर्म के जिन पहलुओं का यहाँ वर्णन किया गया है वे हैं मानवधर्म, पुरुषार्थ, आश्रमधर्म, वर्णधर्म, कर्मधर्म और राजधर्म। धर्म की स्वाभाविक परिणति उत्तमपुरुष की धारणा में होती है अतः, अन्त में उत्तमपुरुष की धारणा का विश्लेषण किया गया है।

मानवधर्म की धारणा में धर्म के सामान्य तथा शाश्वत आधारों को निर्धारित करने का प्रयत्न किया गया है। मानव धर्म की धारणा में सार्वभौमिकता का भाव निहित है क्योंकि मानवधर्म की मान्यता इस धारणा पर आधारित है कि देश, काल, गुण तथा श्रम के कारकों में उत्पन्न विचरणों के होते हुए भी, मानव-जीवन सर्वत्र समान है और, इस कारण, वह कुछ आधारभूत नियमों तथा सिद्धान्तों से बंधा हुआ है। यही सर्वव्यापी आधारभूत नियम तथा सिद्धान्त मानवधर्म का सार है। किन्तु, यहाँ प्रश्न उठता है कि वे सर्वव्यापी, आधारभूत नियम तथा सिद्धान्त क्या हैं? इस प्रश्न का उत्तर कई प्रकार से दिया गया है। एक दृष्टिकोण में, मानवधर्म वह है जो मानव में निहित औचित्य की प्रेरणा पर आधारित है और जिससे मानव को इहलौकिक तथा पारलौकिक सुख की प्राप्ति होती है। औचित्य की प्रेरणा ही सत्कर्मों की ओर प्रेरित करती है। अतः धर्म का एक बाह्यरूप है और दूसरा
आन्तरिक। धर्म का बाह्य रूप मनुष्य को बन्धन से बाँधता है और आन्तरिक
की प्रेरणा से। इस दृष्टिकोण में, धर्म मनुष्य को उस प्रारब्ध से बाँधता
अपनी अन्तरात्मा के नियमों का पालन करते हुए अन्ततोगत्वा प्राप्त
इसी दृष्टिकोण से धर्म को मानव के उन गुणों का समन्वय, उनमें
तथा विवेक का विधायक, मर्यादा और नियामक माना जा
मनुष्य के बाह्य तथा आन्तरिक रूपों और व्यक्ति तथा समूह
क्रियाशीलता तथा प्रबन्ध निर्धारित होते हैं। अपने इस रूप में
जो मानव को इहलौकिक सुख तथा मोक्ष की ओर ले जाना

1 गोखले

यहां फिर प्रश्न उठता है कि विवेक की कसौटी क्या है ? इस प्रश्न को सुलझाने के लिए मानवधर्म की विशेषताओं को निर्धारित करने का प्रयत्न किया गया है यद्यपि विभिन्न विद्वानों में इस विषय में एकमतता नहीं है। मनु के अनुसार, जैसा कि पहले लिखा जा चुका है, मानवधर्म के लक्षण हैं धृति, क्षमा, दम, अस्तेय, शौच, इन्द्रियनिग्रह, धी, विद्या, सत्य और अक्रोध। विष्णुधर्मशास्त्र में सहिष्णुता, सत्यनिष्ठा, संयम, इन्द्रियनिग्रह अहिंसा, गुरु के प्रति श्रद्धा, तीर्थयात्रा, दुखी के प्रति सहानुभूति सरलता, अभिलाषा से मुक्ति, देवों तथा ब्राह्मणों का आदर और अक्रोध मानवधर्म के लक्षण बताए गए हैं। भागवत पुराण के अनुसार मानवधर्म अहिंसा सत्य चोरी न करने की भावना, इच्छा क्रोध तथा अभिलाषा के रागों से मुक्ति और उन कर्मों, जो दूसरों के लिए रुचिकर तथा अच्छा हो में निहित है। कौटिल्य ने मानवधर्म के लक्षणों में अहिंसा सत्यनिष्ठा, शुद्धता, अविद्वेष दया और क्षमा को मुख्य माना है। महाभारत में अहिंसा को उच्चतम मानवधर्म माना गया है। गीता में निष्काम कर्म को मानवधर्म माना गया है। मैक्सवेबर ने सर्वोच्च धर्म की परिभाषा प्रथा के रूप में की है। सामाजिक कर्तव्य (Social Duty) या कल्प कर्तव्य के रूप में भी धर्म परिभाषित किया गया है। इन विभिन्न दृष्टिकोणों के आधार पर गोखले ने यह निष्कर्ष निकाला है कि अपने सामान्य सार्वभौमिक पक्ष में मानवधर्म वह धर्म है जो दैनिक जीवन में सत्य अहिंसा, आत्मनिग्रह तथा करुणा पर आधारित हो, जो मानव प्रकृति को मानवीय बनाने का उपकरण तथा मानव प्रवृत्तियों के उदात्तीकरण का माध्यम हो[1]।

धर्म की विवेचनाओं के वर्णन में सामान्यधर्म नित्यधर्म साधारणधर्म, सार्वभौम धर्म विशेषधर्म तथा आपद्धर्म जैसी संज्ञाओं का भी प्रयोग मिलता है। सामान्य नित्य साधारण और सार्वभौम पर्यायवाची विशेषण हैं और उनका अर्थ है शाश्वत। धर्म के साथ जुड़ने से उनका तात्पर्य हो जाता है शाश्वत धर्म से जिसकी व्याख्या मुख्यतः मानवधर्म की धारणा के रूप में की गई है। विशेषधर्म का अर्थ है उस धर्म से जो सामान्य से भिन्न हो और जो परिस्थिति विशेष की मांग हो। दया और दान सामान्य धर्म में आते हैं। लेकिन यदि रोगी कुपथ्य मांगे तो, दया करके उसे कुपथ्य देना अधर्म होगा। आपद्धर्म का तात्पर्य उस धर्म से है जो अ पत्तिकाल के लिए हो। अहिंसा सामान्य धर्म है लेकिन प्लेग फैलने पर चूहों को मारना अधर्म न होगा। विशेषधर्म तथा आपद्धर्म सामान्य धर्म के अपवाद के रूप में परिभाषित किए गए हैं। अपवाद परिस्थिति जन्य होते हैं। अतः वे सामान्य न होकर अस्थाई होते हैं।

---

1 गोखले, बा० जी० वही पृष्ठ 29-30

छठा अध्याय

पुरुपार्थ

धम पुरुपाथ का साधन माना गया है। पुरुपाथ का तात्पय है प्रयत्न अथवा प्रयत्ना स—व प्रयत्न जिनस जीवन के उद्दश्य की पूर्ति हो। हिदू जीवन दशन के निरूपण तथा व्याख्या म पुरुपाथ का अथ रूढिगत हो गया है। अपन इगित अथ म, पुरुपाथ मानव जीवन के उद्देश्या का प्रतीक माना गया है। हिदू-जीवन दशन के प्रणेताओ न जीवन के चार उद्दश्य माने हैं—धम अथ काम और मोक्ष। ये चारो अलग-अलग पुरुपाथ मान गये हैं। धम का प्रथम पुरुपाथ माना गया है जो इस तथ्य का प्रतीक है कि सभी पुरुपार्थों म धम ही सर्वोपरि है। महाभारत क रचयिता महर्षि व्यास ने भारत साविन्नी क अतिम श्लोका म कहा है कि म हाथ उठा-उठा कर तथा अपनी पूरी शक्ति क साथ कहता हूँ कि धम स अथ और काम की साधना होती है। अत धम का ही अनुसरण क्यों न ... ? ... किन मरी कोई नहा सुनता है। फिर भी यह ध्यान रखो कि धर्म ... ही करना चाहिये।

धर्म उसी प्रकार से नित्य है जैसे आत्मा [1]। धर्म प्रथम पुरुषार्थ इसलिये है कि वह अन्य तीन पुरुषार्थों का साधन ही नहीं वरन उनका आधार है। अर्थ दूसरा पुरुषार्थ है काम तीसरा और मोक्ष चौथा। संस्कृत भाषा में 'अर्थ' के अनेक अर्थ हैं लेकिन, एक पुरुषार्थ के रूप में अर्थ से तात्पर्य लिया जाता है इहलौकिक तथा पार्थिव सम्पन्नता से। काम से साधारणतः अर्थ लिया जाता है मानव की उन एषणाओं से जिनसे आनन्द की प्राप्ति होती है तथा जिनसे जीवन तथा इन्द्रियों की तुष्टि होती है। साधारणतः काम शब्द मानव में निहित यौन प्रेरणा का पर्याय माना जाता है यद्यपि अपने व्यापक अर्थ में यह प्रतीक है मानव की उन सभी जैविक एषणाओं का जो मानव में जैविक तथा मानसिक तनाव उत्पन्न करती है और जिनकी तुष्टि इन्द्रिय-जनित सुख का साधन होती है। मोक्ष से तात्पर्य है मुक्ति से—आवागमन के चक्र से छुटकारा पाने से।

मानव जीवन का अन्ततोगत्वा और सर्वोच्च पुरुषार्थ है मोक्ष जिसका एकमात्र साधन है धर्म। इसलिये धर्म मोक्ष से भी महत्वपूर्ण है। लेकिन केवल धर्म से ही मोक्ष की प्राप्ति सम्भव नहीं है क्योंकि मोक्ष मानव जीवन की एक सतत विकास प्रक्रिया (अभ्युदय) का चरमोत्कर्ष है। मोक्ष का सम्बन्ध पारलौकिक जीवन से है, जो इहलौकिक जीवन का उन्नयन है। इहलौकिक जीवन का स्वाभाविक विकास अर्थ और काम से होता है—वह अर्थ और काम जो धर्म पर आधारित है। अर्थ और काम का सम्बन्ध सांसारिक जीवन से है। धर्म अर्थ और काम के माध्यम से, मोक्ष की ओर ले जाता है अतः, धर्म का स्तर अर्थ और काम की अपेक्षा उच्चतर है। धर्म अर्थ और काम, वस्तुतः, प्रतीक है मानव के नैतिक (Moral), भौतिक (Material) तथा मानसिक (Mental) संसाधना (Resources), उपकरणों तथा शक्तियों के जो मानव को अपने में ही उपलब्ध रहते है और जिनकी साधना के बिना मोक्ष की साधना नहीं हो सकता है। अतः पुरुषार्थ वस्तुतः एक साधना है जिसमे धर्म के आधार पर अर्थ तथा काम (अर्थात् इहलौकिक जीवन) की साधना करते हुए पारलौकिक जीवन का साधने का प्रयास निहित है। पुरुषार्थ अभ्युदय तथा निःश्रेयस की साधना का माध्यम है।)

धर्म पुरुषार्थ का आधार अवश्य है, लेकिन एक धारणा के रूप में। धर्म की धारणा पुरुषार्थ धारणा का एक पहलू है। धर्म और पुरुषार्थ एक दूसरे पर आश्रित हैं। धर्म के बिना न तो पुरुषार्थ की साधना हो सकती है और न बिना पुरुषार्थ के धर्म की। पुरुषार्थ केवल एक धारणामात्र नहीं है। पुरुषार्थ वस्तुतः जीवन दर्शन का एक सिद्धान्त है। जीवन दर्शन के एक सिद्धान्त के रूप में पुरुषार्थ से तात्पर्य है धर्म के माध्यम से अर्थ काम तथा मोक्ष की साधना। मोक्ष धर्म अर्थ तथा काम का स्वाभाविक विकास

1 प्रभु पी० एच० वही पृष्ठ 363

है। अत, चारों पुरुषार्थों में धर्म अर्थ और काम की आधारभूत महत्ता है। धर्म की व्यापक व्याख्या के लिये अर्थ, काम तथा मोक्ष की विशद व्याख्या आवश्यक है।

धर्म का अन्ततोगत्वा उद्देश्य है मोक्ष प्राप्ति। मोक्ष प्राप्ति निवृत्ति का प्रतीक है। इसीकारण, यह कहा जाता है कि धर्म निवृत्ति की ओर ले जाता है जिसके फलस्वरूप, हिन्दुत्व में जीवन के प्रति नास्तिक तथा नकारात्मक दृष्टिकोण का समावेश हुआ है। किन्तु हिन्दुत्व के प्रति यह दृष्टिकोण सम्यक नहीं है। गीता इसका ज्वलन्त उदाहरण है। गीता में जीवन को कर्मक्षेत्र मानकर उसे अपनाने की प्रेरणा दी गई है। पुरुषार्थ सिद्धान्त में धर्म के साथ अर्थ तथा काम को प्रधानता देकर, इहलौकिक जीवन के आधारभूत महत्व पर जोर दिया गया है। शरीर को धर्म साधना का प्राथमिक साधन माना गया (शरीरमाद्य खलु धर्म साधन)। शरीर के साधना के लिए अर्थ और काम की साधना आवश्यक है। हाँ यह अवश्य है कि हिन्दुत्व में शरीर और उसकी आवश्यकताओं की पूर्ति को ही जीवन का एकमात्र उद्देश्य नहीं माना गया है। मानव जीवन केवल शरीरी आवश्यकताओं की पूर्ति तक ही सीमित नहीं है। यदि ऐसा होता तो मनुष्य अन्य जानवरों से भिन्न न होता। शरीरी दृष्टिकोण से, मानव जीवन में जन्म विकास ह्रास (जरा) तथा मृत्यु का चक्र है। जीवन की यह स्वाभाविक प्रक्रिया है जिसकी अवहेलना नहीं की जा सकती है। जनित प्रमय एक ऐसा प्राणी है जो अपनी मानसिक विशेषताओं के कारण जीवन के अन्ततोगत्वा उद्देश्य के बारे में सोचता है। यही कारण है कि हिन्दुत्व में एक ओर इहलौकिक जीवन के निरूपण का प्रयास किया गया है और दूसरी ओर इहलौकिक जीवन के अन्ततोगत्वा उद्देश्य को पारलौकिक के साथ जोड़ा गया है। हिन्दुत्व में पहले इस पृथ्वी पर मानव अस्तित्व से सम्बन्धित आधारभूत प्रश्न की महत्ता पर विचार किया गया है फिर मानव अस्तित्व के सर्वांगीण विकास तथा उसके सभाव्य अन्ततो-त्वा उद्देश्य पर विचार किया गया है और फिर इन विचारों के आधार पर व्यक्ति, टना तथा परिस्थिति के पारस्परिक सम्बन्धों को निर्धारित किया गया है। हिन्दुत्व व्यक्ति, परिवार समूह समाज तथा राष्ट्र और जीवित तथा निर्जीव के सम्बन्ध ा विचार पर आधारित हैं। हिन्दुत्व निवृत्तिमार्गी प्रवृत्ति का जीवन दर्शन है। ति मनुष्य का स्वभाव है लेकिन निवृत्ति भी अस्वाभाविक नहीं है। निवृत्ति संयम अत, महाफलदायिनी है। आसक्ति में अनासक्ति का समन्वय जीवन का उद्देश्य यही कारण है कि पुरुषार्थ विचार में धर्म, अर्थ काम और मोक्ष का वय किया गया है। जहाँ एक ओर, धर्म तथा मोक्ष (निवृत्ति) का विचार चलता ।, दूसरी ओर, अर्थ और काम (प्रवृत्ति) का भी विचार चलता है।

२

अर्थ

यह पहले ही कहा जा चुका है कि संस्कृत भाषा में 'अर्थ' शब्द कई सन्दर्भों में प्रयुक्त किया जाता है। जैसा कि गोखले ने लिखा है अर्थ से साधारणतः तात्पर्य लिया जाता है समृद्धि तथा सांसारिक वैभव की प्राप्ति, सुविधा, लाभ, धन, व्यापारिक जीवन का परिणाम, व्यापारिक विषय वस्तु तथा कार्य क्रिया और मूल्य से। विधि (Law) के सन्दर्भ में, अर्थ से तात्पर्य है प्रतिवाद, अभियोग तथा प्रार्थना पत्र अथवा याचिका (Petition) से। इस प्रकार, अर्थ शब्द के अनेक अर्थ हैं। ऋग्वेद के आधार पर पुरुषार्थ के सन्दर्भ में अर्थ का तात्पर्य उन पार्थिव वस्तुओं से है जिनकी गृहस्थी चलाने, परिवार बसाने तथा धार्मिक कृत्यों का सम्पादन करने में आवश्यकता पड़ती है[1]। अर्थ का एक अर्थ उस वस्तु अथवा उन वस्तुओं से है जिनकी इन्द्रियों द्वारा अनुभूति की जा सके[2]। जिन वस्तुओं की इन्द्रियों द्वारा अनुभूति की जा सकती है वे हैं रूप, रस, गन्ध, स्पर्श और शब्द। प्रभू के अनुसार, पुरुषार्थ के सन्दर्भ में अर्थ से तात्पर्य लिया जा सकता है उन सभी उपकरणों से जो सांसारिक समृद्धि को प्राप्त करने के लिये आवश्यक हैं। प्रभू ने धन और सत्ता को सांसारिक समृद्धि का प्रतीक माना है[3]।

धर्म की भांति अर्थ की धारणा का विकास विभिन्न सामाजिक ऐतिहासिक परिस्थितियों तथा सन्दर्भों में हुआ है और इसकारण, उसे अनेक रूपों में व्यक्त किया गया है। वेदों में यान्त्रिक तथा समृद्ध जीवन की एक सतत अभिलाषा व्यक्त की गई है। ऋग्वेद की ऋचाओं तथा उपनिषदों की प्रार्थनाओं में धन धान्य की वृद्धि, सांसारिक समृद्धि, शतायु होने की अभिलाषा, गायों तथा घोड़ों की वृद्धि, सन्तान की समृद्धि तथा सुखी जीवन की याचना की प्रार्थनायें मिलती हैं[4]। जब जनक ने याज्ञवल्क्य से यह जानना चाहा था कि वे धन तथा पशु की कामना पसन्द करते हैं

1 गोखले, बी० जी० वही पृष्ठ 51
2 इन्द्रियेभ्य परा ह्यर्था अर्थेभ्यश्च परं मन
मनसस्तु परा बुद्धिर्बुद्धेरात्मा महान परः —कठोपनिषद वल्ली 3 श्० 1
3 प्रभु पी० एच० वही 79-80
4 यजुर्वेद—अ० 18, क० 77, म० स० 1 से 89
प्रश्नोपनिषद द्वितीय प्रश्न—मन्त्र 8 से 13
द्वितीय मुण्डक प्रथम खण्ड, तृतीय मुण्डक प्रथम खण्ड, एतरोयोपनिषद द्वितीय खण्ड, तत्तरीयोपनिषद — शीक्षावल्ली, तृतीय अनुवाक
सामवेद-पूर्वाचिक षष्ठ खण्ड, आग्नेयकाण्ड, ऐन्द्रकाण्ड, उत्तराचिक प्रथम खण्ड

या शास्त्रार्थ में विजय की, तो याज्ञवल्क्य ने दोनों की कामना प्रकट की थी। ऋगवेद में धन के लिये रयि शब्द आया है जिसका तात्पर्य पशु, भोजन, सन्तान, वासस्थान तथा प्रचुर आजीविका से है। उपनिषदों में भी जीवन के उच्चतम उद्देश्य की पूर्ति के लिये सांसारिक पदार्थों की प्राप्ति की कामना की गई है[1]।

महाभारत में यह कहा गया है कि यहां जिस धर्म समझा जाता है वह नितान्त धन पर ही आधारित है। जो किसी का धन छीनता है वह धन के साथ साथ उसका धर्म भी छीन लेता है। निर्धनता पाप है। सभी प्रकार के सत तथा धार्मिक कर्मों का मूल धन ही है। धन से धन की वैसे ही प्राप्ति होती है जैसे हाथियों द्वारा हाथियों को पकड़ा जाता है। धार्मिक क्रिया सुख, दर्प, साहस, रोष और विद्वता का आधार धन ही है। धनहीन के लिये धार्मिक क्रिया की साधना दुष्कर है क्योंकि धन धार्मिक कृत्यों का वैसे ही स्रोत है जैसे सरिताओं का स्रोत पर्वतों में है। कौटिल्य के अनुसार, दान तथा एषणाओं की पूर्ति धन पर निर्भर है अतः, धन की सर्वाधिक महत्ता है। राज्य के चार मुख्य कर्तव्य हैं—उपार्जन करना, उपार्जनों को सुरक्षित रखना, उनमें निरन्तर सुधार तथा वृद्धि करना और उनमें उत्पन्न होने वाले लाभ को उनमें वितरित करना जो उसे पाने के योग्य तथा अधिकारी हों। कौटिल्य अविवेकी वैराग्य का विरोधी है क्योंकि जनसाधारण में वैराग्य की प्रवृत्ति आर्थिक उत्पादन को अवरुद्ध करती है। उसने तो यहां तक कहा है कि जो समाज तथा परिवार की मांग को पूरा किये बिना वैराग्य को अपनाता है उसे राज्य द्वारा दंड मिलना चाहिये। अपने अर्थशास्त्र में कौटिल्य ने यहां तक लिखा है कि साम्राज्य के गांवों में संन्यासियों के आने की अनुमति नहीं होनी चाहिये क्योंकि गांव में उनकी उपस्थिति से ग्रामीणों की आर्थिक क्रिया में बाधा पड़ती है। पंचतंत्र और हितोपदेश जो जन साहित्य की परम्परा में आते हैं में भी अर्थ परम्परा पर उतना ही जोर दिया गया है जितना कि शास्त्रों में। गोखले द्वारा पंचतंत्र में उद्धृत अंशों के अनुसार धन मनुष्य का समीपस्थ सम्बन्धी है। धन से ओज, विश्वास तथा सत्ता प्राप्त होती है निम्नवर्गी धनवान को आदर मिलता है जबकि उच्चवर्गी धनहीन का लोग निरादर की दृष्टि से देखते हैं। निर्धनता अभिशाप है और मृत्यु में भी बुरी है बिना धन के सद्गुण भी बेकार हो जाते हैं धनहीनता सभी बुराइयों की जड़ है भिक्षुक का जीवन जीवित नरक में रहने के समान है[1]। कथा सरित्सागर में कहा गया है कि धन का उद्देश्य है सुख जिस धन से सुख न प्राप्त हो वह बेकार है। धन केवल इच्छा से ही नहीं प्राप्त होता है धन के लिये प्रयास आवश्यक है धन केवल उसी को प्राप्त होता है जो परिश्रमी, साहसी तथा विवेकी है[2]।

1 गोखले बी० जी० वही पृष्ठ 51–52
2 वही

इसीप्रकार शुक्रनीतिसार म भी, अथ परम्परा को धनाजन के सदभ म व्यक्त किया गया है। शुक्रनीतिसार के लेखक के अनुसार, जिस पुरुष के स्त्री, सतान तथा मित्र है, उसके लिये दनिक धनापाजन उचित है। दान के लिय धन आवश्यक है। बिना दान और धन के मानव अस्तित्व का महत्व ही क्या है ? प्रत्येक को भविष्य के लिय धन सचय करना चाहिय। जब तक किसी के पास धन है, तभी तक उसका सम्मान होता है। धनहीन व्यक्ति वह चाह कितना ही योग्य क्या न हो, स्त्री तथा सतान द्वारा त्यागा जा सकता है। इस ससार म धन ही सारे पुरुषार्थों की जड है। अत, वध उपाय स धनाजन करना उचित है। शुक्रनीतिसार म विद्या, सेवा, शौय, कृषि व्यापार शिल्प तथा शिल्पकारिता और यहा तक कि भिक्षाटन धनाजन के वध उपाय माने गए है[1]।

धन का उपाजन और सचय तथा उससे मिलने वाला इहलौकिक कल्याण भारतीय, विशेषत हिन्दू विचार म व्याप्त है। हिन्दू विचार मे धन की वाञ्छनीयता कई प्रकार स व्यक्त की गई है। इस वाञ्छनीयता क प्रमाण हैं व शब्द जिनके माध्यम स इस यत्न किया गया है। धन वह है जो मनुष्य की पूजी (धनम) और 'द्रव्य' हो, जो उपाजित (वित्त) हो जिसका व्यक्ति विनियोजन (स्वपातेय) कर सके, जो सचय (अथ) का परिणाम हो, जो विभव का स्रोत और 'भोग्य' हो और जो हस्तान्तरणीय (Transferable) होने के कारण प्रवहाय हो अथात जो विवाद (Dispute) तथा मुकदमबाजी (Litigation) का कारण हो[2]। धन का 'हिरण्य' कहा गया है जिसके अथ है—सोना, चादी सोने का बना बतन, मूल्यवान धातु धन, सम्पत्ति तथा कौडी इत्यादि[3]। वैदिक साहित्य म पशु को धन का मुख्य साधन माना गया है किन्तु पाली म लिखे बौद्ध ग्रन्थ मिलिन्द प्रश्न में धन की श्रेणी मे जिन वस्तुओं को रखा गया है उनम पशु का उल्लेख नहीं है जो इस तथ्य का प्रमाण माना जा सकता है कि बौद्धकाल म धन का पशुपाल्य (Pastoral) आधार समाप्त हो गया था। बौद्ध ग्रन्था मे कृषि और व्यापार को वत (आर्थिक क्रिया) का आधार माना गया है। महाभारत म भी वत को ससार का मूलाधार माना गया है। जब तक राजा वत को साथ रहता है, सभी कुछ सुचारुरूप म चला करता है। कमण्क नीतिशास्त्र म यह कहा गया है कि वत क विनाश के साथ साथ ससार का भी विनाश हो जाता है। धमशास्त्रा म कृषि, पशुपालन, औद्योगिक कलाओं, व्यापार तथा ऋण देने को वत का आधार कहा गया है[4]।

---

1 गोखले, बी० जी० वही पृष्ठ 54
2 वही
3 आप्टे, वी० एस० वही
4 गोखले, बी० जी० वही पृष्ठ 55

ऐतिहासिक स दभ म विचार करन पर अथ परम्परा मे कई विचार प्रवाह एक साथ प्रवाहित होते हुए दिखाई पडते है। पहला ज्यो ज्यो उत्पादन बढता गया और प्रौद्योगिकी का विकास होता गया अथ की धारणा अधिक व्यापक होती गई। वदिक काल म धन पशु म केन्द्रित समझा जाता था किन्तु बौद्धकाल म कृषि तथा व्यापार को धन का केन्द्र समझा जाने लगा। दूसरा प्राचीन ग्रन्था म धन की समष्टिवादी धारणा प्रतिपादित की गई है जबकि पचतन्त्र तथा हितोपदेश जसे जन-वार्ता वाले ग्रन्था मे व्यक्ति को धनाजन तथा समद्धि का मुख्य केन्द्र माना गया है। तीसरा, एक ओर, धन को वित्त, स्वपातय भोग्य तथा व्यवहार्य माना गया है और दूसरी ओर, विलास, वैभव तथा दिखाव की भत्सना की गई है[1]। चौथा, उत्पादन मे लगे वर्गों की सामाजिक प्रतिष्ठा का सतत ह्रास हुआ है[2]। इन विभिन्न तथा परस्पर विरोधी विचार प्रवाहो का परिणाम यह हुआ है कि भारत म अथ की धारणा म गैर-आर्थिक विचारो का समावेश हुआ और सारी अथ परम्परा इहलौकिक होते हुए भी पारलौकिकता की ओर उन्मुख हुई।

अथ की धारणा के साथ साथ त्याग तथा वैराग्य की भावना क्या आई? अथ विचार म इहलौकिक विचारो के साथ-साथ पारलौकिक विचारों का समावेश

1 मनु ने दिखावटी तथा अनावश्यक व्यय की भत्सना की है और शुक्र न अपव्ययी को राज्य से निकाल देन का विधान किया है। विधि निर्माताओं न साधारणत धनियों द्वारा किए गए अपव्यय के लिए कड़ दण्ड का विधान किया है। इसका स्पष्टीकरण यह दिया जाता ह कि भारत में अथ परम्परा धम प्रधान रही ह, अथ नीति पर आधारित रहा ह न कि केवल भोग पर, मानव क्रियाओ का केन्द्र मानव रहा ह न कि धन, और हिन्दू विचार तथा संस्कृति धर्मोन्मुख (कर्तव्योन्मुख) रहे ह। यहाँ अथ को केवल एक उपकरण के रूप म स्वीकार किया गया ह क्योंकि अथ का उद्देश्य धमसाधना ह। धम के माध्यम से अथ और अथ के माध्यम से धम की साधना, हिन्दुत्व का मुख्य उद्देश्य ह। इसी कारण, हिन्दुत्व में अथ की धारणा गैर आर्थिक आधारों पर की गई ह।

2 बौद्ध ग्रन्थों में उच्च तथा निम्न जातियों का बहुधा वणन मिलता ह। निम्न जातियों के पेशों में साधारणत आखेट, जाल लगाकर शिकार करना चमडे के काम, कुम्हारी, बाँस के काम, कपडा-बुनाई तथा नाई के काम को रखा गया ह। धमशास्त्रों में उत्पादक वर्गों वश्य तथा शूद्र को निम्न सामाजिक प्रतिष्ठा प्रदान की गई ह। वश्य तथा शूद्र वर्गों के प्रति द्वेष वदिक काल से चलता रहा ह। कौटिल्य के अनुसार, राज्य जब चाहे तब वश्यों को समाप्त करने का उसे अधिकार है। शूद्रों को प्रारम्भ से ही अन्य वर्गों का सेवक माना गया ह—गोखले वही पृष्ठ 56

क्यों हुआ ? इसका उत्तरदायी धम को ठहराया जाता है। इसमे कोई स देह नही कि हिंदू विचार की धमप्राणता न ही अथ की धारणा म पारलौकिकता का पुट दिया है। कितु यहा प्रश्न उठता है कि धम म ही पारलौकिकता का समावेश क्यों हुआ ? इसका एक उत्तर रहस्यात्मक तथा आध्यात्मिक है। इस उत्तर के अनुसार जहा उच्चतम उद्देश्य मोक्ष है, वहा पारलौकिकता का विचार अवश्यभावी है। दूसरा उत्तर सामाजिक ऐतिहासिक है। सामाजिक एतिहासिक दृष्टिकोण स, भारतीय समाज की पुनरावत्त विपन्न परिस्थितिया आर्थिक पष्ठभूमि तथा वग सघप न यहा के पारलौकिक विचार को स्थायी रूप से ज म दिया। मौय साम्राज्य क विकास तथा पूर्वी उत्तर प्रदेश और बिहार के आदिवासी समाज के विश्रृ खलन ने, पारलौकिक विचारो वाले सामाजिक आ दोलन बुद्धवाद तथा जैनवाद का ज म दिया। गुप्त साम्राज्य के विश्रृ खलन स जो विपन्न परिस्थितियाँ अस्तित्व मे आइ उन्होने वेदा ती विचारधारा को ज म दिया इस्लामी सघात स हिंदू समाज मे जो परिस्थितिया आइ उनके प्रभाव म पारलौकिक विचारधारा वाले दशनो तथा भक्ति आ दोलनो का आविर्भाव हुआ और वतमान समय म अग्रेजी राज्य के माध्यम से योरोपीय सघात ने गाधीवाद को ज म दिया।

वदिक युग ब्राह्मण क्षत्रिय सघष का युग है। बुद्धवाद क्षत्रिय सर्वोपरिता का परिचायक है लेकिन बुद्धवाद का ह्रास ब्राह्मणो की पुनविजय का। बौद्ध तथा जन आ दोलनो को क्षत्रिय वैश्य तथा शूद्रो से प्रोत्साहन मिला। कि तु धमशास्त्रो क युग म, ब्राह्मण क्षत्रिय सघष समाप्त हो गया था और ब्राह्मण, क्षत्रिय तथा वश्य शूद्र के विरुद्ध सगठित हो गए थे। यह सगठन एक प्रकार की सधि थी जिसमे ब्राह्मणो को पौरोहित्य काय स उत्पन्न धार्मिक सत्ता मिली और क्षत्रियो को राजनतिक सत्ता। भारत की विशालता और प्रजातिक तथा सास्कृतिक भिन्नता ने यहा वे परिस्थितियाँ उत्पन्न की जिनमे साम्राज्य सस्थापन को प्रोत्साहन मिला। भारतीय इतिहास म साम्राज्य सस्थापकों का तब तक सघष चलता रहा जब तक कि अग्रेजो ने उसे एक राज्य राष्ट्र म न बाध दिया। साम्राज्य के मुख्य आधार हैं अतिरिक्त उपज जो कर क रूप म ली जाती है सना नौकरशाही तथा सम्राट के प्रति जन भक्ति। भारत एक कृषिप्रधान प्रदेश रहा है। कृषि पर आधारित ग्रामीण सामाजिक सगठन जो मौय काल म अस्तित्व म आया न निष्प्रवाह आर्थिक व्यवस्था को ज म दिया। धातुओ की कमी न प्रौद्योगिकी के स्तर को नीचा रखा। इसका परिणाम यह हुआ कि उत्पादन का स्तर कम रहा। एक ओर उत्पादन का स्तर कम रहा और दूसरी ओर, उसी निम्न उत्पादन स्तर पर साम्राज्य खड़े होत रहे जिसका अधिकतर भार वश्यो तथा शूद्रों को वहन करना पडा। ऐसी दशा म, जन भक्ति लाने के लिए, सम्राटत्व का दवी अवगुठन म लपेट दिया गया। इसका परिणाम यह हुआ कि उत्पादन का एक बडा भाग राज्य सना तथा नौकरशाही पर व्यय होता रहा

रूप, एक ओर, जन-दारिद्रय बढ़ा और दूसरी ओर, राजसी वैभव
परम्परा म व्याप्त पारलौकिकता का पुट जन-दारिद्रय स उत्पन्न
सिक अभिव्यक्ति है। लेकिन, यह केवल एक स्पष्टीकरण है न कि
न्त।

ार परम्परा में अर्थ सम्बन्धी प्रवृत्तिमार्गी विचारों को इहलौकिक
क तथा मानसिक आवश्यकताओं के आधार पर स्पष्ट किया गया
ार्गी विचारों का आध्यात्मिक आवश्यकताओं के आधार पर।
प्रस्तुत अर्थ की व्यवस्था इसी परम्परा म आती है। राधाकृष्णन
का सम्बन्ध मानव-जीवन के आर्थिक तथा राजनैतिक पक्षों स है।
तथा समृद्धिलिप्सा की लालसा शान्त होती है। सम्पत्तिलिप्सा
ाधारभूत एषणा है जिसकी अभिव्यक्ति अर्थ के माध्यम से होती
र्थ की प्राप्ति के लिए प्रयत्न, एक उचित मानव आकांक्षा है। लेकिन
ह मुक्ति तभी मिलेगी जब ये प्रयत्न धर्मोन्मुख होंगे। अर्जन तथा
ता प्राप्त करने के लिए, हमारे लिए यह आवश्यक है कि हम अपनी
इच्छा को किसी सीमा तक सीमित करें। आध्यात्मिक मुक्ति के लिए, मानव-जीवन
का नियमन आवश्यक है। धर्म नियमन का माध्यम है और अर्थ आध्यात्मिक मुक्ति
का एक साधन। अतः अर्थ धर्म पर आधारित है। धर्म इहलौकिक भी है और पार
लौकिक भी। इसकारण, धर्मोन्मुख अर्थ एक ओर, इहलौकिकता का साधन है और,
दूसरी ओर पारलौकिकता का[1]।

की भांति, काम परम्परा भी इहलौकिकता तथा पारलौकिकता की विचार लहरियों पर हिलकोरे खाती रही है। लेकिन काम सम्बन्धी इहलौकिक तथा पारलौकिक विचार परम्पराओं, उनके उदगम स्रोतों तथा उनके सम्बन्धों पर विचार करने से पहले काम की धारणा तथा जीवन में उसकी व्यावहारिक अभिव्यक्तियों की व्याख्या करना आवश्यक है।

आप्टे ने काम शब्द के जो अर्थ दिए हैं वे इस प्रकार हैं—अभिलाषा, इच्छा (एषणा), अभिलाषा पात्र, अनुराग तथा प्रेम, इन्द्रिय उपभोग के प्रति अभिलाषा या लगाव, जिसे चार पुरुषार्थों में से एक माना गया है, सम्भोग से तुष्टि की अभिलाषा, एन्द्रियता, कामदेव[1], रेतस, एक प्रकार का आम का पेड। इन सभी अर्थों के सारांश के रूप में काम से तात्पर्य निकलता है इन्द्रिय संतुष्टि की अभिलाषा से। इन्द्रियां हैं दस—कान, त्वचा, चक्षु (आंख), जिह्वा, नासिका, पायु (गुदा), उपस्थ (जननेन्द्रिय), हस्त (हाथ), पाद (पैर) तथा वाक (वाणी)। इनमें पहली पांच ज्ञानेन्द्रिय (बुद्धीन्द्रिय) कही गयी हैं और शेष कर्मेन्द्रिय क्योंकि पहली पांच इन्द्रियों द्वारा जीव का प्रतिबोध होता है अर्थात उसे अपने पर्यावरण का ज्ञान होता है और शेष इन्द्रियों द्वारा जीव कर्मरत रहता है। किसी किसी ने 'मन' को भी एक इन्द्रिय माना है और मन को इन्द्रिय मान लेने से इन्द्रियों की संख्या ग्यारह हो जाती है। लेकिन अधिकतर मान्यता इसी पक्ष में है कि मन इन्द्रियों का राजा है[2]। इन्द्रियों से जीव की जैविक आवश्यकताओं

हिन्दू मान्यता में काम के देवता की कल्पना की गई है जिसे काम या मदन भी कहा जाता है। हिन्दू पौराणिक परम्परा में काम को कृष्ण तथा रुक्मिणी की सन्तान माना गया है। उसकी पत्नी है रति। देवताओं के प्रार्थना करने पर, काम ने शिव की तपस्या भंग की थी ताकि शिव पार्वती की ओर आकृष्ट हों और शिव-पार्वती के समागम से उत्पन्न पुत्र, देवताओं को कष्ट देने वाले राक्षस, तारक का वध करे। किन्तु, काम की धृष्टता से क्रुद्ध होकर शिव ने अपने तीसरे नेत्र की शक्ति से उसे जलाकर खाक कर दिया। रति के प्रार्थना करने पर शिव ने काम के पुनर्जन्म का वर दिया जिसके फलस्वरूप काम का जन्म प्रद्युम्न के रूप में हुआ। काम का सगा मित्र वसन्त है और धनुष बाण उसके अस्त्र शस्त्र हैं। काम के धनुष की प्रत्यंचा मधुमक्खियों की पंक्ति से बनी है और उसके बाण फूलों के हैं—आप्टे, वही, पृष्ठ 143

तैत्तरीयोपनिषद वल्ली 2, अनुवाक 3, 'आत्मामनोमय। तेनषपूर्ण'।
आत्मानं रथिनं विद्धि शरीरं रथमेव च
बुद्धिं तु सारथिं विद्धि मनः प्रग्रहमेव च। कठोपनिषद वल्ली 3, अ० 1 श्लोक 3,
'मनो ब्रह्मेति व्यजानात। मनसो ह्येव खल्विमानि भूतानि जायन्ते।
मनसा जातानि जीवन्ति। मनः प्रयन्त्यभिसंविशन्तीति"। तैत्तरीय, व० 3, अनु० 4

की पूर्ति होती है। श्वास लेना, मल मूत्र-त्याग, प्रजनन और पर्यावरण का अनुभव जीव का इन्द्रियों द्वारा ही होता है। जबकि आवश्यकता के उत्पन्न होने पर, जीव में जो शक्ति प्रवाहित होती है और उससे जो तनाव उत्पन्न होता है उसका निरसन इन्द्रियों द्वारा ही होता है। तनाव के निरसन से जो तुष्टि की अवस्था आती है, उससे सुख का अनुभव होता है। भूख लगना तनाव की स्थिति है लेकिन, भोजन मिलने के बाद, जो तुष्टि की अवस्था आती है, वह सुख की अवस्था है। एक ओर इन्द्रियों का सम्बन्ध शरीर से है और, दूसरी ओर मन अथवा मानसिक प्रमय से। इसीकारण, इन्द्रियों तथा उनकी स्वाभाविक क्रिया को शारीरिक तथा मानसिक सुख का आधार माना गया है। इसी दृष्टिकोण से, साधारणतः, काम का तात्पर्य सुख से लिया जाता है। एक अन्य साधारण अर्थ में काम से सम्भोग एषणा या सम्भोग का अर्थ लिया जाता है किन्तु यह दृष्टिकोण एकांगी है।

प्रभू ने काम का मनोविज्ञान के सिद्धान्तों के सन्दर्भ में स्पष्ट किया है। प्रभू के अनुसार, काम से तात्पर्य उन एषणाओं से है जो मानव में भोग और जीवन तथा इन्द्रियों की तुष्टि के लिए होती हैं। इन एषणाओं में यौनएषणा भी शामिल है जिसके लिये साधारणतः काम शब्द का प्रयोग किया जाता है। इन्द्रिय भोग और एषणाओं के दृष्टिकोण से काम शब्द का अर्थ अधिक व्यापक हो जाता है। प्राकृत आवेग (Natural Impulses), मूलप्रवृत्तियाँ[1] (Instincts), मानव एषणायें (Desires of Man) और मानव की प्राकृत-मानसिक प्रवृत्तियाँ (Natural Mental Tendencies) काम के अन्तर्गत आ जाती हैं। काम में वे सभी धारणायें आ जाती हैं जिन्हें आधुनिक समाज मनोविज्ञान में अभिलाषाओं (Desires), आवश्यकताओं (Needs), प्रेरणा (Motives), आन्तरिक उद्दीपनों (Urges) या चालकों (Drives) की धारणाओं के माध्यम से व्यक्त किया जाता है। आधुनिक सामाजिक

इन्द्रियेभ्य पर मना" —कठोपनिषद वल्ली 3 अ० 2,

1 हिन्दी में मूलप्रवृत्ति का शब्द अंग्रेजी शब्द इंस्टिंक्ट (Instinct) के लिए प्रयोग किया जाता है। इंस्टिंक्ट से तात्पर्य लिया जाता है उन जन्मजात प्रवृत्तियों से जो प्राणी के जैविक संगठन में निहित होती है और उसके व्यवहार का चालक होती है। मानव-व्यवहार सीखा हुआ व्यवहार है। सीखा हुआ व्यवहार जन्मजात जैविक प्रवृत्तियों से प्रेरित नहीं होता है। मूलप्रवृत्ति का सिद्धान्त जानवरों के व्यवहार पर अधिक लागू होता है। इसकारण, आधुनिक सामाजिक मनोविज्ञान में मूलप्रवृत्ति सिद्धान्त को त्याग दिया गया है। मूलप्रवृत्ति शब्द का प्रयोग यदि किया भी जा सकता है तो केवल जन्मजात जैविक एषणाओं के लिए।

मनोविज्ञान म यह माना जाता है कि अपन आधारभूत रूप म मानव एक जीव है। अत मनुष्य की भी कुछ जनिक आवश्यकताएँ तथा क्षमताए हैं। जविक आवश्यकताओ के कारण जब जीव म तनाव बढता है और आवश्यकता की पूर्ति के लिए शक्ति उत्पन्न तथा प्रवाहित होती है तो अपनी जविक क्षमताओ क द्वारा जीव आवश्यकता की पूर्ति करके तनाव को दूर करता है। भूख लगने पर भोज्य की तलाश इसका उदाहरण है। आवश्यकता की सन्तुष्टि से सुख मिलता है। सुख अशत जविक और अशत मानसिक होता है लेकिन सुख की अनुभूति एक मानसिक प्रमेय है। जविक आवश्यकता की पूर्ति क्रिया चक्र द्वारा होती है अर्थात पहले आवश्यकता का अनुभव होता है फिर एषणा का अभ्युदय होता है फिर उस वस्तु अथवा परिस्थिति की तलाश होती है जिससे आवश्यकता पूर्ण हो जाय और आवश्यकता के पूर्ण होने पर सुख का अनुभव होता है। आवश्यकता की पूर्ति न होने से नैराश्य की भावना आती है। जसा कि संस्कृति का विश्लेषण करते हुए लिखा गया है, मानव एक ऐसा प्राणी है जिसकी आधारभूत आवश्यकताएँ अशत जविक हैं और अशत सामाजिक सांस्कृतिक। जविक के ही आधार पर सामाजिक-सांस्कृतिक का निर्माण हुआ है। मनुष्य की जविक आवश्यकताएँ तथा एषणाए अशत काम के अंतर्गत आती हैं और अशत अर्थ के अंतर्गत और सामाजिक सांस्कृतिक आवश्यकताए धर्म तथा मोक्ष के अंतर्गत। मानव की जविक आवश्यकताओ की पूर्ति सामाजीकरण के द्वारा होती है जिसके लिए हिंदुत्व म आश्रमव्यवस्था तथा संस्कार का विधान किया गया है।

इस प्रकार, काम से तात्पर्य मानव की आधारभूत जविक आवश्यकताओ और एषणाओ स है जिनकी अवहेलना नहीं की जा सकती है क्योंकि बिना उनकी पूर्ति के मानव-अस्तित्व ही असम्भव है। काम तृप्ति वाछनीय है क्योंकि काम-तृप्ति क बिना न तो जीवन और समाज का धारण हो सकता है और न धर्म का। काम की आवश्यकता तथा महत्ता को अनेक प्रकार से व्यक्त किया गया है। महाभारत म कहा गया है कि धर्म, अर्थ और काम की साधना का स्वाभाविक परिणाम है सुख, जिसस अधिक महत्त्वपूर्ण और कुछ नहीं है। सुख वाछनीय है क्योंकि सुख साधना स्व (Self) का एक विशेषता है। सदगुण और लाभ सुख के लिए ही अपनाये जाते हैं। सदगुण सुख का मूल है। सारी क्रियाओं का अन्ततोगत्वा उद्देश्य सुख है[1]। सुख, एक ओर मन की एक विशेष अवस्था है और, दूसरी ओर, जीवन का एक आधार। लेकिन, अपने इन दोनों पहलुओं के साथ, जहाँ सुख इहलौकिक है वहाँ पारलौकिक भी। सुख का एक रूप शरीरी है और दूसरा मानसिक। हिन्दू विचार म शरीर तथा मन की आवश्यकताओ की महत्ता को बराबर स्वीकार किया गया है जिसका प्रमाण यह है कि काम को जीवन का एक आदर्श मान लिया गया है। काम को एक पुरुषार्थ

[1] प्रभू के आधार पर

के रूप मे कल्पना हिंदू विचार म व्याप्त इसी मान्यता को व्यक्त करती है कि काम एषणाओं की स्वाभाविक अभिव्यक्ति आवश्यक है क्योंकि उनका दमन सामाजिक तथा मानसिक अव्यवस्थाओं को प्रोत्साहित करता है। धर्म अर्थ और मोक्ष के साथ काम के आदर्श को स्वीकार करने का तात्पर्य ही यही है कि जीवन दर्शन के पार लौकिक तथा इहलौकिक पक्षों का उचित समन्वय हो सके।

हिंदू विचार म जहाँ, एक ओर, काम की महत्ता स्वीकार की गई है और इस बात पर भी जोर दिया गया है कि पुरुषार्थ की साधना म काम-साधना एक आवश्यक आधार है वहाँ, दूसरी ओर इस तथ्य पर भी जोर दिया गया है कि काम केवल एक साधन है। किसी भी दशा म काम साध्य नहीं है। साध्य है मोक्ष, जिसका सहयोगी है आध्यात्मिक सुख, न कि शारीरी सुख। शारीरी सुख का अपना महत्व है लेकिन वह आध्यात्मिक सुख के मार्ग की केवल एक सीढ़ी है। शारीरी सुख केवल वहीं तक वाछनीय है जहा तक वह, इन्द्रिय लालुपता को शान्त करने तथा आत्मा को प्रबुद्ध करके आत्मा को शरीरी बन्धना स छुड़ाने का एक उपकरण है। इसीलिए, काम की आवश्यकता, महत्ता तथा वाछनीयता की कसौटी है धर्म। वही काम वाछनीय है जो धर्मोन्मुख हो। कौटिल्य ने काम को वाछनीय माना है न कि कामलोलुपता को। कामलोलुपता कौटिल्य के अनुसार अपयश तथा धनहीनता का कारण है। काम लोलुपता के ही कारण व्यक्ति चारों वर्गों तथा अवाछनीय पुरुषों के चक्कर म पड़ता है[1]। हिंदू विचार म काम वाछनीय तथा आवश्यक माना है लेकिन, साथ ही साथ काम मनुष्य का शत्रु भी है[2]। काम की वाछनीयता का सबसे बड़ा प्रमाण यह है कि काम के बिना प्रजनन सम्भव नहीं है जिसके कारण हिन्दू विचारकों ने विवाह तथा गृहस्थाश्रम को आवश्यक माना गया है।

इस पर एक ओर, जहाँ वैराग्य तथा संन्यास का प्रभाव रहा है वहाँ, दूसरी ओर गीता के निष्काम कर्मयोग का। धर्म की धारणा में व्याप्त धृति, क्षमा, दम अस्तेय इन्द्रिय निग्रह अभ्युदय तथा निःश्रेयस जैसे विचारों का सम्बन्ध इसी विचार परम्परा से है। यह परम्परा आध्यात्मिक तथा निवृत्तिवादी है। काम सम्बन्धी दूसरी विचार परम्परा एकदम इसके प्रतिकूल है जिसके प्रतिनिधि हैं लोकायत सम्प्रदाय तथा चार्वाक दर्शन। लोकायत तथा चार्वाक सम्प्रदायों का जीवन दर्शन नितान्त भौतिकतावादी तथा इहलौकिक है। चार्वाक ने वैदिक परम्परा उसके आध्यात्मिक सिद्धान्तों, कल्पवाद तथा पुरोहितवाद की भर्त्सना की और कल्पवाद की यह कहकर हंसी उड़ाई कि यदि ज्योतिष्टोम के अनुष्ठान में बलि दिया हुआ पशु स्वर्ग जाता है तो पशु के स्थान पर, बलि देने वाला अपने पिता की ही बलि क्यों नहीं चढ़ाता है। चार्वाक् के मत में सारे यज्ञ तथा अनुष्ठान ब्राह्मणों ने अपने स्वार्थ के लिये ढूंढ निकाले हैं। चार्वाक के लिए स्वर्ग नर्क, ईश्वर और मोक्ष कोरी कल्पनायें हैं। संसार न तो माया है और न क्षण भंगुर। संसार और मानव जीवन से बढ़कर कोई और सत्य नहीं है। इसलिए मनुष्य का यह धर्म है कि जब तक जियें सुख से जियें और ऋण लेकर भी घी पियें। यह देह तो भस्मीभूत (नाशवान) है इसका पुनरागमन कहाँ होता है ?' लेकिन, ऐसे विचारों की परम्परावादियों तथा जैनों और बौद्धों ने बराबर भर्त्सना की है। तीसरा मत मनु का है जिसमें धर्म अर्थ और काम के उचित समन्वय पर जोर दिया गया है। मनु के अनुसार, एक आदर्श सम्राट् धर्म अर्थ और काम की उचित महत्ता को जानता है[1]। इस प्रकार हिन्दू विचार परम्परा में, एक ओर, काम से उत्पन्न सुख की साधना पर जोर दिया गया है और दूसरी ओर, उसे एक न्यूनतम शरीरी आवश्यकता मान कर और उसे वैराग्य तथा संन्यास की ओर उन्मुख करके, मोक्ष का एक साधन माना गया है। हिन्दू विचारधारा पर पारलौकिकता का इतना प्रभाव रहा है कि काम को यहाँ के अधिकतर विचारकों ने अवांछनीय वांछनीयता के रूप में ही देखा है। इसका परिणाम यह हुआ है कि मानव जीवन में काम की अभिव्यक्तियों के जितने साधन और प्रकार हैं उन्हें जहाँ उचित माना गया है वहाँ, साथ ही साथ उन्हें अनुचित भी कहा गया है।

काम के साधनों में नारी का मुख्य स्थान है और इसी कारण काम धारणा सम्बन्धी विचार परम्परा में नारी सौन्दर्य के आदर्श और उसके रहस्य का काफी वर्णन है। नर-नारी के संसर्ग से उत्पन्न सुख का स्रोत विवाहित प्रेम के आदर्श में माना गया है। यही कारण है कि नारी के आदर्श-सौन्दर्य का वर्णन पत्नी और माँ[2] के रूप में किया गया है। गरुड़ पुराण में कहा गया है कि 'वही स्त्री अपने पति की सच्ची पत्नी

---

1 गोखले, बी० जी० वही पृष्ठ 76–77

2 जननी जन्मभूमिश्च स्वर्गादपि गरीयसी—गीता

है, जो अपने पति से मीठे ढंग से बोलता है, गृह-कार्य के प्रबन्ध में चतुर है जिसका स्वत्व पति के स्वत्व से मिल गया है और जो अपने स्वत्व को पति के सुख के लिए अर्पित कर देती है। जिस पुरुष की पत्नी चन्दन के रूप में अपने शरीर को सजाती है, नित्यप्रति स्नान के बाद अपने शरीर को इत्रादि से सुवासित करती है, कम खाना खाती है और कम तथा मीठा बोलती है सब अपने पति में आसक्ति रखती है और अपने पति की प्रजनन इच्छाओं की पूर्ति के लिए सदैव तयार रहती है तथा गृहस्थी के सुख और समृद्धि के लिए दयामय सद्गुणी कार्यों में रत रहती है, वह पुरुष, वास्तव में, मनुष्य नहीं वरन स्वर्ग का देवता है[1]।

हिन्दू विचारधारा में नर-नारी के नैसर्गिक खिंचाव को काम का साधन माना गया है। नर नारी का नैसर्गिक खिंचाव ही प्रेम है जिसकी तीन प्रकार की अभिव्यक्ति मिलती है। नर-नारी के प्रेम की एक अभिव्यक्ति है दाम्पत्य-जीवन जो गृहस्थाश्रम का आधार है। इस सन्दर्भ में, रूमानी प्रेम एक सतत अभिलाषा नहीं है वरन दाम्पत्य जीवन का पूर्व रूप है। शकुन्तला-दुष्यन्त मालती-माधव नल-दमयन्ती और शिव शक्ति की कथायें इसका उदाहरण हैं। इसका दूसरा रूप है एक सतत आध्यात्मिक अभिलाषा का जिसकी अभिव्यक्ति कृष्ण की लीलाओं तथा विद्यापति और चंडीदास के गानों में हुई है। इस सन्दर्भ में, नर-नारी को आदि पुरुष तथा आदि प्रकृति के रहस्यात्मक प्रणय समझा गया है। नर-नारी का समागम, शरीर तथा आत्मा के नैसर्गिक संगम का रूप है। काम इसी रहस्य की आवश्यक अभिव्यक्ति है जिसकी व्याख्या काम-शास्त्र और तन्त्रों में की गई है। खजुराहो के मन्दिर में बने कामाभिव्यक्ति के मूर्ति चित्र ऐसे रहस्य की कलात्मक अभिव्यक्तियाँ हैं। साहित्य में इसी रहस्य को शृङ्गारिकता की शैली में व्यक्त किया गया है। यही शैली आगे चलकर, नायिका भेद तथा नख शिख वर्णन की साहित्यिक परम्परा में प्रस्फुटित हुई। 'राधा' और 'त्रिपुर सुन्दरी' इसी रहस्यात्मक अभिव्यक्ति से उत्पन्न धारणायें हैं।

हिन्दू विचारधारा में शृङ्गारिक अभिव्यक्ति का एक आधार आध्यात्मिक है और दूसरा ऐहलौकिक। ऐहलौकिक शृङ्गारिक प्रेमाभिव्यक्ति का प्रतीक है गणिका। हिन्दू विचारधारा में नारी के दो रूप हैं—एक पत्नी का और दूसरा गणिका का। गणिका नर-नारी के नैसर्गिक खिंचाव की तीसरी अभिव्यक्ति है। 'राधा' और 'त्रिपुर सुन्दरी' यदि आध्यात्मोन्मुख प्रेमिका के धारणात्मक रूप है तो गणिका इहलौकिक रूमानी प्रेम की अभिव्यक्ति का साधन है। गणिका की धारणा अनेक रूपों में अभिव्यक्त हुई है। आम्रपाली, नगरवधू, विषकन्या और देवदासी उसके मुख्य रूप हैं। हिन्दू विचारधारा में, गणिका का एक लम्बा इतिहास है जिसका प्रारम्भ वैदिक काल से होता है। बौद्ध ग्रंथों में गणिका और उनके कृत्यों के यहाँ-वहाँ अनेक वर्णन मिलते हैं। कौटिल्य ने

1 गोखले, बी० जी० वही पृष्ठ 79

गणिका को समाज का एक आवश्यक अंग माना है और कूटनीति, गुप्तचर और दूती के कार्यों में उसके महत्व का स्वीकार किया है। लेकिन, साथ ही साथ, कौटिल्य ने गणिका के व्यवहार तथा पेशे पर नियन्त्रण रखने की राय दी है। वात्स्यायन ने काम सूत्र म गणिका और उसकी कलाओ का विशद वणन करके उसके ससग मे मिलने वाल सुख को वाछनीय माना है। इसलामी प्रभाव के अन्तगत नारी के गणिका रूप को और भी प्राधान्य मिला। इस युग म जसा कि गोखले ने लिखा है समाज की सुसस्कृत रुचियो का केन्द्र नतकी गायिका वश्या और गणिका ही गइ। सस्कृत नाटका की व्याख्या करते हुए कीथ ने लिखा है कि यहाँ बहुपत्नीत्व का विलासिता के साथ साथ, पुरुष के लिए गणिका के ससग की विलासिता भी वाछनीय है। यहाँ पुरुष की बौद्धिक रुचियो का केन्द्र पत्नी नही वरन गणिका है। साहित्य कला सगीत, नृत्य और नाटक का बौद्धिक सुख पुरुष का गणिका और उसके सहयोगिया के ससग स मिलता है[1]।

इसी सन्दभ म, हिन्दू विचारधारा मे व्याप्त नारी के प्रति द्विविधापूण विचारो को समझा जा सकता है। नारी एक ओर, पत्नी है पुरुष की पूरक तथा अर्द्धांगिनी है और दूसरी ओर प्रेमिका है। प्रेमिका के रूप म, एक ओर नारी प्रतीक है एक सतत रहस्यात्मक अभिलाषा की पुरुष के प्रति सतत आकर्षित प्रकृति की या चतन्य को आकृष्ट करने वाली माया की और दूसरी ओर, गणिका अथवा इहलौकिक प्रेमिका की—वह प्रेमिका जो पुरुष के बौद्धिक उद्दीपन का सबल है। पत्नी के रूप मे नारी केवल त्याग तथा तपस्या की मूर्ति है उसका स्वत्व केवल पति मे है। पतिव्रता का आदश ही यही है कि मन वचन, कम से पत्नी अपने को पति म लीन कर द और अधे, बहरे क्रोधी तथा दीन पति का भी अपमान न करे। कथा म ऐसी पतिव्रता का भी वणन मिलता है जो अपन पति की इच्छा पूण करने के लिये उसे वश्या के पास ले गई थी। किन्तु गणिका के समक्ष पुरुष का स्वत्व नही है। हिन्दू विचारधारा म पत्नी और प्रेमिका अलग-अलग रही हैं। यही कारण है कि जहाँ नारी पत्नी है मा है पूज्य है वहाँ वह प्रमदा भी है। जहा, एक ओर, नारी नर की खान है वहा, दूसरी ओर, वह नरक का द्वार भी है। गणिका को भी, एक ओर, वाछनीय माना गया है किन्तु, दूसरी ओर उसकी भत्सना की गई है। मनु ने गणिका को चोर और ठगों की श्रेणी म रक्खा है। गौतमधमशास्त्र में यह कहा गया है कि गणिका की हत्या करने वाले को कोई पाप नही लगता है और न वह किसी दण्ड का भागी ही होता है। सगीत तथा नृत्य का सम्बन्ध गणिका स रहा है। अत, उसे भी अवाछनीय माना गया है। धमशास्त्रो म यह भी विधान है कि गणिका तथा अभिनेता की साक्षी (गवाही) अमान्य है।

---

1 गोखले बी० जी० : वही पृष्ठ 79, 80, 81

काम-परम्परा की विचारधारा ने साहित्य में सुखानुभूति की अभिव्यक्ति के लिये रस सिद्धान्त को जन्म दिया। सौन्दर्य सुख का उद्दीपक है। अतः, सौन्दर्यशास्त्र को काम परम्परा की विचारधारा के अन्तर्गत रक्खा जा सकता है। कविता, नाटक, चित्रकला, संगीत और वस्तुकला इसी के अन्तर्गत आते हैं। कविता, सिद्धान्त का आधार है रस सिद्धान्त। रस से तात्पर्य है मानव मस्तिष्क में निहित भाव प्रकारों में। मुख्य रस हैं आठ—शृंगार हास्य करुणा रौद्र, वीर भयानक वीभत्स और अद्भुत। शान्त रस सम्भवतः जैनों और बौद्धों द्वारा निर्धारित किया हुआ है। रस की अभिव्यक्ति ध्वनि द्वारा होती है। लेकिन रस की अनुभूति के लिये रसिक का होना आवश्यक है क्योंकि रस से उत्पन्न सुखानुभूति मानव-मस्तिष्क की वस्तु है। हिन्दू विचारधारा में प्रतिपादित रस सिद्धान्त इस बात का प्रमाण है कि यहां सौन्दर्य-सुख को जीवन का एक अंग माना गया है किन्तु साथ ही साथ उसे अवांछनीय भी। बौद्ध विहारों के सदस्यों के लिये संगीत तथा वाद्य संगीत सुनने की तथा नृत्य, नाटक (यहां तक कि कठपुतलियों का तमाशा तक) देखने की मनाही थी। धर्मशास्त्रों में कला सम्बन्धी पक्षों को हेय मानने की प्रवृत्ति मिलती है[1]।

काम के अन्य साधनों के प्रति भी इसीप्रकार द्विविधापूर्ण विचारधारा मिलती है। अनेक साक्षियों के आधार पर गोखले ने यह दिखाया है कि सुन्दर भोजन तथा वस्त्र पेय सुवासित अंगराग अलंकार आखेट संगीत तथा अन्य कलायें और त्यौहारों पर मनाई जाने वाली खुशियां हिन्दू जीवन का आधारभूत अंग रही है। समाज, गोष्ठी तथा आपानक का वर्णन मिलता है। समाज से तात्पर्य है एक प्रकार के क्लब जैसे संगठन से जहां कविता पाठ नृत्य तथा संगीत का आयोजन होता हो। गोष्ठी से तात्पर्य उस संगठन से है जहां साहित्य तथा कला सम्बन्धी विषयों की चर्चा की गई हो। आपानक से तात्पर्य है उस पार्टी से जो मदिरा-सेवन के लिये आयोजित होती हो और। ये तथ्य इस बात के प्रमाण हैं कि जीवन में भौतिक सुखों का साधना एक वांछनीय आवश्यकता है। लेकिन साथ ही साथ हिन्दू विचार में इस तथ्य पर भी जोर दिया गया है कि शरीर नश्वर है संसार माया है सभी कुछ नश्वर है, मानव जीवन में शरीर नहीं आत्मा अधिक श्रेयस्कर है। विषयासक्ति में उत्पन्न सुख की अनुभूति भ्रम ही है जैसे हड्डी चबाने वाले कुत्ते के मुंह से निकलने वाले खून के स्वाद से कुत्ते को होती है। यह सत्य है कि हिन्दू विचार में गृहस्थाश्रम को सभी आश्रमों का आधार माना गया है और उसकी महिमा गाई गई है। लेकिन, साथ ही साथ इस तथ्य पर भी जोर दिया गया है कि गृहस्थाश्रम केवल साधन है, साध्य नहीं। काम पुरुषार्थ है अवश्य लेकिन काम ही श्रेयस्कर नहीं है। मानव जीवन का साध्य है निष्काम कर्म—वह कर्म जो आवश्यक है जिसकी अवहेलना नहीं

1 गोखले, बी० जी० वही पृष्ठ 67

की जा सकती किन्तु जिसके परिणाम के प्रति कर्ता की आसक्ति न हो। इसीलिये, उपमा के तौर पर कहा गया है कि मनुष्य को इस संसार में वैसे ही रहना चाहिये जैसे पानी में कमल रहता है।

हिन्दू विचार में अर्थ तथा काम-सम्बन्धी विचारधारा इहलौकिक भी है और पारलौकिक भी। वेदों में जिस मानव जीवन की कल्पना की गई है वह इहलौकिक है। पुराण तथा उपनिषदों पर पारलौकिक विचारधारा का प्राधान्य है। बुद्धवाद को एक प्रकार से इहलौकिक पारलौकिकता का हामी है क्योंकि बुद्धवाद में, जहां, एक ओर, इस जन्म के कर्मों पर जोर दिया गया है, ईश्वर की सत्ता को अस्वीकार किया गया है वहां, दूसरी ओर आवागमन को माना गया है, इन्द्रिय निग्रह, अस्तेय और दम पर जोर दिया गया है, सभी कुछ शून्य माना गया है और मानव जीवन का सर्वोत्कृष्ट साध्य माना गया है कैवल्य अथवा मोक्ष। गीता में भी इसी इहलौकिक पारलौकिता के विचार का प्राधान्य है। वेदान्त दर्शन भी पारलौकि विचारधारा से ओतप्रोत है। शंकराचार्य का शिववाद और कालान्तर में उत्पन्न होने वाला भक्ति आन्दोलन भी पारलौकिक विचारधारा से प्रभावित है। महात्मागांधी द्वारा प्रतिपादित सत्याग्रह तथा सत्याग्रही की धारणाओं पर सन्तोष इन्द्रिय निग्रह, अस्तेय और दम की विचारधाराओं का प्रभाव है। इस प्रकार हिन्दू विचारधारा, एक ओर, इहलौकिक रही है और दूसरी ओर पारलौकिक। जैसा कि पहले कहा जा चुका है गोखले के अनुसार, भारतीय इतिहास में बार बार उत्पन्न होने वाली संकटापन्न तथा विपन्न परिस्थितियों ने हिन्दू विचार को पारलौकिक बना दिया है। लेकिन यहां प्रश्न उठता है कि क्या हिन्दू विचारधारा में व्याप्त पारलौकिकता का विचार केवल इतिहासजन्य है या उसका कोई सामाजिक मनोवैज्ञानिक महत्व भी है। इस प्रश्न पर विचार करने के लिये चौथे पुरुषार्थ अर्थात् मोक्ष की व्याख्या आवश्यक है।

४

मोक्ष

मोक्ष शब्द का प्रयोग कई अर्थों में होता है जिनमें से मुख्य ये हैं—विमोचन, छुड़ाना, पलायन स्वतन्त्रता उद्धार, प्रस्थान अर्पण मृत्यु, छोड़ना, अधःपतन, गिरना बिखेरना, दायित्व निभाना ग्रहण की समाप्ति और जन्म तथा मृत्यु के चक्र से छुटकारा पाना। किन्तु पुरुषार्थ की धारणा में मोक्ष से तात्पर्य है आवागमन से छुटकारा पाना। हिन्दू विचार में सारा संसार ईश्वर अथवा ब्रह्ममय है। जीव उसी ईश्वर का अंश है। अद्वैतवादी दर्शन में जीव ईश्वर का वह अंश है जो माया से आवृत्त है। जीव ईश्वर से उत्पन्न हुआ है और ईश्वर में लीन होने की उसमें प्रवृत्ति है। शरीर

१।

प्राप्त करने का एक अवसर है। वर्णाश्रम व्यवस्था उस उच्चतम उद्देश्य को प्राप्त करने का मुख्य माध्यम है। आश्रम का अर्थ है अवस्था। आश्रम-व्यवस्था से तात्पर्य है ब्रह्मचर्य, गृहस्थ, वानप्रस्थ और संन्यास की उन अवस्थाओं से जिनसे गुजरता हुआ और जिनके माध्यम से हुई शिक्षा दीक्षा से व्यक्ति अपने को इस प्रकार अनुशासित करता तथा ढालता है कि वह अपने उद्देश्य के समीप पहुँच जाय। वर्ण से तात्पर्य समाज में मनुष्य के स्थान से है। समाज में मनुष्य आश्रम तथा वर्ण के अनुसार कर्म करता हुआ मोक्ष की ओर अग्रसर होता है। पुरुषार्थ वह उपकरण है जिसके द्वारा व्यक्ति—एक ओर, वर्णाश्रम का साधता है और, दूसरी ओर जीवन के उच्चतम उद्देश्य मोक्ष का। इसमें कोई सन्देह नहीं कि मोक्ष पारलौकिक है और मोक्ष में वैराग्य की भावना निहित है। लेकिन मोक्ष नितान्त पारलौकिक नहीं है। बिना अर्थ और काम की साधना के मोक्ष की साधना नहीं हो सकती। धर्म अर्थ और काम की साधना से ही मोक्ष की साधना हो सकती है। मोक्ष धर्म, अर्थ और काम की साधना की प्रक्रिया की स्वाभाविक परिणति है। जैसा कि पहले कहा जा चुका है मोक्ष का सम्बन्ध व्यक्ति से है। लेकिन साथ ही साथ, मोक्ष का सम्बन्ध उस व्यक्ति से है जिसका सामाजीकरण हो चुका है अर्थात् जिसने धर्म, अर्थ तथा काम की साधना कर ली है। इसीलिये कहा गया है कि बिना सामाजिक ऋण चुकाये अर्थात् बिना धर्म अर्थ तथा काम की साधना किये, व्यक्ति को मोक्ष नहीं मिल सकता है और न उसे मोक्ष की साधना करनी ही चाहिये।

यह पहले ही कहा जा चुका है कि मोक्ष जीव के उद्विकास की एक अवस्था है जिसकी ओर जीव स्वभावतया उन्मुख है। यह स्वाभाविक उन्मुखता मानव जीवन में प्रधानतम स्थान ग्रहण कर लेती है क्योंकि सभी जीवों में मानव उच्चतम है और उस रहस्यमयी सत्ता के अधिकतम समीप है। अतः, जीवन को मोक्षोन्मुख बनाना मानव जीवन का धर्म है। धर्म इस स्वाभाविक उन्मुखता को उसकी स्वाभाविक गति प्रदान करता है। यह अवश्य है कि धर्म मोक्ष का एकमात्र साधन है। लेकिन यहाँ प्रश्न उठता है कि वे कौन से धर्मोन्मुख उपाय हैं जिनके माध्यम से मोक्ष प्राप्त किया जा सकता है। इसका उत्तर यह दिया गया है कि वासना और मोक्ष परस्पर विरोधी हैं। अतः संसार के प्रति वीतराग होने से मोक्ष मिलता है क्योंकि मोक्ष वह अवस्था है जहाँ जीव इतना वीतराग हो जाता है कि वहाँ न तो वासना रह जाती है और न कर्म की आवश्यकता। इसी दृष्टिकोण से, गीता में कहा गया है कि मोक्ष उसे मिलता है जो कर्मरत होने पर भी स्थितप्रज्ञ है जिसकी कर्मफल में आसक्ति नहीं है, जिसके लिये जय पराजय तथा सुख-दुःख समान हैं। महाभारत में स्वधर्मपालन को मोक्ष का साधन माना गया है। स्वधर्म से तात्पर्य है व्यक्ति के वर्ण तथा आश्रम के अनुसार नियत कर्म से। किन्तु मोक्ष का साधन केवल धर्मप्राण कर्म ही नहीं है। मोक्ष का साधन है निवृत्तिमार्गी भाव से युक्त कर्म।

मनु के अनुसार, केवल धर्म-कर्म ही से मोक्ष नहीं मिलता है। धर्म कर्म से, अधिक-से-अधिक, अगले जीवन में सुख मिल सकता है। लेकिन वह परमसुख, जहां से सांसारिक अस्तित्व की पुनरावृत्ति नहीं होती है, आत्मज्ञान से मिलता है। आत्मज्ञान, एक ओर, निवृत्ति की भावना में निहित है और, दूसरी ओर, 'आत्मवत् सर्व भूतेषु' की भावना में। आत्मज्ञान का शाब्दिक अर्थ है आत्म अपना अथवा आत्मा का ज्ञान। लेकिन, इसका व्यंजनात्मक अर्थ उस ज्ञान से है जो इस अनुभूति में निहित है कि सभी प्राणियों में एक जैसी आत्मा है। अतः सभी प्राणी समान हैं और सभी उसी रहस्यात्मक आदिशक्ति के विभिन्न रूप हैं। आत्मज्ञान का तात्पर्य है आत्मा के द्वारा आत्मा का ज्ञान प्राप्त करने से। आत्मज्ञान के साधन हैं रागात्मिका प्रवृत्ति का दमन आत्म निग्रह, वेदाध्ययन तप और विद्या। भक्तिमार्गी विचारधारा में प्रपत्ति (ईश्वर के प्रति आत्मसमर्पण) को मोक्ष का प्रधान साधन माना गया है क्योंकि ज्ञानमार्ग सबके लिये सुलभ नहीं है। गीता में इन तीनों का समन्वय हुआ है। गीता के अनुसार, संसार कर्मक्षेत्र है क्योंकि संसार ही जीव को कर्म से बांधता है। जीवन यज्ञ है और कर्म उस यज्ञ की आहुति। गीता में समत्वबुद्धि से आश्रम वर्ण, देश और काल के अनुसार किये हुये कर्म को ही मोक्ष का प्रधान साधन माना गया है। लेकिन, साथ ही साथ, गीता में उस कर्म को सर्वोपरिता दी गई है जिसके पीछे प्रपत्ति और स्थितप्रज्ञता की भावना है। गीता उस ज्ञान का उपदेश है जो मनुष्य को निवृत्तिमार्गी प्रवृत्ति की ओर प्रेरित करता है।

इस विश्लेषण से यह निष्कर्ष निकलता है कि मोक्ष का सर्वोपरि साधन है। संसार तथा व्यक्ति के पारस्परिक सम्बन्ध का यथार्थ ज्ञान। गीता में कहा गया है कि जैसे प्रज्ज्वलित अग्नि ईंधन को भस्म कर देती है, वैसे ही ज्ञानरूपी अग्नि सभी कर्मों को भस्म कर देती है अर्थात् ज्ञान मनुष्य को वीतराग तथा वासनारहित बना देता है। इसीकारण, 'ज्ञान के समान इस संसार में दूसरा कुछ पवित्र नहीं है। योग में—समत्व में पूर्णता प्राप्त मनुष्य समय पर अपने आप में उस ज्ञान को पाता है श्रद्धावान, ईश्वरपरायण और जितेंद्रिय पुरुष ज्ञान को पाता है और ज्ञान पाकर तुरंत परम शांति को पाता है'[1]। 'संन्यासी और योगी वह है जो कर्मफल पर अनाश्रित होकर कर्म करता है न कि समस्त क्रियाओं का त्याग करने वाला। 'संन्यास योग है और योग का अर्थ है मन के संकल्पों का त्याग'[2]। इससे यह निष्कर्ष निकलता है कि निवृत्ति ज्ञान की वह अवस्था है जिसमें व्यक्ति को समत्व बुद्धि मिलती है। यह ज्ञान की वह अवस्था है जहां मनुष्य के लिये ऊंच-नीच जन्म-मृत्यु, जवानी बुढ़ापा, सुख-दुख और युद्ध तथा शांति सब इसलिये समान स्थान हैं कि ये

1 गीता 4/37,38,39
2 गीता 6/1,2

सब किसी एक रहस्य से प्रेरित है। मोक्ष की धारणा व्यक्ति को इस ज्ञान की ओर प्रेरित करती है क्योंकि यह ज्ञान ही मोक्ष की अंतिम सीढ़ी है। किंतु, यह ज्ञान तभी मिल सकता है जब व्यक्ति को अपने शरीर तथा उसकी आवश्यकताओं और समाज तथा उसकी आवश्यकताओं का ज्ञान हो। यह ज्ञान उसी को मिल सकता है जिसने शरीर तथा समाज की साधना की हो। निवृत्ति ज्ञान, शरीर तथा समाज के स्तर से ऊपर उठा हुआ ज्ञान है।

मनुष्य के जीवन का आधार न केवल रोटी है और न केवल इंद्रिय-साधना। अर्थ और काम यदि सुख देते हैं तो दुख भी। अर्थ और काम तृप्ति और अतृप्ति से हैं। तृप्ति से संतुष्टि आती है लेकिन अतृप्ति नैराश्य को जन्म देती है। नैराश्य, जैसा कि आज के सामाजिक मनोविज्ञान में माना जाता है अनेक व्यक्तिगत तथा सामाजिक व्याधियों को जन्म देता है। व्यक्ति को नैराश्य से बचाने का एकमात्र साधन है संसार तथा व्यक्ति का समत्व ज्ञान जिसमें निवृत्ति निहित है और जो मोक्ष का साधन है। इसी संदर्भ में विमोचन तथा उद्धार के अर्थ में, मोक्ष की धारणा की सार्थकता सिद्ध होती है। मोक्ष पारलौकिक की ओर उन्मुख है किंतु मोक्ष की धारणा ने इहलौकिक जीवन को ही प्रेरित किया है। यह कहा जा सकता है कि मोक्ष की धारणा को भारतीय इतिहास की संकटकालीन तथा विपन्न परिस्थितियों से बल मिला है यद्यपि इसकी उत्पत्ति का आधार यही परिस्थितियाँ ही नहीं हैं। भारतीय जन जीवन में मोक्ष की धारणा गंगा की भाँति प्रभावित होती रही है और संकट कालीन परिस्थितियों में मोक्ष की ही धारणा ने भारत में व्यक्ति तथा समाज की नैराश्य से रक्षा की है। मोक्ष की धारणा का सम्बन्ध इस विचार से है जिसमें नर को नरोत्तम और पुरुष को पुरुषोत्तम बनाने की प्रेरणा है।

५

पुरुषार्थ : समाजशास्त्रीय महत्त्व

पुरुषार्थ सिद्धांत का सम्बन्ध उस जीवन दर्शन से है जिसमें यह माना गया है कि मानव जीवन का सम्बन्ध इहलोक और परलोक दोनों से है। एक ओर दीर्घायु मानव जीवन की ओर दूसरी ओर, एक साथ समृद्धि तथा मोक्ष की अभिलाषा इसका प्रमाण है। धर्म की धारणा के एक अंग के रूप में पुरुषार्थ सिद्धांत दोनों छोरों के साधन को एक सामञ्जस्य में लाने का प्रयास है। पुरुषार्थ सिद्धांत इस मान्यता पर आधारित है कि मानव-स्वभाव के अनेक पहलू हैं जिन्हें एक जीवन सिद्धांत में संगठित किया जा सकता है। स्वभावतया, एक ओर, मानव शारीरी आवश्यकताओं से बँधा है और दूसरी ओर, बौद्धिक आवश्यकताओं से, मानव

जीवन में, एक ओर, बौद्धिक आवश्यकतायें है और, दूसरी ओर, आध्यात्मिक, मानव जीवन, एक ओर, भावोन्मुख है और, दूसरी ओर, सौन्दर्योन्मुख। मानव की प्रकृति ही ऐसी है कि मानव अस्तित्व स्वभावतया बहुमुखी है। ये बहुमुखी आवश्यकतायें परस्पर विरोधी भी हैं, लेकिन मानव जीवन में उनका अपना स्थान है जिसकी अवहेलना नहीं की जा सकती। बिना उनकी अभिव्यक्ति के मानव-जीवन अपूर्ण रहेगा। मानव तभी मानव रहेगा जब उनका उचित स्थान मिले। सुगठित व्यक्तित्व के विकास के लिये यह आवश्यक है कि इन आवश्यकताओं के सापेक्षिक महत्व को स्वीकार करके, इनमें प्रत्येक को मानव जीवन में उचित स्थान दिया जाय। पुरुषार्थ सिद्धान्त से, मानव-जीवन में, इन आवश्यकताओं की अभिव्यक्ति के सामञ्जस्य का निर्धारण करने का प्रयास किया गया है। पुरुषार्थ सिद्धान्त वह शास्त्र विधान है जिसके द्वारा इन आवश्यकताओं की पूर्ति के तरीके और मर्यादाएं निर्धारित होती हैं। पुरुषार्थ सिद्धान्त में ऐहलौकिक भौतिक अभिलाषाओं तथा आध्यात्मिक जीवन को एक सामञ्जस्य में लाने का प्रयास निहित है।

पुरुषार्थ की साधना से जहाँ एक ओर मानव की यौन आवश्यकता, प्रजनन एषणा और अधिकार तथा समृद्धि के प्रति उसकी लालसा की तृप्ति होती है वहाँ, दूसरी ओर, पुरुषार्थ से मानव के कलात्मक तथा सांस्कृतिक जीवन की ओर इस संसार से ऊपर उठकर परमात्मा में लीन होने की साधना पूरी होती है। पुरुषार्थ का सम्बन्ध सम्पूर्ण मानव जीवन से है न कि उसके किसी अंग विशेष से। मानव जीवन की आशाओं तथा उच्चाकांक्षाओं, उसकी संयमी तथा विलासी प्रवृत्तियों और उसमें निहित उदात्तीकरण तथा आध्यात्मीकरण की भावनाओं की सन्तुष्टि पुरुषार्थ से होती है। द्वितीय तथा तृतीय पुरुषार्थ (अर्थ और काम) मानव की ऐहिक अभिरुचियों, क्रियाओं और प्रयासों के प्रतीक हैं, जबकि धर्म और मोक्ष पारलौकिक अभिरुचियों, क्रियाओं तथा प्रयासों के। अर्थ, काम और मोक्ष परस्पर धर्म द्वारा जुड़े हुए हैं। मनुष्य में पशुत्व और देवत्व का समावेश हुआ है। पुरुषार्थ मनुष्य को देवत्व की ओर ले जाता है क्योंकि पुरुषार्थ मानव क्रियाओं को एक आदर्श जीवन दर्शन में संगठित करके, मानव की आध्यात्मिकता की प्राप्ति के प्रयास में सहायक होता है[1]।

प्रभु के अनुसार पुरुषार्थ सिद्धान्त से हिन्दू-सामाजिक जीवन के मनोवैज्ञानिक तथा नैतिक (Psycho moral) आधारों को समझने में सहायता मिलती है। पुरुषार्थ सिद्धान्त से यह स्पष्ट होता है कि हिन्दू-जीवन-दर्शन में धर्म सबसे महत्वपूर्ण है और काम की महत्ता सबसे कम है। अर्थ का स्थान धर्म और काम के मध्य में आता है। मोक्ष का स्थान धर्म से बढ़कर है लेकिन, वास्तविक जीवन में, धर्म की प्रधानता इसलिये बन जाती है कि वह मोक्ष का एकमात्र साधन है। पुरुषार्थ से यह

1 कपाडिया, के० एम० मैरिज एण्ड फेमिली इन इण्डिया पृष्ठ 25, 26, 27

भी पता चलता है कि सिद्धान्ततः मानव-जीवन में धर्म अर्थ तथा काम के उचित समन्वय की आवश्यकता है। पुरुषार्थ का सम्बन्ध व्यक्ति तथा समाज दोनों से है। पुरुषार्थ से, एक ओर व्यक्ति तथा समाज के सम्बन्धों के नियमों के औचित्य का प्रतिपादन होता है, उनकी क्रियाओं के उचित पारस्परिक सम्बन्धों की परिभाषा होती है और, दूसरी ओर, पुरुषार्थ की धारणा में सन्निहित प्रत्यक्ष तथा अप्रत्यक्ष विचारों से यह भी पता चलता है कि व्यक्ति तथा समाज के अनुचित सम्बन्ध क्या हो सकते हैं और उनमें किस प्रकार छुटकारा पाया जा सकता है। पुरुषार्थ से व्यक्ति तथा समाज और उनके पारस्परिक सम्बन्ध नियन्त्रित होते हैं[1]।

---

1 प्रभु, पा० एच० वही पृष्ठ 70 83

सातवाँ अध्याय

संस्कार तथा आश्रम

आश्रम, संस्कार और पुरुषार्थ

हिन्दू विचारधारा में पुरुषार्थ धर्म का मुख्य साधन है। पुरुषार्थ का सम्बन्ध समाज में व्यक्ति के उस क्रमिक विकास में है जिसमें उसकी लौकिक तथा आध्यात्मिक, इहलौकिक तथा पारलौकिक, जैविक तथा मानसिक और वैयक्तिक तथा सामाजिक आवश्यकताओं की पूर्ति होती है। मानव जीवन गर्भाधान, जन्म, विकास और मृत्यु के जीवन चक्र में चलता रहता है। हिन्दू विचारधारा में मानव जीवन चक्र को दो रूपों में देखा गया है—एक है आवागमन का चक्र जिसमें आत्मा विभिन्न योनियों में होती हुई मनुष्य योनि में आती है और वहाँ से, यदि जीव का जीवन धर्मानुसार हुआ तो, मोक्ष के माध्यम से उस परमशक्ति में लीन हो जाती है जो उसका मूल स्रोत है। दूसरा चक्र है व्यक्ति के जीवन का। इस चक्र में गर्भाधान, जन्म, विकास तथा मृत्यु का चक्र चलता रहता है और इसी जीवन चक्र पर व्यक्ति आते जाते रहते हैं। पुरुषार्थ का सम्बन्ध दोनों प्रकार के जीवन चक्रों से है क्योंकि पुरुषार्थ, एक ओर, व्यक्ति के क्रमिक विकास में सहायता देता है तो, दूसरी ओर, व्यक्ति को आवागमन के चक्र से छुटकारा भी दिलाता है।

गर्भाधान, जन्म, विकास तथा मृत्यु प्राणी के जैविक गुण हैं। जैसा कि पहले

कहा जा चुका है समाज की उत्पत्ति मानव के जविक गुणा मे हुई है। प्रजनन और अतिजीविता जीव की आधारभूत विशषतायें है। प्राणी का जीवन चक्र समाज म चलता है। मानव-समाज संस्कृतिमय है। अत मानव समाज मे व्यक्ति का जीवन चक्र सस्कृतिमय हो गया है। अर्थात गर्भाधान जन्म, विकास तथा मत्यु के साथ अनेक आदश नियम तथा अनुष्ठान जुड गए है। य अनुष्ठान सवत्र पाय जाते हैं यद्यपि इनकी अभिव्यक्ति देश काल और सामाजिक आदश के अनुसार अलग अलग समाजो म अलग अलग पाई जाती है। मानवशास्त्रियो ने इन अनुष्ठानो को राइटस आफ पँसेज (Rites of Passage) की सज्ञा दी है क्योकि इन अनुष्ठानो के द्वारा एक ओर, व्यक्ति का सामाजीकरण होता है उस उसकी उचित तथा आवश्यक सामाजिक प्रतिष्ठा (Social Status) और भूमिका (Role) मिलती है और दूसरी ओर, जैविक तथा मानसिक विकास क्रम के जीवन चक्र म उसे एक अवस्था स दूसरी अवस्था तक पहुचने मे सहायता मिलता है। जन्म विवाह तथा मत्यु से सम्बन्धित और सवत्र पाये जाने वाले अनुष्ठान इसका प्रमाण है। मानव-समाज म राइटस आफ पँसज (Rites of Passage) व्यक्ति के सामाजीकरण (Socialization) तथा सस्कृतिकरण (Enculturation) का मुख्य माध्यम हैं[1]।

---

1 चपेल (Chapple) और कून (Coon) के अनुसार जीवन चक्र दो प्रकार के होते ह—एक वयक्तिक तथा दूसरा सामाजिक। वयक्तिक जीवन चक्र से तात्पय व्यक्ति के जन्म विकास ह्रास और मृत्यु की जविक विशषताओ से न होकर, इनसे सम्बन्धित सामाजिक सास्कृतिक प्रथाओं से ह। इसीप्रकार, सामाजिक चक्र का अथ चक्रिक वृद्धि या परिवतन से नहीं है। सामाजिक जीवन में व्यक्ति तथा समाज को प्रभावित करने वाले कुछ नियमित तथा अनियमित परिवतन आते रहते ह जिनस सामाजिक अन्तर्क्रिया की सामान्य क्रियाशीलता में व्यवधान आ जाता ह और उस व्यवधान से जो वयक्तिक तथा सामाजिक सकट उत्पन्न होता ह वह अनुष्ठानों द्वारा दूर किया जाता ह। जन्म विवाह तथा मत्यु व सकटापन्न अनियमित परिवतन ह जो परिवार तथा सम्बन्धि वग में व्यक्ति के जीवन को प्रभावित करते ह इन परिवतनो से सम्बन्धित अनुष्ठानो को राइटस आफ पसेज (Rites of Passage) कहा गया ह क्योकि इनके द्वारा, अपने सामाजिक सम्बन्धों म व्यक्ति एक अवस्था से दूसरी अवस्था में पहुँचता ह। वर्षा का अधिक या कम या बिल्कुल न होना फसल का खराब होना महामारी फलना इत्यादि एसे सकटापन्न परिवतन ह जो सामूहिक जीवन को प्रभावित करते ह। इनसे सम्बन्धित अनुष्ठानो (जसे वर्षा लान या महामारी को भगाने के अनुष्ठानों) को राइटस आफ इटयसीफिकेशन (Rites of Intensification) कहते ह क्योंकि इनसे सामाजिक अन्तर्क्रिया और भी तीव्र हो जाती है—चपेल एण्ड कून प्रिंसिपिल्स आफ एन्थ्रापालोजी अध्याय 20 21

हिन्दू विचार के अनुसार, पुरुषार्थ की कामना वही व्यक्ति कर सकता है जिसका उचित और आवश्यक सामाजीकरण हो। पुरुषार्थ-साधना के द्वारा व्यक्ति के जैविक गुणों का प्रतिफलन और जैविक आवश्यकताओं की पूर्ति होती है। इसके लिये व्यक्ति के सामाजीकरण की आवश्यकता है जो हिन्दू विचारधारा के अनुसार संस्कार विधान तथा आश्रम व्यवस्था से पूर्ण होती है। जिन्हें मानवशास्त्री राइट्स आफ पसेज कहते हैं उन्हें हिन्दू विचार में संस्कार कहा गया है। हिन्दू-विचार में ऐसा माना गया है कि संस्कार से जीवात्मा का परिमार्जन तथा विकास होता है। संस्कार से ही व्यक्ति धर्म, अर्थ, काम और मोक्ष की अवस्थाओं तक पहुँचता है। पुरुषार्थ साधना का सम्बन्ध श्रम तथा गुण से है। श्रम का सम्बन्ध व्यक्ति की प्रयास क्षमता और गुणों का सम्बन्ध व्यक्ति की अन्तर्निहित क्षमताओं से है। जीवन चक्र में श्रम का प्रस्फुटन धीरे धीरे होता है। इसीलिए, हिन्दू विचारधारा में जीवन चक्र के आश्रमों (ब्रह्मचर्य, गृहस्थ, वानप्रस्थ तथा संन्यास) की धारणा की गई है। पहले आश्रम का सम्बन्ध पहले पुरुषार्थ से है, दूसरे आश्रम का दूसरे तथा तीसरे पुरुषार्थ से और तीसरे चौथे आश्रम का चतुर्थ पुरुषार्थ से। लेकिन आश्रमों में व्यक्ति का क्रमिक विकास संस्कार के माध्यम से होता है। इस प्रकार आश्रम तथा संस्कार, हिन्दू विचार में व्यक्ति के समाजीकरण के मुख्य माध्यम हैं। व्यक्ति के व्यक्तित्व का विकास केवल आश्रम और संस्कार पर ही नहीं निर्भर है। व्यक्तित्व-विकास में गुण एक प्रधान आधार है। गुण के ही आधार पर व्यक्ति को सामाजिक संगठन में एक स्थान मिलता है। हिन्दू विचारधारा में गुण (कर्म के साथ) सामाजिक संगठन का आधार है। गुण-कर्म पर आधारित सामाजिक संगठन वर्ण है। संस्कार वर्ण पर आधारित है और वर्ण संस्कार पर। संस्कार वस्तुतः आश्रम तथा वर्ण के बीच में आता है क्योंकि एक ओर, संस्कार आश्रम का आधार है और, दूसरी ओर, वर्ण का। लेकिन, संस्कार, आश्रम तथा वर्ण का उद्देश्य है पुरुषार्थ-साधना और पुरुषार्थ-साधना का ध्येय है धर्म साधना। इसीलिए धर्म का एक रूप वर्णाश्रम धर्म है।

२

संस्कार

संस्कार शब्द के अनेक अर्थ हैं: पूर्ण करना, शुद्ध करना, परिष्कार करना, पूर्ण, परिमार्जित, व्याकरण के शुद्धि नियम, संवर्धन, अलंकरण, मस्तिष्क संस्कार या मन की दीक्षा, तैयारी, संस्कार, रीति के अनुसार पवित्र करना, सांचे का निर्माण, विचार, धारणा, क्षमता, कार्य प्रभाव या क्रिया गुण, आत्मप्रजनन का गुण, स्मृति की क्षमता या स्मृति चिह्न, पवित्र करने वाला अनुष्ठान

और यज्ञोपवीत अनुष्ठान। इन अर्थों की तुलनात्मक व्याख्या से संस्कार से ढालने, शुद्ध, संवर्द्धित पवित्र तथा परिमार्जित करने का अर्थ निकलता है। संस्कार शिक्षा और प्रशिक्षा दोनों है। इस दृष्टिकोण से संस्कार वह है जिससे परिमार्जन हो, शुद्धता तथा पवित्रता प्राप्त हो शिक्षा दीक्षा मिले और इन सबके फलस्वरूप क्रमिक विकास हो। संस्कार केवल एक उपकरण है जिसका सम्बन्ध अंशतः मानव के जैविक पक्ष, अंशतः मानसिक पक्ष और अंशतः सांस्कृतिक पक्ष से है। संस्कार से व्यक्ति का क्रमिक विकास होता है क्योंकि संस्कार के द्वारा व्यक्ति का सामाजीकरण होता है। मानव की जैविक मानसिक विशेषताएँ, श्रम गुण और कर्म संस्कार द्वारा प्रस्फुटित तथा विकसित होती हैं।

हिन्दू विचारधारा में संस्कार का अर्थ रूढ़िगत हो गया है। संस्कार से अर्थ लिया जाता है उन अनेक अनुष्ठानों से जो व्यक्ति के गर्भाधान से लेकर अन्त्येष्टि तक किये जाते हैं। धर्मशास्त्रों के अनुसार व्यक्ति को अनेक संस्कारों से होकर गुजरना पड़ता है। धर्मशास्त्रों में संस्कार का तात्पर्य है शरीर संस्कार से क्योंकि गर्भाधान से लेकर अन्त्येष्टि तक संस्कार ही शरीर को पवित्रता प्रदान करते हैं। हिन्दू विचारधारा में ऐसा विश्वास किया जाता है कि संस्कार मानव शरीर को इहलोक तथा परलोक दोनों में पवित्र करते हैं। संस्कार व्यक्तित्व के क्रमिक विकास के परिचायक हैं। संस्कार कितने हैं ? यह मतमतान्तर का विषय है। गृह्य सूत्रों के अनुसार संस्कार लगभग चालीस है जबकि गौतम धर्मसूत्र के अनुसार संस्कार अड़तालीस हैं। एक मत के अनुसार संस्कार सोलह है जबकि मनु के अनुसार संस्कार बारह हैं[1]। साधारणतः सोलह संस्कार माने जाते हैं जिनमें बारह मुख्य हैं और यहाँ उनका ही वर्णन किया जाता है[2]।

गर्भाधान और पुंसवन

गर्भाधान का अर्थ है गर्भ रखना लेना या धारण करना। विवाह के बाद गृह प्रवेश के चौथे दिन वर वधू के मिलन के पहले, जिन अनुष्ठानों का विधान है, वे गर्भाधान संस्कारों के अन्तर्गत आते हैं। वर (पति) अग्नि में चार आहुतियाँ अर्पित करके वधू (पत्नी) से सम्भोग करते हुए जो मन्त्र पढ़ता है उसका अर्थ है हमारे मन हृदय नाभि तन और त्वचा मिले हुए हैं, मैं तुझे काम के बन्धन से बाँधता हूँ और यह

---

1 प्रभू पी० एच० वही पृष्ठ 223

2 संस्कारों के दो पहलू हैं—एक, वह पहलू जो धर्मग्रन्थों तथा धर्मशास्त्रों में प्रतिपादित किया गया है और दूसरा वह जो वास्तविक व्यवहार में देखने को मिलता है और विचरणशील है। उदाहरणार्थ, प्रभू ने यह लिखा है कि गर्भाधान संस्कार विवाह निष्पत्ति या चतुर्थी कर्म के समय किया जाता है। अवध में इसका व्यावहारिक रूप भिन्न है। यहाँ गर्भाधान के तीसरे या सातवें महीने में गर्भवती स्त्री की कोंछ भर कर यह संस्कार किया जाता है। यह प्रथा सभी जातियों और सभी परिवारों में समान रूप से नहीं पाई जाती है। यही हाल अन्य संस्कारों का भी है।

बन्धन अविमोचित रहेगा'। पत्नी को आलिंगनपाश म बाधते हुए पति यह कामना करता है कि उनका प्रेम चक्वा-चकई की भाति अटल रहगा। इसके बाद, पति विष्णु, अश्विन अग्नि और इन्द्र इत्यादि देवताओ से सुदर तथा बलिष्ठ पुत्र की प्रार्थना करता है। गर्भाधान सस्कार विवाह सस्कार का अन्तिम अनुष्ठान है[1]। गर्भाधान सस्कार उस प्रतिज्ञा की पूर्ति है जो वर-वधू परिवार चलाने के लिये, विवाह के समय करते हैं। गर्भाधान सस्कार इस बात का प्रतीक है कि सवेशन और प्रजनन विवाह का एक आवश्यक अग है। पुसवन सस्कार का तात्पय उस अनुष्ठान से है जो गर्भधारण के तीसरे महीने मे इसीलिए किया जाता है कि पुत्र ही उत्पन्न हो क्योकि पुत्र परिवार नरन्तय का मुख्य माध्यम है। गर्भाधान तथा पुसवन सस्कार जन्म के पहले के सस्कार हैं।

जातकर्म से चूडाकर्म तक

जातकर्म, नामधेय निष्क्रमण, अन्नप्राशन तथा चूडाकर्म सस्कारो का सम्बन्ध शशवी अवस्था से है। जातकर्म सस्कार जन्म के समय किया जाता है। इस सस्कार से सम्बधित अनुष्ठान मे पिता बच्चे का अवघ्रहण करता है और उसके कान म जिस मत्र का उच्चारण करता है उसम बच्चे के दीर्घायु तथा मधावी हाने की कामना रहती है। जातकर्म सस्कार के बाद पहले बच्चे के मुह म घी और शहद रखा जाता है और बाद म माँ बच्चे को स्तन पान कराती है। जातकर्म के बाद ही स्तनपान का विधान है। नामधेय सस्कार जन्म के दसवें या बारहवें दिन सम्पन्न किया जाता है। शिशु का नामकरण इस सस्कार का मुख्य उद्देश्य है[2]। निष्क्रमण-सस्कार जन्म के चौथे महीने म होता है। इस सस्कार के साथ शिशु को घर के बाहर निकाला जाता है।

---

1 प्रभू पी० एच० वही पृष्ठ 174 175

2 नामकरण, शास्त्रकारो के अनुसार अत्यन्त महत्वपूर्ण है। शास्त्रकारों के अनुसार, नाम एसा होना चाहिए जिससे व्यक्ति के परिवार, समुदाय तथा वर्ण का पता चले। मनु के अनुसार नाम, वर्ण का प्रतीक होना चाहिए। ब्राह्मण का नाम मगल और सतोष (नमवत) का सूचक होना चाहिए। नमवत के आधार पर लोगों की यह मान्यता है कि ब्राह्मण के नाम का अन्त शर्मन शब्द के साथ होना चाहिए (जैसे विष्णु शर्मा)। क्षत्रिय के नाम से बल तथा रक्षा का बोध होना चाहिए (जैसे बल वर्मा)। वैश्य के नाम से धन तथा पुष्टि (समृद्धि) का बोध होना चाहिए (जैसे वसुभूति) और शूद्र के नाम से दास भाव व्यक्त होना चाहिए (जैसे रामदीन या रामदास)। स्त्रियों के नाम उच्चारण में सरल, मनोहर और मगलसूचक होने चाहियें। उनसे किसी भी प्रकार की आक्रूरता नहीं प्रगट होनी चाहिए तथा उनकी अन्तिम मात्रा दीर्घ होनी चाहिए—प्रभू वही पृष्ठ 223-224

इस संस्कार में अनुष्ठान के तौर पर शिशु को सूर्य को अर्पित किया जाता है और वह इस बात का प्रतीक है कि इस संस्कार के बाद शिशु उस महानतम शक्ति के सम्पर्क में आता है जो इस संसार को प्रभावित करती है। निष्क्रमण संस्कार के बाद से शिशु परिवार के बाहर के सदस्यों के सम्पर्क में आना शुरू करता है। अन्न प्राशन संस्कार में जन्म के छठ महीने बाद शिशु को पहली बार दूध में उबाले हुए चावल (खीर) का माड़ चटाया जाता है। चूडाकर्म का दूसरा नाम मुण्डन भी है। इसमें शिशु के गर्भ के बाल पहली बार उतारे जाते हैं। यह जन्म के पहले या तीसरे साल में होता है।

उपनयन संस्कार बाल्यावस्था तथा किशोरावस्था के संक्रमणकाल में किया जाता है।

उपनयन सावित्री और समावर्तन

उपनयन संस्कार किस आयु में किया जाय इस पर विद्वानों में मतभेद है। विद्वानों ने अलग अलग वर्णों के लिए अलग अलग आयु का विधान किया है। कुछ विद्वानों के अनुसार ब्राह्मण का उपनयन संस्कार आठ साल की आयु में होना चाहिए क्षत्रिय का ग्यारह साल की आयु में और वैश्य का बारह साल की आयु में। याज्ञवल्क्य के अनुसार उपनयन संस्कार परिवार की प्रथा के अनुसार किसी भी उचित समय पर किया जा सकता है। उपनयन संस्कार के बाद से विद्याध्ययन प्रारम्भ होता है। इसलिए कुछ के अनुसार ब्राह्मण का उपनयन पाँचवें साल में क्षत्रिय का छठे साल में और वैश्य का आठवें साल में होना चाहिए। विद्वानों ने उपनयन संस्कार की कम से कम तथा अधिक से अधिक आयु का भी विधान किया है। इस विधान के अनुसार ब्राह्मण बालक का उपनयन संस्कार आठ से सोलह वर्ष की आयु में क्षत्रिय बालक का ग्यारह से बाईस वर्ष की आयु में और वैश्य का बारह से लेकर चौबीस वर्ष की आयु में होना चाहिए।

शूद्र के लिए उपनयन संस्कार का विधान नहीं है। हिन्दू विचारधारा में विद्वानों की ऐसी मान्यता रही है कि प्रत्येक व्यक्ति जन्म से शूद्र होता है और संस्कार से वह द्विज बनता है। द्विज से तात्पर्य है उसका जिसका दूसरा जन्म हो। एक जन्म माँ के गर्भ से होता है और दूसरा उपनयन-संस्कार से। उपनयन संस्कार पुरुषार्थ की साधना में पहला चरण है क्योंकि उपनयन संस्कार के बाद से ही व्यक्ति विद्या आरम्भ करके आचार्यकुलवासी होता है और धर्म के स्वरूप को समझने का प्रयत्न करता है। उपनयन-संस्कार के फौरन बाद से ही आचार्य शिष्य को शौच (स्वच्छता) और आचार (सदाचार) की शिक्षा देता है जिसका तात्पर्य यह है कि शौच तथा आचार की दीक्षा उपनयन संस्कार के बाद से ही प्रारम्भ होती है। उपनयन संस्कार से व्यक्ति का वस्तुतः दूसरा जन्म होता है। उपनयन संस्कार के साथ व्यक्ति वस्तुतः क्रियाशीलता कर्तव्यों उत्तरदायित्वों प्रत्याशाओं तथा आकांक्षाओं के उस संसार में जन्मता है जिसमें रहने के लिए उसे अपने को तैयार करने की शिक्षा दीक्षा लेनी है।

उपनयन संस्कार के बाद से ही व्यक्ति का सक्रिय सामाजिक जीवन प्रारम्भ होता है। इसलिए उपनयन संस्कार का सर्वाधिक सामाजिक महत्त्व है। उपनयन संस्कार को मानवशास्त्र की भाषा में राइट आफ इनीसियेशन (Pite of Initiation) की संज्ञा दी जा सकती है क्योंकि उपनयन से व्यक्ति के सक्रिय सामाजिक जीवन तथा उसकी शिक्षा का सूत्रपात होता है। सूत्रपात संस्कार (Rites of Initiation) सभी पाए जाते हैं यद्यपि उनकी अभिव्यक्ति अलग अलग समाजों में अलग अलग है।

उपनयन को यज्ञोपवीत भी कहा जाता है। यज्ञोपवीत से तात्पर्य जनेऊ से है। उपनयन संस्कार में यज्ञोपवीत धारण किया जाता है। यज्ञोपवीत दो प्रकार से धारण किया जाता है—एक मंडप के नीचे वेदी रचकर और दूसरा विवाह के समय। विवाह के समय पहने जाने वाले जनेऊ को दुर्गा जनेऊ कहते हैं। ब्राह्मणों में दोनों प्रकार से जनेऊ धारण किया जाता है। कुमार अवस्था में तीन तागे का जनेऊ धारण कि[illegible]जाता है और दुर्गा जनेऊ के बाद से छः तागे का। क्षत्रियों और वैश्यों में, [illegible]के समय जब दुर्गा जनेऊ का संस्कार होता है तो छः तागे का जनेऊ धारण किया जाता है। ऐसा माना जाता है कि जनेऊ के तीन तागे तीन ऋणों (देव ऋण ऋषि-ऋण और पितृ ऋण) के परिचायक हैं। इन ऋणों को चुकाना व्यक्ति का कर्तव्य है क्योंकि ये सामाजिक ऋण हैं। विवाह के समय दोहरा जनेऊ धारण करने का तात्पर्य यह है कि पुरुष स्त्री के भी सामाजिक ऋणों को अपने ऊपर लेता है। ब्राह्मण वर्ण के लोगों का उपनयन संस्कार वेदी रचकर होता है और क्षत्रिय तथा वैश्य वर्ण के लोगों का साधारण तौर पर।

उपनयन-संस्कार का सामाजिक मानसिक महत्त्व है और यह महत्त्व इस संस्कार से सम्बन्धित अनुष्ठानों से स्पष्ट होता है। जिस बालक का उपनयन संस्कार होता है उसे यदि वह ब्राह्मण हुआ तो मूंज की, यदि क्षत्रिय हुआ तो प्रत्यंचा की और यदि वैश्य हुआ तो ऊन के धागे की करधनी पहनाने का विधान है। फिर उसके हाथ में एक डण्डा दिया जाता है और फिर उसके शरीर पर यज्ञोपवीत धारण करवाया जाता है। इन उपकरणों के साथ बालक विद्याध्ययन के लिए तत्पर हुआ समझा जाता है। आचार्य फिर उससे पूछता है कि क्या वह ब्रह्मचर्य का व्रत लेने के लिए तत्पर है? कुमार के हां कहने पर आचार्य उसे अपना शिष्य बना लेता है और फिर उसे 'काम-ब्रह्मचारिन' की संज्ञा देकर, गायत्री मंत्र की दीक्षा देता है। हिन्दू-जीवन में गायत्री मंत्र का महत्त्वपूर्ण स्थान है। इसे सावित्री मंत्र भी कहते हैं। इसका त्रिकाल संध्या में उपयोग होता है। सावित्री मंत्र की दीक्षा उपनयन-संस्कार में सम्बन्धित है। धर्मशास्त्र में सावित्री मंत्र की दीक्षा को एक संस्कार माना गया है। गृह्यसूत्रों के अनुसार सावित्री संस्कार या तो उपनयन-संस्कार के बाद होना चाहिए या उपनयन-संस्कार के बाद तीन से ऊपर सीधार और। मनु के अनुसार सावित्री संस्कार ब्राह्मण कुमार की सोलह साल की आयु के पहले, क्षत्रिय कुमार का बाईस साल की आयु के

पहले और वैश्य कुमार की चौबीस साल की आयु के पहले होना चाहिए। सावित्री संस्कार और सावित्री मंत्र की साधना ब्रह्मचर्य आश्रम के कर्तव्यों का एक अंग है। उपनयन संस्कार के बाद से विद्याध्ययन आरम्भ होता है और जब विद्यार्थी जीवन की समाप्ति होती है अर्थात जब ब्रह्मचारी आचार्यकुलवास करके, गृहस्थाश्रम में प्रविष्ट होने के लिए वापस आता है तो समावर्तन संस्कार किया जाता है जो इस बात का प्रतीक है कि अब व्यक्ति की शिक्षा-दीक्षा समाप्त हो चुकी है और वह गृहस्थाश्रम के उत्तरदायित्व को संभालने के योग्य है।

उपनयन, सावित्री और समावर्तन संस्कारों का सम्बन्ध व्यक्ति की शिक्षा दीक्षा से है—वह शिक्षा दीक्षा जो उसे सामाजिक कर्तव्यों का भार उठाने के योग्य तथा धर्मोन्मुख अर्थ और काम की साधना के उपयुक्त बनाती है। यज्ञोपवीत संस्कार के बाद से ही व्यक्ति के लिए त्रिकाल संध्या, दैनिक स्नान और शरीर की शुद्धता तथा खान पान में विवेकी व्यवहार का पालन आवश्यक हो जा[illegible] उपनयन संस्कार, इस प्रकार आत्म अनुशासन तथा इन्द्रिय निग्रह का प्रारम्भ है। शिक्षा से मस्तिष्क पर अनुशासन आता है और शिक्षा के माध्यम से ही व्यक्ति धर्म के वास्तविक स्वरूप को समझने का प्रयत्न करता है। इस प्रकार उपनयन संस्कार मस्तिष्क तथा शरीर की उस शिक्षा दीक्षा का प्रवेश द्वार है, जिसके माध्यम से व्यक्ति अपने को भावी जीवन के लिए तैयार करता है। उपनयन संस्कार के बाद ही व्यक्ति ब्रह्मचर्य जीवन व्यतीत करके और धर्म का वास्तविक स्वरूप समझ करके, वैयक्तिक तथा सामाजिक आवश्यकताओं तथा कर्तव्यों के प्रति जागरूक होता है और उनकी पूर्ति करने तथा उनको निभाने की योग्यता ग्रहण करता है।

विवाह और अन्त्येष्टि

विवाह संस्कार गृहस्थाश्रम का प्रवेश द्वार है। गर्भाधान संस्कार से लेकर समावर्तन तक व्यक्ति का सामाजीकरण पूर्ण हो जाता है और उसके बाद में वह सामाजिक ऋणों को चुकाने तथा सामाजिक कर्तव्यों के निभाने का प्रण करता है। विवाह संस्कार के साथ साथ, व्यक्ति ब्रह्मचारी से गृहस्थ हो जाता है और समाज के आधार 'अर्थ' तथा 'काम' पुरुषार्थों की साधना में तत्पर होता है। जन्म से व्यक्ति समाज के अन्दर आता है और मृत्यु से समाज के बाहर जाता है। जन्म व्यक्ति के इहलौकिक संसार में आने का प्रवेशद्वार है और मृत्यु पारलौकिक संसार का प्रवेशद्वार है। मृत्यु से व्यक्ति पितृ के संसार में प्रवेश करता है। मृत्यु से व्यक्ति के सामाजिक सम्बन्ध अस्त व्यस्त होते हैं जिन्हें अन्त्येष्टि-संस्कार द्वारा पुनः सामंजस्य मिलता है।

विवाह और अन्त्येष्टि संस्कार अनेक अलग कई विधि विधानों में बटे हुए हैं। विवाह संस्कार के दो पहलू है—एक सवर्ण नियमों वर वधू के चुनाव और प्रशस्त (ब्राह्म, दैव आर्ष, प्राजापत्य) तथा अप्रशस्त (आसुर गान्धर्व, राक्षस तथा पैशाच) विवाह प्रकारों से सम्बन्धित है और दूसरा कर्म-काण्ड से। विवाह संस्कार में

वाग्दान (तिलक, वरीच्छा) लग्न (विवाह की तिथि निश्चित करना), मृगहरण (मिट्टी लाना), गणपति-पूजन, मण्डप प्रतिष्ठा, मातृ पूजन, वसोर्धारा पूजन, आयुष्य जप, नान्दि श्राद्ध का सङ्कल्प, वैवाहिक स्नान, वरयात्रा मधुपर्क (वर का स्वागत, अगवानी), वधू-सत्कार, वधू को वस्त्रोपहार (चढ़ावा), समञ्जन (वर द्वारा वधू के साथ एक सूत्र में बंधन का सङ्कल्प), गोत्राचार कन्यादान, मङ्गलसूत्र, लाजाहोम, पाणिग्रहण, गठबन्धन, अग्नि प्रदक्षिणा, सप्तपदी, वधू का आशीर्वाद (सुमङ्गली), ध्रुव दर्शन, चतुर्थीकर्म और विवाह मण्डप का उत्थापन कर्मकाण्ड मुख्य हैं। ये कर्मकाण्ड पुरोहित द्वारा करवाये जाते हैं और हिन्दू विवाह-संस्कार के विधि विधान का मुख्य अंग हैं। किन्तु अनेक ऐसे कर्मकाण्ड हैं जो स्थान-स्थान पर भिन्न हैं और जिन्हें बिना पुरोहित की सहायता के घर के लोग विशेषत नारियां करती हैं। पितरोंने के कर्मकाण्ड इस श्रेणी में आते हैं, जो बहुधा नारियां करती हैं। लखनऊ के आस पास, अवध के गांवों में, धोबी की स्त्री द्वारा वधू को सुहाग देने की प्रथा है जो अन्यत्र नहीं पाई जाती है।

इसीप्रकार अन्त्येष्टि संस्कार के मुख्य कर्मकाण्ड हैं—प्राण त्याग (मरणासन्न व्यक्ति के मुंह में तुलसी या गंगाजल डालना) अर्थी सवारना शवयात्रा अनुस्तरणी (गोदान), दाह, कपाल क्रिया उदक कर्म (जल दान जो दस दिन तक चलता है), अशौच (मृत व्यक्ति के परिवार तथा कपाल क्रिया करने वाले को दसवां तक अपवित्र मानना), अस्थि सञ्चयन, शान्तिकर्म, श्मशान (चितिमेध अर्थात समाधि निर्माण) पिण्डदान (श्रवा) और सपिण्डीकरण (तेरही, बर्षी)। अहिताग्नि, शिशु, गर्भिणी नवप्रसूता तथा रजस्वला विवाहिता तथा विधवा, परिव्राजक, सन्यासी तथा वानप्रस्थ प्रवासी, अकाल मृत्यु तथा पतित (धर्मद्रोही, प्रतिलोम विवाह से उत्पन्न स्वयं आत्म हत्या करने वाला, पाखण्ड, चोर व्यभिचारिणी स्त्री) के लिए अलग-अलग अन्त्येष्टि का विधान है। मनु के अनुसार पतित अन्त्येष्टि का अधिकारी नहीं है। हिन्दू विधि विधान में जीवच्छ्राद्ध (जीवित श्राद्ध) का भी विधान है। जिस प्रकार विवाह कर्मकाण्ड के विचरित रूप व्यवहार में देखने को मिलते हैं वैसे ही अन्त्येष्टि कर्मकाण्ड के स्थानीय विचरित रूप देखने को मिलते हैं[1]।

संस्कारों से जहां एक ओर व्यक्ति का सामाजीकरण होता है वहाँ दूसरी ओर संस्कारों से व्यक्ति का मानसिक तथा सामाजिक परिष्कार भी होता है। संस्कारों के माध्यम से व्यक्ति शनैः शनैः सामाजिक जीवन के विभिन्न स्तरों में प्रवेश करता है। संस्कार वे सामाजिक उपकरण हैं जिनके माध्यम से व्यक्ति समाज का सदस्य बनता है और सामाजिक जीवन की गरिमा का अनुभव करता है। गर्भाधान से लेकर चूड़ाकर्म तक के संस्कार व्यक्ति को उसके परिवार तथा सम्बन्धि-वर्ग की

1 संस्कारों के विस्तृत वर्णन के लिए देखिए राजबली पाण्डेय कृत हिन्दू संस्कार।

सम्यता की गरिमा का अनुभव कराते हैं उपनयन से लेकर समावर्तन तक के संस्कार उस सामाजिक प्रत्याशाओं (Social Expectations) से परिचित कराते हैं विवाह संस्कार से उस वैवाहिक पारिवारिक तथा सामाजिक जीवन की गरिमा का अनुभव होता है और अन्त्येष्टि संस्कार से पारलौकिक जीवन की महत्ता निर्धारित होती है। संस्कारों के ही माध्यम से व्यक्ति की मानसिक जैविक तथा सामाजिक आवश्यकताओं का नियोजीकरण होता है जिससे पुरुषार्थ की साधना में सहायता मिलती है। विभिन्न संस्कारों से सम्बन्धित अनुष्ठानों से वह सामाजिक वातावरण उत्पन्न होता है जिसमें एक ओर सामाजिक उद्देश्यों का महत्त्व निखर उठती है और दूसरी ओर उस वातावरण में सामाजिक उद्देश्यों की संदेशवाहकता बढ़ जाती है जिसके कारण व्यक्ति द्वारा, सामाजिक उद्देश्यों की ग्रहणशीलता बढ़ जाता है। संस्कारों का एक ओर सामाजिक महत्व है और दूसरी ओर मानसिक। संस्कार से जीवात्मा का विकास होता है ऐसा हिन्दू मनीषियों का मत है।

३

आश्रम-व्यवस्था

आश्रम व्यवस्था संस्कारयुक्त जीवन की एक स्वाभाविक अभिव्यक्ति है। आप्टे के अनुसार आश्रम शब्द के मुख्य अर्थ है—वह स्थान गृह कोठरी या कुटीर जहां संन्यासी निवास करते हैं अवस्था अवधि या व्यवस्था कालेज स्कूल (शिक्षण संस्था) वन या कुंज जहां तपस्वी तप करते है। आश्रम शब्द व्यक्ति के सामाजिक जीवन की चार अवस्थाओं (ब्रह्मचर्य गार्हस्थ्य वानप्रस्थ और संन्यास) में प्रत्येक के लिये प्रयुक्त होता है[1]। हिन्दू विचारकों की यह मान्यता है कि व्यक्ति का संस्कारयुक्त सामाजिक-जीवन ब्रह्मचर्य गार्हस्थ्य वानप्रस्थ और संन्यास की चार अवस्थाओं में गुजरता है। ये अवस्थायें पुरुषार्थ साधन के लिये आवश्यक है। इन चार अवस्थाओं के समन्वित रूप को आश्रम व्यवस्था की संज्ञा दी जाती है और इन आश्रमों से सम्बन्धित सामाजिक तथा वैयक्तिक कर्त्तव्यों को आश्रम धर्म की। संस्कार का सम्बन्ध व्यक्ति के सामाजीकरण तथा सामाजिक विकास से है। संस्कार विधान में व्यक्ति के सामाजिक विकास की अवस्थायें निहित है। व्यक्ति का जैविक तथा सामाजिक विकास साथ साथ चलता है। संस्कार में जैविक विकास को सामाजिक मानसिक उन्मुखता तथा गति मिलती है। आश्रम व्यक्ति के जैविक, सामाजिक तथा मानसिक विकास की मुख्य अवस्थायें हैं—वे

1 आप्टे, वी० एस० दि स्टूडेंट्स संस्कृत इंगलिश डिक्शनरी पृष्ठ 89

अवस्थायें जिनसे व्यक्ति की जैविक एषणाओं को सामाजिक अभिव्यक्ति मिलती है और व्यक्ति पुरुषार्थ की साधना करता हुआ जीवन के परम लक्ष्य (मोक्ष) को प्राप्त करता है। संस्कार और आश्रम व्यक्ति की जैविक एषणाओं तथा क्षमताओं के सामाजिक प्रतिपोषण (Nurture) के माध्यम हैं।

प्रभू के अनुसार, आश्रम शब्द की व्युत्पत्ति 'श्रम' धातु से हुई है। 'श्रम' का अर्थ है सक्रिय होना या प्रयास करना और सप्रयास अथवा सक्रिय होने की क्रियाशीलता या अवस्था। 'श्रम' का व्यंजनात्मक अर्थ हुआ वह स्थान जहां सक्रिय हुआ जाय या प्रयास किया जाय। इस व्युत्पत्ति से 'आश्रम' का शाब्दिक अर्थ हुआ 'रुकने या विश्राम करने का स्थान'। आश्रम, अपने व्यंजनात्मक अर्थ में, इस दृष्टिकोण से, प्रतीक हो जाता है जीवन-यात्रा की एक अवस्था या स्थल का, जहां विश्राम करके, व्यक्ति अगली यात्रा अवस्था की तैयारी करता है। इस संदर्भ में चारों आश्रमों को मोक्ष की ओर ले जाने वाले जीवन के राजमार्ग के चार विश्राम स्थल कहा जा सकता है। महाभारत में व्यास ने आश्रम व्यवस्था को वह सोपान कहा है जो व्यक्ति को ब्रह्म तक ले जाता है। आश्रम का प्रारम्भिक भाषागत अर्थ चाहे जो भी रहा हो आश्रम धारणा का ऐतिहासिक विकास सामाजिक संस्था के रूप में हुआ है। प्रत्येक 'आश्रम' एक सामाजिक संस्था है क्योंकि प्रत्येक आश्रम व्यक्ति के सामाजिक जीवन की एक अवस्था विशेष के लिये आदर्श नियम प्रतिपादित करता है। प्रत्येक आश्रम व्यक्ति के जैविक सामाजिक विकास क्रम की एक विशेष संस्थागत अवस्था है जिसमें रहकर व्यक्ति को उस अवस्था की दशाओं के अनुसार, अपने को इस प्रकार शिक्षित तथा सक्रिय और सप्रयास करना पड़ता है कि वह विकास क्रम की अगली अवस्था तक पहुंचने के योग्य हो जाय[1]। जीवन एक विकास-क्रम है और आश्रम व्यवस्था इसी विकासक्रम का एक सिलसिला। एक आश्रम (अवस्था) स्वभावतया दूसरे आश्रम में परिणत हो जाता है।

जैसा कि पहले कहा जा चुका है हिन्दू विचारधारा के अनुसार, व्यक्ति के सामाजिक जीवन को चार आश्रमों में बांटा गया है। ये चार आश्रम हैं ब्रह्मचर्य गार्हस्थ्य, वानप्रस्थ और संन्यास।

ब्रह्मचर्य आश्रम — ब्रह्मचर्य आश्रम वह अवस्था है जो उपनयन संस्कार से प्रारम्भ होकर समावर्तन संस्कार तक रहती है। ब्रह्मचर्य आश्रम में व्यक्ति का विद्यार्थी जीवन आता है। हिन्दू मान्यताओं में विद्यार्थी को आचार्य कुलवासी, ब्रह्मचारी तथा स्नातक की संज्ञायें दी गई हैं। ब्रह्मचर्य आश्रम में रहने का मतलब है आचार्य के आश्रम में रहकर और ब्रह्मचर्य जीवन का व्यतीत करते हुए विद्याध्ययन करना। ब्रह्मचर्य आश्रम के लिये, हिन्दू विचारकों ने अनेक नियमों तथा कर्तव्यों का प्रतिपादन किया है जिनका एक ही उद्देश्य है और वह है

---

1 प्रभू पी० एच० वही पृष्ठ 83

आत्म संयम तथा साधारण जीवन यापन। इन नियमों में जोर इस बात पर नहीं है कि विद्यार्थी को क्या लेना चाहिये वरन जोर इस बात पर दिया गया है कि किन किन वस्तुओं के बिना विद्यार्थी का काम चल सकता है क्योंकि ब्रह्मचर्य आश्रम का अन्ततोगत्वा उद्देश्य है धर्म का ज्ञान प्राप्त करना और संयम इंद्रिय निग्रह अस्तेय और दम की व्यावहारिक दीक्षा लेना।

ब्रह्मचर्य आश्रम में सभी व्यक्ति समान हैं चाहे वे किसी भी वर्ण के हों और चाहे वे धनवान घर के हों या गरीब घर के[1]। उपनयन संस्कार के साथ साथ ब्रह्मचर्य आश्रम प्रारम्भ होता है और उपनयन संस्कार साधारण जीवन यापन के प्रति पहली शिक्षा है। मेज की करधनी लंगोटी यज्ञोपवीत दंड कमण्डल धारण किये हुए, व्यक्ति भिक्षाटन प्रारम्भ करता है क्योंकि भिक्षाटन ब्रह्मचर्य आश्रम का आधार है। शतपथ ब्राह्मण के अनुसार भिक्षाटन में ब्रह्मचारी को विनम्र होना चाहिये और उसे लज्जा का अनुभव नहीं होना चाहिये क्योंकि वह अपने लिये नहीं वरन आचार्य तथा आश्रम के लिये भिक्षाटन करता है। भिक्षाटन में लज्जा या हीनता का अनुभव न हो इसलिये भिक्षाटन की शिक्षा उपनयन संस्कार में ही मिल जाती है। उपनयन संस्कार में कुमार पहली भिक्षा अपने माता पिता तथा सगे सम्बन्धियों से मांगता है। गुरु की आज्ञा से ही विद्यार्थी भिक्षाटन प्रारम्भ करता है। विद्यार्थी के लिये यह आवश्यक है कि वह गृहस्थ से भिक्षा के अतिरिक्त और कुछ स्वीकार न करे। भिक्षाटन परमार्थ की पहली शिक्षा है।

मनु के अनुसार ब्रह्मचारी को केवल दो ही बार भोजन करना चाहिये—एक बार प्रातःकाल और दूसरी बार सन्ध्याकाल। ब्रह्मचारी को अल्पभोजी होना चाहिये। अति भोजन से बचना आवश्यक है क्योंकि अतिभोजन से अनारोग्यता तथा अनायुता बढ़ती है। अति भोजन से मनुष्य अपुण्य और अस्वर्गी होता है। दूषित भोजन के वही परिणाम होते हैं जो अतिभोजन के हैं। मांस मधु दूषित मिष्ठान्न और ताम्बूल का सेवन विद्यार्थी के लिये त्याज्य है। भोजन की भांति सादे वस्त्र पर जोर

---

1 हिन्दू शिक्षा व्यवस्था में आचार्य कुल में सभी विद्यार्थियों को एक ही सा जीवन बिताना पड़ता था। धनी तथा निर्धन, शासक तथा प्रजा और उच्च तथा निम्न प्रतिष्ठा वाले परिवारों से आये हुए विद्यार्थियों को समान जीवन बिताना पड़ता था। रामायण और महाभारत में आई हुई कथाओं से यह स्पष्ट होता है कि राजकुमारों को भी विद्यार्थी जीवन की वही कठिनाइयां उठानी पड़ती थीं जो अन्य साधारण परिवार के विद्यार्थियों को उठानी पड़ती थीं। कृष्ण सुदामा का विद्यार्थी जीवन इसका उदाहरण है। भिक्षाटन, पर्णशाला में निवास वल्कल वस्त्र धारण और कुशा से बनी चटाई पर शयन सभी को समान रूप से अपनाना पड़ता था। प्रभू वही पृष्ठ 117

दिया गया है। मनु के अनुसार, ब्राह्मण ब्रह्मचारी का सनई की छाल से बने कपड़े, क्षत्रिय का रेशमी तथा वैश्य को ऊनी कपड़ से उतना शरीर ढकना चाहिये जितना आवश्यक है। इनके उत्तरीय (चादर) क्रमश बारहसिंघा, रुरु (एक प्रकार का हरिण) और बकरी की खाल के बने होने चाहियें। इसीप्रकार, ब्राह्मण विद्यार्थी का जनेऊ कपास का, क्षत्रिय का सनई तथा वैश्य का ऊन का बना होना चाहिये। वसिष्ठ के अनुसार ब्राह्मण विद्यार्थी का कपड़ा लाल रंग का (मजिष्ठा से रंगा हुआ) और वैश्य विद्यार्थी का कपड़ा पीले रंग का (हल्दी में रंगा हुआ) होना चाहियें या वैश्य-विद्यार्थी का वस्त्र कच्चे रेशम का हो। ब्रह्मचारी के हाथ में रहने वाला डंडा सीधा, गैर-जला और देखने में सौम्य होना चाहिये। उसके डंड से किसी के हृदय में भय और उद्वेग नहीं होना चाहिये क्योंकि उसका डंडा उसकी रक्षा के लिये है न कि किसी पर आक्रमण करने के लिये। अंजन, सुवासित तेल जूता तथा छाता, उबटन, नृत्य, गीत तथा वाद्य द्यूत (जुवा) और जनवाद (गपशप) ब्रह्मचारी के लिये त्याज्य हैं। ब्रह्मचर्य-व्रत के पालन के लिये यह आवश्यक है कि ब्रह्मचारी स्त्रियों से उतनी ही बात करे जितनी आवश्यक हो। सूर्योदय से पहले उठना, नित्यप्रति स्नान करना, दिन में न सोना, प्रतिदिन दो बार (प्रात और सध्याकाल) संध्या करना, आचार्य के प्रति निष्ठा रखना ब्रह्मचारी के आवश्यक कर्त्तव्य हैं।

ब्रह्मचर्य आश्रम इसप्रकार, वह अवस्था है जिसमें व्यक्ति, एक ओर वेदाध्ययन करता हुआ धर्म के स्वरूप को समझता है और, दूसरी ओर, साधारण, क्लेशपूर्ण तथा आत्मनिग्रही जीवन बिताने की व्यावहारिक शिक्षा-दीक्षा लेता है। विद्यार्थी के लिये सत्यभाषी आत्मनिग्रही, अपरिग्रही और अहिंसक जीवन का आदर्श रखा गया है। ब्रह्मचारी के लिये यह आवश्यक है कि वह अपने को काम क्रोध, मद और लोभ से दूर रक्खे। गौतम के अनुसार ब्रह्मचर्य आश्रम में व्यक्ति जिह्वा, भुजा और आमाशय का नियंत्रण तथा अनुशासन में रखने की शिक्षा-दीक्षा लेता है। ब्रह्मचर्य आश्रम उस तप, त्याग और कर्मठ जीवन के लिये अपनाई गई अनुशासित दीक्षा है जो गार्हस्थ्य वानप्रस्थ और संन्यास आश्रमों के लिये आवश्यक है।

ब्रह्मचर्य-आश्रम अथवा विद्यार्थी जीवन की एक और विशेषता है जो हिन्दुओं द्वारा निरूपित शिक्षा पद्धति में पाई जाती है। यहां विद्यार्थी आचार्यकुलवासी अर्थात आचार्य के आश्रम का निवासी होता है। विद्यार्थी आचार्य के लिये पुत्र तुल्य है और विद्यार्थी के लिये आचार्य आध्यात्मिक पिता के समान। आचार्य तथा विद्यार्थी द्वारा कही जाने वाली प्रार्थना जो प्रभु से तैत्तरीय उपनिषद से उद्धृत की है, का सारांश इस प्रकार है 'हे प्रभो !! हम दोनों की रक्षा करो। हम साथ साथ भोजन करें। हम लोग पारस्परिक सहयोग तथा सामञ्जस्य के साथ ज्ञान प्राप्ति के लिये अपनी शक्तियों का उपयोग करें। हम दोनों के बीच कभी भी घृणा के भाव का आविर्भाव न हो।' यह प्रार्थना इस बात का प्रमाण है कि हिंदू शिक्षा व्यवस्था में विद्यार्थी को

आचार्य की पूर्ण देख रेख में छोड़ने का विधान है। ब्रह्मचर्य आश्रम में विद्यार्थी अपने परिवार से नहीं के बराबर सम्बन्ध रखता है। अतः, ब्रह्मचर्य आश्रम वह अवस्था है जिसमें ब्रह्मचारी पूर्णतया उस पर्यावरण में रहता है जहां आचार्य की प्रधानता रहती है विद्यार्थी के सामने परिवार तथा शिक्षा संस्था की परस्पर विरोधी मान्यतायें नहीं रहती हैं ब्रह्मचारी के लिये सम्पूर्ण पर्यावरण तथा आदर्श एकसम रहते हैं जिसके कारण जीवन का उच्चतम और अन्ततोगत्वा उद्देश्य तथा आदर्श सदैव प्रखर रहता है। समाज नैतिकता तथा अनैतिकता का मिश्रण है। समाज में व्यक्ति पर नैतिकता तथा अनैतिकता दोनों का प्रभाव पड़ता है। आचार्यकुलवास नैतिक धर्माचरण से ओतप्रोत रहता है। अतः, ब्रह्मचर्य आश्रम से व्यक्ति को वह सम तथा नैतिक पर्यावरण मिलता है जिसमें व्यक्ति का स्वतन्त्र व्यक्तित्व विकसित होता है। ब्रह्मचर्य आश्रम, वस्तुतः उस स्वतन्त्र तथा आदर्श पर्यावरण को नियोजित करने का विधान है जिससे समाज के उच्चतम तथा अन्ततोगत्वा आदर्शों के अनुकूल व्यक्तित्व विकसित हो सके[1]।

गार्हस्थ्य आश्रम वह अवस्था है जो स्नातकोत्तर जीवन से प्रारम्भ होकर वानप्रस्थ के प्रारम्भ तक रहती है। व्यक्ति की स्नातक अवस्था ब्रह्मचर्य आश्रम का एक भाग है। लेकिन, वास्तव में, स्नातकत्व वह अवस्था है जो शिक्षा समाप्ति के बाद से विवाह संस्कार तक रहती है। स्नातक का अर्थ है स्नान किया हुआ। शिक्षा समाप्ति के बाद जब ब्रह्मचारी आचार्य का आश्रम छोड़ता है तो उसके पहले वह स्नान करता है। यह स्नान इस बात का प्रतीक माना गया है कि व्यक्ति की शिक्षा पूर्ण हो गई है और अब वह गृहस्थाश्रम में प्रवेश करने के उपयुक्त हो गया है। यह स्नान समावर्तन संस्कार का एक अंग है, जो शिक्षा समाप्ति के बाद पितृकुल में वापस आने का प्रतीक है। ब्रह्मचर्य आश्रम धर्म को समझने की अवस्था है तो गृहस्थाश्रम धर्म को कार्यान्वित करने व धर्म संचय की अवस्था। ब्रह्मचर्य आश्रम जीवन की तैयारी है तो गृहस्थाश्रम कर्म क्षेत्र। ब्रह्मचर्य आश्रम में व्यक्ति पुरुषार्थ के ज्ञान पक्ष से अवगत होता है लेकिन गृहस्थाश्रम में व्यक्ति पुरुषार्थ के कर्म पक्ष को अपनाता है। गृहस्थाश्रम वह अवस्था है जिसमें व्यक्ति अर्थ तथा काम की साधना करता है।

गार्हस्थ्य आश्रम वह अवस्था है जिसमें व्यक्ति सामान्यतया धर्म की, विशेष तया, अर्थ, काम और कुलधर्म की साधना में प्रवृत्त होता है। गृहस्थाश्रम जीवन के महानतम उद्देश्य, मोक्ष, की साधना का पूर्वरूप है। अतः, गृहस्थाश्रम एक साधन है साध्य नहीं। गृहस्थाश्रम एक संक्रमण काल है जिसमें कुलधर्म की साधना करता हुआ व्यक्ति, अगले आश्रमों के लिये, अपने को तैयार करता है। गृहस्थाश्रम एक कर्तव्य

1 प्रभु, पी० एच० वही पृष्ठ 118 120

है—वैयक्तिक, पारिवारिक तथा सामाजिक जीवन के प्रति एक दायित्व है—जिसे निभाना व्यक्ति का कर्तव्य है क्योंकि इस दायित्व के निभाने से धर्म-संचय होता है। गृहस्थाश्रम सामाजिक कर्तव्य है अवश्य लेकिन, व्यक्ति गृहस्थाश्रम में, अपने लिये प्रवेश करता है क्योंकि धर्म-संचय से व्यक्ति को मोक्ष मिलता है। गृहस्थाश्रम प्रवृत्ति की ओर ले जाता है। लेकिन, व्यक्ति का यह कर्तव्य है कि वह गृहस्थाश्रमी प्रवृत्ति को निवृत्ति की ओर ले जाय क्योंकि जीवन का अन्ततोगत्वा उद्देश्य है संन्यास और मोक्ष।

विवाह, गृह और कुल गृहस्थाश्रम के आधार हैं। विवाह से ही गृह तथा गृहस्थी की स्थापना होती है। गृह से तात्पर्य उस स्थान से है जो पितरों तथा पुत्रों का वासस्थान है। गृहस्थ गृह स्वामी नहीं है। वह तो वास्तव में पितरों और पुत्रों की सम्पत्ति का संरक्षक है। गृह वह माध्यम है जिससे वंश परम्परा चला करती है। इसीकारण, गृहस्थाश्रम वह अवस्था है जिसमें व्यक्ति कुलधर्म का पालन करता है। गृह से सम्बन्धित क्रियायें और कर्तव्य गृहस्थाश्रम में आते हैं। ये क्रियायें और कर्तव्य शास्त्रोक्त होते हैं। गृहस्थाश्रम में व्यक्ति उन सभी शास्त्रोक्त विधियों का पालन करता है जिनका उद्देश्य होता है कुल का परिरक्षण और नरंतय बनाये रखना। गृहस्थाश्रम का आधार है धर्म और धर्म के जिस पक्ष से पारिवारिक कर्तव्य नियमित होता है उसे कुलधर्म कहा गया है। कुलधर्म से तात्पर्य है कुछ निश्चित आनुपिम्य तथा कल्प-कर्तव्या (Filial and Pitual Duties) से जिनका उद्देश्य पुरुषार्थ की साधना है। आनुपिम्य-कर्तव्यों (Filial Duties) के रूप में कुलधर्म से तात्पर्य है परिवार के विभिन्न सदस्यों के उचित पारस्परिक सम्बन्ध से और कल्प कर्तव्यों से तात्पर्य है पंच महाभूत यज्ञों से जिनमें जान अनजान में किये पाप छूट जाते हैं और जिनका करना गृहस्थ के लिये आवश्यक है[1]।

महात्मा बुद्ध के अनुसार गृहस्थ को चाहिए कि वह जीव हत्या, असंयम तथा असत्य से दूर रहे, दूसरों के साथ व्यवहार में पक्षपात, नम्रता, निर्बुद्धिता और डर को स्थान न प्रदान दे, मादक द्रव्यों के सेवन, कुसंग अकर्मण्यता और जुवे में धन का अपव्यय न करे, बलात्ग्राही, डींग भरने वाले, चाटुकारों और अपव्ययी मनुष्यों के संग से दूर रहे और अपने माता पिता, आचार्यों तथा बड़ों का आदर करे। माता पिता तथा बड़ों का आदर और उनकी आज्ञा का पालन बच्चों तथा तरुणों का परम कर्तव्य माना गया है। पत्नी के प्रति गृहस्थ का व्यवहार धर्म, अर्थ और काम की मर्यादाओं के अनुसार होना चाहिये। परिवार के सदस्यों में पारस्परिक आदर और एक दूसरे की चिन्ता सामान्यतः कुलधर्म का सार माना गया है[2]।

---

1 गोखले बी० जी० वही पृष्ठ 41
2 गोखले, बी० जी० वही पृष्ठ 41

मन्त्र माये हैं उनमे गृह को वह स्थान माना गया है जहा से पितृ उत्पन्न हुए हैं और जहा पुन तथा बछड़े आयेंगे। इन्ही मन्त्रा में गृह की रक्षा, दीर्घायु तथा समृद्धि के लिए देवताओ का आवाहन किया गया है[1]।

(गृह प्रवेश पर हवन करने की प्रथा है और धर्म शास्त्रा म इसका विधान है। रसोई परोसन के पहले देव पित्रा के नाम पर चूल्हे के सामने भाग लगाने की प्रथा पाई जाती है। अग्नि वस्तुत गृह देवता है। प्रत्येक हिन्दू गृह म देव पित्रा का एक लग स्थान होना है। प्रत्येक गृह के अपने पित होते हैं और अपने देव जो गृह की रक्षा किया करते हैं जिन्ह प्रसन्न रखना गृहस्थ का कर्तव्य है क्योकि गृहस्थ इनका ऋणी है।) पितृ यदि व्यक्ति के जैविक अस्तित्व के निमित्त है, देव सुरक्षा तथा समृद्धि के तो ऋषि उस ज्ञान के जिसके द्वारा व्यक्ति को धर्म का ज्ञान मिलता है। हिन्दू-मान्यताओ के अनुसार व्यक्ति के पास अपना कुछ नही है वह जो कुछ भी होता है पित्रा, ऋषियो और देवो के कारण होता है। अत, व्यक्ति उनका ऋणी है और उनके ऋण म उऋण होना व्यक्ति का कर्तव्य।

(यज्ञ और दान वे उपकरण हैं जिनके द्वारा व्यक्ति इन ऋणा से उऋण होता है, धर्म सचय करता है और वानप्रस्थ तथा सन्यास आश्रमा के लिए अपने को तैयार करता है। गार्हस्थ्य जीवन म अर्थ और काम की साधना के साथ साथ, यज्ञ तथा दान की साधना (व्यक्ति म निवृत्योन्मुख प्रवृत्ति का अभ्युदय होता है जो व्यक्ति को मोक्ष की ओर ले जाती है। यज्ञ का अर्थ है बलि अथवा त्याग। गीता म यज्ञ का व्यजनात्मक अर्थ निष्काम कर्म और परमार्थ के रूप म किया गया है। यज्ञ देवताओ तथा दूसरो के प्रति समर्पण है[2]। इसी निष्काम समर्पण की धारणा म दान की धारणा आ जाती है। क्रिया के रूप म दान का अर्थ है काटना विभाजित

1 प्रभू, पी० एच० वही पृष्ठ 218

2 गीता के अनुसार प्रजापति ने कल्प के अन्त में प्रजा तथा यज्ञ दोनो को साथ-साथ उत्पन्न किया। यज्ञ, प्रजा की इच्छित कामनाओं को देने वाला है। मानव प्राणी कर्म से बधा हुआ है और यज्ञ कर्म से उत्पन्न होता है। अत, यज्ञ मानव प्राणी के लिय स्वभावतया आवश्यक है। यज्ञ से देवताओं की उन्नति होती है और देवताओं से मनुष्य को प्रिय भोग मिलते है तथा उसकी उन्नति होती है। जो पुरुष देवताओ को अर्पित किये बिना भोगो को भोगता है, वह चोर है। यज्ञ देवताओं के प्रति समर्पण का एक माध्यम है। यज्ञ में परमार्थ की भावना निहित है क्योंकि यज्ञ से शेष बचे हुए अन्न को खाने वाले श्रेष्ठ पुरुष सब पापों से छूट जाते है और जो पापी अपने शरीर पोषण के लिए ही पकाते है वे तो पाप को ही खाते है। परमात्मा का वास यज्ञ में है। अत, लोक संग्रह में कर्मयज्ञ आवश्यक है (3 9-21)। यज्ञ तीन प्रकार के है—सात्विक,

करना और सीधा करना । सना के रूप में दान से सामान्यतः अर्थ लिया जाता है देना, सिखाना और अनुदान से । दान का अर्थ हस्तान्तरण, भेंट, उपहार और भिक्षा से भी है । दान का सामान्य अर्थ है वह जो दूसरों को दिया जाय । लेकिन हर प्रकार का देना दान नहीं है । दान के साथ क्यों, किसको और किस प्रकार का विचार जुड़ा हुआ है । श्रेष्ठ दान वही है जो कर्तव्य समझकर, बिना किसी प्रत्याशा के देश, काल और पात्र के अनुसार दिया जाय । जिस दान में देनेवाले में प्रत्युपकार की भावना हो, दान के फल के प्रति आसक्ति हो जिसके देने में निष्काम भावना न हो देश, काल और पात्र का विचार न हो दान लेने वाले के प्रति तिरस्कार की भावना हो वह दान निकृष्ट है और त्याज्य है[1] । दान केवल भिक्षा नहीं है । दान व्यक्तिगत तथा सामाजिक जीवन की आवश्यकता है क्योंकि दान देश, काल पात्र और निष्काम कर्म से बंधा हुआ है । दान कर्म यज्ञ है । दान वह माध्यम है जिसके द्वारा व्यक्ति समाज के प्रति अपना योगदान देता है । व्यक्ति समाज से है और समाज व्यक्ति से । समाज से मिले योगदान से व्यक्ति बनता है और व्यक्ति के योगदान से समाज चलता है । दान समाज के प्रति व्यक्ति का समर्पण है । दान से धर्म की साधना होती है । अतः दान न तो प्रत्युपकार है और न वह प्रत्युपकार के लिए किया जाता है । दान कर्तव्य है । ऋषि, पितृ, देव और मनुष्य व्यक्ति से दान के भागी हैं क्योंकि व्यक्ति इनका ऋणी है । यही कारण है कि पठन पाठन और शिक्षण-कार्य को विद्यादान कहा गया है और विवाह विधियों में कन्यादान एक महत्वपूर्ण विधि है । हिन्दू मान्यताओं के अनुसार जहाँ दान है वहीं यज्ञ है ।

यह पहले ही कहा जा चुका है कि आचार्य व्यास यज्ञ दान और तप धर्म के तीन स्कन्ध हैं । तप के तीन प्रकार हैं—शारीरिक वाचिक और मानसिक । देव, ब्राह्मण, गुरु और ज्ञानी की पूजा पवित्रता सरलता ब्रह्मचर्य और अहिंसा शारीरिक

राजस और तामस । शास्त्रविधि, अन्न दान मन्त्र, दक्षिणा तथा श्रद्धा रहित यज्ञ तामस है, दम्भाचरण तथा फलासक्ति के लिये किया हुआ यज्ञ राजस है और शास्त्रविधि से नियत, परमकर्तव्य मानकर अनासक्तिभाव से किया हुआ यज्ञ सात्विक है और परम श्रेष्ठ है (17 11 12, 13) ।

1 यज्ञ की भांति गीताकार ने दान के भी तीन प्रकार बताये हैं—सात्विक, राजस और तामस । सात्विक दान ही श्रेयस्कर है । सात्विक दान 'देना उचित है ऐसा समझकर बदला मिलने की आशा के बिना देश, काल और पात्र को देखकर' दिया जाता है । राजस दान वह है जो बदला मिलने के लिये अथवा फल को लक्ष्य कर और दुःख के साथ दिया जाता है । देश, काल और पात्र का विचार किए बिना, बिना मान के, तिरस्कार से दिया हुआ दान तामस कहलाता है—गीता, 17 20 22

तप है दुख न देने वाला सत्य प्रिय, हितकर वचन तथा धर्म ग्रन्थों का अभ्यास वाचिक तप है, और मन की प्रसन्नता सौम्यता मौन आत्मसंयम तथा भावना शुद्धि मानसिक तप है[1]। कष्ट उठाकर दुराग्रहपूर्वक अथवा दूसरे के नाश के लिए किया हुआ तप तामस है। सत्कार मान और पूजा के लिए दम्भपूर्वक किया हुआ अस्थिर तथा अनिश्चित तप राजस है। तामस और राजस तप अवांछनीय हैं क्योंकि इनमें आसक्ति का भाव रहता है। हिन्दू मान्यताओं के अनुसार वांछनीय है सात्विक तप जो शारीरिक वाचिक तथा मानसिक तपों की समभावयुक्त परम श्रद्धापूर्ण निष्काम साधना है[2]। यज्ञ दान और तप व्यक्ति तथा समाज की आवश्यकताओं की पूर्ति अवश्य करते हैं लेकिन उनका स्थान ओम तत् सत् में है। ओम प्रतीक है ब्रह्म का उस रहस्यात्मक परम सत्ता का जिसमें से व्यक्ति का आविर्भाव हुआ है और जो व्यक्ति का अन्ततोगत्वा गन्तव्य है। ब्राह्मण वेद और यज्ञ ब्रह्म से ही उत्पन्न हुए हैं। इसलिए वही (तत्) ओम सत्य तथा कल्याणकारी (सत्) है और सब कुछ असत्य है। ब्रह्मवादी ओम् का उच्चारण करके (अथवा सभी कुछ ब्रह्ममय मानकर) यज्ञ दान और तपस्वी क्रियाएँ करता है। मोक्षार्थी तत् (अर्थात् सब कुछ उसी से है) की भावना से, कर्म फल की इच्छा न रखता हुआ, यज्ञ दान तथा तपस्वी क्रियाएँ किया करता है। सत्य कल्याण प्राप्त धर्म यज्ञ-तप दान में दृढ़ता और तत् के निमित्त कर्म के सम्बन्ध में सत् का भाव आता है। अतः जिस यज्ञ दान और तप में श्रद्धा नहीं है, वह असत् है[3]। श्रद्धा से तात्पर्य है ओम तत् सत् के प्रति समर्पण जिसे गीताकार ने निष्काम कर्म कहा है।

यज्ञ दान और तप की क्रियाओं से युक्त तथा ओम तत् सत् के प्रति समर्पित अर्थ तथा काम की साधना गृहस्थाश्रम का मूल है। लेकिन इस साधना में शास्त्रानुमोदित कर्मों तथा कर्तव्यों का ही श्रेयस्कर माना गया है। गृहस्थ का यह धर्म है कि वह शास्त्रोक्त विधियों से यज्ञ दान और तप का जीवन व्यतीत करे। गृह के उपकरण चूल्हा (चुल्हि) चक्की (पेषणी) झाड़ू (उपस्कर) सिल बट्टा और जलपात्र के प्रयोग से जाने अनजाने में जीव हत्या अवश्यम्भावी है। इस जीव हत्या से व्यक्ति को छुटकारा भी मिल सकता है। जब वह यथाशक्ति यज्ञ दान तथा दान और तप की भावना के लिए शास्त्रों में गृहस्थ के लिए पंचमहायज्ञों का विधान किया गया है। ये पंचमहायज्ञ हैं ब्रह्मयज्ञ पितृयज्ञ देवयज्ञ भूतयज्ञ और नृयज्ञ। अध्ययन और विद्यादान से ऋषि ऋण से उऋण होता है। अध्ययन और विद्यादान से ब्रह्मयज्ञ की साधना होती है। श्राद्ध अनुष्ठान से तर्पण और भाग

1 गीता 17/14, 15 16
2 गीता 17/17, 18 19
3 गीता 17/23 28

देना पितयग क प्रतीक है। पितयग स व्यक्ति पितऋण स उऋण होता है। दवताओं क प्रति अर्पित किया जान वाला द्रव्य (आहुति) देवयग है जिसके द्वारा व्यक्ति दव ऋण स उऋण होता है। भूतयग भाजन की आहुति के द्वारा मानव जीवन का प्रभावित करन वाली प्रतात्माओं (भूता) को प्रस नकरके उनक अहितकर प्रभावा स बचन की पूजा है। अतिथि सत्कार तथा पूजा नयग म आता है[1]। ये यग दानप्रधान है न कि स्वार्थप्रधान। इन यगों को करना गृहस्थ का कतव्य ह और यह कतव्य मानवीय तथा सामाजिक आवश्यकता है। ऋषि, पित, देव, भूत तथा अतिथि की सेवा गृहस्थ का कतव्य ही नहीं वरन उत्तरदायित्व है। बिना इनके ऋण स उऋण हुए गृहस्थ मोक्ष का अधिकारी नहीं होता है[2]। किन्तु गृहस्थ के लिए यह आवश्यक है कि वह इस दायित्व को निस्पह हाकर निभाय। निस्पह तथा निष्काम हाकर अर्थ तथा काम की साधना औरगा हस्थ आश्रम के कत य का निभाना तप नहीं तो और क्या है? हिन्दू मान्यताओं म गाहस्थ्य आश्रम को तपस्या माना गया है और मना को नित्य सुख का स्रोत। इसी विचारधारा की पृष्ठ भूमि मे, हिन्दू गृह, परिवार के एकीकरण तथा उसक आध्यात्मिक नरन्तय की एक कड़ी बन गया है।

वानप्रस्थ वानप्रस्थ तीसरी अवस्था है जिसम शास्त्र विधान के अनुसार व्यक्ति गाहस्थ्य आश्रम त्याग कर तप के लिए वन म निवास करता है। गाहस्थ्य जीवन निलिप्त सासारिक कतव्यों का जीवन है। वानप्रस्थ आश्रम, गाहस्थ्य आश्रम स आग इसी निर्लिप्तता की ओर उठा हुआ एक और कदम है। जब व्यक्ति पचमहायज्ञ और अर्थ तथा काम की साधना करते हुए गृहस्थाश्रम के कतव्यों का पूण कर ल और सभी ऋणों स उऋण हो जाय तब आश्रम धर्म के नियमानुसार व्यक्ति को सभी वृद्ध पुत्रों का सौंप कर जगल म निवास करना चाहिए और धीरे धीरे सासारिक वस्तुओं म अपना सम्ब ध कम करना चाहिए। वानप्रस्थ का अर्थ है वन म निवास करने वाला। वानप्रस्थ आश्रम के धर्मानुसार, कुल गृह और ग्राम का आश्रय छोड़ कर व्यक्ति को वनवास करते हुए और अपनी इन्द्रियों को वश म करने एव नियतेन्द्रिय बनने का प्रयास करना चाहिए। नियतेन्द्रिय हान क लिए शास्त्रों म कन्दमूल के भाजन मीठी वस्तुओं क त्याग भूमि शयन, वल्कल वस्त्र ब्रह्मचारी जीवन और रागरहित वनवासी जीवन का विधान किया

1 गोखले ने जिन पाच यगों का वणन किया ह वे हैं—ब्रह्म यग (अध्ययन तथा निरूपण काय) पित-यग (श्राद्ध तथा तपण) भूत यग (प्रेतात्माओं के प्रति आहुतियाँ देना) अतिथि-यग (अतिथि-सत्कार) और नयग (मानवता क प्रति त्याग)। जिस गोखले न अतिथि यग कहा ह वह प्रभु क अनुसार नयग में आता ह। गोखले ने जिन यगों का वणन किया ह उनमें देव-यग नहीं ह।

2 प्रभू पी० एच० वही पष्ठ 216–218

गया है। वानप्रस्थ अवस्था में व्यक्ति को किसी भी प्रकार के विलासी प्रसाधनों की प्राप्ति का प्रयास नहीं करना चाहिए और भूख से आर्त होने पर भी उन कन्दमूलों का स्वीकार नहीं करना चाहिए जो ग्राम में उत्पन्न हुए हैं। वानप्रस्थी के लिए यह आवश्यक है कि वह अपना अधिक से अधिक समय श्रुतियों (वेदों) तथा उपनिषदों के अध्ययन में लगाए और तप के द्वारा शरीर की शुद्धि करके अपनी आत्मा को प्रबुद्ध करे क्योंकि वानप्रस्थ मोक्ष की तैयारी का काल है।

वानप्रस्थ आश्रम वस्तुतः अध्ययन चिन्तन, आत्मसंयम, दान तथा सभी जीवों के प्रति अनुकम्पा की भावना का जीवन है। इसके साथ साथ वानप्रस्थी के लिए पंचमहायज्ञों का भी विधान है। वानप्रस्थी को पंचमहायज्ञ उसी लगन से करने चाहिए जैसे कि उन्हें गृहस्थ करता है। वानप्रस्थ आश्रम में यदि व्यक्ति चाहे तो अपनी सहधर्मिणी (पत्नी) को भी साथ रख सकता है यद्यपि पत्नी के साथ होते हुए भी ब्रह्मचर्य व्रत आवश्यक है। वानप्रस्थ गृहस्थाश्रम के प्रकार की एक ऐसी अवस्था है जिसमें व्यक्ति धीरे धीरे संसार-त्याग की शिक्षा लेता है। मनोवैज्ञानिक दृष्टिकोण से यह कहा जा सकता है कि ऐसी शिक्षा मानव के जैविक विकास की प्रक्रिया के अनुकूल है क्योंकि कर्मेन्द्रियों की बढ़ती हुई शिथिलता के साथ साथ अर्थ और काम के प्रति निर्लिप्तता का भाव जहाँ आत्म संयम को प्रोत्साहित करता है वहाँ व्यक्ति को नैराश्य से भी बचाता है। जहाँ जीवन का उद्देश्य मोक्ष हो वहाँ ऐसी शिक्षा दीक्षा आवश्यक सी जान पड़ती है।

संन्यास संन्यास व्यक्ति के जीवन की चौथी तथा अन्तिम अवस्था है। आश्रमों के दृष्टिकोण से व्यक्ति के जीवन की चार अवस्थायें हैं—ब्रह्मचारी, गृही, वानप्रस्थी और संन्यासी। संन्यासी वह व्यक्ति है जिसने संसार का पूर्ण त्याग कर दिया हो। इसलिए संन्यासी के लिए यह विधान है कि वह भिक्षा पर निर्भर रहे और भिक्षा भी दिन में केवल एक बार ले। यदि भिक्षा न मिले तो उसे दुखी और यदि मिले तो सुखी नहीं होना चाहिए। संन्यासी के लिए सुख दुःख, लाभ अलाभ और जीवित तथा मृत समान हैं। संन्यासी के जीवन का आदर्श है वीतराग क्योंकि संन्यासी शब्द का अर्थ है सम (अर्थात सभी कुछ) त्यागी (त्यागने वाला)। संन्यासी के जीवन का आदर्श है इन्द्रिय निग्रह, राग द्वेष रहित अहिंसक जीवन। संन्यास वस्तुतः व्यक्ति की वह मानसिक अवस्था है जहाँ व्यक्ति का सामाजिक व्यक्तित्व समाप्त हो जाता है। संन्यासी के पारिवारिक बन्धन समाप्त हो जाते हैं वह एक गृहहीन परिव्राजक हो जाता है और सम्पत्ति के स्थान पर केवल भिक्षान्न उसके जीवन का आधार हो जाता है। संन्यासी को अत्याश्रमी कहा गया है जिसका तात्पर्य यह है कि संन्यासी सभी आश्रमों से परे है।

संन्यास आश्रम में प्रविष्ट करना इस लौकिक जीवन में ही पारलौकिक जीवन में प्रवेश करना है। संन्यास-आश्रम में ऐसा माना जाता है कि, व्यक्ति

का सांसारिक अस्तित्व समाप्त हो जाता है। संयास आश्रम में प्रविष्ट हुआ व्यक्ति मृत समझा जाता है। उसके बन्धु बांधव प्रतीकात्मक रूप से उसकी अन्त्येष्टि कर देते हैं और ऐसा माना जाता है कि प्रतीकात्मक रूप से जलाई हुई चिता की राख और लपटों से संयासी के रूप में व्यक्ति का पुनर्जन्म हुआ है। संयासी होने वाला व्यक्ति अपना पहला नाम छोड़ कर दूसरा नाम रखता है। साधारण व्यक्ति के लिए दाह-संस्कार का विधान है लेकिन संयासी के लिए समाधि संस्कार का क्योंकि संयासी होने वाले व्यक्ति की अन्त्येष्टि पहले ही हो चुकी हुई मानी जाती है। संयास आश्रम में व्यक्ति सांसारिक बन्धनों से उन्मुक्त हुआ समझा जाता है और इसी कारण संयासी के लिए वर्ण जाति ऊंच नीच तथा छूत-अछूत के सांसारिक बन्धन निरर्थक हैं।

४

आश्रम व्यवस्था के आधार

हिन्दू जीवन दर्शन में, पुरुषार्थ, संस्कार और आश्रम अन्योन्याश्रित हैं। संस्कार और आश्रम व्यक्ति के जैविक विकास का सामाजिक आधार प्रदान करते हैं और पुरुषार्थ व्यक्ति के जैविक सामाजिक विकास को आदर्शिक आधार प्रदान करके व्यक्ति के लिए मानसिक प्रेरक बन जाते हैं। संस्कार आश्रम और पुरुषार्थ सामाजिक पृष्ठ भूमि में, व्यक्ति के जैविक तथा मानसिक विकास को एक ओर, गति तथा दिशा प्रदान करते हैं और दूसरी ओर, उसे नियंत्रित भी करते हैं। आश्रम का एक आधार है संस्कार और दूसरा पुरुषार्थ। संस्कार आश्रम का सामाजिक आधार है और पुरुषार्थ आदर्शिक। प्रत्येक आश्रम व्यक्ति के जैविक सामाजिक विकास की वह अवस्था है जिसमें व्यक्ति उस अवस्था से सम्बन्धित पुरुषार्थ की साधना करता है। ब्रह्मचर्य आश्रम वह अवस्था है जिसमें व्यक्ति को धर्म के विभिन्न पहलुओं और अभिप्रणियों का ज्ञान प्राप्त करना पड़ता है। इसी अवस्था में व्यक्ति यह सीखता है कि धर्म समाज तथा व्यक्ति का आधार है और मानव जीवन का परम लक्ष्य। धर्म ब्रह्मचर्य आश्रम का और अर्थ तथा काम गृहस्थाश्रम के प्रमुख पुरुषार्थ हैं। गृहस्थाश्रम में 'अर्थ और काम उस व्यक्ति के जीवन के प्रमुख पुरुषार्थ हैं जिसने पहले ही धर्म का सैद्धान्तिक तथा व्यावहारिक ज्ञान प्राप्त कर लिया है और जिसने यह मान लिया है कि मानव जीवन का सर्वोपरि पुरुषार्थ है और उसके लिए आत्म ज्ञान आवश्यक है[1]।

1 प्रभु के अनुसार गृहस्थाश्रम में अर्थ और काम पुरुषार्थों की प्रधानता इसलिए रखी गई है कि व्यक्ति के जैविक विकास में एक अवस्था यह आती है जब

वानप्रस्थ आश्रम में धर्म और मोक्ष जीवन के मुख्य पुरुषार्थ हो जाते हैं यद्यपि इनमें धर्म का स्थान प्रधान रहता है। संन्यास-आश्रम में मोक्ष सर्वोपरि पुरुषार्थ हो जाता है। संन्यासी के लिए मोक्ष ही उसका धर्म हो जाता है। वास्तव में, यदि देखा जाय तो, सभी आश्रमों का सम्बन्ध मोक्ष से है। हाँ यह अवश्य है कि कहीं मोक्ष को प्रत्यक्ष प्रधानता मिली है और कहीं अप्रत्यक्ष। जैसे सभी आश्रमों की परिणति संन्यास में होती है वैसे ही सभी पुरुषार्थों की परिणति मोक्ष में होती है।

आश्रम व्यवस्था एक ओर, धर्म परम्परा से सम्बन्धित रही है और दूसरी ओर, यज्ञ परम्परा से। चारों आश्रमों को चार प्रकार के यज्ञ माना गया है। ब्रह्मचर्य-आश्रम को आत्म-यज्ञ की अवस्था माना गया है। ब्रह्मचर्य-आश्रम को ज्ञान यज्ञ की अवस्था माना गया है क्योंकि इस अवस्था में व्यक्ति आत्म नियन्त्रण तथा ज्ञान की दीक्षा लेता है। गृहस्थाश्रम को कर्मयज्ञ कहा गया है। गृहस्थाश्रम में अर्थ और काम की साधना करता हुआ व्यक्ति, पत्नी, सन्तान, कुटुम्ब, आचार्य, अतिथि तथा देवों के प्रति अपने दायित्व को निभाता है। गृहस्थाश्रम, इस प्रकार, निःस्वार्थ सेवा की अवस्था है और निःस्वार्थ सेवा के द्वारा ही व्यक्ति समाज के प्रति अपना योगदान देता है। वानप्रस्थ आश्रम, एक ओर धीरे धीरे, अर्थ काम और संसार के त्याग की तथा, दूसरी ओर, उस अन्तिम यज्ञ की तैयारी है जो संन्यास आश्रम में पूर्ण होती है। संन्यास-आश्रम में परमशक्ति के प्रति सर्वार्पण करके व्यक्ति ज्ञानमय हो जाता है। संन्यास, एक ओर सम्पूर्ण त्याग तथा दूसरी ओर आत्माहुति की अवस्था है। आत्माहुति का अर्थ है आत्मा की आहुति अर्थात् पूर्णत्व की प्राप्ति के लिये आत्मा की परमात्मा के प्रति पूर्ण तथा निरपेक्ष प्रपत्ति। आत्माहुति पूर्णत्व की इच्छा से उत्पन्न होती है। हिन्दू विचारधारा में पूर्णत्व ही उच्चतम उद्देश्य है। पूर्णत्व मानवी नहीं

जीवन में अर्थ तथा काम की प्रधानता बढ़ जाती है क्योंकि अर्थ और काम व्यक्ति तथा समाज की आनुवंशिकता के अंग हैं। अर्थ और काम व्यक्ति तथा समाज की क्रियाशीलता के शारीरिक, इन्द्रिय तथा मानसिक आधार हैं। व्यक्ति और समाज के लिए उनकी उचित अभिव्यक्ति आवश्यक है जिसे धर्म द्वारा नियन्त्रित करने का प्रयत्न किया गया है। अर्थ और काम का, धर्म तथा आश्रम व्यवस्था के द्वारा मानव-जीवन में इस प्रकार समन्वय किया गया है कि उनकी उचित अभिव्यक्ति से मानव तथा समाज की रक्षा, स्थायित्व, वृद्धि तथा विकास मिलता प्रत्येक व्यक्ति के व्यक्तित्व के अनुकूल हो। धर्म तथा आश्रम के द्वारा अर्थ और काम की अभिव्यक्ति व्यक्ति में सहज आत्मनियन्त्रण तथा आत्मरति को प्रोत्साहित करती है। इस सहज आत्मनियन्त्रण तथा आत्मरति में मानव तथा उसकी सांस्कृतिक आनुवंशिकता की ऐतिहासिकता के बीज निहित हैं—प्रभु, वही पृष्ठ 97

का सामाजिक अस्तित्व समाप्त हो जाता है। संन्यास आश्रम में प्रविष्ट हुआ व्यक्ति मृत समझा जाता है। उसके बन्धु वा धव प्रतीकात्मक रूप से उसकी अन्त्येष्टि कर देते हैं और ऐसा माना जाता है कि प्रतीकात्मक रूप से जलाई हुई चिता की राख और लपटों से संन्यासी के रूप में व्यक्ति का पुनर्जन्म हुआ है। संन्यासी होने वाला व्यक्ति अपना पहला नाम छोड़ कर दूसरा नाम रखता है। साधारण व्यक्ति के लिए दाह-संस्कार का विधान है लेकिन संन्यासी के लिए समाधि संस्कार का क्योंकि संन्यासी होने वाले व्यक्ति की अन्त्येष्टि पहले ही हो चुकी हुई मानी जाती है। संन्यास आश्रम में व्यक्ति सांसारिक बन्धनों से उन्मुक्त हुआ समझा जाता है और इसी कारण संन्यासी के लिए वर्ण जाति ऊँच नीच तथा छूत अछूत के सांसारिक बन्धन निरर्थक है।

४

आश्रम व्यवस्था के आधार

हिन्दू जीवन दर्शन में पुरुषार्थ, संस्कार और आश्रम अन्योन्याश्रित है। संस्कार और आश्रम व्यक्ति के जैविक विकास का सामाजिक आधार प्रदान करते हैं और पुरुषार्थ व्यक्ति के जैविक सामाजिक विकास को आदर्शिक आधार प्रदान करके व्यक्ति के लिए मानसिक प्रेरक बन जाते है। संस्कार, आश्रम और पुरुषार्थ सामाजिक पृष्ठभूमि में व्यक्ति के जैविक तथा मानसिक विकास को, एक ओर, गति तथा दिशा प्रदान करते है और दूसरी ओर, उसे नियन्त्रित भी करते है। आश्रम का एक आधार है संस्कार और दूसरा पुरुषार्थ। संस्कार आश्रम का सामाजिक आधार है और पुरुषार्थ आदर्शिक। प्रत्येक आश्रम व्यक्ति के जैविक सामाजिक विकास की वह अवस्था है जिसमें व्यक्ति उस अवस्था से सम्बन्धित पुरुषार्थ की साधना करता है। ब्रह्मचर्य आश्रम वह अवस्था है जिसमें व्यक्ति को धर्म के विभिन्न पहलुओं और अभिप्रक्रियाओं का ज्ञान प्राप्त करना पड़ता है। इसी अवस्था में व्यक्ति यह सीखता है कि धर्म समाज तथा व्यक्ति का आधार है और मोक्ष जीवन का परम लक्ष्य। धर्म ब्रह्मचर्य आश्रम का और अर्थ तथा काम गृहस्थाश्रम के प्रमुख पुरुषार्थ हैं। गृहस्थाश्रम में 'अर्थ' और काम उस व्यक्ति के जीवन के प्रमुख पुरुषार्थ है जिसने पहले ही धर्म का सैद्धान्तिक तथा व्यावहारिक ज्ञान प्राप्त कर लिया है और जिसने यह मान लिया है कि मोक्ष जीवन का सर्वोपरि पुरुषार्थ है और उसके लिए आत्म ज्ञान आवश्यक है[1]।

---

1 प्रभु के अनुसार गृहस्थाश्रम में अर्थ और काम पुरुषार्थों की प्रधानता इसलिए रखी गई है कि व्यक्ति के जैविक विकास में एक अवस्था वह आती है जब

वानप्रस्थ आश्रम मे धम और मोक्ष जीवन क मुख्य पुरुषाथ हो जाते है यद्यपि इनम धम का स्थान प्रधान रहता है। स यास आश्रम म मोक्ष सर्वोपरि पुरुषाथ हो जाता है। सयासी क लिए मोक्ष भी उसका धम हो जाता है। वास्तव म यदि देखा जाय तो, सभी आश्रमो का सम्बन्ध मोक्ष स है। हा यह अवश्य है कि कहीं मोक्ष का प्रत्यक्ष प्रधानता मिली है और कहीं अप्रत्यक्ष। जस सभी आश्रमो की परिणति स यास म होती है वस ही सभी पुरुषार्थों की परिणति मोक्ष म होती है।

आश्रम व्यवस्था एक ओर धम परम्परा म सम्बधित रही है और दूसरी ओर, यज्ञ परम्परा म। चारो आश्रमो को चार प्रकार क यज्ञ माना गया है। ब्रह्मचर्य-आश्रम को ज्ञान-यज्ञ की अवस्था माना गया है। ब्रह्मचय आश्रम को ज्ञान यज्ञ की अवस्था माना गया है क्योकि इस अवस्था म व्यक्ति आत्म नियन्त्रण तथा ज्ञान की दीक्षा लेता है। गहस्थाश्रम को कमयज्ञ कहा गया है। गहस्थाश्रम म अथ और काम की साधना करता हुआ व्यक्ति पत्नी सन्तान कुल आचाय अतिथि तथा देवो के प्रति अपन दायित्व को निभाता है। गहस्थाश्रम इस प्रकार नि स्वाथ सवा की अवस्था है और नि स्वाथ सवा क द्वारा ही व्यक्ति समाज क प्रति अपना योगदान देता है। वानप्रस्थ आश्रम, एक ओर धीर धीरे अथ काम और ससार क त्याग की तथा, दूसरी ओर, उस अन्तिम यज्ञ की तयारी है जो सन्यास आश्रम म पूण होती है। सन्यास-आश्रम म परमशक्ति क प्रति सर्वापण करके व्यक्ति ज्ञानभक्त हो जाता है। सन्यास एक ओर सम्पूण त्याग तथा दूसरी ओर आत्माहुति की अवस्था है। आत्मा-हुति का अथ है आत्मा की आहुति अथात पूणत्व की प्राप्ति क लिये आत्मा की परमात्मा क प्रति पूण तथा निरपक्ष प्रपत्ति। आत्माहुति पूण करना इच्छा म उत्पन्न होती है। हिन्दू विचारधारा म पूणत्व का उच्चतम उद्देश्य है। पूणत्व मानवी नहीं

जीवन में अथ तथा काम की प्रधानता बढ़ जाती है क्योकि अथ और काम व्यक्ति तथा समाज की आनुवंशिकता क अग है। अथ और काम व्यक्ति तथा समाज की क्रियाशीलता क शारीरिक दहिक तथा मानसिक आधार है। व्यक्ति और समाज क लिए उनकी उन्नति अभिव्यक्ति आदि यह है जिसे धम द्वारा नियत्रित करने का प्रयत्न किया गया है। अथ और काम का धम तथा आश्रम व्यवस्था क द्वारा मानव-जीवन में इस प्रकार समन्वय किया गया है कि उनको उचित अभिव्यक्ति से मानव तथा समाज की दृढ़ रक्षा स्थायित्व, वद्धि तथा विकास मिल जो प्रत्यक व्यक्ति क व्यक्तित्व क अनुरूप हो। धम तथा आश्रम क द्वारा अथ और काम की अभिव्यक्ति, व्यक्ति में सजग आत्मनियन्त्रण तथा आत्मगति को प्रोत्साहित करती है। इस सजग आत्मनियन्त्रण तथा आत्मगति में मानव तथा उसकी सांस्कृतिक आनुवंशिकता की एतिहासिकता क बीज निहित है—प्रभु वही पष्ट 97

मानवीय एषणा है जो पुरुष को पुरुषोत्तमत्व की ओर ले जाती है। संन्यास आश्रम में व्यक्ति इस संसार में आत्मा के स्थान, महत्व और अर्थ को समझकर अपने को मोक्ष के लिये तैयार करता है। इस प्रकार चारों आश्रमों में जैविक तथा सामाजिक आवश्यकताओं के अनुसार व्यक्ति को ज्ञान, कर्म, भक्ति के प्रति आत्मसमर्पण करना पड़ता है। प्रत्येक आश्रम से सम्बन्धित यज्ञ, उस आश्रम के उद्देश्य को व्यक्त करता है। यज्ञ में जैसा कि पहले कहा जा चुका है त्याग तथा समर्पण की भावना रहती है। आश्रम को यज्ञ मानकर आश्रम के उद्देश्य के प्रति व्यक्ति में समर्पण की भावना लाने का प्रयास किया गया है। आश्रम व्यवस्था में ज्ञान कर्म और भक्ति के प्रति क्रमशः अपने को समर्पित करता हुआ व्यक्ति एक ओर जैविक तथा सामाजिक आवश्यकताओं की पूर्ति करता है और दूसरी ओर जीवन के परम उद्देश्य मोक्ष को प्राप्त करता हुआ पूर्णत्व को प्राप्त करता है।

गोखले के अनुसार आश्रम व्यवस्था का निरूपण ब्राह्मण ग्रन्थों के युग में हुआ है यद्यपि इनका उल्लेख पाणिनि तथा कौटिल्य के युग में भी मिलता है। धर्म शास्त्रों में प्रत्येक आश्रम के धर्म का विस्तृत निरूपण मिलता है[1]। प्रारम्भ में तीन आश्रमों का ही वर्णन मिलता है। छान्दोग्य उपनिषद में धर्म के तीन स्कन्धों (आचार्यकुलवास गार्हस्थ्य जीवन तथा तप) के रूप में केवल तीन ही आश्रमों का वर्णन मिलता है। मनुस्मृति में भी विद्वानों का ऐसा मत है कि तीन ही आश्रमों का निरूपण हुआ है। हिन्दू विचारधारा में तीन आश्रमों का निरूपण दो दृष्टिकोणों से किया गया है। एक, वानप्रस्थ और संन्यास वस्तुतः एक ही आश्रम में आते हैं। अतः उन्हें एक ही आश्रम माना जा सकता है। दूसरे जब संन्यास में सम्पूर्ण त्याग हो जाता है और व्यक्ति का अपने लिये तथा संसार के लिये अस्तित्व ही समाप्त हो जाता है तो सिद्धान्ततः संन्यास आश्रम का अस्तित्व ही नहीं है। इसीकारण एक विचारधारा यह भी रही है कि संन्यास वस्तुतः आश्रम ही नहीं है। इसीलिए, चार के स्थान पर तीन आश्रमों का वर्णन मिलता है। प्रारम्भ में ब्रह्मचर्य गार्हस्थ्य वानप्रस्थ तथा संन्यास के अनुक्रम का भी वर्णन नहीं मिलता है। ब्रह्मचर्य गार्हस्थ्य वानप्रस्थ तथा संन्यास के अनुक्रम में आश्रमों का वर्णन उपनिषदों के उत्तरकाल में मिलता है[2]।

किस आयु में व्यक्ति किस आश्रम में प्रवेश करे यह मतमतान्तर का विषय रहा है। किस अवधि और किस आयु तक व्यक्ति विभिन्न आश्रमों में रहे यह भी मतमतान्तर का विषय है। किस आयु में व्यक्ति ब्रह्मचर्य आश्रम में प्रवेश करे इसका निर्धारण अलग अलग वर्णों के लिये अलग अलग किया गया है। जिसका वर्णन आगे चलकर वर्ण व्यवस्था के सन्दर्भ में किया जायगा। इस विषय में सर्वमान्य साधारण

1 गोखले बी० जी० वही पृष्ठ 38

2 प्रभु, पी० एच० वही पृष्ठ 8०

नियम यह है कि जब व्यक्ति की शिक्षा दीक्षा समाप्त हो जाय और व्यक्ति वैवाहिक जीवन का दायित्व सँभालने के योग्य हो जाय तब वह गृहस्थाश्रम में प्रवेश करे। जब खाल में झुर्रियाँ पड़ने लगें, बाल सफेद होने लगें और व्यक्ति पौत्रों को देख ले, तब स्त्री के साथ वनवासी जीवन व्यतीत करे और इस प्रकार, धीरे धीरे, अपने को सम्पूर्ण त्याग तथा आत्माहुति के लिये तैयार करे। वात्स्यायन ने सौ साल की स्वाभाविक आयु को तीन कालों (बाल्य, यौवन तथा स्थविर) में बाँटा है। बाल्यकाल, वात्स्यायन के अनुसार, विद्या ग्रहण का काल है, यौवन काम की स्वाभाविक एषणा की सन्तुष्टि का और स्थविरकाल (वृद्धावस्था) धर्म तथा मोक्ष की साधना का। किन्तु, साथ ही साथ, वात्स्यायन ने यह भी कहा है कि मानव जीवन अस्थिर तथा अनिश्चित है। अतः, जब अवसर मिले तभी विद्या, काम, धर्म तथा मोक्ष का साधन करना उचित है। इसका तात्पर्य यह है कि त्रिवर्गी पुरुषार्थों (धर्म, अर्थ और काम) का उचित समन्वय करके उनकी इस प्रकार साधना करनी चाहिये कि उनमें से कोई भी किसी का बाधक न बने। मनु ने भी इसी पर जोर दिया है कि त्रिवर्ग पुरुषार्थ के उचित समन्वय से ही व्यक्ति का उच्चतम लाभ होता है[1]।

इन चारों आश्रमों का अनुक्रम से पालन करना चाहिये या नहीं, यह भी मतभेद का विषय है। मनु ने गृहस्थाश्रम के बाद सीधे संन्यास आश्रम में प्रविष्ट होने की अनुमति दी है। जाबाल श्रुति से उद्धरण देते हुए मनु के भाष्यकार कुल्लूक भट्ट ने यह लिखा है कि ब्रह्मचर्य आश्रम के पूर्ण होने पर व्यक्ति को क्रमशः गार्हस्थ्य, वानप्रस्थ तथा संन्यास आश्रमों में प्रवेश करना चाहिये या यदि व्यक्ति चाहे तो वह ब्रह्मचर्य आश्रम के बाद या गृहस्थाश्रम के बाद सीधे संन्यास आश्रम में प्रवेश कर सकता है। स्वामी दयानन्द ने केवल उसी को ब्रह्मचर्य से संन्यास आश्रम में जाने की राय दी है जिसमें इस साधना की क्षमता हो। याज्ञवल्क्य ने भी गृहस्थाश्रम से संन्यास आश्रम में प्रविष्ट होने की अनुमति दी है[2]। लेकिन, दूसरी ओर धर्मशास्त्रों में यह कहा गया है कि प्रत्येक व्यक्ति को क्रमशः चार आश्रमों के अनुसार जीवन व्यतीत करना चाहिये क्योंकि मोक्ष का भागी वही व्यक्ति होता है जो आश्रमों के अनुक्रम के अनुसार जीवन व्यतीत करता हुआ, यांत्रिक जीवन व्यतीत करता है और जितेन्द्रिय होता है और जीवन के अन्तिम दिन भिक्षाटन तथा परिव्राजन में व्यतीत करता है।

हिन्दू विचारधारा में साधारणतः चारों आश्रमों के अनुक्रमानुसार जीवन व्यतीत करने की महत्ता स्वीकार की गई है। सीधे ब्रह्मचर्य से संन्यास आश्रम में प्रवेश करने की अनुमति अपवाद के रूप में केवल विशेष दशाओं में ही दी गई है। जीवन एक क्रमिक विकास है और जीवन की आवश्यकतायें तभी पूर्ण हो सकती हैं

1 मनु, पी० एच० वही पष्ठ 89
2 मनु वही पष्ठ 91

जब व्यक्ति विकास की सभी अवस्थाओं के अनुसार जीवन व्यतीत किया जाय। जैसा कि पहले कहा जा चुका है ब्रह्मचर्य गार्हस्थ्य वानप्रस्थ तथा संन्यास का अनुक्रम व्यक्ति के जैविक, मानसिक तथा सामाजिक विकास का आधार है। ब्रह्मचर्य आश्रम से व्यक्ति ऋषि ऋण से उऋण होता है गार्हस्थ्य आश्रम से पितृ ऋण से और वानप्रस्थ तथा संन्यास से देव ऋण से। ये तीनों ऋण सामाजिक आवश्यकताओं में बंधे हैं। अतः इनमें से किसी की भी अवहेलना नहीं की जा सकती। हाँ यह अवश्य है कि वानप्रस्थ तथा संन्यास को एक में मिलाया जा सकता है क्योंकि उनका उद्देश्य एक है। हिन्दू विचारधारा में यह सर्वमान्य है कि मोक्ष का अधिकारी वही है जिसने संन्यास के पहले वे तीनों दायित्वों का भार निभा लिया हो। स्वयं मनु ने यह स्वीकार किया है कि जो व्यक्ति बिना तीनों आश्रमों के दायित्व को निभाये मोक्ष प्राप्ति का प्रयास करता है, वह ऊर्ध्वगामी होने के बजाय अधःपतित होता है।

यह इसी विचारधारा का परिणाम है कि एक ओर ब्रह्मचर्य तथा संन्यास आश्रमों को सर्वाधिक वांछनीय माना गया है और, दूसरी ओर गार्हस्थ्य आश्रम को सर्वाधिक महत्ता दी गई है। व्यास के अनुसार गृहस्थ से पक्षियों, पशुओं और अन्य अनेक प्राणियों को सहायता मिलती है। गार्हस्थ्य आश्रम में ही धर्म, अर्थ तथा काम की एक साथ साधना होती है। गार्हस्थ्य जीवन के दायित्वों तथा कर्त्तव्यों को निभाना ही सर्वोच्च धर्म है। गृहस्थाश्रम में की गई धर्म, अर्थ तथा काम की साधना का प्रयोग मोक्ष की साधना के लिए किया जा सकता है। गृहस्थ आश्रम वस्तुतः अन्य आश्रमों का आधार है क्योंकि गृहस्थ के ही दातव्य पर ब्रह्मचारी, ऋषि और देव निर्भर करते हैं। गृहस्थाश्रम ही वैयक्तिक तथा सामाजिक ऋणों से उऋण होने का माध्यम है। गृहस्थाश्रम से ही प्रजनन की आवश्यकता की पूर्ति होती है। जिस प्रकार सभी प्राणियों का आधार वायु है, जैसे सभी छोटी बड़ी नदियों का आधार समुद्र में है, वैसे ही सभी आश्रमों का आधार और दायित्व गृहस्थाश्रम से है। सभी आश्रमों के व्यक्तियों में गृहस्थ का स्थान श्रेष्ठ है क्योंकि गृहस्थ तीनों आश्रमों के व्यक्तियों को आधार प्रदान करता है। मनुस्मृति के अनुसार जिस व्यक्ति को इस संसार में स्थायी सुख और परलोक में नित्य सुख की चाह हो उसके लिए गृहस्थाश्रम का दायित्व निभाना आवश्यक है। गृहस्थाश्रम के लिए महान प्रयत्न की आवश्यकता है क्योंकि गृहस्थाश्रम का भार संयमित ही उठा सकता है[1]। लेकिन हिन्दू विचारधारा में गृहस्था-

---

1 महाभारत में शान्तिपर्व में आये एक प्रसंग के अनुसार, जब संसार से तंग आकर युधिष्ठिर ने संन्यास लेने की सोची तो उनके भाइयों, उनकी पत्नी तथा द्वैपायन व्यास ने उन्हें गृहस्थाश्रम में ही रहने की सलाह दी। उनको यह दृष्टान्त सुनाया गया जिसमें कुछ ब्राह्मण कुमारों ने अल्पायु में संन्यास ले लिया था और इन्द्र ने उन पर दया करके उनको यह शिक्षा दी थी कि गृहस्थाश्रम का

श्रम की वाछनीयता सापेक्ष है न कि निरपेक्ष। गृहस्थाश्रम न तो अपने म पूर्ण है और न अपने तक ही सीमित है। सभी आश्रम परस्पर निर्भर साधन हैं। एक साधन के रूप म प्रत्येक आश्रम दूसरे आश्रम से बधा हुआ है। जीवन का साध्य है अभ्युदय और निश्रेयस जिसकी चरम अभिव्यक्ति है मोक्ष। व्यक्ति अपनी जगह पर है और समाज अपनी जगह पर। गृहस्थाश्रम से व्यक्ति समाज से बधता है। लेकिन वानप्रस्थ और सन्यास व्यक्ति को समाज से ऊपर उठाते हैं—वहा, जहा व्यक्ति का ही स्वत्व समाप्त हो जाता है और वह सर्वात्मा म लीन हो जाता है। व्यक्ति का सर्वात्मत्व म लीन होना एक क्रमिक विकास प्रक्रिया है। आश्रमो का अनुक्रम इसी विकास प्रक्रिया की शृ खला है।

दायित्व दिये बिना सन्यास बेकार है। उस दृष्टान्त में आये इन्द्र के कथनानुसार गृहस्थाश्रम के उचित प्रबन्ध पर ही सभी कुछ निर्भर है। गृहस्थाश्रम का जीवन श्रेष्ठ और पवित्र है क्योंकि उसमें जीवन के उद्देश्य की सफलता के लिये काफी स्थान है—प्रभु वही पृष्ठ 93

आठवाँ अध्याय

वर्ण-व्यवस्था

वर्ण व्यवस्था में धर्म के सामाजिक पक्ष की अभिव्यक्ति हुई है। जैसे आश्रम को, एक ओर व्यवस्था माना गया है और, दूसरी ओर धर्म माना गया है, वैसे ही वर्ण को, एक ओर व्यवस्था माना गया है और दूसरी ओर, धर्म। हिन्दू मान्यताओं के अनुसार व्यक्ति एक ओर संस्कारों के माध्यम से आश्रम धर्म पालन करता हुआ, सामाजीकृत होता है और जीवन के परम उद्देश्य को प्राप्त करता है और, दूसरी ओर सामाजीकृत व्यक्ति, अपने स्वाभाविक गुणों के अनुसार, किसी न किसी वर्ण में जीवन व्यतीत करता है। समाज में व्यक्ति का जीवन, एक ओर संस्कार तथा आश्रम में बंधा हुआ है और दूसरी ओर वर्ण से। आश्रम धर्म-तथा व्यवस्था व्यक्ति में निहित नैतिक क्षमता (श्रम) की स्वाभाविक अभिव्यक्ति के सामाजिक संचालन की योजना पर आधारित है और वर्ण धर्म तथा व्यवस्था व्यक्ति के स्वाभाविक गुणों के सामाजिक विकास तथा संचालन पर है। संस्कार तथा आश्रम में व्यक्ति का स्वाभाविक नैतिक तथा सामाजिक विकास होता है। वर्ण में व्यक्ति को उसके स्वाभाविक गुणों के अनुसार सामाजिक प्रतिष्ठा तथा भूमिका (Social Status and Role) मिलता है। आश्रम व्यवस्था का प्रत्यक्ष सम्बन्ध समाज में व्यक्ति और

सामाजिक संगठन से है लेकिन वर्ण-व्यवस्था का सम्बन्ध वर्ग तथा सामाजिक संरचना से है। वर्ण का प्रत्यक्ष सम्बन्ध उन समूहों और उनके पारस्परिक सम्बन्धों से है जिनमें, अपने स्वाभाविक गुणों के अनुसार, प्रत्येक व्यक्ति को स्थान मिलता है वर्ण से ही व्यक्ति की सामाजिक प्रतिष्ठा तथा भूमिका निर्धारित होती है। अतः वर्ण व्यक्ति का सामाजिक क्रिया का आधार बन जाता है। इसीकारण हिन्दू मान्यताओं में, वर्ण का सम्बन्ध कर्म से है। वर्ण के अनुसार कर्म ही व्यक्ति का धर्म है और यही मान्यता वर्ण धर्म का सार है।

अपने मूल रूप में वर्ण एक संरचनात्मक सामाजिक व्यवस्था है जिसका आधार धर्म है। समाजशास्त्रीय मान्यताओं के अनुसार जहाँ सामाजिक संरचना (Social Structure) में वैसे समूहों में उच्चावचपरम्परा (Hierorchy) पाई जाती है और इसी उच्चावच परम्परा के अनुसार व्यक्ति की सामाजिक भूमिका तथा प्रतिष्ठा निर्धारित होती है। हिन्दुत्व में प्रतिपादित समाजशास्त्रीय मान्यताओं के अनुसार सामाजिक उच्चोच्चपरम्परा भूमिका तथा प्रतिष्ठा का आधार धर्म है। इस दृष्टिकोण से वर्ण व्यवस्था के दो अन्योन्याश्रित पहलू हो जाते हैं—एक, सामाजिक वर्ग-व्यवस्था (Social Class System) का और दूसरा वर्ण धर्म का। पहले का सम्बन्ध समाज में स्वभावतः उत्पन्न होने वाले वर्गों उनके स्तरों तथा उनमें निहित उच्चोच्च परम्परा से है और दूसरे का इन वर्गों की सामाजिक महत्ता और इनमें आने वाले व्यक्तियों के कर्मों से है। वर्ण व्यवस्था तथा वर्ण धर्म के सामाजिक उपकरण हैं जिनके माध्यम से व्यक्ति की सामाजिक वृत्ति का अभिव्यक्ति मिलती है।

२

वर्ण की व्याख्या

वर्ण की धारणा के समुचित स्पष्टीकरण के लिए वर्ण व्यवस्था तथा वर्ण धर्म का अलग अलग स्पष्टीकरण आवश्यक है। संस्कृत भाषा में वर्ण शब्द के कई अर्थ भिन्न हैं। क्रिया के रूप में वर्ण शब्द के अर्थ हैं—रंगना, वर्णन करना, रचना लिखना, चित्रण करना, अंकित करना, प्रशंसा करना, प्रसारित करना, फैलाना और प्रमाणित करना। संज्ञा के रूप में, वर्ण शब्द के अर्थ हैं रंग, रंग, त्वचा का रंग सौन्दर्य, एक मानव-समूह, जनजाति (Tribe) वर्ग, प्रजाति नस्ल, प्रकार एक अक्षर ध्वनि एक शब्द ध्वनि प्रतिष्ठा परिधान आवरण बाह्य स्वरूप गीतक्रम गीत का विषय, सोना हाथी का रंग या स्थान विशेषता और धार्मिक अनुष्ठान इत्यादि। वर्ण का प्रयोग ब्राह्मण, क्षत्रिय वैश्य और शूद्र में से

प्रत्येक वर्ग के लिए भी किया जाता है[1] और इसी सन्दर्भ में वर्ण शब्द का सबसे अधिक प्रचलन है। वर्ण शब्द की व्युत्पत्ति व्री धातु से की जा सकती है। 'व्री' धातु का अर्थ है 'चुनना' या 'चुना हुआ होना'। इस सन्दर्भ में वर्ण शब्द का अर्थ हुआ वह जो औरों की अपेक्षा चुना गया हो। मानव समाज के सन्दर्भ में वर्ण का आशय है वर्ग। अतः समाजशास्त्रीय सन्दर्भ में, वर्ण शब्द का अर्थ हुआ चुना हुआ वर्ग। जहाँ चुनने का भाव है वहीं पूर्वता या पूर्वगामिता क्रम (Order of Precedence) का भाव आ जाता है। व्याकरण में अक्षरों के क्रम के लिए वर्णमाला शब्द का प्रयोग किया गया है जो इस तथ्य की पुष्टि करता है कि जहाँ वर्ण शब्द का प्रयोग चुनने, चुने हुए या वर्ग के अर्थ में हुआ है वहाँ पूर्वगामिता क्रम (Order of Precedence) का भाव विद्यमान है और जहाँ पूर्वगामिता क्रम का भाव है, वहीं उच्चोच्च परम्परा का भाव है। इरावती कर्वे के अनुसार संस्कृत-साहित्य में मानव समाज का वर्णन करने के लिए जहाँ वर्ण शब्द का प्रयोग हुआ है, वहाँ वर्ण से तात्पर्य है वर्ग की सामाजिक प्रतिष्ठा तथा स्थिति से[2]। अतः वर्ण व्यवस्था से तात्पर्य है सामाजिक वर्गों की प्रतिष्ठा तथा उनकी कार्यात्मक महत्ता के अनुक्रम से।

हिन्दू मान्यताओं के अनुसार ब्राह्मण, क्षत्रिय, वैश्य और शूद्र—ये चार वर्ण समाज के आधार हैं। प्रत्येक व्यक्ति को अपने गुण तथा कर्मों के अनुसार इन्हीं में से किसी न किसी का सदस्य होना पड़ता है और जिस वर्ण का व्यक्ति सदस्य होता है उसी के अनुसार जीवन बिताना, व्यक्ति का धार्मिक कर्तव्य हो जाता है। प्रत्येक वर्ण के सदस्यों के क्या सामाजिक कर्तव्य हैं इसका निरूपण धर्म के द्वारा किया गया है। चारों वर्ण एक उच्चोच्चपरम्परा में गुँथे हुए हैं जिसमें ब्राह्मण की प्रतिष्ठा सर्वोपरि है और शूद्र की निम्नतम। सामाजिक प्रतिष्ठा में क्षत्रिय, ब्राह्मण से निम्न किन्तु वैश्य से उच्च माना गया है और वैश्य क्षत्रिय से निम्न किन्तु शूद्र से उच्च माना गया है।

---

1 आप्टे, वी० एस० दि स्टूडेण्ट्स संस्कृत इंगलिश डिक्शनरी पृष्ठ 403

2 सामान्यतः चार वर्ण माने गए हैं यद्यपि कहीं कहीं तीन वर्णों का भी उल्लेख मिलता है और कहीं कहीं पाँच का। प्रारम्भिक वैदिक साहित्य में कहीं कहीं आर्य तथा दास और कहीं-कहीं ब्राह्मण और राजन्य या क्षत्र दो ही वर्णों का वर्णन मिलता है। आर्य समाज में ब्राह्मण, राजन्य (क्षत्रिय) और विश (वैश्य) तीन वर्णों का उल्लेख मिलता है। शूद्र वर्ण की उत्पत्ति बाद में हुई, ऐसा माना जाता है। शुक्रनीतिसार की रचना मुसलमानों के आक्रमण काल के समय हुई है। उसमें शूद्र वर्ण से नीचे एक पाँचवाँ म्लेच्छ वर्ण जोड़ दिया गया है। शूद्रों के नीचे चाण्डालों इत्यादि का एक ऐसा वर्ग रहा है जिसे साधारणतः अवर्ण माना गया है लेकिन, कहीं कहीं उसे पंचम वर्ण मान लिया गया है।

यहाँ यह प्रश्न उठता है कि ब्राह्मण, क्षत्रिय, वैश्य और शूद्र क्या हैं ? महाभारत के वन पव मे यह कहा गया है कि सतयुग[1] म वण विभाजन नहीं था। किन्तु महाभारत के शातिपव मे आये एक प्रसग म, वर्ण-व्यवस्था की उत्पत्ति के प्रश्न पर महर्षि भृगु से यह कहलाया गया है कि पहले ब्राह्मण वण की उत्पत्ति हुई और बाद मे क्षत्रिय, वैश्य तथा शूद्र वर्णों की। ब्राह्मण का वण सित (श्वेत), क्षत्रिय का लोहित (रक्ताभ) वश्य का पीत (पीला) और शूद्र का असित (कृष्ण) था।

वण और प्रजाति

इस आधार पर यह सिद्ध करने का प्रयत्न किया गया है कि सम्भवत भारत म वण व्यवस्था का आधार विभिन्न प्रजातियो का सम्पर्क रहा है। भारत के इतिहासकारो न बहुधा वण-व्यवस्था का आधार प्रजाति को माना है जिसे मानवशास्त्र के विद्यार्थियो ने अस्वीकार किया है। गोखले के अनुसार, जब आय भारत म आये तो सबसे पहले प्रजाति के आधार पर सामाजिक विभाजन का आविर्भाव हुआ। यही विभाजन आगे चल कर वण व्यवस्था का आधार बना यद्यपि कालान्तर मे सामाजिक विभाजन के आधार के रूप म, प्रजाति का महत्व समाप्त हो गया। फिर भी प्रजाति के आधार पर उत्पन्न हुआ सामाजिक विभाजन एक समाजशास्त्रीय परिकल्पना (Sociological Fiction) के रूप म चलता रहा[2]। गोखले ने एक ओर वण की उत्पत्ति प्रजाति से मानी है और, दूसरी ओर वण को केवल परिकल्पना (अवास्तविकता) कहा है। पानिक्कर ने भी वण व्यवस्था को परिकल्पना ही माना है क्योकि उनके अनुसार इतिहास द्वारा यह सिद्ध किया जा सकता है कि चतुर्वर्णी विभाजन वास्तव मे, कभी अस्तित्व म था ही नहीं[3]।

यहाँ दो प्रश्न उठते हैं एक क्या वण कोरी परिकल्पना ही है या केवल मान्यता है जिसकी प्राचीन हिन्दू समाजशास्त्रियो ने केवल कल्पना ही की है और जिसने कभी भी व्यावहारिक वास्तविकता का रूप लिया ही नहीं है दूसरा क्या वण व्यवस्था का आधार प्रजाति है। वण किस प्रकार की वास्तविकता है ? इस प्रश्न के समाधान की समस्या को आगे के लिए छोडकर यहाँ इस प्रश्न को लेते हैं कि क्या वण व्यवस्था का आधार प्रजाति है। इसम कोई सन्देह नहीं कि भारत मे संसार की लगभग सभी मुख्य प्रजातियाँ पाई जाती हैं और यह भी सही है कि संसार के जिन

---

1 हिन्दू विचार के अनुसार, मानव इतिहास चार युगों में बँटा हुआ ह सत्ययुग त्रेता, द्वापर और कलियुग। वतमान युग कलियुग ह। सत्ययुग धम का स्वर्णिम युग माना जाता ह। सत्ययुग से धम का बराबर ह्रास होता रहा ह। कलियुग अधम का युग ह जिसका अभ्युत्थान कल्कि अवतार द्वारा होगा।

2 गोखले, बी० जी० वही पृष्ठ 30

3 पानिक्कर, के० एम० हिन्दू सोसायटी एट क्रास रोड्स पृष्ठ 7

क्षेत्रों में अनेक प्रजातियों का सम्पर्क हुआ है, वहां सामाजिक वर्गों का विभाजन प्रजाति तथा जन्म के आधार पर हुआ है। अमरीका तथा अफरीका के सामाजिक संगठन में पाया जाने वाला वर्ण भेद और उसके आधार पर उत्पन्न होने वाला सामाजिक विभाजन इसका प्रमाण है। जैसा कि महाभारत के पिछले उद्धरण से स्पष्ट है प्रत्येक विभाजन (वर्ग) के वर्ण से उसके एक अलग प्रजाति होने का आभास मिलता है। ब्राह्मण का वर्ण श्वेत है जिससे उसके श्वेत प्रजाति होने का, वैश्य का पीली अर्थात मंगोलियन प्रजाति होने का और शूद्र का कृष्ण वर्ण होने के कारण नीग्राइड प्रजाति का होने का आभास मिलता है। ब्राह्मण और शूद्र के प्रजातिक गठन में साधारणतया अंतर है यह डा० मजूमदार के उत्तर प्रदेश के प्रजाति सर्वेक्षण के परिणामों से स्पष्ट है। ब्राह्मण में सामान्यतः काकेस्वायड प्रजाति के तत्वों का बाहुल्य है और शूद्र में प्राटो आस्ट्रालायड प्रजाति के तत्वों का[1]। हटन के अनुसार चारों वर्णों का अलग अलग रंगों में सम्बन्धित होना यह जाहिर करता है कि सम्भवतः वर्ण भेद कहीं पर, किसी न किसी रूप में, प्रजाति से सम्बन्धित है। विभिन्न वर्णों का अलग अलग रंगों से सम्बन्धित करना मिस्र की उस प्राचीन प्रथा की याद दिलाता है जिसके अनुसार प्राचीन मिस्र में मिस्र निवासियों को लोहित वर्ण का, एशियावासियों को पीत वर्ण का, मिस्र के उत्तर में रहने वालों को श्वेत वर्ण का और नीग्रो को कृष्ण वर्ण का दिखाया जाता था[2]।

हटन ने, जैसा कि उनके उपर्युक्त मत से स्पष्ट है, केवल यह सम्भावना ही मानी है कि हो सकता है कि किसी रूप में वर्ण का सम्बन्ध प्रजाति से हो। लेकिन उन्होंने इस सम्भावना को केवल सम्भावना ही मानकर छोड़ दिया है। उन्होंने स्वयं यह दिखाया है कि किस प्रकार होकार्ट ने वर्ण के प्रजातीय सिद्धान्त की आलोचना की है। हटन ने वर्ण को सामाजिक वर्ग माना है। हटन के शब्दों में, <u>ऐसा लगता</u> है कि अपने प्रारम्भिक रूप में वर्ण चार वर्ग (Classes) थे जिनमें ऋग्वैदिक समाज विभाजित था और यह सम्भव है कि वैदिक काल में इनमें कोई अन्तर न था जिसे मिटाया न जा सके। उत्तर वैदिक काल का चतुर्वर्णी विभाजन तत्कालीन समाज के चार वर्गों में विभाजित होने का प्रतीक है[3]।

इरावती कर्वे के अनुसार यह मानना भूल होगी कि वर्ण व्यवस्था की उत्पत्ति प्रजातिक भिन्नता के प्रति उस सजगता से हुई है जिसका आधार केवल त्वचा का गुण है। प्रजाति केवल त्वचा के वर्ण पर ही आधारित नहीं है। यह अवश्य है कि वैदिक साहित्य में आर्यवर्ण तथा दासवर्ण का वर्णन मिलता है और आर्यों को

---

1 मजूमदार, डी० एन० रेसेज एण्ड कल्चर्स आफ इण्डिया पृष्ठ 51 54
2 हटन, जे० एच० कास्ट इन इण्डिया पृष्ठ 65
3 हटन जे० एच० वही पृष्ठ 64–65

श्वेतवर्णी तथा दासों को कृष्ण वर्णी चित्रित किया गया है। लेकिन साथ ही साथ, यह भी सही है कि वैदिक साहित्य में ब्राह्म (ब्राह्मण) और राजन्य (क्षत्र क्षत्रिय) वर्णों का भी उल्लेख मिलता है। ये दोनों वर्ण आर्यों के ही सामाजिक संगठन में थे और इनके अन्तर का आधार त्वचा का वर्ण न होकर, उनकी सामाजिक प्रतिष्ठा तथा भूमिका का अन्तर था। जहां कहीं आर्यों के तीन वर्णों का उल्लेख है, वहां 'विश' को तीसरा वर्ण कहा गया है। विश का अर्थ है सभी, सामान्य जन। इसी आधार पर वैदिक साहित्य में सम्राट को विशाम्पति (विश का पति) कहा गया है। इसी सन्दर्भ में वर्ण के उस अर्थ की सार्थकता स्पष्ट होती है जिसमें वर्ण से चुने हुए का तात्पर्य लिया गया है। ब्राह्म और राजन्य का अर्थ उन वर्गों से है जो विश में से चुने गए हों अर्थात् जो अपने कार्यों के आधार पर सर्वसाधारण (विश) से भिन्न हों। विश, जन साधारण के रूप में प्रतीक है कृषक, पशुपालक, व्यापारी और सेवक का। ब्राह्म, राजन्य और विश (वैश्य) आर्यों के सामाजिक संगठन में तीन वर्ग थे। इन तीनों वर्गों के लोग समान देवताओं की पूजा करते थे और जन्म से मृत्यु तक के समान संस्कारों को मानते थे। तीनों वर्णों के लोग उपनयन संस्कार करते थे[1]। इनके विभाजन का आधार प्रजाति न होकर उनके सामाजिक कार्यों की भूमिकाओं की भिन्नता थी।

महाभारत के जिस प्रसंग में चार वर्णों के अलग अलग रंगों का उल्लेख किया गया है, उसी प्रसंग में आगे चलकर वर्ण का आधार त्वचा के रंग को न मानकर कर्म को माना गया है। जब भृगु ने यह कहा कि वर्ण का आधार त्वचा का रंग है तो भरद्वाज ने यह शंका प्रगट की कि त्वचा के रंग तो विविध हैं। उनके आधार पर चार वर्णों का विभाजन किस प्रकार सम्भव हुआ? इस पर भृगु ने उत्तर दिया कि वर्णों में वस्तुतः कोई अन्तर नहीं है। पहले सारा संसार ब्राह्मण वर्ण में था। लेकिन बाद में, अलग अलग कर्मों के कारण अलग-अलग वर्णों का आविर्भाव हुआ। चारों वर्णों की उत्पत्ति द्विज वर्ग में से हुई है। जिन द्विजों में भोग-सुख की आसक्ति बढ़ी, जिनमें क्रोध और रूक्षता की विशेषताओं की उत्पत्ति हुई जिनमें साहस और बल का आविर्भाव हुआ जो स्वधर्म की ओर से उदासीन हुए और जिनका वर्ण रक्ताभ था वह क्षत्रिय हुए। स्वधर्म के प्रति उदासीन रक्त तथा कृष्णवर्ण युक्त कृषक तथा पशुपालक वैश्य और असत्यप्रिय, हिंसक बिना किसी सोच विचार के जीविका के लिये सभी कर्मों को अपनाने वाले नीच परिभ्रष्ट और कृष्णवर्णी द्विज शूद्र हुए। इसप्रकार, क्षत्रिय, वैश्य तथा शूद्र वर्णों के लोग ब्राह्मण वर्ण के स्वधर्म से क्रमशः गिरे हुए लोग हैं। सबको धार्मिक तथा धार्मिक क्रियाओं को करने का अधिकार है। वर्ण का आधार धर्म-कर्म है न कि त्वचा-वर्ण।

1 कर्वे, इरावती वही पृष्ठ 52–53

होकार्ट[1] ने भी वर्णव्यवस्था में प्रजातिक आधार को अस्वीकार किया है और इस बात पर जोर दिया है कि चारों वर्णों के रंगों का जो वर्णन मिलता है उसकी प्रजातिक महत्ता न होकर, कर्मकाण्डी महत्ता (Ritual Significance) है। चार रंग प्रतीक हैं चार कोनों के। श्वेत उत्तर का प्रतीक है लोहित पूर्व का, पीत दक्षिण का और कृष्ण पश्चिम का। चारों वर्ण के लोग शहर या गांव के इन चारों कोनों में अलग अलग रहते थे—ब्राह्मण उत्तर में क्षत्रिय पूर्व में, वैश्य दक्षिण में और शूद्र पश्चिम में। अन्त्यज शहर के बाहर रहते थे और इसीकारण उनको अवर्ण कहा गया है। होकार्ट के सिद्धान्त में उस कल्पना का अधिक पुट है जो हिन्दू विचारधारा से मेल नहीं खाता है। यह निश्चयपूर्वक नहीं कहा जा सकता कि भारतीय जनता में व्याप्त प्रजातिक भिन्नता ने वर्ण विचार को प्रोत्साहन नहीं दिया है। सबसे अधिक निश्चित तथ्य यह है कि हिन्दू विचारधारा में जिस रूप में वर्ण का निरूपण किया गया है, उसका आधार प्रजाति नहीं है। वर्ण, जैसा कि आगे चलकर स्पष्ट किया जायगा प्रतीक हैं मानव की उन आधारभूत विधायक वृत्तियों के जिनसे मानव की सामाजिक वृत्ति की अभिव्यक्ति, गुण तथा कर्म के आधार पर वर्गों के रूप में होती है। ब्राह्मण प्रतीक है सत्व गुण का जिसका आधार ज्ञान तथा निर्मलत्व में है। हिन्दू विचारधारा में ज्ञान प्रकाशवान है। अतः उसका वर्ण सित अथवा श्वेत है। शूद्र तमोगुण का प्रतीक है जिसका आधार अज्ञान में है। अज्ञान ही तम (अन्धकार) है और तम का वर्ण है कृष्ण (काला)। राग कामना और आसक्ति रजोगुण के आधार हैं। लोहित रागात्मिका वृत्ति का प्रतीक है। क्षत्रित्व की विधायक वृत्ति रागात्मिका है। अतः क्षत्रिय का वर्ण लोहित है। पीत लोहित तथा कृष्ण वर्णों के सम्मिलित प्रभाव में उत्पन्न होता है। जहां रज और तम मिले हुए हैं वहां पीत अथवा वन्य वर्ण है। इस प्रकार ब्राह्मण क्षत्रिय वैश्य और शूद्र वर्गों के अलग अलग वर्ण उनकी वृत्तियां गुणों के प्रतीक हैं न कि प्रजाति के। वर्णनात्मक स्पष्टीकरण में प्रतीकों का प्रयोग हिन्दू विचारधारा की एक अभिन्न परम्परा रही है जिसका यहां भी प्रयोग हुआ है। वर्ण को जाति मानना वैसा ही धारणात्मक विभ्रम है जैसा कि वर्ण को प्रजाति मानना। भारतीय इतिहास तथा दर्शन के विद्यार्थी बहुधा इस वर्ण और जाति विभ्रम में फँसते रहे हैं। उदाहरणार्थ, के० एम० पानिक्कर ने ब्राह्मण क्षत्रिय वैश्य और शूद्र को चार जातियां माना है। चतुर्वर्ण व्यवस्था को उन्होंने चतुर्जाति व्यवस्था कहा है। अपनी इस मान्यता के आधार पर, उन्होंने यह लिखा है कि चतुर्वर्ण-व्यवस्था केवल एक सैद्धान्तिक योजना है जो वास्तविक व्यवहार से सम्बन्धित न होकर जाति शास्त्र से सम्बन्धित है। इतिहास के माध्यम से यह सिद्ध किया जा सकता है कि समाज का चार जातियों में विभाजन कभी भी

[1] जे० एच० हाकार्ट इन इण्डिया पृष्ठ 66

अस्तित्व में आया ही नहीं। पानिक्कर भी गोखले की भांति चतुर्वर्ण-व्यवस्था को
एक समाजशास्त्रीय परिकल्पना (Sociological Fiction) मानते हैं[1]। गोन्ल के
अनुसार, वर्ण का मूलाधार प्रजाति में है यद्यपि जैसा कि महाकाव्यों, स्मृतियों और
पुराणों में आये वर्णन में स्पष्ट है आगे चलकर वर्ण विभाजन के आधार पेशा
(Occupation) और प्रतिष्ठा (Status) हो गए। किन्तु दूसरी ओर गोन्ल ने
यह भी कहा है कि प्रारम्भिक आर्य समाज में पेशे के आधार पर जो विशेषीकरण
और उनके फलस्वरूप सामाजिक विभाजन" की प्रक्रिया चल रही थी उसी ने आगे

ब्राह्मण, क्षत्रिय, वैश्य और शूद्र पानिक्कर के अनुसार सुगठित जाति इकाइयां
नहीं हैं। ब्राह्मण एक हजार आठ सौ उपजातियों में विभक्त हैं। ऐति
हासिक काल में क्षत्रिय नाम की जाति पाई ही नहीं जाती है। महापद्मनन्द के
बाद से जितने भी परिचित राज-परिवारों का वर्णन मिलता है, वे क्षत्रिय
जाति के नहीं हैं। मौर्य शूद्र थे, गुप्त सम्राट वैश्य थे और भारशिव ब्राह्मण
थे। उदयपुर के सीसोदिया राजपूत मूलतः ब्राह्मण थे। महाराना कुम्भा ने
अपने शिलालेख में अपने को विप्र कहा है। राठौर राजपूत दक्षिण की एक
गणजाति थे जिन्हें आठवीं और नवीं शताब्दियों में राजपूत का स्तर मिला।
उसी प्रकार, वैश्य और शूद्र भी विजातीय समूह हैं। गोदावरी के उत्तर में
जो सामाजिक सत्ता राजपूतों के हाथ में रही है, गोदावरी के दक्षिण में वही
सामाजिक सत्ता आन्ध्र के रेड्डी, तामिलनाड के वल्लाल तथा मालाबार के
नायरों के हाथ में रही है यद्यपि, इन वर्गों को शूद्र की ही श्रेणी में रखा
गया है। भारत के विभिन्न भागों में जिन जिन परिवारों ने राज्य किया है,
उनमें से अधिकतर शूद्र-वर्ण से ही आये हैं। बंगाल के पालवंशी शासक और
मराठा राज-परिवार इसका प्रमाण हैं। यहाँ यह स्पष्ट है कि पानिक्कर वर्ण
को जाति मानते हैं और एक वर्ण के अन्तर्गत आने वाले विभिन्न अन्तर्विवाही
समूहों को उपजाति। समाज शास्त्रीय दृष्टिकोण से ये मान्यतायें गलत हैं।
वर्ण का एक अलग स्तर है और जाति का एक अलग। प्रत्येक अन्तर्विवाही
एक जाति है न कि उपजाति—पानिक्कर के० एम० हिन्दू सोसायटी एट क्रास
रोड्स पृष्ठ ८, ९

जैसा कि पहले लिखा जा चुका है जिस समय आर्य भारत में आये उस
समय उनमें वर्ण-व्यवस्था विद्यमान थी जिसका आधार विशेषीकरण की
आवश्यकता थी। एक ओर पौरोहित्य कर्म के लिये ब्राह्मणों का विशेषाकृत
समूह अस्तित्व में आ रहा था और, दूसरी ओर, राजधर्म के लिये क्षत्रियों का
और, तीसरी ओर, कृषि, पशुपालन तथा व्यापार के लिये विश अथवा वैश्यों के
समूह अलग अलग हो रहे थे।

चलकर वर्ण व्यवस्था को जन्म दिया। लेकिन, कालान्तर में, धीरे धीरे जब वर्ण के साथ पेशा और सामाजिक प्रतिष्ठा के आधार जुड़े तब, प्रसार के द्वारा वर्णों का विभाजन हुआ, और बाद में जब अनेक गणजातियों को वर्ण व्यवस्था में मिलाया गया तथा जब स्वयं गणजातियों में जब संस्कार सम्बन्धी तथा साम्प्रदायिक अंतर बढ़े तब वर्ण व्यवस्था ने जाति-व्यवस्था का रूप लिया। इसका परिणाम यह हुआ कि जैन तथा बौद्ध धर्मों के माध्यम से होने वाले विरोध के बावजूद भी, ईसा की पांचवीं शताब्दी पूर्व वर्ण का अर्थ जाति हो गया था[1]।

वर्ण विषयक इस धारणा से दो मान्यतायें निकलती हैं—एक, वर्ण व्यवस्था ने ही जाति व्यवस्था को जन्म दिया है और दो वर्ण जाति का दूसरा नाम है। भारत के मानवशास्त्रियों तथा समाजशास्त्रियों को ये दोनों मान्यताएं अमान्य हैं। इरावती कर्वे के अनुसार, साधारणतया वर्ण के लिये जाति शब्द का प्रयोग किया जाता है किन्तु यह प्रयोग तर्कसंगत नहीं है क्योंकि वर्ण और जाति, हिन्दू विचार धारा में दो अलग अलग प्रत्यय हैं। प्राचीनतम संस्कृत साहित्य में केवल वर्ण शब्द का प्रयोग मिलता है और जैसाकि पहले कहा जा चुका है कहीं दो वर्णों का उल्लेख मिलता है और कहीं तीन वर्णों का। चौथे वर्ण का प्रयोग उत्तरकालीन वैदिक साहित्य में मिलता है। बाद के संस्कृत पाली तथा प्राकृत साहित्य में एक ओर, वर्ण शब्द का प्रयोग मिलता है और दूसरी ओर जाति कुल और योनि का। इसमें सबसे अधिक प्रयोग जाति शब्द का ही मिलता है। यहां जाति शब्द का प्रयोग उन समूहों के लिये किया गया है जिनका आधार जन्मजात सामाजिक प्रतिष्ठा है। संस्कृत-साहित्य में जातियों का सबसे पहला वर्णन मनुस्मृति में मिलता है। मनु ने ही सबसे पहले यह सिद्धान्त प्रतिपादित किया कि विभिन्न जातियों की उत्पत्ति शुद्ध वर्णों के सम्पर्क से उत्पन्न होने वाली वर्ण संकरता से हुई है। मनु ने ऐसा प्रतीत होता है जाति व्यवस्था को वर्ण व्यवस्था में फिट करने का प्रयास किया है। इस बात की सम्भावना अधिक है कि भारत में आर्यों के पहले ही जाति-व्यवस्था अस्तित्व में आ चुकी थी। आर्यों के आगमन के बाद एक ओर आर्यों के तीन वर्ण थे और दूसरी ओर थी देशज जाति-व्यवस्था जो गणजाति व्यवस्था से विकसित हुई थी[2]। एक विशिष्ट वर्ण के रूप में वैश्य वर्ण का विकास भारत में ही हुआ। साथ ही साथ, अनेक देशज तत्व भी आर्यों की वर्ण व्यवस्था में मिल गए। अतः बहुत सम्भव है कि जाति व्यवस्था से सम्पर्क होने पर आर्यों ने उसे उस व्यवस्था में फिट करने का प्रयास किया जिसको मानने वाले उनको पहले ही से था। जाति और वर्ण ऐसा प्रतीत होता है, दो

---

1 गोखले, बी० जी० वही पृष्ठ 31

2 इस विकास के कारणों का वर्णन आदिवासी संस्कृति के सन्दर्भ में किया गया है।

संस्कृतियों की अलग अलग सामाजिक प्रणालियाँ हैं जिनका सम्मिलन भारत में हुआ[1]।

हटन ने भी सिद्धान्ततः यही माना है कि जाति-व्यवस्था के मूल-आधार आर्यों के पहले ही भारत में आ चुके थे। हटन भी जाति और वर्ण को अलग अलग प्रत्यय मानते हैं। हटन के अनुसार बहुधा जाति और वर्ण को एक दूसरे का पर्याय समझा जाता है यद्यपि जाति का वह अर्थ नहीं है जो वर्ण का है। भारत की प्रत्येक जाति किसी न किसी वर्ण के अन्तर्गत आती है जिसके फलस्वरूप, जातियों का वर्ण के अनुसार वर्गीकरण हो सकता है। अतः प्रत्येक वर्ण लगभग समान स्तर वाली जातियों का एक वर्ग है। उदाहरणार्थ ब्राह्मण वर्ण के अन्तर्गत कान्यकुब्ज, गौड़, सरयूपारीण सनाढ्य सारस्वत, और चितपावन इत्यादि ब्राह्मण जातियाँ आती हैं। इसीलिये हटन ने यह कहा है कि वर्ण की प्रकृति वह नहीं है जो जाति की है। केवल एक सीमा तक ही वर्ण को जाति कहा जा सकता है। वास्तव में, इस मान्यता की सम्भावना अधिक युक्तियुक्त जान पड़ती है कि वैदिक युग में चार वर्ण चार वर्गों के समान थे न कि चार जातियों के समान और उत्तर वैदिक काल के विद्वानों ने जब वैदिक साहित्य में जाति प्रथा के आधारों की खोज की तो उन्होंने वर्ण व्यवस्था की व्याख्या जाति प्रथा के सन्दर्भ में की जिसके कारण जाति और वर्ण एक दूसरे के पर्याय बन गए। फिर भी किसी भी दशा में, वर्ण जाति नहीं है। हाँ, प्रत्येक वर्ण को समान स्तर वाली जातियों का एक समूह समझा जा सकता है। चारों वर्णों के लिये जिन चार शब्दों का प्रयोग किया जाता है आज वे चार बड़ी बड़ी जातियों के अलग अलग समूह हैं और ये समूह उस सामाजिक प्रतिष्ठा प्रणाली (Social Status System) में बंधे हैं जिसका आधार धर्म है। एक सामाजिक इकाई के रूप में वर्ण जाति से अधिक व्यापक और अनिश्चित है[2]।

जाति शब्द जन धातु से निकला है जिसका अर्थ है जन्म लेना। जन्म के आधार पर मिली हुई सामाजिक प्रतिष्ठा, अन्तर्विवाहिकी, पेशा, ऊँच-नीच का भेद-भाव और खान पान के नियम जाति की मुख्य विशेषतायें हैं। जाति जन्म पर आधारित एक सामाजिक राजनैतिक संगठन सा है जिसमें व्यक्ति का जीवन पूर्णतः घिरा रहता है। इसके विपरीत, जैसा कि पहले कहा जा चुका है वर्ण का अर्थ है रंग या चुना हुआ। वर्ण का आधार है गुण और कर्म न कि जन्म। जाति और वर्ण, हिन्दू विचारधारा में अलग अलग सामाजिक आदर्शों में बंधे हुए हैं। सेनार्ट के आधार पर मनु ने भी यह मत व्यक्त किया है कि वर्ण और जाति अलग अलग संस्थायें हैं यद्यपि जैसी कि सम्भावना है दोनों एक में मिल गई हैं। ऋग्वेद में, जैसा कि सेनार्ट का

---

1 घुर्ये, इरावती हिन्दू सोसायटी एन इन्टरप्रिटेशन पृष्ठ 61–67

2 हटन, जे० एच० कास्ट इन इण्डिया पृष्ठ 61–67

मत है आय और दास वर्णों का उल्लेख मिलता है और बहुत सम्भव है कि अपने मूलरूप म, वण शब्द का प्रयोग आय और दास के वण भेद को स्पष्ट करने के लिए किया गया हो यद्यपि, कालान्तर मे इसका प्रारम्भिक प्रयोग लुप्त हो गया और अनेक समूहो के लिए वण शब्द का प्रयोग होने लगा हो। लेकिन, फिर भी, वण शब्द के सामान्य तथा विशेष अर्थों के दृष्टिकोण से, वण को जाति नही माना जा सकता है। बाद के साहित्य म वण के आधार पर जाति की व्याख्या मिलती है जिसके कारण जाति और वण के विषय म भ्रान्ति उत्पन्न होती रही है। अत, जाति के आधार पर वण की व्याख्या करना, वास्तव म, तक को उल्टा कर देता है[1]।

मनु ने वण के माध्यम से जाति को स्पष्ट किया है लेकिन मनु ने भी वण और जाति को अलग अलग रखा है। मनु ने, एक ओर, चार वर्णों का उल्लेख किया है और, दूसरी ओर, सत्तावन जातियो का। मनु के अनुसार वण केवल चार हैं—ब्राह्मण, क्षत्रिय वश्य और शूद्र जिनके वण साकय से जातियो की उत्पत्ति हुई है मनु के अनुसार, यदि किसी वण का व्यक्ति अपने ही वण की स्त्री से विवाह करे तो सन्तान शुद्ध वण की होगी और उसका वही वण होगा जो माता पिता का है। यदि कोई पुरुष अपने से एक डिगरी निम्न वण म विवाह करता है (जसे ब्राह्मण पुरुष क्षत्रिय स्त्री से ब्याह कर) तो सन्तान पिता के वण की होती है यद्यपि उसमे मातृदोष आ जाता है। वणसकर सन्तान तब होती है जब उच्च वण का पुरुष अपने वण से दो या तीन डिगरी नीचे वण की स्त्री से ब्याह कर (जैसे ब्राह्मण पुरुष का वश्य य शूद्र स्त्री से या क्षत्रिय का शूद्र स्त्री से ब्याह) और उच्च वण की स्त्री अपने से निम्न वण के पुरुष से ब्याह करे। वणसकर स वण नही, जातियाँ अस्तित्व मे आती हैं और वणसकर जातियो के पुन वणसाकय से और नई जातियाँ उत्पन्न होती हैं। इस प्रकार, वर्णों तथा जातियो के वण-साकय से जातियो की सख्या बढती रही है[2]। यही से अनुलोम तथा प्रतिलोम विवाहो की धारणायें अस्तित्व म आई। अनुलोम विवाह से तात्पय है पुरुष द्वारा अपने या अपने से निम्न वण म विवाह करने और प्रतिलोम का अपने से उच्च वण म विवाह करना। अत, मनु के अनुसार जातियाँ अनुलोम और प्रतिलोम विवाहो का परिणाम हैं। इस आधार पर यह

1 प्रभु पी० एच० वही पृष्ठ 303–304

2 वण साकय से किस प्रकार जातियो उत्पन्न हुई ह मनु के आधार पर इसके कुछ उदाहरण इस प्रकार है—ब्राह्मण पिता और वश्य माता की सन्तान से अम्बष्ठ और ब्राह्मण पिता तथा शूद्र माता की सन्तान से निषाद की उत्पत्ति हुई है। क्षत्रिय पिता और ब्राह्मण माता की सन्तान से सूत जाति की, वश्य पिता और क्षत्रिय या ब्राह्मण माता की सन्तान से मागध और विदेह जातियो की उत्पत्ति हुई है—प्रभु वही पृष्ठ 30।

कहा जा सकता है कि यह मान्यता निर्मूल है कि वर्णों के विभाजन से जातियाँ बनीं या वर्ण ही कालान्तर में जाति हो गए। मनु ने वर्ण को स्थायी मानकर जातियों को स्पष्ट करने का प्रयास किया है न कि उन्होंने यह प्रतिपादित किया है कि प्रत्येक वर्ण के प्रसार और विभाजन से उस वर्ण की जातियाँ उत्पन्न हुई हैं।

अपनी प्रजातिक तथा सांस्कृतिक विजातीयता के कारण कि भारत प्रारम्भ से ही उपजातियों और जातियों का देश रहा है। भारत में ही नहीं जहाँ भी विभिन्न जातियों और संस्कृतियों का संगम हुआ है वहाँ जाति (जन्म पर आधारित समूह) और वर्ग (वह समूह जो गुण कर्म या धन पर आधारित होते हैं) साथ साथ पाये गये हैं। जातियों में व्यक्ति का स्थान पूर्वनिर्धारित रहता है क्योंकि जाति में व्यक्ति की सामाजिक प्रतिष्ठा जन्म जात होती है। लेकिन वर्ण में व्यक्ति की सामाजिक प्रतिष्ठा अर्जित होती है। वर्ण-व्यवस्था जाति व्यवस्था की अपेक्षा अधिक लचीली है और उसमें व्यक्ति की सामाजिक प्रतिष्ठा चलिष्णु (Mobile) होती है। वर्ग व्यक्ति (व्यक्तियों) द्वारा अर्जित सामाजिक प्रतिष्ठा पर निर्भर करता है। वर्ण-व्यवस्था वस्तुतः वह वर्ग व्यवस्था है जिसका आविर्भाव हिन्दू विचार धारा के आधार पर भारत में हुआ है। हिन्दू विचारधारा आदर्शोन्मुख है क्योंकि उसका आधार धर्म की धारणा है। वर्ण-व्यवस्था एक आदर्श-समाज की आदर्श वर्ग व्यवस्था है। इसे जैसा कि हिन्दू विचार धारा में उसका प्रतिपादन हुआ है न ... [illegible]

सद्धान्तिक भ्रम है। सिद्धान्तत जाति अलग है और वर्ण अलग। जाति जन्म से है और वर्ण कर्म से। समाज में व्यक्ति की जाति निश्चित है लेकिन उसका वर्ण परिवर्तनशील। वर्ण अर्जित सामाजिक प्रतिष्ठा पर आधारित है जो हिन्दू मान्यताओं के अनुसार, कर्म पर निर्भर करती है। अत, कर्म के आधार पर व्यक्ति अपना वर्ण परिवर्तित कर सकता है। यही कारण है कि भारत के प्राचीन तथा अर्वाचीन इतिहास में अनेक ऐसे उदाहरण मिलते है जिनमे व्यक्ति और समूहों ने स्वार्जित सामाजिक प्रतिष्ठा के आधार पर, अपने वर्ण बदले है।

विश्वामित्र ने क्षत्रियत्व से ब्राह्मणत्व पद प्राप्त किया था। हरिवंश पुराण के अनुसार नाभागरिष्ठ के दो पुत्र जो वैश्य थे, ब्राह्मण हो गए थ। राजपूताना क पोकर सवक ब्राह्मणों का पूर्वज ऐसा कहा जाता है कि, एक मेर[1] था जिसको एक मुनि ने यजुर्वेद म दीक्षा दी थी। ऐसा प्रसिद्ध है कि बगाल के व्यासोक्त ब्राह्मण उस शूद्र की सन्तान हैं जिसको स्वय व्यास ऋषि ने ब्राह्मण बनाया था। शिवाजी का क्षत्रिय वर्ण म आना एक इतिहास प्रसिद्ध तथ्य है। बगाल की कायस्थ जाति को आज द्विज की श्रेणी में रखा जाता है यद्यपि, सौ साल पहले उसे शूद्रो की श्रेणी में रखा जाता था[2]। महाभारत के अनुशासन पर्व के एक श्लोक में यह कहा गया है कि मेकल द्रविड लाट पौण्ड्र कानवशिर शौंडिक दरद, दव, चवर, शबर बबर, किरात और यवन इत्यादि मूलत क्षत्रिय जातियाँ हैं जो ब्रह्मज्ञान की उपेक्षा करने के कारण अपनी वर्तमान अधोगति (अथवा शूद्र की स्थिति) को प्राप्त हुई हैं। वर्तमान समय म भी साधारणत यह विश्वास पाया जाता है कि धर्म कर्म सुधारने से उच्चतर सामाजिक प्रतिष्ठा प्राप्त की जा सकती है। आज निम्न स्तर की जातियों म जो सुधार आन्दोलन चल रहे है, उनमें मास मदिरा त्यागने और सात्विक जीवन बिताने पर अधिक जोर दिया जा रहा है[3]। भारत म निम्नवर्णी जातियों पर जो पुस्तकें सुधारवादी दृष्टिकोण म लिखी जा रही हैं उनमे बहुधा यही दिखाया जाता है कि जो जाति आज निम्न समझी जाती है प्राचीन काल म वह निम्न नहीं थी। उनका स्थान बहुधा क्षत्रियों म रखा जाता है[4] या ब्राह्मणों म। उत्तर प्रदेश और राजस्थान की भाट जाति के लिए अभी हाल ही स भट्ट-ब्राह्मण शब्द का प्रयोग किया जाने लगा है जो इस बात का प्रतीक माना जाता है कि भाट शब्द वस्तुत भट्ट का अपभ्रश है और भाट वे हैं जो बाण कल्हण बिल्हण मम्मट, मनु के टीकाकार बालमभट्ट तथा

1 मेर शूद्रों की श्रेणी में आते हैं।
2 हट्ट ज० एच० कास्ट इन इण्डिया पृष्ठ 65
3 भण्ट, जी० एम० ट्रेंड्स एण्ड मेजर्स आफ स्टेटस मोबिलिटी एमांग दि चमार्स आफ देहरादून दी ईस्टर्न एन्थ्रापालोजिस्ट, वाल्यूम XII, न० 3
4 उदाहरणार्थ देखिए निवनसिह यादव द्वारा रचित यादव परिवार

नहीं है वरन वर्ण का आधार धर्म है। वर्ण के निरूपण में धर्म (अर्थात व्यक्ति तथा समाज का विधायक वृत्ति) का आधार माना गया है। इसमें कोई संदेह नहीं कि भारतीय समाज के संगठन में प्रजाति, जाति और गणजाति से उत्पन्न होने वाली विजातिता का समन्वय हुआ है जिसके कारण भारत के सामाजिक संगठन में प्रजातीय, जातीय तथा गणजातीय समूहों की भिन्नता रही है। यह भी बहुत सम्भव है कि इन समूहों को एक व्यवस्था में लाने की समस्या और आवश्यकता ने ही वर्ण व्यवस्था की धारणा को प्रोत्साहित किया हो। लेकिन हिन्दू विचारधारा में, वर्ण का निरूपण जिस रूप में हुआ है उस रूप में वर्ण न तो प्रजाति है न जाति और न गणजाति। वर्ण इन सभी से ऊपर एक ऐसी धारणा है जिसमें ये सभी समूह समा जाते हैं। हिन्दू विचारधारा में वर्ण विषयक दो परम्पराएं मिलती हैं—एक परम्परा उस विचारधारा की है जिसमें वर्ण के अस्तित्व तथा उत्पत्ति को रहस्यात्मक ढंग से स्पष्ट करने का प्रयास किया गया है और दूसरी परम्परा उस विचारधारा की है जिसमें वर्ण को धर्म के आधार पर निरूपित करने का प्रयास निहित है। वर्ण व्यवस्था का मुख्य आधार है वर्ण धर्म न कि जाति या प्रजाति। हां जाति, गणजाति और प्रजाति की भिन्नता तथा उनके सामाजिक सम्पर्क के समन्वय से वह पर्यावरण अवश्य अस्तित्व में आया जिसकी पृष्ठभूमि में वर्ण धर्म का प्रतिपादन हुआ है।

वर्ण, जाति और गणजाति

वर्ण और जाति को समाजशास्त्रीय दृष्टिकोण से समझने के लिए एक और तथ्य पर विचार करना आवश्यक है। जाति गणजाति (Tribe) का सामाजिक अनुरूप है न कि वर्ण का। गणजाति की भांति, जाति जन्म पर आधारित एक अंतर्विवाही सामाजिक राजनैतिक संगठन है जिसके सदस्य सिद्धान्ततः वर्ण धर्म, आवागमन और पुनर्जन्म, हिन्दू संस्कारों तथा आश्रमों को मानते हैं और ब्राह्मणवादी कर्मकांड में विश्वास करते हैं। गणजाति और जाति में अंतर इतना है कि प्रत्येक गणजाति एक क्षेत्र विशेष की निवासी होती है एवं विशेष बोली या भाषा का प्रयोग करती है और उसके सदस्य, जाति के सदस्यों की भांति एक पेशा विशेष से ही नहीं बंधे होते हैं। गणजाति के सदस्य सभी आवश्यक पेशा को करते हैं और उनके सामने पेशा की उच्चता और निम्नता का प्रश्न नहीं रहता है। हिन्दू सामाजिक संरचना के निम्न स्तरों में अनेक ऐसे जाति समूह पाये जाते हैं जिनके कर्म (Rituals) कर्मकाण्ड (Rites) और संस्कार ब्राह्मणों द्वारा सम्पादित नहीं होते हैं किन्तु वे गणजाति इसलिए नहीं हैं कि उन्होंने ग्रामीण कृषि व्यवस्था में परम्परानुसार किसी एक पेशे को अपना लिया है जिस पर उनका एकाधिकार है। मानवशास्त्रियों की ऐसी मान्यता है कि जब एक गणजाति ग्रामीण कृषि व्यवस्था में एक पेशे पर एकाधिकार प्राप्त करके, ... हिन्दुत्व के आधारभूत नियमों को अपना लेती है तो उसे जाति का स्तर मिलता है। अनेक गणजातियां में, वर्णानुसार चतुर्वर्ण विभाजन

के आधार पर भी जातियों के उत्पन्न होने के प्रमाण इतिहास में हैं और वर्तमान आदिवासी समाज में भी। इस प्रकार गणजाति का जाति में बराबर रूपान्तरण होता रहा है और हिन्दू समाज में जातियों की संख्या बढ़ती रही है। एक ओर जातियाँ बनती रही हैं और, दूसरी ओर जैसा कि बुद्धवादी जैनी निराकार एकेश्वरवादी पंथों और ब्रह्मसमाज तथा आर्यसमाज जैसे आन्दोलनों में स्पष्ट है समय-समय पर, जाति व्यवस्था का विरोध करके वर्ण सिद्धान्त को लागू करने का प्रयास किया गया है। इन आन्दोलनों के द्वारा हिन्दूकरण का प्रसार होता रहा है क्योंकि ये आन्दोलन जाति के तथा जादुई विश्वासों और प्रथाओं के विरोधी रहे हैं न कि हिन्दुत्व के। सबसे महत्वपूर्ण तथ्य यह है कि अधिकतर आन्दोलनों के प्रणेता ब्राह्मण रहे हैं। उधर निम्नस्तर की जातियाँ और गणजातियाँ ब्राह्मणों की कर्म-काण्डी सेवा के लिए लालायित रही हैं। इस प्रकार धार्मिक सामाजिक आन्दोलनों तथा हिन्दू प्रथाओं को स्वतः स्वीकार करके गणजातियाँ जातियों का रूप लेती रही हैं। इसका एक कारण आर्थिक रहा है क्योंकि जाति के रूप में एक धन्धे पर एकाधिकार मिलने से गणजाति को आर्थिक सुरक्षा मिलती रही है और दूसरा कारण रहा है एक वैध (Legitimate) धार्मिक-सामाजिक-संगठन (हिन्दू समाज) की सामाजिक प्रतिष्ठा प्रणाली में एक निश्चित स्थान पाने की प्रेरणा जो मैक्सवेबर के अनुसार सर्वत्र पाई जाती है। वर्ण सिद्धान्त में निहित अर्जित सामाजिक प्रतिष्ठा के सिद्धान्त द्वारा सामाजिक प्रतिष्ठा को उच्चतर बनाने की सम्भावना और हिन्दुत्व की समन्वयवादी विचारधारा ने गणजाति को जाति में रूपान्तरित होने की ओर भी प्रेरणा दी।

इस प्रकार गणजाति के रूपान्तरण में ज्यों ज्यों हिन्दू समाज का आकार बढ़ा, जातियों की संख्या बढ़ी जातियों में उच्च स्तर प्राप्त करने की प्रेरणा भी बढ़ी और जितना ही यह प्रेरणा बढ़ी उतना ही जाति प्रथा के विरुद्ध विद्रोह भी बढ़ा। बुद्धवाद विभिन्न गणजातियों की ओर से पहला आन्दोलन था। ज्यों ज्यों आन्दोलन बढ़े त्यों-त्यों वर्ण सिद्धान्त को एक आशावादी सामाजिक संरचना व्यवस्था के रूप में निर्वचन और प्रतिपादित किया गया क्योंकि हर आन्दोलन में सामाजिक-संरचना को एक प्रगतिवादी आधार प्रदान करने की आवश्यकता पड़ी। स्वामी दयानन्द से प्रेरित आर्यसमाज आन्दोलन इस प्रक्रिया का एक आधुनिक उदाहरण है। इसका परिणाम यह हुआ कि वर्णव्यवस्था, धीरे धीरे कर्म पर आधारित एक सुयुक्तियुक्त आदर्श वर्ग-व्यवस्था बन गई जिससे हिन्दू-समाज में सामाजिक चलिष्णुता प्रेरित होती रही। अलग अलग क्षेत्रों में विभिन्न गणजातियों ने विभिन्न जातियों का रूप लिया जिन्हें वर्ण सिद्धान्त के आधार पर हिन्दुत्व में संगठित किया गया। यही कारण है कि, एक ओर, अखिल भारतीय जातियाँ कम पाई जाती हैं और दूसरी ओर चतुर्वर्गी जातियाँ (ब्राह्मण क्षत्रिय वैश्य और शूद्र) सारे हिन्दू समाज में पाई जाती हैं। हिन्दू समाज ब्राह्मण जातियों क्षत्रिय जातियों, वैश्य जातियों और शूद्र

जातियां में संगठित है क्योंकि अलग अलग प्रदेशों में अलग अलग समूहों को ब्राह्मण, क्षत्रिय, वैश्य और शूद्र के स्तर मिले। यही कारण है कि ब्राह्मण तो सारे भारत में पाए जाते हैं किन्तु वे अलग-अलग अन्तर्विवाही समूहों में बटे हुए हैं। एक ओर, आर्यों का वर्ण सिद्धान्त है और दूसरी ओर, आदिवासी संगठन की गणजाति। जाति व्यवस्था वर्ण तथा गणजाति के बीच की, एक सामाजिक व्यवस्था है[1]।

२

वर्ण धर्म

वर्ण धर्म वस्तुतः वह आचार है जो विभिन्न वर्ण के व्यक्तियों के लिए निरूपित किया गया है। विभिन्न वर्णों के अनुसार अलग अलग आचार नियमों का निरूपण व्यक्ति की सामाजिक वृत्ति में पाये जाने वाले अन्तर के आधार पर किया गया है। इसीलिए वर्ण का आधार जन्म को न मानकर गुणानुसार कर्म को माना गया है। वर्ण-व्यवस्था का उद्देश्य है व्यक्ति का अभ्युदय और निःश्रेयस् जो हिन्दू मान्यता में गुणानुसार कर्म से प्राप्त होना है। अपने वर्ण के अनुसार कार्य करने से, पुनर्जन्मों के द्वारा व्यक्ति का अभ्युदय होता रहता है। लेकिन साथ ही साथ, सभी व्यक्ति समान हैं उनमें अन्तर है तो केवल गुण और कर्म का। व्यक्ति वर्णों में विभाजित अवश्य रहते हैं पर, सभी वर्ण अन्योन्याश्रित हैं। समाज सभी वर्णों की अन्योन्याश्रिता में निहित है। समाज में सभी वर्णों की अन्योन्याश्रिता उसी प्रकार से एकीकृत रहती है जिस प्रकार कि जीव के सभी अंग प्रत्यंग। सभी वर्ण इस संसार में व्याप्त विराट पुरुष के अंग हैं। व्यक्तियों की सामाजिक वृत्तियों में पाया जाने वाला अन्तर स्पष्ट है, पर, साथ ही साथ, वह एक रहस्य भी है—वह रहस्य जो विराट पुरुष के रहस्य में समाया हुआ है। अतः, वर्ण का आधार एक अलौकिक रहस्य है। इसी कारण हिन्दू विचारधारा में, एक ओर वर्ण व्यवस्था को उस रहस्यात्मक अलौकिक विराट की सामाजिक अभिव्यक्ति माना गया है जिसमें वे परस्पर समान और अन्योन्याश्रित कहा गया है और दूसरी ओर, व्यक्तियों में पाये जाने वाले अन्तर और तदनुसार कर्म के आधार पर विभिन्न वर्णों तथा उनके आचार का निरूपण किया गया है। इसीलिए हिन्दू विचारधारा में, एक ओर विभिन्न वर्णों की उत्पत्ति विषयक विचार मिलता है और, दूसरी ओर, वर्ण धर्म तथा सभी वर्णों के लिए समान धर्म विषयक विचार मिलता है।

---

1 वर्ण जाति और गणजाति में जो सन्तति (Continuum) है उसका विशद वर्णन, आगे चलकर आदिवासी संस्कृति के सन्दर्भ में किया गया है।

साधारणतः, चार वर्णों का प्रतिपादन मिलता है। ये चार वर्ण हैं—ब्राह्मण, क्षत्रिय, वैश्य और शूद्र। वर्ण धर्म के निरूपण में इन चार वर्णों को चार प्रकार की वृत्तियाँ माना गया है। प्रत्येक व्यक्ति में एक न एक वृत्ति प्रधान होती है और प्रत्येक व्यक्ति की प्रधान वृत्ति का पूर्ण प्रस्फुटन तथा विकास समाज में होता है। इन चार वृत्तियों को ब्राह्मणत्व, क्षत्रीत्व, वैश्यत्व और शूद्रत्व की संज्ञायें दी जा सकती हैं। प्रत्येक वर्ण इस दृष्टिकोण से वह वर्ग है जिसके सदस्यों में एक वृत्ति विशेष की प्रधानता रहती है—ब्राह्मण वर्ण में ब्राह्मणत्व की, क्षत्रिय में क्षत्रीत्व की, वैश्य में वैश्यत्व की और शूद्र में शूद्रत्व की। वर्ण व्यवस्था इस दृष्टिकोण से वह सामाजिक व्यवस्था है जिसमें चार प्रधान वृत्तियों के आधार पर व्यक्तियों और समूहों का वर्गीकरण किया गया है। हिन्दू मान्यताओं में इन चार वृत्तियों को पूर्वनिर्धारित तथा स्थायी मान लिया गया है और इस मान्यता का निरूपण अनुभूतिक तथा दार्शनिक परम्पराओं के समन्वय से किया गया है।

प्रत्येक व्यक्ति की प्रधान वृत्ति उसके गुणों को और गुण कर्म को जन्म देते हैं। इसलिये, वर्ण का आधार है वृत्ति, गुण तथा कर्म का एक सम्मिलित रूप जिसकी अभिव्यक्ति व्यक्ति तथा वर्ग के सामाजिक गुणों तथा कर्मों में होती है। हिन्दू मान्यता में सामाजिक व्यवहार का आधार है आचार क्योंकि व्यक्ति तथा समाज की विधायक वृत्ति धर्म है। जो नियम चारों वृत्तियों के सामाजिक विधायक हैं उन्हीं से मिलकर वर्ण धर्म बनता है। वर्ण धर्म के द्वारा चारों वृत्तियों की आदर्श समाज में आदर्श अभिव्यक्ति को निश्चित करने का प्रयास किया गया है।

वर्ण व्यवस्था तथा वर्ण धर्म के आधारों की व्याख्या की चरम अभिव्यक्ति गीता में हुई है। प्रभू के अनुसार वर्ण धर्म के सिद्धान्त का जो निरूपण गीता में किया गया है वह सबसे अधिक अग्रगण्य, विशद और सुनिश्चित है। गीता में प्रस्तुत वर्ण सिद्धान्त में प्रधान गुणों के आधार पर समाज को चार वर्णों में बाँटा गया है। प्रभू के अनुसार गुण वह मानसिक प्रवृत्तियाँ हैं जो व्यक्ति के जीवन तथा मानसिक गठन में निहित क्षमताओं से उत्पन्न होती हैं। वर्ण-व्यवस्था का एक आधार सामाजिक है और दूसरा मानसिक-आचारी (Psycho Moral)। जहाँ वर्ण का आधार गुण माना गया है वहाँ सामाजिक आधार की अपेक्षा मानसिक आचारी आधार अधिक प्रधान हो जाता है।

वर्ण धर्म और गुण

गुणों में वर्ण-व्यवस्था का मानसिक आचारी आधार (Psycho-Moral Bases) मिलते हैं[1]। गीता में, एक ओर यह दिखाया गया है कि प्रकृति सात्त्विक, राजस और तामस तीन प्रवृत्तियों से व्याप्त है और सारा संसार इन्हीं तीन प्रवृत्तियों तथा इनके घात प्रतिघात के कारण है और, दूसरी ओर, यह दिखाया गया है कि इहलौकिक

1 प्रभू, पी० एच० वही पृष्ठ 322

जीवन स परे एक स्तर वह भी है जहा यह प्रवत्तिया उस विराट पुरुष मे ऐसे लीन हो जाती हैं जसे सरितायें सागर मे। उस स्तर पर गुण तो रहते है लेकिन गुणा का इहलौकिक प्रभाव अव्यक्त हो जाता है। यही वह स्थिति है जहा व्यक्ति वर्णाश्रम स ऊपर उठकर परम तत्व म मिल जाता है[1]। गीता के चौथे अध्याय म भगवान कृष्ण ने कहा ह "गुण-कम क विभाजन के आधार पर मैने चार वण उत्पन्न किये हैं। मैं चारो वर्णों का कता होने पर भी अविनाशी और अकर्त्ता हू क्योकि कर्मों के फल म न तो मेरी स्पहा है और न कम मुझ स्पश ही करते है। इसप्रकार, जो मुझ अच्छी तरह जानत हैं, व कम-ब धन म नही बधते है'[2]।

गीता के अनुसार सात्त्विक राजसी और तामसी भाव परमात्मा से उत्पन्न हुए हैं। परमात्मा इन भावो पर निभर नही हैं, वरन ये भाव परमात्मा पर निभर हैं। सारा ससार इ ही त्रिगुणी भावा स मोहित हो रहा है जिसके कारण परम अव्यय (अविनाशी ईश्वर) का पहचानना कठिन है। ईश्वर इन भावा से उच्च और भिन्न है। त्रिगुणी भावा स दवी माया उत्पन्न हाती है जिसस वही पार पाते है जो ईश्वर की शरण म जाते है[3]। इसप्रकार, अलौकिक स्तर त्रिगुणी भावो से परे है। चौदहवें अध्याय म, दूसर ढग से इसी तथ्य पर जोर दिया गया है। कृष्ण के कथनानुसार 'महद्ब्रह्म अर्थात प्रकृति मेरी योनि है। उसमे मैं गर्भाधान करता हू और उससे प्राणीमात्र की उत्पत्ति हाती है सब योनियो म जिन जिन प्राणियो की उत्पत्ति होती है उनकी उत्पत्ति का स्थान मेरी प्रकृति है और उनम बीजारोपण करने वाला पिता पुरुष मैं हू। सत्त्व राजस और तामस ये तीना गुण प्रकृति से उत्पन्न हाते हैं और इस अविनाशी जीवात्मा को शरीर स बाधत हैं[4]।

सात्त्विक, राजस और तामस गुण केवल जविक या शारीरी ही नही हैं। त्रिगुणी भाव अथवा वत्तिया जविक भी हैं और मानसिक भी। गीता के अनुसार, सत्त्वगुण निमल होन के कारण प्रकाशक आरोग्यकर और देही का सुख तथा ज्ञान से बाधनेवाला है। रजोगुण रागरूप होने म तष्णा और आसक्ति का मूल है और वह देहधारी का कमपाश म बाधता है। तमोगुण अज्ञानमूलक है। तमोगुण देहधारीमात्र को मोह म डालता है और देही का असावधानी आलस्य तथा निद्रा क पाश म बाधता है। सत्त्व आत्मा म शांति तथा सुख को रजस कम को और तमस ज्ञान ढक कर प्रमाद को प्रोत्साहित करता है। तीना गुणा का एक साथ सहअस्तित्व नही पाया जाता है यद्यपि तीना इस ससार म विद्यमान रहते हैं क्योकि गीता म कहा गया है कि 'जब

1 गीता 2/45, 46
2 गीता 4/13 14
3 वही 7/12 13, 14
4 वही 14/3, 4, 5

रजस और तमस दबते हैं तब सत्त्व, जब सत्त्व और तमस दबते हैं तब रजस और जब सत्व तथा रजस दबते हैं तब तमस उभरता है[1]।

तीनों गुण अलग अलग वृत्तियों तथा उनके लक्षणों को जन्म देते हैं। सत्त्वगुण की वहाँ वृद्धि होती है जहाँ सब इन्द्रियों द्वारा इस देह में प्रकाश और ज्ञान का उद्भव होता है। जहाँ लोभ, प्रवृत्ति, कर्मों का आरम्भ, अशान्ति और इच्छा का उदय होता है, वहीं रजोगुण की वृद्धि होती है। तमोगुण की वृद्धि वहाँ होती है जहाँ अज्ञान, मंदता, असावधानी और मोह उत्पन्न होता है। सत्त्व गुण प्रधान देहधारी जब मरता है तो वह उत्तम ज्ञानियों के निर्मल लोक को पाता है, रजोगुण प्रधान देहधारी कर्म संगी लोक (मनुष्य लोक) तथा तमोगुण प्रधान मूढ़योनि (पशुयोनि) में जन्म पाता है। सत्त्वगुण से ज्ञान, रजोगुण से लोभ और तमोगुण से असावधानी, मोह तथा अज्ञान उत्पन्न होते हैं। अतः सत्त्वगुण ही सर्वश्रेयस्कर है क्योंकि 'सात्त्विक मनुष्य ऊँचे चढ़ते हैं, राजसी मध्य में रहते हैं और अन्तिम गुण वाले तामसी अधोगति पाते हैं'। त्रिगुण भाव से परे पारलौकिक सत्य तक व्यक्ति तभी पहुँचता है जब वह ज्ञान के द्वारा यह अनुभव कर लेता है कि गुणों के सिवा और कोई कर्ता नहीं है। गुणों से परे जो भाव है, वही परमात्मा का भाव है। गुण व्यक्ति को कर्म तथा संसार से बाँधते हैं। अतः देहधारी जन्म मृत्यु और जरा के दुःख से छूटकर तभी मोक्ष पाता है जब वह देह के संग से उत्पन्न होने वाले तीनों गुणों को पार कर गुणातीत हो जाता है। गुणातीत वह है जो प्रकाश, प्रवृत्ति और मोह प्राप्त होने पर दुःख नहीं मानता अर्थात् उनमें प्रवृत्त होने पर उन्हें बुरा नहीं समझता और उनसे निवृत्त होने पर उनकी आकांक्षा नहीं करता, जो उदासीन की भाँति स्थिर है, जिसे गुण विचलित नहीं करते, जो यह मानकर चलता है कि गुण ही इस संसार में कर्ता हैं और इस कारण कर्मफल के परिणाम से विचलित न होकर स्थिर रहता है, जो सुख-दुःख में सम और स्वस्थ रहता है, जो मिट्टी के ढेले, पत्थर और सोने को समान समझता है, प्रिय-अप्रिय वस्तु प्राप्त होने पर एक समान रहता है, जिसके लिये निन्दा और स्तुति, मान और अपमान, मित्र और शत्रु समान हैं और जिसने समस्त आरम्भों का त्याग कर दिया है अर्थात् जिसमें कर्ता की भावना का लोप हो गया है[2]।

गीता में संन्यास और त्याग में अन्तर किया गया है। कामना से उत्पन्न हुए कर्मों के त्याग को ज्ञानी संन्यास के नाम से जानते हैं और समस्त कर्मों के फल के त्याग को बुद्धिमान लोग त्याग कहते हैं। देहधारी के लिये कर्म का सर्वथा त्याग सम्भव नहीं है। अतः त्यागी वह है जो कर्मफल का त्याग करता है। गुणातीत कर्म-त्यागी नहीं वरन कर्मफल-त्यागी है। जहाँ नियत कर्म को आवश्यक मानकर उसके

---

1 गीता 14,6, 7, 8, 9 10
2 गीता 14/11 23

फल का त्याग किया जाता है, वह त्याग सात्त्विक है। जहां कर्म को दुखकारक समझ कर और काया कष्ट के भय से कर्म का त्याग किया जाता है, वह त्याग राजस है और जहां मोहवश नियत कर्म का त्याग किया जाता है वह त्याग तामस है। गुणातीत वह है जो सात्त्विक त्याग करता है। इससे यह निष्कर्ष निकलता है कि गुणानुसार कर्म मानव जीवन का एक स्थाई सत्य है जिसकी अवहेलना नहीं की जा सकती। ज्ञान ज्ञेय और परिज्ञाता कर्म प्रेरणा के तीन तत्त्व हैं और इंद्रिय, क्रिया तथा कर्ता कर्म के तीन अंग हैं। ज्ञान तथा ज्ञेय की सहायता से ही व्यक्ति परिज्ञाता और, परिज्ञाता होने के बाद इंद्रिय और क्रिया के माध्यम से कर्ता बनता है। व्यक्ति परिज्ञाता तथा कर्ता गुणानुसार बनता है। इसीकारण गीता में सभी कुछ त्रिगुणी भावों का विकार कहा गया है। मनुष्य भी इन त्रिगुणी भावों के विकार से मुक्त नहीं है[1]।

ज्ञान कर्म कर्ता, बुद्धि, धृति और सुख भी त्रिगुणी भावों के विकार का परिणाम हैं। उदाहरणार्थ समस्त भूतों में एक ही अविनाशी भाव और विविधता में एकता के भाव की अनुभूति सात्त्विक ज्ञान को जन्म देती है भिन्न भिन्न भूतों में विभिन्न विभक्त भावों को देखना राजस ज्ञान का और, क्षणभंगुर नाशवान शरीर को आत्मा मानकर उसमें आसक्त रहने का भाव जो युक्ति तथा तत्त्व अर्थ से रहित होता है, तामस ज्ञान को जन्म देता है। फलेच्छा आसक्ति और रागद्वेष से रहित, नियत कर्म ही सात्त्विक है जबकि भोगेच्छा और अहं भाव से किया कर्म राजस है। परिणाम हानि हिंसा और शक्ति का विचार किये बिना मोहवश किया हुआ कार्य तामस है। जिसके लिये सफलता असफलता हर्ष शोक बराबर है, जो अनासक्ति और अहंकाररहित है जिसमें दृढ़ता और उत्साह है वह कर्ता सात्त्विक जो रागी कर्मफल की इच्छा वाला लोभी हिंसावादी मलिन हर्ष और शोक वाला है वह राजस और जो अव्यवस्थित असंस्कारी, घमंडी शठ, नीच आलसी अप्रसन्नचित्त और दीर्घसूत्री है वह तामस है। सात्त्विक बुद्धि वही है जिसे प्रवृत्ति निवृत्ति कार्य, अकार्य भय अभय और बंधन तथा मोक्ष का उचित ज्ञान है। राजसी बुद्धि धर्म अधर्म और कार्य तथा अकार्य का विवेक करने में असमर्थ रहती है और तामसी बुद्धि अंधकार में घिरी हुई अधर्म को धर्म मानती है। जहां मन प्राण और इन्द्रियों की क्रिया को साम्यबुद्धि में धारण किया जाय वहां सात्त्विकी धृति होती है, जहां फल की आकांक्षा हो और धर्म काम तथा अर्थ को आसक्तिपूर्वक किया जाय वहां राजसी और जहां दुर्बुद्धि निद्रा भय शोक, निराशा तथा मद का भाव हो, वहां तामसी धृति होती है। जिसके अभ्यास से प्रसन्नता आती है और दुख का अन्त होता है, जो आरम्भ में विषसमान किन्तु परिणाम में अमृत जैसा होता है और जो आत्मज्ञान का

[1] गीता 18/2 6, 7, 8, 9 10, 11 और 18

प्रसन्नता से उत्पन्न होता है, वही सुख सात्त्विक होता है। विषय और इन्द्रियों के संयोग से जो आरम्भ में अमृत समान किन्तु परिणाम में विषतुल्य होता है वह राजस और जो निद्रा, आलस्य तथा प्रमाद से उत्पन्न होता है तथा जिसका प्रारम्भ तथा परिणाम आत्मा को मोहग्रस्त करने वाला होता है वह सुख तामस है[1]।

इसप्रकार पृथ्वी में या स्वर्ग में अथवा देवताओं में, ऐसा कोई भी प्राणी नहीं है जो, प्रकृति से उत्पन्न इन तीनों गुणों से मुक्त हो। मनुष्य भी इनसे मुक्त नहीं है[2]। ज्ञान धृति बुद्धि कर्म और सुख जिनसे मनुष्य का जीवन बना हुआ है, त्रिगुणा माया के अधीन है। प्रत्येक व्यक्ति का स्वभाव इन्हीं त्रिगुणी भावों से अलग अलग बनता है जिसके अनुसार व्यक्ति कर्मरत होता है। स्वभाव द्वारा ही स्वकर्म की उत्पत्ति होती है। स्वकर्म में अनासक्ति भाव से रत होना उस परम तत्त्व को भजना है, जिससे सभी प्राणियों की उत्पत्ति हुई है और जिससे यह सारा संसार व्याप्त है। स्वकर्म ही मोक्ष का साधन है क्योंकि स्वकर्म ही स्वधर्म है। विगुण स्वधर्म सुन्दर परधर्म से कहीं अच्छा है। स्वभाव के अनुरूप कार्य करने वाले व्यक्ति को पाप नहीं लगता क्योंकि जिस प्रकार अग्नि के साथ धुएं का संयोग है उसी प्रकार सभी कर्मों के साथ दोष का संयोग है। अतः स्वभावानुसार कर्म को सदोष होने पर भी नहीं छोड़ना चाहिये। स्वभावविहित कर्म (गुण के अनुसार कर्म) धर्म का एक मुख्य आधार है। यह वह सीढ़ी है जिसके द्वारा व्यक्ति अभ्युदय तथा निःश्रेयस की ओर अग्रसर होता है। संन्यास द्वारा निष्कामता रूपी परम सिद्धि उसे मिलती है जो असक्त बुद्धि (आसक्ति से रहित बुद्धि वाला) जितात्मा (कामना रहित) और स्पृहाविगत (इच्छा रहित) होता है[3]।

ब्राह्मण क्षत्रिय वैश्य और शूद्र का विभाजन उनके स्वभावजन्य गुणों से उत्पन्न होने वाले कर्मों के कारण है। शम (मन को स्वभाव से वश में रखना), दम तप, शौच शान्ति (क्षमा) आर्जव (सरलता) ज्ञान (शास्त्रज्ञान) विज्ञान (अनुभव, साक्षात्कार ज्ञान) और आस्तिकता ब्राह्मण के; शौर्य तेज धृति, दक्षता, युद्ध में पीठ न दिखाना, दान और शासन क्षत्रिय के, खेती, गोरक्षा और व्यापार वैश्य के तथा सेवा भाव शूद्र के स्वभावजन्य कर्म हैं[4]। ब्राह्मण प्रतीक है सात्त्विक वृत्ति का और साधारण ब्राह्मण वह है जिसकी प्रवृत्ति सात्त्विक ज्ञान सात्त्विक कर्म, सात्त्विक कर्ता, सात्त्विक बुद्धि सात्त्विक धृति और सात्त्विक सुख की ओर है। इसी प्रकार, क्षत्रिय और वैश्य की प्रवृत्ति राजस की ओर है और शूद्र की तामस की ओर।

1 गीता 18/19–39
2 वही 18/40
3 वही 18/45, 46 47, 48
4 गीता 18/41–44

वर्ण धर्म का निरूपण, इस प्रकार स्वभावगत कर्तव्यों के रूप में किया गया है। इस निरूपण में स्वभावजन्य गुण तथा कर्म की भिन्नता का आधार माना गया है। लेकिन यह मानना भूल होगी कि वर्ण केवल स्वभावजन्य गुण तथा कर्मों की भिन्नता पर ही आधारित है। वर्ण धर्म का सार ही यही है कि वर्ण धर्म पर आधारित है न कि धर्म वर्ण पर[1]। वर्ण धर्म में, स्वभावजन्य गुण तथा कर्म की भिन्नता की जननी, विधायक वृत्ति की भिन्नता के आधार पर एक लचीली सामाजिक संरचना को प्रतिपादित करने का प्रयास किया गया है। वर्ण धर्म उन कर्तव्यों में निहित है जो ब्राह्मण क्षत्रिय वैश्य तथा शूद्र वर्ग के सदस्य अपने अपने स्वभावजन्य गुणों के आधार पर, कर्म के रूप में ग्रहण करते हैं। उदाहरणार्थ महाभारत के शान्ति पर्व में भीष्म के कथनानुसार शिक्षण आत्म नियन्त्रण और तप ब्राह्मण के अध्ययन, जनरक्षा यज्ञ और दान क्षत्रिय के अध्ययन, दान यज्ञ और उचित साधना से धन संचय वैश्य के तथा तीनों वर्णों की सेवा शूद्र के कर्तव्य हैं। भीष्म के अनुसार शूद्र को कभी भी धन संचय नहीं करना चाहिये क्योंकि धन संचय से शूद्र अन्य वर्ण के लोगों से उच्चतर हो जाता है। धन संचय शूद्र के लिये पाप है क्योंकि शूद्र का पालन पोषण अन्य वर्णों का धर्म है। शूद्र तो केवल सेवक है उसके पास जो कुछ भी है, वह उसके स्वामी का है। शूद्र यज्ञ कर सकता है किन्तु बिना वैदिक मन्त्रों का उच्चारण किये[2]।

गुणानुसार कर्तव्य वर्ण धर्म

महाभारत के अनुशासन पर्व में उपवास धर्म ज्ञान विवेचन, वेदविहित आचार का पालन, निरन्तर वेद-पाठ गृह की पवित्र अग्नि का प्रज्ज्वलित रखना, यज्ञ और अहिंसा ब्राह्मण के स्वाध्याय रक्षण, यज्ञ तथा दान के अतिरिक्त प्रारम्भ किये हुए कार्यों को पूरा करने की लगन, अपराधियों को उनके अपराध के अनुसार दंड देना तथा दुखी जनों की सहायता के लिये तत्परता क्षत्रिय के, सच्चा व्यापार वैश्य का तथा तीनों वर्णों की सेवा शूद्र के कर्तव्य हैं[3]। महाभारत में एक अन्य स्थान पर भरद्वाज को वर्ण धर्म का महत्त्व बतलाते हुए महर्षि भृगु ने कहा है कि ब्राह्मण वह है जो जात कर्म तथा अन्य संस्कारों से संस्कृत किया गया है जिसका आचरण शुद्ध है वेदाध्ययन में जिसकी निष्ठा है जो नित्य वृत्ति (दैनिक व्यवहार) तथा सत्य के प्रति सतत सजग रहता है जिसके साथ सत्य दान अहिंसा अद्रोह, दया, त्रपा (शील), उपकार और तप सम्बन्धित है। इसीप्रकार क्षत्रिय वह है जो क्षत्रियोचित कर्तव्यों का पालन करने के साथ-साथ स्वाध्याय (वेदाध्ययन), दान तथा धन संचय की ओर प्रवृत्त हो।

1 प्रभु पी० एच० वही पृष्ठ 218
2 प्रभु, पी० एच० वही पृष्ठ 305–306

क, कृषक धनोपार्जन के साधनों में लगा हुआ शुद्धाचरण
हो और, शूद्र वह है जो सर्वभक्षी, अनाचारी, अशुचि और

म लक्षणों के आधार पर ब्राह्मण क्षत्रिय, वैश्य और शूद्र का
निरूपण किया गया है। भागवत पुराण में निरूपित वर्णों
विभिन्न वर्णों की स्वाभाविक वृत्तियों का अन्तर तथा उनमें
भिन्न मानसिक विशेषताएं (Psychological Traits) हैं।
स्वभाव आत्म नियन्त्रण, आत्म निग्रह (मिताप भोग) पवित्रता
(आर्जव) विद्या दया सत्यता और ईश्वर निष्ठा ब्राह्मण के,
तेज दान, आत्मनियन्त्रण क्षमा ब्राह्मण के प्रति मित्रभाव,
या दूसरों की रक्षा का भाव क्षत्रिय के ईश्वर तथा गुरु के प्रति
निष्ठा, तीनों वर्णों का पोषण उद्योग और दक्षता वैश्य के तथा विनम्रता पवित्रता
स्वामी के प्रति अनन्य सेवा का भाव यज्ञ (जिसमें वेद मन्त्रों का पाठ न हो) चोरी
करने की प्रवृत्ति का अभाव सत्यता और पशु तथा ब्राह्मणों की रक्षा शूद्र के लक्षण
हैं[2]। मनु ने प्रत्येक वर्ण की प्रधान वृत्ति पर वर्ण धर्म को आधारित किया है। वेद
पठन पाठन ब्राह्मण के लिये रक्षण क्षत्रिय के लिये वार्तावृत्ति (खेती कृषिकार्य)
य के लिये और सेवा शूद्र के लिये उत्तम कर्तव्य है[3]।
एक ओर विभिन्न वर्णों के लिये धर्म का अलग-अलग निरूपण किया गया है

वर्ण-व्यवस्था में समान धर्म

वहां दूसरी ओर सभी वर्णों के लिए समान धर्म का भी निरूपण किया गया है। वर्ण स्वभाव गुण कर्म के अनुसार भिन्न अवश्य हैं, लेकिन वर्ण भिन्नता का आधार तो केवल मानव में ही है। जब जीवन का उद्देश्य मानवीयता है वहां वर्ण तो केवल मानवीयता प्राप्ति के माध्यम हैं। ऐसी दशा में यह आवश्यक हो जाता है कि वर्ण-धर्म से परे उस धर्म का निरूपण किया जाय जो विभिन्न वर्ण धर्मों के साथ और विभिन्न वर्णों के माध्यम से मानव को मानवीयता की ओर ले जाय। महाभारत के शान्तिपर्व में भीष्म के कथनानुसार अक्रोध (अपराधी भाव) सत्यभाषण न्याय (समविभाग) क्षमा विवाहित पत्नी से ही सन्तानोत्पत्ति करना शुद्ध आचरण झगड़े से दूर रहना सरलता (आर्जव) यत्न करना और भृत्यों का पोषण सभी वर्णों का धर्म है। महाभारत के अनुशासन पर्व में सभी के प्रति आतिथ्यभाव (सर्वातिथ्यम्) धर्म अर्थ तथा काम की साधना और अपनी अपनी सामर्थ्य के अनुसार भिक्षादान

1 प्रभु वही पृष्ठ 318
2 वही पृष्ठ 316
3 वही पृष्ठ 308

सभी वर्णों का समान धर्म माना गया है। मनु ने अहिंसा सत्य अस्तेय शौच, इन्द्रिय निग्रह दम क्षमा आर्जव और दान को सभी वर्णों का समान धर्म माना है[1]।

यह पहले ही कहा जा चुका है कि धर्म के साथ साथ आपद्धर्म की भी धारणा मिलती है। धर्म शाश्वत है लेकिन वह देश काल की परिस्थितियों तथा मर्यादाओं से परे नहीं है। देश काल की परिस्थितियों का प्रभाव इतना प्रबल है कि देश काल के अनुसार धर्म भी अधर्म हो सकता है। वर्ण धर्म भी देश काल की परिस्थितियों तथा मर्यादाओं से उन्मुक्त नहीं है। आपत्ति अथवा संकट काल में यदि वर्णधर्म का पालन सम्भव न हो तो आपत्तिकालीन वर्ण धर्म (आपद्धर्म) का आश्रय लिया जा सकता है। महाभारत के शान्तिपर्व में यह कहा गया है कि आपत्तिकाल में ब्राह्मण क्षत्रिय के कर्मों को अपना सकता है या यदि क्षत्रिय कर्म उसकी सामर्थ्य के बाहर हो तो वह वैश्य कर्म को अपना सकता है। यदि वैश्यकर्म अपनाता भी है तो वह मदिरा नमक, तिलहन (Sesamum Seeds) गर्दन पर बाल वाले जानवर साड, शहद मांस और पका हुआ भोजन किसी भी दशा में न बेचें। उसी प्रकार आपत्तिकाल में क्षत्रिय भी वैश्य कर्म अपना सकता है। महाभारत में यह नहीं लिखा गया है कि तीनों वर्ण शूद्र धर्म को अपना सकते हैं या नहीं? लेकिन प्रभू ने यह निष्कर्ष निकाला है कि महाभारत में तीनों वर्णों को किसी भी दशा में शूद्र कर्म अपनाने की अनुमति नहीं है[2]।

वर्ण धर्म और आपद्धर्म

धर्मशास्त्रों में भी वर्ण धर्म के निरूपण में आपद्धर्म को स्वीकार किया गया है। यहां भी आपत्तिकाल में ब्राह्मण को क्षत्रिय या वैश्य कर्म क्षत्रिय को वैश्य-कर्म और वैश्य को शूद्रकर्म अपनाने की अनुमति दी गई है। धर्मशास्त्रों के अनुसार यदि ब्राह्मण और क्षत्रिय कृषिकार्य को अपनाते हैं तो उन्हें इस बात का ध्यान रखना चाहिये कि उनसे किसी भी जीव को चोट न पहुंचे और न उसकी हत्या हो और यदि वे व्यापार कार्य को अपनाते हैं तो वे पका भोजन तिलहन नमक पशु मनुष्य रंग तथा सनई या उनसे बना कपड़ा फल कन्दमूल औषधि की जड़ी बूटियां, पानी शस्त्र विष मांस सोम सभी प्रकार के सुवासित तेल दूध मक्खन तेल मांस शक्कर जंगली चौपाये पक्षी नख दन्त नील लाख और एक खुरवाले चौपाये जानवरों के छोड़कर उन सभी वस्तुओं का व्यापार कर सकते हैं जिनका व्यापार करना वैश्य का धर्म है। मनु के अनुसार विद्या यांत्रिक कलाएं भृति (मजदूरी) सेवा (नौकरी) पशुपालन विपणि (बाजार) कृषि धृति भिक्षा और कुसीदवृत्ति (सूदखोरी) जीवन यापन के ये दस आधार हैं। जिनको आपत्तिकाल में सभी वर्णों के लोग अपना

---

1 प्रभू, पी० एच० वही पृष्ठ 30, 307
2 वही पृष्ठ 309

कर सकते हैं। अकाल या निरीह आवश्यकता के पड़ने पर, यदि भोजन के न मिलने पर जीवन को ही खतरा हो तो भोज्य के रूप में चाण्डाल से भी गाय या कुत्ता स्वीकार करने में पाप नहीं लगता है—जैसे ही जैसे आकाश पर कभी भी कीचड़ की छाप नहीं लगती है। हाँ, यह अवश्य है कि किसी भी दशा में किसी भी वर्ण के व्यक्ति को अपने से उच्च वर्ण के कर्म को नहीं अपनाना चाहिए[1]।

वर्ण धर्म और स्वधर्म

वर्ण धर्म को स्वधर्म के रूप में प्रतिपादित किया गया है और इस रूप में वर्ण धर्म के प्रति यह धारणा रही है कि अपने वर्ण का धर्म दूसरे वर्ण के धर्म से कहीं अच्छा है। यदि व्यक्ति अपने वर्ण के धर्म की अपूर्ण साधना कर पाता है और दूसरे के वर्ण-धर्म की साधना करने की उसमें क्षमता भी है, तो भी उसे अपने ही वर्ण के धर्म को अपनाना चाहिए। वर्ण के अनुसार कर्म के प्रति निष्ठायुक्त समर्पण वर्ण-धर्म का मुख्य आधार है। गीता में निष्काम कर्मयोग के जीवन-दर्शन की पृष्ठभूमि में इसी पर जोर दिया गया है और महाभारत में अनेक प्रसंगों के द्वारा इसे स्पष्ट करने का प्रयास किया गया है।

महाभारत के वन पर्व में उस धर्म-व्याध[2] की कथा आई है जिससे कौशिक नामक तपस्वी ब्राह्मण ने वर्ण तथा धर्म की शिक्षा ली थी। ब्राह्मण ने जब यह आश्चर्य प्रकट किया कि व्याध को धर्म व्याध क्यों कहा जाता था तो व्याध ने उत्तर दिया, 'जिस कर्म के लिए सृजनकर्ता ने मुझे जन्म दिया है मैं उसमें रत हूँ। मैंने अपना जीवन अपने उच्च वर्ण के लोगों तथा वृद्धों के लिए अर्पित कर दिया है। निम्न वर्ण में जन्म लेकर भी एक व्यक्ति आचारशील हो सकता है चाहे जन्म या कर्म से वह वधिक ही क्यों न हो। प्रारब्ध सर्वशक्तिमान है। पूर्वजन्म के कर्मों के परिणाम से छुटकारा पाना कठिन है। मेरा वर्तमान जन्म पूर्वजन्म के कर्मों तथा पापों का परिणाम है। लेकिन वधिक तो केवल साधन मात्र हैं क्योंकि जिसका वध होता है, वह भी उसके पूर्वजन्मों के प्रभाव के कारण होता है। इसमें मैं प्रत्यक्ष

1 प्रभु, पी० एच० 308-309

2 व्याध उसे कहते हैं जिसका कर्म जानवरों और पक्षियों को पकड़ना, उनका वध करना और मांस बेचना है। धर्म व्याध संज्ञा का प्रयोग प्रतीक है उस व्याध का जो धर्म के मर्म को समझता था और जिसका आचरण धर्मानुसार था। धर्म-व्याध व्याध कर्म को प्रारब्ध समझ कर करता था। वह सत्यभाषी था, उसमें किसी के प्रति द्वेष नहीं था, अपनी सामर्थ्य के अनुसार वह भिक्षा तथा दान दिया करता था, देवों, अतिथियों और भृत्यों की सेवा से जो बच रहता था, उसी पर वह अपना जीवन व्यतीत करता था, उसमें किसी के प्रति घृणा का भाव न था और न वह कभी किसी की बुराई करता था।

अपने कर्मों के प्रभाव में है इसलिए यह देखना हमारा कर्तव्य हो जाता है कि किस प्रकार कर्म प्रभाव को दूर किया जा सकता है दान, सत्यता, गुरु की सेवा, अपने वर्ण धर्म के प्रति निष्ठा सदाचार, अहंकार से मुक्ति और निष्काय सम्भाषण इत्यादि कर्म प्रभाव से मुक्त होने के अनेक साधन हैं हमारे कर्मों की अच्छाई तथा बुराई के विषय में बहुत कुछ कहा जा सकता है लेकिन, महान गौरव उसे ही मिलता है जो अपने वर्ण धर्म (स्वधर्म) में रत रहता है। धर्म व्याध से वर्ण धर्म के इस विश्लेषण को सुनकर ब्राह्मण को यह निश्चय हो गया कि अपनी कर्तव्यपरायणता के कारण धर्म व्याध शूद्र नहीं वास्तव में ब्राह्मण है। तपस्वी ब्राह्मण कौशिक के शब्दों में जो ब्राह्मण अहंकारी पापी दुष्प्रवृत्ति वाला और नीच कर्मों में प्रवृत्त होता है, वह वस्तुतः शूद्र है और जो शूद्र सदाचारी सत्यभाषी और आत्मनिग्रही है, वह वस्तुतः ब्राह्मण है। अपने कर्म से ही कोई व्यक्ति ब्राह्मण बनता है और अपने कर्म से ही वह दुर्त्व को प्राप्त होता है।'

महाभारत में आये भीम नहुष के प्रसंग[1] से भी यही निष्कर्ष निकलता है कि वर्ण धर्म, कर्म पर आधारित है न कि जन्म पर। अजगररूपी नहुष के यह पूछने पर कि ब्राह्मण कौन है, युधिष्ठिर ने उत्तर दिया कि ब्राह्मण वह है जिसमें सत्य, दान, क्षमा उत्तम शील दया तापस प्रवृत्तियां और करुणा के भाव हों। अजगर के यह कहने पर कि ये लक्षण तो शूद्र में भी पाये जा सकते हैं युधिष्ठिर ने कहा कि यदि ये लक्षण किसी शूद्र में विद्यमान हों तो वह शूद्र नहीं ब्राह्मण है और यदि किसी ब्राह्मण में ये लक्षण अनुपस्थित हों तो वह ब्राह्मण नहीं शूद्र है। युधिष्ठिर के कथनानुसार ब्राह्मण और शूद्र का अन्तर उनकी अलग अलग जीवन वृत्तियों की विशेषताओं पर आधारित है न कि जन्म पर। इसपर अजगर (नहुष) ने प्रश्न किया तब, जाति का अन्तर तब तक बेकार है जब तक मनुष्यों का कर्म विभिन्न वर्ण वृत्तियों के अनुसार न हो?

---

1 नहुष, भीम और युधिष्ठिर का प्रसंग वनपर्व में आया है। नहुष पाण्डवों के पूर्वज थे। ऋषियों के प्रति उनका व्यवहार अत्यन्त क्रूर था। एक बार ऋषियों से उन्होंने अपना रथ खिंचवाया था जिससे दुखी होकर एक ऋषि ने उन्हें श्राप दी थी कि उनका पुनर्जन्म अजगर सर्प के रूप में हो। साथ ही साथ, उन्हें यह वरदान भी दिया कि उनका उद्धार उनके वंशज पाण्डवों से होगा। जंगल में अजगर सर्प के रूप में नहुष ने भीम को पकड़ लिया और अपने बल-पराक्रम के बावजूद भी भीम अपने को छुड़ा न पाये। अजगर ने भीम को छोड़ने का वादा इस बात पर किया वे उसके प्रश्नों का ठीक-ठाक उत्तर दें। भीम के उत्तर न दे सकने पर धर्मराज युधिष्ठिर को बुलाया गया और उन्होंने सर्प के प्रश्नों का उचित उत्तर देकर भीम को छुड़ाया। अजगर का सबसे पहला प्रश्न था कि ब्राह्मण कौन है?

अजगर के प्रश्न का साराश यह निकलता है कि क्या वर्ण और जाति एक ही है ? इस पर युधिष्ठिर ने उत्तर दिया, 'वर्ण-सांकर्य के कारण किसी भी व्यक्ति की जाति निर्धारित करना कठिन है सभी वर्णों के स्त्री पुरुष पारस्परिक सम्भोग से सन्तान उत्पत्ति करते रहे हैं और कर रहे हैं भाषा मैथुन जन्म और मरण सभी वर्णों में समान रूप से पाये जाते हैं सभी वर्ण के लोगों को यज्ञ करने का अधिकार है धर्म के तत्वदर्शियों का यह कहना है कि शील ही सबसे अधिक वाछनीय मानवीय लक्षण है लेकिन, शील का विकास संस्कारों द्वारा होता है जन्म के समय प्रत्येक मनुष्य शूद्र से किसी भी प्रकार उच्च नहीं होता है[1] जातकर्म के संस्कार के समय प्रत्येक मनुष्य की मां उसकी सावित्री और पिता उसका आचार्य प्रत्येक व्यक्ति का शूद्रत्व तो उपनयन के बाद समाप्त होता है ब्राह्मण वस्तुत वह है जिसमे संस्कारकृत वृति (संस्कारकृत वृत्त) पाई जाय ।

महाभारत के अनुशासन पर्व में महेश्वर से यह कहलाया गया है कि निम्न-वर्ण का कोई भी व्यक्ति इस जन्म में स्वधर्म का पालन करके, अगले जन्म में उच्च वर्ण को प्राप्त कर सकता है। लेकिन जो व्यक्ति अपने वर्ण धर्म का पालन नहीं करता है, उसका अगला जन्म इस जन्म के निम्नवर्ण में होगा। इसप्रकार इस सिद्धात के अनुसार मनुष्य उच्च वर्ण इस जन्म में नहीं वरन अगले जन्म में प्राप्त कर सकता है बशर्ते कि इस जन्म में वह अपने वर्ण धर्म का अनुसरण करे। इस जन्म के कर्म पिछले जन्मों के कर्मों का परिणाम हैं और उनसे छुटकारा तभी मिल सकता है अर्थात उच्च वर्ण तभी प्राप्त हो सकता है जब इस जन्म में मिले कर्मों को लगन के साथ किया जाय। इस सिद्धान्त के अनुसार वर्ण धर्म मुख्यत और धर्म साधारणत वे साधन हैं जिनके द्वारा व्यक्ति प्रत्येक जन्म में उच्चतर स्तर पा सकता है। आवागमन और धर्म सतत उद्विकास के साधन हैं।

वर्ण धर्म के इस विवेचन से यह निष्कर्ष निकलता है कि वर्ण का आधार धर्म है और वर्ण धर्म में कर्म — वर्ण धर्म जहाँ एक ओर स्वभावजन्य गुणों से बधा है वहाँ दूसरी ओर कर्म से। कर्म वर्ण का आधार है। लेकिन जैसा कि पिछले विवेचन से स्पष्ट होता है कर्म का लेकर दो प्रकार की विचारधारायें मिलती हैं। एक विचारधारा यह है कि प्रत्येक व्यक्ति का वर्ण उसके पूर्वजन्म के कर्म-संचय पर आधारित है और बाद को व्यक्ति इस जन्म में अपने वर्ण को बदल सकता है। दूसरी विचारधारा यह है कि पूर्व-जन्म कुछ नहीं है। इस जन्म के कर्मों से ही वर्ण बनता है। महात्मा बुद्ध ने भी इस जन्म के कर्मों पर ही जोर दिया है। बुद्धवाद के सिद्धान्तों के अनुसार, इस जन्म के कर्मों के ही अनुसार पारलौकिक जीवन बनता है। जैसा कि गीता में है महात्मा गांधी ने जन्म गुण तथा कर्तव्य को

---

1 जन्मना जायते शूद्रः संस्काराद् द्विज उच्यते।

एक म मिलाया है। महात्मागांधी के अनुसार मेरा यह विश्वास है कि जसे प्रत्येक व्यक्ति को आनुवंशिकता म एक आकार मिलता है, वस ही उसे अपने प्रजनयिताओं (Progenitors) से कुछ विशेष विशेषताएँ तथा गुण मिलते हैं। इस तथ्य को स्वीकार करना अपनी शक्ति का सर्वधित करना ह क्योंकि इससे अपनी महत्वाकांक्षाओं पर उचित रोक लग जाती है और अपनी शक्ति के लिए आध्यात्मिक जिज्ञासा तथा आध्यात्मिक उदविकास का क्षेत्र विस्तृत हो जाता है। मने सदव वर्णाश्रम धर्म को ही अपनाया है। महात्मागांधी न वर्ण व्यवस्था को जन्म पर आधारित एक पुष्ट कार्य विभाजन की व्यवस्था मानी है क्योंकि जसा कि उन्होंने कहा है मेरे सामने उच्चता तथा निम्नता का कोई प्रश्न नहीं है। मेरे सामने केवल कर्तव्य का प्रश्न है[1]। अत यहीं पर यह प्रश्न उठता है कि वर्ण का आधार जन्मजात गुण-कर्म है या अर्जित कर्म और सामाजिक प्रतिष्ठा।

महाभारत के शान्तिपर्व म जनक को वर्ण की वास्तविकता समझाते हुए महर्षि पाराशर न कहा है कि वेदविद ब्राह्मण सदाचारी शूद्र को भी ब्रह्मस्वरूप मानते हैं। निम्नवर्णी व्यक्ति वर्णव्यवस्था म अपने को ऊचा उठाने के लिए उच्च वर्णी लोगों के आचार का अनुसरण कर सकते हैं यद्यपि उन्हें मन्त्रोच्चारण की आज्ञा नहीं है। जनक द्वारा यह पूछे जाने पर कि मनुष्य जन्म से दूषित होता है या कर्म से पाराशर न उत्तर दिया कि एक दृष्टिकोण से मनुष्य दोनों से दूषित हो सकता है। फिर भी दोनों म एक विशेष अन्तर है। जो व्यक्ति निम्न परिवार म जन्म लेने पर भी निम्न कर्म नहीं करता है वह जन्म से दूषित नहीं होता है और उच्च परिवार म जन्म लेने वाला पवित्र यदि नीच कर्म करता है तो उसके कर्म उसे दूषित करते हैं। जन्म और कर्म म अधिकतर दूषित प्रभाव कर्म का ही पड़ता है।

हिन्दू धर्मग्रन्थों म अनेक ऐसे उदाहरण मिल जाते हैं जिनमें जन्म की अपेक्षा कर्म के आधार पर वर्ण का निर्धारण किया गया है या वर्ण परिवर्तन हुआ है। रामायण और महाभारत से पता चलता है कि अपने प्रयत्नों से विश्वामित्र ने ब्राह्मण पद प्राप्त किया था[2]। परशुराम जन्म से ब्राह्मण किन्तु कर्म से क्षत्रिय थे। महाभारत

---

1 गोखले बी० जी० इण्डियन थाट थ्रू दि एजेज पृष्ठ 21-3

2 वशिष्ठ के ब्राह्मण बल से प्रभावित होकर ही विश्वामित्र ने क्षात्र बल त्याग कर ब्राह्म बल के लिए तपस्या की थी। वशिष्ठ विश्वामित्र संघर्ष म इतिहासकारों ने वर्गसंघर्ष के तत्व को ढूढ निकालने का प्रयास किया है क्योंकि वशिष्ठ ने विश्वामित्र के इस प्रयास का विरोध किया था। काफी परिश्रम के बाद विश्वामित्र को ब्राह्मण पद मिला था। लेकिन प्रभु के अनुसार यदि हम वर्णों को सात्विक राजस तथा तामस गुणों के आधार पर विभाजित मान लें तो यह स्पष्ट हो जाता है कि राजस मानसिक प्रवृत्तियों को सहसा त्याग कर सात्विक को अपनाना सरल नहीं है—प्रभु वही पृष्ठ 3 0

में कौरव पक्ष के प्रमुख सेनानी द्रोणाचार्य कृपाचार्य और अश्वत्थामा जन्म से ब्राह्मण किन्तु कर्म से क्षत्रिय थे। देवापि सिंधुद्वीप और वीतहव्य क्षत्रिय राजकुमार थे किन्तु उन्हें ब्राह्मणत्व का पद मिला। इन्द्र जन्म से ब्राह्मण होते हुए भी कर्म से क्षत्रिय माने गये। भागवत पुराण में भी वर्ण परिवर्तन के अनेक उदाहरण आये हैं। सम्राट शर्याति को क्षत्रिय वर्ण में जन्म लेने पर भी ब्राह्मणत्व का पद मिला और नाभाग नामक राजकुमार को कर्म के आधार पर वैश्य का पद। भागवत पुराण में सम्पूर्ण गोत्र के वर्ण परिवर्तन के उल्लेख मिलते हैं। मौद्गल्य गोत्र के सदस्यों को ब्राह्मण वर्ण मिला यद्यपि वे मुद्गल नाम के क्षत्रिय से उत्पन्न हुए थे। सम्राट ऋषभदेव के सौ पुत्रों में से इक्यासी को ब्राह्मणत्व का पद मिला। पद्म पुराण के अनुसार महाभारत के रचयिता महर्षि वेदव्यास असत-क्षत्र-कुल (निम्नस्तर) में जन्मे थे और वशिष्ठ वेश्या पुत्र थे। किन्तु दोनों को द्विज की श्रेणी में रक्खा गया है[1]। वर्ण धर्म में ही हिन्दुत्व को उसका सामञ्जस्यकारी गुण (Accomodative Quality) मिला है। यह इसी विशेषता का परिणाम है कि भगवान रामचन्द्र जैसे क्षत्रिय को, श्रीकृष्ण जैसे यादव को, वाल्मीकि जैसे निषाद को, तुकाराम और ज्ञानेश्वर जैसे शूद्रों को, मीराबाई जैसी क्षत्राणी को, नामदेव जैसे दर्जी को, रैदास जैसे अन्त्यज को और कबीर जैसे मुसलमान को हिन्दू समाज में उच्च पद मिला है[2]। यह वर्ण धर्म में निहित आदर्श का ही परिणाम है कि ऐतिहासिक काल में अनेक व्यक्तियों तथा जातियों के वर्ण स्तर के परिवर्तन के उदाहरण मिलते हैं जिनका वर्णन पहले किया जा चुका है।

४

वर्ण असमानताएं

वर्ण धर्म का एक दूसरा पहलू भी है और वह है उसका पूर्वनिर्धारित रूप। प्रत्येक व्यक्ति के लिए उसका वर्णधर्म अलौकिक तथा पूर्वनिर्धारित है जिसका पालन करना उसका धर्म है। वर्णधर्म के साथ-साथ वर्ण का भी पूर्वनिर्धारित माना गया। इसकी अभिव्यक्ति वर्णव्यवस्था में पाई जाने वाली ऊंचनीचपरम्परा (Hierarchy) में मिलती है। यह इसी विचार का परिणाम है कि विभिन्न वर्णों के लोगों के लिए विभिन्न व्यावहारिक मापदण्ड को निर्धारित किया गया है यद्यपि,

1 प्रभु वही पृष्ठ ...।
2 वही 3..।

सिद्धान्ततः सभी वर्णों को समान माना गया है। संस्कारों में वर्ण वर्ण में भेद किया गया है और संस्कारों की विवेचना के साथ साथ इस भेद का उल्लेख भी किया गया है। यहाँ उनका संक्षिप्त पुनरुल्लेख आवश्यक है। ब्राह्मण क्षत्रिय और वैश्य वर्ण के लोगों को क्रमशः आठ ग्यारह और बारह वर्षों की आयु में विद्या आरम्भ करने का विधान है। शूद्र के लिए न तो विद्या अध्ययन का ही विधान है और न उपनयन संस्कार का ही। ब्राह्मण क्षत्रिय और वैश्य के लिए वेदाध्ययन की अनुमति है। शूद्र को वेदाध्ययन से वंचित रक्खा गया है। उपनयन संस्कार में प्रयुक्त होने वाले वस्त्र यज्ञोपवीत और दंड में भी वर्ण के अनुसार अन्तर रक्खा गया है[1]। अनुलोम विवाह के सिद्धान्तों के अनुसार प्रत्येक पुरुष को अपने तथा अपने से निम्न वर्ण में विवाह करने का अधिकार है और प्रतिलोम विवाह के सिद्धान्तों के अनुसार कोई भी पुरुष अपने से उच्च वर्ण में विवाह नहीं कर सकता है। इन वैवाहिक सिद्धान्तों का स्वाभाविक परिणाम यह है कि जिस पुरुष का वर्ण जितना निम्न है उसका पत्नी चुनने का क्षेत्र उतना ही सीमित है अपने वास्तविक रूप में यह नियन्त्रण सामाजिक निर्योग्यता के अतिरिक्त और क्या है? जो वर्ण सामाजिक उच्चावच्च परम्परा के सोपान में जितना निम्न है उस पर यह निर्योग्यता उतनी ही अधिक लागू होती है[2]। विवाह के द्वारा वर्णशुद्धता बनाये रखने को वाछनीय माना गया है और वर्णसांकर्य को अवांछनीय। वर्ण भेद में कर्मकाण्डवाद (Ritualism) पर अधिक जोर दिया गया है। शूद्र के संस्कारों में वैदिक मन्त्रों के प्रयोग न करने का विधान किया गया है। शूद्र के लिए अन्त्यज शब्द का प्रयोग किया गया है जिसका अर्थ है निम्नतम। जो वर्ण जितना उच्च है उसके संस्कार उतने ही सघन वैदिक मन्त्रों से विधि और वैदिक आदेशों के अनुसार हैं। इस सन्दर्भ में वैदिक धर्म

---

1 वही 113 114 115 116

2 जहाँ एक ओर, अनुलोम तथा प्रतिलोम विवाह के नियमों के रूप में वर्ण वर्ण में पाई जाने वाली सामाजिक निर्योग्यताओं का विचार मिलता है वहाँ, दूसरी ओर जैसा कि प्रभू ने दिखाया है महाभारत में वर्ण अन्तर्विवाहों के अनेक उदाहरण भी मिलते हैं जो विभिन्न वर्णों की आधारभूत समानता का प्रतीक माने जा सकते हैं। शान्तनु (क्षत्रिय) का सत्यवती (शूद्र कन्या) से दुष्यन्त (क्षत्रिय) का शकुन्तला (ब्राह्मण ऋषि कण्व की कन्या) से सम्राट ययाति (क्षत्रिय) का ब्राह्मण पुरोहित शुक्राचार्य की कन्या देवयानी से और च्यवन ऋषि का राजकुमारी सुकन्या से विवाह इस तथ्य के उदाहरण हैं कि महाभारत काल में वर्णभेद विवाह का आधार नहीं था। लेकिन साथ ही-साथ यह कहना कठिन है कि कहाँ तक ये विवाह एक सार्वजनिक नियम का प्रतीक हैं। इन्हें अनुलोम प्रतिलोम सिद्धान्तों का अपवाद भी कहा जा सकता है।

विभिन्न वर्णों के लिए अलग अलग पूर्वनिर्धारित आदर्श है।

इसप्रकार, वर्णधर्म के निरूपण में एक ओर मनुष्य में पाये जाने वाले गुणों तथा कर्मों के भेदों के अनुसार चतुर्वर्णी व्यवस्था को आधारभूत मान लिया गया है और कर्म पर जोर देकर उसे अर्जित सामाजिक प्रतिष्ठा के आधार पर एक लचीली वर्ग-व्यवस्था के रूप में प्रस्तुत करने का प्रयास किया गया है तथा दूसरी ओर चार वर्णों को स्थायी मानकर प्रत्येक वर्ण के लिए अलग अलग व्यावहारिक नियमों का निर्धारित करने का प्रयास किया गया है। जहाँ चारों वर्णों को स्थायी मान कर, उनके लिए पूर्वनिर्धारित निर्देशों के निरूपण का प्रयास किया गया है, वहाँ कर्म के स्थान पर जन्म को प्रधानता मिल गई है जिसके कारण वर्ण में जाति का विभ्रम हो जाता है। यही कारण है कि हिन्दू विचारधारा में वर्ण का स्वरूप जन्म तथा कर्म सम्बन्धी द्विविधापूर्ण विचारधारा मिलती है जिसके कारण वर्ण तथा वर्णधर्म के वास्तविक स्वरूप को आंकने में सफलता नहीं मिल पाई है। एक ओर, कर्तव्य तथा कर्म पर आधारित वर्ण का वह आदर्श रूप मिलता है जिसकी व्याख्या तथा प्रतिपादन वेद, पुराण, गीता और महाभारत इत्यादि ग्रन्थों में मिलता है और, दूसरी ओर, वर्ण का वह रूप है जो असमानताओं तथा निर्योग्यताओं में सम्वर्धित रहा है। वर्तमान भारत में यह द्विविधापूर्ण विचारधारा चल रही है। आर्यसमाज ने वर्ण-व्यवस्था के पुनरुद्धार का प्रयत्न किया और गांधी ने उसे सुयुक्तिपूर्ण बनाने का प्रयास किया। दूसरी ओर, ऐसे इतिहासकार तथा विचारक हैं जिन्होंने वर्तमान जाति-व्यवस्था के आधार पर वर्ण की विवेचना करके उसे दोषपूर्ण ठहराने का प्रयत्न किया। वर्ण के वास्तविक स्वरूप को समझने के लिए वर्ण की उत्पत्ति के सम्बन्ध में जितनी विचार-धारायें मिलती हैं, उनका विवेचन आवश्यक है।

५

वर्णोत्पत्ति के सिद्धान्त

हिन्दू विचारधारा में, जैसा कि पहले कहा जा चुका है, वर्ग-व्यवस्था को मानव-जीवन का स्थायी आधार माना गया है। लेकिन वर्ण की धारणा स्थायी नहीं है। वर्ण की धारणा का हिन्दू विचारधारा में एक सतत क्रमविकास हुआ है। वर्ण विचार का प्रथम प्रणयन ऋग्वेद में हुआ है, और, बाद में समयानुसार, इस विचार की व्याख्या, इसका निर्वचन और परिवर्तन होता रहा। इस विचार पर, एक ओर युग युग की सामाजिक परिस्थितियों का प्रभाव पड़ा है और, दूसरी ओर भारत की सर्वांगीण सामाजिक परिस्थिति ने इस पर प्रभाव डाला है। यह [illegible] है जो भारत के

धर्मग्रन्थों में निहित है। दूसरा विचार, भारत के इतिहासकारों तथा इण्डालोजिस्ट का है। धर्म ग्रन्थों में निहित वर्ण सम्बन्धी तथ्यों के आधार पर इन्होंने वर्ण के उद्भव को स्पष्ट करने का प्रयास किया है। वर्ण उद्भाव सम्बन्धी तीसरा विचार भारत के समाजशास्त्रियों का है जिसका प्रणयन अब प्रारम्भ हुआ है।

ऋग्वेद के पुरुषसूक्त में एक अलौकिक, रहस्यात्मक विराट पुरुष की कल्पना की गई है। ऐसा पुरुष संसार ब्रह्माण्ड की उत्पत्ति हुई है और सारे ब्रह्माण्ड में यही पुरुष व्याप्त है। इसी पुरुष के मनस से चन्द्रमा की, आंखों से सूर्य की, मुख से इन्द्र और अग्नि की, श्वास से वायु की, नाभि से अन्तरिक्ष की, सिर से आकाश की, पैरों से भूमि की और कानों से चारों दिशाओं की उत्पत्ति हुई है। ब्राह्मण वर्ण इसी विराट पुरुष का मुख है। राजन्य (क्षत्रिय) इसकी भुजाएं, वैश्य इसकी जंघायें और शूद्र इसके पैर हैं[1]।

रहस्यवादी सिद्धान्त

पुरुष सूक्त की इन पंक्तियों का प्रतीकात्मक अर्थ निकाला गया है। पुरुष प्रतीक माना गया है समाजरूपी शरीर का और मुख, बाहु, जंघा और पैर के रूप में ब्राह्मण, क्षत्रिय, वैश्य तथा शूद्र वर्ण समाजरूपी शरीर के अंग हैं। समाज में इन वर्णों का वही महत्व है जो शरीर में मुख, बाहु, जंघा और पैर का है। इसी आधार पर यह विचारधारा मिलती है कि सभी वर्णों के व्यक्ति वस्तुतः समान हैं—वैसे ही जैसे शरीर के सभी अंग। जैसे शरीर के सभी अंगों का महत्व है वैसे ही समाज में सभी वर्णों का महत्व है। जिस प्रकार मुख, बाहु, जंघा और पैर का शरीर में उपयोगी महत्व है, उसी प्रकार ब्राह्मण, क्षत्रिय, वैश्य और शूद्र वर्णों का समाज में उपयोगी महत्व है। ऐसी विराट पुरुष के अंगों के रूप में वर्णों की उत्पत्ति का विचार महाभारत और गीता में मिलता है। उपनिषदों में पुरुष का स्थान ब्रह्म ने ले लिया है और कहीं कहीं पुरुष के स्थान पर प्रजापति की कल्पना रखी गई है।

ब्राह्मणग्रन्थों तथा उपनिषदों में भी यही रहस्यात्मक विचारधारा मिलती है। शतपथ ब्राह्मण में एक स्थान पर यह कहा गया है कि प्रत्येक वर्ण में पाये जाने वाले अग्नि के चार दिव्य तत्वों से चार वर्गों की उत्पत्ति हुई है। दिव्य ब्राह्मण से मानवी ब्राह्मण की, दिव्य क्षत्रिय से मानवी क्षत्रिय की, दिव्य वैश्य से मानवी वैश्य की और दिव्य शूद्र से मानवी शूद्र की उत्पत्ति हुई है। तैत्तिरीय संहिता में शूद्र का प्रजापति के चरणों से उत्पन्न हुआ माना गया है। वृहदारण्यक उपनिषद में वर्णों की उत्पत्ति के विषय में यह कहा गया है कि प्रारम्भ में केवल ब्राह्मण के अतिरिक्त और कोई वर्ण नहीं था। किन्तु अकेले उसकी समृद्धि न हो सकी। अतः कल्याण की प्राप्ति के लिए

---

1 ब्राह्मणोऽस्य मुखमासीद बाहू राजन्य कृत।
ऊरू तदस्यद वैश्य पद्भ्याम शूद्रो अजायत॥

क्षत्र वर्ण की उत्पत्ति हुई। क्षत्र वर्ण इन्द्र, वरुण, सोम, रुद्र, पर्जन्य, यम, मृत्यु और ईशान इत्यादि देवों से मिलकर बना। जब इससे भी काम न चला तो वसु, रुद्र, आदित्य, विश्वेदेव और मरुत इत्यादि के रूप में विश (वैश्यवर्ग) की उत्पत्ति हुई और उससे भी काम न चलने पर पूषन देव के रूप में शूद्र की उत्पत्ति हुई और जब इनसे भी काम न चला तो मानव-कल्याण के लिए धर्म की उत्पत्ति हुई। बृहदारण्यकोपनिषद के अनुसार इहलौकिक चार वर्णों की उत्पत्ति चार दिव्य वर्णों से हुई है। छान्दोग्य उपनिषद में इस रहस्यात्मक विचार को एक नया रहस्यात्मक आधार प्रदान किया गया है। छान्दोग्य उपनिषद के अनुसार किसी भी वर्ण में जन्म, पूर्वजन्म के कर्मों के अनुसार होता है। जिनका आचार इस जन्म में अच्छा है उन्हें अगला जन्म ब्राह्मण, क्षत्रिय या वैश्यवर्ण में मिलता और जिनका आचार इस जन्म में दूषित है उन्हें अगला जन्म कुत्ता, सुअर या शूद्र योनि में मिलता[1]।

महाभारत का बहुमुखी दृष्टिकोण

महाभारत में कई प्रकार से वर्णों की उत्पत्ति को स्पष्ट किया गया है। महाभारत में प्राप्त एक परिच्छेद के अनुसार कृतयुग में वर्ण और जाति का भेद नहीं था। शान्तिपर्व में महर्षि भृगु के वचनानुसार पहले केवल ब्राह्मणों की ही उत्पत्ति हुई और बाद में चार वर्ण अस्तित्व में आए। यहीं वह सिद्धान्त भी मिलता है जिसके अनुसार यह माना जाता है कि ब्राह्मण का वर्ण श्वेत, क्षत्रिय का लोहित, वैश्य का पीत और शूद्र का असित है। महाभारत में यह सिद्धान्त भी प्रतिपादित किया गया है कि द्विजवर्ण से ही चार वर्णों तथा जातियों की उत्पत्ति हुई है। वर्णसंकर से जातियों की उत्पत्ति का सिद्धान्त भी महाभारत में मिलता है। महाभारत के शान्तिपर्व में पुरुषसूक्त में निहित रहस्यात्मक सिद्धान्त का भी वर्णन मिलता है। महाभारत के अनुसार ब्राह्मण की उत्पत्ति ब्रह्मा के मुख से हुई, क्षत्रिय की ब्रह्मा के बाहुओं से, वैश्य की जंघाओं से और शूद्र की ब्रह्मा के चरणों से। शान्तिपर्व में भीष्म के कथनानुसार प्रारम्भ में प्रजापति (जो प्रजा का पति अथवा राजा है) ने केवल वर्ण उत्पन्न किए और उनके कर्तव्यों को निर्धारित किया। लेकिन बाद में इन वर्णों के सांकर्य से अन्य समूह उत्पन्न हुए। महाभारत के अनुशासन पर्व में तथा पराशर के सम्वाद से यह भी स्पष्ट होता है कि महाभारत में जहाँ, सभी वर्णों को समान माना गया है वहाँ दूसरी ओर, आनुवंशिक भिन्नता को भी वर्ण भिन्नता का आधार माना गया है। जनक के यह वर्णभेद का आधार क्या है, पराशर ने उत्तर दिया कि सन्तान में ही उत्पत्ति होती है और यदि भूमि और बीज अच्छे नहीं है तो उनकी अच्छी नहीं होगी। महाभारत में विभिन्न वर्णों के गुण तथा

1 प्रभु पी० एच० वही पृष्ठ २७१

भी प्रयास मिलता है। यहा यह कहना अत्युक्ति न होगी कि महाभारत मे जहा सभी मनुष्यो का समान माना गया है, सभी वर्णों का प्रजापति के अगो के रूप में माना गया है, सभी वर्णों को मूलत समान कहा गया है और इस आधारभूत समानता के सिद्धान्त को उस सीमा तक ले जाया गया है जहा वर्ण का आधार इहलौकिक जीवन के संस्कार गुण और कर्म ही हैं वहा दूसरी ओर व्यक्ति व्यक्ति तथा समूह समूह मे पाए जाने वाले गुण भेद का आधार आनुवंशिक भी माना गया है। गीता मे, विराट पुरुष से संसार तथा वर्णों की उत्पत्ति के विचार की अलौकिक पृष्ठभूमि मे स्वभावजन्य गुण कर्म की भिन्नता को वर्ण भिन्नता का आधार माना गया है। मनुस्मृति मे अलौकिक तत्व से निर्मित चार वर्णों को आधारभूत और शाश्वत मानकर, उनके आधार पर जातियो को स्पष्ट करने का प्रयास किया गया है। इसप्रकार, धर्मग्रन्थो मे निहित वर्ण उत्पत्ति के सिद्धान्तो का एक आधार अलौकिक है और दूसरा स्वभावजन्य गुण कर्म। इन सिद्धान्तो मे मानव की आधारभूत समानता स्वीकार की गई है लेकिन साथ ही साथ स्वभावजन्य गुण कर्म की भिन्नता को भी आधारभूत माना गया है।

वर्ण व्यवस्था की उत्पत्ति से सम्बन्धित अन्य विचार इण्डालाजिस्ट (Indologist) इतिहासकारो और समाजशास्त्रियो तथा मानवशास्त्रियो के हैं जिन्होने धर्मग्रन्थो मे निहित सामग्री के आधार पर वर्ण के स्वरूप और उत्पत्ति को निर्धारित करने का प्रयास किया है। इस दिशा मे जो विचार प्रतिपादित किए गए हैं उनमे एकमतता नही है और न होने की सम्भावना ही है क्योकि धर्मग्रन्थो मे निहित सामग्री का निर्वचन कई दृष्टिकोणो से किया जा सकता है। विषय वस्तु को स्पष्ट करने के दृष्टिकोण से यहा मुख्य मुख्य विचारो का वर्णन किया जा रहा है।

ऋग्वेद मे कही तीन वर्णों (ब्रह्म, क्षत्रम और विश) का उल्लेख मिलता है और कही ब्राह्मण क्षत्रिय वैश्य और शूद्र चार वर्णोंका। पुरुषसूक्त के विषय मे लोगो का ऐसा मत है कि यह बाद की रचना है। प्रभू ने हाग (Haug) के मत का उल्लेख किया है जिसके अनुसार यह प्रतीत होता है कि वर्ण-व्यवस्था के आधार मे जाति-व्यवस्था रही है[1]।

प्रजाति संघर्ष और संस्कृति संघर्ष

हाग (Haug) के अनुसार यह सत्य है कि ऋग्वेद के प्रारम्भ के अशो मे जाति प्रथा का उल्लेख नही है और न जाति प्रथा का उस रूप मे वर्णन ही मिलता है जिस रूप मे उसका निरूपण पुराणो और स्मृतियो मे मिलता है। लेकिन, यह भी नही कहा जा सकता कि ऋग्वैदिक काल मे जाति प्रथा का अस्तित्व ही नही था। हाँ यह अवश्य है कि इस काल मे विभिन्न वर्णों मे पाए जाने वाले अवरोध (Barriers) इतने प्रबल नहीं थे जितने कि वे बाद मे हो गए। इसी सन्दर्भ मे हटन ने लिखा है

1 प्रभू पी० एन वही पृष्ठ 291

वर्णव्यवस्था अपने मूलरूप में अनावृत्त वर्णव्यवस्था (Open Class System) के रूप में थी। प्रभू ने यह निष्कर्ष निकाला है कि ऋग्वेद में जिस समाज की रूपरेखाओं का वर्णन है, उसमें वर्ण तो थे लेकिन पेशा, खान पान और विवाह के आधार पर वर्ण-वर्ण में भेद न था[1]। इसका एक सम्भव कारण यह भी हो सकता है कि ऋग्वेद मूल आर्यों के ही समाज का वर्णन है। अधिकतर विद्वानों का यही मत है कि वर्ण-व्यवस्था के रूप में ऋग्वेदीय समाज की वर्ण-व्यवस्था वंशानुक्रम की अपेक्षा व्यक्तिगत गुणों पर अधिक आधारित थी।

लेकिन ऋग्वेदीयकाल की सामाजिक वर्ण-व्यवस्था से सम्बन्धित दो अन्य तथ्यों का उल्लेख यहां आवश्यक है। पहला तथ्य यह है कि तत्कालीन आर्यों के समाज में वर्ग व्यवस्था अंकुरित हो चली थी जिसका प्रमाण ब्राह्म (पुरोहितवर्ग), क्षत्रम, (अभिजात्य या शासक वर्ग) और विश (जनसाधारण) नामक तीन वर्गों का उल्लेख है। यह इस बात का प्रमाण है कि तत्कालीन आर्यों के समाज में कार्यात्मक विशेषीकरण (Functional Specialization) की प्रक्रिया अस्तित्व में आ चुकी थी और आर्यों में त्रिवर्गी वर्ण विभाजन इसी का परिणाम था। दूसरा तथ्य यह है कि, एक ओर, सित वर्णी आर्यों का वर्णन मिलता है और दूसरी ओर असित वर्णी दासों अथवा दस्युओं का। दास या दस्यु शब्द का प्रयोग अनार्यों के लिए हुआ है। ऋग्वेद में आए वर्णन के अनुसार अनार्य वे हैं जिनकी त्वचा कृष्णवर्ण की है, जिनकी नाक चौरी है जिनकी भाषा समझ में नहीं आती है जिनमें यज्ञ और ईश्वर की पूजा नहीं पाई जाती है और जो विचित्र प्रकार की प्रथाओं का पालन करते हैं। ऋग्वेद में शूद्र शब्द का कोई स्पष्टीकरण नहीं मिलता है और कालान्तर में शूद्र शब्द दास शब्द का पर्याय हो गया। यह भी कहा जा सकता है कि दास या दस्यु शब्द का प्रयोग साधारणतः द्राविड़ तथा प्राक् द्राविड़ गणजातियों के लिए हुआ होगा[2]। प्रभू के

---

1 प्रभू ने एक ब्राह्मण ऋषि का कथन उद्धृत किया है जिसमें वह कहता है कि 'मैं कवि हूं, मेरे पिता वैद्य थे मेरी माता अनाज पीसने वाली थी' ऋषि भृगु के कुछ वंशज' ऐसा कहा जाता है रथ निर्माण की कला में निपुण थे (पृष्ठ 203)। ययाति (क्षत्रिय) और देवयानी (ब्राह्मण कन्या), दुष्यन्त (क्षत्रिय) और शकुन्तला (ब्राह्मण कन्या) के विवाहों जैसे उदाहरण देकर प्रभू ने यह निर्धारित किया है कि विवाह के आधार पर वर्ण-वर्ण में भेद न था (पृष्ठ 204)।

2 इसी आधार पर कुछ विद्वान वर्ण की उत्पत्ति भारत में होने वाले (Contact of Races) से मानते हैं यद्यपि जैसा कि पहले लिखा जा चुका प्रमाणित नहीं है। रिसले ने प्रजाति का वर्ण से नहीं जाति का है और डा० मजूमदार ने जाति के मूलाधारों को संस्कृति संघर्ष (Clash of Cultures and Contact of Races) में का प्रयास किया है।

अनुसार, सम्भव है कि शूद्र कोई मुख्य दास गणजाति रही हो जिसके आधार पर पराजितों को आर्यों ने शूद्र की संज्ञा दी हो और कालान्तर में शूद्र शब्द का व्यंजनात्मक अर्थ दास (गुलाम) के अर्थ में हो गया[1]। इरावती कर्वे के अनुसार शूद्र शब्द का प्रारम्भिक अर्थ और इतिहास अनिश्चित है। वस्तुतः सम्भव है कि यह कोई गणजातीय (Tribal) नाम रहा हो जो कालान्तर में निम्नतम सामाजिक स्तर का प्रतीक बन गया हो[2]।

इरावती कर्वे ने वर्णोत्पत्ति का एक अन्य स्पष्टीकरण दिया है। उनके अनुसार इस बात की अधिक सम्भावना जान पड़ती है कि जाति के प्रकार का संगठन भारत में आर्यों के पहले ही अस्तित्व में आ चुका था। जब भारत में आर्य विजितों के रूप में आए तो उन्होंने अपनी त्रिवर्गी वर्णव्यवस्था को देशज सामाजिक-व्यवस्था से ऊपर रक्खा। इसप्रकार, जब जाति और वर्ण व्यवस्थाओं का सम्मिलन हुआ तो देशज सामाजिक-व्यवस्था के अनेक तत्व वर्ण-व्यवस्था में मिल गए। वर्णव्यवस्था की जड़ें देशज जाति-व्यवस्था के आर पार होती चली गईं। ब्राह्मणों ने अपने वर्ग में अनेक देशज समूहों को मिलाया। क्षत्रियों ने अनार्य राजपरिवारों की राजकुमारियों से विवाह किए और विश धीरे धीरे श्रमिकों की अवस्था से ऊपर उठकर एक धनाढ्य वर्ग के रूप में बदल गए। बौद्ध साहित्य में वैश्य का वर्णन ऋग्वैदिक काल के विश (सर्वसाधारण कृषक और पशुपालक) के रूप में न मिलकर धनाढ्य व्यापारी के रूप में मिलता है। इस काल में कृषक और पशुपालक हेय दृष्टि से देखे जाते थे। एक सर्व साधारण श्रमिक वर्ग से आय विश का एक धनाढ्य व्यापारी वर्ग में रूपान्तर तभी हुआ जब पराजित वर्ग के लोग कठिन तथा निम्न कार्य के लिए उपलब्ध हुए[3]। इस की पुष्टि इस तथ्य से भी होती है कि आर्यों के संस्कार, जिनमें यज्ञोपवीत मुख्य है, केवल तीन ही वर्णों के लिए हैं। विश वर्ण के लोगों को आर्यों के समाज में उच्चस्थान पाने के लिए निरन्तर प्रयास करना पड़ा है। व्यापार तथा उत्पादन में लगे होने के कारण, एक ओर, वैश्यवर्ग का सम्पर्क श्रमिकवर्ग (शूद्रों) से रहा और, दूसरी ओर, उच्चवर्ग के लोगों से। सम्भवतः यह उच्च सामाजिक स्थिति प्राप्त करने का ही प्रयास था कि बुद्धवादी आन्दोलन का सबसे अधिक प्रभाव वैश्य तथा शूद्र वर्ग के लोगों पर ही पड़ा। आज भी हिन्दू समाज में उच्चस्तर प्राप्त करने के लिए प्रयत्नशील जातियों में (जो अधिकतर शूद्र वर्ग में आती हैं) आर्य संस्कारों, जिनमें यज्ञोपवीत मुख्य है, को अपनाने पर जोर दिया जाता है। वर्ण-व्यवस्था के इस पहलू पर आवश्यक स्थान पर पुनः विचार किया जायगा।

---

1 प्रभु पी० एच० वही पृष्ठ 293
2 कर्वे इरावती हिन्दू सोसायटी एन इन्टरप्रिटेशन पृष्ठ 73
3 वही पृष्ठ 17

वैदिक युग के बाद, धीरे धीरे, वर्णों में अन्तर बढ़ता हुआ मिलता है। शतपथ ब्राह्मण में चारों वर्णों के लिए अलग-अलग सम्बोधन शब्दों के प्रयोग का विधान मिलता है। यही नहीं अलग-अलग वर्णों के लिए, अलग-अलग आकार के पिंडों का भी विधान है। साथ ही साथ, यह भी विधान है कि ब्राह्मण गायत्री मन्त्र भू, क्षत्रिय भुव और वैश्य स्व में उच्चारण करे क्योंकि ब्राह्मण की उत्पत्ति भू शब्द से, क्षत्रिय की भुव और वैश्य की स्व शब्द से हुई है। तैत्तिरीय ब्राह्मण के अनुसार, ब्राह्मण को यज्ञ का अनुष्ठान वसन्त ऋतु में, क्षत्रिय को ग्रीष्म ऋतु में और वैश्य को पतझड़ की ऋतु में करना चाहिए। इसप्रकार, ब्राह्मणग्रन्थ के रचनाकाल में विभिन्न वर्णों के अधिकारों, कर्तव्यों और सामाजिक प्रतिष्ठाओं में अन्तर आता दिखाई पड़ता है जो संहिताओं और उपनिषदों के रचनाकाल में बढ़ता ही गया। इस काल में शूद्र शब्द का प्रयोग चतुर्थ वर्ण के लिए बहुधा किया गया है। यहाँ शूद्र की अनेक निर्योग्यताओं का उल्लेख मिलता है। वह यज्ञ में सम्मिलित तो हो सकता था लेकिन उसे यज्ञ करने का अधिकार न था। अन्य वर्णों की सेवा ही उसका काम था। अन्य वर्ण के लोगों के चरणों को धोने के लिए ही शूद्र यज्ञ में सम्मिलित हो सकता था क्योंकि वह स्वयं प्रजापति के चरणों से उत्पन्न हुआ है। इस काल में यहां तक विधान मिलता है कि ब्राह्मण क्षत्रिय वैश्य के वर्ण के लोगों को शूद्र से प्रत्यक्ष दान नहीं करनी चाहिए। इस काल में केवल शूद्र स्त्री या पुरुष से विवाह करने का निषेध मिलता है।

महाभारत में जैसा कि पहले स्पष्ट किया जा चुका है, एक ओर वर्णव्यवस्था का वह रहस्यात्मक स्पष्टीकरण मिलता है जिसका आभास ऋग्वेद के पुरुष सूक्त में है और, दूसरी ओर, स्वभावज य गुणकर्मों के आधार पर वर्ण की सामाजिक व्यवस्था का आधार प्रतिपादित करने का प्रयास मिलता है। यहाँ वर्णसांकर्य के आधार पर जातियों को स्पष्ट करने का भी प्रयास मिलता है। यह वह प्रयास है जिसका व्यापक प्रयोग मनु ने किया है। वैदिक काल के बाद से चार वर्णों को सामाजिक व्यवस्था का स्थायी आधार मानने का विचार मिलता है और महाभारत इस का अपवाद नहीं है। इसीकारण महाभारत में अनुलोम विवाहों को वांछनीय प्रतिलोम विवाहों को अवांछनीय माना गया है। गीता, महाभारत का है। महाभारत में स्वभावजन्य गुणकर्म के आधार पर वर्णव्यवस्था को अनावृत वर्णव्यवस्था के रूप में प्रतिपादित करने का जो प्रयास किया में उसी को युक्तियुक्त बनाने का प्रयास है। गीता में गुण आधारभूत और स्वभावजन्य माना गया है जिससे यह निष्कर्ष कि गुण, साधारणतः आनुवंशिक होते हैं जो कर्मों द्वारा स्थ कर्मों द्वारा व्यक्त की जा सकते हैं[1]।

1 गीता के लिए यह कहा जाता है कि गीता में उत्त

ऐतिहासिक निवचन की मार्क्सवादी पद्धति से प्रभावित इतिहासकार वर्ण और जाति को व्यवस्था के विशेष पहलू मानकर, उन्हें कुछ सतत, स्थायी सामाजिक-आर्थिक आवश्यकताओं की उत्पत्ति मानते हैं। उनके अनुसार धर्म ग्रन्थों में वर्णव्यवस्था का निरूपण एक आदर्श के रूप में किया गया है जबकि वास्तविकता कुछ और रही है। वर्ण व्यवस्था उनके अनुसार वस्तुतः एक सामन्तवादी व्यवस्था है जिसका उद्भव कृषि के साथ-साथ होता है। वर्णव्यवस्था तथा धर्म एक निष्प्रवाह सामाजिक-आर्थिक व्यवस्था के प्रतीक हैं जो भारतीय आर्थिक इतिहास की एक विशेषता रही है। ग्राम और ग्रामीण व्यवस्था का उद्भव भी कृषि के साथ साथ होता है। कौसाम्बी के अनुसार जब ग्राम सामाजिक राजनैतिक संगठन तथा आर्थिक उत्पादन की एक इकाई बना और ग्रामीणता को सर्वोपरिता मिली, तभी जातिप्रथा में रूढ़िवादिता आई। ग्रामीणता पर आधारित निष्प्रवाह अर्थव्यवस्था (Stagnant Economy) से जो सामाजिक संकुल (Social Complex) उत्पन्न हुआ वह वर्णव्यवस्था पर आधारित जातिव्यवस्था थी। ऐसी दशा में जातिव्यवस्था का आधार वर्ण धर्म बना जिससे निष्प्रवाह अर्थव्यवस्था और भी निष्प्रवाह बनी रही। इसमें कोई सन्देह नहीं कि वर्ण व्यवस्था तथा धर्म से विभिन्न वर्गों के बीच और विभिन्न सामाजिक शक्तियों के बीच सन्तुलन बना रहा। इस व्यवस्था से ब्राह्मणों को पौरोहित्य सत्ता पर एकाधिकार मिला क्षत्रियों को सैनिक तथा राजनैतिक सत्ता पर और वैश्यों को आर्थिक सत्ता पर जिससे चारों वर्गों में सहयोग आवश्यक हो गया और सामाजिक संरचना सुचारु रूप से चलती रही। जाति से सामाजिक संरचना को यदि रूढ़िवादिता मिली तो वर्ण से कृषि तथा ग्रामीणता पर आधारित सामाजिक आर्थिक व्यवस्था की सीमाओं के अन्तर्गत, सामाजिक संरचना को एक सीमित लचीलापन मिला[1]।

इस दृष्टिकोण से वर्ण व्यवस्था तथा वर्णधर्म भारत की आर्थिक परिस्थितियों का परिणाम है। अपनी सांस्कृतिक तथा प्रजातिक विजातिता के कारण, भारतीय समाज बहुमुखी रहा है। वर्णधर्म ने इसी बहुमुखी समाज में एकीकरण

एक युक्तियुक्त दर्शन का प्रतिपादित करने का प्रयास किया गया है जिसमें असमानता का आधारभूत भाव निहित था और जिसे गीता की प्रतिष्ठा के कारण स्थायित्व भी मिला। गीता की रचना के पहले ही यह व्यवस्था अस्तित्व में आ चुकी थी। गीता में इस व्यवस्था को अनावृत और लचीला बनाये रखने का प्रयास है। 'गुणकर्मविभागशः' के सिद्धान्त के आधार पर गीता ने इस व्यवस्था में उदारता लाने का प्रयास किया है ताकि सिद्धान्ततः, उसमें ऊर्ध्वगामी तथा अधोगामी गतिशीलता की सम्भावना बनी रहे—गोखले वही पृष्ठ 33

1 गोखले बी० जी० वही पृष्ठ 3।

की आवश्यकता को पूर्ण किया है। भारत का बहुमुखी समाज जीवन निर्वाह वाली अर्थ-व्यवस्था (Subsistence Economy) पर आधारित रहा है। इसके उत्पादन के तरीके पुराने रहे हैं और यहां आर्थिक विकास के लिए आवश्यक धातुओं की कमी रही है। आर्थिक निष्प्रवाह ने सामाजिक निष्प्रवाह को प्रोत्साहित किया और वर्णधर्म ने विभिन्न वर्णों के स्तर तथा कार्यों को पूर्वनिर्धारित करके, सामाजिक-आर्थिक निष्प्रवाहता में सहयोग दिया। निष्प्रवाह परिस्थितियों में सामाजिक एकीकरण की आवश्यकता ने रूढ़िवादिता को जन्म दिया, जिसकी अभिव्यक्ति हुई प्रत्येक वर्ण के सामाजिक, आर्थिक और सांस्कृतिक कार्यों के पूर्वनिर्धारण में। जिस धर्म की धारणा के आधार पर और भी पुष्ट किया गया। सिद्धान्ततः कर्म के आधार पर वर्ण को परिवर्तनीय माना गया लेकिन व्यवहार में वर्ण पूर्वनिर्धारित ही रहा। वर्णधर्म के आधार पर हिन्दू समाज में अनेक विजातीय समूहों का सात्मीकरण अवश्य हुआ लेकिन प्रत्येक समूह को पूर्वनिर्धारित सामाजिक प्रतिष्ठा प्रणाली में ही एक न एक स्तर मिला। गांधी के वर्ण धर्म सम्बन्धी विचार निष्प्रवाह आर्थिक व्यवस्था की आवश्यकताओं की पृष्ठभूमि में ही समझे जा सकते हैं। गांधी ने वर्णव्यवस्था को जन्म पर आधारित और पूर्वनिर्दिष्ट कर्त अर्थ-व्यवस्था के रूप में स्वीकार किया है और साथ ही साथ उस अर्थ व्यवस्था को अपनाने पर जोर दिया है जिसमें व्यक्ति की न्यूनतम आवश्यकतायें हों और उनकी पूर्ति उत्पादन के उन्हीं प्राचीन तरीकों से हो जो निष्प्रवाह भारतीय आर्थिक संगठन की विशेषतायें हैं[1]। गांधी ने जिस अर्थ व्यवस्था, सामाजिक व्यवस्था तथा वर्णाश्रमव्यवस्था की कल्पना की है, उसमें अस्तेय, दम, आत्म निग्रह, अभीच्छातीति (Wantlessness) धार्मिक संन्यास सन्ताप और दरिद्रनारायण का आदर्श सर्वोपरि है और यही आदर्श भारतीय, विशेषतः, हिन्दू समाज का आदर्श रहा है। मार्क्सवादियों के अनुसार यह आदर्श उस सामन्तवादी सामाजिक व्यवस्था की उपज है जिसमें निम्न प्रौद्योगिकीय स्तर के कारण, आर्थिक विकास न हो सका जिसके कारण एक ओर, जन साधारण को सन्ताप का पाठ पढ़ाया गया और, दूसरी ओर, सामन्ती वर्ग के ऐश्वर्य और वैभव को अलौकिक आधार प्रदान किया गया[2]।

---

1 वही

2 धर्मसेप धर्म, चक्रवर्ती सम्राट और उसमें अलौकिक गुणों की कल्पना, सम्राट को राजर्षि मानना, मौर्य, गुप्त और मुगल सम्राटों का वैभव, जिसका अनुकरण अंग्रेजी सरकार ने भी किया, इसके प्रमाण बताये जाते हैं। क्षत्रियों ने इस वैभव को बनाया, ब्राह्मणों ने उसे युक्तियुक्त आधार प्रदान किया क्योंकि ब्राह्मण की रक्षा क्षत्रियों का कर्तव्य रहा है। वैश्यों ने इस वैभव के निर्माण में योग-दान दिया। यह सारा वैभव शूद्रों के परिश्रम से निर्मित हुआ। भव्य भवनों, बड़े-बड़े किलों, ऊंचे ऊंचे मन्दिरों तथा मस्जिदों और आलीशान मकबरों का निर्माण उसी श्रम से हुआ है जिसका त्याग जनसाधारण ने किया है।

मार्क्सवादी इतिहासकारों ने वर्ण व्यवस्था में वर्ण संघर्ष के तत्वों को निर्धारित किया है। विश्वामित्र और वशिष्ठ का संघर्ष इस विचारधारा के विद्वानों के लिए ब्राह्मण-क्षत्रिय संघर्ष का प्रतीक है। विश्वामित्र को ब्राह्मण पद प्राप्त करने के लिए निरंतर संघर्ष और तपस्या करनी पड़ती थी और उन्हें अनेक परीक्षायें भी देनी पड़ी थीं। इस बात को प्रमाण माना जाता है कि ब्राह्मण पद एक वर्गविशेष के एकाधिकार में था जिसे पाना कठिन कार्य था[1]। रामायण में यह कथा आई है कि राम ने उस शूद्र का वध कर डाला था जिसने शूद्र कर्म छोड़ कर तप कर्म अपना लिया था। मनुष्य रूप में भगवान के सभी अवतार क्षत्रिय वर्ण में ही हुए हैं। ऐसा कहा जाता है कि महात्मा बुद्ध और महावीर स्वामी का क्षत्रिय वर्ण में जन्म लेना इतिहास की आकस्मिक घटनायें मात्र नहीं हैं। बुद्धवाद तथा जैनवाद ब्राह्मणवाद के विरुद्ध आन्दोलन थे और यही कारण है कि इन दोनों आन्दोलनों का सबसे अधिक प्रभाव क्षत्रियों, वैश्यों और शूद्रों पर पड़ा। क्षत्रिय और वैश्य वर्ण वर्ण संघर्ष से उत्पन्न होने वाले आंतरिक सामाजिक आघातों को सहन करने वाले वर्ण रहे हैं क्योंकि, वर्ण-व्यवस्था में निहित सामाजिक प्रतिष्ठा व्यवस्था में उच्च स्तर प्राप्त करने वाले समूहों को जाति के रूप में इन्हीं वर्णों में सर्वाधिक स्थान मिलता रहा है। क्षत्रिय वर्ण में सबसे अधिक विद्रोही प्रवाह सहन हुए हैं और इसीकारण भारत के जिन जिन भागों (बंगाल, तामिलनाड और आंध्र प्रदेश) में क्षत्रिय वर्ण अनुपस्थित रहा है, वहाँ हिंदू समाज का संगठन अधिक असन्तुलित रहा है। शूद्रों को अन्त्यज मानने की, कल्पना, उन्हें संस्कारों से वंचित करने का प्रयास, उन्हें मोक्ष का अधिकारी न मानना, वेदाध्ययन और तप से उन्हें अलग रखना, उन्हें अछूत मानना और उन्हें अन्य तीन वर्णों के समान सामाजिक अधिकार न देना, वर्ग संघर्ष की भावना के प्रतीक माने जाते हैं। यही कारण है कि इस्लाम के प्रभाव से जब एक नया वातावरण अस्तित्व में आया तो समाजसुधारकों की एक बड़ी संख्या का प्रादुर्भाव शूद्रों और क्षत्रियों में ही हुआ। आज भी भारत के विभिन्न भागों में निम्नवर्णी जातियाँ, एक ओर, हिंदू समाज में उच्चस्तर प्राप्त करने के लिए जहाँ उन कर्मों को अपनाती हैं जिन्हें ब्राह्मणोचित बताया गया है तो दूसरी ओर, अपने को क्षत्रिय या ब्राह्मण सिद्ध करने का प्रयास करती हैं।

इसप्रकार मार्क्सवादी विचारधारा में वर्ण-व्यवस्था तथा धर्म को उस सामंत

---

1 लेकिन प्रभू के अनुसार, विश्वामित्र द्वारा किया जाने वाला संघर्ष और तपस्या उन ब्राह्मणोचित गुणों को प्राप्त करने का प्रयास है जो ब्राह्मण वर्ण के स्वभाव जन्य गुणों के अनुसार स्वाभाविक है। विश्वामित्र का संघर्ष काल, प्रभू के मत में, उस मानसिक शिक्षा दीक्षा का काल है जो ब्राह्मण के लिये स्वभावतया आवश्यक है—प्रभू, वही, पृष्ठ 319-320

वाली व्यवस्था तथा उसमें सम्बन्धित सामाजिक आदर्श के रूप में स्पष्ट करने का प्रयास किया गया है जो भारत की सामन्ती अवस्था की परिस्थितियों में उत्पन्न हुए। यह निर्विवाद है कि वर्ण-व्यवस्था वस्तुतः एक विशेष प्रकार की वर्ग-व्यवस्था है, और इस तथ्य को भी एकदम अस्वीकार नहीं किया जा सकता कि इसमें वर्ग संघर्ष की प्रक्रिया का सर्वथा अभाव रहा है। आधुनिक समाजशास्त्रीय मान्यताओं में एक यह मान्यता भी स्वीकार की जाने लगी है कि सामाजिक संरचना में एकीकरण (Integration) और समन्वय (Solidarity) के साथ साथ संघर्ष भी पाया जाता है। स्तरीकरण (Stratification) और उसमें उत्पन्न वर्ग-व्यवस्था सर्वत्र पाए जाते हैं। संघर्ष भी सर्वत्र पाया जाता है। लेकिन हर दशा में संघर्ष का परिणाम विशृंखलन ही नहीं है और न अर्थव्यवस्था ही वर्ग का एकमात्र कारण है। अर्थव्यवस्था को वर्ग का एकमात्र कारण तथा वर्ग को संघर्ष-परिस्थिति की ही उत्पत्ति मानने के कारण मार्क्सवादी दृष्टिकोण एकांगी हो गया है। प्रत्येक सामाजिक-संरचना आदर्श-व्यवस्था से सम्बन्धित रहती है किसी भी समाज में वर्ग की धारणा उस समाज के आदर्शिक नियमों के ही अनुसार होती है[1]। वर्णव्यवस्था की उत्पत्ति का केवल आर्थिक निर्वचन इस दृष्टिकोण से एकांगी है यद्यपि उसकी नितान्त अवहेलना नहीं की जा सकती है। प्रभु ने सामाजिक मनोविज्ञान के सिद्धान्तों के आधार पर वर्ण को स्पष्ट किया है।

प्रभु का सामाज मनोवैज्ञानिक निर्वचन

प्रभु भी वर्णव्यवस्था को वर्गव्यवस्था मानते हैं। वर्गव्यवस्था एक सार्वभौमिक सामाजिक प्रघटना है जिसकी उत्पत्ति एक आधारभूत सामाजिक आवश्यकता के कारण होती है। यह पहले ही कहा जा चुका है कि सामाजिक संरचना से ही समाज को समन्वय और नैरन्तर्य मिलता है। अतः प्रत्येक समाज की यह आधारभूत आवश्यकता है कि उसके सदस्य, संरचना के विभिन्न स्तरों में रखे जायें और उसके फलस्वरूप जो भी सदस्य सामाजिक संरचना के जिस स्तर में हो, उसके अनुसार उसे सामाजिक उद्देश्यों के अनुरूप काम करने की प्रेरणा मिले। वर्णव्यवस्था और स्तरीकरण वह माध्यम हैं जिनके द्वारा इस सामाजिक उद्देश्य की पूर्ति होती है क्योंकि, संरचना के माध्यम से, प्रत्येक व्यक्ति की क्षमताओं के अनुसार उसका उचित स्तर, सामाजिक प्रतिष्ठा और भूमिका के लिये चुनाव होता है जिसके कि वह योग्य होता है। सामाजिक स्थायित्व के लिये यह भी आवश्यक है कि समाज उन माध्यमों से भी कुछ नियन्त्रित द्वारा प्रत्येक स्तर के व्यक्ति को सामाजिक उद्देश्यों के अनुसार अपनी भूमिका निभाने की प्रेरणा मिले। वर्णव्यवस्था, स्तरीकरण, सामाजिक प्रतिष्ठाओं और भूमिकाओं ([illegible]) की उच्चावच परम्परा और उनको अपनाने तथा उनके अनुसार [illegible]

1 विशेष अध्ययन के लिये देखिये जॉन [illegible] सोशियालाजिकल थ्योरी अध्याय 7

प्रत्येक समाज में पाई जाती है। इस दृष्टिकोण से समाज को दो श्रेणियों में रखा जा सकता है—एक प्रतियोगी (Competitive) और दूसरी अप्रतियोगी (Non Competitive)। प्रतियोगी समाज में जनसंख्या को विभिन्न स्तरों (वर्गों) और भूमिकाओं में जाने तथा उनके अनुसार व्यक्तियों को कार्य करने की प्रेरणा प्रतियोगिता (Competition) से मिलती है जबकि अप्रतियोगी समाज में प्रत्येक व्यक्ति को सामाजिक प्रतिष्ठाओं तथा भूमिकाओं के अनुसार कार्य करने की प्रेरणा पूर्वापेक्षित वक्तव्यों से मिलती है। इसीकारण प्रतियोगी समाज (उदाहरणार्थ यूरोप अमरीका समाज) में जोर दिया जाता है प्रतियोगिता की भावना से उत्पन्न होने वाली प्रेरणा पर और अप्रतियोगी समाज (उदाहरणार्थ भारतीय समाज में) व्यक्ति की क्षमताओं और उनके अनुसार पूर्वापेक्षित कर्तव्यों को करने पर[1]। सर्वोत्तम सामाजिक संरचना वही है जिसमें व्यक्ति की जैविक सामाजिक आवश्यकताओं और सामाजिक उद्देश्यों में संघर्ष न हो—उनमें पूर्ण सामञ्जस्य हो।

वर्ण-व्यवस्था के सार्वभौमिक प्रश्न पर अध्ययन की सुविधा के लिये सामाजिक मानसिक (Social Psychological) तथा वैयक्तिक मानसिक (Individual Psychological) दृष्टिकोण से विचार किया जा सकता है क्योंकि वर्ण-व्यवस्था व्यक्ति और समाज की आवश्यकताओं की उत्पत्ति है। यह मानना कि वर्ण व्यवस्था में आनुवंशिकता का प्रभाव नहीं के बराबर होता है भ्रम है। जहाँ, एक ओर, मानव आनुवंशिकता समाज का एक मुख्य आधार है वहाँ दूसरी ओर मानव आनुवंशिकता की अभिव्यक्ति सामाजिक पर्यावरण पर निर्भर करती है। जिनकी यह मान्यता है कि सामाजिक संगठन में आनुवंशिकता का हाथ नहीं होना चाहिये वे वस्तुतः वंशानुक्रम (Descent) को आनुवंशिकता समझ बैठते हैं। आनुवंशिकता से तात्पर्य है व्यक्ति की उन गुणात्मक क्षमताओं से जो उसे उसके जैविक संगठन से मिलता है। प्रत्येक व्यक्ति का जैविक संगठन समान नहीं होता है। इसीकारण व्यक्ति-व्यक्ति में स्वाभाविक क्षमताओं योग्यताओं बुद्धि और प्रवृत्तियों में अन्तर होता है जो अन्य सामाजिक कारणों (पेशा धन परिवार और उच्च तथा निम्न की भावना) के साथ स्तरीकरण का कारण बन जाता है। यह मान्यता ठीक है कि आनुवंशिक क्षमतायें पूर्वजों से मिलती हैं लेकिन इसका तात्पर्य यह नहीं कि आनुवंशिक क्षमतायें केवल वंश से ही होती हैं। सामाजिक पर्यावरण में ही आनुवंशिक क्षमताओं की अभिव्यक्ति होती है और पर्यावरण के प्रभाव और शिक्षा दीक्षा से ये क्षमतायें बदली भी जा सकती हैं किन्तु एक सीमा तक। इसी सम्बन्ध में गीता की वह मान्यता समझी जा सकती है जिसमें यह कहा गया है कि प्रत्येक व्यक्ति में एक न एक स्वभावजन्य गुण की प्रधानता होती है।

---

[1] वही पृष्ठ 31–200

इस दृष्टिकोण को जैसा कि प्रभु ने स्पष्ट किया है वर्ण-व्यवस्था वह साधन है जिसके द्वारा व्यक्ति की दैविक मानसिक क्षमताओं की अभिव्यक्ति ही नहीं होती है वरन उनकी दैहिक-मानसिक आवश्यकताओं की पूर्ति भी होती है। दूसरी ओर वर्ण-व्यवस्था वह साधन है जिससे समाज में मानसिक सम्पर्क बना रहता है। व्यक्ति तथा समूह और व्यक्ति समूह तथा समाज के मानसिक सम्बन्ध में वर्ण-व्यवस्था का हाथ रहता है। इसीलिए प्रत्येक समाज में समाज द्वारा निर्धारित सामाजिक प्रतिष्ठाओं के अनुसार भूमिकाओं का निर्वाह करने के लिए सामाजिक पारितोषिक तथा दण्ड (Social Reward and Punishment) का विधान रहता है। चूंकि सभी मनुष्य और भूमिकाएं समान नहीं होती हैं अतः इनसे प्राप्त पारितोषिक और दण्ड भी समान नहीं होते हैं। समाज द्वारा मिलने वाले पारितोषिक तीन प्रकार के होते हैं—प्रथम श्रेणी में वे पारितोषिक आते हैं जो भौतिक वस्तुओं के रूप में होते हैं जिनसे व्यक्ति को भोजन तथा आराम मिलता है, दूसरी श्रेणी में वे पारितोषिक जिनसे व्यक्ति को सुख (Humour) और मनोरंजन (Diversion) मिलता है और तीसरी श्रेणी में वे पारितोषिक आते हैं जिनसे आत्मसम्मान (Self-Respect) और आत्माभिव्यक्ति (Ego Expression) की इच्छा की सन्तुष्टि होती है। वर्ण-व्यवस्था में आत्मसम्मान और आत्माभिव्यक्ति की इच्छा की सन्तुष्टि पर जोर दिया गया है न कि भौतिक पदार्थों, सुख और मनोरंजन पर[1]।

कूले ने यह कहा है कि वर्ण-व्यवस्था के संगठन का सर्वोत्तम नियम वह है जिसमें आनुवंशिकता और वंशानुक्रम के स्थान पर नैतिकता की प्रधानता हो। किन्तु, प्रभु के अनुसार इस मान्यता में यह भाव छिपा है कि मानो व्यक्ति की जैविक क्षमतायें और उसके स्वाभाविक गुण (अथवा) गुणों तथा उनकी अभिव्यक्ति और नैतिकता में परस्पर विरोध हो। वे परस्पर विरोधी नहीं वरन एक दूसरे की पूरक हैं। अतः उत्तम वर्ण-व्यवस्था या सामाजिक संगठन वह नहीं है जिसका
नैतिकता ही हो। उचित व्यवस्था है वह जिसमें, विभिन्न वर्णों के लिये
चुनाव में व्यक्ति तथा उसके वर्ण से सम्बन्धित जैविक (Biolog
पारिणीय (Nurtural) तथ्यों और आवश्यकताओं को आधार
जैविक तथ्यों पर ध्यान देते हुए, इस बात पर ध्यान न देकर कि
क्षमतायें उसके माता पिता के अनुरूप होंगी, इस बात पर ध्यान
है कि प्रत्येक व्यक्ति की अपनी आनुवंशिक क्षमतायें होती हैं
गुण-कर्म को प्रभावित करती हैं। यही वर्ण-व्यवस्था
स्वाभाविक क्षमताओं की अभिव्यक्ति के लिए काफी

व्यवस्था की समाजशास्त्रीय महत्ता को आंका है। प्रभू के अनुसार, हिन्दुओं का वर्ण-व्यवस्था, मोटे तौर पर आनुवंशिकता सिद्धान्त के आधार पर, मानव क्रियाओं को सगठित करने तथा उन्हें और मानवी योग्यता को पूर्णत्व प्रदान करने की दिशा में किये हुए एक बड़े परीक्षण के अतिरिक्त और क्या है ? वर्णसिद्धान्त निश्चय ही आनुवंशिकता सिद्धान्त पर आधारित है लेकिन वर्णसिद्धान्त के निरूपण में आनुवंशिकता का अर्थ वंशानुक्रम या पतरता नहीं है। वर्णसिद्धान्त में आनुवंशिकता से तात्पर्य है व्यक्ति के स्वाभाविक जैविक उपकरण से जिसकी सहायता से व्यक्ति सामाजिक विरासत में सम्मिलित होकर अपने व्यक्तित्व का विकास करता है और जो समाज तथा सामुदायीकरण का आधार है। इसे ही हिन्दू विचारकों ने स्वभावज गुण कहा है। इसीलिए यह मान्यता निर्धारित की गई है कि जन्म से प्रत्येक व्यक्ति शूद्र रहता है और उस तब तक शूद्र ही समझा जाना चाहिये जब तक कि उसमें उच्चतर रचनात्मक सामाजिक कार्यों (ब्राह्मणत्व क्षत्रित्व और वैश्यत्व) के सम्पादन की क्षमता न विकसित हो। आश्रम और संस्कार विधान वे माध्यम हैं जिनके द्वारा व्यक्ति का सामाजीकरण होता है, और उसकी जैविक क्षमताओं का अभिव्यक्तिपूर्ण विकास होता है। आश्रमव्यवस्था से व्यक्ति के मस्तिष्क में समाज-व्यवस्था तथा उसमें उसके स्थान के प्रति ज्ञान तथा प्रतिबोधन का विकास होता है। धर्म इस विकास की सम्पूर्ण व्यवस्था का आधार है। आश्रमधर्म से व्यक्ति को वाछनीय सामाजिक आदर्शों का ज्ञान ही नहीं होता है, वरन उनको प्राप्त करने की उसे प्रेरणा भी मिलती है। कर्म उन जैविक क्षमताओं की स्वाभाविक अभिव्यक्ति है जिनका विकास समाज में होता है। अतः, वर्णव्यवस्था वह वर्णव्यवस्था है जिसमें व्यक्ति को अपने स्वभावज गुणों के अनुसार सामाजिक जीवन वितान का क्षेत्र मिलता है और इसका प्रधान प्रेरक है धर्म कर्म का सिद्धान्त[1]।

गुण आनुवंशिक क्षमताओं की सामाजिक अभिव्यक्ति का स्वाभाविक परिणाम है और यही वर्ण का एक मुख्य आधार है। इस दृष्टिकोण से प्रत्येक वर्ण वह सामाजिक पर्यावरण प्रस्तुत करता है जिसमें व्यक्ति के उस गुणविशेष के विकास को प्रोत्साहन मिलता है जिसका कि सम्बन्ध उस वर्ण से है। लेकिन, वर्ण केवल स्वभावज गुण (जैविक क्षमता) पर ही आधारित नहीं है। वर्ण का आधार धर्म भी है जिसमें वर्णव्यवस्था में नैतिकता का पुट आता है। इसीलिये, प्रभू ने यह कहा है कि वर्ण व्यवस्था नैतिक तथा नैतिक, सामाजिक तथा वैयक्तिक और भौतिक तथा आध्यात्मिक समस्याओं के समाधान के प्रयास पर आधारित है। मानव जीवन के सभी पहलुओं वैयक्तिक तथा सामाजिक, का एकीकरण करके उन्हें संगठित सामाजिक संस्थाओं के माध्यम से उपलब्ध करना, ताकि वे व्यक्ति की सामाजिक,

1 प्रभू वही पृष्ठ 302

मानसिक, जैविक तथा वैयक्तिक आवश्यकताओं की पूर्ति कर सकें, वर्णाश्रमव्यवस्था का प्रधान उद्देश्य है। इसी सन्दर्भ में वर्णव्यवस्था के जैविक तथा नैतिक आधारों के महत्व के साथ साथ इसके मानसिक आधार का भी महत्व बढ़ जाता है। अतः, यह कहा जा सकता है कि आश्रमव्यवस्था के साथ साथ वर्णव्यवस्था का उद्देश्य वह सामाजिक दक्षता (Social Efficiency) लाना है जो समुदाय और इसके सदस्यों के दैहिक (Physical) मानसिक (Mental) और नैतिक (Moral) कल्याण के लिये हो। वर्णाश्रमव्यवस्था की धारणा का उद्देश्य समाज को वह क्षमता प्रदान करना है जिसके द्वारा व्यक्ति की क्षमताओं को समाज उत्तमतम बना सके ताकि व्यक्तियों की उत्तमतम क्षमताओं की क्रियाशीलता के द्वारा जो उत्तम-तम है उसका निरूपण और नियमन हो सके और सामाजिक संरचना के प्रत्येक वर्ग में उस उत्तमतम की अवतारणा हो सके जो व्यक्ति तथा समाज दोनों के लिये हितकर है। इसलिये, आश्रमव्यवस्था व्यक्ति के सामाजीकरण और सामाजिक परिपोषण की वह योजना है जिससे व्यक्ति के जीवन में उत्तमतम का विकास हो सके और वर्ण-व्यवस्था वह योजना है जिसके द्वारा व्यक्ति के स्वभाव और उसके आधार पर आविर्भूत वर्गों का, सामाजिक दक्षता के लिये उचित समन्वय हो सके[1]।

वर्ण-व्यवस्था में प्रत्येक वर्ग को अलग अलग कर्तव्य तथा उत्तरदायित्व में बांध दिया गया है ताकि प्रत्येक वर्ग अपनी क्षमता के अनुसार, एक विशेष कार्य में दक्षता प्राप्त कर सके और सामुदायिक जीवन के प्रति अपनी सेवाओं का योग दे सके। इसप्रकार, वर्णव्यवस्था का उद्देश्य है उत्तमतम तथा अधिकाधिक सामाजिक कल्याण की उपलब्धि करके, सामाजिक तथा वैयक्तिक जीवन से उसका समन्वय करना। सामाजिक संतुलन और समन्वय का निर्माण तथा उसका प्रोत्साहन वर्ण व्यवस्था का उद्देश्य है। लेकिन इस उद्देश्य की पूर्ति उस आर्थिक संगठन द्वारा हो सकती है जिसकी धारणा वर्णव्यवस्था तथा धर्म के सन्दर्भ में की गई है। धन संचय ब्राह्मण का मुख्य धर्म नहीं है उसका मुख्य धर्म है आध्यात्मिक तथा भौतिक जिज्ञासाओं के रहस्य का उद्घाटन। क्षत्रिय केवल उतना ही धन-संचय कर सकता है जितना कि उस पर निर्भर व्यक्तियों की देखभाल तथा सुरक्षा के लिए आवश्यक है क्योंकि जनरक्षा उसका मुख्य धर्म है। वैश्य का धर्म है समाज के आर्थिक साधनों का संचय बनाने के लिए धनोपार्जन और धनसंचय। व्यक्तिगत स्वार्थ के लिये धनसंचय अधर्म है क्योंकि परमार्थ वर्णधर्म का आधार है। इसप्रकार ब्राह्मण क्षत्रिय और वैश्य वर्णों का धर्म है सामाजिक कल्याण में रचनात्मक योगदान और जो इस योगदान के अदाता हैं, वे शूद्र हैं और उनका कर्तव्य है उन वर्णों की सेवा जो सामाजिक कल्याण में रचनात्मक योगदान करते हैं। इसप्रकार वर्णसिद्धान्त का निष्कर्ष इस

[1] प्रभु वही पृष्ठ 301

दृष्टिकोण से किया गया है कि विभिन्न प्रकार की मानव शक्तियों को, उन विभिन्न कार्यों म लगाया जा सके जो उनम से प्रत्येक के लिये अलग अलग अनुकूल हैं और सामूहिक रूप स सभी को सामाजिक-सगठन सामाजिक स्थायित्व तथा सामाजिक प्रगति क उद्देश्य की पूर्ति की ओर लगाया जा सके। अन्य स्थानों की वर्ग व्यवस्था म वर्ग प्रतिष्ठा (Class Status) का आधार सत्ता (Power) तथा प्राधिकार (Authority) युक्त धन है जबकि वर्ण व्यवस्था म धन और प्रतिष्ठा (Status), सत्ता और प्राधिकार विज्ञान की निस्वार्थ सेवा और सफलता तथा इहलौकिक सुखो के प्रति लालसा को परस्पर अलग रखने का प्रयास किया गया है और उसम सफलता भी मिली है[1]। हिन्दू दार्शनिकों की विचारधारा म सामाजिक हित तथा सामाजिक उद्देश्य और वयक्तिक हित तथा वयक्तिक उद्देश्य न तो परस्पर विरोधी हैं और न उनम परस्पर सघर्ष ही है क्योंकि हिन्दू सामाजिक व्यवस्था का आधार है धर्म जिसके माध्यम स सारी मानवी क्रियाये (जविक, मानसिक, आर्थिक, राजनतिक, नैतिक, वयक्तिक और सामाजिक) परिभाषित और समन्वित होती है।

प्रभु का सामाजिक मनोवैज्ञानिक सिद्धान्त, स्तरीकरण के सामाजिक मनोवैज्ञानिक तथ्यों के आधार पर प्रतिपादित एक ऐसा सिद्धान्त है जिसम वर्ण व्यवस्था की एक आदर्श क रूप म विवेचना की गई है। ऐसा स्पष्टीकरण युक्तियुक्तकरण (Rationalization) सा प्रतीत होता है। प्रभू के स्पष्टीकरण की उपयोगिता तभी स्पष्ट होती है जब वर्ण-व्यवस्था को आदर्श समाज की आदर्श वर्ण व्यवस्था के रूप म देखा जाए।

---

[1] प्रभू वही पृष्ठ 3?9-310

नवां अध्याय

कर्म तथा कर्मसिद्धान्त

कर्म, पुरुषार्थ और वर्णाश्रम

धर्म, जैसा कि पहले कहा जा चुका है इहलौकिक तथा पारलौकिक जीवन का संयोजक है। पुरुषार्थ सिद्धान्त में इसी आधारभूत मान्यता की अभिव्यक्ति हुई है। इहलौकिक जीवन का सम्बन्ध अर्थ, काम, आश्रम और वर्ण-व्यवस्था से है जिनका आधार धर्म है। इहलौकिक जीवन वैयक्तिक-सामाजिक है न कि सामाजिक-वैयक्तिक। धर्म इहलौकिक जीवन के माध्यम से व्यक्ति को पारलौकिकता की ओर ले जाता है। मोक्ष मानव जीवन का चरम उद्देश्य है। व्यक्ति उस रहस्यमयी सत्ता का एक अंश है जो इस संसार में व्याप्त होने पर भी इससे परे है। जीव इसी रहस्यमयी सत्ता का एक अंश है जो कुछ काल के लिए इहलौकिक जीवन धारण करता है। इस रहस्यमयी सत्ता को ब्रह्म, ईश्वर, परमात्मा और प्रजापति की धारणाओं से व्यक्त किया गया है। इसी सत्ता के अंश को आत्मा कहा गया है जो जीव में व्याप्त होकर जीवात्मा का रूप लेती है। पारलौकिक जीवन में जिसका प्रवेश द्वार मोक्ष है, आत्मा और परमात्मा एक में मिल जाते हैं। वहाँ व्यक्ति का अस्तित्व एक बड़े शाश्वत अस्तित्व में मिल जाता है। पारलौकिक जीवन में जीवात्मा, परमात्मा और धर्म एकाकार हो

जाते हैं। इसीकारण यह कहा गया है कि परमात्मा भी धर्म से परे नहीं है।

इहलौकिक जीवन में आत्मा और परमात्मा अलग-अलग रहते हैं। यहा आत्मा देहीवान हो जाता है। देहीवान होने के कारण आत्मा प्रकृतिमय हो जाता है और इस कारण देहीवान में सत, रज और तम गुणो का प्रवेश हो जाता है। प्रकृतिमय होने के कारण जीवात्मा में क्रियाशीलता आती है। श्रम देहीवान का गुण है। देह श्रमयुक्त आत्मा ही जीवात्मा है जिसका लीला क्षेत्र प्रकृतिमय संसार है। जीवात्मा, आत्मा की संक्रमणकालीन इहलौकिक अभिव्यक्ति है। इस संक्रमण काल में देहीवान होने के कारण, जीवात्मा कर्म से बधता है क्योंकि देहीवान के अस्तित्व का आधार ही कर्म है। बिना कर्म के देहीवान का अस्तित्व ही असम्भव है। अतः इहलौकिक जीवन कर्म के माध्यम में धर्म से बधता है। दूसरे शब्दों में यह भी कहा जा सकता है कि इहलौकिक जीवन में धर्म की अभिव्यक्ति कर्म से होती है। इहलौकिक जीवन की साधना केवल धर्म से नहीं वरन धर्म कर्म से होती है। धर्म और कर्म इहलौकिक जीवन के दो आधार हैं। पुरुषार्थ साधना और वर्णाश्रम व्यवस्था धर्म कर्म दोनो पर आधारित हैं। हा, यह अवश्य है कि कर्म की कसौटी धर्म है और इस कारण, धर्म कर्म से परे है। मोक्ष न तो निष्क्रियता से मिलता है और न केवल धर्म से। मोक्ष का साधन है धर्मप्राण कर्म। वास्तव में धर्म पर आधारित कर्म ही इहलौकिक तथा पारलौकिक जीवन की साधना का आधार है। व्यक्ति (जीवात्मा) में कर्म वैसे ही निहित है जैसे सूर्य में प्रकाश। व्यक्तित्व, समाज और संस्कृति मानव-जीवात्मा की क्रियाशीलता के स्वाभाविक परिणाम है। इहलौकिक जीवन कर्म का परिणाम है और इहलौकिक कर्म पारलौकिक जीवन की आधारशिला है। इहलौकिक जीवन में व्यवस्था कर्म से नहीं कर्म सिद्धान्त से आती है। कर्म सिद्धान्त निरपेक्ष नहीं है, कर्म सिद्धान्त धर्मसापेक्ष है क्योंकि मानवी क्रियाशीलता का एक आधार जैविक है और दूसरा सांस्कृतिक।

कर्म[1] मानव का एक आधारभूत गुण है। अकर्मी मानव का अस्तित्व वैसे ही अवास्तविक है जैसे आकाश कुसुम। कर्म इहलौकिक तथा पारलौकिक

---

1 कर्म शब्द संस्कृत भाषा के 'कर्मन' शब्द से व्युत्पन्न है। 'कर्मन' शब्द का प्रयोग कई अर्थों में हुआ है—जैसे, क्रिया, कार्य, कृति निष्पादन, क्रियापालन, व्यापार, पद कर्तव्य धार्मिक कर्मकाण्ड (Religious Rite), कोई एक विशेष क्रिया, नैतिक कर्तव्य उत्पाद (Product), परिणाम, एक स्वाभाविक या क्रियाशील गुण दैव (Fate), पूर्वजन्म के कर्मों का परिणाम, किसी क्रिया का उद्देश्य (व्याकरण में) और गति। जैसा कि अगले वर्णन से स्पष्ट होगा कर्मसिद्धान्त के विचार में क्रिया कार्य, कृति, कृत्य, कर्तव्य, दैव और गति के भावार्थों का समावेश हुआ है।

जीवन का नियामक है। धर्म, अर्थ, काम और मोक्ष की साधना का माध्यम कर्म है—वह कर्म जो धर्मानुकूल है। अतः, कर्म मनुष्य का स्वाभाविक धर्म है और कर्मातीत होना जीव का अन्ततोगत्वा उद्देश्य। कर्म से अभ्युदय भी मिलता है और अधोगति भी। सुकर्म से मोक्ष (परमगति) की साधना होती है और अकर्म से अधोगति मिलती है। कर्म तथा अकर्म के विचार और निर्णय का आधार धर्म है। कर्माकर्म के परिणामों से उत्पन्न भोग का ही नाम जीवन है। दुःख सुख, भोग-क्लेश का सम्बन्ध कर्म और देहीवान से है। देही नश्वर है और आत्मा अमर। स्वभावतया आत्मा अमरतत्व (ब्रह्म, परमात्मा, ईश्वर और प्रजापति) की ओर उन्मुख है और जीव सांसारिक (इहलौकिक) गतियों की ओर। चौरासी लाख मानिया जीव की विभिन्न सांसारिक गतियां हैं। जीवात्मा के सुकर्म आत्मा को अमरतत्व की ओर ले जाते हैं और अकर्म सांसारिक गतियों की ओर। आत्मा अमर अवश्य है लेकिन जीवात्मा के कर्मों के प्रभावों से वह परे नहीं है।

सुकर्म आत्मा को परमात्मा से मिलने में सहायता देते हैं लेकिन अकर्मों के कारण आत्मा की, कर्मानुसार, जीव की विभिन्न गतियों में पुनरावृत्ति हुआ करती है। अमरतत्व की प्राप्ति मोक्ष है जो सुकर्म से मिलती है। जीवात्मा के रूप में, जीव की विभिन्न गतियों में कर्मानुसार पुनरावृत्ति आवागमन है। आवागमन का चक्र और कर्म वे माध्यम हैं जिनके द्वारा जीवात्मा अपना सतत उन्विकास और अभ्युदय कर सकता है। आवागमन से मुक्ति जीवन का सर्वोत्कृष्ट उद्देश्य है। मानव योनि सर्वश्रेष्ठ है और एक ओर वह सत्कर्मों का परिणाम है और, दूसरी ओर, सत्कर्मों के लिये वह ऐसा अपूर्व अवसर है जो दुर्लभ है। इसीलिये, संसार को कर्मक्षेत्र कहा गया है और धर्मकर्म को जीवात्मा के उस सतत उन्विकास का माध्यम जिसकी अन्तिम परिणति मोक्ष और मुक्ति (आवागमन से छुटकारा) है। स्वर्ग और नर्क की धारणाओं का सम्बन्ध भी कर्मसिद्धान्त है। इहलौकिक कर्मों के अनुसार ही जीवात्मा को स्वर्ग और नर्क के जीवन का भोग मिलता है और उसके बाद, पूर्व-जीवन में किए हुए इहलौकिक कर्मों के अनुसार जीवात्मा को पुनः इहलौकिक गति मिलती है जिसे वह अपने कर्मों के अनुसार पुनः बना या बिगाड़ सकता है। इस प्रकार कर्म का दोहरा फल मिलता है और दोहरा प्रभाव पड़ता है। और इस कारण जहां एक ओर, व्यक्ति कर्मों के अधीन है वहां, दूसरी ओर, कर्म भी व्यक्ति के अधीन है क्योंकि मानव जीवन व्यक्ति को वांछित कर्म चुनने और करने का अवसर प्रदान करता है।

कर्मसिद्धान्त पुरुषार्थ और वर्णाश्रम सिद्धान्तों के साथ-साथ, हिन्दुत्व का एक वह महत्वपूर्ण आधार है जिसकी दार्शनिक ऐतिहासिक प्रक्रिया में हुई है। हिन्दुत्व की अन्य आधारभूत धारणाओं की भांति कर्म विचार और कर्मसिद्धान्त का विभिन्न ऐतिहासिक परिस्थितियों में धीरे धीरे विकास हुआ है। कर्म सिद्धान्त के विकास का

ऐतिहासिक परिस्थितियों ने प्रभावित किया है और इस प्रभाव के कारण किस प्रकार कर्मसिद्धान्त विकसित हुआ है, इसका विश्लेषण आगे किया जायगा। यहां तो इतना ही कहना पर्याप्त है कि कर्मसिद्धान्त हिन्दू धर्म, दर्शन और सामाजिक जीवन की आधारशिला है। बुद्धवाद और जैनवाद में उस वैदिक कर्मकाण्ड की भर्त्सना की गई है जिससे कर्मसिद्धान्त का उदभव हुआ है लेकिन कर्मसिद्धान्त का परित्याग नहीं किया गया है। कर्मसिद्धान्त बौद्ध और जैन जीवन दर्शनों का आधार है जिसके कारण बुद्धवाद और जैनवाद हिन्दुत्व का एक अंश रहे हैं। जीवन के उच्चतम उद्देश्य मोक्ष की धारणा कर्मसिद्धान्त और उससे सम्बन्धित पुनर्जन्म तथा आवागमन की धारणाओं के सन्दर्भ में ही स्पष्ट होती है। कर्मसिद्धान्त से ही वर्णाश्रमव्यवस्था को उसके नैतिक आधार प्राप्त हुए हैं। इसी सन्दर्भ में कर्मसिद्धान्त का समाजशास्त्रीय महत्त्व भी स्पष्ट होता है। गोखले के अनुसार, यदि धर्म से यह व्यक्त होता है कि क्या होना चाहिये तो कर्म में यह स्पष्ट होता है कि क्या है और क्या हो सकता है। कर्म, एक ओर, इस तथ्य का स्पष्टीकरण है कि जो है वह क्यों है और, दूसरी ओर, इस तथ्य की पूर्वसूचना है कि व्यक्ति अपना जीवन क्या से क्या बना सकता है। धर्म नियामक है व्यक्ति और समाज का—उस समाज का जिसमें व्यक्ति का अस्तित्व और निर्माण होता है। कर्म, व्यक्ति के जीवनपर्यन्त वैयक्तिक तथा सामाजिक क्रिया कलापों को ढालता रहता है। यदि धर्म प्रतीक है उस आदर्श व्यवस्था का जिसमें व्यक्ति की *सामाजिक, सांस्कृतिक और अधिक मानसिक एषणाओं की स्वस्थ और सुचारु अभि*व्यक्ति होती है तो कर्म प्रतीक है उस माध्यम का जिसके द्वारा वास्तविकता को आदर्श की ओर ले जाया जा सकता है। धर्म का सम्बन्ध मानव जीवन के आदर्श से है कर्म का आदर्श युक्त वास्तविकता से। धर्म वैयक्तिक सामाजिक जीवन की व्यवस्था का निरूपण है और कर्म, धर्म में निहित व्यवस्था के अनुसार, सांसारिक तथा सामाजिक भिन्नताओं में व्यवस्था लाने का एक विशिष्ट तथा प्रभावपूर्ण प्रयास[1]।

२

कर्म सिद्धान्त ऐतिहासिक उदविकास

कर्मसिद्धान्त का सर्वप्रथम व्यापक निरूपण उपनिषदों में मिलता है। उपनिषदों में कर्मसिद्धान्त के उस पक्ष का निरूपण मिलता है जिसका विश्लेषण महाभारत गीता धर्मशास्त्रों और पतंजलि के योग-सूत्रों में हुआ है। यह कर्मसिद्धान्त

1 गोखले, बी० जी० वही पृष्ठ 03—91

का वह रूप है जो साधारणतः हिन्दू विचारधारा में व्याप्त है। लेकिन उसके पहले शतपथ ब्राह्मण में कर्मसिद्धान्त के साथ साथ पुनर्जन्म और आवागमन का उल्लेख मिलता है[1] जो इस बात का प्रमाण है कि उपनिषदों के पहले कर्मसिद्धान्त के मुख्य आधार अस्तित्व में आ चुके थे। यह तथ्य इसका भी प्रमाण है कि उपनिषदों में कर्म-सिद्धान्त के विचार का जो निरूपण मिलता है वह वस्तुतः परिणति है उस विचार की जिसकी जड़ें वैदिक काल में पड़ चुकी थीं जो ब्राह्मण ग्रन्थों के काल में अंकुरित हुआ और औपनिषदिक काल में जिसका पल्लवन हुआ। कालान्तर में, महाभारत, गीता और धर्मशास्त्रों के काल में इस औपनिषदिक विचार को युक्तियुक्त बनाकर उसे दार्शनिक तथा आध्यात्मिक आधार प्रदान किये गये।

वेदों से ब्राह्मण ग्रन्थों तक

प्रभु के अनुसार वेदों में वे विचार आये हैं जो कालान्तर में कर्मसिद्धान्त के आधार बन गए। वेदों में यह विचार मिलता है कि आत्मा अमर है और शरीर नाशवान है। अमृतत्व (अमरत्व) की कल्पना भी वेदों में मिलता है। ऋग्वेद की एक प्रार्थना में अग्नि से अमृतत्व पाने की कामना व्यक्त की गई है। ऋग्वेद के दसवें मण्डल में अग्नि का इसलिये आवाहन किया गया है कि वह मृत व्यक्ति को पितृ और देवों के पास ले जाय[2]। इसी मण्डल के एक मंत्र में आत्मा का मृत्यु-संसार से वापस बुलाकर, उसे एक नये शरीर में प्रवेश करने को कहा गया है। ऋग्वेद में इस कल्पना का भी उल्लेख है कि मृत व्यक्ति की आत्मा की इस पृथ्वी पर पुनरावृत्ति हुआ करती है। अथर्ववेद में आत्मा के आवागमन का विचार मिलता है क्योंकि यहाँ यह विचार व्यक्त किया गया है कि मृत्यु के बाद मृत व्यक्ति अपनी उन स्त्रियों, बच्चों, मित्रों और माता पिता की आत्माओं से मिलता है जो उसके पहले मर चुके हैं। वेदों में वैयक्तिक अमरत्व का भी विचार मिलता है क्योंकि यहाँ व्यक्त एक मान्यता के अनुसार यह माना गया है कि जो व्यक्ति यज्ञ करता है, वह अपने सम्पूर्ण शरीर के साथ पारलौकिक संसार में जन्म लेता है[3]। यही विचार आगे चलकर इस विचार में बदल गया कि पुण्यात्मा और धर्मात्मा सदेह स्वर्ग जाते हैं। ब्राह्मण ग्रन्थों

में इन्हीं विचारों का प्रसार और विकास हुआ है।

शतपथ ब्राह्मण के अनुसार जो व्यक्ति तप का साधन करता है, वह स्वर्ग में अपनी सभी शारीरिक क्रियाओं यहां तक कि मैथुन क्रिया के भी साथ जाता है। शतपथ ब्राह्मण में सर्वप्रथम कर्मफल के विचार का स्पष्ट उल्लेख मिलता है। ऋषि भृगु को नर्क में पापात्माओं को मिलने वाली यातनाओं के दिग्दर्शन कराये जाने का उल्लेख शतपथ ब्राह्मण में आया है। यहीं इस विचार का उल्लेख है कि इस संसार में मनुष्य जिस भोजन को खाता है उसी के द्वारा वह दूसरे संसार में खाया जाता है। यहीं, सर्वप्रथम 'ब्रह्मन' (ब्रह्म) की कल्पना तथा इस विचार का उल्लेख मिलता है कि जिस पूर्ण ज्ञान प्राप्त हो जाता है वह ब्रह्म में लीन होकर मुक्ति पा जाता है। ऐतरेय ब्राह्मण में नचिकेता की कथा आई है जिसमें यम द्वारा नचिकेता को व लोक दिखाने का प्रसंग आया है जहां लोगों को इहलौकिक कर्मों का फल भोगना पड़ता है[1]।

गाखले का मत है कि कर्मसिद्धान्त के सभी आधारभूत तथा आवश्यक तत्वों का निरूपण वैदिक काल के अन्त (700 ईसवी पूर्व के लगभग) में होता हुआ मिलता है यद्यपि कर्मसिद्धान्त का निरूपण उपनिषदों में हुआ है। ऋग्वेद में विकसित ऋत की धारणा और वेदों से लेकर ब्राह्मणग्रन्थों तक विकसित होने वाली यज्ञ, सदाचार, कर्म (Ritual) और कल्पवाद (Ritualism) सम्बन्धी धारणायें कर्मसिद्धान्त की प्रधान आधार शिलायें हैं। धर्म की धारणा के उद्भव की ऐतिहासिक व्याख्या करते हुए यह लिखा जा चुका है कि ऋग्वेद में पाई जाने वाली 'ऋत' की धारणा कालान्तर में धर्म की धारणा के रूप में अवतरित हुई। इहलोक तथा परलोक की विधायक वृत्ति के रूप में धर्म की धारणा 'ऋत' की ही धारणा पर आधारित है। ऋग्वेद के ऋतसूक्त में व्यक्त विचार के अनुसार यह सारा ब्रह्माण्ड विरञ्चिकी की उग्र तपस्या से उत्पन्न हुआ है लेकिन उस तपस्या से सबसे पहले 'ऋत' सत्य की उत्पत्ति हुई (ऋतं च सत्यं चाभीद्धात्तपसोऽध्यजायत)[2]। ऋत, इस दृष्टिकोण से, वह सत्य है जिस पर यह ब्रह्माण्ड आधारित है। इसलिए 'ऋत' का अर्थ उस महान, शाश्वत नियम (Cosmic Law) के रूप में लिया गया है जो ब्रह्माण्ड की व्यवस्था का आधार है। ऋ धातु से ऋत की व्युत्पत्ति करने पर 'ऋत' का अर्थ होता है व्यवस्थित, नियमित और निर्धारित। अतः ऋत व्यवस्था नहीं वरन् व्यवस्था को व्यवस्थित करने वाला सर्वव्यापी और रहस्यमय सिद्धान्त है। ऋत वस्तुतः विधायक विधान है जिसमें देव मनुष्य प्रकृति और समाज बंधे हुए हैं। कर्मसिद्धान्त वैयक्तिक तथा सामाजिक जीवन में पूर्णरूपेण व्यवस्था लाने का प्रयास है क्योंकि कर्मसिद्धान्त वस्तुतः उस व्यवस्था का निरूपण करता है जिसका नियम ऋत है और जिसमें व्यक्ति तथा

---

[1] प्रभु, वही, पृष्ठ १५

[2] कल्याण, हिन्दू संस्कृति अंक, पृष्ठ ११

समाज बंधे हुए हैं। कर्मसिद्धान्त में निहित व्यवस्था का विचार ऋग्वेद में विकसित 'ऋत'-धारणा का ही योगदान है।

ऋग्वेद में ऋत की धारणा के साथ साथ, यज्ञ परम्परा भी पाई जाती है। वैदिक काल के अन्त में ऋत की धारणा लुप्त सी हो जाती है और उसके स्थान पर यज्ञ से सम्बन्धित कल्प (Ritual) का प्रधानता मिलती है। वैदिक काल के प्रारम्भ में यज्ञ का उद्देश्य देवताओं की कृपा का आवाहन है लेकिन वैदिक काल के अन्त और उत्तर वैदिककाल में, यज्ञ ही ईप्सित वस्तुओं का प्रदान करने वाला है। अतः देवों के स्थान पर यज्ञ को सर्वोपरिता मिली जिसका परिणाम यह हुआ कि यज्ञ, साधन के स्थान पर, साध्य हो गया। यज्ञ के साथ ही ज्ञान व साथ-साथ 'कल्प' की महत्ता बढ़ी जिसका परिणाम यह हुआ कि ऋत के रहस्यात्मक विचार के स्थान पर कल्पवादिता के विचार ने जोर पकड़ा। ऋत में जो महान शाश्वत व्यवस्था सिद्धान्त का विचार था वह कल्प से जुड़ गया। यहां ऋत का अर्थ हो गया यज्ञों से सम्बन्धित कल्पों की व्यवस्था का सिद्धान्त। ब्राह्मणग्रन्थ इसी कल्पवादिता (Ritualism) से ओतप्रोत हैं। वर्ण व्यवस्था के विकास में पुरोहित वर्ग की बढ़ती हुई सर्वोपरिता और पौरोहित्य-कर्म की जटिलता ने कल्पवादिता को और भी प्रोत्साहित किया। इसका परिणाम यह हुआ कि पौरोहित्य कर्म रहस्यवादिता के अवगुंठन में परिवेष्टित हो गया। ऋत के स्थान पर यज्ञ को ही इस ब्रह्माण्ड में व्याप्त व्यवस्था का आधार और यज्ञ के साथ कल्प को ब्रह्माण्ड के रहस्य का प्रतीक मान लिया गया।

उपनिषदों में कर्मसिद्धान्त

वेदों में आत्मा की अमरता इस संसार से परे लोकों (देवयान और पितृयान) संसार की व्यवस्था को धारण करने वाले 'ऋत' यज्ञ और कल्प तथा यज्ञ के द्वारा सांसारिक यातनाओं से मुक्ति पाने के विचार अस्तित्व में आ चुके थे। ब्राह्मणग्रन्थों में कल्पवादिता के आधार पर इन्हीं विचारों को विकसित किया गया और उपनिषदों में इन्हीं विचारों के आधार पर कर्मसिद्धान्त का प्रतिपादन किया गया। प्रभु के अनुसार कर्मफल का विचार भी वेदों में मिलता है[1]। उपनिषदों में कर्मफल की धारणा के साथ-साथ आवागमन और पुनर्जन्म की धारणायें भी जुड़ गई। वास्तविकता तो यह है कि उपनिषदों के काल की सामाजिक ऐतिहासिक परिस्थितियों में कर्मफल, मोक्ष, आवागमन और पुनर्जन्म की धारणाओं के माध्यम से वैदिक धारणाओं को एक क्रान्तिकारी रूप दिया गया और प्राचीन सिद्धान्तों को नई धारणाओं में बदल दिया गया। कर्मसिद्धान्त में दोहरा प्रतिफल (Double Retribution) की धारणा इसका उदाहरण है। दोहरे प्रतिफल से तात्पर्य है कर्मफल के रूप में पहले परलोक

1 प्रभु, पी० एच० वही पृष्ठ 18

म सुख या दण्ड भोग और बाद म कर्मफल के भोग के ही कारण, इहलोक म पुनर्जन्म। इहलोक और परलोक म कर्मफल के भोगने की धारणा को दोहरे प्रतिदण्ड की धारणा कहा गया है। यह धारणा दो विचारों क मिलने से बनी है। इसम वेदों मे पाये जाने वाले भावी प्रतिदान (Future Pecompense) के विचार का सम्मिलन आवागमन के सिद्धान्त की नई धारणा से हुआ है[1]। शतपथ ब्राह्मण के बाद से कर्मानुसार पुनर्जन्म के विचार का विकास बराबर मिलता है। शतपथ ब्राह्मण मे तो इतना ही कहा गया है कि प्रत्येक व्यक्ति अपने ही द्वारा निर्मित संसार म जन्मता है[2]। लेकिन उपनिषदो म इस विचार का स्पष्ट उल्लेख मिलता है कि मृत व्यक्ति की आत्मा नया शरीर धारण करती है। कठोपनिषद म कहा गया है कि नश्वर प्राणी बीज की भांति गल जाता है और बीज की ही भांति पुन उत्पन्न होता है[3] एक मां के गर्भ स शरीर धारण करके उत्पन्न होता है और दूसरा पौधे के रूप मे अवतरित होता है क्योंकि प्रत्येक अपने ज्ञान और कर्म के अनुसार जन्मता है[4]।

बृहदारण्यकोपनिषद मे कहा गया है कि मृत्यु के बाद आत्मा शरीर को त्याग देता है और इस जन्म म किये हुए कर्मों का संचित फल ही उसके साथ जाता है। अगले जन्म मे आत्मा को क्या रूप मिलेगा यह कर्मफल द्वारा निर्धारित होता है। इसी उपनिषद म, इस प्रश्न के उत्तर म कि मृत्यु के बाद आत्मा का क्या होता है, याज्ञवल्क्य ने उत्तर दिया है कि 'मानव का भावी जीवन उसके कर्मों से निर्धारित होता है। शुभ कर्मों का परिणाम शुभ होता है और अशुभ कर्मों का परिणाम अशुभ (पुण्यो वै पुण्येन कर्मणा भवति पाप पापेन) जिस प्रकार, टिड्डा घास की एक पत्ती का किनारा तभी छोड़ता है जब दूसरी को पकड़ लेता है, उसी प्रकार यह आत्मा मानव शरीर को तभी छोड़ता है जब इस दूसरे प्रकार के अस्तित्व म स्थान मिल जाता है। जिस प्रकार, सुनार अपनी इच्छानुसार, सोने को नये और सुन्दर आकारों म ढालता है उसी प्रकार यह आत्मा अपने लिए नये नये और सुन्दरतर अस्तित्वों का निर्माण किया करता है, चाहे यह अस्तित्व पितरों के मध्य हो चाहे गन्धर्वों के मध्य चाहे देवताओं के मध्य और चाहे उन अन्य प्राणियो म जिनम कि आत्मा चाहे[5]।

कर्मानुसार पुनर्जन्म के विषय म बृहदारण्यकोपनिषद म यह कहा गया है कि शरीर म आत्मा के निकलने के साथ साथ प्राण भी निकल जाते हैं जैसा जिसका

---

1 गोखले बी० जी० वही पृष्ठ 99
2 वही पृष्ठ 99
3 प्रभु पी० एच० वही पृष्ठ 19
4 गोखले बी० जी० वही पृष्ठ 92
5 प्रभु पी० एच० वही पृष्ठ 10

आचार और व्यवहार होगा वैसा ही उसका आत्मा होगा। जिसके कर्म सत् होते हैं, वह सत् होता है और जिसके कर्म असत्, वह असत्। पवित्र कर्मों से पवित्रता आती है और अपवित्र कर्मों से अपवित्रता। इसीलिए यह कहा जाता है कि व्यक्ति केवल इच्छाओं (काम) का ढेर है। जैसी जिसकी इच्छाएं होती हैं वैसा उसका क्रतु होता है, जैसा जिसका क्रतु वैसा उसका कर्म और जैसा जिसका कर्म वैसा उसका उत्थान होता है। जब मनुष्य मात्र इच्छा रहित हो जाता है तो वह अमर हो जाता है और 'ब्रह्म' को प्राप्त कर लेता है। प्रत्येक व्यक्ति को तब तक बार बार जन्म लेना पड़ता है जब तक कि वह कर्मातीत न हो जाए। छान्दोग्य उपनिषद् में कहा गया है कि अच्छे आचरण वाले (रमणीयाचरणा) ब्राह्मण, क्षत्रिय या वैश्य वर्ण में जन्म लेते हैं जबकि बुरे आचरण वाले (कपूयाचरणा) कुत्ता, सूकर या चाण्डाल के रूप में जन्म लेते हैं। कौषीतकी उपनिषद् में यह कहा गया है कि अपने कर्म और विद्या के अनुसार एक आत्मा कीट, पतंग, मछली, चिड़िया, शेर, साँप या मनुष्य या किसी अन्य योनि में जन्म लेता है। कठोपनिषद् में तो यहाँ तक कहा गया है कि अपने कर्म और ज्ञान (यथाकर्म यथाश्रुतम्) के अनुसार आत्मा अनात्म योनियों (पेड़ पौधों के रूप में) में भी जन्म लेता है।

वेदों और आरण्यकों में व्यक्त हुआ यह विचार कि आत्मा अमर है और प्रत्येक व्यक्ति की आत्मा को इस जन्म के कर्मानुसार अगले जन्म में सुख या दुःख भोगना पड़ता है, उपनिषदों में आवागमन की धारणा के आधार पर एक नया रूप लेता है। औपनिषदिक विचारधारा में इस जन्म के कर्मानुसार आत्मा को अगले जन्म में सुख या दुःख ही नहीं भोगना पड़ता है वरन् आत्म या अनात्म योनियों में भी जन्म लेना पड़ता है। पर वेद और ब्राह्मण ग्रन्थों की विचारधारा का पूर्ण लोप नहीं हुआ है। छान्दोग्य उपनिषद् में कहा गया है कि अतिथि पूजा और यज्ञ के माध्यम से आत्मा का [illegible]

व्यक्त किया गया है। ब्राह्मणग्रन्थों के काल में कर्मसिद्धान्त में यज्ञ विचार का भाव आया और उपनिषदों से ज्ञान विचार का भाव। उपनिषदों के ही काल में हिन्दू विचारधारा और जीवन-दर्शन पारलौकिकता की ओर उन्मुख हुए।

औपनिषदिक काल में हिन्दू विचारधारा का जो विकास हुआ है, उसे गोखले ने भारत के सामाजिक इतिहास की एक आवश्यक परिणति माना है। इस दृष्टिकोण से औपनिषदिक विचारधारा भारतीय ऐतिहासिक विकास की एक तत्कालीन आवश्यकता के रूप में प्रस्फुटित तथा विकसित हुई। इस विकास के लिए दो परिस्थितियाँ उत्तरदायी हैं—एक वह परिस्थिति जो ब्राह्मणग्रन्थों के काल की बौद्धिक विचारधारा के रूप में आई जिसमें कोरे कर्मवाद ने बौद्धिक जीवन को शुष्क एवं नीरस बना दिया था और जिसमें ब्राह्मण वर्ग का सामन्तवादी एकाधिकार बढ़ रहा था। दूसरी वह परिस्थिति थी जो तत्कालीन सामाजिक आर्थिक संकट से उत्पन्न हुई थी। यह वह परिस्थिति थी जिसमें युद्धों के द्वारा आर्यों का प्रसार बढ़ रहा था जिसके परिणामस्वरूप जनसाधारण को आर्थिक दबाव सहन करना पड़ रहा था। औपनिषदिक विचारधारा में आत्मबल के उस विचार का वर्णन नहीं मिलता है, जो वेदों में मिलता है। औपनिषदिक विचारधारा में बौद्धिक विकास तो मिलता है लेकिन साथ ही साथ इहलौकिक जीवन के प्रति थकान का भी भाव मिलता है। औपनिषदिक विचारधारा एक ओर वैदिक परम्परा से चिपटी हुई है किन्तु केवल बौद्धिक स्तर पर और दूसरी ओर उसमें वैदिक परम्परा के प्रति शंका है—वह शंका जो इस तथ्य से उत्पन्न होती हुई जान पड़ती है कि तत्कालीन नई परिस्थितियों से उत्पन्न समस्याओं का समाधान करने में वैदिक परम्परा अनुपयोगी थी। उपनिषदों की मुक्ति की धारणा इस बात का प्रतीक है कि उसमें तर्क और विज्ञान के स्थान पर रहस्यात्मकता को प्रधानता मिली जिसमें पारलौकिकता के विचार को प्रोत्साहन मिला। रहस्यात्मकता के विचार को विपन्न परिस्थितियों में ही प्रश्रय मिलता है। ड्यूसन (Deussen) के आधार पर गोखले ने यह स्वीकार किया है कि सम्भवतः औपनिषदिक विचारधारा के प्रधान तत्वों का प्रणयन क्षत्रिय वर्ग में हुआ है और राजनीतिक आर्थिक सत्ता के अधिकारी क्षत्रियों का पारलौकिकता के विचार की ओर उन्मुख होना इस बात का प्रमाण माना जा सकता है कि औपनिषदिक विचारधारा का प्रणयन विपन्न सामाजिक, आर्थिक और बौद्धिक परिस्थितियों में हुआ होगा। अतः यह कल्पना तर्कसंगत जान पड़ती है कि कर्मसिद्धान्त का प्रथम निरूपण सामाजिक निराशा के एक दर्शन के रूप में हुआ[1]। इससे यह ध्वनित होता है कि कर्मसिद्धान्त का उद्भव निराशावादी जीवन दर्शन के रूप में हुआ। किन्तु यदि कर्म

सिद्धान्त वास्तव में निराशावादी है ? इस प्रश्न पर यथास्थान आगे विचार किया जायगा।

कर्मसिद्धान्त के उद्भव के आधार जो कुछ भी रहे हों, लेकिन इसके विषय में एक तथ्य निश्चित है और वह यह है कि कर्मसिद्धान्त पर आधारित जीवन दर्शन ने एक वह अभिनव मार्ग प्रस्तुत किया जिसके चारों ओर सभी कुछ व्यवस्थित था और उस व्यवस्था का आधार था कर्म। इस मार्ग पर वैदिक देवों की सर्वोपरिता नहीं थी क्योंकि यहाँ मनुष्य स्वयं अपने जीवन का निर्माता था। यहाँ मनुष्य के सामने जीवन का एक लम्बा वितान था जिसके इस ओर इहलौकिक जीवन था और उस पार पारलौकिक जीवन। इसी मार्ग पर वह ज्ञान प्रतिपादित हुआ जिसमें यह मान्यता है कि शरीर जिन दो प्रकार के तत्वों से मिलकर बना है उनमें से एक है भूताश्रय और दूसरा कर्माश्रय। कर्माश्रय एक संचयी प्रक्रिया है जिसका निर्माण जीव के पूर्व जन्म तथा इस जन्म के कर्मों से होता है। कर्माश्रय जीव के भावी जीवन का निर्माता है। प्रत्येक आत्मा और जीवन का कर्माश्रय अलग अलग होता है। प्रत्येक जीव कर्माश्रय से बंधा है। इहलौकिक जीवन अपूर्ण है और जब तक यह अपूर्णता रहेगी जीव और जीवन कर्माश्रय से बंधे रहेंगे तथा आवागमन के चक्र में फंसे रहेंगे। पूर्णत्व का अर्थ कर्माश्रय तथा आवागमन से मुक्ति पाना है। मानव जीवन उसी पूर्णत्व की खोज है। पूर्णत्व किसी दैवी अनुकम्पा से नहीं अपने ही प्रयत्नों से मिलता है। मनुष्य नियत कर्मसिद्धान्त से बंधा है नियति से नहीं। नियत कर्म के माध्यम से मनुष्य स्वयं अपनी नियति का निर्माण कर सकता है। कर्माश्रय यदि एक ओर प्रारब्ध का नियामक है तो दूसरी ओर प्रारब्धि का भी।

उपनिषदों में निरूपित कर्मसिद्धान्त से इहलौकिक या पारलौकिक प्रारब्धियों का भंडार सा खुल गया जिससे भारतीय जन जीवन को उत्साह और प्रेरणा सतत मिलती रही। कर्म की यह व्याख्या निराशावादी नहीं आशावादी है। कर्म की इस व्याख्या में व्यक्ति के लिये परिवार, गोत्र, जाति, गण, ज्ञाति और राज्य से अधिक कर्म का महत्व बढ़ जाता है। यही कर्मसिद्धान्त उस सामाजिक व्यवस्था का नैतिक आधार बन जाता है जिसमें विभिन्न प्रजातियाँ, संस्कृतियाँ, भाषाएँ तथा धर्मों के व्यक्ति और समूह एक सूत्र में बंधते रहे हैं। धर्म के साथ कर्मसिद्धान्त हिन्दू नैतिकता का आधार है और इस आधार का सूत्रपात औपनिषदिक काल में ही हुआ। यह वह नैतिकता है जो 'अविभक्त विभक्तेषु' की भावना पर आधारित है। यह कोरी बौद्धिक नैतिकता नहीं है। वरन् यह नैतिकता है जिसका आधार आध्यात्मिक है। इसी कारण, हिन्दू सामाजिक जीवन में कर्मसिद्धान्त का उद्भव नैतिक तथा आध्यात्मिक मूल्य (Value) के रूप में हुआ है और इसी रूप में उपनिषदों के दार्शनिक व्याख्याकारों ने इसकी व्याख्या की है।

महाभारत म कर्मसिद्धान्त को एक जीवन दर्शन के रूप म प्रस्तुत किया गया है। यह पहले ही लिखा जा चुका है कि महाभारत म वर्ण का आधार कर्म माना गया है। लेकिन यहा कर्म की व्याख्या उस रूप म नही है जिस रूप मे बुद्ध ने की है। यहा कर्म का व्यक्ति की स्वाभाविक वृत्ति से जोड दिया गया है। व्यक्ति की स्वाभाविक वृत्ति पूर्वजन्म के कर्मों स बधी है। प्रभू द्वारा महाभारत के वनपर्व से उद्धृत एक अश के अनुसार, 'कर्मों द्वारा सचित भार के साथ आत्मा का पुनर्जन्म होता है कर्मों के परिणाम से ही व्यक्ति का सुख दुख और सम्पन्नता विपन्नता की प्राप्ति होती है पूर्व जन्म म किये हुए कर्म किसी भी प्राणी का कभी नही छोडते है यह कर्म का ही परिणाम है कि इस जीवन म सज्जन का दुख मिल सकता है और दुर्जन को सुख'। महाभारत के अनुशासन पर्व म ऋषि बृहस्पति ने युधिष्ठिर स कर्मसिद्धान्त की विवेचना करते हुए कहा है कि मृत्यु के पश्चात मनुष्य के अच्छे बुरे कर्म उसके साथ जाते है और उनके द्वारा उसके अगले जन्म का प्रारब्ध निश्चित होता है शान्तिपर्व म यह कहा गया है कि आत्मा की अगली योनि भी इस जन्म के कर्मों स निर्धारित होती है। वनपर्व म कहा गया है कि मनुष्य को अपने किंचित कर्म का भी परिणाम भोगना पडता है मनुष्य के कर्म उसके साथ जाते हैं कर्म के परिणाम कभी भी नष्ट नही होते है (नास्ति कृतस्य नाश)। कर्मों के ही कारण आत्मा का बार-बार जन्म लेना पडता है। मनुष्य के कर्म शुभ भी होते है और अशुभ भी और यह निश्चित है कि मनुष्य वैसा ही काटेगा जैसा कि बोयेगा कोई भी अपनी इच्छानुसार अपने प्रारब्ध का निर्णय नही कर सकता है पूर्व जन्म म किये हुए कर्मों का परिणाम इस जन्म मे भोगना पडता है जो इस कर्मसिद्धान्त से अनभिज्ञ है, वे अपने दुर्भाग्य के लिए दैवी शक्तियो को कोसते रहते हैं यद्यपि वे यह नही जानते कि उनका दुर्भाग्य उनके ही अशुभ कर्मों का परिणाम है[1]। इन उद्धरणो स यह स्पष्ट होता है कि महाभारत म कर्म को दैव के रूप म प्रतिपादित किया गया है। महाभारत म कर्म और उसके परिणाम को इतना अवश्यम्भावी माना गया है कि महाभारत का कर्मसम्बन्धी विचार दैववादी हो गया है यद्यपि उसे दैववादिता स बचाने का प्रयास भी किया गया है। अनुशासन पर्व म कहा गया है कि व्यक्ति का प्रयत्न बीज के समान है दैव भूमि के समान और फसल (कर्मफल) दोनो के सम्मिलन का परिणाम है[2]। यहा कर्म के सम्बन्ध म यह विचार प्रधान है कि जो जैसा बोता रहा है, वैसा उसने बोया होगा।

यह कहना अतिशयोक्ति न होगी कि महाभारत म कर्म को अवाछनीय किन्तु अनिवार्य आवश्यकता के रूप म प्रस्तुत किया गया है। महाभारत के अनुसार, केवल

अपना ही कर्म की प्रशंसा करते हैं, जिसके कारण वे दैहिक अस्तित्व के प्रपंच में प्रसन्नतापूर्वक फँसे रहते हैं लेकिन, जिन्हें धर्म का पूर्ण ज्ञान है वे कर्म की वैसे ही प्रशंसा नहीं करते हैं जैसे नदी में जल पीता हुआ व्यक्ति कुएँ को जरा भी ध्यान में नहीं लाता है (शान्तिपर्व)। मनुष्य सदैव कर्म के प्रभाव के अन्तर्गत रहता है और इस कारण उसे यह अवश्य सोचना चाहिये कि किस प्रकार वह कर्म का प्रतिविधान (Atonement) कर सकता है और किस प्रकार वह अपने को असत् शरीर से मुक्त कर सकता है (वनपर्व)। चाहे कोई प्राणी सबल हो या कमजोर, लम्बा हो या छोटा जीर्णता और मृत्यु सभी का निश्चय ज्ञान हैं। हाँ, इसका अपवाद कोई भी नहीं होता है जो पुनर्जन्म से बच सके क्योंकि आत्मा अमर है (शान्तिपर्व)। प्रत्येक व्यक्ति को आत्मा में मोक्ष प्राप्ति का प्रयास करना चाहिये क्योंकि यह संसार अनेक कठिनाइयों और त्रुटियों से भरा पड़ा है (शान्तिपर्व)[1]।

परलोक का विचार महाभारत में और भी विस्तृत हुआ है। महाभारत में आत्मा के अस्तित्व के तीन स्तर बताये गये हैं। इस लोक या कर्मभूमि कहा गया है और परलोक को फलभूमि। फल भूमि के दो स्तर हैं—एक स्तर है स्वर्ग और नर्क का जहाँ कर्मानुसार जीव को फल भोगना पड़ता है। बुरे कर्मों के कारण नर्क की यातनायें भुगतनी पड़ती हैं और अच्छे कर्मों के कारण स्वर्ग के भोगों का सुख मिलता है। महाभारत के वनपर्व में स्वर्ग के भोगों की विस्तृत तालिका का वर्णन है। लेकिन स्वर्ग के भोग व्यक्ति के कर्मों के अनुपात से ही मिलते हैं और ज्यों ही अपने कर्मों के अनुपात में व्यक्ति स्वर्ग के सुख और नर्क की यातनायें भोग लेता है उसे पूर्व-जन्म में किये हुए कर्मों के अनुसार पुनः इस लोक की किसी न किसी योनि में जन्म लेना

है। ज्ञान से प्राणी सनातन, अतीन्द्रिय और अजर हो जाता है। ज्ञान सरिता के जल के समान है और कर्म कुएँ के जल के समान। सरिता के जल को पाकर जिस प्रकार कुएँ की चिन्ता नहीं रहती, उसी प्रकार ज्ञान की प्राप्ति से कर्म की चिन्ता छूट जाती है। ज्ञान से प्राणी उस अवस्था में पहुँच जाता है जहाँ न तो क्लेश है, न मृत्यु, न जन्म और न पुनर्जन्म[1]। निवृत्ति और सन्तोष धर्म का अन्य द्वार है जिससे आवागमन से मुक्ति मिल सकती है। निवृत्ति और सन्तोष वह अवस्था है जहाँ कर्म का अस्तित्व नहीं है। इस अवस्था की प्राप्ति वासना के अन्त से होती है। वासना का अन्त वासना की वस्तुओं के त्याग से होता है। एक वासना की पूर्ति से दूसरी वासना उत्पन्न होती है और इस प्रकार कभी न समाप्त होने वाला वासना चक्र अस्तित्व में आता है जिसके परिणामस्वरूप कर्म की उत्पत्ति होती है और प्राणी आवागमन के चक्र में बंधता है। जैसे हर बार नया ईंधन डालने से अग्नि प्रज्ज्वलित होती है वैसे ही प्रत्येक वासना की वस्तु से वासना प्रवृत्ति को प्रोत्साहन मिलता है। वासना की उत्पत्ति छूने, देखने और सुनने वाली कर्मेन्द्रियों से उत्पन्न होने वाले सुख की अनुभूति से होती है। जिसने जिस वस्तु के सुख का अनुभव नहीं किया है, उसे उस वस्तु की इच्छा नहीं होती है। अतः सुख प्राप्ति के लिए यह आवश्यक है कि व्यक्ति वासना वाली वस्तुओं को न चखने, न छूने और न देखने का प्रण करे।

महाभारत में जैसा कि पिछले वर्णन से स्पष्ट है, निवृत्ति को उस पराकाष्ठा तक ले जाया गया है जहाँ प्रत्येक के लिए पहुँचना यदि असम्भव नहीं तो दुष्कर अवश्य है। सनातन पद तक ले जाने वाले ज्ञान की अनुभूति भी हर एक के बस की बात नहीं है। इसलिए महाभारत में कर्म से मुक्ति पाने के लिए एक बीच का मार्ग अपनाया गया है। वह मार्ग है सन्तोष और स्वधर्म का जिसका प्रमाण है धर्म व्याध का प्रसंग जो महाभारत के वनपर्व में आया है और जिसका वर्णन पहले किया जा चुका है। धर्मव्याध के अनुसार कर्मरहित लौकिक जीवन असम्भव है। शुभ कर्मों से शुभ योनि मिलती है और पाप कर्मों से पापयोनि। प्रारब्ध, पूर्व जन्म के कर्मों का परिणाम इतना बलवान होता है कि उसके प्रभाव से बचना असम्भव है। इहलौकिक जीवन पूर्वजन्म के कर्मों का परिणाम है और इहलौकिक जीवन में स्वधर्म का पालन ही धर्म है, स्वधर्म त्याग पाप है। स्वधर्म पालन के लिए किए हुए कर्म न तो दूषित करते हैं और पूर्वसंचित कर्मभार को ही घटाते हैं। जिस धर्म में स्वधर्म की साधना हो वही श्रेयस्कर है चाहे वह धर्म बधिक का ही क्यों न हो। महाभारत में स्वधर्म से तात्पर्य वर्णधर्म से है[2]।

उसी प्रसंग में महाभारत में यह कहा गया है कि केवल अल्पबुद्धि ही सर्वा

छित के घटित होने पर तथा वांछित के न प्राप्त होने पर शोक करता है। वांछित और अवांछित या अभीष्ट और अनभीष्ट के लिए किए जाने वाले शोक से जीवन का कष्ट कम नहीं होता वरन् बढ़ता है। ज्ञानतृप्त महात्मा जिन्होंने ज्ञान से अपने को संतोषी और सुखी बनाया है, जिनमें सुख और दुर्भाग्य के प्रति समभाव है वही वस्तुतः सुखी हैं। संतोष ही परम सुख का साधन है। संतोष ज्ञानी का लक्षण है और असंतोष मूढ़ का। विषाद से पराजित व्यक्ति, जिसकी शक्तियाँ क्षीण हो गई हैं, कर्तव्यहीन हो जाता है। निर्वेद (असंतोषमय निराशा) से कोई लाभ नहीं होता क्योंकि कर्मफल का भोग अवश्यंभावी है। अतः शोक न करके उसके स्थान पर दुःख से मुक्ति पाने के उपायों की खोज का प्रयास अधिक श्रेयस्कर है। इसका एक ही साधन है और वह है संतोष के साथ स्वकर्म-पालन। कर्म के साथ संतोष भाव का संयोजन गीता के रचना-काल में ही हुआ।

गीता का निष्काम कर्म

श्रीमद्भगवद्गीता में जिसे साधारणतः गीता[1] का नाम दिया जाता है कर्म सिद्धान्त को एक व्यापक जीवन दर्शन के रूप में प्रस्तुत करने का प्रयास किया गया है। शंकराचार्य ने श्रीमद्भगवद्गीता को उपनिषद अर्थात् ब्रह्मविद्या तथा योगशास्त्र की संज्ञा दी है जो इस बात की प्रतीक है कि गीता की रचना उपनिषदों की विचार-

गीताकार के अनुसार न तो प्रवत्ति ही सर्वोपरि है, न ज्ञान और न प्रपत्ति और न इनमें से किसी की अवहेलना ही की जा सकती है। प्रवत्ति कर्म की ओर प्रेरित करती है किन्तु कारा और निरीह कर्म बन्धन है। मोक्ष वहीं है जहां कर्म का आधार ज्ञान और प्रपत्ति है। ज्ञान प्रपत्ति और कर्म त्रिभुज के तीन बिन्दुओं की भाँति परस्पर बंधे हुए हैं और इस कारण, तीनों के समन्वय से ही मोक्ष मिल सकता है। ज्ञान कर्म और प्रपत्ति का समन्वय निष्कामकर्मयोग में होता है जिसे गीताकार ने मोक्ष का साधन माना है। निष्कामकर्मयोग के द्वारा जीव मोक्ष की ओर अपना उत्तरोत्तर विकास कर सकता है। निष्कामकर्म के सिद्धान्त पर आधारित होने के कारण गीता महाभारत से भिन्न हो जाती है। इसीकारण गीता में प्रतिपादित कर्मसिद्धान्त महाभारत में प्रतिपादित कर्मसिद्धान्त की अपेक्षा अधिक प्रगतिशील और प्रखर है। सम्भवतः इसीकारण तत्कालीन परिस्थितियों में भारतीय जन जीवन को जितनी प्रेरणा गीता से मिली है उतनी किसी अन्य धर्म ग्रन्थ से शायद ही मिली हो और आज भी जन जीवन में जितना प्रभाव गीता का है उतना रामायण के बाद शायद ही किसी धर्मग्रन्थ का हो[1]।

गीता की रचना के पहले कर्म और मोक्ष से सम्बन्धित जितने सिद्धान्त तथा विचार प्रतिपादित हो चुके थे गीताकार ने निष्कामकर्मयोग के सिद्धान्त की पृष्ठभूमि में उन्हीं का नव निवचन करके उन्हें एक सिद्धान्तसूत्र में प्रस्तुत किया।

---

1 समय समय पर, गीता पर लिखे गये भाष्य इसका प्रमाण है। गीता पर जितने भी भाष्य लिखे गये हैं वे संकटकालीन परिस्थितियों में ही लिखे गये हैं। जब बौद्ध ब्राह्मण-संघर्ष अपनी पराकाष्ठा पर पहुँच गया था और उसके फलस्वरूप आठवीं शताब्दी के आस पास सामाजिक संघर्षयुक्त विपन्न परिस्थिति उत्पन्न हो गई थी तो शंकर ने गीता पर भाष्य लिखकर ज्ञानमार्गी अद्वैतवाद का प्रतिपादन किया। बुद्धवादी विचारधारा पहले से ही गीता के अधिक समीप थी। कालान्तर में, रामानुज ने गीता पर भाष्य लिखकर प्रपत्ति मार्ग का प्रतिपादन किया। यही मार्ग आगे चल कर भक्ति आन्दोलन के रूप में प्रस्फुटित हुआ। शंकर की निर्गुण, अद्वैतवादी, ज्ञानाश्रयी विचार धारा, प्रपत्ति मार्ग से समन्वित होकर, तुलसी की सगुण अद्वैतवादी, ज्ञानाश्रयी विचारधारा के रूप में प्रस्फुटित हुई। आगे चल कर अंग्रेजी राजकाल में, जब स्वातन्त्र्य-संग्राम के कारण सामाजिक विपन्नता आई तो तिलक ने गीता रहस्य लिखकर, देश-काल की मर्यादा के अनुसार निष्काम कर्म करने के आदर्श को प्रतिपादित किया। महात्मा गांधी के धार्मिक और राजनैतिक कार्यक्रम के प्रेरणा स्रोत गीता में है यह उनके द्वारा लिखे गीता भाष्य से स्पष्ट है। गांधी का सत्याग्रही गीता का ज्ञानी, भक्त और निष्काम कर्मयोगी ही है।

'नेति' का रहस्यवादी विचार जो उपनिषदों में पल्लवित हुआ था गीता में व्याप्त है। यह संसार क्षणभंगुर और नाशवान है। इस संसार से परे एक शक्ति है जो इस संसार में व्याप्त है लेकिन फिर भी इस संसार से परे है। यह सत्ता अगम, अगोचर अक्षर अव्यक्त और परम है। उसके सैकड़ों और हजारों रूप हैं, जो नाना प्रकार के दिव्य, भिन्न वर्ण भिन्न संचरण और भिन्न आकृति वाले हैं (11 5)[1]। इसमें समूचा स्थावर तथा जंगम जगत समाहित है (11/7)। परम सत्ता का रूप केवल दिव्य चक्षुओं से ही देखा जा सकता है क्योंकि वह सांसारिक नहीं ईश्वरीय भाग है (11/8)। परम सत्ता का रूप अनेक मुख और आंखों वाला अनेक अद्भुत दर्शन वाला, अनेक दिव्य आभूषणों तथा उद्यत शस्त्रों वाला है। यह अद्भुत (रहस्ययुक्त), अनन्त और सर्वव्यापी देव का रूप है। उसका तेज आकाश में एक साथ प्रकाशित हजार सूर्यों जैसा है और उसमें अनेक प्रकार से विभक्त समूचा जगत एक साथ विद्यमान है। उसका न तो आदि है, न मध्य और न अन्त (11/10 11 12, 13, 16)। उसका रूप अनेक मुख, हाथ उदर और नेत्र वाला है, वह अनन्त है। उसका तेज सभी दिशाओं में देदीप्यमान हो रहा है (11/17)। उसकी शक्ति अनन्त है, सूर्य चन्द्र उसके नेत्र हैं उसका मुख प्रज्वलित अग्नि के समान है उसके तेज से जगत तप रहा है (11/19)। आकाश और पृथ्वी के बीच के अन्तर में और समस्त दिशाओं में वही अकेला व्याप्त है (11/20)। वह तेजयुक्त विश्वव्यापी अनन्त, परम और आदि देव है। उसे किसी ने भी नहीं देखा है उसका केवल अनुभव किया जा सकता है (11/47)। उसका वीर्य अनन्त है, उसकी शक्ति अपार है, वही सब कुछ धारण करता है इसलिए वही सब है (11/40)। वह विश्व का परमस्थान और परमधाम है। इसलिए वह पुराण पुरुष है (11/38)। वह परम अक्षर, जगत का अन्तिम

परिचायक है[1]। वह एक अवर्णनीय, गुह्य रहस्य है।

गीता के अनुसार पुरुष और प्रकृति दोनों अनादि हैं। पुरुष सर्वव्यापी, अगम अगोचर, सनातन अव्यक्त, अविकारी, अजन्मा, गुणातीत और चेतन है। प्रकृति सगुण और विकारयुक्त है। देह (क्षेत्र) प्रकृति से उत्पन्न होती है और क्षेत्र में व्याप्त क्षेत्रज्ञ पुरुष है। विकार तथा गुण प्रकृति से उत्पन्न होते हैं (13/9)। जो कुछ भी चर अचर वस्तु उत्पन्न होती है वह क्षेत्र और क्षेत्रज्ञ के संयोग से उत्पन्न होती है (13/26)। महत्ब्रह्म अर्थात प्रकृति पुरुष की योनि है। वह उसमें गर्भाधान करता है और उससे प्राणीमात्र की उत्पत्ति होती है (14/3)। सब योनियों में जिन जिन प्राणियों की उत्पत्ति होती है, उनकी उत्पत्ति का स्थान पुरुष की प्रकृति है और उनमें बीजारोपण करने वाला पिता पुरुष ही है (14/4)। परमपुरुष सभी देहधारियों में व्याप्त है और देह में स्थित जो परम पुरुष है, वह सर्वसाक्षी, अनुमति देनेवाला, भर्ता,

---

1 सब प्राणियों के हृदय में विद्यमान आत्मा, भूतमात्र का आदि, मध्य और अन्त, आदित्यों में विष्णु, ज्योतियों में जगमगाता सूर्य, वायुओं में मरीचि, नक्षत्रों में चन्द्र, वेदों में सामवेद, देवों में इन्द्र, इन्द्रियों में मन, प्राणियों का चेतन रुद्रों में शंकर, यक्ष और राक्षसों में कुबेर, वसुओं में अग्नि, पर्वतों में मेरु, पुरोहितों में बृहस्पति, सेनापतियों में कार्तिक स्वामी, सरोवरों में सागर महर्षियों में भृगु, वाणी में ओम, यज्ञों में जपयज्ञ, स्थावरों में हिमालय, वृक्षों में अश्वत्थ (पीपल), देवर्षियों में नारद, गंधर्वों में चित्ररथ, सिद्धों में कपिल मुनि, अश्वों में अमृत से उत्पन्न उच्चैश्रवा, हाथियों में ऐरावत, मनुष्यों में राजा, हथियारों में वज्र, गायों में कामधेनु, प्रजा की उत्पत्ति का कारण कामदेव, सर्पों में वासुकि, नागों में शेषनाग, जलचरों में वरुण, पितरों में अर्यमा, दण्ड देने वालों में यम, दैत्यों में प्रह्लाद, गिनने वालों में काल, पशुओं में सिंह पक्षियों में गरुड, पावन करने वालों में पवन, शस्त्रधारियों में परशुराम मछलियों में मगरमच्छ, नदियों में गंगा, सृष्टियों का आदि अन्त और मध्य विद्याओं में आत्मविद्या, विवादकों का वाद, अक्षरों में अकार, समासों में द्वंद्व अविनाशी काल, सर्वकर्ता, मृत्यु और उत्पत्ति, कीर्ति, लक्ष्मी, वाणी स्मृति मेधा, धृति और क्षमा, सामों में बृहत साम, छन्दों में गायत्री, महीनों में मार्गशीर्ष, ऋतुओं में वसन्त, छल करने वाले का द्यूत, प्रतापी का प्रभाव जय और निश्चय सात्विक भाव वाले का सत्व, वृष्णि-कुल में वासुदेव पाण्डवों में धनंजय, मुनियों में व्यास, कवियों में उशना, शासक का दण्ड, जय चाहने वालों की नीति, गुह्य बातों में मौन, ज्ञान वालों का ज्ञान, उत्पत्ति का कारण स्थावर जंगम का जनक, यही परम सत्य है। संसार की विभूतियाँ उसी से हैं (10 .0–11)।

आत्मा, महेश्वर और परमात्मा भी कहलाता है (13/22)। विकार और गुण प्रकृति से उत्पन्न होते हैं (13/19)। इस कारण, कार्य कारण का हेतु प्रकृति है और सुख-दुख में हेतु पुरुष है (13/20)। पुरुष के दो स्तर हैं—एक, परमपुरुष का जो सर्वव्यापी और अव्यक्त है और दूसरा, प्रकृति में रहने वाले पुरुष (जीव) का।

पुरुष का आधार आत्मा है जो परमात्मा का अंश है। जीवात्मा ही क्षेत्रज्ञ है। व्यक्ति, शरीर, इंद्रियां (ज्ञान और कर्मेंद्रियां) मन, बुद्धि और आत्मा से मिलकर बनता है। शरीर (देह) से अधिक सूक्ष्म इंद्रियां हैं, उनसे अधिक सूक्ष्म मन है, उससे अधिक सूक्ष्म बुद्धि है और जो बुद्धि से भी अधिक सूक्ष्म है, वह आत्मा है (3/42)। आत्मा इंद्रिय और मन के लिये अगम्य और विकार रहित है (2/25)। इंद्रियों के स्पर्श सर्दी और गर्मी तथा सुख और दुख देने वाले होते है, और अनित्य होने के कारण वे आते जाते रहते हैं (2/14)। आत्मा परमात्मा का अंश है अतः, आत्मा अजर-अमर है और वह न मरता है और न मारा जाता है। जो इसे मारने वाला और मारा हुआ मानता है वह वस्तुतः कुछ नहीं जानता है (2/19)। नाशवान तो देह है न कि आत्मा (2/18)। आत्मा अजन्मा नित्य शाश्वत और पुरातन है। शरीर के नाश से इसका नाश नहीं होता। आत्मा न कभी जन्मता है और न मरता है। यह भूत, भविष्य और वर्तमान तीनों में विद्यमान है (2/20)। आत्मा को न तो शस्त्र छेद सकते हैं न आग जला सकती है न पानी भिगा सकता है और न वायु इसे सुखा सकता है। आत्मा नित्य, सर्वगत स्थिर अचल और सनातन है (2/23 24)। आत्मा तो नित्य जन्मने तथा मरने वाला है (2 26)। सबकी देह में विद्यमान यह आत्मा नित्य और अवध्य है (2/30) और इस कारण भूतमात्र की जन्म से पहले और मृत्यु के बाद की अवस्थायें अव्यक्त हैं। उनकी केवल वर्तमान अवस्था ही व्यक्त है (2/28) और वह भी कुछ काल के लिए है।

देह (क्षेत्र) में पंच महाभूत (पृथ्वी जल, अग्नि, वायु और आकाश), अहंता (अहंकार अर्थात शरीर के प्रति विद्यमान अहंभाव), बुद्धि, प्रकृति दस इंद्रियां (पांच ज्ञानेंद्रियां नाक, कान आंख, जीभ और त्वचा तथा पांच कर्मेंद्रियां हाथ पैर, मुंह, लिंग और गुदा), एक मन, पांच विषय (ज्ञानेंद्रियों के विषय सूंघना, सुनना, देखना, चखना और छूना), इच्छा, द्वेष, सुख, दुख, संघात (शरीर के तत्वों की परस्पर सहयोग करने की शक्ति) चेतन शक्ति और धृति (शरीर के परमाणुओं का एक दूसरे से सटे रहने का गुण जो अहंभाव के कारण ही सम्भव है और जो अव्यक्त प्रकृति में विद्यमान है) का वास है, जिसके कारण देह विकारयुक्त रहती है (13 5,6)। देह में उत्पन्न होने वाले विकार का कारण सात्विक, राजस और तामस तीन गुण हैं जो प्रकृति में सन्निहित हैं। यह सारा संसार और इसके सारे व्यापार पुरुष और प्रकृति के संयोग से उत्पन्न होते हैं लेकिन उनका ... [illegible] व्यापार प्रकृति के इन तीन गुणों के कारण है। इंद्रियां विषय, मन और बुद्धि उसके निवास स्थान हैं। सारा

संसार और सारे भूतमात्र इन्ही तीन गुणो के व्यापारो की लीला का परिणाम हैं। गीताकार के लिये यह ससार गुणत्रयविभागयोग[1] है। सत्वगुण प्रकाश, आरोग्य, सुख, शान्ति और ज्ञान का कारक है, रजोगुण कर्म, राग, तृष्णा और आसक्ति का, तमोगुण अज्ञान, मोह, असावधानी, आलस्य, निद्रा और प्रमाद का (14/5-10)। काम, क्रोध, मद, लोभ और अहंकार जो मनुष्य के शत्रु हैं राजस तथा तामस गुणो से उत्पन्न होते है (3/37, 40, 41, 43)। मन और इन्द्रिया स्वभावतया राजस और तामस की ओर झुकती हैं। जहा सात्विक है, वहा राजस और तामस नही हैं, जहा राजस है वहा सात्विक और तामस नही है और जहा तामस है, वहा सात्विक और राजस नहीं है (14/10, 11, 12, 13, 14)। व्यक्ति, वर्ग, कर्म, कर्ता, ज्ञान, बुद्धि, धृति, सुख संन्यास, त्याग, धारणा यज्ञ, भक्ति श्रद्धा और दान, संक्षेप मे जितने भी सामाजिक मानसिक (Social Psychological) प्रमेय हैं, वे सभी गुणत्रयविभाग योग से बधे हैं। प्रकृति के ये तीन गुण गीताकार के अनुसार देहधारी की तीन आधारभूत जैविक मानसिक (Bio Psychological) प्रवृत्तिया हैं जिनसे मनुष्य का वैयक्तिक तथा सामाजिक व्यापार विधान बधा हुआ है। इनमे सात्विक सर्वाधिक वाछनीय है और तामस सर्वाधिक अवाछनीय। मोक्ष सात्विकता से मिलता है। अत, सात्विकता मानव जीवन का सर्वोत्तम उद्देश्य है।

गीता के अनुसार, जो सर्वोत्तम अविनाशी है वह ब्रह्म है प्राणिमात्र मे अपनी सत्ता मे जो रहता है वह अध्यात्म है। अधिभूत परमसत्ता का नाशवान स्वरूप है, अधिदैवत अधिभूत मे रहने वाला उसका जीवस्वरूप है और प्राणीमात्र का उत्पन्न करने वाला सृष्टि-व्यापार कर्म है (8/3, 4)। प्राणी का भौतिक आधार देह है जो प्रकृति से मिलता है। प्रकृति का अंग होने के कारण देह मे प्रकृति के गुण व्याप्त रहते हैं और देह के व्यापार का कारण बनते है। प्रकृति से उत्पन्न होने वाले गुण सत्व रजस और तमस अविनाशी देहधारी (जीव) को देह से सम्बन्ध मे बाधते हैं (14/5)। रजोगुण देहधारी को कर्मपाश मे बाधता है (14/7)। गीता मे कर्म के प्रति प्रकृतिवादी दृष्टिकोण अपनाया गया है क्योकि गीताकार के मत मे प्रकृति से उत्पन्न हुए गुण प्रत्येक मनुष्य से कर्म कराते हैं (3/5)। देहधारी के लिये कर्म त्याग सम्भव नही (18/11) क्योकि शरीर का व्यापार कर्म किये बिना नही चल सकता (3/8)। वास्तव मे कोई देहधारी एक क्षण भी कर्म किये बिना नही रह सकता (3/5)। कर्म गुण की स्वाभाविक-व्यावहारिक अभिव्यक्ति है। अत, जहा गुण है वहा कर्म है। कर्म गुण मे वैसे ही व्याप्त है जैसे फूल मे सुगन्ध या सूर्य मे प्रकाश। गुण स्वाभाविक है अत गुणानुसार कर्म भी स्वाभाविक है। गुणानुसार स्वाभाविक कर्म से देहधारी को ईश्वर को भी बधना पड़ता है। स्वय श्री कृष्ण ने कहा है, 'मै भूतमात्र

[1] गीता अध्याय 14

का ईश्वर, अविनाशी और अजन्मा हूँ फिर भी, अपने स्वभाव को लेकर अपनी माया के बल से जन्म ग्रहण करता है (1/6)। मैं अविनाशी हूँ लेकिन, फिर भी, गुणानुसार कर्म के आधार पर मैंने चार वर्ण उत्पन्न किये हैं (4/13)। मैं कर्म में लगा रहता हूँ यद्यपि तीनों लोकों में न तो मुझे कुछ करने को है और न पाने को है (3/22)। लेकिन, हाँ, यदि मैं कर्म न करूँ तो ये तीनों लोक भ्रष्ट हो जायें और मैं अव्यवस्था का कर्त्ता तथा इन लोकों का नाश करने वाला बनूँ (3/24)'।

गुणानुसार कर्म ही व्यवस्था का आधार है। सारे ब्रह्माण्ड की व्यवस्था गुणानुसार कर्म पर ही आधारित है। मानव जीवन व्यापार और व्यवस्था भी मानव के गुणानुसार कर्म पर आधारित है। केवल कर्म न करने से मनुष्य निष्कर्मक नहीं बन सकता और न कर्म के केवल बाहरी त्याग से वह मोक्ष ही पा सकता है (3/4)। जीवन के लिये कर्म इतना आवश्यक और स्वाभाविक है कि उसका सम्पूर्ण त्याग हो ही नहीं सकता। कर्म का त्याग हर दशा में केवल बाहरी ही रहेगा। जो मनुष्य कर्म करने वाली इन्द्रियों को रोकता है परन्तु उनके विषयों का चिन्तन मन से करता है, वह महात्मा मिथ्याचारी है (3 6)। मानव जीवन की शारीरिक, मानसिक तथा वाचिक प्रवृत्तियों से उत्पन्न स्वाभाविक आवश्यकताओं की पूर्ति कर्म से ही होती है। कर्म जैविक तथा मानसिक और वैयक्तिक तथा सामाजिक प्रवृत्तियों की अभिव्यक्ति का माध्यम है। इसीकारण, गीताकार ने इन्द्रिय, क्रिया और कर्त्ता को कर्म के तीन अंग माने हैं और ज्ञान, ज्ञेय तथा परिज्ञाता को कर्म की प्रेरणा में विद्यमान तीन तत्व (18/18) क्योंकि पहले कर्तव्य कर्म (ज्ञेय) और उसकी विधि (ज्ञान) को जानकर व्यक्ति परिज्ञाता बनता है और फिर इस प्रकार प्राप्त की हुई प्रेरणा के बाद वह इन्द्रियों द्वारा क्रिया का कर्त्ता बनता है। कर्म में परिज्ञाता और कर्त्ता एक में मिल जाते हैं। कर्म के ज्ञान अंगों और ज्ञान ज्ञेय तथा परिज्ञाता की प्रक्रिया से ही कर्म-संग्रह बनता है। क्षेत्र, कर्त्ता साधन क्रिया और दैव सभी प्रकार के कर्मों के कारण हैं (18/14, 15)।

जैसा कि महाभारत में माना गया है गीता में कर्म का कारण केवल दैव ही नहीं है। दैव का वहीं तक हाथ है जहाँ तक स्वाभाविक गुण और उनके प्रभाव का सम्बन्ध है और उसका आधार क्षेत्र है। कर्त्ता, साधन और क्रियायें दैव तथा क्षेत्र में सम्बन्धित होने पर भी उनके आधीन नहीं हैं। महाभारत के धर्मव्याध के लिये दैव इतना प्रबल है कि दैवानुसार कर्म करने के अलावा कर्त्ता के लिये कोई और चारा ही नहीं है। लेकिन, गीताकार के लिये ऐसा नहीं है क्योंकि साधन और क्रिया के द्वारा कर्त्ता क्षेत्र और दैव के प्रभाव से ऊपर उठ सकता है। महाभारतकार ने इस बात पर जोर दिया है कि जिसने जैसा बोया था, वह वैसा काट रहा है जब कि गीताकार ने इस बात पर जोर दिया है कि जो जैसा बो रहा है, वैसा काटेगा। यही नहीं गीताकार ने यह भी बताने का प्रयास किया है कि ज्ञान के क्या-क्या प्रकार हैं

और किस प्रकार उनके द्वारा मोक्ष मिल सकता है। गीता के अट्ठारह अध्यायों में अठारह प्रकार के योगों की निष्काम कर्मसिद्धान्त के आधार पर की गई व्याख्या इसका प्रमाण है। गीता की विचारधारा दैववादी नहीं है क्योंकि, गीता के अनुसार जगत का प्रभु न कर्त्तापन को रचता है और न कर्म को और न वह कर्म और फल को मेल साधता है। प्रकृति ही सब करती है। ईश्वर किसी के पाप या पुण्य को नहीं ओढ़ता। अज्ञान के द्वारा ज्ञान के ढक जाने पर लोग मोह (रागात्मक बन्धन) में पड़ते हैं। (अतः) ज्ञान द्वारा जिनके पाप धुल गए हैं, वे ईश्वर का ध्यान करने वाले, तन्मय हुए उसमें स्थिर रहने वाले, उसी को सर्वस्व मानने वाले लोग मोक्ष पाते हैं (5/14, 15, 17)।'

कर्म स्वाभाविक है। अतः कर्म बन्धन नहीं है। बन्धन है कर्मफल के प्रति आसक्ति, मोह और लगाव। कर्म मनुष्य का स्वाभाविक अधिकार है—वह अधिकार जो जन्मजात है। लेकिन कर्मफल मनुष्य के अधिकार में नहीं है। गीता के अनुसार, मनुष्य के लिये निष्क्रियता असम्भव है और कर्मफल उसके अधिकार के बाहर (2/47)। कर्मफल के प्रति आसक्ति ही मानव को आवागमन के बन्धन में बांधती है। कर्मफल के प्रति आसक्ति काम, क्रोध और अहंकार में उत्पन्न होती है। काम, क्रोध और अहंकार राजस तथा तामस गुणों की प्रधानता से उत्पन्न होते हैं। जब इन्द्रियां, मन और बुद्धि राजस और तामस गुणों के प्रभाव में होती हैं तो, काम, क्रोध, मद, लोभ और अहंकार का प्रभाव बढ़ता है जिससे ज्ञान ढक जाता है और देहधारी बंधुआ हो जाता है (3/40)। रजोगुण लोभ का कारण है और कर्म की ओर प्रवृत्त करने का भी (14/17)। काम, क्रोध और लोभ आसुरी सम्पत्ति हैं और इनके प्रभाव में किया हुआ कर्म बन्धन में बांधता है क्योंकि इनसे कर्म के फल के प्रति आसक्ति बढ़ती है, जिससे देहधारी को इस संसार में बार बार जन्म लेना पड़ता है (16/10)। गीता में प्रतिपादित सिद्धान्त के अनुसार मानव जीवन में न तो कर्मफल के प्रति आसक्ति का स्थान है और न कर्मों के प्रति मोह या कर्त्तापन के मान का। जब सब कर्म प्रकृति के गुणों द्वारा किये हुए होते हैं और सारा कर्म-व्यापार प्रकृति के गुणों की लीला का व्यापार है तो मैं कर्त्ता हूं यह वह मनुष्य मानता है जो अहंकार से मूढ़ हो गया है (3/27)। अपने अपने विषयों के प्रति इन्द्रियों को रागद्वेष रहता ही है। मनुष्य को उनके वश में नहीं होना चाहिये क्योंकि वे मनुष्य के मार्ग में बाधक हैं (3/34)। इसीकारण, गुण-कर्म के विभाग का रहस्य जानने वाला पुरुष उनमें आसक्त नहीं होता क्योंकि वह जानता है कि सारा कर्म व्यापार तभी उत्पन्न होता है जब गुण गुण में बर्तते हैं (3/28)। प्रकृति के गुणों में मोह हुए मनुष्य गुणों के कर्मों में आसक्त रहते हैं। वे अज्ञानी और मन्दबुद्धि हैं (3/29)। वेदवादी, कामना वाले कर्मकाण्ड का करने वाले स्वर्ग को श्रेष्ठ मानने वाले जन्म मरण रूपी कर्मफल में विश्वास करने वाले तथा भोग और ऐश्वर्य के लिए ही कर्म करने वाले अज्ञानी

है क्योंकि भोग और ऐश्वर्य में लिप्त रहनेवालों की बुद्धि मारी जाती है (2.42-43)। विषयों के चिन्तन में आसक्ति, आसक्ति से कामना, कामना से क्रोध, क्रोध से मूढ़ता, मूढ़ता से स्मृतिभ्रान्ति और स्मृतिभ्रान्ति से ज्ञान-नाश की उत्पत्ति होती है। ज्ञाननाश की अवस्था मृतक की अवस्था है (2.62-63) और जहां ज्ञान का नाश होता है, वहीं अज्ञान का तम छा जाता है जिसमें मनुष्य में कर्मफल के प्रति आसक्ति आती है और वह सांसारिक बन्धन में बंधता है।

जीवन में कर्म आवश्यक है न कि कर्मफल की कामना और उसके प्रति स्पृहा तथा लगाव। जीवन का अन्ततोगत्वा उद्देश्य कामना नहीं वरन मोक्ष है। मोक्ष बन्धन नहीं स्वतन्त्रता है, परमगति है, निर्वाण है। मोक्ष वह अवस्था है जहां सांसारिक बन्धन नहीं हैं और सांसारिक बन्धन वहां नहीं हैं जहां न तो प्रकृति का बन्धन है और न प्रकृति से उत्पन्न होने वाले गुणों के व्यापार का। मोक्ष अव्यक्त और निस्पृह की अवस्था है क्योंकि मोक्ष परम पुरुष के साथ आत्मा के सम्मिलन की अवस्था है और परमपुरुष अव्यक्त तथा निस्पृह है। अपने स्वभाव के अनुसार कर्मरत होते हुए भी परम पुरुष निस्पृह है। उसके कर्म न तो उसे स्पर्श करते हैं और न उनकी उसे लालसा ही है (4.14)। मोक्ष गुणातीत की अवस्था है और मनुष्य गुणातीत तब होता है जब ज्ञान द्वारा उसे यह अनुभव हो जाता है कि गुणों के सिवा और कोई कर्ता नहीं है।

इहलौकिक जीवन में जो इस गुण-व्यापार के भेद को जानता है, वही गुणातीत[1] है। देहधारी तभी मोक्ष पाता है जब वह देह के संग में उत्पन्न होने वाले तीनों गुणों को पार कर जाता है (14.20)। जहां कर्मफल की इच्छा नहीं है अर्थात् गुणातीतता है, वहीं आत्मपरायणता में ब्रह्मपरायणता[2] का अभ्युदय होता है और

---

1 गुणातीत वह है जो प्रकाश, प्रवृत्ति और मोह प्राप्त होने पर दुःख नहीं मानता, इनके प्राप्त न होने पर इनकी इच्छा नहीं करता, उदासीन की भांति जो स्थिर है, जिसे गुण विचलित नहीं करते, जो यह समझकर स्थिर रहता है कि गुण ही अपना काम कर रहे हैं, जो कभी विचलित नहीं होता, जो सुख दुःख में सम और स्वस्थ रहता है, मिट्टी के ढेले, पत्थर और सोने को समान समझता है, प्रिय अप्रिय वस्तु प्राप्त होने पर समान रहता है, जिसके लिए निन्दा और स्तुति, मान और अपमान तथा शत्रु और मित्र समान हैं और जिसने समस्त आरम्भों (संकल्पों) का त्याग कर दिया है (14.22-25)।

2 जो तीन गुण वेद के विषय हैं, उनसे अलिप्त रहना, सुख दुःख के द्वन्द्वों से मुक्त होना, नित्य सत्य वस्तु में स्थित रहना और किसी वस्तु को पाने और सम्भालने के झंझट से मुक्त रहना, आत्मपरायणता है। आत्मा के द्वारा

यही अभ्युदय मोक्ष का साधन बनता है। यह अभ्युदय न तो संसार त्याग से मिलता है और न सकाम कर्म से। इसकी प्राप्ति होती है निष्काम कर्म से—उस कर्म से जो नियत समय पर किया जाता है लेकिन जिसके फल के प्रति आसक्ति नहीं है। यही कर्म सात्विक है क्योंकि यही कर्म दिव्यकर्म का आधार है। इसमें कोई सन्देह नहीं कि कर्म की गति गूढ़ है। कर्म और अकर्म के विषय में समझदारों को मोह भी हुआ है और होता है। कर्म अकर्म और निषिद्ध कर्म का भेद भी जानना आवश्यक है। लेकिन कर्म की गूढ़ गति के भेद को वही जानता है जो कर्म में अकर्म और अकर्म में कर्म देखता है (4/16 17 18) क्योंकि दिव्य जन्म और कर्म का रहस्य यही है। किन्तु यह नानानुभूति वही है जहां निस्पृह और समत्व (समभाव) है। कर्म की सिद्धि चाहने वाले इस लोक में देवताओं को पूजते हैं इससे उन्हें कर्मजनित फल मनुष्य शरीर में तुरन्त मिल जाता है (4/12)। लेकिन इससे न तो कर्म बन्धन से मुक्ति मिलती है और न मोक्ष मिलता है। इसीलिए गीता में भगवान कृष्ण ने कहा है कर्म-बन्धन में वे नहीं पड़ते जो मुझे अच्छी तरह जानते हैं (4/14) जो मेरे दिव्य जन्म और कर्म का रहस्य जानता है वह शरीर त्याग करके पुनर्जन्म नहीं बल्कि मुझे पाता है (4 9)।

मनुष्य के लिए कर्म स्वाभाविक आवश्यक वांछनीय और नियत है न कि कर्मफल और उसके प्रति लालसा। कर्म फलासक्ति अज्ञानता मूढ़ता दासता और बन्धन है। परम पुरुष जिसमें मनुष्य की परमगति स्थित है कर्म में रत है न कि कर्मफल में। मानव स्तर पर गुणानुसार कर्म की दो श्रेणियां हो जाती हैं—एक, सकाम कर्म की और दूसरी निष्काम कर्म की। सकाम कर्म जिसमें कर्मफल के प्रति आसक्ति रहती है राजस और तामस से उत्पन्न होता है। कर्मफलासक्ति में मानव में दम्भ, अहंकार मद मोह काम और कामना का वास है। कर्मफलासक्ति से अज्ञानता आती है जो अभ्युदय का नहीं अधोगति का कारण बनती है। इसके विपरीत निष्काम कर्म सात्विकता का जनक है। वह सत्त्व से उत्पन्न होकर सात्विकता और सात्विक वृत्ति को जन्म देता है। सात्विकता ही अभ्युदय और मोक्ष का साधन है। सात्विक कर्म ही कर्म-बन्धन से मुक्त कर सकते हैं और सात्विक कर्म वह है जिसमें निष्कामता है। निष्कामता वहां है जहां कर्म के प्रति अहंकार का भाव नहीं है जहां कर्म को प्रकृति के गुणों का व्यापार समझा जाता है जहां गुणातीतता है जहां समत्व है और जहां सारे आरम्भ कामना और संकल्प व्यक्ति में ही सम हो गये हैं। निष्कामता की अवस्था कर्मातीत की भी अवस्था है क्योंकि जिसे किसी आश्रय की अपेक्षा नहीं है वह काम में अच्छी तरह लगा हुआ भी कुछ नहीं करता है

आत्मा को जानना ब्रह्मपरायणता है। जिस प्रकार सरोवर से ये सारे काम निकलते हैं जो कुए से निकलते हैं वैसे ही आत्मवान ब्रह्मपरायण को, जो वेदों से है वह आत्मानुभव मिलता रहता है (1 10)।

(4/20)। जो आशा रहित है, जिसका मन अपने वश में है, जिसने सारा संग्रह छोड़ दिया है और जिसका शरीर भर ही कर्म करता है, वह कर्म करते हुए भी कर्म का दोषी नहीं होता (4/12)। जो यथा लाभ में सन्तुष्ट रहता है, जो सुख-दुःखादि द्वन्द्व से मुक्त हो गया है, जो सफलता तथा विफलता में तटस्थ है, वह कर्म करते हुए भी कर्म-बन्धन में नहीं पड़ता (4/22)।

पूर्ण कर्मसंन्यास असम्भव है क्योंकि देहधारी में कर्म प्रतिष्ठित है। संन्यास और वैराग्य से न तो कोई कर्म ही त्याग सकता है और न संसार को क्योंकि कर्म के आधार, शरीरी व्यापार से मुक्ति मृत्यु के ही बाद मिल सकती है। इसीलिये, गीताकार के अनुसार, अक्रिय और अग्नि का त्याग करने वाला संन्यासी नहीं है। संन्यासी वह है जो कर्मफल का आश्रय लिये बिना कर्म करता है (6/1)। इस दृष्टिकोण से कर्म-संन्यास अवास्तविक है, अतः उसका मात्र विचार अज्ञान है। गीताकार ने त्याग को संन्यास का आधार माना है। कामना से उत्पन्न हुए कर्मों का त्याग संन्यास है और समस्त कर्मों के फल का त्याग त्याग है (18/2)। कर्मफल का त्याग ही सात्त्विक त्याग है। कितने ही विचारशील पुरुष कहते हैं कि दोषमय होने के कारण कर्ममात्र त्यागने योग्य हैं और यज्ञ, दान तथा तपरूपी कर्म त्यागने योग्य नहीं हैं (18/3)। गीताकार की कर्म सम्बन्धी मान्यता इस द्विविधा से परे है। गीताकार के लिये कोई भी कर्म दोष से उसी प्रकार मुक्त नहीं है जैसे कोई भी अग्नि धुएँ से मुक्त नहीं है। जहाँ कर्मफल का त्याग किया जाता है वहीं कर्ता कर्मफल के दोष से मुक्त हो जाता है। अतः यज्ञ, दान और तपरूपी कर्म तभी दोषरहित होते हैं जब उन्हें आसक्ति और फलेच्छा का त्याग करके किया जाय (18/3, 5, 6)। गीताकार के लिये फलेच्छारहित यज्ञ, दान और तप सात्त्विक होने के कारण वांछनीय हैं। जिस यज्ञ, दान और तप में फलेच्छा के प्रति आसक्ति है वह सकाम होने के कारण अकरणीय है (17/11-22)। नियत कर्म का त्याग उचित नहीं है, त्याज्य है नियत कर्मसंग और कर्मफल के प्रति आसक्ति (18/7-9)। मनुष्य के लिये कर्मफल का त्याग ही सम्भव है और जो उसे त्यागता है वही त्यागी कहलाता है (18/11)। कर्मफल त्यागी को कर्मफल का प्रभाव नहीं लगता (18/12)। इसलिये, जो आसक्ति और अहंकार रहित है, जिसमें दृढ़ता और उत्साह है, जो सफलता-विफलता में हर्ष-शोक नहीं करता, वह कर्ता सात्त्विक है (18/26) और जो सात्त्विक कर्ता है, वह संशय रहित, शुद्ध सत्त्वगुण वाला त्यागी और बुद्धिमान होने के कारण अकुशल कर्म का द्वेष नहीं करता और कुशल कर्म में लीन नहीं होता (18/10)।

जिस संन्यास का [illegible] है वह, गीताकार के अनुसार, कर्मयोग [illegible] है और कर्मफल-त्याग की साधना योग के बिना सम्भव [illegible]। कर्मयोग के बिना कर्मत्याग कष्ट-साध्य है (5/6)। इसलिये भगवान कृष्ण ने अर्जुन से कहा है [illegible] पाण्डव! जिसे संन्यास कहते हैं उसे तू योग जान। बिना संकल्प का संन्यास किये कोई योगी नहीं [illegible]

कभी योगी नहीं हो सकता (6/2)। योग की साधना के लिये कर्म की साधना आवश्यक है। शान्ति उसे ही मिलती है जो कर्मयोग द्वारा योग साधता है (6/3)। कर्मयोग का अर्थ है कर्मफलासक्ति का त्याग करके कर्म की साधना करना। जब मनुष्य इन्द्रियों के विषयों में या कर्म में आसक्त नहीं होता है और सब संकल्प तज देता है तब वह योगारूढ़ कहलाता है (6/4)। योगी वह है जो आत्मा से आत्मा का उद्धार करे और आत्मा से आत्मा का उद्धार वही होता है जहाँ मन इन्द्रियों के वश में न रहकर बुद्धि और आत्मा के वश में रहता है। जिसने अपना मन जीता है, जो सम्पूर्ण रूप से शान्त हो गया है, जिसकी आत्मा सर्दी गरमी, सुख-दुख और मान अपमान में समान रहती है, जो ज्ञान और अनुभव से तृप्त है, जो इन्द्रियजित और अविचल है जिसके लिये मिट्टी पत्थर और सोना समान है, ऐसा ईश्वरपरायण मनुष्य योगी कहलाता है (6 8 9)। योगी वह है जो शरीर से, मन से, बुद्धि से या केवल इन्द्रियों से भी आसक्तिरहित होकर आत्मशुद्धि के लिये कर्म करता है (5/11)। जिसने योग साधा है जिसने अपने हृदय को विशुद्ध किया है, जिसने मन और इन्द्रियों को जीता है और जो भूतमात्र को अपने ही जैसा समझता है ऐसा मनुष्य कर्म करते हुए भी उससे अलिप्त रहता है (5/7)।

जीवन एक निरन्तर योग आत्मा के अनुसन्धान और ब्रह्मप्राप्तिरूप सुख के अनुभव की ओर प्रयास है (6/24)। इसीलिये लगन से प्रयत्न करता हुआ योगी, पाप से छूटकर अनेक जन्मों से विशुद्ध होता हुआ परमगति को प्राप्त होता है (6/45)। योग का जिज्ञासु तक सकाम वैदिक कर्म करने वाले की स्थिति पार कर जाता है (6/44)। ध्यान में मग्न होने के कारण, जो योगभ्रष्ट हो जाते हैं उनका नाश न तो इस लोक में होता है और न परलोक में क्योंकि कल्याण मार्ग में जाने वाले की कभी दुर्गति नहीं होती है (6 40)। पुण्यशाली लोगों को मिलने वाले स्थानों को पाकर और वहाँ बहुत समय तक रहकर योगभ्रष्ट मनुष्य पवित्र और साधन वाले के घर में जन्म लेता है या ज्ञानवान योगी के घर में जन्म लेता है जहाँ उसे पूर्वजन्म के बुद्धि और संस्कार मिलते हैं और जहाँ से वह मोक्ष के लिये पुनः आगे बढ़ता है क्योंकि पूर्वाभ्यास उसे योग की ओर खींचता है (6 41 44)। अतः, योगी तपस्वी, ज्ञानी और कर्मी से भी श्रेष्ठ है (6 46)।

समता का ही नाम योग है (2 48)। गीता में समता के लिये 'समभाव' और 'समत्व' का प्रयोग किया है। समता निष्कामता की साधना से आती है। समाजमनोवैज्ञानिक दृष्टि से ... कहा जा सकता है कि समता समभाव या ... (Attitude) है ... कर्म व्यापार

मन और इन्द्रियों के विषयों से हटकर समत्व और समाधि में स्थिर हो जाती है जिसके कारण व्यक्ति में फलेच्छा की कामना लय हो जाती है। गीताकार के अनुसार, बुद्धि का स्थान मोह नहीं समाधि और समत्व है (2/52-53)। समाधि और समत्व में स्थिर हुई बुद्धि को समत्वबुद्धि कहा गया है। समत्वबुद्धि की तुलना में केवल कर्म बहुत तुच्छ है (2/49) क्योंकि जहां केवल कर्म करने वाला व्यक्ति कर्म-बन्धन में फंसता है और दया का पात्र है, वहां समत्व बुद्धिवाले पुरुष को पाप पुण्य का स्पर्श नहीं होता और वह, कर्म से उत्पन्न होने वाले फल का त्याग करके, जन्म-बन्धन से मुक्त हो जाता है (2/50-51)। समत्व बुद्धि स्थितप्रज्ञता[1] से आती है और स्थितप्रज्ञता स्थिरबुद्धि[2] से। प्रसन्नता वही है जहां मन बुद्धि के वश में है और इन्द्रियों का व्यापार रागद्वेषरहित होकर चलता है (2/64)। स्थिरबुद्धि से प्रसन्नता और चित्त की प्रसन्नता से स्थिरबुद्धि आती है (2/65)। प्रसन्नता और स्थिरबुद्धि से शान्ति आती है और शान्ति से सुख। इस प्रकार, शान्ति और सुख की उत्पत्ति समत्व से होती है न कि कर्मफल की इच्छा और कामना से[3]। समत्व ही वह स्थिति है जहां मनुष्य आत्मपरायण होता हुआ ब्रह्मपरायण होता है। यहां मोह नहीं रहता और ईश्वर की पहचान होती है और यदि मृत्युकाल में भी ऐसी स्थिति टिके तो ब्रह्मनिर्माण की प्राप्ति होती है (2/72)।

स्थितप्रज्ञता, स्थिरबुद्धि और समत्व के लिये संयम आवश्यक है। जहां सब प्राणी सोते हैं, वहां संयमी जागता है और जहां सब लोग जागते रहते हैं वहां ज्ञानवान् मुनि सोता रहता है (2/69)। जो इन्द्रियों को मन के द्वारा नियम में रखते हुए मग

---

1 स्थितप्रज्ञता प्रज्ञा की वह अवस्था है जहां समस्त कामनाओं का लोप हो जाता है और आत्मा द्वारा ही आत्मा में सन्तुष्टि उत्पन्न होती है (2/55)।

2 वही बुद्धि स्थिर है जिसमें सुख दुःख से विकार न उत्पन्न हो, जो राग भय और क्रोधरहित हो जिसमें शुभ-अशुभ की प्राप्ति से हर्ष और शोक न हो, जिसके प्रभाव से इन्द्रियां अपने विषयों में से वैसे ही सिमट जाती हैं, जैसे कछुवे के सब अंग बाह्य संसार से सिमट कर अलग हो जाते हैं। स्थिर बुद्धि इन्द्रियों के वश में न रहकर, इन्द्रियों को अपने वश में रखती है और स्वयं अन्तर ब्रह्म में लीन रहती है (2/56-57, 58-61)।

3 जहां समत्व नहीं वहां न तो विवेक है और न भक्ति, जहां भक्ति नहीं है, वहां शान्ति नहीं है और जहां शान्ति नहीं है, वहां सुख नहीं है (2/66)। सब कामनाओं का त्याग करके जो पुरुष इच्छा, ममता और अहंकार रहित होकर विचरता है, वही शान्ति पाता है (2/70)। जिस मनुष्य में संसार के भोग शान्त हो जाते हैं वही शान्ति प्राप्त करता है न कि कामना वाला मनुष्य (2/70)।

रहित होकर कर्मेंद्रियों द्वारा कर्मयोग का आरम्भ करता है, वह श्रेष्ठ पुरुष है (3/7)। समत्व न तो अतिभोजी को प्राप्त होता है और न उपवासी को और न अति स्वप्नशील को और न अति जागने वाले को। जो मनुष्य आहार विहार, सोने जागने और दूसरे कर्मों में परिमित रहता है, उसका योग दुःखभंजन हो जाता है (6/16 17)। भलीभांति नियमबद्ध मन जब आत्मा में स्थिर होता है और मनुष्य सारी कामनाओं से निस्पृह हो जाता है तब वह योगी कहलाता है (6/18) और आत्मा को परमात्मा से साथ जोड़ने का प्रयत्न करने वाले स्थिरचित्त योगी की स्थिति वायुरहित स्थान में अचल रहने वाले दीपक की सी कही गई है (6/19)। जिनका मन समत्व में स्थिर हो गया है उन्होंने इस देह में रहते ही संसार को जीत लिया है। ब्रह्म निष्कलंक और समभावी है। इसीलिये जिसने समत्व पा लिया है, वह ब्रह्म में ही स्थिर होता है (5/19)। देहान्त से पहले, जिसने इस देह से ही काम और क्रोध के वेग को सहन करने की शक्ति प्राप्ति कर ली है, उस मनुष्य ने समत्व पाया है, वही सुखी है (5/2?)।

समत्व इस प्रकार, न तो निष्क्रियता है और न शून्यता। समत्व न तो वैराग्य है, न संन्यास और न कोरी निवृत्ति। समत्व कोरा योग भी नहीं है और न वह कोरी विरक्ति है। समत्व उदासीनता भी नहीं है। समत्व, निष्काम, कर्मठ तथा सक्रिय जीवन का आध्यात्मिक बौद्धिक आधार है क्योंकि समत्व वह निष्काम मनोवृत्ति है जो स्थिरबुद्धि से उत्पन्न होती है। निष्कामता कर्म में नहीं, मन और बुद्धि में होती है। निष्कामता तब उत्पन्न होती है जब मन और बुद्धि को संयम के द्वारा इस प्रकार दीप्ति किया जाय कि कर्मफल की कामना के प्रति आसक्ति ही न रह जाय। योग केवल समाधि अभ्यास और ध्यान नहीं है। निष्कामता में कर्म का योग ही योग है। इसीलिये गीता का कर्म सिद्धान्त निष्काम कर्मयोग का सिद्धान्त है, जो कर्मसंन्यास से बढ़कर है। ईश्वर, ब्रह्म और आत्मा निष्काम हैं। समत्व उनका गुण है। इसलिये निष्कामता तथा समत्व का उद्भव कर्म से न होकर ज्ञान से होता है—वह ज्ञान जिसमें सुख दुःख लाभ हानि जय पराजय कर्म अकर्म समान हैं और कर्मफलेच्छा का लोप हो गया है (2/11)। जैसे अज्ञानी लोग आसक्त होकर कर्म करते हैं वैसे ज्ञानी को आसक्ति रहित होकर कर्म करना चाहिये (3/25)। केवल अज्ञानी ही भले-बुरे फल का आरोप ईश्वर पर करता है। परन्तु जिनके अज्ञान का आत्मज्ञान द्वारा नाश हो गया है उनका सूर्य के समान प्रकाशमय उनका ज्ञान परम तत्त्व का दर्शन कराता है (5/16)। ज्ञान द्वारा जिनके पाप धुल गए हैं, वे ईश्वर का ध्यान करने वाले तन्मय हुए, उसमें स्थिर रहने वाले उसी का सर्वस्व मानने वाले लोग मोक्ष पाते हैं (5 1?)।

निष्कामकर्मयोग समत्व पर आधारित है और समत्व ज्ञान पर। इसलिए, निष्कामकर्मयोग वस्तुतः ज्ञानकर्मसंन्यासयोग है। समत्वमय निष्कामकर्म ज्ञान

यज्ञ है जो द्रव्य यज्ञ से कहीं बढ़कर है क्योंकि कर्ममात्र ज्ञान में ही पराकाष्ठा को पहुँचते हैं (4/33)। बड़े से बड़ा पापी भी ज्ञानरूपी नौका के द्वारा सब पापों को पार कर जाता है (4 36)। जैसे प्रज्वलित अग्नि ईंधन को भस्म कर देती है वैसे ही ज्ञानरूपी अग्नि सब कर्मों को भस्म कर देती है (4/37)। ज्ञान के समान इस संसार में दूसरा कुछ पवित्र नहीं है और समत्व में पूर्णता प्राप्त मनुष्य समय आने पर अपने आप में उसको पाता है। श्रद्धावान, ईश्वरपरायण और जितेन्द्रिय पुरुष ज्ञान पाता है और ज्ञान पाकर तुरन्त शान्ति को प्राप्त होता है। श्रद्धारहित संशयवान अज्ञानी के लिये न यह लोक है और न परलोक। जिसने समत्वरूपी योग द्वारा कर्मफल का त्याग किया है और ज्ञान द्वारा संशय का छेदन कर डाला है, ऐसे आत्मदर्शी को कर्मबन्धन नहीं होता (4 39–41)। इस लोक की दो अवस्थायें हैं—एक ज्ञानयोग की और दूसरी कर्मयोग की (3/3)। ज्ञान और कर्म न तो परस्पर विरोधी हैं और न भिन्न। ज्ञान की परिणति कर्म में है और कर्म की ज्ञान में। दोनों अन्योन्याश्रित हैं। ज्ञान और कर्म को भिन्न पंडित नहीं अज्ञानी मानते हैं। एक में अच्छी तरह स्थिर रहने वाला भी दोनों का फल पाता है। ज्ञानी और योगी को एक ही गति मिलती है। तत्त्वदर्शी दोनों को समान पाता है (5 4 5)।

अमानित्व, अदम्भित्व, अहिंसा, क्षमा, सरलता, आचार्य की सेवा, शुद्धता, स्थिरता, आत्मसंयम, इन्द्रियों के विषयों में वैराग्य, अहंकाररहितता, जन्म, मरण, जरा, व्याधि, दुःख और दोषों का निरन्तर भान, पुत्र, स्त्री और गृह आदि में मोह तथा ममता का अभाव, प्रिय और अप्रिय में नित्य समभाव, ईश्वर में अनन्य ध्यानपूर्वक एकनिष्ठ भक्ति, एकान्त स्थान का सेवन, जनसमूह में सम्मिलित होने की अरुचि, आध्यात्मिक ज्ञान की नित्यता का भान और आत्मदर्शन—यह सब ज्ञान कहलाता है। इसके जो विपरीत है वह अज्ञान है (13 7–11)। लेकिन ये सब ज्ञान के लक्षण हैं। ज्ञान ज्ञेय का साधन है। ज्ञेय वह है जिससे मोक्ष मिलता है और वह अनादि परब्रह्म है जो न सत् है और न असत्, जो गुणातीत, अव्यक्त तथा अचिन्त्य है और ज्ञानमय भी है और अविनाशी भी, जो गतिमान है और स्थिर भी, जो भूतों में अविभक्त है और विभक्त भी, जो प्राणियों का पालन करता भी है और नाशक भी। ज्ञान वही है, ज्ञेय वही है और ज्ञान से जो प्राप्त होता है वह भी वही है (13/12–17)। इसीलिये यह कहा गया है कि क्षेत्र (शरीर) और क्षेत्रज्ञ (क्षेत्र को जानने वाला अर्थात् ईश्वर) के भेद का ज्ञान ही ज्ञान है (13/2)। ज्ञान वह ज्ञान है जिससे समत्व से सारे भूतों में आत्मा की पहचान होती है अर्थात् जहाँ भूतमात्र में एक ही आत्मा का अनुभव होता है—यह आत्मा जो परमात्मा, परब्रह्म और ईश्वर का दूसरा अंग है। इसीलिये ज्ञान का जो स्थान (आत्मा से आत्मा के ज्ञान) आत्मदर्शन और स्थितप्रज्ञ की परिभाषाओं में दी गई है वही इस दृष्टि से ज्ञान का यह सर्वोच्च माना गया है जहाँ निर्लिप्तता, शान्ति, निष्काम, स्थिर-

बुद्धि और स्थिरप्रज्ञता के कारण आत्मपरायणता के द्वारा ब्रह्मपरायणता आती है। यहां अहंकार का भाव नहीं है और न कर्तापन का भाव है। इसी ज्ञान पर आधारित कर्म निष्काम कर्म है। यही ज्ञान सात्विक और वांछनीय है क्योंकि ज्ञान की इसी अवस्था में मनुष्य ज्ञान के द्वारा समस्त भूतों में अविनाशी भाव को और विविधता में एकता देखता है (18/20)। जो ज्ञानचक्षु द्वारा क्षेत्र तथा क्षेत्रज्ञ का भेद और प्रकृति के द्वारा प्राणियों की कर्म मुक्ति होती है, यह जानता है, वही ब्रह्म को पाता है (13 34)।

ज्ञानवान आत्मा और ब्रह्म में स्थिर होता है। इसीकारण, ज्ञानवान ही समत्व और निष्कामता पाता है। गीताकार के अनुसार ज्ञान की मनोदशा शून्य नहीं है क्योंकि ज्ञानी ब्रह्म में स्थित रहता हुआ भी संसार में स्थित रहता है—वैसे ही, जैसे कमल पानी में स्थित रहता है। ज्ञान वह मनोदशा है जिसमें कर्म का आधार इन्द्रियों के विषयों में परायणता नहीं वरन आत्मा में परायणता के द्वारा ब्रह्मपरायणता का भाव है। यह संसार ब्रह्म की विभूतियों की लीला है। इनमें व्याप्त होते हुए भी वह अव्याप्त है, समस्त होते हुए भी वह अकर्मा है, स्वाभावानुसार अपने गुणों के वर्तते हुए भी वह गुणातीत है। जहां ज्ञान में ब्रह्मपरायणता है वहां मनुष्य कर्म करते हुए भी कर्मों में लिप्त नहीं है। परायणता में निर्भरता और लगाव का भाव है। परायणता में आश्रय वृत्ति का भी भाव विद्यमान है। ब्रह्मपरायणता का अर्थ है ब्रह्म के प्रति निर्भरता लगाव तादात्म्य और समर्पण का भाव। ब्रह्मपरायणता सात्विक है क्योंकि यह इन्द्रियों के विषयों के प्रति परायणता नहीं है। जहां ब्रह्मपरायणता है वहां प्रपत्ति, आश्रय, श्रद्धा और भक्ति की भावना है। गीताकार के लिये जिस प्रकार कर्म और ज्ञान में द्विविधा नहीं है उसी प्रकार ज्ञान, भक्ति तथा श्रद्धा में अन्तर नहीं है। ब्रह्मपरायणता, समभाव निष्कामकर्म ज्ञान और भक्ति तथा श्रद्धा में उत्पन्न होती है। प्रपत्ति (श्रद्धा भक्ति), निष्कामकर्म और समत्व ज्ञान का स्वाभाविक प्रतिफल है। ज्ञानी स्वभावतया भक्त हो जाता है और भक्त ज्ञानी क्योंकि दोनों का आधार ब्रह्मपरायणता है। इसीलिये निष्कामकर्मयोगी ज्ञानी भक्त है और भक्ति योग है तथा भक्त योगी है। भगवान कृष्ण के अनुसार 'नित्य ध्यान करते हुए मुझ में मन लगाकर जो श्रद्धापूर्वक मेरी उपासना करता है उसे मैं श्रेष्ठ योगी मानता हूं'। इसलिये, अर्जुन के प्रति भगवान कृष्ण का आदेश है सब धर्मों का त्याग कर मेरी शरण में आ।

[illegible] के प्रति श्रद्धा और समर्पणता का भाव [illegible] का आधार है क्योंकि भक्ति सभी योग है जब इसमें समता है और समत्व योग तो ज्ञान से आ सकता है या श्रद्धा [illegible]। ज्ञानयोग सबके लिये सुलभ नहीं है क्योंकि जिनका [illegible] [illegible] में लगा हुआ है उन्हें कष्ट अधिक है। [illegible]
[illegible] (12/)। इसलिये, यह आवश्यक है कि कर्म में आसक्ति अज्ञानी

मनुष्यों की बुद्धि का नानी डावाडाल न कर, परन्तु ्मवपूवक अच्छ प्रकार म कम करत, उन्हें सब कर्मों म लगाव (3 26)। इसका यह अथ है कि ज्ञान नानकममयामयाग का पराकाष्ठा की प्राप्ति सम्भव न हो वहा श्रद्धा और आश्रय भाव म किया हुआ कम ही निष्काम कमयाग है। श्रद्धा रखकर और द्वष छोड़कर कम करन वाल व्यक्ति कमबन्धन से छूट जाते हैं (3/31) और नारी वश्य शूद्र तथा पापयोनि भी ईश्वर का आश्रय ग्रहण करके परमगति पाते हैं (9 30 31 32)। मनुष्य म स्वभाव स ही तीन प्रकार की श्रद्धा होता है क्योंकि श्रद्धा सात्विक तामस और राजस गुणों का अनुसरण करती है और जसा जिसका स्वाभाविक गुण होता है वसी उसकी श्रद्धा होती है (17/3)। सात्विकी श्रद्धा वाल देवताओं का भजन है, राजसी वाले यक्षों को और तामसी वाल भूतप्रतादि का (17 4)। जो यज्ञ दान और तप तथा अय कार्य श्रद्धा रहित होता है वह असत कहलाता है। असत काय से न तो यहा का प्रयोजन सिद्ध होता है और न परलोक का (17 28)। ईश्वर का आश्रय और उपासना श्रद्धा के आवश्यक अंग हैं क्योंकि भगवान कृष्ण के ... म जो मुझ म परायण रहकर, सब कम मुझे समपण करके एक निष्ठा से मेरा ध्यान करते हुए मेरी उपासना करते हैं और मुझम जिनका चित्त पिरोया हुआ है उन्हें मैं मृत्युरूपी ससार से मैं झटपट पार कर देता हूँ (12 6 7) और मेरा आश्रय ग्रहण करने वाला सदा सब कम करता हुआ भी मेरी कृपा से शाश्वत पद पाता है (18 56) ब्रह्मभाव को प्राप्त, प्रसन्नचित्त मनुष्य न तो शोक करता है न कुछ चाहता वरन भूतमात्र म समभाव रखकर मेरी परम भक्ति पाता है (18 54) मैं कौन हूँ कसा हूँ इस भक्ति द्वारा वह (भक्त) यथाथ जानता है और इस प्रकार मुझे यथाथ जानकर मुझम प्रवश करता है (18/55)।

✓ ज्ञान से भक्ति है और भक्ति म ज्ञान और दोनों स समन्वयन निष्कामकम है। तब भक्ति का सैद्धान्तिक आधार क्या है ?—यह गीताकार ने भगवान कृष्ण के वचनों म स्पष्ट किया है। उदाहरणाथ मैं सबकी उत्पत्ति का कारण हूँ और सब मुझसे ही प्रवृत्त होते हैं यह जानकर समझदार लोग भावपूवक मुझे भजते हैं (10 8) जो सब कम मुझे समर्पित करता है मुझम परायण रहता है मेरा भक्त बनता है आसक्ति का त्याग करता है और प्राणीमात्र म द्वेषरहित होकर रहता है वह मुझे पाता है (11/55)। अपना विश्वरूप दिखाने के बाद भगवान कृष्ण अजुन से कहते हैं जो मेरे दशन तूने किये हैं वह दशन न तो वेदाध्ययन से हो सकते हैं, न तप से न दान से और न यज्ञ से मेरे सम्बन्ध म ऐसा दशन तथा मेरे दशन और मुझ में प्रवेश केवल अनन्य भक्ति से ही सम्भव है (11 53 54)। ...व अध्याय म भगवान कृष्ण कहते हैं मुझमें चित्त लगाने वाले मुझे प्राप्त करने वाले एक दूसरे का बोध कराते हुए मेरा नित्य कीर्तन करते हुए सन्तोष म और आनन्द म रहते हैं इस प्रकार मुझ म सदा रत रहने वालों को प्रेम से भजने वालों को मैं

ज्ञान देता हूँ जिससे वे मुझे पाते हैं और उनके ऊपर दया करके उनके हृदय में स्थित मैं, ज्ञानरूपी प्रकाशमय दीपक से, उनके अज्ञानरूपी अंधकार का नाश करता हूँ (10/9–11)। अतः, मनुष्य के लिये यह श्रेयस्कर है कि मन से सब कर्मों को 'उसे अर्पित करके, उसमें परायण होकर तथा विवेक बुद्धि का आश्रय लेकर निरन्तर 'उसमें चित्त लगाये (18.57)। इसीलिये, भगवान कृष्ण का आदेश है, 'अपना मन मुझमें लगा, अपनी बुद्धि मुझमें रख (क्योंकि) इससे इस (जन्म) के बाद निःसंशय ही तू मुझे पावेगा (12/8) जो कर जो खाये जो हवन में डाले, जो दान में दे, जो तप करे वह सब मुझे अर्पण करके करना (क्योंकि) इससे तू शुभाशुभ फल देने वाले कर्म बन्धन में छूट जाएगा और फलत्यागरूपी समत्व को पाकर तथा जन्म मरण से मुक्त होकर मुझे पावेगा (9/27 29) भारी दुराचारी भी यदि मुझे अनन्य भाव से भजे तो उसे साधु हुआ ही मानना चाहिये मेरे भक्त का कभी नाश नहीं होता (9/30–31) राग, भय और क्रोध से रहित हुए मेरा ही ध्यान करते हुए मेरा ही आश्रय लेने वाले ज्ञानरूपी तप से पवित्र हुए, बहुतों ने मेरे स्वरूप को पाया है (4/10) श्रद्धावान योगभ्रष्ट हो सकता है से। मोक्षभ्रष्ट नहीं (6/37–44)।

गीता के अनुसार, जो उसका आश्रय लेकर जरा और मरण से मुक्त होने का प्रयत्न करते हैं, वे पूर्णब्रह्म तथा अध्यात्म को और अखिल कर्म को जानते हैं। जो 'उसे अधिभूत, अधिदैव और अधियज्ञयुक्त को पहचानते हैं, वे समत्व पाए हुए मृत्यु के समय भी उसे पहचानते हैं और परमगति पाते हैं (7/29 30)। आर्त (दुखी) जिज्ञासु (जानने की प्रेरणा वाले), अर्थार्थी (कुछ प्राप्ति की इच्छा वाले) और ज्ञानी— ये चार प्रकार के सदाचारी मनुष्य ईश्वर का आश्रय लेते हैं और उसे भजते हैं। किन्तु, इनमें जो नित्य समभावी एक का भजन वाला है वह ज्ञानी ही श्रेष्ठ है क्योंकि ईश्वर ज्ञानी का प्रिय है और ज्ञानी ईश्वर को। ज्ञानयोगी यह जानकर ईश्वर का आश्रय लेता है कि ईश्वर के पाने के सिवा दूसरी कोई उत्तम गति नहीं है। भक्त तो सभी अच्छे हैं पर ज्ञानी तो ईश्वर की आत्मा है (7/16 17 18)। गीता के अनुसार, भक्ति का आधार विकार भाव या राग नहीं है वरन भक्ति का आधार ज्ञान है। भक्ति वैयक्तिक कष्टों विकारों आवेगों दुखों और कमियों से त्राण पाने का माध्यम भी रहा है। भक्ति ज्ञानमय प्रपत्ति है जिसका आधार बौद्धिक है न कि रागात्मक। ज्ञान कर्म और भक्ति एक दूसरे के पूरक हैं। मुक्त कर्म वही है जो ज्ञान और भक्ति पर आधारित है और श्रेष्ठ भक्ति वही है जो ज्ञान पर आधारित है। इस प्रकार ज्ञान भक्ति और कर्म तीनों का आधार है। गीता में कर्म, ज्ञान और भक्ति को नाम रूप प्रस्तुत किया गया है उसमें ज्ञान को वह मानसिक प्रक्रिया और अभ्यास माना गया है जिसके आधार पर कर्म और भक्ति का महत्व स्पष्ट होता है। गीता में कर्मठ जीवन की कल्पना की गई है लेकिन उस कर्मठ जीवन का आधार अनासक्ति है। गीता का कर्मयोग वस्तुतः ज्ञानाश्रित योग है। गीता में प्रतिपादित

कर्मसिद्धान्त का आधार ज्ञान है। गीता बौद्धिकता पर आधारित कर्म की प्रेरणा है— वह बौद्धिकता जिसका आधार समत्व है 'अविभक्तं विभक्तेषु' का अनुभव है जो आत्म परायण तथा ब्रह्मपरायण है और इसकारण इहलौकिक जीवन में निर्लिप्त है।

इसी बौद्धिकता की कसौटी पर एक ओर कर्म को अपनाने तथा कर्मरत होकर मोक्ष पाने की प्रेरणा दी गई है और दूसरी ओर कर्मसिद्धान्त का प्रतिपादित किया गया है। गीता के अनुसार, 'जो मनुष्य आत्मा में रमण करने वाला उसी में तृप्त रहने वाला तथा संतोष मानने वाला है उसे कुछ करने का नहीं रहता क्योंकि न तो करने या न करने में उसका कुछ स्वार्थ है और न भूतमात्र में ही उसका कोई निजी स्वार्थ है। अलग रहकर कर्म करने वाला पुरुष ही मोक्ष पाता है। इसलिए, अनासक्त होकर निरंतर कर्तव्य कर्म करना ही मनुष्य के लिए श्रेयस्कर है (3/17 19)। नियत, कर्तव्यकर्म वह कर्म है जो स्वधर्म, लोकसंग्रह, यज्ञ दान और तप के पालन के लिए किया जाता है। कार्य तथा अकार्य के निर्णय का आधार शास्त्र है (16/24)। लेकिन साथ ही साथ सात्विक नियत कर्म का आधार निष्कामता है (18,23)। इसलिए, गीता में नियत तथा कर्तव्य कर्म को भी ज्ञान भक्ति और निष्कामता पर आधारित किया गया है। स्वधर्म स्वकर्म है और स्वकर्म वह है जो स्वाभाविक गुणों के अनुसार हो। गुणानुसार कर्म के आधार पर वर्णाश्रम-व्यवस्था की रचना हुई है। अतः व्यक्ति को अपने स्वभाविक गुणों के अनुसार वर्णाश्रमी तथा स्वकर्मरूपी स्वधर्म का पालन करना चाहिए क्योंकि स्वभाव के अनुरूप कर्म करने वाले व्यक्ति को पाप नहीं लगता (18 47) स्वभावतः प्राप्त कर्म को सदोष होने पर भी नहीं छोड़ना चाहिए (18 48) स्वयं अपने कर्म में रत रहकर मनुष्य मोक्ष पाता है (18,45), जिसके द्वारा प्राणियों की प्रवृत्ति होती है जिसके द्वारा यह सारा संसार व्याप्त है उसे जो पुरुष स्वकर्म द्वारा भजता है वह मोक्ष पाता है (18 46) सुकर परधर्म से विगुण स्वधर्म अच्छा है परधर्म भयावह है और स्वधर्म में मृत्यु भी श्रेयस्कर है (3/35), स्वधर्म में हिचकिचाना उचित नहीं (क्योंकि) स्वधर्म मानने में पाप होता है (2/31 33) सुख दुख तथा लाभ हानि को समान समझ कर स्वधर्म करने में पाप नहीं होता (2 38)'।

स्वधर्म के साथ साथ लोकसंग्रह की दृष्टि से किया हुआ कर्म भी नियत कर्तव्य कर्म है (3 20)। जय और काम की साधना लोकसंग्रह के अन्तर्गत आती है। लोक-संग्रह जीवन के लिए अनिवार्य है, अतः लोकसंग्रह के लिए कर्म भी आवश्यक है। बिना कर्म के लोकसंग्रह सम्भव नहीं है। किन्तु लोकसंग्रह साधन है साध्य नहीं। साध्य है मोक्ष जिसके लिए लोकसंग्रह अनेक साधनों में से एक है। जीवन के सुचारु अमित विकास के लिए, जय और काम की साधना के रूप में, लोकसंग्रह एक माध्यम मात्र है। लेकिन लोकसंग्रह के लिए किया हुआ वह कर्म सात्विक है जो परहित परमार्थ के रूप में किया जाय।

गीता में यज्ञार्थ किया हुआ कर्म भी नियत कर्तव्य कर्म की श्रेणी में आता है। यज्ञ से बचा हुआ अमृत खाने वाले लोग सनातनब्रह्म को पाते हैं। यज्ञ न करने वाले के लिए यह लोक नहीं है, तो परलोक हो ही कहां से सकता है (4/31)। यज्ञार्थ किये जाने वाले कर्म के अतिरिक्त कर्म से इस लोक में बंधन पैदा होता है। इसलिए रागरहित यज्ञार्थ कर्म करना ही श्रेयस्कर है (3/9)। लेकिन यज्ञार्थ कर्म क्या है ? यज्ञार्थ कर्म का एक रूप वह है जिसमें यज्ञ फल की प्राप्ति के लिए किया जाता है[1]। लेकिन गीताकार के मत में 'यज्ञ से वर्षा होती है, वर्षा से अन्न उत्पन्न होता है अन्न में से भूतमात्र उत्पन्न होते हैं और यज्ञ कर्म से होता है। कर्म प्रकृति से उत्पन्न होता है, प्रकृति अक्षरब्रह्म में उत्पन्न होती है और इसलिए सर्वव्यापक ब्रह्म सदा यज्ञ में विद्यमान है (3/14, 15)'। वेद में जितने प्रकार[2] के यज्ञों का वर्णन हुआ है वे सब कर्म से ही उत्पन्न होते हैं। लेकिन, वास्तविकता यह है कि यज्ञ में 'अर्पण ब्रह्म है हवि (हवन की वस्तु) ब्रह्म है और ब्रह्मरूपी अग्नि में हवन करने वाला भी ब्रह्म है[3]। और चूंकि यज्ञ कर्म है, यज्ञ का अर्थ है कर्म के साथ ब्रह्म का मार्ग साधना। यज्ञ का सार यह है कि यज्ञ ब्रह्ममय है। अतः, यज्ञार्थ कर्म वही कर्म है जो

---

1 वेदों में फल की प्राप्ति के लिए यज्ञ का विधान है। यह यज्ञ सकाम है, जिसका गीताकार ने इस प्रकार वर्णन किया है,—यज्ञ के सहित प्रजा को उत्पन्न करके प्रजापति ब्रह्मा ने कहा, 'यज्ञ द्वारा तुम्हारी वृद्धि हो। यह तुम्हें इच्छित फल दे। तुम यज्ञ द्वारा देवताओं का पोषण करो और देवता तुम्हारा पोषण करें। एक दूसरे का पोषण करते हुए तुम कल्याण पाओ। यज्ञ द्वारा सन्तुष्ट हुए देवता तुम्हें इच्छित भोग देंगे। उनका बदला दिये बिना, उनका दिया हुआ जो भोगेगा वह अवश्य चोर है (3/10 12)।"

2 विभिन्न प्रकार के यज्ञों का वर्णन गीता में इस प्रकार किया गया है —कितने योगी देवताओं का पूजनरूपी यज्ञ करते हैं कितने ब्रह्मरूप अग्नि में यज्ञ द्वारा यज्ञ को होमते हैं कितने श्रवणादि इन्द्रियों का संयमरूप यज्ञ करते हैं कुछ शब्दादि विषयों को इन्द्रियाग्नि में होमते हैं कितने ही समस्त इन्द्रियकर्मों को और प्राणकर्मों को ज्ञानदीपक से आत्मसंयमरूपी योगाग्नि में होमते हैं, (यहां तात्पर्य योग और संयम है), कोई यज्ञार्थ द्रव्य दान करते हैं, कोई तप करता है कोई अष्टांग योग साधते हैं कोई स्वाध्याय और ज्ञान यज्ञ करते हैं, कोई प्राणायाम करके अपान को प्राणवायु और प्राण को अपान में होमते हैं और कोई आहार संयम करके प्राणों को प्राण में होमते हैं (4 2, 30)।

3 नवें अध्याय में भगवान कृष्ण के इस कथन में भी यही भाव व्यक्त है — 'यज्ञ का संकल्प मैं हूँ यज्ञ मैं हूँ यज्ञ द्वारा पितरों का आधार मैं हूँ यज्ञ को वनस्पति मैं हूँ आहुति मैं हूँ अग्नि मैं हूँ और हवन-द्रव्य मैं हूँ (9 16)'।

इस ब्रह्मपरायण ज्ञान पर आधारित है और जो इस ज्ञान का अनुभव करता हुआ यज्ञ करता है वही मोक्ष पाता है। यज्ञ के द्वारा जो कर्म के साथ ब्रह्म का मेल साधता है, वही ब्रह्म को पाता है (4/24, 32)। ब्रह्मपरायण ज्ञान के कारण, यज्ञार्थ कर्म स्वभावतया ज्ञान और भक्ति की ओर उन्मुख हो जाता है। अपने को बड़ा मानने वाले अहंकारी धन तथा मान के मद में मस्त हुए दम्भी और विधिरहित नाममात्र के ही यज्ञ करते हैं (16/17)। फल की इच्छा और दम्भ से किया यज्ञ राजसी है (17/12) और जिसमें विधि नहीं, अन्न की उत्पत्ति नहीं मन्त्र नहीं, त्याग नहीं, श्रद्धा नहीं, वह यज्ञ तामस है (17 13)। सात्विक यज्ञ वह है जो विधिपूर्वक कर्तव्य समझ कर और मन को यज्ञ में स्थिर कर किया जाता है (17 11)। अतः सात्विक यज्ञ निष्काम है। इसीकारण, द्रव्ययज्ञ की अपेक्षा ज्ञानयज्ञ अधिक अच्छा है क्योंकि कर्म-मात्र ज्ञान में ही पराकाष्ठा को पहुंचते हैं (4 33)। इसी प्रकार, दान और तप रूपी वही नियत कर्तव्य कर्म श्रेयस्कर हैं जो ब्रह्मपरायण ज्ञान और भक्ति से उत्पन्न हुई निष्कामता पर आधारित हैं।

गीता में प्रतिपादित कर्मसिद्धान्त, इस प्रकार निष्काम कर्मयोग का सिद्धान्त है जो, सिद्धान्तत , ज्ञान और भक्ति की ओर उन्मुख है। गीताकार की यह आधारभूत सद्धान्तिक मान्यता है कि कर्म में निष्कामता ज्ञान और भक्ति के योग से आती है। सम्भवत , इसी कारण गीताकार ने कर्मसिद्धान्त को निष्कामकर्मयोग का सिद्धान्त कहा है। गीता में स्थान स्थान पर, इस बात पर जोर दिया गया है कि मोक्ष ज्ञान से मिलता है। लेकिन साथ-ही साथ इस तथ्य पर भी जोर दिया गया है कि मोक्ष उस ज्ञान से नहीं मिलता है जो शून्यवादी तथा विरक्तिवादी है। उपनिषदों के ब्रह्म-वादी तथा महाभारत के आत्मवादी ज्ञान को गीताकार ने ब्रह्मपरायणवादी ज्ञान की धारणा देकर उसे प्रवृत्ति और निष्कामकर्म पर आधारित किया है। यह अवश्य है कि ज्ञान और प्रवृत्ति से निष्काम कर्म आता है और गीताकार ने सिद्धान्तत इसे स्वीकार भी किया है। लेकिन साथ-ही साथ, गीताकार ने यह भी स्वीकार किया है कि 'अभ्यासमार्ग से ज्ञानमार्ग श्रेयस्कर है, ज्ञानमार्ग से ध्यानमार्ग और ध्यानमार्ग से कर्मफलत्याग क्योंकि कर्मफलत्याग से अन्त में तुरन्त शान्ति आ जाती है (12/12)'। इसी प्रकार भक्ति को मोक्ष का साधन बताते हुए गीताकार ने भगवान कृष्ण से कहलाया है, 'यदि मन स्थिर करने की सामर्थ्य न हो तो अभ्यासयोग द्वारा, यदि अभ्यासयोग की सामर्थ्य न हो तो निमित्त कर्म के द्वारा और यदि निमित्त कर्म की भी सामर्थ्य न हो तो यत्नपूर्वक सब कर्मों के फल का त्याग करके मुझे पाने का प्रयत्न करना (12 9, 11)।

यहीं यह प्रश्न उठाया जा सकता है कि क्या बिना ज्ञान और भक्ति के निष्कामकर्म की साधना हो सकती है ? गीताकार ने इस प्रश्न का उत्तर सदा एक विचार दे दिया है क्योंकि वह यह मान्यता लेकर चला है कि निष्काम कर्म ज्ञान

और भक्ति तीनों अन्योन्याश्रित हैं और तीनों मिलकर तथा अलग-अलग व्यक्ति में वह मनोदशा उत्पन्न करते हैं जिससे निवृत्तिमार्गी प्रवृत्ति आती है और जिससे, सभी परिस्थितियों में व्यक्ति को आत्मोत्साह तथा आत्मविश्वास मिलते हैं। निवृत्ति या प्रवृत्ति से ही जीवन की साधना गीताकार को स्वीकार नहीं है क्योंकि न तो निवृत्ति ही अपने में पूर्ण है और न प्रवृत्ति ही। निवृत्ति और प्रवृत्ति का विवाद ही अर्थहीन है। गीताकार के लिए वाञ्छनीय है वह मनोदशा जहाँ निवृत्ति और प्रवृत्ति एक में मिल जाते हैं। चाहे कोई ज्ञान से चले या भक्ति से या निष्कामकर्म से सबकी परिणति निवृत्तिमार्गी प्रवृत्ति में होती है। इसीलिए, गीता का कर्मसिद्धान्त अधिक प्रेरक और आशावादी है क्योंकि इससे उच्च तथा निम्न, ज्ञानी तथा भक्त योगी तथा संयामी, नारी तथा पुरुष और ब्राह्मण तथा शूद्रों को एक सी प्रेरणा मिलती है।

गीता हिन्दू सामाजिक ज्ञान का एक अंग है और उसके गत्यात्मक विकास की एक विशेष अवस्था है। सामाजिक ज्ञान के गत्यात्मक विकास की विभिन्न अवस्थाओं का विकास सामाजिक एतिहासिक विकासक्रम की गत्यात्मकता से सम्बन्धित होता है। सामाजिक ज्ञान में जहाँ सामाजिक आदर्श तथा अर्हायें सन्निहित रहती हैं वहाँ उसमें सामाजिक ऐतिहासिक परिस्थितियाँ भी प्रतिबिम्बित होती हैं। सामाजिक ज्ञान जहाँ सामाजिक आदर्श तथा अर्हाओं को भूत से वर्तमान और वर्तमान से भविष्य की ओर ले जाकर समाज को नैरन्तर्य प्रदान करता है वहाँ, उसमें युग की गत्यात्मक आवश्यकताओं के अनुसार परिवर्तन भी हुआ करता है। अपने युग की आवश्यकताओं के अनुसार गीता हिन्दू सामाजिक ज्ञान का एक विशेष संशोधित रूप है। गीता कल्पाचारी वैदिक कर्मकाण्ड की विरोधी है क्योंकि उपनिषदों का ज्ञानाश्रयी शाखा के विकासक्रम ही पहले वैदिक कर्मकाण्ड का विरोध हो चुका था और उसकी सामाजिक महत्ता समाप्त हो चुकी थी। उपनिषदों की ज्ञानश्रयी शाखा निवृत्तिवादी थी। कल्पाचारी वैदिक कर्मकाण्ड यदि घोर प्रवृत्तिवादी था तो औप-निषदिक विचारधारा घोर निवृत्तिवादी। वैदिक कल्पाचारी कर्मकाण्ड में प्रवृत्ति और उपनिषदों की विचारधारा में निहित निवृत्ति दोनों उन पराकाष्ठाओं को पहुँच चुके थे जहाँ वे जीवन से दो भिन्न छोर बनकर रह गये थे। कृषि पर आधारित समाज में जिसका आधार परमार्थ था निवृत्ति और प्रवृत्ति दोनों के सन्तुलन की आवश्यकता थी। गीता में निष्काम कर्म के आधार पर, यही सन्तुलन लाने का प्रयास किया गया है।

गीता के प्रसंग में यह कि गीता के रचना काल के समय जातिव्यवस्था की जटिलता बढ़ गई थी जिसके कारण गीता में गुण-कर्म के आधार पर वर्णों के प्रतिपादन का प्रयास किया गया है ताकि सामाजिक व्यवस्था जातिव्यवस्था में निहित अधिकारी अवरोध न बन सकें और व्यक्ति को सामाजिक गतिशीलता की प्रेरणा का अवसर मिले। इसीलिए, गीता में वर्ण का आधार गुण है जो कर्म का भी

आधार है और व्यक्ति के चरम उत्विकास (परमगति) की अवस्था में दोनों लय हो जाते हैं क्योंकि वहाँ न तो गुण है न कर्म और न वर्ण। इस प्रकार, गीता में वर्णव्यवस्था का दैवी आधार प्रदान किया गया है और उसी आधार पर यह सिद्ध करने का प्रयास किया गया है कि दैवी स्तर पर वर्ण भिन्नता समाप्त हो जाती है। इहलौकिक जीवन (सामाजिक जीवन) का आधार ब्रह्ममय है। अतः कर्म भी ब्रह्ममय है और चूंकि कर्म ब्रह्म की विशेषता है न कि फलासक्ति, कर्म का आधार केवल कर्म का अधिकार है न कि कर्मफलासक्ति। यही वह दृष्टिकोण है जिसमें निवृत्ति प्रवृत्ति का सम्मिलन होता है। चूंकि सभी कुछ ब्रह्ममय है वास्तविक ज्ञान वही है जो ब्रह्मपरायण है और निष्काम कर्म तथा ब्रह्मपरायण ज्ञान की स्वाभाविक परिणति भक्ति है। ऐसा कहा जा सकता है कि भारतीय समाज की विजातीयता जो जातियों, उपजातियों और प्रजातियों में सन्निहित है, उसने ही उस ब्रह्म की कल्पना को प्रेरित किया है जिसमें सारे विजातीय गुण लय हो जाते हैं और केवल ब्रह्म रह जाता है जो सारी विभिन्नताओं की तह में निहित एकत्व का प्रतीक है। यह कहा जा सकता है कि विजातीय समाज में एकत्व की आवश्यकता की स्वाभाविक माँग के कारण ही गीता में ज्ञान का आधार वह अनुभूति मानी गई है जो प्रपत्ति और 'अविभक्तं विभक्तेषु' पर आधारित है। समाज को प्रतिगामी अवरोध से बचाने के लिए ही गीता में 'सम्भवामि युगे युगे' की धारणा आई है। इस प्रकार हिन्दू सामाजिक ज्ञान के रूप में, गीता हिन्दू विचार का वह समाधित रूप है जो समाज की एकता तथा व्यक्ति की सामाजिक वृत्ति की पूर्ण अभिव्यक्ति और समाज में व्यक्ति तथा समूह की गत्यात्मक चलिष्णुता (Dynamic mobility) बनाए रखने की मान्यता पर आधारित है। इसका सबसे बड़ा प्रमाण यह है कि गीता में प्रतिपादित कर्मसिद्धान्त को दैववादी (Fatalistic) विचार से मुक्त रखने का प्रयास किया गया है।

यह कहना अतिशयोक्ति न होगी कि जाति-व्यवस्था की बढ़ती हुई जटिलता के साथ साथ, कर्मसिद्धान्त जहाँ एक ओर जाति व्यवस्था में निहित असमानताओं को स्पष्ट करने में प्रयुक्त हुआ वहाँ, दूसरी ओर, लोगों को जातिगत सामाजिक स्तर, कर्मों तथा क्षमताओं को दैवी विधान के रूप में स्वीकार करने तथा कर्म के द्वारा धर्मसंचय करके उससे मुक्ति पाने की प्रेरणा देने में भी उसका प्रयोग हुआ है। इसका परिणाम यह हुआ कि कर्मसिद्धान्त मोक्ष की धारणा के साथ बढ़ने के साथ साथ स्वर्ग और नरक की धारणाओं के साथ बंध गया। नियत कर्म की धारणा, एक ओर जाति से सम्बन्धित सामाजिक आर्थिक क्रियाओं से बंध गई तो दूसरी ओर, वर्ण विहित कर्म और मानव धर्म के उन सामान्य नियमों से जिनका पहले वर्णन किया जा चुका है और जो मुख्यतया मनु के मानव धर्मशास्त्र में प्रतिपादित हैं।। इन दोनों सम्मिलित प्रभाव यह हुआ कि कर्म दैव की धारणा से बंध गया यद्यपि हिन्दू विचारधारा में सिद्धान्ततः इस तथ्य के निरूपित करने का प्रयास मिलता है कि इस

दैव से सम्बन्धित होने पर भी पूर्णतया दैव के वश में नहीं है।

यह इसी सामाजिक ऐतिहासिक परिस्थिति का परिणाम है कि वैदिक कर्मकाण्ड और जन्म पर आधारित जाति व्यवस्था के विरोधी होने पर भी बुद्धवाद और जैनवाद कर्मसिद्धान्त को न छोड़ सके और दैव तथा प्रयत्न सम्बन्धी उस द्विविधा से न हट सके जिससे कर्म सम्बन्धी हिन्दू विचार व्याप्त है। उदाहरणार्थ, महात्मा बुद्ध ने यह कहा है कि जन्म से न कोई ब्राह्मण होता है और न अन्त्यज। कर्म से ही कोई व्यक्ति अन्त्यज होता है और कोई व्यक्ति कर्म के ही आधार पर ब्राह्मण बनता है। किसी से उसकी जाति मत पूछो बल्कि उसके आचरण की परीक्षा करो क्योंकि खराब से भी खराब लकड़ी से पवित्र अग्नि उत्पन्न की जा सकती है। लेकिन, दूसरी ओर धम्मपद में कर्म सिद्धान्त का एक निर्मम रहस्य शक्ति के रूप में निरूपित किया गया है। धम्मपद के अनुसार प्रत्येक पापी अपने पापों से घिरा रहता है किसी व्यक्ति के कर्म उसका कर्म ही दूषित करते हैं जब उसके सदकर्म उसे पवित्र करते हैं पापकर्म पापी का वैसे ही अनुसरण करते हैं जैसे राख अग्नि का अनुसरण करती है पापी को इहलौकिक तथा पारलौकिक संसार में कष्ट भोगना पड़ता है सत्कर्म मत व्यक्ति का पारलौकिक संसार में वैसे ही स्वागत करते हैं जैसे किसी के सगे सम्बन्धी एक लम्बी यात्रा से वापस आने पर उसका स्वागत करते हैं कर्म संचयी है इसलिए छोटे से भी छोटे कर्म की अवहेलना नहीं करनी चाहिए, छोटे छोटे कर्म संचित होकर उसी प्रकार एक बड़े कर्म में परिणत हो जाते हैं जिस प्रकार बूंद बूंद से घड़ा भर जाता है, आकाश समुद्रतल की गहराई या पहाड़ की गुफाओं कहीं न सारे संसार में कहीं भी कोई स्थान नहीं है जहां कोई अपने कर्मों के प्रभाव से मुक्त हो सके। अतः, पापकर्मों से अलग रहना और मन को शुद्ध रखना मनुष्य का कर्तव्य है[1]। इस प्रकार, बुद्धवाद में कर्म सम्बन्धी विचारों में आशावादी और निराशावादी विचारों का सम्मिलन मिलता है। यहाँ, एक ओर यह माना गया है कि जन्म कुछ नहीं है कर्म ही प्रधान है और कर्म के ही आधार पर व्यक्ति का इहलौकिक जीवन बनता है और कर्म ही इहलौकिक जीवन की उच्चता या निम्नता की कसौटी है और, दूसरी ओर, यह माना गया है कि कर्म ही पुनर्जन्म का कारण है और चूंकि कर्म व्यक्ति का वैसे ही पीछा करते हैं जैसे राख अग्नि का पीछा करती है कर्म पुनर्जन्म में भी परिलक्षित होता है। बुद्धवादी आत्मा को नहीं मानते। इस कारण, बुद्धवाद में कर्मसिद्धान्त एक रहस्यपूर्ण कारण कार्य (Cause-Effect) की प्रक्रिया का रूप ले लेता है। बुद्धवादियों ने पुनर्जन्म में पूर्वजन्म के प्रभावों की सम्भावना को स्वीकार करते हुए भी कर्मसिद्धान्त को स्वदायी विचारधारा से मुक्त रखा।

---

1 गोखले की पुस्तक इण्डियन थॉट थ्रू दि एजेज में से उद्धृत पृष्ठ 100 101।

स्मृतियों, सूत्रों और नीतिशास्त्रों में कर्मसिद्धान्त को जातिव्यवस्था का आधार माना गया है और धर्म, ज्ञान तथा योग को मोक्ष का साधन। मनु के अनुसार, मन, वाक् और देह से उत्पन्न होकर, कर्म की परिणति अच्छे बुरे परिणामों में होती है। कर्म ही मनुष्य की विभिन्न गतियों का कारण है। मानसिक पापों के कारण व्यक्ति का जन्म अन्त्यज जाति में होता है और वाणी द्वारा किए हुए पापों के कारण उसका जन्म पक्षी या चौपाये के रूप में होता है। शरीर द्वारा किए हुए पापों के कारण स्थावर वस्तुओं की गति मिलती है। कर्मानुसार नरक यातना भोगकर व्यक्ति को पुनः जन्म लेना पड़ता है। जिस भाव से इस जन्म में कर्म किया जाता है, पुनर्जन्म के बाद, भावी जीवन में उसी के अनुसार उसका परिणाम मिलता है। कर्मफल अवश्य भोगना पड़ता है, जिसके लिए पुनर्जन्म आवश्यक है। मनु के अनुसार, आत्मज्ञान (आत्मा के द्वारा आत्मा का ज्ञान) ही कर्मबन्धन से मुक्ति पाने का एकमात्र साधन है। मनु के आत्मज्ञान की कल्पना गीता के ज्ञान की कल्पना के ही अनुरूप है। वेदविहित कर्म, धर्मप्राण होने के कारण इहलोक और परलोक में सुख दे सकता है मुक्ति नहीं। जन्म का पूर्ण फल उसे ही मिलता है जो आत्मज्ञान की प्राप्ति, राग वृत्तियों को शान्त (शम) करने और स्वाध्याय में रत रहता है। आत्मज्ञान की प्राप्ति ही मनुष्य का वास्तविक धर्म है। इसलिए मनु ने वेदविहित कर्मों के द्वारा धर्मसंचय की प्रेरणा दी है[1]।

स्मृति सूत्र और नीतिशास्त्र

याज्ञवल्क्य के अनुसार कर्मसंचय (कर्माशय) का आधार धर्म और अधर्म है। जाति (उच्च अथवा निम्न स्तर में जन्म), आयु और भोग (सुख दुःख) कर्मसंचय से ही उत्पन्न होते हैं। याज्ञवल्क्य ने वाञ्छनीय अथवा नियत कर्म को ही धर्म माना है। याज्ञवल्क्य के अनुसार वाञ्छनीय अथवा नियत कर्म वह है जो वर्णधर्म, आश्रमधर्म, वर्णाश्रमधर्म, गुणधर्म, निमित्तधर्म और साधारणधर्म से सम्बन्धित है। यज्ञ, आचार, दम, अहिंसा, दान और स्वाध्याय के सहित अन्य सभी कर्मों में आत्मज्ञान परमधर्म है क्योंकि आत्मज्ञान आत्मज्ञान से होता है और आत्मज्ञान मोक्ष का साधन है। शुक्रनीतिसार के अनुसार, मनुष्य का इहलौकिक जीवन पूर्वजन्म के कर्मों से बंधा रहता है। कर्म अगले जन्म में व्यक्ति के दैव का निर्माण ही नहीं करते हैं वरन् उसकी बौद्धिक प्रवृत्ति को भी निश्चित करते हैं। अपने पूर्वजन्म के कर्मों के कारण ही व्यक्ति पाप या पुण्य की ओर अग्रसर होता है। शुक्रनीतिसार में प्रतिपादित कर्म सिद्धान्त में इहलौकिक जीवन को कारक दैव और कर्म, पर आधारित माना गया है और दैव को पूर्वजन्म तथा इस जन्म के कर्मों से उत्पन्न माना गया है। इस प्रकार, शुक्रनीतिसार में एक ओर, दैव को प्रारब्ध का निर्णायक माना है तो, दूसरी ओर,

1 प्रभु, पी० एच० वही पृष्ठ 30 33।

दव को इस क्रम में कर्मों के प्रभाव के अन्तर्गत माना है। शुक्रनीतिसार में एक ओर सक्रिय जीवन पर आधारित पौरुषदर्शन की प्रशंसा की गई है, दैववादियों की भर्त्सना की गई है और दूसरी ओर जीवन को दैव-कर्म के अधीन माना गया है जो इस बात का प्रतीक है कि शुक्रनीतिसार दैव कर्म की प्राथमिकता से सम्बन्धित प्रश्न में निहित द्विविधा से व्याप्त है[1]।

पतंजलि के योगसूत्रों[2] में यह मान्यता प्रतिपादित की गई है कि अविद्या और क्लेश कर्मों का कारण हैं। क्लेश पाँच प्रकार के हैं —अविद्या (पुरुष और प्रकृति को भ्रमवश एक मानना) अस्मिता (शरीर और जीव को एक मानना) राग (विषयों में लगाव) द्वेष (दुःख देने वाली वस्तुओं के प्रति घृणा और उनसे दूर रहने का भाव) और अभिनिवेश (जीवन से लगाव और मृत्यु से डर का भाव)। अविद्या प्रधान क्लेश है और शेष उसके विभेद हैं। अविद्या अज्ञान नहीं वल्कि विभ्रम है। पाप-कर्म तथा पुण्यकर्म का कारण क्लेश हैं। जाति आयु और भोग का कारण कर्म है और कर्मों का प्रभाव इहलौकिक तथा पारलौकिक दोनों प्रकार के जीवन पर पड़ता है। मनुष्य के कर्म शुक्ल, कृष्ण और शुक्लकृष्ण की श्रेणियों में आते हैं। स्वाध्याय और ध्यान शुक्ल कर्मों की श्रेणी में आते हैं क्योंकि इनका आधार मानसिक है ये किसी बाह्य साधन पर आधारित नहीं हैं और इनसे किसी को पीड़ा नहीं होती है। कृष्ण श्रेणी में वे कर्म आते हैं जो शुक्लकर्म के विपरीत होने के कारण दुष्कर्म कहे जाते हैं।

---

1 प्रभु, पी० एच० वही पृष्ठ 35-37।

2 योगसूत्रों से तात्पर्य उन नियमों से है जिनके द्वारा योग की साधना हो सकती है। योग हिन्दुओं के छः दर्शनों में एक दर्शन है लेकिन योगसूत्रों का सम्बन्ध योग की व्यावहारिक क्रियाओं के नियमों से है। योगसूत्र वे नियम हैं जिनसे कर्म बन्धन से मुक्ति मिलती है। योग का अर्थ है आत्मा का ईश्वर से योग। योग 'युज' धातु से निकला है जिसका अर्थ है जोड़ना। योग में यह माना जाता है कि आत्मा और ईश्वर में जो वियोग है उसे यौगिक क्रियाओं द्वारा दूर किया जा सकता है। इसलिए, योग का अर्थ प्रयास से भी है—उस प्रयास से जिससे आत्मा परमात्मा का मिलन हो सकता है। योगसूत्रों में योग शब्द का प्रयोग प्रयास के ही अर्थ में किया गया है। इसलिए, योगसूत्र एक आध्यात्मिक दर्शन की अपेक्षा एक प्रकार की यौगिक क्रिया संहिता है। आत्मा-परमात्मा के मिलन की अवस्था समाधि है। अतः, योग शब्द का प्रयोग समाधि-अवस्था के लिए भी किया जाता है। लेकिन, जहाँ कर्म योग ज्ञानयोग और भक्तियोग जैसे प्रयोग आते हैं वहाँ योग का अर्थ प्रणाली हो जाता है। गीता में, निष्काम कर्म को जन्म देने वाली मनोदशा के लिए योग शब्द का प्रयोग किया गया है।

शुक्लकृष्ण कर्मों मे दोनों श्रेणियों की विशेषतायें विद्यमान रहती हैं। योगी कर्मफल की अभिलाषा त्याग देता है इसलिए, उसके कर्म इस किसी भी श्रेणी में नहीं आते हैं। योगी के कर्म ईश्वर के प्रति अर्पित होते हैं और वे केवल मनोवैज्ञानिक ऋणों और उत्तरदायित्वों को निभाने के लिए किए जाते हैं और इस कारण योगी भावी ऋणों और उत्तरदायित्वों के बन्धन से मुक्त हो जाता है। योगी के कर्मों का प्रेरणास्रोत अविद्या नहीं विवेक है क्योंकि वह पुरुष और प्रकृति के अन्तर को जानता है। योगी कर्म को ईश्वरेच्छा समझकर ग्रहण करता है। ज्ञानाग्नि उसकी अविद्या को जलाकर भस्म कर देती है। इसलिए योगी वासना और कर्मों के बन्धन से मुक्त हो जाता है। ज्ञान की प्राप्ति से योगी के कर्म से कर्तापन का भाव लुप्त हो जाता है। ज्ञान की प्राप्ति की अवस्था के साथ साथ योगी धर्ममेघ हो जाता है अर्थात वह धर्म कर्म तो करता है लेकिन जल में कमल से अछूता रहता है वैसे ही योगी भी संसार और कर्मों से अलिप्त रहता है। ऐसे ज्ञानवान का पुनर्जन्म नहीं होता। पतंजलि योगसूत्र में निहित दृष्टिकोण गीता के निकट है क्योंकि इसमें भी ज्ञान मार्ग का आधार है, ज्ञान पुरुष और प्रकृति के भेद की अनुभूति है और योगी वस्तुतः गीता का निष्काम कर्मयोगी है।

३

कर्मसिद्धान्त के आधार

पिछले पृष्ठों में यह स्पष्ट है कि कर्मसिद्धान्त वर्णाश्रम व्यवस्था तथा धर्म के साथ, हिन्दू वैयक्तिक सामाजिक जीवन दर्शन का एक आधार है जिसका विकास सामाजिक विचार के रूप में धीरे धीरे हुआ है। भारत की सामाजिक ऐतिहासिक परिस्थितियों ने इस सिद्धान्त की गतिविधि को निश्चित किया है। साथ ही साथ, कर्म-सिद्धान्त का निर्माण कई विचारधाराओं के सम्मिश्रण से हुआ है। गोखले के अनुसार कर्म, आवागमन और कर्मस्थानान्तरण की धारणाओं ने मिलकर कर्मसिद्धान्त का प्रतिपादन किया।[1] इस सिद्धान्त में कर्म की धारणा ही सबसे प्रधान है। गीता के अनुसार कर्म प्राणी की वह क्रिया है जो उसके नैतिक, वैयक्तिक तथा सामाजिक अस्तित्व का आधार है। कर्म, आधारभूत नैतिक क्रियाओं के रूप में, जीव का गुण है। लेकिन कर्म की यह धारणा कर्म के उत्तरदायित्व पर आधारित है। कर्म की इस धारणा में प्रकृतिवादी दृष्टिकोण निहित है। कर्मसिद्धान्त में कर्म की धारणा का

1 गोखले बी० जी० वही पृष्ठ 105 111

दूसरा रूप भी है। कम व्यक्ति का नतिक उत्तरदायित्व है—वह उत्तरदायित्व जिसके लिए व्यक्ति ही उत्तरदायी है। कम की धारणा का यह रूप धम से वया है जा सम्भवत ऋत की धारणा से आया है। इसी आधार पर कम, अकम, सुकम, नियत कम, कतव्य कम, पुण्य कम पाप कम, शुक्ल कम तथा कृष्ण कम के विचार विकसित हुए हैं। एक श्रेणी म वह कम आता ह जो नियत कतव्य, सुकृत, और पुण्यकम है और दूसरी श्रेणी म वह कम आता है जो अकम पापकम तथा कृष्ण कम है। पहली श्रेणी म आने वाला कम और उसके प्रकार करणीय हैं और दूसरी श्रेणी म आने वाले कम अकरणीय। करणीय कम का आधार, एक ओर, श्रम और गुण को माना गया ह और, दूसरी ओर वद तथा धम का। श्रम और गुण का सम्बन्ध शरीर-व्यापार और इन्द्रियों के विषय से है। श्रम और गुण ही वह आधार है जिन्हे समाज-मनोविज्ञान मे चालक (Drive) और आधारभूत आवश्यकताओ (Basic Needs) या एषणाओ (Desires) की सज्ञायें दी जाती हैं। चालक का अस्तित्व स्वत नहीं है। चालक का अस्तित्व उद्देश्य (Goal) स सम्बन्धित है और उद्देश्य का स्थान व्यक्ति म न होकर पर्यावरण म होता है। चालक जविक मानसिक प्रवृत्ति है और जीव की क्रियाशीलता तब उत्पन्न होती है जब चालक उद्देश्य की ओर उन्मुख होकर जीव को उद्देश्य प्राप्ति के लिए प्रेरित करता है। जीव, सस्कृति और समाज क्रिया के आधार हैं।

कम के विषय म हिन्दू विचार आधुनिक सामाजिक मनोविज्ञान के विचार म थोडा भिन्न ह। सामाजिक मनोविज्ञान विज्ञान है न कि ज्ञान। विज्ञान का आधार आनुभूतिकता (Empiricism) है जिसमे जीव का ज्ञान प्रकृति के माध्यम स स्पष्ट किया जाता है। आनुभूतिक सामाजिक विज्ञानों (समाजशास्त्र, मानवशास्त्र और समाजमनोविज्ञान) म मानव जीव के साथ समाज और सस्कृति का वहीं तक ध्यान म लाया जाता ह जहा तक जीव का आव स स्पष्ट करन के सिद्धान्त के प्रयोग का सम्बन्ध है। लेकिन, समाज और सस्कृति जविक नहीं हैं। समाज और सस्कृति परा जीव है क्योंकि सस्कृति जीव विकास को अपने म निहित आदर्शों के अनुसार गति और दिशा प्रदान करती है। हिन्दू विचार म श्रम और गुण मानव क्रिया के जैविक आधार (चालक) हैं लेकिन मानव क्रिया श्रमगुणानुसार ही नहीं है। इन्द्रियों के विषय श्रम गुण स उत्पन्न होते हैं और क्रिया के श्रमगुणानुसार होने का तात्पय है कम को विषय वासना म बाधना। हिन्दुत्व का सास्कृतिक आदश मोक्ष है। हिन्दू विचार नीति पर आधारित है। इसीलिये श्रम गुण वेद और धम पर आधारित करणीय कम वह है जो मोक्ष की ओर ले जाय। समाज गुण तथा श्रम पर आधारित है। इसकी अभिव्यक्ति वर्णाश्रमव्यवस्था म होती है। अत कम, एक ओर, वर्णाश्रम व्यवस्था से बधा है और दूसरी ओर मोक्ष से। लेकिन, चूकि जीवन का अन्तिम लक्ष्य उद्देश्य मोक्ष है, मोक्ष की वास्तविकता का अनुभव स्वभावतया कम का आधार बन

जाता है। मोक्ष का तात्पर्य है 'नेति' में मिल जाना, धर्म-गुण से परे हो जाना क्योंकि 'नेति' ही धर्मगुण से परे है यद्यपि धर्म गुण उससे प्रेरित हैं। अतः, मोक्ष की वास्तविकता के अनुभव से तात्पर्य है नेति का ज्ञान प्राप्त करना और उसके परायण रहकर कर्म करना क्योंकि अंतिम उद्देश्य वही है। इसीलिये हिन्दू विचारधारा में कर्म को ज्ञानी मुक्त बनाने की प्रेरणा दी गई है और ज्ञान में तादात्म्य किया गया है आत्मज्ञान से। धर्म गुण की अवहेलना नहीं हो सकती। इसलिये आश्रम और वर्ण अर्थात् समाज की इहलौकिक जीवन की, अवहेलना नहीं हो सकती। अतः समाज माध्यम है मोक्ष का और इसीलिये समाज में किया हुआ कर्म भी मोक्षोन्मुख होना चाहिये। मोक्ष निष्काम की अवस्था है। अतः मोक्ष का साधन कर्म भी निष्काम होना चाहिये। मोक्ष व्यक्ति का अधिकार है जो कर्तव्य से मिलता है और कर्तव्य की साधना कर्म द्वारा होती है। अतः कर्तव्य कर्म करना व्यक्ति का नैतिक उत्तरदायित्व है। कर्म में नैतिकता का विचार कर्तव्य कर्म की धारणा पर आधारित है।

जहाँ मोक्ष को योग कहा गया है वहाँ कर्म का आधार योग को माना गया है। योग समाधि है। अतः कर्तव्य कर्म वह है जो समाधि की दशा लाने में सहायक हो। समाधि शारीरिक नहीं मानसिक अवस्था है। अतः, शरीर से मन को हटाना ही कर्म माना गया है। यहाँ कर्म में तप का भाव आ गया है, जिसका एक रूप सप्रयास शरीर को कष्ट देना इन्द्रियों का दमन करना है और दूसरा ज्ञान, निष्कामना और भक्ति द्वारा उस मानसिक अवस्था पर पहुँचना जहाँ कर्म केवल शरीर व्यापार रह जाय। कर्म उत्तरदायित्व है गुणानुसार व्यक्ति का अपना धर्म है। अतः कर्म स्थानान्तरणीय है। यहीं कर्म दान के विचार से बंध जाता है। महाभारत में यह विचार व्यक्त किया गया है कि राजा के कुकर्मों से प्रजा पर क्या विपदायें आती हैं और मानव धर्मशास्त्र में यह कहा गया है कि स्त्री को अपने पति के कर्मों का फल भोगना पड़ता है[1]। इसमें यह भाव निकलता है कि कर्मफल एक प्रकार की पूंजी है जिसे हस्तान्तरित किया जा सकता है और जो व्यक्ति के साथ रहती है। किन्तु, जिसे गोखले ने कर्म की हस्तान्तरणीय विशेषता कहा है और जिसके आधार पर कर्म को एक प्रकार का भौतिक प्रभाव माना गया है वह वस्तुतः कर्म का वह रूप है जो हिन्दू विचार और व्यवहार में व्याप्त दूषण विचार (The Idea of Pollution) से सम्बन्धित है। सुकर्म पवित्र करते हैं और पापकर्म दूषित करते हैं। दूषण अपने तक ही सीमित नहीं रहता है। इसीलिये दैनिक शौच के नियमों को उन कर्मों की श्रेणी में रक्खा गया है जो व्यक्ति को पवित्र करते हैं। दैनिक स्नान और तीर्थस्थान का इसमें विशेष महत्व है। इसी कारण जिस व्यक्ति की जाति जितनी उच्च है, उसके लिये उतने ही जटिल दैनिक शौच कर्मों का विधान है और सम्भवतः इसीलिये

1 गोखले, बी० जी० वही पृष्ठ 110

शौच धर्म के दस लक्षणों में से एक है। जन्म और मृत्यु के अवसर पर किये जाने वाले अनेक कल्प कर्मों (Ritual Acts) की सार्थकता दूषण विचार के सन्दर्भ में ही स्पष्ट होती है। जाति अन्तर्विवाह तथा खानपान के नियमों का भंग करने वाले दूषित हुए माने जाते हैं और उनके लिये अनेक पवित्रकारी कल्प कर्मों का विधान है जिनमें गंगास्नान, गंगा जलपान, गंगाजल से अभिसिंचन, सत्यनारायण तथा भागवत की कथा सुनना मुख्य हैं।

कुकर्मों से उत्पन्न पाप को धोने का विचार उस वैदिक विचार का ऐतिहासिक प्रतिफल है जिसमें यह माना जाता था कि यज्ञ, तप और मनस्ताप से पाप धुल जाते हैं। इसी विचार के आधार पर अनेक पावनकारी कल्पों (Purificatory Rituals) व सामाजिक विधानों का उद्भव हुआ है जो करणीय कर्म की श्रेणी में आते हैं। इन सभी कल्पों में यह विचार निहित है कि समान से समान की उत्पत्ति होती है (Like Produces Like)[1] किसी के स्थान में रहनेवाली किसी वस्तु या उसके किसी अंग के प्रति किया जाने वाला कार्य, वस्तुतः उसके प्रति किया कार्य है[2] और दैवी शक्ति को नियंत्रण में लाकर उसके द्वारा मनोवांछित फल प्राप्त किये जा सकते हैं[3]। यह विचार उस प्राचीनतम विचार से उत्पन्न हुआ है जिसमें यह माना जाता था कि मनुष्य को जो दुःख मिलता है देवताओं की अनुकम्पा से मिलता है। प्रत्येक व्यक्ति को मिलने वाला पाप पुण्य सुख दुख अच्छा बुरा पहले ही से निर्धारित है जो उसकी विधि है और उसका भाग्य है। देवों द्वारा निर्धारित भाग ही व्यक्ति का भाग्य है और भाग्य फिर दिष्ट (देवों द्वारा पूर्वनिर्धारित) है। यहीं से भाग्य, विधि, प्रारब्ध, स्वभाव और मानव जीवन के भूत, वर्तमान तथा भविष्य को प्रभावित करने वाली एक निगूढ़ रहस्यात्मक शक्ति की धारणा के रूप में दैव धारणा का अभ्युदय हुआ जो धर्म की धारणा से मिल गई। फलतः धर्मसिद्धान्त सम्बन्धी

---

1 जैसे मिर्जापुर जिले की कोरवा जनजाति के लोग वर्षा लाने के लिये पहाड़ियों पर से बड़े-बड़े पत्थरों को इसलिए लुढ़का देते हैं कि पत्थरों की गड़गड़ाहट बादलों की गड़गड़ाहट को आकर्षित करती है और बादलों की गड़गड़ाहट के आने का मतलब है बादलों का तथा वर्षा का आना।

2 नाल (Placenta) गाड़ना और मुण्डन के बालों को गंगा में या किसी नदी में प्रवाहित करना इस विचार पर आधारित है कि नाल या बालों पर पड़ने वाले प्रभाव वस्तुतः बच्चे पर पड़ेंगे। वशीकरण और मारण की तांत्रिक क्रियायें इसी विचार पर आधारित हैं।

3 गंडा, ताबीज के द्वारा मनोवांछित फल पाने का प्रयास इसी विचार पर आधारित है। झाड़ फूंक से बीमारी तथा बाधाएं दूर करना इसी विश्वास पर आधारित है कि झाड़ फूंक करने वाले के नियन्त्रण में कोई आधिदैविक शक्ति रहती है। सिद्ध उसे ही माना जाता है जिसको किसी न किसी आधिदैविक शक्ति की सिद्धि है। इस प्रकार की क्रियाओं को मानवशास्त्र में जादुयी क्रियायें (Magical Practices) कहते हैं।

विचारधारा कहीं-कहीं दैववादी हो गई।

लेकिन कर्मसिद्धान्त का आधार यह विचार नहीं है कि कर्म दैव का प्रतिरूप है। कर्मसिद्धान्त का आधार यह है कि कर्म ही भाग्य है (भाग्यम् कर्म)।

कर्म और दैव महाभारत में धर्मव्याध के इस कथन का पहले भी उल्लेख किया जा चुका है कि दैव सर्वोपरि है और वर्तमान जीवन की गति दैव का परिणाम है जिसे बिना द्वन्द्व के स्वीकार करना मनुष्य का धर्म है। धर्मव्याध का कथन इस विचार का विरोधी है कि कर्म ही भाग्य है। दैव तथा कर्म पर परस्पर द्विविधापूर्ण विचार व्यक्त किये गए हैं। संस्कृत के प्रसिद्ध अंग्रेज विद्वान कीथ ने कर्मसिद्धान्त को मूलतः दैवपरक (Fatalistic) कहा है और मैक्डानल्ड ने यह कहा है कि आवागमन तथा कर्मसिद्धान्तों के सम्मिलित प्रभाव के परिणामस्वरूप व्यक्ति को एक ओर, इस जन्म को पूर्व जन्मों का प्रतिफल मान कर भाग्य पर संतोष करने की प्रेरणा मिलती है और, दूसरी ओर, इससे क्रियाशीलता शिथिल हो जाती है [illegible] उदासीनता बढ़ती है और कर्म आत्ममूलक हो जाता है क्योंकि मोक्ष व्यक्तिमूलक है। इसका परिणाम यह होता है कि अपरपरक गुणों (Other Regarding Virtues) के विकास के लिये बहुत कम की सम्भावना रह जाती है।[1] इसी आधार पर यह भी कहा गया है कि कर्मसिद्धान्त निराशावादी है क्योंकि इसमें व्यक्ति स्वातन्त्र्य के लिए स्थान नहीं है। संक्षेप में, कर्म निराशावादी जीवन का बन्धन है।

राधाकृष्णन के अनुसार कभी-कभी यह कहा जाता है कि कर्मसिद्धान्त मानव स्वातन्त्र्य का विरोधी है यद्यपि यदि उसका ठीक-ठीक विवेचन किया जाता है तो वास्तविकता कुछ और ही निकलती है। कर्मसिद्धान्त में मानव-स्वातन्त्र्य का विरोध नहीं है। कर्मसिद्धान्त इस भावना पर आधारित है कि प्रकृति ही नहीं वरन मस्तिष्क और आचार भी व्यवस्थित हैं और यह व्यवस्था उस दिव्य विधान पर आधारित है जिसका संरक्षक तथा निरीक्षक स्वयं कर्माध्यक्ष (ईश्वर) है। दिव्य विधान की अवहेलना असम्भव है। प्रत्येक कर्म एक अदृश्य न्याय तुला पर तुलता है और उसका परिणाम यहीं इसी जीवन में, मिलता है। दिव्य विधान से बंधे होने पर भी कर्मसिद्धान्त, सिद्धान्ततः व्यक्ति के जन्मजात मानसिक तथा नैतिक उपकरणों पर आधारित है क्योंकि कर्मसिद्धान्त के अनुसार प्रत्येक व्यक्ति को अपने मानसिक नैतिक उपकरणों के अनुसार, कर्म करने की स्वतन्त्रता है। कर्मसिद्धान्त की आधारभूत प्रेरणा यह है कि कभी भी किसी भी समय कोई भी व्यक्ति अपने अभ्युदय के लिये प्रयास कर सकता है। कोई भी, पापी हो [illegible] भी [illegible] नहीं है।[2]

1 प्रभु, पी० एच० की पुस्तक हिन्दू सोशल आर्ग[illegible]न में पृष्ठ 43 44

2 एस० राधाकृष्णन दि हिन्दू व्यू आफ लाइफ

कर्मसिद्धान्त में दैव का विचार कर्म की धारणा से बंधा है। कर्म और दैव अन्योन्याश्रित है। दैव कर्म का प्रतिफल है न कि कर्म दैव का। बिना कर्म के दैव निष्क्रिय तथा निष्फल हो जाता है। दैव की सिद्धि कर्म से होती है (विना पुरुषकारेण दैवमत्र न सिध्यति)। महाभारत में युधिष्ठिर के यह पूछने पर कि दैव और कर्म में कौन प्रधान है भीष्म ने यह उत्तर दिया कि पुरुषकार (जिसका आधार कर्म है) बीज के समान है और दैव क्षेत्र के समान और शस्यम (फसल) दोनों के प्रभाव का परिणाम है। जिस प्रकार बिना बीज के क्षेत्र (खेत) से फल नहीं उत्पन्न होता, उसी प्रकार, बिना कर्म के दैव निष्फल रहता है। दैव पर निर्भर रहने से कुछ नहीं मिलता सभी कुछ कर्म से ही मिलता है[1]। कर्म के प्रभाव से दैव वैसे ही प्रबल हो उठता है जैसे हवा के प्रभाव से अग्नि और कर्म की अनुपस्थिति में दैव वैसे ही मंद पड़ जाता है जैसे बिना तेल के दीपक की लौ। दैव में अपनी कोई प्रभुत्व नहीं है। जैसे शिष्य गुरु का अनुसरण करता है, वैसे ही एक संचित कर्म, दैव से निर्देशित होकर, उसके पौरुष का अनुसरण करता है। अतः जहाँ कर्म है, वहीं दैव है। स्वर्ग, दैव और कर्म के सम्मिलित प्रभाव से मिलता है।

दैव कर्मसंचय से बनता है और कर्म संचय पूर्वजन्म में भी होता है और इस जन्म में भी। अतः दैव इस जन्म तथा पूर्व जन्म के कर्मों के अधीन है। शुक्रनीतिसार में जैसा कि पहले कहा जा चुका है, जीवन का दैव और कर्म का प्रतिफल माना गया है और कर्म में पूर्वजन्म तथा इस जन्म के कर्मों को सम्मिलित किया गया है। इस जन्म के कर्म भावी प्रारब्ध को बदल सकते हैं। इसलिये, शुक्रनीतिसार में कहा गया है कि अन्ततोगत्वा कर्म ही अच्छे बुरे प्रारब्ध का कारण बनते हैं। लेकिन, साथ ही साथ, शुक्रनीतिसार में यह भी कहा गया है कि इस जन्म के कर्म अगले जन्म की बौद्धिक तथा अन्य प्रवृत्तियों को निर्धारित करते हैं। इस प्रकार, शुक्रनीतिसार का दैव तथा कर्मसम्बन्धी विचार द्विविधापूर्ण तथा अस्पष्ट है। याज्ञवल्क्य के अनुसार, कर्म सिद्धि पुरुषकार (मानव प्रयास) तथा दैव के बीच व्यवस्थित होती है। दैव पूर्वजन्म के पौरुष का अभिव्यक्त रूप है। कर्मसिद्धि न केवल दैव से होती है न केवल स्वभाव से, न काल (समय) से और न केवल पुरुषकार से। जैसे केवल एक पहिये से रथ नहीं चलता है वैसे ही बिना पुरुषकार (प्रयास) के दैव की सिद्धि नहीं होती है। चूंकि दैव और कर्म परस्पर निर्भर हैं, उदार सुकृत कर्मों में लगे रहते हैं और कायर कर्म न करके दैव पर निर्भर करते हैं[2]।

---

1 प्रभु पी० एच० वही पृष्ठ 29 30, 37

2 कादर मन कर एक अधारा। दैव दैव आलसी पुकारा—तुलसीदास

कर्मसिद्धान्त के तीसरे आधार आवागमन के संदर्भ में विचार करने पर दैव की धारणा अधिक स्पष्ट हो जाती है। आवागमन की धारणा एक ओर नेति विचार पर आधारित है और दूसरी ओर आत्मा की अमरता के विचार पर। जो 'नेति' है वही परब्रह्म या परमात्मा या ईश्वर है। आत्मा उसका वह अंश है जो देहधारी के रूप में इस संसार में आता है। शरीर नश्वर है और आत्मा अमर है तथा ईश्वर का अंश होने के कारण आत्मा सदैव ईश्वर में मिलने के लिए उन्मुख रहती है। आत्मा की अमरता का विचार कर्मसिद्धान्त का केवल एक आधार है जिसका विकास वैदिक काल में हुआ है। कर्मसिद्धान्त का मुख्य आधार यह विचार है कि प्रत्येक व्यक्ति की आत्मा को इस जन्म के कर्मों के अनुसार अगले जन्म में सुख या दुःख भोगना पड़ता है जिससे छुटकारा पाने के वैदिक उपाय उपासना और यज्ञ हैं। नियत कर्तव्य कर्म के द्वारा मोक्ष प्राप्ति का विचार इसी वैदिक विचार से निकला है जो गीता में आकर निष्काम कर्म हो गया है। मोक्ष तो वीतराग को मिलता है और जब तक मनुष्य वीतराग नहीं होता है उसे आवागमन से मुक्ति नहीं मिलती है। लेकिन मुक्ति और आवागमन के चक्र के बीच में व्यक्ति अच्छे और बुरे दोनों प्रकार के कर्म करता है। अच्छे कर्म से सुख भोग मिलता है और बुरे कर्मों से यातना। अच्छे बुरे कर्मों के फल को मृत्यु के बाद मनुष्य स्वर्ग और नरक में भोगता है और बाद में पुनः पुनर्जन्म के द्वारा इस संसार में देह पूर्वकर्मों के अनुसार जीवन गति मिलती है। गति में जाति, आयु और भोग शामिल हैं। गीता में भी यह माना गया है कि गुण स्वाभाविक अथवा जन्मजात होते हैं। कर्म और आवागमन का चक्र तब तक चलता रहता है जब तक कि आत्मा परमात्मा में न मिल जाय। प्रत्येक जन्म मोक्ष की ओर बढ़ने का एक अवसर है क्योंकि प्रत्येक जन्म में पूर्वजन्म के कर्मों के प्रभाव को दूर करके कर्मसंचय को शुद्ध किया जा सकता है। शुद्ध कर्मसंचय के लिये नैतिक कर्म आवश्यक है। कर्मसिद्धान्त, इस प्रकार, अवगति तथा प्रगति दोनों के लिए अवसर प्रदान करता है।

आवागमन

कर्मसिद्धान्त वस्तुतः नियतकर्म (जिसे साधारणतः स्वधर्म कहा गया है) की धारणा और इस अनुभूति पर आधारित है कि व्यक्ति का वर्तमान जीवन (उसका परिवार विशेष में जन्म, उसकी वर्तमान सामाजिक प्रतिष्ठा, जाति वर्ण, उसके सुख और दुःख) संयोग का परिणाम नहीं वरन् उसके पूर्वजन्म के कर्मों का परिणाम है जिसे स्वधर्म पालन के द्वारा समुन्नत बनाया जा सकता है। कर्मसिद्धान्त में निहित मान्यता के अनुसार, वर्तमान जन्म पूर्वजन्म के कारण है और इस जन्म के कर्मों की प्रतिक्रिया पूर्वजन्मों के कर्मों पर होती है जिससे नये कर्म अस्तित्व में आते हैं। यह कहना कि यह जीवन पूर्णतया पूर्वजन्म के कर्मों का परिणाम है और उन्हीं के अनुसार वर्तमान तथा भावी जीवन निर्धारित होता है यह मानना है कि कर्मसिद्धान्त मशीन की भाँति कोई अपने आप स्वचालित यन्त्र है जो कि वस्तुतः वह नहीं